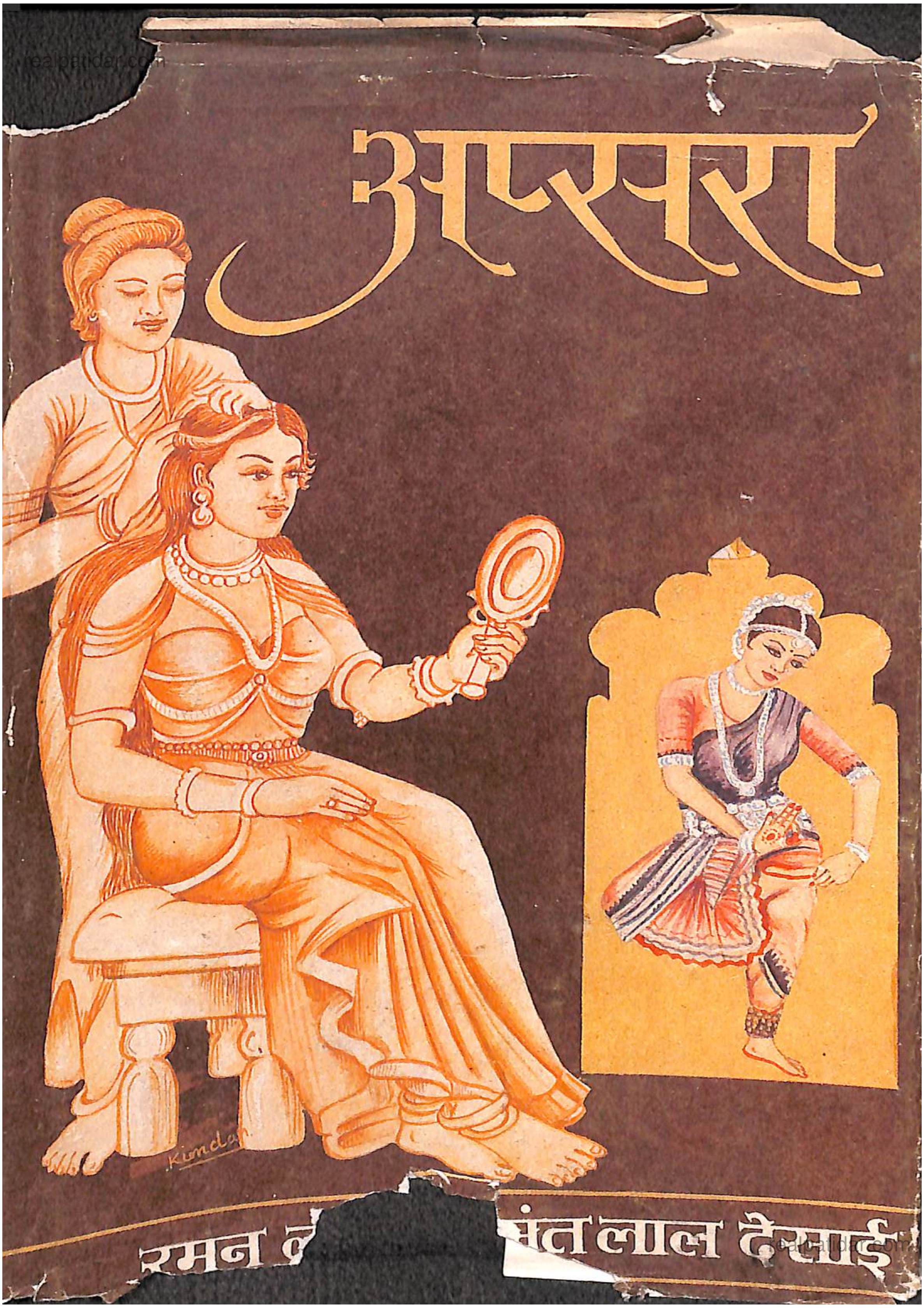

अप्सरा
रमन
मंतलाल देसाई


अप्सरा
Kunda
रमन ... ंतलाल देसाई

साँच्ची
दि०५ल्ली : 10 मई '91

अप्सरा

लेखक
रमणलाल वसन्तलाल देसाई

प्रचारक ग्रंथावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो. बॉ. ११०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१.

प्रचारक ग्रंथावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो. बॉ. ११०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१.

के लिए विजय प्रकाश बेरी द्वारा प्रकाशित तथा रत्ना ऑफसेट,
सी-१०१, डी.डी.ए. शैड, इण्डस्ट्रियल एरिया, ओखला फेज I में फोटो कम्पोजिंग
मुद्रण - मोनार्क इन्डस्ट्रीज, जौनपुर - २२२००२ (उ.प्र.)

१९८९ मूल्य : ६० रु०

आवरण :
कला संयोजन : कुन्दन

APSARA : By Ramanlal Vasantlal Desai

गुजराती के महान उपन्यासकार स्व. रमणलाल बसंतलाल देसाई का परिचय

— मुकुन्दलाल मुंशी

२० सितम्बर, १९५४ के दिन गुजराती साहित्याकाश का ज्योतिर्मय नक्षत्र अनन्त में विलीन हो गया। श्री रमण लाल देसाई गुजराती साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते थे। उनकी मृत्यु से गुजराती ही नहीं वरन् भारतीय साहित्य भी रंक बन गया है।

जीवन की रूपरेखा

इस महान् चिंतक तथा लेखक का जन्म गुजरात के एक छोटे से गाँव (शिनोर) में १८९२ में हुआ था। बड़ौदे में रहकर ही उन्होंने पढ़ाई की तथा एम.ए. की डिग्री प्राप्त की। पढ़ाई समाप्त करके एक सार्वजनिक स्कूल में ६० /- माहवार पर नौकरी प्रारम्भ की और प्रगति करते करते बड़ौदा राज्य के उच्च पदाधिकारी का स्थान पाया। इधर कुछ वर्ष पूर्व ही उन्होंने नौकरी से (सन् १९४८) अवकाश लिया था। नौकरी करते वक्त भी समय निकाल कर आप लेखन कार्य किया करते थे। उनका सर्गवास सन् १९५४ में ६२ वर्ष की उम्र में हुआ।

साहित्योपासना

विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें पढ़ने का खूब शौक था। उत्तरोत्तर यह रुचि बढ़ती गयी और परिणाम स्वरूप उन्होंने लिखना भी शुरू किया। अवकाश का प्रत्येक क्षण उन्होंने साहित्य सेवा में ही व्यतीत किया। दो पत्रों का सम्पादन भी करते थे। एक साथ भिन्न भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखना उनके लिये साधारण बात थी। साधारणत: वे झूले पर बैठकर ही लिखा करते थे। चारों तरफ शोर होता हो, बीच-बीच में विघ्न पड़ता हो, पर उनके लिखने का क्रम टूटता न था।

उनकी लेखनी ने साहित्य के प्रत्येक अंग का स्पर्श ही नहीं किया बल्कि उसे विकसित कर विभूषित भी किया है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध काव्य, आलोचना तथा शोध साहित्य के इन समस्त अंगों का समावेश उनकी भिन्न भिन्न कृतियों में हो जाता है।

देसाई जी ने करीब ७० पुस्तकें लिखी हैं। इन विपुल रचनाओं में ३३ उपन्यास, ९ कहानी संग्रह, ७ नाटक, ४-५ चिंतन प्रधान निबंधों का संग्रह तथा अन्य पुस्तकें हैं।

देसाई किसी विषय पर लिखने के पूर्व यथासंभव उससे सम्बद्ध साहित्य एवं ऐतिहासिक सामग्री का सम्यक अध्ययन करते थे। गणिकावृत्ति पर ५ भागों में लिखा गया उनका 'अप्सरा' ग्रंथ उनकी इस प्रवृत्ति का परिचायक है। इस प्रकार की पुस्तक भारत की किसी अन्य भाषा में है यह कहना कठिन है।

''भारतीय संस्कृति —एक विहंगावलोकन'' नामक एक बृहत अध्ययन ग्रन्थ उन्होंने लिखा है जिसे बड़ौदा विश्वविद्यालय ने छपवाया है। अपने ढंग की यह अद्वितीय पुस्तक है।

देसाई जी गाँधी-युग के समर्थ कलाकार थे। गाँधी-युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हलचलों तथा प्रत्याघातों का चुभता हुआ, मनोरम और मार्मिक चित्रण, उनकी प्राय: सभी पुस्तकों में मिलता है। विशेषत: 'दिव्यचक्षु', 'छायानट', 'झंझावात' में। वे गाँधी जी के बड़े ही प्रशंसक थे।

अप्सरा

ऐतिहासिक उपन्यासों में 'बालाजोगन' (मीराबाई के जीवन से संबद्ध), 'पहाड़ना पुष्पो' तथा शौर्यतर्पण उनकी बेजोड़ रचनाएं हैं।

नाटक साहित्य में 'शंकित हृदय' तथा 'संयुक्ता' नामक नाटक आज भी खेले जाते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में हाल में इस नाटक से आयोजन करने वालों को ७५,००० रुपये प्राप्त हुए थे।

इनके व्यंग्यात्मक लेखों का संग्रह 'गुलाब अने कंटक' गुर्जर साहित्य का अनमोल रत्न है।

गुजरात के समकालीन सामाजिक जीवन की झलक, दाम्पत्यजीवन का चित्रण तथा आदर्श और बदलती हुई पीढ़ियों के सब पहलुओं का चित्रण उनकी कृतियों से मिलता है। स्त्रियों के समान अधिकार के वे जबरदस्त समर्थक थे और उन्हें उच्च शिक्षा देने के पक्षपाती थे।

देसाई जी की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल तथा गुजरात के समर्थ लेखक श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी ने कहा था —

"श्री रमण भाई इस युग के सिद्धहस्त साहित्य सर्जक हैं। हमारे लोकप्रधान जीवन के उच्च कलाकार हैं। उनमें जनसाधारण की भावना, अनुभव और आकांक्षाओं को मूर्तिमान करने की शक्ति है।"

हिन्दी-साहित्य विशेषकर मध्यकालीन पद्य-साहित्य का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था। फारसी के वे बहुत ही अच्छे जानकार थे।

उनका सौजन्यपूर्ण मृदु और मिलनसार स्वभाव, आगन्तुक का उचित सम्मान करने की वृत्ति तथा दूसरों के लिये घोर कष्ट सहन करने की प्रवृत्ति उनकी महत्ता को और बढ़ा देती है।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी के प्रति उनके हृदय में बड़े सम्मान की भावना थी और उन्हें प्राय: याद करते थे।

इस महान साहित्यकार का सर्जन केवल गुजरात की ही सम्पत्ति नहीं है।

उनकी कृतियों का शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रभाषा हिन्दी में सुन्दर से सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत होना चाहिये जिससे सारा राष्ट्र प्रेरणा ग्रहण कर सके।

अप्सरा

मूल प्रस्तावनाएँ

प्रथम खंड

'पूर्णिमा' नामक उपन्यास दस वर्ष पहले लिखा था । उस समय गणिकाजीवन संबंधी कुछ साहित्य का अध्ययन हुआ था । उपन्यास लिखने की मेरी विशिष्ट पद्धति का उल्लेख यहाँ आवश्यक है । रचना की कथावस्तु बुनने से पहले उस विषय पर उपलब्ध शास्त्रीय और ऐतिहासिक सामग्री का परिशीलन मैं आवश्यक मानता हूं । वर्तमान जीवन की सामाजिक घटनाएँ तो नित्य हमारे नज़र के सामने होती रहती हैं, और उनका ज्ञान अपने आप हो जाता है । फिर भी, कभी-कभी वर्तमान भी विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा रखता है ।

उदाहरण के रूप में मेरा 'ग्रामलक्ष्मी' नामक उपन्यास लिया जा सकता है । ग्रामीण जीवन से मेरा निकट परिचय रहा है । बाल्यकाल गाँव में ही गुजरने के उपरांत बड़ौदा राज्य की नौकरी के निमित्त से गाँवों के साथ मेरा घनिष्ठ संपर्क रहा है । इतना ही नहीं, ग्रामोन्नति के कुछ हद तक सफल प्रयोग भी मैं कर चुका हूं । फिर भी, उपन्यास में सजीवता लाने के लिए ग्रामीण जीवन का शास्त्रीय अध्ययन मैंने आवश्यक माना था । मेरा 'ग्रामोन्नति' नामक ग्रंथ इसी परिशीलन का परिणाम है ।

इसी नियमानुसार पूर्णिमा के संबंध में जो अध्ययन हुआ था, उससे उत्पन्न कौतूहल ने ही वर्षों बाद 'अप्सरा' की ग्रंथमाला का रूप धारण किया है । 'अप्सरा' का विषय स्पष्ट रूप से गणिका-संस्था का विवरण करना है । इसे असभ्य, अप्रतिष्ठित या अनिष्ट तो नहीं माना जायगा ? इसका उत्तर मुझे मालूम नहीं; लेकिन वर्तमान युग यदि इस संस्था को अनिवार्य मान कर उसे निबाहता जा रहा है, तो उसके अध्ययन को दूषित नहीं माना जाना चाहिये । दोष का निवारण या नाश करने के लिए भी उसकी ओर देखना तो अनिवार्य होता है ।

दूसरा प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि गणिकासंस्था का इतना सूक्ष्म विवेचन करने से फायदा क्या ? इस प्रकार के अध्ययन की उपादेयता क्या है ? क्या इससे गणिकावृत्ति नष्ट हो जायगी ? इस संबंध मे मेरा यही निवेदन है कि ये प्रश्न तो संसार के सब प्रकार के ग्रंथों के संबंध में पूछे जा सकते हैं । बाइबिल की रचना के बाद भी ईसाई प्रजाएँ मानवसंहार में मशगूल हैं । गीता का नित्यपाठ करनेवाले हिंदू, आत्मा की मुक्ति क्या देश की स्वाधीनता भी प्राप्त नहीं कर सके हैं और पुनर्जन्म में विश्वास रखने पर भी, मृत्यु से क्या, साधारण शारीरिक कष्ट से भी बेहद डरते हैं । इसी प्रकार, मानवबंधुत्व का दावा करने वाले मुसलमान चार खलीफाओं के बाद एक एकाई में नहीं बँध सके और बौद्ध धर्म का पालन करनेवालों ने हिंसा में अपना सानी नहीं रखा । मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यों की संख्या और चीन-जापान की हिंसावृत्ति इस विधान की वास्तविकता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होगी ।

अत: मेरे जैसे अल्पमति अध्येता के प्रयत्नों से कोई खास लाभ नहीं होगा और स्थिति में विशेष अंतर नहीं पड़ेगा, यह तो मैं मान्य करता हूं । तथापि, बौद्धिक जिज्ञासा की इस अध्ययन में कमी नहीं है । अत: मानवसमाज की एक महाविचित्र संस्था का यह सिलसिलेवार विवेचन इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले



सुधारकों को थोड़ा-बहुत उपयोगी हो सकेगा ऐसी आशा है ।

वर्तमान में पश्चिम के और अतीत में पूर्व के विचारकों को इस विषय का निरूपण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ । अतः मैं इस क्षेत्र में अकेला या अपूर्व नहीं हूं । अस्वस्थ वासना, मलिन कल्पना, या उत्तेजक विकार प्रेरित करने के हेतु से इस ग्रंथ की रचना नहीं हुई यह विश्वास दिलाने से अधिक मैं कह भी क्या सकता हूं ।

लेकिन अनियमित यौन-आचरण की परमावधि होने वाली इस संस्था के अध्ययन में कामजीवन की अनेक विचित्रताओं का उल्लेख होना अनिवार्य है । अतः जिन्हें इस विषय पर या अपने मनोबल पर श्रद्धा न हो, वे इस ग्रंथ को न पढ़ें, तो कोई बुराई नहीं । इसी प्रकार जो लोग नैतिक विशुद्धि के असिधाराव्रत का मनसा-वाचा-कर्मणा कठोर पालन करते हों, उनसे भी मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रंथ को दूर ही रखें । अनीति का मूर्तिमंत स्वरूप होने वाली संस्था के निरूपण में अनीति की मीमांसा भी अनिवार्य है । अतः सदाचार पर आत्यंतिक बल देने वाले परिवारों में भी इस ग्रंथ का प्रवेश न हो इसकी सावधानी बरती जाय, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं ।

गणिकासंस्था हमारे सामाजिक और वैयक्तिक प्रश्नों के साथ इस कदर उलझी हुई है कि उनका प्रासंगिन विवेचन हुए बिना इस संस्था का निरूपण हो ही नहीं सकता । इतिहास, समाजव्यवस्था, राजनीति और धर्म, मनुष्यजीवन के बुनियादी तत्व हैं । इन्हीं के आधार पर संस्कृति की इमारत खड़ी रहती है । विकृत होने पर भी जीवन की ही एक घटना होने के नाते गणिकावृत्ति का इन तत्वों के साथ भी संबंध रहता है । अतः इन तत्वों का 'निरूपण' और गणिकावृत्ति के साथ उनके संबंधों का विवेचन भी इस अध्ययन का आवश्यक अंग बन जाता है ।

विभिन्न देशों, विविध प्रजाओं और बहुरंगी समाजसमूहों में यौन-आकर्षण जैसे सर्वस्पर्शी संवेदन की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारों से होती है । केन्द्रीय भावना समान रहने पर भी, विशिष्ट देशकाल का सामाजिक परिवेश उसे अलग-अलग रूपों में प्रतिबिंबित करता है । प्रस्तुत ग्रंथ में इस वैभिन्न्य का भी यथामति निरूपण किया गया है ।

'पूर्णिमा' के प्रकाशन के बाद एक अनुभव कदम-कदम पर हुआ था । साहित्यिक सभाओं में होने वाले प्रश्नोत्तरों के दरमियान जिज्ञासुओं ने एक प्रश्न मुझसे बार-बार पूछा था कि 'पूर्णिमा' का कथानक वैयक्तिक अनुभव पर किस हद तक आधारित है । इसका मेरे पास एक ही उत्तर था कि जितना अनुभव प्रश्नकर्ता को हो सकता है, उतना ही मुझे है; और जिस हद तक वह कल्पना कर सकता है उसी हद तक मैं भी कर सकता हूं । प्रस्तुत ग्रंथ के संबंध में भी यदि यह प्रश्न उपस्थित हो, तो मेरा उत्तर यही रहेगा ।

इन उत्तरदायित्वहीन प्रश्नों को छोड़कर एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि गणिकासंस्था को निर्वाह लेने वाले समाज की इकाई होने के नाते, किसी व्यक्ति को, फिर वह कितना ही सदाचारी या विशुद्ध क्यों न हो, नैतिकता का घमंड या अतिशुद्धि का दुराग्रह रखने का अधिकार नहीं है ।

अंत में मेरा निवेदन सिर्फ इतना है कि मन को विचलित किये बिना, एक सामाजिक घटना के अध्ययन के रूप में यह ग्रंथ पढ़ा जाय, और इस अध्ययन के द्वारे गणिकावृत्ति रूपी विकृत एवं उलझी हुई समस्या को सुलझाने का कोई उपाय सुझाया जा सके, तो मैं अपने प्रयत्नों को सार्थक समझूंगा ।

बड़ौदा
१५ दिसंबर १९४३

रमणलाल देसाई

द्वितीय खंड

प्रथम खंड की प्रस्तावना में इस ग्रंथमाला का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया है । यहाँ मुझे सिर्फ एक ही बात कहनी है कि इस अध्ययन ग्रंथ से और उसके प्रकाशन से मुझे असंतोष नहीं हुआ है । मनुष्य के मानस और उसके भावजगत की रचना में महत्वपूर्ण स्थान रखनेवाले यौन-आकर्षण का विश्लेषण एवम् इस आकर्षण के अनेकविध घातप्रत्याघातों के कारण उत्पन्न होनेवाली वैयक्तिक और सामाजिक विचित्रताओं का निरूपण करने का यह प्रयत्न उपयोगी और आगे के अन्वेषण में सहायक सिद्ध होगा इसमें मुझे कोई संदेह नहीं ।

सुरुचि मानवसंस्कृति का आवश्यक अंग है । सुरुचि का कहीं भंग न हो, इसकी पूरी सावधानी बरती गयी है । इसमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठक और समालोचक ही कर सकेंगे । यह नितांत संभव है कि समाज की मर्यादाओं को तोड़ कर बाहर निकल जाने वाले गणिकावृत्तिरूपी विद्रोह को सुरुचि की सीमाओं में मर्यादित रखने में मुझे संपूर्ण सफलता न मिली हो ।

बड़ौदा
१४ जौलाई, १९४६ **रमणलाल देसाई**

तृतीय खंड

अप्सरा का प्रथम खंड प्रकाशित करते समय इस ग्रंथमाला को तीन खंडों में पूरी करने का इरादा था । परंतु अब ऐसा दिखाई दे रहा है कि यह चार या पाँच खंडों में पूर्ण हो सकेगी । गणिकावृत्ति का ऐतिहासिक विवेचन, स्वरूप निर्देशन, सामान्य व्याख्याएँ और विदेशों की स्थिति का विचार तीन खंडों में समाप्त हो गया है । भारतीय परिवेश में गणिकावृत्ति के विविध पहलुओं का विचार अंतिम एक या दो खंडों में किया जायगा ।

अध्ययन का विषय बड़ा नाज़ुक रहा है इसका मुझे अहसास है । कुछ लोगों को यह अप्रिय या अवांछनीय भी लग सकता है । परन्तु मनुष्य के कामजीवन की निकृष्टतम विकृति होने पर भी उसके जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई होने के नाते गणिकासंस्था गहन और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन की अपेक्षा रखती है । इसके लिए आवश्यक पात्रता मुझमें नहीं है । मैंने तो इस समस्या का केवल एक जिज्ञासु की दृष्टि से विचार किया है । प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन से इस समस्या की ओर विद्वानों का अधिक ध्यान जाय, उसका गहराई से अध्ययन हो, उसके निर्मूलन का कोई मार्ग सूझे, या, कम से कम, उसके निराकरण के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हो सके तो मैं अपने प्रयत्नों को सफल मानूंगा ।

बड़ौदा
२४ जनवरी, १९४८ **रमणलाल देसाई**



अप्सरा

चतुर्थ खंड

भारतीय गणिका-जीवन के अध्ययन में इतिहासपट बहुत विशाल हो गया। साहित्य में गणिका का स्थान, देवदासी प्रथा, वर्तमान स्थिति का निरूपण आदि महत्वपूर्ण विषयों का विचार बाकी रह गया। इसका विवेचन अगले खंड में होकर यह ग्रंथमाला पांच खंडों में समाप्त होगी।

चतुर्थ खंड का यह विस्तृत पट एक विनम्र और अक्षम विद्यार्थी की हैसियत से संकोचपूर्वक प्रस्तुत कर रहा हूं,। अधिकांश सामग्री पूर्व सूरियों के उच्छिष्टचयन से प्राप्त हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ चौंका देनेवाली बातों का भी उल्लेख हुआ है। त्रुटियों के संशोधन के लिए मैं सदा तत्पर रहूंगा।

कैलास, बड़ौदा
१५ नवंबर, १९४८

रमणलाल देसाई

पंचम खंड

इस खंड में यह ग्रंथमाला पूरी होती है। इस अध्ययन में लगभग एक दशाब्दी का समय लगा। समाजशास्त्र, यौनविज्ञान आदि इस विषय में सहायक होने वाले विषयों का भी आनुषंगिक रूप से अध्ययन हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ को शोध-प्रबंध का रूप देने का इरादा आरंभ से ही नहीं था। अतः प्रमाणस्रोतों का उल्लेख, उद्धरणों का संदर्भोल्लेख, पादटिप्पणियाँ, संदर्भग्रंथों की संपूर्ण सूची आदि की व्यवस्था न हो सकी। मेरे अन्य व्यवसायों में से इतने सूक्ष्म ब्यौरे के लिए समय भी शायद ही मिला होता।

फिर भी, इतना अवश्य कहूंगा कि प्रस्तुत अध्ययन में अनेक विद्वानों के ग्रंथों से सहायता ली गयी है। स्थान-स्थान पर इस विषय के विद्वान मनीषियों की विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन और उनके प्रतिपादनों की समीक्षा की गयी है। जहाँ अनुमान किये गये हैं वहाँ उनकी प्रामाणिकता और संगति का पूरा ध्यान रखा गया है।

संदर्भग्रंथों की व्यवस्थित सूची न होने पर भी, कुछ मित्रों के निर्देशानुसार एक सूची इस खंड के अंत में दी गयी है। पढ़े हुए ग्रंथों में से जो मेरे अपने संग्रह में हैं, या जिनके नाम याद रहे हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है। स्पष्ट है कि यह सूची संपूर्ण नहीं है।

गणिकासंस्था एक उलझी हुई सामाजिक समस्या है। उसके अध्ययन में जीवन के अनेक पहलुओं पर दृष्टि जाती है। देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियाँ उसमें महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। धर्म, धन, विवाह, युद्ध, राजनीति आदि विभिन्न तत्वों को स्पर्श करने वाली इस संस्था का विचार अंततः मानवस्वभाव या मानव-समाज की मूलभूत एकता के ही दर्शन कराता है। व्यक्ति के रूप में मनुष्य एक-दूसरे से चाहे जितने भिन्न हों, समाज की इकाई के रूप में उनमें गुणों की और दोषों की इतनी अधिक समानता पायी जाती है कि मानवजाति की एकता की आशा बनी रहती है। मनुष्यजाति का उसकी समष्टि में विचार किये बिना मनुष्य के प्रश्नों का निराकरण नहीं हो सकेगा। इस सत्य की स्थापना अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय कर चुके हैं। गणिकासंस्था का अध्ययन भी उसी का समर्थन करता है।

प्रस्तुत अध्ययन-ग्रंथ उपयोगी है या निरुपयोगी, पठनीय है या नीरस और बेकार आदि प्रश्नों के उत्तर पाठक ही दे सकेंगे। मैं तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि अनिष्ट, अश्लील या विकारप्रेरक साहित्य के रूप में इस ग्रंथ की रचना नहीं हुई। पूरी जागरूकता के बावजूद भी यदि इसमें विकारप्रेरक तत्व प्रवेश कर गये हों, तो मैं पाठकों से नम्रतापूर्वक क्षमा-याचना करता हूं। विकार और विकृति पर ही

आधार रखनेवाली संस्था की विचारणा में, उद्देश्य न होने पर भी विकार का अंश आ जाने का भय सदा बना रहता है ।

विभिन्न देशों, विभिन्न प्रजाओं, और शताब्दियों द्वारा विभाजित विभिन्न कालखंडों का उनके अलग-अलग परिवेशों में अलग-अलग विचार करना आवश्यक होने के कारण कुछ स्थानों पर वर्णनों, विधानों और अनुमानों की पुनरावृत्ति हो गयी हो, यह संभव है । कहीं-कहीं किसी विधान पर अधिक बल देने के हेतु से भी उसकी पुनरुक्ति हो गयी होगी । इन सब त्रुटियों के लिए भी मैं क्षमाप्रार्थी हूं ।

कैलास, बड़ोदा
१५ मार्च, १९४९

रमणलाल देसाई

प्रथम खंड की द्वितीयावृत्ति

अप्सरा का प्रथम खंड प्रकाशित हुए करीब नौ वर्ष हुए । प्रथम खंड का दूसरा संस्करण छपने का प्रसंग आया है जिससे यही प्रमाणित होता है कि पाठकों को यह ग्रंथमाला नितांत नापसंद नहीं रही । दूसरे, इसका प्रचार पलक झपकते ही, आनन-फानन में नहीं हुआ; बल्कि पाठकों ने इसे बड़ी सावधानी और जगरूकता से मान्यता दी है । इससे यह सूचित होता है कि इस विश्लेषण को विकारप्रेरक नहीं माना गया । मेरे लिए यह भी संतोष का विषय है ।

लेकिन समाजशास्त्रियों और विचारकों की ओर से मुझे जिस मार्गदर्शन और विवेचन की अपेक्षा थी, वह नहीं मिला । पाँचों खंड एकसाथ प्रकाशित न हो सकने के कारण मेरा अध्ययन सिलसिलेवार और संश्लिष्ट नहीं हो पाया हो, यह संभव है । पुनरुक्ति और अन्य दोष भी उसमें रह गये हैं । लेकिन अब पाँचों भाग एक साथ उपलब्ध हो गये हैं । अत: विद्वानों की ओर से मुझे उचित मार्गदर्शन मिल सकेगा ऐसी आशा है ।

मनुष्य के जीवन के साथ, उसकी कला के साथ, और उसके अध: पतन के साथ अविच्छेद्य रूप से संकलित गणिकावृत्ति रूपी घटक को समझने और समझाने के अधिकाधिक प्रयत्न हों इसे मैं वांछनीय मानता हूं । इन प्रयत्नों में मेरा यह अध्ययन अल्प सी भी सहायता पहुँचा सके तो मेरे लिए वह संतोष का विषय होगा ।

कैलास, बड़ौदा
५ सितंबर, १९५२

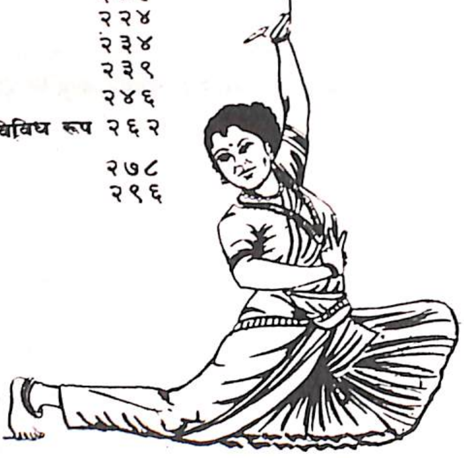
रमणलाल देसाई

अप्सरा

अनुक्रमणिका

खण्ड १

खण्ड २



अप्सरा

खण्ड ३

खण्ड ४

खण्ड ५





खण्ड १

प्रथम परिच्छेद

स्त्री-पुरुष का आकर्षण

१

इस आकर्षण की व्यापकता और महत्व

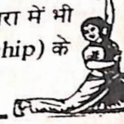
स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण मानव-जीवन का एक महान् सत्य है । इस सत्य को स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं है ।

किस लिए इस आकर्षण का निर्माण हुआ ? इसके बिना संसार का काम चल सकता था या नहीं ? इसकी अपेक्षा किसी अन्य अनुकूल, व्यवहार्य और सफल भाव या क्रिया की सृष्टि हो सकती थी या नहीं ? यह सब प्रश्न कल्पना के प्रदेश के हैं । कोई दार्शनिक ही इस कल्पना की ऊँचाई में उड़ सकता है या गहराई में उतर सकता है । परंतु आज तो इन सब बातों का विचार भी निरर्थक होगा । ब्रह्माजी के मानसपुत्रों की सृष्टि आगे नहीं बढ़ सकी यह दिखाकर हमारे पुराणों ने इन कल्पनाओं का मिथ्यापन बहुत पहले ही प्रमाणित कर दिया है ।

आज तो हम जानते हैं कि इस आकर्षण पर ही पूरी मनुष्य जाति की सृष्टि का आधार है । मनुष्य जाति ही क्यों, पूरी सजीव सृष्टि इसी आकर्षण द्वारा जीवित है । उससे नीची कक्षा की वनस्पति सृष्टि भी नर-मादा के भेद और परस्पर आकर्षण के अवलंबन पर ही अपना अस्तित्व रखती है । जिसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं उसे आकार देने वाले अणु-परमाणुओं की रचना में भी यदि ऐसा कोई आकर्षण तत्व मिल जाय जो आज हमारी समझ से बाहर है तो आश्चर्य की बात नहीं । भौतिक शास्त्र हमसे कहता है कि सारी जड़ वस्तुओं के अंतिम विश्लेषण में पोषण-अणु (प्रोटीन) के चारों ओर चक्कर काटते विद्युत-अणु (इलेक्ट्रोन) ही दिखाई देते हैं । कौन सा आकर्षण इन उदृश्य विद्युत-अणुओं को चैतन्य देकर जड़ कही जाने वाली सृष्टि को आकार देता है ? संगीत में वाद्यों और रागों की स्वरावलियों को नर-मादा के भेद में विभक्त किया जाता है । इसी आधार पर, जड़-जगत् में भी यह विभागीकरण और आकर्षण फैला हुआ दिखाई दे तो कोई आश्चर्य नहीं । दूसरी दृष्टि से देखें तो यही सबसे बड़ा आश्चर्य है ।

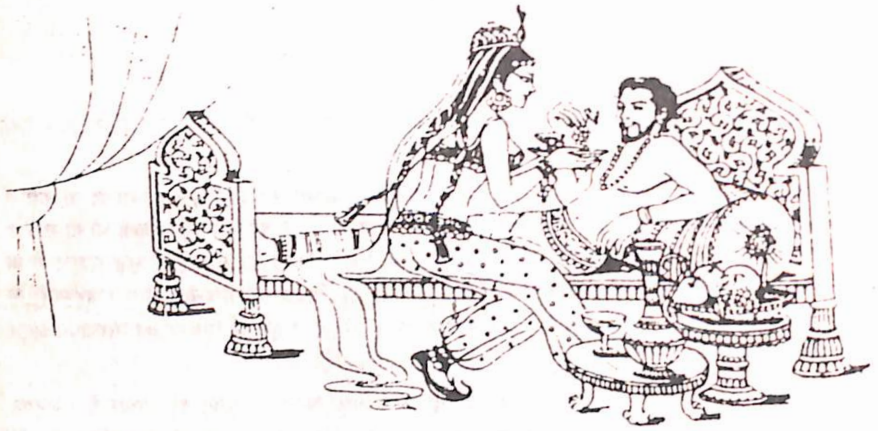
इस आकर्षण को हम प्रेम के नाम से पहचानते हैं । हृदय का यह भावप्रेरित झुकाव एक सर्वानुभवी सत्य है और उसी के मापदंड से हम अपने अनेक असामान्य संबंधों का परिचय दे पाते हैं ।

हमारे आर्य विचारकों ने इस सर्वव्यापी आकर्षण को पुरुष और प्रकृति को द्वैत स्वरूप द्वारा व्यक्त किया है । पुरुष और प्रकृति के आकर्षण के परिणामस्वरूप ही पूरी सृष्टि का उद्‌भव माना गया है । हमारे दर्शन इसी कल्पना या सत्य के आधार पर रचे गये । द्वैत और अद्वैत के कूट प्रश्नों को सुलझाने वाले हमारे सारे आर्य संप्रदाय —शंकर से लगाकर वल्लभ तक —जीवात्मा और परमात्मा के संबंध को इस आकर्षण के रूपक द्वारा ही समझाते हैं और संपूर्ण भक्तिमार्ग को भी इस आकषण के रूप मे व्यक्त होने के कारण ही इतनी व्यापक स्वीकृति मिल सकी — ऐसा मालूम देता है । तंत्र और शाक्त पंथ की विचारधारा में भी इस आकर्षण का महत्व बिलकुल स्पष्ट है । शिव-पूजन में समाये हुए लिंग-पूजा (*Phallus worship*) के



तत्त्व के मूल शोधकों को हराप्पा और मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता में मिले हैं । 'एको हं बहुस्याम' का संकल्प करने वाले परब्रह्म ने संकल्पसिद्धि के लिए अपना विभागीकरण किया : एक विभाग पुरुष दूसरा विभाग प्रकृति-स्त्री ।

इस प्रकार अपने तत्त्वज्ञान, अपने दर्शन और अपने धर्म की रचना इस परम आकर्षण की स्वीकृति के आधार पर ही हुई । इसमें कहीं उन मनीषियों को कामुकता या अश्लीलता दिखाई नहीं दी ।



निष्क्रिय और ध्यानस्थ शिव का तप विचलित करके उन्हें मनुष्यकल्याण के लिए प्रेरित करने के यत्न में खुद भस्मीभूत होकर अमर हो जाने वाले कामदेव की कथा में इस आकर्षण की कल्पना एक अत्यंत कवित्वमय रूप धारण कर चुकी है । भस्मीभूत काम मानव-हृदय में अनंग रूप से बसकर भी अमर हो गया । मन्मथ, मनोज, कन्दर्प जैसी नामावली में, उसके पुष्पविरचित आयुधों में और उसके प्रभाव का वातावरण निर्मित करनेवाली कथाओं में इस व्यापक आकर्षण ने बहुत ही मनोरंजक रूप धारण किया है ।

विष्णु के मोहिनी स्वरूप को इस आकर्षण का स्त्रीरूप कहा जा सकता है । यह विश्व मोहिनी देवताओं को अमृत पिलाती है और राक्षसों को वारुणि । प्रश्न है, मनुष्य को यह क्या पिलाती है ?

देवता और राक्षस — दोनों के गणों या गुणों से सम्पन्न मनुष्य को इस आकर्षण में से यदि अमृत और वारुणि का मिश्रित तत्त्व ही प्राप्त हो तो आश्चर्य किस बात का ?

साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग स्त्री-पुरुष के आकर्षण की अनेकविध कथाओं से व्याप्त है । कविता, नाटक, कहानी या उपन्यास के प्रमुख पात्र इसी आकर्षण के रंग में रंगे हुए दिखाई देते हैं । साहित्य द्वारा स्वीकृत रस तो नौ या दस हैं — परंतु इस रस समूह का रसराज है शृंगार । आर्य रसशास्त्र ने शृंगार की भावना का निर्माण करके स्त्री-पुरुष के इस सर्वव्यापी आकर्षण की ऐसी सूक्ष्म, प्रभावकारी और हृदयंगम मीमांसा प्रस्तुत की कि आज के मनोवैज्ञानिक भी चकित रह जायें । अत्यंत सूक्ष्म भाव, नितांत परोक्ष चेष्टा और पराकाष्ठा के गूढ़ वातावरण से लगाकर अति स्पष्ट भाव, चेष्टा या वातावरण तक की अभिव्यक्ति करके हमारे रसशास्त्र ने इस जटिल विषय को कविता जैसा रसमय बना दिया है ।

अप्सरा

आदम और ईव को जब अपनी जातिभिन्नता का ज्ञान हुआ तब उन्होंने पत्तों के परिधान से अपने ज्ञातिसूचक अंगों को ढँक लिया । हमारे वस्त्रालंकार के पूरे आयोजन में सरदी-गरमी से बच सकने के उद्देश्य के उपरांत जातीय आकर्षण को अधिक आह्लादक और अवगुंठन द्वारा अधिक तीव्र बनाने का आशय छिपा हुआ दिखाई देता है । मर्यादा की भावना भी इसी में से जगी है जिसने अनेक प्रकार के रसिक-अरसिक आच्छादन वस्त्रालंकार में और मानव-स्वभाव में निर्मित किये हैं । पति का नाम लेने में संकोच अनुभव करके लजाकर लाल हो जाने वाली मुग्धा और उसके मुख से पति का नाम सुनकर मानो पृथ्वी रसातल को चली जाएगी . इतना बड़ा पाप मानने वाली उसी की माता या सास —इसी मर्यादा की भावना के दो भिन्न पहलू हैं ।



यह भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि चित्रकारी, संगीत और नृत्य जैसी ललित कलाएँ भी मानव-हृदय के इस अवर्णनीय आकर्षण को मूर्त आकार देने का प्रयत्न करती हैं । स्थापत्य-कला का मुकुटमणि-ताजमहल, एक प्रेमी के परम आकर्षण का ही प्रतीक है । स्थापत्य के अन्य अनेक गुंबज पिरामिड, मीनार, महराब, स्तंभ और बुर्जियों के पीछे इसी सर्वव्यापी आकर्षण का कोई न कोई संकेत नहीं होगा, यह मानना मुश्किल है ।

इस आकर्षण ने मनुष्य-इतिहास के अनेक महान् प्रसंगों का सृजन किया । हेलन के कारण इलियड में वर्णित युद्ध हुआ । राम और सीता के प्रेम में से रामायण के कथानकों की परंपरा खड़ी हुई । द्रौपदी के प्रति प्रेम के कारण ही पांडवों ने कौरवों के विरुद्ध महाभारत की योजना की । पृथुराज और संयुक्ता के प्रेम





में से भारत को पराधीन बनाने वाले आंतर-विग्रहों का जन्म हुआ; और हमारी नजरों के सामने, वर्तमान युग में, इसी आकर्षणवश, सम्राट् एडवर्ड अष्टम ने संसार के सबसे महान् शहनशाहत के ताज को ठुकरा दिया ।

इसी के कारण मानव जाति चिरंजीवी बनी है । इतना ही नहीं, मनुष्य ने इसी आकर्षण में से अपनी समाजरचना के सबसे महान् और पवित्र भावों और संबंधों की सृष्टि की है । पितृत्व और मातृत्व की परम भव्य भावनाएँ इसी में से जगीं । भाई-बहन के परम उज्ज्वल संबंध का मूल भी इसी आकर्षण में है और कुछ आगे बढ़कर, परिवार, गोत्र, जाति और राष्ट्र की भावना के उदय में भी यही आकर्षण आद्यकारण के रूप में दिखाई देता है । यह बात अलग है कि समय बीतने के साथ यह आद्यकारण इन सब स्थापित भावनाओं से इतना दूर चला गया हो कि उनके बीच का कार्यकारणभाव स्पष्ट रूप से दिखाई न दे ।

समाज को स्थिरता प्रदान करने वाली विवाह प्रथा भी इसी आकर्षण के फलस्वरूप विकसित हुई । संपत्ति, उत्तराधिकार एवं अन्य हित संबंधों के, उनका नियमन करने वाले स्मृतिग्रंथों के और कानून के जटिल विधानों के मूल ढूँढ़ते हुए भी हम स्त्री-पुरुष के इसी आकर्षण तक पहुँच जाते हैं

फ्रॉइड और अन्य कई विचारकों के अनुसार हमारी सारी क्रियाओं, प्रवृत्तियों और बर्तावों का नियंत्रक-तत्त्व भी यही जातीय आकर्षण है । हम यदि इस हद तक जाना न चाहें तो भी इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि इस आकर्षण ने व्यक्ति और समाज के जीवन को एक निराली आभा देकर उनके निर्माण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । इस आकर्षण से जनित संबंधों की व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवस्था करने में ही मनुष्य-जीवन का अधिकांश व्यतीत होता है । आकर्षण और प्रति-आकर्षण के भी कुछ सर्वमान्य नियम होते हैं । व्यक्ति की इच्छा के अनुसार आकर्षण का निर्माण नहीं होता । जातीय आकर्षण-जनित इन विविध संबंधों की सुयोग्य और सुसंगत व्यवस्था कर पाना ही समाज-विधायकों की सबसे बड़ी समस्या होती है ।

२

व्यक्तिगत और सामाजिक परिणाम

अब तक यह व्यवस्था योग्य प्रकार से हो नहीं सकी है, इस सत्य को भी हमें स्वीकार करना होगा ।

स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण के आयु की भी मर्यादा है । यौवन और उसके बाद का लंबा, कार्यरत जीवन ही इस आकर्षण के अनेक स्थिर या अस्थिर व्यवहारों की पार्श्वभूमि बन सकता है । बचपन और किशोर अवस्था को तो इस आकर्षण की पूर्व-तैयारी एवं पात्रता और अधिकारसिद्ध का युग कहा जा सकता है । जातीय आकर्षण की स्पष्ट उत्पत्ति या प्रभाव इस युग में नहीं होते । यदि बाल्य या किशोर अवस्था में ही जातीय आकर्षण जाग्रत हो जाय, तो उसे एक अस्वस्थ और विकृत अवस्था ही मानना होगा ।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष का निकटतम संसर्ग स्थापित करने वाला यह आकर्षण मनुष्य का अनिवार्य धर्म बन जाता है । इस धर्म के दो परिणाम लक्षित होते हैं : वैयक्तिक और सामाजिक । वैयक्तिक स्तर पर यह स्त्री-पुरुष के संसर्ग से जनित अनिर्वचनीय आनंद के रूप में व्यक्त होता है । इस आनंद में देहिक सुख की पराकाष्ठा हो जाती है — यह तो माना; परंतु यह भी सत्य है कि इसी में से मनुष्य के मन औ हृदय की भावनात्मक समग्रता को समेट लेने वाले आत्मरत सुख की सृष्टि होती है जो कोरे शारीरिक सु से कहीं उन्नत है ।

इसी में से अनेक-विध रागात्मक कलाएँ जन्म लेती हैं जिनके माध्यम से मनुष्य-हृदय के अने कोमल और उत्कृष्ट भाव स्फुट होकर मानव-संस्कृति की अमूल्य निधि बन जाते हैं

इस धर्म का सामाजिक परिणाम सन्तानोत्पत्ति के रूप में व्यक्त होता है । व्यक्तिगत दैहिक आनंद और सन्तानोत्पत्ति यह एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र तत्त्व है, या एक ही तत्त्व के दो पहलू, इस विवाद में उतरे बगैर यहाँ तो हम इतना ही स्वीकार कर लें कि दोनों परिणाम विभिन्न होने पर भी प्रकृति ने उन्हें अभिन्न रूप से संकल्पित किया है । स्त्री-पुरुष के संसर्ग के बिना, प्रयोगशालाओं ने जन्म लेने वाली संतति के समाचार कभी-कभी अखबारों में छपते रहते हैं; परंतु यह प्रयोग अभी तक पूर्ण सफलता की कक्षा तक नहीं पहुंचे है । फिर भी मनुष्य-जन्म की संख्या दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है यह बात जनगणना के अंकों द्वारा सिद्ध होती रहती है । संतान की प्रबल भूख यह शायद पितृत्व का तो नहीं पर मातृत्व का महत्वपूर्ण अंग है, इसमें संदेह नहीं । इस प्रकार संतति को स्त्री-पुरुष के आकर्षण का दूसरा या सामाजिक परिणाम कहा जा सकता है ।

संतति से परिवार और परिवार-रचना से बढ़ते-बढ़ते राष्ट्र तक के उत्तरोत्तर व्यापक वृत्त संतति को एक सामाजिक प्रश्न बना देते है । इस प्रकार वैयक्तिक आनंद और सामाजिक रचना का संकलन करके मानव इतिहास की श्रृंखला अविच्छिन्न रखने वाली यह आकर्षण-शक्ति मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म या विस्तृत घटनाओं की आद्यप्रेरणा बन जाती है । इसे प्रेम, काम, रति, माया, ममता — किसी भी नाम से पुकार सकते हैं । अपरिमित आनंद देने वाली और सृष्टि निर्माण जैसा ईश्वरीय कार्य जाने-अनजाने मनुष्य से करवा लेने वाली इस गूढ़ शक्ति को अशिष्ट, अश्लील, असंस्कृत या अधिक से अधिक एक अनिवार्य अनिष्ट मान लेने की भूल अनेक बार शिष्टता, संस्कार और सभ्यता के आडंबर की ओट में की जाती है । कभी-कभी यह मजाक, ओछापन, उछलकूद, आडंबर, बकवास या गाली का अवलंबन पाकर मनुष्य के छिछोरेपन और गैरजिम्मेदारी का विषय बन जाती है । इस अत्यंत महत्वपूर्ण शक्ति का कम से कम अध्ययन होता है और तत्संबंधी ज्ञान की इमारत तो केवल अन्त:स्फूर्ति, देखादेखी, मित्रों की अर्द्धस्पष्ट बातचीत या हँसीमजाक के संकेतों के बुनियाद पर ही खड़ी होती है । जो शक्ति हमारे पूज्यभाव का विषय होनी चाहिये उसे अश्लीलता या छिछोरपन के दायरे में घसीट लेने से अनेक अनिष्ट परिणाम जन्म लेते हैं । संस्कृति की पूरी परंपरा अधिकांश में स्त्री-पुरुष के आकर्षण के वैयक्तिक और सामाजिक पहलुओं की सुसंवादी रचना के प्रयत्नों में ही व्यक्त होती है और जिस हद तक यह रचना सुघटित और सुव्यवस्थित नहीं हो पाती, उसी हद तक हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनिष्टों, संकटों और उपद्रवों का प्रवेश होता रहता है ।

व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न जरा गहराई में उतरकर समझ लें । यह समस्या हम मानते हैं उतनी सफल नहीं हैं । स्त्री-पुरुष के निकटतम संसर्ग की अनिवार्यता को स्वीकार करके भी हम देखते हैं कि उस संसर्ग की परिणति के मार्ग में अनेक बाधाएँ और मर्यादाएँ हैं । स्त्री-पुरुष के बीच सच्चे अनुराग की उत्पत्ति के लिए पहली आवश्यकता है — परिचय । परिचय के बाद निर्वाचन या पसंद का प्रश्न उठता है । साठ वर्ष के पुरुष को देखकर बीस वर्ष की युवती के मन में अनुराग उत्पन्न होने की संभावना बहुत अधिक नहीं होती । आयु का इतना अधिक भेद स्वाभाविक आकर्षण को पूर्णता नहीं दे सकता । सामाजिक रूढियाँ इस प्रकार के संबंधों को संभव तो बना देती हैं, परंतु इस विषम संसर्ग से दोनों व्यक्तियों को संपूर्ण संतोष शायद ही मिलता हो । कन्या विक्रय, कुलीन विवाह जैसी रूढियों में से इस प्रकार के विसंगत संबंधों का जन्म होता है । पुत्र, पुत्रवधु या किसी निकट के संबन्धी का ताना सुनकर, अहम्मन्यता के आवेश में विवाह कर बैठने वाले घमंडी वृद्धों की कहानियों से वर्तमान युग भी नितांत अपरिचित तो नहीं है ।

इसी प्रकार, कुलीन माने जाने वाले राजवंशों की कन्याओं के विवाह कुलीनता की सीमा के अन्तर्गत आने वाले अन्य कुछ राजवंशों में ही करने का दुराग्रह बत्तीस वर्ष की राजकन्या को बारह वर्ष के राजकुमार



के संसर्ग में ला पटकता है । राजकुमार को अभी तक यौन आकर्षण की जानकारी भी न हुई हो, जबकि राजकुमारी ने उसी आकर्षण की अपरिणति के नैराश्य में दस-पंद्रह वर्ष बिताये हों । कलापी * रमा से उम्र में छोटे थे यह तथ्य ''हृदयत्रिपुटि'' का अध्ययन करने वालों को जानना आवश्यक है ।

असमानता पर आधारित संसर्ग कदाचित् ही सफल होते हैं । असमानता केवल आयु की ही नहीं होती । शारीरिक असमानता को भी नितांत महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता । छ : फुट का पुरुष और चार फुट की स्त्री, या साढ़े पाँच फुट की स्त्री और साढ़े चार फुट का पुरुष परस्पर आकर्षण के लिए उत्तम उदाहरण तो नहीं माने जा सकते । प्रहसन या स्वाँग में इस प्रकार की जोड़ियाँ चाहे निभ जाये, जीवन में ऐसी विषमत्ता में से संसर्ग की पूर्णता शायद ही प्राप्त होगी ।

देह संबंध में ही जातीय आकर्षण परिमित या समाप्त हो जाता है यह कहना पूर्ण सत्य नहीं है ; परंतु देह संबंध इस आकर्षण का मुख्य अंग है यह तो बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है ।

स्वाभाविक रूप से देह संबंध का यह आकर्षण देह के सुयोग्य प्रमाण की परस्पर आकांक्षा रखता है । इसके अभाव में संसर्ग का आनंद अपूर्ण या निष्प्रभ रह जाता है । हमारे आर्यावर्त का कामविज्ञान स्त्री-पुरुष के कद व शरीर-रचना के अनुसार उनका वर्गीकरण करता है व कौन-सा वर्ग किसके संसर्ग से सफल व संतुष्ट हो सकता है, इसका निश्चित विवेचन भी करता है ।

शिक्षा और संस्कार के भेद भी जातीय आकर्षण को मर्यादित करने वाले तत्त्व हैं । विलायत से उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटने वाले युवक को दूसरी-तीसरी कक्षा तक पढ़ी हुई स्त्री के प्रति कोई अ[illegible] न हो, यह बात समझ में आ सकती है । इसी प्रकार ग्रेज्यूएट युवती को चार-पाँच कक्षा तक पढ़ा हुआ पुरुष आकर्षक नहीं लगेगा । कुमुद सुंदरी और प्रमादधन * इसी संस्कारजन्य विषमता के साहित्यिक उदाहरण हैं ।

अकसर यह भी देखा जाता है कि आकर्षण की पूर्णता के लिए स्त्री पुरुष में किसी प्रकार की श्रेष्ठता की आकांक्षा करती है । मंजरी के अभिमानी संस्कार ने काक * में वीरत्व की इतनी भव्य कक्षा देखी कि उसकी आरंभिक अरुचि प्रेम के प्रबल आवेग में बदल गई । नानालाल ने अपने ''इन्दुकुमार'' नाटक में भी यही भाव व्यक्त किया है कि स्त्री ऐसे पुरुष को ही आत्मसमर्पण करती है जो उसका प्राणेश्वर, जीवन-नियंता और मार्गदर्शक हो सकने की क्षमता रखता हो ।

निर्वाचन या पसंद का तत्त्व भी स्त्री-पुरुष के आकर्षण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । कहने का आशय यह नहीं कि पसंद पर आधारित सभी संबंध सर्वदा सफल ही होते हैं । प्रथम-दर्शन-जनित प्रेम कविता या उपन्यास में चिरस्थायी भले ही रहता हो, नित्य-जीवन में तो प्रथम दर्शन के आवेशमय प्रेम और बाद की वास्तविकता में भेद होना नितांत असंभव नहीं माना जा सकता । वाणी की रसिकता और वाचालता एवं व्यवहार की आकर्षकता और प्रफुल्लता अनेक बार भावशून्य हृदय और विवेकहीन बुद्धि को ढँकने के आवरणमात्र होते हैं । ऐसे बाह्य आचरणों से प्रेरित आकर्षण प्राय: निष्फल ही प्रमाणित होते हैं ।

* 'कलापी' उपनाम से काव्य रचना करने वाले श्री. सूरसिंह जी गोहिल सौराष्ट्र की 'लाठी' रियासत के नरेश थे । रमा उनकी पत्नी । रनिवास की शोभना नामक दासी से 'कलापी' का प्रेम था । उनका ''हृदय-त्रिपुटि'' नामक काव्य इन्हीं प्रसंगों पर आधारित है । — अनु.

* स्व. श्री. गोवर्धनराम त्रिपाठी के प्रसिद्ध उपन्यास ''सरस्वतीचंद्र'' के पात्र ।

* श्री. कन्हैयालाल मुन्शी के ऐतिहासिक उपन्यास ''गुजरात का नाथ'' के पात्र ।

संस्कार की समानता और स्वतंत्र निर्वाचन एवं अभिरुचि के आधार पर रचे हुए अनेक संबंध भी शरीरशास्त्र और कामशास्त्र के ज्ञान के अभाव में अनेक प्रकार की विडंबनाएँ खड़ी करते हैं । जीवन एक महान कला है और स्त्री-पुरुष के आकर्षण से निर्मित प्रसंगों की परंपराएँ भी जीवन का एक प्रधान अंग होने के नाते महान कला के अंतर्गत ही आती है ।

दर्शन, संभाषण, स्पर्श और निकट संपर्क के सोपानों से देहसमर्पण की पराकाष्ठा तक ले जाने वाला आकर्षण स्त्री और पुरुष जैसे एक-दूसरे से नितांत भिन्न देहरचना और भावरचना वाले व्यक्तियों के बीच संपूर्ण सहकार की अपेक्षा रखता है । कोमल स्निग्धता, सूक्ष्म भावपरिचय, पराकाष्ठा का समभाव, निश्छल विशाल-हृदयता और स्वार्थरहित वृत्ति से दूसरे को ही आनंद और सुख पहुँचाने का आग्रह इस सहकार प्राप्ति के महत्त्वपूर्ण घटक हैं ।

स्त्री-पुरुष का संबंध केवल निर्लज्ज पशुता या कामलोलुपता ही नहीं है । न तो यह किसी गँवार का जंगलीपन है और न किसी भुक्खड़ का बकोसना । मनुष्य के उत्तमोत्तम भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति होने के बाद ही प्राथमिक आकर्षण देहसुख की पराकाष्ठा तक स्त्री-पुरुष को ले जा सकता है ।

परंतु सभ्य समाज के मनुष्यों के यौन संबंधों की तुलना जंगलीपन या पशुता से करने में शायद कुछ गलती हो रही है । जंगली कहलाने वाली जातियों में भी स्त्री-पुरुष के संबंध का ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रकार की प्रथाओं की योजना होती है । यह प्रथाएँ विचित्र होने पर भी बोधप्रद हो सकती हैं और इतना तो स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती हैं कि सुसभ्य और सुशिक्षित प्रजाओं की अपेक्षा यह जंगली कबीले मनुष्य-जीवन के इस महान प्रश्न का महत्त्व अधिक समझते हैं ।

और पशु तो प्राकृतिक प्रेरणा का ही अनुसरण करते हैं । वे भी मनुष्य-सभ्य मनुष्य से कहीं अधिक नैसर्गिक मार्ग ग्रहण करते हैं । जबकि सुसंस्कृत मनुष्य का दंभ निरर्थक सभ्यता और झूठी लज्जा की भावना के कारण इस अतिमहत्वपूर्ण जीवन प्रश्न को सरलता से हल नहीं होने देता अपितु सभ्यता की बाहय चकाचौंध की आड़ में कामुकता और लोलुपता को पनपने का उत्तेजन देता है । व्यापक ज्ञान के अभाव में जातीय आकर्षण द्वारा प्रेरित स्त्री-पुरुष का संसर्ग प्रायः असफल, अर्धसफल या जुगुप्साजनक हो जाता है ।

भोक्ता और भोग्य की अर्थशून्य विचारधारा भी इस नाजुक संबंध को अनेक बार पथभ्रष्ट कर देती है । पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य है — इस मान्यता के सहारे और स्त्री की स्वभावसुलभ सौम्यता और स्निग्धता से भ्रम में पड़कर पुरुष अनेक बार यह भूल जाता है कि यौन संबंध में स्त्री और पुरुष दोनों एक साथ भोक्ता और भोग्य और भूमिकाएँ निबाहते हुए परस्पर संपूर्ण सहकार की अपेक्षा रखते हैं । एक पक्ष की मामूली सी अनिच्छा या असुविधा भी इस पूरे संबंध को अनादरणीय बना सकती है । भोक्ता और भोग्य की अर्धज्ञान पर आधारित और अनावश्यक कल्पना अनेक संबंधों को विषमय बना देती है ।

स्त्री-पुरुष के संसर्ग की असाध्यता या इसकी परिणति में होने वाला अतिविलंब भी इस आकर्षण को उतावला या निष्प्रभ बना देते हैं — यह एक सर्वश्रुत बात है यद्यपि इसे छिपाने की पूरी कोशिश की जाती है । देह चाहता हो, मन मचलता हो, प्रकृति प्रेरणा देती हो, लेकिन तृप्ति का साधन न हो तो स्वाभाविक है कि जातीय आकर्षण अनेक प्रकार के विपरीत रूप धारण करके संतोषप्राप्ति के लिए भटकता रहेगा ।



स्त्री या पुरुष का अनिवार्य वैधव्य या विधुरता (भारत जैसे देश में तो केवल स्त्री पर जबरदस्ती लाद गया वैधव्य) भी इस आकर्षण को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं । इस प्रकार की खंडित जोड़ियाँ बंधनहीन और परिपूर्ण आनंद के स्थान पर भयग्रस्त, प्रच्छन्न और भागादौड़ी के संसर्गों से आनन्द-प्रेम की छीना झपटी करने को बाध्य होती हैं जिससे अंत में आनंद के बदले आत्म-तिरस्कार ही पल्ले पड़ता है ।

बालविधवाओं का प्रश्न कुछ वर्ष पहले तक हमारे देश की विकट समस्या थी । आज भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस समस्या का हल हमें मिल गया है । इसके उपरांत, वर्तमान युग में शिक्षा के व्यापक प्रसार और आर्थिक कठिनाइयों के कारण विवाह संबंध भी कुछ विलंब से ही हो पाते हैं । इस परिस्थिति ने जातीय आकर्षण के प्रश्न का एक नया पहलू उपस्थित किया है जिसने समस्या को और भी जटिल बना दिया है । इस प्रकार के बहुत देर से होने वाले विवाह भी जातीय संबंधों में उलझनें पैदा करते हैं । इस बात का अनुभव योरप-अमरीका के देशों को हो चुका है । हमारे यहाँ भी यह समस्या निस्संदेह और निश्चित रूप से निर्मित हो चुकी है ।

व्यापार या अन्य किसी कारणवश लंबे अरसे तक विदेशों में रहने वाले पुरुष और स्वदेश में रहनेवाली उनकी स्त्रियों को भी वियोग की दारुण व्यथा का अनुभव करना पड़ता है । वियोग का अर्थ है : आवश्यक संसर्ग का अभाव । मेघदूत हमारे साहित्य का परम भव्य विरहगीत ही तो है । परंतु यह वियोग एक ओर यदि सुसंस्कृत और संयमी स्त्री-पुरुषों का विप्रलंभ श्रृंगार की रमणीय काव्यरचना करने की प्रेरणा दे सकता है — तो दूसरी ओर संस्कार और संयम की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले स्त्री-पुरुषों को अशिष्ट कही जानेवाली राहों पर भटका भी सकता है । संस्कार और संयम का संपूर्ण पालन करने वाले मनुष्यों की संख्या कितनी होगी ? और जातीय आकर्षण की दुर्निवार्यता मर्यादा के कठोर से कठोर बंधनों को शिथिल कर दे इतनी बलवती होती है — इस बात से संस्कृत और संयमी स्त्री-पुरुष भी अनजान नहीं होते । बड़े बड़े ऋषिमुनियों की तपस्या विचलित करने के लिए मोहक प्रलोभनों का उपयोग अनेक बार हो चुका है । हमारी प्राचीन पौराणिक कथाएँ ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी हैं ।



घर में दिखाई दे जाने वाले अंग्रेजों के कामसंकेतपूर्ण आचरण, नाटक-सिनेमा के शृंगारिक दृश्य, कहानी-उपन्यासों के कुतूहल प्रेरक वर्णन, मित्रों की घनिष्ट गपशप, पशुपक्षियों के संसर्ग की प्राकृतिक कृति या गाली जैसे तत्त्व यौन आकर्षण को कभी-कभी योग्य समय से पहले जाग्रत कर देते हैं । इस

अकाल-जागृति में से आकर्षण की पवित्र शक्ति को दूषित करनेवाली अपक्व-भोगेच्छा जन्म लेती है जो अनेक प्रकार के विचित्र और विपरीत यौन आचरणों की सृष्टि करके बाल्य और किशोर अवस्थाओं को कलुषित कर देती है और यौवन के आनंद को निष्प्रभ बना देती है । विद्यार्थियों या विद्यार्थिनियों के समूह-जीवन में पाये जाने वाले स्वजाति-आकर्षण जैसे व्यापक अनिष्ट इसी में से जन्म लेते हैं जो स्वाभाविकता का भंग करके इस आकर्षण की सतही तृप्ति का मार्ग खुला कर देते हैं ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस आकर्षण का वैयक्तिक पहलू अनुभवहीनता, अज्ञान और विचित्र सामाजिक परिस्थितियों के कारण परम आनंद, चरम स्वास्थ्य और शिष्ट संस्कार आदि उत्कर्षों को जन्म देने के बजाय अशांति, असंतोष, क्लेश, अनारोग्य और मानवता का ह्रास करने वाले अनेक अवगुणों और अपकर्षों के पहाड़ खड़े कर रहा है । जहाँ संयोग अन्य सब प्रकार से स्वस्थ हैं वहाँ भी योग्य कलाविधि का अज्ञान निष्फलता की भावना को जन्म दे रहा है और वियोग की अवस्था में तो स्वास्थ्य को दहला देने वाले अप्राकृतिक प्रयोगों की प्रेरणा देकर यही अज्ञान मनुष्य के यौन जीवन में व्यापक नैराश्य की भावना फैला रहा है ।

ये निष्फलता और नैराश्य की भावनाएँ इसलिए भयानक हैं कि इनमें से ही अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों की परंपरा खड़ी होती है । हिस्टीरिया, चित्तभ्रम, मानसिक निर्बलता, अकारण असत्याचरण, स्मृतिभंग या हिचकिचाहट जैसी अवस्थाओं के मूल में प्राय: यौन असंतुष्टता ही कारणरूप होती है । इन सारे अनिष्टों का प्रसार देखादेखी या आनुवंशिकता से होने के कारण, यह समस्या वैयक्तिक न रहकर सामाजिक रूप धारण कर लेती है । व्यक्तिगत आनंद या अनिष्ट के दायरे में सीमित रहकर ये गुण-दोष यदि सामाजिक महत्व धारण न करते तो हम उनकी ओर अधिक ध्यान भी न देते । परंतु मनुष्यजाति की अधिकांश प्रवृत्तियाँ व्यक्ति-मर्यादित रह नहीं सकतीं । मनुष्य का और उसके कार्यों का किसी न किसी समूह-व्यवस्था में ही स्थान होने से व्यक्ति के कार्य और विचार प्राय: सामाजिक उत्तरदायित्वों की सृष्टि करते हैं । इसलिए व्यक्ति के प्राकृतिक रुझान और सामाजिक व्यवस्था के बीच संघर्षरहित समझौता स्थापित करने के यत्न सतर्कता से करने पड़ते हैं । समाज को व्यक्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है और व्यक्ति को समाज के ताने बाने में गुंथ जाना पड़ता है । फिर भी व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष के अनेक प्रसंग उपस्थित होते ही रहते हैं और संपूर्ण संवादी समन्वय की कल्पना अब तक तो आदर्श की कक्षा पर ही संभव हो सकी है । समाज का प्रभाव व्यक्ति पर कितना होता है और व्यक्ति का प्रभाव समाज पर कितना पड़ता है आदि प्रश्न मानव जीवन के अनेक अंगों के संबंध में मनोरंजक बहस का सूत्रपात कर सकते हैं । परंतु यहाँ तो हमें केवल यही देखना है कि स्त्री-पुरुष के आकर्षण की व्यक्ति-विशिष्टता सामाजिक गुंफन में गुंथ कर किन परिणामों की सृष्टि करती है ।

जातीय आकर्षण अनिवार्य और नैसर्गिक है — यह तो निर्विवाद है । परंतु यह भी सत्य है कि प्राय: इस प्राकृतिक तत्त्व को कृत्रिम आवेगों का पोषण भी मिल जाता है । कभी-कभी विशिष्ट प्रकार की समाज-रचना भी ऐसे कृत्रिम आवेगों को जन्म देती है और जानबूझ कर आकर्षण को तीव्र बनाने के साधन उपलब्ध कर देती है । भारतीय वातावरण में जन्म लेने वाला युवक विलायत में दो-चार साल गुजार आने पर अनेक प्रकार के स्खलनों के लिए मानसिक अनुकूलता प्राप्त कर लेता है । पश्चिम की समाज रचना का स्त्री-पुरुष का अत्यंत निकट का सहवास उसकी यौन भावनाओं को अस्थिर कर देता है । प्राकृतिक आकर्षण को उग्र और बेकाबू कर देने वाले तत्त्व वहाँ के जीवन में अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं जिनसे मन और शरीर के आवेश की गति बढ़ जाती है । इसलिये, जातीय आकर्षण के प्राकृतिक विकास और कृत्रिम एवं त्याज्य वातावरण से निर्मित आवेग तीव्रता के बीच का भेद यदि आज के युग में विस्मृत हो रहा हो, तो उसे ध्यान में रखने की आवश्यकता है ।





३
विवाह

स्त्री-पुरुष के आकर्षण को अनिवार्य मान कर उनके संसर्ग को स्वीकार कर लेने से व्यक्तिगत प्रश्न पूरा हो जाता है । यदि एक ही सनातन पुरुष और एक ही चिरंजीवी स्त्री के निर्माण के बाद सृष्टि रुक गई होती तो आज की अनेक उलझनें पैदा ही न होतीं । परंतु आदम और ईव ने शैतान के बहकाने से ज्ञान या जातीय ज्ञान का फल चखा और उसके फलस्वरूप संतति और मृत्यु की उत्पत्ति हुई । बाइबल की यह कथा ईसाई मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति और समाजरचना की व्याख्या करने का प्रयत्न करती है । इसमें वर्णित जन्म और मृत्यु की अनिवार्यता वाला भाग तो सबको स्वीकार्य है । परंतु इसमें शैतान का हाथ था या



संतानोत्पत्ति पाप पर आधारित है यह विचारधारा अन्य धर्मावलंबियों को, विशेषतः आर्य-धर्मियों को तो कभी मान्य नहीं हुई । संतानप्राप्ति और विशेषकर पुत्रप्राप्ति को तो हिंदू शास्त्रों ने परम आवश्यक धर्म माना है, और 'पुत्र' शब्द का अर्थ है 'पु' नामक नरक से तारने वाले के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है । यह मान्यता आज के बदले हुए युग में अमान्य हो गई है और वर्तमान परिस्थिति में 'अष्टपुत्रवती भव' का आशीर्वाद शाप से भी बदतर प्रमाणित हो सकता है -- यह अलग बात है । परंतु वैयक्तिक संबंध के सामाजिक स्वीकार की दृढ़ भावना हमारे यहाँ सदा से रही है ।

किसी भी समाज विधान का आद्य प्रश्न यही होता है कि स्त्री-पुरुष के संबंध की सामाजिक मान्यता और सुरक्षा के अंतर्गत क्या व्यवस्था हो ? परस्पर आकर्षण और संसर्ग की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने पर दो सामाजिक प्रश्न उपस्थित होते हैं । पहला प्रश्न है : वासनातृप्ति किन परिस्थितियों में साध्य की जाय ? और दूसरा प्रश्न है : इस वासनातृप्ति के परिणामरूप जन्म लेने वाली संतति की क्या व्यवस्था की जाय ? संसार भर की सभ्य मनुष्यजाति ने इन दोनों प्रश्नों के समुचित निराकरण के लिए जिस शिष्ट प्रथा का विकास किया है उसे 'विवाह' के नाम से पहचाना जाता है । स्त्री-पुरुष का सहचार और परिवार का पालन, इन दोनों तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने की भावना से समाज आकर्षण-प्रेरित स्त्री-पुरुषों के संमत संसर्ग पर अपनी मान्यता की मुहर लगा कर विवाह संस्था में सभ्यता का आरोपण करता है और दंपति के आनंदोपभोग के अधिकार के साथ ही संततिपालन की जिम्मेदारी भी जोड़ देता है ।

इसके उपरांत, परस्पर एकनिष्ठ रहने की, एक दूसरे को निभा लेने की और सुखदुःख में एक दूसरे का साथ न छोड़ते हुए परस्पर सहायभूत होने की संस्कारभरी प्रतिज्ञाएँ करवा लेना भी समाज आवश्यक

मानता है । आनंद में सहभागी होने वाले उत्तरदायित्व में भी समभागी हों, यही स्वाभाविक है । इसी में मनुष्यता है । पशुपक्षी भी इस जिम्मेदारी को ईमानदारी से स्वीकार करते हैं — यह नहीं भूलना चाहिये । घोंसला बनाने की मजदूरी नर और मादा समान रूप से करते हैं । बच्चों की कहानी में भी चिड़िया यदि दाल का दाना लाती है,तो चिड़े को चावल का दाना लाना ही होता है । सहकार की इन प्रतिज्ञाओं का गांभीर्य बढ़ाने के लिए अग्नि, गणेश, सूर्य, शिव-पार्वती आदि देवी-देवताओं के सान्निध्य और उनकी साक्षी में ये प्रतिज्ञाएं करवाई जाती हैं और अनेक मन्त्रों और विधियों द्वारा उन्हें पवित्र किया जाता है । आसपास के समाज को एकत्र करके इस प्रसंग का पर्याप्त विज्ञापन किया जाता है और बाजे बजाकर उसे एक उत्सव का रूप दिया जाता है । इस सारे आयोजन द्वारा विवाह की सामाजिक मान्यता का प्रचार और व्यापक विज्ञापन करने के उपरांत उसका महत्व और गांभीर्य प्रतिज्ञा करने वाले युगल के हृदयों पर पूर्ण रूप से अंकित कर देना ही इस प्रथा का प्रधान उद्देश्य होता है । इस प्रकार विवाह दो व्यक्तियों के मुक्त संसर्गाधिकार को सामाजिक मान्यता प्राप्त कर देता है और साथ ही संततिवर्धन और संततिरक्षा के सामाजिक कार्य को भी संभाल लेता है । विवाह-संस्था वैयक्तिक संबंधों को सामाजिक स्वीकार कर के समाजोपयोगी संततिरक्षा के लिए दीर्घकालीन सहचार की आवश्यकता पर बल देती है । कुछ विचारक तो वैयक्तिक आनंद को आनुषंगिक मानकर विवाह को केवल संतान-पालन के लिए किया हुआ एक करार मात्र मानते हैं ।

इस प्रकार विवाह की संस्था स्थिर समाज-विधान का एक अति प्रशंसनीय प्रयत्न है यह तो स्पष्ट है । परंतु यह प्रयत्न पूर्णत: सफल हो सका है या नहीं, इस संबंध में अब कुछ शंकाएं उपस्थित होने लगी हैं । विवाह की किसी विशिष्ट प्रणाली से ही हमारा परिचय होने के कारण हम उसी प्रथा के रूप में विवाह को पहचानते हैं । परंतु विवाह संस्था का इतिहास और देश विदेश में प्रचलित विवाह की अन्य रूढ़ियों का अध्ययन हमें विवाह-प्रथा की ऐसी विचित्रताओं में घसीट ले जाते हैं जिनमें हमारी परिचित और मान्य प्रथाओं की परछाई भी कहीं नजर नहीं आती ।

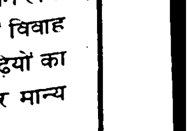
हम अपने देश की विवाह प्रथा का इतिहास ही देखें । श्वेतकेतु उद्दालक के समय तक विवाह की प्रथा थी ही नहीं यह बात आर्य विवाह संस्था के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है । मातृत्व की भावना तो थी, परंतु पितृत्व के लिए दीर्घ संबंध या अचल सहचार की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी । अपनी माता को किसी अनजान ब्राहमण के साथ जाती हुई देखकर उद्दालक ने तत्कालीन आर्यों में विवाह संस्था की स्थापना की — यह जानकर हमें आश्चर्य तो होता है, परंतु यह कथा कोरी कल्पना ही नहीं है ।

सीता और द्रौपदी के स्वयंवरों की योजना में शस्त्र निपुणता द्वारा पति की परीक्षा लेने का हेतु दिखाई देता है । शारीरिक शक्ति का कुछ न कुछ प्रमाण तो आज के युग में भी पतित्व के लिए आवश्यक माना जाना चाहिये । विवाह या विवाहबाहय संबंधों का समाज में चाहे जो स्थान हो, सुप्रजनन शास्त्र की दृष्टि से स्त्री-पुरुष में किसी विशिष्ट कक्षा के शारीरिक स्वास्थ्य और बल का होना आवश्यक ही माना जायगा ।

दमयंती और संयुक्ता के स्वयंवरों में उपस्थित उम्मेदवारों में से कन्या की पसंद के अनुसार विवाह की प्रथा के दर्शन होते हैं । इस प्रथा में, जिस पुरुष को कन्या पसंद करे उसके गले में वरमाला पहना देने से ही विवाह की मुख्य विधि सम्पन्न हुई मान ली जाती थी ।

कन्या-हरण द्वारा पत्नी प्राप्त करने की प्रथा भी प्रचलित थी । रुक्मिणि हरण, सुभद्रा हरण और ऊषाहरण की कथाएँ प्रसिद्ध हैं । आज भी कुछ पिछड़ी हुई जातियों में आवश्यकता न होने पर भी विवाह से पहले स्त्री का हरण करने की प्रथा प्रचलित है । प्राचीन रोमन इतिहास में सॅबाइन स्त्रियों के हरण के प्रसंग से भी हम परिचित हैं ।

परस्पर पसंद पर आधारित विवाह बिना स्वयंवर के भी हो सकते थे । दुश्यन्त-शकुंतला के प्रेम विवाह का उदाहरण प्रसिद्ध है ।



दमयंती ने नल का पता लगाने के लिये फिर से स्वयंवर रचने का दिखावा करके ऋतुपर्ण और नल दोनों को आकर्षित किया । इस कथा में विधवा-विवाह की प्रथा की झलक दिखाई देती है । ध्रुवस्वामिनी देवी ने अपने देवर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ पुनर्विवाह किया था — यह बात इतिहास से साहित्य में भी आ चुकी है । देवर के साथ पुनर्विवाह करने की प्रथा तो आज भी अनेक जातियों में प्रचलित है । मध्ययुग में अनिवार्य वैधव्य-पालन की प्रथा ने चिरस्थायी और अपरिवर्तनशील रूप धारण करके उच्च कही जाने वाली जातियों में विधवाओं की वैयक्तिक और सामाजिक दुर्दशा को एक हृदय-विदारक समस्या का रूप दे दिया । यद्यपि अब विधवा विवाह कानून द्वारा संमत हो चुका है, तथापि उसकी सामाजिक स्वीकृति में आज भी पराकाष्ठा के संकोच का अनुभव किया जाता है ।

मुसलमानों में पुरुष एक साथ चार पत्नियों से विवाह कर सकता है । ईसाइयों और पारसियों में एकपत्नीत्व की प्रथा है । कानूनन एक समय में एक से अधिक पत्नी नहीं हो सकती, परंतु आपस में मनमुटाव हो जाने पर, विवाह संबंध से मुक्त होकर फिर से विवाह कर सकने की सुविधा दोनों पक्षों को रहती है ।

हिंदुओं में पत्नियों की संख्या-मर्यादा निश्चित नहीं है । अधिकांश एक पत्नीत्व की प्रथा स्वीकृत है — और एक पत्नी ही कभी-कभी भारी पड़ जाती हो तो आश्चर्य नहीं! परंतु संतान के अर्थ, शौक के खातिर या मजदूरी में मदद रूप हो सकने के कारण एक से अधिक पत्नियों से विवाह की छूट हिंदुओं में पाई जाती है । अब इस पर कानूनन प्रतिबंध लगाने की भूमिका* तैयार हो चुकी है ।

श्रीकृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थीं यह एक अतिप्रसिद्ध कथा है । यह बात सच थी, या इसमें अतिशयोक्ति है, यह प्रश्न यहाँ उपस्थित नहीं होता । पत्नियों की मान्य संख्या हमारी कल्पना में किस हद तक जा सकती है, इसी का यह एक ज्वलंत उदाहरण है ।

अमरीका के 'सॉल्ट लेक सिटी' नामक परगने में 'मॉर्मन' पंथ की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी । इस पंथ के धर्मोपदेश के अनुसार पुरुष चाहे जितनी पत्नियों से विवाह कर सकता था । यह पंथ अपना परिचय ईसाई धर्म के एक संप्रदाय के रूप में देता था और बहुत लंबे अरसे तक उसे अच्छा खासा समर्थन भी प्राप्त हुआ था ।

कई बार यह भी देखा जाता है कि बहुपत्नीत्व की प्रथा केवल आर्थिक परिस्थितियों के कारण जन्म लेती है । स्त्री को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो जाती है और पुरुष को मेहनती मजदूरिनें मिल जाती हैं । विवाह की प्रतिज्ञाएँ परस्पर सहायभूत होने की अपेक्षा तो रखती ही हैं । देहज़ का लोभ भी बहुत से तथाकथित कुलीनों को एकाधिक विवाह करने की प्रेरणा देता है ।

इन सब विविधताओं के बीच राम का एक पत्नीव्रत युगयुग से हिंदुओं के लिए आदर्श उपस्थित करता रहा है । गुजरात के नागर ब्राह्मण भी अपनी एक पत्नीत्व की प्रथा का उल्लेख अभिमान से करते हैं । विवाह-कानून में सुधार करने के आंदोलन भी संसारभर में एक पत्नीत्व का समर्थन करते हैं जो हवा के रुख की पूर्वसूचना के समान है ।

* प्रस्तुत ग्रंथ की रचना सन् १९४२-४३ में हुई थी । तब तक 'हिंदू कोड बिल' या 'हिंदू विवाह विधान' संमत नहीं हुए थे ।

— अनु.

हॅवलॉक एलिस जैसे यौन विज्ञान के समर्थ ज्ञाता ने भी एक पत्नीत्व को अधिक स्वाभाविक और प्राकृतिक माना है । उनके मतानुसार पृथ्वी पर स्त्री-पुरुषों की लगभग समान संख्या होना भी एक पत्नीत्व के प्राकृतिक निर्देश के समान है ।

परंतु हमारे अति आधुनिक काल में ऐसे अनेक दृष्टांत उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें सुशिक्षित युवतियों ने स्वेच्छा से और पूर्ण राज़ीखुशी से एक स्त्री जीवित होने वाले पुरुष की पत्नी होना स्वीकार कर लिया हो । ऐसी घटनाएँ हमारी शिक्षा-प्रणाली, हमारे काम विज्ञान और हमारे संस्कारों पर विदारक प्रकाश डालती है ।

प्राचीन युग के बहुपत्नीत्व के दृष्टांत सुनने की तो हमें आदत पड़ चुकी है । परंतु विवाह संस्था के एक रिवाज के रूप में बहुपतित्व की प्रथा के दर्शन यदाकदा ही होते हैं । कुंती और द्रौपदी के पंचपतित्व की कथाओं में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं । बहुपतित्व की प्रथा आज भी तिब्बत और हिमालय के कुछ भागों में प्रचलित है ।

तलाक की प्रथा से अधिक से अधिक लाभ उठाकर (या उसका अधिक से अधिक दुरुपयोग करके) एक के बाद एक, कई पतिओं के संसर्ग में आने वाली अमरीकन फिल्म-नटियों की चंचलता विवाह को मज़ाक का विषय बना रही है ।

कहीं कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि विवाह की स्वीकृति वासनातृप्ति और संततिरक्षा के दीर्घकालीन स्वीकारचिहन के रूप में आवश्यक नहीं होती । उदाहरणार्थ सूरत-नवसारी प्रदेश की कुछ आरण्यक जातियों में कुछ युवक उम्मेदवार के रूप में परिवारों में रहने लगते हैं । इन्हें 'खंधाड़िया' कहा जाता है । परिवार की कन्याएँ इनके संसर्ग में आती रहती है व सन्तानोत्पत्ति भी करती रहती हैं, परंतु इस संबंध की गणना विवाह के रूप में नहीं की जाती । कन्या को यदि किसी कारण से उम्मेदवार पसंद न हो, तो 'खंधाड़िया' को परिवार छोड़ देना पड़ता है और इसमें दोनों पक्षों के लिए कोई मान-अपमान की बात नहीं समझी जाती ।

पश्चिम के देशों में मैत्री-विवाह (Companionate marriage) की संभावना भी विचाराधीन है जो आज भी वहाँ के समाज में हमारी कल्पना से कहीं अधिक प्रमाण में प्रचलित हो तो आश्चर्य नहीं । इस प्रथा में जब तक परस्पर अरुचि निर्माण न हो, तब तक ही दांपत्य का बंधन रहता है । बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे विवाह संबंधी अनेक प्रयोग करनेवाले तत्वज्ञ भी विवाह के अंतर्गत मुक्त सहवास के स्वातंत्र्य की कल्पना कर सकते हैं ।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के फ्रान्स के मन्त्रिमंडल के नेता लिआँ ब्लूम की गणना एक मान्य समाजशास्त्रविद् के रूप में होती है । उसने तो एक नितांत नई विचारधारा प्रस्तुत की है । उसके मतानुसार यौवन की प्राथमिक भूमिका में पुरुष और स्त्री एकाधिक व्यक्ति के संसर्ग की इच्छा से व्याप्त होते हैं । इस बहुसंसर्ग की इच्छातृप्ति के साहसपूर्ण कालखंड के बाद ही युवक-युवती स्थिर जीवन की भूमिका पर पहुँचते हैं । इस भूमिका पर पहुंचने के बाद किये हुए विवाह संबंध ही सफल हो सकते हैं । उससे पहले की भूमिका पर तो स्त्री पुरुष को मनमाने ढंग से कामोपभोग की स्वतंत्रता होनी चाहिए ।

तलवार को पुरुष का प्रतीक मानकर उसके साथ कन्या का विवाह कर देने की प्रथा हमारे देश के राजपूतों में प्रचलित थी । गुजरात की 'कड़वा पाटीदार' जाति में बारह वर्ष में एक बार देवी जी बोलती हैं । उस अवसर पर एक साथ हजारों विवाह कर देने पड़ते हैं । इस द्वादश-वर्षीय सुमुहूर्त के समय कुछ कन्याओं के लिये यदि योग्य वर उपलब्ध न हों, तो उनका विवाह पुष्पगुच्छ के साथ करके विवाहविधि सम्पन्न हुई मान ली जाती है । पुष्पगुच्छ के साथ विवाह हो जाने पर जब योग्य मानव वर मिल जाता है तब फिर से विवाह होता है और उसे पुनर्विवाह माना जाता है ।



बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में, पारसियों में, महाराष्ट्र की प्रभु जाति में तथा गुजरात के अनाविलों में कन्या के पिता को इतनी बड़ी रकम दहेज के रूप में देनी पड़ती है कि परिवार में कन्या का जन्म ही शापरूप माना जाता है । जैसे-जैसे पुरुष की शिक्षा, समृद्धि और धन कमाने की क्षमता बढ़ती जाती है, विवाह के बाजार में उसका मूल्य भी उसी अनुपात से बढ़ता जाता है । आज के तथा कथित प्रगतिशील युग में सुशिक्षित, संस्कारी और उदारमतवादी कहलाने वाले नवयुवक भी अपना विवाह-मूल्य वसूल करने में बिलकुल नहीं हिचकिचाते ।

इसके विपरीत कुछ जातियों में स्त्रियों की कमी होने के कारण कन्या के लिए, वरपक्ष को भारी कीमत अदा करनी पड़ती है । इस प्रकार के मनुष्य-संबंधों में खरीद-फरोख्त की भावना स्पष्ट नजर आती है, फिर भी खुल्लमखुल्ला वर-विक्रय या कन्या-विक्रय के ये लज्जास्पद प्रकार भी विवाह के रूप में स्वीकृत हो जाते हैं ।

इतना ही नहीं, आज कल तो विवाह करा देने वाले पेशेवर एजंट भी दिखाई देने लगे हैं जो विवाह करवा के अपनी दलाली वसूल कर लेते हैं ।

धर्म और जाति की भिन्नताएँ विवाह-संस्था की व्याप्ति को सदा से संकुचित करती रही हैं । हिंदू का, हिंदू रहकर, मुस्लिम युवक या युवती से विवाह नहीं हो सकता । इसी प्रकार मुसलमान, मुसलमान रहकर हिंदू या ईसाई वर-कन्या से या ईसाई, ईसाई रहकर, अन्य-धर्मीय वर-कन्या से विवाह नहीं कर सकते । कानून इसे स्वीकृति नहीं देता । भिन्नधर्मियों के लिए एक ही मार्ग है: अपने आपको निधर्मी या किसी भी धर्म पर विश्वास न रखने वाला घोषित करके, सरकारी दफ्तर में दर्ज कराके, शुद्ध रूप से ऐहिक विवाह (Civil marriage) कर लेना । यह विशेष परिस्थितियों से छूटने का एक उपाय मात्र है । सामान्यत: तो विवाह में धर्म और करार — दोनों तत्त्वों का स्वीकार पाया जाता है ।

इस नियम के अनेक अपवाद भी उपलब्ध हैं । अकबर ने हिन्दू राजकन्या से विवाह किया, परंतु अपनी हिंदू पत्नी को हिंदू धर्म के पालन की संपूर्ण स्वतंत्रता दी । जहाँगीर और शाहजहाँ, ये दोनों मुगल बादशाह हिंदू माता और मुसलमान पिता की संतान थे, जिन्होंने पिता का धर्म अपनाया था ।

इसी प्रकार ब्राह्मण पेशवा बाजीराव और मस्तानी का संबंध भी ऐतिहासिक अपवाद कहा जा सकता हैं । मस्तानी की संतान ने माता के धर्म का पालन किया ।

कभी-कभी राजनीति का भी विवाह-संस्था पर प्रभाव पड़ता है । इसका ज्वलंत दृष्टांत दक्षिणी अफ्रीका की गोरी, सुसभ्य और स्वातंत्र्यप्रिय कहलाने वाली सरकार ने उपस्थित किया था । भारत में विधिपूर्वक हुए भारतीयों के विवाहों को वैध-विवाह मानने से इस तथाकथित सभ्य सरकार ने इनकार कर दिया । गाँधीजी के सत्याग्रह को जन्म देने वाले अनेक प्रसंगों में यह घटना भी थी ।

हिंदुओं में तो जातिप्रथा के उपरांत कभी-कभी प्रादेशिक सीमाएँ भी विवाह के मार्ग में आ सकती हैं । ब्राह्मण से ब्राह्मणेतरों में, क्षत्रियों से अक्षत्रियों में और वणिकों से वैश्येतरों में विवाह नहीं हो सकते — यहाँ तक तो गनीमत है । परंतु बात यहीं नहीं रुकती । ब्राह्मणों में चौरासी से भी अधिक उपजातियाँ हो गई हैं जिनमें से अधिकांश भौगोलिक क्षेत्रों पर आधारित हैं । एक वर्ग का दूसरे वर्ग से विवाह संबंध नहीं हो सकता । इस प्रकार का विभाजन दूसरी जातियों में भी है । ब्राह्मणों में अपने आपको सर्वोच्च मानने वाली नागर जाति का ही एक छोटा सा उदाहरण देखिये : नागरों के छ : फिरके हैं : वड़नगरा, वीसनगरा, साठोदार, प्रश्नोरा, कृष्णोरा और चित्रोड़ा । इनमें परस्पर विवाह-संबंध नहीं होते । इतना ही नहीं, प्रत्येक फिरके में भी उपविभाग हैं । उदाहरणार्थ, वड़नगरा नागरों में दो विभाग हैं: धर्मकार्य प्रवीण वैदिक नागर ब्राह्मण और व्यवहार प्रवीण गृहस्थ नागर ब्राह्मण । इन दोनों में भी आपस में विवाह-संबंध नहीं होते । नागरों में वैश्य भी होते हैं । परंतु ब्राह्मण उनसे कोई संबंध न रखें, तो आश्चर्य किस बात का ?

जातियों का विभाजन यहीं पर नहीं रुकता । और भी अनेक प्रकारों से विभागीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है जो उपजातियों को छोटे-छोटे घेरों में बाँटकर अत्यंत क्षीण कर देती है । दंढाव्य, औदिच्य, चारुतर, कान्यकुब्ज जैसे प्रादेशिक विभाजनों के समान ही दस्से, बीसे, चौबीसे इत्यादि गुणसूचक विभाजनों की परंपरा न जाने कहाँ जाकर रुकती है ।

कभी-कभी यह जातिसंस्था प्रादेशिक सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाती है यह नहीं भूलना चाहिये । गुजरात का खेडावाल ब्राहमण अनेक प्रान्तों की सीमाएँ पार करके मद्रास, हैदराबाद या बनारस की खेडावाल जाति से संबद्ध रह सकता है ।

कुलीनता की भावना विभागीकरण की प्रवृत्ति को इससे भी अधिक प्रोत्साहन देती है । नड़ियाद, वसा या सावली के कुलीन पाटीदार कन्याओं का वैवाहिक आदान प्रदान विशिष्ट गाँवों के विशिष्ट परिवारों तक ही सीमित रखते हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारी जातियाँ अपने-अपने विवाहक्षेत्रों को अत्यंत संकुचित बना चुकी हैं ।

अनेक प्रकार के निषेध भी विवाह-संस्था ने मान्य किये हैं । हिंदुओं में सगोत्र विवाह वर्ज्य है । अंग्रेज पुरुष पत्नी की मृत्यु के बाद साली से विवाह नहीं कर सकता; जब कि प्राचीन मिश्र में सहोदर भाई-बहन का विवाह भी हो सकता था । हिंदू धर्मशास्त्र निम्नलिखित आठ विवाह प्रकारों को स्वीकार करता है ; यद्यपि रूढ़ि इनमें से बहुत कम को मान्यता देती है : देव, ब्राहम, आर्ष, प्राजापत्य, गांधर्व, असुर, पिशाच और राक्षस । इतनें विविध प्रकार के विवाहों को मान्यता देने वाले हिंदू धर्म के अनुयायिओं को केवल जाति पर आधारित विवाह की श्रेष्ठता या पवित्रता का मिथ्याभिमान शोभा नहीं देता ।

४
विवाह-संस्था में प्रविष्ट हो जाने वाली त्रुटियाँ

विवाह-संस्था की विविधता और विचित्रताएँ हम संक्षेप में देख चुके । इस संस्था का इतिहास समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विभाग है । इस इतिहास की गहराई में उतरने की यहाँ आवश्यकता नहीं । इस विविधिताओं और विचित्रताओं के पीछे कोई न कोई सामाजिक कारण भी हम ढूंढ सकते हैं । साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि परिस्थिति के अनुसार इसमें अनेक परिवर्तन होते आये हैं और हो रहे हैं ।

इस संस्था के कारण समाजरचना में व्यवस्था के साथ-साथ अनेक प्रकार के बंधन भी आ खड़े हुए हैं । उत्तराधिकार परिवार,पारिवारिक अधिकार, वैयक्तिक संपत्ति, दीवानी और फौजदारी कानून, न्यायशासन और वकीलों की संस्था जैसे समाजव्यवस्था की जटिलता और उलझनें बढ़ाने वाले और कभी-कभी उन उलझनों को सुलझाने में सहायक होने वाले अनेक तत्त्व इसी संस्था के परिणामरूप हैं ।

वैयक्तिक आनंद और सामाजिक संतोष प्रदान करने के बदले कभी-कभी यह संस्था जंजालरूप बन जाती है और उसके मुख्य हेतु को भुलाकर मनुष्य कभी-कभी गौण तत्त्वों की भूलभुलैया में ही उलझ जाता है ।



विवाह के स्वरूपों की अनेकविधता भी विवाह को अब तक प्रयोगावस्था में ही रख रही है।

विवाह की कौन-सी प्रथा उत्तम मानी जाय? एक पति-पत्नीत्व या बहुपति-पत्नीत्व? अपनी संस्कृति का मिथ्याभिमान अन्य संस्कृतियों की विवाह प्रथाओं के प्रति प्राय: उपहास या तिरस्कार की भावना उत्पन्न करता है। परंतु जिस समय बहुपत्नीवादी हिंदू एकपत्नीव्रत को कानून द्वारा अनिवार्य करवाने का प्रयत्न कर रहे हैं उसी समय पश्चिम के विचारक उनकी एक पत्नीत्व की प्रथा की त्रुटियों पर विचार कर रहे हैं। इस वैचारिक अस्थिरता से यही निष्पत्ति होती है कि अपनी प्रथा से भिन्न दिखाई देने वाली रूढ़ियों का उपहास या तिरस्कार करने का अधिकार किसी को नहीं।

एक पति-पत्नीत्व ही उत्तम प्रथा है, क्योंकि उसके बंधन से छूटने का मार्ग तलाक द्वारा प्रस्तुत है — इस विचारधारा के समर्थकों से लियॉब्लूम कहता है, ''मैं इस बात को अत्यंत आग्रह-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि इच्छानुसार समाप्त हो सकने वाले विवाहों की परंपरा की अपेक्षा बहुपति-पत्नीत्व की संभावना वाले संबंध ही अधिक वांछनीय हैं।

हिंदू और मुसलमान युगल के बीच प्रेम हो ही नहीं सकता या प्रेम के लिए धर्म की समानता आवश्यक है — ऐसा कोई प्राकृतिक नियम नहीं। बाजबहादुर और रूपमती, सलीम और अश्रुमती एवं जगन्नाथ पंडित और लवंगी के उदाहरण इतिहास-प्रसिद्ध हैं। फिर भी, सामाजिक रूढ़ि भिन्नधर्मियों के विवाह को स्वीकृति नहीं देती।

यह तो हुई धर्मभेद की बात। परंतु कभी-कभी मामूली-सा जातिभेद भी हमारे यहाँ कितनी सामाजिक विडंबनाएँ खड़ी कर सकता है — इसमें कोई अनजान नहीं।

संतति-पालन की आवश्यकता विवाह को एक आर्थिक और सामाजिक प्रश्न बना देती है जिसमें भोगेच्छा का मूल प्रश्न तो न जाने कहाँ छिप जाता है।

इन सब परिस्थितियों का विचार करते हुए, विवाह की व्याख्या करना एक मुश्किल काम है। हम सिर्फ यही देख सकते हैं कि कौन-से लक्षण उसके आवश्यक अंग हैं। प्रथम तो आकर्षण-प्रेरित दो व्यक्ति — पुरुष और स्त्री — होने चाहिये। सहवास के अनिवार्य परिणाम रूप संतति के पालन की तत्परता दोनों में होनी चाहिये। इसी कारण सहवास दीर्घकालीन होना चाहिये। यह सहवास जीवनभर का हो सकता है या इच्छानुसार इसकी समाप्ति की जा सकती है। समाप्ति के बाद अन्य किसी के साथ फिर से सहवास की संभावना हो सकती है और इन सब व्यवस्थाओं को धर्म, कानून और रूढ़ि —तीनों की मान्यता मिलनी चाहिये।

विवाह-संस्था पर सबसे बड़ा आक्षेप यह लगाया जाता है कि वह ऊबादेने वाली और एकताननाभरी नीरसता का निर्माण करती है जिसके कारण वैयक्तिक सुख पहुँचाने का उसका प्राथमिक कार्य सफल नहीं हो पाता। व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करने वाले बंधन के रूप में भी इसकी अवगणना होने लगी है।

विवाह-संबंध से बँधने वाले प्रत्येक युगल से समाज यह आशा रखता है कि रोज-रोज, वर्षानुवर्ष, जीवनभर एकसाथ रहकर भी वे पारस्परिक आकर्षण को यदि बढ़ायें नहीं तो कम से कम एक विशिष्ट स्तर पर बनाये रखें। परंतु ऐसा कर सकने के लिए किस कोटि की योग्यता, सावधानी, स्वार्थत्याग और चरित्रबल की आवश्यकता है इसका अंदाज लगाया जा सकता है। अधिकांश दंपति-जीवन में तो हम यही देखते हैं कि विवाह के बाद, साल दो साल बीतते ही, विवाहित अवस्था एक नीरस जीवन-व्यवहार मात्र रह जाती है। विवाह के बाद भी जीवनभर प्रेमी-प्रेमिका बने रहे हों ऐसे युगलों की कल्पना नितांत असंभव तो नहीं, परंतु हमारा अनुभव उन्हें अपवाद रूप मानने को हमें बाध्य करता है। विकास के वर्तमान सोपान तक मनुष्य को पहुँचानेवाली विवाह-संस्था को नितांत निष्फल तो नहीं कहा जा सकता, परंतु वह सर्वांग सफल हो सकी है, यह कहना भी अत्युक्ति ही होगी। अधिकांश संबंधों में यही देखा जाता है कि वैयक्तिक

वासना तृप्ति का महत्कार्य तो विवाह के बाद कुछ ही दिनों में झटपट पूरा कर लिया जाता है और उसके बाद तो यह संस्था एक अत्यंत नीरस, असंतुष्ट और उत्साहरहित घर चलाने की प्रथा मात्र रह जाती है जिसमें लड़खड़ाते झिलमिलाते जीवन कटता रहता है और संतानोत्पत्ति की निरुपाय होकर सहन कर लिया जाता है। यद्यपि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस हालत में भी विवाह संस्था संतानप्रेम, सहचार से उत्पन्न सहानुभूति, एक दूसरे को निभा लेने की वृत्ति और प्रतिष्ठा का आडंबर करने की क्षमता आदि अनेक छोटे मोटे गुणों का विकास करती है ; तथापि यह भी दांपत्य-जीवन के प्रामाणिक अनुभव द्वारा सिद्ध वास्तविकता है कि विवाह संबंध जीवनभर का रसमय काव्य नहीं रह पाता।

विवाह के विषय में अब तक हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँचे :—

१. स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण एक प्राकृतिक मानवधर्म है।

२. इस आकर्षण को संतुष्ट करना सामान्यतः आवश्यक है।

३. संतानोत्पत्ति इस आकर्षण का अनिवार्य परिणाम है जो इस प्रकृतिधर्म को सामाजिक रूप प्रदान करता है।

४. इन दोनों तत्वों में समन्वय स्थापित करने का समाज-मान्य उपाय विवाह के नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनेक रूप प्रचलित हैं। यदि संततिपालन की समस्या खड़ी न होती तो शायद विवाह-संस्था का उद्भव ही न हुआ होता।

५. अनेक कारणों से, प्रचलित विवाह-संस्था मनुष्य के कामजीवन के सब प्रश्नों का संतोषपूर्ण समाधान संपादित नहीं कर सकी है।

६. विवाह संस्था में परिवर्तन करने की सूचनाएँ अब तक कोई संतोषप्रद हल नहीं ढूँढ सकी हैं। स्त्री-पुरुष का विवाह-रहित संबंध भी मान्य नहीं हो सका है और विवाह की कोई वैकल्पिक योजना अब तक मनुष्यजाति को नहीं मिली है।

७. प्रधानरूप से विवाह दो व्यक्तियों के बीच एक करार मात्र है। अधिकतर इस करार-भावना के पीछे धर्म का प्रभाव भी रहता है। ऐहिक विवाह (civil marriage) धर्म भावना से पूर्णतः मुक्त है।

५

विवाह बाह्य संबंध

विवाह के स्थान पर मुक्त प्रेम और मुक्त सहचार की संभावना तो उपस्थित हो ही रही है, साथ ही संतानविरोध के कृत्रिम साधन उपलब्ध हो जाने से अनिच्छनीय संतति का प्रश्न भी किसी हद तक हल हो गया है। इन कारणों से विवाह की आवश्यकता ही घटती जा रही है और विवाह को अनावश्यक मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

रूस की क्रांति के आरंभिक दिनों में सन्तान पालन का काम जन्मदात्री माताओं के बदले सुशिक्षित धात्रियों द्वारा बड़े पैमाने पर करवाने की सरकार-नियन्त्रित योजना ने भी दंपति जीवन में से दीर्घकालीन सहचार की आवश्यकता दूर कर देने की संभावना उपस्थित की थी।

realpatidar.com

इन सब बातों के बावजूद, ऐसा दिखाई नहीं देता कि विवाह-संस्था और उसे बलवती बनाने वाले तत्त्वों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई हो । मानवजाति की यह महाप्रबल जीवन-योजना अधूरी, दोषयुक्त और असंतोषजनक होने पर भी अब तक व्यापक स्वीकृति पाकर मनुष्य समाज के बहुत बड़े भाग का नियंत्रण कर रही है । इतना ही नहीं, उसमें प्रविष्ट हो जाने वाली उत्तरदायित्वहीन उदासीनता के विरुद्ध इटली और जर्मनी जैसे प्रगत राष्ट्रों ने सक्रिय कदम उठाकर विवाह-संस्था को प्रोत्साहन देना योग्य माना है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन-विधान की एक व्यापक योजना के रूप में संसार के विचारकों ने अब तक उसका अस्वीकार नहीं किया है ।



परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि दोषरहित परिपूर्णता को प्राप्त न कर सकने वाली यह योजना मनुष्य के कामजनित आवेगों को पूर्णरूप से संतुष्ट करके उन्हें अपनी सीमा के अन्तर्गत मर्यादित रखने में समर्थ हुई है । विवाह तो यौन आकर्षण को संतुष्ट करने का केवल एक प्रतिष्ठित मार्ग है । परंतु प्रतिष्ठा का अर्थ सिर्फ समाजमान्य आचरण माना जाय, तो विवाह से असंतुष्ट रही हुई वासना प्रतिष्ठा के बंधनों को तोड़ने का साहस करेगी इस सत्य को स्वीकार हमें करना ही होगा । विवाह की कठोर जकड़न से राहत देनेवाली विवाह-विच्छेद या पृथक्-निवास जैसी व्यवस्थाएँ बहुत प्रतिष्ठित तो नहीं पर विधिसंमत होती जा रही हैं । फिर भी, व्यभिचार नामक पश्चिम की दृष्टि में दीवानी और भारतीय दृष्टि में फौजदारी अपराध का अस्तित्व विवाह की अपूर्णता पर विदारक प्रकाश डालता है ।

विवाह का अर्थ है स्त्री-पुरुष का प्रतिष्ठा प्राप्त संसर्ग । प्रतिष्ठित हो सकने से पहले उसे विधिसंमत होना पड़ता है ; और कोई भी प्रथा विधिसंमत तब हो पाती है जब समाज के बहुत बड़े भाग द्वारा स्वीकृत हो ।

स्त्री-पुरुष के प्रतिष्ठित, विधिसंमत और समाज-स्वीकृत संसर्ग से भिन्न सहचार व्यभिचा कहलाता है । विवाहित पति-पत्नी के यौन संबंध के बाहर का सारा काम-व्यवहार व्यभिचार की व्याख्या अंतर्गत ही आता है । स्वाभाविक रूप से समाज इसे अपराध मानता है और कानून में इसके लिए कठ दंड निर्धारित है । फिर भी समाज ने इसे आम जनता या अपराध-निरोधक शक्तियों द्वारा लक्ष में लेने यो (cognisable) अपराध नहीं माना है । व्यभिचार एक व्यक्ति के विरुद्ध अपराध है जिसकी शिकायत प या पत्नी ही कर सकते हैं । समाज या पुलिस अपने आप होकर इसे अपराध मानने की सख्ती नहीं कर यदि हम यह मान लेते हैं कि विवाह-संस्था संपूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकी है, तो व्यभिचार

संभावना और व्यापकता हमारी कल्पना से कहीं अधिक परिमाण में स्वीकृत करनी होगी । यह संभव है कि प्रतिष्ठा की भावना, समाज-निंदा का भय, सुविधा का अभाव और अन्य कई कारण इस व्यापकता को अत्यंत मर्यादित कर देते हों । फिर भी, यह तो मानना ही होगा कि असंतुष्ट वासना विवाह संबंध को पूर्णत: अभेद्य शायद ही रख पाती हो ।

विवाह की असफलता से जनित प्रत्यक्ष व्यभिचार की अपेक्षा मानसिक व्यभिचार की व्यापकता तो बहुत ही विस्तृत होनी चाहिये ।

इस प्रकार विवाह की असफलता में से बचने को व्यक्ति द्वारा आविष्कृत परंतु खुले आम सामाजिक मान्यता प्राप्त न कर सकने वाले यौन संबंध व्यभिचार के नाम से पहचाने जाते हैं।यह एक अपराध है और आदि से अंत तक गुप्त व्यवहार है । सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ा होने के कारण इस अपराध के प्रकट होने में भी विलंब होता है । अधिकांश तो पूरा व्यवहार एक रहस्यमय आवरण के पीछे छिपा रहता है और झूठी-सच्ची निंदा के रूप में ही इसकी व्यापकता के चिह्न दिखाई देते हैं, जो सदैव सत्य नहीं होते । सुविधा इसका सबसे महत्वपूर्ण पोषक-तत्त्व है । संततिपालन की जिम्मेदारी, संबंध की शाश्वति या संतोष की पूर्णता को इसमें स्थान नहीं । वृत्ति और कार्य को छिपाने में एक प्रकार की साहसपूर्ण उत्तेजना और विवाहित जीवन की नीरसता को कुछ क्षणों के लिए टाल सकने का रोमांचक अनुभव इसे आकर्षक भले ही बना देते हों, परंतु संबंध की स्थिरता का अभाव, प्रतिष्ठा जाने का भय और विरोध की आशंका के कारण इस प्रकार के संबंध वासनातृप्ति के सतही, तात्कालिक और बिखरे हुए प्रसंगों से आगे शायद ही बढ़ पाते हों । व्यभिचार यदि अपराध न माना जाय और समाज की स्वीकृति प्राप्त कर ले तो विवाह संभव ही न रहे और पूरे समाज की अनियमित और अव्यवस्थित यौन संबंधों वाली प्राथमिक भूमिका तक अवनति हो जाय — यदि इसे अवनति कह सकने की नैतिक हिम्मत हममें हो तो ! कुछ विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार के अनियमित और अव्यवस्थित (pronuscuous) यौन संबंधों की संभावना मनुष्य समाज की नितांत अविकसित और प्राथमिक अवस्था में ही हो सकती है, जब कि अन्य कुछ विचारक इस भूमिका के व्यापक अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते ।

इस प्रकार के अनियमित संबंधों का अध्ययन करते हुए हमारी दृष्टि एक विशिष्ट प्रकार की यौन व्यवस्था की ओर भी जाती है जिसमें विवाह की सब जिम्मेदारियों की संपूर्ण स्वीकृति न होते हुए भी विवाहजन्य संबंधों जैसी स्थिरता की झलक दिखाई पड़ती है । इस व्यवस्था को रखैल पद्धति कहा जाता है । पुरुष और स्त्री के यौन संसर्ग के लिए दीर्घकालीन करार का अस्तित्व इस प्रथा का मुख्य लक्षण है । स्त्री से आशा की जाती है कि वह एकनिष्ठ रहेगी और इसके बदले में वह पुरुष से आर्थिक सुविधाओं की अपेक्षा करती है । दोनों पक्षों के कर्तव्य सिर्फ नैतिक माने जाते हैं, कानूनी नहीं ।

ऐसे संबंधों को समाज की मान्यता या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती । परंतु व्यभिचार की तुलना में इसे कुछ नरमी से निभा लिया जाता है । इससे संबंधित व्यक्तियों के लिए आरंभ में यह संबंध अंशत: लज्जा का विषय हो सकता है; परंतु समय बीतने पर यह लज्जा से पर होता जाता है व अंत में अर्धप्रकट और अर्धमान्य स्थिति पर आकर रसिकता के नाम से समाज की मुस्कराहट में समा जाता है ।

कवि दयाराम और रतन सुनारिन की कथा गुजराती साहित्य में प्रसिद्ध है । दयाराम के प्रति भक्तिभाव से प्रेरित जनता इस संबंध में किसी प्रकार की यौन भावना को स्वीकार करने को प्रस्तुत न हो, यह स्वाभाविक है ।

कुछ विद्वान् ऐसे संबंधों को द्वितीय या हीन श्रेणी के विवाह के रूप में ही मानते हैं । 'रखैल' को उपपत्नी का एक प्रकार भी कहा जा सकता है । परंतु विवाह विधि के बिना पत्नीत्व प्राप्त हो नहीं सकता, इसलिए ऐसे संबंधों के लिए 'पत्नी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं माना जायगा ।

इस प्रथा का जन्म भी अनेक विचित्र परिस्थितियों पर निर्भर रहा है । प्राचीन और मध्य युग में राजाओं

और अमीरों को दासियाँ भेंट देने की प्रथा थी । रजवाड़ों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है । पितृत्व की निश्चितता हीन 'खवास' नामक वर्ग की उत्पत्ति इन्हीं विधिविहीन संबंधों से हुई है । दासीपुत्र विदुर या सूतपुत्र कर्ण जैसे महाभारत के प्रसिद्ध पात्र भी इसी रखैल पद्धति की ओर संकेत करते हैं । रानियों के साथ दासियों के झुंड भी अंतःपुर में रहते थे । उनमें से कुछ सुंदर और चंचल दासियाँ आकर्षकता में रानियों से भी बढ़चढ़ कर होती होंगी । अंतःपुरों का तो नियम ही यह था कि :

जो पिया को भाय, सो सुहागन
जो राजा को भाय, सो रानी

इसी न्याय से व्यवस्था होती होगी । कलापी और शोभना का संबंध वर्तमान गुजराती काव्य-साहित्य का एक सुरस और प्राणवान् प्रसंग है जिसमें से गुर्जर जनता ने उच्च शृंगार और आदर्श प्रेम की रसभरी अनुभूति प्राप्त की है । यह शोभना आरंभ में रनिवास की दासी थी: कलापी की मानवता ने उसे रानी के पद पर ला बिठाया ।

चार से अधिक पत्नियाँ न कर सकने वाले मुसलमान बादशाह भी अपने जनानखानों को दासियों और बाँदियों से भरा रखते थे ।

दासियाँ भेंट देने की प्रथा के उपरांत गुलामी की प्रथा भी प्रचलित थी । विजेताओं के उपभोग के लिए पराजित प्रजा से सुंदर स्त्रियाँ गुलाम के रूप में छीन ली जाती थीं । इन गुलाम-स्त्रियों में राजा से लगाकर सामान्य सैनिक तक-सबका हिस्सा होता था ।

युद्ध के महत् व्यापार में जुटे हुए राज्यशासकों को बढ़ती हुई जनसंख्या सदा स्वागतार्ह लगती है । हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने समय में संततिवर्धन को प्रोत्साहन ही दिया । कारण स्पष्ट है ; युद्ध में सफलता सैनिकों की संख्या पर निर्भर करती है । संतानवृद्धि के लिए आज के युग में विवाह को महत्त्व दिया जाता है; परंतु कुछ समय पहले तक गुलाम स्त्रियों की रखैल की भूमिका पर स्थापना करके संततिवर्धन करने में कोई बुराई नहीं मानी जाती थी । साथ ही विवाह की एकतानता और नीरसता भी इस प्रथा के द्वारा कुछ वैविध्य प्राप्त कर लेती थी ।

यह बात नहीं कि इस प्रकार की विवाहबाह्य और अशिष्ट योजनाएँ सिर्फ पूर्व की प्रजाओं में ही मान्य हों । पश्चिम में — सभ्य कहाने वाले पश्चिम के देशों में भी यह प्रथा प्रचलित थी । इंग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी, ऑस्ट्रिया और रूस के राजमहल रखैलों के षड्यंत्र और कुटिल कारनामों से मुक्त नहीं थे — यह एक प्रसिद्ध बात है । रेनॉल्ड्ज की मशहूर Mysteries of the Court of London में कामुकता का ही प्रदर्शन होने पर भी यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि उसमें ईसाई रजवाड़ों की यौन भूमिकाओं के अनेक वास्तवदर्शी प्रसंग भी संगृहीत हैं ।

ईसाइयों के कैथलिक पंथ में स्त्री-पुरुष के अनिवार्य आकर्षण को अत्यंत घृणा की दृष्टि से देखा गया । परंतु जिस प्रकार अति विलास की परिणति अवनति में होती है उसी प्रकार आत्यंतिक प्रतिबंध आज्ञाभंग का मूल है । साधकों और अध्येताओं का जीवनभर का ब्रह्मचर्य व्रत एक अनावश्यक धर्मांधता के सिवा और क्या है ? इसी कारण संघजीवन में व्यभिचार और रखैल पद्धति बढ़ते जाते हैं और विधिसंमत विवाह के बिना ही स्त्री-पुरुष जीवन के अनिवार्य आवेगों के सामने सिर झुकाने को बाध्य होते हैं । ईसाई धर्म के आरंभ के दिनों में रखैल प्रथा बहुत अधिक तिरस्करणीय नहीं मानी जाती थी । कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध ईसाई धर्म प्रचारक संट ऑगस्टाईन ने आरंभ में इस प्रथा की ओर अत्यंत नरमी का रुख दिखलाया था । कारण : उनकी खुद की भी एक उपपत्नी थी । इस पद्धति का इतिहास ईसाई और यहूदी धर्म के आद्य धर्मगुरु और सत्ताधीश ऍब्राहम के युग तक पीछे ले जाया जा सकता है .

निर्धनता, कृतज्ञता की भावना या अति निकट सहवास को इस प्रथा के कारण रूप माना जा सकता है । पूरे परिवार का भार वहन करने वाली कोई असहाय विधवा, नौकरी दिला देने वाले किसी सत्ताधीश या धनिक के

अहसान से दबी हुई कोई विधवा या सधवा, या किसी मित्र की वाक्पटुता से आकर्षित हो जाने वाली कोई गृहिणी इस प्रकार के संबंध को स्वीकार कर ले — यह संभव है । कभी-कभी अखबारों में इस तरह के उदाहरण छपते रहते हैं ।

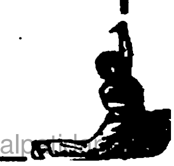
रखैल पद्धति में आज के जितनी अप्रतिष्ठा शायद प्राचीन काल में नहीं रही होगी । आजकल हम विशुद्धि का बहुत अधिक आग्रह रखते हैं । एक या आधी शताब्दी पहले ऐसी वास्तविकताओं का सामाजिक स्वीकार तुरंत हो जाता था । उन्नीसवीं शताब्दी में विशुद्धि के दंभ (prudery) को पश्चिम के देशों ने एक आम जीवन-प्रणाली का रूप दे दिया था जिसको हमने अपने यहाँ ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया ।

पश्चिम के देशों में भी यह प्रथा केवल राजा-रजवाड़े या अमीर-उमराओं तक ही सीमित रही हो यह नहीं माना जा सकता। एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के व्यापक विस्तारों को अपने आर्थिक शिकंजे जकड़ लेने वाली पाश्चात्य संस्कृति ने पश्चिम की प्रजाओं को बहुत धनवान बना दिया है । इन प्रजाओं से पूर्व के स्त्री-पुरुषों का सहवास अनेक स्तरों पर हो चुका है और जिसमें यौन संबंधों का समावेश भी होता है । गोरे और काले युग्मों के संसर्ग से जन्म लेने वाली यूरेनियम नामक मिश्र जाति का विचार यहाँ न करें तो भी यह तो स्पष्ट है कि पुरुष के दीर्घकालीन विदेश-निवास के कारण रखैलों की एक बड़ी संख्या का उद्भव होता है जो किसी भी देश के प्रजाजीवन में अनेक उलझन भरे प्रश्न उपस्थित कर देता है । जॅक लंडन की अधिकांश कथाएँ वर्णभेद को भूल जाने वाले यौन आकर्षण के अनेक किस्सों का वर्णन करती हैं और गौरांग स्त्रियों के काले या गेहुँआँ रंग के बच्चों के प्रश्न का निरूपण करके रखैल प्रथा की व्यापकता पर पर्याप्त प्रकाश डालती है

अविवाहित वयस्क स्त्रियों का प्रश्न अब धीरे-धीरे हमारे समाज में भी तीव्र बनता जा रहा है । पश्चिम के देशों में अविवाहित स्त्रियों का अनुपात पूर्व के देशों से कहीं अधिक पाया जाता है । बड़ी उम्र की अविवाहित या असंतुष्ट धनी स्त्रियों के अनियमित यौन संबंधों ने वहाँ के समाजशास्त्रियों का ध्यान तीव्रता से आकर्षित किया है । अमीर विधवाएँ और अविवाहिताएँ विवाह के जंजाल से मुक्त रहने के लिए, अनुकूल युवकों से यौन संबंध रखती हैं । इतना ही नहीं, उन युवकों का आर्थिक निर्वाह भी करती हैं ।

इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो रखैलप्रथा केवल स्त्री-प्रधान ही नहीं है । यद्यपि यह तो स्पष्ट है कि आर्थिक शक्ति और अनुकूलता अधिकतर पुरुष के हाथों में होने के कारण इस प्रथा में अग्रणीपद प्राय: पुरुष का ही होता है ; परंतु स्त्रियों के समान ही कभी-कभी पुरुष की माँग हो यह भी संभव है । इसमें व्यभिचार के सभी तत्त्व पाये जाते हैं । केवल व्यभिचार की सी गोपनीयता कुछ कम दिखाई देती है और यौन-संतोष के मूल्यरूप आर्थिक लेनदेन का तत्त्व प्रवेश कर जाता है । सहवास की स्थिरता का तत्त्व तो स्पष्ट ही रहता है ।

स्त्री-पुरुष के यौन आकर्षण के विषय में अब तक का विचार हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि विवाह की कोई वैकल्पिक योजना अब तक हमें नहीं मिल सकी है । विवाह की सीमा का उल्लंघन करनेवाली व्यभिचार या रखैल प्रथाएं विवाह संस्था की दुर्बलताओं का निर्देश करके उसे या तो एक निष्फल मानव-संस्था प्रमाणित करती हैं या इस बात के लिए हमें बाध्य करती हैं कि हम इस संस्था में आमूल परिवर्तन करके उसे एक ऐसा रूप दें कि जिसमें वर्तमान प्रथा की कोई कमजोरी न हो ।



६
गणिका संस्था

विवाह के विरोध में इन दो प्रथाओं के उपरांत एक तीसरे स्वरूप की योजना भी हुई जिसमें खुलेआम व्यभिचार का स्वातंत्र्य और रखैल प्रथा में दिखाई देने वाला आर्थिक तत्त्व पूर्ण रूप से एकत्रित हो गये । यह प्रकार गणिका संस्था के नाम से प्रचलित हुआ । व्यभिचार अधिकांश में एक गुप्त और व्यक्तिगत व्यवहार है । इसी कारण वह व्यवस्थित संस्था का रूप धारण नहीं कर सका । रखैल प्रथा भी 'संस्था' संज्ञा के अंतर्गत शायद ही आ सके — यद्यपि उसकी गणिका संस्था से निकटता तो स्पष्ट दिखाई देती है । विवाह के प्रतिपक्ष में खड़े हुए इन तीनों यौन व्यवहारों में से केवल गणिका संस्था ने ही एक संगठित व्यवसाय का रूप धारण करके अध्ययन की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है ।

यह संस्था प्रतिष्ठित तो बिलकुल नहीं । अत्यंत व्यापक होने पर भी समाज ने इसको खुल्लमखुल्ला स्वीकार कभी नहीं किया । इसके चारों ओर इतनी अनेकविध समस्याएँ खड़ी हो गई हैं कि इसका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है । रोग, उत्पात, अपराध या मलीनता को तिरस्करणीय मानकर या उनकी उपेक्षा करके मनुष्यजाति बड़ी भूल करती है । मानवजीवन के कलुषित पहलुओं की ओर ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि जाती है त्यों-त्यों उनके प्रति धिक्कार की भावना कम होकर अधिकाधिक सहानुभूति उत्पन्न होती है । बिना सहानुभूति के कोई समस्या समझी नहीं जा सकती और बिना समझे उसे हल नहीं किया जा सकता । दोष तो हमारे चारों ओर बिखरे पड़े हैं । परंतु हमें न तो उनकी उपेक्षा करनी चाहिये और न तिरस्कार । दोष के कीटाणु उपेक्षा या



तिरस्कार से नष्ट नहीं होते। बल्कि असावधानी उत्पन्न होकर, खुद हम ही इन कीटाणुओं के भक्ष्य हो जायँ ऐसी संभावना रहती है । और समाज का अभिन्न अंग बन जाने वाली इन दूषित संस्थाओं के अस्तित्व में जाने अनजाने हमारा कोई अंशदान नहीं होगा — यह विश्वासपूर्वक कह सकने का साहस तो कोई परम साधु भी शायद ही कर सकता है ।

इसलिए, मनुष्यजाति को जीवित रखने वाले और उसे संस्कृति की सर्वोच्च कक्षा पर पहुँचाने वाले जातीय आकर्षण या स्त्री-पुरुष के प्रेम की अभिव्यक्ति में विकृति ला देने वाले तत्त्वों का अध्ययन स्वस्थ जीवन-विधान के लिए परम आवश्यक है । विवाह एक समाज-मान्य प्रेम-व्यापार होने पर भी उसकी असफलताओं और मर्यादाओं ने एक ऐसी संस्था को जन्म दिया है जो युग-युग से उसको ढँकने का यत्न करने वाले आवरणों को जलाकर मनुष्यजाति की प्रगति के साथ-साथ एक या दूसरे रूप में भड़की चली आ रही है ।

गणिकावृत्ति को मनुष्यजाति का सबसे प्राचीन व्यवसाय माना गया है । उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए कुट्टनियों के पेशे को मनुष्य का दूसरा प्राचीनतम व्यवसाय कहा जाता है ।

अब हम इन दोनों परस्पर संकलित संस्थाओं का तटस्थभाव से सहानुभूतिपूर्ण विचार करेंगे ।





दूसरा परिच्छेद

गणिका वृत्ति

१

गणिका : एक विशिष्ट नारी

अब हम एक ऐसी संस्था का विचार कर रहे हैं जिसका उल्लेख-करना भी शिष्ट संमत या सभ्यतापूर्ण नहीं माना जाता, फिर भी जिसका अस्तित्व अति प्राचीन काल से लगाकर अब तक अविरत चला आ रहा है । समाज ने शायद इस संस्था का तिरस्कार करने का झूठा-सच्चा अधिकार प्राप्त कर लिया है, परंतु युग-युग से मनुष्यजाति की कल्पना इस संस्था के साथ आकर्षण और भय का एक विलोमनीय विहार प्रदेश जोड़ती रही है । इस संस्था के साथ विवाह प्रथा का संबंध तो है ही, धर्म, कला, व्यापार और साहस प्रेरक वासना भी इसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं । साथ ही इस संस्था के चारों ओर भयानक रोग, बीभत्स मलिनता, अकल्पनीय गुंडागिरी, अमर्याद विलास, कुटिल अर्थजाल और आँसूभरी शोककथाओं के घिनौने झुंड भी मँडराते रहे हैं । यह संस्था भयप्रेरक होने के साथ ही कुतूहलजनक भी रही है ; लज्जास्पद होने पर भी इसका आकर्षण कभी कम नहीं हुआ और चेतावनी की सिलगती हुई आग होने पर भी समाज इसके शोलों को आतिशबाजी मानता आया है । एक ओर सती और दूसरी ओर गणिका : इन दो छोरों के बीच केवल स्त्रीजीवन ही नहीं, संपूर्ण मानवजीवन झोंके खा रहा है । सती की भस्म पर समाधि चुनवा-कर उसकी पूजा करने वाला समाज गणिका के कोठे की ओर तिरछी नजर से देखने से भी बाज नहीं आता जो प्रकारांतर से पूजा का ही एक ढंग है ।

तीर्थयात्रा के परमधाम माने जाने वाले किसी शहर के एक चौराहे पर आकर्षक वस्त्राभूषणों से सज्ज होकर छज्जे पर बैठी हुई किसी सुंदर और सुघड़ स्त्री पर अनेक वृद्धों और युवकों की नजर के साथ एक बालक की भी नजर पड़ी । उसने देखा कि वह अकेली ही नहीं, बल्कि चारों ओर के छज्जों और खिड़कियों में वैसी अनेक स्त्रियाँ खड़ी या बैठी थीं । विवाह-प्रसंग के सिवा इतने अच्छे गहने-कपड़े कोई पहन ही नहीं सकता इस विचार की आदत से प्रेरित बालक के मन में कुतूहल जगा और वह पूछ बैठा, ''ये सब कौन हैं ? इतने अच्छे कपड़े पहनकर खिड़कियों में क्यों खड़ी . . . .' बालक का प्रश्न अधूरा रह गया । 'उस तरफ मत देखो । वे सब बुरी औरतें हैं ।'' साथ के वयस्क ने उसे डाँटते हुए समझाया ।

आज्ञाकारी बालक ने इसके बाद और कोई प्रश्न किया या नहीं — यह तो हम नहीं जानते । परंतु उस बालक के मन में यह शंका अवश्य रह गई होगी कि इतनी सुंदर और आकर्षक दिखाई देने वाली स्त्रियों को 'बुरी, घोषित कर देने वाले उसके पिता की राय कैसे सच्ची हो सकती है ? अपनी माता में, बहन में या कुछ उम्र बढ़ने पर अपनी पत्नी में ऐसा सौंदर्य वांछनीय मानने वाले उस बालक को अपने पिता का उत्तर उलझन भरा लगा होगा जिसकी अधिक स्पष्टता चाहने की जिज्ञासा उसके मन में रह गई हो तो आश्चर्य नहीं । गणिका संस्था के प्रति जनसाधारण का कुतूहल भी कुछ इसी प्रकार के उलझन भरे और अर्धस्पष्ट संशय के रूप में होता है ।

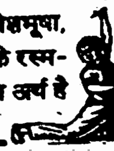
तीर्थक्षेत्रों के बारे में हमारा विश्वास रहा है कि ''अन्य क्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति ।'' इस विचार के अनुसार पाप का नाश करनेवाला धाम ही तीर्थक्षेत्र कहला सकता है । परंतु इन तीर्थक्षेत्रों में यदि

आकर्षक वस्त्राभूषण धारण करनेवाली एक दो नहीं बल्कि अनेक स्त्रियाँ आम सड़कों पर रहती हों, स्त्रीसुलभ मर्यादा को त्यागकर खुली हुई खिड़कियाँ या छज्जों पर बैठती हों, रास्ते पर चलते हुए हर छोटे-बड़े के मन में उनकी ओर देखने की इच्छा उत्पन्न होती हो, बड़े-बूढ़े उनका 'पतित स्त्रियाँ' कह कर तिरस्कार करते हों, पर मन उन्हें 'बुरी स्त्रियाँ' मानने से इनकार करता हो, तो इस सारी प्रसंगमाला से यही जिज्ञासा जन्म लेगी कि साधारण स्त्रियों से बिलकुल भिन्न माने जाने वाले इस अनोखे स्त्री-समुदाय में आखिर क्या विशेषता है ? धीरे-धीरे हमें इसका उत्तर भी मिल जाता है । हम समझने लगते हैं कि वेशभूषा, आभूषण-विन्यास, चालढाल, रंगढंग, आँखों की चपलता और बातचीत की कुशलता एवं लोगों की कुतूहलभरी नजरों की ओर एक प्रकार की आशयपूर्ण लापरवाही आदि आकर्षक हावभाव ही इस समुदाय को साधारण स्त्रियों से अलग कर देते हैं ।

एक सुसभ्य गृहिणी एक बार रेल से यात्रा कर रही थीं । आकर्षक वेशभूषा और केशभूषा सदा से स्त्रियों की फैशन के बड़े प्रभावी शस्त्र रहे हैं । इन देवीजी ने भी अपना जूड़ा बहुत ही आकर्षक ढंग से बाँध रखा था । भौंहें, कपाल और कानों पर कुछ लटें सुंदर महराब के रूप में छितराई गई थीं जो उनके लावण्यमय मुख को और भी मोहक बना रही थीं । उसी डब्बे में एक गणिका ने प्रवेश किया । उस पर दृष्टि पड़ते ही स्पष्ट हो जाता था कि वह सभ्य समाज की गृहिणी तो नहीं थी । उसके मुँह की ओर देखते ही डब्बे में बैठी हुई देवी जी एकदम से चौंक पड़ीं । बात यह थी कि उनकी केशरचना और आगन्तुक गणिका की केशरचना हूबहू एक सी थी । उनके मन में यह विचार बिजली की तरह कौंध गया होगा : "क्या मैं भी ऐसी ही दिखाई देती हूँ ?" गणिका के वस्त्र-विन्यास और हावभाव में ही एक विशेषता होती है जो तुरंत पहचानी जा सकती है । उन देवीजी ने शायद उसी रोज से सीधी-सादी केश-रचना करने का निश्चय किया होगा ।



इस प्रकार प्रथम दर्शन में ही निराली दिखाई देने वाली इन स्त्रियों का हम कुछ अधिक परिचय पाने का प्रयत्न करें — केवल शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से ! 'संस्था' का रूप धारण करने वाली कोई भी मानव-घटना, मानव-व्यवस्था या मानव-समष्टि अध्ययन का विषय हो सकती है । मनुष्य के निवासस्थान, वेशभूषा, बोलीभाषा, शरीररचना या मुखाकृति मानव जीवन पर प्रकाश डालने वाले सर्वमान्य तत्व हैं । मनुष्य के रस्म-रिवाज, उसके उद्देश्य और उसके रहन सहन के तरीके भी अध्ययन की अपेक्षा करते हैं । अध्ययन का अर्थ है



एकाग्रता और तटस्थता पूर्ण विचार । सहानुभूति के बिना एकाग्रता संभव नहीं । परंतु एकांगी सहानुभूति हमारे अध्ययन को दूषित बना सकती है । इसी प्रकार यथार्थ दर्शन के बिना तटस्थता संभव नहीं । परंतु कोरा यथार्थ हमारे अध्ययन को जड़ और रुक्ष बना देगा । अतः सहानुभूतियुक्त यथार्थदर्शन ही इस अध्ययन का मध्यम मार्ग हो सकता है । गणिका संस्था भी इस प्रकार के अध्ययन का विषय हो सकती है । पश्चिम के देशों में इस प्रकार के अध्ययनपूर्ण महाग्रंथों की रचना हो चुकी है । हमारी प्राचीन संस्कृति को 'अशुद्धि' का कोई विशेष भय नहीं था । इसलिए संस्कृत और संस्कृत की छाया में विकसित होने वाली प्राकृत भाषाओं में इस संस्था का अत्यंत विशद अध्ययन और सूक्ष्म अवलोकन किया गया । इस संबंध में अधिक विचार बाद के परिच्छेदों में होगा । यहाँ तो हमारा उद्देश्य तटस्थ और सहानुभूतिपूर्ण भाव से गणिका संस्था के विविध रूपों से परिचित हो जाने का है ।

२
संस्था की व्यापकता

यह गणिका संस्था कहाँ नहीं है ? भारत में तो सर्वत्र है । बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, आगरा, मथुरा, बनारस, पूना, बंगलौर, मद्रास — सभी शहरों में इसका अस्तित्व जाल की तरह फैला हुआ दिखाई देता है । सुदूर दक्षिण में तो गाँव के गाँव ऐसे हैं जिनमें प्रमुख रूप से गणिकाएँ ही रहती हैं ।

यह मानना कि हमारे ऊपर राज्य करने वाली अंग्रेज प्रजा की मातृभूमि में यह संस्था नहीं होगी — एक भ्रममात्र होगा ; क्योंकि इस मामले में पराधीन और स्वाधीन — दोनों देशों की स्थिति एक समान है । इंग्लैंड में भी यह संस्था है ।

फ्रान्स तो विलास की रंगभूमि है । यद्यपि विलासवृत्ति और गणिकावृत्ति में काफी अंतर हैं, तथापि यह भी सत्य है कि विलास की अतिशयता से ही गणिकावृत्ति का विकास होता है । द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रान्स का पतन वहाँ के कर्णधार मार्शल पेताँ के कथनानुसार विलास की अतिशयता के कारण ही हुआ । फ्रान्स में गणिका संस्था की व्यापकता अत्यंत विस्तृत है । इटली, जर्मनी और अन्य यूरोपीय राष्ट्रों की संस्कृति हमारी संस्कृति से श्रेष्ठ भले ही मानी जाय, पर यह देश भी गणिका संस्था से मुक्त नहीं ।

धनाढ्य अमरीका के प्रदेशों में तो पश्चिमी सभ्यता मानो साकार हो उठी है । इस सभ्यता ने इन नये देशों में गणिका संस्था का जो भयानक रूप विकसित किया है, उसका तो वर्णन सुनकर भी रोमांच होता है । इस संस्कृति ने गणिकावृत्ति से नितांत अपरिचित प्रदेशों में भी उसका प्रचलन करके ही दम लिया । असभ्य कहलाने वाली अनेक प्राचीन जातियों में गणिका संस्था का विकास केवल पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण हुआ है । पश्चिमी सभ्यता पर यह अभियोग ठीक ही लगाया जाता है कि जहाँ-जहाँ उसने प्रवेश किया, वहाँ बाईबल, शराब और सिफलिस — इन तीन चीजों का प्रचार अवश्य हुआ । सिफलिस का रोग गणिकावृत्ति का ही अनिवार्य परिणाम है ।

भारत से विलायत जाने वाले अनेक युवक विद्यार्थिओं को पोर्ट सैयद और एलेक्झान्ड्रिया के वेश्यागृहों की जानकारी बिना माँगे ही मिल जाती है । इससे भारत और मिश्र जैसे पौर्वात्य संस्कृति के अग्रगण्य देशों में इस संस्था की व्यापकता का प्रमाण मिलता है । मलय, सिंगापुर और ब्रह्मा के संबंध में प्रचलित युद्धकालीन किस्से भी यही प्रमाणित करते हैं कि अप्रगत माने जाने वाले ये प्रदेश भी कम से कम इस विषय में उतने पिछड़े हुए नहीं हैं ।

संस्कृति की अति प्राथमिक भूमिका पर स्थित कितने ही देशों में यौन संबंध कठोर नियमन के नीचे न होने के कारण वहाँ की प्रजाएँ गणिकावृत्ति से परे रह सकी है। परंतु पाश्चात्य प्रजाओं ने ग्रीष्मविहार करने के या अन्य किसी बहाने प्रवेश करके ऐसे स्थानों की नीति भावनाएँ भी परिवर्तित कर दी हैं। जावा-बाली पूर्व की प्राचीन संस्कृति के महान् केंद्र माने जाते हैं। परंतु यहाँ की उत्सवप्रिय प्रजा में भी डच और दूसरी यूरोपीय जातियों के संसर्ग से गणिका संस्था का प्रवेश हो चुका है।

जापान आज शत्रुपक्ष में होने पर भी उसकी गणना महान् राष्ट्रों में की जाती है।* अमरीका, इंग्लैंड और हॉलैंड की सत्ता को चुनौती देकर और पश्चिम के इन अग्रगण्य देशों को मुँह की खिलाकर उनसे फिलिपाइन्स, जावा-सुमात्रा, मलय और ब्रह्मा के विस्तृत प्रदेश जापान ने छीन लिये हैं। यह जापानी राष्ट्र भी व्यवस्थित और संघटित गणिका संस्था से व्याप्त है।

ईरान, तुर्की, अरब जैसे प्रदेशों में भी यह संस्था मौजूद है। कहा जाता है कि आरमीनिया की स्त्रियाँ तो अनायास ही वेश्यावृत्ति में शामिल हो जाती हैं।

कुछ वर्ष पहले तक रूस की गणना भी गणिका संस्था के एक बड़े केन्द्र के रूप में होती थी। बॉल्शेविक क्रांति ने वहाँ के प्रजाजीवन में नवविधान की योजना की तब से गणिका संस्था का निर्मूलन करने के प्रयत्न वहाँ पर हो रहे हैं और कहा जाता है कि इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है। परन्तु नवविधान के प्रयोगों की आयु अभी पचीस वर्ष की भी नहीं हुई। उससे पहले रूस भी इस विषय में अपवाद रूप नहीं था। अन्य रूसी साहित्य के साथ-साथ "यामा द पिट" नामक गणिका-जीवन का अति वास्तविक चित्र उपस्थित करने वाला रूसी उपन्यास भी अपने यहाँ खूब पढ़ा गया है। आज तो जर्मनी का भयानक नागपाश रूस के जीवन को अस्तव्यस्त कर रहा है और युद्ध का दावानल रूस को भस्म करने में लगा हुआ है। इस हालत में देखना है कि इंग्लैंड-अमरीका की लोकशासित कही जाने वाली स्वार्थ-परायण प्रजाएँ रूस को कितनी सहायता दे पाती हैं। फिर भी, गणिका संस्था के विषय में रूस के प्रयोग संसार भर का ध्यान आकर्षित करें ऐसे अवश्य हैं।

बड़े-बड़े बंदरगाह, व्यापार-उद्योग के केन्द्र एवं सैनिक या राजकीय महत्व रखने वाले बड़े शहर गणिका संस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धनवानों के ग्रीष्म विहार के अधिकांश केन्द्रों की विशिष्टता भी केवल यही होती है कि वहाँ द्यूत और गणिकागमन के साधन सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के इस मध्यभाग में गणिका संस्था संसारव्यापी हो गई है। यह कहाँ-कहाँ है इसकी गिनती करने के बजाय यह कहाँ नहीं है इसकी गिनती करना अधिक सरल होगा। प्रश्न है, यह संस्था कहाँ नहीं है? हमने देखा कि जहाँ यह नहीं थी वहाँ भी पश्चिम की सभ्यता ने इसे प्रचलित कर दिया। विनाशक विज्ञान, शोषक साम्राज्यवाद, सर्वभक्षक अर्थव्यवस्था और द्वेषमूलक वर्णभेद से अभिन्न मानी जाने वाली पश्चिम की गोरी संस्कृति गणिका संस्था की विषवल्ली का भी पोषण कर रही है। इस बात पर विस्तृत विचार हम आगामी 'गोरी प्रजाओं का गुलाम व्यवसाय' नामक परिच्छेद में करेंगे। अब तक के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि यह गणिका संस्था लगभग विश्वव्यापी है और नगर-संस्कृति के साथ विशेषरूप से संबंधित है। ग्राम जीवन में गणिका संस्था का व्यापक विकास संभव नहीं। परंतु यह देखते हुए कि शहरों की अधिकांश जनसंख्या गाँवों से ही आती है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ग्राम जनता इस अनिष्ट प्रथा से सर्वथा मुक्त है।

*प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना मूल गुजराती में सन् १९४२-४३ में हुयी थी। उक्त घटनाएं द्वितीय विश्व युद्ध की हैं।



३
संस्था की प्राचीनता

यह संस्था कब नहीं थी ? समाजशास्त्र के विद्वानों ने जहाँ-जहाँ संभव हुआ, वहाँ प्राचीन से प्राचीन अतीत पर दृष्टिक्षेप किया । परंतु ऐसा कोई काल या ऐसी कोई प्रजा उन्हें दिखाई नहीं दी जिसमें गणिकावृत्ति का संस्थारूप में विकास न हुआ हो । हम अतिप्राचीन प्रजाओं में से किसी का भी उदाहरण लें। प्रगत और सुसंस्कृत मानी जाने वाली प्रत्येक इतिहास-स्थापित प्रजा में गणिकावृत्ति का अस्तित्व अवश्य मिलेगा ।

प्राचीन आर्यावर्त (भरतखंड) पौर्वात्य संस्कृति का पर्याप्त अभिमान कर सकता है । पहले उसी का उदाहरण लें । आर्य संस्कृति के दोनों –– द्रविड़ और आर्य में गणिका संस्था के अस्तित्व के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं । मोहन-जो-दड़ो और हराप्पा की संस्कृति को वेदकाल से भी पुरानी मानने की नई आदत हमें सिखाई गई है । इतना ही नहीं, उसे पश्चिम एशिया तक फैली हुई मानकर और सुमेरियन संस्कृति के साथ संबंधित बता कर आर्यावर्त की सांस्कृतिक स्वतंत्रता का नामोनिशान मिटा देने की हीन-मानस-वृत्ति हमारे विद्वानों में भी दृढ़ की जा रही है । हम आगे के परिच्छेदों में देखेंगे कि किस प्रकार इस नगर संस्कृति से आरंभ करके आजतक भारत में यह गणिका संस्था अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है ।

मिश्र की संस्कृति संसार की दूसरी अतिप्राचीन संस्कृति है । सगे भाई-बहनो के विवाह को मान्य रखने वाली और क्लिओपेट्रा जैसी संसार-प्रसिद्ध विलासप्रिय रानियों को जन्म देने वाली यह संस्कृति भी गणिका संस्था से मुक्त नहीं थी ।

अन्य प्राचीन संस्कृतियों में बाबुल, ईरान और फिनीशिया के प्रदेश आते हैं । उनमें गणिकाओं का अस्तित्व था । यहूदी समाज-व्यवस्था में यहूदी-बालाओं को गणिका बनाने के विरुद्ध कठोर नियम थे । परंतु यह निषेध ही गणिका संस्था का अस्तित्व प्रमाणित करता है । ईसा मसीह की कथाओं में इन पतिताओं के प्रति दया और समभाव के अनेक उल्लेख हैं जो इस संस्था के अस्तित्व के पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करते हैं ।

पश्चिम की संस्कृति की बुनियाद मानी जाने वाली यूनानी और रोमन संस्कृतियों में गणिका संस्था स्वीकृत थी । सुव्यवस्थित गणिकागृहों की स्थापना इन देशों के राजद्वारी पुरुषों द्वारा होती थी ऐसे उल्लेख भी प्राप्त हैं । इतना ही नहीं, वहाँ के समाजधुरीण और दार्शनिक भी इस प्रथा को प्रोत्साहन देते थे ।

ये सब सभ्यताएँ ईसा के संवत से पहले की हैं । ईसा के बाद की संस्कृतियाँ दो तीन धर्म विभागों में बँट गई थीं । भारत की आर्य संस्कृति बौद्धमत, जैनमत और भक्तिमार्ग की विविधताओं में अपना विकास कर रही थी । बौद्धमत ने तो मध्य एशिया, चीन और जापान तक अपना प्रभाव फैलाया था । इस पूरी विविधता भरी संस्कृति में गणिका संस्था के अस्तित्व के असंख्य उदाहरण बिखरे पड़े हैं ।

ईसा के उपदेशों के प्रभाव से पूरे यूरोप और अमरीका की प्रजाएँ ईसाई हो गई हैं । इस धर्म का पालन करने वालों का प्रभुत्व आज पूरे संसार पर छाया हुआ है । इस धर्म ने गणिका के प्रति सहानुभूति और कठोरता, दोनों का प्रयोग किया है । परंतु रॅनसाँ काल से लगाकर वर्तमान औद्योगिक युग तक कलामयता या आवश्यकता के आवरण के पीछे गणिका संस्था को प्रच्छन्न या प्रकट स्वीकार पूरे ईसाई-जगत ने कर लिया है ।

ईसा के द्वारा निर्मित विस्तृत विचार- परिवर्तन के बाद दूसरी मानवक्रांति की सृष्टि इस्लाम ने की

जिससे सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का एक विशाल चक्र शताब्दियों तक चलता रहा । आर्य और ईसाई, दोनों संस्कृतियाँ इस्लाम के झंझावत में अदृश्य होते-होते बचीं । इतिहास कहता है कि इस्लाम के पैगाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के समय का अरब अनीति में डूबा हुआ था और स्त्री-पुरुषों के यौन संबंधों में अव्यवस्था फैली हुई थी । इस परिस्थिति में सुधार करना मुहम्मद का प्रधान उद्देश्य था । इस आवेशपूर्ण संस्कृति ने अनेक क्रांतियों को जन्म दिया परंतु गणिकासंस्था तो इस संस्कृति में भी एक या दूसरे रूप में चलती ही रही । बगदाद, तुर्कस्तान, मिस्र, ईरान और भारत के मुसलमान सुलतानों और उनके दरबारों की विलासवार्ताओं से कौन परिचित नहीं ? अलिफलैला की कहानियों को उनके मूल रूप में पढ़ने वाले पाठक मुसलमानी युग के यौन जीवन का सही-सही अंदाज लगा सकते हैं जिससे एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि इस पूरे युग में गणिका संस्था समाज के एक स्वीकृत अंग के रूप में विकसित थी ।

इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक, सब प्रजाओं और संस्कृतियों में गणिका संस्था का अस्तित्व दिखाई पड़ता है । किसी भी संस्कृति का चरम विकास प्रगत नगररचना के रूप में ही व्यक्त होता है । इसलिए गणिकासंस्था नगर-संस्कृति के एक अंग के रूप में ही विकसित दिखाई देती है । अशिक्षित और असंस्कृत मानी जाने वाली ग्रामीण, जंगली या खानाबदोश जातियों में हम जिसे व्यभिचार कहते हैं उस प्रकार की यौन-संबंध-शिथिलता तो हो सकती है ; परंतु उनमें गणिका संस्था का व्यवस्थित उद्भव संभव नहीं । अतः गणिका संस्था सर्वत्र नागर संस्कृति के साथ-साथ ही चलती आई है । इस संस्कृति के माननीय अंग के रूप में इसका स्वीकार सर्वत्र नहीं हुआ । अधिकांश तो मजबूरी से स्वीकृत एक अनिवार्य अनिष्ट के रूप में ही इसका निर्वाह हुआ है । कालक्रम से अनेक अनिष्ट आकर्षक दिखाई देने लगते हैं । धीरे-धीरे मनुष्य उनके प्रति लज्जा के बदले गर्व की भावना अनुभव करने लगता है । कुछ समय बीतने पर ये अनिष्ट आवश्यक या उपयोगी होने का आभास भी होने लगता है और उनके बचाव या समर्थन के अनेक तर्क-वितर्क ढूंढे जाते हैं ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गणिका संस्था लगभग मानव संस्कृति के जितनी ही पुरानी संस्था है । यौन आकर्षण को संतुष्ट करने के विवाह, व्यभिचार या रखैलप्रथा जैसे अन्य प्रकारों के समान यह भी एक विशिष्ट प्रकार है । कभी-कभी तो ऐसा लगता है मानो विवाह की नीरसता, निष्फलता या एकतानता से चिढ़कर यौन आकर्षण की शक्ति ने इस प्रथा के द्वारा विवाह के विरुद्ध विद्रोह घोषित किया हो । विवाह प्रथा सामाजिक घटना में प्रगति और संस्कृति की दर्शक है । विवाह प्रथा का अभाव या विवाहित जीवन के नियमों की अतिशिथिलता मनुष्य समाज की बहुत ही प्राथमिक अवस्था के दर्शन कराते हैं जहाँ गणिका संस्था का शायद संभव भी नहीं होता । परंतु ऐसी प्राथमिक भूमिका अब मानव-जाति में बहुत नहीं बची है । जहाँ बची है, वहाँ भी पूर्व या पश्चिम की संस्कृति का प्रवेश हो चुका है । संस्कृति के साथ-साथ विकसित होने वाली गणिका संस्था नागर जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है । प्राचीन प्रजाओं और संस्कृतियों ने उसे दी हुई प्रच्छन्न या प्रकट मान्यता के दर्शन उन संस्कृतिओं के अवशेषों में आज भी किए जा सकते हैं । वर्तमान युग में भी गणिका संस्था जीवित रही है ; किसी विशेष देश या प्रजा में नहीं, बल्कि समस्त मानव जाति में । धर्म और संस्कृति, प्रगति और विकास, किसी ने भी इस संस्था के क्षेत्र को संकुचित किया हो ऐसा दिखाई नहीं देता । साथ ही यह भी मान लेना आवश्यक है कि इस संस्था ने सहानुभूति भले ही प्रेरित की हो, सामाजिक प्रतिष्ठा इसे कभी प्राप्त नहीं हुई ।



४
संस्था का स्वरूप

गणिका संस्था का स्वरूप क्या है ? गणिकावृत्ति के लक्षण क्या हैं ? कौन सा तत्त्व है जो गणिका को एक विशिष्टता प्रदान करता है ? केवल बाहरी रंगढंग की भिन्नता को ही विशिष्टता का पर्याप्त लक्षण नहीं माना जा सकता । ये सारे बाहय लक्षण या विशिष्टताएँ किसी ऐसे मानस व्यापार से ही उत्पन्न होते हैं जिसे पहचानने की, सामाजिक जीवन में उसका स्थान निश्चित करने की और फिर उसका अध्ययन करने की आवश्यकता है ।

'गणिका' संज्ञा में और उसके पर्यायों में ही कितना सामाजिक इतिहास समाया हुआ है । गणिका,



वेश्या, वारांगना, कसबिन, पतुरिया, रामजनी, नचनी, नर्तकी, मुरली, देवदासी, कंचनी नायिका, तवायफ इत्यादि अनेक नामों से एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों को पुकारा जाता है । काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र इन सारे प्रकारों को 'सामान्या' के अंतर्गत समावेश कर लेता है । स्वर्ग में भी सामान्या की कल्पना की गई है जिसे हिंदू अप्सरा कहते हैं और मुसलमान परी या हूर के नाम से पहचानते हैं ।

गणिका विवाहित स्त्री नहीं है । विवाह एक ही पुरुष या स्त्री के संबंध को व्यक्त करनेवाला समाजस्वीकृत व्यवहार है जिसमें संततिपालन का प्रश्न भी समाया हुआ है । गणिका के देह-संबंधों में इस प्रकार का बंधन नहीं होता । विवाह संबंध को एक ओर छोड़कर ही गणिका की कल्पना हो सकती है । कुछ युवती विधवाएँ या त्यक्ताएँ भी गणिकावृत्ति की ओर झुक जाती हैं ; परंतु उनका इस संस्था में प्रवेश विवाह के बंधनों को तोड़ने के बाद ही संभव होता है ।

विवाह की मर्यादा का भंग तो व्यभिचार में भी होता है । परंतु व्यभिचार अधिकांश में एक गुप्त व्यवहार है जिसके बदले में धन का लेनदेन अनिवार्य नहीं । वासना के आवेग को संतुष्ट करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होता है । अदालतों में विवाह विच्छेद के कारण स्वरूप व्यभिचार का उल्लेख प्राय : किया जाता है, परंतु गणिका संस्था के प्रवेशद्वार के रूप में उसकी गणना नहीं हो सकती । मनुष्य के अज्ञान, उदारता या असहायता के कारण अनेक असंतुष्ट विवाह संबध आजीवन लड़खडाते हुए भी चलते रहते हैं ।

व्यभिचार की जानकारी ही न हो, या मालूम पड़ जाने पर भी उसे क्षमा कर देने की उदारता हो, या लोकनिंदा के भय से निरुपाय होकर चुप रहना पड़ता हो, तो व्यभिचार के बावजूद भी विवाह संबंध चलते रह सकते हैं । इसलिए हर व्यभिचारिणी स्त्री को वेश्या नहीं कहा जा सकता । परंतु व्यभिचार की अतिशयता अंत में स्त्री को वेश्यावृत्ति के मार्ग पर प्रेरित कर दे इसकी संभावना बहुत अधिक रहती है ।

इसी प्रकार रखैल प्रथा में भी विवाहबंधन की अपेक्षा नहीं की जाती । फिर भी रखैल और गणिका को एक सा नहीं माना जा सकता । रखैल विशिष्ट काल तक एक ही व्यक्ति से संबंध रखती है । यद्यपि धन का आदान प्रदान इस संबंध में निहित है परंतु इस प्रकार का लेनदेन करने को तत्पर हर किसी पर यह संबंध अवलंबित नहीं होता । इस प्रथा में व्यक्तिविशेष के साथ ही संबंध रखने का बंधन तो इस हद तक माना जाता है कि कई विचारक तो इसे द्वितीय श्रेणी के या कुछ गिरी हुई कक्षा के विवाह या विवाह के अति निकट आ सकने वाले व्यवहार के रूप में मान्यता देते हैं । इसके विपरीत, गणिका का व्यवहार खुल्लम-खुल्ला देह विक्रय का व्यवहार है ; केवल धन की प्राप्ति के लिए किया गया व्यवसाय है जो धन के बदले में यौन आवेश को संतुष्ट करने का सर्वलभ्य मार्ग बनकर व्यक्ति विशेष के बंधन की परवाह नहीं करता ।

गणिकावृत्ति को व्याख्या के घेरे में बाँधना बहुत ही कठिन है । गणिका संस्था की उत्पत्ति इतनी विचित्र और विभिन्न परिस्थितियों में हुई है कि 'गणिका' की सर्वांगपूर्ण व्याख्या करने में इस संस्था का इतिहास ही सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है । फिर भी व्याख्या के कुछ प्रयत्नों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा ।

कुछ विचारकों के मतानुसार विवाह की सीमा का उल्लंघन करके जो भी रतिविलास किया जाता है उस संपूर्ण व्यवहार की गणना वेश्यावृत्ति के अंतर्गत होनी चाहिये । दूसरे शब्दों में कहें तो इस मतानुसार कानूनू की कक्षा में न आने वाले, स्त्री-पुरुष के हर काम व्यवहार को वेश्यावृत्ति के अंतर्गत मानना होगा । परंतु इस व्याख्या में अतिव्याप्ति है । व्यभिचार के प्रत्येक प्रसंग को वेश्यावृत्ति के अंतर्गत मान लेने से वेश्यावृत्ति के संस्था-स्वरूप और अर्थप्राप्ति के लिए देह विक्रय जैसे अनिवार्य तत्त्वों को भुला दिया जाता है । व्यभिचार के मूल में रही हुई प्रेमभावना भी इस व्याख्या में उपेक्षित रह जाती है । व्यभिचार के कुछ प्रसंग तो सचमुच ही निष्कपट और सच्ची प्रेमभावना के उत्कृष्ट उदाहरण होते हैं ।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार गणिकावृत्ति की व्याख्या है : "आर्थिक या अन्य किसी प्रकार के लाभ के लिए किया हुआ अनियमित, अव्यवस्थित और व्यापक यौन व्यवहार ।" इससे मिलती जुलती ग्यूमॉट नामक लेखक की व्याख्या भी विचारणीय है । ग्यूमॉट कहता है, "अपने लाभ के लिए किसी अन्य की काम वासना को संतुष्ट करनेवाली हर व्यक्ति को 'गणिका' कहा जाता है ।"

यूरोप के कुछ देशों के पुलिस विभागों की व्याख्या केवल उनकी आवश्यकता की दृष्टि से रची हुई होने पर भी विचारणीय है । इस व्याख्या के अनुसार पुलिस दफ्तर में दर्ज जिन स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के सिवा जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन उपलब्ध न हो उन्हें गणिका माना जाता है । उक्त देशों में गणिका-व्यवहार को एक व्यवसाय मानकर उसका नियमन करने की दृष्टि से वेश्याओं की सूची रखने की प्रथा है । प्रस्तुत व्याख्या उसी प्रथा पर आधारित है । परंतु पुलिस दफ्तर में दर्ज न होने वाली एक व्यापक संख्या का विचार इस व्याख्या में नहीं हुआ है ।

एक अन्य लेखक का विचार है : "धन की लालच से, बिना पसंदगी के, हर किसी पुरुष को खुले आम देह विक्रय करने वाली स्त्री को गणिका कहा जाता है ।"

इन विभिन्न व्याख्याओं के विश्लेषण से निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट होते है :



देह विक्रय :— शरीर के उपभोग के बदले में आर्थिक लाभ स्वीकार करने का तत्त्व ।

२. एक से अधिक व्यक्तियों से देह संबंध करने की तैयारी ।

३. पसंदगी या निर्वाचन के तत्त्व का अभाव ।

४. निर्वाचन या प्रेम के संपूर्ण अभाव से उत्पन्न भावशून्यता ।

५. संबंध की अस्थिरता और अनियमितता ।

६. संपूर्ण व्यवहार की स्पष्टता : कानून के नियमों की परवाह किए बिना किया हुआ आम और खुल्लमखुल्ला व्यवहार ।

गणिका जीवन में मुख्यत: उपर्युक्त तत्त्व ही पाये जाते हैं । इन तत्त्वों के कम अधिक संमिश्रण पर ही गणिका-जीवन की रचना होती है । मिश्रण में कोई तत्त्व अधिक घना हो सकता है और कोई बिलकुल ही छिछला; परंतु इन छ: तत्त्वों के न्यूनाधिक अंश गणिकावृत्ति में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं ।

कहीं-कहीं विवाह में भी विक्रय का तत्त्व प्रविष्ट हो जाता है और ऐसे विवाहों की भ्रष्टता भी मान ली जाती है । परंतु ऐसे संबंधों में देहविक्रय की भावना की अपेक्षा सावधानी, चतुराई और स्त्री की आर्थिक सुरक्षा का प्रश्न ही विचारणीय माना जाता है । विवाह की भ्रष्ट से भ्रष्ट प्रथा में या यौन व्यवहार के अन्य किसी प्रकार में उपयुक्त छ: तत्त्वों की एकसाथ उपस्थिति नहीं पाई जाती । इन सब तत्त्वों की कम अधिक अंश में एक-साथ उपस्थिति तो गणिका व्यवहार में ही दिखाई देती है । अत: गणिका की एक अतिसंक्षिप्त व्याख्या यह हो सकती है : ''एक से अधिक पुरुषों की वासना तृप्त करने का व्यवसाय करने वाली स्त्री ।''

परंतु पाश्चात्य दृष्टि से यह व्याख्या अधूरी मानी जायगी । अपने देश में तो यही माना जाता है कि गणिकावृत्ति केवल स्त्रियों में ही व्याप्त हो सकती है । परंतु पश्चिम के विद्वानों के मतानुसार सजातीय या समलिंगी आकर्षण का एक विकृत रूप भी मनुष्यजाति में बहुत व्यापक रूप से फैला हुआ है । इन मान्यता के अनुसार सजातीय आकर्षण को तृप्त करने का व्यवसाय पॅरिस, बर्लिन जैसे शहरों में बड़े पैमाने पर चलता है जिसमें अनेक युवक व्यस्त रहते हैं । अपने देश में भी इस सजातीय आकर्षण की तृप्ति करना नपुंसकों का एक कार्य माना जाता है । उत्तरी भारत के कई महत्वपूर्ण शहरों में भी कुछ युवकों और किशोरों को इस व्यवसाय में प्रवृत्त किया जाता है ऐसा उस प्रदेश के जानकार लोगों का कहना है । प्राचीन यूनान में समलिंगी संबंधों को खुला स्वीकार कर लिया जाता था और मुस्लिम देशों के साहित्य तो इस प्रकार के उल्लेखों से भरे पड़े हैं । वात्स्यायन ने भी इसका सरसरा उल्लेख किया है । परंतु आर्य मानस ने यूनान की तरह इसे स्वाभाविक मानकर इसको खुल्लमखुल्ला स्वीकार कभी नहीं किया ।

इसलिए पश्चिम के विचारक गणिकावृत्ति में स्त्री-पुरुष के भेद को स्वीकार नहीं करते । जो व्यक्ति दूसरे की वासना संतुष्ट करने का व्यवसाय करता हो उसे गणिका या वेश्या कहा जाता है फिर वह पुरुष हो या स्त्री । अपने यहाँ अब तक इतनी व्यापक व्याख्या प्रचलित नहीं है । अपने देश में तो स्त्रियों को अनुलक्षित करके ही इस संस्था का उल्लेख किया जाता है ।

पाश्चात्य संपर्क से हमारे यहाँ अनेक प्रकार के सामाजिक परिवर्तन हुए हैं । हमारी भावना के अनुसार प्रेम का प्रार्थी पुरुष ही होता है । स्त्री की कल्पना तो प्रेम का दान करनेवाली के रूप में हुई है और वह भावना गणिकासंस्था तक पहुँच चुकी है । गणिका का आमन्त्रण भी हमारे देश में सूचित होता है — स्पष्ट नहीं । देह विक्रय के लिए गणिका को रास्तों पर भटकना भी नहीं पड़ता । पश्चिम की परिस्थिति में अनेक कारणों से यह भावना लुप्त हो गई है । हम कल्पना भी न कर सकें ऐसे घृणित ढंग से

पश्चिम की गणिकाएं गलियों में भटकती हैं । उन्हें Street walker जैसे सूचक नाम द्वारा पुकारा जाता है । ये गणिकाएँ संकेतों और शब्दों द्वारा राहगीरों को वासनातृप्ति का स्पष्ट आमंत्रण देती हैं इतना ही नहीं, यहाँ के समाज-जीवन में तो गणिकावृत्ति इतनी व्यापक हो गई है कि एक लेखक ने वेश्याओं का निम्नलिखित प्रकारों में विभाजन किया है :—

१. खुले आम पेशा करने वाली ।

२. छिपकर पेशा करने वाली ।

३. प्रासंगिक वेश्यावृत्ति धारण करने वाली ।

४. आकस्मिक वेश्यावृत्ति धारण करने वाली ।

५. अन्य किसी व्यवसाय की ओट में पेशा करने वाली ।

६. रखैल में से वेश्या बनने वाली ।

७. एक ही संबंध से निर्वाह न चलने के कारण एकाधिक पुरुषों के विशिष्ट समूह से संबंध रखने वाली ।

८. परिणीता, जो समाज में दोषरहित मानी जाती हो, परंतु यदा कदा वेश्यावृत्ति द्वारा अपने सुखसाधनों में वृद्धि करना चाहती हो ।

५
पूर्व और पश्चिम में भेद

जो प्रथा अनिष्ट है वह पश्चिम में भी अनिष्ट रहेगी और पूर्व में भी अनिष्ट ही रहेगी । इसलिये पौर्वात्य देशों की गणिकाएँ पाश्चात्य गणिकाओं से बेहतर होती हैं ऐसा पंडिताऊ आश्वासन हमारे किसी काम का नहीं । परंतु गणिका संस्था का सर्वांगीण अध्ययन करते समय इस प्रकार का तारतम्य आवश्यक हो जाता है । क्योंकि इन विभिन्नताओं में भिन्न-भिन्न प्रजाओं का मानस प्रतिबिंबित दिखाई देता है । मानकि हमारे यहाँ सड़कों पर घूमकर ग्राहक पटाने (Street walkig) की व्यापक प्रथा नहीं है । परंतु बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली जैसे विविध जनसमूहों का पोषण करने वाले शहरों में पाश्चात्य संस्कृति की प्रतिध्वनि अधिक प्रमाण में गूंजती है । ऍंग्लो इंडियन और उनके निकट आने का अविरत प्रयत्न करने वाले ईसाई परिवार पश्चिम का अनुकरण जी-जान से करते हैं । इनमें से और इनकी देखादेखी अन्य समाजों में से, सड़कों पर घूमकर पुरुष का स्पष्ट आवाहन करने वाली गणिकाओं का वर्ग हमारे यहाँ भी निर्मित हो गया हो तो आश्चर्य नहीं । परंतु गणिकाजीवन के ऐसे अति उग्र स्वरूप हमारे यहाँ इन कुछ बड़े शहरों को छोड़कर अन्यत्र हमारे यहाँ इन कुछ बड़े शहरों को छोड़कर अन्यत्र व्याप्त नहीं हुए हैं । बड़े शहरों में भी इसका प्रचार मर्यादित ही है । अन्य अनेक बातों के समान इस विषय में भी भारत अभी तक काफी पिछड़ा हुआ है — और पिछड़ा हुआ ही रहे तो चिंतित होने की कोई आवश्यकता नहीं !

इसके उपरांत, उपरोक्त आठों प्रकार हमारे यहाँ स्पष्ट रूप से विकसित नहीं हुए हैं । हमारे शहरों के गणिका वर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा पहले प्रकार में और बचे खुचे उदाहरण दूसरे या पाँचवें विभाग में समा जाते हैं परंतु कभी-कभी अखबारों में छपने वाले, अनीति के गुप्त धामों के रोमांचक कारनामे, हमारे यहाँ के गणिकाजीवन में प्रवेश करने वाली विविधता का निर्देश करते रहते हैं । असामाजिक तत्वों का नियंत्रण करने वाला शासन का नियामक विभाग (Vigilance branch) भी अनीति के इन गुप्त प्रकारों को प्रकाशित करता रहता है । अच्छे परिवारों की लड़कियों को अनीति के मार्ग पर प्रवृत्त होने की सुविधा



प्राप्त कर देने वाले अड्डे और उनके संचालकों की पकड़ाधकड़ी समाजशास्त्र के अभ्यासियों के लिए विचार प्रेरक बन जाती है । पकड़े जाने वाले अनिष्टों की अपेक्षा पकड़ाई में न आने वाले अनिष्टों की संख्या कहीं अधिक होती है । शासन की कठोरता बढ़ने पर वे और भी गहन अंधकार में गोता लगा जाते हैं और अधिकाधिक भयानक परिणामों की सृष्टि करते रहते हैं । मनुष्य-जाति के लिए यह एक अति करुण और लज्जास्पद घटना है । उपरोक्त सूची में गिनाये हुए पाश्चात्य गणिकाओं के सब वर्ग हमारे यहाँ विकसित न हों ऐसी आशा करने से अधिक हम कुछ नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्य जाति को एक करने के प्रयास में मनुष्य जाति के दोष भी प्रसारित होंगे ही ।

इसके उपरांत एक और तत्व भी हमारे यहाँ की गणिका संस्था को पश्चिम की संस्था से भिन्न प्रमाणित करता है । आर्य गणिका संस्था न्यूनाधिक अंश में कला का आश्रय लेकर ही जीवित रही है । गान वादन, नृत्य और अभिनय का कुछ न कुछ संपर्क गणिका संस्था के साथ अवश्य रहता है । पश्चिम के



देशों के समान केवल यौन आवेग को तृप्त करने की कोरी वेश्यावृत्ति हमारे यहाँ कम दिखाई देती है । संगीत और उससे संबंधित अन्य ललित कलाओं का ज्ञान भारतीय गणिकाओं में प्राय: पाया जाता है । इतना ही नहीं, संगीत, नृत्य और अभिनय कलाओं की उच्चकोटि की जानकारी के उत्तमोत्तम उदाहरण अभी कुछ दिन पहले तक हमारे गणिकावर्ग से ही उपलब्ध होते थे । पश्चिम के देशों में गणिका के लिए संगीत या नृत्य की जानकारी आवश्यक नहीं होती । वहाँ तो उसका एकमात्र उद्देश्य यौन वासना को संतुष्ट करना ही होता है ।

कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भारत की गणिका संस्था इस उद्देश्य से सर्वथा अछूती है । हमारा आशय केवल इतना ही है कि भारतीय गणिका संस्था में यह उद्देश्य एकमेव, अनिवार्य या आवश्यक नहीं है । गणिका कार्य केवल नृत्य-संगीत तक ही सीमित रहे, तो समाज का बहुत बड़ा भाग बिना किसी संकोच के उसके संपर्क में आ सकता है । अत: पाश्चात्य विचारकों की व्याख्या के अंतर्गत हमारे यहाँ की गणिका संस्था की गणना करने से कभी-कभी सत्य का विपर्यास हो सकता है । यदि एक से अधिक पुरुष की वासना तृप्त करने का व्यवसाय करने वाली स्त्री को ही गणिका कहा जाय, तो भारत की अनेक गणिकाओं को इस व्याख्या की व्याप्ति से बाहर रखना पड़ेगा क्योंकि हमारे यहाँ तो समाज के नृत्य-संगीत के शौक को पूरा करने का व्यवसाय करने वाली स्त्रियाँ भी गणिका ही कहलाती हैं ।

• इन गणिकाओं को निर्वाचन का पूरा अधिकार होता है और इतनी आर्थिक सुविधा भी होती है कि अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी की वासनातृप्ति का साधन बनना अस्वीकृत कर सकें। साथ ही यह भी मानना होगा कि नृत्य-संगीत से आगे बढ़कर देह विक्रय का मार्ग गणिका के लिए सदैव खुला रहता है और अनेक प्रसंगों पर इस मार्ग का आश्रय लिया भी जाता है। पश्चिम की और भारत की गणिकाओं का अंतिम उद्देश्य एक ही मान लिया जाय तो भी दोनों में इतना अंतर तो रहेगा ही कि भारतीय गणिका कला की साधना का पाथेय लेकर चलती है जिसकी पाश्चात्य गणिकाओं को आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कला साधाना का निमित्त एक ऐसा संबल है जो गणिका को एक विशेष प्रकार की प्रतिष्ठा दिलाता है और गणिकावृत्ति को देह विक्रय का निर्लज्ज व्यापार बनने से रोककर उसे ललितकलाओं को जीवित रखने वाली एक उपयोगी संस्था बना देता है।

यह सत्य है कि भारत के बड़े शहरों और औद्योगिक केन्द्रों में अब पश्चिम की तरह खुला देह विक्रय करने वाली गणिकाओं की संख्या बढ़ने लगी है। आधुनिक ढंग का औद्योगिक विकास हमने पश्चिम के परिचय से प्राप्त किया है। इसलिए, इस विकास के साथ अनिवार्य अनिष्ट के रूप में संकलित, देह-विक्रय करनेवाली गणिकाओं का उद्‌भव भी प्रवेश कर गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। संगीत का आवरण त्याग कर केवल देह-विक्रय करने वाली गणिका संस्था का उद्‌भव और विकास भारत में कब हुआ — यह समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय बन सकता है।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि संगीत या नृत्य गणिकावृत्ति की हीनता को छिपाने का एक बहाना मात्र होता है। एक और बात भी विचारणीय है। नृत्य और संगीत जैसी भावोत्तेजक कलाएँ सामाजिक सभ्यता और प्रतिष्ठा की मजबूत चौखट को अपने आंदोलनों से ढीली ढाली बनाकर समाज की नैतिक मान्यताओं को शिथिल कर दें ऐसी संभावना भी रहती है। इन कलाओं से संबंधित प्रेम और शृंगार की भावनाएँ अंततः कामवासना से ही नियंत्रित होती हैं। अतः यही कहना उचित होगा कि नृत्य या संगीत का आवरण कितना ही दृढ़ क्यों न हो, वह नीति के कवच का काम नहीं दे सकता।

भारतीय वर्णव्यवस्था के वंशपरंपरा के तत्व का हमारे सामाजिक जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। जन्म की आकस्मिक घटना से ही मनुष्य का स्थान जीवनभर के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जाति में निश्चित हो जाता है। वंश परंपरा के इस तत्त्व का महत्त्व अंशतः गणिकाजीवन में भी दिखाई देता है। भारत में गणिका की पुत्री अधिकतर गणिका का ही पेशा कर सकती है।

लीग ऑफ नेशन्स की गणिका-व्यवसाय-समिति के अनुसंधानों से भी यही निष्कर्ष निकला था। समिति इसी निर्णय पर पहुँची थी कि नई गणिकाओं की भरती अक्सर उन्हीं परिवारों में से होती है जिनमें गणिका व्यवसाय अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा हो। समिति के अन्य निष्कर्ष भी मननीय हैं। उदाहरणार्थ : "गणिका व्यवसाय करने वाली स्त्रियों में अधिकांश ऐसी हैं जिनके यहाँ वंश परंपरा से यही पेशा होता है" या "कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनका जन्मजात व्यवसाय ही वेश्यावृत्ति है।"

कई पौर्वात्य देशों में धर्मांध माता पिता अपनी भोली पुत्री को देवार्पण करके किसी मंदिर की व्यवस्था से संलग्न कर देते हैं। इस प्रथा ने देवदासी नामक गणिका संस्था को जन्म दिया जिसका व्यापक अस्तित्व दक्षिण भारत में अब भी दिखाई देता है। पश्चिम की गणिका संस्था में देवार्पित देवदासियों जैसा कोई वर्ग नहीं होता। यह तो सिर्फ भारत की ही विशेषता है।

इस प्रकार हमने गणिका संस्था की व्यापकता के दर्शन किये। यह कहा ही नहीं जा सकता कि संसार के किसी भी सभ्य या अर्धसभ्य देश में यह संस्था नहीं है। सभ्यता की प्राथमिक भूमिका पर स्थित प्रजाओं में इसका विकास स्पष्ट नहीं होता; परंतु जैसे-जैसे संस्कृति के अटपटे विधान विकसित होते जाते हैं तैसे-तैसे इन प्राथमिक समाजों में भी गणिकावृत्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित होती जाती हैं।



संसार की प्राचीन से प्राचीन संस्कृति के अवशेषों में गणिकावृत्ति के प्रमाण उपलब्ध हैं । जिन महान् प्रजाओं ने संसार भर को प्रभावित करने वाली संस्कृतियों और संस्थाओं का निर्माण किया उन सबमें गणिका का अस्तित्व भी अनिवार्य रूप से दिखाई देता है । नैतिकता में पश्चिम को अपने आप से हीन मानने का अहंकार करनेवाले भारतीयों के पूरे अतीत पर गणिका की छाप स्पष्ट अंकित दिखाई देती है । पाश्चात्य देशों को कला का ज्ञान कराने वाले यूनान और शासन की शिक्षा देने वाले रोम की सभ्यताओं पर पड़ी हुई गणिका संस्था की परछाइयाँ तो मानो अब तक जीवित हों ऐसा आभास होता है । जो कुछ यूनान और रोम में हुआ वही अन्य प्राचीन प्रजाओं में भी हुआ ; फिर चाहे वह प्राचीन प्रजा मिस्र की हो या बॅबीलोन की या फिनीशिया की ।

धर्म उसके स्वरूप को परिवर्तित भले ही कर सका हो, उसे निर्मूल नहीं कर सका । कठोर से कठोर धर्मतंत्र भी गणिका संस्था को प्रभावकारी ढंग से नहीं दबा सके । हिंदू धर्म की आयु पाँच हजार वर्ष से भी अधिक है और यहूदी धर्म भी उतना ही पुराना है । ईसाई धर्म दो हजार वर्षों से चल रहा है और इस्लाम के भी चौदह सौ वर्ष बीत गये । इनमें से कोई धर्म गणिकावृत्ति का निर्मूलन नहीं कर सका । प्रत्येक को गणिकावृत्ति के विकास का मूक साक्षी बनकर चुप रह जाना पड़ा है । व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन और उथल पुथल कर देने वाली राजक्रांतियाँ भी इस संस्था को विचलित नहीं कर सकीं । प्रजाओं के अस्तित्व और राज्यों के नामोनिशान मिट गये ; परंतु गणिका संस्था हमारे नीतिसूत्रों का मजाक उड़ाती हुई अब तक हमारे सामने जीवित खड़ी है ।

इस संस्था के मूल तत्त्वों और लक्षणों का विचार करते हुए हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे । उन्हें फिर एक बार संक्षेप में समझ लें । मानव जीवन में अनिवार्य माने जाने वाले यौन आकर्षण को संतुष्ट करने का व्यवसाय आर्थिक या अन्य प्रकार का लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से करनेवाली स्त्री को गणिका कहा जाता है । विवाह, व्यभिचार या रखैल प्रथा से यह प्रथा भिन्न है । सबमें वासनातृप्ति का तत्त्व समान रूप से उपस्थित है । परंतु विवाह संबंध में निहित स्थिरता या उत्तरदायित्व के अंशों की संपूर्ण उपेक्षा करके, आर्थिक या अन्य किसी लाभ के बदले में अपने देह का उपभोग किसी भी व्यक्ति को उपलब्ध कर देना गणिकावृत्ति का मुख्य लक्षण कहा जा सकता है ।

भारत और पश्चिम के गणिकाजीवन का भेद भी हमने समझा । कला का आवरण भारतीय गणिकाजीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । पश्चिम के तत्त्वों ने भी हमारे देश में प्रवेश कर लिया है और कलारहित, कोरी वेश्यावृत्ति से भी आज हम अपरिचित नहीं हैं । किसी विशिष्ट कौम, जाति, वर्ग या परिवार में जन्म होने के कारण ही आजीवन गणिकावृत्ति करनी पड़े यह भी भारत की ही एक विशिष्टता है । लीग ऑफ नेशन्स के अनुसंधानों के कुछ निष्कर्ष भी हमने देखे । पूर्व और पश्चिम की गणिकाओं में भेद स्थापित करते हुए हमने यह भी देखा कि पौर्वात्य देशों की गणिकाओं को गलियों में भटककर प्राप्ति जुटाने का प्रयत्न प्रायः नहीं करना पड़ता, यद्यपि ऐंग्लो-इंडियन गणिकाओं में यह प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई देती है ।

अब हम इस संस्था को जन्म देने वाले कारणों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे ।

तीसरा परिच्छेद

गणिका संस्था की उत्पत्ति और विकास के कारण

१

पुरुष की माँग

कोई भी सामाजिक घटना, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, कारण बिना उत्पन्न नहीं हो सकती । किसी घटना के उत्पत्ति-कारणों की यदि हमें पूरी-पूरी जानकारी हो, तो हमें उसका अधिक गहरा परिचय प्राप्त हो सकता है । वह इष्ट हो, तो हम उसकी वृद्धि और निर्वाह का प्रयत्न कर सकते हैं और अनिष्ट हो तो उसे टालने या नष्ट करने के उपाय सोच सकते हैं । मनुष्य अभी तक इतना अपूर्ण है कि अनेक घटनाओं के कारणों को वह पूरी तौर से पहचान नहीं सका है । मनुष्य के मानसव्यापार में कोई ऐसा अगम्य तत्त्व छिपा हुआ है जो कभी-कभी उसके पूरे हिसाब को झूठा प्रमाणित कर देता है । इसीलिए मनुष्य के प्रयत्नों को संपूर्ण सफलता सदैव नहीं मिलती । अगम्य परिस्थिति से उत्पन्न अपूर्णता का विश्वास होने पर भी मनुष्य कार्यकारण की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न सदा करता ही रहता है । अनेक बार इन प्रयत्नों में से अत्यंत उपयोगी शोध हाथ लग जाते हैं जो मानवजाति के लिए उपकारक और हितकारी सिद्ध होते हैं ।

गणिकावृत्ति भी एक सामाजिक घटना है । यह संस्था अत्यंत व्यापक है, दीर्घकाल से चली आ रही है और अनिष्ट मानी जाने पर भी कभी रोकी नहीं जा सकी यद्यपि इसे रोकने के या मिटा देने के प्रयत्न अनेक बार हुए । अतः हम यह तो अवश्य कह सकते हैं कि :

१. गणिका संस्था की उत्पत्ति और स्थिति के मूल में कुछ अत्यंत प्रबल कारण होने चाहिये ।

२. यह संस्था मनुष्य की किसी ऐसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करती होगी कि जिसके बल पर, अनिष्ट मानी जाने पर भी यह आजतक जीवित है ।

३. जब तक इन कारणों में परिवर्तन नहीं होता, और जब तक इस संस्था के द्वारा तृप्त की जाने वाली आवश्यकता को इससे अधिक शिष्ट और नीतिमय योजना द्वारा संतुष्ट करने के साधन नहीं मिलते, तब तक इस संस्था का अस्तित्व रहेगा ही ।

अब हम इस संस्था के मूल कारणों पर संक्षेप में विचार करें :—

गणिकावृत्ति का आद्य तत्त्व है देह-विक्रय । शारीरिक संपर्क से प्राप्त आनंद और देह के उपभोग से प्राप्त सुख, धन द्वारा खरीदा जा सकने की संभावना यह संस्था प्रस्तुत करती है । परंतु किसी भी प्रकार के विक्रय की संभावना तभी होती है जब विक्रय करने वाले के साथ-साथ खरीददार भी उपस्थित हो । भारतीय परिस्थितियों के अनुसार गणिकावृत्ति को स्त्री प्रधान संस्था मान कर ही विचार करें तो भी इतना मानना पड़ेगा कि इस संस्था को जीवित रखने वाले अनेक कारणों में इस संस्था द्वारा विक्रीत वस्तु का खरीददार पुरुष भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है ।

माँग और पूर्ति (Demand and Supply) का अर्थशास्त्रीय सिद्धांत किसी भी व्यापार का स्थूल स्वरूप प्रस्तुत करता है । गणिकावृत्ति को भी यदि व्यापार मान लिया जाय, तो माँग और पूर्ति के नियम का



प्रवर्तन इस क्षेत्र में भी होगा । पुरुष स्त्री-देह की कामना करता है — स्त्री उसे प्रस्तुत करती है और देह के उपभोग की कीमत चाहती हैं । परंतु अकसर यही देखा जाता है कि गणिका जीवन का विचार करते समय, कामसंतोष की खातिर, कुछ समय के लिये, कीमत अदा करके स्त्रीदेह खरीदने वाले पुरुष की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता । हमारी टीका और हमारी गालियाँ, हमारे व्यंग्यबाण और हमारे अभियोग — सबका लक्ष्य गणिकावृत्ति करने वाली स्त्री ही होती है । हम उस समय भूल जाते हैं कि गणिकावृत्ति चलती ही इसलिए है कि पुरुष उसका ग्राहक है । गणिका का तिरस्कार करते समय यह नहीं भूलना चाहिये कि इस तिरस्कृत प्रथा को पोषण देने वाले पुरुषों की संख्या इसके द्वारा पोषित गणिकाओं की संख्या से अनेक गुनी अधिक होती है । गणिकावर्ग देह का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों का एक अलग समुदाय होने के कारण तुरंत पहचान लिया जाता है । पुरुष को इस कार्य के लिए अलग समूह बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । परंतु सिर्फ इतने से भेद की आड़ में यह दावा कैसे किया जा सकता है कि गणिका संस्था के उद्‌भव और निर्वाह में यदि जिम्मेवारी का प्रश्न उपस्थित होता हो, तो पुरुष की जिम्मेवारी स्त्री से कम है ?

पुरुष इस व्यवस्था की माँग क्यों करता है ? समाज ने विवाह जैसी संस्था कानून द्वारा संमत की है । पुरुष उससे ही संतुष्ट क्यों नहीं रहता ? इसके अनेक कारण हो सकते हैं । उदाहरणार्थ :—

१. विवाह से पहले ही पुरुष की कामवासना उग्र हो चुकी हो ।

२. विवाह संपूर्ण संतोषप्रद या यथेष्ट उत्तेजक सिद्ध न हुआ हो ।

३. विवाह के संतोषप्रद होने पर भी विविधता का मोह बना रहा हो ।

४. विधुरता प्राप्त हो गई हो । जिसका अर्थ आकर्षण या आवेश की समाप्ति नहीं हो सकता ।

५. आर्थिक या सामाजिक कारण विवाह के मार्ग में बाधाएँ डालते हों या विवाह की संभावना ही नष्ट कर देते हों ।

६. परिवार की जिम्मेवारी उठाने की हिम्मत न हो या सुविधा न हो ।

७. विदेश गमन के कारण दीर्घकाल के लिए पति-पत्नी अलग हो गये हों ।

ऐसे अनेक कारण विवाहबाह्य यौन व्यवहारों को जन्म देते हैं । विवाहबाह्य संबंधों में से व्यभिचार की सब के लिए न तो संभावना होती है और न आवश्यकतानुसार सुविधा । रखैलप्रथा भी सर्वत्र और सबके लिए संभव नहीं होती । इन दोनों मार्गों में खतरा है, झगड़ा है, लज्जा है और सुविधा का अभाव है ।

बुरा काम करते हुए पकड़े जाने का भय ही अनेक पुरुषों को समाज में सभ्य बनाये रखता है यह मान लेने में तो कोई हर्ज़ नहीं । परंतु पुरुषों में आदर्शप्रियता का नितांत अभाव होता है यह मानकर हम मनुष्य के संस्कारों के प्रति अन्याय करते हैं और आवेश-विवशता को ही मनुष्य जीवन की प्रेरक शक्ति मान लेने की भूल कर बैठते हैं । आदर्श प्रियता संयम की पोषक है; फिर भी, बहुत से आदर्शों का पालन केवल दिखावा करने के लिए और समाज की आँखों में धूल झोंकने के लिए ही किया जाता है । जहाँ समाज को अंधेरे में रख सकने का विश्वास हो, वहाँ आदर्शभंग की चिंता भी कम हो जाती है और मनुष्य अपनी वृत्तियों को निरंकुश छोड़ दे इसकी संभावना बढ़ जाती है ।

इन सब कारणों से पुरुष कोई ऐसी सुविधापूर्ण व्यवस्था चाहता है जिसमें कोई जोखिम न हो, झगड़े की संभावना न हो, समाजनिंदा का भय न हो, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और विवाहित स्थिति को किसी प्रकार का खतरा न हो, स्थायी आर्थिक जिम्मेवारी न हो और फिर भी वासनातृप्ति के लिए पूर्ण अनुकूलता प्राप्त हो ।

केवल गणिका संस्था ही ऐसी पूर्ण अनुकूलता प्रस्तुत कर सकती है । सभ्य संसार का बहुत बड़ा भाग पुरूषप्रधान समाजरचना द्वारा संचालित है जिसमें आर्थिक शक्ति पुरुष के ही हाथों में रहती है । इस आर्थिक स्वातंत्र्य से उत्पन्न अधिकारभावना और अग्रणीपद पुरुष को खरीददार या ग्राहक के पद पर आसीन कर देते हैं ।

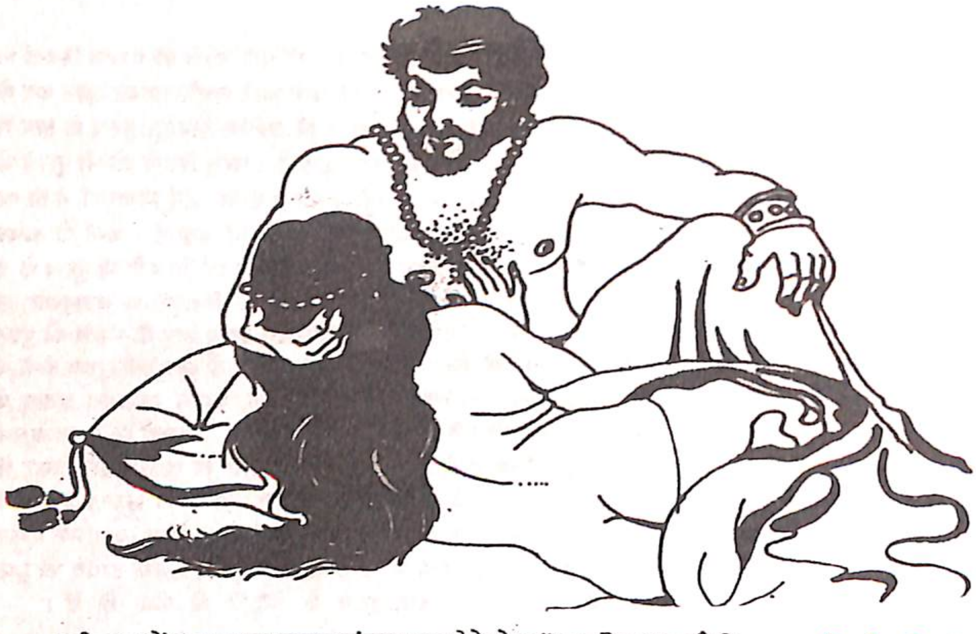
इस प्रकार यही प्रमाणित होता है कि पुरुष भी गणिका संस्था का एक आद्य कारण है । आदम को ज्ञानवृक्ष का फल चखने के लिए ईव ने ललचाया और दोनों को पाप की अनुभूति हुई । इस ईसाई मान्यता को कुछ और आगे बढ़ा ले जायें, तो यह कहा जा सकता है कि मानो ईव के इस अपराध का प्रतिशोध लेने के लिए ही आदम ने ईवर के वंश का विस्तार करके पतिताओं का निर्माण किया । गणिकाओं का या गणिका संस्था का कठोर से कठोर न्याय करते समय भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह संस्था पुरुष-प्रेरित है और पुरुष द्वारा पोषित है । जिस दिन पुरुष की माँग नहीं रहेगी उस दिन गणिका भी नहीं रहेगी ।

२
स्त्री की काम वासना

साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पुरुष की इस माँग की पूर्ति करने को पर्याप्त स्त्रियाँ भी उपलब्ध होती रही हैं । स्त्री के लिए सबसे अधिक लज्जास्पद मानी जाने वाली अप्रतिष्ठा को सहन कर के भी स्त्रियाँ इस मार्ग पर प्रेरित होती रही हैं । माना कि मानव-समाज की आर्थिक बागडोर पुरुष के हाथ में है और इसी कारण से यौन व्यवहार में अग्रणीपद भी पुरुष ही लेता आया है । परंतु स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही कामेच्छा नहीं होती होगी यह मानने का कोई कारण नहीं । बल्कि हमारे आर्य विचारकों ने तो यह निश्चत रूप से माना है कि स्त्री में कामवासना पुरुष से कहीं अधिक प्रमाण में होती है । दोनों के आवेश की तीव्रता की नापजोख का काम वैज्ञानिकों पर छोड़ कर हम तो इतना ही मान लें कि स्त्री भी पुरुष के ही जितनी उत्कटता से यौन आकर्षण का अनुभव करती है । मनोविज्ञान के विद्वानों के मतानुसार भी कामव्यवहार में स्त्री की लज्जा, संकोच और मर्यादाप्रियता उसके अतिरिक्त शस्त्र मात्र हैं । स्त्री को पुरुष के इशारों पर नाचने वाली कठपुतली मात्र मान लेने से सत्य का विपर्यास होता है और स्त्री-पुरुष दोनों के प्रति अन्याय भी । प्राकृतिक शरीर रचना और सामाजिक परिस्थितियों के कारण आकर्षण-संतोष के परिणामस्वरूप संतानोत्पत्ति का अतिरिक्त बोझ भी स्त्री के कंधो पर ही पड़ता है । स्त्रियों में शायद वासना पर अंकुश रखने की क्षमता पुरुषों से कुछ अधिक होती है । परंतु संतानोत्पत्ति का खतरा मोल लेकर भी कामतृप्ति होने की तत्परता से ही स्त्री के कामवेग की उत्कटता का अंदाज लगाया जा सकता है । सभी बाल जन्म स्त्री की अनिच्छा के बावजूद होते हैं — यह कहना अत्योक्ति होगी । इसलिए न्यूनाधिक प्रमाण की नापतोल में पड़े बिना यही मानना उचित होगा कि स्त्री में भी काम वासना और उसके आवेग को तृप्त करने की वृत्ति पुरुष से अधिक नहीं तो कम से कम पुरुष के जितनी तो होती ही है ।

कुछ विचारकों में एक विचित्र मान्यता प्रचलित दिखाई देती है । इस मतानुसार पुरुष स्वभाव से ही बहुस्त्री अनुरागी होता है जबकि स्त्री वृत्ति से ही एक पुरुष रत होती है । रूढ़ि का प्रभाव और सामाजिक बंधन स्त्रियों को एकाधिक प्रेमसाहस करने का मौका नहीं देते — यह तो मान्य हो सकता है ; परंतु इस विषय में स्त्री और पुरुष का मानस स्वाभाविक रूप से भिन्न होता है इस मान्यता का कोई शास्त्रीय या अशास्त्रीय आधार नहीं है । एक पतित्व और एकपत्नीत्व की योजना सामाजिक दृष्टि से अत्यंत सुविधाजनक है । इसके उपरांत और कोई स्वाभाविक, संस्कारजन्य या प्राकृतिक कारण इस योजना के

मूल में हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । यह केवल गौरव भावना से जन्म लेने वाला पुरुष का मिथ्या अभिमान है । बहुस्त्री-अनुरागी होने का घमंड करते समय पुरुष को यह नहीं भूलना चाहिये कि उसका एक से अधिक स्त्रियों के साथ का संपर्क ही यह प्रमाणित कर देता है कि स्त्री भी बहुपुरुषरत हो सकती है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष को अनेक स्त्रियों से संबंध रखने का मौका ही न मिलता । इस प्रकार का प्रत्येक साहस करत समय पुरुष को यह नहीं भूलना चाहिये कि उसके प्रति आकर्षित होने वाली पराई स्त्री अकसर किसी अन्य की पत्नी भी होती है और इस गुप्त प्रेम व्यवहार में सहभागी होकर वह भी उसके जितना ही, या उससे कुछ अधिक साहस कर रही है । यह बहुत संभव है कि पुरुष जब घर से बाहर किसी अन्य स्त्री के प्रति प्रेम निवेदन कर रहा हो, तब उसकी स्त्री, उसी के घर में, उसी समय किसी अन्य पुरुष के प्रति अनुराग व्यक्त कर रही हो । स्वाभाविकता या प्राकृतिकता के बहाने स्त्री की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त करने का पुरुष का प्रयत्न ही अप्राकृतिक है । दोनों के हक समान हैं और पुरुष माने या न माने पर समान अधिकारों का उपयोग भी समान रूप से होगा ही । स्त्री से पतिव्रताधर्म की आशा करने वाले पुरुष के लिए भी एक पत्नीव्रत के सिवा और कोई मार्ग नहीं है । यदि अन्य कोई मार्ग है, तो वह दोनों के लिए खुला है — केवल पुरुष के लिए ही नहीं । एक से अधिक स्त्री की मांग करन वाले पुरुष का अस्तित्व एक से अधिक पुरुष की माँग करने वाली स्त्री के बिना संभव नहीं ।



स्त्रीपुरुष में वासना का समान संचार मान लेने से यही स्थापित होता है कि पुरुष की माँग की पूर्ति करने वाली स्त्रियाँ भी कभी-कभी इस आवेग का अनुभव कर सकती हैं । आर्थिक परिस्थिति खरीददार की श्रेणी में अकसर पुरुष को ही रखती है । परंतु आर्थिक ढाँचा बदल जाने पर गणिका संस्था की योजना भी पलट जाय, यह संभव है । पुरुषों का आर्थिक स्थान यदि स्त्रियों को मिल जाय, तो पतित पुरुषों के समूह में से किसी पुरुष को पसंद करके, उसे धन से खरीद कर, उसके क्षणिक सहवास या उपभोग से आनंद प्राप्त करने वाली स्त्री की कल्पना नितांत असंभव नहीं है

कवियों ने तो त्रियाराज्य की कल्पना की ही है । स्त्रियों की ही आबादी, स्त्रियों का ही समाज और स्त्रियों का ही राज्यतंत्र कल्पनातीत बातें नहीं हैं । ऐसे समुदाय में यदि कोई इक्का दुक्का, भूला भटका पुरुष आ फँसे, तो उसकी गणना अत्यंत मूल्यवान संपत्ति के रूप में ही होगी । स्वाभाविक है कि उसपर सबसे प्रथम अधिकार त्रियाराज्य की रानी का होगा । स्त्रियाँ वैसे ही अपनी मायावी मोहकता से पुरुष को पागल बनाए रखती हैं । त्रियाराज्य की रमणियाँ इस स्वाभाविक वशीकारण शक्ति के उपरांत और भी बहुत से जादूटोने या मंत्रतंत्र जानती हों यह संभव है । ऐसी स्त्रियाँ जाल में फँसे पुरुष को दिन भर पंछी बनाकर पिंजरे में बंद रखें और रात होते ही उसे मानव रूप देकर उसका सहवास प्राप्त करें यह कल्पना त्रियाराज्य की कहानियों में स्वाभाविक ही लगती है । मत्स्येन्द्रनाथ जैसे सिद्ध योगी भी इस त्रियाराज्य के जाल में उलझ गये थे । उनके पट्ट शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें खोजकर चेतावनी दी जिससे वे अपनी पतित अवस्था से मुक्त हो सके । हमारे नाटक-सिनेमाओं ने इस कथा को घरघर में प्रचलित कर दिया है । त्रियाराज्य की नारियाँ यदि बिलकुल ही स्वार्थांध न हों, तो दुर्लभ पुरुष को केवल अपने ही उपभोग के लिए रखकर अन्य पुरुषविहीन स्त्रियों को ईर्ष्याग्नि में जलाने की नादानी कभी नहीं कर सकतीं । अत: पुरुष सार्वजनिक संपत्ति बन जायगा । इस स्थिति में और पौरुषेय वेश्यावृत्ति में केवल एक कदम का अंतर रह जाता है । पश्चिम की सामाजिक स्थिति के जानकारों से यह छिपा नहीं है कि वहाँ की अविवाहित स्त्रियों में, आयु बढ़ने पर, छोटी उम्र के नौजवान मित्रों और सहवासियों का शौक पैदा हो जाता है । इन 'मित्रों" का आर्थिक निर्वाह एक से अधिक स्त्रियाँ मिलकर करती हैं ।

अब तक के विचार से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यौन वासना स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से होने से ही गणिका-व्यवहार संभव हो सका है । दोष का प्रथम भागी पुरुष है । यदि "दोष' शब्द का प्रयोग न करना हो तो कह सकते हैं कि गणिकावृत्ति का आद्यकारण पुरुष है । साथ ही यह भी सत्य है कि आर्थिक लाभ के बदले में इस माँग की पूर्ति करने को स्त्री सदा तत्पर पाई गई है । स्त्री कोई जड़ वस्तु नहीं है । व्यापार केवल जड़ वस्तुओं का ही हो सकता है ; यद्यपि मनुष्य की मजदूरी, उसकी बुद्धि और उसकी शक्ति किराये पर मिल सकती हैं । वेतन, मानधन, पारिश्रमिक आदि शब्द मनुष्य के शारीरिक या बौद्धिक उपयोग की कीमत या किराये के ही पर्याय हैं । यौन संबंध मनुष्यजीवन का चरम वैयक्तिक और निजी संबंध है । इससे अधिक वैयक्तिक या निजी और कोई संबंध नहीं हो सकता । यौन व्यवहार में संमति का प्रश्न महत्त्वपूर्ण, परंतु यह संमति जब आर्थिक हिसाब-किताब पर आधारित हो जाती है तब निजी से निजी संबंध भी व्यवसाय से अधिक कुछ नहीं रह जाता । पारलौकिक मुक्ति के लिए हुंडियाँ लिखने वालों के इहलौकिक आर्थिक व्यवहारों से इतिहास अच्छी तरह परिचित है । मनुष्य की विकट आर्थिक समस्याएँ धर्म और प्रेम जैसी पावन भावनाओं को भी व्यापार की वस्तु बना सकती हैं । गणिकावृत्ति के मूल में पुरुष की माँग है यह तो माना, परंतु साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि इस माँग की पूर्ति के लिए स्त्री गणिका के रूप में सदा से उपलब्ध रही है । यह तो सत्य है कि पुरुष का आर्थिक स्वातंत्र्य उसे भोक्ता का पद देता है, परंतु स्त्री को नितांत वासना रहित, आवेशहीन और भावनाशून्य कठपुतली मात्र मान लेना योग्य नहीं । पुरुष धन की शक्ति से देह सुख खरीद सकता है इसमें वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की आकस्मिकता कारणभूत है । परंतु स्त्री धन के बदले में देह का उपभोग प्रस्तुत करती है इसमें स्त्री की सूक्ष्म संमति ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । पुरुष को बहलाने के लिए स्त्री कोई जड़ खिलौना या मेवा मिठाई प्रस्तुत नहीं करती बल्कि अपना जीवित और धड़कता हुआ देह अर्पित करती है । संपूर्ण असंमति की हालत में इस प्रकार के संबंध की संभावना ही नहीं । अत: गणिका व्यवहार में स्त्री और पुरुष, दोनों की संमति कारण रूप है । स्त्री यदि केवल अचल संपत्ति, या जड़ या चैतन्यहीन पदार्थ ही नहीं है, तो गणिका व्यवहार में स्त्री और पुरुष, दोनों की समान जिम्मेदारी स्वीकृत करने से ही सत्य की उपलब्धि होगी

अप्सरा

विषम सामाजिक विधानों ने स्त्री को अचल संपत्ति बना देने में कोई कसर नहीं छोड़ी और आज भी स्त्री का आर्थिक सहभाग समाज को मंजूर नहीं है । इसी कारण स्त्री अब तक खरीदी जा सकनेवाली भोग्य वस्तु की श्रेणी से बाहर नहीं निकल सकी है । परंतु इस हालत में तो पुरुष का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है । स्त्री की अप्रतिष्ठा का जन्म उसकी हीन आर्थिक या सामाजिक परिस्थिति से ही होता है । परंतु स्त्री और पुरुष दोनों को समकक्ष मान लेने से गणिका संस्था के संबंध में भी दोनों के अधिकार और उत्तरदायित्व समान मानने होंगे । समानता की बुनियाद पर ही स्वस्थ समाजरचना खड़ी की जा सकती है । अतः गुण और दोष या अधिकार और उत्तरदायित्व आदि क्षेत्रों में भी स्त्रीपुरुष की समानता को मान लेना ही उचित है ।

इस प्रकार गणिकावृत्ति के लिए स्त्री और पुरुष, दोनों को जिम्मेदार माना जा सकता है । पुरुष की जिम्मेवारी अधिक है क्योंकि आर्थिक तंत्र पर उसका नियंत्रण स्त्री से अधिक है । वासनातृप्ति के अन्य मार्ग संतोषप्रद या सुविधाजनक न होने के कारण इसकी उत्पत्ति हुई । यह मनुष्य समाज का सबसे पुराना व्यवसाय न भी हो, परंतु यह तो मानना ही होगा कि यह एक अतिप्राचीन सामाजिक घटना है जो आजतक चली आई है । यौन आकर्षण को संतुष्ट करने के अनेक प्रयोग मनुष्य ने किये । उन सब प्रयोगों की भली बुरी स्मृतियाँ भी इस संस्था में बची रही हैं । धर्म, अर्थ और काम की सामाजिक और वैयक्तिक विचित्रताएँ भी इस संस्था से संकलित रही हैं । धर्म का संकलन गणिका संस्था के साथ होता हुआ सुनकर किसी को परेशान होने की आवश्यकता नहीं । बिल्वमंगल और चिंतामणी की कथा में एक गणिका द्वारा एक महारसिक पुरुष को मोक्ष के मार्ग पर प्रवृत्त किये जाने का दृष्टांत प्रसिद्ध है । गणिका मोक्षप्रेरक हो सकी इस घटना से कुछ आश्चर्य अवश्य होता है, परंतु ऐसी तो अनेक विचित्रताओं के दर्शन गणिका संस्था में होते रहे हैं ।



३
आर्थिक परिस्थिति

अब हम गणिकावृत्ति के उद्‌भव के कुछ अन्य कारणों पर विचार करें । पिछले कुछ पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि पुरुष की वासनातृप्ति की अधिक व्यापक और सरल व्यवस्था के एक प्रयोग के रूप में इस संस्था का जन्म हुआ । केवल असंतुष्ट वासना की तृप्ति को ही इसका आद्यकारण मान लिया जाय, तो पुरुष और स्त्री दोनों इसके लिए समान रूप से जिम्मेदार साबित होते हैं । परंतु इस आद्यकारण की तृप्ति के तो विवाह, व्यभिचार या रखैलप्रथा जैसे अन्य मार्ग भी हैं । गणिका संस्था तो इन चार मार्गों

है । अन्य मार्ग उपलब्ध होते हुए भी इस प्रथा का इतना व्यापक प्रचलन देखकर यह निश्शंक कहा जा सकता है कि इस के मूल में और भी कई विशिष्ट कारण होने चाहिये । हम उन पर संक्षेप में विचार करें ।

इन विशिष्ट कारणों में आर्थिक परिस्थिति का स्थान सबसे पहले आता है । मानव समाज की आर्थिक असमानता ने अनेक दुखदाई और विचित्र घटनाओं को जन्म दिया है । स्त्री और पुरुष की आर्थिक असमानता ही गणिकावृत्ति की प्रेरणा देती है व उसे निरंतर पुष्ट करती रहती है यह बात गणिकावृत्ति के आर्थिक लेनदेन से ही स्पष्ट हो जाती है । साम्राज्यवाद, उपनिवेशों की स्थापना, माल की खपत के लिए बाजारों की छीनाझपटी, शस्त्रसज्जता और घोर युद्धों की परंपरा एवं अकाल और बेकारी जैसे वर्तमान समाजरचना के महाभयानक अनिष्ट इस आर्थिक विषमता से ही जन्म लेते हैं । इनके साथ गणिकावृत्ति को जोड़ देने से वर्तमान अर्थव्यवस्था का लज्जास्पद चित्र संपूर्ण हो जाता है । गरीबी ही मनुष्यप्राणी को देह और रूप बेचने को मजबूर करती है और इसी मजबूरी की बुनियाद पर पूरी गणिका संस्था खड़ी है ।

भारत का ही उदाहरण लें । भारत की दरिद्रता अंगरेजी शासन की सबसे बड़ी निष्फलता या निष्ठुरता या दोनों का मूर्तिमंत प्रमाण है । अपने देश में एक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय पचास से सौ रुपये तक आँकी जाती है । * इसका अर्थ हुआ मासिक चार से आठ रुपये । और किसी बात में न सही, कम से कम इस एक विषय में तो भारत अग्रस्थान पर है और उसकी गणना विश्व के सबसे दरिद्र देशों में की जाती है । मासिक चार या आठ रुपयों में जीवन निर्वाह करने वाले अभागों की दुर्दशा का वास्तविक अ-भव तभी हो सकता है जब हम खुद चार-आठ महीनों तक इस स्थिति में रहकर देखें ।

और य' तो हुई औसत आमदनी जिसमें लाखों, करोड़ों की कमाई करने वाले सेठ-साहूकार और अधिकारी भी शामिल हैं । देश के लोगों की कितनी बड़ी संख्या बिलकुल बेकार रहती है इसकी तो सहज में कल्पना भी नहीं की जा सकती । वर्ष में चार-छः मास तक बेकार रहने वाले ग्रामवासियों की समस्या से तो अर्थशास्त्र का हर विद्यार्थी परिचित है । इस विभीषिका में स्त्रियों का स्थान तो और भी क्षुद्र होता है । उनके जीवन में तो आर्थिक अंश नहीं के बराबर होता है । और इस चार-आठ रुपये माहवार की औसत से भी उन्हें प्रायः वंचित रहना पड़ता है । जीवनयापन की कठिनाइयाँ धन के अभाव में स्त्री से क्या नहीं करा सकती ? यह भयानक परिस्थिति उसके सगे-संबंधियों को — या खुद उसके पति को भी — उसके व्यवहार पर आवरण डालने को ही नहीं बल्कि उसे प्रोत्साहित करने को भी विवश करे तो आश्चर्य किस बात का ? यह तो हुई ग्रामजीवन की कहानी ।

* ये संख्याएँ सन १९४२-४३ की हैं ।

यही हालत शहर में रहने वाले मजदूर-पेशा लोगों की भी है । इन श्रमिकों में स्त्रियों का भी समावेश होता है । कपड़े की मिलों में और सड़कें, इमारतें आदि बनाने के उद्योग में स्त्री-मजदूरिनों की संख्या बड़े प्रमाण में पाई जाती है । परंतु उनकी मजदूरी के दर इतने कम होते हैं कि शहर का खर्च चल नहीं सकता । छोटी-छोटी, गंदगीभरी कोठरियों में पूरे परिवारों को घुटकर रहना पड़ता है । पुरुषों और स्त्रियों को आवश्यक एकांत या अंतर प्राप्त नहीं होता । यौन संबंधों की मर्यादा का निर्वाह नहीं होता और परिवारों में अनियंत्रित वासनातृप्ति का प्रवेश हो जाता है । गाँवों में रोजी नहीं मिलती इसलिए ग्रामीण स्त्रीपुरुष शहरों के कारखानों की ओर आकर्षित होते हैं । परंतु कारखानों में भी तुरंत मजदूरी नहीं मिल जाती । पहले तो मुकादम को संतुष्ट करना पड़ता है । काम मिल भी जाता है तो आय न तो स्थायी होती है और न शहर के खर्चों के लिए पर्याप्त । परिणाम एक ही निकलता है कि किशोरियाँ और युवतियाँ देह विक्रय के मार्ग पर भटक कर अंत में गणिकागृहों की शरण लेती हैं ।

गृहकार्य करनेवाली स्त्रियों का एक वर्ग संपत्तिमान या उच्च मध्यम वर्ग के बड़े परिवारों में रहकर परिवार की स्त्रियों को शरीरिक श्रम से बरी रखने का कार्य करता है । इससे उन धनी स्त्रियों को या उनके आसपास के लोगों को कोई लाभ होता है या नहीं — यह तो राम जानें । भोजन नौकर बनाये, पानी नौकर भरे, चाय भी नौकर बनाये, बच्चों की परवरिश नौकर करे, उनके घूमने-फिरने और शिक्षा की देखभाल भी नौकर ही करे, मोटर नौकर चलाये, बागवानी नौकर करे, बाजार से सामान नौकर लाये, घर के खिड़की-दरवाजे भी नौकर बंद करें, आये-गये/मेहमान — अभ्यागतों की देखभाल नौकर करे और देवता की पूजा भी नौकर ही करे — इस प्रकार नौकरमय जीवन बिताकर उच्च और मध्यम वर्गों का अस्तित्व रोगी, पराधीन और अपाहिज सा बनता जाता है । देह के अति वैयक्तिक और निजी काम भी वेतनभोगी अनुचरों से करवाने की आदत यूनानी या रोमानी समय की उस दासप्रथा की याद दिला देती है जो यूनान और रोम के पतन का एक प्रधान कारण सिद्ध हुई । परंतु भारत में और अधिक पतन की चिंता करने लायक बचा ही क्या है ? गनीमत है कि भोजन, नाटक-सिनेमा का आनंद या अन्य शारीरिक सुखोपभोग के लिए किराये के प्रतिनिधियों की योजना अब तक नहीं की जाती । परंतु छोड़िये इस प्रश्न को । धनवानों के कारण आजतक तो किसी देश का उत्कर्ष हुआ नहीं । वे तो हमेशा पतन के ही अग्रदूत रहे हैं ।

गृहकार्य करनेवाले नौकरों में स्त्रियों की संख्या ही अधिक पाई जाती है । कहा जाता है कि चतुर गृहणियाँ गृहकार्य के लिए सुंदर या चंचल नौकरानियाँ नहीं रखतीं और मजबूरन कभी रखना पड़ जाय तो उन्हें टिकने नहीं देतीं । कह नहीं सकते कि यह कहाँ तक सच है ; परंतु इसका मर्म स्पष्ट है कि घरेलू नौकरों का स्त्री विभाग अत्यंत सावधानी की अपेक्षा करता है । अत्यंत गिरी हुई आर्थिक स्थिति नैतिक बंधनों को शिथिल करती रहती है और नगण्य आय में कुछ वृद्धि करने का प्रयत्न उन्हें कभी-कभी ऐसे मार्ग पर ला पटकता है जहाँ से गणिकागृह का द्वार कुछ ही कदम दूर रह जाता है ।

कर्ज में डूबा हुआ और मूल तो क्या ब्याज भी न चुका सकने वाला दरिद्र वर्ग भी स्त्रियों का शील बेचने को मजबूर होता है । भारी ब्याज के बदले में स्त्री का उपभोग प्राप्त कर देने वाला, गुजरात में प्रचलित "चोटला खत" नामक व्यवहार भी स्त्री के आर्थिक विक्रय का ही एक प्रकार है जो व्यवस्थित गणिकावृत्ति से बहुत भिन्न नहीं है । इस पाश में फँसी हुई अनेक स्त्रियाँ अंत में गणिकाओं की संख्या में ही वृद्धि करती हैं ।

निम्न-मध्यम वर्ग और अतीत की प्रतिष्ठा से चिपका रहने वाला गतवैभव वर्ग जैसी श्रेणियाँ भी हमारे समाज में पाई जाती हैं । इन वर्गों के आर्थिक साधन और सामर्थ्य तो इन्हें दरिद्रता के वर्तुल में घसीटते हैं परंतु इनके संस्कार, अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ और भुलाये न जा सकने वाले उद्देश्य इनकी दृष्टि को सदा धनिकों की तड़क-भड़क की ओर आकर्षित रखते हैं । धनवानों की तरह रहने की निरन्तर तृष्णा और धन का उतना ही निरन्तर अभाव — इन दो पाटों के बीच पिसनेवाले परिवारों की संख्या नितांत

नगण्य नहीं है । बेकार घूमने वाले क्लर्क या कर्मचारी, सर्वस्व खो बैठने वाले सटोड़िये या धनिकों की स्पर्द्धा में ऋणग्रस्त हो जाने वाले बाबूलोगों के परिवारों की तंग दशा अत्यंत करुणाजनक होती है । ऐसे परिवारों की स्त्रियाँ दुख और अभाव सहन करके, जेवर बेचकर और पाईपाई की किफायत करके कुटुंब का निर्वाह किए जाती हैं । इसमें कोई संशय नहीं कि प्रतिष्ठा बनाये रखने का यह कठिन काम प्राय : शील और चरित्र की रक्षा करते हुए ही होता है । परंतु यह भी बिलकुल असंभव नहीं है कि खर्च की जिम्मेदारी के बोझ से दबे हुए इस वर्ग की कुछ स्त्रियों का झुकाव अप्रतिष्ठित या चरित्रभ्रष्ट व्यवहार की ओर हो जाय । यह व्यवहार गणिकावृत्ति को हमारे विशुद्ध कहे जाने वाले सफेदपोश समाज के बहुत निकट ला देता है । प्रतिष्ठित मुहल्लों में पकड़ाई दे जाने वाले अनीति के धाम, अकसर इसी प्रकार की गणिकावृत्ति के केन्द्र होते हैं ।

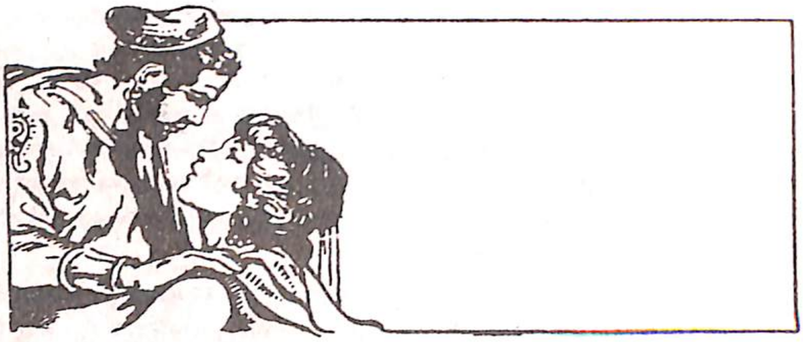
हिन्दू समाज में विधवाओं की निराधार स्थिति भी आर्थिक संकट के कारण गणिकावृत्ति का पूरक स्रोत बनती रही है । संयुक्त परिवारों में, और अब संयुक्त परिवार के बाहर भी, विधवा की स्थिति उसके लिए तो शापरूप ही होती है । अपने देश में विधवाओं को अपशकुन और अमंगल का साक्षात् प्रतीक माना जाता है । विधवा आर्थिक दृष्टि से भाररूप होने के कारण उसके साथ अकसर निर्दयता का व्यवहार किया जाता है । कठिन गृहकार्य उसी के मत्थे मढ़ा जाता है । आश्वासन या सहानुभूति के शब्द की तो बात ही छोड़िये। उसके चारों ओर का वातावरण व्यंग्य, कटाक्ष, ताने और धमकियों से ही भरा रहता है । उसके चाल-चलन पर निगरानी रखना पूरे परिवार का, पूरी जाति का और कभी-कभी तो पूरे समाज का पावन कर्त्तव्य बन जाता है । इनमें से किसी को भी अपने कर्तव्य की कितनी परवाह होती है, यह तो राम जानें । गहने तो वह पहन ही नहीं सकती, और कपड़े भी उतरे हुए, फटे-पुराने या बेडौल ही पहने जा सकते हैं । धनसंचय के नाम पर फूटी कौड़ी भी नहीं । यदि थोड़ा बहुत रुपया-पैसा हुआ भी, तो या तो वह छीन लिया जायगा या विधवा उसे खर्च न कर दे इसकी सावधानी पूरे परिवार को रहेगी । अस्पृश्यता के समान वैधव्य के विधिनिषेध भी हिंदू समाज की क्रूरता और कलंक के सिरमौर हैं ।

संयुक्त परिवार में तो फिर भी विधवा को पड़े रहने को कोई कोठरी और अपमान से ही क्यों न हो, पर रूखीसूखी रोटी भी मिल जाती थी । परंतु अब संयुक्त परिवार की प्रथा बहुत तेजी से टूटती जा रही है । यद्यपि विधवा विवाह की सुविधा कानून और रूढ़ि दोनों की संमति प्राप्त करती जा रही है — परंतु इसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जाता और संयुक्त परिवार की सुरक्षा नष्ट हो जाने से विधवा के लिए सहारे का कोई उपयुक्त स्थान नहीं बचता । स्वाभाविक है कि इन आश्रयहीन विधवाओं से भी गणिका संस्था की संख्यावृद्धि होती रहती हो । इसके उपरांत व्यक्ताएँ, फुसलाई जाने वाली कन्याएँ या विधवाएँ और परिवार वालों की निर्दयता एवं यातनाओं से छूटने के लिए घर छोड़ कर भागनेवाली अनेक सुहागिनें भी इस संस्था की माँग को अंशतः पूर्ति करती ही होंगी ।

भूख, आर्थिक सुरक्षा का अभाव और अनिश्चित भविष्य मनुष्य को अनेक दूषित घटनाओं में उलझा देते हैं । गणिका संस्था भी इसी प्रकार की एक आर्थिक अनवस्था का परिणाम है । कुछ विचारक तो केवल गरीबी और भुखमरी को ही गणिकावृत्ति का मूल कारण मानते हैं । अधिकांश गणिकाएँ भी निर्वाह के अन्य साधनों के अभाव को ही अपनी पतितावस्था का मूल कारण कबूल करती हैं । पेरिस, बर्लिन और लंडन जैसे बड़े शहरों की गणिकाओं की स्थिति के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकला है कि स्त्रियों की बेकारी या अपर्याप्त आय से जनित भयानक दरिद्रता ही गणिकावृत्ति का सबसे महत्वपूर्ण कारण है । एक प्रसिद्ध लेखक का कहना है कि सामाजिक नीति-अनीति का ज्वारभाटा समाज की आर्थिक सम्पन्नता के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करता है । समाज की आर्थिक उन्नति हो रही हो और हर आदमी को उचित रोजगार उपलब्ध हो, तो अशिष्ट या अनीतिमय यौन संबंधों का फैलाव कम होगा । और जिस समाज में व्यापार, उद्योग आदि के अभाव से दरिद्रता का ही साम्राज्य हो, उसमें अनैतिकता के प्रसंग भी अधिक

व्यापक होंगे । पश्चिम के देशों में यह भी एक मानी हुई घटना है कि मंदी के वर्षों में गणिकाओं की संख्या निश्चत रूप से बढ़ जाती है । अमरीका, जापान और यूरोप के अधिकांश प्रगत राष्ट्रों की यही हालत है । सब देशों की पतित स्त्रियों का समग्र रूप से विचार करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि गणिकावृत्ति प्रधानत: एक आर्थिक समस्या है जिसका जन्म गरीबी, अपर्याप्त आय और व्यापार-उद्योग की मंदी से होता है । संसार की आर्थिक व्यवस्था यदि अधिक उच्च स्तर की, अधिक समानतापूर्ण और अधिक न्याय संमत हो जाय, तो गणिकावृत्ति का सबसे महत्वपूर्ण मूल कारण भी संपूर्ण नष्ट नहीं तो अत्यंत कमजोर और महत्वहीन अवश्य हो जायगा ।

आर्थिक दुर्दशा गणिकावृत्ति का सबसे महत्वपूर्ण और सर्वमान्य कारण है यह तो सत्य है । परंतु इस नियम के भी कुछ अपवाद हैं । पश्चिम के एक लेखक ने ४६२ गणिकाओं की स्थिति का गहन और विस्तृत अध्ययन किया । उनमें से केवल एक स्त्री ने आर्थिक निराधारता को अपनी पतित दशा का कारण गिनाया । पतिताओं को अपना जीवन सुधारने का अवसर देने के लिए आश्रय स्थानों (Rescue homes) की स्थापना सभी प्रगतिशील देशों में की जाती है जिनमें पतिताओं को आर्थिक सुरक्षा और अन्य किसी रोजगार में प्रवृत्त होने की सुविधाएँ दी जाती हैं । परंतु देखा यही जाता है कि ऐसे स्थानों में आश्रय लेने को बहुत ही कम स्त्रियाँ तत्पर होती हैं । यद्यपि इस परिस्थिति के लिए अधिकांश तो इन आश्रयस्थानों की व्यवस्था और वातावरण ही जिम्मेदार होते हैं । परंतु पतित अवस्था से छुटकारा चाहने वाली स्त्रियों की इन आश्रयस्थानों में रहने की अनिच्छा या कुछ दिन रहने के बाद छोड़कर चले जाने की तत्परता केवल आर्थिक मजबूरी को गणिकावृत्ति का एकमात्र कारण मानने से हमें रोकती हैं । गणिकावृत्ति ने कालक्रम से एक व्यवसाय का रूप प्राप्त कर लिया है जिसकी अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था है । यह व्यवस्था इस वृत्ति



को स्वीकार करनेवाली स्त्रियों के लिए अन्य उद्योगों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभकारी होने के कारण, एक बार अपना लेने पर इसे छोड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम होती है । दरिद्रता से जूझने का एक प्रभावी साधन उपलब्ध कर देने वाले इस व्यवसाय को न छोड़ने का कारण सरलता से समझ में आ सकता है । अन्नवस्त्र की सुविधा के सिवा और सब बातों में पहले जैसी ही भयानक दरिद्रता का अनुभव कराने वाले और कदम-कदम पर नियमों के बंधन में जकड़ने वाले आश्रयस्थानों की अपेक्षा धन और स्वातंत्र्य प्राप्त कर देने वाली गणिकावृत्ति ही यदि अधिकांश स्त्रियों को आकर्षक लगे, तो आश्चर्य किस बात का ?

४

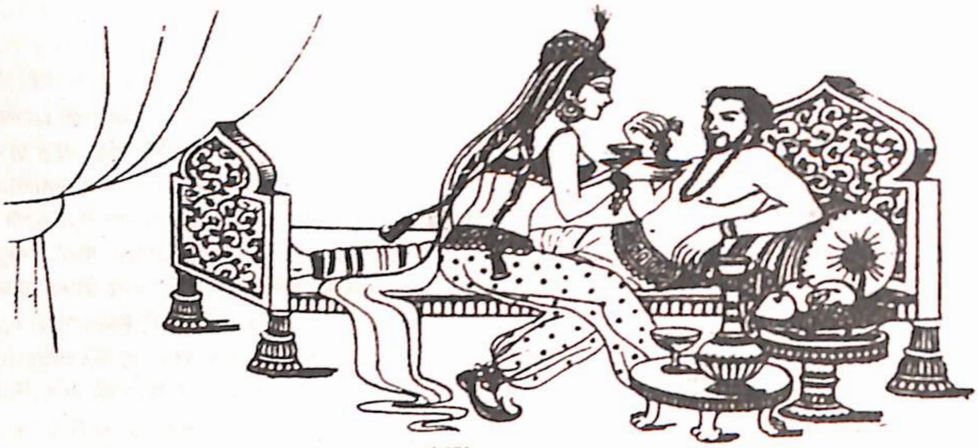
जन्मजात प्रवृत्ति की संभावना

इस प्रकार आर्थिक परिस्थिति को गणिकावृत्ति का एक अति महत्त्वपूर्ण कारण तो माना जा सकता है परंतु उसे एकमात्र कारण मान लेने की भूल नहीं होनी चाहिये । अनेक बार यह भी देखा जाता है कि गणिकावृत्ति के मूल जन्मजात प्रवृत्तियों या संस्कारों में उलझे रहते हैं । वासना की अतिशयता आनुवंशिक प्रवृत्ति भी हो सकती है । पूर्वजों के किन गुणदोषों की परंपरा मनुष्य को जन्म से ही विरासत में मिलती है, यह एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है । उत्तराधिकार का संबंध केवल संपत्ति से ही नहीं होता । मनुष्य के गुण-अवगुण, रोग-आरोग्य, सौंदर्य-कुरूपता आदि अन्य अनेक बातों में भी पूर्वजों से प्राप्त दायभाग अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है । एक परिवार, एक प्रजा या एक राष्ट्र के लोगों में जैसे बाह्य रूपरंग की समानता होती है वैसे ही मानसिक गुण-अवगुणों की समानता भी परिवार, प्रजा या राष्ट्र की इकाइयों में पाई जाती है । इससे यही सिद्ध होता है कि जन्मजात प्रवृत्ति या आनुवंशिक संस्कार की बात नितांत हास्यास्पद नहीं है ।

गणिकावृत्ति को समाज ने आरंभ से ही पतित और अप्रतिष्ठित माना है । हीनता और अप्रतिष्ठा से कलंकित इस संस्था में स्वेच्छा से या परिस्थिति वश प्रवेश करने के लिए पराकाष्ठा के धैर्य या पराकाष्ठा की बेशरमी का समर्थन आवश्यक होता है । स्वाभाविक संस्कार या जन्मजात प्रवृत्ति भी इस धैर्य या बेशरमी की दिशा में मनुष्य को धकेल सकते हैं । साथ ही, यह भी सत्य है कि शिक्षा, वातावरण और अन्य बहुत से संयोग जन्मजात प्रवृत्तियों के प्रभाव को अत्यंत सीमित कर देते हैं ।

अपने देश में बाल अपराधी हैं, अपराधी परिवार हैं और जरायमपेशा जातियाँ भी पाई जाती हैं । अपराध की व्यापकता पूरे परिवार या पूरी जाति में पाई जाय तो उसे जन्मजात प्रवृत्ति ही मानना पड़ेगा । गणिका जीवन की निर्लज्जता का जानबूझ कर स्वीकार करने वाली स्त्रियों में ऐसी कोई जन्मजात प्रवृत्ति तो प्रेरणारूप नहीं होती होगी ? क्या उनके स्वाभाविक संस्कार ही ऐसे ही हो सकते हैं जो उन्हें गणिकावृत्ति की ओर आकर्षित करते हों ? गणिकाओं के जीवनवृत्तांत का अध्ययन करने वाले निरीक्षकों ने उनमें दो लक्षण सामान्यरूप से पाये हैं जो इस संबंध में मार्गदर्शक हो सकते हैं । एक तो दर-दर भटकते रहने की साहस वृत्ति और दूसरा, किसी भी प्रकार की व्यवस्था, अंकुश या नियम के प्रति अश्रद्धा ।

कुछ विचारकों के मतानुसार गणिकावृत्ति पौरुष अपराधवृत्ति का स्त्रियों में पाया जाने वाल प्रतिरूप मात्र है । अपराध का स्त्रीसुलभ आविर्भाव ही गणिकावृत्ति के रूप में प्रकट होता है । यदि किसी परिवार में भाई अपराध करने में प्रवृत्त हों, तो बहनें गणिकावृत्ति में प्रवृत्त पाई जाती हैं । मनुष्य के दोष के दो पहलू हैं । पुरुषों के पक्ष में वेश्यावृत्ति का । गणिकाजीवन के साथ नैतिक निर्लज्जता के उपरांत हृदय की कठोरता, असत्य, छलकपट, उत्तरदायित्व का अभाव, आलस्य, विलासप्रियता, लोभ, शर्म या हया का खुले आम भंग और दंगाफसाद जैसे दुगुर्ण भी अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं । शराब तो गणिकागृह की प्रथम आवश्यकता मानी जाती है । शराब और स्त्री (wine and woman) को एक साथ रखनेवाली अंगरेजी कहावत में भी यही संकेत है । गणिकाएँ अकसर शराब के व्यसन में आकंठ डूबी हुई पाई जाती हैं । शराब का नशा यौन वासना को अति जाग्रत् और उग्र बनाता है यह मानी हुई बात है । शराबी को भलेबुरे का ज्ञान नहीं रहता और अनेकबार वह नशे की हालत में अपराध कर बैठता है । इस प्रकार गणिका, सुरा और अपराध परस्पर अभिन्न रूप से संकलित हैं । अनेक अपराधों की जड़ में कहीं न कहीं स्त्री निमित्त रूप होती है, (Cherchez la femme—A woman at bottom) यह सिद्धांत भी गणिकावृत्ति जैसी स्त्रीप्रधान संस्था का विचार करते समय भुलाया नहीं जा सकता ।



गणिकागृहों और वेश्यालयों को केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से ही भयस्थान नहीं माना जाता । अक्सर उनमें धन और जीवन की सुरक्षा को भी खतरा होता है । अदालतों तक पहुँचने वाले किस्सों में इस बुराई की व्यापकता का सही प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता क्योंकि अधिकांश मामलों में व्यवस्थापक पुलिसतंत्र गणिकागृहों की ओर से आँख और कान दोनों बंद कर लेता है और इन अपराधों के जरिये अपनी सीमित आय में कुछ वृद्धि करने का प्रयत्न करता है । इस बात पर विश्वास ही नहीं हो सकता कि जुआ, शराब, बेशर्मी, धोखाधड़ी, लूटखसोट, दलाली और गुंडागिरी के वातावरण से व्याप्त इन वेश्यालयों का अपराध से कोई संबंध न हो । इसमें भी कोई शक नहीं कि इस वातावरण को राजीखुशी से स्वीकार करने वाली स्त्रियों में स्त्री की स्वाभाविकता अत्यंत विकृत और बेडोल रूप धारण करके किसी जन्मजात कुप्रवृत्ति का ही दर्शन कराती रहती है । गणिका मात्र में अपराधवृत्ति व्यापकता से या बिना अपवाद के पाई जाती है यह कहने का आशय नहीं । परंतु यह तो मानना होगा कि गणिकाओं में अपराधवृत्ति या वासना के अतिरेक का प्रमाण औसत से बहुत अधिक होना चाहिये ।

अधिकतर गणिकाओं की भरती किन जातियों में से होती है, इसका विचार करने से भी गणिकावृत्ति की जन्मजात प्रवृत्ति का कुछ अधिक विवेचन हो सकता है । अकसर यही देखा गया है कि गणिकाओं की संख्या में वृद्धि दो प्रकार के परिवारों से होती है या तो अत्यंत दरिद्र या अपराधवृत्तिवाले । अपराधवृत्ति और गणिकावृत्ति का संबंध अत्यंत घनिष्ट है और गणिकाओं की काफी बड़ी संख्या जन्मजात अपराधवृत्ति या जन्मजात अमर्यादित वासना के कारण ही इस पेशे की ओर आकर्षित होती हैं । परंतु केवल इसी कारण से गणिकामात्र को या उनके बहुत बड़े भाग को आजन्म अपराधी मान लेना उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा ।

अपराध की व्याख्या क्या है ? प्रचलित मान्यता के अनुसार समाजहित या समाजव्यवस्था के विरुद्ध किए गये अनुत्पादक कार्य ही अपराध की सीमा में आते हैं । परंतु इस दृष्टि से विचार किया जाय तो धनिक वर्ग, बड़े-बड़े व्यापारी, जमींदार, अमीर, सेठ-साहूकार या भारत के राजा-महाराजा और उनके सगे-संबंधी कुछ भी उत्पादक कार्य करते हों ऐसा दिखाई नहीं देता । समाज विरोधी कार्यों की कितनी अनिष्ट

और व्यापक परंपरा का ये लोग निर्माण करते हैं — इसका भी सही-सही अंदाज़ लगाना मुश्किल है क्योंकि इनके अधिकांश अपराध तो पकड़ाई में ही नहीं आते और जो पकड़े जाते हैं उन्हें न्यायालय में प्रमाणित करना प्राय: असंभव होता है । परंतु जो अपराध प्रमाणित नहीं हो सकता, वह हुआ ही नहीं यह कहना इन निरुपयोगी और खोखले वर्गों के प्रति निरर्थक दया प्रदर्शित करना है । धनिकों द्वारा पोषित गणिकाएँ धनिक वर्गों से भी अधिक अनुत्पादक या समाजद्रोही हैं — यह कैसे कहा जा सकता है ? समाज में ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जो प्रतिष्ठित तो माने जाते हैं परंतु उत्पादकता की कसौटी पर कसें तो उनका स्थान गणिकावृत्ति के समकक्ष ही होगा ।

पूँजीवादी समाजरचना में प्रत्येक व्यवसाय केवल लेनदेन का एक हृदयहीन व्यवहार बन जाता है । दुश्मनी के दरवाजे पर खड़े हुए हिटलर के जर्मनी को युद्ध की घोषणा के दिन तक ब्रिटेन से अनेक प्रकार की सहायता मिलती रही । उधर अमरीका का जापान के साथ यही बर्ताव रहा । इससे प्रमाणित होता है कि अर्थप्रधान व्यवस्था में धन के सिवा और कोई व्यवहार या स्वार्थ के सिवा और कोई दोस्ती संभव नहीं । मित्र समझ कर लाखों, करोड़ों का माल बेचने वाला पूँजीवादी एक क्षण में मित्र को दुश्मन मानकर उसका गला काटने को प्रवृत्त हो सकता है । हृदयहीनता और भावशून्यता पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद है । आदर्श और विश्वप्रेम का प्रचार करना या पीड़ितों की सेवा का ढोल पीटना संसार की आँखों में धूल झोंकने का पाखंड मात्र है । "राजा किसी का मित्र नहीं होता" इस कहावत में पूरी वर्तमान साम्राज्यवादी राजनीति की व्याख्या समाई हुई है । प्रजा के जानोमाल की रक्षा करने या प्रजा को उन्नति के मार्ग पर ले जाने के बहाने भयानक युद्धों की परंपरा को जन्म देने वाली राजसत्ता को और उसका समर्थन करने वाली समाज रचना को चुपचाप मान्य कर लेने वाले लोग ही गणिका की हृदयहीनता पर कठोर टीका-टिप्पणी करें —यह बिलकुल न्यायसंगत नहीं । अनेकबार राजकीय नेताओं और सरकारी कर्मचारियों को यह कहते हुए सुना जाता है कि "सरकार तो एक भावशून्य यन्त्र है ।" भावशून्यता को इतनी निर्लज्जता से स्वीकार करने में गणिका संस्था राज्यसंस्था की होड़ शायद ही कर सके ।

गणिकाओं के पूरे वर्ग को हृदयहीन मान लेना भी उचित नहीं । यह एक अत्यंत विचित्र और सूचक सत्य है कि अधिकांश गणिकाओं का किसी एक व्यक्ति के साथ विशेष प्रेमसंबंध अवश्य होता है कि जिसमें आर्थिक हिसाब किताब का लवलेश भी नहीं पाया जाता । इस संबंध में विशुद्ध प्रेम के सभी तत्त्व पाये जाते हैं । पश्चिम की गणिका संस्था में भी अपने मोहक व्यवहार से गणिका के हृदय को जीत लेने वाले आकर्षक किशोरों और अपने पौरुष या शान शौकत से गणिका को परास्त करके उस पर निरंकुश अधिकार प्राप्त कर लेने वाले मनचढ़े छैलाओं (Play boy or Fancy boy) का वर्ग पाया जाता है जो इस नितांत अर्थप्रधान व्यवस्था में मानवता और भावप्रवणता की क्षणिक झलक दिखा जाता है । गणिका और उसके प्रेमी के बीच का व्यवहार किसी भी प्रेमी युगल के लिए आदर्शरूप हो सके इतना निश्छल और उत्कट होता है । यह परिस्थिति इसी बात का निर्देश करती है कि गणिकाएँ वासनापूर्ति की नितांत भावशून्य या हृदयहीन यांत्रिक पुतलियाँ ही नहीं होतीं । उनका व्यवसाय ही ऐसा है जिसमें निर्वाचन या पसंदगी का क्षेत्र अत्यंत मर्यादित होता है । चाहे जिस पुरुष के साथ सहशयन के प्रसंग तो गणिकाजीवन की सामान्य दिनचर्या बन जाते हैं । अत : गणिकाओं के व्यवहार में एक प्रकार की उदासीनता, बेरुखी, निर्जीवता, भावशून्यता या नकली भावप्रदर्शन के पीछे से झाँकती हुई जुगुप्सा के दर्शन हों तो कोई आश्चर्य नहीं । सामान्य प्रतिष्ठित जीवन में भी विलास की अतिशयता कुछ ही दिनों में स्त्री-पुरुष दोनों को तिरस्करणीय और जुगुप्साजनक लगने लगती है यह एक सर्वमान्य अनुभव है

हमने देखा कि गणिका संस्था के अस्तित्व की जड़ में जैसे दरिद्रता एक प्रधान कारण है वैसे ही वासना की अतिशयता भी कारणरूप है । अपराधवृत्ति से भी उसे प्रेरणा मिलती है। सामाजिक कारण भी



उसके निमित्त हो सकते हैं । हिंदू विधवा इसका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है ।

गणिकाओं को एक ओर यदि अपराधी वर्ग के समकक्ष माना जाता है, तो दूसरी ओर उनकी तुलना मानसिक कमजोरी वाले वर्ग के साथ की जाती है । मानसिक दुर्बलता या शिथिलता से लगाकर पागलपन की सीमा तक पहुँच जाने वाले रोगियों की नैतिक भावना बहुत स्पष्ट या कठोर नहीं हो सकती यह तो माना । तथापि एक वर्ग की हैसियत से गणिकाओं को इन मरीजों की श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा । वैयक्तिक रूप से कुछ गणिकाओं में मानसिक त्रुटि पाई जाय, यह संभव है ; परंतु पूरे वर्ग के अस्तित्व को दुर्बल मानस के परिणामरूप मानने के लिए पर्याप्त कारण हमारे पास नहीं हैं । अधिकांश गणिकाएँ तो बहुत ही दक्ष और व्यवहार-कुशल मानस का परिचय देती हैं । गणिकाजीवन की अप्रतिष्ठा को सहन करने में प्रदर्शित धैर्य मानसिक दुर्बलता का नहीं बल्कि मानसिक दृढ़ता का ही प्रतीक माना जायगा ।

अब हम दरिद्रता और जन्मजात प्रवृत्ति के उपरांत गणिकावृत्ति के अन्य सामाजिक कारणों पर विचार करेंगे ।

५
अन्य सामाजिक कारण

यदि हम सामाजिक परिस्थितियों की गहराई में उतर कर देखें तो गणिकावृत्ति के अस्तित्व में हमें हमारा पोषण करने वाली संस्कृति का योगदान भी दिखाई देगा । हॅवलॉक एलिस जैसा समर्थ यौन विज्ञान वेत्ता गणिकावृत्ति को 'संस्कृति का स्वाभाविक फल' मानता है । तात्पर्य यह कि वर्तमान संस्कृति का स्वरूप ही ऐसा है कि गणिका संस्था का उद्भव इसका एक अनिवार्य परिणाम माना जा सकता है ।

वर्तमान यूरोपीय संस्कृति अधिकांश में नगर-संस्कृति है । हम भी उसी के पदचिन्हों पर चले । यदि न चले हों तो भी गणिकावृत्ति शहरी जीवन का ही प्रतिबिंब या प्रतिध्वनि है । ग्रामजीवन गणिकावृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करता । ग्राम जीवन में पाई जाने वाली यौन संबंधों की शिथिलता या व्यभिचार अलग बात है । उसकी गणना गणिकावृत्ति के अंतर्गत नहीं की जा सकती ।

शहर का जीवन बाह्य दृष्टि से बड़ा शोखीभरा और चमक दमक वाला लगता है । परंतु उसमें ग्रामजीवन का सा अवकाश या उन्मुक्तता नहीं होती । शहर के दफ्तरों और कारखानों में काम का समय निश्चित होता है । दफ्तरों और कारखानों में समय से पहुँचने की दौड़धूप शहरी जीवन का एक अनिवार्य लक्षण है । कम वेतन वालों को घर संबंधी भी बहुत से काम करने पड़ते हैं । खरीददारी के लिए बाजार जाना पड़ता है और बीमारों की तीमारदारी भी करनी पड़ती है । उच्चस्थिति वालों की जिम्मेदारियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं । डाक पढ़ना, भेंट-मुलाकात का आदान-प्रदान, चायपार्टी या डिनर का इंतजाम करना, दफ्तर या कारखाने में जाकर काम करने वालें पर निगरानी रखना, सगेसंबंधी, यार दोस्त या मित्रों की पत्नियों के साथ घूमना फिरना, क्लब, नाटक सिनेमा आदि मनोरंजन के स्थानों में उपस्थित रहना, नेताओं का स्वागत करने के लिए सभाओं में व्याख्यान झाड़ना इत्यादि अनेक आवश्यक-अनावश्यक काम उन्हें भी हर समय व्यस्त रखते हैं । गरीबों की संख्या बहुत अधिक होती है और धनिकों की कम । इतना ही अंतर है । अन्य बातों में नगरसंस्कृति में इन दोनों वर्गके लोगों का जीवन समान रूप से यांत्रिक, उतावलीभरा, दौड़धूप से युक्त, हारा, थका, असंतुष्ट, क्षुब्ध, नीरस और ऊबा देने वाला होता है ।

एक मद अवश्य होता है । धनवान लोग शहरों में सपरिवार रह सकते हैं और उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं । परंतु धन कमाने के लिए शहरों में आने वाले अकिंचन या तो पत्नी को अपने साथ ला नहीं सकते और यदि हिम्मत करके ले आते हैं तो मानो अपने गले में एक जंजाल बाँध लेते हैं । छोटी छोटी कोठरियाँ, असह्य महँगाई, सुख सुविधा के साधनों का अभाव, कठोर परिश्रम और स्थायी असंतोष पति-पत्नी, दोनों को दुखी, उदासीन, क्षुब्ध और असहिष्णु बना देते हैं । सदा शिकायत भरा स्वर पत्नी के प्रियतमा बनने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन जाता है । इस कारण से अधिकांश पुरुष पत्नियों को गाँव में छोड़कर ही शहर में धन कमाने आते हैं । उन्हें या तो गृहस्थी की पूरी जंजार बहोर कर अपनेहाथों भोजन बनाना पड़ता है या ढाबों-होटलों की "घर के समान सुख सुविधा" का आश्रय लेना पड़ता है । दोनों श्रेणी के पुरुषों को कोठरियों का सुविधाहीन एकांत अत्यंत अस्वस्थ और आनंद का भूखा बना देता है । इस प्रकार के विरही पुरुषों का मन, कालक्रम से, पत्नी या उसका स्थान ले सकने वाली प्रियतमा के लिए तरसता है ।

एक दार्शनिक से किसी ज्ञानपिपासु ने प्रश्न किया, "विवाह करना चाहिये या नहीं ?" दार्शनिक ने उत्तर दिया, "करोगे तो भी पछताओगे और नहीं करोगे तो भी ।" गुजराती की एक कहावत विवाह की तुलना लक्कड़ के लड्डू के साथ करती है जिसे खाने वाले और न खाने वाले — दोनों को पश्चात्ताप होता है । यह कोरी कल्पना नहीं, बल्कि एक ठोस सत्य है । फिर भी अधिकांश लोगों को विवाह न करके लंबी साँसें भरने की अपेक्षा विवाह करके सिर पीटना अधिक पसंद आता है । परंतु वर्तमान युग में पश्चिम की तरह हमारे यहाँ भी एक वर्ग का अस्तित्व धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से दिखाई देने लगा है जो या तो विवाह करना ही नहीं चाहता या उसे अनिश्चित काल तक टालना चाहता है ; और विवाह द्वारा प्राप्त वासनातृप्ति का आनंद विवाह किये बिना ही प्राप्त करना चाहता है ।

नाटक-सिनेमाओं के उत्तान शृंगारिक दृश्य या नृत्य, उत्तेजक कथा-उपन्यास, अखबारों में प्रसिद्ध होने वाले अनाचार के चटकीले किस्से, यौन विषयों का छिपे छिपे अध्ययन, समवयस्क युवक-युवतियों की सांकेतिक बातचीत, स्त्री-पुरुष का सुगम मेलजोल और दूसरों के प्रेमसंबंधों की कुत्सित निंदा इत्यादि शहरी जीवन के तत्त्व स्वाभाविक वासना को कदम-कदम पर भड़काते रहते हैं । हमारी नगर संस्कृति का यह पहलू भी गणिकाओं की संख्या बढ़ाने में कारणरूप है । नगर संस्कृति के ऐशो-आराम और बाह्य तड़क-भड़क गणिका के आकर्षक रंगरूप में मानों साकार हो उठते हैं । इसी कारण, बिना घरबार के या घर से ऊबे हुए, या रोज की एकतानता में कुछ विविधता चाहने वाले, गरीब या अमीर — सभी वर्गों के सैलानी नागरिकों की दृष्टि गणिकाओं की ओर सदा आकर्षित रहती है ।

नगर के धनवानों की स्त्रियाँ अकसर आलस्य और साजसिंगार में ही अपना समय व्यतीत करती हैं । इस मौज-शौक, ऐशो-आराम और बनाव सिंगार का प्रभाव दूसरे वर्गों की स्त्रियों पर भी पड़ता है और धीरे-धीरे शहरों का पूरा वातावरण इस नकली शानशौकत और तड़क-भड़क से भर जाता है । इस अनिष्ट प्रभाव के कारण सरलता और स्निग्धता भरा निश्छल स्त्री हृदय धीरे-धीरे आडंबर प्रिय होने लगता है । स्त्रियों की निंदा करना हमारा हेतु नहीं है । परंतु इतना तो मानना होगा कि इस आडंबर प्रियता से ही स्त्री हृदय में एक प्रकार की कभी न बुझने वाली तृष्णा और गहरी अश्रद्धा का जन्म होता है जिसके फल-स्वरूप, अनुकूल परिस्थिति में गणिकावृत्ति की ओर पाँव फिसल सकता है । दफ्तरों में काम करने वाली लड़कियाँ, अस्पतालों की परिचारिकाएँ, शिक्षिकाएँ, सिनेमा की नटियाँ या कॉलेज में पढ़ने वाली युवतियाँ आदि स्वतंत्रता से घूम फिर सकने वाली स्त्रियों के लिए यह शहरी संस्कार अनियमित यौन संबंधों का मार्ग सुलभ कर देते हैं । विवाह या यौन संबंधों के विषय में प्रचलित अति नवीन विचारधाराएँ भी इस सुलभता की सहायक बनकर इन स्वतंत्रता प्राप्त स्त्रियों को गणिकावृत्ति की ओर ही खींचती हैं । नगर-

संस्कृति का यह अर्धदग्ध वर्ग संस्कृति और सभ्यता का ठेकेदार माना जाता है, यह देखते हुए गणिकावृत्ति को अपराधवृत्ति का ही स्त्रीसुलभ प्रतिरूप मानने वालों की विचारधारा केवल अर्धसत्य प्रमाणित होती है । इस प्रकार की गणिकावृत्ति में आर्थिक मजबूरी भी सर्वदा दिखाई नहीं देती । वर्तमान संस्कृति के इस हलाहल को एक लेखक ने "उन्मादक और दुर्निवार वासना के तांडव को तृप्त करने की प्रबल आवेगमय भावना तथा नित्य जीवन को ऊबा देने वाले श्रम, नीरस आचार विचार और डरपोक आदर्शों के विरुद्ध देह का प्रचंड विद्रोह" माना है ।

गणिकावृत्ति का यह सभ्यता के आवरण में छिपा हुआ रूप हमारी वर्तम्न जीवन-व्यवस्था की निष्फलता घोषित करता है । गणिका को, गणिकावृत्ति को या गणिका संस्था को दोष देने का काम बहुत सरल है । परंतु जब-जब हम यह सुनें, देखें या पढ़ें कि सुसंस्कृत सभ्य, शिष्ट और समाज का नेतृत्व करने का दावा करने वाले स्त्री-पुरुष भी गणिका संस्था के संसर्ग से नितांत अछूते नहीं होते, तब हमें एक क्षण के लिए रुक जाना चाहिये और गणिका संस्था की निंदा करने के बजाय यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि कहीं यह संस्था हमारे तथाकथित प्रगत समाज की किसी त्रुटि की पूर्ति तो नहीं करती ?

गणिका जीवन का अध्ययन करने वाले विद्वान् निम्नलिखित बातों पर प्रायः सहमत होते हैं :—

१. वेश्यागामी पुरुषों का बहुत बड़ा भाग विवाहित होता है । लंडन शहर की उच्च श्रेणी की वेश्याओं का पोषण अकसर विवाहित धनवान ही करते हैं ।

२. विवाहित जीवन से असंतुष्ट पुरुष ही नहीं बल्कि सुखमय विवाहित जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष भी विविधता या नवीनता की खातिर वेश्यागमन करते हैं ।

३. अमर्याद रसक्रीड़ा, अकल्प्य विलास और वासनातृप्ति के विकृत मार्ग जैसी वर्तमान संस्कृति की अनारोग्य प्रवृत्तियाँ प्रतिष्ठित और मर्यादापूर्ण घरेलू वातावरण में संतुष्ट न हो सकने के कारण भी गणिकागमन किया जाता है ।

वर्तमान संस्कृति में सभ्यता का ढोंग और प्रतिष्ठा का आडंबर जीवन के सब क्षेत्रों में फैला हुआ है । इसके कारण जीवन में सुस्ती, ऊबा देने वाली यांत्रिक नियमितता और अनेकविध उलझनें प्रवेश करती हैं । इनसे बचने का, आनंद का अमर्याद उपभोग करने का और शिष्टता के बंधनों को तोड़कर जीवन की स्वाभाविक मस्ती अनुभव करने का सरल और स्थायी-उत्तरदायित्वहीन साधन केवल गणिका संस्था द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है । थोड़ा सा धन और अपने आचरण को छिपा सकने का थोड़ा सा कौशल सभ्य पुरुषों को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखते हुए विलासतृष्णा की तृप्ति का सरल मार्ग उपलब्ध कर देते हैं ।



६
कारणों का वर्गीकरण

हमने देखा कि पश्चिम की और अपने देश की गणिका संस्थाएँ कुछ बातों में भिन्न होने पर भी, देहविक्रय का मूलतत्व दोनों में समान रूप से पाया जाता है। अपने यहाँ इस संस्था का विस्तृत अध्ययन या अवलोकन नहीं हो सका है। हमारी अतिशिष्टता इस अध्ययन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा डालती है। सामाजिक विषयों का शास्त्रीय अध्ययन करते समय हमारे प्राचीन पूर्वजों में या आज के पश्चिम के देशों में जिस प्रकार की वैज्ञानिक तटस्थता के दर्शन होते हैं उस प्रकार की दृष्टि वर्तमान भारत में पर्याप्त रूप से विकसित हो सकी है या नहीं, यह शंका का विषय है। गणिका संस्था जैसे विषयों का अध्ययन या अवलोकन करनेवालों को अब भी लोगों की टीका, कटाक्ष, अभियोग या निंदा सहन करनी पड़ती है। साथ ही, इस प्रकार का अध्ययन भय से मुक्त भी नहीं। अत: इस विषय की जितनी जानकारी, इतिहास या अध्ययन-सामग्री पश्चिम के देशों में मिलना संभव है, उतना अपने यहाँ नहीं। इसलिए, दोनों प्रदेशों की संस्थाओं में भिन्नता होने पर भी, पश्चिम में उपलब्ध संख्याओं के आधार पर ही हम बहुत से प्रश्नों को समझ पायेंगे।

डॉ. विलियम सैंगर ने कई वर्ष पहले अमरीका के प्रमुख औद्योगिक और व्यापारी नगर न्यूयॉर्क की पतिताओं के संबंध में अत्यंत उपयोगी जानकारी प्रसिद्ध की थी। अध्ययन के लिए उन्होंने दो हजार गणिकाओं को चुना और उनसे प्रश्न किए गये कि उन्होंने इस पतित वृत्ति का स्वीकार किन कारणों से किया। डॉ. सैंगर को प्राप्त उत्तर गणिकावृत्ति के मूल कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। दो हजार उत्तरों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

१. निराधारता या आर्थिक मजबूरी ५२५
२. इस व्यवसाय के प्रति आकर्षण या आंतरिक प्रवृत्ति ५१३
३. फुसलाई जाकर त्याग दिये जाने के कारण २५८
४. शराब का व्यसन १८१
५. माता-पिता, पति या अन्य संबंधियों की ओर से असह्य कष्ट एवं निर्दय बर्ताव १६४
६. गणिका जीवन में प्राप्त ऐशो-आराम का मोह १२४
७. कुसंग ८४
८. अन्य गणिकाओं की प्रेरणा या आग्रह ७१
९. बलात्कार ५१
१०. आलस्य या श्रम करने की शक्ति का अभाव २९

२०००

हम देख सकते हैं कि निराधारता या गरीबी के कारण गणिकावृत्ति को स्वीकार करनेवाली स्त्रियों की संख्या ही सबसे अधिक है। परंतु अचरज की बात यह है कि इस संख्या से मिलती जुलती और संपूर्ण अध्ययन की चौथाई से भी अधिक संख्या की गणिकाएँ (दो हजार में से ५१३) इस व्यवसाय के प्रति आंतरिक आकर्षण को कारण रूप गिनाती हैं। स्त्रियों की इतनी बड़ी संख्या गणिकावृत्ति की ओर सचमुच ही स्वाभाविक प्रवृत्ति या स्वेच्छा से आकृष्ट होती हो, तो इस स्थिति को अत्यंत अनिष्ट, लज्जास्पद और प्रक्षोभक मानना होगा। प्रस्तुत कारणों में से कई कारण एक साथ भी उपस्थित हो सकते हैं। गणिकावृत्ति

को स्वीकार करने के कारण यदि एकाधिक हों, तो उत्तर देनेवाली स्त्री उनकी तुलना या चिकित्सा न करते हुए, जो कारण मुख्य लगा, वही गिना देती है । यह सारे कारण न्यूनाधिक अंश में गणिका संस्था की उत्पत्ति में सहायक होते हैं । गणिका संस्था के विरोधियों या सुधारकों को इन संख्याओं में से संस्था का व्यापक सुधार करने की उपयुक्त सामग्री मिल सकती है ।

कई बार यह भी देखा गया है कि अन्य बहुत से कारण आर्थिक कारण में समा जाते हैं । पेरिस में पाँच हजार पतिताओं का इसी प्रकार अवलोकन किया गया । गरीबी, मातापिता की मृत्यु से जनित निराधारता या किसी प्रेमी द्वारा फुसलाई जाकर त्याग दिया जाय, इन तीन कारणों में से प्रत्येक के अंतर्गत २५ प्रतिशत संख्या का समावेश हुआ । ये तीनों कारण आर्थिक कारण के ही पर्याय हैं । इस प्रकार ७५ प्रतिशत संख्या आर्थिक कारण के अंतर्गत आ गई । ब्रसेल्स के अवलोकन में ५० प्रतिशत ने गरीबी और लगभग एक तिहाई भाग ने स्वेच्छा या वासना की उग्रता को कारण रूप गिनाया । लंडन की १५ हजार पतिताओं के एक अध्ययन में एक तिहाई संख्या ने "आनंद भरा जीवन बिताने का मोह" को कारण रूप गिनाया जबकि गरीबी से मजबूर होनेवालियों की संख्या सिर्फ पाँचवें भाग की थी । अमरीका में अनेक अध्ययनों के बाद यह निष्कर्ष निकला कि ४२ प्रतिशत पतिताएँ ऐशो-आरम, शानशौकत और आनंद प्रमोद के लोभ से गणिकावृत्ति की ओर आकर्षित हुई । इटली में दस हजार गणिकाओं का अवलोकन हुआ । अधिकांश ने स्वेच्छा या आंतरिक प्रवृत्ति को कारणरूप गिनाया । जार युग के रूस में भी अपर्याप्त आय प्रथम कारण और विलासवृत्ति दूसरा कारण प्रमाणित हुआ था । इस प्रकार, पश्चिम के देशों के नये-पुराने अध्ययनों के परिणाम मिलते-जुलते दिखाई देते हैं ।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में निम्नलिखित कारण गणिकावृत्ति के प्रधान कारण माने गये हैं :—

१. बेकारी ।

२. कठिन परिश्रम करने पर भी अपर्याप्त आय ।

३. घरों में स्त्रियों के प्रति किया जाने वाला क्रूर व्यवहार ।

४. दरिद्र बस्तियों में स्थान के अभाव से प्रकटरूप में होने वाला अमर्याद और अनियंत्रित यौन व्यवहार ।

५. बड़े-बड़े कारखानों और मज़दूर बस्तियों में मर्यादाहीन गुंडों के निर्लज्ज आचरण ।

६. धनिक वर्गों में दिखाई देने वाले भोगविलास, ऐशो-आराम और बदचलनी का अनुकरण ।

७. अनीति प्रेरक साहित्य या उत्तेजक चित्रों का प्रचार ।

८. अनीतिमय जीवनयापन करने वालों द्वारा फुसलाया जाना या उनके दलालों के जाल में फँस जाना ।

लीग ऑफ नेशन्स ने सन् १९३८ में अपने अध्ययनों का परिणाम प्रकाशित किया था । उसमें गणिका में प्रवेश करने के मुख्य कारण निम्नलिखित गिनाये गये थे :—

१. गरीबी और निराश्रयता । (लगभग एक तिहाई संख्या ने यह कारण गिनाया)

२. बेकारी ।

३. अनियमित आय ।

४. अपर्याप्त आय में कुछ वृद्धि करने के लिए ।

५. अपने आश्रितों का गुज़ारा करने के लिए । (आश्रितों में मुख्यतः माता-पिता, भाई-बहन और अपने बच्चों का समावेश होता है ।)

६. कुसंग । (कुट्टनियों द्वारा दिये गए प्रलोभन ।)

७. ऐशो आराम का जीवन बिताने की इच्छा ।

८. घर के लोगों का क्रूर बर्ताव और निर्दयता ।
९. किशोर अवस्था में किसी का नियंत्रण न रहने के कारण उत्पन्न उच्छृंखल वृत्ति ।
१०. कमजोर स्वास्थ्य के कारण काम करने की अक्षमता
११. प्रेम संबंध में प्राप्त निष्फलता ।
१२. स्वतंत्र रहने की इच्छा ।
१३. मानसिक दुर्बलता ।
१४. अतिशय भोगेच्छा ।

शराब का व्यसन भी गणिकावृत्त का एक कारण है । परंतु अधिकांश विचारक उसे मूल कारण नहीं मानते क्योंकि इस व्यसन से सर्वथा मुक्त समाजों में भी गणिकावृत्ति का विकास देखा जाता है ।

हम देख चुके हैं कि पूर्व के देशों में, विशेषकर भारत में तो अधिकतर गणिकाएँ गणिकाओं के खानदान में ही जन्म लेती हैं । कभी-कभी कम उम्र की, भगाई हुई लड़कियों को खरीदकर उन्हें गणिका बस की तालीम दी जाती है । गणिकागृहों में जन्म लेने वाली या भगाई हुई इन बालिकाओं के लिए भावी जीवन के निर्वाचन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । साथ ही, यह भी मानना होगा कि सभी गणिकाएँ जीवनभर इसी वृत्ति के सहारे नहीं रहतीं । यह तो सत्य है कि एकबार गणिकावृत्ति को स्वीकार करने के बाद उसमें से छूटना मुश्किल है; तथापि कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी दिखाई दे जाते हैं जिनमें गणिकाएँ अपने व्यवसाय को त्यागकर, किसी से विवाह करके घर-गृहस्थी बसा लेती हैं और अच्छी पत्नियाँ प्रमाणित होकर गृहस्थी के हर कर्त्तव्य का पालन करती हैं । ईसाई धर्म के इतिहास में एक ऐसा युग भी था जब पतिताओं का पत्नी रूप में स्वीकार करना धर्मपरायणता का लक्षण माना जाता था ।



देवार्पण की हुई लड़कियों में से विकसित गणिकाओं की संख्या अब दिन पर दिन घटती जा रही है । परंतु धर्म और गणिकावृत्ति का संबंध ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है । धर्म भी गणिकावृत्ति का कारण हो सकता है, यह बात सुनकर भी आश्चर्य होता है । इस विषय का विस्तृत अध्ययन आगे के किसी परिच्छेद में किया जायगा । यहाँ तो हम धर्म-हिन्दू धर्म-सनातन हिंदू धर्म की गणना भी गणिका वृत्ति के एक कारण के रूप में करके, एक आश्चर्यजनक पर सत्य घटना का उल्लेख मात्र कर रहे हैं,

हमने देखा कि गणिकावृत्ति एक अतिवैयक्तिक व्यापार-प्रकार है । परंतु उस की आड़ में स्त्री - विक्रय का एक सुव्यवस्थित व्यवसाय बड़े पैमाने पर चल रहा है जिसमें गणिकाओं के निजी प्रश्न या उनकी सुविधा-संमति का विचार भी प्रवेश नहीं करता । वर्तमान संस्कृति के इस सबसे बड़े लांछन और अनिष्ट को स्वीकार करते हुए, शर्म से हमारा सिर झुक जाता है । आर्थिक मजबूरी से या वासना की उग्रता को संतुष्ट करने के लिए गणिकावृत्ति का स्वीकार भी न्याय्य, इष्ट या शोभन तो नहीं माना जायगा । परंतु उसे शायद क्षम्य माना जा सकता है व कुछ परिस्थितियों में उसका बचाव भी किया जा सकता है । परंतु कम उम्र की बालिकाओं या युवतियों का क्रय-विक्रय करना, उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें देहोपभोग के लिए मजबूर करना, उन्हें जेलखाने जैसे कठोर नियंत्रण और कड़ी निगरानी में रखना, उनकी मरजी के खिलाफ उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, देह विक्रय से प्राप्त धन भी उनसे छीन लेना और रूपयौवन टिका रहे तब तक उनका शोषण करके अंत में उन्हें निराधार और करुण दशा में दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ देना, इत्यादि स्त्री-व्यापार के पाशविक व्यवहारों को सभ्य समाज कैसे बरदाश्त कर लेता है — कुछ समझ में नहीं आता । बात यहीं पर नहीं रुकती । यह व्यवसाय इतना व्यापक है कि इसकी व्यवस्था के अंतर्गत, स्त्रियों को बहका कर, धोखा देकर या अन्य युक्तिओं से अपने जाल में फँसाने वाले दलालों की टोलियाँ पाई जाती हैं । बड़े शहरों में इन टोलियों के नियंत्रण केन्द्र होते हैं जहाँ इनके चंगुल में फँसी हुई स्त्री हिल डुल भी न सके ऐसी व्यूहरचनाएँ की जाती हैं और व्यापार जोर शोर से चलता रहने पर अपराध के अंतर्गत न आए इसलिए राजकीय नेताओं, पुलिस अधिकारियों और हो सके तो न्यायाधीशों को भी रिश्वत देकर वश में रखने की योजनाएँ बनाई जाती हैं । यह सब खर्च करने के बाद भी इस धंधे से कल्पनातीत कमाई होती रहती है । संस्कृति की लंबी चौड़ी बातें और सभ्यता का दावा करने वाला समाज इन सब घृणित प्रकारों को चलने देता है और असहायता से देखता रहता है ।

गुलामी की प्रथा अनिष्ट थी, पर खुलेआम थी । एक मनुष्य दूसरे का स्वामी हो सकता था और उसे खुलेआम बेचकर धन कमा सकता था । पश्चिम की सभ्यता को इस व्यवहार से शर्म आई, यद्यपि इस प्रथा का अतिभयंकर और घृणित उपयोग भी पश्चिम ने ही किया था । इस प्रथा को नष्ट करने के सक्रिय प्रयत्न भी पश्चिमी संस्कृति द्वारा ही हुए । अमरीका में तो इस प्रश्न को लेकर आंतर विग्रह खड़ा हुआ । वर्तमान युग में, पश्चिम के विचारों से प्रभावित सभी प्रजाओं में मनुष्य फिर वह स्त्री हो या पुरुष — के क्रय विक्रय के विरुद्ध प्रवृत्ति पाई जाती है और सभी देशों में इसे दंडनीय अपराध मान लिया गया है ।

परंतु उसी पाश्चात्य संस्कृति के अंतर्गत, यौन वासना को संतुष्ट करने के व्यवसाय ने एक व्यापक, व्यवस्थित और निष्ठुर रूप धारण किया है जिसे "गुलाम गौरांगनाओं का व्यापार" (White Slave Traffic) के नाम से पहचाना जाता है । इससे यही भय होता है कि वर्तमान युग की पाश्चात्य गणिकावृत्ति में से गुलामी की प्रथा शायद फिर से सिर उठा रही है । इसे रोकने के प्रयत्न भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे हैं जिसमें सभी राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त है ।

विशाल साम्राज्यों, दूर-दूर बिखरे हुए उपनिवेशों और ताबेदार प्रदेशों पर शासन करने वाली प्रजाओं ने, पराजित देशों पर स्थायी पराधीनता लाद देने वाले राज्यों ने और प्रजा का शोषण करने वाले व्यवसायों में से समृद्धि और ऐशो आराम प्राप्त करने वाले राष्ट्रों ने व्यापार-व्यवहार को जगत्-व्यापी बनाया यह तो सही है । परंतु इस शोषण नीति से जन्म लेने वाले अन्य पातकों की गणना न करें, तो भी इतना तो मानना ही होगा कि जगत् व्यापी युद्धों की परंपरा और गौरांग स्त्रियों के एक वर्ग की जगत्-व्यापी गणिकावृत्ति : इन दो दुष्परिणामों का उद्भव भी इसी से हुआ ।

पश्चिम की श्रेष्ठत्व भावना (Superiority Complex) के दर्शन तो इस शब्दसमूह में भी हुए बिना नहीं रहते । "गुलाम गौरांगनाओं का व्यापार" या "White Slave Traffice" इन शब्दों में भी जोर "गौर अंग" पर दिया गया है, मानो काले और गोरे मनुष्य एक दूसरे से इतने भिन्न हों कि उनके

दास व्यापार का विचार करते समय भी उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित रखना आवश्यक हो । यह केवल कल्पना विलास या दोषदर्शन की वृत्ति से नहीं लिखा जा रहा । लिओ मार्कुन नामक लेखक स्पष्ट स्वीकार करता है कि इस शब्द समूह की रचना उसे अफ्रीका के काले गुलामों के व्यापार से भिन्न श्रेणी में रखने के लिए ही की गई है । (The contrast was with 'Trait des Noirs/—the African slave trade.) परंतु उच्च वर्ण की स्त्री के साथ नीच वर्ण के पुरुष के विवाह या व्यभिचार को अक्षम्य अपराध मानकर उच्च वर्ण के पुरुष के नीच वर्ण की स्त्री के साथ के संबंधों को क्षम्य या कम दंडनीय मानने वाले हमारे देश में श्रेष्ठत्व भाव के इस प्रदर्शन से आश्चर्यचकित होने की आवश्यकता नहीं ।

यह व्यापार एक अंतर्राष्ट्रीय अनिष्ट का रूप धारण कर चुका है । जहां-जहां गोरी प्रजा बसी हुई है, वहां उन गौरांग वेश्याओं के अड्डे भी स्थापित हो गये हैं । इस महाव्यापक व्यवसाय के विषय में विस्तृत विचार अन्यत्र किया जायगा । यहां तो गणिकावृत्ति के मूल कारणों के संदर्भ में गणिका संस्था के इस प्रकार का उल्लेख मात्र हुआ है । एक लेखक का अंदाज है कि अकेले न्यूयॉर्क शहर में इन गौरांगनाओं का व्यापार करने वाले दलालों की संख्या बीस हजार से कम नहीं । हो सकता है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो । तथापि उसमें से झांकता हुआ सत्य चौंका देने वाला है ।

७

पुनरावलोकन

अब तक के निष्कर्षों को दोहरायें तो :—

१. गणिकावृत्ति का आद्य लक्षण है देह विक्रय । विक्रय का अर्थ केवल धन का ही आदान प्रदान नहीं । कभी-कभी भेंट-सौगात या अन्य आह्लादक प्रलोभनों से भी क्रय हो सकता है ।

२. उसके आनुषंगिक लक्षण दो हैं :— (अ) अनेक पुरुषों के साथ देह संबंध जिसमें निर्वाचन का तत्त्व नहीं के बराबर हो ; और (आ) पूरे संबंध में स्नेह भावना का नितांत अभाव । (इसमें कुछ अपवाद हो सकते हैं) ।

३. इसका मुख्य कारण स्त्री-पुरुष की वासनातृप्ति की दुर्निवार्य इच्छा में पाया जाता है । उपरोक्त विशिष्ट लक्षणों के कारण यह विवाह, व्यभिचार, आदि वासनातृप्ति के अन्य प्रकारों से भिन्न है ।

४. पुरुष का आर्थिक नेतृत्व उसे खरीददार का और स्त्री की आर्थिक मजबूरी उसे क्रीत भोग्यवस्तु का स्थान देते हैं । परंतु इस व्यवहार में स्त्री की सर्वदा अनिच्छा ही होती है — यह नहीं कहा जा सकता ।

५. गणिका संस्था स्त्री-केन्द्रित है ; यद्यपि पश्चिम के देशों में इस व्यवसाय में पुरुष भी पाये जाते हैं ।

६. गणिकावृत्ति के प्रेरक कारण निम्नलिखित हैं :—
(अ) आर्थिक । (आ) सामाजिक । (इ) सांस्कृतिक । अधिकांश गणिकाओं का समावेश इन तीन विभागों में हो जाता है ; परंतु कभी कभी : (ई) जन्मजात, प्रवृत्ति, और (उ) स्त्रियों का व्यापार करने की हीन वृत्ति जिसमें से गुलाम गौरांगनाओं के व्यापार जैसी व्यापक योजनाएँ जन्म लेती हैं — इन दो कारणों को भी स्वतंत्र कारण माना जा सकता है ।

७. जन्मजात अपराधवृत्ति या मानसिक दुर्बलता को अधिकांश गणिकाओं के संदर्भ में प्रेरक कारण नहीं माना जा सकता यद्यपि यह सत्य है कि अनेक प्रकार के अपराधों का जाल इस संस्था के चारों ओर



सदा फैला रहता है ।

८. गणिकावृत्ति का पोषण और विकास नगर संस्कृति में ही संभव है ।

९. धर्म भी गणिकावृत्ति से मुक्त नहीं रह सकता । यही नहीं, कभी-कभी तो वह उसका कारण भी बना है ।

इन महत्वपूर्ण कारणों को समझने के लिए हमने अब तक के प्राथमिक अवलोकन में इस बात का भी दिग्दर्शन किया कि यह संस्था किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है ।

इस संस्था का नैतिक दृष्टि से बचाव या समर्थन करने के प्रयत्न भी हुए हैं । उन प्रयत्नों की ओर दृष्टि रखते हुए और प्राचीन संस्कृतिओं में गणिकासंस्था के उद्भव और अस्तित्व का विवेचन करते हुए अब हम उसके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करेंगे ।

परंतु इससे पहले उपर्युक्त निष्कर्षों का समर्थन करती हुई कुछ पतिताओं की स्वमुख से कही हुई कथनियाँ हम सुन लें ।



चौथा परिच्छेद
कुछ आत्म कहानियाँ
१
सामाजिक अवलोकन

गणिका जीवन के अनेक शास्त्रीय निरीक्षण और अध्ययन पश्चिम के देशों में हो चुके हैं । इस संस्था का महत्व फिर वह भला हो या बुरा, पर इतना अधिक है कि समाजशास्त्रियों और समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर गये बिना रह नहीं सकता । इस संस्था की व्यापकता, इसे निर्मूल करने के यत्न और इसे नियंत्रण में रखने की योजनाओं के कारण इसका धर्म प्रचारकों, सत्ताधारियों, न्यायाधीशों, वैद्य-डाक्टरों और पुलिस से निकट परिचय होता रहा है । समाज सुधारकों के हाथ में किसी प्रकार की सत्ता नहीं होती । वे केवल सहानुभूति से प्रेरित होकर ही गणिका जीवन के अंतरंग में झाँकने का प्रयत्न करते हैं । इन सब जरियों से अनेक बार गणिका जीवन संबंधी उपयुक्त जानकारी मिल जाती है ।

समाजशास्त्र के अभ्यासियों और समाज-सुधारकों के लिए गणिका संस्था का निकट परिचय एक भयानक खतरा भी सिद्ध हो सकता है । संभव है — संभव ही नहीं, अनेक प्रसंगों में ऐसा हो चुका है — कि पतिताओं का सुधार करने के लिए जानेवाला सुधारक, खुद ही इस संस्था का पोषक या शौकीन बन जाय या इसका परिचय चाहने वाला अध्येता इसके चंगुल में फंस कर खुद ही अध्ययन या चेतावनी का विषय बन जाय । यह मार्ग तलवार की धार जैसा है । सेवा का मरियल सा, उत्साहहीन शौक या नई जानकारी प्राप्त करने के कुतूहल मात्र को इस मार्ग पर चलने की पर्याप्त योग्यता नहीं कहा जा सकता । इस संस्था का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि वज्र जैसे दृढ निश्चय के अभाव में इसका स्पर्श करने वाले इसी के खप्पर की आहुति बन सकते हैं ।

यूरोप-अमरीका के कई डाक्टरों ने और मुक्तिफौज (Salvation Army) जैसी समाजसुधारक संस्थाओं ने इस विषय की अत्यंत उपयोगी जानकारी एकत्र की है । लीग ऑफ नेशन्स द्वारा प्रकाशित निष्कर्ष भी अत्यंत प्रामाणिक है । जिनका महत्व किसी सन्दर्भ ग्रंथ से कम नहीं । इन परिच्छेदों में गणिकावृत्ति के कारणों पर प्रकाश डालने वाली अधिकांश सामग्री यहीं से ली गई है ।

सिद्धांतों की स्थापना वैयक्तिक उदाहरणों के आधार पर ही की जा सकती है । सामाजिक प्रश्नों में तो व्यक्तिगत अनुभवों की छानबीन अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाएगी क्योंकि इसी के द्वारा कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त होने की संभावना होती है । गरीबी, अपराध, आर्थिक परिस्थिति, भोजन, वस्त्र या निवास जैसे समाज के नित्य जीवन का स्पर्श करने वाले विषयों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्रियों द्वारा प्रश्नावलियाँ तैयार की जाती हैं । अध्ययन का विषय होने वाले व्यक्तिओं को ये प्रश्नावलियाँ बाँट दी जाती हैं और उनके अनेकविध उत्तरों के आधार पर ही सर्वसामान्य निष्कर्ष स्थापित किए जाते हैं । इसी सामग्री के आधार पर कार्यकारण संबंध निश्चित किए जाते हैं और इसी के मार्गदर्शन से सुधार या परिवर्तन की सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं । जनगणना इस तरह के अध्ययन का सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध प्रकार है ।

गरीबी, बेकारी, शारीरिक विकृति, परिवार की आर्थिक स्थिति, अन्नवस्त्र, महँगाई, रोजगार,

कृषक जीवन या श्रमिक जीवन की समस्याएँ और अपराधवृत्ति जैसे समाज रचना के महत्वपूर्ण तत्वों का अध्ययन इस प्रकार की वैयक्तिक प्रश्नावलियों के आधार पर करने की प्रथा समाज सेवा या समाज सुधार का एक आवश्यक अंग बन गई । भारत में भी अब इस प्रकार के अध्ययन होने लगे हैं । परंतु गणिका संस्था संबंधी कोई व्यापक निरीक्षण अब तक नहीं हुआ है । अत : लीग ऑफ नेशन्स के निरीक्षण ही हमारे मार्गदर्शक होंगे ।

अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की चालबाजी का शिकार होकर लीग ऑफ नेशन्स नामक राष्ट्र-समवाय की यह योजना आज तो राजनैतिक दृष्टि से असफल प्रमाणित होकर तितर बितर हो चुकी है । साम्राज्यवादियों के हाथ पड़कर सोना भी मिट्टी हो गया । संसार के उपहास और तिरस्कार की पात्र बनकर यह संस्था अब तो सिर्फ कागज पर ही जीवित है । तथापि, राजनैतिक प्रश्नों पर से ध्यान हटा देने की उसके सूत्रधारों की नीति के कारण ही इस संस्था द्वारा कई महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों का अध्ययन हुआ और तत्संबंधी अत्यंत प्रामाणिक निष्कर्ष प्रकाशित हो सके । अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्त्रियों और बालकों का व्यापार करने वाले गुप्त संघटनों के विषय में भी एक ऐसा ही व्यापक निरीक्षण हुआ । वर्तमान महायुद्ध का आरंभ होने से एक वर्ष पहले (सन् १९३८ में) इन निरीक्षणों और उनसे प्राप्त निष्कर्षों का संदर्भ-ग्रंथ प्रकाशित हुआ । इस निरीक्षण में पतिताओं से पूछी गई प्रश्नावली इस प्रकार थी :—

१. आयु ।
२. राष्ट्रीयता ।
३. सामाजिक स्थिति : कुमारी, विवाहिता, विधवा, त्यक्ता या विवाह-विच्छेदिता ।
४. विवाह के समय की आयु ।
५. जन्म की स्थिति : औरस या अनौरस ।
६. मानसिक स्थिति ।
७. स्वास्थ्य ।
८. पिता का व्यवसाय ।
९. पारिवारिक वातावरण :
(अ) बचपन में पालन-पोषण माता-पिता द्वारा हुआ या सौतेले माता-पिता द्वारा या संबंधियों द्वारा या अनाथालय जैसी किसी संस्था में ? (आ) घर का वातावरण कैसा था ? परिवार में झगड़े या बच्चों के प्रति दुर्लक्ष या क्रूर व्यवहार होता था या नहीं ? माता-पिता का नियंत्रण कठोर था या अनुशासन का अभाव था ? (इ) परिवार में शराब का व्यसन था या नहीं ? (ई) परिवार की आर्थिक स्थिति कैसी थी ? इत्यादि ।
१०. शिक्षा : अशिक्षित, प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च या किसी व्यवसाय संबंधी ।
११. पाठशाला छोड़ते समय की आयु ।
१२. गृहत्याग करते समय की आयु ।
१३. वेश्यावृत्ति को कब स्वीकार किया ?
१४. वेश्यावृत्ति स्वीकार करते समय की आयु ।
१५. उस समय कोई रोजगार या आय का अन्य कोई साधन था या नहीं ?
१६. पतितावस्था में अपराध के लिए पहली बार सजा मिली उस समय की आयु ।
१७. किसी व्यक्ति या समाज या संस्था ने परेशानी के समय कोई सहायता की हो, तो उसका ब्यौरा ।

इन प्रश्नों के उत्तरों के सहारे गणिकावृत्ति को स्वीकार करने से पहले की स्थिति स्पष्ट अवगत हो जाती है । इतना ही नहीं बल्कि किन कारणों से ये स्त्रियां इस पतित मार्ग पर चलने को प्रेरित या मजबूर हुईं, इसकी जानकारी भी इसी प्रश्नावली के आधार पर मिल जाती है । हमारे यहाँ यदि इस प्रकार के

अवलोकन हो सकें, तो यह प्रश्नावली मार्गदर्शक हो सकती है । इन प्रश्नों के उत्तर स्वरूप कई गणिकाओं की आत्म कहानियाँ उपलब्ध हो सकीं । ये लक्ष्य-निवेदन पिछले परिच्छेद में गिनाये हुए कारणों की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं । अतः कुछ पतिताओं के स्वमुख से कही गई उनकी आपबीती कहानियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं ।

२
गणिकाओं के निवेदन

१. इस युवती का बीस वर्ष की उम्र में विवाह हुआ । चार वर्ष बाद पति ने उसे त्याग दिया । दो छोटे बच्चों के पालन-पोषण का भार इसी के ऊपर पड़ा । अन्य रोजगार बहुत ढूँढा, पर कुछ मिला नहीं । अंत में बच्चों की परिवरिश के खातिर परवाने वाले वेश्यागृह में आश्रय लेना पड़ा ।

२. विवाह के तीन साल बाद पति की मृत्यु हो गई । पति जीवित था तब अनेक बार इसे अकेली छोड़कर अन्य लड़कियों के साथ गुलछर्रे उड़ाने जाया करता था । इसी में से वेश्यावृत्ति का मार्ग सूझा ।

३. इस पतिता को इसका पति, हमेशा, अच्छे दिन न आयें तब तक दुराचार से धन प्राप्त करने की प्रेरणा दिया करता था । पति के आग्रह से ही इसे वेश्या बनना पड़ा ।

४. अठारह वर्ष की आयु तक एक कारखाने में काम करने वाली इस युवती ने वहीं के किसी कारीगर से विवाह कर लिया । दो बच्चे हुए । फिर पति ने त्याग दिया । बालकों को माता-पिता के सुपुर्द कर के यह फिर से कारखानें में भरती होने गई परंतु काम नहीं मिला इसलिए अन्य किसी शहर में जाकर घरेलू नौकरानी का काम करने लगी । कुछ समय बाद पिता और भाई बेरोजगार हो गये, इसलिए बच्चों की परिवरिश के लिए वेश्यावृत्ति को स्वीकार करना पड़ा ।

५. पंद्रह वर्ष की आयु में प्रथम विवाह हुआ । बीस वर्ष की हुई तब पति की किसी दुर्घटना में मृत्यु हो गई । सत्ताईसवें वर्ष में दूसरी बार विवाह किया और पति के साथ दो साल रही । फिर पति ने अत्यंत निर्दयता का बर्ताव आरंभ किया इसलिए घर छोड़कर चली गई । एक पुत्री थी । दोनों के भरण पोषण के लिए कुछ न कुछ रोजगार चाहिये । और कुछ कामधंधा मिल नहीं सका इसलिए गणिकावृत्ति को स्वीकार किया ।

६. अठारह वर्ष की आयु में चौबीस वर्ष के युवक के साथ विवाह किया परंतु छः महीने में ही अलग होना पड़ा । एक बच्चा हुआ पर वह जिया नहीं । उन्तीसवें वर्ष से धनाभाव के कारण गणिकावृत्ति करनी पड़ी । वैसे अनियमित यौन जीवन गुजारना तो बाईसवें वर्ष से ही आरंभ कर दिया था । इस वृत्ति की प्रेरणा इसकी दो सहेलियों ने दी ।

७. सत्रहवें वर्ष में इस स्त्री ने अपने से बीस वर्ष बड़े पुरुष से विवाह किया । पति की सरकारी नौकरी के कारण दोनों को विदेश के किसी उपनिवेश में रहना पड़ा जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था । पाँच बच्चे हुए, जिनमें से तीन की बचपन में ही मृत्यु हो गई । परंतु इस स्थान में नृत्य के लिए किसी प्रकार की सुविधा नहीं थी । नृत्य के पीछे यह स्त्री इतनी पागल थी कि कुछ ही समय में इसका मन उचट गया । एक बार छुट्टियों में यह पति के साथ फ्रान्स लौटी और तुरंत पति और बच्चों को छोड़कर वेश्यालय में दाखिल हो गई । कुछ समय बाद पति को तलाक देकर और बच्चों को अपनी मौसी के सुपुर्द कर के,



अपने नये जीवन में आकंठ डूब गई । अब उसे काम का नाम भी अच्छा नहीं लगता और नृत्य का शौक तो खब्त की सीमा को पार करके मर्ज का रूप धारण कर चुका है । अब वर्षों से गणिका का जीवन गुजार रही है ।

८. दस वर्ष की थी तब पिता की मृत्यु हो गई । पिता के जीवनकाल में, माता-पिता दोनों, शराब पीकर घर में भयानक झगड़े किया करते थे । माता का भ्रष्ट चरित्र जगजाहिर था । माता अपनी दोनों लड़कियों से सदा पैसे की माँग किया करती थी । अंत में दोनों बहने वेश्या बन गईं ।

९. आठ वर्ष की उम्र तक माता-पिता के साथ रही । फिर एक बालगृह में बच्चों को सँभालने की नौकरी मिल गई । चौदहवें वर्ष में नौकरी दिलवाने वाले पुरुष के जाल में फँस गई और कहीं मुँह दिखाने को भी स्थान नहीं रहा । माता-पिता ने विशेष ध्यान नहीं दिया । अंत में यह पेशा स्वीकार करना पड़ा ।

१०. छः वर्ष की थी तब माता-पिता की तपेदिक से मृत्यु हो गई । तेरहवें वर्ष से पूरी गृहस्थी का भार इसी पर आ पड़ा । पिता अत्यंत कठोर स्वभाव का था । नाच या पार्टी में, कहीं भी जाने नहीं देता था । अंत में, सोलह वर्ष की आयु में यह एक मेले में से भाग गई और वेश्यावृत्ति की ओर झुकी । बचपन में भाई-बहनों के प्रति इसे बहुत ममता थी और सब भाई-बहनों के आपस के संबंध बहुत अच्छे थे ।

११. दो वर्ष की थी तभी पिता की मृत्यु हो गई । माँ से पटती नहीं थी और भाई-बहनों के साथ झगड़े हुआ करते थे । माता स्वभाव से अतिशय कठोर और धर्मांध थी । पाठशाला न जाने के कारण एक रोज जोरों से पिटाई हुई इसलिए घर छोड़कर भाग गई ; लेकिन पकड़ी गई और वापस आना पड़ा । सत्रहवें वर्ष में, कामकाज की तलाश में अपनी बड़ी बहन के घर न्यूयॉर्क आई । शहर में आते ही अनियंत्रित जीवन का आरंभ हुआ जिसका अंत गणिकावृत्ति में हुआ ।

१२. सातवें वर्ष में पिता की मृत्यु हो गई । दस वर्ष की आयु में एक किसान के खेतों में काम करने लगी । अठारहवें वर्ष में एक सैनिक से परिचय हुआ । सैनिक ने विवाह करने का वचन दिया । सैनिक की माता कॉर्सिका द्वीप में रहती थी । एक बार दोनों उससे मिलने के लिए घर से चल दिये । इसमें युवती की माता की भी संमति थी । वह सैनिक इसे कॉर्सिका के बदले मार्सेल्स ले गया जहाँ मालूम हुआ कि वह सैनिक नहीं बल्कि स्त्रियों का व्यापार करने वाला दलाल था । उसने इसे गणिकावृत्ति में प्रवृत्त किया ।

१३. बीस वर्ष की उम्र में विवाह हुआ । पति का रोजगार चलता नहीं था व विवाहित जीवन सुखी प्रमाणित नहीं हुआ । अंत में तीन छोटी बच्चियों का भार इसके कंधों पर डालकर पति ने इसे त्याग दिया । बच्चों को अनाथालय में दाखिल कराके यह अपने चाचा की सहायता से कोई कामधंधा तलाश करने के लिए लीज गई । रास्ते में एक जगह गाड़ी बदलते समय पाँव में मोच आ गई । उस समय चलने में सहायता करने वाले एक अजनबी से परिचय हुआ । उस आदमी ने इसे लीज जाने से रोका । उसी की प्रेरणा से यह ब्रसेल्स गई जहाँ रहने वाले किसी मित्र का पता उस अजनबी ने दिया था । परंतु ब्रसेल्स में उस पते पर पहुँचते ही यह समझ गई कि वह किसी गणिकागृह में आ पहुँची है । क्या किया जाय ? इसने चाहा तो था और कुछ रोजगार करना पर आ पड़ी देह विक्रय के व्यवसाय में । अंत में और कोई उपाय न सूझने से इसी पेशे को स्वीकार कर लिया । अब इसका मत है कि केवल व्यवसाय की या गुजारे के साधन की दृष्टि से देखा जाय, तो अन्य व्यवसायों में और इसमें खास फर्क नहीं। इसे अच्छी खासी आमदनी होने लगी । इस कमाई के बल पर सबसे पहले अपनी तीनों कन्याओं के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था की । आज उन तीनो कन्याओं के विवाह अच्छे प्रतिष्ठित परिवारों में हो गये हैं जहाँ वे सुख से रह रही हैं । इस पतिता के मानस में कहीं, किसी प्रकार की न्यूनता या कमजोरी दिखाई नहीं दी । यह कभी मर्यादा से बाहर शराब नहीं पीती और व्यसन की सीमा में आने वाली अन्य किसी उत्तेजक या पौष्टिक

वस्तु का सेवन नहीं करती । आज इसकी मालिकी के दो गणिकागृह चल रहे हैं । अब यह खुद वेश्यावृत्ति नहीं करती । लीज़ जाते समय का रेल का टिकट इसने प्रतिष्ठित जीवन की अंतिम यादगार के रूप में जतन करके रखा है ।

१४. यह स्त्री घरेलू नौकरानी थी । किसी पुरुष के साथ अवैध संबंध हो गया और गुप्तरोग का शिकार हो गई । मालिक ने अस्पताल भेजकर इलाज करवाया । वहाँ से स्वस्थ होकर निकली तो एक आदमी नौकरी का प्रलोभन देकर अपने साथ ले गया । उसने इसे वेश्यागृह में भरती कर दिया, जहाँ से छुटकारा पाना मुश्किल था ।

१५. बारह वर्ष की आयु तक यह किसी अनाथालय में रही । इसका पिता युद्ध में मारा गया था । माता अत्यंत निर्धन थी और सदा बीमार रहती थी । अतः यौवन के आरंभ से ही इसे छिपे-छिपे वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । गुजारे के लिए अन्य कोई काम सीखने का मौका ही नहीं मिला ।

१६. "मेरे माता-पिता का नियंत्रण अत्यंत कठोर था । उनकी धार्मिकता उनके उग्र स्वभाव और असहिष्णुतता को और भी कठोर बना देती थी । मेरी अन्य सहेलियों को जो स्वातंत्र्य और आनंद के साधन प्राप्त थे, वे मुझे भी मिले होते तो आनंद और स्वातंत्र्य की तलाश में मैं गणिकागृह की शरण कभी न लेती ।"



अब तक हमने विदेश की गणिकाओं के निवेदन सुने, अब हम भारत की स्थिति देखें :—

१७. यह आपबीती तेईस वर्ष की एक हिंदू पतिता की है । इसका विवाह बचपन में ही हो गया था । बारह वर्ष की आयु में विधवा हो गई और माता-पिता के साथ रहने लगी । पंद्रह वर्ष की हुई कि माता-पिता का भी देहांत हो गया । ईमानदारी से पेट भरने का और कोई साधन नहीं मिला इसलिये कलकत्ता आकर गणिकावृत्ति को स्वीकार किया ।

१८. इस युवती ने चौदह वर्ष की आयु में पाठशाला छोड़ी । कुछ दिनों बाद ४५ वर्ष के पुरुष के साथ इसका विवाह हुआ । पति ने बेहद दुख दिया । अठारह वर्ष की आयु होने पर देवर के साथ अवैध संबंध हो गया । पति को संदेह हुआ व उसने इसे घर से निकाल दिया । बहकाने वाले देवर ने भी आश्रय नहीं दिया । अंत में एक स्त्री ने सहारा दिया व समझाया कि उसके लिए वेश्यावृत्ति का मार्ग ही अनुकूल रहेगा । अंत में निराधार होकर वह कलकत्ता गई । वहाँ के एक वेश्यागृह में प्रवेश किया ।

१९. ''मेरा जन्म बंबई में हुआ था । बहुत छोटी थी तभी विवाह हो गया व कुछ दिनों के बाद पति की मृत्यु हो गई । मुझे मेरे पति का नाम भी याद नहीं । दस साल से मैं इस पेशे में हूँ । मेरा कोई रिश्तेदार या संबंधी नहीं ।''

२०. मेरी उम्र इक्कीस वर्ष की है । मैं अपनी माता के साथ रहती हूँ । वे भी गणिकावृत्ति करती हैं । मैं नौ वर्ष की थी तब हुगली के किसी गणिकापुत्र के साथ मेरा विवाह हुआ था । उसने मुझे अपरंपार यातनाएँ दीं । अंत में उसका घर छोड़कर मैं अपनी माता के पास आ गई व पेशा करने लगी । अब मैं बहुत सुख से रहती हूँ ।''

२१. ''मैं नौ वर्ष की हुई कि मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया । मेरी माता मुझे लेकर पूना चली गई । वहाँ एक पारसी गृहस्थ के यहाँ घरेलू नौकरानी का काम मिल गया । फिर हम सब बंबई चले आये । मेरा विवाह मैं बहुत छोटी थी तभी हो गया था, परंतु पति ने कभी मुझे अपने घर नहीं बुलाया । उसने दूसरा विवाह कर लिया था व मेरी उसे जरूरत नहीं थी । हम पूना में थे तब, चार वर्ष तक, मैं एक गृहस्थ की रखैल के रूप में रही थी । उसकी मृत्यु के बाद, बम्बई आकर मुझे वेश्यावृत्ति से गुजारा करना पड़ा ।''

२२. ''मेरा विवाह नवें वर्ष में ही हो गया था । ससुराल में मैंने छः वर्ष बिताये । एक बार हमारे गाँव में एक कीर्तन करने वाली स्त्री आई । उसका मधुर संगीत सुनकर मैं मोहित हो गई । मुझ पर यही धुन सवार हुई कि मैं भी ऐसी कीर्तनकार बनूँ । एक दिन आवेश में आकर मैं घर छोड़ कर चल निकली और पास के गाँव में अपने बहनोई के घर रहने लगी । कुछ महीने वहाँ बीतने पर एक रेलबाबू के साथ मेरा व्यभिचार संबंध हो गया । उसी के साथ भागकर मैं हुगली पहुँची । यहाँ मैंने गाना-नाचना सीखा ।''

२३. ''मेरे माता-पिता अत्यंत निर्धन हैं । सन् १९३५ के जनवरी में हमारी जान पहचान की दो ईसाई महिलाएँ मुझे बंबई ले आईं । यहाँ उन्होंने मुझे वेश्यावृत्ति करने को मजबूर किया । पुलिस ने उनके विरुद्ध मुकदमा दायर किया किंतु न्यायालय ने उन्हें निर्दोष ठहरा कर छोड़ दिया ।''

२४. ''मेरी माता मुरली थी और वेश्यावृत्ति से गुजारा करती थी । मेरी बाल्यावस्था में ही मुझे जेजूरी के खंडोबा देवता को अर्पण कर दिया गया, अत : मुझे भी मुरली बनना पड़ा । इक्कीस वर्ष की आयु से मैं इसी पेशे की कमाई से गुजारा कर रही हूँ ।''

२५. ''मेरा जन्म होने से पहले भी मेरी माता गणिकावृत्ति से ही गुजारा करती थी । मेरा विवाह नहीं हुआ । मेरी माता ने मुझे शान्ता दुर्गा देवी के अर्पण किया तब मेरी आयु दस-बारह वर्ष की रही होगी । हमारी जाति के रिवाज के अनुसार ही मुझे देवार्पण किया गया था । मेरी माता जीवित है व मेरी बहन उसका पालन करती है । मेरी बहन भी मेरी तरह वेश्या व्यवसाय ही करती है ।''

३
कथनियों से कारणों की ओर

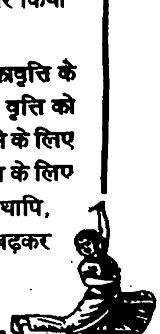
ये पचीस संक्षिप्त आत्मकहानियाँ पतिताओं द्वारा स्वमुख से बयान की गई थीं । इनमें और चाहे जितने उदाहरण जोड़े जा सकते हैं । ये सीधी सादी और सत्य घटनाएँ गणिका संस्था के उद्‌भव और व्यापकता की कारणमीमांसा कर सकती हैं । इन अत्यंत संक्षिप्त निवेदनों में हमें समाज जीवन के अनेक पहलुओं के दर्शन हो सके और पतिताओं को इस मार्ग पर प्रवृत्त करने वाली सामाजिक या आर्थिक परिस्थितियों की झलक भी मिल सकी । जरा और गहराई से देखने पर यह भी स्पष्ट हो सकता है कि वर्तमान संस्कृति के अनेक अनिष्ट ही इस संस्था को जीवित रख रहे हैं ।

इससे यह भी प्रमाणित होता है कि गणिकावृत्त संसार के हर देश में संस्थारूप में स्थापित हो चुकी है । पूर्व और पश्चिम के भेद से या संस्कृति के विभिन्न सोपानों पर स्थित देशों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण इस बुराई का प्रमाण कहीं अधिक और कहीं कम हो सकता है । विभिन्न कालों की गणिका संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह भी मालूम होता है कि मध्यकालीन गणिकाओं के कई प्रकार लुप्तप्राय: होकर अब तो नगरों में स्थायी निवास करके खुलेआम देहविक्रय का व्यवसाय करने वाली वेश्याओं की संख्या ही अधिक पाई जाती है । इस प्रकार की गणिकाओं की संख्या की कल्पना से भी दिल दहल जाता है ।

पॅरिस की गणिकाओं की संख्या के संबंध में विविध अंदाज हुए हैं । १४,००० से लगाकर १७,०००; ३०,०००; ८०,००० या १,२०,००० तक यह संख्या कूती गई है । वहाँ के सर्वोच्च पुलिस अधिकारी का यह कथन भी सत्य ही लगता है कि अपराध करते हुए पकड़ी जाने वाली गणिकाओं की संख्या से गुप्त रूप से पेशा करने वाली और पकड़ाई में न आने वाली गणिकाओं की संख्या कम से कम पाँच छ : गुनी हो सकती है । लंडन में एक समय ८०,००० गणिकाएँ होने का अंदाज किया जाता था । परंतु अपने पातकों को छिपाने में कुशल यह प्रजा इस संख्या को घटा कर ६,००० या ८,००० ही कबूल करती है । भारत की जनगणनाओं के समय अनेक विध अल्पसंख्यांक जातियों का कुछ ही दिनों में निर्माण कर सकने वाले ये जादूगर संख्याओं के साथ मनमाना खिलवाड़ करने में भी अत्यंत कुशल हैं । बर्लिन की एक गणना में पतिताओं की संख्या ५०,००० पाई गई थी परंतु बाद की एक गणना में वह घटकर २०,००० हो गई है । विएना में ३०,०००; ग्लॅसगो मे' १७,०००; कोलोन में ७,००० और म्यूनिक में ८,००० की संख्या कूती गई थी ।

अब तो ये गणनाएँ काफी पुरानी हो चुकी हैं । यहाँ कुछ प्रसिद्ध शहरों की संख्याएँ ही दी गई हैं । विगत जर्मन युद्ध के बाद संसार में जो आर्थिक, राजनैतिक या सैनिक परिवर्तन हुए हैं वे स्थैर्य, शांति या आर्थिक समृद्धि की दिशा में तो निश्चित रूप से नहीं हुए । दुनिया के अन्य छोटे मोटे शहरों की गणिकाओं की संख्या की गणना करें, तो सबका जोड़ इतना बड़ा हो जायगा कि अतिशयोक्ति का अंश काट कर भी उनका विचार किया जाय, तो अचरज से आदमी भौंचक्का रह जाय ।

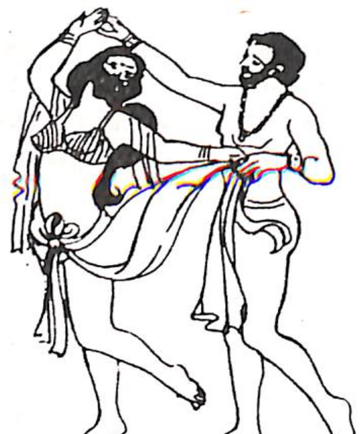
उपरोक्त उदाहरणों से एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि आर्थिक परिस्थिति ही गणिकावृत्ति के लिए अधिकांश में जिम्मेदार है । रोजगार का अन्य कोई साधन न मिलने से ही युवतियों को इस वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है । वृद्ध माता-पिता, असहाय भाई बहन या अपने बच्चों का पालन पोषण करने के लिए यह पेशा करने को कोई स्त्री मजबूर हो, इससे बढ़कर कलंक की बात आज की अर्थप्रधान समाज रचना के लिए और क्या हो सकती है ? गणिकावृत्ति पाप है या नहीं, इस प्रश्न को यहाँ न छेड़ना ही अच्छा होगा । तथापि, किसी स्त्री को अपने अति वैयक्तिक और निजी संबंध को कुछ रुपयों के तराजू पर तौलना पड़े, इससे बढ़कर करुण विभीषिका और क्या हो सकती है ?



परंतु आर्थिक परिस्थिति गणिकावृत्ति का एकमात्र कारण नहीं है । व्यक्ति के मानस या स्वभाव में भी कुछ ऐसा अंश दिखाई देता है जो स्त्रियों को इस व्यवसाय की ओर प्रवृत्त करता है । अन्य सब प्रकार से सुखी होने पर और पाँच बच्चों की माँ होने पर भी, सिर्फ नाचने का शौक पूरा न हो सकने के कारण इस व्यवसाय को स्वीकार करने वाली स्त्री में नृत्य के शौक के नहीं बल्कि नृत्य के बहाने उत्तरदायित्वहीन उच्छृंखलता के ही दर्शन होते हैं । आगे चलकर इस स्त्री ने नृत्यकला में विशेष नाम कमाया हो यह भी निश्चित मालूम नहीं ।

पारिवारिक वातावरण या वंशपरंपरा से चले आने वाले संस्कार भी इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकते हैं । गणिकाओं की विभिन्न जातियों में जन्म लेने वाली या देवार्पण की गई कन्याओं के लिए भारत जैसे देश में गणिकावृत्ति के सिवा और कौन सा मार्ग रह जाता है । शराब के व्यसनी माता-पिता, क्रोधी, झक्की, धर्मान्ध या नीतिमत्ता का घमंड रखने वाले अभिभावक, बालकों की ओर ध्यान न देने वाले या उनकी उपस्थिति में कामुक व्यवहार करने वाले अग्रज और अपने बर्ताव का क्या भलाबुरा प्रभाव पड़ता है इसकी परवाह न करने वाले सरपरस्त — सब के सब जाने अनजाने गणिकाओं की संख्या में वृद्धि करते रहते हैं । इस सत्य को लोग जितनी जल्दी समझें उतना ही अच्छा है ।

पति अत्यंत निर्दय हो, मारपीट करता हो, तो पत्नी के लिए घर छोड़कर भागने के सिवा और कौन स मार्ग खुला है ? और एक बार घर छोड़कर निकली हुई स्त्री को खड़े रहने की जगह भी कहाँ मिल सकती है ? ससुराल, मायका, ननिहाल, सगे-संबंधी — सभी द्वार उसके लिए बंद हो जाते हैं । पूर्व के देशों की तो बात ही छोड़िये, पश्चिम में भी स्थिति इससे अधिक भिन्न नहीं है । वहाँ तो सम्मिलित परिवार की प्रथा भी न होने के कारण, पतिगृह से निकलने वाली अभागिन को भूख-प्यास, सरदी-गरमी या आँधी-तूफान से बचने का वेश्यागृह के सिवा अन्य कोई स्थान नहीं । पति अत्यधिक विलासप्रिय हो, परस्त्रियों के साथ आवश्यकता से अधिक घूमता फिरता हो, तो स्वाभाविक है कि पत्नी के मन में भी पति का अनुकरण करने की इच्छा हो । यह ईर्ष्याजन्य अनुकरण स्त्री को गणिकावृत्ति के बहुत पास ले जा सकता है । रसिया पुरुष इस बात को भी जितनी जल्दी समझ लें उतना ही अच्छा है ।



कामकाज का आलस्य, परिश्रम के प्रति अरुचि और निष्क्रियता से उत्पन्न शारीरिक या मानसिक शिथिलता मन को मौजी, विलासी और भटकनेवाला बना देते हैं । ऐसी मन:स्थिति को गणिका-जीवन अत्यंत आकर्षक लगता है । उसके परिणामों का विचार करने जितनी गंभीरता या एकाग्रता का अभाव होने से ऐसे मौजी या आलसी मानस वाली स्त्रियाँ आसानी से इस मार्ग पर अग्रसर हो जाती हैं । रईसी और शानशौकत सब के बस की बात नहीं । गरीबी जीवन की — खास तौर से आज के जीवन की एक अटल वास्तविकता है । धन-वैभव और चमक-दमक अपवाद रूप ही दिखाई देते हैं । परंतु इन अपवादों का अस्तित्त्व गरीबों के मन में एक प्रकार की ईर्ष्या, प्रबल वासना और अतृप्त इच्छा को जन्म देता है । आकर्षक वस्त्राभूषणों से सजी हुई गणिका की चमक-दमक से अभावग्रस्त स्त्रियाँ आकर्षित हों यह अत्यंत स्वाभाविक है ।

जमदग्नि ऋषि की पत्नी रेणुका और महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की पत्नी सगी बहनें थीं । ऋषियों के जीवन का अर्थ है आदर्श पालन के लिए स्वेच्छा से स्वीकृति की हुई दरिद्रता; जब कि महारानी पद का अर्थ हुआ चकाचौंध कर देने वाला वैभव । अपने सतीत्व के बल पर कपड़े की गठरी में पानी भर लाने वाली ऋषिपत्नी रेणुका के मन में क्षणिक प्रलोभन जगा । बहन के वैभव ने उसे चकित कर दिया और उसके मन में एक विचार बिजली की तरह कौंध गया, "मेरे पास भी ऐसा वैभव होता, तो ?" बस, रेणुका के सतीत्व में अनजाने त्रुटि आ गई । जमदग्नि की आज्ञानुसार परशुराम ने माता का शिरच्छेद किया परंतु प्रसन्न पिता से माता को पुनर्जीवित करने का वर माँग लिया । पुराणों की यह कथा प्रसिद्ध है । जमदग्नि की पत्नी और परशुराम की माता भी वैभव देखकर क्षणभर के लिए मोहित हो गई, तो सामान्य श्रेणी की स्त्रियाँ अन्य स्त्रियों की बाह्य चमक-दमक देखकर विचलित हो जायें तो आश्चर्य किस बात का ? इससे यह भी स्थापित होता है कि धनवैभव और सुख के साधनों के अधिक न्याय बँटवारे से शायद गणिकाओं की समस्या अंशत: हल हो सके ।

कुछ व्यवसाय ही ऐसे होते हैं जिनमें से गणिका वृत्ति में जाने का मार्ग बहुत सरल होता है । पश्चिम मे पतिताओं का एक बहुत बड़ा वर्ग घरेलू काम करने वाली नौकरानियों में से निर्मित होता है । स्त्रियों को पुरुषों के अति संसर्ग में लाने वाले व्यवसाय भी प्रथम अवैध संबंधों में और उन संबंधों का अस्तित्व यदि समाज को अस्वीकृत हो, तो गणिकावृत्ति में आसानी से परिणत हो जाते हैं । वासनातृप्ति के अपने कृत्यों की जिम्मेदारी उठाने को पुरुष तैयार नहीं होता और स्त्री तो इस परिस्थिति में इतनी असहाय हो जाती है कि उसका निर्वाह समाज की चारदीवारी के बाहर ही हो सकता है । सिनेमा, नाटक या सरकस में काम करने वाली नटियों, और टाइपिस्ट, परिचारिका या शिक्षिका का काम करनेवाली स्त्रियों को इस खतरे का सदा मुकाबल करना पड़ता है । नृत्य, संगीत या नाट्य द्वारा जीवन निर्वाह करने वाली स्त्रियाँ तो अत्यंत सरलता से गणिकावृत्ति का शिकार हो जाती हैं। इस विषय में, पूर्व और पश्चिम की हालत में विशेष फर्क नहीं पाया जाता ।

गणिकावृत्ति के साथ संकलित रहस्य और गूढ़ता का वातावरण भी निर्दोष और आवेशमय युवतियों के मन में कुतूहल जगाता है । मुक्त और स्वच्छंद स्वैरविहार की संभावना रोचक कल्पनाओं को जन्म देती है । पति या ससुराल वालों की निर्दयता या उपेक्षा का अनुभव करने वाली सब तरफ से निराधार हो जाने वाली या अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट रहने वाली स्त्री स्वातंत्र्य, सुख और वैभव प्राप्त करने के लिए गणिका जीवन की ओर ललचाई हुई नजरों से देखती रहे यह नितांत असंभव या अस्वाभाविक नहीं है ।

उपर्युक्त उदाहरणों में एक और महत्त्वपूर्ण कारण स्पष्ट दिखाई देता है । यह कारण है स्त्रियों का व्यवसाय करने वाले दलालों के गणिकाओं की संख्या में वृद्धि करने के हथकंडे । किसी भी व्यापार का विस्तार होने पर मध्यस्थ दलालों की संस्था का भी विकास होता है । गणिका व्यवसाय में भी व्यापार, मुनाफा, लेनदेन आदि तत्व प्रविष्ट होने पर दलालों की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है । इस पूरे व्यवसाय में सर्वाधिक लाभ इन्हीं लोगों को होता है । स्त्री दुखी हो, निराधार हो, उसे आश्रय देनेवाला कोई न हो, शर्म के मारे उसे मुँह

दिखाने की जगह न हो, इत्यादि मौकों की यह लोग सदा तलाश में रहते हैं । गाँव-गाँव और नगर-नगर घूमने वाले ये स्त्री-विक्रेता अन्य व्यवसायों में पाई जाने वाली चतुराई और निपुणता का और भी उग्र और हृदयहीन परिचय देते हैं । विवाह करने या करवा देने के वादे, अच्छी नौकरी दिला देने का विश्वास, वस्त्रालंकार, ऐशो-आराम और धनसंपत्ति का प्रलोभन, सुखमय जीवन की आशा और स्थायी स्वतंत्रता की लालच इन दलालों द्वारा इतने आकर्षक और विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किए जाते हैं कि संकट में से मार्ग ढूँढने वाली स्त्रियाँ बड़ी आसानी से उनके जाल में फँस जाती हैं । उपयुर्क्त उदाहरणों में से १२-१३ संख्यांक निवेदन इन दलालों की करतूतों पर प्रकाश डालते हैं ।

परंतु जब ऐसे दलाल बड़ी संख्या में एकत्रित होकर, स्त्री विक्रय के व्यापार को व्यवस्थित और संगठित करके उसे अंतर्राष्ट्रीयप्रशाखाओं वाला शृंखलाबद्ध व्यवसाय बना देते हैं तब यह आधुनिक वेश्यावृत्ति प्राचीन युग की गुलाम-संस्था से भी अधिक भयप्रद और घृणित रूप धारण करती है । युद्ध में पकड़ी गई या जबरदस्ती से हरण की हुई स्त्रियों को दासी या गुलाम के रूप में बेचने की प्रथा उस युग में स्वीकृत थी । यह क्रय विक्रय खुलेआम होता था और उस युग की नैतिक भावना को इसमें कुछ भी अनुचित या अन्याय दिखाई नहीं देता था । इसलिए बड़े शहरों में निश्चित स्थानों पर इनके क्रय-विक्रय की खुलेआम व्यवस्था होती थी और खरीददार पुरुष उन्हें जड़ वस्तुओं की तरह जाँच-परख कर, मोलभाव करके या नीलाम में बोली बोलकर खरीदते थे । हिमालय की पहाड़ियों में बसने वाली पहाड़ी जातियों में अब भी स्त्रियों को क्रय-विक्रय के लिए पैठ लगती है । यह सब भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी शिमला के पड़ोस में ही होता है । इस प्रथा का हम असभ्य और जंगली प्रजाओं के उजड्डपन के उदाहरण के रूप में उल्लेख करते हैं । परंतु सभ्यता के परमोच्च शिखर पर विराजने वाली गोरी प्रजाओं में गौरांग गणिकाओं के विक्रय की प्रथा ने ऐसा लज्जास्पद और भयानक रूप धारण किया है कि उसकी छानबीन करने और उसे रोकने के प्रयत्न करने के लिए संसार के प्रगत राष्ट्रों को आपस में इस विषयक करारनामें करने की आवश्यकता महसूस हुई है ।

इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा । यहाँ तो इतना ही विचार आता है कि धर्म से ईसाई, रंग से गोरी और बाह्य रंगरूप में जगमगाने वाली पश्चिमी संस्कृति ने मानव जीवन की जिन समस्याओं का स्पर्श किया उन सबको विकृत, भयानक और विनाशक कैसे बना दिया ? इस संस्कृति के संसर्ग से ईसाई धर्म भी शोषक, हिंसक और निर्लज्ज बन गया है । मुसलमान विजेताओं के अत्याचारों का वर्णन करते हुए न थकने वाले आँग्ल इतिहासकारों की दृष्टि बीसवीं शताब्दी के महायुद्धों या जलियाँवाला बाग के कत्लेआम की ओर क्यों नहीं जाती ? केवल नृशंसता की दृष्टि से विचार करें तो भविष्य का इतिहासकार वर्तमान विश्वयुद्ध के गोरे सेनानियों को चंगेज़खाँ, तैमूर या नादिरशाह से नीचा स्थान नहीं दे सकेगा ।

ईसाई संस्कृति ने राजनीति की नकाब पहनी और मानव स्वातंत्र्य के नाम पर अनेक प्रजाओं को पराधीन बनाती चली गई । यह जहाँ भी गई वहाँ संधिपत्रों को पैरों तले रौंद कर, वचनभंग की परंपरा निर्माण करती चली और राजनीति में शठता और गुंडागिरी को प्रोत्साहित करती चली । यंत्रों की सहायता से इसने जल-स्थल-आकाश में ऐसा विनाश कर दिखाया जो अलिफलैला के दैत्य की कल्पना को भी नीचा दिखा दे ।

आवश्यकताओं को बेहिसाब बढ़ाना, उनकी पूर्ति के साधनों के पहाड़ खड़े करना, देह को आराम और ऐश्वर्य में डुबा देना और जीवन यापन के स्तर को अत्युच्च कक्षा पर रखना इत्यादि सूत्रों के सहारे पश्चिम की संस्कृति ने देह सुख की कामना में से ऐसी व्यापक वेश्यावृत्ति खड़ी की जो संसार के कोने-कोने में — शहर-शहर में फैल गई । गुलामी का तिरस्कार करने का ढोंग करने वाली इस संस्कृति की परछाईं भी जहाँ पड़ी वहाँ गौरांगनाओं का दास व्यापार करने वाली अंतर्राष्ट्रीय संघटनाओं का जाल फैल गया ।

कहने का आशय यह कदापि नहीं कि इस संस्कृति का प्रभाव वर्तमान युग में इतना व्यापक हुआ उससे पहले संसार में निर्दयता, छल फरेब, शक्ति का दुरुपयोग या देह विक्रय जैसे तत्त्वों का अस्तित्व ही नहीं था । तथापि, यह सत्य है कि बाह्य चमक-दमक के पीछे कालिमा के ढेरों का निर्माण करने में पाश्चात्य ईसाई

संस्कृति से स्पर्धा करने की हिम्मत हिंदू, मुस्लिम या बौद्ध — कोई संस्कृति नहीं कर सकती । इसके सत्यानाशी प्रभाव में आने वाली पराधीन प्रजाओं को इस पाश्चात्य संस्कृति के विजय स्तंभ पर यदि कोई ध्येय-शब्द लिखना हो, तो,

'मोह !'

'फरेब !'

'विनाश !'

'संहार !'

— इनमें से कोई शब्द पसंद किया जा सकता है । हमारी राय में चारों एक साथ लिखे जायें तो सत्य के अधिक निकट होगा ।

४
कारणों की विविधता

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्त्रियों को देह विक्रय के व्यवसाय में प्रेरित करने वाले कारण अनेक विध होते हैं । शारीरिक या मानसिक कमजोरी, जन्मजात संस्कार, घर का कलहभरा वातावरण, बाल्य या किशोर अवस्था में अभिभावकों द्वारा की गई उपेक्षा, रोजगार की अस्थिरता, अपर्याप्त वेतन, ऊबा देने वाला नीरस काम, बेकारी, धन की एकाएक आ पड़ने वाली आवश्यकता, बालकों के या वृद्ध आश्रितों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी, दलालों और कुट्टनियों का भरमाना इत्यादि अनेक कारण इस वृत्ति के पोषक होते हैं, जिनका वर्गीकरण हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं । सुख और प्रकाश की तलाश में भटकना मनुष्य का स्वाभाविक कार्य ही माना जायगा । ये सुख और प्रकाश यदि प्रतिष्ठित जीवन में अप्राप्य हो गए हों, तो अंधकार में टटोल कर आगे बढ़ने के प्रयत्न में अनेक युवतियाँ देह विक्रय की राह पर भटक जाती हैं । अंधकार से रोशनी की ओर बढ़ने के प्रयास में, जीवनभर के लिए और भी घने अंधकार में डूब जाती हैं ।

परंतु इन सब कारणों का आद्यकारण तो पुरुष की माँग है । माँग न हो, तो वस्तु की आमद या खपत होती ही नहीं । वेश्यावृत्ति देह सुख को क्रय-विक्रय की वस्तु बनाकर पूरे व्यवहार को अन्य व्यवसायों के समकक्ष कर देती है । इस हालत में माँग और पूर्ति का सिद्धान्त गणिका व्यवसाय को केवल स्त्री प्रधान ही नहीं रहने देता; बल्कि पुरुष भी उसका आवश्यक अंग हो जाता है । वेश्यावृत्ति को व्यापार का रूप प्राप्त होते ही गणिका और गणिकागामी पुरुष, दोनों की स्थिति माँग और पूर्ति के नियम द्वारा संचालित शतरंज के मोहरों के समान हो जाती है । एक ओर से अनेक युक्तिओं से किए गये कामोत्तेजक हावभाव विविधता के शौकीन पुरुषों को आकर्षित करके लाते हैं तो दूसरी ओर से दलालों और कुट्टनियों के गिरोह मजबूर स्त्रियों को अनेक प्रकार क प्रलोभन दिखाकर इस वृत्ति की ओर खदेड़ते हैं । बलिस्थान पर पहुँचने पर, दोनों की स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं रहता ।

स्त्रीप्रधान संस्था होने पर भी गणिकावर्ग केवल स्त्रियों के ही मानस, स्थिति या गुणावगुण का प्रतिबिंब उपस्थित नहीं करता । स्त्रियाँ इस वृत्ति को स्वीकार करती हैं इसलिए केवल उन्हें ही गणिका संस्था के लिए जिम्मेदार मानना उचित नहीं । गणिका के साथ-साथ गणिकागामी पुरुष भी उतना ही — या कदाचित् उससे भी अधिक — जिम्मेदार माना जा सकता है ।

पुरुषों की जिम्मेदारी का विवेचन करते समय हमें कुछ नैतिक मान्यताओं का भी विचार करना होगा । यह तो सही है कि काम, वासना या भोगेच्छा एक जीवनव्यापी भाव है जो तृप्ति की अपेक्षा करता

है । यह भी स्त्य है कि इसका आवेग दुर्निवार्य होता है । परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हर हालत में इसकी तृप्ति होनी ही चाहिये । सिद्धांत रूप से तो हम इस बात से सहमत हो जाते हैं । परंतु हमारे आचार-व्यवहार में एक प्रकार का आग्रह छिपा रहता है जिससे वासनातृप्ति को अनिवार्य मानने के भाव को सदा प्रदीप्त रहने की अनुकूलता मिल जाती है । हम यह भूल जाते हैं कि मनुष्य के अन्य भावों के समान काम को भी नियंत्रण या अंकुश में रखा जा सकता है और रखा जाना चाहिये । काम भावना का शुद्धिकरण या उदात्तीकरण करने के बजाय उसे अतंत्र और यथेच्छ विहार की सुविधा दे दी जाय तो वह सदा हमारे जीवन में कृत्रिम आवेग का संचार करती रहेगी । वैसे तो मनुष्य जीवन में कभी-कभी क्रोध करना भी स्वाभाविक होता है । परंतु मानव सभ्यता हमें हर समय और हर प्रसंग पर क्रोध करने की अनुमति नहीं देती । क्रोध को नियंत्रित या मर्यादित किए बिना छुटकारा नहीं । पर कामवासना की ओर इस प्रकार की संयमपूर्ण भावना को मनुष्यजाति प्रोत्साहित नहीं करती । काम दुर्निवार्य है; अत : उसे हर तरह से तृप्त करना ही चाहिये — ऐसी कुछ शिथिल सी मान्यता मनुष्यजाति में प्रवेश कर गई है ।

स्त्रियों की समानता का सूत्र भी हमारे देश में केवल विचार की कक्षा तक ही पहुँचा है, आचार की नहीं । गणिका संस्था इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । इस संस्था का पोषक पुरुष ही होता है, परंतु इसका कलंक उसे स्पर्श भी नहीं करता । कलंक की कालिमा केवल स्त्री के हिस्से में आती है । स्त्री पुरुष से कुछ हीन कोटि का प्राणी है, पुरुष को प्रसन्न रखने के लिए ही उसका निर्माण हुआ है, और प्रसन्न करने के प्रयत्न में जो दोष उपस्थित होते हैं, उनमें पुरुष का समभाग होने पर भी उनको वहन करने का दायित्व इस कनिष्ठ प्राणी पर ही है — आदि पुरुषों की मान्यताओं का, युग-युग के संस्कार के कारण, स्त्रियाँ भी समर्थन करती पाई जाती हैं ।

यूरोप का एक लेखक कहता, ''यूरोप तो पुरुषों की भूमि है । पुरुषों द्वारा, पुरुषों के लिए उसकी व्यवस्था की जाती है । और ये पुरुष हैं कैसे ? निष्ठुर, मनुष्य और मनुष्य के बीच की असमानता के दृश्य देख-देखकर कठोर बने हुए निर्धनों के जीवनमूल्यों के प्रति लापरवाह और स्त्रियों के प्रति समभाव से रहित । स्त्री का मनमाना उपभोग करने की छूट धनिकों, सैनिकों अमीरों और विद्यार्थिओं — सबको समान रूप से प्राप्त है ।'' स्त्रियों के साथ मनमाना बर्ताव करने वाले सैनिकों के खिलाफ तो अभी कुछ दिन पहले हमारे देश में भी काफी हो-हल्ला हुआ था ।

उपरोक्त विचार यूरोप के संबंध में व्यक्त किए गये हैं । परंतु उनकी व्याप्ति अन्य प्रदेशों या भारत में नहीं है, ऐसा अभिमान करना असंगत होगा । हमारे यहाँ भी पुरुष केन्द्रित समाजव्यवस्था ही प्रचलित है । स्त्रियों के यौन स्खलनों की सजा प्रमाण के अभाव में भी दी जाती है जबकि पुरुष का अपराध प्रत्यक्ष होने पर भी कोई उसकी ओर उँगली भी नहीं उठाता । पुरुष का उग्र काम-आवेग या उसका अशिष्ट प्रदर्शन पौरुष के प्रमाण के रूप में केवल पुरुषों की ही नहीं बल्कि छिपेछिपे स्त्रियों की भी प्रशंसा प्राप्त करता है । वेश्यागामी पति की मन ही मन सराहना करने वाली स्त्रियाँ सिर्फ तीन-चार पीढ़ी पहले हमारे देश में मौजूद थीं, यह भुलाने योग्य बात नहीं ।

यूरोप में तो किशोरों और युवकों को इतनी छूट मिलती है कि कामवासना संयम या आदर्श का खूँटा तोड़कर भाग खड़ी होती है । इस वातावरण में निर्मित होने वाले पुरुष मानस का गणिका संस्था को जीवित रखने में कितना महत्त्वपूर्ण भाग होगा इसकी शास्त्रीय छानबीन करने की भी आवश्यकता नहीं । इस प्रकार के कामावेश को अनिवार्य या स्वयंभू कहकर उसका समर्थन करने में हम बड़े बेढब अत्युक्ति करते हैं ।

पुरुष की माँग का प्रश्न केवल कामवासना की अनिवार्यता का प्रश्न नहीं । इसकी अनिवार्यता को तो

कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । विरोध इस बात का है कि आज की सभ्यता इस अनिवार्यता की सदा याद दिलाती रहती है । सिनेमा, नाटक, कहानी, उपन्यास, यौन विज्ञान के नाम पर बिकने वाला कामोत्तेजक साहित्य या प्रेम-स्वातंत्र्य की आड़ में पनपने वाली संयम शिथिलता आदि वर्तमान सभ्यता के अनेक अंग गणिकाओं की माँग को बढ़ाने में उपजाऊ जमीन का काम कर रहे हैं । वासना को उभाड़ने में ये तत्त्व जितने समर्थ हैं उतने उसे अंकुश में रखने में नहीं ।

इस प्रकार गणिकावृत्ति के एक सिरे पर सुख-स्वातंत्र्य के प्रलोभन से देह विक्रय करने वाली स्त्री है तो दूसरे सिरे पर कामवासना की अनिवार्यता का बहाना करके गणिकागृहों की ओर कदम बढ़ाता हुआ पुरुष है ।

परंतु इन दोनों के उपरांत, स्त्री पुरुष की इस परिस्थिति से अनुचित लाभ उठाकर, गणिकावृत्ति को व्यवसाय का रूप देने वाले दलालों और कुट्टनियों की टोलियाँ भी इस अनिष्ट के महत्त्वपूर्ण अंग हैं । अनीति के इन थोक व्यापारियों को इस पूरे व्यवसाय में गणिका की धनोपार्जन की क्षमता और गणिकागामी का अधिक से अधिक अर्थशोषण — इन दो बातों के सिवा और कोई दिलचस्पी नहीं होती । वासना की स्वाभाविकता और अनिवार्यता स्वीकृत हो जाने पर, उसे उकसाने के सभी मार्गों को ये देहव्यापारी उचित मानते हैं और कृत्रिम आवेग को स्वभावजन्य मनवाकर, इस व्यवसाय के प्रति जनसाधारण में आकर्षण निर्माण करके अपनी जेबें भरने में व्यस्त रहते हैं । इस व्यवसाय के सहारे चलने वाले नृत्यगृह, मधुशालाएँ, स्नानगृह, सौन्दर्य प्रसाधन गृह (beauty parlours), केशविन्यासगृह या तथाकथित निशारंजन समाज (night clubs) आदि पश्चिमी सभ्यता के तीर्थक्षेत्र इंद्रियों को बेकाबू करके, स्त्री पुरुषों को देह विक्रय और समागम की सुविधा प्राप्त कर देने वाले कामकेन्द्रों के सिवा और क्या हैं ? परंतु प्रतिष्ठित माने जाने वाले इन व्यवसायों के विरुद्ध शिकायत कौन कर सकता है । यद्यपि यह सभी जानते हैं कि ये सब तामझाम वेश्यावृत्ति की मध्यवर्ती दूकान की शाखा-प्रशाखा मात्र हैं ।

पेशेवर दलालों ने उपरोक्त साधनों का संघटन करके एक ऐसा मायाजाल फैलाया है जो गणिकाओं की कृत्रिम माँग खड़ी कर सकता है, उसे स्थायी बना सकता है या बढ़ा सकता है । नाच,गाना, शराब, जुआ और कामतृप्ति के सुविधाजनक स्थान खड़े करना, उनकी व्यवस्था करने को गुंडों की फौज रखना, स्त्रियों को बहकाने के लिए दलालों और कुट्टनियों को रुपये देकर उनकी सेवाएँ प्राप्त करना, गणिकाओं को सुनियंत्रित स्थानों पर एकत्र करके उन्हें पेशे की तालीम देना, एक बार फँसी हुई स्त्री जाने का नाम भी न ले सके इतनी जिम्मेदारी उसके सिर पर लादने के षड्यंत्र रचना, पुलिस और अन्य व्यवस्थापक शक्तिओं के साथ घनिष्ट मेल जोल रखकर व्यवसाय को अपराध की श्रेणी में जाने से बचाना, इस पूरे आयोजन की आर्थिक व्यवस्था करना, अपने पेशे की असलियत जाहिर न हो जाय इसलिए प्रतिष्ठित रहन-सहन और अन्य समाजमान्य व्यवसायों का आडंबर बनाये रखना इत्यादि बड़े पैमाने पर गणिका व्यवसाय चलाने की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं जो उच्च कक्षा की कार्यक्षमता और व्यवस्थाशक्ति की अपेक्षा रखती हैं । इस व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिए किसी घाघ व्यापारी का सा काँइयाँपन, किसी धर्म प्रचारक के जैसी प्रलोभनशक्ति, किसी अपराधी के जैसा चौकन्नापन, किसी ठग या डाकू के जैसी व्यवस्थित निर्दयता और किसी कूटनीतिज्ञ के समान, आवश्यकता पड़नेपर मूछ नीची करके तुरंत झुक जाने की अवसरवादिता आदि योग्यताएँ परम आवश्यक होती हैं ।



५
मैं और आप

इस व्यवसाय को जगत्‌व्यापी और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलाने के लिए उपरोक्त गुणों का चरम विकास आवश्यक है । प्रत्येक राष्ट्र के बड़े-बड़े शहर, औद्योगिक केन्द्र, बंदरगाह, ग्रीष्मविहार के पहाड़ी प्रदेश इत्यादि स्थानों पर पहुँचने वाले पुरुषों की अनेकविध माँगों की पूर्ति करने का आयोजन सचमुच पराकाष्ठा की योजनाशक्ति की अपेक्षा करता है । आर्मीनिया की स्त्री को सिंगापुर या हाँगकाँग के वेश्यालय में लाकर रखने के लिए आर्मीनिया में स्त्रियों को फँसानेवाले दलाल होने चाहिये; उन दलालों के पास इन स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए प्रलोभन के पर्याप्त साधन होने चाहिये ; वहाँ के बंदरगाहों से आने वाले जहाजों में इन स्त्रियों के लिए स्थान, टिकट आदि की व्यवस्था होनी चाहिये ; ये स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के लिए नहीं बल्कि किसी प्रतिष्ठित कार्य के लिए जा रही हैं इसका परवाना देने वाले सरकारी अफसरों को विश्वास दिलाना चाहिये ; यदि अफसर का समाधान न होता हो, तो उसका मुँह बंद करने को पर्याप्त धन चाहिये ; फाँसी हुई स्त्री सफर के दौरान में भाग न जाय, या अपना भावी कार्यक्रम किसी से कह न दे इसलिए उसके साथ उसे डरा धमका कर या फुसला कर वश में रखने वाला कोई साथी चाहिये ; जहाज में भी प्रतिष्ठित होने का ढोंग बना रहना चाहिये; बीस-पचीस दिन बाद सिंगापुर या हाँगकाँग पहुँचने पर आगंतुक स्त्री को पहचान कर उसे योग्य स्थान पर पहुँचा देने वाला मार्गदर्शक चाहिये ; वेश्यागृह में दाखिल हो जाने पर, नई आने वाली स्त्री पर निगरानी रखने के लिए, उसकी कमाई वेश्यागृह के मालिक को पहुँचाने के लिए और नई वेश्या असंतुष्ट न रहे या असंतुष्ट होने पर भी भाग न जाय बल्कि वेश्यागृह में ही फँसी रहे ऐसी जिम्मेदारियाँ उसके सिर पर लादने का षड़यंत्र रचने के लिए अनुभवी कुट्टनियों का जमघट चाहिये और नित्य नये ग्राहकों को फँसा कर लाने वाले दलालों का गिरोह चाहिये । इस बृहत् आयोजन से कल्पना की जा सकती है कि गणिका वृत्ति के व्यवस्थित अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय का प्रसार कितना व्यापक होगा । केवल एलेक्झांड्रिया, सिंगापुर या हाँगकाँग जैसे शहर ही इस शृंखला से बँधे हों, यह बात भी नहीं । इस व्यवसाय की शृंखलाएँ तो राज्य, देश, प्रजा, राष्ट्र आदि की सीमाओं को लाँघ कर और पूरे संसार में फैल कर एक विशाल विश्वव्यापी जाल की सृष्टि करती हैं ।

अंतर्राष्ट्रीय राज्यतंत्र जब होना होगा, तब होगा । अन्तर्राष्ट्रीय सेना, पुलिस या न्यायालयों की स्थापना भी होनी होगी तब होगी । विश्वबंधुत्व या विश्वनागरिकत्व भी अभी सुदूर भविष्य की कल्पनाएँ हैं । परंतु अंतर्राष्ट्रीय गणिकावृत्ति की विषवल्लरी के तोरण तो पश्चिम की संस्कृति ने आज ही संसार के हर राष्ट्र के दरवाजों पर बाँध दिये हैं । राजनीति में फरेब, धर्म में शराब, स्त्री संबंध में रोग, मित्रता में बेइमानी, विज्ञान में संहार और जीवन में दंभ का विकास करने वाली यह संस्कृति विषवल्लरी के तोरण दर-दर बाँधने के सिवा और कर भी क्या सकती है ? शराब, सिफलिस और उपनिवेशों की पराधीनता के साथ-साथ गौरांगिनी गणिकाओं के संसारव्यापी अस्तित्व को भी पाश्चात्य संस्कृति का आवश्यक लक्षण मानना पड़ेगा ।

पुरुष की स्वाभाविक या कृत्रिम माँग की परिणति इस व्यवसाय में हुई, परंतु इससे संबंधित स्त्री पुरुष तो केवल सूत्र चालित कठपुतलियाँ मात्र हैं, जिनका अपना स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं । ठोस वास्तविकता तो है यह पेशा जिसमें लाखों मनुष्य जुटे हुए हैं और जिसमें रोज करोड़ों रुपयों का लेनदेन होता है ।

गणिकावृत्ति में इस सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं । बाह्य दृष्टि से देखने पर तो तिरस्कृत और निंदापात्र गणिका ही इस व्यवसाय के केन्द्र मालूम देती है । परंतु अकेले उप पर ही ध्यान केन्द्रित होना

एक आकस्मिक घटना है — एक छल है — एक फरेब है — एक असत्य है । उसके साथ उसके देह को कुछ घड़ियों के लिए खरीदने वाले पुरुषों की — प्रतिष्ठित पुरुषों की — कतारे हैं, उसके देह को बंधन में रखने वाले गुंडों के गिरोह हैं, उसकी कमाई का अधिकांश हजम कर जाने वाले दलालों की टोलियाँ हैं, उसके चारों ओर दूकाने लगाकर पेट पालने वाले पान, सिगरेट, कोकेन विक्रेताओं के झुंड हैं, उससे संबंधित अपराधों की उपेक्षा करके अपनी जेबें भरने वाले प्रजारक्षक पुलिस के दल हैं और.......
और इस पूरे व्यवसाय की ओर से आँखें मूंद कर उसका परोक्ष अनुमोदन करने वाला, मौका मिलते ही उसकी मृगमरीचिका में डुबकी लगाने की सुप्त अभिलाषा रखने वाला, परंतु खुले आम उसकी निंदा और अवहेलना करने वाला पूरा प्रतिष्ठित समाज.......

.......और यह मत भूलिये कि इस प्रतिष्ठित समाज में आप भी हैं, और मैं भी हूं ।



पाँचवाँ परिच्छेद
समाज और गणिका
१
सामाजिक स्तर और गणिका

पुरुष की माँग और उसकी पूर्ति के कुछ परिणाम हम पिछले परिच्छेद में देख चुके हैं । पुरुषों के उपभोग के लिए देह विक्रय करने को तत्पर स्त्रियाँ मिलती रहें इसकी व्यवस्था करना इस संस्था के बड़े व्यवसायिओं के मुख्य कार्य हैं । ऐसी स्त्रियों की पूर्ति कैसे, कहाँ से और किन कारणों से होती है — इस पर भी हमने विचार किया । अब तक के विवेचन को एक केन्द्रित करके विचार करें तो गणिकाओं की पूर्ति को तीन दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है :—

१. इस पूर्ति का मूलस्रोत कहाँ है, इसका विचार करना चाहिये ।

२. इस पूर्ति की संख्या, विस्तार और अनुपात को ध्यान में रखना चाहिये ।

३. इस पूर्ति को नियंत्रित करके माँग को बढ़ाने या घटाने वाले कृत्रिम प्रभावों की उत्पति हो सकती है या नहीं — इस का विचार करना चाहिये ।

हम पहले कह चुके हैं कि भारत में गणिकासंस्था संबंधी कोई विस्तृत छानबीन नहीं हुई । जगगणना में जब वेश्याओं को अलग से गिनने का रिवाज था, तब भिखारियों या अन्य जीवन यापन के साधनहीनों के अंतर्गत उनकी गिनती अलग की जाती थी । अब यह प्रथा भी बंद हो गई है और इस स्रोत से भी पूर्ण या सच्ची जानकारी मिलना मुश्किल हो गया है । अतः समाज के किन स्तरों से गणिकाओं की पूर्ति होती है, इसका विचार अन्य साधनों द्वारा ही करना होगा ।

कभी-कभी ब्राह्मण, वैश्य आदि उच्च वर्णों की बाल विधवाएँ, त्यक्ताएँ या धोखा फरेब का शिकार हो जाने वाली कुमारिकाएँ गणिकावृत्ति की शरण लेती दिखाई देती हैं, परंतु अपने देश की पतिताओं का अधिकांश तो समाज के निचले स्तर से ही आता है । इस संबंध में विचारकों का मतैक्य है कि अनिपुण माताओं की अनिपुण पुत्रियाँ ही इस पेशे में भरती होती हैं । वंशपरंपरा के व्यवसाय के रूप में नृत्य-संगीत में कुशलता प्राप्त करके इस व्यवसाय को अपनाने वाली जातियों को इस नियम के अपवाद रूप मानना होगा । इन गणिकाओं का नृत्य संगीत का ज्ञान प्रायः उच्च कोटि का होता है जो निरंतर अभ्यास, परिश्रम और निपुणता की अपेक्षा रखता है । इन कलावतियों को उपरोक्त अनिपुण अभागिनियों के वर्ग में कैसे घसीटा जा सकता है ?

परंतु कला की आभा दिन पर दिन निस्तेज होती जा रही है । वर्तमान युग में तो गणिकावृत्ति की पूरी प्रक्रिया देहसुख में समा गई है जिसमें नाजुक और सुकुमार कलाविलास के स्थान पर निर्लज्ज और भावशून्य कामुकता ही बची है । इस वातावरण में, अधिकांश गणिकाओं को कलानिपुणता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । अतः गणिकाओं की बहुत बड़ी संख्या समाज के निचले स्तर से आती है इतना ही नहीं, बल्कि उनमें साधारण शिक्षा, तालीम या संस्कार का भी पूर्ण अभाव होता है । ऊपर उल्लेख किए हुए कुछ अपवादों को छोड़ कर बाकी सब किसी भी प्रकार की कला या निपुणता से रहित होती हैं और अपने व्यवसाय की पूरी इमारत अपने देह-सौष्ठव या अन्य शारीरिक आकर्षणों की बुनियाद पर ही रचती हैं । फ्रान्स-पेरिस को तो यूरोप का परिस्तान कहा जाता है । परंतु वहाँ के एक लेखक का कहना है कि सड़कों

फ़िर घूमकर ग्राहक फंसाने वाली या टाट के परदे के पीछे पेशा करने वाली वेश्याओं और अत्यंत ठाठबाट व साजसिंगार वाली ठसकदार गणिकाओं में मानसिक संस्कार या बौद्धिक विकास की दृष्टि से कोई अंतर नहीं होता । दोनों का उद्भव एक ही सामाजिक स्तर से होता है और दोनों की मनोवृत्ति एक सी होती है । यदि टाइपिस्ट, शिक्षिका, नटी या नर्स जैसे वर्गों में से कोई युवती इस व्यवसाय में आती है तो उसकी शिक्षा और संस्कारों की झलक छिपी नहीं रहती । परंतु इनकी गणना अपवाद के अंतर्गत ही होगी । पेरिस की एक गणिका में शिक्षा, संस्कार और मोहक शिष्टता का असामान्य विकास देखकर एक रसिक पूछ बैठा, ''तेरी जोड़ की दूसरी गणिका कहाँ मिलेगी ?'' अभिमान से, — सच्चे और क्षम्य अभिमान से — उसने उत्तर दिया, ''मैं तो लाखों में एक हूं । मेरी जोड़ी मिलना मुश्किल है ।''

भारत की गणिकाओं की यदि गणना की जाय, तो यही मालूम होगा कि उनका बहुत बड़ा भाग समाज के उस निम्नतर स्तर से आता है जो शिक्षा और संस्कार से सर्वथा वंचित होता है । घरेलू काम करने वाली नौकरानियाँ, मजदूरिने, गंवारिनें और नीची जातियों की स्त्रियाँ ही भारत के गणिकाभंडार को भरा पूरा रखती हैं । कलावती गणिकाएँ अपवाद रूप मानी जा सकती हैं । परंतु प्राय: यही देखा जाता है कि इन कलावतियों में कला की साधना तो उच्च कोटि की होती है, परंतु शिक्षा के अभाव से संस्कार कक्षा और बौद्धिक स्तर कुछ गिरे हुए ही होते हैं ।

कहने का आशय यह कदापि नहीं कि समाज का यह निम्न स्तर पूरा का पूरा अध: पतित, जर्जर और क्षीण होता है । क्षीण और खोखला होने के कारण लुप्त हो जाने का भय तो तथाकथित उच्च वर्गों को ही अधिक होता है । जिन वर्गों में से ये गणिकाएँ आती हैं, वे पूरे के पूरे वर्ग इसी व्यवसाय पर आधार रखते हों — यह बात भी नहीं । इससे यही प्रमाणित होता है कि समाज के निचले स्तरों में से होनेवाली गणिकापूर्ति के लिए उनकी विकट और भयानक परिस्थितियाँ ही जिम्मेदार हैं — उनके जन्मजात या स्वभावजन्य संस्कार नहीं । ये परिस्थितियाँ कृत्रिम और संयोगजन्य हैं, एवं उनमें परिवर्तन हो सकता है, इस संभावना के आधार पर ही इन वर्गों की भावी उन्नति की आशा की जाती है । स्कॉट नामक पाश्चात्य विचारक तो यहाँ तक कहता है कि स्त्रियों के लिए समाज में उपलब्ध अन्य व्यवसायों में काम करने वाली स्त्रियों की अपेक्षा पतिताओं का वर्ग बुद्धि, शिक्षा या संस्कार की दृष्टि से किसी तरह कम होता है यह मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं ।

'कवि जन्म लेता है, गढ़ा नहीं जाता' इस आशय की एक अंग्रेजी कहावत की व्याप्ति अन्य क्षेत्रों तक बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए कुछ लोग, 'पतिता जन्म लेती है ; गढ़ी नहीं जाती' जैसे कथन को प्रचलित करने की कोशिश करते हैं । भारत की गणिका-जातियों में जन्म लेने वाली स्त्रियों के सिवा अन्य किसी पतिता के संबंध में यह कहना उचित नहीं । स्त्रियों में इस व्यवसाय की प्रवृत्ति एकाएक कभी नहीं जगती, बल्कि एक-एक कदम बढ़ते हुए, धीरे-धीरे होती है । ऐसा कभी नहीं होता कि जैसे ही पति की मृत्यु हुई या पति ने त्याग दिया या रुपये की जरूरत आ पड़ी, या उद्दीप्त कामवासना अतृप्त रही कि तुरंत स्त्री गणिका का पेशा लेकर बैठ जाती हो । इस मार्ग पर स्त्री की अधोगति क्रमश: कई दुरवस्थाओं से गुजर कर होती है । प्रतिष्ठित समाज में से इस अप्रतिष्ठित व्यवसाय में आने से पहले स्त्री अनीति के कई ढलवाँ सोपानों को पार करके, उनकी निर्लज्जता से अभ्यस्त होती है और अंत में और कोई रास्ता न सूझने पर, निरुपाय होकर ही इस पेशे को स्वीकार करती है ।

शिक्षा अपर्याप्त पाई हो, बुद्धि का संपूर्ण विकास न हुआ हो, जिम्मेदारी की भावना जागृत न हुई हो, वासना समय से पहले उद्दीप्त हो गई हो, घर का वातावरण शराबखोरी, निर्दयता या भ्रष्टाचार से दूषित हो, आसपास के व्यक्तियों से सदा दुराचार की ही प्रेरणा मिलती हो और उनकी सूचना से किए गये भ्रष्ट

आचरण द्वारा कमी-कमी थोड़ी बहुत धनप्राप्ति हो जाती हो तो कच्ची उम्र की युवतियों का वेश्यावृत्ति की ओर झुकाव हो जाने की संभावना बहुत अधिक रहती है । यूरोप के घिचपिच जनसंख्या वाले शहरों की बस्तियों का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्रज्ञ सिडनी वेब कहते है : ''मजदूरों और गरीबों की बस्तियों में रहने का जिन्हें कमी मौका पड़ा हो वे जानते हैं कि समाज के इस स्तर के बालक परिपक्व अवस्था से पहले ही भ्रष्ट यौन संबंधों के शिकार हो जाते हैं । वैयक्तिक चरित्रशुद्धि का नामोनिशान भी इनमें नहीं होता । अनेक प्रकार के विचित्र और विकृत यौन-व्यवहार इनमें व्यापकता से फैले पाये जाते हैं । उन व्यवहारों की भयानकता या गंभीरता का इन्हें ज्ञान न होने के कारण वे अकसर इनके गंदे मजाक का विषय बन जाते हैं । एडिनबरो शहर की एक छानबीन में एक स्थान पर यह देखा गया कि माता, पिता, बदी, तेरह वर्ष की पुत्री और दो छोटे बालकों को एक कोठरी में ही नहीं बल्कि एक ही बिस्तर पर पड़े रहना पड़ा था । यह तो हुई पश्चिम के ठंडे प्रदेशों की बात । अपने यहाँ के बम्बई-कलकत्ता जैसे ऊष्ण प्रदेश के शहरों की हालत इससे भी खराब है । इन शहरों की मजदूर बस्तियों पर एक नजर डालते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

कच्ची उम्र की बालिकाओं या नाबालिग युवतियों पर इस भयानक वातावरण का क्या असर पड़ता होगा इसकी कल्पना के लिए एक ही उदाहरण काफी है । सन् १८८० से सन् १९०३ तक के तेईस वर्षों में पेरिस नगर की पुलिस ने ३२,८८५ अल्पवयस्क लड़कियों को वेश्यावृत्ति करते हुए पकड़ा । इस हिसाब से प्रतिवर्ष का औसत हुआ लगभग १४३० — और अल्पवयस्क या नाबालिग स्त्री की व्याख्या है : सोलह वर्ष से कम उम्र की लड़की ! यह तो हुई पकड़ी जाने वाली नाबालिक युवतियों की संख्या । सड़कों पर भटक कर ग्राहक फँसाने के कार्य को सरकार ने अपराध माना, इसलिए ये पकड़ी गईं । परंतु पकड़ाई में न आने वालियों की संख्या कितनी होगी ? जब सोलह वर्ष से अंदर की अल्पवयस्काओं की यह हालत है, तो इस आयु को पार कर जाने वाली वयस्काओं की संख्या का तो सिर्फ अंदाज किया जा सकता है और रास्ते पर भटके बिना, परवाना प्राप्त करके, वेश्यागृहों में रहकर पेशा करने वाली पतिताओं की संख्या की तो शायद कल्पना भी न हो सके ।

पेशेवर पतिताओं की संख्या का सही-सही अंदाज लगाना कठिन है । जनगणना के अंकों से ऐसे विषयों की संपूर्ण जानकारी कमी नहीं मिल सकती । बड़े शहरों के पुलिस दफ्तरों में दर्ज संख्याएँ या समाज सेवकों के अध्ययन कुछ मार्गदर्शन कर सकते हैं ; परंतु इससे सब देशों की संपूर्ण संख्या प्राप्त नहीं होती । कुछ बड़े शहरों की गणिका संख्याओं का अंदाज हम अन्यत्र दे चुके हैं । उसके आधार पर कुछ धुँधली सी कल्पना की जा सकती है । दर असल इस व्यवसाय से गुजारा चलाने वाली स्त्रियों की संख्या इतनी बड़ी है कि उसकी कल्पना करने से भी मति कुंठित हो जाती है । इस संख्या का अंदाज लगाते समय एक ओर हमारे समाज के एक अंधकारमय पक्ष की ओर हमारी नजर जाती है तो दूसरी ओर उदरपूर्ति के प्रश्न का महत्व हमारी चेतना पर अमिट रूप से अंकित हो जाता है ।

इस मार्ग पर प्रवृत्त करने वाले अनेकानेक कारणों में से पार होकर और इससे कुछ अभ्यस्त होने पर, इस पेशे को स्वीकार करने का अंतिम निश्चय किन परिस्थितियों में किया जाता है ? इस संबंध में स्टॉकहोम की ८०० गणिकाओं का अवलोकन हमारा मार्गदर्शन कर सकता है । इन ८०० गणिकाओं में से ७१ प्रतिशत ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया कि अंतिम निश्चय उन्होंने किसी न किसी की प्रेरणा से ही किया । २७५ युवतियों को पेशेवर वेश्याओं ने और २१५ युवतियों को छिप कर धंधा करने वाली गणिकाओं ने यह राय दी । ८१ युवतियों को कमी-कमी वेश्यावृत्ति करने वाली उनकी सहेलियों ने और चार अभागिनों को तो उनकी माताओं ने इस व्यवसाय को स्वीकार करने को प्रेरित किया ।

अन्य मतभेदों को भुलाकर इतना तो निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि अधिकांश पतिताएँ समाज के निम्नतम स्तर से आती हैं । परंतु प्रश्न है, संसार में उच्च स्तर के लोगों की संख्या कितनी है । मनुष्यजाति का बहुत बड़ा भाग अब तक निम्न कहे जाने वाले वर्ग के अंतर्गत ही आता है । उच्च वर्गों को अपना स्थान छोड़ना नहीं है । इतना ही नहीं बल्कि प्राप्त को कस कर पकड़े रखने वाले इस वर्ग के लोगों में अप्राप्त को हथियाने की बेचैनी भी सदा बनी रहती है । इस वर्ग के स्वार्थ और असंतोष की कोई सीमा नहीं । उच्च वर्गों में से आने वाली पतिताओं की संख्या नगण्य होती है इस विचार से अभिमान करना भी इस वर्ग को शोभा नहीं देता । दुराचारी पिता और शीलभ्रष्ट माताएँ, शराब का व्यसन और कामवासना का अतिरेक, विलासी मनोवृत्ति और आलसी स्वभाव निचले स्तरों के समान उच्चवर्गों में भी पाये जाते हैं । सामाजिक अनिष्टों की सृष्टि में अपना योगदान देने में भी यह वर्ग कभी पीछे नहीं रहता । परंतु प्रतिष्ठा, वासनातृप्ति के साधनों की सुगमता, अनेक प्रकार के व्यवसायों और मनोरंजनों में व्यस्त जीवन, उच्च प्रकार की कलात्मक या साहित्यिक अभिरुचि, सुशिक्षा, उच्च संस्कारयुक्त वातावरण और अपने अनिष्ट कार्यों को छिपा सकने की क्षमता आदि सुविधाएँ इस वर्ग को सरलता से प्राप्त होने के कारण, व्यवसाय के रूप में गणिकावृत्ति को स्वीकार करने की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती । इस वर्ग में भ्रष्टाचार होता ही नहीं, यह दावा कोई नहीं कर सकता । परंतु स्वेच्छाचार के प्रसंग सिर्फ उपहास या निंदा के विषय बनते हैं और बात वहीं रुक जाती है । इस पेशे में प्रवृत्त करने वाली मजबूरियों को वहीं रोक देने वाले रक्षा के अनेक साधन उपलब्ध हो जाते हैं । गणिकाओं का पोषण करने वाले पुरुषों की संख्या इस वर्ग में भी पर्याप्त पाई जाती है । परंतु इस वर्ग की स्त्रियों को धन का अभाव न होने से गणिकावृत्ति के पतित व्यवसाय से वे प्राय: बच जाती हैं ।

दोनों वर्गों की परिस्थितियों की तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अनिष्ट तत्व तो समाज के ऊँचे और नीचे, सभी वर्गों में पाये जाते हैं । परंतु शिक्षा का अभाव या दोषयुक्त शिक्षा प्रणाली, दीर्घदृष्टि और मर्यादा की भावना का अभाव, इच्छाओं का प्राबल्य और उनकी पूर्ति के साधनों की न्यूनता आदि निम्नस्तर के लक्षण घोर दारिद्र्य के साथ मिलकर स्वाभाविक रूप से एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जो गणिकाओं के निर्माण के लिए अत्यंत अनुकूल होता है ।

२
देखादेखी

सुंदर गहने कपड़े पहने हुए किसी धनिक स्त्री को देखकर उसकी नौकरानी के मन में उसका अनुकरण करने की इच्छा न हो — यह मानना अवास्तविक होगा । नौकरानी के पास धन नहीं, इसी कारण से वह मालकिन की तरह धन खर्च करके वस्त्रालंकार प्राप्त नहीं कर सकती । यह कमी उसके मन में तीव्र असंतोष उत्पन्न करे या उन्हें प्राप्त करने की अभिलाष उसके मन में प्रबल मोह जागृत करे, यह भी असंभव नहीं । जो पुरुष उसके इस असंतोष को दूर करके उसकी अभिलाषा संतुष्ट करे, उसे, बदले में, ऐसी अकिंचन स्त्री देह समर्पण के सिवा और क्या दे सकती है ? उसके पास देह के सिवा अन्य साधन ही क्या है ?

मोटर में घूमने वाली किसी धनिक युवती को देखकर, सिर पर साग-सब्जी का टोकरा लादे जाती हुई स्त्री के मन में मोटर में बैठने की इच्छा ही न हो, यह कहना मानव स्वभाव के अज्ञान का सूचक है । ऐसी किसी श्रमिक स्त्री को सुंदर वस्त्रालंकार मिलें या किसी आकर्षक युवक के साथ मोटर में बैठकर



घूमने का मौका मिले तो उसकी कौन सी शिक्षा या कौन से संस्कार उसे देह समर्पण करने से रोक लेंगे ? धन और वैभव की खातिर देशहित को बेच देने वाले शिक्षित और संस्कारी लोगों की अपने यहाँ कमी नहीं । धन वैभव के प्रलोभन का सामना करना यदि धनी, शिक्षित और संस्कारी कहाने वाले लोगों के लिए भी मुश्किल है, तो अशिक्षित, असंस्कारी और श्रमजीवी वर्ग की किसी स्त्री के मन में इनका मोह उत्पन्न हो और उसकी तृप्ति के बदले में वह क्षणभर के लिए अपना शरीर अर्पण करने को प्रस्तुत हो जाय, तो इसमें आश्चर्य किस बात का ?

मधुर-संगीत और झगमगाते प्रकाश से भरे आह्लादक वातवारण में सुंदर टेबल-कुरसियों पर बैठ कर स्वादिष्ट भोजन करती हुई किसी धनिक स्त्री को देखकर उसके बालक की आया के मन में असंतोष नहीं होना चाहिये, यह कहने वाली स्त्री को सिर्फ छः मास तक अपनी और आया की स्थिति को अदलबदल करके देखना चाहिये । उस आया को यदि कोई युवक ताजमहल होटल में ले जाकर, अपने खर्च से, मनचाहा खाना खिलाये तो रोज आधेपेट रहने वाली यह आया, बदले में उस युवक को क्या दे सकती है ?······· या क्या नहीं दे सकती ?

श्रमिक जीवन आज दरिद्रता का पर्याय बन गया है । परंतु दरिद्रों और श्रमजीवियों को भी सुखेच्छा या भोगेच्छा होती है । नहीं होते उस इच्छा को तृप्त करने के साधन । 'यदि देह इन साधनों का स्थान ले सकता हो और देह के बदले में इन इच्छाओं की तृप्ति हो सकती हो, तो देह समर्पण करने में क्या हर्ज है' — यह विचार श्रमजीवी स्त्री के मन में आने से कैसे रुक सकता है ? उसके पास न तो शिक्षा है न संस्कार ; न कोई आदर्श है और न अप्रतिष्ठा का डर । धनिकों को पाप से परावृत्त करने वाले, या समय पड़ने पर उनके पापों को ढँकने वाले ये कवच गरीबों के किसी काम के नहीं । पहली बार वह उपकार आनंद या कुतूहल की भावना से देह अर्पण करती है ; दूसरी बार उसे यह मार्ग अत्यंत सरल लगता है और तीसरी बार वह सीधी गणिकागृह में जा बैठती है ।

अपनी नौकरानी को धमकाते हुए एक प्रतिष्ठित और धनाभिमानी गृहिणी बोली, ''तू इतने गंदे कपड़े पहन कर काम करने क्यों आती है ??'

''क्या करूँ बाई साब ! हम गरीब आदमी ठहरे । अच्छे कपड़े कहाँ से लायें ?'' नौकरानी ने उत्तर दिया ।

''गरीब आदमी ? गरीबी के बहाने गंदे रहने का अधिकार किसी को नहीं मिलता ।'' सेठानी जी बोलीं ।

हर तीसरे दिन नौकर-नौकरानियों को तनखा दिये बिना निकाल देने का अधिकार रखने वाली सेठानीजी ने अधिकार की व्याख्या का एक नया सूत्र सुनाकर गरीब नौकरानी की जबान बंद कर देने का संतोष जरूर प्राप्त किया ; परंतु नौकरानी की समझ में फटे कपड़े पहनने के अनधिकार की बात आई या नहीं, हम नहीं जानते । हम तो इतना ही कह सकते हैं कि गरीबी के बहाने की मजबूरी से गंदे रहने का अधिकार किसी को है या नहीं इस प्रश्न का निराकरण तो तब हो सकता है जब सेठानी जी छः मास के लिए नौकरानी का स्थान लें और नौकरानी का जीवन गुजारें ।

गरीबी का अर्थ है अधिकार-समस्त का अभाव । मनुष्य अधिकार से जीना चाहता है । गरीबी में जीवन का और कोई अधिकार तो मिलता नहीं । अतः वह गंदगी में जीने का अधिकार माँगता है । शिष्ट समाज — सभ्य समाज — सुखी समाज को अपना जीवन बेचकर ही गरीब जी सकते हैं । दूसरे शब्दों में कहें, तो वे जीते भी इसी लिए हैं कि इस सुखी समाज का सुख और भी बढ़ सके ।

३
सामाजिक अव्यवस्था

हमने देखा कि धन का असमान वितरण गणिकावृत्ति का एक प्रधान कारण है । इस मामूली सी बात को समझने के लिए साम्यवाद का अध्ययन आवश्यक नहीं । हमने यह भी देखा कि गणिकावृत्ति प्रधान रूप से स्त्रियों का प्रश्न है परंतु उसका उत्तरदायित्व पुरुष की अतृप्त वासनापर है । स्त्रियों में भोगेच्छा का नितांत अभाव होता है, यह कहने का आशय नहीं । कामवासना पुरुष और स्त्री, दोनों में पाई जाती है और इस प्रबल आवेगमय वासना की अतृप्ति ही पतितासंस्था का प्रधान या आद्य कारण है । समाज ने इस भूख की तृप्ति के लिए कुछ शिष्ट मार्ग मान्य किये हैं । परंतु कभी कभी अनेक स्वाभाविक या अस्वाभाविक कराणों से ये शिष्ट संबंध देह की भूख को तृप्त नहीं कर पाते । कामवासना की तृप्ति को विवाह संस्था के अंतर्गत ही मर्यादित रखने के लिए समाज ने स्त्रियों की आर्थिक असमानता और पराधीनता की दीवारें खड़ी कीं । गणिका संस्था इन दीवारों के विरुद्ध स्त्री और पुरुष — दोनों का विद्रोह है । गणिका संस्था अशिष्ट, अस्वीकार्य और अप्रतिष्ठित संबंधों के एक व्यवस्थित नियोजन के रूप में विवाह संस्था के मुकाबले में खड़ी होकर, उसे चुनौती देती हुई, उसकी असफलता के रंगों को और भी गहरा करके दिखाती है । पुरुष के हाथ में अर्थव्यवस्था के सूत्र हैं ; अत: वह धन देकर वासनातृप्ति कर सकता है ; जब कि स्त्री के पास देह के सिवा और कोई साधन न होने के कारण,वह देह समर्पित करके अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है ।

स्त्रियों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और व्यापक जीवन व्यवसाय है: विवाह ! विवाह एक ऐसी जीवन व्यवस्था है जिसमें वासनातृप्ति जैसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व धीरे-धीरे अपना महत्त्व भूलता जाता है । परंतु स्त्रियों को यदि जीवन यापन के लिए विवाह से भिन्न कोई और व्यवसाय करना पड़े, जिसमें सुविधाओं का अभाव हो या अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता हो, तो स्त्री अपने शारीरिक आकर्षण का उपयोग करके देह विक्रय के लिए प्रवृत्त हो सकती है । इस व्यवस्था से दोनों को सुविधा हो जाती है । स्त्री के पास देह के सिवा बेचने योग्य और कोई वस्तु नहीं और पुरुष की वासनातृप्ति के लिए स्त्री देह की आवश्यकता अनिवार्य है ।

गणिकावृत्ति के अन्य कारण केवल सहायक कारण कहे जा सकते हैं । इनमें गरीबी सबसे प्रधान कारण है; परंतु उसके तुलनात्मक महत्व के विषय में विचारकों में सबसे अधिक मतभेद है । फिर भी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गरीबी, आरामतलबी एवं विलासप्रियता, असंतुष्ट गृहजीवन और अतिजागृत होकर लगातार तृप्ति चाहने वाला प्रबल कामोन्माद (nymphomania), इन चार तत्वों में सब सहायक कारणों का समावेश हो जाता है ।

पूरी समाज रचना में व्यापी हुई अव्यवस्था की पार्श्वभूमि तो इस प्रश्न के पीछे है ही । विवाहित जीवन के अंतर्गत या अजीविका प्रदान करने वाले व्यवसायों में कभी-कभी स्त्री के लिए ऐसी असह्य परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि विवाहित या व्यावसायिक जीवन व्यतीत करने वाली प्रतिष्ठित स्त्रियाँ भी उनमें से छूटने को व्याकुल हो जाती हैं । गणिकावृत्ति का आकर्षण सामने तैयार खड़ा रहता है और एक बार उस ओर पाँव फिसलने पर लौटना असंभव हो जाता है ।

इस संबंध में एक और बात भी मननीय है कि एक बार स्वीकार करके इस व्यवसाय को छोड़ देना

गणिकाओं को अत्यंत अप्रिय लगता है । लंडन की सड़कों पर भटक कर वेश्यावृत्ति करने वाली फ्लोसी नामक एक पतिता से जब गणिकावृत्ति छोड़कर पुस्तकों की जिल्दसाजी का काम करने को कहा गया, तो उसने कहा, ''इस पेशे को छोड़कर मैं अन्य काम करूँ ? किसलिए ? मुझे उससे क्या लाभ होगा ? जिल्दसाजी का काम तो मैं मर जाने पर भी नहीं करूँगी । मेरी माँ यही काम करती थी । जानते हो उसे प्राप्ति कितनी होती थी ? कारखाने के मालिक ने मेरे पिता को दस पाउंड उधार दिये, तब कहीं दोनो का विवाह हो सका । और विवाह का तो नाम भी न लेना । उससे तो मैं इसी तरह सड़कों पर भटकते-भटकते मर जाना पसंद करूँगी । मेरी माँ की विवाह के बाद क्या दुर्दशा हुई, यह मैंने अपनी आँखों से देखा है । मेरे उपरांत उसके आठ बच्चे और थे । यदि डंडा लेकर उसने मेरे पिता का सामना न किया होता, तो न जाने और कितने बच्चे होते । उफ....... बिस्तर पर ही लाठी रखकर सोती थी



बेचारी .... यह है आपका विवाह .... माफ कीजिये .... मुझे इसकी जरूरत नहीं ।'' शिकागो की 'उमरावजादी' नाम से प्रसिद्ध गणिका का निवेदन भी मननीय है । यह सड़कों पर भटकने वाली वारांगना नहीं थी । उच्चकोटि के भोजनगृहों, निशामंडलों (night clubs) और नृत्यालयों में इसकी माँग थी और सदा उत्तमोत्तम वस्त्रालंकारों में सजी हुई रहती थी । इसका उद्धार करने का प्रयत्न करने वालों को इसने मुँहतोड़ उत्तर दिया, ''मैंने इस पेशे को आँखें खुली रखकर पसंद किया है । पर्याप्त धन कमाकर निवृत्त न हो जाऊँ, तब तक अन्य किसी व्यवसाय की बात मैं सोच भी नहीं सकती । मेरे प्रशंसकों में से मैं जिसे पसंद करूँ वह मेरे साथ विवाह करने को प्रस्तुत हो, तो अलग बात है । इसके सिवा और कुछ मैं नहीं कर सकती । मेरे पास धन है । मैं चाहूँ तो इस धन से अन्य कोई व्यवसाय कर सकती हूँ । परंतु यह भारी जोखिम का काम है । मेरी एक सहेली ने अपनी पूरी जमा-पूँजी लगाकर, एक रेस्टॉरॉं शुरू किया । आरंभ में तो काम अच्छा चला, परंतु छः मास के अंदर उसे सब छोड़ छाड़ कर अपने पुराने व्यवसाय में आना पड़ा । नहीं साहब ! मैं तो इस सुरक्षित, संरक्षक और परंपरा से चले आने वाले व्यवसाय को छोड़ना नहीं चाहती ।''

गरीबी की व्याख्या करना सरल काम नहीं । गणिकावृत्ति के कारणों पर विचार करते समय गरीबी पर ही संपूर्ण बल देकर, अन्य तत्त्वों की उपेक्षा करना भी वास्तविकता से दूर है क्योंकि इस पेशे में एक

बार कदम रखे बाद, उद्धार के प्रयत्न सफल नहीं होते, यह मानी हुई बात है । धार्मिक संस्थाएँ, पादरीओं के मठ या समाज सेवक और पतितोद्धारक संस्थाएँ पतिताओं को उनके कार्य से परावृत्त करने के प्रयत्न करती रहती हैं । राह भूली युवतिओं को उनके परिवार में पहुँचा देने के, किसी संबंधी की निगरानी में रखने के, किसी आश्रयस्थान में दाखिल करा देने के या किसी कामधंधे में लगा देने के प्रयत्न भी अनेक सामाजिक संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं । परंतु सद्भावना के इन प्रयत्नों को मिलनी चाहिये उतनी नहीं मिलती और पतिताओं के सहयोग तो नहीं के बराबर मिलता है । कुछ संस्थाएँ पतिताओं के विवाह भी करा देती हैं । अनेक पतिताओं के विवाहित जीवन सुख और संतोष से बीतते हैं, इसके प्रमाण भी उपलब्ध हैं । उपरोक्त 'उमरावजादी' की कथनी में भी विवाह करने की तत्परता उल्लेखनीय है । संयुक्त परिवार की सुरक्षा प्राप्त न कर सकने वाली अनेक युवतियाँ कुछ दिन तक चोरी छिपे गणिकावृत्ति करके कुछ धन जुटा कर, अंत में विवाह कर लेती हैं । खुलेआम गणिकावृत्ति करने वाली युवतियाँ भी इस व्यवसाय से पर्याप्त धन प्राप्त करके अंत में अपने मन चाहे पुरुष के साथ विवाह करके स्थिर और प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करने के स्वप्न देखा करती हैं ; और कई बार उनकी यह अभिलाषा पूरी भी हो जाती है । परंतु पर्याप्त कमाई किये बिना और संपूर्ण आर्थिक स्वातंत्र्य प्राप्त किये बिना इस व्यवसाय से निवृत्त होने की इच्छा बहुत कम गणिकाओं में पाई जाती है ।

कई देशों में वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को अपना नाम ठाम पुलिस के दफ्तर में दर्ज कराना पड़ता है । नाम दर्ज करने से पहले पुलिस अफ्सरों द्वारा उन्हें कोई अन्य काम धंधा करने की या किसी आश्रयस्थान में रहने की सलाह दी जाती है । परंतु इस राय से शायद ही कोई पतिता सहमत होती हो । बर्लिन शहर में दस वर्ष के दरमियान हजारों युवतियों ने पुलिस दफ्तर में नाम दर्ज कराये ; परंतु दस वर्षों में केवल दो युवतियों ने अन्य व्यवसाय करने की पुलिस की सूचना पर अमल किया ।

इंग्लैंड में भी पतिताओं के लिए आश्रयस्थान प्रस्तुत करने वाले समाज सेवकों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही आती है कि जिनके लिए ये आश्रयस्थान खोले गये हैं वे गणिकाएँ इन स्थानों में आश्रय या सुरक्षा प्राप्त करने के लिए बिलकुल तत्पर नहीं होतीं । अन्य देशों में भी यही स्थिति पाई जाती है । इतना ही नहीं, यह भी देखा गया है कि आश्रयस्थानों से निकली हुई अधिकांश स्त्रियाँ बहुत जल्दी फिर से गणिकावृत्ति की ओर अग्रसर हो जाती हैं ।

सहायता के प्रस्ताव को ठुकरा कर गणिकावृत्ति को स्वीकार करना, एक बार गणिका व्यवसाय मे प्रवेश करने पर उसे छोड़ने की इच्छा न होना, अन्यत्र आश्रय प्राप्त हो जाने पर भी, उसे छोड़कर गणिकावृत्ति में वापस लौट आना आदि मनोवृत्तियों के पीछे दरिद्रता का भय और विगत जीवन के कष्टों की दुखभरी याद कारणरूप होते हैं । इंग्लैंड में एक तिहाई भाग की पतिताओं ने किसी भी प्रकार की सामाजिक सहायता लेने से स्पष्ट इनकार कर दिया था और हंगरी में तो सहायता लेने से एक भी गणिका तैयार नहीं हुई ।

इन सब कारणों से, कुछ विचारकों की मान्यता है कि गणिका व्यवसाय के कारणों में केवल गरीबी पर ही बल देना उचित नहीं । परंतु जो आर्थिक असमानता एक ओर लक्ष्मी लुटाती राजरानी और दूसरी ओर सुबह से शाम तक श्रम करने वाली मजदूरिन का निर्माण करे, उसका समर्थन कभी नहीं किया जा सकता । गरीबी की कोई व्याख्या चाहे संभव न हो, परंतु मजदूरों और निम्नवर्गों की बस्तियों में दिखाई देने वाली गंदगी और घिचपिच देखकर यह कैसे कहा जा सकता है कि गरीबी अनेक अपराधों और अनिष्टों का मूल कारण नहीं है ? मनुष्य की दरिद्रता को यदि जीता जा सके, तो मानव समाज अनेक प्रकार के पाप और अपराधों से बच जाय इसमें कोई संशय नहीं ।



इस प्रकार इन पतित स्त्रियों के अध:पतन का प्रश्न उनकी निर्धनता और असहायता का ही प्रश्न बन जाता है । गणिकावृत्ति की कारण परंपरा में गरीबी का स्थान गौण प्रमाणित करने के कितने ही तर्क क्यों न किए जायें, वे इस सत्य का खंडन नहीं कर सकते कि अधिकांश पतिताएँ समाज के निम्नतम स्तरों से आती हैं और केवल आर्थिक परिस्थिति से मजबूर होकर आती हैं ।

४
समाज की दृष्टि

गणिका के साथ जुड़े हुए अन्य अनेक प्रश्न उसे एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या बना देते हैं । यह सत्य है कि गणिकावृत्ति मानव स्त्री-पुरुष की अतृप्त कामवासना की ही प्रतिध्वनि है ; परंतु वर्तमान अर्थप्रधान समाजरचना इसे एक अति व्यवस्थित और व्यापक रूप दे देती है । मनुष्य के अनेकविध गुणावगुणों की गूँज इस प्रतिध्वनि में सुनाई देती है । इस संस्था के अस्तित्व की जड़ में कल्पना है, रहस्य है, व्यापारी काइयाँपन है, लेनदेन के हथकंडे हैं, अप्रतिष्ठा का भय है और समाज की प्रच्छन्न संमति भी है । इस संमति के कारण ही गणिका संस्था समाज की जड़ों के साथ इतनी दृढ़ता से चिपकी हुई है कि हमारी भावनाओं में, कार्यप्रणालियों में और सामाजिक रस्मोरिवाज में यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से झाँके बिना नहीं रहती । हमारे सामाजिक जीवन का यह एक जीवित विभाग है, यह स्वीकार किए बिना चारा नहीं । इस संस्था को स्वीकार करके, इसे छिपाने के प्रयत्नों की पकड़ ढीली करने से ही इसके निवारण का उपाय मिल सकता है ।

मनुष्य जाति की प्राथमिक आवश्यकताएँ दो हैं: अन्नभूख और यौनभूख — क्षुधा और कामवासना । कार्ल मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्त की रचना इसी सत्य के आधार पर की गई है । क्षुधातृप्ति के लिए अन्न की आवश्यकता है और कामतृप्ति के लिए आवश्यक है स्त्री पुरुष का यौन संबंध । इस संबंध के एक प्रकार की पूर्ति गणिकावृत्ति द्वारा होती है । क्षुधा और कामवासना प्राणीमात्र की शरीररक्षा और जीवन-संवर्धन की अंत:प्रेरणा के प्रकट रूप हैं । इन दोनों सहज प्रवृत्तियों को संतुलित और स्वस्थ रखना मनुष्य जीवन का चरम आदर्श माना गया है । परंतु संतुलन और स्वस्थता ऐसे नाजुक तत्व हैं कि इन्हें विचलित होते देर नहीं लगती । जहाँ जीने के लाले पड़ रहे हों, वहाँ उदरपूर्ति या क्षुधातृप्ति ही मनुष्य का प्रथम धर्म हो जाता है ; परंतु भूख का प्रश्न हल होते ही कामतृप्ति जीवन का प्रमुख तत्त्व बन जाता है । संस्कृति के ताने बाने इन दोनों के बीच समतुला बनाये रखने के प्रयत्न करते हैं । परंतु मनुष्यजाति अबतक ऐसे पूर्णत: संघर्षरहित संतुलन का उपार्जन नहीं कर सकी है । इसलिए ऐसा होता रहता है कि एक व्यक्ति को क्षुधातृप्ति के लिए वासनातृप्ति का साधन बनना पड़ता है तो दूसरे व्यक्ति को वासनातृप्ति के लिए किसी की क्षुधातृप्ति के साधन जुटा देने पड़ते हैं । क्षुधातृप्ति पुरुष की कामतृप्ति करके स्त्री अपने क्षुधा का निवारण करती है । गणिका संस्था इसी विषम व्यवहार का प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

इस संस्था को हम किस दृष्टि से देखते आये हैं ? इसके प्रति हमारी प्रत्यक्ष भावना पर विचार करने से हमारी मनोवृत्ति का विश्लेषण हो जाता है । हमारी सामान्य मनोवृत्ति प्रतिष्ठित समाज की प्रदर्शनीय मनोवृत्ति का प्रतिबिंब मात्र होती है । इस संस्था के प्रति प्रतिष्ठित समाज की दृष्टि एक ऐसे व्यापक दंभ से दूषित होती है कि आरंभ में तो वह इसके अस्तित्व की जानकारी से भी इनकार करती है । हम भूल जाते हैं कि समाज ने यदि सचमुच ही इस संस्था को अप्रिय या त्याज्य माना होता, तो अब तक यह जीवित कैसे रहती ? प्रत्यक्ष रूप से तो हम गणिका का व्यक्ति और संस्था, दोनों रूपों से तिरस्कार करते हैं । यह

ढोंग इस हद तक पहुँच जाता है कि हम यह चाहते हैं कि हमारे इष्टमित्र या सगे संबंधी इसकी ओर नजर भी न करें । कोई अगर ऐसा करता है, तो हम उसे टोकते हैं और रोकने का प्रयत्न करते हैं । परंतु कोई देख न रहा हो, तो हम चुपचाप उसी ओर एक नजर डालने में या उसे देखकर दो-चार क्षण के लिए मानसिक उत्तेजना अनुभव करने में कोई बुराई नहीं समझते ।

हमने गणिका शब्द को ही एक गाली के रूप में प्रचलित कर दिया है । गाली मानसिक तिरस्कार की अभिव्यक्ति है । स्त्रियों की जबान तो 'वेश्या' या 'रंडी' शब्द से संयोजित अनेक रसमय और चित्रमय गालियों की परंपरा सदा तैयार रहती है । अनुमाव से ही सही, पर गणिका स्त्रियों के हृदय में भी बसी हुई दिखाई देती है ।

हम उसका परिचय एक अनिष्ट के रूप में देते हैं और लोकनिंदा या रोग के भय से उसे त्याज्य भी मानते हैं । दरअसल ये दोनों भय ही समाज के अधिकांश पुरुषों को गणिकागमन का साहस करने से रोकते हैं । कुछ लोगों को धन खर्च करने की असमर्थता इस मार्ग पर जाने से रोकती होगी ; यद्यपि कमानेवाला पुरुष अपने मनोरंजन के लिए धन जुटा ही लेता है, चाहे उसकी कमाई कितनी ही नगण्य क्यों न हो ।

ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है और नाजुक प्रतिष्ठा अधिकाधिक संरक्षणीय होती जाती है त्यों-त्यों गणिका का तिरस्कार करने का दंभ भी बढ़ता जाता है । मित्रों के सामने हम इस पाखंड को निभा नहीं सकते इसलिए मित्रमंडली में गणिका प्रायः हँसी मजाक का विषय बन जाती है । बहादुरी, कुशलता या लापरवाही प्रदर्शित करने की वृत्ति मनुष्यमात्र में कभी-कभी अनायास जागृत हो जाती है । ऐसे प्रसंगों पर हम अपनी कल्पना नायक के रूप में करके, गणिकागृहों के अनेक झूठे-सच्चे किस्से गढ़कर, मित्रमंडली के वार्तालाप को रसमय बनाने का प्रयत्न करते हैं । गपशप के प्रवाह में हम और हमारे मित्र यह भूल जाते हैं कि यह कुशलता और ये प्रसंग यदि सत्य हों, तो हम सभ्य समाज में रहने के काबिल भी नहीं समझे जायेंगे ।





इस सारे दोष, सारे तिरस्कार और सारी विडंबना का लक्ष्य केवल गणिका ही होती है ; उस संस्था को जीवित रखने वाला पुरुष नहीं ; क्योंकि पुरुष तो समाज व्यवस्था का नेता है । जो समाजव्यवस्था गणिका संस्था का निर्माण करती है, उसी के कर्णधार खुद दूर खड़े रहकर गणिका के स्पर्श से भी अपावन हो जाने का पाखंड रचते हैं । गणिका को जन्म देकर उसका तिरस्कार करने की रीति नई नहीं, युग-युग से चली आई है । समाज गणिका की ओर देखता नहीं, पर न देखने के ढोंग को ही सत्य मान लेता है । समाज गणिका को छूता नहीं । छूता है, तो अपने मन को अनेक प्रकार से समझा लेता है, पर सत्य का स्वीकार नहीं करता । समाज 'गणिका' शब्द का मुँह से उच्चारण नहीं करता यद्यपि हृदय से उसका नाम जपने में भी बुराई नहीं समझता । समाज गणिका को अस्पृश्य मानकर उसे अपने पास भी नहीं फटकने देता यद्यपि उसके बिना समाज को एक घड़ी चैन भी नहीं पड़ता । गणिका समाज का ही अंग होने के नाते, उसका समाज से निकट का रिश्ता है इस बात को कोई स्वीकार नहीं करता । देवताओं और दानवों की माताएँ भिन्न थीं, परंतु गणिका और सती, दोनों की माता एक है जिसे हम समाज कहते हैं । इन दोनों का निर्माण करने वाले समाज में हमारी भी गणना होती है ; चाहे हमारा गणिका गृह से संबंध हो या न हो । एक ही समाज की संतान होने के नाते विवाह और गणिकावृत्ति सहोदर बांधव माने जाने चाहिये । गणिका की ओर वक्त बेवक्त जो दया की दृष्टि की जाती है, वह शायद इसी रिश्ते के कारण हो ! हम कितने उदार हैं ! कितना उमदा स्वभाव है हमारा कि दया करने की हिम्मत हम कभी-कभी कर बैठते हैं ।

हमारे धर्मोपदेशक, तत्वज्ञ, नीतिशास्त्रज्ञ, समाजसेवक और शासक भी कभी-कभी इस अभागिन की ओर दृष्टि कर के विचारमग्न हो जाते हैं और इस संस्था के दुखदर्दों को समझने और दूर करने का प्रयत्न करते हैं । परंतु ये सब के सब गणिका संस्था को एक अनिष्ट ही मानते हैं । संस्था को तो फिर भी एक अनिवार्य अनिष्ट मानकर उसको स्वीकार कर लेने की वृत्ति पाई जाती है । राजी या नाराजी से उसे समाज की मौन सम्मति भी मिल जाती है । परंतु व्यक्ति के रूप में तो गणिका को पापिनी या कलंकिनी कहे बिना शायद ही कोई रहता हो । धर्म या सुधार का आवेश चढ़ने पर, इस संस्था का उच्छेदन करने का बीड़ा उठाने वाले धर्म प्रचारकों या समाजसुधारकों का उल्लेख भी इतिहास में अनेक स्थानों पर मिलता है । बीड़ा उठाने वाले सूरमाओं को सफलता नहीं मिली, यह मान्य करके हम गणिका संस्था का समर्थन नहीं करते, बल्कि उसके जीवित रहने के सामर्थ्य की दाद देते हैं ।

कुछ लोगों की मान्यता है कि यह अनिवार्य अनिष्ट एक भयानक रोग के समान है । इसका प्रभाव कम किया जा सकता है या इसके अनिष्ट परिणामों को सहन किया जा सकता है ; परंतु इसका निर्मूलन करना किसी हालत में संभव नहीं । इन विचारकों को मन में यह भय भी झाँकता दिखाई देता है कि इस संस्था का निर्मूलन कर देने से, इससे भी कई गुने भयानक, ऐसे-ऐसे अनिष्टों की सृष्टि हो सकती है, जो हमारे पूरे समाज जीवन को नष्ट भ्रष्ट कर दें ।

युद्ध काल में सैनिकों के पीछे-पीछे भटकने वाली वेश्याओं की टोलियों की आँख मींचकर उपेक्षा करके राज्यशासन इस अनिष्ट की अनिवार्यता को ही स्वीकार करता है । उपनिवेशों में भेजे हुए सैनिकों की वासनातृप्ति के लिए अधिकृत या अनधिकृत तौर पर गणिकाओं की बस्तियाँ बसाने के अनेक उदाहरण साम्राज्यवादी देशों के इतिहास में भरे पड़े हैं ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान में भारत आने वाले गोरे सैनिकों का बर्ताव और उसके विरुद्ध उठनेवाली शिकायत यहाँ पर उल्लेखनीय है । ''सैनिक प्रजा के रक्षक हैं । वे मरने को सदा तत्पर रहते हैं । अतः उनके मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के साधन सरलता से उपलब्ध होने चाहिये,'' ऐसा तर्क कुछ लोगों द्वारा किया जाता है । राह चलती किसी भी स्त्री को छेड़ना, उससे हँसी-मजाक करना, उसका स्पर्श करके या

उसकी कमर में हाथ डाल कर नृत्य करने की कोशिश करना आदि मनोरंजन के प्रकार सैनिकों को, उन्हें वेतन देकर पालने वाले राज्यकर्ताओं को, या युद्ध की तरफदारी करके अपनी वफादारी प्रमाणित करने वाले थोड़े बहुत लोगों को भले की निष्पाप मालूम देते हो. भारत की प्रजा ने तो इसके विरुद्ध स्पष्ट नाराजगी प्रकट की थी । गाँधीजी ने इस प्रकार की छेड़छाड़ का प्रतिकार अहिंसा से न हो सके तो हिंसा से करने का आदेश दिया था । इसी जमाने में कलकत्ते में सैनिकों के लिए सरकारी अनुमोदन से वेश्यागृहों की स्थापना होने की शिकायत ब्रिटिश पार्लियामेंट तक पहुँची थी । यह शिकायत असत्य पर आधारित होने की सफाई भी पेश की गई थी जिसकी आलोचना करना भी आज के कठोर सैनिक-नियंत्रण के युग में मुश्किल है । परंतु सैनिकों की वासनातृप्ति के लिए शासन की ओर से होने वाले अधिकृत, अर्ध-अधिकृत या गुप्त प्रयत्नों पर भविष्य में कभी न कभी प्रकाश अवश्य पड़ेगा । युद्ध संबंधी साहित्य का अध्ययन करने वालों को इसमें विशेष आश्चर्य की कोई बात दिखाई नहीं देगी । फ्रान्स के विजेता सैन्य ने अपने हब्शी सैनिकों के उपभोगार्थ गणिकाएँ जुटाने के लिए पराजित जर्मन नगर-संस्थाओं को बाध्य किया था, यह बात सर्वश्रुत है ।

देशी या विदेशी सेनाएँ इस देश की सचमुच ही रक्षा करती हैं या नहीं, या इस रक्षा के मूल्य स्वरूप किसी भी सैनिक को स्त्रियों से छेड़छाड़ करने का अधिकार है या नहीं, ये प्रश्न विचारणीय हैं । तब तक, जो महाभाग सैनिकों के मनोरंजन के तर्क की आड में इसका समर्थन करना चाहें, उनके परिवार की महिलाएँ सैनिकों से मनचाहा मेलजोल रख सकती हैं । समाज को इससे कोई शिकायत नहीं । यहाँ तो गणिका संस्था के प्रति राज्यकर्ताओं के रुख के दृष्टांत और इस संस्था को प्राप्त सामाजिक संमति के उदाहरण के रूप में इन घटनाओं का उल्लेख हुआ है । उद्देश्य केवल यह दिखाने का है कि आवश्यकता पड़ने पर राज्यशासन वेश्यावृत्ति की ओर सिर्फ नरमी का रुख ही नहीं रखता बल्कि उसे प्रोत्साहित भी करता है । युद्ध के अवश्यंभावी परिणाम उसे मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु प्रमाणित करते हैं । वेश्यावृत्ति यदि पाप हो, और इन युद्धों को प्रेरणा देने वाली राज्यसत्ताएँ यदि वेश्यावृत्ति का पोषण करती हों, तो इस पाप के लिए सैनिकसत्ता और राज्यसत्ता किस हद तक जिम्मेदार है, यह सरलता से समझा जा सकता है ।

५

समाजशुद्धि के लिए गणिका संस्था की आवश्यकता

कई विचारक, उदार दृष्टि से सोचते हुए गणिका संस्था को एक उपयोगी और आवश्यक संस्था मानते हैं जो गृहजीवन की रक्षा करने वाले दुर्ग का काम करती है । सामाजिक ढाल के दो पहलू हैं : एक ओर एकपत्नीव्रत और दूसरी ओर गणिकावृत्ति । इस विचारधारा से सहमत एक विद्वान् गणिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं, "गणिकाएँ सामाजिक नीति की अनीतिमान रक्षिकाएँ हैं । अनीति द्वारा परोक्षरूप से नीति की रक्षा करने वाली सेविकाएँ हैं ।" एक अन्य विचारक का मत है, "गणिका संस्था एक सामाजिक धर्मकार्य करती है । वह स्त्री के कौमार्य जीवन की लज्जा-मर्यादा की रक्षा करती है ; समाज में व्यापी हुई व्यभिचारवृत्ति को बहा ले जाने वाले परनाले का काम करती है और प्रौढ़ावस्था तक चलनेवाले मातृत्व के भय से अनेक गृहिणियों को मुक्त करके अपने आप को पारिवारिक जीवन की ढाल रूप प्रमाणित करती है ।" इस कथन का आशय यही है कि पुरुष की अतृप्त कामवासना को अपनी ओर मोड़कर गणिका अनेक



कुमारिओं के कौमार्य की रक्षा करती है ; हर साल दो साल बाद होने वाली और अनेक वर्षों तक चलनेवाली संतनोत्पत्ति से ऊब जाने वाली गृहिणियों को उनके कामुक पतिओं के हमलों से और प्रसुति के कष्ट से बचाती है ; पुरुष की मर्याबहीन और सदा अतृप्त वासना की तृप्ति का सुगम मार्ग प्रस्तुत करके पारिवारिक जीवन को अशिष्ट आचरण से मुक्त रखती है और सारी मलिनता एवं अशिष्टता को अपनी ओर मोड़ कर पारिवारिक संबंधों के लिए विशुद्ध और शिष्टता का प्रतिष्ठित मार्ग खुला रखती है ।

बालजाक का कहना है, ''गणिका मर्यादाशील और प्रतिष्ठित परिवारों की शीलरक्षा के लिए अपने देह का बुर्ज रचकर समाज की वेदी पर अपना बलिदान देती है ।'' शोपेन हॉअर ने भी गणिका का परिचय एकपत्नीवृत्त की वेदी पर दी जाने वाली बलि' के रूप में दिया है । यूरोपीय नीतिसंबंधों के प्रसिद्ध इतिहासकार लेकी का मत तो अत्यंत मननीय है । वह कहता है. ''गणिका को मानव दुर्गुण का सबसे बड़ा प्रतीक माना जाता है । परंतु जरा गहराई से देखें तो वह सद्‌गुण की सबसे बड़ी रक्षिका और द्वारपालिका दिखाई देगी । गणिकासंस्या न होती तो अनेक सुखी परिवारों की पवित्रता भ्रष्ट हो गई होती । आज अपने



सुरक्षित शील के गर्व से गणिका के प्रति घृणा या तिरस्कार प्रदर्शित करने वाले अनेक व्यक्तिओं को गणिका के अभाव में पश्चात्ताप और निराशा ही प्राप्त हुई होती और उनका सद्‌गुण का ढोंग अधूरा रह जाता । गणिका के पतित और अपमानित देह पर इतनी घृणित वासनाएँ केन्द्रित हो चुकी हैं कि यदि वे गणिकावृत्ति के दायरे के दायरे के बाहर विसर्जित होतीं तो पूरे सभ्य संसार को शर्म से नीचा देखना पड़ता । धर्म, मतमतांतर और संस्कृतिओं के उदय अस्त होते आये हैं, परंतु गणिका संस्या सब परिवर्तनों के बीच निरंतर जीवित रही है । पुरुष के पाप की वेदी पर अपना बलिदान चढ़ा देने वाली गणिका को समाज की शत्रु नहीं बल्कि मनुष्य जाति की सनातन पुजारिन मानना चाहिये ।

ये सब वर्तमान युग के विचारकों की मान्यताएँ हैं । अब हम अतीत पर दृष्टि डाल कर बीते हुए युगों का मत भी समझ लें । प्रसिद्ध ईसाई संत, सेण्ट ऑगस्टाईन आज से सत्रह सौ वर्ष पहले यही कह चुका है । उसके मतानुसार गणिका समाज का आवश्यक अंग है । वह पापिनी तो है ; पतित और घृणित भी है । परंतु कामवासना के आवेश को मर्यादा में रखने का या उसे उचित मार्ग पर मोड़ देने का अत्यंत आवश्यक समाजकार्य भी वह करती है ; इसलिए समाज में उसकी उपस्थिति अनिवार्य है । उसी के शब्दों

में कहें तो, ''गणिकाओं और उनके समान अन्य उपद्रवी तत्वों से अधिक हीन, अधिक घृणित या अधिक दुष्टतापूर्ण और क्या हो सकता है ? परंतु गणिकाओं को समाज से दूर कर दिया जय तो क्या होगा ।? पूरा समाज उच्छृंखल वासना से दूषित हो जायगा । गणिकाओं और गृहिणियों के बीच का भेद मिट जाय तो चारों ओर भ्रष्टाचार और लज्जास्पद बर्ताव का नंगा नाच आरंभ हो जाय । गणिकाओं का वर्ग अपने अनीतिमय और निंदास्पद जीवन व्यापार द्वारा पारिवारिक जीवन को विशुद्ध रखकर समाज व्यवहार का एक अत्यंत घृणित पर उपयोगी कार्य पूरा कर रहा है ।'' कुछ आगे चलकर सेंट ऑगस्टाईन कहता है,'' किसी जल्लाद को देखकर हमारे मन में चाहे जितनी नफरत हो, फिर भी समाज में उसका स्थान है । इसी प्रकार गणिका और उसके आस पास का वातावरण चाहे जितने बीभत्स, घृणित और अनिष्ट क्यों न हों, उनका भी समाज रचना में आवश्यक स्थान है ।'' सेंट ऑगस्टाईन ईसाई धर्म प्रचार के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं । एक्वीनास नामक एक अन्य ईसाई संत भी गणिका संस्था की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए लिखता है, ''सामाजिक योजना में गणिका की आवश्यकता और उपयोगिता निर्विवाद है । जिस प्रकार किसी बड़े महल को शुद्ध रखने के लिए मोरी-परनालों की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार समाज को विशुद्ध रखने के लिए गणिकाओं की आवश्यकता है ।

महान् नीति विधायक सोलन ने यूनान वासियों को गुलाम स्त्रियाँ खरीदने की संमति दी थी । इसके पीछे यही आशय था कि प्रतिष्ठित यूनानी स्त्रियों का शीलभंग न हो और पुरुषों को वासनातृप्ति के लिए विशुद्ध यूनानी युवतिओं के बदले अन्य स्त्रियाँ उपलब्ध हो सकें । प्राचीन रोम में तो प्रतिष्ठित घरों की स्त्रियाँ भी वासनातृप्ति के निमित्त कुछ समय के लिए गणिकावृत्ति को स्वीकार करती थीं और गणिकाओं की अधिकृत सूची में अपना नाम भी दर्ज कराती थी । प्रसिद्ध रोमन राजनीतिज्ञ केटो ने जब एक मनुष्य को गणिकागृह से बाहर निकलते देखा, तब वह संतोष से बोल उठा, ''अच्छा हुआ । वरना इस आदमी ने अपने पड़ोसी की पत्नी को भ्रष्ट किया होता ।'' इस प्रकार, 'अनिवार्य अनिष्ट' या 'सामाजिक आवश्यकता' के रूप में गणिका संस्था को निभा लेने का रुख अतिप्राचीन काल से मनुष्य समाज में पाया जाता है ।

पाश्चात्य संस्कृति अपना परिचय ईसाई संस्कृति के रूप में देकर श्रेष्ठता का अभिमान करती है । सेंट ऑगस्टाईन के उपरोक्त विचार बहुत लंबे अरसे तक ईसाई जनता को मान्य थे । बीच में कभी-कभी, धार्मिक आवेश में उफान आने पर, गणिका संस्था को नष्ट करने के प्रयत्न भी होते रहते थे । ल्यूथर के व्यापक धर्मसुधार के बाद भी सेंट ऑगस्टाईन का मत प्रचलित और स्वीकृत था । ''मधुमक्खियों की कहानी'' नामक ग्रंथ का लेखक बर्नार्ड मॅन्डीवील कहता है, ''कुछ मूर्ख लोग गणिकाओं और वेश्याओं निर्मूलन करने का प्रचार करते हैं । उनकी बात मान ली जाय तो अपनी बहू-बेटियों के सतीत्व की रक्षा किन ताले-शृंखलाओं से होगी ? यह एक मानी हुई बात है कि समाज की स्त्रियों के एक विभाग की पवित्रता सुरक्षित रखने के लिए दूसरे भाग की कुरबानी देनी ही होगी । ऐसा करने से अनीति व्यापक नहीं होगी । एक ओर शील और सतीत्व की रक्षा करने के लिए दूसरी ओर अनिर्बंध कामव्यवहार उपलब्ध कर देना होगा । उत्तमोत्तम सद्गुणों की अभिवृद्धि के लिए अधमाधम पाप की सहायता लेनी पड़ेगी । आरोग्य शास्त्रीय और आर्थिक दृष्टिकोणों पर जोर देते हुए एक अन्य विद्वान् लिखते हैं, ''डारविन के मतानुसार प्रकृति में निर्वाचन के द्वारा योग्य का संवर्धन और अयोग्य या अक्षम का नाश करने की प्रक्रिया (Survival of the fittest) पाई जाती है । गणिकावृत्ति भी इसी प्रकार की एक प्राकृतिक योजना है । इस दृष्टि से वह मनुष्य जाति के लिए अत्यंत उपयोगी हो सकती है । विवाहसंस्था के अनेकविध निषेधों और बंधनों से उत्पन्न दम घोट देने वाली जकड़न को बहा देने का एक स्वस्थ और सरल मार्ग यह संस्था प्रस्तुत करती है । इन सब मतों का सारांश यही निकलता है कि समाज में सती का निर्माण करने से पहले गणिका का निर्माण करना अत्यंत आवश्यक है

६
समाज का प्रतिबिंब

भारत के प्राचीन समाजविधायकों ने गणिका संस्था का स्वीकार अत्यंत व्यवहार्य ढंग से किया था। अति शुद्धि का आग्रह रखने की वृत्ति अंग्रेजों के आगमन के बाद ही जागृत हुई। उससे पहले हमारे देश में इस संस्था के प्रति एक प्रकार की अप्रसन्नता मिश्रित उदारता बरती जाती थी। प्राचीन भारत के इस विषयक दृष्टिकोण का ऐतिहासिक विवेचन कुछ विस्तारपूर्वक इस ग्रंथ के द्वितीय खंड में किया जायगा। यहाँ तो हम कामशास्त्र के महान् आचार्य वात्स्यायन द्वारा स्वीकृत तीन प्रकार की गणिकाओं और इस विभाजन के पीछे की भावना पर संक्षेप में विचार करेंगे।

वात्स्यायन के मतानुसार गणिकाओं का विभाजन मुख्य तीन वर्गों में होता है : गणिका, रूपजीवा और कुंभदासी। इन तीन वर्गों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ मान लें, तो इनके अंतर्गत, वर्तमान युग की कला-बुद्धि-वैभवशाली गणिकाएँ, परिस्थितिवश यह व्यवसाय करने वाली मध्यम वर्गीय पण्यांगनाएँ और बड़े शहरों के वेश्यालयों में भरी हुई केवल धन के लिए देह विक्रय करने वाली वेश्याओं के तीनों वर्गों का समावेश हो जाता है।

गणिका के संबंध में उत्तम-अधम की ये मान्यताएँ किसी युग में सचमुच ही प्रचलित थीं। अब भी, अनेक अनिष्टों को अनिवार्य मानकर उन्हें चलने देने की दुर्बलता समाज में व्यापक रूप से पाई जाती है। युद्ध भी इसी प्रकार के एक अनिवार्य अनिष्ट के रूप में हमारे राजकीय जीवन में बलपूर्वक स्थान रोके बैठा है। यही नहीं, समय समय पर उसकी स्तुति-प्रशंसा भी होती रहती है। अधकचरे समाधानों का निरुपाय होकर स्वीकार करके, आजकी समस्याएँ कल पर टाल देने की हमारी मानसिक शिथिलता गणिकावृत्ति के संबध में भी प्रदर्शित होती रही है। हम भूल जाते हैं कि जो आवश्यक है वह अनिष्ट नहीं हो सकता और जो अनिष्ट है उसकी आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये।

आज की नैतिक विचारधारा से स्वाभाविक रूप से यह आशा की जाती है कि वह अतिस्वार्थी विचारों को स्वीकार करने में हिचकिचायेगी। परंतु समाज़ की बहू-बेटियों के शील-सतीत्व की रक्षा करने के लिए उसी समाज की कुछ स्त्रियों का शीलभंग करने वाली संस्था चलानी पड़े, इसमें तो सामाजिक लोभ की ही पराकाष्ठा दिखाई देती है। गोरी प्रजाओं का सुखवैभव सुरक्षित रखने के लिए काली प्रजाओं को सुखवैभव से वंचित रखने की राजनैतिक मनोवृत्ति हमें न्यायसंगत नहीं लगती। तो फिर एक वर्ग के शील की रक्षा करने के लिए दूसरे वर्ग के शील का बलिदान हम न्याय्य कैसे मान सकते हैं ? पूरे समाज के कलुषित हो जाने के भय से समाज के एक भाग को कलंक के पंक में डूबा रखने की वृत्ति सामाजिक स्वार्थ का एक जघन्य उदाहरण उपस्थित करती है। अपने घर में निकला हुआ बिच्छू पड़ोसी के आँगन में फेंककर सुरक्षा अनुभव करने जैसी हीनता इस वृत्ति में समाई हुई है। यह वृत्ति अपने शरीर का रोग दूसरे के देह में पहुँचा देने के तांत्रिक अनुष्ठानों के समान हीन है। विवाह के साथ गणिका संस्था यदि इसी कारण से आवश्यक हो, तो विवाह में स्वारस्य ही क्या रहा ? यदि विवाह की पवित्रताा की रक्षा करने के लिए गणिका संस्था की योजना करनी पड़े, तो ऐसी पवित्रता भी किस काम की ? और यह सब आयोजन करके भी विवाह की पवित्रता अक्षुण्ण रहती है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है क्या ? विवाह का अर्थ है स्त्री-पुरुष के सहजीवन के लिए की हुई पवित्र प्रतिज्ञा। हम यह देख चुके हैं कि गणिकागामी पुरुषों में विवाहितों की संख्या ही अधिक होती है। विवाह की पवित्र प्रतिज्ञाएँ करने वाला और विवाह संस्कार

में समानरूप से सहभागी पुरुष इस अपवित्रता के पंक में दिल खोल कर गोते लगाकर वापस आये और परिवार की मर्यादा में प्रवेश करते ही पवित्रता का ढोंग आरंभ कर दे, इसे विवाहित जीवन की पवित्रता कहा जाय या विडंबना ? अनेक बार बाहर से रोग लाकर पत्नी को उसकी विरासत देने वाला पुरुष, गणिका संस्था द्वारा विवाहित जीवन या पारिवारिक जीवन को पवित्र रख सकता है, यह बात समझ में नहीं आती । वर्तमान युग में यह तर्क मान्य हो ही नहीं सकता ।

गणिकाओं का प्रश्न पूरे समाज के प्रतिबिंब के समान है । वह समाज से उत्पन्न हुआ है और उसका हल ढूंढना यदि सचमुच ही आवश्यक हो, तो वह समाज की अन्य अनेक समस्याओं के समाधान के साथ ही मिल सकेगा ; अन्यथा नहीं । परंतु समाज की भीतरी इच्छा गणिका संस्था को जीवित रखने की है और उसका विरोध केवल बाहरी दिखावे के लिए ही होता है । इसी कारण गणिकावृत्ति को नष्ट करने के प्रयत्न सदा अधकचरे, दुविधायुक्त और उत्साहरहित प्रमाणित हुए हैं । गणिका का प्रश्न कोई आसान समस्या नहीं है । मनुष्य की कामवासना से संबंधित अनेक प्रकार की विचित्रताएँ, आदतें और विपरीत कल्पनाएँ वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर निरंतर विकसित होती रहती हैं । गणिका संस्था इन सब के केन्द्र में स्थित है । परिवार में निरंतर प्राप्त न हो सकने वाली कामक्रीडाओं को यह संभव बनाती है । अत: गणिकासंस्था को केवल स्त्री के पतन का ही प्रतीक नहीं कहा जा सकता । वह तो पूरे समाज की असंख्य त्रुटियों, विलक्षणताओं और विशिष्टताओं को व्यक्त करने वाली संस्था है । दुनिया दिखावे के लिए की गई निंदा, आडंबरयुक्त तिरस्कार और पाखंडपूर्ण घृणा के सिवा और कोई प्रामाणिक या प्रभावशाली उपाययोजना समाज ने इस प्रथा के विरुद्ध नहीं की है । जो उल्टे-सीधे उपाय किये भी गये वे सच्चे मन से नहीं किये गये । कुछ देशों में गणिका संस्था पर संपूर्ण नियंत्रण रखा जाता है । कहीं-कहीं उसकी प्रवृत्तियों को अंशत: काबू में रखने का प्रयत्न होता है । किसी-किसी देश में उसकी व्यापकता को सीमित करने के प्रयत्न भी होते हैं । परंतु उसका उन्मूलन करने के या उसे पूर्णत: दबा देने के प्रयत्न ईमानदारी से नहीं हुए । एक दो जगह हुए भी, तो सफल नहीं हुए । केवल रूस ही इस संस्था का निर्मूलन करने की सक्रिय योजना और रचनात्मक विचारधारा का अभिमान कर सकता है ।

विभिन्न समयों की संस्कृतियों या प्रजाओं के अनुसार गणिका संस्था के इतिहास का ब्यौरेवार अध्ययन करने से हमें बहुत सी ऐसी जानकारी मिल सकती है जो इस समस्या का हल करने में या कम से कम इस प्रश्न को समझ कर बुराई का निदान करने में हमारी सहायता कर सकती है । ऐतिहासिक अध्ययन से, सबसे पहले तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि आज हम गणिका की ओर जिस नफरत की नजर से देखते हैं, उस नजर से सब कालों में, सब संस्कृतियों ने उसे नहीं देखा । अपमानित, अशिष्ट, अप्रतिष्ठित या तिरस्कृत माना जाना गणिकासंस्था के साथ परापूर्व से या आवश्यक रूप से जुड़ा हुआ दिखाई नहीं देता । इतिहास का अवलोकन जब हमसे यह कहता है कि किसी युग में इस संस्था की ओर स्वाभाविकता या सहानुभूति से देखना भी संभव था, तो पाप, पतन और पतिता के प्रति देखने की आज की या अन्य किसी युग की पाखंडी मनोवृत्ति के प्रति मन में गहरी अरुचि उत्पन्न होती है । पतिता स्त्री पापिनी नहीं है । पापी है उसकी उत्पत्ति का कारणरूप समाज । आज की संस्कृति इस बात को भुला नहीं सकती कि गणिकाओं की संख्या में कृत्रिम रूप से वृद्धि करने वाला समाज पुरुष की कामवृत्ति को सदा जागृत रखकर स्त्री की असहायता का निर्लज्ज व्यवसाय चला रहा है । इस व्यवसाय की वर्तमान संघटना पर विचार करने से पहले हम जरा अतीत में झाँक कर देखें ।



छठा परिच्छेद
धर्म और काम

१
ऐतिहासिक दृष्टि

पश्चिम के संपर्क से हमने बहुत कुछ प्राप्त किया है; अच्छा भी और बुरा भी। उनमें की एक प्राप्ति है ऐतिहासिक दृष्टि। किसी प्रश्न के उपस्थित होते ही, उसका इतिहास जानने का प्रयत्न करना ऐतिहासिक दृष्टि का मूलतत्व है। ऐतिहासिक दृष्टि द्वारा किसी भी प्रश्न के अंतिम या नवीनतम सोपान से आरंभ करके प्रथम या प्राचीनतम अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

आरंभ में पश्चिम की इतिहास-दृष्टि बाईबल से आगे नहीं बढ़ती थी। बाईबल में भी गणिकाओं का उल्लेख प्रचुर प्रमाण में पाया जाता है। परंतु सत्यान्वेषक किसी का मुलाहिजा नहीं करता। उसे पसंद हो या न हो, इतिहास से उपलब्ध सामग्री का स्वीकार उसे करना ही पड़ता है। इसी कारण, मानव संस्कृति का उद्‌भव ईसाई धर्म की स्थापना के बाद हुआ यह मान्यता पश्चिम के देशों में भी अस्वीकृत हो चुकी है। ईसाई धर्म के आरंभ से बहुत पहले लंबे युगों से, यूनान, रोम, असीरिया, फिलस्तीन, ईरान, मिश्र, चीन और भारत में भव्य संस्कृतियों की स्थापना हो चुकी थी। इसके ऐतिहासिक प्रमाण ज्यों ज्यों उपलब्ध होने लगे त्यों त्यों ईसाई संवत से पहले की इन संस्कृतियों का अस्तित्व पश्चिम के अन्वेषकों की दृष्टि में भरता गया। पश्चिम की ईसाई संस्कृति के अभिमानियों को भी यह मानना पड़ा कि उसकी इमारत यूनानी और रोमन संस्कृति की बुनियाद पर ही खड़ी है और इन दोनों संस्कृतियों का अन्य प्राचीन संस्कृतियों के साथ पर्याप्त वैचारिक आदान-प्रदान भी हुआ था। धीरे-धीरे इन प्राचीन संस्कृतियों का इतिहास पुनर्गठित हुआ। आज इनके तत्कालीन रूप के विषय में मामूली मतभेद को छोडकर अन्य बातों में विद्वानों की राय प्राय: मिलती जुलती दिखाई देती हैं। परंतु आज भी ऐतिहासिक अध्ययन की सीमा मिश्र, चीन और भारत की प्राचीन संस्कृतियों तक पहुँचकर रुक जाती है। चीन और भारत की प्राचीन संस्कृतियाँ वर्तमान युग में भी अपने अनेक अंशों को जीवित रख सकी है, यह एक महान ऐतिहासिक आश्चर्य माना जाता है।

मनुष्य जाति के इतिहास का आरंभ खानाबदोश कबीलों के चरागाहों की शोध में भटकने से होता है। ज्यों ज्यों ये संक्रमणशील टोलियाँ एक स्थान पर स्थिर होकर बसने लगीं, त्यों त्यों संस्कृति का विकास होता गया। मानव संस्कृति की आदिम अवस्था का इतिहास आर्य, सेमेटिक, मंगोल, द्रविण, हब्शी इत्यादि स्थिर होकर बसने वाली टोलियों और उनके संपर्क से जन्म लेने वाली अनेक मिश्र जातियों के परस्पर संबंध की एक परीकथा के समान रम्य कहानी है। भारतीय आर्यों, ईरानी आर्यों, एवं यूनानी, रोमन, जर्मन और अंग्रेज प्रजाओं के पूर्वज एक ही जाति के थे, यह सुरस कथा इसी इतिहास का एक भाग है। इन पूर्वजों के वंशज आज परस्पर भ्रातृभाव से नहीं रह रहे हैं, यह अलग बात है। जर्मन प्रजा ने तो अपना परिचय विशुद्ध आर्यवंश के रूप में देना आरंभ किया है। इसमें प्राचीनता के अभिमान का एक विचित्र पहलू दिखाई देता है। परिभ्रमण करके स्थिर होने वाली इन टोलियों ने प्राचीन संस्कृति का विकास किया और इन्हीं के अध्ययन से मानव संस्कृति का अध्ययन आरंभ होता है।

इस प्रकार मानव-संस्कृति का धुंधला इतिहास स्पष्ट होने लगा है । परंतु इतिहास ने यह भी स्थापित किया है कि संस्कृति का आरंभ होने से पहले भी मनुष्यजाति का अस्तित्व था जो असंस्कृत या अर्धसंस्कृत समूहों में बसकर संस्कृति के उद्‌भव के साधनों की रचना किये जा रही थी । पृथ्वीतल के अनेक अरण्यों और सागरों के बीच में भूप्रदेशों में बसी हुई मनुष्यजाति के अवशेष आज भी ऐसे रूप में उपलब्ध हैं कि उनसे संस्कृतिपूर्व मानव के रहन सहन का कुछ अंदाज किया जा सकता है । वर्तमान युग में पश्चिम के देशों ने साहस करके पृथ्वी-पर्यटन किया । उसका एक परिणाम यह हुआ कि महान साम्राज्यों और उपनिवेशों की स्थापना हुई, और दूसरा परिणाम यह कि अनेक अनजान प्रदेशों की जानकारी प्राप्त हुई । अफ्रीका के अगम्य प्रदेश, अमरीका की गहराई में बसे हुए विस्तृत भूभाग और प्रशांत सागर में बिखरे हुए अनेक द्वीप समूहों तक पहुँच कर पश्चिम के पर्यटकों और धर्म प्रचारकों ने संस्कृतिपूर्व युग के स्तर पर जीवनयापन करने वाली और आज की सभ्यता से नितांत अछूती अनेक प्रजाओं के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । समाज शास्त्रियों का कहना है कि पूरी मनुष्यजाति विकास के मार्ग पर अग्रसर होते हुए इन प्राथमिक सोपानों से अवश्य गुजरी होगी । अत : संस्कृतिपूर्व युग का अवलोकन करने के लिए आज की सुसंस्कृन प्रजाओं के प्राचीन के अवशेष जैसी इन बिखरी हुई जातियों की विशिष्टताओं और रस्मो-रिवाज का अध्ययन करने की प्रथा आजकल हर सभ्य देश में पाई जाती है । संस्कृति की शृंखला की प्रथम कड़ी इन असंस्कृति द्वीपनिवासी या आरण्यक प्रजाओं में मिल जाती है ।

ऐतिहासिक दृष्टि तीन स्तरों का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करती है । प्रथम स्तर है वर्तमान युग — आज की परिस्थिति । दूसरा स्तर है प्राचीन या ऐतिहासिक युग जिसमें लेख, शिल्प, स्थापत्य, चित्र या अन्य अवशेषों के रूप में प्राचीन प्रजाओं का इतिहास अध्ययन हो सकने की स्थिति में सुरक्षित रहता हो ; और तीसरा स्तर है प्रागैतिहासिक या अतिप्राचीन युग जिसके अवशेष अप्रगतिमान् असंस्कृत और सभ्यता के अत्यंत प्राथमिक सोपान पर स्थित मानवसमूहों में प्राप्त हो सकते हैं । ये अवशेष अब दिन पर दिन कम होते जा रहे हैं । पश्चिम की सभ्यता ने इन एकांतप्रिय, अतिप्राचीन युग के प्रतिनिधि समूहों को वर्तमान के झंझावात में घसीटकर उनका ऐतिहासिक वैशिष्ट्य नष्टप्राय : कर दिया है । तथापि यात्रावर्णनों में, साहस वर्णनों में और नृवंशशास्त्र के वैज्ञानिक ग्रंथों में इन प्रजाओं की विशिष्टताओं का इतना ब्यौरेवार वर्णन हो चुका है कि अब यदि ये सारी प्राचीन प्रजाएँ आधुनिक बन जायें, तो भी अन्वेषकों को विशेष कठिनाई नहीं होगी ।

प्राचीन और अर्वाचीन युग के भी अलग अलग दृष्टियों से विभाग कर दिये गये हैं । उदाहरणार्थ, भारतवर्ष के इतिहास को आर्य, मुस्लिम और अंग्रेजी युगों जैसे राजकीय विभागों में बांटा जा सकता है । कुछ आगे बढ़कर, अत्याधुनिक युग को हम प्रजाकीय दृष्टि से स्वीकार युग, सहकारयुग और गाँधीयुग में विभाजित कर सकते हैं । स्वीकार युग में अंग्रेज सत्ताधीश जो कुछ भी करें, उसे अच्छा मानकर स्वीकार लेने का भाव था । सहकार युग में प्रजा राजकाज में अपना भाग मांगने लगी और गाँधीयुग में प्रजा ने स्वातंत्र्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानकर खुल्लमखुल्ला विदेशी सत्ता से यह देश छोड़कर चले जाने को कहा । इस प्रकार हम ऐतिहासिक युगों के अपनी अनुकूलतानुसार विभाग कर सकते हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करते हुए, या तो वर्तमान से आरंभ करके संस्कृतिपूर्व युग तक जा सकते हैं या संस्कृतिपूर्व युग से आरंभ करके वर्तमान युग तक आ सकते हैं । ये दोनों प्रणालियाँ मान्य हैं ।

असभ्य मानी जाने वाली मानव जातियाँ सचमुच ही असंस्कृत हैं या नहीं, यह मतभेद का विषय है। हम यहाँ इस बहस में न पड़ते हुए, समाजशास्त्रियों के मत को स्वीकार करके, उनके किए हुए वर्गीकरण के अनुसार इन समूहों को असभ्य मान कर ही आगे बढ़ेंगे । ब्राह्मण, वैश्य या ठाकुरों की तुलना में जंगलों

या पर्वतों में रहने वाली भील, कोली, किरात आदि जातियाँ, सांस्कृतिक दृष्टि से, सामान्यत : हीन कोटि की होती हैं, यह स्थापित करने के लिए बहुत अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

२

गणिकावृत्ति और प्राचीन जातियाँ

गणिकावृत्ति के अध्ययन में भी ऐतिहासिक दृष्टि उपयोगी हो सकती है । असंस्कृत जातियों और गणिकावृत्ति के संबंध का विचार करते हुए हम वर्तमान गणिकावृत्ति के अंतरंग में प्रवेश कर सकेंगे । आज हम गणिकासंस्था को जिस रूप में पहचानते हैं, उसी रूप में वह असंस्कृत जातियों में विकसित थी या नहीं, इस विषय में मतभेद हैं । परंतु वैयक्तिक रूपमें वर्तमान युग की गणिका की व्याख्या के अनुरूप गणिका संस्कृतिपूर्व युग में रही हो, इसकी संभावना कम है ।

एक मान्यता यह है कि असंस्कृत जातियों में भी स्त्री-पुरुष के देह संबंध अधिकांश में विवाह के समान ही स्थिर थे । विवाह संस्था का सुप्रसिद्ध इतिहासकार वेस्टर मार्क इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि इन जातियों में विवाह संस्था मौजूद थी ; जबकि कुछ समाजशास्त्री इन संबंधों को विवाह का महत्व नहीं



देते । बहुत संभव है कि विवाह संस्था का उद्भव अति प्राचीन प्रजाओं में भी हो चुका हो, यद्यपि सब जातियों में विवाह के सभी विधिविधानों का समान रूप से स्वीकार हुआ था, यह नहीं कहा जा सकता । इसका यह अर्थ भी नहीं कि विवाह के जिन बंधनों को शिथिल करने के लिए गणिकासंस्था की उत्पत्ति हुई, वे बंधन उस युग द्वारा भी स्वीकृत थे । हम देख चुके हैं कि समाजमान्य यौन संबंध के लिए विवाह एक आवश्यक प्रथा है और गणिका वृत्ति विवाह-मर्यादा के भंग का एक प्रकार है । परंतु यह विवाह भावना ही यदि असंस्कृत जातियों में विचित्र और विपरीत रही हो, तो गणिकासंस्था की आवश्यकता ही

नहीं रहती, या कम से कम आज जिस रूप में हम उसे देखते हैं, उस रूप में वह प्रचलित नहीं हो सकती। आधुनिक विवाह संस्था में दो भावनाएँ स्पष्ट या अस्पष्ट, कम या अधिक प्रमाण में अवश्य पाई जाती हैं । स्त्री पर पुरुष का सर्वकालीन स्वामित्व और पति का कौमारभंग का अधिकार । परंतु असंस्कृत जातियों में कौमार्य का कोई विशेष महत्व नहीं माना जाता । मध्ययुग का महान यात्री मार्को पोलो तिब्बत में बसी हुई एक जाति के संबंध में कहता है, ''ये लोग कुमारियों को पत्नी के रूप में कभी पसंद नहीं करते । 'जिस स्त्री को पुरुष के साथ रहने का अभ्यास या अनुभव न हो, वह पत्नी के रूप में किस काम की ?' ऐसी मान्यता इन लोगों में प्रचलित होती है ।'' पूर्व आफ्रीका की अकम्बा नामक जाति में भी गर्भ धारण कर चुकने वाली स्त्री ही पत्नीत्व के योग्य मानी जाती है । मॉन्गवन्डीफ्क और फ्रॅन्च गिनी का बाग जाति में भी जिस स्त्री को कौमार्यावस्था में संतानप्राप्ति हो चुकी हो, उसे ही पत्नी के रूप में अधिक पसंद किया जाता है । गुजरात की रानी परज में 'खंधाड़िया' की संस्था कुमारिकाओं को मातृत्व प्रदान करती है । यह हम देख चुके हैं । संधाड़िया को छोड़कर अन्य किसी पुरुष के साथ विवाह करने में जरा भी संकोच या हीनता का अनुभव नहीं होता । इस प्रकार के उदाहरण और भी चाहे जितने दिए जा सकते हैं । संसार के अनेक भागों की असंस्कृत प्रजाएँ कौमार्य को विवाह का आवश्यक अंग नहीं मानतीं । एक युवती को अनेक युवक चाहते हों, यह परिस्थिति क्वाँरी कन्या के लिए निंदा का विषय नहीं बनती बल्कि उसके लिए पति-प्राप्ति सुलभ कर देती है क्योंकि ऐसी पत्नी प्राप्त करना कोई भी युवक बड़े सम्मान और सद्भाग्य की बात समझता है । हमारे समान द्वारा स्वीकृत शिष्टता की मर्यादा से ये संबंध बिलकुल विपरीत होते हैं, और इसी कारण से, मर्यादा की चौखट से बाहर निकलने की सुविधा देने वाली गणिकासंस्था को अनावश्यक बना देते हैं ।

विवाह संबंध में स्त्री के ऊपर पुरुष के स्वामित्व की भावना अति सभ्य और सुसंस्कृत समाजों में भी अब तक सुरक्षित पाई जाती है । अर्ध संस्कृत जातियों में भी मालिकी की यह भावना किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती है । विवाह संस्था के अध्ययनकर्ताओं में यह मान्यता प्रचलित है कि आधुनिक युग के, एक पुरुष के साथ एक या अधिक स्त्रियों के, शिष्ट माने जाने वाले विवाह संबंध समाजमानय भूमिका पर पहुँचने से पहले बहुपतित्व या कबीले के पूरे पुरुष समूह के पतित्व की प्रथा प्रचलित थी । स्पष्ट शब्दों में कहें तो समूह की सब स्त्रियाँ समूह के सब पुरुषों की पत्नियाँ होती थी और पूरे वर्ग में यथेच्छ यौन व्यवहार हो सकता था । किसी विशिष्टि स्त्री पर किसी विशिष्ट पुरुष के वैयक्तिक स्वामित्व या अधिकार का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता था । आज की गणिकासंस्था में भी पुरुष के इस स्वामित्व के अधिकार का स्वीकार नहीं होता इसलिए, इस हद तक ये समूह विवाह गणिकासंस्था की आवश्यकता की पूर्ति करते या उसे अनावश्यक बनाते दिखाई देते हैं ।

बहुपतित्व के प्रचलन वाली जातियों में कई भाइयों के बीच एक ही पत्नी होने के उदाहरण उपलब्ध हैं । पांडवों और द्रौपदी के संबंध में इस प्रथा की छाया स्पष्ट दिखाई देती है । नीलगिरी की टोड़ा जाति में आज भी यह प्रथा प्रचलित है । कुछ जातियों में अनेक प्रकार के विचित्र यौन संबंध रिवाज के रूप में प्रचलित होते हैं । अपनी पत्नी को रात दो रात के लिए किसी मित्र या मेहमान की सेवा में सर्वांग से तैनात करना कई जातियों में आतिथ्य का अति उच्च आदर्श माना जाता है । कहीं कहीं जाति के मुखिया को प्रत्येक नववधू के साथ प्रथम रात्रि के समागम का अधिकार होता है । इंग्लैंड के उमराओ को अपनी रिआया की पत्नियों पर इस प्रकार का अधिकार होने के प्रमाण उपलब्ध हैं । विवाह से पहले के इस प्रकार के अनियमित यौन संबंधों में उस समय की जातियाँ किसी प्रकार की गिरावट का अनुभव नहीं करती थी । जिन समाजों में यौन संबंधों की शिथिलता का खुला स्वीकार कर लिया जाता है उनमें गणिकावृत्ति के विकास का कोई कारण ही नहीं रहता । 'एक पुरुष की एक पत्नी और एक स्त्री का एक



पति', इस व्यवस्था के सामाजिक स्वीकार से ही इस वृत्ति का अस्तित्व संभव हो सकता है ।

उत्तरी अमरीका के रेड इंडियनों की एक जाति में युवतियों को पति प्राप्त करने के लिए एक समारोह या उत्सव का आयोजन करना पड़ता है । इस समारोह में अनेक युवकों को निमंत्रित करके ये युवतियाँ उनके साथ अतंत्र यौन विहार करती हैं । इसी में से परस्पर विवाह संबंध पक्के हो जाते हैं । कुछ जातियों में अविवाहित युवकों को किसी सार्वजनिक स्थान पर एकत्रित करके अलग रखा जाता था । इसे पूरे समूह की वासनातृप्ति के लिए दो चार युवतियों को उनके साथ रखने का रिवाज था । अकसर यह देखा गया है कि जहाँ जहाँ इस प्रकार के शिथिल यौन व्यवहार वाली जातियाँ विवाह के बंधन में बँधी हैं, वहाँ गणिकावृत्ति भी किसी न किसी रूप में प्रविष्ट हो गई है । इतना ही नहीं, वहाँ वेश्याग्रहों की स्थापना भी हुई है ।

इस प्रकार की परिस्थिति अनेक असंस्कृत जातियों में अब भी दिखाई दे जाती है । संस्कृति से अछूता जीवन बिताने वाले इन प्राचीन जन समूहों में पश्चिम के साहसी नाविकों, सैनिकों, व्यापारियों, शोधकों या पादरियों का प्रवेश होते ही गणिकावृत्ति भी प्रविष्ट हो जाती है । अपने देश से हजारों योजन दूर अनजान प्रदेशों में भटकने वाले सभ्य और शिक्षित साहसिक (जो सभी ईसाई होते हैं), इन असभ्य और असभ्य जातियों को धन, शराब, बंदूकें और चमकते हुए नकली जेवरों की भेंट देकर, बदले में पुरुषों से उनकी जमीन और स्त्रियों से उनकी अस्मत छीन लेते हैं । इन जातियों का हमारे समाज में प्रचलित नैतिक भावनाओं से परिचय नहीं होता, अत : ये सैनिक या व्यापारी जब उनकी स्त्रियों को अपनी वासना का शिकार बनाते हैं तो परिवार के माता-पिता या पति को उसमें कुछ भी अनुचित या लज्जास्पद दिखाई नहीं देता । इस प्रकार, सुदूर बिखरे हुए इन निर्दोष स्थानो में गणिकावृत्ति का सूत्रपात होता है । अनेक

स्थानों पर तो अपनी पुत्रियों या पत्नियों को राजीखुशी से इस व्यवसाय में लाकर, किसी परदेशी की ''मौसम भर की पत्नी'' बनाने को पिता या पति खुद ही तत्पर रहते हैं। यौन संबंधों में धन या धन की समानधर्मा किसी भी वस्तु का आदान प्रदान होते ही गणिकावृत्ति का उद्‌भव हो जाता है । साथ ही, यह भी विचारणीय है कि इन संस्कृतिहीन मानी जाने वाली जातियों में कुछ स्त्री पुरुषों के अमर्याद यौन संबंधों के लिए अलग व्यवस्था भी होती है, जिसे गणिकासंस्था का ही एक प्रकार कहा जा सकता है । कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते हैं कि आजकी गणिकावृत्ति इन प्राचीन जातियों के अमर्याद और अनियंत्रित यौन संबंधों की ही सीधी विरासत है । परंतु अधिकांश तो यही देखा जाता है कि इन प्राथमिक, असंस्कृत जातियों में यौन संबंधों के विषय में कड़े बंधन न होने के कारण पुरुष को व्यवस्थित गणिकावृत्ति में आनंद ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं रहती । यदि इन जातियों में विवाह संस्था का विकास हो चुका होता है तो उसमें भी नियमों की इतनी शिथिलता होती है कि गणिकावृत्ति के स्पष्ट उद्‌भव को स्थान नहीं रहता। भारत की अनेक खानाबदोश और जरायमपेशा जातियों में इससे मिलती जुलती स्थिति आज भी दिखाई देती है ।

हिरोडोटस नामक यूनानी इतिहासकार ने ईसाई संवत् से पांच सौ वर्ष पूर्व लीडिया नामक प्रदेश की यात्रा की थी । वहाँ की एक प्राचीन कब्र का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि उस कब्र का निर्माण किसी राजा की याद में हुआ था । उसके निर्माण का खर्च अलग अलग व्यवसायिओं ने दिया था जिसमें गणिकाओं द्वारा दी गई रकम सबसे अधिक थी । ये गणिकाएँ विवाह के लिए आवश्यक धन जुटाने के लिए कुछ वर्षों तक गणिका व्यवसाय करती थी । विवाह के लिए गणिकावृत्ति करनी पड़े, यह एक विचित्र परंतु सत्य घटना है जिसके दर्शन अब भी कहीं कहीं हो जाते हैं ।

इस प्रकार गणिकावृत्ति के मूल मनुष्यजाति की प्राथमिक अवस्था तक फैले हुए दिखाई देते हैं । गणिकावृत्ति को यदि यौन व्यवहार का एक अमान्य और अमर्याद प्रकार, या मान्य प्रकारों का एक रूप मान लिया जाय, तो इस प्रथा से असंस्कृत जातियाँ भी किसी न किसी रूप में परिचित थीं, यही कहना पड़ेगा । मनुष्य की स्वाभाविक कामवासना का यह प्रकार संस्कृतिपूर्व युग के हमारे पूर्वजों में हमने देखा । संस्कृति के स्तर ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों वासनातृप्ति के प्रकार भी बदलते जाते हैं और बढ़ते जाते हैं । इन अविकसित समाजों में गणिकावृत्ति के पोषक याउत्पादक अन्य तत्वों के अंशत: दर्शन भी हम कर सकते हैं ।

३
धर्म का उद्‌भव

मनुष्य इस पृथ्वी पर अकेला नहीं रहता और पृथ्वी का वह मालिक भी नहीं है, यद्यपि स्वामित्व के लिए उसकी उछलकूद सदा चलती रहती है । मनुष्य पूरी मनुष्यजाति का एक अणु है व सजीव सृष्टि का उससे भी छोटा परमाणु है । यह सत्य है कि यह नगण्य सा अणु पृथ्वी का सबसे शक्तिमान और विजयी अंश प्रमाणित हुआ है ; परंतु वह उसके चारों ओर फैली हुई जड़ सृष्टि का एक भाग है, यह माने बिना भी चारा नहीं । चाहे वह किसी राजमहल में या राजसी ठाठबाट से भरे किसी होटल में रहता हो, या किसी बड़, पीपल के नीचे पड़ा रहता हो, है वह सृष्टि का ही एक अंश । जड़ और चेतन सृष्टि के साथ मनुष्य के संबंध और व्यवहार का स्पष्टीकरण अब तक नहीं हो पाया है इस बात को आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है ।



कामजनित आनंद या वासनातृप्ति मनुष्यजीवन का महत्त्वपूर्ण भाग है, यह तो माना, परन्तु सामाजिक मनुष्य को और भी अनेक कर्त्तव्यों की परंपरा निभानी पड़ती है, इस बात का स्वीकार प्राचीन और आधुनिक, दोनों कालों के मनुष्य को करना पड़ा है । यौन वासना के आसपास जिस प्रकार एक अटपटी सृष्टि मनुष्य ने रची है उसी प्रकार उसकी भूख-प्यास के आसपास भी उसने एक विपुल कार्य जगत की सृष्टि की है । ये दोनों प्रवृत्तियाँ कई बार परस्पर सहकार करती हैं, कभी इनमें संघर्ष होता है, कभी एक दूसरे पर हावी हो जाती है और कभी एक दूसरे का शोषण भी करती है । यह सब होने पर भी, कामवासना और भूख-प्यास रूपी ये महातत्व किसी न किसी प्रकार से समाज जीवन की चौखट में एकत्र हो जाते हैं और मनुष्य जीवन में स्थिर होकर अपना योग्य स्थान ढूंढने के प्रयत्न में लगे रहते हैं । ये दोनों महातत्त्व मनुष्य को बाह्य सृष्टि-जड़ सृष्टि — के संपर्क में लाते हैं । मनुष्य-मनुष्य के बीच के संबंध या व्यवहार ही जब स्थिर नहीं हो पाये हैं, तो जड़ सृष्टि के साथ के मनुष्य के संबंधो में पूर्णता दिखाई न दे, यह स्वाभाविक है । मानव जीवन के चारों ओर आज भी अनेक गूढ़, अभेद्य, अनाकलनीय, अस्पष्ट और रहस्यपूर्ण प्रश्नों का कोहरा छा रहा है, इससे आज की अधार्मिकता भी इनकार नहीं कर सकती ।

मनुष्य भूखा होते ही पहले भोजन ढूंढता है । भोजन मिल जाने से उसे तृप्ति होती है । इस तृप्ति से पूरी सृष्टि के प्रति उसके मन में कोमल भाव जगते हैं । इन कोमल भावों से भोजनप्राप्ति के स्थान, और भोजन प्राप्त कर देने वाले प्रसंगों और कारणों के प्रति उसके हृदय में सद्भाव, पूज्यभाव या भक्तिभाव उत्पन्न हो, यह भी स्वाभाविक है । कार्यकारण की शृंखला आज के प्रगतिशील युग में भी पूर्ण रूप से नहीं जुड़ पाती । परंतु आज हमें हास्यास्पद लगने वाले कार्यकारण संबंध मनुष्य जीवन की प्राथमिक अवस्था में सच्चे और महत्वपूर्ण दिखाई देते हों तो आश्चर्य नहीं ।

भूखे मनुष्य को यदि फलों से लदे वृक्षों का झुरमुट दिखाई दे जाय तो वह यही समझेगा कि किसी अदृश्य तत्व ने उस पर कृपा की है । यह अदृश्य तत्व ही उसका आराध्यदेव बन जायगा । इस तत्व के स्वरूप की उसे जानकारी नहीं । उसका परिचय तो केवल जड़ और चेतन सृष्टि से है । अत: कभी-कभी शेर, भेड़िये या भालू जैसे भयानक जंगली प्राणियों में से कोई उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना चला जाय, तो उसका पूज्यभाव उसके भय के साथ मिश्रित होकर इस कल्पना को जन्म दे सकता है कि उसके देवता भयानक प्राणी का रूप धारण करके आये और उसे तृप्त करके चले गये ।

यही मनुष्य और किसी स्थान पर फल तोड़ने जाय, और वृक्ष में से, बिजली की तेजी से, साँप का फन उसकी ओर फुफकारे, तो साधारणत: वह आदिम मनुष्य उस फन को अपनी पत्थर की गदा से कुचल देगा । परंतु यह भी हो सकता है कि उसे सर्प के दर्शन में किसी देवता के कोप का भास हो, और वह कुछ कर सके इससे पहले ही साँप उसे काटे और वह मर जाय । साँप की शक्ति देखकर उसके साथी सर्पदेवता की कल्पना कर सकते हैं । और कभी, संयोग से, देवता बने हुए सर्प की प्रार्थना करने से किसी का विष उतर जाय, तो उस प्राचीन समाज में बहुतशीघ्र नागपूजा को धर्म माना जा सकता है । नागपंचमी के दिन होने वाली नागपूजा में शायद यही प्राचीन मान्यता अब तक चली आ रही है ।

परस्पर विरोधी दो मनुष्य लड़ते-झगड़ते किसी नदी के किनारे दलदल में पहुँच गये हों, और जब एक जीतने की तैयारी में हो, और दूसरा हार रहा हो, उसी क्षण पानी से निकल कर कोई मगर, जीतने वाले की टांग पकड़कर उसे पानी में खींच ले जाय, तो हारने वाला क्या सोचेगा ? हारते ही उसकी खोपड़ी विजेता के गले की रुंडमाला का एक मनका बन जायेगी, इस डर से अधमरा मनुष्य इस अकल्पित सहायता के कारण मगर को देवता मानकर उसे पशुपक्षी की बलि चढ़ाने लगे तो आश्चर्य नहीं । साथ ही वह यह सावधानी भी रखेगा कि मगर देवता को पायमान होकर कहीं उसकी ही बलि न ले लें । मिस्र की नील नदी के मगरों की पूजा से इतिहासवेत्ता परिचित हैं ।

पहाड़ों में मनुष्य अपनी ही प्रतिध्वनि सुनता है । उसे ध्वनिलहरियों के परावर्तन के वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान नहीं । ज्ञान प्राप्त करके भी हम अपने सब प्रश्नों का हल कहाँ कर पाये हैं । असंस्कृत मनुष्य मान बैठता है कि पर्वत देवता ने उसे प्रत्युत्तर दिया ; और तुरंत ही पर्वत के किसी शिखर को या वहाँ के किसी भी पत्थर को देवता का प्रतीक मानकर, उस पर सिंदूर पोतकर वह उसकी उपासना आरंभ कर देता है ।

तालाब के पानी में मनुष्य अपना ही मुख देखता है । परंतु वह मुख उसी के मुख का प्रतिबिंब है, यह समझने में उसे युगों का समय लगता है । आज अनेक युगों के अनुभव से हमारे लिए अपने मुख की पहचान सरल हो गई है ; परंतु दर्पण में दिखाई देने वाले अपने ही प्रतिबिंब से उछल उछल कर युद्ध करती हुई चिड़िया को देखकर हम अंदाज लगा सकते हैं कि उस प्राचीन काल में मनुष्य का अज्ञान किस प्रकार का होगा । कुएँ के पानी में छिपे हुए प्रतिस्पर्धी का भ्रम उत्पन्न करके एक सचमुच के शेर को कुएँ में छलाँग लगाने की प्रेरणा देने वाली पंचतंत्र की लोमड़ी की कहानी इसी बात की ओर इशारा करती है कि मनुष्य के आदिम पूर्वज साहस में सिंह जैसे वीर, परंतु बुद्धि में सिंह के जितने ही अज्ञानी थे । ये पूर्वज जल को देवता मानकर धीरे-धीरे उसकी उपासना भी आरंभ कर देते थे ।

आकाश में बिजली चमकती है और बादल गरजते हैं । बिजली का वज्रप्रहार पर्वत के शृंगों को भी तोड़ गिराता है । गुफा में छिपा हुआ प्राचीन मनुष्य कल्पना करता होगा कि आकाश देवता ने हथियार चमकाये और क्रोधावेश में गर्जना की । आकाश देवता को शांत करने के लिए, भय से काँपता मनुष्य मन ही मन उसकी प्रार्थना करता है और साथ ही शरीर से नम्रता सूचक हावभाव भी करता है । घंटे-दो घंटे बाद बिजली की चमक बंद हो जाती है और मनुष्य को लगता है कि उसकी प्रार्थना फलीभूत हुई और यो देवता प्रसन्न होकर आकाश में स्वर्णाभ हास्य बिखेर रहे हैं । मनुष्य ने जिस भाव और जिस अभिनय से सफल प्रार्थना की, वह पूरी प्रक्रिया धर्मक्रिया बन गई ।

सूर्य नियमित उगता है और अस्त होता है । चंद्र की अनियमित लगने वाली गति भी नियमों से संचालित है । ग्रहों और नक्षत्रों के वृंद भी कोई अगम्य परिक्रमा करते दिखाई देते हैं । किस की परिक्रमा करते हैं वे ? किसलिए करते हैं ? आज भी इन प्रश्नों के उत्तर नहीं मिल सके हैं । अपने पूर्वजों का अनुत्तरित आश्चर्य उनकी कल्पना को किसी अगम्य सत्ता के अस्तित्व की ओर खींच ले गया हो, तो आश्चर्य नहीं । मनुष्य अपनी परछाईं देखता है और उसे देह रहित आत्मा का ज्ञान होता है । यह परछाईं उसे जड़ और चेतन सृष्टि में सब जगह दिखाई देती है । उसके मन में विचार उठता है ; पूरी सृष्टि में व्यापी हुई जड़ और चेतन वस्तुओं में आत्मा नामक तत्व तो नहीं होगा ?

दिनभर की थकान उतारने के लिए या हिंसक पशुओं से बचने के लिए वृक्ष के झुरमुट या फूस की झोंपड़ी में लेटा हुआ मनुष्य स्वप्नसृष्टि में पहुँच जाता है । इस प्रकार की आरामदेह, अर्धनिद्रित अवस्था सौंदर्य या सुंदरी के स्मरण के लिए अत्यंत अनुकूल होती है । अत : स्वप्न की अस्पष्टता उसके सौंदर्य को और भी आकर्षक और मोहक बना देती है । उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता । छूने का प्रयत्न करने पर तत्काल स्वप्न टूट जाता है । उसी समय पास के घोंसले से कोई पंछी पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ जाता है और सामने के वृक्षों की पर्णघटा में से या झोंपड़ी के छप्पर से दो नयन उसकी ओर देखकर मुस्करा रहे हों ऐसा भास होता है । परंतु उस मानवपूर्वज के मन में परियों की कल्पना जागृत होती है और नील गगन के उस पार बसे हुए किसी रमणीय प्रदेश की झाँकी उसके मानसपट पर अंकित हो जाती है । वह उसे स्वर्ग कहता है । जो इस जीवन में नहीं मिल सका वह वहाँ अवश्य मिलेगा, ऐसी लुभावनी आशा उसके भविष्य को रसमय बनाती रहती है और इस जीवन के बाद के किसी अधिक अच्छे जीवन का चित्र उसके सामने

उपस्थित करती रहती है । कुछ आगे बढ़कर उसे देह और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होता है और आत्मा के पुनर्जन्म की मान्यता रूप धारण करती है । इस प्रकार की या इससे मिलती-जुलती किसी प्रक्रिया द्वारा ही धर्म और कर्मकांड की स्थापना होती है । मनुष्य जीवन का संचालन करने वाली किसी अदृश्य सत्ता के साथ समभाव स्थापित करके, और आत्मोन्नति के लिए इस सत्ता की सहायता प्राप्त करने के विनीत उपायों और उपचारों का समावेश करके मनुष्य उपासना की पूरी पद्धति का निर्माण करता है । अपनी शक्ति या बुद्धि से परे होने वाले प्रसंगों, घटनाओं और परिस्थितियों की जिम्मेदारी इस अदृश्य सत्ता को सौंप कर मनुष्य की निश्चिंतवृत्ति आस्था या श्रद्धा नामक धर्मतत्व में समा जाती है ।

बाह्य सृष्टि मनुष्य की कल्पना को उत्तेजित करती है और इस कल्पना एवं बाह्य सृष्टि के संमिश्रण से ही मनुष्य धर्म, स्वर्ग और नरक की सृष्टि करता है ; देवी, देवता, भूत, राक्षस, फरिश्ते और परियों का निर्माण करके जीवन के मूर्त सत्वों को जागृत करता है । अगम्य, अगोचर, अप्राप्य या असंभव दिखाई देने वाले तत्वों या घटनाओं पर इन सत्वों की सत्ता की कल्पना कर लेता है, जो मनुष्य की सत्ता से कहीं अधिक शक्तिमान होती है ।

इन दिव्य सत्वों की कल्पना में मनुष्य अपने ही स्वभाव का अवलंबन करे, यह स्वाभाविक है । मनुष्य रीझता है और खीजता है ; लड़ता है और मेल करता है ; प्रेम करता है और निंदा करता है ; सौजन्य दिखाता है और कपट करता है; उदारता बरतता है और पक्षपात करता है; स्वार्थ रखता है और परमार्थ भी करता है । अतः आरंभ में मनुष्य यही कल्पना करता है कि देवसृष्टि भी इसी प्रकार के मानसिक वातावरण में रहती होगी । फर्क सिर्फ इतना ही होगा कि देवताओं की शक्ति मनुष्य की शक्ति से अनेकगुनी अधिक होती होगी । वह यह भी सोचता है कि इन देवताओं के प्रसन्न करने से उनकी सहायता मनुष्य को मिल सकती है । इससे कुछ ही आगे बढ़ने पर मनुष्य की श्रेणियों और वर्गों की कल्पना देवताओं में होने लगे, यह स्वाभाविक है । मनुष्य में लिंगभेद है, अत : देवताओं में भी होना चाहिये । परिणामस्वरूप देवताओं में स्त्री पुरुष का भेद प्रवेश कर जाता है । मनुष्यों में कृषक, कारीगर, सिपाही, व्यापारी और राजा होते हैं, अत : देवताओं में भी कोई कृषिप्रिय, कोई कलाप्रिय, कोई व्यायामप्रिय तो कोई युद्ध प्रिय देवता हो सकता है, और उन सब के ऊपर शासन करने वाला कोई श्रेष्ठ देवता राजा के रूप में भी होना चाहिये । इस संबंध में अपने इंद्र और यूनानी देवता ज्युपिटर में समानता पाई जाती है ।

मनुष्यों में अच्छे और बुरे के स्वभावजन्य भेद करने की प्रथा है । ये स्वाभाविक माने जाने वाले भेद सच्चे होते हैं या नहीं, यह प्रश्न यहाँ उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं । परंतु स्वभावभेद दिखाई तो अवश्य देते हैं । किसी मनुष्य का मुख देखते ही सबको आनंद होता है और उसका सब जगह आदर-स्वागत होता है । इसके विपरीत कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि जहाँ भी जायें, वातावरण को उदास बना देते हैं और सब यही चाहते हैं कि उनकी मित्रमंडली में ऐसे लोग शामिल न हों, एक तीसरे प्रकार के मनुष्य भी होते हैं, जो हर जगह झगड़े और क्लेश ही फैलाते रहते हैं । उन्हें देखते ही लोग इधर-उधर हो जाते हैं । देव समूह में भी इसी प्रकार के स्वभाव भेदों की कल्पना की गई है । एक देवता आनंद और उत्साह का वातावरण जमाता है । यूनानी देवता बॅकस इसका आदर्श उदाहरण है । अपने कामदेव भी इसी श्रेणी के हैं । दूसरा कोई देवता जीवन के भयानक पहलू का ही ज्ञान कराता रहता है । अपने शिव की कल्पना इसी प्रकार की है जो सामान्यत : भूत, भस्म, स्मशान और सर्पों से जुड़ी हुई है । तीसरे प्रकार के देवता झगड़े-फिसाद से ही खुश रहते हैं । चिरंजीवी देवर्षि नारद का कलहप्रेम प्रसिद्ध है । देवताओं के सेनापति कार्तिकेय सदा व्यूह-रचना में मग्न रहने वाले सच्चे सैनिक होने के कारण क्वाँरे ही रह गये हैं, जबकि गणेश जी बुद्धि के देवता होकर भी दो पत्नियों से विवाह कर बैठे हैं ।

मानव समूहों में अपनी अपनी जाति के प्रति पक्षपात पाया जाता है । आज भी, अॅटलॅंटिक चार्टर केवल गोरी प्रजाओं के लिए है, यह कहने में गोरी प्रजा के एक नायक चर्चिल साहब को लाज नहीं आती और लोकशासन के नाम पर प्रजाओं को लड़ा देने वाले, एवं उक्त चार्टर के प्रमुख प्रेरक अमरीका के अध्यक्ष रूजवेल्ट साहब को भी एशिया की प्रजाओं का उसके अंतर्गत समावेश करने में हिचकिचाहट होती है । पूर्व के जापान ने पैंतीस वर्ष पहले रूस के और आजकल चर्चिल-रूजवेल्ट के ब्रिटेन-अमरीका के छक्के छुड़ाकर गोरांग प्रभुओं का घमंड कुछ कम तो कर दिया है ; परंतु गोरी प्रजाओं का प्रभुत्व जरा भी कम न हो जाय इस चिंता से प्रेरित गोरी जातियाँ आज भी गोरी संस्कृति और ईसाई धर्म के जगतव्यापी प्रसार की बेहूदी बातें छोड़ने को तैयार नहीं । इससे यही प्रमाणित होता है कि वंश, वर्ण या वर्ग जन्य पक्षपात मानव समुदाय में बहुत गहरा उतर गया है । मनुष्यजाति के प्राचीन पूर्वजों को भी इसी प्रकार का कोई अभिमान हो तो आश्चर्य नहीं । भिन्नता या श्रेष्ठता का यह गुमान किसी भी जाति के धर्म, विचार और संस्कृति पर अपनी पकड़ मजबूती से बनाये रखता है । अपनी जाति की कल्पना के देवता अन्य जातियों के देवताओं से श्रेष्ठ होने ही चाहिये, यह भावना प्रत्येक धर्म में पाई जाती है । हिंदू देवताओं की कथाओं को विचित्र,



असंभव और अनीतिमान कहकर उनकी निंदा करने वाले ईसाई पादरी बाइबल की उससे भी अनेकगुनी विचित्र और असंभव कथाओं को, टीका करते समय शायद भूल जाते हैं । इस प्रकार के ममत्व में से देवताओं के परस्पर विरोध की भावना भी जन्म लेती है । अपने देवता अच्छे और दूसरों के बुरे, इस विचारधारा से भी हम अपरिचित नहीं । वैष्णव शिव का नाम न लें और शिव विष्णु के नाम का उच्चारण न करें, यह स्थिति आज भी हमारे देश में मौजूद है । इसी मान्यता में से अपने देवताओं को देव और दूसरों के देवताओं को असुर मानने की प्रवृत्ति जन्म लेती है । देवासुर की इस कल्पना का उदाहरण प्राचीन हिंदू और जरथुस्त्र धर्म-मान्यताओं में बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । हिंदुओं के लिए देव पूजनीय और असुर निंदनीय पारसियों के लिए 'अहुर' पूज्य और 'देव' निंदापात्र ।



दिव्य सत्वों में भी इस प्रकार भलेबुरे के भेद खड़े हो जाते हैं । इष्ट देवता कृपा करते रहें इसलिए, और अनिष्ट देवता अपनी विनाशक शक्ति का प्रयोग न कर बैठें इसलिए मनुष्य को दोनों को प्रसन्न रखने की तजवीज करनी पड़ती है । देवताओं का पृथ्वी पर आवागमन भी प्राय : होता रहता है । उनकी आने जाने की रफ्तार हम कल्पना भी न कर सकें इतनी तेज होती है । अत : समय समय पर उनका आवाहन होता है, और मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना करके उनके स्थायी निवास का प्रबंध भी होता है । मूर्ति देवता का प्रतीक होने के कारण मूर्तिपूजा साक्षात देव पूजा के समान मानी जाती है । इस देव पूजन के अनेक विधिविधान खड़े होते हैं । देवताओं की प्रार्थना होती है, उन्हें नैवेद्य धरा जाता है और बलि या आहुति चढ़ा कर उन्हें प्रसन्न रखा जाता है । सुंदर से सुंदर वस्तुओं की भेंट देवता को अर्पण की जाती है और वे मनुष्य जीवन में सदेह हाजिर हों, ऐसी भावना रखी जाती है । देवकृपा से प्राप्त लाभ का कुछ अंश भी देवार्पण किया जाता है ।

शुभ सत्वों के समान अशुभ सत्व भी मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालते रहते हैं । इन अनिष्ट देवताओं या ग्रहों के क्रोध का शमन करने की, मौके के स्थानों से उन्हें स्थानभ्रष्ट करने की, उनके अनिष्ट का प्रभाव हलका करने की या उस अनिष्ट को किसी और के मत्थे मढ़ देने की योजनाएँ भी बेचारे मनुष्य को करनी पड़ती हैं । इसलिए अशुभ, कठोर या अनिष्ट देवताओं के मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना भी आवश्यक हो जाती है और उन्हें प्रसन्न करके उनके कोप से रक्षा पाने की पूजाविधियाँ ढूंढी जाती हैं । कभी-कभी इन इष्टानिष्ट और शुभाशुभ सत्वों का मिश्रण हो जाता है और अपने दुश्मनों का अनिष्ट करने को तत्पर मनुष्य का स्वार्थ, इन अशुभ देवताओं की सहायता प्राप्त करने के लिए ही इनकी पूजाअर्चा करता है । अपना भला करने के लिए हम जिस तत्परता से शिव के वरद तत्व की अराधना करते हैं, उसी तत्परता से अपने शत्रु के अनिष्ट के लिए किसी देवी के विकराल स्वरूप की साधना भी कर सकते हैं ।

देवताओं के धामों की रचना इसी प्रकार होती है । भक्तिमान प्रजा अपनी सर्वश्रेष्ठ कला का उपयोग देवमंदिरों की रचना में करती है । प्रजा के बड़े भाग की मान्यता से समरस होकर राजसत्ता भी इसमें शामिल होती है । देवपूजन भी एक विशेष निपुणता का कार्य बन जाता है और इस कार्य में निपुण होने वाला वर्ग लोगों की श्रद्धा जागृत रखने के लिए और देवता के साथ साथ अपना भी महत्व बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार की कथावार्ताओं और पूजाविधियों की परंपरा का निर्माण करता है । श्रद्धालु विद्वानों का वर्ग धीरे-धीरे इस कर्मकांड के आसपास बुद्धि को मान्य और तर्कद्वारा प्रमाणित सिद्धांतों की रचना करके समूची धर्म परंपरा को सामर्थ्य प्रदान करता है ।

वर्तमान युग के समाजशास्त्री धर्म की उत्पत्ति और विकास को इसी प्रकार समझने का प्रयत्न करते हैं । ये सब धार्मिक कर्मकांड सत्तावान और धनवान वर्गों के निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए जान बूझकर, योजनाबद्ध रूप से किए जाते हों ऐसा आभास भी उत्पन्न किया जाता है । धर्म केवल लोगों को ठगने के लिए बुद्धिपुर:सर रचा हुआ एक षडयंत्र है, ऐसा प्रचार करने वाले लोग धर्मभावना के सच्चे और संपूर्ण स्वरूप को समझ सके हैं, यह शायद की कहा जा सके । धर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए यह दृष्टि शायद धर्मांधता के दृष्टिकोण से भी हीन कोटि की है । परंतु यहाँ इस विषय को छोड़ने का प्रयोजन नहीं । प्रस्तुत विचारधारा द्वारा तो केवल धर्म और धर्मभावना का आधुनिक शास्त्रीय दृष्टि से निरूपण किस प्रकार किया जाता है, यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है ।

एक चित्रकार ने किसी फरिश्ते का चित्र बनाकर अपने पादरी को दिखाया । धर्मोपदेशक ने बड़प्पन से मुस्कराकर चित्रकार को घबरा देने के हेतु से पूछा, ''फरिश्तों को जूते-चप्पल पहने हुए कभी किसी ने देखा है ?'' बात यह थी कि चित्रकार ने फरिश्ते के पाँवों में चप्पल पहने हुए चित्रित किया था । परंतु

चित्रकार आसानी से घबरा जाने वाल जीव नहीं था । उसने प्रतिप्रश्न किया, "पादरी साहब, चप्पल पहने हुए या बिना चप्पल के, किसी भी प्रकार के फरिश्ते को कभी किसी ने देखा है ?"

उपरोक्त दृष्टांत से यही प्रमाणित होता है कि हम आस्तिक हों या नास्तिक, धार्मिक हों या अधार्मिक, धर्मविकास की वर्तमान विश्लेषण-पद्धति पर विचार अवश्य करना चाहिये । मनुष्य अपने मानस विकास के अवलंबन पर ही अपनी धर्मरचना करता है, और उसके पूजनयजन में मानवीय भाव, मान आकृति और मानवसुलभ पूजा सामग्री का ही समावेश हो सका है । यह स्वीकार कर लेने से धर्म का अधिकांश बाह्य स्वरूप समक्ष में आ जाता है ।

यह धर्म मानवसंस्कृति की एक महान प्रेरक शक्ति बन जाता है । मनुष्य के प्रकृति के साथ के संबंधों की कड़ियाँ ढूंढने के प्रयत्नों में से ही सत्याधिष्ठित या भ्रममूलक धर्मभावना का जन्म होता है । आज की विचारसरणी धर्म संशोधन के तीन मार्ग प्रस्तुत करती हैं :—

१. **ईश्वरेच्छावाद** :— देवताओं के देवता परमेश्वर की इच्छानुसार ही इस संसार का शकट चल रहा है । मनुष्य इस इच्छा के आधीन होकर ही जी सकता है ; योजनाएँ तो ईश्वर ने गढ़ रखी हैं । इस भावना को ईश्वरेच्छावाद कहा जाता है ।

२. **आदर्शवाद** :— ईश्वर ने जगत की रचना की, यह मान्य है ; परंतु मनुष्य को शुभाशुभ मार्गों के चयन के लिए ईश्वर ने संकल्पशक्ति दी है । यह संकल्पशक्ति मनुष्य को उसके कर्मों के लिए जिम्मेदार बनाती है । कर्मानुसार ही उसकी गति, प्रगति या दुर्गति होती है । कर्म मनुष्य की ईश्वरदत्त संकल्पशक्ति का फल है । इस मान्यता के अनुसार संकल्प, सदसद्विचार या आदर्श ही सत्य है । अत : विचारक इस विचारधारा को आदर्शवाद के नाम से पहचानते हैं ।

३. **भौतिकवाद** :— इस जगत में पूर्व योजना नामक कोई तत्त्व नहीं है । संकल्प, विचार या आदर्श सत्य हैं, परंतु वे भी चरम सत्य या ईश्वरदत्त सत्य नहीं हैं क्योंकि ईश्वर नामक किसी तत्त्व का अस्तित्व ही नहीं है । हमारे चारों ओर की जड़सृष्टि ही हमारे जीवन, हमारे विचारों, हमारे संकल्पों और हमारे आदर्शों को गढ़ती है । अत : अपने चारों ओर की सृष्टि का हम जैसा उपयोग करेंगे वैसा ही हमारा या पूरी मनुष्य जाति का जीवन होगा । संकल्प, विचार और आदर्श, भौतिक जगत से नितांत अलग कोई अगम्य तत्व नहीं हैं । यह विचारधारा ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध है, और आज का प्रगतिशील कहा जाने वाला बुद्धिमान मनुष्य समुदाय अधिकांश इसी वाद का आश्रय लेता है ।

इनमें से कौन-सा वाद सही है, यह चर्चा यहाँ निरर्थक होगी । ऐतिहासिक भौतिकवाद की विचारधारा कार्ल मार्क्स की देन है जिस पर अब सांप्रदायिक छाप लग चुकी है । उससे पहले आस्तिक धर्मभावना ही मनुष्य प्रवृत्ति की सबसे प्रबल नियामक और संचालक शक्ति मानी जाती थी ।

धर्म मानव संस्कृति की विकास कक्षा पर भी आधार रखता है । मनुष्यजाति की प्राथमिक अवस्था में उसे प्रकृति के जड़ तत्वों में चमत्कार या दिव्यत्व के दर्शन हो सकते हैं । पौधे का बढ़ना और उसपर फलफूल का उगना आज भी आश्चर्य की बात लगती है ; परंतु प्राचीन मनुष्य इसे देवता की कृपा मान कर, वनस्पति देवता की कल्पना करता था और उसे पूजता था । हम वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन द्वारा पौधे के बढ़ने का और फलफूल के आगमन का भौतिक कारण जान सकते हैं अत : देवत्व की भावना अपने आप पीछे खिसक जाती है । प्राथमिक भूमिका का धर्म प्रकृति के हर दृश्य में देवत्व का सीधा आरोपण करता है । उस के अनुसार पहाड़ भी देवता है, नदी भी देवी है और वृक्ष भी देवता है । वह व्याघ्रदेवता को भी मानता है और शीतला आदि रोग के देवी देवताओं से भी डरता है । अपनी परछाई या भूतप्रेत को भी

realpatidar.com

दैवी शक्ति का ही प्रकार मानता है । जादूगर, मांत्रिक, ओझे, स्याने और दैवेच्छा परख सकने वाले फकीर या प्रचारक उसकी दृष्टि में धर्म की अभिव्यक्ति करने वाले पवित्र धर्मगुरू बन जाते हैं जो देवताओं की कृपा-अवकृपा के संकेतों का उलटा-सीधा स्पष्टीकरण जनसाधारण को समझा कर अपना नेतृत्व स्थिर कर लेते हैं । भय इस धर्म का प्रमुख प्रेरक तत्व होता है ।

इससे कुछ उच्च भूमिका पर पहुँच कर धर्म पाप-पुण्य की तुलना करने वाला, पाप पुण्य का उचित फल दे सकने वाले न्यायी देवताओं की स्थापना करने वाला, स्वर्ग-नरक की कल्पना सदा जागृत रखने वाला और मानवगुणों का उदात्तीकरण करके देवताओं में उनका आरोपण करने वाला एक विस्तृत आचार विचार का समूह बन जाता है । इस कक्षा पर, आँखों से दिखाई देने वाले और समूची सृष्टि का कल्याण करने वाले सूर्य को देखकर सूर्यदेवता की कल्पना तुरंत समझ में आ जाती है । शीघ्र ही सूर्यदेवता के मंदिरों की रचना होकर सूर्यमूर्तियों की स्थापना आरंभ हो जाती है । ब्राह्मण, साधु, श्रमण और धर्माचार्य पवित्रता प्राप्त करके देवताओं के समान श्रद्धा एवं सेवा के अधिकारी बन जाते हैं । यह वर्ग देवभक्तों को पूजा की विधि सिखाता है, देवता को प्रसन्न करने के मार्ग बताता है और देवता की कृपा या प्रसन्नता का प्रसाद भक्तगणों को बाँटता है । धर्म की इस कक्षा पर यदि किसी वीर पुरुष या वीर नारी का आदर्श जीवन प्रजा का ध्यान आकर्षित करे, तो उनकी गणना भी देवताओं के अंतर्गत होकर वे भी मनुष्य की श्रद्धाभक्ति के भाजन बन जाते हैं । राम और कृष्ण की पूजाअर्चा, देवता के रूप में स्वीकृत वीर नरश्रेष्ठों की ही पूजा-अर्चा है ।

धर्म ने ऐसे भव्य चिंतनों को जन्म दिया है कि जिनसे समग्र सृष्टि के साथ एकता का भाव प्रकट होकर सृष्टि के सृजनहार और नियंता के साथ तद्रूप हो जाने की वृत्ति मनुष्य में उत्पन्न हो । धर्म ने ही दर्शन की उत्पत्ति की, इतिहास का निर्माण किया, कला का विकास किया, प्रजाजीवन को प्रेरणा देने वाले उत्सवों का प्रचलन किया, समाज के संचालन के लिए नियमावलियों की रचना की और प्रगति के मार्ग पर कदम बढ़ाने के आदर्श उपस्थित किये । मानवता को, मानव संस्कृति को, धर्म ने ही स्पष्ट, सुरेख और स्वत्वयुक्त बनाया है और धर्म नें ही समूची मनुष्यजाति की एकता की संभावना प्रस्तुत की है ।

४

धर्म विकृति और यौन भावना

परंतु यहाँ पर यह लंबा विवेचन धर्म के गुणगान गाने के लिए नहीं किया गया । धर्म अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी है, ऐसी उत्तरोत्तर तीव्र होने वाली मान्यता के इस युग में धर्म के अनेक दोष और अनेक विकृतियों का उल्लेख भी किया जा सकता है । धर्म जैसी सात्विक भावना में से ऐसी भयानक विकृतियों का विकास कैसे हुआ एवं इन विकृतियों की परिणति गणिकावृत्ति के उद्भव में कैसे हुई, इसका निरूपण करने के लिए ही मानव जीवन के इस महत्त्वपूर्ण तत्व का विवेचन यहाँ किया गया है ।

मनुष्य देवताओं का यजन पूजन करता है । देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है और नैवेद्य-आहुति अर्पण करता है । नैवेद्य में सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ ही अर्पित की जानी चाहिये । देवपूजा एक पवित्र कार्य है । अत : नहाना-धोना, स्वच्छ कपड़े पहनना एवं शरीर के साथ मन को भी पवित्र रखना आदि पूजनविधि के आवश्यक अंग माने जायेंगे । जिस प्रकार में अधिकाधिक पवित्रता की अपेक्षा रखी जाती है, उसी प्रकार नैवेद्य के संबंध में आवश्यक है कि सर्वश्रेष्ठ वस्तुएं ही अर्पित की जायें । परंतु सर्वश्रेष्ठ वस्तु की व्याख्या क्या है ? नैवेद्य में फल, फूल और अनेक प्रकार की खाद्य वस्तुएँ तो होती ही हैं, परंतु

प्राथमिक भूमिका की धर्मभावना का अध्ययन करने से मालूम होता है कि पशु, पक्षी या मनुष्य की बलि भी देवताओं को अर्पित करने की प्रथा प्रचलित थी। आज भी बकरे, भैंसे या मुर्गों की बलि देवी को देने की प्रथा कई देवस्थानों में प्रचलित है। किसी भी प्रसिद्ध शक्तिपीठ में इन जीवों के बलिदान का निर्दय दृश्य हम आज भी देख सकते हैं।

देवी-देवताओं का यजनपूजन समष्टि के स्तर पर उच्च कोटि की पवित्रता की अपेक्षा रखता है और पवित्रता वैयक्तिक स्तर पर संयम की अपेक्षा रखती है। पवित्रता की भावना अमुक खानपान को निषिद्ध एवं कुछ व्यवहारों को वर्ज्य मानती है। इसमें से धार्मिक आचारों की परंपरा जन्म लेती है। एकादशी को अन्नाहार नहीं करना चाहिये पर फलाहार किया जा सकता है; स्नान करके, सेवा पूजा समाप्त होने तक किसी का स्पर्श नहीं किया जा सकता; यजन पूजन के समय धुले हुए या रेशमी वस्त्र ही पहने जा सकते हैं; नवरात्रि में या विशिष्ट पवित्र तिथियों को स्त्री पुरुष का यौन संबंध नहीं होना चाहिये आदि अनेक पवित्रतापोषक विधिनिषेधों से आज के विलुप्त प्राय: धर्माचारों के युग में भी हम परिचित हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नित्य भक्ति पूर्वक यजन पूजन करने वाले स्त्री-पुरुषों के लिए एक विशिष्ट प्रकार की पवित्रता धारण करना आवश्यक माना गया है।

पवित्रता की भावना की छानबीन करने पर कुछ अंश में सत्य परंतु अधिकांश में विचित्र और परस्पर-विरोधी मान्यताओं का ही बोलबाला दिखाई देता है। उदाहरणार्थ स्त्री-पुरुष के संबंध को ही लें। स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण और उसके परिणाम स्वरूप संभोग, ये दोनों काम प्रकार अत्यंत नैसर्गिक एवं जीवन परंपरा के आद्यप्रेरक होने के कारण एक ओर इन्हें अत्यंत पवित्र माना जाता है तो दूसरी ओर कामवृत्ति के अमर्याद उपयोग से जनित विषाद या अंतिम आनंद के बाद उत्पन्न होने वाली वितृष्णा के कारण इन्हें अत्यंत अपवित्र भी माना जाता है। काम का आवेग देह भोग द्वारा सर्वोत्कृष्ट आनंद और आह्लाद की सृष्टि करता है। परंतु भोगतृप्ति होते ही इस आनन्द-आह्लाद को भ्रममय मृगमरीचिका और रति सुख को निष्फल एवं विषाद या कटुता जनक मानकर पूरी कामक्रिया को अपवित्र मानने की भावना मनुष्य के मन में उत्पन्न होती है। धर्म में हमें इन दोनों भावनाओं के प्रतिबिंब दिखाई दे सकते हैं। परंतु कामक्रिया संबंधी हमारे भयानक अज्ञान एवं अकुशलता के कारण, कामावेश के शमन पर अकसर विषाद को ही प्राधान्य मिलने से, धर्म का झुकाव कामवासना को अपवित्र मानने की ओर ही अधिकाधिक होता दिखाई देता है।

यदि धर्म कामवासना के प्रति अपवित्रता का वातावरण निर्माण करे, तो स्वाभाविक है कि देवी-देवताओं के यजन पूजन और कर्मकांड से संबंधित लोगों के लिए देहसंभोग का निषेध परम आवश्यक माना जाय। इस हालत में देवीदेवताओं की पूजा का अधिकार उसे ही दिया जायगा जो कामवासना पर तत्कालीन या सर्वकालीन अंकुश रख सके। धर्मकार्य भी वही करा सकता है जिसने सामान्य लोगों द्वारा अनिवार्य मानी जाने वाली कामवासना को वश में किया हो। इस अंकुश या संयम को हम ब्रह्मचर्य के अत्यंत सूचक नाम द्वारा पहचानते हैं और पश्चिम के लोग इसे कौमार्यव्रत (Celebacy) कहते हैं। ब्रह्मचर्य या कौमार्यव्रत धीरे-धीरे साधुता का परमावश्यक लक्षण गिना जाने लगता है। धार्मिक उपासना के लिए देह को वश में रखकर ब्रह्मचर्य या कौमारधर्म का पालन करने वाले साधुसाध्वियों की प्रतिष्ठा और अधिकार बढ़ने लगते हैं और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़कर विशिष्ट धर्मों के साधुसाध्वियों के झुंड झुंड दिखाई देने लगते हैं। देव मंदिरों के आस पास तो आज के समान प्राचीन युग में भी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों के दल मँडराते दिखाई देते थे। भारत के धर्मस्थानों की ओर दृष्टि करने से यही दिखाई देगा कि साधुसाध्वियों के ये समुदाय कठोर तपश्चर्यामय जीवन बिताते हैं। स्वाभाविक आकर्षणों और देह धर्मों से परे रहने का प्रयत्न करते हैं और विवाह से वंचित रहते हैं। अपने यहाँ तो स्त्री संग या पुरुषसंग का त्याग ही साधुता का मुख्य लक्षण माना गया है। इसी सिद्धांत पर चल कर मुसलमान

औलियाओं, बौद्ध भिक्खुओं और ईसाई पादरियों में व्रत, उपवास, तपश्चर्या और संयम के महत्व की स्थापना हुई । हमारा अनुभव और इतिहास, दोनों इसी बात की ओर संकेत करते हैं ।

इस विचार प्रणाली से ही ऐसी प्रथाएँ जन्म लेती हैं, जिनके अनुसार अमुक देवी देवताओं के पूजन के लिए ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी ही उपयुक्त माने जायँ । धमकार्यार्थ, समाज को ऐसे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध करने पड़ते हैं । इसलिए, या तो विशिष्ट वर्गों की कन्याओं के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का नियम बना दिया जाता है या समाज की सर्वश्रेष्ठ, कलासंपन्न सुंदरियों को देवार्पण करने की प्रथा जन्म लेती है, या युद्ध की लूटखसोट में पकड़ी हुई दासियों को विजय दिलानेवाले देवता की सेवा में जीवनभर के लिए अर्पित कर देने की योजना की जाती है ।

आजीवन कौमार्यव्रत का पालन करके विशुद्ध देव सेवा के अर्थ ही जीवन व्यतीत करने वाली इन साध्विओं का बहुत बड़ा भाग आरंभ के दिनों में धर्मोत्साह और सच्ची भावना से प्रेरित होकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, इसमें कोई संशय नहीं । परंतु जीवन भर मानवसहज आकर्षण से मुक्त रहना दृढ़ निश्चयी धार्मिकता के लिए भी मुश्किल हो जाता है, और नियमपालन में स्खलन होने लगते हैं । अमुक जाति की कन्याएँ या रूपगुण के शिखर पर आसीन सुंदरियाँ केवल रिवाज बनी हुई धार्मिक रूढ़ि से देवार्पण होने के कारण अपने हृदय के अति कोमल पर अत्यंत तीव्र और आवेशमय भावों की बलि चढ़ाने को जीवनभर तत्पर रहेंगी, यह मानना अवास्तविक है । भावी जीवन के प्रेमस्वप्न देखने में रत किसी सुंदर युवती से किसी दिन समाज के नायक या धर्मधुरीण लोग एकत्र होकर कहें कि उसका सौंदर्य केवल देवता को अर्पण करने योग्य है और उसे किसी मंदिर में रहना पड़ेगा, तो संभव है कि धर्मभाव से प्रेरित होकर वह उस आज्ञा का पालन करे । परंतु शरीर से सामाजिक धर्म का पालन करते हुए उसकी मानससृष्टि भी विशुद्ध और वासना से अछूती रहेगी, ऐसी आशा शायद ही की जा सकती है । देवपूजन से उसका पतन विषयसेवन तक न हो, तो आश्चर्य की बात कही जायगी ; परंतु ऐसे आश्चर्य या चमत्कार अधिक दिखाई नहीं देते । यदि कामेच्छा की तृप्ति को पतन कहा जा सके, तो यह मानना पड़ेगा कि कामावेश ने बड़ों-बड़ों का पतन किया है । इस प्रकर की अनिवार्य परिस्थिति में, देश के रिवाज और धर्म की प्रबल मान्यता के कारण इनीगिनी साध्विओं को वासना पर विजय प्राप्त करने में शायद सफलता मिल जाय ; परंतु विदेशी, परधर्मी या कैद पकड़ी हुई युवतिओं को, उनकी इच्छा के विरुद्ध, उनके अमान्यदेवता की पुजारिनें बनाकर जीवनभर के ब्रह्मचर्यव्रत की आज्ञा दी जाय, तो स्वाभाविक है कि उस आज्ञा का पालन सिर्फ दिखावे भर को होगा । ऐसी युवतिओं से जीवनभर के कौमार्य की आशा रखने वाले लोग बहुत शीघ्रता से धर्म के अंतर्गत वेश्यावृत्ति का प्रवेश करा देते हैं । दासप्रथा के अंतर्गत जबरदस्ती पुजारिन बनाई हुई स्त्रियों को पवित्र रहने की कोई प्रेरणा नहीं होती । वे तो मौका मिलते ही पतन के मार्ग पर अग्रसर होने को सब तत्पर रहेंगी । ऐसी पुजारिनों की बड़ी संख्या यदि किसी देवस्थान में एकत्र हो जाय तो शीघ्र ही वह पवित्र स्थान वेश्यावर्धन की संस्था बन जायगा ।

जीवनभर सौदेबाजी करने की आदत पड़ जाने के कारण मनुष्यजाति देवता के साथ भी सौदा करती है । मनोकामना पूरी करने के लिए देवी देवता को बलि या प्रसाद चढ़ाने की लालच आज भी दी जाती है । इस वैज्ञानिक युग में, विज्ञान का विद्यार्थी भी परीक्षा में पास होने की आशा से सत्यनारायण भगवान की कथा एवं प्रसाद का प्रलोभन देने से नहीं चूकता । कोई संकल्प सिद्ध हो जाय, या अनायास कुछ लाभ हो जाय, तो देवता के मंदिर में जाकर नमस्कार करने की, देवता के चरणों में कुछ भेंट चढ़ाने की या किसी धर्मगुरु को पर्याप्त दक्षिणा देकर प्रसन्न करने की व्यापारी वृत्ति आज के सुधारक और वैज्ञानिक कहे जाने वाले युग में भी दिखाई देती है । अनेक देवस्थान इसी वृत्ति के सहारे जीवित रहते हैं । हजारों रुपये का मुनाफा होने पर दस-पंद्रह रुपये की भेंट श्री नाथ जी के चरणों में चढ़ा कर देवता की कृपा का अंशत

बदला चुकाने का भ्रम आज भी लोगों में फैला हुआ है । कुछ श्रद्धालु तो फलप्राप्ति के लिए भेंट-सौगात पेशगी देने को भी तैयार रहते हैं । गीता का साररूप बोध यह है कि फल की इच्छा किये बिना अपना कर्त्तव्य करना चाहिये । परंतु गीता का नित्यपाठ करने वालों का बहुत बड़ा भाग, गीता के इस उपदेश को ताक पर रखकर, गीता के नित्यपाठ के बदले में भी फल की आशा करता है और समाज में, धार्मिक होने की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । गीता का उपदेश चाहे कुछ हो, फलप्राप्ति के लिए की गई देवपूजा ही अपने धार्मिक जीवन का प्रधान अंग है ।

पूजनविधि के भी अनेक प्रकार पाये जाते हैं जिनका स्वरूप समाज की सांस्कृतिक कक्षा पर आधारित होता है । पत्र, पुष्प, फल, अन्न या बलि (पशुबलि या नरबलि) देवता को अर्पण किए जाते हैं । उपासना के भी अनेक प्रकार हैं । स्तोत्रों के पाठ से देवताओं के गुणगान करके उनकी कृपायाचना की जाती है एवं उनका ध्यान धर कर उन्हें प्रसन्न किया जाता है । व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, परिक्रमा आदि भी देव सेवा के ही विविध प्रकार हैं । सेवा की अर्पणविधि में भक्ष्य-भोज्य पदार्थ या अलंकार आदि जड़ वस्तुएँ तो देवार्पण की ही जाती हैं, अपने प्रिय से प्रिय संबंधियों को अर्पण करने की प्रथा भी प्राचीन युग में प्रचलित थी । आज यह प्रथा हमें क्रूर दिखाई देती है; परंतु उस युग में यह धार्मिकता का बहुत ऊंचा आदर्श उपस्थित करती थी । अॅब्राहम ने अपने पुत्र को देवता के चरणों में बलि चढ़ाने के लिए तलवार उठाई, परंतु ईश्वर कृपा से पुत्र के स्थान पर भेड़ आ गई । साम्प्रदायिक सत्कार्य सफल करने के लिए सर्वगुणसंपन्न, बत्तीस लक्षणयुक्त पुरुष की बलि चढ़ाने की प्रथा प्राचीन युग की अनेक कहानियों में वर्णित है । जलविहीन शुष्क जमीन भी विशुद्ध कुमारिका की बलि पाते ही अथाह पानी के स्रोत बहा देती है, यह मान्यता कुएँ-तालाबों से संबंधित अनेक किंवदंतियों में बिखरी पड़ी है । ऐसे ही किसी सिद्धान्त के अनुसार, संतान की कामना करने वाली स्त्री पर यदि ईश्वर की कृपा हो, और उसकी गोद भरे, तो प्रथम कन्या देवता को अर्पण कर देने की प्रथा भी प्रचलित हुई होगी । देवता को अर्पण की हुई कन्या देवपत्नी ही बन सकती है । अत : अन्य किसी मनुष्य की पत्नी बनने का अधिकार उसे न हो, यह भी आवश्यक माना गया । परंतु स्थूल रूप से देवता पत्थर या पीतल की मूर्ति होने के कारण और सूक्ष्मरूप से भावनामात्र होने के कारण युवती देवपत्नी की देहभूख देवता द्वारा संतुष्ट न हो सके, यह बात भी समझ में आ सकती है । इस प्रकार देवता से अतृप्त रहनेवाली युवती देवता के भक्तों से तृप्ति प्राप्त करने की फिराक में रहे, यह स्वाभाविक है । देवता के साथ विधिपूर्वक विवाह हो चुकने के कारण, वह किसी मनुष्य से विवाह तो कर नहीं सकती ; और देवता अमर होने के कारण पुनर्विवाह की आशा भी नहीं रहती । इस प्रकार, विवाह करना असंभव हो जाने पर, उस युवती देवपत्नी या देवदासी के लिए विवाहबाह्य संबंधों का मार्ग ही खुला रहता है । व्यभिचार में कदम रखते ही पतिताचार का पूरा क्षेत्र खुल जाता है जिसमें से धर्मातर्गत वेश्यावृत्ति जैसा घृणित प्रकार जन्म लेता है ।

प्रिय वस्तु देवार्पण करने की भावना भक्तों को गुरु और आराध्य देवता की एकता के प्रति भी खींच ले जाती है । देवता को अर्पण किया जाने वाला नैवेद्य गुरु के चरणों में अर्पित कर देने से देवता तक पहुँच जाता है, ऐसी मान्यता प्रबल होती जाती है । गुरु को दक्षिणा या भेंट देने की प्रथा तो अब भी प्रचलित है । देवता की या गुरु की महत्ता, एवं सर्वार्पण करने वाले भक्त की भावना के अतिरेक के कारण स्त्री अर्पण करना भी धर्मकार्य माना जा सकता है । ऐसे कई उदाहरण हमारे देश की अदालतों तक पहुँच चुके हैं । बम्बई में, गत शताब्दी के अंतिम चरण में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाला महाराज लाइबल केस, इसी मान्यता का उदाहरण है ।

उग्र स्त्रीत्व वाली कुछ देवियों को पुरुष-स्पर्श से मुक्त रखने के लिए उनकी पूजा केवल स्त्रियों द्वारा

करवाने का विधान है । जहाँ यह संभव नहीं होता वहाँ पुरुषों को यथासंभव पुरुषत्वहीन बनाकर और स्त्रीत्व के अधिकाधिक समीप ले जाकर, उनके द्वारा यजन-पूजन करवा के संतोष मान लिया जाता है । स्त्री-पुरुष के यौन संबंध में इतनी अधिक अपवित्रता की कल्पना की जाती है कि देवी के चारों ओर पौरुषहीनता का प्रसार आवश्यक हो जाता है । यह प्रथा नपुंसक पुजारियों की संस्था को जन्म देती है । जहाँ सुविधा होती है वहाँ देवी के विशुद्ध और उच्चकोटि के स्त्रीत्व की भावना में से, पुरुष के स्पर्श से भी अछूती और विशुद्ध स्त्रीत्वयुक्त देवी सेविकाओं का निर्माण होता है । प्रकृति या देवी देवताओं को तो इस प्रकार की अस्वाभाविक और अर्थहीन पवित्रता का कोई आग्रह नहीं होता । अत : यह वर्ग भी धर्मवेश्याओं की उत्पत्ति में सहायक होकर, अंत में धार्मिकता के बदले वेश्यासंस्था का ही एक प्रकार बन जाता है ।

५
वर्ज्य और मान्य संबंध

भक्तिमार्ग में कई बार आराध्य देव के पुरुषत्व या स्त्रीत्व को अत्यधिक महत्व देकर उपासना में भी लिंगभेद उपस्थित किया जाता है । ईश्वर के नाम से पहचाना जाने वाला तत्व स्त्री है, या पुरुष, इसका निर्णय तो ईश्वर से मिलकर पूछे बिना होना मुश्किल है । यदि वह कहीं मिल जाय, तो उससे यह प्रश्न पूछने की जिज्ञासा हमें होगी या नहीं, यह बात अलग है । ईश्वर या ब्रह्म को साधारणत : निष्क्रिय और नामरूप या लिंगभेद से परे माना गया है । परंतु मनुष्य की कल्पना द्वारा देवत्व में अपने ही गुणधर्मों का आरोपण होने के कारण प्राय : सभी धर्मों में देवताओं के लिंगभेद की कल्पना पाई जाती है और इनकी मूर्तियों, तस्वीरों या वर्णनों में उनका निरूपण स्त्री या पुरुष के रूप में ही किया जाता है ।

वल्लभ और गौरांग संप्रदाय की कृष्णभक्ति अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को ही एकमात्र पुरुष मानकर पूरे भक्त समुदाय को सखी या गोपी के रूप में मानती है । भक्त पुरुष हो या स्त्री, सखीभाव या गोपीभाव के बिना भक्ति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता । कवि दयाराम ने अनेक बार अपना उल्लेख 'दयासखी' कहकर किया है । उनके ही शब्दों में भक्तिमार्ग का लक्षण है :—

''जहाँ पुरुष एक पुरुषोत्तम रे, और सबहिं ब्रजनारी ।'' यह भावना दृढ़ होने पर पुरुषों में स्त्री सुलभ आचार और लहजा भी विकसित हो जाता है । बेट द्वारका के पटरानियों के मंदिर में देवता को नैवेद्य का थाल धरते समय पुरुष पुजारी ओढ़नी ओढ़ कर आता है । धर्म में प्रचलित लिंगभेद की भावना पर विचार करते समय ऐसे दृश्य बरबस आँखों के समक्ष आ जाते हैं । कड़े, चूड़ियाँ, माला, बाजूबंद तथा कुंडल आदि अलंकार पहन कर, आँखों में सुरमा और भाल पर बिंदी लगाकर, भौंहों को अंजन से धनुष्याकृति बनाकर, वस्त्रों को इत्र से बसाकर, एवं तेलफुलेल में डूबे केशों की आकर्षक रचना करके, पान चबाते हुए, पलंग पर बिराज कर भक्तों को दर्शन देने वाले संप्रदाय-गुरु अपने विचित्र वस्त्रालंकार एवं आचार-बर्त्ताव की संपूर्ण योजना में भिन्नलिंगी विलक्षणताएँ ही प्रकट करते हैं । इस आडंबर को समझ पाने केलिए केवल अंधश्रद्धा के पहल को दूर करने की आवश्यकता होती है ।

यौनभावना के इस प्रकार के प्रदर्शन से धर्म, पंथ या संप्रदाय शीघ्र ही अतिविलास के मार्ग से होते हुए वामाचार में उतर जाते हैं और स्त्री-पुरुष — दोनों केलिए पतन का मार्ग खुला कर देते हैं । अपने यहाँ के महायान बौद्धों, जैनों और शाक्तों के तंत्रविभाग, शैवों का पाशुपत मार्ग, गाणपत्यों के आचार एवं गुजरात में बहुचराजी का पौरुषभंग करने वाला पंथ धर्म में यौन भावना के अत्यधिक प्रसार से होने वाले परिणामों का स्पष्ट दर्शन करा देते हैं । ईश्वर में स्त्रीत्व की कल्पना करके सूफियों ने ऐसे शृंगारिक

साहित्य की रचना की है जो अति विलास के उन्माद का स्मरण करा देता है । शराब और सुंदरी इस मार्ग में भक्ति और ईश्वर के प्रतीक माने जाते हैं । मानवस्वभाव या मानव समाज की यह एक चिंतनीय विचित्रता है कि कभी तो वह देह संबंध और कामवासना को अपवित्र मानता है, और कभी उसमें संपूर्ण पवित्रता का आरोपण करने के प्रयत्न में अपवित्रता की हद मानी जाने वाली वेश्यावृत्ति तक पहुँच जाता है ।

साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि धर्म ने काम या विलास को सर्वदा वर्ज्य नहीं माना । जो वर्ज्य नहीं है, वह अपवित्र नहीं हो सकता । धर्म के इतिहास का निरीक्षण करते समय इतना तो स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्यजाति कामवृत्ति या यौन आकर्षण को सदा एक चमत्कार ही मानती आई है । आज हमने बहुत अधिक वैज्ञानिक प्रगति की हैं । काम भावना के अनेक विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण भी हो चुके हैं । फिर भी आज के युग तक कामवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ चमत्कार नष्ट नहीं हुआ । तो फिर अज्ञान और असंस्कृत प्राचीन मानवता को इस महाप्रबल कामभावना में चमत्कार दिखाई दे तो आश्चर्य किस बात का ? इस वृत्ति का प्रबल आवेग, मनुष्य के हृदय को हिला डालने की इसकी शक्ति, विकट एवं साहसपूर्ण कार्यों में मनुष्य को खींच ले जाने वाली इसकी प्रेरणा, इसमें से जन्म लेने वाले शिष्टाचार और संस्कृति, एवं इसके उपभोग से प्राप्त देह और मन का अनिर्वचनीय सुख मनुष्य के मन में इसके प्रति आश्चर्य और सम्मान की भावना उत्पन्न करे, यह स्वाभाविक ही है । आश्चर्य और सम्मान से पूज्यभाव प्रकट होता है और जिसके प्रति पूज्यभाव हो, उसे पवित्र मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये ।

इस प्रकार कामभावना एक ओर अपवित्र मानी जाकर अनेक सामाजिक उलझनों की सृष्टि करती है तो दूसरी ओर परम पवित्र मानी जाकर अन्य प्रकार के परिणामों को जन्म देती है । दोनों परिणाम परंपराएँ यौन भावना को अतिशय महत्त्व देकर मनुष्य समाज को ऐसे अमर्याद संबंधों की ओर प्रेरित करती हैं जो वेश्यावृत्ति के बहुत निकट पहुँच जाते हैं । कामवासना को अत्यंत पवित्र या अत्यंत अपवित्र मानकर धर्म उसमें से गणिकावृत्ति की सृष्टि करता है । यह तथ्य जितना विचित्र है, उतना ही सत्य है ।

पूज्यभाव और आश्चर्य की भावना अधिक तीव्र होने का एक कारण कामवृत्ति में निहित जीवन संवर्धन की शक्ति में भी ढूंढा जा सकता है । कामवासना की परिणति वैयक्तिक सुख में होती हैं, यह सही है । परंतु यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि उसी से नवजीवन का निर्माण होता है । सृष्टि-निर्माण के लिए प्रकृति या ईश्वर ने कामवृत्ति के सिवा और कोई मार्ग प्रस्तुत नहीं किया, यह सत्यसामाजिक दृष्टि से भी कामतृप्ति को एक महान विधि, एक परमपुण्यकारी कर्तव्य और जीवन की एक महान जिम्मेदारी सिद्ध करके उसे अतीत को भविष्य से जोड़नेवाले पवित्र तंतु का महत्व प्रदान करता है । कामतृप्ति द्वारा उत्पन्न होने वाली संतति मानव इतिहास के अनेक चलायमान तत्वों के बीच एकमात्र अचल तत्व प्रमाणित होती है। बालक का जन्म जीवनशृंखला को जोड़ने वाली एक कड़ी है । भूतकाल से लगाकर अब तक के मनुष्य के लिए बालजन्म से अधिक आश्चर्यकारक घटना शायद और कोई नहीं हो सकती । नवनिर्माण में अपवित्रता हो ही नहीं सकती । यह कार्य सबसे अधिक पवित्र और पुण्यमय है, यह विचार यौन भावना के प्रति मनुष्य के सद्भाव को अधिक गंभीर और दृढ़ बनाता है । इससे जागृत होने वाला पूज्यभाव कामवासना को भी पवित्र मानने की प्रेरणा देता है । जो पूज्य होता है, उसकी पूजा होना स्वाभाविक है । अत : कामभावना का अनेक प्रकार से पूजन होता आया है । यह पूजन व्यापक मानव समुदायों का धर्म बन गया इतना ही नहीं बल्कि काम भावना का वहन करने वाली स्त्रीपुरुष की जननेंद्रियाँ भी पूजा का विषय बन गई । यह भावना आज हमें भद्दी मालूम पड़ने पर भी किसी युग में परम धर्म मानी जाती थी, इसके प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं ।



कामभावना या उसके प्रतीक रूप इंद्रियों को अश्लील मानने की प्रथा आज भले ही प्रचलित हो, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ये दोनों मनुष्य जीवन के अनिवार्य सत्य हैं । इनके प्रति सही दृष्टिकोण क्या हो सकता है, यह चर्चा यहाँ पर अप्रस्तुत होगी ; परंतु इन तथ्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । आज भी प्रत्येक शिवालय में स्त्री-पुरुष के गुप्तांगों की एवं उनके संपर्क की पूजा होती है । किसी प्रकार का परदा न रखते हुए, उन्हें योनि और लिंग के स्पष्ट नाम से पुकारा जाता है । फिर भी, उनका दर्शन करने वालों में किसी प्रकार की छिछली या अपवित्र भावना उत्पन्न होती हो, यह कभी नहीं सुना । कामवासना को, काम की सृजनशक्ति को एवं उस शक्ति के वाहक अंगों को शिव, शंकर या महादेव का अंग मानकर, और उनका पूजन करके, उन्हें जो सम्मान हिंदूजाति देती आई है,उससे उच्च कोटि का पूजनकार्य और कहीं दिखाई नहीं देता । स्त्री हो या पुरुष, हिंदूमात्र शंकर के मंदिर में कामवासना से अलिप्त रहकर पूजा कर सकता है । इस कार्य से कामवासना का अति स्पष्ट और वैयक्तिक रूप सामाजिक स्तर पर भी व्यापक एवं सम्मानयुक्त स्वीकृति प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं । सृष्टि की प्रेरणा, सृजन की शक्ति, एवं नवनिर्माण के प्रतीकों का पूजन, कामवासना की ही भव्य और स्पष्ट गौरवगाथा है ।

और इसमें बुराई भी क्या है ? किस तर्क से हम इस सृजनकार्य को छिपा या भुला सकते हैं ? शर्म, मर्यादा, लज्जा या संकोच सत्यदर्शन के अधिक सभ्य एवं कलामय परिधान तो हो सकते हैं, परंतु वह सनातन सत्य को ढँकने के आवरण कभी नहीं बन सकते ; फिर चाहे वह सत्य अंग संबंधी हो, भावगत हो या विचार के क्षेत्र का हो । स्त्री पुरुष के जातिसूचक अंग-उपांगों की पूजा प्राचीन काल में बहुत व्यापक रूप से धर्मकार्य की आवश्यक अंग मानी जाती थी, और मिश्र से लगाकर भारत तक की प्रजाओं द्वारा स्वीकृत थी, इसके प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं ।

लिंगपूजन को पवित्र मान लेने पर पूजा की अनेक विधियाँ आरंभ होती हैं । प्रजासमूहों द्वारा अंगीकृत किये जाने पर धीरे-धीरे यौनकार्य का सूचक कर्मकांड भी शिष्ट माना जाने लगता है और उसका संयम विभाग अदृश्य होता जाता है । कामभावना में से पाप या अपवित्रता का भाव दूर हो जाने पर यौन संबंधों की निरंकुशता बढ़ती जाती है । मनुष्य का अत्यंत प्रिय कार्य धर्मकार्य मान लिया जाने पर यौन व्यवहार मर्यादा की भावना का उल्लंघन करने की कक्षा तक पहुँच जाय, यह स्वाभाविक है ।

केवल अंगों की पूजा होते होते उन अंगों को धारण करने वाले देवी देवताओं की पूजा, उनके मंदिरों की रचना एवं उनकी कथावार्ताएँ भी होने लगती हैं । पूजनविधि का विकास होते होते, निरंकुश यौन व्यवहार की उन्मत्तता देवता की भक्ति की ही प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति मानी जाने लगती है । इस हालत में उत्सवों, उपचारों और नृत्यगीतों में यौन सुख की पराकाष्ठा पर पहुँचने का उन्माद भक्तजनों में फैलता जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं । उन्माद की उत्कटता बढ़ाने के लिए नशीली चीजों का सेवन भी धर्मकार्य की सहायता करने लगे और उनके प्रभाव से बेहोश स्त्री-पुरुष यौन व्यवहार के सब बंधनों को शिथिल करके स्वच्छंद व्यभिचार को ही धर्म का स्थायी अंग बना दें, यह अत्यधिक संभव है । शिथिल सहचार की व्यापक स्वीकृति होते ही समाज एक विस्तृत वेश्यालय बन जाता है । संभव है कि इस प्रकार का अनियमित यौन व्यवहार स्थिर समाज का स्थायी रूप न बने ; परंतु अमुक पर्वों, अमुक उत्सवों या विशिष्ट दिनों के लिए प्राप्त होने वाला काम-स्वातंत्र्य भी अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहता । धर्म कार्य के अंग रूप मिलनेवाली स्वतंत्रता का उपयोग अन्य प्रसंगों पर करने की वृत्ति मानव स्वभाव के अनुसार ही मानी जायगी ।

एक और बात भी विचारणीय है । जननकार्य और देहसुख परस्पर अनिवार्य रूप से संकलित हैं । इसमें जरा सा भी असंयम होते ही जनन का गांभीर्य केवल सुखलोलुपता, इंद्रियपरायणता, कामोन्माद और

लापरवाही में परिवर्तित हो जाता है । इसके उदाहरण ढूंढने को बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं । हमारे कुछ अतिपरिचित प्रसंगों की छानबीन ही काफी होगी ।

विवाह प्रजनन कार्य के लिए समाज-स्वीकृत और प्रतिष्ठित परवाना होने के उपरांत एक महागंभीर उत्तरदायित्व भी है । वह केवल घड़ी दो घड़ी के वासना सुख का साधन ही नहीं, बल्कि जीवनभर का सहचार एवं सुखदुख की धूपछांव में समभागी होने का करार भी है । विवाह का संतति प्रजनन विभाग अनेक प्रकार के कर्मकांड को आवश्यक बनाता है जिनका संबंध केवल वर-वधू से होता है । परंतु विवाह का आनंद विभाग, वरवधू के उपरांत, उपस्थित मित्रों और संबंधियों के लिए भी एक महोत्सव का रूप धारण करता है । गाना-बजाना एवं भोजन समारंभ इस महोत्सव के आवश्यक अंग होते हैं । परंतु यह आनंद-प्रदर्शन यहीं पर न रुकते हुए, उत्सव के उन्माद से बेहोश लोगों को अश्लील गालियाँ गाने के अमर्याद प्रकार में खींच ले जाता है । आश्चर्य की बात यह है कि गालियाँ गाने का एकाधिकार सिर्फ सौम्य, संकोची एवं लज्जाशील मानी जाने वाली स्त्रियों को ही होता है । इन गालियों में सभ्यता का अंश भी नहीं होता । आनंद-प्रदर्शन का यह प्रकार वर्तमान युग में दिन पर दिन कम होता जा रहा है । परंतु किसी के मन में अविश्वास हो, तो उसका समाधान, प्रमाण द्वारा अब भी हो सकता है । बहुत सी जातियों ने विवाह के अवसर पर गालियाँ गाना बंद कर दिया है ; परंतु कुछ लोगों को यह सुधार मान्य नहीं है । जिन लोगों ने इस सुधार का अंगीकार किया है वे भी अपने समाज की वयस्क स्त्रियों की मरजी के विरुद्ध जाकर ही ऐसा कर सके हैं ।

दूसरा उदाहरण हमारे होली के त्यौहार में मिल जाता है । होली हमारा पवित्र धर्मपर्व हैं । परंतु वर्तमान युग में यह त्यौहार हमारे पापों को भस्म करने का पवित्र कार्य करने के बदले पाप के अति निकट पहुँचने वाले अश्लील शब्दोच्चारणों के लिए समाज के आबालवृद्ध पुरुषों को मानो खुला अधिकार प्राप्त कर देता है । होली के दिनों की मारपीट, दंगाफिसाद, हुल्लड़बाजी या गंदगी का विचार न करते हुए केवल उसकी निर्लज्ज अश्लीलता का ही विचार करें, तो भी यही दिखाई देगा कि यह धर्मपर्व हमारी दम घोटाने वाली प्रतिष्ठा को कुछ दिनों के लिए खुल-खेलने का एवं हमारी अवरुद्ध यौन भावना को वाणी द्वारा मुक्त होने का मार्ग उपलब्ध कर देता है । वाणी से पहले विचार और बाद में आचार, यह तो मानवप्रवृत्ति का माना हुआ क्रम है ही । कुछ अधिक शिष्ट रूप धारण करके होली खेलना फाग का उत्सव बन जाता है. देवर-भौजाई, साली-बहनोई, पति-पत्नी आदि निकट के संबंधी युवक-युवतियाँ, एकत्र होकर रंग खेलते हैं, गुलाल के बादल उड़ाते हैं, टेसू के फूलों के बसंती रंग से एक दूसरे को भिगोते हैं, भागने का प्रयत्न करने वालों को पकड़-पकड़ कर रंग में डुबोते हैं और उन्मुक्त हास-परिहास द्वारा होली का उत्सव मनाते हैं । इस वसंतोत्सव में परस्पर स्पर्श करने की या खींचातानी करने की स्वतंत्रता अनाचार में परिवर्तित नहीं होती होगी, ऐसा हम भले ही माने । परंतु यह उन्मुक्तता कामवृत्ति को उत्तेजित नहीं करती, यह कहना सन्यासियों और सन्यासिनियों के परस्पर होलीखेलन को भी उचित एवं सभ्य व्यवहार मानने के समान होगा ।

धर्म और यौन वासना के पारस्परिक संबंध का तीसरा उदाहरण सौराष्ट्र-गुजरात के भवाई नामक नाट्य प्रकार में मिल जाता है । भवाई, शक्तिपूजा के साथ जुड़ा हुआ उत्सव एवं नौटंकी श्रेणी का लोकनाट्य है । नाटक की प्राथमिक अवस्था के दर्शन उसमें होते हैं और सामाजिक जीवन को समझने के मूल्यवान साधन भी भवाई के नाट्य-प्रवेशों में उपलब्ध होते हैं और सामाजिक जीवन को समझने शक्ति की पूजा प्रणाली से जुड़ा हुआ यह लोकनाट्य यौन भावनाओं से किस कदर ओत-प्रोत होता है । शक्ति पूजा हिंदू धार्मिक जीवन का एक सर्वमान्य मार्ग है जिसका कामवासना उत्पन्न करने वाली शिथिलता से

कोई संबंध नहीं । शक्ति के उपासकों को माता का भय अत्यधिक होता है और माता को अप्रसन्न कर देने का प्रसंग अनजाने भी उपस्थित न हो जाय, इसकी सावधानी इस उग्र एवं कठिन साधनामार्ग के उपासकों को सदा रखनी पड़ती है । शक्ति साधना में प्रविष्ट हो जाने वाले वामाचार या अमर्याद यौन प्रमादों की बातें यहाँ नहीं करेंगे,क्योंकि काँचलिया पंथ का अपवाद छोड़कर गुजरात में वाममार्ग का प्रचलन अधिक नहीं है । परंतु शक्ति पूजा के कठोर पंथ में भवाई जैसे तत्व का प्रवेश धर्म में यौन भावना के प्रवेश का ही उदाहरण कहा जा सकता है । शक्तिपूजन में अमुक महीनों की नवरात्रियों में देवी की पूजा होती है और माता के सान्निध्य में, सामाजिक जीवन पर प्रखर प्रकाश डालने वाले भवाई के प्रवेश खेले जाते हैं । परंतु इस लोकनाट्य में अश्लीलता का ही बोलबाला होता है । अश्लील उच्चार, अश्लील प्रसंग और अश्लील हावभावों द्वारा ये प्रसंग बीभत्सता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं । शक्तिपूजन मातृत्व का ही पूजन है । मातृत्व के संबंध में विकार की भावना कल्पना से भी परे होनी चाहिये । शक्ति वरदायिनी जगदंबा का ही अमंगल एवं अन्याय का दमन करने वाला स्वरूप है । इसकी उपासना के चारों ओर पवित्रता का अति कठोर वातावरण फैला रहता है, जिसमें स्खलन की कोई गुंजाइश नहीं होती । उग्रशक्ति वाली चामुंडा छोटे मोटे दोषों को दरगुजर करने वाली ढीली ढाली देवी नहीं है । परंतु मातृत्व के परम पावन प्रतीक रूप उसी उग्र स्वभाविनी देवी के सामने अकथ्य अश्लीलता भरे नाट्य-प्रसंग लोगों की भीड़ के आनंद के बीच खेले जायें, यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है । प्रजनन का गंभीर्य और वासनातृप्ति का आनंद, इन दो तत्वों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न के बदले, यह नाट्य प्रकार धर्म और कामवासना के अतिनिकट संबंध का उदाहरण प्रस्तुत करने में ही सफल होता है ।

गालियाँ, फाग या भवाई जैसे रिवाज यौन वासना को यत्किंचित भी उत्तेजित नहीं करते, यह कहना सत्य का विपर्यास करना है । मनुष्यजाति की नीतिभावना अभी इतनी दृढ़ नहीं हुई है । परंतु फिर भी ये सब धर्मकार्य के अंग के रूप में स्वीकृत हैं, यह तो मानना ही होगा । विवाह के गीत या गालियाँ गाने का व्यवसाय भी कुछ स्त्रियाँ करती हैं । राजस्थानी समाज में फाग प्रतिष्ठाप्राप्त कामुकता का ही एक खेल है । भवाई खेलने वालों का भी एक व्यवसायी वर्ग होता है जिनका उल्लेख उत्तरी भारत में भांड नाम से प्रसिद्ध पेशेवर विदूषकों के साथ किया जाता है और उनके ओछे पेशे के कारण उनके प्रति एक प्रकार का तिरस्कार भी सभ्य समाज में पाया जाता है । मराठी भाषा में रचित लावणी नामक काव्यप्रकार भी अश्लील शृंगार का ही वाहक है, यह एक सर्वविदित बात है ।

विवाह प्रसंग की गालियाँ, होली, फाग आदि उत्सव या भवाई जैसे नाट्य प्रकार अब भी जीवित हैं परंतु बड़ी तेज रफ्तार से समाप्त होते जा रहे हैं । ये अच्छे हैं या अनिष्ट, इन्हें जीवित रखना चाहिये या इनका निर्मूलन कर देना चाहिये, आदि प्रश्न यहाँ पर अप्रासंगिक है । यहाँ तो केवल धर्म और यौन भावना के बीच कैसे-कैसे विचित्र संबंध पाये जाते हैं, इसका निरूपण करने के लिए ही इन उत्सव प्रकारों का उल्लेख किया गया है ।

६
धर्म और पतिता

उपरोक्त दृष्टांतों और विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मभावना और यौन संबंधों के संकलन से पतिताओं की उत्पत्ति किस प्रकार होती है । धर्म एवं पतितासंस्था के उद्‌भव के बीच सीधा संबंध प्रस्थापित करते समय धर्मभावना को बड़ी ठेस लगती है । धर्म का अर्थ है पवित्रता का चरम आदर्श और पतिता है पाप का पुंज । प्रचलित मान्यता इसी प्रकार की होने के कारण हमारी अभिलाषा यही होती है कि इन दोनों के बीच तो जमीन-आसमान का अंतर होना चाहिये । परंतु वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो पृथ्वी और आकाश के बीच तिलमात्र भी अंतर नहीं है । शब्दों की करामात के द्वारा यहाँ यह प्रमाणित करने का उद्देश्य नहीं है कि आकाश-पृथ्वी पर छाया हुआ पाप ही पुण्य है या पुण्य ही पाप है । परंतु हमारी वर्तमान दृष्टि के अनुसार पाप-पुण्य की मोहर लगे हुए तत्व सचमुच ही मोहर के अनुसार हैं या अन्यथा, यह प्रश्न विचारणीय है । मानव जीवन, मानव हृदय, मानव स्वभाव और मानव आचार ऐसे विलक्षण तत्व हैं कि उनमें से उत्पन्न होने वाले पाप और पुण्य, एक ही वृक्ष के दो फल, या एक ही सिक्के के दो पहलू हों, एवं सहोदर होने के नाते एक दूसरे से अत्यंत निकट हों यही बात अधिक संभव और सत्य के अधिक समीप मालूम देती है । पुण्यशाली मनुष्यों का पुण्य का अभिमान उन्हें कभी कभी पुण्य-पाप की सहोदरता की याद दिलाता रहे, तो संसार के बहुत से पापपुंज अपने आप विलीन हो जायें ।



कामवासना, यौनसंबंध और स्त्रीपुरुष का आकर्षण जैसे सनातन तत्व धर्म के अंग माने जायें इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । ऐसा होना ही स्वाभाविक है क्योंकि इन्हीं पर मनुष्य की सृष्टि आधारित है और इन्हीं से परम आनंद की प्राप्ति होती है । सृजन की भव्यता अभी तक पूर्ण रूप से समझी नहीं गई

है । युद्ध के खप्पर में बलि देने के लिए की हुई मनुष्योत्पत्ति निर्माण का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत नहीं करती । जिनको हम अधिक प्रगतिशील नहीं मानते ऐसे हमारे पूर्वज सृजनशक्ति में देवत्व की कल्पना करके उसकी गंभीरता से पूजा करते हों एवं उस यजन पूजन में पवित्रता का आग्रह रखकर अखंडित स्त्रीत्व या पुरुषत्व वालों को ही इस पूजन का अधिकारी मानते हों तो आधुनिक युग के तथाकथित प्रगतिशीलों को उनके अज्ञान या ज्ञान की हँसी उड़ाने का अधिकार शायद नहीं है । प्रजोत्पत्ति के लिए अपात्र माने गये अनेक नागरिकों को हिटलर के जर्मनी में जननकार्य के लिए अक्षम बना दिया गया था । यह घटना वर्तमान दशक के भीतर ही हुई है । सृजन की भव्यता का महत्व इस युग में भी कम नहीं हुआ है ।

दूसरी ओर हमारे पूर्वजों ने कामवासना के आनंद तत्व को पहचान कर उसका ईश्वरीकरण किया. इसमें भी आश्चर्य नहीं । कामतृप्ति जैसा देहसुख और कोई नहीं ; और सुखदायक क्रिया की पूजा स्वाभाविक है । परंतु इसके अतिरेक में से उत्पन्न होनेवाली विकृतियाँ ही यदि मनुष्यजाति की एकमात्र उपलब्धि बन जायें तो मनुष्य का इससे बड़ा दुर्भाग्य और कोई नहीं । जननशक्ति की पूजा करते समय, पवित्रता के दुराग्रह से, जननशक्ति का ही अवरोध करने वाली विशुद्धि का आग्रह या अपेक्षा यदि हम स्त्री या पुरुष पुजारियों से करते हैं, तो उस शक्ति के सामने हम अपराधी प्रमाणित होंगे और उसके स्वस्थ्य प्रवाह के मार्ग में भ्रामक धार्मिक मान्यताओं की दीवारें खड़ी करने के पातक के भागी होंगे । इस शक्ति के आनंदस्वरूप का दुरुपयोग करके, अमर्याद भोगविलास में रत होकर, इस बहके हुए स्वरूप को ही यदि हम धर्म मानने लगें, तो यह प्रबल जीवनशक्ति हमारा मजाक उड़ाती हुई, हमारे काम व्यवहार को भयानक विनाश प्रेरक रोग या छिछोरेपन की पराकाष्ठा पर पहुँचा देगी ।

पवित्रता का दुराग्रह या वासनातृप्ति की अतिशयता, अतिचार के ये दोनों प्रकार धर्म से संबंधित वेश्यावृत्ति का ही सृजन करते हैं । धर्म और कामवासना के परस्पर संबंध का विचार हम कर चुके हैं । इन दोनों के बीच कार्यकारण भाव कैसे जन्म ले सकता है, यह भी हम देख चुके हैं । कामतृप्ति के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ वेश्यावृत्ति की ओर स्त्री-पुरुषों को किस प्रकार घसीट ले जाती हैं, यह हमने समझा और कामतृप्ति की सुविधा कदम कदम पर आसानी से प्राप्त हो जाने पर धर्म के स्थान भी वेश्याधाम किस प्रकार बन जाते हैं, यह भी हमने देखा ।

मानवजाति की इतिहासपूर्व प्राचीनता के अवशेष रूप जीवित रही हुई जातियों का अध्ययन यही सूचित करता है कि अतिप्राचीन असंस्कृत जातियों में स्त्री-पुरुष का देह व्यवहार अनियंत्रित होने से गणिकावृत्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती थी । इस व्यवहार को नियंत्रित करके, विवाह का रूप देते ही समाज में गणिकावृत्ति का उद्भव होता है । ये असंस्कृत जातियाँ अनेक सामाजिक और राजकीय क्रांतियों के बाद संस्कृति के मार्ग पर आगे बढ़ती जाती हैं । सांस्कृतिक विकास के साथ धर्मभावना भी विकसित होती जाती है । धर्म संस्कृति के मार्ग पर अग्रसर जातियों के संस्कारों का निचोड़ है जिसकी व्यापकता पूरे जीवन पर छाई रहती है । मनुष्य और मनुष्य के बीच के या मानव और प्रकृति के बीच के संबंधों के समझने, हल करने, या व्यवस्थित करने के प्रयत्नों में धर्म का आरंभ माना जा सकता है । मनुष्य और मनुष्य के बीच का प्रथम आवश्यक और अनिवार्य संबंध है : स्त्री और पुरुष का संबंध । स्त्री पुरुष के बीच के यौन आकर्षण की समाजमान्य ढंग से व्यवस्था करने की उधेड़बुन में से ही विवाह, परिवार, जाति आदि समाजिक तत्वों का निर्माण होता है । काम नियंत्रण के इस आयोजन में धर्म महत्वपूर्ण एवं आग्रहयुक्त नेतृत्व ग्रहण करता है ।

दूसरी ओर मनुष्य और प्रकृति के संबंधों की व्यवस्था करते हुए निसर्ग की शक्तियाँ अनेक देवी देवताओं का रूप धारण करके धर्म में उपासना का विस्तृत क्षेत्र खुला करती हैं । इन पूजनीय प्रकृतितत्वों के साथ लिंगभेद की कल्पना जुड़ जाने से यौन आकर्षण की कक्षा देवताओं को भी स्पर्श करने लगती है ।

इस प्रकार मानव भूमिका और देवभूमिका समकक्ष हो जाने से मानवता दो कदम आगे बढ़ जाती है । परंतु देवभूमिका में मानवभूमिका का संमिश्रण होते ही मानव दुर्बलताओं के दर्शन भी उसमें होने लगते हैं जिससे मानवता और देवत्व, दोनों कुछ कदम पीछे हट जाते हैं ।

कामवासना को अपवित्र मानने से, पवित्र माने जाने वाले पुजारियों और पुजारिनों के समुदायों का निर्माण होता है । पवित्रता का अर्थ माना जाता है कामवासना से मुक्त होना । परंतु कामवासना से परे रहने में स्वेच्छा शायद ही कारणरूप होती है । जहाँ स्वेच्छा नहीं होती वहाँ दंभ का बोलबाला होता है । दंभ वासना को तृप्त करने के अनेक मार्गों को ढूंढता हुआ पवित्रता के आग्रह को भी बनाये रखता है और संयम का उद्देश्य मनोनिग्रह नहीं बल्कि बाहय आडंबर ही माना जाने लगता है । समय पड़ने पर इस बाहयाडंबर की आवश्यकता भी नहीं रहती । ब्रह्मचारिणी पुजारिनों में से देवपत्नी या देवदासी तक और ब्रह्मचारी में से नपुंसकों और तालियाँ बजाने वाले कन्याराशी पुरुषों तक पहुँचने में अधिक समय नहीं लगता । धर्म में से पतितासंस्था के उद्गम का इससे स्पष्ट उदाहरण और क्या होगा ?

इसके विपरीत, कामवासना को पवित्र मानकर चलने से, उसका अतिरेक होकर, निर्लज्ज उत्सवों, अश्लील समारोहों, एवं अमर्याद सामुदायिक विलास-व्यवहारों की सृष्टि होती है । कामेच्छा पूजनीय मानी जाय, उसे देवेच्छा माना जाय, गुह्यांगों में देवत्व की कल्पना होकर उनकी पूजा अर्चा होने लगे, वासनातृप्ति की अनियमितता एवं अतिशयता का प्रसार होने लगे, और देवता का देवत्व पुजारियों या धर्मगुरुओं में उतरकर देवताओं के लिए आयोजित विलास गुरुओं को भी प्राप्त होने लगें, तो परिणाम क्या होगा ? कृष्ण-गोपियों के रास का अभिनय कृष्ण बनने वाले धर्मगुरु के आसपास गोपियों के समूह उपस्थित कर दे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये । इस रासलीला का विस्तार होने पर और रासधारियों की संख्या बढ़ने पर धर्म में से पतित अवस्था का स्रोत बहने लगता है ।

परीक्षित राजा पांडवों की तीसरी पीढ़ी में हुए । अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु और अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित । उसके अश्वमेघ यज्ञ में उसकी रानी को अश्वलिंग की आहुति अग्निनारायण को अर्पण करती देखकर, यज्ञ का संचालन करने वाले पवित्र ब्राह्मण भी हंस पड़े थे । इससे यही प्रमाणित होता है कि गुह्यांगों से संबंधित गंभीर धार्मिकता के साथ साथ अश्लील हास्यवृत्ति महाभारत के युग से चली आ रही है ।

कामवासना के साथ निकटता से जुड़ा हुआ सृजनशक्ति का चमत्कार भी धार्मिक छापवाली अमर्यादा का पोषण करता दिखाई देता है । बहुत सी प्रजाओं में बालक का जन्म आवश्यक सामाजिक तत्व ही नहीं बल्कि इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है । आज भी जर्मनी में विवाह और बालजन्म को अत्यधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक बाल जन्म के द्वारा देश को एक वीर या वीर को जन्म दे सकने वाली माता प्राप्त होती है । मनुष्य के सृजन कार्य के साथ-साथ प्रकृति के सृजनकार्य की परंपरा भी चलती रहती है । पृथ्वी धन धान्य देती है, वृक्ष फलते हैं और पशुसंपत्ति में भी वृद्धि होती रहती है । यह सब निर्माण के देवी देवताओं का व्यापक कार्य माना जाता है । इस श्रेणी के देवी देवताओं का पूजन मानव प्रजा के संवर्धन में भी सहायक होता है ऐसी श्रद्धा हमारे अति प्राचीन पूर्वजों में अवश्य रही होगी । आज भी वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो द्वारा भारतीयों को दी गई एक प्रचंड वृषभ की भेंट प्रजासंवर्धन के देवता की पूजा के प्रतीक रूप मानी जाय तो कोई हर्ज नहीं । इस श्रेणी के देवी देवताओं की पूजाविधि में मर्यादाहीनता का प्रवेश होकर धर्म में से पतिता संस्था का उद्भव हो, यह बात समझ में आ सकती है ।

देवमंदिर अत्यंत पवित्र स्थान माना जाता है । उसकी शरण में जाने वाला भयमुक्त हो जाता है । मठ या मंदिर में घुस जाने वाले अपराधी को गिरफ्तार न करने की प्रथा इंग्लैंड जैसे देश में भी अभी कुछ दिन पहले तक प्रचलित थी । प्राचीन युग में लोगों को वैयक्तिक दुश्मनी का बदला लेने की छूट थी, परंतु





उनकी नैतिक भावना गिरजे की छाया में किए गये पाप या अपराध को क्षम्य मानने की उदारता रखती थी । यह धर्मिक मान्यता भी अनेक अनियंत्रित काम व्यवहारों को प्रोत्साहन देती थी । ऐसी परिस्थिति मठों-मंदिरों की छत्रछाया में पतिताओं के स्थान खड़े कर सकती है । इतिहास में धर्म के इस परिणाम के अनेक प्रसंगों का उल्लेख मिल सकता है ।

धर्म और पतितासंस्था के बीच का अप्रिय एवं हमारी धर्मभावना को ठेस लगानेवाला संबंध समझने के लिए यह विवेचन पर्याप्त होगा । धर्म का यह परिणाम यदि हमें स्वीकार्य नहीं है, तो धर्म को अपना कायापलट करना ही होगा । इस विवेचन में धर्म का विरोध करने का आशय नहीं, केवल धर्मशुद्धि साध्य करने का हेतु है । विशुद्ध का अर्थ सदा तलवार की धार चलने जैसी कठोर नियमावलियों का पालन ही नहीं होता ; आनंदप्रमोद एवं आह्लाद का स्वीकार और समावेश भी उसमें हो सकता है । आनंद को हम ईश्वर का ही एक लक्षण मानते हैं । धर्म की अतिविशुद्धि सदा कोपायमान होकर शाप देने वाले और समाज को भयभीत करने वाले ऋषि-मुनियों की ही उत्पत्ति कर सकती है, इस मान्यता करे यदि हम स्वीकार कर सकते हैं, तो धर्म की आनंदविभाग में शौकीन देवताओं और सदा नृत्यमग्न अप्सराओं की सृष्टि से भी हमें दुखी होने की आवश्यकता नहीं ।

धर्म और यौनभावना के संबंध के विचित्र स्वरूप आज भी दिखाई दे जाते हैं । अपने पतिओं का त्याग करके, किसी आश्रम में दादा लेखराज नामक धर्मगुरु के साथ रहने का भगीरथ प्रयत्न करने वाली "ॐ मंडली" की सिषी स्त्रियों के किस्से को अब काफी प्रसिद्धि मिल चुकी है । अपने आपको कृष्ण का अवतार मानकर अपने चारों ओर स्त्रियों की मंडली जमाने वाले भादरण के एक महात्मा और इस संबंध में होने वाले झगड़े-फिसादों की बात भी अभी हाल की ही घटना है । एकाधिक स्त्रियों से विवाह करने में, अनेक स्त्रियों के साथ सहवास करने में या चुंबनादि कामप्रेरक चेष्टाओं में कुछ भी बुराई न मानकर, उन्हें अंतरात्मा का आदेश मानने वाले अहमदाबाद के "बापू महात्मा" के कुप्रसिद्ध कारनामों में भी धर्म और कामवासना के संबंध की विचित्रताओं के दर्शन हो सकते हैं । यहाँ पर इनमें से किसी का समर्थन या किसी की टीका करने का उद्देश्य नहीं है, परंतु धर्म का नाम या धर्म से उत्पन्न भावनाएँ भी यौनवृत्ति की विचित्रताओं को किस प्रकार जन्म देती हैं, इसका वर्तमान युग के एवं हमारी नजरों के सामने घटी हुई घटनाओं के उदाहरणों द्वारा निरूपण करना ही हमारा उद्देश्य है ।

धर्म और यौन भावना के संबंधों पर विचार करते समय हमारे धार्मिक स्थापत्यों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है । पूर्व एवं दक्षिण भारत के अनेक देवालयों की मूर्तिकला में संभोग के दृश्यों का निरूपण बिलकुल स्पष्टता से किया गया है । जगन्नाथजी के मंदिर, नेपाल और बनारस के पशुपतिनाथ के मंदिर, मोढेरा के सूर्यमंदिर और कठोर वैराग्य भरे, पालीताणा-शेत्रुंजा के जैन मंदिरों में भी देहभोग के अति स्पष्ट दृश्य स्थापत्य और मूर्ति कला द्वारा कदम कदम पर निरूपित किए गये हैं ।

अब हम धर्म और पतितावस्था के संबंध को अन्य प्रजाओं के उदाहरणों द्वारा कुछ अधिक स्पष्टता से समझने का प्रयत्न करेंगे ।



सातवाँ परिच्छेद

प्राचीन धर्म-संस्कृति में पतिता

१

प्राचीनता के अध्ययन में सावधानी की आवश्यकता

आजकल धर्म की खुल्लमखुल्ला निंदा करने की मनोवृत्ति कुछ व्यापक हो गई है । धर्म का विरोध करने वाले यह अवश्य कह सकते हैं कि धर्म की ढाल के पीछे लज्जास्पद अनाचार होते आये हैं, और हो रहे हैं । एक लेखक तो यहाँ तक कहते हैं कि वेश्यालयों के आद्य चालक धर्मगुरु ही हुआ करते थे जो उस स्थान को वेश्यागृह कहने के बदले मंदिर कहते थे और वेश्याओं को देवदासी, देवपुत्री, देवपुजारिन या रामजनी आदि सभ्य नामों से पुकार कर इस निंद्य पेशे पर परदा डालने का प्रयत्न करते थे । प्राचीन धर्मों का वेश्यावृत्ति के साथ कैसा और कितना संबंध था, यह सामान्य रूप से हम देख चुके हैं । अब इसी विषय पर गहराई से विचार करेंगे । परंतु धर्म (प्राचीन धर्म) के विरुद्ध चीखपुकार करते समय एक बात हमें ध्यान में रखनी चाहिये कि बाद में स्थापित होने वाले नवीन मतवाद भी यौन संबंधों की शिथिलता से सर्वथा मुक्त नहीं थे । मॉर्मन्स और ओनीडा नाम से प्रचलित धर्ममार्गों में स्वीकृत यौन विचित्रताएँ पुरानी धार्मिक विचित्रताओं से कम आश्चर्यजनक नहीं हैं । और धर्म को न मानने वाली, धर्म को घोलकर पी जाने वाली वर्तमान नास्तिकता भी यौन विचित्रताओं के क्षेत्र में धर्म से किसी तरह पीछे नहीं है, यह सत्य धर्ममार्गों को दोष देते समय भुलाया नहीं जाना चाहिये ।

यह संभव है कि आधुनिकों के लिए धर्म या बाह्य दृष्टि से दिखाई देने वाले धर्म के आचार एवं रूढिवेष्टित रूप की महत्ता न रही हो । परंतु हमारे पूर्वजों की नजर में धर्म नितांत असत्य वस्तु नहीं थी । पूरी संस्कृति का नियमन करने वाली पुरानी धर्म व्यवस्था के कुछ अंश आज हमारी समझ में न आयें, यह स्वाभाविक है । परंतु धर्म पर दृढ निष्ठा रखने वालों को धर्मव्यवस्था में ऐसे सत्य के दर्शन होते थे जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती । धर्म के बहाने अनेक प्रकार के अनाचार करने वाले धर्मगुरु और उनके अनाचारों के अनुमति प्रदान करने वाला समाज जानबूझ कर ऐसा करते थे, यह कहना पूर्ण सत्य नहीं होगा । युगयुग के सामाजिक बंधनों को दृढ करने वाली व्यवस्थाएँ विशिष्ट अनुकूलताओं, आदर्शों, भावनाओं और मान्यताओं की बुनियाद पर ही रची जाती हैं । आज के युग में विचित्र दिखाई देने वाले अधिकांश धार्मिक रिवाजों के पीछे देशकाल का अनुसरण करनेवाली कोई न कोई सयुक्तिक विचारधारा अवश्य होती है, इस सत्य के दर्शन सामाजिक इतिहास का गहराई से अध्ययन करने वालों को हुए बिना नहीं रहेंगे । यौन व्यवहारों के नियमन और उनके मुक्त संचार का ज्वार भाटा किसी भी प्रजा के धर्मप्रवाह में आता ही रहता है । यह बात यौन आवेग का प्राबल्य मान्य करने वाले आधुनिकों की समझ में न आये ऐसी नहीं है ।

इस विषय का अध्ययन करने वालों को यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यौन जीवन समाज जीवन का एक अति महत्वपूर्ण विभाग होने पर भी, मनुष्य जीवन का वह एकमात्र महत्वपूर्ण विभाग नहीं है । यह तो

माना कि जीवन में यौन भावना के अवलंबन से अनेक घटनाएँ होती हैं । फ्रॉयड जैसे विचारक तो मनुष्य के पूरे कार्यव्यवहार एवं आचार विचार के पीछे यौन भावना की ही प्रेरणा मानते हैं । फिर भी, समग्र जीवन व्यवहार में कामवासना की तीव्र उग्रता के सिवा और कुछ नहीं है, यह कहना यौन भावना पर अन्याय करना होगा । मनुष्य यौन भावना से बहुत अधिक प्रेरित होता है, यह तो सत्य है । परंतु चौबीस घंटों में वह और कुछ भी नहीं करता, यह कहना अत्युक्ति है । अत : पतिताओं का अध्ययन करते समय यौन संबंधों के विचार पर अधिक बल दिया जाय, यह तो स्वाभाविक है ; परंतु प्राचीन धर्मजीवन में वेश्यावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं था, यह मान्यता नितांत भ्रमपूर्ण है । किसी भी युग के स्वरूप को यथार्थ्य समझने के लिए यौनभावना का अन्य सामाजिक घटनाओं की पार्श्वभूमि में ही निरूपण होना चाहिये । तभी जीवन में उसका स्थान निश्चित हो सकता है ।

यौन वासना की तृप्ति के स्वरूपों का यथार्थ इतिहास समझते समय वर्तमान मानस को खींचकर प्राचीन युग में ले जाना भी एक मुश्किल क्रिया है, जिसका संपूर्ण आचरण शायद ही संभव होता है । शिव को देवता न मानने वालों को आधुनिक नृत्यकारों के तांडवनृत्य में कला के दर्शन हो सकते हैं ; परंतु शिव के देवत्व को सनातन सत्य मानने वाले किसी शिवभक्त के हृदय में तांडव के दर्शन से किन भावों की सृष्टि होती है, इसकी कल्पना भी उनके लिए मुश्किल है । नाटक-सिनेमा में कृष्ण की भूमिका करने वालों का चरणस्पर्श करने वाले लोग आज भी दिखाई दे जाते हैं । हम उन्हें देखकर हँस सकते हैं । परंतु हमारी हँसी उनके हृदय को समझने में हमारी सहायता नहीं करती ।

इस विषय में दूसरी महत्व की सूचना यह यह है कि प्राचीन युग का अध्ययन करते समय श्रेष्ठता की भावना मन में रख कर हम बड़ी गलती करते हैं । प्राचीन युग, आवश्यक रूप से आज के युग से हीन अवस्था में था, यह मान्यता हमारे अहम् पर ही आधारित है । इस प्रकार का अभिमान हमारी दृष्टि को विकृत बना देता है । प्राचीन युग के समग्र जीवन को, एवं तत्कालीन वातावरण को सहानुभूतिपूर्ण और अभिमान रहित दृष्टि के समझने को हम तत्पर न हों, तो उस युग का यथार्थ दर्शन हो ही नहीं सकता । किसी इमारत का समग्र दर्शन करना हो तो उसकी खिड़कियों को या छज्जों को, कमरों को या दीवानखानों को, रसोईघर को या छत को, छप्पर-को या बरामदे को अलग-अलग देखने से काम नहीं चलता । वैयक्तिक रूप से उनका अलग अलग अस्तित्व है, यह सत्य है ; और उन्हें अलग अलग देखना भी आवश्यक है । परंतु समूची इमारत का दर्शन तो इन सबके समग्र निरीक्षण से ही हो सकता है । इससे भी अधिक स्पष्ट दर्शन प्राप्त करना हो, तो उसका परिवेष्टन, उसकी पार्श्वभूमि और उसकी चारों ओर के वातावरण को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता पड़ेगी ।

आधुनिकता का घमंड यथार्थ में सत्य पर आधारित है क्या ? प्राचीन युग की तुलना में, हम किस दृष्टि से अधिक नीतिमान हैं ? स्त्री पुरुष के संबंध को ही नीतिमत्ता की कसौटी मान लिया जाय, तो भी हमारे लिये अभिमान का कोई कारण नहीं । नित्य के व्यवहार में धर्म को बीच में न लाने वाले आजके धर्मरहित समाज ने भी नीतिमत्ता की बहुत ऊँची कक्षा प्राप्त की है, यह प्रमाणित करना मुश्किल है । आज के मर्यादाहीन यौन आचरण प्राचीन युग में धर्माचरण के नाम से चलने वाले अनाचार को भी भुला दें, ऐसे हैं । कामविज्ञान के किसी भी ग्रंथ में हम यह देख सकते हैं । धर्म का बहिष्कार कर के भी हम अधिक ऊँची नैतिक कक्षा पर पहुँचे हैं, यह कहा जा सकता है क्या ? यौन संबंधों की बात कुछ देर के लिए नहीं करेंगे, क्योंकि इस विषय में तो हमने प्राचीनों को कहीं पीछे छोड़ दिया है । पश्चिम के सभ्य देशों में प्रचलित यौन व्यवहार संबंधी पुस्तकों के साधारण अध्ययन से भी यह बात प्रमाणित हो सकती है । परंतु सामाजिक नीति के अन्य स्तरों पर भी आधुनिक मनुष्य का स्थान कहाँ है, यह निश्चित करने में बर्नार्ड शॉ हमारी सहायता कर सकता है । पूरी मनुष्यजाति के उद्धार का भार वहन करने का ढोंग और सदैव

सिद्धान्तानुसार बर्ताव करने का गुमान करने वाले हमारे गौरांग प्रभुओं के मानस का वह निडर नाट्यकार निम्नलिखित शब्दों में परिचय देता है :—

"अंग्रेज यदि आपसे लड़ता है, तो देशभक्ति के सिद्धान्तानुसार और आपको लूटता है तो व्यापार के सिद्धान्तानुसार । यदि वह आपको गुलाम बनाता है, तो साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों का पालन करते हुए और यदि आपको धमकाता है तो मर्दानगी के नियमों के अनुसार । राज्यनिष्ठा का सिद्धान्त आगे करके वह अपने राजा का अनुमोदन करता है, पर प्रजातन्त्र के नाम पर उसका सिर भी काट सकता है । अंग्रेज का ध्येयवाक्य है : कर्त्तव्य । परंतु जो राष्ट्र अपने कर्त्तव्य को अंग्रेज प्रजा के स्वार्थ के विपक्ष में रखता है, उसका नाश अवश्यंभावी है, इस बात को भी अंग्रेज़ बच्चा कभी नहीं भूलता ।" संसार का मार्गदर्शन करने का ढोंग करने वाली अंग्रेज प्रजा की मनोवृत्ति का यह नमूना है । उन्हीं के एक महान लेखक के शब्दों में व्यक्त उस जाति का मूल्यांकन है । इस हालत में प्राचीनता पर दोषारोपण हम किस मुँह से कर सकते हैं ?

अत : भिन्न भिन्न प्रजाओं की पतितासंस्था का विस्तृत विवेचन करते समय यदि सावधानी और सहानुभूति से काम लिया जाय, तो ही पतिताओं की अवस्था, उनके रीतिरिवाज और उनकी परिस्थितियाँ अधिक अच्छी तरह से समझी जा सकेंगी । प्राचीनों से श्रेष्ठ होने का घमंड करने से काम नहीं चलेगा । और यदि यह मान लिया जाय, कि हम सचमुच ही प्राचीनों से श्रेष्ठ हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि हमारी यह श्रेष्ठता प्राचीनों के अनुभव पर ही आधारित है ।

पश्चिम के वर्तमान विचारकों की कालगणना ईसा के संवत् पर अवलंबित है । ईसवी सन् उनके समयमापन का आरंभस्थान है । हम भी पश्चिम का पुछल्ला पकड़कर चलने के आदी हो गये हैं । हमारी पराधीनता हमारी कालमापन की दृष्टि को उन्हीं के संवत् में मढ़ देती है । इसलिए हमने भी हमारे कालमापन में ईसवी सन् से पूर्व और ईसवी सन् के बाद के दो विभाग स्वीकृत कर लिए हैं । ईसवी सन् से पूर्व के युग का एक विभाग मनुष्य की अति प्राथमिक अवस्था का काल माना जाता है जिसमें हम अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया या अमरीका की असंस्कृत जातियों का समावेश कर सकते हैं । उस काल में इन जातियों का धर्म नितांत अविकसित और अस्पष्ट दशा में था, यह उपरोक्त प्रजाओं के वर्तमान अवशेषों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है ।

परंतु ईसवी सन् से पूर्व एक दूसरा विस्तृत कालखंड भी मनुष्यजाति की सभ्यता के इतिहास में बीत चुका है जिसमें अनेक महान प्रजाओं, महान संस्कृतियों एवं महान धर्मों का विकास हो सका । इन प्रजाओं के जीवन और आदर्श हमारे जीवन और आदर्शों से या तो भिन्न प्रकार के थे या आज हमारी समझ में न आ सकें इस प्रकार के थे । सामाजिक रचना में आनेवाली जिन उलझनों और कठिनाइयों का सामना उन्हें करना पड़ा था, वे हमारी समस्याओं से कुछ अलग प्रकार की थीं । मनुष्य जाति को विशाल भूमिका पर स्थापित करके उसके विभिन्न वर्गों में एकता की भावना उत्पन्न करने के आद्य प्रयत्नों का आरंभ इन प्रजाओं ने ही किया था । उनके अनुभव और उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं से हमने बहुत कुछ प्राप्त किया है । इसी कारण उनके यौन जीवन के एक भाग का निरीक्षण करने मे भी हमारी दिलचस्पी है । एशिया और योरप के संगम स्थान पर स्थित फिलस्तीन, बॅबिलोन और असीरिया, पास ही विस्तृत मिस्र, पूर्व की ओर बढ़ते ही ईरान, भारत और चीन, एवं यूरोप की संस्कृति के आधार स्तंभ माने जाने वाले यूनान और रोम आदि प्रदेशों के प्राचीन जीवन में पतिताओं का क्या स्थान था, इसका अब हम विस्तृत निरीक्षण करेंगे ।

२
फिलस्तीन प्रदेश की हिब्रू-यहूदी-संस्कृति

सबसे पहले हम फिलस्तीन प्रदेश की हिब्रू-यहूदी-संस्कृति की ओर नजर करें । इस संस्कृति का विकास छोटे पैमाने पर होने पर भी, यह अत्यंत प्रमाणित हुई है । ईसा मसीह खुद यहूदी थे । परंतु यहूदियों को तंग करने में ईसा के अनुयायिओं ने कोई कसर नहीं छोड़ी है और आज भी हिटलर का यहूदियों के प्रति बैर जगजाहिर है । ईसाई प्रजाओं के मन में यहूदियों के प्रति शताब्दियों से बसे हुए द्वेष और तिरस्कार का यह पूर्ण परिपाक है । आपस में लड़ने वाली ईसाई प्रजाएँ दुनिया की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न भले ही करें, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि हिटलर द्वारा यहूदियों पर किये गये राक्षसी अत्याचार पश्चिम की ईसाई संस्कृति के ही फल हैं । शेक्सपियर ने शायलॉक नामक यहूदी के चरित्र चित्रण द्वारा ईसाइयों की अत्याचार गाथा और उस जुल्म के परिणाम रूप यहूदियों की मनोदशा का हृदय-स्पर्शी चित्र उपस्थित किया है । यहूदियों के प्रति ईसाई प्रजाओं का अन्याय अब भी पूर्णत: नष्ट नहीं हुआ । हिटलर पर दोषारोपण करने से पहले पूरी अंग्रेज प्रजा यदि "मरचंट ऑफ वेनिस" पढ़ ले, तो बहुत सी बातें स्पष्ट हो जायें । युग युग तक विनाशकारी संकटों में फँसी रहने पर भी यह प्रजा आज पूरे संसार में बिखरी हुई है और अपना व्यक्तित्व और प्रभुत्व कायम रख सकी है । अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवहार की बागडोर तो इसी प्रजा के हाथ में है । प्राचीन भारत के आद्य व्यापार-व्यवहार में यहूदियों के साथ का संपर्क सर्वविदित है । भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर बसे हुए यहूदी परिवार दोनों प्रजाओं के अति-प्राचीन संबंधों की गवाही देते हैं ।

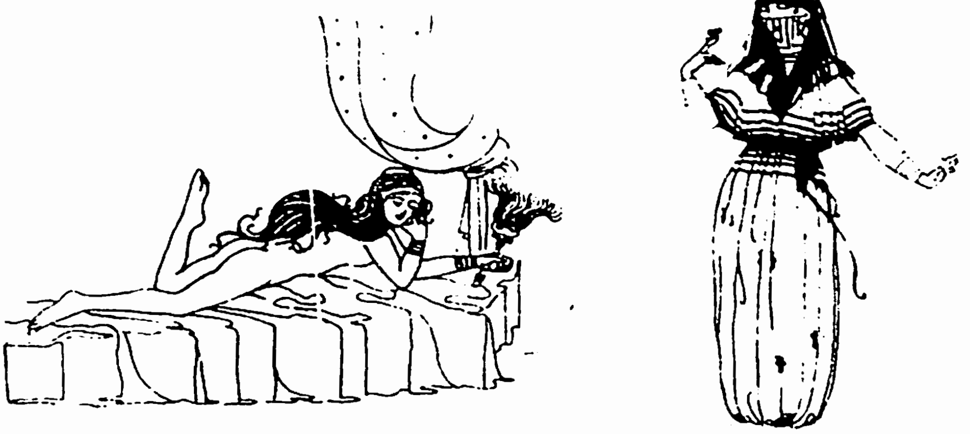
यहूदियों का धर्मग्रंथ ईसाइयों और मुसलमानों को भी मान्य है । ईसा से पहले रचा हुआ बाइबल का पुराना विभाग (Old Testament) यहूदियों का धर्मग्रंथ है । उसमें पतिताओं का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है और उनके जीवन की पर्याप्त जानकारी भी संग्रहीत है । 'एर्जेकिल' का अध्याय पढ़ने की युवकों को अनुमति नहीं थी । 'एबोला' और 'एहोलीबा' के वेश्याधामों के वर्णन आज भी अश्लील साहित्य के ही नमूने माने जायेंगे । उस युग में भी, आज के समान ही जाहिरा तो पतिताओं का तिरस्कार होता था परंतु गुप्त रूप से उन्हें प्रोत्साहन मिलता था । यहूदियों के राजर्षि सॉलोमन के निम्नलिखित उपदेश में उस समय की परिस्थिति का कुछ आभास मिल सकता है ।

"हे वत्स, मेरी बात को ध्यान में रखना । एक बार मैं अपने महल की खिड़की से बाहर देख रहा था । मैंने एक नासमझ युवक को अपने मोहल्ले में से उस स्त्री के मोहल्ले में जाते देखा ।वह सीधा उसके मकान तक पहुँच गया । सूरज डूब चुका था और संध्या का प्रकाश छिपते ही काली, अँधेरी रात छा गई । मकान के बाहर ही उसे गणिका का पोशाक पहने वह स्त्री मिली । उसके हृदय में चपलता भरी थी । वह स्त्री पूरे समाज में बदनाम है । जोर से बोलती है और अपनी बात का आग्रह रखती है । घर में तो उसका पाँव ही नहीं टिकता । बार बार बाहर आती है, और सड़कों, चौराहों पर मौके की तलाश में घूमती रहती है । उस युवक को इस स्त्री ने फाँस लिया । उसे चूमकर अत्यंत निर्लज्जता से कहने लगी, 'मैं तुझे परम संतोष दूंगी । आज मेरी तपस्या सफल हुई । मैं तेरी तलाश में ही निकली थी, और तू मुझे मिल गया । आज मैंने अपनी सेज को सुंदर ढंग से सजाया है । सुगंधित द्रव्य उसपर छिड़के हैं । आ, भोर होने तक हम प्रेम के सागर में डूब जायें ।' इस प्रकार के मीठे शब्दों से उसने उस युवक को वश में कर लिया और अपने अधरों का प्रलोभन देती हुई उसे अपने साथ ले गई — ठीक उसी तरह जैसे कोई शिकारी किसी

पंछी को जाल में फँसाता है । उसने ऐसे कई पुरुषों को घायल किया है । उसके नयनबाणों से कई समर्थ पुरुष विद्ध हो चुके हैं । उसका मकान नरक का द्वार है, जहाँ से सीधे यमराज के दरबार में पहुँचा जा सकता है ।"

इन्हीं राजर्षि सॉलोमन का प्रसिद्ध मंदिर उत्तेजक संभोगमुद्राओं की नक्काशी से सजाया गया था । उसमें गणिकाओं और देहभोग के विकृत प्रकार पसंद करने वालों का निवास था और 'बाल' तथा 'मोलोक' नामक देवताओं की बीभत्स पूजा भी वहाँ छिपे छिपे होती थी ।

ज्यूडा एक समर्थ और धनी यहूदी था । उसके कुटुंबीजन उसे अत्यंत पूजनीय मानते थे । उसकी 'तामार' नामक पुत्रवधू विधवा हो गई ; परंतु उसे संतान की तीव्र इच्छा हुई । यहूदियों में प्रचलित प्रथा का भंग करके तामार ने विधवा के वस्त्रों का त्याग किया और गणिका का वेश परिधारन करके, चेहरे पर नकाब डालकर चौराहे पर जा बैठी । उसे देखने पर ज्यूडा ने उसे कोई गणिका समझा क्यों कि वह



देहविक्रय करने वाली स्त्रियों की तरह आम सड़क पर बैठी थी । वह उसे पहचान न सका क्योंकि उसका मुख नकाब से ढँका हुआ था । इस प्रसंग में ज्यूडा जैसे अग्रणी यहूदी के गणिकावेशधारी पुत्रवधू की ओर आकर्षित होने का शास्त्रीय प्रमाण मिल जाता है ।

यहूदियों के महान शासक मोजिझ ने यहूदी प्रजा की विशुद्धि बनाये रखने के भगीरथ प्रयत्न किये । प्रजा की विशुद्धि का अर्थ है प्रजा की माताओं के यौन संबंधों पर कठोर नियंत्रण । मोजिझ ने आज्ञा दी थी कि इजरायल की एक भी पुत्री गणिका न बनाई जाये । इसका अर्थ यही होता है कि पतितावस्था यहूदियों में प्रचलित थी जरूर । इस आज्ञा का परिणाम क्या हुआ यह अलग बात है, परंतु यहूदी प्रजा की विशुद्धि सुरक्षित रखने के प्रयत्न करने वाले मोजिझ ने अपने प्रदेश में चलनेवाली अन्य प्रजाओं की गणिकावृत्ति की ओर उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा । यहूदी पुरुषों के अन्य प्रजाओं की गणिकाओं के साथ के यौन व्यवहार पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी । सीरिया, खाल्दिया, आदि पड़ोसी प्रदेशों की स्त्रियाँ यहूदी प्रजा में बसकर वेश्या व्यवसाय करती थीं । जेरुसलेम और अन्य बड़े शहरों से उन्हें कई बार निकाल बाहर करनेपर भी वे आम सड़कों पर, या छोटे मोटे गाँवों में डेरे डाल कर, या छोटी मोटी चीजें, बेचने का बहाना करके, वहीं मँडराती रहती थी और मुसाफिरों को फाँसती रहती थी । यहूदी पतिताओं की तरह इन पतिताओं पर नकाब ओढ़ने की पाबंदी नहीं थी । सामान्यत : इन पतिताओं को निभा लेने का रुख यहूदी शासकों में पाया जाता था और उन्हें 'अजनबी स्त्रियाँ'' कहकर पुकारा जाता था ।



परंतु ये अजनबी स्त्रियाँ और उनके पुरुष सहायक मोलॉक, बाल, बेल फॉगोर जैसे यहूदी धर्म के अमान्य देवताओं की स्थापना करके उनकी पूजा के बहाने यहूदियों को अनेक प्रकार के अनाचार में प्रवृत्त करते थे । इन देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियों की स्थापना की जाती थी । देवता के पेट में अग्निज्वाला प्रज्वलित कर के उसमें आहुतियाँ दी जाती थी । फिर सेवक-सेविकाएँ और पुजारी-पुजारिने मिल कर नशीले पदार्थों का सेवन करते थे, नाचते गाते थे, देवता की प्रदक्षिणा करते थे और उसे प्रसन्न करने के बहाने अनेक प्रकार के अमर्याद यौन व्यवहारों में खुल्लेआम प्रवृत्त होते थे । देखादेखी, इसका प्रचार यहूदियों में भी बढ़ता जाता था । ऐसे पाखंडों के अधिक बढ़ जाने पर मोजिक जैसे किसी कठोर शासक को इस प्रकार के प्रतिमापूजन के लिए देहांत दंड की व्यवस्था करनी पड़ती थी । परंतु यौन वासना की उग्रता देहांत के भय को भी ठुकरा सकती है, यह कौन नहीं जानता ? सब धर्मों और संस्कृतियों के काव्यों में इस के उदाहरण मिल सकते हैं । यहूदी मंदिरों के आसपास उद्यान या वृक्षों के झुरमुट हुआ करते थे, जो अनैतिक संबंधों के लिए अत्यंत अनुकूल स्थान होते थे । अत : इन रम्य वृक्षघटाओं को भी कटवा डालना पड़ता था । सॉलोमन जैसे किसी उदार नरेश द्वारा पतिताओं को थोड़ी सी भी राहत दी जाने पर उनकी संख्या इतनी बढ़ जाती थी कि धर्मशासक शिकायत करने लगते थे । उस युग के एक रब्बी की शिकायत सुनियेः "इन गणिकाओं ने एक भी पहाड़ी, एक भी वृक्षघटा या एक भी मंदिर बाकी नहीं छोड़ा है । कैसी दुर्दशा है !"

यहूदियों की विशुद्धि के लिए इतने कठोर कानून होनेपर भी यहूदी प्रजा में गणिकाओं को इस ढंग से स्वीकार किया जाता था । बाइबल में अनेक प्रसंगों पर इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है । साथ ही ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख जिनमें गणिका के साथ का संबंध यहूदी विशुद्धता के मार्ग में नहीं आया । जेफ्था एक गणिका का पुत्र होने पर भी यहूदी प्रजा का नेता और न्यायाधीश बन सका । जोशुआ नामक यहूदी सरदार के गुप्तचर खुले आम रहाब नामक गणिका के घर में रहते थे । उसकी सहायता से ही जोशुआ को राज्य मिला जिसके परिणाम स्वरूप रहाब के परिवार की अप्रतिष्ठा समाप्त होकर समाज में उसे सम्मानित स्थान मिला । सॅमसन एक प्रसिद्ध यहूदी योद्धा था । वह गाजा शहर की एक पतिता के घर में रहता था । दलाइला नामक इस सुंदर वारांगना का प्रेम ही अंत में सॅमसन के पराभव का कारण हुआ । संसार की अनेक भाषाओं में यह घटना काव्य-साहित्य का विषय बन चुकी है । बॅबिलोन की प्रजा द्वारा यहूदियों का पराजय होते ही यहूदी वारांगनाओं के झुंड बॅबिलोन में दिखाई देने लगे थे । जॅरुसलॅम पर यहूदियों का फिर से अधिकार हो जाने पर भी यह प्रवृत्ति नष्ट नहीं हुई ।

यहूदी प्रजा के एक श्रेष्ठ पुरुष ने गणिका के प्रति सच्ची सहानुभूति रखते हुए कहा, "उसे उसके पाप की क्षमा मिल गई है । पतिता होने पर भी उसका प्रेम सच्चा है ।" इस महान भावना का उच्चारण करने वाले उस श्रेष्ठ पुरुष का नाम था जीसस क्राईस्ट । पतिताओं के प्रति ईसा का क्षमामय और दयामय बर्ताव मनुष्यजाति की एक महान प्रेरणा बन गया, जिसके साथ तुलना करनेपर तत्कालीन यहूदी प्रजा का पतिता के प्रति तिरस्कार, सामाजिक दंभ का एक निकृष्ट प्रकार ही लगता है । आज भी हमारा प्रगतिशील कहाने वाला समाज पतिताओं के प्रति इसी प्रकार का पाखंडपूर्ण तिरस्कार व्यक्त कर रहा है ।

बाइबल की एक कथा है : कुकर्म करते हुए पकड़ी जाने वाली एक स्त्री को घसीटते हुए लोगों की भीड़ ईसा के पास ले पहुँची । सब लोग चिल्ला चिल्ला कर कहने लगे, "गुरुदेव, इस स्त्री को हमने कुकर्म करते हुए पकड़ा है । मोजिझ का फरमान है कि ऐसी स्त्रियों को पत्थर मार कर मार डाला जाय । आपकी क्या आज्ञा है ?" परंतु ईसा तो, मानो कुछ सुना ही न हो, इस तरह नीचे झुककर जमीन पर अंगुली से कुछ लिखने लगे । लोगों के बार बार पूछने पर उन्होंने ऊपर देखा, और भीड़ से बोले, "ठीक है । मोजिझ की आज्ञा का पालन होना ही चाहिये । परंतु इस स्त्री को सबसे पहलेपत्थरवह मारे, जिसने

कभी कोई पाप न किया हो ।'' यह कहकर ईसा फिर नीचे झुक कर जमीन पर कुछ लिखने लगे । ईसा के वचन सुनते ही, सब लोगों ने अपना-अपना हृदय टटोला, और धीरे-धीरे छोटे बड़े, सब वहाँ से चलते बने । एक भी आदमी वहाँ खड़ा नहीं रहा । रहे सिर्फ ईसा, और वह पापिनी मानी हुई पतिता । ईसा ने पूछा, ''भद्रे, तेरे ऊपर अभियोग लगाने वाले कहाँ चले गये ? उन्होंने तुझे क्या दंड दिया ?'' उसने उत्तर दिया, ''देव, मुझे किसी ने कोई दंड नहीं दिया ।'' ईसा ने कहा, ''मैं भी तुझे सजा नहीं दे सकता । अब जा, दूसरा पाप नहीं करना । तोते को रामनाम पढ़ाने वाली गणिका का भगवान ने उद्धार किया था, यह आर्यभावना यहाँ याद आ जाती है ।

इस प्रकार फिलस्तीन की यहूदी प्रजा में गणिका वृत्ति थी तो सही, परंतु यहूदी स्त्रियों को उससे मुक्त रखने के लिए कठोर नियम प्रचलित थे । अन्य प्रजाओं की स्त्रियों के पतन की कोई परवाह नहीं की जाती थी । यहूदी प्रजा के भविष्य को ठेस न लगती हो, उस हद तक गणिकावृत्ति को निभा लेने में यहूदी प्रजा को कोई आपत्ति नहीं थी । परंतु अन्य अनेक प्रजाएँ भी फिलस्तीन में रहती थीं और उनमें धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के वामाचार प्रचलित थे । इन धर्मों का एवं दुराचारों का विरोध करना ही यहूदी धर्म का प्रधान तत्व था । यहूदी प्रजा में भी कभी कभी इन परधर्मों की मान्यताएँ गुप्त या प्रकट रूप से फैल जाती थीं ; और इसीलिए धर्मनेताओं को यहूदी प्रजा की विशुद्धि का इतना ध्यान रखने की आवश्यकता पड़ती थी ।

३
बेबीलोन और आसपास के प्रदेश की संस्कृति

बेबीलोन के संबंध में लिखते हुए यूनानी इतिहासकार हीरोडॉटस एक अत्यंत विचित्र रिवाज का उल्लेख करता है । उसे उसके ही शब्दों में उद्धृत करना योग्य होगा । ''बेबीलोन की प्रजा में एक बहुत लज्जास्पद रिवाज प्रचलित है । बेबीलोन में जन्म लेने वाली प्रत्येक स्त्री का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता है कि वह जीवन में एक-बार मीलीटा देवी (रति) के मंदिर में जाकर रहे और किसी अनजान विदेशी पुरुष के साथ सहचार करे । धनिक स्त्रियाँ सामान्य स्त्रियों के साथ वहाँ जाने में अपनी हेठी समझती हैं ; अत : वे बंद गाड़ियों में बैठकर नौकरों के साथ वहाँ जाती हैं वह अपने लिए स्थान सुरक्षित करवा लेती हैं । परंतु सामान्य नारियां तो सिर में डोरे की वेणी गूंथ कर मंदिर के बरामदे में भी बैठ जाती हैं । वहाँ यात्रियों की सदा भीड़ लगी रहती है । रस्सियाँ बाँधकर, इन स्त्रियों तक पहुँचने के मार्ग नियत कर दिए जाते हैं और अजनबी पुरुष इन मार्गों पर घूमते हुए स्त्रियों को पसंद करते हैं । अपनी पसंद की स्त्री की गोद में चांदी का सिक्का डालकर पुरुष कहता है, ''देवी मीलीटा तेरा कल्याण करें ।'' इतना कहते ही, उस स्त्री को सिक्का डालने वाले पुरुष के साथ जाकर उसे संतुष्ट करना पड़ता है । इसमें किसी प्रकार की आनाकानी नहीं हो सकती, क्योंकि इस रजतमुद्रा को देवार्पण की गई पवित्र भेंट माना जाता है । सिक्का हलका या भारी, छोटा या बड़ा, हो सकता है ; सिर्फ चांदी का होना चाहिये । इस रिवाज को धार्मिक विधि की प्रतिष्ठा प्राप्त है और यह मान्यता है कि इससे देवी मीलीटा सदा प्रसन्न रहती हैं । एक बार यह विधि पूरी हो जाने पर उसका पुनरावर्तन नहीं किया जाता ; और यह पवित्र कार्य पूरा होते ही स्त्री अपने परिवार में वापस लौट जाती है । परंतु जब तक यह धर्मकार्य पूरा न हो, उसे मंदिर में ही रहना पड़ता है ; चाहे कार्यसिद्धि में कितने ही दिन क्यों न लग जायें । उच्च समाज की ओर सुंदर स्त्रियाँ तुरंत घर लौट सकती







है परंतु बदसूरत स्त्रियों को बहुत लंबे समय तक रुकना पड़ता है । मंदिर के आंगन में तीन-तीन, चार-चार वर्ष तक बैठी रहने वाली स्त्रियाँ दिखाई दे सकती हैं । साइप्रस द्वीप के कुछ भागों में भी ऐसा ही रिवाज प्रचलित है ।'' आगे चलकर यह उल्लेख भी है कि अन्य स्त्री को पसंद करने वाले पुरुष से नापसंद स्त्री बुरा भला कहती थी और कभी कभी उसके साथ झगड़ा भी हो जाता था । पुरुष की पसंदगी के लिए तीन चार वर्ष तक राह देखने वाली स्त्री झगड़ेगी नहीं तो और क्या करेगी ? लंबे समय तक स्वीकृत न होने वाली स्त्री को उसकी पड़ोसिने ताना मारती थीं कि, ''तेरी वेणी तो अब तक किसी ने नहीं उतारी ।'' हीरोडॉटस के अनुसार, इसी प्रकार का रिवाज कोरिन्थ में भी प्रचलित था ।

समाजशास्त्रियों को ऐसे रिवाजों में प्रजावृद्धि की धार्मिक विधियों के दर्शन होते हैं । कृषि, पशु या मनुष्य की उर्वरता हास्य का विषय नहीं है । कामवासना के साथ इसका संबंध भी स्पष्ट है । हिंदू समाज में गर्भाधान और सीमंत पूजन धार्मिक संस्कार माने जाते हैं । बेबीलोन में किसी गंभीर अवसर पर किसी प्राचीन समाज विधायक को, अकाल पड़ने पर, कृषिदेवी को प्रसन्न करने के लिये मानव स्त्री के कौमार्य का बलिदान देना योग्य लगा हो, संयोग से वह सफल हुआ हो, और इस प्रकार इस क्रिया को कानून का स्वरूप प्राप्त हो गया हो, यह संभव है । दिव्य सत्वों को समर्पित किया हुआ यौनसुख का बलिदान दिव्य और पवित्र देव संबंध का सूचक माना जाता हो और इस मार्ग से देवी देवताओं की कृपा प्राप्त करने के लिए जीवन में एक बार ऐसे प्रसंग की योजना की जाती हो, यह भी संभव है । पुष्प या फल न देने वाले वृक्षों को पद्मिनी स्त्री का चरणस्पर्श फलदायी बना देता है, इस आशय की संस्कृत साहित्य में वर्णित दोहदक्रिया की यहाँ याद आ जाती है ।

पुराने रिवाजों को वहम मानकर उनकी खिल्ली उड़ाने वाले हम खुद कितने वहमी हैं, इसका हमारे नित्य के आचरण से अंदाज लगाया जा सकता है । कार्यकारण के संबंधों को अधिक स्पष्टता से देख सकने की स्थिति में होने पर भी हम अनेक प्रकार के शकुन, अपशकुन, ग्रह, अदृष्ट आदि पर विश्वास रखते हैं और ये मान्यताएँ नित्य नये स्वरूप में फैलती हुई दिखाई देती हैं । अच्छे अच्छे विद्वान, विचारक और सफल नेतागण भी ज्योतिषियों से किसी हद तक प्रभावित रहते हैं, यह देखने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं ।

पश्चिम के विद्वानों का ध्यान पौर्वात्य संस्कृति की ओर अभी हाल में ही आकर्षित हुआ है । परंतु उनकी दृष्टि रोम-यूनान से प्रारंभ करके, यूनान के सामने वाले किनारे पर बसे हुए मिश्र तुर्की,

फिलस्तीन, सीरिया और मॅसोमोटॅमिया होती हुई ईरान तक आकर रुक जाती है । इन प्रदेशों में मध्य संस्कृतियाँ और महान प्रजाओं का विकास हुआ था, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु इनका और भारत का संबंध अतिप्राचीन होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अभी कुछ दिन पहले ही पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो सका है और उसे समझने की कोशिश की गई है । इस प्रदेश की एक प्रजा, यहूदियों की हकीकत हमने देखी । बेबीलोन का भी हमने संक्षेप में उल्लेख किया । इसी प्रदेश की 'हिटाइट' नाम से प्रसिद्ध एक पहाड़ी प्रजा की संस्कृति भी धर्म और कामभावना के संबंध पर प्रकाश डालती है । टोरस की पर्वतराजियों में इस संस्कृति के अस्तित्व की सूचना देने वाले शहरों के खंडहर मिले हैं । उनमें एक मंदिर के अवशेष भी हैं । मंदिर की भग्न मूर्तियों में एक देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसने बाघ पर सवारी की हुई है । दूसरे एक मंदिर से प्राप्त मूर्ति में देवी का वाहन सिंह है । अपने देश में भी अंबामाता का वाहन बाघ ही माना गया है । सिंह को भी शक्ति का वाहन माना जाता है । इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिटाइट प्रजा की इस महादेवी का नाम भी "मा" था । मातृत्वसूचक यह शब्द अनेक भाषाओं में समान रूप से मिलता है और अब तक आपस में एकता स्थापित न कर सकने वाली मनुष्यजाति को प्राचीन युग के संयुक्त मानव परिवार की याद दिला देता है ।

कृषि, पशु या मनुष्य की उत्पादकशक्ति इस माता की कृपा पर ही अवलंबित है, यह मान्यता अनेक प्रजाओं में फैली हुई थी । हिटाइटों की "माँ" के दर्शन चीन में "शीन मो" के रूप मे होते हैं और यही देवी 'ईस्टर', 'इसिस', 'एस्टार्ट', 'टानीट', 'सीबिल', 'डिमिटर' आदि नाम धारण करके अनेक प्रजाओं में पूजी जाती थी । भारतीय और सुमेरियन संस्कृतियों की समानता मोहनजोदड़ों और हराप्पा की खुदाई से बिलकुल स्पष्ट हो गई है । सुमेरियन संस्कृति का उद्गम पश्चिमी एशिया में हुआ था । हिंदू और सुमेरियन, दोनों संस्कृतियों में "मा" का पूजन महत्वपूर्ण धर्मकार्य माना जाता था, यह हम जानते हैं । मातृत्व उत्पादक शक्ति का परिणाम है । मातृत्व को यौन भावना से परे और पवित्र मानने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, इन दोनों का निकट संबंध भुलाया नहीं जा सकता । मातृत्व में पितृत्व का हिस्सा है या नहीं, यह बात मानव संस्कृति की प्राथमिक भूमिका पर शायद अस्पष्ट रह जाती थी । ईसा की क्वाँरी माता मेरी की कथा में इसी अस्पष्टता की छाया दिखाई देती है । यौन वृत्ति के साथ मातृत्व का संबंध तो प्रथम मनुष्य के जन्म से ही स्पष्ट हो जाता है ; परंतु जन्म में पितृत्व का योगदान संस्कृति के विकास के साथ धीरे-धीरे समझ में आता है । जननकार्य में महत्वपूर्ण भाग तो सदैव माता का ही माना गया है ।

पुरुष से अछूते मातृत्व की कल्पना कौमार, अविवाहित अवस्था, यौन संबंधरहित स्थित या ब्रह्मचर्य को भक्ति का विषय बनाकर पूजनविधि को इनकी दिशा में भी मोड़ते हैं । दूसरी ओर, पुरुष के समागम के बिना संभव न हो सकने वाला मातृत्व विवाह और यौन संबंध के अन्य विविध प्रकारों की ओर मनुष्य की श्रद्धा को खींचता है इनमें से पहली प्रवृत्ति ब्रह्मचारिणियों एवं नपुंसक पुजारियों की प्रथा को जन्म देती है । पवित्र देवी की पूजा के लिए यौन संभोग की भ्रष्टता से अछूते स्त्री-पुरुष आवश्यक माने जायें, यह भावना समझ में आ सकती है । दूसरी ओर, उत्पादकशक्ति में संभोग का महत्व मान्य करने वाली मान्यता, देवी की प्रसन्नता के लिए कौमार का बलिदान चाहे, यह भावना भी समझी जा सकती है । इन परिस्थितियों में बेबीलोन में प्रचलित प्रथा या देवालयों से संबद्ध गणिकावृत्ति जैसी सामाजिक रुढियाँ प्रचलित हो जायें, यह नितांत संभव है ।

स्तनों को कटवा कर, शस्त्रास्त्रों से सज्ज रहने वाली "एमॅजोन" नामक स्त्री सैनिकों की कथा या किंवदन्ती का संबंध भी इसी प्रदेश से है । कुछ पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि यौन भावना से पूर्णत: मुक्त ये लड़ाका स्त्रियाँ पहले हिटाइट प्रजा की देवी 'मा' की पुजारिनें थी । मंदिरों में 'मा' की प्रतिमा के पास 'एमेजोन' की मूर्तियाँ भी होती थीं ।





परंतु पुरुषों की पौरुषहीनता और स्त्रियों की स्त्रीत्वविहीनता प्राकृतिक अवस्थाएँ नहीं हैं । इन्हें कभी न कभी प्रकृति के आधीन होना ही पड़ता है । देवार्पण किए हुए ये स्त्री-पुरुष समाज को अनुचित और विचित्र भोगाचार में घसीट ले जाते हैं और मंदिरों को पतितागृहों में बदल देते हैं । उत्सवों के अवसर पर हमारे मंदिरों में स्त्री-पुरुष का निकट संसर्ग कामवासना को भड़काने में ही सहायक होता है । आजकल कुछ बड़े मंदिरों में स्त्रिओं और पुरुषों के लिए दर्शन की अलग-अलग व्यवस्था की जाती है । परंतु अधिकांश मंदिरों में तो स्त्री-पुरुष एकसाथ, भीड़ में दबते-पिसते देवदर्शन करते हैं । यह दृश्य देखते ही धर्म में से वासना की ओर झुक पड़ने का एक ढंग तुरंत समझ में आ जाता है ।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की क्रिया या प्रजनन के अंगों में खुले आम देवत्व का आरोपण होकर उनके प्रति पूज्यभाव, भक्तिभाव और धर्मभाव जागृत हो सके हैं । धर्म की प्राथमिक अवस्था में धर्म से संबंधित यौन भावना की पवित्रता एवं गंभीरता भी सुरक्षित रह सकी है । देवता की प्रसन्नता के लिए किये जाने वाले अतिकठोर, अप्राकृतिक या मानव स्वभाव से विपरीत कार्य आरंभ में देवता के प्रति उग्र भक्ति के ही सूचक होते हैं । परंतु बाद में ये कार्य धर्म का आडंबर धारण करके स्वाभाविकता के क्षेत्र में फिसल पड़ते हैं । इनके इस क्षेत्र में फिसलते ही स्वाभाविकता भी अस्वाभाविकता बन जाती है ।

मिश्र, सीरिया और मॅसोपॅटिमिया से ईरान तक का विस्तृत भूप्रदेश एक अर्धचन्द्राकार, उपजाऊ प्रदेश है । पश्चिम के इतिहासकारों के मतानुसार यह प्रदेश मानव संस्कृति का पालना माना गया है । इस पूरे प्रदेश में लिंगपूजन खुले आम प्रचलित था ; इतना ही नहीं, गणिका व्यवहार भी इस समूचे प्रदेश में विस्तृत रूप से स्वीकृत था । 'मा' के पूजन का एक या दूसरे रूप में प्रचलित धार्मिक रिवाज यौन संबंधों की अतिकठोरता या अतिशिथिलता में से अनेक प्रकार के विचित्र परिणामों को जन्म दे रहा था ।

देवी की भावना कठोर पवित्रता एवं भव्य बलिदान की अपेक्षा करती है । बलिदान की कल्पना सर्वग्राही बनने पर अनेक रूपों में व्यक्त होने लगती है । विवाह से पहले प्रत्येक कन्या को अपने कौमार की बलि देवी के चरणों में चढ़ानी चाहिये, यह मान्यता भी इसी बलिदान भावना का ही एक प्रकार है । बेबीलोन की उपरोक्त प्रथा इसी का उदाहरण है । उत्सव प्रसंगों पर देवी की प्रसन्नता के लिए किया हुआ यौन व्यवहार देवी की कृपा अर्जित करके कृषि के उत्पादन में वृद्धि करता है, ऐसी कोई विचारधारा लोगों को मान्य हो जाय, तो अनियमित और अमर्याद भोगोन्माद का प्रचार होकर उसकी परिणति धार्मिक गणिकावृत्ति में हो सकती है ।

परंतु देवी के भक्त और पुजारिनें धीरे-धीरे पवित्रता से चलित होकर वासनातृप्ति को अपना पेशा बना लेते थे । यौन-भावना की देवी के निरंतर सान्निध्य में रहकर, उसकी सेवा पूजा के लिए पूरे संसार का त्याग कर बैठने वाले स्त्री पुरुष उसी देवी के नाम पर भोगाचरण करें, तो उन्हें कोई पाप नहीं लगना चाहिये, ऐसी मान्यता भी प्रचलित हो जाती थी । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही देवी के नाम पर चलने वाली गणिकावृत्ति का जन्म हो जाता था । देवी की पुजारिन रह चुकने वाली पतिता के द्वारा अर्जित धन का उपयोग पहले तो मंदिर के लिए होता था । फिर धीरे-धीरे यह धन उसके वैयक्तिक उपयोग में लिया जाने लगा और धर्म के साथ कामवासना का यह असभ्य और निर्लज्ज स्वरूप सदा के लिए जुड़ गया ।

पवित्र व्यक्तिओं — ब्राहमणों और पुजारियों — को खिलाया हुआ भोजन देवताओं और पितृओं को पहुँचता है यह मान्यता अपने देश में अत्यधिक प्रचलित है । ब्राहमण या गुरु का देवताओं के साथ सीधा संपर्क होता है, यह भावना भी हमारे यहाँ पाई जाती है । उनको प्रसन्न करके हम देवताओं और पितृओं की प्रसन्नता अर्जित करते हैं, यह मान्यता उपरोक्त भावनाओं से ही जन्म लेती है । इससे एक कदम आगे

बढ़त ही सर्वार्पण का सिद्धांत आ खड़ा होता है । सर्वार्पण में देहार्पण का समावेश होते भी देर नहा लगती । मलबार प्रदेश में अब्राह्मण गृहस्थ को ब्राह्मण अतिथि की सेवा में गृहपत्नी भी अर्पण करनी पड़ती थी । यह प्रथा नष्ट होते होते भी किसी अज्ञात कोने में अब तक जीवित रही हो, तो आश्चर्य नहीं । काशी, प्रयाग में होने वाली वेणीदान की प्रथा में तीर्थ पुरोहित को पत्नी अर्पण करके, फिर उसे अच्छी खासी रकम देकर पत्नी को पुन : प्राप्त करके, उसके साथ फिर से धूमधाम से विवाह करने का धार्मिक व्यवहार अब तक प्रचलित है । वेणीदान की महिमा के पीछे हमारी देवता को सर्वार्पण — पत्नी तक अर्पण — करने की भावना अति स्पष्ट रूप में दिखाई देती है । धर्म और यौन भावना के संबंध किस प्रकार विकसित होते हैं, यह पश्चिम एशिया की प्राचीन संस्कृति एवं भारत के अनेक धार्मिक रिवाजों में स्पष्ट देखा जा सकता है । धर्म और धार्मिक भावनाओं का सहारा लेकर मनुष्य कितना नीचे गिर सकता है, इसके चाहें उतने उदाहरण प्राचीन संस्कृति में मिल सकते हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन संस्कृति हमारी आधुनिक संस्कृति से अधिक अनीतिमान थी । यहाँ तो केवल यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि धार्मिक भावना का व्यवहार के क्षेत्र में उतरने पर क्या रूप हो सकता है ।

४

मिस्र, फिनीशिया और आसपास के प्रदेश

धम और गणिकावृत्ति का संबध देखते हुए हम प्राचीन मिस्र की ओर देखें ता वहाँ भी इसी प्रकार की विकास रेखाएँ नजर पड़ेंगी । मिस्र की प्राचीन संस्कृति एक अति भव्य संस्कृति थी । प्राचीनता में वह चीन, भारत और ईरान की समकालीन हो सकती है । प्राचीन संस्कृतियों के परस्पर संबंध और समन्वय का इतिहास तक धूमिल है, फिर भी, भारत और मिस्र में अति प्राचीन काल में संपर्क था, इसकी झांकी उपलब्ध इतिहास के आधार पर भी हो सकती है । आज इस महत्वपूर्ण संस्कृति के अवशेष वहाँ के पिरामिडों और उनके तहखानों में हजारों वर्षों से सुरक्षित राजा-रानियों के शवों (जिन्हे 'ममी' कहा जाता है) एवं अनेक सजावट की वस्तुओं, आभूषणों आदि के रूप में प्राप्त हैं ।

ऊष्ण जलवायु वाले प्रदेशों में यौनभावना अपक्षाकृत कुछ जल्दी जागृत हा जाता ह । फेरो के नाम से परिचित राजवंश को उस काल में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हुई । राजपरिवारों में सहोदर भाई-बहनों के विवाह की प्रथा प्रचलित थी यह सुप्रसिद्ध रानी क्लिओपेट्रा की कथा से प्रमाणित होता है । उसका प्रथम विवाह उसके भाई टॉलोमी के साथ हुआ था । नंदी पूजन, लिंगपूजा आदि मिस्र में भी प्रचलित थे । ईसिस उनकी शक्तिदेवी थी और ओसीरीस उनका पुरुष तत्व का देवता था । उत्सव प्रसंगों पर ओसीरीस की सोने की प्रतिमा की कुमारिकाओं द्वारा स्थापना की जाती थी और पूरा प्रजा समुदाय उसकी पूजा करता था । इस प्रसंग पर स्त्री-पुरुष के संसर्ग के नियम अत्यंत शिथिल हो जाते थे । ईसिस या शक्ति पूजन के अवसर पर भी इसी प्रकार की शिथिलता दिखाई देती थी । इस उत्सव के वर्णन में ऐसा उल्लेख आता है कि उत्सव के दरमियान किसी एक प्रदेश के स्त्री-पुरुष नावों में बैठकर दूसरे शहर में पहुँचते थे जहाँ आने वालों के स्वागत केलिए शहर के स्त्री-पुरुष किनारे पर ही तैयार खड़े रहते थे । नावों का मनुष्य समुदाय नीचे उतरते ही दोनों पक्षों की स्त्रियों में दिल खोलकर गालीगलौज होती थी । धीरे-धीरे नौबत अश्लील हावभावों तक पहुँच जाती थी और स्त्रियाँ देहभान भूलकर बाँसरी के सुर पर समूह नृत्य करने लगती थीं । यह समूह नृत्य बहुत शीघ्र कामुकता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता था और फिर धर्म के नाम पर खुलेआम

अमयार्द देह संबंध होते थे । बाल नामक देवता के मंदिर तो विशाल गणिकागृह ही थे । उनमें तो अनाचार इस हद तक पहुँच जाता था कि अनेक बार मंदिरों के अंदर होने वाले भोग विलास को कानून द्वारा बंद करना पड़ता था ।

पुत्रियों के देह विक्रय द्वारा धन प्राप्त करना उस युग में लज्जास्पद नहीं माना जाता था । किसी चोर का पता लगाने के लिए मिस्र के एक राजा ने अपनी पुत्री से गणिकावृत्ति करवाई थी ऐसा उल्लेख प्राप्त है । मिस्र के नौकृतिश नामक नगर की समृद्धि और प्रसिद्धि वहाँ की गणिकाओं के सौंदर्य के कारण ही थी । देश विदेश में यह शहर आनंदधाम के रूप में प्रसिद्ध था । मिस्र की हॅडोपीस नामक नर्तकी तो अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि वाली गणिकाओं के वर्ग में आ सकती है । यह एक अत्यंत प्रसिद्ध वारांगना थी । आरंभ में यह क्रीतदासी थी, परंतु उसे अपने पेशे में इतनी सफलता मिली कि उसने अपने मूल्य चुकाकर स्वतंत्रता प्राप्त की और इतना धन कमाया कि अपने खर्च से एक पिरॉमिड का निर्माण करवाया । इतिहासकार हीरोडॉटस का कहना है कि अनेक पिरॉमिडों का निर्माण गणिकाओं के धन से हुआ था । और इन पिरॉमिडों को मिस्र की प्राचीन प्रजा धर्मस्थान मानती थी !

चीऑप्स नामक पुरुष ने पिरॅमिड के निर्माण के लिए धन अपनी पुत्री से गणिकावृत्ति करवा के प्राप्त किया था । ईसा से ३०५० वर्ष पूर्व जन्म लेने वाले इस धनाढ्य द्वारा निर्मित पिरॉमिड आज भी मौजूद है । इस भव्य खंडहर की ऊँचाई ४८० फुट और बुनियाद के पास प्रत्येक बाजू की लंबाई ७६४ फुट है । इन पिरॉमिडों की शिल्प कला में यौन भावना का निरूपण अत्यंत स्पष्ट रूप से हुआ है । 'सेटी' नामक देवता में सृजन की शक्ति की कल्पना की गई थी । एक स्थान पर इस देवता की प्रतिमा और उसका पूजन करते हुए मिस्र के राजा 'मॅनेम्था' का निरूपण इतने अश्लील ढंग से हुआ है कि आज हम उसे बीभत्सता की पराकाष्ठा ही कहेंगे । मिस्र के धार्मिक स्थानों में खुदे हुए त्रिशूल, त्रिभुज आदि यौन भावना के ही प्रतीक माने गये हैं । इस प्रकार प्राचीन मिस्र की संस्कृति देव, धर्म, यौन भावना एवं गणिकावृत्ति के अतिविचित्र संमिश्रण से व्याप्त दिखाई देती है ।

धार्मिक गणिकावृत्ति में व्यवसायवृत्ति का प्रवेश किस प्रकार होता है, यह जानना भी आवश्यक है । आरंभ में भक्तों द्वारा अर्पित द्रव्य या भेंट देवता या मंदिर की संपत्ति मानी जाती थी । धीरे धीरे पुजारी-पुजारिनों ने उसमें से हिस्सा लेना शुरू किया । कुछ आगे बढ़कर यह माना जाने लगा कि देवता को सीधे अर्पण करने के बदले देवता की पुजारिन को अर्पण किया हुआ द्रव्य भी देवता को ही प्राप्त होता है । इस मान्यता का प्रचार होते ही मंदिर और देवता का महत्व केवल गणिकावृत्ति को प्रश्रय देने वाले स्थानों के रूप में ही बाकी रहा । यह व्यवस्था मंदिरों और भक्तों, दोनों के लिए सुविधाजनक होने से अब तक चलती आ रही है ।

मुख्य देवस्थानों की देखादेखी अन्य देव स्थानों की स्थापना होना और धर्म के नाम पर पतिताओं के केन्द्रों का फैलाव होना स्वाभाविक है । द्वारका और डाकोर में श्री रणछोड़जी के मुख्य मंदिर हैं । परंतु रणछोड़जी का छोटा-मोटा मंदिर गुजरात के किस शहर या कस्बे में नहीं है ? सात्विक धर्मभावना के पोषण के साथ साथ द्वारका डाकोर के धर्मस्थानों में चलने वाले अनाचार की स्थानीय आवृत्तियाँ भी इन मंदिरों में दिखाई दें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये । स्त्री-पुरुष के सांकेतिक मिलन स्थानों में मंदिर एक अति सुविधाजनक स्थान है । कहने का आशय यह कदापि नहीं कि सब स्थानों पर धर्म के केन्द्र स्थापित करने का एकमात्र उद्देश्य गणिकावृत्ति का प्रसार करना ही होता है । इन मंदिरों की स्थापना तो अत्यंत गहरी धार्मिक वृत्ति से होती है । परंतु होता है यह कि मुख्यधाम में जिन त्रुटियों का जन्म होता है, उनके अनुरूप वातावरण अन्य केन्द्रों में भी विकसित हो जाता है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । मुख्य धाम के समान पूजा प्रणाली सब जगह स्वीकृत करनी पड़ती है अंत : उस प्रणाली से जन्म लेने वाले अनिष्ट

भी सब जगह समान ही दिखाई देंगे । भारत में आज भी तीर्थधामों की नैतिक प्रतिष्ठा बहुत उच्च कोटि की है, यह दावा भावुक भक्त भी नहीं कर सकते ।

खाल्दिया और बेबीलोन में मीलीटा के नाम से प्रसिद्ध देवी फिनीशिया, कार्थेज और सीरिया में एस्टार्ट के नाम से परिचित थी । नाम बदल गया, परंतु कर्मकांड वही रहा । स्थान काल के अनुसार उसमें मामूली हेरफेर जरूर हुए । प्राचीन फिनीशियन प्रजा का उदाहरण ले । वैदिक युग में ''पणी'' नाम से प्रसिद्ध विद्रोही, साहसी और प्रगतिशील आर्यों के एक विभाग में से फिनीशियन प्रजा की उत्पत्ति मानने की प्रवृत्ति वर्तमान युग के विद्वानों में पाई जाती है । फिनीशियन प्रजा के एक नौयानप्रिय, साहसी और व्यापार-कुशल जाति माना जाता है । यूनान के दक्षिण में मिस्र और पूर्व में, समुद्रपार के किनारे पर एक ओर एशिया-माइनर और दूसरी ओर फिनीशिया की स्थिति थी । फिनीशियन प्रजा ने अपनी व्यापारी और राजनीतिक प्रवृत्तियों का इतना विस्तार किया था कि उनके उपनिवेश समुद्र के किनारे-किनारे बहुत दूर तक फैले हुए थे । रोमनों के साम्राज्यवादी घमंड को नीचा दिखाने वाले सुप्रसिद्ध वीर हैनीबॉल की राजधानी का नगर कार्थेज अफ्रीका के उत्तरी तट पर बसा हुआ था । फिनीशिया के मंदिरों में गुलाम स्त्रियों के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ वेश्यागृह भी होता था । व्यापारियों को आकर्षित करने के लिए प्रजा की कन्याओं को गणिकावृत्ति द्वारा विदेशियों का मनोरंजन करना पड़ता था । धीरे-धीरे इस प्रथा का पूरी प्रजा के सामान्य रिवाज में परिवर्तन हो गया । इस प्रथा का यह प्रजामान्य रूप ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि लंबे अरसे तक फिनीशिया, साइप्रस और कार्थेज के समुद्रतटों पर नौकानयन करने वाले व्यापारियों को सुंदर वस्त्र पहने हुए हाथ बढ़ा बढ़ा कर निमंत्रण देने वाली फिनीशियन युवतियाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध होती रहीं थीं ।

पतितावस्था का उपयोग अपने ही विवाह के लिए दहेज जुटाने के लिए भी किया जाता था । गणिकावृत्ति द्वारा सघन बनी हुई युवतियों के विवाह तुरंत हो जाते थे । गुजरात के अनाविल ब्राह्मणों, महाराष्ट्र के प्रभुओं, बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों और पारसियों में अबतक प्रचलित वरविक्रय की त्याज्य प्रथा का समर्थन करने वालों को यह प्राचीन दृश्य अवश्य दिखाना चाहिये । स्त्रिओं के धन से समृद्ध होकर भोग की आशा रखनेवाले पुरुष सामाजिक पतितावस्था के निर्माण में किस हद तक जिम्मेदार हैं, इसके दर्शन इस प्रथा में आसानी से हो सकते हैं ।

इन प्रथाओं में कालक्रम से सुधार भी होते रहते थे । देवी को कौमार अर्पण करने के स्थान पर देवी के मंदिर में सिर के केश अर्पण करने की प्रथा का विकास हुआ । इससे किसी अनजान यात्री के साथ एक रात्रि के लिए व्यभिचार करने के कर्तव्य से मुक्ति मिल जाती थी । परंतु या तो सिर के बालों का आकर्षण इतना बढ़ गया था, या किसी अजनबी विदेशी के साथ एक रात्रि के समागम का मोह इतना तीव्र बन चुका था कि केश अर्पण करने को शायद ही कोई युवती तत्पर होती थी । अपने देश में माता की मनौती मानकर, किसी तीर्थस्थान में बालक का मुंडन करवाने के रिवाज की यहाँ याद आ जाती है । कई तीर्थस्थानों में तो पति की मौजूदगी में, सुहागिन स्त्रियाँ भी केशवपन करवाती है ।

अरब के प्राचीन निवासी कुशल नाविक थे । इस्लाम की स्थापना के पूर्व भी उनका संस्कृत प्रजाओं के साथ घनिष्ठ संबंध था । इस संसर्ग से मूर्तिपूजा और लिंगपूजा की प्रथा उनमें प्रचलित हो गई थी । इस्लाम के उद्भव का इतिहास देखन पर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है । प्रचलित नैतिक अनाचार के विरोध के रूप में ही पैगंबर मुहम्मद ने इस्लाम के मुख्य संदेश का प्रचार किया था ।





५
ईरान और चीन

प्राचीन संस्कृति का उल्लेख करते समय प्राचीन ईरान को नहीं भुलाया जा सकता । ईरानी प्रजा आर्य प्रजा का ही एक भाग है जिसका भारतीयों से अति निकट का संबंध है । अवेस्ता और अथर्ववेद का भाषासाम्य विद्वानों का ध्यान तुरंत आकर्षित करता है । ईरानियों की अग्निपूजा, सूर्यपूजा और सृष्टितत्वों की पूजा आर्यावर्त्त के वैदिक युग का स्मरण कराती है । ईरानियों के मिथ्रि और वैदिक आर्यों के मित्र की समानता भी सर्वश्रुत है । दुर्भाग्य से हमें हमारा इतिहास भी परभाषा की माध्यम से पढ़ना पड़ा ; अत : इस विषय में भी हम विदेशियों की दृष्टि का ही अनुसरण करने को मजबूर हुए । इस अनुकरण में से केवल इसी एक दोष का जन्म हुआ हो, यह बात नहीं । पश्चिम की उच्चारण पद्धति ने भी हमारी दृष्टि को दूषित करके बुद्धि को भ्रमित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी । ईरान के एक प्रसिद्ध शहनशाह को विदेशी भाषाओं में 'साइरस' के नाम से पहचाना जाता है । यूनान से मिस्र तक के प्रदेशों का दिग्विजय करके, उस प्राचीन युग में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने वाले इस सम्राट का नाम उसकी भाषा में 'कुरुष' था ? इस नाम में तो हमें अपनी आर्यभाषा की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है । पश्चिम के उच्चारण ने 'प्रजांधिपोक' कह कर भ्रष्ट किए हुए श्याम के सम्राट के नाम में से असली नाम 'प्रजादीपक' ढूंढ लेना, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी उच्चारण पर ही आधार रखने वालों के लिए कुछ मुश्किल है ।





प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राचीन प्रजाओं के आपस के संबंधों पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ा है ; परंतु पूरा चित्र अभी तक अस्पष्ट और धूमिल है । प्राचीन युग के दर्शन भी अब तक हमें विदेशी भाषाओं के माध्यम से ही हो सके हैं । हमारे संस्कृत और पाली के विद्वान जब एशिया के अनेक प्रदेशों की प्राचीन भाषाओं का स्वतंत्र अध्ययन कर सकेंगे, तब यूनान से लगाकर चीन तक के प्राचीन युग पर नूतन प्रकाश पड़ेगा । संसार में संस्कृति का बीजारोपण ईसा के प्राकट्य के बाद हुआ, यह मानने वाले तथाकथित ईसाईयों की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से जरा भी हीन न होने वाली संस्कृतियों का ज्वारभाटा पूर्व के प्रदेशों में अति प्राचीन काल से आता रहा है, इसके प्रमाण अब धीरे-धीरे उपलब्ध होते जा रहे हैं । परंतु दुर्भाग्य की बात है कि हमारी विद्वता अब भी, लंगड़ाती हुई, पश्चिम का सहारा लेकर ही चल पाती है ।

एक ओर से भारतीय प्रजा और दूसरी ओर से एशिया माइनर की प्रजाओं के संपर्क में आनेवाली ईरानी प्रजा में यौन पूजा के अस्पष्ट चिह्न दिखाई दें यही स्वाभाविक माना जायगा । दोनों दिशाओं से प्रभावित करने वाले, लिंगपूजा में विश्वास रखने वाले ग्रंथों और आचार विचारों से ईरानी प्रजा नितांत अनभिज्ञ हो, यह संभव नहीं । परंतु ईरान संस्कृति का नियमन कठोर नैतिकतावादी शक्तियों के हाथ में होने के कारण यह प्रभाव इस संस्कृति में बहुत आगे नहीं बढ़ पाया ।

यौन प्रतीकों का पूजन अपने आपमें अनिष्ट है यह कहना पूरी यौन भावना का अपमान करना है । देह को यदि दिव्य मंदिर माना जाय, तो देह के प्रत्येक अंग को पवित्र मानना होगा । इन अंगों की पूजा यदि गंभीर भाव से की जाती हो, तो वह मानसिक उन्नति में सहायक हो सकती है, इसमें कोई शक नहीं । परंतु मनुष्य का मन अनायास प्राप्त होने वाले सुख, आमोद-प्रमोद और आनंदोपभोग की ओर स्वाभाविक रूप से दौड़ता है । यौन प्रतीकों की पूजा का प्रचलन करने वाली मनोवृत्ति का गांभीर्य इस पूजा प्रणाली के कई पीढ़ी बाद के स्वरूप तक पहुंचते-पहुंचते विलुप्त हो जाता है और यौन प्रतीकों का पूजन गंभीर तत्वचिंतन न रहकर एक हास्यास्पद, मर्यादारहित आनंदोत्सव मात्र रह जाता है । उन्नतगामी सहचार अधोगामी इंद्रियलोलुपता या वासनातृप्ति में बदल जाता है । धर्म की अवनति अधर्म में हो जाती है और समाज में प्रकट या प्रच्छन्न वेश्यावृत्ति का सूत्रपात होता है ।

वासनातृप्ति की अतिशयता अंत में वितृष्णा, शिथिलता और बीभत्स जुगुप्सा को जन्म देती है । इन भावों में से पूरी यौन वासना के प्रति, इस वासना के परिणामों के प्रति एवं इन परिणामों से जन्म लेने वाले आचार विचारों या संस्थाओं के प्रति गहरी घृणा उत्पन्न होती है जो अंत में प्रजाजीवन की निर्बलता, पतन और विनाश का कारण बती है । धीरे-धीरे पूरी यौन भावना ही अनिष्ट मानी जाने लगती है और उसके विकास एवं विस्तार पर अंकुश रखने के प्रयत्न होने लगते हैं । समाज के विचारक उसके तिरस्कार उत्पन्न करने वाले रूपों की ओर ध्यान आकर्षित करके उस तिरस्कार को दृढ करने वाली विचारसरणी का प्रचार करते हैं और पूरे समाज की दार्शनिक बुनियाद को आनंदोपभोग की जमीन से उखाड़ कर वैराग्य की पृष्ठिभूमि पर स्थापित कर देते हैं । शासक भी मर्यादाहीन आचार विचार को अपराध मानकर समूचे जीवन तंत्र को पवित्रता के चौकठे में जकड़ने का प्रयत्न करते हैं ।

इस प्रकार एक ओर कामवासना और यौनसुख को धर्म मानकर उनकी पूजा करने वाली मत प्रणाली, तो दूसरी ओर उन्हें अधर्म मानकर उनकी निंदा करने वाली नैतिक विचारधारा प्रजाजीवन में सदा बहती रहती हैं । इनमें से किसी एक की अतिशयता होते ही विपक्ष को भी अधिक बल प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप विरोध की भावना जन्म लेती है और संघर्ष उत्पन्न होता है । नीति की सनातन व्याख्या करना बहुत कठिन है । परंतु इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि यौन आकर्षण के कारण जन्म लेने वाले संबंधों की रचना स्वास्थ्य सामंजस्य, न्याय, गांभीर्य और जिम्मेदारी की बुनियाद पर करने के प्रयत्न नीति द्वारा अवश्य किये जाते हैं । इनमें से एकाध तत्व का संतुलन बिगड़ जाने पर भी समाज में अस्वस्थता आ जाती है । अति विलास और अति वैराग्य, इन दोनों के वैयक्तिक और सामाजिक प्रत्याघात प्रजाजीवन के संतुलन को प्रभावित किए बिना नहीं रहते ।

प्राचीन विश्व के संस्कृत विभाग में लिंगपूजा का प्रथम प्रवेश स्वाभाविक और भावप्रेरित था । परंतु धीरे धीरे यौन भावना के इस प्रतीक पूजन में से अनेक विचित्र, अमर्याद, असभ्य और घिनौने प्रकारों ने जन्म लेकर धर्म भावना में विस्तृत रूप से वेश्यावृत्ति का बीजारोपण किया । इसी के एक परिणाम रूप यौनभावना का विरोध करने वाली शक्तियों ने जन्म लिया । इन दोनों भावों के संघर्ष में से प्राचीन मनुष्यजाति के आज तक जीवित रहने वाले धर्मों की उत्पत्ति हुई । ईसा से पूर्व के पाँच छ : सौ वर्षों की इन

महान घटनाओं ने मानवता के इतिहास में अजीब परिवर्तन उपस्थित किए । और सबसे अधिक आश्चर्यजनक घटना तो यह है कि आरंभ में यौन पूजा का विरोध करने वाले धर्मों ने भी बाद में यौन प्रतीकों की पूजा को स्वस्थ या विकृत रूप में स्वीकृत कर लिया और वे अब तक जीवित रहे हैं ।

मानो पतिताओं को जन्म देने वाली इन पूजा विधियों का विरोध करने की मानसिक भूमिका पर मनुष्यजाति पहुँच गई हो, ऐसा एक चमत्कार प्राचीन विश्व में हुआ । ईरान में जरथुस्त्र, भारत में बुद्ध-



महावीर, यूनान में पाइथागोरस और चीन में कन्फ्यूशियस जैसे महान तत्वज्ञों, विचारकों और धर्माचार्यों ने जन्म लिया और पूरे संसार की नीतिभावना को उच्च कक्षा पर ले जाने वाले महान आंदोलनों का आरंभ हुआ । आश्चर्य की बात है कि ये सारे चिंतक लगभग समकालीन थे । यह भी विचारणीय है कि ईसाई धर्म की स्थापना इन वैचारिक क्रांतियों के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद हुई और इस्लाम का प्रवर्तन उससे भी पाँच सौ वर्ष बाद ।

व्यक्तिजीवन में विलास की अतिशयता हो जाने पर कैसे परिवर्तन होते हैं और धर्म की ओर कितनी उत्कटता से मनुष्य का आकर्षण हो सकता है इसके उत्तम दृष्टांत जैनों के सुप्रसिद्ध स्थूलीभद्र, वैष्णवों के बिल्वमंगल और ईसाई पतिता मॅगडेलन की कथाओं में मिल जाते हैं । प्रजाजीवन में ऐसे विलास विरोधी परिवर्तनों के अनेक उदाहरण जरथुस्त्र, बुद्ध, महावीर और कन्फ्यूशियस द्वारा स्थापित धर्मों में बिखरे पड़े हैं ।

सम्राट कुरुष (साईरस) के काल में ईरान की प्राचीन प्रजा ने जरथुस्त्र धर्म को स्वीकार करके विलासप्रियता का त्याग किया और कठोर यौन नियमों को अंगीकार करके जीवन के सब क्षेत्रों में अद्भुत प्रगति की । मिस्र से भारत तक का प्रदेश उसके राज्य के अंतर्गत था । अन्य धर्मों के प्रति कुरुष ने सहिष्णुता बरती, परंतु अपनी प्रजा के लिए कठोर नीतिनियमों की रचना की । उसने आदेश दिया कि प्रत्येक नवयुवक को घुड़सवारी और तीरंदाजी में कुशलता प्राप्त करनी ही चाहिये और निर्भयता से सत्य बोलना चाहिये । जरथुस्त्र के इन उपदेशों को स्वीकार करके उसने अपनी पूरी प्रजा में इनका प्रचार किया ।

ईरानी संस्कृति का प्रभाव यूरोप की संस्कृति की बुनियाद मानी जाने वाली यूनानी संस्कृति पर भी पड़ा था। यूनानी उपनिवेशों पर विजय प्राप्त करने वाले ईरानी शहनशाह कुरुष की सेवा में भारतीय धनुर्धारी भी थे, यह बात प्राचीन संसार की एकता स्थापित करती है। साईरस द्वारा स्थापित समाज व्यवस्था तीन पीढ़ियों तक चली। उसका पुत्र दारा पिता के ही पदचिन्हों पर चला।, यद्यपि उसमें विलासप्रियता कुछ अधिक थी। परंतु दारा के पुत्र झर्कसीस के समय में राजदरबार में भोगविलास का केन्द्र बन गया। इसके दो ढाई सौ वर्ष बाद सिकंदर महान के हाथों इस राजवंश का अंत हो गया। ईरानी देवता मिथ्र की सात्विक पूजा इससे पहले ही देश विदेश में फैल चुकी थी, जो आखीर में रोम तक पहुँची। ईरानी भोगविलास की शोहरत यहाँ तक बढ़ी कि उनका उल्लेख कहावतों में होने लगा। ईरान में, कठोर धर्मशासन के कारण धार्मिक पतिताओं का उद्‌भव नहीं हुआ, परंतु धर्म के अवलंबन से मुक्त पतिताओं की प्राचीन ईरान में कमी नहीं थी।

प्राचीन भारत की गणिकावृत्ति का निरूपण विस्तार पूर्वक, स्वतंत्र परिच्छेदों में किया जायगा। अत : ईरान से आगे बढ़ते हुए, भारत के बीच में छोड़कर, प्राचीन संस्कृतियों में अति महत्वपूर्ण चीन की संस्कृति पर यहाँ संक्षेप में विचार कर लें।

चीन आज तो हमारा मित्रदेश माना जाता है। यद्यपि राजमैत्री और वह भी पश्चिम के रंग में रंगी हुई राजमैत्री कितनी सच्ची होती है, इसका मूल्यांकन करना मुश्किल काम है। प्रथम विश्वयुद्ध में जापान और इटली हमारे मित्र राष्ट्र थे। आज वे शत्रुपक्ष में हैं और हम उनकी निंदा करने से नहीं चूकते। चीन को आत्महत्या के मार्ग पर प्रेरित करके उस विशाल प्रदेश को हजमकर जाने के जो प्रयत्न इंग्लैंड-अमरीका ने किये हैं वे मानव-स्वतंत्रता के नाम पर युद्ध करने का दंभ करने वाली इन प्रजाओं के कुटिल कारनामों का जीता जागता उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जापान को डराने के एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित इन गोरी प्रजाओं के कृष्णकृत्यों की कालिमा चीन के प्रति इनके दोस्ती के वादों की सच्चाई के बारे में शंका उत्पन्न करती है। बॉक्सर युद्ध, अफीम का व्यवसाय, बंदरगाहों और द्वीपों की छीनाझपटी और करोड़ों रुपये का व्यापार चीन में फैलाकर अपने आर्थिक हितसबधों के चंगुल में चीन को जकड़ने की इंग्लैंड-अमरीका की स्पर्धा आदि सब ऐतिहासिक तथ्यों की चर्चा यदि यहाँ न भी करें, तो चीनी प्रजा के संबंध में पूरे संसार में अंग्रेजों द्वारा फैलाई गई असत्य कल्पनाएँ ही उनकी राजनीतिक मैत्री की पोल खोल देने में समर्थ हैं। चीनी प्रजा को ''पीली आफत'' (yellow peril) कहकर उसकी बदनामी तथाकथित मित्रों ने की है। पश्चिम के देशों पर पीली या काली, कोई आफत आई हो, ऐसा तो दिखाई नहीं देता। डर यही है कि चीन पर कहीं गोरी आफत न बरस पड़े। इस भय का सूत्रपात हो चुका है और काली प्रजाओं का आर्तनाद तो बहुत पुराना हो चुका है।

पीड़ा पहुँचाने के चीनी ढंग को Chinese torture का नाम देकर और उसे कल्पना के रंगों से रंगकर, चीनी संस्कृति को असभ्य और भयानक प्रमाणित करने की कोशिश भी पश्चिम ने ही की है। पीड़ा पहुँचाने की मनोवृत्ति हर हालत में भयानक ही मानी जायेगी। परंतु तीसरी श्रेणी की सजा (Third degree methods) के नाम से कुख्यात पाश्चात्य पीडन पद्धति और जलियाँवाला बाग की कत्लेआम की योजना करने वाली गोरी संस्कृति को बेचारा चीन क्रूरता की कला में अधिक क्या सिखा सकता है ? चीनी जादूगर, चीनी गुंडे और चीनी अंतर्राष्ट्रीय आतंकवादियों का अंग्रेजी फिल्मों में दिखाया जाने वाला चित्रण भी चीन की अपेक्षा योरप के मानस को ही अधिक प्रतिबिंबित करता है। इसमें भी उद्देश्य केवल चीन विरोधी भावना उकसाने का ही होता है। आज की आपद्धर्म रूप मैत्री का ढोंग पूर्व के देशों के प्रति पश्चिम के राजकीय नेताओं के दंभ को छिपाने में शायद ही समर्थ हो सके।

चीन देश बहुत प्राचीन काल से एक महाप्रजा के निवासस्थान के रूप में पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित करता रहा है। चीनी प्रजा कागज, बारूद, कुतुबनुमा और मुद्रण आदि कलाओं की आद्य आविष्कारक मानी जाती है। इस प्रजा के ऊपर संस्कृति के तीन विभिन्न सोपानों की छाप स्पष्ट रूप से पड़ी है। प्रथम ला-ओ-से नाम तत्वज्ञ ने इस प्रजा में कठोर नैतिक संस्कार उत्पन्न किए जिनसे आचार की शुचिता ऐसी विचित्र कक्षा तक पहुँची कि एक राजा ने उसे झोंक में बहते हुए फरमान जारी किया कि यदि कोई दरबारी जम्हाई लेगा, तो उसे प्राणदंड दिया जायगा। भरे दरबार में जम्हाई लेना निस्संदेह अशिष्ट व्यवहार है, परंतु उसे रोकने के कई शिष्ट मार्ग भी उपलब्ध हैं। और यदि कोई मार्ग न हो तो, भी निश्चित रूप से, यह दोष इतना बड़ा नहीं कि उसके लिए प्राणदंड दिया जाय। दूसरा प्रभाव कन्फ्यूशियस नामक सुप्रसिद्ध दार्शनिक का पड़ा जिसने सादे और तपश्चर्यामय कठोर जीवन का विधान किया। तीसरा प्रभाव बौद्ध धर्म का पड़ा जिसके फलस्वरूप इस कठोरता में कुछ मृदुता का प्रवेश हुआ। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार से पहले चीनी प्रजा किसी विशिष्ट धर्मभावना से बँधी हुई नहीं थी। प्राचीन दार्शनिकों ने धर्म के बजाय आचारशुचिता को ही अधिक महत्व दिया था। अत: धर्म और यौनभावना का संबंध चीन में अधिक दिखाई नहीं देता। केवल चीन के विभिन्न राजवंशों के नैतिक आचार विचार का प्रभाव प्रजा के ऊपर भी पड़ता रहता था। ये आचार बहुत उच्च कोटि के हों, ऐसा दिखाई नहीं देता। चीन का एक सम्राट अपनी रखैल को खुश करने के लिए शराब के हौज भरवाता था और सैकड़ों मनुष्यों को उनमें धकेल कर आनंद प्राप्त करता था। चीन के कवि मदिरा की प्रशंसा में स्तोत्रों की रचना करते थे। एक कवि के संबंध में कहा जाता है कि वह बाहर जाता था तो दो गुलाम उसके आगे पीछे चलते थे। उनमें से एक के हाथ में शराब की बोतल रहती थी ताकि कविराज के इच्छा करते ही जाम हाजिर हो सके, और दूसरा हाथ में कुदाल रखता था ताकि ये मदमस्त महाकवि यदि रास्ते में ही ढेर हो जाये, तो वहीं पर जमीन खोद कर उन्हें दफन किया जा सके! प्राचीन युग के चीन में एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ और अनेक उप पत्नियाँ हों, तो कोई बुराई नहीं मानी जाती थी। वेश्यागृहों को विशेष घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, और जापान की तरह, विवाह के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करने के लिए अच्छे घरों की युवतियाँ भी गणिकागृहों में जाकर रहती थीं। राजाओं, अमीर उमराओं और साहूकारों के ऐसे आनंद विलासमय जीवन प्रजा की दृष्टि में भी अनुकरणीय लगते हों, तो आश्चर्य नहीं।

यह सब होने पर भी धार्मिक पतितावृत्ति का प्रवेश चीन में नहीं हुआ। प्रजाजीवन का झुकाव साधारणत: संयम की ओर ही रहा। आम तौर पर यही सुना जाता है कि भोगविलास और ऐशो-इशरत की अतिशयता से अनेक संस्कृतियों का पतन हुआ। परंतु चीन में इससे ठीक उलटी प्रक्रिया हुई। वहाँ यह शिकायत सुनाई देती थी कि संयम की अतिशयता उस प्रदेश को विनाश के मार्ग पर ले जा रही है। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर बड़े-बड़े सेनापति सेना को छोड़कर श्रमण हो जाते थे। मंत्रियों और राजकुमारों के दल के दल दरबारों और महलों को छोड़कर मठों में प्रवेश करने लगे और व्यापारी अपना व्यवसाय छोड़कर रातदिन बुद्ध पूजा में लीन रहने लगे। ऐसी स्थिति में चीन के एक सम्राट ने एक बार ४४,६०० मठ-मंदिरों को सदा के लिए बंद करवा दिया और ३,६५,००० साधु-साध्वियों को निवृत्ति मार्ग से परावृत्त करके, विवाहित जीवन व्यतीत करने के लिए समाज में वापस धकेला। इन परिस्थितियों में धर्म के नाम पर अनाचार की संभावना बहुत अधिक रहती है। परंतु पश्चिम के ईसाई मठ-मंदिरों में चलने वाले अनाचार की तुलना में चीनी प्रजा की अमर्यादा शून्यवत् दिखाई देगी।

६
धर्म और प्रजनन

प्राचीन प्रजाओं के इतिहास में इससे अधिक गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं । केवल यूनानी और रोमन प्रजाओं की धर्म और यौनभावना के संबंधों का विचार शेष है । इन प्रजाओं में ये संबंध बहुत स्पष्ट रूप से विकसित हुए थे, अत : इनका विचार स्वतंत्र परिच्छेदों में किया जायगा । इन दोनों संस्कृतियों का प्रभाव वर्तमान पश्चिमी संस्कृति पर जिस हद तक पड़ा है, उसे देखते हुए भी इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक है ।

धर्म आज के युग में एक निंदित विषय बन चुका है । आज धर्म की गणना एक अंधविश्वासप्रेरक और प्रगतिरोधक संस्थाओं के रूप में की जाती है । आचार विचार की निरर्थक जटिलता को ही धर्म मान लेने से प्रगतिरोधक परिणामों की उत्पत्ति होती है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता । परंतु धर्म को यदि एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ, व्यक्ति के समष्टि के साथ या व्यक्ति के समाज के साथ के संबंधों को निश्चित रूप देने का एक सामाजिक प्रयास माना जाय, तो यही कहना होगा कि आज के युग में कम्यूनिजम को स्वीकार करके भी हम एक प्रकार की धर्म प्रणाली को ही स्वीकार करते हैं ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक धर्म ही वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार का केन्द्रबिंदु था । आज हम धर्म और व्यवहार को विभक्त करने का विचार कर सकते हैं । परंतु पचास, साठ या सौ वर्ष पहले, समाज के बहुत बड़े भाग के लिये यह विचार भी संभव नहीं था । उस युग तक धर्म पूरे जीवन को स्पर्श करने वाला व्यवहार था और धर्मनिरपेक्ष व्यवहार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी ।

आज भी पितृत्व, मातृत्व या प्रजनन से अधिक आश्चर्यजनक घटना और कोई नहीं । यह चमत्कार अब तक एक अनबूझी पहेली ही रहा है । समग्र जीवन का स्पर्श करने वाले धर्म की दृष्टि में से यह जननप्रवृत्ति ही बाहर रह जाय, यह असंभव है । प्रजनन को एक दिव्य तत्व मानने की प्रेरणा भी मनुष्यजाति में होना स्वाभाविक है । जीवन और प्रजनन रूपी कार्यकारण की परंपरा यौनभावना को देवताओं के साथ संकलित कर देती है । पुत्र परिवार की कामना करने वाली मनौतियों से हम आज भी अपरिचित नहीं हैं । यौन भावना जिन मनुष्येन्द्रियों द्वारा स्फुट होती है, उन इन्द्रियों और अंगों में भी देवत्व का आरोपण हो जाना स्वाभाविक है । इसी भावना से प्रजनन के अंगों की पूजा आरंभ होती है, उनकी मूर्तियों की स्थापना और मंदिरों की रचना होती है । शरीर के किसी भी अंग को अपवित्र मानने का कोई कारण नहीं । अंगों को पवित्र माना जाय, तो उनकी पूजा, पूजा करने वाले पुजारी और भक्तों का उद्‌भव होगा । पूजाविधि आरंभ होते ही देवता का प्रजाजीवन में माहात्म्य बढ़ानेवाले और उसके प्रति श्रद्धा प्रेरित करने वाले कर्मकांड की योजना भी होगी ही । साधारण मनुष्य की दृष्टि में कामदेव से अधिक शक्तिमान और कौनसा देवता हो सकता है ? उस पर किस की श्रद्धा नहीं होगी ? धर्म पर विश्वास न करने वाले भी इस देवता के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते । किसी भी देवता को प्रसन्न करने के प्रधान मार्ग तीन हैं :— (१) देवता का यजन पूजन करना । (२) देवता को बलि अर्पण करना; और (३) देवता के पुजारियों को प्रसन्न करना ।

वैयक्तिक या सामाजिक स्तर पर देवता को कौमार या सुहाग अर्पण करने की प्रथा में से जीवनभर की अविवाहित अवस्था का उद्‌भव होता है । ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियाँ समाज के आदर्श माने जाने लगते

हैं और एक कदम आगे बढ़ते ही, अंगविच्छेद का प्रचलन हो कर नपुंसकों के झुंड दिखाई देने लगने हैं। परंतु धर्म के प्रथम उफान का शमन होते ही यह जबरदस्ती से थोपा हुआ आजीवन ब्रह्मचर्य या कौमार देहसुख की कामना करने लगता है जिसमें से धार्मिक वेश्यावृत्ति जन्म लेती है। देवार्पण होने वाले युवक-युवतियाँ धर्म की आड़ में वेश्यावृत्ति का ही व्यापक प्रसार करते हैं। साथ ही कामदेव का आनंद स्वरूप उत्सवों, समारोहों, नृत्यों और गुप्त विधियों द्वारा पूरे समाज की नीतिभावना को शिथिल करता रहता है और विलासप्रियता को धर्म के आवरण से ढंकने के प्रयत्न होने लगते हैं। धार्मिक विलास की चरमसीमा पर पहुँचकर समाज फिर से एक बार संयम की ओर झुकता है और यौनवृत्ति एवं यौन भावना से संबंधित इंद्रियों के उल्लेख में भी लज्जा या अपवित्रता का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार यौनवृत्ति के सामाजिक घात-प्रत्याघात की तरंगें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। कुछ समय के लिए विलीन होकर, फिर से एक बार उठती हैं, और पूरे समाज को व्याप्त कर देती हैं।

धर्म के आरंभिक युग में किसी ने कल्पना भी नहीं की कि धर्म जैसा पवित्र भाव पतिताओं के उद्भव का कारण भी हो सकता है। परंतु हुआ यही। इसको अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। अकेले धर्म की निंदा करने का भी क्या प्रयोजन है? आज की राजनीति मुंह से प्रजास्वातंत्र लोकशासन, पीड़ितों का उत्कर्ष, आक्रमणों का उच्छेद आदि घोषणाएं करती हुई भयानक युद्धों का ही सृजन कर रही है। इतने भयानक असत्य की उत्पत्ति धर्म ने कभी नहीं की। युद्ध के जैसा पाप का ज्वालामुखी और कोई नहीं; फिर भी मनुष्य इस पापपुंज से खेले जा रहा है। युद्धकाल में घोषित होने वाले उद्देश्यों का उसने कभी पालन नहीं किया। आज के युग में युद्ध एक सामाजिक सत्य बन चुका है और उसका विरोध करने वाले को देशद्रोही घोषित करके फाँसी पर लटकाया जा सकता है। मानवता को रसातल में पहुंचा देने वाली स्वार्थी राजनीति यौन अनीति और वेश्यावृत्ति के कितने रूपों को जन्म देती है, इसका भी हमें संक्षेप में विचार करना है।

परंतु उससे पहले प्राचीन यूनान और रोम की प्रजाओं के यौन जीवन पर दृष्टिक्षेप कर लें। इससे प्राचीन युग का अध्ययन संपूर्ण हो जायगा।

आठवाँ परिच्छेद
यूनान में पतिता

१
प्राचीन यूनान का समाज

पश्चिम की कल्पना को प्राचीन यूनान ने अत्यधिक मोहित किया है, और पश्चिम का अनुकरण करने वाली हमारी कल्पना भी उसी मार्ग पर अग्रसर हो तो आश्चर्य नहीं । पश्चिम की वर्तमान संस्कृति के मूल प्राचीन यूनानी संस्कृति के अवशेषों मे छिपे हुए हैं । पश्चिम के दर्शन, रसज्ञता और कलाभावना अपना पूर्वेतिहास ढूंढते ढूंढते ईसा से बहुत पहले पूर्ण विकास के शिखर पर पहुँच चुकने वाली यूनानी संस्कृति तक पहुँच कर रुक जाते हैं । यूनानी प्रजा के इलियड और ओडेसी नामक महाकाव्यों एवं सॉफोक्लिस और एरिटोफेनस के नाटकों के ढाँचे पर ही शताब्दियों से पश्चिम के काव्यनाटकों की रचना होती रही है । यूनान के सॉक्रेटिस, प्लेटो और ॲरिस्टोटल के दर्शन अबतक पश्चिम के मन को प्रभावित कर रहे हैं । यूनानी शिल्पियों द्वारा निर्मित अपोलो और वीनस की प्रतिमाएँ अब तक पश्चिम की कला को अनुप्राणित करती हुई वहाँ के स्त्री-पुरुषों के लिए देह सौष्ठव का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करती रही हैं ।

यूनान की संस्कृति संसार की संस्कृतियों के मंडल में बहुत ऊँचे स्थान पर आसीन है । वर्तमान इतिहासकारों ने यूनान और भारत के राजकीय एवं कला-साहित्य-दर्शन आदि क्षेत्रों के संबंधों का बारीकी से अध्ययन किया है । सिकंदर महान नामक सुप्रसिद्ध यूनानी विजेता ने अपने देश से लगाकर भारत में पंजाब तक का प्रदेश जीत लिया था । इतिहास में इस कथा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और सिकंदर की विजय मानों आज की पश्चिमी संस्कृति की ही दिग्विजय हो यह प्रमाणित करने की और ईसा से तीन शताब्दी पूर्व से ही भारत पश्चिम के हाथों पिटता आया है ऐसा वातावरण उत्पन्न करने की कोशिश जी जान से की जाती है । भारत के किसी ग्रंथ में जिसका तिलमात्र भी स्मरण नहीं और भारतीयों ने जिसे सदा उपेक्षणीय माना है, ऐसा यह प्रसंग यदि ऐतिहासिक हो, तो भी उसका भारतीय दृष्टि से पुनर्परीक्षण होना चाहिये । फिर भी, इस संस्कृति के प्रति सद्भावना से न देखना वास्तववादी नहीं होगा । पिछले परिच्छेद में जिन प्राचीन संस्कृतियों का उल्लेख हुआ है, वह उनके एक विशिष्ट कक्षा के विकास के कारण ही हुआ है । इस दृष्टि से देखा जाय, तो यूनानी संस्कृति की विशिष्टता संसारमान्य हो चुकी है । अतः इस संस्कृति में पतिताओं का क्या स्थान था, यह जानना आवश्यक है ।

यूरोप के अग्निकोण में बसा हुआ यह छोटा सा प्रदेश पश्चिम एशिया एवं अफ्रीका के ईशान्य भाग मिस्र का निकट का पड़ोसी है । इन प्रदेशों के बीच घनिष्ठ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए हैं । यूनानी उपनिवेश एशिया माइनर और मिस्र तक फैले हुए थे । यूनानी संस्कृति की विशिष्टता उसकी नगर संस्कृति के कारण ही सुरक्षित रही थी । एथेन्स, स्पार्टा और कोरिंथ आदि नगरों ने उस युग में बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था । ईरानी शाहों के आक्रमण का मुकाबला करते समय यूनानी प्रजा की

राष्ट्रभावना चमक उठी थी । इस नगरनिवासी, वीर और संस्कृत प्रजा के समूहजीवन पर दृष्टिक्षेप करने से कुछ अतिमहत्वपूर्व तत्व प्राप्त होते हैं जिनकी सहायता से आज हमारी समझ में न आने वाली उस युग की अनेक अस्पष्ट पहेलियाँ सुलझ सकती हैं । स्वस्थ मध्यममार्ग और गीता में वर्णित समत्व यूनानी विचारकों के आदर्श दिखाई देते हैं । अतिशयता को एक महान दोष माना जाता था । सुख या दुख के आवेश में बहुत अधिक डूब जाना सबसे बड़ा दैवकोप माना जाता था । राज्यसंस्था व्यक्ति के समूचे जीवन का समावेश कर लेने वाली व्यापक भावना थी । व्यक्ति और व्यक्ति की सुविधाओं की रक्षा उसी हद तक हो सकती थी जहाँ तक वे राज्य द्वारा पोषित हों, राज्य को बलवान बनाती हों और राज्य के विरुद्ध संघर्ष उत्पन्न न करती हों । अत : पतिता संस्था भी राज्यनियंत्रित संस्था के रूप में ही जीवित थी । समाज के स्वास्थ्य की रक्षा हो, समाज का गृहजीवन विशुद्ध रह सके, यूनानी प्रजा में वर्णसंकरता का प्रवेश न हो, आदि हेतुओं से राज्य वेश्यावृत्ति का स्वागत करता था, इतना ही नहीं, वेश्यागृहों की स्थापना भी करता था ।

सोलन की गणना केवल यूनानी ही नहीं, बल्कि समूची पाश्चात्य संस्कृति में अत्यंत बुद्धिमान और चतुरशासक के रूप में की जाती है । उसके कानून अत्यंत व्यापक और प्रजा की अनेक वैयक्तिक बातों पर प्रतिबंध लगाने वाले थे । व्यभिचार विषयक उसके नियम बहुत कठोर थे, यद्यपि व्यभिचार की व्याख्या उसने यूनानी गृहिणिओं एवं युवतियों के साथ के अनैतिक संबंधों तक ही सीमित रखी थी । राज्य का व्यक्ति के ऊपर प्रभुत्व नितांत वैयक्तिक आचार तक किस प्रकार फैला हुआ था, इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । सोलन के नियमानुसार संतानोत्पत्ति के लिए अक्षम प्रमाणित होने वाले पुरुष की पत्नी को अपने पति के किसी भी संबंधी द्वारा संतानप्राप्ति करने का अधिकार था । इस प्रकार राज्यसत्ता जीवन के अति वैयक्तिक विभागों का भी नियंत्रण करती थी । प्लेटो का सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रिपब्लिक' प्रजातंत्र के विधायकों के लिए ही नहीं बल्कि समाजवाद साम्यवाद जैसी राज्यसत्ता को व्यक्ति स्वातंत्र्य से ऊँचा स्थान देनेवाली राजनैतिक विचारधाराओं का भी प्रेरणास्रोत रहा है । यूनान के नागरिक गणतंत्रों ने सदा प्रजातंत्रवादियों के तर्कों का समर्थन करने के ही उदाहरण उपस्थित किए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं ।

गृह, गृहिणी एवं भविष्य की प्रजा की विशुद्धि के आत्यंतिक आग्रह ने यूनानी पत्नियों की स्थिति बहुत विचित्र कर दी थी । हम देख चुके हैं कि प्रजा की विशुद्धि का एक ही उपाय है : प्रजा की पत्नियों पर संपूर्ण अंकुश । इसी नियम के अनुसार यूनानी नागरिकों के यौन संबंध विषयक यमनियम पुरुष के लिए अत्यंत उदार पर स्त्री के लिए — प्रजा की माता के लिए — उतने ही कठोर थे । पत्नी का एकमात्र कर्तव्य यही माना गया था कि वह घर की चारदीवारी में बंद रहे, घर संभाले और उत्तराधिकार के लिए औरस संतति उत्पन्न करती रहे ।

यूनानी कन्या का विवाह कम उम्र में हो जाता था । विवाहिता पत्नी की प्रतिष्ठा बहुत अधिक होती थी, परंतु यह प्रतिष्ठा अधिक घूमने फिरने से नष्ट हो जाने का भय था । अत : यूनानी पत्नी की स्थिति परदानशीन बेगमों के जैसी होती थी । उसे शिक्षा नहीं दी जाती थी, वह नाटक देखने नहीं जा सकती थी, राष्ट्रीय खेलकूद या सभा-संस्थाओं में भाग नहीं ले सकती थी ; जबकि नाटक, खेलकूद और सभाएँ यूनानी समाजजीवन के अत्यंत महत्वपूर्ण विभाग थे । शिक्षा, कला और संस्कृति के क्षेत्रों से बहिष्कृत की हुई पत्नियों की नैतिकता पर कड़ा पहरा रखना पड़ता था और व्यभिचार या बलात्कार करने वाले को प्राणदंड तक दिया जा सकता था ।

नैतिक जीवन में स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न आदर्शों की स्थापना होते ही पुरुषों की दृष्टि प्रतिष्ठित पत्नियों की ओर से हट कर अन्य स्थानों पर ललचाती रहे, यह स्वाभाविक है । पत्नी का

प्रतिष्ठित स्थान पाने वाली युवतियाँ और यूनानी कुमारिकाएँ अन्यों के लिए अदृश्य और अस्पृश्य रहें; उनके दर्शन या स्पर्श से सजा मिलने की संभावना हो, और उनसे यौन संबंध स्थापित करने में प्राणदंड का भय हो, तो पुरुष की रस भावना संतुष्ट होने के लिए अन्य मार्गों पर अग्रसर होगी ही। अशिक्षित, अरसिक और गृहकार्य से कभी फुरसत न पाने वाली पत्नी को घर में छोड़ कर यूनानी पुरुष एक ऐसे स्त्री समाज में घूमने लगा जिसने अपनी विद्या और कला के प्रभाव से गणिकासंस्था को सामाजिक जीवन में बहुत उच्च स्थान पर आसीन किया था। इस वर्ग की यूनानी स्त्रियाँ — सुशिक्षित और सुसंस्कृत गणिकाएँ — अत्यंत रोचक ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती हैं जिसका हम इस परिच्छेद में विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

यूनानी प्रजा का स्त्री जीवन इस प्रकार दो विभागों में बँट गया था। एक विभाग प्रजाजीवन की परंपरा बनाए रखने वाली प्रतिष्ठित पर अशिक्षित और असंस्कृत पत्नियों का, और दूसरा विभाग पुरुषों की रसभावना, कलासक्ति और कामवासना को पूर्णरूप से संतुष्ट करने वाली, कलावती, शिक्षित, पर यूनानी नागरिकता की अधिकारी संतति को जन्म देने में अक्षम गणिकाओं का।

सुकरात जैसा महान दर्शनिक घर छोड़कर खुलेआम वारांगनाओं के कोठों पर जाया करता था। सुकरात की पत्नी झेन्टीपी अत्यंत कर्कशा थी ऐसा उल्लेख इतिहास में मिलता है। परंतु कोई भी तेजस्विनी पत्नी अपने महान बुद्धिमान पति को सदा अपने से विमुख देखे, तो उसे झगड़े के सिवा और सूझेगा भी क्या? यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि वेश्यागमन को प्राचीन यूनान में गोपनीय, लज्जास्पद या निंदापात्र कुलक्षण नहीं माना जाता था। भले घर की यूनानी पत्नियों ने भी इस रिवाज के विरुद्ध शिकायत या विद्रोह किया हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।

यह परिस्थिति हमारी आज की नीतिभावना को बहुत विचित्र दिखाई देती है। परंतु प्राचीन यूनान में यौन संबंध या प्रजनन के अंगों को गोपनीय नहीं माना जाता था। इनके साथ पाप की भावना भी नहीं जुड़ी थी। देह के किसी भी अंग को ढँकने की अनिवार्य आवश्यकता उस युग में नहीं थी। आज का फौजदारी कानून वस्त्र विहीनता को अपराध मानता है। यूनानी प्रजा में यह भावना नहीं थी। उनके खेलकूदों में यह युद्ध कौशल्य के प्रदर्शनों में खिलाड़ी या योद्धा विवस्त्र होकर ही भाग लेते थे। अजायबघरों या चित्रसंग्रहालयों में दिखाई देने वाली यूनानी प्रतिमाएँ या चित्रों की प्रतिकृतियाँ प्राय: नग्न ही होती हैं। वर्तमान युग के अतिसभ्य नरनारी इन्हें ध्यान से देखते तो हैं, परंतु इस भावना के पीछे की कारणपरंपरा की चर्चा प्रकट में नहीं करते। कामवासना और विलासवृत्ति को स्वीकार कर लेने पर भी उसे छिपाने का कौशल्य, उसका प्रकट उल्लेख तक न करने का आडंबर, और उससे मानों हम भ्रष्ट हो जायेंगे यह दिखाने का ढोंग हमने बड़े प्रयास से सीखे हैं। जिस प्रकार उस युग की नैसर्गिकता और स्पष्टता हमारी समझ में नहीं आती उसी प्रकार हमारा पाखंड शायद उस युग के लोगों की समझ में न आता। प्राचीन युग में कामवासना का स्वीकार शरीर और मन के स्वाभाविक धर्म के रूप में होता था: हमारी तरह छिपाने योग्य चमत्कृति या गोपनीय अशिष्टता मान कर नहीं। गुप्तता से उत्पन्न होने वाली उग्रता और दूषित भावनाओं से ग्रसित हमारे समाज की रोगिष्ट मनोवृत्ति यूनान की प्रजा को अवश्य ढोंगी, अप्राकृतिक और सत्यरहित दिखाई दी होती।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन यूनान की यौनसंबंध विषयक नीतिभावना आज की मान्यता से नितांत भिन्न थी। तत्कालीन व्यवस्था का पोषण करने के लिए यूनानी नारीजीवन को गृहिणी और गणिका के अलग विभागों में विभक्त होना पड़ा था। प्रजा की संतति की विशुद्धि के लिए गृहिणी और प्रजा के विलासी मानस की तुष्टि के लिए गणिका, इन दोनों संस्थाओं का विकास एक साथ हुआ।



यह समकालिक विकास प्राचीन संस्कृति द्वारा स्वीकृत गुलामी की प्रथा के कारण सरलता से हो सका । शत्रुराज्यों या विजित प्रजाओं की युवतियों को युद्ध विजय के अवसर पर कैद करके, अपने देश में गुलाम बनाकर रखने की प्रथा उस युग में सामान्य एवं सवमान्य था । इन पकडी हुई स्त्रियां में सामान्य वर्ग की स्त्रियों के साथ-साथ शिक्षित नागरिक या धनी व्यापारी परिवारों की स्त्रियाँ भी हुआ करती थीं । उस युग में भी अमीरों को भाग छूटने की या छिप जाने की सुविधाएँ अधिक होती थी । धनी परिवारों की स्त्रियाँ, धन के बल पर, भारी रकम दंड के रूप में देकर भी गुलामी से मुक्त रह सकती थीं । अत : गुलाम स्त्रियों का बहुत बड़ा भाग गरीब या मध्यम वर्ग का ही होता था । फिर भी, उच्च वर्ग उससे सर्वथा अछूता नहीं बच जाता था । कई प्रजाओं में बालिकाओं को बेचने की प्रथा भी थी जो गुलामस्त्रियों की संख्यावृद्धि करने में ही सहायक होती थी । समुद्री डाकू भी अक्सर विदेशी युवतियों को पकड़ लाकर शहरों में बेच देते थे । इस प्रकार के अनेक स्रोतों से पूरित, गुलाम स्त्रियों के इस व्यापक वर्ग में से ही अधिकांश गणिकाएँ उपलब्ध होती थीं ।

यूनानी संस्कृति गुलामी की प्रथा पर किस हद तक आधारित थी इसका अंदाज ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व हुई एथेन्स नगर की जनगणना से लगाया जा सकता है । इस गणना के अनुसार एथेन्स में स्वतंत्र नागरिकों की संख्या थी इक्कीस हजार, विदेशियों की संख्या थी दस हजार और गुलामों की संख्या थी चार लाख ! इन चार लाख गुलामों में से यूनानी नागरिकों को चाहे जितनी गणिकाएँ मिल सकती थीं । गणिकागमन यूनानी परिवारों की विशुद्धि बनाये रखने वाली प्रथा है, ऐसी मान्यता का स्वीकार होते ही इस संस्था को प्रोत्साहन भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता था । मंदिरों में देवी देवताओं की पूजा का कार्य भी गुलाम पुजारिनों के सुपुर्द था । अत : धर्म में गणिकाओं का प्रवेश भी सुगम हो गया ।

यूनान के समाज जीवन की इस पार्श्वभूमि पर मनुष्यजाति ने एक ऐसी गणिकासंस्था का सृजन किया, जो अपने बुद्धि विकास और कला वैभव से आज भी हमें चकित कर देती है । परंतु जब हम यूनानी प्रजा जीवन की मध्यम मार्ग प्रियता एवं समत्वबुद्धि को देखते हैं राज्य की सत्ता में व्यक्ति की इकाई को घुल जाते देखते हैं, प्रजा की शुद्धि को निमित्त वहाँ के नारी जीवन को गृहिणी और गणिका के विभागों में बँटता हुआ देखते हैं और गणिकाओं की पूर्ति के लिए दासप्रथा का स्वीकार होता हुआ देखते हैं तो यौन वासना की तृप्ति के लिए विचार पूर्वक निर्मित किये गये वेश्यालयों या मंदिरों को देखकर अधिक विस्मित होने की संभावना नहीं रहती ।

यूनानी प्रजा का यौन संबंधों के प्रति स्वस्थ्य दृष्टिकोण और शरीर को सदा दबाढँका रखने के शिष्टता-प्रेरित रिवाज का विरोध गणिकाजीवन में निहित लज्जा को कुछ कम कर देते हों, यह स्वाभाविक है । प्रतिष्ठित गृहणियों की शक्ति घर संभालने में ही खर्च हो जाने से कला और संस्कृति की उपासना, गणिकाओं के लिए और भी सरल हो जाती थी । गणिकाएँ पुरुषों के साथ खुलेआम घूम फिर सकती थीं ; नाटकों या खेल कूद के मैदानों में उपस्थित रह सकती थीं ; दर्शन और ज्ञानविज्ञान की चर्चा में भाग ले सकती थीं और लोकनेताओं की मैत्री से लाभ उठा कर समाजनीति, राजनीति और युद्धनीति पर अपना प्रभाव डाल सकती थीं ।

परंतु पत्नी को सदा परदे के पीछे सुरक्षित रखा जाता था । आदर्श पत्नी उसे माना जाता था जिसका भले या बुरे किसी प्रसंग पर उल्लेख न करना पड़े । केवल कुछ धर्मकार्यों में पत्नी का सहयोग आवश्यक माना जाता था ; और यूनान की नागरिकता का अधिकार केवल विवाहिता पत्नी से जन्म लेने वाली संतान को ही मिल सकता था । परंतु इसके खिलाफ, गणिकाओं को स्वतंत्रता से घूमने फिरने की साधना करने की सुविधाएँ प्राप्त थीं । अत : यूनानी जीवन में अग्रस्थान रखने वाले धनिकों, विद्वानों, कलाकारों और

दार्शनिकों की मैत्री गणिका को ही प्राप्त होती थी । समाज जीवन के साथ का व्यापक संपर्क और सौन्दर्य, रसिकता एवं कलाप्रियता जैसे गुण गणिका को पत्नी से कहीं अधिक आकर्षक बना देते थे ।

२
यूनान में गणिकाओं के वर्ग

ईको, लाइकर्गस और सोलन यूनान के अतिप्राचीन शासक थे । सोलन के नीतिनियम बहुत कठोर होने पर भी उसके कानून में राज्यसत्ता द्वारा वेश्यागृहों की स्थापना और उनके नियत्रंण की व्यवस्था थी । वेश्यावृत्ति पर कर लगाया गया था और वेश्यागृहों की पूरी आय सरकारी खजाने में जमा होती थी । इसी आय में से सोलन के समय में प्रेम की देवी वीनस के एक भव्य मंदिर का निर्माण किया गया था । इस मंदिर के साथ जुड़ा हुआ एक वेश्यागृह भी था जिसमें गुलाम के रूप में पकड़ी हुई स्त्रियों को रखा जाता था । इन्हें भोजन-वस्त्र के सिवा और कुछ नहीं मिलता था । इन वेश्याओं के दर सरकार द्वारा नियत किए जाते थे और इनकी पूरी आमदनी राज्यकोष में जमा होती थी ।

ईरान के साथ के युद्ध के बाद वेश्याओं के गण..संघ या मंडलों पर व्यक्ति के अपराध की जवाबदेही डालने का रिवाज भी प्रचलित हुआ था । ऐसे ऐसे दंडपात्र अभियोग उन पर लगाये जाते थे कि वे त्रस्त हो जाती थीं । अपराध करने के लिये पुरुष को उकसाना, अविचारी युवकों को कुमार्ग पर प्रेरित करना, राजद्रोह करना, अपवित्रता का प्रसार करना आदि अभियोग गणिकाओं पर लगाये जाते थे और उन पर मुकदमें चलाये जाते थे । मुकदमें की धमकी मात्र से गणिकाएँ इतनी घबरा जाती थीं कि छैलाओं को कम दामों में मौज करना सरल हो गया ।

युथिआस नामक एक चुगलखोर ने फ्राइन नामक गणिका पर इसी प्रकार के बेबुनियाद अभियोग लगाये । पूरे एथेन्स की इस प्रिय वारांगना पर अदालत में पेश होने का कठिन प्रसंग आया । बेकिस नामक उसकी सखी ने हाइपराइडस नामक सुप्रसिद्ध वक्ता को फ्राइन का बचाव करने को प्रेरित किया । इस कुशल वक्ता ने न्यायाधीश के समक्ष बहुत सी दलीलें कीं परंतु किसी भी तर्क का इच्छित प्रभाव नहीं पड़ा । अंत में फ्राइन के उरोजों पर से उत्तरीय हटाते हुए हाइपराइडस ने अदालत के न्यायाधीशों से अंतिम, हृदय द्रावक प्रश्न किया, "क्या ऐसा सौंदर्य धारण करने वाली युवती कभी कोई अपराध कर सकती है ?" यह तर्क कामयाब रहा और तब से गणिकाओं पर होने वाला व्यर्थ का अत्याचार कम हो गया । इसके बाद ही, गणिकाओं को मिलने वाले धन पर उन्हीं का अधिकार रहे, ऐसा कानून भी स्वीकृत हुआ । ये फ्राइन इतनी धनवान थी कि सिकंदर ने जब थीब्स शहर का नाश कर दिया, तब अपने धन से, वैसा ही नगर फिर से बसा देने की जिम्मेदारी फ्राइन ने अपने ऊपर ले ली थी । यूनान के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों के साथ फ्राइन की मैत्री थी । चित्रकार एपेलिस और मूर्तिकार प्रॅक्झाइटिलिस को उसने अपना विवस्त्र देह सौंदर्य देखने की और उसके अनुसार चित्रों और मूर्तियों का निर्माण करने की अनुमति दी थी । नेप्च्यून और वीनस (वरुण और रति) के उत्सव प्रसंग पर समुद्र की लहरों में उतरकर अप्सरा के रूप में भीगे शरीर और बिखरे बालों का नग्न सौंदर्य बिखेरती हुई वह कुछ ऐसीमोहक अदा से मंदिर में प्रवेश करती थी कि लोग उसे सचमुच की अप्सरा मानकर जयनाद से उसका स्वागत करते थे । डेल्फी के लोगों ने तो फ्राइन की स्वर्ण प्रतिमा की स्थापना भी की थी ।







एथेन्स नगर को यूनानी संस्कृति का हृदय कहा जा सकता है । उसके परम भव्य युग में वेश्याओं का चार विभागों में वर्गीकरण किया जाता था :—

१. हिटेरी:— उच्चा श्रेणी की कलावती वारांगनाएँ ।

२. ऑलिक्ट्राइड्स:— नर्तकियाँ, गायिकाएँ और बंसरी बालाएँ (बंसी बजाने वाली युवतियाँ) ।

३. डिक्टेराइड्स:— वेश्यागृहों में एकत्र रहने वाली सामान्य पण्यांगनाएँ । उनके रहने के आवास को 'डिक्टेरिया' कहा जाता था । उस पर से यह नाम पड़ा ।

४. रखैल:— घरेलू काम करने वाली गुलाम दासियों के साथ धनिक पुरुष अपनी पत्नियों की रजामंदी से यौन संबंध रखते थे । दरअसल यह वर्ग गणिकाओं के अंतर्गत नहीं आता ।

इस चौथे वर्ग को छोड़कर बाकी के तीन वर्गों का विचार करें तो सबसे पहली और आश्चर्य की बात यह दिखाई देगी कि इन वर्गों का भारतीय वर्गीकरण से अत्यधिक साम्य है । उच्च कक्षा की वारांगनाएँ और नर्तकी-गायिकाओं के संबंध में यूनान की व्यवस्था भारतीय प्रथा से बिलकुल मिलती जुलती दिखाई देती है ।

डिक्टेराइड्स सबसे निम्न कोटि की वेश्याएँ थीं । राज्य द्वारा निश्चित गणिकागृह का वार्षिक कर चुका सकने वाला कोई भी साहसी नागरिक डिक्टेरिया (गणिकागृह) की स्थापना करके और उसमें गुलाम स्त्रियों की भरती करके यह अतिप्राचीन व्यवसाय चला सकता था । इन आवासों के लिए शहर में स्थान नहीं मिल सकता था । अत : इनकी स्थापना शहर से बाहर, बंदरगाह के इलाके की ओर की जाती थी । इन वेश्यागृहों पर नगरपालिकाओं की कड़ी निगरानी रहती थी । और समय समय पर उनकी जाँच भी की जाती थी । इन आवासों में रहने वाली स्त्री की मरजी हो या न हो, कानून की पाबंदी से उसे देहोपभोग के लिए सदा प्रस्तुत रहना पड़ता था । ये मकान रातदिन खुले रहते थे । दरवाजों पर परदे लगे रहते थे । अच्छी श्रेणी के आवासों के बाहर दो एक कुत्ते भी जंजीरों से बँधे रहते थे । परदे के बाहर एक चुड़ैल सी सूरत वाली बुढ़िया बैठी रहती थी, जो निश्चित रकम पेशगी वसूल करके ही आंगतुकों को परदे के पीछे जाने देती थी । प्रवेश शुल्क नितांत नगण्य हुआ करता था, पर पसंद की हुई युवती को, इसके उपरांत कुछ रकम वैयक्तिक भेंट के रूप में देनी पड़ती थी । परदे के पीछे प्रवेश करते ही, अंदर बैठी हुई युवतियों का समूह दिखाई देता था । कोई खड़ी हुई, कोई आराम से लेटी हुई, कोई गपशप करती हुई और कोई बाल सँवारती हुई दिखाई देती थी । वस्त्र यदि पहने हुए हों, तो नाममात्र को, और वे भी अत्यंत महीन और पारदर्शक ।

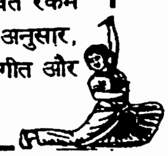
बंदरगाह के आसपास के मकानों की एक ओर शहर का किला हुआ करता था । शहर की सुरक्षा के लिए किलेबंदी करना प्राचीन नगररचना का महत्वपूर्ण अंग था । किले के बाहर वाले मैदान में अन्य व्यवसायों के साथ मधुशालाएँ और द्यूतगृह भी चलते रहते थे । इस चौगान में भी संध्या के समय डिक्टेराइट वर्ग की गणिकाओं के झुंड आया करते थे । ये पतिताएँ खुल्लमखुल्ला आवाहन करके या लजाने का अभिनय करके तमाशबीनों को आकर्षित करने की कोशिश करती थी । पुरुष को ललचाने में असफल होने वाली गणिकाएँ सटक जाने वाले पुरुषों की गंदी गालियों से खबर लेती थीं । उनके जाल में फँस जाने वाले पुरुषों के लिए प्रेम की देवी वीनस का मंदिर, किले की भूलभुलैयाँ वाली दीवारें या अधिकृत गणिकागृह जैसे सुविधायुक्त स्थान पास में ही मौजूद रहते थे ।

गणिकागृह राज्यरक्षित मकान माने जाते थे । पत्नी को ढूंढने वाले पति, पति को ढूंढती हुई पत्नी और कर्जदार को ढूंढने वाले महाजन को इन मकानों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता था ! वेश्यागृह से बाहर जाते समय इन गणिकाओं को एक प्रकार का चोगा पहनना पड़ता था जो अत्यंत झीने कपड़े का होता था । ये फूलमालाएँ भी धारण करती थीं और बालों को हल्के बसंती रंग से अवश्य रंगती थीं । इस विशिष्ट वेशभूषा के कारण उन्हें पहचानना सरल हो जाता था । यौवन को पार कर चुकने वाली कुछ प्रौढ़ाएँ भी बालों को रंगकर, मुख पर लेप और आँखों में अंजन लगाकर कमसिन दिखाई देने का प्रयत्न करती थीं और युवती वेश्याओं के साथ निभ जाती थीं । इस वर्ग की गणिकाओं का गणिकागृह छोड़कर या देश छोड़कर भाग जाना अपराध माना जाता था ।

राज्यस्थापित गणिकागृहों में न रहते हुए देह विक्रय से धनोपार्जन करने वाली स्त्रियों का एक वर्ग भी था । एथेन्स जैसे बड़े शहरों की बहकाई हुई या त्यागी हुई नागरिक स्त्रियाँ, मधुशालाओं और भोजनालयों में काम करने वाली सेविकाओं और विगतरूप यौवना वारांगनाएँ बंदरगाह के आसपास, या किले के मैदान में और कभी-कभी शहर की गलियों में भी भटकती रहती थीं । इस वर्ग की किसी प्राचीन वारांगना की एक चप्पल प्राप्त हुई है । चप्पल के तले पर जो शब्द खुदे हुए हैं उनका भावार्थ है, ''मेरे पीछे पीछे चले आइये ।'' ये चप्पल पहनने वाली युवती जब चलती होगी, तब उसके पदचिह्नों के साथ यह निमंत्रण भी जमीन पर छप जाता होगा ! इस सूचना को पढ़ने वाला पुरुष तुरंत इस युवती के पेशे को पहचान लेता होगा और उसके पीछे पीछे जाकर उसके निवासस्थान का पता लगा लेता होगा । अपने पेशे का विज्ञापन करने की यह योजना नितांत अभिनव और व्यवहारिक दिखाई देती है ।

ऑलेक्ट्राइड्स या नर्तकी-गायिकाओं का वर्ग उपरोक्त गणिकाओं से उच्च श्रेणी का माना जाता था । वेशभूषा, बोलीभाषा और रहन-सहन में वे सामान्य गणिकाओं से बिलकुल भिन्न दिखाई देती थीं । हमारी मान्यता के अनुसार बाँसुरी या शहनाई पुरुषों के वाद्य माने जाते हैं । यूनान के 'पेन' नामक देवता ने बाँसुरी का आविष्कार किया, ऐसी मान्यता प्रचलित होने पर भी, बहुत प्राचीन काल से वहाँ की स्त्रियों ने ही इस वाद्य में निपुणता प्राप्त की थी । एथेन्स जैसे बड़े शहरों में तो भोजन समारंभों के अवसर पर यदि नर्तकियों के साथ ये बंसरी बालाएँ उपस्थित न हों, तो समारंभ की प्रतिष्ठा में कमी रह जाती थी । कुछ देवताओं के समक्ष बाँसुरी बजाने की धार्मिक महिमा भी बहुत अधिक थी । वंशीवादन के साथ नृत्य की योजना भी होती थी । समारंभों के दरमियान और बाद में भी ये नृत्य-संगीत चलते रहते थे ; और गायिकाओं और नर्तकियों की मदभरी उपस्थिति मेहमानों को अनेक प्रकार से सुख पहुँचाती रहती थी ।

समारंभो में मेहमानों का नृत्य-संगीत से मनोरंजन करने के लिए इन सुंदरियों को निश्चित रकम की बिदाई देकर बुलाया जाता था । परंतु जमी हुई महफिलों में, संगीत की प्रभावकता के अनुसार, अंगूठियाँ, जड़ाऊ आभूषण और स्वर्ण-मुद्राएँ भी भेंट स्वरूप दी जाती थीं । ये महफिलें नृत्य-संगीत और



उनकी कद्रदानी पर ही समाप्त नहीं हो जाती थीं । आरंभ के गंभीर संगीत और नृत्य, समारंभ समाप्त होते होते उत्तान रूप धारण कर लेते थे और देखते देखते ये नृत्यगीत अश्लील हावभावों में फिसल कर, पूरी महफिल को खुला वेश्यालय बना देते थे । नृत्य-संगीत से बहुत आगे बढ़ने वाली इन सेवाओं की कीमत अलग से चुकाई जाती थी । कभी-कभी यह कीमत बहुत अधिक बढ़ जाती थी, क्योंकि नृत्यमंडली के सूत्रधार, उपस्थित मेहमानों पर संगीत, भोजन और मद्य का पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न होता देखते ही, मौका साधकर नर्तकियों का नीलाम बोलना शुरू कर देते थे । उस युग की इस प्रथा का निरूपण करने वाले एक प्रसंग का वर्णन इस भावना का अधिक स्पष्टीकरण कर सकेगा ।

किसी समारंभ में यूनान के एक सुप्रसिद्ध और वयोवृद्ध दार्शनिक निमंत्रित थे । महफिल में बंसरीबालाओं की उपस्थिति तो अनिवार्य थी ही । उनमें की एक सुंदरी वृद्ध तत्वज्ञ के पाँवों के पास बैठ गई । परंतु तत्वज्ञ ने उसकी ओर ध्यान देने के बदले नीति का एक हृदयस्पर्शी प्रवचन किया । सुंदरी को इससे अपना अपमान महसूस हुआ । उसने तुरंत गीत और नृत्य की ऐसी अदाएँ दिखाई कि उपस्थित मेहमानों के हृदय मोहविह्वल हो उठे । अंत में इस सुंदरी के सहवास का नीलाम बोला गया और नीति का उपदेश देने वाले वृद्ध तत्वज्ञ ने ही नीलाम में पहली बोली लगाई । इतना ही नहीं, सबसे ऊँची बोली बोल कर उस नर्तकी का सहवास प्राप्त करने वाले पुरुष के साथ इस धवलकेशी दार्शनिक ने द्वंद्वयुद्ध भी किया । अपना सहवास प्राप्त करने के लिए पुरुषों में कितनी मारपीट हुई, इसका उल्लेख ये नर्तकियाँ बड़े गर्व से करती थीं ।

आरंभ में भी बंसनगर की ये कलावती गणिकाएँ सुविख्यात थीं । परंतु धीरे धीरे समुद्रपार से एशिया की सुंदरियों ने आकर बंसरीवादन में प्रवीणता प्राप्त की और इस व्यवसाय को पूर्ण रूप से हस्तगत कर लिया । एशिया की ये सुंदर रमणियाँ रूप में बढ़ीचढ़ी थीं, अत : व्यवसाय में उन्हें ही अधिक प्रोत्साहन मिलता था । पश्चिम के देशों की दूकानों में विक्रय का काम प्राय : स्त्रियाँ ही करती हैं । इस योजना के पीछे आर्थिक लाभ के लिए रूप का उपयोग करने की मनोवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है । विक्रेता पुरुष से ना कही जा सकती है, परंतु सुंदर स्त्री से ना कहना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर होता है, यह एक सर्वानुभवजन्य सत्य है ।

डेल्फी के भविष्य कथन करने वाले मंदिर को ये नर्तकियाँ उत्तमोत्तम भेंट अर्पण करती थीं । एलेक्झाँड्रिया यूनानी संस्कृति का तादृश दर्शन करानेवाला मिस्रदेश का शहर था । उसके सर्वोत्तम मकानों पर इन भेंट देने वाली नर्तकियों के नाम ही लिखे हुए दिखाई देते थे । इस पर से उनकी समृद्धि का कुछ अंदाज लगाया जा सकता है । साथ ही, यह भी याद रखना चाहिये कि वास्तव में ये वारांगनाएँ किसी व्यापारी द्वारा गुलाम के रूप में खरीदी हुई विदेशी अबलाएँ थीं । देवी वीनस के मंदिर में ये बंसरीबालाएँ एक उत्सव की योजना करती थीं जिसमें पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध था । यह उत्सव पूरी रात तक चलता रहता था । इसमें स्त्री-सौंदर्य की प्रतियोगिता होती थी और अनेक प्रकार के उच्छृंखल खेल खेले जाते थे । स्त्रियों के समलिंगी प्रेमाचार के अनेक प्रसंग इसी में से जन्म लेते थे । सॅफो नामक यूनानी कवयित्री इन आयोजनों के लिए अत्यंत प्रसिद्ध थी ।

गणिकावृत्ति करके धन कमाने वाली ये बंसरीबालाएँ अद्भुत प्रेमिकाएँ होती थीं । कुछ तो अपने प्रेमी पुरुष पर अपनी पूरी संपत्ति न्योछावर कर देती थीं, यद्यपि इनके विवाह कदाचित ही हो पाते थे । लामिया नामक सुप्रसिद्ध वंशीवादिनी पंद्रहबीस वर्ष तक एलेक्झाँड्रिया के समस्त पुरुष वर्ग को आकर्षित करती रही थी । वहाँ का राजा टॉलेमी भी लामिया के प्रेम का आकांक्षी था । मॅसीडॉन के सम्राट डिमिट्रियस ने जब एलेक्झाँड्रिया पर विजय प्राप्त की तब लामिया पर भी उसका अधिकार हो गया । उसने लामिया को

उपपत्नी के रूप में रखा । उस समय लामिया चालीस वर्ष की थी । परंतु इस उम्र में भी उसके रूप में वशीकरण की शक्ति थी और उसकी बुद्धिप्रतिभा तो इतने उच्च प्रकार की थी कि उसने अनेक वर्षों तक अपने इस शासक-प्रियतम पर और साथ-साथ उस समय के यूनान पर निरंकुश सत्ता चलाई । डिमिट्रियस ने एथेन्स नगर पर भारी कर लगाया और उसकी सारी आय लामिया को साबुन खर्च के उपलक्ष में भेंट कर दी । जब लामिया के तेल-साबुन का यह हाल, तो खुद लामिया का मूल्य कितना होगा ! 'लामिया' शब्द का यूनानी भाषा में अर्थ होता है, ''रक्तशोषक'' । अत : एथेन्स के लोगों ने लामिया का मजाक बना लिया कि खून चूसनेवाली इस स्त्री को शरीरशुद्धि के लिए इतने साबुन की आवश्यकता तो होगी ही ! परंतु इन्हीं एथेन्स वासियों ने, कुछ समय बाद लामिया के नामपर वीनस-लामिया के मंदिर का निर्माण किया और इस वंशीवादिनी नर्तकी की देवी के रूप में पूजा की ।

इस प्रकार इन पतिताओं के जीवन का अध्ययन यूनान के समग्र प्रजाजीवन पर प्रकाश डालता है । प्राचीन युग में, धर्म और कानून, दोनों ने गणिकाओं का समाज के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार कर लिया था । एक लेखक की फरमाइश है कि हम वर्तमान युग में उस परिस्थिति की कल्पना करें । कल्पना करने में क्या बुराई है ? परंतु कुछ परिणाम इस प्रकार होंगे :—

१. सरकारी खर्च से छोटे मोटे वेश्यालयों की स्थापना । इसका अर्थ हुआ सरकार द्वारा आयोजित और उत्तेजित गणिकासंस्था ।

२. इन वेश्यागृहों में अपराध की जाँच पड़ताल के लिए शंकाशील पति या पत्नी प्रवेश नहीं कर सकते । पुलिस का प्रवेश तो नितांत असंभव ।

३. महफिलों में नर्तकी-गायिकाएँ किराये पर बुलाई जायें, और उनके सहवास के लिए नीलाम की बोली लगे ।

४. बड़े बड़े तत्वज्ञ और राजनीति के नेता इन महफिलों में खुलेआम सम्मिलित हों ।

५. धर्मगुरुओं का इस कार्य को आशीर्वाद प्राप्त हो ।

६. समाज में इसकी कोई चर्चा न हो, इसे अनुचित न माना जाय, और इसके कारण कोई हलचल न मचे ।

आज यह सब अत्यंत विचित्र और अटपटा लगता है । परंतु यह ठोस सत्य है कि एक महान प्रजा के चरम वैभव के भव्य युग में यही सब होता था । क्या हमारी आपकी अपेक्षा वह युग कम नीतिमान था ? सवाल लाजवाब है ? कोई युग अपनी नीतिमत्ता का घमंड नहीं कर सकता । नीतिमत्ता का पाखंडपूर्ण अभिमान अनीति से भी कई गुना अधिक दूषित होता है ।

३

हितेरी और यूनान का बुद्धिसौंदर्य

इन बंसरीवालाओं से भी अधिक महत्व और उच्च स्थान हितेरी वारांगनाओं का था । केवल व्यवसाय की दृष्टि से देखा जाय, तो इस वर्ग को भी गणिका ही कहना होगा क्यों कि धन कमाने के लिए देह विक्रय करना ही उनका प्रधान कार्य था । परंतु यूनानी समाज जीवन में इन गणिकाओं का महत्व इतना अधिक और व्यापक था कि यूनानी पत्नियाँ तो उनके सामने बिलकुल निष्प्रभ दिखाई देकर जीवन की दौड़ में पिछड़ जाती थीं । यह भी संभव है कि इन कलावती वारांगनाओं के वैभव, नैपुण्य और स्वातंत्र्य को देखकर पतिव्रता यूनानी स्त्रियों को ईर्ष्या होती हो । यूनान के इतिहास में इन गणिकाओं ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और अनेक राजनैतिक परिवर्तन उन्हीं के कारण हुए थे ।

यूनानी धर्म भावना में वीनस को अग्रस्थान प्राप्त था । कुछ विद्वानों का मत है कि प्रेम की भावना का देवत्व में उन्नयन और उस देवत्व में स्त्री देह का आरोपण, पूर्व के देशों की देन है जो बाद में यूनान तक पहुँची । यूनानी प्रजा की, इस देवी के पूजन पर अत्यधिक श्रद्धा थी । सोलन के समय में गणिकागृहों के सामने ही देवी वीनस के मंदिर का निर्माण हुआ था । इस मंदिर की देवी ''सार्वजनिक वीनस'' के नाम से प्रसिद्ध थी । मंदिर में दो प्रतिमाएँ थीं । एक वीनस की और दूसरी 'पीथो' नामक अप्सरा की । 'पीथो' प्रलोभन, आग्रह या लालच की देवी मानी जाती थी । प्रेम की देवी वीनस और आग्रह की देवी पीथो का सहकार बहुत सूचक है । हर मास के चौथे दिन इस मंदिर में मेला लगता था जिसमें एथेन्स निवासी समस्त स्त्री-पुरुषों को निमंत्रित किया जाता था । कुछ ही समय में ''सार्वजनिक वीनस'' के समान मंदिरों की स्थापना अनेक स्थानों पर हुई और वीनस की सार्वजनीनता अनेक सूचक उपनामों द्वारा व्यक्त होने लगी । एक मंदिर ''वारांगनाओं की वीनस'' के नाम से प्रसिद्ध था । दूसरा ''गणिकाग्रहों की इष्ट देवी वीनस'' के नाम से परिचित था; तीसरे को ''अश्लील वीनस'' के नाम से पहचाना जाता था और चौथे का संबोधन ''भटकने वाली वीनस'' या ''अंधकार की अधिष्ठात्री वीनस'' के रूप में होता था । इन मंदिरों में देवी की प्रतिमा की स्थापना की जाती थी, भोग नैवेद्य अर्पण किए जाते थे और पूजा के धर्म कार्य के लिए पुजारिन नियुक्त की जाती थीं । इन पुजारिनों द्वारा मंदिर में की जाने वाली पूजा का प्रकार रति देवी के नाम के अनुसार हो, तो आश्चर्य किस बात का ?

कलाकारों द्वारा मूर्तियों के निर्माण प्राय : इन गणिकाओं के देह सौंदर्य के आधार पर ही होता था । चित्र बनाने के लिए या मूर्ति गढने के लिए कलाकार को नमूने के रूप में जीवित प्रतिमाएँ चाहिये । ये नमूने एथेन्स की परदानशीन सन्नारियों या प्रतिष्ठित गृहिणियों में से तो मिल नहीं सकते थे । गणिकावर्ग में से ही इनके मिलने की संभावना थी । वीनस रूप की देवी मानी जाती थी । विविध स्थानों से प्राप्त वीनस की मूर्तियाँ या उनके खंडावशेष आज भी स्त्रीदेहसौष्ठव के आदर्श नमूने माने जाते हैं । इन प्रतिमाओं का निर्माण यूनानी गणिकाओं के शरीरसौष्ठव के आधार पर ही होता था इसके चाहें जितने प्रमाण उपलब्ध हैं । ये मूर्तियाँ प्राय : नग्न या नाममात्र का वस्त्रपरिधान किए हुए होती हैं । संग्रहालयों में, उद्यानों में या प्रासादों में यूनानी ढंग की मूर्तियाँ देखते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है । इन प्रतिमाओं को पहली बार निहारने वाले आज के सभ्य स्त्री-पुरुष मूर्ति का विवस्त्र सौंदर्य देखकर एक बार तो चौंक उठते हैं ।

इस उन्मुक्त वातावरण में यूनानी गृहिणियों और कुमारिकाओं को विशुद्धि एकांतसेवन और आत्मबलिदान आदि गुणों का विकास करना पड़ता था ! पुरुष पर ऐसी कोई जिम्मेदारी नहीं थी । परिणाम

यह हुआ कि एथेन्स का पुरुष और कोई चारा न रहने पर ही घर की ओर मुड़ता था । पत्नी उसकी नजर में घर की अन्य वस्तुओं के समान एक सामान्य और नगण्य चीज थी । घर से विमुख होकर वह जीवन के आकर्षण गणिकाओं की संगति में ढूंढता था । यहाँ उसे निराश नहीं होना पड़ता था, क्योंकि गणिकाओं का साम्राज्य नारीदेह के रूपयौवन में ही सीमित नहीं हो जाता था बल्कि बुद्धि और कला के क्षेत्रों में भी फैला हुआ था । यूनान के पूरे स्त्री समुदाय में संगीत का ज्ञान केवल वारांगनाओं को था । स्त्रियों में केवल गणिकाएँ ही नाटक देख सकती थी, चित्रकारों-मूर्तिकारों के कार्यालयों में जा सकती थीं, दार्शनिकों के साथ चर्चा कर सकती थीं और राजकीय नेताओं के साथ मित्रता जोड़कर देश की राजनीति को इच्छित मोड़ दे सकती थीं । उनकी विशिष्टता उनके बुद्धिवैभव के कारण ही थी जो अनेक बार राज्य और प्रजा के लिए उपयोगी सिद्ध होता था ।

समलिंगी आकर्षण की प्रथा भी यूनान में इसी समय सर्वमान्य हुई । सुकरात को प्राणदंड दिए जाने के कारणों में एथेन्स के युवकों को नीतिभ्रष्ट करने का अभियोग एक प्रधान कारण था । सर्वमान्य बन जाने वाली इस प्रथा के अनिष्ट के मुकाबले में समाज ने सौंदर्य, कला और बुद्धि संपन्न रमणियों के सरलता से प्राप्त हो सकने वाले सहचार की आकर्षक मोरचेबंदी खड़ी की । सामाजिक मानस ने दो अनिष्टों में से कनिष्ठ को पसंद करके अपनी समझदारी और बुद्धिमानी का परिचय दिया ।

४

यूनान की कुछ अमर गणिकाएँ

कुछ सुप्रसिद्ध यूनानी गणिकाओं की जीवन रेखाएँ संक्षेप में देख लेने से यह स्पष्ट हो जायगा कि यूनान के प्रजाजीवन में उनका क्या स्थान था और किन कारणों से था ।

हर्मोडियस की उपपत्नी के रूप में प्रसिद्ध लीना नामक वारांगना ने, किसी राजनीतिक षडयंत्र से संबद्ध अपने कुछ मित्रों के नाम कहीं अपने मुख से निकल न जायें, इस डर से अपनी जबान चबाकर काट डाली थी । शिथिल, उत्तरदायित्वहीन और आनदमय जीवन व्यतीत करने वाली एक गणिका के लिए यह कृत्य कम साहसपूर्ण नहीं माना जायगा । रूस की क्रांतिवादी युवतियों या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जासूसी करने वाली सुंदरियों के आत्मबलिदान की यहाँ याद आ जाती है । भारत के सच्चे देश नेताओं को देश विदेश में बदनाम करने का पेशा ले बैठने वाले हमारे कतिपय 'सर' और 'नाइट' कहाने वाले भाड़े के टट्टुओं से कहीं उच्च कोटि की मानवता इस गणिका ने दिखाई, इसमें कोई शक नहीं । ऐसी गणिकाएँ पूरे समाज को यौन उच्छृंखलता या यौन भ्रष्टता से कहीं ऊँची कक्षा पर ले जाती होंगी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

थार्जेलिया नामक वारांगना झर्कसीस के ईरानी आक्रमण के समय यूनान में आ बसी थी । सौंदर्य, बुद्धि और आकर्षण में, उस युग में भी उसकी जोड़ी मिलना मुश्किल था । यूनान के अनेक नेता उसके मोह में उन्मत्त हो गये थे । इन नेताओं ने यूनान के नगरों में प्रजामत को ईरान के पक्ष में मांड़ने में सफलता प्राप्त की । यह थार्जेलिया का ही प्रभाव था । उसका सर्वमान्य महत्त्व इतना अधिक था कि यूनान के थॅसेली प्रदेश के राजा के साथ संधि करनेके लिए विष्टिकार के रूप में उसे ही भेजा गया था । अंत में उसने थॅसेली के राजा से विवाह कर लिया और आजीवन यूनान की राजनीति पर गहरा प्रभाव डालती रही ।

एस्पेशिया का नाम युवक युवतियों के सामने प्राणवान और जीवित स्त्रीत्व का आदर्श आज भी उपस्थित कर सकता है । जिनके नाम पर राज्यों की उथल पुथल हुई हों, ऐसी इतिहास प्रसिद्ध नारियों में एस्पेशिया का स्थान है । गुजराती साहित्य में श्रीमती लीलावती मुंशी ने एस्पेशिया का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है । थी तो वह एक वारांगना ही, जो सौंदर्यसम्पन्न युवतियों को एकत्रित करके एक गणिकागृह चलाती थी । परंतु इस गणिकालय में उसने एक विशिष्टता की । सौंदर्य रक्षा और सौंदर्य संवर्धन के साथ-साथ उसने बौद्धिक विकास पर भी बहुत अधिक जोर दिया । वह खुद इतनी विदुषी और सुशिक्षित थी कि अपने गणिकागृह के उपरांत आम सभाओं में भी व्याख्या देती थी और वादविवाद करती थी । दर्शन वक्तृत्वकला, और रस-अलंकार जैसे विषयों पर उसके व्याख्यान अत्यंत विचारप्रेरक होते थे । सामान्य जनता ही नहीं, सुकरात जैसे तत्वज्ञ, एल्सीबिएडिज जैसा योद्धा और पेरिक्लिस जैसा कूटनीतिज्ञ शासक उसके श्रोतागणों में थे । एस्पेशिया के गणिकागृह में इनके जैसे और भी अनेक विद्वान-महाजन आते जाते रहते थे । एस्पेशिया गणिका होने के कारण वे उसके प्रेम के प्रार्थी होकर ही आते थे । विद्वानों की उपस्थिति में यह गणिकागृह एक विद्यालय बन जाता था, यह कल्पना भी आज हमें अपनी विचित्रता से आश्चर्यमुग्ध कर देती है । अंत में पेरिक्लिस ने अपनी पत्नी को तलाक देकर एस्पेशिया से विवाह कर लिया । यूनान के सर्वश्रेष्ठ और शक्तिशाली पुरुष को अपना जीवन समर्पित करने की एस्पेशिया की अभिलाषा पूर्ण हुई । पॅरिक्लिस अपने युग के यूनान का सर्वसत्ताधीश और भाग्यविधाता था । एथेन्स की राजनीति का सूत्र-संचालन भी एस्पेशिया ही करती थी और उस युग में यह मान्यता प्रचलित थी कि पूरा पॅलोपोनीशियन युद्ध और मेगारा के युद्ध उसी की प्रेरणा से हुए । मेगारा के युद्ध का कारण मननीय है । एस्पेशिया के गणिकागृह में शिक्षा प्राप्त करने वाली दो युवतियों पर मेगारा के नागरिकों ने बलात्कार किया था । उसका बदला लेने के लिए पूरे एथेन्स को युद्ध के मैदान में उतरना पड़ा । गणिका पर बलात्कार ? और उसका बदला लेने के लिए राष्ट्रीय युद्ध ! सचमुच ही वह युग आश्चर्यों से भरा हुआ था ।

एक गणिका का ऐसा विजयी प्रभाव अंत में एथेन्स की गृहिणियों से सहा नहीं गया और एस्पेशिया के विरुद्ध व्यापक असंतोष जगा । परिणामस्वरूप किसी नाट्यगृह में उसका अपमान किया गया, भरे बाजार में उसपर हमला हुआ और अंत में अपवित्रता का आरोप लगाकर उसपर अदालत में मुकदमा चलाया गया । इसी दौरान में पॅरिक्लिस की सत्ता भी क्षीण हो चली थी । एस्पेशिया का बचाव करने के लिए उस युग का एक प्रजाप्रिय वक्ता तैयार हुआ परंतु उसका वक्तृत्व सफल होता दिखाई नहीं दिया । अंत में पॅरिक्लिस ने अदालत में भरे हुए मानवसमुदाय के बीच अपनी प्रियतमा को बाहुपाश में कसकर गले से लगा लिया और अश्रुओं की धारा बहा दी । प्रचंड विजेता और महामानी पॅरिक्लिस की इस करुणाजनक स्थिति ने इच्छित प्रभाव उत्पन्न किया और एस्पेशिया निर्दोष प्रमाणित होकर छूट गई । उसके बाद आजीवन वह सफल वाचस्पति के रूप में व्याख्यान देती रही । जीवन के अंतिम चरण में वह एक आटे के व्यापारी की प्रियतमा के रूप में, उसी के घर में रहकर व्याख्यान देती थी । उसके जीवन की इस परिसमाप्ति को भी आज हमें उस युग की एक विचित्रता के रूप में ही ग्रहण करना होगा ।

एस्पेशिया की सखी हिपर्शिया भी उस युग' की एक विशिष्ट गणिका मानी जाती थी । जन्म से वह एथेन्स के एक कुलीन परिवार की सदस्या थी जिसे नागरिक अधिकार प्राप्त थे । परंतु क्रेटस नामक एक दु:खवादी तत्वज्ञ की वाणी सुनकर उसने अपना देह उसे अर्पण करने का निश्चय किया और अपने माता-पिता को इसकी सूचना दी । उसके संबंधियों ने उसे बहुत समझाया पर वह टस से मस नहीं हुई और दरिद्र और फूहड़ दार्शनिक क्रेटस की उपपत्नी होकर रही । दु:खवाद का उस युग में बहुत प्रचार होता जा रहा था । इस विचारधारा में जीवन के वैभव को तुच्छ और सारहीन मानने की वृत्ति पाई जाती है और कला, ज्ञान विज्ञान, आनंद-मनोरंजन एवं मनुष्य की सद्भावनाओं के प्रति तिरस्कार और अविश्वास व्यक्त

किया जाता है । इस मतवाद के प्रचार में हिपर्शिया का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है । विरोधी पक्ष का एक दार्शनिक एकबार हिपर्शिया से खुली सभा में वादविवाद कर रहा था । हिपर्शिया की ओजभरी युक्तियों ने उसे निरुत्तर कर दिया । अंत में वह झल्ला गया और एक प्रश्न के उत्तर में, अत्यंत क्रोध में आकर, तर्क का जवाब तर्क से देने के बदले उसने हिपर्शिया का उत्तरीय फाड़कर उसे भरी सभा में विवस्त्र कर दिया । हिपर्शिया बिलकुल हतप्रभ नहीं हुई और जरा भी घबराई नहीं । उसने अत्यंत शांति से पूछा, "इस तरह मेरा वस्त्र फाड़ कर आपने क्या प्रमाणित किया ?" तत्वज्ञ ने घुटने टेक दिये । हिपर्शिया ने अनेक ग्रंथ लिखे । वह अपने समय की लोकप्रिय लेखिका थी ।

बेकिस नामक गणिका अत्यंत सुंदर और ममतामयी थी । उसने हाइपराइडस नामक निर्धनवक्ता की उपपत्नी होना स्वीकार किया जो उसके स्वार्थत्याग का उत्तम प्रमाण है । इस अप्रतिम सुंदरी पद दीवाने होने वाले उसके अनेक प्रेमियों में से एक ने उसे अत्यंत कीमती मोतियों का हार भेंट किया । यह हार इतना प्रसिद्ध था कि एथेन्स और एथेन्स के बाहर की सुंदरियों में इसे प्राप्त करने की होड़ लगी हुई थी । अंत में वह मिला बेकिस को । गणिका के रूप में बेकिस जब प्रतिष्ठा और ख्याति के सर्वोच्च शिखर पर थी, तब उसने हाइपराइडस को व्याख्यान देत हुए सुना और वह तुरंत उस पर मोहित हो गई । शीघ्र ही उसने हाइपराइडस की रखैल बनना स्वीकार कर लिया और जीवनभर किसी सती साध्वी के जैसी निष्ठा से प्रेमव्यवहार निभाया । उसके जीवन के दो प्रसंग सचमुच ही कवित्वमय हैं :—

हाइपराइडस केसाथ उसका संबंध बढ़ता देखकर, मोती की माला भेंट देने वाले प्रेमी ने उससे कहा, 'अगर तुझे यही करना हो, तो मेरी माला वापस दे दे ।" बेकिस ने इस ओछी बात का कोई उत्तर न देते हुए तुरंत गले में से माला निकाल कर उसके हाथ में थमा दी । याद रहे, कि यह माला उस युग में विश्वविख्यात और बेशकीमत थी ।

आज के समान उस युग में भी चुगलखोर लोग प्रेमियों के मन में विषबीज बोते रहते थे । चुगलखोर अकसर मित्र का रूपधारण करके आते हैं । बेकिस के ऐसे ही एक मित्र ने आकर बड़ी गंभीरता से, मानो उसे खुशखबरी सुनाई, "तेरा प्रेमी इस समय किसी और युवती से प्रेम कर रहा है । मैं अपनी आँखों से देखकर आया हूँ ।" बेकिस ने इस बात को अत्यंत शांति पूर्वक, मुस्कराते हुए सुना और मानों प्रत्युत्तर देने काबिल कुछ हुआ ही न हो, इस तरह चुपचाप बैठी रही । उसकी यह लापरवाही देखकर चुगलखोर मित्र ने नाराज होकर पूछा, "तू इस विषय में क्या करना चाहती है ?" आदर्श प्रेमिका के हृदय को शोभा दे, ऐसा लाक्षणिक उत्तर बेकिस ने दिया । वह हँसती हुई बोली, "कुछ नहीं । उसकी राह देखती हुई, इसी तरह बैठी रहूँगी ।" बेकिस का स्मितभरा मुख और चुगलखोर मित्र का क्षुब्ध चेहरा यदि किसी चित्रकार की तूलिका के विषय बने होते, तो उसे अमर कर देते । आज हम सिर्फ उनकी कल्पना कर सकते हैं । अनिंद्य बेकिस की बहुत छोटी उम्र में मृत्यु हो गई । विरही हाइपराइडस के शोकोद्गार यूनानी साहित्य की अमर निधि है और आज भी हृदयस्पर्शी विलाप के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं ।

लेई एक सुविख्यात वारांगना थी । जन्म से वह सिसीलियन थी । सिसिलि के साथ के युद्ध में पकड़े हुए गुलामों में लेई भी थी, जो यूनान में विक्रय के लिए लाई गई थी । एक दिन लेई कुएँ से पानी भर कर लौट रही थी कि एपॅल नामक चित्रकार की नजर उसकी सुडौल देह पर पड़ी । उसने लेई को खरीदकर उसे नृत्यसंगीत की तालीम देना शुरू किया । इस चित्रकार के यहाँ यूनान के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों का सदा मजमा लगा रहता था । लेई की शिक्षा पूरी होते होते उसके वाक्चातुर्य और देह सौष्ठव की प्रशंसा चारों ओर फैल गई । ॲपेल ने उसे गुलामी के बंधन से मुक्त करके, कोरिंथ नगर में उसके लिए एक कलागृह

की स्थापना की । कोरिंथ उस समय के यूनान का सबसे बड़ा बंदरगाह और व्यापार का केन्द्र था । कोरिंथ में गणिकाओं की संख्या इतनी अधिक थी कि वहाँ के प्राय : सभी मकान गणिकाओं के ही आवास हों, ऐसा लगता था । इन गणिकागृहों में वेश्यावृत्ति की तालीम दी जाती थी और आसपास के प्रदेशों में से बालिकाओं और युवतियों की भरती इन गृहों में होती रहती थी । कोरिंथ, इस प्रकार, व्यापार के साथ-साथ गणिकावृत्ति का भी प्रमुख केन्द्र बन गया था । सामान्य नाविकों से लगाकर धनीमानी व्यापारियों तक की सुविधा हो सके ऐसे अनेक वर्गों की गणिकाएँ वहाँ उपलब्ध थी । कोरिंथ में आते ही लेई की गणना प्रथम श्रेणी की गणिकाओं में होने लगी और उसे व्यापक प्रसिद्धि मिली । एक हलकी सी तुनक मिजाजी उसके आकर्षण में चार चाँद लगा देती थी । धन के घमंडियों को वह अकसर दुत्कार देती थी । डॅमोस्थिनिस नामक अप्रतिम वक्ता का नाम आज भी सुप्रसिद्ध है । अपने उच्चारण दोषों को भगीरथ प्रयत्न से दूर करके विश्व के वक्ताओं में अग्रस्थान प्राप्त करने वाला यह सुविख्यात वक्ता लेई के सौंदर्य का दीवाना होकर घूमता था । उसने अपनी स्थावर-जंगम संपत्ति बेच कर, उसकी मोहरें खरीदकर लेई के चरणों में हाजिर कीं । परंतु लेई ने डॅमोस्थिनिस की अमूल्य भेंट को ठुकरा दिया । निराश होकर उसे उतरे हुए चेहरे से बिदा होना पड़ा । इसके बाद, लेई ने डायॉजिनिस नामक बदसूरत और गलीज तत्वज्ञ को स्वेच्छा से देहार्पण किया ।

लेई के कदमों पर पारावार धनसंपत्ति के ढेर लगते थे और उस द्रव्य का वह मनमाना उपयोग करती थी । कोरिंथ नगर को सुशोभित करने में उसने बेशुमार धन खर्च किया । इस उपकार का बदला चुकाने के लिए नगर-निवासियों ने शहर के चौराहे पर लेई की प्रतिमा खड़ी करने का प्रस्ताव किया । लेई इस आग्रहभरी बिनती का अस्वीकार नहीं कर सकी । उसके हामी भरते ही नगरवासियों ने मीरॉन नामक कुशल मूर्तिकार को भारी रकम देकर, मूर्तिनिर्माण का काम सौंपा । मीरॉन वयोवृद्ध था । उसके हिमधवल केशों से उसकी उम्र का अंदाज लगाया जा सकता था । मूर्ति निर्माण के लिए लेई को सामने बैठाना आवश्यक था । परंतु लेई का देह सौंदर्य इतना उन्मादक था कि दूसरे ही दिन वयोवृद्ध मूर्तिनिर्माता अपनी सुधबुध खो बैठा, और घड़ीभर को लेई का प्रेम प्राप्त करने के लिए उसने अपनी जीवनभर की जमापूंजी उसके चरणों में अर्पित की । परंतु इस विचित्र और अभिमानी सुंदरी ने वृद्ध की भेंट को ठुकरा दिया । उम्र और वासना के बीच, माना जाता है उतना विरोध नहीं होता । अत : बुढऊ ने एक तरकीब लड़ाई । दूसरे दिन वेष बदलने वाले किसी कलाकार की उसने सहायता ली । सिर और दाढी के सफेद बालों को खिजाब से काले करके, देह और वस्त्रों पर इत्र छिड़क कर और यौवन का ठाट बनाकर वह लेई के पास पहुँचा और उसके प्रेम की याचना की । पर चतुर गणिका उसकी युक्ति को ताड़ गई । तिरस्कारयुक्त स्मित से उसने जवान बने हुए मीरॉन से कहा, "नादान युवक, कल तेरे पिता से जिस बात के लिए मैं इनकार कर चुकी हूँ, वही माँगने तू आया है ।" इस प्रकार के चतुराई भरे वचन और कार्यों की निपुणता यूनानी गणिकाओं में उच्चकोटि की होती थी ।

परंतु ऐसी अभीमानी वारांगनाओं का दर्प दलन करने वाले संयमी पुरुषों की भी यूनान में कमी नहीं थी । लेई के विषय में ही एक कथा प्रसिद्ध है । झॅनोक्रॉटिस नाम प्लॅटो का शिष्य अपने संयम के लिए बहुत प्रसिद्ध था । लेई ने उसकी स्थिरता को डगमगाने का बीड़ा उठाया । एक रात को वह घबराई हुई हालत में झॅनोक्रॉटिस के घर में घुस गई और अपने आपको छिपा देने की प्रार्थना करने लगी । तत्वज्ञ ने इसका कारण पूछा तो लेई ने उत्तर दिया कि कई चोर और बदमाश उसके पीछे पड़े हुए हैं । झॅनोक्रॉटिस ने उसे अभयदान दिया और रात अपने घर में रहने देने की उसकी बिनती मान ली । लेई जैसी रूपवती, कलावती नायिका ; पुरुष को विचलित करने का उसका दृढ निश्चय ; और उस निश्चय को पूरा करने के लिए मिला हुआ ऐसा अवसर ! फिर कसर किस बात की रही ? रूपदर्शन और देहदर्शन से लगाकर

कामकला के अनेक शस्त्र उसने आज़माये । अपना कौल पूरा करने के लिए निर्लज्जता की सीमा लांघ कर भी उसने झेनोक्रॉटिस का हृदय जीतने की भरसक कोशिश की । परंतु साधना से वज्र बना हुआ दार्शनिक का हृदय तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ । थककर लेई ने हथियार डाल दिये और बोली: "मैंने मनुष्य के हृदय को विचलित करने का बीड़ा उठाया था ; पत्थर के बुत को नहीं ।" इतना कहकर वह उठ खड़ी हुई और कपड़े पहनकर चलती बनी ।

'महान' विशेषण से भूषित सिकंदर का मित्र हरपॉलस बेबीलोन का सूबेदार नियुक्त हुआ । उसने एथेन्स की सर्वश्रेष्ठ गणिका की मांग की । पीथिऑनिस नामक विदुषी वारांगना को उसकी सेवामें भेजा गया । ये गणिका अधेड़ उम्र की थी । परंतु हरपॉलस के बदले बेबीलोन की सूबेदारी उसने की, यह कहना अधिक उचित होगा । अपनी सत्ता के सर्वोच्च शिखर देकर पर वह पहुँच चुकी थी परंतु उसके दुश्मनों ने जहर उसका अंत कर दिया । हरपॉलस को इतना शोक हुआ कि उसने उसकी उत्तरक्रिया किसी महारानी को शोभा दे ऐसे ठाठ से की और उसकी याद में एक भव्य स्मारक का निर्माण करवाया । परंतु इसी हरपॉलस ने कुछ ही समय बाद ग्लीसरा नामक मालिन पर अपना प्रेम ढाला । कहा जाता है कि इस मालिन ने ही पीथिऑनिस को विष दिया था । ग्लीसरा का ठाटबाट भी रानी-महारानियों जैसा था । वह फरमान जारी करती थी ; दरबार लगाती थी ; अपनी पूजा करवाती थी और बेबीलोन के मंदिरों में अपनी आदमकद प्रतिमाओं की स्थापना करवाती थी ।

हरपॉलस द्वारा प्राप्त की गई सत्ता और समृद्धि में सिकंदर को कृतघ्नता दिखाई थी, अत: उसे बेबीलोन छोड़कर यूनान भाग जाना पड़ा । ग्लीसरा ने अपनी वक्तृत्वशक्ति और धन के बल पर, सिकंदर का मुकाबला करनें के लिए सैन्य एकत्र किया, परंतु सिकंदर की अचानक मृत्यु हो जाने से युद्ध की नौबत नहीं आई । इस समय तक हरपॉलस एथेन्स में इतना अप्रिय हो चुका था कि राज्यसभा ने उसे ग्लीसरा के साथ देश निर्वासन की सजा दी । इसके कुछ समय बाद ही हरपॉलस की उसके किसी अंगरक्षक ने हत्या कर दी, और ग्लीसरा ने एथेन्स लौट कर फिर से अपना पुराना व्यवसाय शुरू कर दिया । उसकी उम्र तब काफी बड़ी हो चुकी थी । परंतु उसकी निपुणता ने उसकी प्रसिद्धि बनाये रखी और उस युग के एक उत्तम चित्रकार और हास्यरस के श्रेष्ठ नाटयकार की मैत्री वह संपादित कर सकी ।

इतिहास में थेई नामक गणिका का उल्लेख भी मिलता है । एथेन्स की यह रूपजीवा सिकंदर महान की उपपत्नी थी और सिकंदर की मृत्यु के बाद मिस्र के टॉलेमियस नामक सम्राट की रानी बनकर वहाँ के सिंहासन पर भी बैठी थी । फ्रान्स के सुप्रसिद्ध उपन्यास कार एनातोल फ्रान्स ने थेई के नाम पर एक उत्तम उपन्यास लिखा है । उस उपन्यास की थेई इस प्राचीन गणिका से भिन्न है ; फिर भी उसमें उच्च श्रेणी की नर्तकियों और गणिकाओं के जीवन का तादृश चित्रण किया गया है । दयाराम के एक गीत में काले कृष्ण का स्पर्श करने से डरने वाली राधा से कृष्ण तर्क करते हैं, "तू यदि मेरे स्पर्श से श्याम हो सकती है तो मैं भी तेरे स्पर्श से गोरा हो सकता हूँ ।" कुछ ऐसी ही बात इस उपन्यास में दिखाई देती है । थेई पर एक साधु का और साधु पर इस गणिका का प्रभाव पड़ता है । फलस्वरूप साधु गणिकापरायण और गणिका ईश्वर परायण कैसे हो जाते हैं, इसका सुंदर और कलामय विश्लेषण इस उपन्यास में किया गया है ।







५
यूनानी जीवन की विशिष्टता

यूनान का इतिहास ऐसी भव्य वारांगनाओं से भरा पड़ा है । परंतु इस संस्था का स्वरूप समझने के लिए इतने उदाहण पर्याप्त होंगे । अन्य प्रजाओं में गणिकाओं के प्रति सदा एक प्रकार का तिरस्कार व्यक्त किया जाता था और कम से कम बाह्य आडंबर के लिए उन्हें अस्पृश्य माना जाता था । यूनान में यह भाव तिलमात्र भी नहीं था । वारांगनाएँ समाज में आदर का स्थान प्राप्त करती थीं ; राजनीति और समाज जीवन को प्रभावित करती थी ; विद्वानों, दार्शनिकों, कलाकारों और कूटनीतिज्ञों के संपर्क में आती थीं ; और उनके साथ रहकर उनसे निकट का वैयक्तिक संबंध स्थापित कर सकती थी । समाज इस निकटता को स्वीकार कर लेता था और इसमें दोनों पक्षों के लिए लज्जा की कोई बात नहीं मानी जाती थी । धर्म और शासन भी इस व्यवस्था के विरोधी नहीं थे ।

आज तक स्त्री देह सौंदर्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिरूप यनानी मूर्तिकला में से ही मिल सके हैं । वीनस ज्यूनो, मिनरवा, डायेंना आदि देवियों की प्रतिमाएँ इन वारांगनाओं की देह के नमूने पर ही बनाई जाती थी । देह सौष्ठव बनाये रखने की यूनानी गणिकाओं की कला और उत्सुकता हर युग के लिए आदर्श उपस्थित करती है ।



उस युग का विचार करते समय हम जीवन की महापाठशाला में उन दार्शनिकों, नाट्यकारों, योद्धाओं और वक्ताओं को सत्य शोधन के लिए वारांगनाओं के साथ-साथ उठते-बैठते, घूमते और रहते देखते हैं । इन वारांगनाओं में कई तो हमारे मंडनमिश्र की पत्नी सरस्वती जैसी विदुषी, मृदुभाषिणी और सभाशोभन थीं । इन गणिकाओं की कलाभावना अत्यंत उच्चकोटि की थी । इतना ही नहीं, किसी भी प्रजा की स्त्री जाति को गौरवान्वित करें ऐसे गुणों से वे मंडित थीं । उपरोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है । उनकी विचित्र हठ, उनका साहस, उनकी रसज्ञता, उनकी भव्य नग्नता, उनकी वफादारी और उनकी जिंदादिली यूनानी वारांगनाओं को स्त्री जाति की एक सुविकसित, स्मरणीय और आदरणीय भूमिका पर आसीन कर देती हैं । युद्ध में निर्भयता से खड़ी रहने वाली क्षत्राणी या ॲमेझॉन, पति के साथ चिता में जलकर सहगमन करने वाली सती, रस और विद्वता का पोषण करते हुए स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने वाली यूनानी गणिका और बेशर्मी से देह विक्रय करके उदरपूर्ति करने वाली बाजारी वेश्या, सब स्त्री जाति के ही प्रखर व्यक्तित्वमय रूप हैं । ये सब रूप प्रशंसा के समान अधिकारी चाहे न हों, परंतु सबकी उन्नत और भव्य कक्षा एवं उनके पीछे की मार्मोत्कटता अविस्मरणीय है । गुलाबजल का फव्वारा और आतिशबाजी की फुलझड़ी, दोनों समान ऊँचाई तक उडते हैं, दोनों आकर्षक होते हैं । एक दाहक है ; दूसरा शामक है । परंतु जलशिखा हो या अग्निशिखा, ऊपर उठाने वाली शक्ति दोनों में समान होती है । ।

६
धर्म और यौनभावना के सोपान

मानवीय यौन भावना का विचार करते समय विकास के कुछ स्पष्ट सोपान दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम मनुष्य अनियंत्रित काम व्यवहार की भूमिका परखता है, यह हम देख चुके हैं। परंतु समाज घटना सब व्यवहारों में व्यवस्था चाहती है। सामाजिक समूह रचना होते ही यौन व्यवहार में भी नियमितता और नियंत्रण आरंभ हो जाते हैं। बहुपतित्व या बहुपत्नीत्व की प्रथा और गोत्रसंकुचित या गोत्रबाह्य विवाह जैसे यौन व्यवहार आज हमें विचित्र दिखाई देते हैं। परंतु वे सब अनियंत्रित काम व्यवहार से कहीं आगे बढ़ी हुई व्यवस्थित संबंधों की भूमिका सूचित करते हैं। यौन व्यवहार व्यवस्थित होते ही उसकी आंतरिक शक्ति उसे धर्म के साथ संकलित कर देती है। धर्म द्वारा यौन भावना को समाजग्राह्य बनाने की प्रक्रिया निम्नलिखित परिणामों को जन्म देती है:—

१. विवाह एक पवित्र धर्मकार्य बन जाता है।

२. जिन के आसपास धर्म केन्द्रित हुआ हो, उन देवी देवताओं की पूजा और उनके लिए भोग-नैवेद्य या बलिदान की योजना की जाती है।

३. (क) यह बलिदान विवाह की इच्छा रखने वाले स्त्री पुरुष के कौमारभंग या सौभाग्य के आत्म सर्मपण का रूप धारण कर सकता है। (जैसा बेबीलोन में होता था)। या

(ख) आजीवन ब्रह्मचर्य या देवता को कौमार अर्पण करने का रूप धारण कर सकता है। (जैसा आजीवन अविवाहित रहकर देव सेवा करने वाले पुजारी-पुजारिनों की प्रथा में स्पष्ट होता है)।

४. सौभाग्य समर्पण की प्रथा में से धार्मिक वेश्यावृत्ति जन्म लेती है।

५. धार्मिक वेश्यावृत्ति के सहारे ही धर्मावलंबन रहित सामान्य वेश्या समुदाय के एक भाग का निर्माण होता है।

६. सामान्य वेश्याओं का दूसरा भाग विवाह की अनेक वैयक्तिक, आर्थिक, भावात्मक या रसात्मक कठिनाइयों में से जन्म लेता है। ४, ५, और ६ को एकत्र करके कह सकते हैं कि सामान्य वेश्याओं के तीन वर्ग होते हैं: (क) धार्मिक। (ख) धार्मिक वेश्याओं के वर्ग से अलग होकर, धार्मिक बंधनों को तोड़ फेंकने वाली। (ग) धर्ममान्य विवाह संस्था की कमियों की पूर्ति करने वाली या सामाजिक व्यवस्था में से जन्म लेने वाली।

७. इन तीनों विभागों को अपने-अपन युग की शक्तियों द्वारा पोषण मिलता है। अधिकांश में यह शक्ति आर्थिक होती है। प्राचीन युग में दास प्रथा स्वीकार्य थी। अत: गुलाम स्त्रियों का खुलेआम विक्रय हो सकता था। विक्रय का अर्थ है धन के बदले में सर्वार्पण। आज की आर्थिक असमानता भी मनुष्यजाति को देहविक्रय करने को मजबूर करती है। वर्तमान समाज में दास प्रथा नष्ट हो गई है, ऐसा कहा जाता है। परंतु धन के बदले में स्त्री का देह विक्रय दासता का ही एक रूप है, क्योंकि विक्रय सर्वार्पण का ही दूसरा नाम है। सर्वार्पण में खरीददार पुरुष की वासनातृप्ति ही प्रमुख तत्व बन जाती है।

८. अतिशय रसिकता, वासना का अतिरेक या आनंदोपभोग की तीव्र लालसा भी गणिका जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।



९. गणिकाओं को विविध वर्गों में बाँटा जा सकता है ।इनमें से कुछ वर्गों में उच्च विचार शक्ति, बुद्दिमत्ता और कलाप्रियता का विकास हो सकता है ।

१०. गणिकाओं के प्रति समाज को कम अधिक तिरस्कार हमेशा ही रहता है । परंतु यह तिरस्कार वृत्ति लगभग अदृश्य हो जाय ऐसी उन्नत सामाजिक कक्षा भी गणिकावर्ग ने कभी कभी प्राप्त की है । इसके समर्थन में प्राचीन यूनान और प्राचीन भारत के उदाहरण दिये जा सकते हैं ।



नवाँ परिच्छेद

रोमन पतिता

१

प्राचीन रोमन समाज में पतिता

साहित्य को प्रजाजीवन का प्रतिबिंब इसलिए माना जाता है कि उसमेंजीवन के अनेक पहलुओं का दिग्दर्शन बड़े प्रभावकारी ढंग से होता रहता है। भारतीय साहित्य और विशेष रूप से गुजराती साहित्य का अध्ययन अन्यत्र किया जायगा जिसमें हम गणिका संबंधी उल्लेखों के सहारे अपने पूर्वजों के आश्चर्यजनक मानस को समझने का प्रयत्न करेंगे। प्रतिष्ठित कवि प्रेमानंद नलराजा के सुखी समय का वर्णन करते हुए गणिकाओं को भी याद करते हैं। आज से दो सौ वर्ष पहले के इन गुर्जर कवि को भी गणिकावृत्ति और लज्जा के बीच विसंगति दिखाई दी थी।

परंतु दो हजार वर्ष पहले की बातें भी साहित्य के आधार पर स्पष्ट हो सकती हैं। विश्व के प्राचीन साहित्यों में गणिका का चित्र स्पष्ट अंकित हो चुका है। बाइबल, यूनानी साहित्य और रोमन साहित्य प्राचीन गणिका जीवन पर प्रखर प्रकाश डालते हैं। इस साहित्य के सहारे ही हम उन युगों की प्राचीन संस्कृतियों से परिचित हो सकते हैं और इसी के आधार पर पतिताओं की परिस्थिति का विचार कर सकते हैं।

पश्चिम के प्राचीन युग में यूनानी प्रजा के बाद की महाप्रजा रोमन प्रजा मानी जाती हैं। रोमनों की भाषा लैटिन, ग्रीक भाषा के समान ही, आजके सुसंस्कृत और सुसभ्य पश्चिम की वाणी एक प्रमुख आधारस्तंभ मानी जाती है। रोमन संस्कृति को भी पाश्चात्य संस्कृति का एक मूलस्रोत होनेकी प्रतिष्ठा प्राप्त है। अत: हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस प्राचीन संस्कृति में गणिकाओं का क्या स्थान था। यह कार्य मुख्यत: लैटिन भाषा के साहित्य पर नजर डालते हुए ही हो सकेगा। साहित्य से उपलब्ध चित्र में निम्नलिखित रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट दिखाई देती हैं:—

प्रथम तो यह कि रोमन इतिहासकारों और साहित्यकारों के ग्रंथों में गणिकासंबंधी विपुल उल्लेख प्राप्त हैं। दूसरी बात यह कि रोमन प्रजा का गणिका के प्रति सामान्य रुख यूनानी प्रजा के रुख से कुछ भिन्न था। यूनानी प्रजा गणिकाजीवन का न सिर्फ प्रकट और सम्मानयुक्त स्वीकार करती थी, बल्कि समाज में गणिकाओं के अस्तित्व के लिए कोई खास लज्जा की भावना अनुभव नहीं की जाती थी। रोमन प्रजा में कुछ लज्जा की भावना थी। यूनानी समाजनेता और विद्वान खुलेआम गणिकाओं के साथ घूम सकते थे, परंतु रोमनों को प्रकट में गणिकाओं के साथ दिखाई पड़ने में लज्जा महसूस होती थी। अत: गणिकागृह में जाना हो तो मित्रों की ओर संबंधियों की नजर बचाकर, चोरी छिपे ही जाया जा सकता था। आज की दुनिया के सभ्य समाज का भी यही रवैया है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि रोमन प्रजातंत्र के युग में या रोमन सम्राटों के युग में वहाँ की गणिकासंस्था अविकसित थी। रोमन सभ्यता में प्राचीन काल से ही गणिकासंस्था व्यापक थी। इसके कारण समाजनेता इतने व्यग्र रहते थे कि सरकारी स्तर पर गणिकाओं की गिनती करके उनके संबंधी जानकारी दर्ज करने का प्रथम ऐतिहासिक प्रयत्न रोम में ही हुआ था।

अति प्राचीन काल से रोमनों में लिंगपूजा प्रचलित थी। धार्मिक गणिकावृत्ति के मूल प्राचीन रोम में



बहुत गहरे उतरे हुए दिखाई नहीं देते ; परंतु रोमनों के धार्मिक और सामाजिक उत्सवों में अनाचार कहे जा सकें ऐसे यौन व्यवहार बहुत स्पष्टता से और बेरोकटोक होते थे ।

यूनानी संस्कृति का प्रभाव रोमन प्रजा पर बहुत अधिक प्रमाण में पड़ा था । वैसे तो रोमन प्रजाजन यूनान के विजेता थे । रोमनों ने यूनान को हराकर अपने आधीन कर लिया था । परंतु पराजित यूनानी प्रजा ने विजेता रोमन प्रजा पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त करके उनकी सैनिक विजय को प्रभावशून्य कर दिया. था । इन दोनों प्रजाओं के उस युग के इतिहास में इस तथ्य का निरूपण बिलकुल स्पष्ट रूप से हुआ है । अत : यूनानी संस्कृति की यौन मान्यताओं का प्रभाव भी रोमनों पर पड़ा हो, तो आश्चर्य की बात नहीं । रोम में 'वीनस' नाम से प्रसिद्ध होने वाली प्रेम की देवी यूनान की 'एफ्रॉडाइट' का ही अवतार थी । रोम में प्रेम की देवी वीनस के साथ साथ मर्यादा की देवी 'प्युडीसीटिया' के मंदिरों का निर्माण भी हुआ था । परंतु मर्यादा की देवी की पूजा लोकप्रिय नहीं हो सकी । मर्यादा की इस देवी की पूजा के बहाने तो मर्यादामंदिरों में अनेक प्रकार के मर्यादाहीन कर्म करने की सुविधा ही लोगों को प्राप्त हो गई थी ।

प्राचीन युग के अनेक संस्कृत, सुविख्यात और प्रगतिशील देशों और प्रजाओं के साथ रोमन साम्राज्य का संबंध था । भारत के राजाओं और रोमन सम्राटों के बीच राजदूतों और संधि विग्राहकों का आदान-प्रदान करने का संबंध था, यह इतिहास सिद्ध बात है । भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त रोमन मुद्राएँ इस बात की पुष्टि करती हैं । मिस्र, सीरिया, ईरान, बेबीलोन आदि पौर्वात्य देशों के साथ के संबंधों ने रोमन प्रजा की नीतिभावना पर थोड़ा बहुत भी प्रभाव न डाला हो, यह संभव नहीं । ईरान का मिथ्रपूजन रोम तक पहुँच चुका था । यौनसंबंध विषयक नवीनताओं का आदान प्रदान घनिष्ठ संपर्क में आनेवाले देशों के बीच हो, यह स्वाभाविक है । इसलिए, यद्यपि रोमन प्रजा यूनानी प्रजा के जैसा स्वाभाविक स्थान गणिकाओं को नहीं दे पाई, फिर भी यूनान के समान कक्षा की गणिकाप्रवृत्ति का रोम में भी प्रवेश हुआ और वाह्य विरोध के बावजूद उसकी स्वीकृति भी व्यापक रूप में हुई । समाजशुद्धि बनाए रखने के लिए गणिकासंस्था आवश्यक है, यह भाव भी रोमन प्रजा में प्रचलित था ।

प्राचीन रोमन इतिहास तीन विभागों में बँट जाता है :—

१. रोम शहर की स्थापना, आरंभ के राजाओं का युग और प्रजातंत्र युग । ईसा पूर्व ७५३ से लगाकर ईसापूर्व प्रथम शताब्दी तक ।

२. रोमन साम्राज्य का युग (सम्राटों के ईसाई धर्म स्वीकार करने तक) ई. पू. २७ से लगा कर ईसा की दूसरी शताब्दी तक ।

३. ईसाई धर्म के स्वीकार से लगाकर साम्राज्य के पतन तक का युग । ईसा की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक ।

इन तीनों युगों में गणिका जीवन पूर्णत : विकसित रूप में दिखाई देता है । उत्सवों में दिखाई देने वाली यौन व्यवहारों की उच्छृंखलता, एट्रुस्कन की चित्रकारी एवं अन्य कलाकृतियों का समग्रता से विचार करने पर अतिप्राचीन रोमनों की नैतिकता को बहुत उच्च कोटि की नहीं कहा जा सकता । नाटकों और उत्सवों में गणिकाओं के नग्न देह के प्रदर्शन के अनेक उल्लेख रोमन साहित्य में मिलते हैं । रोमन साहित्य में जीवन-चरित्र लेखन का अधिक विकास हुआ था । इस विकसित साहित्य प्रकार पर नजर करें तो महान माने जाने वाले स्त्री-पुरुषों के चरित्र नीतिमत्ता के आदर्श उदाहरण नहीं लगते । चरित्र लेखन में अतिशयोक्ति हो सकती है, लेखक की कल्पना कुछ प्रसंगों को अत्यधिक भड़कीले रंगों में चित्रित कर सकती है और व्यक्ति के जीवन और चरित्र आलेखन के बीच लंबा समय बीत जाने पर अनेक बातें किंवदन्ती के रूप में भी जुड़ सकती हैं । इन सब संभावनाओं को स्वीकार करते हुए भी यह मानना होगा

कि चरित्र आलेखन में सत्य का अंश व्यक्ति के अनुभव के रूप में नहीं तो कम से कम सामान्य जनता के लक्षण के रूप में सदा झलकता रहता है । ल्यूक्रेशिया के शीलभंग के कारण रोमन राज्यपरिवार की सत्ता नष्ट होकर प्रजातंत्र की स्थापना हुई थी । यह प्रसंग यही प्रमाणित करता है कि रोमन प्रजा नितांत विवेकशून्य या नीतिहीन नहीं थी । परंतु केटो जैसे प्रमुख राजनीतिज्ञ ने एक गुलाम स्त्री को रखैल बनाकर रखा था इससे यह भी सिद्ध होता है कि उपपत्नी की प्रथा के प्रति विशेष घृणा रोमन प्रजा में नहीं थी । अमीर घरानों की रोमन महिलाएँ और कभी कभी सामान्य गृहिणियाँ भी, महज शौकिया तौर पर गणिकागृहों में कुछ समय के लिए रहती थीं, यह सत्य भी विचारणीय है ।

गणिकागृहों की व्यवस्था लगभग यूनान के जैसी ही थी । निश्चित धन देकर कोई भी पुरुष प्रवेश पा सकता था । फर्क सिर्फ इतना था कि यूनानी गणिकाओं को प्राप्त प्रतिष्ठा का यहाँ अभाव था । गणिकाओं को दर्ज करने की पद्धति वर्तमान युग में अनेक देशों में प्रचलित पद्धतिं से बहुत कुछ मिलती जुलती थी । गणिकाओं को दर्ज करने के लिए शासन की ओर से एक अफसर नियुक्त किया जाता था जिसका कार्यालय शहर में ही होता था । गणिकावृत्ति करने वाली स्त्री को इस अधिकारी के दफ्तर में जाकर अपनी उम्र, जन्मस्थान, असली नाम और पेशे के लिये स्वीकृत नया नाम आदि जानकारी दर्ज करानी पड़ती थी । अधिकारी गणिकावृत्ति की कठिनाइयाँ और इस पेशे की हीनता आदि समझा कर स्त्री को नाम दर्ज न कराने का आग्रह करता था; परंतु अकसर उसे सफलता नहीं मिलती थी । इसके बाद गणिकावृत्ति के लिए अरजी करनेवाली स्त्री को परवाना दिया जाता था । परवाना देते समय ही उक्त स्त्री के देह भोग की रकम निश्चित करके परवाने में लिख दी जाती थी और सरकारी दफ्तर में भी इसे दर्ज कर लिया जाता था । स्त्री को शपथ लेनी पड़ती थी कि वह आजीवन इस व्यवसाय के नियमों का पालन करेगी । परंतु कानून इस शपथ की पाबंदी को नहीं मानता था । एक ओर रोमन कानून के विधायक यह कहते थे कि अनीति के काम के लिए ली गई शपथ बंधनकर्त्ता नहीं हो सकती; परंतु दूसरी ओर राज्यतंत्र शासन की सुविधा के लिए यह शपथ दिलवाना आवश्यक मानता था ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि रोमनों में यह भावना प्रचलित थी कि यह पेशा लज्जास्पद है । पतिताओं या उनके संबंधियों के साथ विवाह करना कानून द्वारा निषिद्ध था । फिर भी कुछ सत्ताधीशों ने ऐसे विवाह किए थे और जनता ने उन्हें वैध माना था, ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हैं । खुद रोमन सम्राट जस्टीनियन ने एक ऐसी स्त्री से विवाह किया था जो किसी जमाने में गुलाम पतिता थी, नाटकों में काम कर चुकी थी, और जिसने जीवन के कई वर्ष इस अप्रतिष्ठित व्यवसाय में व्यतीत किये थे । उसका नाम था थियोडोरा । वह गणिकागृह में रहती थी और अपने पेशे में इतनी निपुण मानी जाती थी कि अनेक युवतियाँ उससे तालीम लेने आया करती थीं । विवाह के बाद, जस्टीनियन की सहायता से उसने पतिताओं की स्थिति में सुधार करने के और हो सके तो इस व्यवसाय को नष्ट करने के सद्‌भावनायुक्त प्रयत्न किए थे । सम्राज्ञी की हैसियत से वह राजकाज में भी प्रवीण थी और विवाह के बाद एक आदर्श पत्नी सिद्ध हुई थी ।

प्रजातंत्र युग की अनेक सामाजिक विशिष्टताएँ सम्राटों के युग में भी चलती रही थीं और विकसित हुई थीं । गणिकाव्यवसाय गणिकाधिकारी के नियन्त्रण में ही चल सकता था । इस अधिकारी को चाहे जब, चाहे जिस गणिकागृह में प्रवेश करके कानून का पालन करवाने की सत्ता थी । गणिकाओं को विशिष्ट ढंग के वस्त्र पहनने पड़ते थे और बालों को रंगा हुआ रखना पड़ता था । गणिकागृह सुबह से दोपहर को तीन बजे तक प्राय: बंद रहते थे । इस विभाग में दंगा हो, या गणिकागृहों में अनाधिकृत स्त्रियाँ पाई जायें, तो यह अफसर जुरमाना वसूल कर सकता था या कोड़े मारने की सजा दे सकता था । जो गणिकागृह दफ्तर में दर्ज न हो, उनमें प्रवेश करने का अधिकार गणिकाधिकारी को नहीं होता था । मॅमीलिया नामक गणिका का गणिकालय अधिकारी के दफ्तर में दर्ज नहीं हुआ था । हॉस्टीलियस नामक अधिकारी ने उस स्थान के द्वार

खुलवाने का प्रयत्न किया । मृमीलिया के नौकरों ने उसे पत्थर मारकर भगा दिया । अदालत ने मुकदमा चला, परंतु फैसला मॅमीलिया के पक्ष में हुआ ।

ग्राहक द्वारा नियत रकम अदा न की जाने की शिकायत यदि कोई गणिका करती थी, तो कानून पुरुष को पूरी रकम चुकाने के लिए बाध्य करता था । अनधिकृत गणिकाओं को पकड़कर शहर से बाहर निकाल देने का अधिकार गणिकाधिकारी को था, परंतु इस सत्ता का उपयोग करना बहुत मुश्किल काम था । सदाचारी होने का बारबार दावा करके,उससे लाभ उठाने वाले हम सब, वास्तव में कितने सदाचारी होते हैं, यह हम जानते हैं । जब तक बुरे काम करने का कलंक सिर पर न लगा हो, तब तक हर आदमी समाज की नजरों में सद्गृहस्थ ही माना जाता है, फिर चाहे उसने दंडित अपराधियों से भी अधिक गुनाह क्यों न किए हो । इसी नियमानुसार दर्ज न होने वाली स्त्रियों में से गणिका कौन और साध्वी कौन, यह ढूंढ निकालना खतरे का काम था । अत : अधिकृत गणिकाओं के साथ साथ, अनधिकृत गणिकाओं की एक बड़ी संख्या भी रोमन साम्राज्य के शहरों में, कानून की आँख बचाकर, अपना व्यवसाय चलाती थी । सम्राट ट्रॉजन के समय में की गई एक गणना में केवल रोम नगर की अधिकृत गणिकाओं की संख्या तीस हजार कूती गई थी ।

२
प्रकार

इन अनाधकृत गणिकाओं के विविध प्रकार उस समय की सामाजिक रचना को स्पष्ट करते हैं । समाजजीवन के अध्येताओं की पतितावस्था के कारणों की छानबीन करते समय, आज के समान उस प्राचीन युग में भी, शासन के दफ्तरों में दर्ज न होने वाली गणिकाएँ ही अधिक उपयोगी सामग्री जुटा देती हैं । अनधिकृत गणिकाओं के मुख्य वर्ग निम्न प्रकार थे :—

१. **डेलिकेटी**:— उपपत्नी या रखैल । इस वर्ग की स्त्रियाँ अपने मोहक लावण्य के बल पर पुरुषों से मनमाना धन ऐंठ सकती थीं ।

२. **फामोसी**:— धन के लोभ से या उत्कट विलासवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए प्रतिष्ठित परिवारों की जो स्त्रियाँ देह विक्रय करती थीं, वे इस वर्ग में आती हैं ।

३. **डॉरिस**:— देह सौंदर्य के कारण प्रसिद्ध और नग्नता का आग्रह रखने वाली कामुक स्त्रियों का वर्ग ।

४. **ल्यूपी**:— वृक्षघटाओं, कुंजों या सार्वजनिक उद्यानों के एकांत लता मंडपों में भटक कर पुरुषों को आकर्षित करने वाली स्त्रियाँ । अपनी उपस्थिति का ग्राहकों को ज्ञान कराने के लिए ये वारांगनाएँ भेड़िये की आवाज की नकल करती थीं, जो इनका संकेत शब्द माना जाता था ।

५. **इलिकेरी**:— वीनस और प्रिएपस नामक देवियों को अर्पण करने के लिए गुह्यागों के आकार की रोटियाँ बनाकर बेचने वाली स्त्रियाँ ।

६. **बुस्तुआरी**:— स्मशान के आसपास रहने वाली स्त्रियाँ ।

७. **कोपी**:— धर्मशालाओं और अन्नछत्रों में नौकरी करने वाली युवतियाँ ।

८. **नॉक्टी लुई**:— रात में सड़कों पर भटकने वाली पण्यांगनाएँ ।

९. **ब्लीटाइडी**:— घटिया से घटिया किस्म की शराब मिलने पर भी देह विक्रय के लिए तत्पर होने वाली बाजारी स्त्रियाँ ।

१०. **डायोबॉलेरिस**:— कम दामों में प्राप्त हो सकने वाली त्यक्ताएँ ।

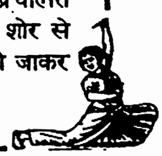
११. **फ्रोरारी**:— गाँवों में भटकने वाली गँवार वेश्याएँ ।

१२. **गॅलिनी**:— गणिकावृत्ति के साथ-साथ चोरी का आशय रखने वाली स्त्रियाँ ।

अधिकृत गणिकागृहों में रहकर सरकारी परवाना प्राप्त करके वेश्यावृत्ति करने वाली पतिताएँ एक वर्ग में आती हैं और उपरोक्त बारह प्रकार की अनधिकृत गणिकाएँ दूसरे वर्ग में । इन बारह प्रकारों के साथ दी हुई उनकी संक्षिप्त व्याख्या से उनके व्यवसाय का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । परंतु इन दो वर्गों के अलावा एक तीसरे प्रकार की नर्तकी-गणिकाएँ भी रोमन युग में थीं जिनकी मांग सब बनी रहती थी । इन नर्तकियों में यूनान, मिस्र, सीरिया, हब्शीनिया, स्पेन और भारत जैसे दूर दूर के देशों की स्त्रियाँ शामिल थी, यह जानकर इस बात का आश्चर्य होता है कि उस अतिप्राचीन युग की दुनिया भी कला और यौन भावनाओं के क्षेत्र में हम मानते हैं उससे कहीं अधिक संकलित थी । इन नर्तकियों की स्थिति यूनान की बंसरी बालाओं के समकक्ष थी । नृत्य संगीत से फिसलकर गणिकावृत्ति में प्रवेश करते इन्हें देर नहीं लगती थी । कानून तो सब गणिकाओं पर नियंत्रण रखना चाहता था । परंतु कानून से बचने का और कभी कभी कानून को घोलकर पी जाने का एकमात्र मार्ग धन की शक्ति के रूप में प्राचीनकाल से उपलब्ध है । इस वर्ग की अनधिकृत गणिकाओं का संबंध प्राय : धनिकों से ही होने के कारण, कानून उनकी ओर से आँख और कान दोनों बंद कर लेता था ।कानून तोड़ने वालों को कोड़े मारकर नगर से निर्वासित करने का दंडविधान था । परंतु कोई आचार जब सर्वमान्य हो जाता है, तब अपराध, कानून और दंड, किसी का महत्व लंबे समय तक नहीं रहता ।

''यत्र धूम तत्र वह्निः'' यह हमारा प्राचीन सूत्र है । इस न्याय से जहाँ जहाँ गणिकावृत्ति होगी, वहाँ गणिकागृहों, दलालों, गुंडों और इस पतितवृत्ति से पोषित अन्य व्यवसायिओं का जाल भी होगा ही । प्रतिष्ठा के आवरण के नीचे अनाचार की सुविधा प्रस्तुत करने में ऐसे तामझाम की आवश्यकता और भी अधिक पड़ती है । मधुशालाओं, स्नानगृहों और पुष्पालयों का संबंध भी प्राय : वेश्यावृत्ति से ही होता था । जिस प्रकार हमारे देश में नदी किनारे के घाट किसी भी स्नानार्थी के लिए खुले रहते हैं उसी प्रकार रोम के स्नानगृहों ने रोमन साम्राज्य के युग में एक सार्वजनिक संस्था का रूप धारण कर लिया था । परंतु इन सार्वजनिक स्नानागारों में स्त्री-पुरुषों के एकत्र नहाने की प्रथा थी । हमारे यहां भी जहाँ घाटों पर स्त्री-पुरुषों के एकत्र स्नान की व्यवस्था होती है, वहाँ क्या होता है,यह चाहे जब देखा जा सकता है । परंतु रोम के अन्य स्नानगृहों में तो पतिताओं को भी सबके साथ नहाने की अनुमति थी । इसके लिए गणिकाधिकारी की अलग से अनुज्ञा लेनी पड़ती थी । परंतु अधिकारियों के कोमल हृदय पर स्त्रियों का और खास तौर पर वारांगनाओं का प्रभाव बहुत शीघ्र पड़ता है, यह जानी हुई बात है । इस हालत में, स्वाभाविक है कि ये स्नानगृह गणिकावृत्ति का पोषण करने वाले केन्द्र बन जाते थे । इसके उपरांत खेलकूद के मैदानों, नाट्यगृहों, मंदिरों, धार्मिक संस्थाओं और समारोहों में भी गणिकाओं को स्थान प्राप्त था । इन स्थानों या प्रसंगों पर वे अपने प्रवेशाधिकार का पूरा-पूरा उपयोग करने से कभी नहीं चूकती थीं ।

यूनान के समान रोम में भी पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग-अलग नैतिक मानदंड प्रचलित थे । रोमन पुरुषों के नैतिक स्खलन क्षम्य थे ; रोमन स्त्रियों के नहीं । दासप्रथा भी रोम में जोर शोर से प्रचलित थी । युद्धों में विजय प्राप्त होते ही, सैकड़ों नहीं, हजारों स्त्रियाँ गुलाम के रूप में पकडी जाकर



रोम के बाज़ारों में बिकने के लिए आती थी । इस लिए नगर को कभी वेश्याओं की कमी नहीं पड़ती थी । रोमन प्रजा की अधिकांश वेश्याएँ गुलामी में पकड़ी हुई स्त्रियाँ ही थीं ।

रोमन साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था, इसलिए दूर दूर के प्रदेशों में सेना रखनी पड़ती थी । रोमन सैनिकों को वर्षों तक विदेशों में रहना पड़ता था । रोमन पुरुष विदेशी स्त्री से कानूनन विवाह नहीं कर सकते थे । अत : रोमन सैनिक रखैलों और गणिकाओं द्वारा ही यौनसुख प्राप्त कर सकते थे, और वे ही गणिकाओं के प्रमुख ग्राहक और पोषक माने जाते थे ।

उपाहारगृह और आनंद प्रमोद के अन्य स्थान भी वेश्यालयों के समान होते थे । कानून की दृष्टि में इन स्थानों पर काम करने वाली युवतियाँ भी वेश्याओं के समकक्ष मानी जाती थी । केशभूषागृह भी इस संशय से मुक्त नहीं थे । इन स्थानों पर अनेक गणिकाएँ अनधिकृत वेश्यावृत्ति करती हुई पकड़ी जाती थीं । रोटी बेचने वाले भटियार खानों के नाज और आटा रखने के तहखानों में भी देह विक्रय का पेशा चलता था जिसकी रोम के व्यवस्थापक अधिकारियों को निश्चित जानकारी रहती थी ।

इससे आगे बढ़कर, गणिकावृत्ति सार्वजनिक स्थानों पर भी चलती रहती थी । लंदन के हाइडपार्क में आज भी स्त्री पुरुष की जोड़ियाँ आधीरात या पूरी रात व्यतीत करती दिखाई दे जाती हैं । रोम में भी मैदानों, मंदिरों, मूर्तिस्थानों, मंदिरों के बरामदों, गलियों और अन्य किसी भी सुविधाजनक स्थान पर यह कार्य हो सकता था । पेन देवता ओर वीनस देवी के मंदिर तो शिथिल नीतिवाली स्त्रियों के प्रिय अड्डे बन गये थे । रोम के प्रथम सम्राट ऑगस्टस की पुत्री ज्यूलिया ने किसी चौक की मूर्ति की छाया में ही अपना देह सौंदर्य शौक के खातिर बेचा था, ऐसा संकेत कई कवियों की कविता में मिलता है । गलियों में चलनेवाली अव्यवस्था, और खास तौर पर दरिद्र मोहल्लों की गलियों के पापाचार का विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्राचीन रोम में देह विक्रय जहाँ सुविधा हो वहाँ हो सकता था । रोम की सड़कों पर रात में रोशनी की व्यवस्था नहीं होती थी । अँधेरा अनाचार का अभिन्न साथी है ही । शहर के कुछ विभागों में, किसी कारणवश, गणिकाओं की संख्या अधिक हो यह बात अलग है परंतु गणिकाओं के आवास किसी निश्चित मोहल्ले में ही होने चाहिये, ऐसा कोई निर्बंध नहीं था । इस कारण से रोम के पवित्र माने जाने वाले मंदिरों के इर्द गिर्द भी अनेक गणिकाएँ रह सकती थीं ।

३
सामाजिक वैचित्र्य

रोमन समाज की एक विचित्रता यहाँ उल्लेखनीय है । प्राचीन समाज और आधुनिक समाज की नैतिक विभिन्नता भी विचारणीय है । वर्तमान समाज अधिक नीतिमान है, यह मानने का कोई कारण नहीं है ; परंतु दोनों युगों के नैतिक रवैयों के समझने के लिए इस भिन्नता की जानकारी आवश्यक है । आज के सभ्य समाज में अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने में अत्यधिक संकोच दिखाई देता है । परंतु इस बात को रोमन समाज में, या अन्य प्राचीन समाजों में इतना महत्व नहीं दिया जाता था । स्त्रियों, नवयुवकों या बच्चों के कानों पर अमुक प्रकार की भाषा या गालियाँ न पड़ जायें, इसका आग्रह आजकी सभ्यता में सतर्कता से रखा जाता है । प्राचीन रोम में यह बात नहीं थी । लॅटिन भाषा बड़ी सरलता से अशिष्ट शब्दों को स्वीकार कर लेती थी । अशिष्ट संकेत वाले शब्द बालकों, युवकों और युवतियों के कानों पर सदा पड़ते रहते थे और उनके द्वारा बोले भी जाते थे । उस समय के शिष्ट साहित्यकार भी इन शब्दों का उपयोग खुलेआम करते थे । हॅरिस, ओविड, जुवॅनल, मार्श्यल कॅट्यूलस, ट्रिब्युलस और पॅट्रोनियस जैसे लॅटिन

भाषा के दिग्गज लेखक अश्लील लेखन के लिए प्रसिद्ध हैं । ऑविड नामक प्रसिद्ध कवि ने अपने 'प्रेमकला' नामक काव्य में शृंगार का ऐसा स्थूल और मर्यादाहीन वर्णन किया है कि उस युग में भी उसे देश निकाले की सजा देनी पड़ी थी । भाषा जीवन का प्रतिबिंब है । जैसा जीवन हम जीते हैं, वैसी ही भाषा बोलते हैं । लॅटिन भाषा बोलने वाली प्रजा को किसी शब्द में अशिष्टता या अश्लीलता दिखाई नहीं देती थी । इसे या तो ईमानदारी कहा जा सकता है या नैतिक जड़ता ।

आज के समाज को परेशान करने वाला एक और प्रश्न भी रोमन नीतिभावना के संबंध में विचारणीय है । मर्यादा और विवस्त्रता के बीच का संबंध या विरोध समझ पाना मुश्किल काम है । अतिमर्यादा या वस्त्राच्छादन की अतिशयता समाज को अंत में नग्नता की ओर खींचती है और विवस्त्रता का अतिरेक अंत में देहाच्छादन से बढ़कर परदानशीनी में परिणत होता है । एक पीढ़ी विवस्त्रता के गीत गाती है तो दूसरी पीढ़ी को घूंघट के पट में काव्य माधुर्य के दर्शन होते हैं । यौन संबंध के स्पष्ट चित्र या मूर्तियाँ हमारे प्राचीन हिंदू देवालयों में प्रचुरता से दिखाई देने पर भी शिष्टता और सभ्यता उन्हें घर में या समाज में स्थान देना नहीं चाहती । उनका निषेध नहीं है, परंतु सभ्यता का तकाजा है कि उन्हें गुप्त रखा जाय । प्राचीन रोमन समाज में सभ्यता का यह बंधन स्वीकृत नहीं था । घर की दीवारों पर की तस्वीरों, भवनों की नक्काशियों, सजावट की वस्तुओं, यहाँ तक कि दीपकों, चम्मचों, थालियों जैसी मामूली चीजों, पर भी ऐसे दृश्य अंकित या चित्रित किए जाते थे, जिन्हें देखने में भी आज हमें संकोच हो । जिस समाज के आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष सदा यही दृश्य देखते हों, उसमें विलास की अतिशयता हो और उसके अनिवार्य परिणाम जैसी वेश्यावृत्ति का व्यापक प्रचार हो, तो आश्चर्य किस बात का ? वस्त्र परिधान के विषय में हॉरेस जैसे महाकवि के विचार तत्कालीन समाज के वस्त्रविन्यास संबंधी रिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं । हॉरेस कहता है, ''गृहिणी का तो केवल मुख ही देखा जा सकता है । परंतु गणिका का पारदर्शक रेशमी वस्त्र तो बिना किसी रुकावट के पूरे नारीदेह के सौंदर्य को प्रत्यक्ष करता है ।''

रोम में पुरुष वेश्याओं की संस्था का अस्तित्व भी था । यूनान में समलिंगी संबंधों में जरा भी संकोच या शर्म का अनुभव नहीं किया जाता था । रोम में भी इस प्रथा को निभा लिया जाता था । अनेक रोमन लेखकों ने इसका उल्लेख किया है । रोमनों के वैयक्तिक गुणावगुण के समान उनकी सामाजिक नीति-अनीति की अधिकांश भावनाएँ भी यूनान से आई थीं । यूनान ने युद्धक्षेत्र में पराजित होकर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में रोम पर विजय प्राप्त की थी । यह विजय इतनी व्यापक थी कि अनेक अच्छी बातों का साथ कुछ 'बुरी बातें भी रोमन समाज जीवन में प्रवेश कर गईं । ऑगस्टस के युग में इस समलिंगी प्रवृत्ति पर कड़ा अंकुश रखा गया था । फिर भी उच्च कोटि के छयालीस गृह केवल रोम में दर्ज हुए थे । इन में प्राप्त सुख-सुविधाएँ वर्तमान युग के सर्वोच्च कोटि के वेश्यागृहों में प्राप्त सुविधाओं का मुकाबला कर सकती थीं । और इनके ऊपर साधारण गणिकावृत्ति का नियंत्रण करने वाले अधिकारी की कोई सत्ता नहीं चलती थी ।

साधारण गणिकागृहों को ल्यूपनेरिया कहा जाता था । इसके अंतर्गत उच्च कोटि के गणिकागृह और किसी भी प्रकार की सुविधा से रहित वेश्यागृह, दोनों का समावेश होता था । उच्चकोटि के गृहों में बीच में आंगन होता था जिसमें फव्वारे चलते रहते थे । प्रवेशद्वार सुंदर और भव्य होता था । चौक के चारों ओर छोटे बड़े कमरों की कतारें होती थीं । प्रत्येक कमरे में तोशक तकियों से सजा एक पलंग होता था । हर कमरे के बाहर एक तख्ती लटकी रहती थी जिस पर उस कमरे में रहने वाली गणिका का नाम, उसके रूपगुण का वर्णन और उसके उपभोग की कीमत लिखी रहती थी । यह तख्ती अगर उलट दी गई हो, तो यह समझ लिया जाता था कि कमरे में उस समय कोई पुरुष मौजूद है । इन गणिका स्थानों का आकर्षण स्त्रियों में भी इतना प्रबल होता था कि रोम की एक महारानी ने राजमहल के एक हिस्से में अपने वैयक्तिक उपयोग के लिए वेश्यागृह बनवाया था जहाँ बड़े-बड़े अमीर उमराओं से वह अपने शौक की मनमानी कीमत वसूल करती थी । इस रसिका का नाम था मॅसेलीना और रोम के शहनशाह क्लॉडियस की वह पत्नी थी !



रोमन वारांगनाओं ने बुद्धि, रसिकता या ललित कलाओं में यूनानी गणिकाओं के जैसी उच्च कोटि की निपुणता प्राप्त की हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । फिर भी कुछ गणिकाएँ अपने संगीत, वाक्चातुर्य और काव्यशक्ति के कारण प्रसिद्ध थीं । प्रजा के नेताओं और समग्र प्रजा को उच्च आदर्श के मार्ग पर मोड़ने में सफल होने वाली यूनानी गणिकाओं जैसी प्रेरक शक्ति का भी रोमन वारांगनाओं में अभाव दिखाई देता है ।उन्होंने तो प्रजा के नेताओं और पूरी प्रजा को अधोगामी बनाने में ही योगदान दिया । रोमन कवियों ने अपनी सुंदर रखैलों के वर्णन तो अवश्य किए हैं और उन वर्णनों में काव्यशक्ति का भी परिचय दिया है, परंतु उनमें कहीं प्राण नहीं है । सीनारा, लीडिया, क्लोव, लालाज, लेस्बिया, सिन्थिया, डेलिया नीरा और कोरीना आदि सुप्रसिद्ध रोमन वारांगनाओं के नामों का लैटिन साहित्य में उल्लेख जरूर हुआ है । परंतु उनके सौंदर्य, उनकी विषय प्रेरक रसिकता, उनकी फिजूलखर्ची, उनकी बेवफाई और उनके आकर्षण का प्रभाव, इससे अधिक और कोई जानकारी हमें नहीं मिलती । फिर भी, उन्हें प्राप्त प्रसिद्धि के कारण उनका महत्व मानना पड़ेगा । अधिकांश पतिताएँ युद्ध में कैद पकड़ी हुई गुलाम स्त्रियाँ या उनकी पुत्रियाँ होती थीं । उनमें की अनेक सुंदरियाँ एशिया निवासी होती थी । आज हमें पश्चिम की गौरांगनाएँ सर्वाधिक सुंदर लगती हैं । उस युग में एशियावासी, गेहुँआ रंग की रमणियाँ अधिक लोकप्रिय थीं । कुछ एशियाई स्त्रियाँ रोमन नगरों में वेश्यावृत्ति करने के लिए स्वेच्छा से आ बसती थीं । पतिताओं को गाड़ी या पालकी में बैठने की मनाही थी, परंतु इस नियम का खुलेआम भंग किया जाता था । कानूनन, गणिकाओं को विशिष्ट प्रकार की वेशभूषा करनी पड़ती थी, लाल रंग से बालों को रंगना पड़ता था और रोमन गृहिणियों से अलग दिखाई दे इस प्रकार का साजशृंगार करना पड़ता था । परंतु इस कानून का भी संपूर्ण पालन नहीं किया जाता था ।

इस युग में रोमन साम्राज्य का क्रमश : बहुत अधिक विस्तार हुआ । रोमन सैनिक विस्तृत प्रदेशों पर छा गये । रोम में समृद्धि की बाढ़ सी आ गई । देश-विदेश के व्यापारी, सौदागर और राजदूत अपने अपने तामझाम के साथ रोम में आते जाते रहते और लंबे अरसे तक निवास भी करते थे । अत : देश-विदेश की यौन विचित्रताएँ भी रोमन संस्कृति में प्रवेश कर गई । अन्य शहरों का ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों रोम के उदाहरण का अनुसरण करने वाली गणिका प्रथा का वहाँ भी आरंभ होता गया । विजयी रोमन प्रजा धीरे धीरे अत्यंत शौकीन और विलासी हो गई । खेती, मजदूरी, गृहकार्य आदि गुलामों के ऊपर सौंपकर रोमन स्त्री पुरुषों ने अपना पूरा समय खानपान, रागरंग, नृत्य-नाटक और रक्तरंजित खेल-क्रीड़ाओं में ही बिताना शुरू किया । युद्ध में पकड़े हुए गुलामों को तालीम देकर, उनसे मृत्यु में परिसमाप्त होने वाले द्वंद्वयुद्ध सार्वजनिक स्थानों में करवा के आनंद प्राप्त करने वाली प्रजा पराकाष्ठा का नैतिक पतन सूचित करती है । क्रूरता में आनंद प्राप्त करने वाली प्रजा सांस्कृतिक अधःपतन की निशानी है । पराजित गुलाम योद्धा का जीवन-मरण रोमन स्त्रियों की सूचना पर निर्भर करता था । इस प्रकार क्रूरता और यौन उन्माद के बीच घनिष्ठ संबंध भी स्थापित हो गया ।

४
नेताओं के उदाहरण

रोमन सम्राटों और संघपतियों के दृष्टांत भी प्रजा के समक्ष थे । कैलीग्यूला, क्लॉडियस, नीरो आदि शहनशाहों के चरित्र प्रजा को कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा दें, ऐसे थे । उनकी यौन विचित्रताएँ प्रजा को आकर्षक और अनुकरणीय दिखाई दी हों, तो आश्चर्य नहीं । 'यथा राजा तथा प्रजा' यह सिद्धांत भुलाने

योग्य नहीं है । सामान्य जनता नेताओं और राज्यकर्ताओं की बुद्धिशक्ति का अनुकरण करे या न कर उनके चालचलन का अंधानुकरण जरूर करती है । उनके अनाचार सामान्य जनता की अनीति का बहाना बन जाते हैं । इसी कारण राज्यकर्ताओं, नेताओं और अग्रणियों के नैतिक स्खलन सामान्य जनता के स्खलनों से अधिक गंभीर माने जाते हैं ।

रोमन राज्य शासन का तीन युगों में विभाजित होना हम देख चुके हैं । राजाओं के प्रथम युग में रोम के विकास का आरंभ हुआ । इस युग की नीति भावना अधिक जागृत होनी चाहिये । सेबाइन स्त्रियों के हरण जैसे सामूहिक स्त्री हरण उस युग में भी होते रहते थे, परंतु ल्युक्रीस नामक किसी उमराव-पत्नी का शीलभंग होने पर पुरानी राज्य व्यवस्था समाप्त हो कर रोमन प्रजातंत्र का दूसरा युग आरंभ हुआ । प्रजातंत्र युग की विजयों ने रोम को अत्यंत समृद्ध बना दिया और रोमन साम्राज्य का विस्तार भी हुआ । परंतु इसी युग में यूनान, मिस्र और एशिया की भोगवादी संस्कृतियों के प्रभाव से ऐशो-इशरत का भी बोलबाला रहा । रंगीन शौकों को पूरा करने के साधन खूब विकसित हुए और गणिकावृत्ति भी यूनान की तरह सर्वसामान्य तो नहीं, पर मान्य अवश्य हो गई । प्रजातंत्र शासन में से ऑगस्टस ने शहनशाह की फिर से स्थापना की और फिर से एक बार सर्वसत्ताधीश सम्राटों की वैयक्तिक सत्ता बढ़ने लगी । इसके परिणामस्वरूप राजमहलों और अमीर उमरावों की हवेलियों में से अनीति ऐसा सुंदर और मादक रूप धारण [illegible] के रोम भर में फैलने लगी कि उसकी मिसाल और किसी प्रजा में उपलब्ध नहीं हो सकती । खुद रा [illegible] में ही वेश्यागार की प्रतिकृति दिखाई दे, यह एक घटना ही तत्कालीन समाज, उसकी यौन भावना [illegible] उनको संतुष्ट करने के मार्गों पर प्रखर प्रकाश डालने में समर्थ है । गृहिणियों को मौज करने के । [illegible] कुछ दिनों तक वेश्यागृहों में रहने की आवश्यकता पड़े, यह व्यवस्था घर में प्राप्त यौनसुख की पराजय ही घोषित करती है । इस तथ्य की ओर आज के युग का ध्यान खींचने की भी जरूरत है । घर में आनंद प्राप्त न कर सकने वाले पुरुषों के समान गृह से असंतुष्ट स्त्रियाँ भी गणिकासंस्था का आश्रय ले सकती हैं, यह इतिहास गिरह बाँध कर रखने जैसा है ।

५

प्राचीन युग-समाप्ति

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उपरोक्त निष्कर्षों के अलावा प्राचीन रोम ने और कुछ भी हासिल नहीं किया था । सामाजिक जीवन के यौन व्यवहारों के एक पहलू पर दृष्टि केन्द्रित करके ही उपरोक्त संकलित वर्णन किया गया है जो रोमनों के बहुरांगी और विविधता भरे जीवन के केवल एक भाग के दर्शन कराता है । दूसरे अनेक सुंदर और उन्नायक गुण या प्रसंग रोमन प्रजा या रोमन इतिहास में नहीं थे, यह मानने की गलती कोई न कर बैठे ।

आत्म बलिदान, संकट सहने की शक्ति और राष्ट्रीय संगठन के लिए स्वार्थत्याग आदि गुणों के अभाव में महाराज्यों की स्थापना हो ही नहीं सकती । रोमन प्रजा में ये सद्गुण विपुल प्रमाण में विकसित हुए थे । अत्यंत रसमय घटना तो यह है कि रोम के राजसत्ता, प्रजातंत्र और साम्राज्य, तीनो युगों में यौन आकर्षण अनेक ऊँची नीची तरंगे उछालता हुआ, धर्म, राजनीति और समाज जीवन के स्तरों को कभी हल्के और कभी गहरे रंगों से रंगकर जीवन की विचित्रता बढ़ाता हुआ, भावना और आचार की टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं में कभी प्रबल आवेग से, और कभी शांत, संयत प्रवाह से, सदा बहता ही रहा । स्थिरता ढूंढने के प्रयत्न में उसने गणिकावृत्ति का सहारा भी लिया । यह आश्रय भिन्न परिस्थितियों में अब तक लिया जा रहा है गणिकासंस्था की उलझनें महा प्रजाओं के यौन जीवन में सदा से भंवरों का निर्माण करती रही हैं



यूनानी संस्कृति के समान रोमन संस्कृति भी वसप्रथा की बुनियाद पर रची गई थी । वसप्रथा गणिकासंस्था की सबसे बड़ी पोषक है । धर्म ने भी इसके विकास में पर्याप्त योगदान् दिया है । सीबिल के गुप्त पंथ का ईसा से २०४ वर्ष पहले रोम में प्रवेश हुआ, और उसके उत्सव समारोह पंथ के अनुयायिओं को अनियमित यौन व्यवहार की ओर खींच ले गये । यूनान से मदिरा और आनंदोपभोग के देवता बेकस की पूजा भी रोम में आई । रोमन शासन के अंतर्गत सभी प्रदेशों में यह पूजन गुप्त रूप से, पर अत्यंत उत्साह पूर्वक किया जाता था । स्त्री-पुरुष दिल खोलकर मदिरापान करके, हिरन के चमड़े का ढीलाढाला चोगा पहन कर समूहनृत्य करते थे । इसी में से अनियमित यौन व्यवहार जन्म लेते थे, जिन्हें धर्मकार्य के रूप में तुरंत मान्यता मिल जाती थी । मिस्र के ईसिसपूजन की विधियाँ भी रोम में प्रचलित हुई । इस पंथ ने नारी के आत्मसम्मान को कुछ हद तक जागृत किया । आत्मसम्मान की जागृति स्त्री-पुरुषों में अकसर विद्रोह की प्रेरणा जगाती है, पुरानी मर्यादाओं को तोड़ने का उत्साह उत्पन्न करती है और उच्छृंखल एवं मुक्त व्यवहार की महत्ता स्थापित करती है । ईसिसभक्ति में रोमन स्त्रियों को उन्मुक्त यौन व्यवहार के लिए बहाना मिल गया । धीरे धीरे इस धार्मिक विधि में अनाचार का प्रवेश हुआ और रोम ने भी धार्मिक वेश्यावृत्ति का थोड़ा बहुत अनुभव किया ।

रोमन साम्राज्य की समाप्ति के साथ ही संस्कृति का प्राचीन युग समाप्त होता है, ऐसी पश्चिम के इतिहासकारों की दृढ मान्यता है । ईसाई संस्कृति के साथ साथ ही नई दुनिया का उदय हुआ इस विचार से हम सहमत हों या न हों, परंतु रोमन संस्कृति के पतन के साथ ही प्राचीन युग का एक अति महत्वपूर्ण कालखंड समाप्त हो गया, यह बात तो माननी ही पड़ेगी । ईसाई संवत के आरंभ से गणिकासंस्था का वर्णन हम नये परिच्छेद से करेंगे । प्राचीन युग के अब तक के अध्ययन से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. कामवासना युगों को जोड़ने वाली कड़ी है । सीरिया, यूनान और रोम की संस्कृतियों के मध्याह्नकाल के बाद दो-तीन हजार वर्ष बीत चुके, परंतु कामवासना अब तक वही रही है ।

२. वासना तृप्ति के प्रकार भी, मामूली परिवर्तनों को छोड़कर वैसे ही रहे हैं । राज्य, धर्म और संस्कृतियों में भारी उलटपलट हुए, परंतु इन परिवर्तनों में शाश्वत रही कामवासना और उसकी तृप्ति के विविध साधन । कभी वह धर्म का दामन पकड़ती है, कभी परिवारों को भंवर में डालती है, कभी राजमहलों की बुनियादें हिला देती है, कभी युद्धों का निर्माण करती है, कभी आदर्शों की रचना करती है तो कभी अमर साहित्य की सृष्टि करती है ।

३. राज्यों, साम्राज्यों या प्रजाओं की आत्यंतिक समृद्धि उन्हें रागरंग और चित्रविचित्र भोगों में घसीट ले जाती है । इसी में से कामवासना की अतिशयता जन्म लेती है जो अंत में पतन का कारण बन जाती है ।

४. गणिकासंस्था एक या दूसरे रूप में अब तक अमर रही है । कभी स्वीकृत, कभी निंदित, कभी तिरस्कृत और कभी प्रतिबंधित होने पर भी, उसका क्रम नहीं टूटा ।

५. यौन संबंधों की विशुद्धि के क्षेत्र में मनुष्यजाति ने हजारों वर्षों में तिलमात्र भी प्रगति नहीं की है ।

६. यौन संबंधों का विशुद्धिकरण या उदात्तीकरण मानव के व्यक्तित्व और उसकी समाजरचना में, अब तक न हो सकने वाली अनेक क्रांतियों की अपेक्षा रखता है ।

७. विशुद्धिकरण के अनेक असफल प्रयत्नों में से यह सत्य स्थापित होता है कि काम, वासना और यौन संबंधों का विशुद्धिकरण असंभव नहीं है ।



खण्ड २

realpatidar.com

प्रथम परिच्छेद

ईसाई धर्म का आरंभ और गणिकावृत्ति

१

रोम में ईसाई धर्म का प्रवेश

अब हम ईसा के वध से आरंभ होने वाले युग का विवेचन करेंगे । ईसा का युग अनेक दृष्टियों से आज की दुनिया के लिए महत्वपूर्ण है । ईसा के बाद केवल एक ही नई धर्मसंस्कृति का उद्‌भव हुआ । इस्लाम धर्म और मुस्लिम संस्कृति का जगदव्यापी स्वरूप आज भी धुंधला सा दिखाई दे जाता है । आज के युग में जीवित धर्म संस्कृतियाँ तीन बची हैं : —

१. आर्य संस्कृति, जिसमें हिंदू और बौद्ध, दोनों संस्कृतियों का समावेश हो जाता है ।

२. ईसाई संस्कृति, जिसका सूर्य अठारहवीं शताब्दी में उदय हुआ और इस बीसवीं शताब्दी में मध्याह्न पर पहुँच कर पूरे विश्व को तपा रहा है । इतने आवेश से तपा रहा है कि जगत अब उसके अस्त की राह देख रहा है ।

३. मुस्लिम संस्कृति, जिसने आर्य और ईसाई संस्कृतियों का स्थान प्राप्त करने की जी जान से कोशिश की । परंतु उनमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई और आज वह ईसाई संस्कृति के मुकाबले में कुछ निस्तेज हो गई है ।

वर्तमान युग में इन तीनों संस्कृतियों के मुकाबले में एक धर्मनिरपेक्ष मानव संस्कृति का विकास भी होता आ रहा है । रूस उसका प्रतीक है । ईसाई संस्कृति अपने आपको जगद्‌व्यापी मानती है, परंतु इस धर्म के अनुयायियों के ईसाइयत के नाम पर कलंक लगाने वाले असत्य आचरण, पाखंड और स्वार्थ-जनित युद्धों ने मानवसृष्टि में शैतानियत का साम्राज्य फैला दिया है । ईसा के नाम की दुहाई देने वाले ईसाइयों की शैतानपरस्ती ने आज पूरे विश्व युद्ध के दावानल में झोंक दिया है । जापान और रूस का अपवाद छोड़कर, युद्ध का नेतृत्व सदा ईसाई संस्कृति ने ही किया है । अहिंसक और प्रेमपरायण ईसा मसीह द्वारा स्थापित ईसाई धर्म के आद्य सिद्धान्तों की कसौटी पर कसें तो आज का युद्ध ईश्वर प्रेरित दिखाई देने के बजाय गैर-ईसाई, स्वार्थी मदांध और दीर्घदृष्टिरहित राजनेताओं के पाप की ज्वाला मालूम देती है ।

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह ने मनुष्यजाति के पापों की क्षमा मांगने के लिए अपना बलिदान दिया । ईसा अब भी सूली से नहीं उतरे । उन्हीं के अनुयायी उन्हें सदा सूली पर टंगा रखना चाहते हैं । पतिताओं के उद्धारक और पतितों के पालक को अपने हृदय के लहू से धोनेवाले महामानव ईसा के अनुयायियों ने पतिताओं के लिए क्या किया ? इसका इतिहास हम संक्षेप में देख लें । संस्कृति के ठेकेदार होने का दावा करने वाले और ईसाइयत से कोसों दूर होने वाले ईसाई आज हमारे शासक हैं, यह

नहीं भूलना चाहिये । यदि हम भूलना चाहें भी, तो दे हमें भूलने नहीं देंगे । इतिहास के विस्तार पर अंकित उनके पदचिन्हों का निरीक्षण करते हुए ही हम वर्तमान युग में प्रवेश कर सकेंगे । पश्चिम में अब



तक यूनानी, रोमन और ईसाई, इन तीन विभागों के अलावा, प्राचीन संस्कृति का और कोई विभाजन स्वीकृत नहीं हुआ है । हमारे अध्ययन में भी इसी विकास-क्रम का स्वीकार कर लेना सुविधाजनक होगा ।

थोड़े से मछुओं में प्रचलित ईसाई धर्म धीरे-धीरे पूरे रोमन साम्राज्य में फैलने लगा । ईसा को वधस्यंभ पर चढ़ानेवाले न्यायाधीश रोमन थे । ईसाई धर्म के तत्वों ने जनसाधारण में ऐसा गहरा धार्मिक प्रभाव उत्पन्न किया कि अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी यह धर्म रोमन साम्राज्य का राजधर्म बन गया । यौन संबंधों की विशुद्धि पर ईसाई धर्म ने बहुत अधिक जोर दिया । स्त्री और पुरुष के शील-संयम की रक्षा ईसाई धर्म का आधारभूत सिद्धांत है । ईसा खुद ब्रह्मचारी थे । यूनानी, रोमन और उस युग की अन्य संस्कृतियाँ यौन-व्यवहार की विशुद्धि के संबंध में इतनी उदासीन थीं कि अनाचार उस युग का व्यापक व्यवहार बन गया था । ईसाई धर्म अपनी प्राथमिक विशुद्धि के साथ इस अनाचार से भिड़ गया ।

२
इतिहास की झाँकी

रोमन साम्राज्य के प्राचीन धर्म के साथ ईसाई धर्म की मुठभेड़ और अंत में पूरी प्रजा द्वारा ईसाई धर्म का स्वीकार, प्रबल और विरोधी राज्यसत्ता के सामने नीति और चरित्रबल पर रची हुई उदार धर्मभावना की विजय का रोमांचक और शिक्षाप्रद इतिहास है । ईसाई धर्म आरंभ में रोमन प्रजा के साधारण वर्गों में मान्य हुआ । सत्ताधीशों ने उसे जड से उखाड़ फेंकने के अत्यंत निर्दय प्रयत्न किये । अंत म इस नये धम को प्रजा के साथ-साथ राज्यसत्ता और पूरे साम्राज्य ने स्वीकार किया । इन तीनों भूमिकाओं से गुजरते हुए मनुष्य-स्वभाव में उत्पन्न होने वाले संघर्ष और समन्वय, विकास की एक अत्यंत बोधप्रद कहानी कह जाते है ।

सीझर की मृत्यु के बाद उसक भतीजे ऑगस्टस ने रोम में फिर से शहनशाहत की स्थापना की । इसके सत्ताइस वर्ष बाद ईसा का जन्म हुआ । सुप्रसिद्ध दार्शनिक सम्राट मार्कस ऑरेलियस की ई. स. १८० में मृत्यु हुई । उसके बाद एक शताब्दी तक रोमन साम्राज्य भयानक गृहयुद्धों से जर्जर होता रहा । राज्यसत्ता का बँटवारा, और स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी राज्य परिवारों और सेनापतियों के कलह ने साम्राज्य को खोखला कर दिया । साम्राज्य कई विभागों में छिन्न-भिन्न हो गया । ई. स. ३२४ में महान सम्राट कॉन्सटन्टाइन ने फिर से एक बार पूरे रोमन साम्राज्य को अपने शासन में एकत्रित किया, तब तक यही झगड़े चलते रहे । कॉन्सटन्टाइन के राज्यकाल के चौदह वर्षों में दो अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई । एक तो रोमन सम्राट द्वारा ईसाई धर्म का स्वीकार और दूसरी, साम्राज्य की राजधानी का रोम से कॉन्सटन्टीनोपल में स्थानांतर ।

ईसाई धर्म की राज्यस्वीकृति में प्रजा की स्वीकृति का ही प्रतिबिंब दिखाई देता है । उससे कुछ पहले के युग में रोम के सम्राट, उनके परिवार और अमीर उमरा भयानक अनाचार में डूबे हुए थे । रातदिन उन्हीं के उदाहरण नजर के समक्ष रहने से प्रजा भी अनीति के गर्त में डूबी हुई थी । निरंकुश वासना का बोलबाला था और काम के आवेग को संतुष्ट करने के साधनों की कमी नहीं थी । यौन-आनंद प्राप्त करने की जितनी विधियाँ प्राचीन युग को ज्ञात थीं, उन सब में रोम के निवासी अपने सम्राटों के कुशल मार्गदर्शन में पारंगत हो चुके थे । जुवेनल नामक प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक कहता है कि इस युग में अनाचार ने सर्वोच्च कक्षा प्राप्त की थी । व्यंग्य लेखक अपने कथन को कुछ गहरे रंगों में ही चित्रित करते हैं । प्राचीन रोम का अनाचार आज के लंदन, पॅरिस या ब्यूनो आयर के आनंद प्रमोद की आड़ में होने वाले अनाचारों से बहुत कुछ मिलता जुलता दिखाई देता है । अत : एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटॅनिका का यह मत कि आज के यौन अनाचारों से प्राचीन रोम की अनीति अधिक भयानक नहीं थी, समुचित और स्वीकार्य मालूम देता है । फिर भी, रोमन समाज के कुछ अनीति प्रवर्तक तत्वों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता । गुलामों के द्वंद्वयुद्ध और रथदौड़ की प्रतियोगिताओं का शौक रोमन स्त्री-पुरुषों में पागलपन की हद तक पहुँच चुका था । विशाल साम्राज्य की संपत्ति रोम में आकर संचित हो रही थी । विपुल संख्या में पकड़े जाने वाले गुलाम रोमन समाज के थकान और ऊब उपजाने वाले कामों का बोझ ढोने के लिए सब उपलब्ध रहते थे । रोमन धर्म ने भी पौर्वात्य धर्मविधियों में से गुप्त और विकारप्रेरक क्रियाओं का स्वीकार करके रोमन समाज में अनाचार के व्यापक प्रसार का मार्ग खुला कर दिया था ।

इस प्रकार के अनाचार में डूबकर कोई भी प्रजा या राज्य ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह सकता । रोमन प्रजा ने इतने लंबे अरसे तक अपना प्रभुत्व बनाये रखा, इसका प्रमुख कारण था उस प्रजा की प्राणशक्ति और उसका नैतिक बल । रोम ने यूनान के साहित्य और दर्शन उत्तराधिकार में प्राप्त किए थे

और इसी प्रभाव ने रोमन प्रजा की मनुष्यता को जीवित रखा था । इस मनुष्यता में से ही पश्चिम के न्यायशास्त्र को आजतक प्रभावित करने वाले कानूनों की सृष्टि हुई थी । रोमन प्रजा के मानस में न्यायप्रियता और उदारता का स्रोत सदा बहता रहा था । एक ओर यौन अनाचार की अतिशयता और दूसरी ओर इन्सानियतभरी उदारता न इसाई धम के स्वीकार के लिए प्रजामानस को तैयार कर दिया था । प्रजा में ईसाई धर्म के प्रति सद्भावना क्रमश : बढ़ती ही गई । सम्राट और उनके कुटुंबीजन भी ईसाई धर्म के प्रति अधिकाधिक सहिष्णु होते गये और अंत में सम्राट कॉन्सटन्टाइन ने ईसाई धर्म का रोमन-राजधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया । इतना ही नहीं, अपनी राजधानी का भी ईसाई धर्म के उद्गमस्थान पॅलेस्टाईन की दिशा में स्थानांतर किया ।

एशिया और यूरोप के द्वार समान बॉस्फरस के जलडमरूमध्य पर बसा हुआ कॉन्सटन्टीनोपल शहर ईसाई धर्म के राज्य स्वीकृत होने से पहले, दो तीन शताब्दियों तक, पुराने देवी-देवताओं को मानने वाले पेगन धर्म और नये ईसाई धर्म का संघर्षस्थान बना हुआ था । इस संघर्ष में, अत्यंत छोटे पैमाने पर, परंतु अंत :करणपूर्वक मान्य होने वाले नये धर्म द्वारा व्यापक, सत्ताधारी, परंतु भ्रष्ट हो चुकने वाले पुराने धर्म पर विजय प्राप्त की जाने की कहानी समाई हुई है । अधिकतर रोमन सम्राट अपनी अमानुषी निर्दयता और भ्रष्ट आचारों के लिए बदनाम हैं । मुमकिन है कि इन सम्राटों और इनकी पत्नियों की व्यभिचार-गाथाएँ कुछ अतिशयोक्ति से चित्रित की गई हों ; परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके उदाहरण प्रजा की विलास-वृत्ति को रोक सकें, ऐसे नहीं थे । गुलामों, गणिकाओं और जनखों के समूहों में पनपनेवाली इस भोगवादी संस्कृति की धर्म के प्राथमिक आवेश और पवित्रता से युक्त ईसाई धर्म-भावना से प्रथम मुठभेड़ हुई, तब से लगाकर नयी धर्मभावना के व्यापक विजय तक अनेक रोमांचक घटनाएँ हो चुकी थीं । ईसाइयों को अपरंपार यातनाएँ दी जाने के असंख्य उदाहरण मौजूद हैं । उन्हें भूखे शेरों के पिंजरों में धकेल दिया जाता था और ईसाई स्त्रियों और साध्वियों पर बलात्कार किए जाते थे । धर्मों के संघर्ष में ऐसी निर्दयतापूर्ण घटनाएँ तो न जाने कितनी हुईं । कभी-कभी पवित्र एन्टोनियस और माकस आरालयस जैसे उदार सम्राटों के समय में ईसाई धर्म के राजधर्म बन जाने की संभावना दिखाई देने लगती थी । परंतु ईसाई धर्म की अंतिम विजय से पहले प्राचीन धर्म ने उसे अनेक बार दबा दिया था ।

अनेक प्राचीन धर्मक्रियाएँ गुप्त यौनव्यवहार में परिणत हो गई थीं और उनमें से उत्पन्न गणिकावृत्ति को प्रजा ने व्यापक रूप से अपना लिया था । ईसाई धर्म का प्रथम कार्य इस वैयक्तिक अनाचार का मुकाबला करना था । ईसाई धर्म के आद्य संस्थापक ईसा आजन्म ब्रह्मचारी थे, यह प्रसिद्ध बात है । ईसा ने सच्चे हृदय से प्रायश्चित करने वाली मॅरी मॅगडेलन नामक पतिता के पापों को क्षमा करके, उसे ईसाई धर्म में प्रवेश करने की अनुमति दी थी । यह घटना ईसा की पापियों के प्रति देखने की दृष्टि का सुंदर और विश्व को उन्नत करने वाला उदाहरण है । विवाह को ईसा ने एक पवित्र संस्कार और ईश्वर के सान्निध्य में होने वाली एक धार्मिक क्रिया माना था । प्राचीन यूनान और रोम में विवाह के साथ पवित्रता की कोई मान्यता नहीं जुड़ी थी । ईसिस, सीरिज, वीनस, फ्लोरा आदि प्रेम की देवियों के आसपास उलझे हुए अनाचार के जालों को झाड़ कर साफ करने में ईसाई धर्म को तीन सौ से भी अधिक वर्ष लगे ।

ईसाई धर्म को भी किसी हद तक समय का अनुसरण करना पड़ा था । इस धर्म के प्रचारक कभी तो ऐंद्रियसुख का कड़ा विरोध करते थे, और कभी उसकी ओर से आँखें बंद कर लेते थे । फिर भी एक मान्यता स्थायी तौर पर पाई जाती है । वे पश्चात्ताप के सिद्धान्त पर बहुत जोर देते थे । पाप के लिए पश्चात्ताप करने वाले पापियों को ईसाई धर्म के आश्रय में अपने अपराध की क्षमा और ईश्वर का प्रेम, दोनों सरलता से मिल सकते हैं । नम्रता या विनीतभाव इस धर्म का दूसरा प्रमुख लक्षण है । जनता के उच्च और साधारण, दोनों वर्गों को यह भावना अत्यंत अनुकूल दिखाई दी । संपत्ति के अभिमान से मत्त रोमन

जनता नम्रता से बहुत दूर पहुँच चुकी थी । इस गर्वोन्मत्तता के मुकाबले में ईसाई धर्म की शालीनता अत्यंत आकर्षक दिखाई देती होगी । और यह नम्रता पराधीन गुलामों की विवशता नहीं बल्कि मनुष्यजाति का कल्याण चाहने वाले धर्मनिष्ठ और धर्माग्रही स्त्री-पुरुषों की जीवन निष्ठा थी । धर्म के आवेश से युक्त साधारण से साधारण ईसाई रोम के किसी विजयी सेनापति के जितना ही हठी और त्यागी साबित होता था । नम्र. पर मौत को ठुकराने वाला और संपूर्ण अहिंसक. पर हिंसा का अहिंसा से मुकाबला करने को सदा तत्पर रहने वाला मनुष्य बड़ा प्रभावशाली सत्याग्रही हो सकता है । भारत में गांधीजी इसी आदर्श की स्थापना करने की कोशिश कर रहे हैं ।

अधिकार प्रिय रोमन धर्म के सामने अधिकारहीन ईसाई धर्म. पुराने धर्म के आदर्शों का विरोध करता हुआ. तीन सौ वर्षों तक जूझता रहा । दोनों में भयानक संघर्ष हुए । हिंसा या पशुबल की सहायता लिए बिना ईसाई धर्म अंत में रोम का राजधर्म बनकर पूरे यूरोप में फैल गया । इतिहास का यह परिच्छेद बार बार पढ़कर मनन करने योग्य है ।

३
ईसाई धर्म और गणिका

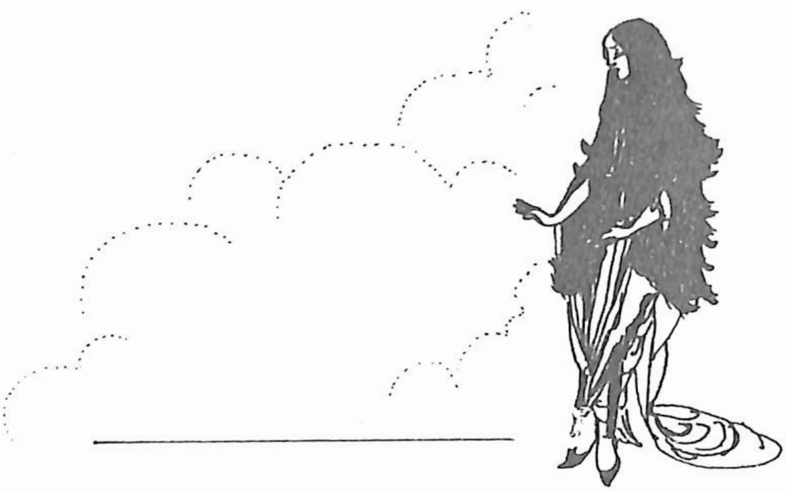
धर्म संघर्ष के अंतर्गत स्त्री-पुरुष के संबंध की भावना भी आ जाती है । संस्कृतियों की मुठभेड़ या उनका समन्वय स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा और स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों पर गहरा प्रभाव डालते हैं । इस प्रभाव का अध्ययन अत्यंत मनोरंजक और बोधप्रद हो सकता है । रोमनों की भाषा. उनका चालचलन. और उनके रीतिरिवाजों का उल्लेख पहले हो चुका है । इस संस्कृति की कामुकता का मुकाबला ईसाई साधुसाध्वियों के कठोर ब्रह्मचर्य व्रत. मर्यादाशील वस्त्र परिधान. विशुद्ध भाषा और निर्मल बर्ताव ने किया ।

ईसाई धर्म के विरोधियों द्वारा ईसाई जनता को दिये जाने वाले कष्ट नये-नये रूप धारण करते रहते थे । मार्कस ऑरेलियस जैसे प्रसिद्ध तत्वज्ञ और उदारचेता सम्राट के युग में भी ईसाइयों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किए गये थे । ईसाई धर्म के ब्रह्मचर्य व्रत ने आरंभ में स्त्रियों को बहुत अधिक प्रभावित किया था । देहदमन द्वारा वासना पर विजय प्राप्त करने को उत्सुक स्त्रियाँ कौमारव्रत धारण करके एकान्त में ईश्वर की प्रार्थना करती थीं और अनेक प्रकार के देहकष्ट भुगतती थीं । स्त्री की अविवाहित अवस्था रोमन संस्कृति की समझ में न आने वाली विचित्रता थी । नये धर्म की इन परंपरा-विरोधी प्रवृत्तियों को दंडित करने के लिए रोमनों ने अत्यंत नृशंस उपायों की योजना की । रोमन नागरिकों को मालूम पड़ जाय कि अमुक ईसाई स्त्री ब्रह्मचारिणी है. तो उसे पकड़कर अश्लील मूर्तियों के साथ उसका जबरदस्ती समागम करवाते थे । ये बीभत्स मूर्तियाँ रोम में जगह-जगह पर स्थापित की गई थीं । ब्रह्मचारिणियाँ स्वाभाविक रूप से इस घृणित कार्य का विरोध करती थीं । विरोध की अतिरिक्त सजा के रूप में उन्हें विवस्त्र करके भरे बाजारों से घसीटते हुए गणिकागृहों में ले जाया जाता था और वहाँ रहने के लिए उन्हें विवश किया जाता था । इससे आगे बढ़कर जो सजा दी जाती थी. वह तो और भी घृणित है । रोमन कानून के अनुसार कुमारिकाओं को फाँसी नहीं दी जा सकती थी । ईसाई ब्रह्मचारिणियाँ तो क्वाँरी

ही होती थीं । अत : इन विधर्मी ईसाई बालाओं को, गलत धर्म का पालन करने के अपराध में, रोमन न्यायाधीश जब फाँसी की सजा देते थे, तब प्राणदंड देने से पहले, फाँसी देने वाले जल्लाद द्वारा जबरदस्ती इन कुमारिकाओं का कौमारभंग किया जाता था । ईसाई कुमारियों पर जल्लादों का बलात्कार उस युग का साधारण दंड बन गया था । स्वाभाविक रूप से, ईसाई जनता उन साध्वियों को इस बलात्कार के पाप की भागी नहीं मानती थी । इसे पाप नहीं, बल्कि धर्म के नाम पर किया गया आत्मोत्सर्ग माना जाता था । वधस्थंभ पर लटक कर अनेक साध्वियाँ अपने हत्यारों पर नैतिक विजय प्राप्त कर चुकी थीं । ईसाई जनता इन स्त्रियों की मृत्यु को अत्यंत पवित्र और ईश्वरेच्छा से प्रेरित पुण्य कार्य मानती थी ।

ऐसी अमानुषिक सजाएँ देने वालों के मन पर भी इनका गहरा प्रभाव पड़ता था । ऐसी वीरोचित सहनशक्ति में कभी-कभी जल्लादों को चमत्कार के दर्शन हो जाते थे । किसी सिद्धांत की खातिर मृत्यु का स्वीकार करना सदा एक चमत्कार माना गया है । कभी-कभी तो ये चमत्कार ब्रहमचारिणियों को मृत्यु के पाश से बचा भी लेते थे । इस प्रकार मृत्यु और पतितावस्था से बची हुई ब्रहमचारिणियाँ ईसाई धर्म की महत्ता को बढ़ाकर उसके प्रचार का प्रभावी साधन बन जाती थीं । यह बात नहीं कि ईश्वरी चमत्कार सर्वदा, सभी ब्रहमचारिणियों को मृत्यु के मुख से बचा लेते थे । परंतु ईसाइयों की पवित्रता, उनका अड़िग निश्चय और निस्सीम त्याग, अमर्याद रोमन विषयवृत्ति पर गहरा प्रभाव डाले बिना नहीं रहते थे । पवित्रता पर आधारित वीरोचित विरोध अनेक बार विपक्षियों के मानस की दुष्टता और निर्दयता को पिघला देता था । उस युग की परिस्थिति को समझने के लिए दो एक दृष्टांत आवश्यक हैं :—

एग्निस नामक सुंदरी का जन्म उच्च रोमन परिवार में हुआ था । किशोरावस्था से ही उसका सौंदर्य रोमन युवकों को आकर्षित करने लगा था । उसके साथ विवाह करने की अनेक कुलीन परिवारों के युवकों में होड़ मच गई । परंतु ईसाई धर्म की तपश्चर्या में लीन इस सुंदरी ने सबकी माँग को ठुकरा दिया । रोम के एक न्यायाधीश के पुत्र ने भी उस पर मोहित होकर विवाह का प्रस्ताव किया । एग्निस के ना कहते ही उस युवक ने एग्निस पर ईसाई होने का अभियोग लगाकर न्यायालय में मुकदमा कर दिया । युवक का पिता ही न्यायाधीश था । एग्निस ने अभिमान पूर्वक अपने ईसाई होने की गवाही दी । न्यायाधीश ने सजा फरमाई, "तेरे लिए दो मार्ग हैं । या तो वेस्टादेवी की पुजारिन बनकर आजीवन ब्रहमचारिणी रह, या वेश्यागृह में रहकर जीवन व्यतीत कर ।" एग्निस ने झूठी और ईसाई धर्म को अमान्य वेस्टादेवी की



पुजारिन बनने से इनकार कर दिया । अत : न्यायाधीश ने दूसरी सजा कायम रखी कि उसे विवस्त्र करके वेश्यागृह में ले जाया जाय । परंतु उसी समय, द्रौपदीवस्त्रहरण की याद दिला देने वाला चमत्कार हुआ । एग्निस के वस्त्र उतारते ही, ईश्वरी संकेत से उसके सिर के बाल इतने विपुल हो गये कि उसकी वस्त्रविहीन देह ढंक गई । बालों का आवरण उसके शरीर के चारों ओर लिपट गया । तमाशबीनों की भीड़ यह चमत्कार देखते ही चौंधिया गई और ईसाई कुमारिका के प्रति भक्तिभाव से उनके हृदय द्रवित हो उठे ।

परंतु रोमन अत्याचार यहीं नहीं रुका । सजा पूरी करने के लिए एग्निस को गणिकागृह में ले जाया गया । वहाँ प्रवेश करते ही उसकी देह के चारों ओर किसी दिव्य प्रकाश का वलय लिपट गया । गणिकागृह में एग्निस जैसी सुप्रसिद्ध सुंदरी की राह देखने वाले शौकीनों में से कोई उसके सामने दिख न सका । सब के हृदय भय से थर्रा उठे । कामुक चेष्टाएँ करने वाले उसके कदमों पर गिर पड़े और विलासी जनों का अत्याचार रुक गया । इतने में ही न्यायाधीश का पुत्र अपने मित्रों के साथ वहाँ आ पहुँचा । जिस एग्निस ने उसके विवाह-प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, वही अब गणिका के रूप में उसकी विलास-वासना को संतुष्ट करने के लिए बाध्य है, इस कल्पना से वह उन्मत्त हो रहा था । उसने भी एग्निस के शरीर से लिपटी हुई दिव्य ज्योति को देखा, परंतु उसकी उपेक्षा करके उसे छेड़ने को हाथ बढ़ाया । उसी क्षण आकाश से बिजली गिरी और वह युवक गतप्राण होकर एग्निस के पाँवों के पास ही ढेर हो गया ।

अब एग्निस को छेड़ने की किसी की हिम्मत नहीं हुई । उसे फिर से न्यायाधीश के समक्ष ले जाया गया । एग्निस ने उसके पुत्र को पुनर्जीवित कर दिया जिससे पुत्र का हृदय में भी एग्निस के प्रति गहरा पूज्य भाव उत्पन्न हुआ । परंतु न्यायाधीश पिता की वैरवृत्ति का अब तक शमन नहीं हुआ था । एग्निस मारणमंत्र जानने वाली जादूगरनी है, यह अभियोग लगाकर उसे जिन्दा जला देने का फरमान न्यायाधीश साहब ने जारी किया । हँसते-हँसते एग्निस ने चिता-प्रवेश किया, और अपना कौमार व्रत अखंड रखकर मृत्यु का सामना किया । तभी से ईसाई जनता में उसकी एक संत के रूप में पूजा होने लगी । इस प्रसंग ने और इसकी प्रसिद्धि ने अनेक ईसाई-विरोधियों को ईसाई-धर्माभिमुख बना दिया हो, यह संभव है ।

चमत्कार का एक दूसरा उदाहरण भी मननीय है :—

एलॅकझान्ड्रिया मिस्र का नगर होने पर भी रोमन संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र था । वहाँ के अधिकारियों को खबर मिली कि थियोडोरा नामक उच्च कुल की एक महिला ईसाई धर्म का पालन करती है । एग्निस को दी जाने वाली सजा उस जमाने में सामान्य मानी जाती थी । विधर्मी स्त्रियों को नग्न करके भरे बाजार में घसीटते हुए गणिकागृह में ले जाना उस समय की आम सजा थी । अधिकारियों ने थियोडोरा को ईसाई धर्म का त्याग करने की सूचना दी, परंतु उसने इनकार कर दिया । उसके कौटुंबिक वैभव को देखते हुए उसे विचार करने के लिए तीन दिन की मोहलत दी गई और इस आज्ञा का अनादर करने पर आमतौर से दी जाने वाली सजा की धमकी भी दी गई । तीन दिन बीत गये, पर थियोडोरा अपनी धार्मिक मान्यता से विचलित नहीं हुई । अत : उसे घसीट कर गणिकागृह में ले जाया गया । वहाँ के निर्लज्ज और लोलुप स्त्री-पुरुषों से घिरी हुई, अर्धनग्न और असहाय थियोडोरा घुटने टेककर ईश्वर की प्रार्थना करने लगी । उस संकट-ग्रस्त अवस्था में भी ईश्वर पर अडिग निष्ठा रखकर प्रार्थना करने वाली इस पवित्र नारी ने आसपास के उन अनाचारी स्त्री-पुरुषों पर अद्भुत प्रभाव डाला । कुछ समय तक तो उस प्रार्थनारत युवती की ओर आँख उठाकर देखने का भी किसी को साहस नहीं हुआ । परंतु अधिकारी की आज्ञा का पालन करना किसी न किसी के लिए लाजिमी था । अत : थियोडोरा का शीलभंग करने को एक रोमन सैनिक उद्यत हुआ । दोनों को एक कमरे में बंद कर दिया गया । थियोडोरा काँप उठी । उसे डर लगा कि अब उसकी पवित्रता की रक्षा नहीं हो सकेगी । परंतु दरवाजा बंद होते ही वह सैनिक उसके चरणों में गिर पड़ा । उसकी पवित्रता से अभिभूत होकर उसने कबूल किया कि वह भी गुप्त रूप से ईसाई धर्म का पालन

करता था । उसने तुरंत अपने कपड़े थियोडोरा को पहना दिये और उसके गणिकागृह से निकल भागने की सुविधा कर दी । थियोडोरा तो निकल भागी, परंतु वह सैनिक पकड़ा गया और अफसरों की आज्ञानुसार एक ईसाई युवती को भ्रष्ट न करने के अपराध में उसे देहांत की सजा दी गई । परंतु थियोडोरा उच्च कुल की सम्भ्रान्त महिला थी । अपनी रक्षा करने वाले को मृत्यु के मुख में धकेल कर अपने प्राण बचाने की नीच स्वार्थवृत्ति उसमें कैसे हो सकती थी ? सैनिक के वध के समय वह स्वेच्छा से वहाँ हाजिर हो गई और प्रार्थना की कि असली अपराधिनी तो वह है, अत : दंड उसे मिलना चाहिये । इन प्रयत्नों के बावजूद वह उस सैनिक को न बचा सकी ; इतना ही नहीं, उसे भी प्राणदंड दिया गया । अपने सहायक सैनिक के साथ थियोडोरा ने हँसते-हँसते मृत्यु का स्वागत किया । मानी हुई बात है कि ऐसे प्रसंगों पर लोगों की सहानुभूति सजा देने वाले के साथ नहीं, बल्कि सजा भुगतने वाले के साथ रहती है ।

ये उदाहरण अधिकारियों के विरुद्ध सफल होने वाले सत्याग्रह के हैं । परंतु ऐसे चमत्कार तो इने गिने ही होते होंगे । अधिकांश प्रसंगों पर तो सत्ताधीशों की आज्ञा का पालन होकर ईसाई कुमारिकाएँ बलात्कार से भ्रष्ट की जाती होंगी । ईसाई धर्म की अनुयायिनी, न मालूम कितनी युवतियाँ इस प्रकार आजीवन गणिकागृहों में रहने को मजबूर हुई होंगी । केवल युवतियों को ही नहीं, ईसाई धर्म में विश्वास करने का अक्षम्य अपराध करने वाली प्रौढ़ाओं और वृद्धाओं को भी यही लज्जास्पद सजा दी जाती थी । ईसाई धर्म के इतिहास में इसके असंख्य उदाहरण मौजूद हैं । परंतु इस प्रकार के घृणित अत्याचारों में से ही पतिताओं के उद्धार का भाव सत्ताधीशों की कल्पना में भी न आ सके, ऐसा परिणाम निकला ।

संत ऑगस्टाइन और संत जीरॉल जैसे ईसाई विचारकों ने देह और आत्मा के भेदों का विभाजन करके यह मान्यता स्थापित की कि पाप और पुण्य का अस्तित्व किसी कार्य विशेष में नहीं, बल्कि उस कार्य को प्रेरित करने वाले संकल्प में निहित है । इससे फलित हुआ कि अत्याचार के कारण भ्रष्ट होने वाले तन में भी विशुद्ध और पवित्र हृदय निवास कर सकता है । परिणामस्वरूप परधर्मी अधिकारियों द्वारा गणिकागृहों में भेजी हुई अनेक ईसाई कुमारियों को ईसाई धर्म में सम्माननीय स्थान प्राप्त हो सका । इतना ही नहीं, अनेक अपमानित और पतित गणिकाओं का ईसाई धर्म में प्रवेश भी इस मान्यता के आधार पर सरल और मान्य हो सका ।

३६
पावन होने वाली पतिताएँ

पतिताओं को अकसर अस्पृश्य, त्याज्य और निर्लज्ज माना जाता है । परंतु ईसाई धर्म ने इनको अपनाने के लिए हाथ बढ़ाया । वेश्यावृत्ति का त्याग करके, प्रायश्चित की अग्नि में हृदय को तपाकर ईश्वरभक्ति में निमग्न रहने वाली स्त्री महापापिनी होने पर भी मुक्ति की अधिकारिणी हो सकती है, यह सिद्धान्त ईसाई संतों ने पतिताओं को सुनाया । परिणामस्वरूप अनेक पतिताओं ने अपने घृणित पेशे को त्याग कर ईसाई धर्म की शरण ली । जो गणिकावृत्ति का त्याग न कर सकीं वे भी पश्चात्ताप, ईश्वर प्रार्थना और क्षमायाचना का महत्व समझने जितनी मनुष्यता विकसित कर सकीं ।

ईसा ने मैरी मॅगडेलन नामक गणिका के सच्चे पश्चात्ताप से प्रभावित होकर उसके सब गुनाह माफ कर दिये थे । ईसा की करुणा का मार्ग ईसाई धर्म ने सब पतिताओं के लिए खुला रखा । मनोविज्ञान का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि मन में जब किसी बात की प्रतिक्रिया होती है, तो वृत्तियाँ ठेठ विरोधी सिरे पर जा बैठती हैं । अनेक गणिकाओं ने ईसाई धर्म के प्रभाव से वेश्यावृत्ति छोड़ दी और कठिन कायाकष्ट,

तपश्चर्या और आत्मबलिदान का व्रत धारण किया । उनमें की अनेक गणिकाएँ अपनी तपश्चर्या और बलिदान के बल पर साध्वियों के रूप में पूजी जा चुकी है । थियोफाइल रेनोक नामक पादरी ने इस प्रकार की साध्वी गणिकाओं की एक विस्तृत चरित्रमाला लिखी है ।

धर्म के प्रभाव से गणिकावृत्ति छोड़ देने वाली स्त्रियों के थोड़े से दृष्टांत हमारे अध्ययन में सहायक हो सकेंगे । जन्मजात वृत्ति, भरपूर धनोपार्जन का व्यवसाय और सुखचैन भरा जीवन छोड़कर कठोर आत्म बलिदान चाहने वाले नये धर्म को स्वीकार करने वाली गणिकाओं का त्याग सचमुच उच्च कोटि का था । आरंभ में, ईसाई धर्म को स्वीकार करने वाली स्त्रियों में, गणिकाओं की संख्या बहुत अधिक थी । इस तथ्य पर विचार करते समय वेश्यावृत्ति का समूल नाश होने की संभावना पर हमारी श्रद्धा कुछ बढ़ जाती है । अत: पतितावृत्ति का त्याग करने वाली कुछ स्त्रियों के दृष्टांतों पर हम विचार करें :—

१. **मिस्र मिवासिनी मैरी:—** मैरी ने बारह वर्ष की कच्ची उम्र में ऐलक्झान्ड्रिया नगर में गणिकावृत्ति का आरंभ किया और जीवन एलेक्झान्ड्रिया नगर में गणिकावृत्ति का आरंभ किया और जीवन के सत्रह वर्ष इस वृत्ति में व्यतीत किये । अंत में अंतर्चक्षु खुले और ईसाई धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न हुई । अपने व्यवसाय को त्याग कर अकिंचन बनी हुई इस गणिका के मन में जेरुसलेम की यात्रा करने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई । मिस्र से जेरुसलेम समुद्र मार्ग से जाना पड़ता था । नाविकों ने उससे किराया मांगा । मैरी ने स्पष्ट कहा, "भाइयो, मेरे पास किराये के पैसे नहीं है । मेरे पास सिर्फ मेरा शरीर है । किराये के एवज में इसका उपभोग कर सकते हो । परंतु किसी प्रकार भी हो, मुझे ईसा की भूमि में जरूर पहुंचा दो ।" जहाजियों को किराये की अदायगी का यह प्रकार बहुत पसंद आया । इस प्रकार, जहाज का किराया चुकाने के लिए, त्यागी हुई वेश्यावृत्ति का फिर से अंगीकार करके यह धर्मोन्मत्त युवती पवित्र तीर्थधाम में आ पहुंची । ईसा के विचरण से पवित्र बनी हुई ज्यूडिया के कुंजों में प्रवेश करते ही मैरी ने अपने पाप का कठोर प्रायश्चित किया और किसी भी पुरुष की ओर दृष्टि उठाये बिना इस तपस्विनी ने सैंतालीस वर्षों तक विवस्त्र स्थिति में रहकर ईश्वर परायण जीवन व्यतीत किया । उसकी भव्य तपस्या ने उसे संतों की श्रेणी में ला बैठाया । गणिकाओं की मार्गदर्शक संत के रूप में उसकी पूजा युगों तक होती रही । पॅरिस में उसके नाम पर एक गिरजे का निर्माण हुआ । जहाज में उसे वेश्यावृत्ति करनी पड़ी थी, उस प्रसंग के चित्र भी इस गिरजे की खिड़कियों के शीशों पर अंकित किए गये । मैरी का चरित्र इस सिद्धांत का आदर्श उदाहरण माना जाता है कि पाप की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाली गणिका भी महान साध्वी हो सकती है ।

२. थेई नामक गणिका ने ईसाई धर्म का स्वीकार किस प्रकार किया ? इसकी कथा भी बड़ी प्रेरक है । उसका सौंदर्य इतना उन्मादक था कि उसका देहभोग कुछ क्षणों के लिए प्राप्त करने को धनिकों को अपनी पूरी संपत्ति अर्पण करके दरिद्र बनना पड़ता था । उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए उसके कद्रदानों में होने वाली स्पर्धा ने उसके आंगन में खून की नदियाँ बहाई थीं । एक बार पॅफ्नुकस नामक ईसाई धर्म गुरु ने उसके घर पहुँचकर और मुँहमांगे दाम देकर उसका सहचार प्राप्त किया । थेई उसे स्वागतपूर्वक अपने शयन कक्ष में ले गई और उसे अपनी सजी हुई शय्या पर आमंत्रित किया । साधु ने पूछा, "इससे अधिक एकान्त हो, ऐसा और कोई कमरा नहीं है क्या ?" साधु शायद संकोचवश ऐसा कह रहा है, यह मानकर थेई ने उसे एक के बाद एक, कई कमरे दिखाये । परंतु साधु को इच्छित एकांत कहीं दिखाई नहीं दिया । अंत में थेई उसे एक अत्यंत भीतरी कमरे में ले गई और विद्रूप से बोली, "इस स्थान पर शायद ही कोई आता है । आपका सर्वव्यापी ईश्वर यहाँ आता हो, तो मालूम नहीं ।"

"थेई, तू ईश्वर के अस्तित्व को मानती है ?" संत ने पूछा ।"

"कभी-कभी ऐसा लगता जरूर है ।" थेई ने गंभीर होकर उत्तर दिया ।



''यदि तू ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करती है तो इतनी भूली भटकी आत्माओं को कुमार्ग पर क्यों ले जाती है ?'' साधु की पवित्रता ने उससे प्रश्न किया ; और थेई को ज्ञान प्राप्त हुआ । उसने अपना धन, संपत्ति, भरा हुआ घर, और चलता हुआ व्यवसाय, सब कुछ त्याग दिया । सिर्फ त्याग ही नहीं दिया, बल्कि जला दिया । भड़-भड़ जलती हुई संपत्ति के बीच में खड़ी होकर वह आनंद से पुकार उठी, ''देखिये, मेरे समस्त पाप जल रहे हैं ।'' इसके बाद उसने आजीवन एक छोटी सी गुफा में रहकर तपस्या की । अनातोल फ्रान्स नामक फ्रेन्च भाषा के विश्वविख्यात उपन्यासकार ने इस कथावस्तु के सहारे एक सुंदर उपन्यास लिखा है । थेई को उपदेश देकर उसे साध्वी बनाने वाले धर्मगुरु का अंत स्त्रीसंग लोलुप कामी के रूप में किया गया है । मानस परिवर्तन की बारीकियों का निरूपण करने वाली यह कथा अत्यंत मनोरंजक है ।

३. धर्मोपदेश करने वाले एक साधु को छलने का एक गणिका ने निश्चय किया । ईसाई संतों के उपदेशस्थान अकसर दुराचार के अड्डों के पड़ोस में हुआ करते थे । गणिकागृह, द्यूतगृह, मधुशाला या बाजार जैसी जगहों पर, आने जाने वाले लोगों के व्यंग्य, हंसीमजाक और तिरस्कार के बीच ईसाई संत अपने व्याख्यान देते थे । इस साधु को यह गणिका बारबार आमंत्रित किया करती थी जिसे देखकर लोग हँसते थे । एक रोज साधु ने गणिका से उसके पीछे-पीछे आने को कहा । गणिका ने सोचा कि आज यह महाराज फँस गये । वह उसके पीछे-पीछे गई । परंतु साधु तो किसी एकान्त स्थान पर जाने के बजाय, भरे बाजार में अत्यंत भीड़भाड़ की जगह खड़ा हो गया और बोला, ''अब बोल, तेरी क्या इच्छा है ? मैं यहीं पर तेरी इच्छा पूर्ण कर सकता हूँ ।'' गणिका का स्त्रीत्व लजाया । शर्म से उसका मुँह लाल हो गया, और वह बोली, ''यहाँ इतने आदमियों के बीच में क्या हो सकता है ?'' ''जब तू मनुष्यों को देखकर इतना शरमाती है, तो मनुष्य के बनाने वाले को देखकर तो तुझे कहीं ज्यादा शरमाना पड़ेगा, क्योंकि उसकी दृष्टि तो एकान्त और अंधकार में भी घूमती रहती है ।'' झुके हुए सिर से गणिका वापस चली । वह ईसाई धर्म के रंग में रंग चुकी थी । इस प्रकार के संतों और गणिकाओं के नैतिक साहस भरे संपर्क की कथाएँ सब धर्मों में मिलती हैं ; ईसाई धर्म में विशेष रूप से ।

४. पॅलाजिया नामक गणिका ईसाई धर्म का पालन करती है, ऐसा प्रमाण मिलते ही न्यायाधीश ने सैनिक द्वारा उसे भ्रष्ट करवाने की आज्ञा दी । सैनिकों के घर में प्रवेश करते ही पॅलाजिया ने अपने घर की छत से कूद कर प्राण त्याग किया और अपने तन को जबरदस्ती भ्रष्ट होने से बचाकर, संत की पदवी प्राप्त की ।

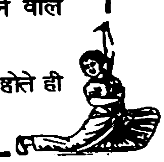
५. संत आफ्रा भी पूर्वजीवन में गणिका थी । उस पर ईसाई धर्म ग्लन करने का अभियोग लगाया गया । इन अपराधियों के लिए प्राण बचाने के दो ही मार्ग थे । या तो ईसाई धर्म को अमान्य प्राचीन देवीदेवताओं की पूजा में प्रवृत्त होना, या खुलेआम गणिकागृह में जाकर देहभ्रष्ट करवाना । आफ्रा यद्यपि गणिका थी, फिर भी उसने इन दोनों मार्गों को ठुकरा दिया और ईसा की शरण में दृढ विश्वास रखकर अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई । न्यायाधीश ने उसे जिन्दा जला देने का हुक्म दिया । हँसते-हँसते आफ्रा ने चिता में प्रवेश किया । उसके साथ ही ईसाई धर्म को स्वीकार करने वाली उसकी दो सहेलियाँ भी जल मरीं । मृत्यु से पहले आफ्रा ने अपने पाप-पुण्य ईश्वर के चरणों में समर्पित करते हुए ईसा की हृदयस्पर्शी प्रार्थना की । उसकी यह प्रार्थना पूरे मध्य युग में, पश्चात्ताप करके, वेश्यावृत्ति का त्याग करने वाली गणिकाओं की सर्वमान्य प्रार्थना बन गई । बाद में तो, गणिकावृत्ति का त्याग न कर सकने वाली गणिकाएँ भी इस प्रार्थना से नैतिक बल और आश्वासन प्राप्त करती थीं ।

इस प्रकार गणिकाएँ भी शहीद होकर संतों की पूजनीय कक्षा प्राप्त कर सकती थीं । ईसा का पवित्र नाम लेते हुए अपने प्राणों तक का बलिदान हँसते-हँसते देने वाली ये गणिकाएँ केवल अन्य पतिताओं के लिए ही नहीं, बल्कि पूरे मानव समाज के लिए धर्म परिवर्तन की प्रेरणा बन जाती थीं । गणिकोद्धार के ऐसे अनेक उदाहरण ईसाई धर्म के इतिहास में बिखरे हुए हैं ।

५
धर्म में वाममार्ग का प्रवेश

कल्पनातीत अत्याचार सहन करने वाले ईसाई धर्म पर आरंभ में, अनेक प्रकार के अभियोग लगाकर, उसे बदनाम किया जाता था । ईसाई धर्म नया और राजधर्म का विरोधी होने के कारण, आरंभ में उसका प्रचार गुप्त रूप से होना आवश्यक था । खुले संघर्ष से बचने के लिए ईसाई लोग गुप्त, छिपे हुए और एकान्त स्थानों में, दिये-बत्ती बुझाकर अपने धर्म-कार्य करते थे । इन गुप्त क्रियाओं में प्रवृत्त ईसाई कौम को अनीतिमान कार्यों में रत माना जाता था । उनके विरुद्ध इस प्रकार के कटाक्ष आम तौर पर किए जाते थे । ये कटाक्ष केवल परधर्मी ही करते हों, यह बात नहीं । आपस में भी इस प्रकार के आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाते थे । धर्म का स्वरूप ज्यों-ज्यों विपुल होता जाता है, त्यों-त्यों उसका कर्मकांड जटिल बनता जाता है, और प्रधान धर्म में से विभिन्न पंथों-संप्रदायों की उत्पत्ति होती है । ईसाई धर्म भी अनेक पंथों में विभक्त हो गया । दूसरी, तीसरी और चौथी शताब्दियों में अनेक विचित्र पंथों का उद्‌भव हुआ । अनेक प्रकार के पतित या पतिताचार की इच्छा रखने वाले स्त्री-पुरुष इन पंथों के विचित्र कर्मकांड की आड़ में विभिन्न प्रकार के अनाचारों में डूब गये । क्रमशः इन पंथों में धार्मिक वेश्यावृत्ति का भी आरंभ हुआ । छोटे-मोटे पंथों के अनेक दोष विरोधियों द्वारा प्रमुख धर्म-संस्था के सिर मढ़ दिए जायें, यह स्वाभाविक है । गाँधी द्वारा प्रेरित कांग्रेस में यदि एक आदमी भी बेईमान सिद्ध हो, तो पूरी राष्ट्रीय संस्था को बदनाम करने की तत्परता आज भी विरोधी मानस में पाई जाती है । दूसरी ओर, सरकार या सरकारी अधिकारी जो कुछ भी करें उसे गलत मानने का रवैया अपना कर जनता को असहिष्णु बनाने वाले राष्ट्रवादी अखबार या भड़कीले भाषण आज भी इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं ।

ईसाई धर्म में समय-समय पर गहरी भावुकता जागृत हुई थी । धर्म का भावुकता से संयोग होते ही



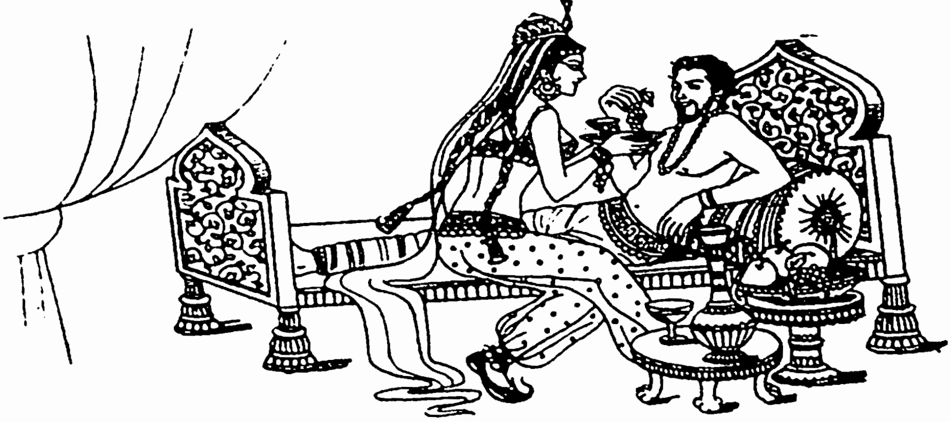
भक्तिमार्ग की उत्पत्ति होती है। पाप से मुक्ति प्राप्त करने को उत्सुक युवक-युवतियाँ साधु-साध्वियाँ बनकर, जंगल में विवस्त्र दशा में घूमने लगते थे, या मठ-मंदिरों में सामूहिक निवास करते थे। इंद्रियदमन के लिए अनेक प्रकार के देह कष्ट के उपचार करते हुए, वे अपने पूर्वजीवन की भूलों का प्रायश्चित करने को अत्यंत आतुर होकर गहरी भावुकता में डूबे रहते थे। ऐसी स्थिति में देहदमन की



अतिशयता कई बार स्त्री-पुरुषों को इंद्रियतृप्ति की ओर जबरन खींच ले जा सकती है और घुटन भरी भावुकता यौन संतोष में स्वस्थता प्राप्त करने को प्रवृत्त हो सकती है। आज के मनोविश्लेषण के युग में ये बातें शायद ही आश्चर्यजनक मालूम दें। यौन तृप्ति के लिए छटपटाने वाला मन अनेक धार्मिक भ्रम उत्पन्न करता है और देवता के नाम पर या गुरु के बहाने, सर्वार्पण की आड़ में या मोक्ष-प्राप्ति की ओट में गुप्त और आडंबरयुक्त कर्मकांड का सहारा लेकर, स्त्री-पुरुष के देह-संभोग में फिसल पड़ता है। ईसाई धर्म में भी पतितावस्था का प्रवेश इसी प्रक्रिया से हुआ।

धर्म या संस्कृतियों के संगम में एक ऐसा कालखंड भी आता है जब अन्य धर्मों के देवी-देवताओं की पूजा और उनके उत्सव रूप बदल कर नये धर्म में प्रवेश कर जाते हैं। ईसाई धर्म के साथ भी यही हुआ। भारत में हिंदू-मुस्लिम धर्म-समन्वय के दौरान में मुसलमानों के आगाखानी और पीराणा पंथों में रामकृष्ण को भी हजरत मुहम्मद और आली के समकक्ष मान लिया गया था। आज के हिंदू-मुसलमानों को यह तथ्य मालूम होना आवश्यक है। ईसाई धर्म में भी एक ओर तो अन्य धर्मों की पुरानी मूर्तियाँ, पुराने देवी-देवताओं और प्राचीन कर्मकांड का प्रवेश होने लगा, और दूसरी ओर यूनान और रोम के देवी-देवताओं के सिंहासनों पर ईसाई संत-साध्वियाँ विराजमान होने लगे। प्रेमदेवी वीनस के नृत्य समारंभों के स्थान पर ईसाई गिरजों में साध्वी मेरी के नृत्य समारोहों की झंकार सुनाई देने लगी। मूर्तियों के सान्निध्य में होने वाले नग्नाचार ईसाइयों की अपराध-स्वीकृति (Confession) के रूप में जीवित रहे। यही नहीं, एक समय ऐसा आया कि ईसाई ब्रह्मचारिणियाँ अश्लील संकेतवाले आभूषण पहन कर खुले आम धार्मिक जुलूसों में निकलने लगीं।

स्वभाव या संस्कार से विलासी वृत्ति वाले अनेक स्त्री-पुरुष अपनी यौन-वासना को संतुष्ट करने के लिए धर्म की आड़ में अनेक रंगीन आचार-विचारों की योजना करें और उनकी रसिक बुद्धि उन आचारों की कोई सयुक्तिक व्याख्या या उन संकेतों को स्पष्ट करने वाला कोई रहस्यवादी दर्शन प्रस्तुत करे तो आश्चर्य नहीं। धर्म के अध्येताओं से यह बात छिपी नहीं है कि धर्म ने अनेक प्रकार के अनाचारों का पोषण किया है। गोपियों के चीर-हरण करने वाले कृष्ण की कल्पना और साकी के हाथों शराब पीकर ईश्वर सान्निध्य अनुभव करने वाले सूफियों की मस्ती, मनुष्य का रंगीलापन धर्म की आड़ में किस कक्षा तक पहुँच सकता है, इसके उत्तम उदाहरण हैं। चीरहरण और निषिद्ध शराब, दोनों में अनेक आध्यात्मिक संकेत और रहस्यमय तत्व ढूंढ़ने की कोशिश भी मनुष्य सदा से करता आया है।



इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ईसाई धर्म ने या अन्य किसी धर्म ने जानबूझकर अनाचार को प्रोत्साहन दिया है । किसी भी धर्म का ऐसा आदेश हो ही नहीं सकता । युग-युग की मान्यताएँ, युग-युग की शक्तियाँ और युग-युग की परिस्थितियाँ धर्म-भावना को अपने रंगों में रंगती हैं ; और धर्म के पवित्रतम उद्देश्यों को भी कभी अतिशिथिल तो कभी अतिशय उग्र बना देती हैं । इस्लाम का अर्थ है शांति । परंतु बम्बई-अहमदाबाद के सांप्रदायिक दंगों में इस शांति के दर्शन कहीं नहीं होते । पुनर्जन्म में विश्वास हिंदू धर्म का आवश्यक अंग है । परंतु आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने वाला हिंदू, दंगों के समय, मृत्यु से डर कर, कायर होकर घर में घुस जाता है, यह भी धर्म-भावना का ही एक रूप है । इस प्रकार की धार्मिक विसंगतियाँ अत्यंत व्यापक हैं क्यों कि धर्म को अपनी स्थापना और प्रचार के कालखंड में अतीत और वर्तमान के अनेक तत्त्वों का अपने कलेवर में समावेश करना पडता है जिससे नये धर्म का स्वरूप अकसर बदल जाता है । यही नहीं, आरंभ में नये धर्म ने जिनका स्पष्ट निषेध किया हो, वही बातें धर्म के बदले हुए स्वरूप का प्रमुख लक्षण बन जाती हैं । मन की एकाग्रता ध्यान की आद्य आवश्यकता मानी जाती है । इस एकाग्रता के बहाने भांग, गांजा, या शराब पीकर ध्यानमग्न होना धर्म का विरोध माना जाना चाहिये । परंतु अनेक साधु-सन्यासी और भक्त नशेबाजी के इन व्यसनों को ही धर्म का लक्षण मानते हैं । कृष्ण की रासलीला भक्ति का आवश्यक अंग हो सकती है ; परंतु संप्रदायों के धर्मगुरु यदि कृष्ण कन्हैया बन कर रास रचें, तो उसे अधर्म ही नहीं, अनाचार मानना होगा ।

इसी अनुसार ईसाई धर्म में भी अन्य धर्मों के कुछ ऐसे अनाचार प्रवेश करने लगे, जिनकी ओर विरोधियों की दृष्टि पड़े बिना रह नहीं सकती थी । यौन-विशुद्धि और ब्रह्मचर्य का आग्रह ईसाई धर्म के प्रधान लक्षण थे। परन्तु ईसाई धर्म के अंतर्गत और ईसा के नाम पर यौन-निरंकुशता और ब्रह्मचर्य भंग को ही धर्म का मूल तत्त्व मानने-मनवाने वाले पंथों का उद्भव हुआ । इनसे गणिकावृत्ति को फिर से नया सहारा मिला और ईसाई धर्म का व्यापक स्वीकार होने पर भी गणिकासंस्था जीवित रही ।

प्राचीन बाल देवता के नाम पर एक ईसाई पंथ चला जिसमें पशु समागम की छाया दिखाई देती । निकोलाइट नाम से प्रसिद्ध एक दूसरा पंथ कुटिल वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए वासना की अतितृप्ति का सिद्धांत अंगीकृत करता है । इस पंथ का विश्वास है कि ऐंद्रिय सुख से अतितृप्त मानस ही विषाद और वितृष्णा के कारण अधिक आतुरता से ईश्वर-सान्निध्य की कामना करता है । अत : विषयभोग का अतिरेक ही इस पंथ का प्रधान लक्षण हो गया । इस संप्रदाय के प्रवर्तक संत निकोलस के संबंध में अनेक विचित्र बातें प्रचलित हैं । किंवदन्ती है कि उसकी पत्नी अत्यंत सुंदर थी । सौंदर्यमुग्ध निकोलस बड़ा ईर्षालु पति था । अन्य धर्मगुरु निकोलस की बहुत निंदा करते थे । निकोलस को महसूस हुआ कि



उसकी ईर्षा अनर्थकारी होती जा रही है । ईर्षावृत्ति का समूल नाश करने के लिए उसने एक भयानक कदम उठाया । उसने ईसाइयों की एक भव्य सभा का आयोजन किया, और अपनी पत्नी को भरी सभा में आज्ञा दी, ''इस समूह में से किसी पुरुष को मेरी नजरों के सामने अपने पति के रूप में वरण कर ।'' पत्नी ने इस आज्ञा का पालन किया या नहीं, इस संबंध में यह कथा कुछ नहीं कहती । परंतु ऐसे ईर्षालु और मूर्ख पतियों की पत्नियाँ अकसर बड़ी नेक और समझदार होती हैं । सुंदर पत्नी को ताले-चाबी में बंद रखने वाले पतियों को समझना चाहिये कि पत्नी की विशुद्धि या एकनिष्ठा ताले-चाबी द्वारा सुरक्षित रहने वाली चीज नहीं है । संत निकोलस की इस एकांगी विचारधारा में से उनके शिष्यों की परंपरा चली जिसमें मन की वृत्तियों को शांत करने के लिए पहले उन्हें अति आवेगमय बनाने की धार्मिक मान्यता और आचार विचार प्रचलित हुए ।

कार्पोक्रेशियन पंथ के संस्थापक कार्पोक्रेटस की यह मान्यता थी कि शैतान और उसके शागिर्दों को ईश्वर ने कैद कर लिए हैं, अत : संसार में पाप रहा ही नहीं है । इस हालत में पाप से भयभीत रहना, नये पाप की सृष्टि करने के समान है । स्त्री-पुरुष के मिले-जुले समारंभ इस पंथ का सामान्य लक्षण बन गये और मर्यादा की महत्ता कम होती गई । कार्पोक्रेटस के पुत्र ने इससे भी एक कदम आगे बढ़कर यह सिद्धांत प्रचलित किया कि कोई भी स्त्री, किसी भी पुरुष के साथ संपर्क रख सकती है और इसमें पाप-पुण्य की भावना का सवाल ही नहीं उठता । मार्सेलीना नामक इस पंथ की एक सुप्रसिद्ध स्त्री ने अपना उदाहरण प्रस्तुत करके अनेक अनुयायियों को इस पंथ में आकर्षित किया था ।

इन ईसाई वाममार्गों में केइनाइट्स और एडमाइट्स के पंथ बहुत प्रसिद्ध हैं । 'केइन' प्राचीन बाइबल के प्रसिद्ध अॅब्राहम वंश का अपराधी पुत्र था । उसके सारे अवगुण अंत में उसकी मुक्ति के कारण बने थे । इस विचारधारा को लेकर ही इस पंथ का प्रचलन हुआ । हिंदू धर्म में भी ऐसी मान्यता है कि वैरभाव की भक्ति जल्दी फलती है । हिरण्यकशिपु, रावण और शिशुपाल के दृष्टांतों में यही सूचित किया गया है कि वैरभाव से भगवान को भजने के कारण ही इन्हें शीघ्र मुक्ति प्राप्त हुई थी । केइनाइट पंथ के वाममार्ग के पीछे कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति दिखाई देती है । अंत में इस पंथ के स्त्री-पुरुषों में अत्यंत निकृष्ट कोटि का अनाचार फैल गया । इस पंथ के प्रचार में क्विन्टीलिया नामक एक अग्रणी स्त्री का योगदान बहुत अधिक रहा ।

कार्पोक्रेशियन पंथ में से अॅडमाइट पंथ नामक वामाचार का विकास हुआ । यह संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध और व्यापक होकर, शताब्दियों तक जीवित रहा । मूल कार्पोक्रेशियन पंथ की धर्म-क्रियाएँ, जो कामक्रीड़ा के उत्तान प्रकारों के सिवा और कुछ नहीं थी, गुप्तता और एकांत की अपेक्षा करती थीं और नवागन्तुक अदीक्षितों की नजर से ओझल रहना चाहती थीं । आज की फ्रीमॅसरी में भी यही भाव पाया जाता है । अॅडमाइट पंथ के प्रवर्तक संत प्रॉडिक्स को यह गुप्तता का तत्व सारहीन मालूम दिया । अंधकार में जो बात अनिष्ट नहीं मानी जाती, उसे प्रकाश में अनिष्ट क्यों माना जाय ? इस लाजवाब तर्क के बलपर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न् हुई कि अंधकार में या छिपकर होने वाला अनाचार खुलेआम और नितांत मर्यादाहीन ढंग से होने लगा । अॅडमाइट पंथ का दूसरा लक्षण था वस्त्रविहीनता । मनुष्य के आद्य पुरखे आदम और ईव के मन में पाप-भावना का जन्म होने पर उन्होंने पत्तों से अपने गुप्तांग ढंक लिए थे । अत : पाप से बचना हो, तो वस्त्रों से भी दूर रहना चाहिये, इस सिद्धान्त ने इस पंथ में वस्त्र-विहीनता का प्रचार किया और स्त्री-पुरुषों के मिश्र समारंभ परिधान रहित अवस्था में होने लगे । पश्चिम के देशों में आज भी वस्त्रविरोधी मान्यतावाले स्त्री-पुरुषों के संगठित समुदाय मौजूद हैं । ई. स. १२० से लगाकर सोलहवीं शताब्दी तक यहीं पंथ जीवित रहा ।

यौन पवित्रता ईसाई धर्म का आद्य लक्षण था । उसमें से अपवित्रता के पुंज जैसे ये वामाचार उत्पन्न



हुए । यह कुछ ईसाई धर्म की ही विशिष्टता नहीं है । सब धर्मों को वामाचार का अनुभव हुआ है और नैतिक शिथिलता धर्म सिद्धान्त का आश्रय लेकर गणिकावृत्ति में परिणत हो गई हो यह घटना भी सब धर्मों में सामान्य रूप से होती रही है । जिन अनाचारों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए नये धर्म की स्थापना हो, वही अनाचार धर्म के अंग बन जायें, यह तथ्य मानवसुधार का व्रत लेने वालों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और बोधप्रद है ।

आरंभ के ईसाई धर्मप्रचारकों ने गणिकासंस्था को अपने आचार-विचारों में से संपूर्ण रूप से बहिष्कृत नहीं किया था । पाप का प्रायश्चित हो सकता है, और पापी का उद्धार भी संभव है, इस भावना पर रची हुई विचारधारा गणिका को कभी भूल नहीं सकती । धर्म की आरंभिक विशुद्धि अदृश्य होते ही नये-नये वामाचार प्रकट होते हैं और पुराने अनाचार नये स्वाँग धारण करके पुनर्जीवित होते हैं । इस प्रकार नये समाजदेह में ातीत के अंश भी शामिल हो जाते हैं । यूरोप में रोमन साम्राज्य के अंतर्गत ईसाई धर्म स्वीकृत हुआ, यह तो सही है, परंतु-इस धर्म के स्वीकार से गणिकावृत्ति अदृश्य नहीं हुई । गणिकासंस्था तो अनेक क्रांतियों और भंवरों को पार करके भी जीवित रही है, इतना ही नहीं, समाज द्वारा सदा स्वीकृत रही है ।

संत ऑगस्टाइन का सूत्र था कि गणिकावृत्ति का अवरोध होते ही प्रबल काम-वासना पूरे समाज को उखाड़ फेंकेगी । संत जेरोम ने भी इसी सिद्धान्त के सहारे गणिकावृत्ति का समर्थन किया था । उसका यह भी कहना था कि जब मॅरीमॅगडेलन जैसी पतिता का उद्धार हो सका, तो कोई वजह नहीं कि अन्य पतिताएँ सच्चे पश्चात्ताप के बल पर अपना उद्धार न कर सकें । संत ऑगस्टाइन ने एक प्रतिबंध जरूर लगाया था । जब तक कोई गणिका अपने व्यवसाय को छोड़ न दे, तब तक वह प्रार्थनामंदिर के गर्भगृह में प्रवेश नहीं कर सकती थी । पंद्रहवीं शताब्दी में स्विटजरलैंड के बॉल (Basle) नगर में ईसाई पादरियों की एक परिषद् में किसी धर्मगुरु ने प्रवचन किया ; जिसका सारांश यही था कि सदाचार की एकमात्र रक्षिकाएँ गणिकाएँ ही हैं ।



रोम के सुप्रसिद्ध ईसाई सम्राट और स्मृतिकार जस्टीनियन ने कानून से गणिकाओं के विवाह को मान्यता दी थी । कलंकरूप माने जाने वाले अनेक प्रतिबंध भी गणिका वर्ग पर से हटा दिए गये थे । साधारण नागरिकों के साथ गणिकाओं के विवाह वैध माने गये, इतना ही नहीं, उसने खुद अपने उदाहरण से पतिताओं के विवाह को प्रोत्साहित किया । उसकी पत्नी सम्राज्ञी थियोडोरा पूर्वाश्रम में नर्तकी और गणिका थी । जस्टीनियन के साथ विवाह कर लेने पर इस महारानी ने अपनी पुरानी सहेलियों और पूरे गणिका समुदाय के हित में उन्नति के अनेक साधनों की योजना की । बॉस्फरस के उस पार उसने एक सुविधायुक्त, विशाल महल का निर्माण करवाया और कॉन्सटन्टीनोपल की पाँच सौ गणिकाओं को उसमें रहकर अपना उद्धार करने का मौका दिया । उनके साथ अत्यंत प्रेमभरा बर्ताव किया जाता था और उनकी इच्छानुसार, हर प्रकार की सुविधा प्राप्त करा दी जाती थी । दिक्कत सिर्फ एक थी, कि उस महल में किसी भी पुरुष का प्रवेश नहीं हो सकता था । पुरुष के दर्शन से वंचित स्त्री-पुरुष की कामना करना छोड़ देगी, ऐसा कोई तर्क थियोडोरा ने किया होगा । स्त्री-पुरुष को इस प्रकार जबरन अलग कर देने की प्रथा नई नहीं है । परंतु वह कभी कामयाब नहीं होती । पुरुषविहीन स्त्री काल्पनिक पुरुष का सृजन करेगी और स्त्रीविहीन पुरुष मानस स्त्री की सृष्टि करेगा । बहिश्त के बाग में भी आदम अकेला न रह सका । उसने अपनी ही पसली तोड़कर उसमें से स्त्री का निर्माण किया । इस प्रकार पुरुष की दो एक पसली कम कर देने का काम स्त्री आरंभ से ही करती आई है । फिर भी स्त्री और पुरुष का काम एक दूसरे के बिना चल नहीं सकता, यही प्रकृति का स्पष्ट आदेश है । अत : थियोडोरा का गणिकागृह गणिकाओं की दृष्टि में तो एक बंदीगृह के समान था, जिसे आज के अनाथालयों और पतिताश्रमों की प्राचीन प्रतिकृति कहा जा सकता है । अब तक का अनुभव यही है कि ऐसे आश्रम बहुत सफल नहीं हो पाते । महारानी थियोडोरा का यह प्रयोग भी सफल नहीं हुआ । अनेक युवती गणिकाओं ने इस सुधार-आश्रम के एकांत से ऊबकर आत्महत्या कर ली । बची खुची, नीरसता के भंडार जैसे इस भयानक आश्रम में बिसूर-बिसूर कर मर गईं और यह स्थापित कर गईं कि पुरुष के अभाव में स्त्री भी जीवन में शून्यता का अनुभव करती है ।

इस प्रकार, समग्रता से विचार करने पर यही दिखाई देता है कि ईसाई धर्म के आरंभ की कुछ शताब्दियाँ गणिकाओं के प्रति अत्यंत उदार और सहिष्णु रहीं । गणिकाओं पर किए जाने वाले अत्याचार कम हुए और उनकी पतित अवस्था उनके लिए चिरकालीन कलंक या अपमान का कारण न बन जाय, इसकी सावधानी बरती गई । ईसाई धर्म प्रवेश का मार्ग गणिकाओं के लिए सदा खुला रखा गया । गणिकाओं को विवाहित जीवन की प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी । इतना ही नहीं, उनके विवाहों को हर तरह से प्रोत्साहित किया जाता था । उनके हीन व्यवसाय से उनका उद्धार करने के लिए और उन्हें पवित्र जीवन व्यतीत करने का अवसर देने के लिए अनेक प्रकार के आश्रमों और मठ-मंदिरों की स्थापना की गई । पूजा-प्रार्थना के स्थानों पर प्रवेश करने की उन्हें अनुमति दी गई, यद्यपि गणिकावृत्ति का संपूर्ण त्याग किए बिना, मंदिर के कुछ भागों में उनके प्रवेश पर लगाया हुआ प्रतिबंध कई शताब्दियों तक चलता रहा ।

दूसरा परिच्छेद
ईसाई मध्य-युग में पतिता

१

गणिका के प्रति समाज का बर्ताव

धर्म और राजनीति के केन्द्रस्थान अनेक ऐतिहासिक कारणों से बदलते रहते हैं । प्रगत रोमन साम्राज्य को अंतर्विग्रहों के कारण अपनी राजधानी रोम से कॉन्सटन्टीनोपल में बदलनी पड़ी । इससे रोम का महत्व कम हो गया । इसी अरसे में ईसाई धर्म राज्यधर्म के रूप में स्वीकृत हुआ । परिणाम स्वरूप कॉन्सटन्टीनोपल ईसाई धर्म का प्रधान केन्द्र बना । इसके बाद अर्धसंस्कृत गॉथ और वेन्डॅल जातियों ने सुसंस्कृत रोमन साम्राज्य का नाश करके रोम पर अपना अधिकार जमा लिया और कॉन्सटन्टीनोपल शेष यूरोप से कुछ अलग सा पड़ गया । इन बर्बर जातियों ने रोम को जीत कर ईसाई धर्म को खुला स्वीकार कर लिया जिससे रोम के ईसाई धर्मगुरु पोप का प्रभुत्व पूरे यूरोप में स्वीकृत हो गया । इसी दरमियान ईसाई धर्म का प्रचार पूरे यूरोप में हो चुका था ।

दूसरी ओर पूर्व में इस्लाम का उद्भव हुआ और बड़ी तेजी से व्यापक राजनीतिक परिवर्तन होने लगे । सातवीं शताब्दी में मुस्लिम संस्कृति ने पूरे उत्तरी अफ्रीका को जीतकर जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य तक अपना साम्राज्य फैलाया । स्पेन और पुर्तगाल को जीतकर फ्रान्स के मध्यभाग तक पहुँच चुकने वाली इस्लामी संस्कृति की विजय-यात्रा को फ्रान्स के ईसाई राजा शार्लमॅन ने रोका और पूरे यूरोप को मुसलमान होने से बचाया । इसी युग से यूरोप में फ्रान्स का महत्व बहुत बढ़ गया, जो लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा । फ्रान्स, जर्मनी और आसपास के प्रदेशों की संस्कृतियों में एक प्रकार की एकरूपता विकसित हुई । अत : इस परिच्छेद के विवेचन में, इसी प्रदेश के पुराने इतिहास से सहायता ली गई है ।

मध्य युग की ईसाई संस्कृति में भी, वर्तमान युग की तरह, नैतिकता का पलड़ा पुरुषों के पक्ष में ही झुका हुआ था । स्त्रियाँ सदा सती बनी रहें, परंतु पुरुष सतीत्व की क्षमता रखने वाले स्त्रीवर्ग के साथ यथेच्छ और असंयमी बर्ताव करने को स्वतंत्र रहे, ऐसी असमान और पक्षपाती नैतिक योजना सदाचार के स्वस्थ विकास के अनुकूल कभी नहीं हो सकती । उत्तर और पश्चिम यूरोप की अर्धसंस्कृत जातियाँ सदा युद्धों में लगी रहती थीं । युद्ध के बाद, और कभी-कभी युद्ध के दरमियान भी, नशा करके, स्त्रियों के साथ अत्यंत ग्राम्य और अशिष्ट प्रकार के व्यभिचार इन योद्धाओं द्वारा किये जाते थे । युद्ध अनाचार और वेश्यावृत्ति की गति को बहुत बढ़ा देता है, यह सत्य आज के समान उस युग में भी स्थापित हो चुका था ।

फ्रान्स, जर्मनी और आसपास के प्रदेशों में बसे हुए इन योद्धाओं के कबीलों में से अनेक छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना हुई और अनेक छोटी-मोटी प्रजाओं के अलग-अलग संगठन स्थिर हुए । परंतु इस राजनैतिक प्रयोग-परंपरा के बावजूद ईसाई धर्म का स्थान सब प्रजाओं में कायम रहा, जो उस समय तक इन प्रजाओं का राजधर्म बन चुका था । फ्रान्स का राज्य स्थिर होते ही वहाँ रखैल प्रथा को वैध मान लिया गया । क्रमश : इसे अन्य राज्यों के कानून की और ईसाई धर्म की स्वीकृति भी मिल गई ।

पतिताओं को पत्थर मार कर मार डालने का एक पुराना कानून ईसाई धर्म के अंतर्गत मान्य था परंतु उस पर बहुत अधिक अमल हुआ हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । फ्रेंच जाति के अमीर उमराओं के बड़े-

बड़े जनानखाने होते थे जिनमें वे अपनी वासनातृप्ति के लिए देशविदेश की युवतियां को एकत्रित करते थे । ईसाई युग की फ्रेंच श्रेष्ठता के कालखंड में यह रिवाज आमतौर से प्रचलित था । एक लेखक इन ईसाई जनानखानों की तुलना मुसलमान बादशाहों के हरम से करता है । ईसाइयों के आदर्श माने जाने वाले शार्लमॅन जैसे शासक ने भी सामान्य गणिकाओं के लिए तो कठोर नियमों की रचना की थी ; परन्तु इन हरमों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा । आधुनिक दृष्टि से इसका अर्थ यही हो सकता है कि जो निषिद्ध कार्य दरिद्रों के पक्ष में अपराध की श्रेणी में आकर दंडनीय माने गये, वे ही धनवानों और सत्ताधीशों के पक्ष में क्षम्य आदत या शौक के अंतर्गत आकर केवल उपहास के पात्र माने गये । धनिकों के अनाचार, सदा की तरह, उस युग में भी दंडनीय नहीं माने जाते थे ।

मध्ययुग के नाम से परिचित तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी तक के ईसाई यूरोप के इतिहास में अनाचार बहुत अधिक प्रमाण में फैला हुआ दिखाई देता है । धनिकों के यहां लावण्यमयी युवतियों से भरे हरम हुआ करते थे और राजा-महाराजा राजदरबार से संबंधित युवतियों के साथ उन्मुक्त कामाचार में डूबे रहते थे । सैनिकों की छावनियों के आसपास के प्रदेशों की स्त्रियों का शील सदा खतरे में रहता था और धर्मगुरुओं एवं पादरियों का वर्ग तो अनाचार में इन सब से दो कदम आगे ही रहता था । गॉथिक शिल्पशैली के नाम से प्रसिद्ध ईसाई गिरजों की नक्काशियां और अश्लील आलेखन उस युग की नीति-अनीति के मानदंड उपस्थित करते हैं । केवल भारत के हिंदू देवालयों में ही ऐसी अश्लील मूर्तिकला दिखाई देती है, ऐसा असंतोष रखने की अब हमें आवश्यकता नहीं । धर्मगुरु की पोशाक पहने हुए पुरुष का साध्वी के वस्त्र धारण करने वाली स्त्री के साथ संभोग, किसी वस्त्रविहीना भिक्षुणी को अश्लील ढंग से परेशान करते हुए बंदर, नग्नस्थिति में अपने पापों का इकरार करती हुई और पाप की सजा के रूप में धर्मगुरु द्वारा नग्न देह पर कोड़े के प्रहार सहन करती हुई स्त्री और विदेशियों को विकारप्रेरक हावभाव से आमंत्रित करती हुई साध्वियों के दृश्य गिरजों के द्वार पर, खिड़कियों में, महराबों पर और छज्जों पर खुलेआम अंकित किए जाते थे । समाज का नेतृत्व करने वाले महत्वपूर्ण वर्गों की जहां यह स्थिति थी, वहां सामान्य जनता की हालत की तो केवल कल्पना ही की जा सकती है । ये सब पतितावस्था के ही अनेक चित्रविचित्र प्रयोग माने जा सकते हैं ।

यह सही है कि धर्माभिमान और नीतिघमंड के प्रभाव में आकर अनाचार को रोकने के विविध कानून उस युग में भी रचे गये और उनका भंग करने वालों को कठोर सजाएं भी दी जाती थीं । परंतु गणिकावृत्ति जैसी लोकप्रिय सामाजिक अनवस्था, इस कठोरता के नीचे कुछ हद तक दब कर भी जीवित तो रही ही । ईसा के नाम पर प्राणार्पण करने को सदा तत्पर "टेम्पलर्स" नामक युद्धवीरों की टोलियों के नैतिक अनाचारों ने तो उस युग की जनता को भी थर्रा दिया था । अनाचार समाज के हर स्तर में इतना गहरा उतर चुका था कि उसका निर्मूलन करना असंभव दिखाई देता था । कई ईसाई गिरजे और पाठशालाएँ गणिकाओं पर लगाये गये कर की आय से निर्वाह करते थे । ट्यूलाँ, एविग्नॉन और मॉंट पॅलियर आदि शहरों में तो सार्वजनिक गणिकागृहों का संचालन ईसाई सरकार की निगरानी में होता था । इस कार्य के लिए निर्मित इमारतों को कटाक्ष से "महामंदिर" (grand Abbey) कहा जाता था । शहर की सब गणिकाएँ उनमें एकत्र रहती थीं । कभी-कभी धनिक वर्ग की शौकीन स्त्रियाँ भी इन मकानों का उपयोग करती थीं । महामंदिर में रहने वाली गणिकाओं को नगर की ओर से वेतन मिलता था और उनके द्वारा अर्जित पूरी आय विद्यापीठें या गिरजों के निर्वाह के लिए खर्च होती थी ।

ट्यूलाँ के महामंदिर की स्थापना शाही फरमान से हुई थी । इन गणिकाओं को सफेद उत्तरीय पहनना पड़ता था और बाँहों पर सफेद पट्टियाँ या डोरियाँ बाँधनी पड़ती थीं । छठे चार्ल्स का ट्यूलाँ में आगमन हुआ तब महामंदिर की गणिकाओं ने मिल कर अपने राजा को मानपत्र अर्पण किया जिसमें उनकी कठिनाइयों

को दूर करने की बिनती की गई थी । सफेद उत्तरीय और विशिष्ट चिन्ह धारण करने के नियम से उन्होंने खास तौर से मुक्ति चाही । राजा ने उनकी मांगों पर हमदर्दी से विचार किया और उनकी बिनती मान ली । तुरंत फरमान जारी हुआ कि गणिकाएँ यदि उनका व्यवसाय सुचित करने वाली विशिष्ट वेशभूषा धारण न करें, तो इसे दंडनीय अपराध न माना जाय । परंतु लोकमत ऐसी विचित्र चीज है कि राजाज्ञा के बावजूद, समाज के प्रतिष्ठित लोगों को यह बात पसंद नहीं आई कि उनकी शिष्ट पत्नियाँ और बाजारी वारांगनाओं के बीच के भेद-निर्देशक वस्त्रचिन्ह इस प्रकार अनावश्यक करार दे दिए जायें । लोगों के झुंड पतिताओं पर हमले करने लगे और अपनी विशिष्ट पोशाक पहने बिना बाहर निकलना वेश्याओं के लिए खतरनाक सिद्ध होने लगा । परंतु पतिताएँ शिष्ट समाज से सहज में हार जाने वाली नहीं होती । उन्होंने भी सत्याग्रह किया और महामन्दिर के दरवाजे ग्राहकों के लिए बंद करके कई दिनों तक अपना व्यवसाय बंद रखा । नगर को गणिकाओं की संगठित स्त्रीशक्ति का परिचय हुआ । प्रकट में गणिकाओं का विरोध करके चोरी-छिपे वेश्यागमन करने वाले रसिकों को तो यह असहकार सबसे अधिक अखर गया । विद्यापीठ और नगरपालिका की आय कम हो गई । अंत में नगरपालिका ने राजा से प्रार्थना की कि वे नागरिकों और गणिकाओं के झगड़े में मध्यस्थी करें और महामंदिर को फिर से आबाद करके विद्यापीठ और नगरपालिका की आय का स्रोत फिर से जारी कर दें । नीतिघमंडी जनता को इस प्रकार मात खानी पड़ी और रूठी हुई गणिकाओं को मनाकर महामंदिर फिर से खुलवाने के लिए समाजधुरीणों को उनके पाँवों पड़ना पड़ा । महाराज चार्ल्स ने गणिकाओं को व्यर्थ में परेशान करने वाले नागरिकों के खूब कान ऐंठे और गणिकाओं की रक्षा के हेतु अपने राजचिह्न की महामंदिर के शिखर पर स्थापना की ।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में किसी नीतिवेत्ता के प्रभाव के कारण, इस महामंदिर की आय विद्यापीठ के बजाय एक अस्पताल को देने का निर्णय किया गया । एक शर्त यह रखी गई कि इस अस्पताल में स्त्री रोगियों की चिकित्सा भी की जाय । परंतु इस शर्त के कारण आमदनी की अपेक्षा खर्च बहुत अधिक बढ़ गया । धीरे-धीरे ट्यूलाँ शहर की धार्मिक वृत्ति फिर बढ़ी और प्रमुख नागरिकों ने इस व्यवसाय को नष्ट करने के यत्न फिर से आरंभ किये । अंत में यह महामंदिर बंद कर दिया गया । ट्यूलाँ के न्यायाधीश ने इस बंदी के विरुद्ध कड़ी शिकायत की थी, क्योंकि महामंदिर बंद होते ही नगर के कई मोहल्लों में निर्लज्ज कामुकता के दृश्य बड़ी संख्या में दिखाई देने लगे थे ।

वेश्यागृहों से प्राप्त कर वसूल करने का ठेका देने की प्रथा मॉंट पॅलियर नामक नगर में भी थी, इसका इतिहास में उल्लेख मिलता है । एक नगर में यहूदियों को वेश्यागृहों में जाने की मनाही थी । मानो वेश्यागृहों की आवश्यकता केवल ईसाइयों को ही हो, या ईसाई रसिकों का मनोरंजन करने वाली पवित्र वेश्याएँ यहूदियों के समागम से अपवित्र हो जाने की संभावना हो ! जाति और धर्म जन्य घृणा कितने विचित्र रूप धारण कर सकती है, इसका यह उत्तम उदाहरण है । विवाह के लिए जाति-कुल के भेद आवश्यक माने जायें, यह बात फिर भी समझ में आ सकती है । परंतु मध्ययुग के फ्रान्स में तो अनाचार के लिए भी अलग-अलग जातियों के अधिकार और मर्यादाएँ निश्चित कर दिए गये थे । कामोन्माद और धर्मभ्रम का इससे अधिक विचित्र मिश्रण शायद ही कहीं दिखाई दे ।



२
पतितावस्था में वृद्धि करने वाली संस्थाएँ और मान्यताएँ

मध्ययुग के ईसाई अमीर-उमरा और सैनिकों में स्त्री दाक्षिण्य या स्त्री-सम्मान (chivalry) की भावना ने एक संस्था का रूप धारण करके नैतिक आदर्शों का कुछ हद तक शुद्धीकरण किया, यह सही है । परंतु तेरहवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों के साहित्य पर विचार करें तो यही दिखाई देता है कि उस युग की जनता की नैतिक भावना अत्यंत साधारण कक्षा की थी । ''रोमन डी ला रोज'' नामक एक पुस्तक उस समय के फ्रान्स में अत्यंत लोकप्रिय थी । शिक्षित स्त्री-पुरुष उसे बड़े चाव से पढ़ते थे । परंतु आज हमारी भाषा में यदि उस पुस्तक का अनुवाद करना हो, तो उसमें सिलसिलेवार पचास पंक्तियाँ भी ऐसी नहीं मिलेंगी जो अश्लील शब्द या अश्लील भाव से मुक्त हों । यह बात उस समय की अधिकांश पुस्तकों के बारे में सही थी । वेश्यावृत्ति और गणिकागृहों की छाया उस युग के करीब करीब पूरे साहित्य पर पड़ी हुई दिखाई देती है ।

इस युग में एक विचित्र धार्मिक भ्रम ने भी लोगों की भावना को विचलित कर रखा था । लोगों में ऐसी मान्यता फैल गई थी कि दो प्रकार के भूत इस जगत में सदा परिभ्रमण करते रहते हैं । एक पुरुष का रूप धारण करके घूमता रहता है और दूसरा स्त्री का । पुरुष भूत का काम था कन्याओं का कौमार नष्ट करना, और स्त्री भूत का कार्य था युवकों के ब्रह्मचर्य को नष्ट करना । मानव इंद्रियों के साथ अमंगल तत्वों की इस छेड़छाड़ ने शीघ्र ही बड़ा भयानक रूप धारण कर लिया । पुरुष भूत अकसर कौमारव्रत धारण करने वाली साध्वियों को ही परेशान करता था ! उपवास, प्रार्थना, धर्मग्रंथों का पाठ या देवसेवा, किसी से भी ये दुष्ट भूत डरते नहीं थे । फिर तो केवल अविवाहिता साध्वियाँ ही नहीं, विवाहिता गृहिणियाँ भी ऐसे भूत समागम का इकरार पादरियों के समक्ष करने लगीं । बात इस हद तक बढ़ी कि एक बार पोप ने एक फतवा जारी करके इन भूतों को वश में करने का प्रभावकारी मंत्र लोगों को बताया । धीरे-धीरे भूत के साथ व्यवहार रखने वाली स्त्रियों को दंड दिया जाने लगा । यह सजा बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुँची कि ऐसी स्त्रियों को जिन्दा जला दिया जाता था । ई. स. १६३७ में बड़े-बड़े विद्वानों, धर्मगुरुओं और साधुओं की एक सभा पॅरिस में हुई जिसमें इन भूतों के संबंध में विद्वत्ताभरी और शास्त्राधार युक्त प्रदीर्घ चर्चाएँ हुईं । निर्णय चाहने वाले मुख्य प्रश्न दो थे । (१) मानवजाति की नीति को भ्रष्ट करने वाले इस प्रकार के पुरुष और स्त्रीरूप धारी भूतों का अस्तित्व है या नहीं । (२) उनके समागम से संतानोत्पत्ति हो सकती है या नहीं । घनघोर शास्त्रार्थ के बाद सभा का निर्णय हुआ कि ये दोनों बातें असंभव कोटि की हैं । परंतु यह निर्णय अनेक प्रकार के संदेहों से भरा हुआ था । ऐसा संदिग्ध निर्णय जनता के मानस में गहरी जमी हुई मान्यताओं का नाश करने में असमर्थ रहा, और ये वहम लंबे अरसे तक चलते रहे । यौन-विज्ञानवेत्ता फ्रॉइड के सिद्धांतो से परिचित आज के मानस को इस भ्रम के पीछे अर्ध जागृत मन के यौनभूख संतुष्ट करने के प्रयत्न दिखाई दे सकते हैं । परंतु उस युग में तो यह भ्रम [illegible]चार फैलाने में ही सहायक हुआ । भूत के वहम की आड़ में अनेक स्त्रियों को मनचाहा स्वेच्छाचार कर[illegible] [illegible]ड़ाना मिल गया ।

इसी प्रकार की एक और भ्रमजन्य, वाममार्गी और पतितावस्था की प्रेरक प्रथा ''चुडैलों के जागरण'' के नाम से प्रचलित थी । आज हमें आश्चर्य हो सकता है, परंतु यह बिलकुल सत्य है कि प्रगतिशील पश्चिम के देशों में भी भूत-प्रेत, डायन-चुडैलों का वहम समाज में व्यापक रूप से पाया जाता था । ग्रामीण और पहाड़ी प्रदेशों में उसके अवशेष आज भी दिखाई दे जाते हैं । फ्रान्स को अंग्रेजों के आक्रमण से बचाने

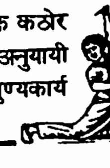
वाली और फ्रेन्च प्रजा में देवी के रूप में मान्यता पाने वाली जोन ऑफ आर्क अंग्रेजों की दृष्टि में एक डायन थी । और वह पकड़ी गई तब, हमारे ऊपर शासन करने वाले अंग्रेजों के पूर्वजों ने उस पवित्र स्त्री को डायन करार देकर उसे जिंदा जला दिया । उस युग में ऐसा वहम प्रचलित था कि जादू की शक्ति से युक्त ये चुड़ैलें आधीरात के बाद, शहर से बाहर, एकान्त जंगल में पूर्व निश्चित स्थान पर एकत्र होकर एक तिलस्मी लेप अपने शरीर पर लगाती थीं जिससे उन्हें अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती थीं । इस शक्ति के बल पर ये चुड़ैलें लंबे हत्थे की झाड़ुओं पर सवार होकर, लोगों की नजरों से ओझल रहकर आकाश मार्ग से उड़ती हुई जागरण के स्थान पर पहुंच सकती थीं । वहाँ पर इन भूत-पिशाचों का राजा शैतान एक प्रचंड बकरे का रूप धारण करके हाजिर रहता था । चुड़ैलें और उनके प्रभाव में आने वाली अन्य युवतियाँ इस देवता की सर्वांग पूजा करती थीं । पूजा के बाद गीत, नृत्य शुरू होते थे जो शीघ्र ही अनियंत्रित और अमर्याद व्यभिचार में परिणत हो जाते थे । मांत्रिक शक्ति के बहाने वासनातृप्ति ही इन जागरणों का प्रधान हेतु था, यह बात बिलकुल स्पष्ट है । परंतु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस वहम की बुनियाद लोगों की गहरी श्रद्धा पर ही रची हुई थी ।

धर्म में प्रवेश कर जाने वाले मिथ्याचारों और अनाचारों को ढूंढकर और प्रमाणित करके, उनके प्रवर्तकों को दंड देने के लिए मध्य युग में ''इन्क्वीजिशन'' नामक धार्मिक न्यायालय की स्थापना हुई थी । परंतु उसके जुल्म तो प्रचलित अनाचारों से भी चार चाशनी बढ़कर थे । पूर्व की विचारधारा और पूर्व की संस्कृति के दमन के तत्वों की जगभर में निंदा करने वाली पश्चिम की ईसाई संस्कृति को इस न्यायालय के पाशविक अत्याचारों पर भी गौर करना चाहिये । इस न्यायसभा के मुकाबले में तैमूर, चंगेजखाँ और नादिरशाह के अत्याचार भी फीके पड़ जाते हैं । इस न्यायालय की आज्ञानुसार अनगिनत स्त्रियों को जादूगरनी करार देकर जिंदा जला दिया गया था ।

इससे एक बात निस्संदेह स्थापित होती है कि जादूगरनी या डायन होना, केवल व्यभिचार का ही बहाना था और तिलस्मी शक्ति की आड़ में भोलेभाले और वहमी युवक-युवतियों को दुराचार के मार्ग पर ही प्रवृत्त किया जाता था । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही वेश्यावृत्ति का आरंभ हो जाता था । जादू और मंत्रतंत्र के आयोजनों की परिणति अकसर भोग विलास में ही होती थी और ये 'जागरण-स्थान' अंत में पतिताओं के अड्डे बन जाते थे । प्राचीन इतिहासकारों और पिशाच-विज्ञान के जानकार लेखकों ने एकमत से इन ''चुड़ैलों के जागरणों'' को वेश्यावृत्ति का ही एक प्रकार घोषित किया । विपरीत अवस्थाओं में धर्म समाज को कैसे भयानक अनाचारों के गर्त में धकेल देता है, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है ।

३
पतितावस्था-प्रेरक पंथ और रस्म-रिवाज

इसी दौरान में ईसाई धर्म में कई ऐसे पंथों का जन्म हुआ जो पतितावस्था के सहायक थे । फ्लॅगेलंट नामक पंथ पीड़ाप्रेमी था । अपने यहाँ भी कुछ साधु और फकीर देह से रक्त बहाकर, कीलों के आसन पर बैठकर या दिनों तक पंचाग्नि तपाकर देहदमन करने में ही चरम सिद्धि मानते हैं । ईसाइयों के ''फ्लॅगेलन्ट्स'' संप्रदाय की मान्यता भी इससे मिलती-जुलती थी । देहदमन प्रायश्चित का ही एक प्रकार है । पाप की सजा भुगत लेने से पाप की प्रखरता कम हो जाती है ; और दंड जितना अधिक कठोर हो, पाप का विसर्जन उतना ही सरल हो जाता है, ऐसी किसी विचारधारा के अनुसार इस पंथ के अनुयायी देह को स्वप्रहार या पर प्रहार द्वारा, एकांत में या सार्वजनिक रूप से, सदा पीड़ित रखने में ही पुण्यकार्य



मानते थे । इस विधि में कभी-कभी प्रायश्चित के शौकीन अन्य लोग भी शामिल हो जाते थे । इस पंथ के अनुयायियों को, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, सदा नग्न रहना पड़ता था । विवस्त्र स्त्री-पुरुषों के इन मंडलों के जुलूस एक दूसरे की पीठ पर कोड़े मारते हुए बड़े शहरों की सड़कों पर घूमा करते थे । खुले बदन पर होने वाले इन प्रहारों के परिणाम-स्वरूप जननेंद्रियाँ प्रायः उत्तेजित हो जाती थीं । यौन-विज्ञान के जानकारों को इसमें आश्चर्य की कोई बात दिखाई नहीं देगी । सामुदायिक रूप से उत्तेजित होने वाले ये यौन-आवेग, निश्चित रूप से अनाचार में ही परिणत होते थे ।

ॲडमाइट पंथ में भी वस्त्रविहीनता को धर्म का आवश्यक अंग माना जाता था, यह हम देख चुके हैं । आरंभ में यह विवस्त्रता मठों तक ही सीमित थी । परंतु बाद में एक धर्मगुरु के प्रभाव से इस वस्त्रविहीनता को सार्वत्रिक रूप देने के यत्न इस पंथ में हुए । पुरुषों और स्त्रियों को वस्त्रविहीन अवस्था में एकत्र रहना पड़े, तो वस्त्रों की आदी मनुष्यजाति को कामवासना का तीव्र अनुभव होना स्वाभाविक है । इस तीव्रता में से पतितावस्था का जन्म होते देर नहीं लगती । इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं ।

उस युग की सामाजिक प्रथाओं का विचार भी आवश्यक है । आज भी पश्चिमी सभ्यता से अनुप्राणित शिष्ट समाजों की रसवृत्ति सहनृत्यों के दौरान में कुछ क्षणों के लिए बिजली की रोशनी बुझा कर उत्तेजक मस्ती का अनुभव करती है । आज भी पश्चिम में यह रिवाज प्रचलित है कि ''क्रिस्टमस वृक्ष'' के नीचे खड़ी हुई किसी भी युवती को कोई भी युवक चूम सकता है । ऐसे रिवाज सार्वजनिक नीतिभावना पर ही प्रकाश डालते हैं । मध्ययुग में भी ऐसे अनेक रिवाज प्रचलित थे । दिसंबर मास की अट्ठाइसवीं तारीख को एक पवित्रता के उत्सव का आयोजन होता था । उस दिन किसी भी युवक को, किसी भी युवती के शयनागार में घुस जाने की छूट थी । युवक के प्रवेश के समय युवती यदि बिस्तर पर लेट रही हो, तो युवक उसे पाठशाला के छात्रों को दी जाने वाली कोई भी सजा दे सकता था । छात्रों को अकसर कौन सी सजाएँ दी जाती हैं ? दो एक चपत लगा देना, या दो-चार छड़ी फटकार देना या पाँव के अंगूठे पकड़वाना ! परंतु उस दिन रसिकों द्वारा दी जाने वाली सजाएँ यहीं पर रुक जाती होंगी, यह मानने को जी नहीं चाहता । बिस्तर पर लेटी हुई युवती को सजा देने का अधिकारी युवक इससे कहीं अधिक रसभरी और रंगभरी सजा देने से चूकता हो, यह संभव नहीं लगता । यह समारोह पवित्रता का उत्सव होने पर भी, इस मौके से फायदा न उठाने जितनी शुष्कता या पवित्रता उस युग के युवकों में विकसित हुई हो, यह भी संभव दिखाई नहीं देता । विवाहोत्सवों में भी अनेक विचित्र रिवाज प्रचलित थे । नव विवाहित पति-पत्नी के कमरे में दरवाजे की दरार से झाँकने की सबको खुली छूट थी । जो स्त्री या पुरुष कमरे के दृश्य का यथावत वर्णन करता था, उसकी बड़ी प्रशंसा होती थी । हमारे यहाँ, राजस्थान में भी आनंद प्राप्त करने की यह प्रथा अब तक प्रचलित थी ।

ईसाई पादरियों के धार्मिक व्याख्यानों में होने वाले अनाचार के उल्लेखों में भी उस युग की झलक दिखाई दे जाती है । मिलार्ड नामक एक लोकप्रिय धर्म प्रचारक के व्याख्यानों में पतिताओं को अपना घृणित व्यवसाय करने के लिए मकान किराये पर देने वाली धनिक मकान-मालकिनों की खबर ली गई है और उन्हें तरह-तरह के शाप दिए गये हैं । मठों-मंदिरों में होने वाले पापाचार के विरुद्ध भी उसने आवाज उठाई थी । कई मठों के संबंध में तो मिलार्ड और अन्य वक्ताओं का यही कहना था कि वे स्थान मठाधीशों और मंडलेश्वरों के गुप्त वेश्यागृहों के अलावा और कुछ नहीं थे, जिनमें रातदिन अनेक प्रकार के यौन अनाचार चलते रहते थे ।

इस युग के रजवाड़े भी प्रजा को गलत रास्ते पर ले जाने वाले अनाचार के धाम थे । मध्ययुग के फ्रान्स और आसपास के प्रदेशों के कुछ राजाओं के कारनामे उद्धृत किए जाते हैं । महाराजा फिलिप की

सालियों को विद्यार्थियों को भ्रष्ट करने में अधिक आनंद मिलता था । छठा चार्ल्स और उसकी रानी आइज़ाबेला तो अनाचार के जीवित पुतले थे । यह रानी खुल्लमखुल्ला ऑर्लियन्स के ड्यूक की रखैल के रूप में रहती थी ।

सातवें चार्ल्स की एग्निस सारेल नामक एक उच्च परिवार की प्रियतमा थी । चार्ल्स के साथ के अनैतिक संबंध का अपवाद छोड़कर उसका चरित्र निष्कलंक था । स्वभाव से वह अत्यंत ममतामयी, उदार और हंसमुख थी । फिर भी वह पॅरिस शहर में बाहर नहीं निकल सकती थी, क्योंकि लोग उसे खुलेआम गणिका कहकर संबोधन करते थे । राजा की प्रियतमा होने के नाते, पूरी प्रजा उसे पहचानती थी । राजाओं के इस प्रकार के आचरण और राजमहल की रंगीनियाँ प्रजा को भी अनुकरणीय लगते थे ।

आठवें चार्ल्स के संबंध में प्रचलित एक कहानी उसकी सज्जनता और उस समय की नैतिक शिथिलता का अच्छा उदाहरण उपस्थित करती है । चार्ल्स ने एकबार इटली पर आक्रमण किया । एक रात को वह अपने खेमे में सोने के लिए गया, तो वहाँ उसने एक अत्यन्त रूपवती स्त्री को वस्त्रहीन अवस्था में, रोते हुए देखा । चार्ल्स के प्रवेश करते ही वह घुटने टेककर उससे बिनती करने लगी । राजा ने जानना चाहा कि हकीकत क्या है ? युवती ने बताया कि उसके मातापिता ने राजा के उपभोगार्थ उसे राजा के नौकरों के हाथों बेच दिया है । राजा को पहचाने बिना, वह उसके पैरों पड़कर कहने लगी, ''कृपा करके मुझे इस दुष्ट राजा के समागम की यातना से बचाइये ।'' दु:खी युवती को देखकर चार्ल्स को दया आ गई । पूछताछ करने पर युवती की कहानी सही मालूम दी । यह भी मालूम पड़ा कि उसकी सगाई पास के ही किसी गाँव के एक युवक के साथ हो चुकी थी । राजा ने तुरंत उस युवक को बुलवाया, और उन दोनों का विवाह करवा दिया ।

इसी युग के एक ईसाई राजा ने तो बिलकुल नई प्रथा जारी की । प्रतिष्ठित दरबारियों, अमीर उमराओं और उनकी पत्नियों को राजमहल में रहने के लिए निमंत्रित किया जाता था । शर्त सिर्फ एक होती थी कि रात को निमंत्रित पुरुषों और स्त्रियों को अलग-अलग कमरों में रहना पड़ता था । प्रत्येक कमरे को बाहर से ताला लगा दिया जाता था और स्त्रियों के सब कमरों की तालियाँ राजा अपने पास रखता था । यह किसलिए किया जाता था, ऐसा बचकाना प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं ।

दूसरा हॅनरी अपनी पत्नी की अपेक्षा अपनी प्रियतमा के प्रति अधिक वफादार था । डायेना नामक उसकी प्रियतमा अपने युग की प्रसिद्ध सुंदरी थी । हॅनरी के अलावा अन्य कई युवकों से भी उसका मेलजोल था, परंतु हॅनरी को इसमें कोई आपत्ति नहीं था । डायेना अपना सौंदर्य लंबे अरसे तक सुरक्षित रख सकती थी । कहा जाता है कि वह तरल स्वर्ण युक्त साबुन का इस्तेमाल करती थी । स्वर्ण प्राप्त करा देने वाला सौंदर्य स्वर्ण से स्नान करे, तो आश्चर्य किस बात का ?

सातवें चार्ल्स के जीवन को अपेक्षाकृत संयमी कहा जा सकता है, परंतु उसके समय में प्रजा में अनाचार इतना व्यापक हो गया कि यह खुल्लमखुल्ला कहा जाता था कि उस युग की कोई भी पत्नी अपने पति को कौमार अर्पण नहीं करती थी । इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि पति से मिलने से बहुत पहले ही उस युग की स्त्रियों का कौमार खंडित हो चुका होता था ।

इस युग में कला के नाम पर भी अनीति का व्यापक प्रचार हुआ । अश्लील पुस्तकें और मूर्तियाँ पॅरिस के बाजारों में सरेआम बिकती थीं । कवियों, चित्रकारों और शिल्पियों में तो अपनी कला द्वारा अनीति को अधिकाधिक आकर्षक रूप देने की मानो होड़ लगी रहती थी । इसका प्रभाव इटली पर भी पड़ा था । उस युग में यूरोप के देशों में कलामय अनीति का आदान-प्रदान बहुत बड़े पैमाने पर होता रहता था । लियोनार्डो-डा-विन्सी जैसा अमर कलाकार भी अश्लील चित्र अंकित करने में कोई बुराई नहीं मानता



था । चांदी के बर्तनों पर अश्लील नक्काशी करवाना भी उस युग की आम प्रथा थी । अमीर उमरावों के यहाँ भोजन समारंभ आए दिन होते रहते थे । इन समारंभों में प्रतिष्ठित और अमीर घरानों की महिलाएँ भी निमंत्रित होती थीं । दावत के समय ये अश्लील नक्काशी वाले बर्तन पुरुष मेहमानों के साथ-साथ इन स्त्रियों के समक्ष भी आते थे । परिणाम की कल्पना की जा सकती है । यह तो हुई अमीरों की बात । आम जनता के लिए भी अश्लील से अश्लील वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबंध नहीं था ।

दूसरे चार्ल्स के बाद राज्यसत्ता कॅथेराइन-डी-मॅडीसी के हाथों में चली गई थी । इसका प्रभावकाल में नामधारी राजा तो तीन हुए परंतु सच्ची सत्ता इसी के हाथ में रही । इस अधिकार लोलुप महारानी ने अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए गणिकाओं का जमकर उपयोग किया । दो तीन सौ सुंदर युवतियां कॅथेराइन के दरबार में उसका हुक्म बजा लाने के लिए सदा तत्पर रहती थीं । उस युग के राजदारी पुरुषों की गुप्त से गुप्त मंत्रणाएँ इन युवतियों द्वारा जानी जा सकती थी । इन्हें महारानी के ''उड़ने वाले सैन्य'' के नाम से पहचाना जाता थ । विरोधियों के अति गोपनीय राज भी ये उड़ा लाती थीं; यद्यपि ऐसा करने में उन्हें अपने देहसौंदर्य का पूरा उपयोग करना पड़ता था और अपनी पवित्रता के बलिदान से इसकी कीमत चुकानी पड़ती थी । कॅथेराइन जब राजा को और उसके बड़े-बड़े मनसबदारों को निमंत्रित करती थी, तब भोजन समारंभ में उसके ''उड़ने वाले सैन्य'' की रमणियां नग्न होकर खाना परोसती थीं । कॅथेराइन के पुत्र और पुत्रियां भी अनाचार में इतने पारंगत सिद्ध हुए कि उनके कुकर्मों का वर्णन भी नहीं किया जा सकता । उस युग के राजा-रानियों के वैयक्तिक जीवन को काल के आवरण से ढंका रहने देना ही योग्य है । परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सामाजिक रूढ़ियाँ, रस्मों-रिवाज और तरह-तरह के शौक अकसर बड़े आदमियों से ही साधारण जनता में प्रचलित होते हैं । राजा उस युग की जीवनव्यवस्था का केन्द्रबिंदु था । राज-परिवारों के अनाचारों में से गणिकावृत्ति का व्यापक प्रचार किस तरह होता है, यह दिखाना ही हमारा प्रधान हेतु है ।

उस युग में एक प्रकार का धार्मिक आवेश व्यापक रूप से फैला हुआ था । इस आवेश के आश्रय में ही, धर्म के नाम पर अनेक अनाचार स्वीकृत हो जाते थे । धर्मगुरुओं के मार्गदर्शन में वस्त्रविहीन स्त्री-पुरुषों के जुलूस तक निकलते थे । युद्ध और अनीति का संबंध अत्यंत घनिष्ट होता है, यह हम अनेक बार देख चुके हैं । इस संबंध का विस्तृत विवेचन आगे होगा । युद्ध के आवेश में धर्म के आवेश का मिश्रण होते ही अनाचार और भी भयानक हो उठते हैं । उस युग में धर्म या संप्रदाय की विभिन्नता के कारण अनेक छोटे-मोटे युद्ध होते ही रहते थे और इन धर्मयुद्धों में विजेता पंथ का सैन्य विजित पंथ या प्रदेश की किसी भी स्त्री का शील भ्रष्ट करने में कोई बुराई नहीं समझता था । मध्ययुग से लगाकर सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक वस्त्र विन्यास में भी अश्लीलता के दर्शन हो सकते थे । पादत्राणों पर शोभा के लिए शेर का पंजा या गरुड़ की चोंच बनाई जाती थी । परंतु धीरे-धीरे इन आकृतियों का स्थान यौन संकेत वाली अश्लील आकृतियों ने ले लिया । इस प्रकार की चप्पलें स्त्रियाँ भी पहनती थीं । वस्त्रों के ऊपर ऐसे अश्लील चिन्ह अंकित करने की फैशन भी कभी-कभी प्रचलित हो जाती थी ।

नाटक अनीतिप्रेरक होते हैं, ऐसी मान्यता से, और धर्मगुरुओं के कहने से आरंभ में फ्रांस के राजाओं ने नाटकों पर प्रतिबंध लगा दिया था । परंतु नाट्य शौकीन जनता ने बाइबल के धार्मिक माने-जाने प्रसंगों को नाट्यरूप में प्रस्तुत करके नाटकों को पुनर्जीवित किया । धर्म की मुहर लगते ही चाहे जैसे नाट्यप्रसंग स्वीकृत होने लगे । धर्मग्रंथ, सर्वांग में, हम चाहते हैं, या मानते हैं उतने नीतिप्रेरक नहीं होते । उनमें उनके युग की अशिष्टता और अनाचारों का उल्लेख भी होता है । अपने पुराणों की तरह बाइबल में भी ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है जिनके आधार पर शौकीन कलाकार अनाचार का रंगीन चित्रण कर सकें । बाइबल के डेविल या शैतान का पात्र अनाचार के प्रसार में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है । धार्मिक नाटकों का स्वीकार होते ही, अन्य नाटक भी धर्म या धार्मिक प्रसंगों से थोड़ा बहुत संबंध स्थापित

करके प्रचलित होने लगे । तीसरे हेनरी के समय में स्त्रियों ने नाटक में काम करना शुरू किया । हास्यरस के बहाने रंगमंच पर इतने उत्तान और अश्लील श्रृंगार के दर्शन होने लगे कि उसमें अनीति का प्रचार न होता तो ही आश्चर्य की बात मानी जाती । पॅरिस की प्रतिष्ठित महिलाओं के समक्ष रंगभूमि पर बालक का जन्म और पति-पत्नी या प्रेयसी-प्रियतम के सहशयन के दृश्य भी दिखाये जाते थे । इससे अधिक अश्लील



और क्या हो सकता है । वर्तमान यूरोप इससे भी अधिक अश्लील दृश्यों से मनोरंजन प्राप्त करता है ऐसा यूरोप के प्रवासी कई मित्रों का कहना है । अत: आजकल उस युग को सबसे अधिक अश्लील दृश्य प्रस्तुत करने का सर्वोच्च स्थान शायद न मिल सके; परंतु इसमें कोई शक नहीं कि गणिकावृत्ति का व्यापक प्रसार करने के लिए उतनी प्रगति भी पर्याप्त थी ।

धार्मिक जुनून उस युग में बहुत अधिक था, यह हम देख चुके हैं । यह तो नहीं कहा जा सकता कि सच्चे धर्मनिष्ठ उस युग में बिलकुल नहीं थे । परंतु यह भी विचारणीय है कि धर्मगुरुओं का मनोरंजन करने वाली गणिकाओं की संख्या उस युग में दस लाख आँकी गई थी । इसमें से अतिशयोक्ति का अंश निकाल दें, तो भी यह तो कहा जा सकता है कि यह संख्या बहुत अधिक रही होगी । राजाओं और धर्मगुरुओं द्वारा एक ओर तो कानून के बल पर गणिकावृत्ति को दबा देने के यत्न किए जाते थे, और कभी-कभी इन कानूनों का सख्ती से पालन भी किया जाता था, परंतु दूसरी ओर उनके वैयक्तिक अनाचार उनके प्रतिष्ठित स्थान के बल पर सामान्य जनता को अनीति के मार्ग पर ही प्रवृत्त करते थे । परिणाम यह होता था कि कानून, कानून की पोथियों में रह जाते थे और गणिकावृत्ति सदा हरी-भरी रहती थी । फ्रान्स में एक कानून प्रचलित था कि गणिकावृत्ति की दलाली से जीवन-यापन करने वाले पुरुष को जहाजों पर गुलामी करने की सजा दी जाती थी । मानवदेह का इससे अधिक शोषण और किसी हालत में संभव नहीं था । वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को भी, उनपर मुकदमा चलाये बिना, भयानक सजाएँ दी जाती थी । उनका सिर मूड़कार और कोड़ों से फटकार कर उन्हें देश निकाले की सजा दी जाती थी । इस प्रकार सजाएँ आरंभ में भयप्रेरक होती हैं, परंतु धीरे-धीरे रूढ़ हो जाने पर उनका आतंक भी कम हो जाता है । आज के समान उस समय में भी इन कानूनों का उपयोग वैयक्तिक बैर का बदला लेने के लिए भी किया जाता था । अपनी पत्नी या रखैल से बदला लेना हो, तो पुरुष उन पर वेश्यावृत्ति का अभियोग लगाकर उन्हें सजा दिलवा सकता था । इन सब संकटों का सामना करके भी वेश्याएँ अपना व्यवसाय चलाती रहती थीं । सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में फ्रान्स में गणिकावृत्ति पर लगाये गये प्रतिबंधों का एक विचित्र परिणाम यह हुआ कि कॅनेडा में जा बसने वाले फ्रांसीसियों को पत्नियों की पूर्ति पॅरिस के गणिकागृहों द्वारा होती थी ।

४

नज़दीक की शताब्दियाँ

अब हम सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों पर एक सरसरी नजर डाल लें । हवा का रुख या पानी के प्रवाह की दिशा निश्चित करने के लिए एक छोटे से तिनके की सहायता ही काफी होती है । इसी प्रकार राजकर्ताओं और समाजधुरीणों के चरित्र के आधार पर साधारण जनता के यौन-व्यवहारों की नैतिकता परखी जा सकती है और सामाजिक यौन-विकृतियों में से पतितावस्था का जन्म किस प्रकार होता है, यह भी देखा जा सकता है । सत्ता, वैभव या ऐशोआराम की अतिशयता कभी नीतिपोषक नहीं होती, इस सत्य को भी अनेक दृष्टांतो से सिद्ध किया जा सकता है । इन बाद की शताब्दियों में अनाचार ने शिष्टता और सभ्यता का स्वाँग धारण किया, परंतु इस आवरण के नीचे पतितावस्था के मूल कारण रूप यौन-विकृतियाँ और यौन-अपराध जैसे के तैसे बने रहे । बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक फ्रान्स ही पश्चिमी संस्कृति का आदर्श माना जाता था । अत: वहाँ का अनुकरण पूरे यूरोप में हो, यह स्वाभाविक है । हम भी यहाँ मुख्यत: फ्रान्स के उदाहरणों का ही आधार लेंगे ।

तेरहवें लुई के युग के संबंध में कहा जाता है कि स्त्रियों को फुसल कर व्यभिचार में प्रवृत्त करना उच्च कहे जाने वाले समाज का नित्यक्रम बन चुका था । मॅडीसी परिवार का अनुकरण करनेवाली स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग समाज में उत्पन्न हो गया था । इन स्त्रियों की राजनैतिक शक्ति और व्यभिचार पटुता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी । ये स्त्रियाँ अत्यंत चतुर और बुद्धिमान होती थीं, परंतु उनकी चतुराई और बुद्धिमता की तुलना में उनकी नैतिकता अत्यंत हीन कोटि की होती थी । बाहर से अत्यंत सभ्य दिखाई देने वाली विलासिता को उनकी छत्रछाया में पनपने का खूब मौका मिला । इस प्रकार का दंभयुक्त अनाचार खुलेआम व्यभिचार से भी कई गुना अधिक अनैतिक सिद्ध होता है । सुंदर स्त्रियों का अमीर उमराओं से विवाह करवा के और उन्हें प्रतिष्ठा दिलवा कर उनका अपनी रखैलों के रूप में उपयोग करना उस युग के राजाओं का सामान्य व्यवहार था । ये शासक अपने देह-संबंध से जन्म लेने वाली संतति को भी समाज में उच्च और वैध स्थान प्राप्त करवा देते थे और उन संतानों के विवाहसंबंध भी अमीर उमराओं के उच्चवर्ग में ही होते थे । मॅदाम-द-मॉन्टीनॉन नामक एक कवि की विधवा जैसी कुछ रखैल युवतियाँ फ्रांस के विलासी राजाओं के अमर्याद अनाचारों को कुछ हद तक अकुंश में रख सकी थी । इसके परिणाम स्वरूप ही उस युग के साहित्य में नग्न यथार्थ के स्थान पर कुछ मर्यादाभरी शिष्टता का प्रवेश हो सका ।

मॅदाम-द-मॉन्टीनॉन के सुप्रसिद्ध प्रेमी चौदहवें लुई के युग में राजाओं और अमीर उमराओं के एक महाभयंकर अधिकार की समाप्ति हुई । तब तक बड़े-बड़े जमींदारों और जागीरदारों को अपने रियाया की प्रत्येक युवती का उसके विवाह की पहली रात को उपभोग करने का अधिकार था । प्रत्येक युवती को विवाह के बाद प्रथम समागम अपने पति के साथ नहीं बल्कि अपने इलाके के ताल्लुकेदार के साथ करना पड़ता था । उसके बाद ही पति को विवाह के अधिकार प्राप्त होते थे । जमींदारों का यह अधिकार बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुंचा कि अपनी प्रजा में किसी की भी पत्नी या पुत्री का चाहे जब उपभोग करना उनके लिए सुगम हो गया । इस अधिकार का कोई लिखित या शास्त्रीय आधार नहीं मिलता । परंतु अमर्याद सत्ता अनेक आधारहीन बातों को अपने स्वार्थ के अनुसार मोड़ सकती थी । चौदहवें लुई ने इस रिवाज पर प्रतिबंध लगाकर पतितावृत्ति का एक स्रोत बंद कर दिया । उसके बाद नाबालिग पुत्र के अभिभावकों के युग में ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स नामक सरदार ने फिर से एक बार राजमहल के वातावरण को गणिकागृह के समकक्ष बना दिया । उस समय के राजमहलों के अनाचारों का विस्तृत वर्णन अनावश्यक है । परंतु दो एक उदाहरण उस युग के स्वेच्छाचार का अंदाज लगाने के हेतु से दिये जाते हैं ।

क्लॉडीन नामक उस युग की एक सुप्रसिद्ध स्त्री अनचाहे विवाह से मुक्ति पाने के लिए एक मठ में साध्वी के रूप में रहती थी । अपने आप को मठ के अनुकूल बनाने के बजाय उसने पूरे मठ को अनाचारगृह में परिवर्तित कर दिया और अनेक साध्वियों के जीवन भ्रष्ट किये । क्लॉडीन के प्रेमी एक कवि का मठ में आना-जाना था । उसके संबंध से क्लॉडीन ने एक पुत्र को जन्म दिया । यही पुत्र आगे चल कर द लॉम्बर्ट नामक सुप्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक हुआ । क्लॉडीन का एक भाई भी सन्यासी हो गया था । परंतु इस साधु ने ही क्लॉडीन को मठ छोड़ कर पॅरिस जाने की प्रेरणा दी, जहाँ उसने अपनी कामकला का संपूर्ण उपयोग करके प्रचुर संपत्ति अर्जित की । इस स्त्री ने ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स पर प्रभुत्व जमाया था और उसकी रखैल के रूप में रहकर उस युग की राजनीति को भी प्रभावित किया था । क्लॉडीन की प्रेमकथाओं के इतिहास में गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं । ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ती गई त्यों-त्यों उसके मन में भोग-विलास के स्थान पर अन्य महत्वाकांक्षाएँ उत्पन्न होती गईं । क्लॉडीन ने लिखना आरंभ किया और कुछ धार्मिक पुस्तकें एवं कई उपन्यास लिखे और मॉन्तेस्क्यू नामक दार्शनिक के ग्रंथों का प्रकाशन करवाया । धीरे-धीरे क्लॉडीन के दीवानखाने में लेखकों, कवियों और अन्य बुद्धिजीवी पुरुषों का आना-जाना बढ़ने लगा । कुछ ही समय में वह एक साहित्यिक संप्रदाय की नेत्री बन गई । आश्चर्य की बात तब हुई जब उसका पुत्र द लॉम्बर्ट विरोधी साहित्य-संप्रदाय का नेता चुना गया । इस प्रकार साहित्यक्षेत्र में माता और पुत्र की आमने-सामने मोरचेबंदी हुई ।

पंद्रहवें लुई की प्रेयसी मॅदाम मॅम्पॅदूर के नाम से प्रसिद्ध है । राजा के सद्भाग्य से इस स्त्री की रुचि उच्च कोटि की थी । उसने भी साहित्य को हर तरह से प्रोत्साहन दिया । राजा और राज्य के कल्याण के लिए उसने अपनी शक्तियाँ आजीवन खर्च कीं । सुप्रसिद्ध लेखक वाल्तेयर उसका मित्र था । उसकी मृत्यु के बाद पंद्रहवाँ लुई नितांत निरंकुश हो गया । उसने एक अत्याधुनिक हरम का निर्माण किया जिसमें अत्यंत कम उम्र की किशोरियाँ पूरे फ्रान्स में से ढूंढ-ढूंढ कर राजा के उपभोगार्थ लाई जाती थीं । इस जनानखाने की प्रसिद्धि उस युग में दूर-दूर तक फैली थी ।

अपने पूर्वजों की कई पीढ़ियों के राजनैतिक अत्याचार और नैतिक अनाचारों का शिकार बनने वाले सोलहवें लुई का जीवन उसके पुरखों से बिल्कुल भिन्न और उच्च कोटि का था । फ्रेन्च क्रांति ने यूरोप में ही नहीं, पूरे विश्व में अनेक प्रकार की मानसिक और राजनीतिक उथलपुथलों का निर्माण किया । इस क्रांति का मानसिक आरंभ तो चौदहवें लुई के समय से ही हो चुका था, परंतु उसका विस्फोट कुछ देर से हुआ, जिसकी ज्वाला में फँसकर लुई और उसकी रानी,दोनों के जीवन भस्म हो गये । राजा और रानी दोनों वैयक्तिक रूप से सदाचारी और उदार स्वभाव के थे । परंतु क्रान्ति के प्रबल प्रवाह के सामने उनके सत्कार्यों का बांध टिक नहीं सका । पूर्वजों के पाप की ज्वाला इतनी उग्र थी कि फ्रान्स के राजपरिवार के इन अंतिम अवशेषों का सदाशय और पुण्य उसे बुझा नहीं सका । रूस के जार के परिवार के समान यह निर्दोष कुटुंब भी क्रान्ति के खप्पर में भस्मीभूत हो गया । सोलहवें लुई की मृत्यु के बाद नॅपोलियन और सत्रहवें लुई के युग में फ्रान्स में स्थिरता स्थापित हुई । इन दोनों को भी आदर्श पति तो नहीं कहा जा सकता, परंतु इनके राज्यकाल में व्यभिचार और अनाचार को खुल्लमखुल्ला प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था ।

'यथा राजा तथा प्रजा' का सिद्धान्त फ्रेन्च क्रान्ति से पहले के युग के साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुआ है । वॉल्तेयर, डिडेरो, मिरॅबू, मॉन्तेस्क्यू आदि क्रान्ति के आद्य निर्माता माने जाने वाले साहित्यकारों ने भी ऐसी रचनाएँ की हैं जो वर्तमान युग की नैतिक दृष्टि से विचार करने पर कानून की नजरों में आकर दंडनीय मानी जा सकती हैं । कला के क्षेत्र में भी यही हालत रही । सत्रहवें लुई के बाद स्थापित होने वाले

प्रजातंत्र फ्रान्स में ऐसे सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ, जिनमें विवाह और यौन-पवित्रता के लिए कोई खास सम्मान की भावना दिखाई नहीं देती । क्रांति अकसर धर्म का विरोध करती है । अत : विवाह को धर्म से जन्म लेने वाला एक पाखंड मानकर और मनवा कर क्रांतिकारी लेखकों ने विवाह के सामने एक बुद्धिजन्य विरोध खड़ा किया । यौन-संबंधों की पवित्रता मनुष्य के स्वाभाविक रुझान के अनुकूल नहीं है, इस मान्यता में से अनियमित यौन-व्यवहारों को प्रोत्साहन मिला । उस समय के लेखकों और विचारकों के रुख पर विचार करने से उनकी मान्यता यही मालूम देती है मानो अतंत्र और अमर्याद यौन-व्यवहार एवं विवाह विच्छेद का संपूर्ण स्वातंत्र्य ही मनुष्यजाति का स्वाभाविक और वांछनीय बर्ताव हो, और यौन-उपभोग पर लाते गये अनेकानेक प्रतिबंधों के लिए नीति, बुद्धि या प्रकृति का कोई आधार ही न हो । उनकी ये मान्यताएँ प्रजा द्वारा भी स्वीकृत हुईं । इन मामलों में पूरे पश्चिमी जगत ने आज तक फ्रान्स का अनुकरण किया है और आज का एशिया भी पश्चिम के पदचिन्हों पर ही चल रहा है ।

सन् १९३९ के विश्वयुद्ध के समय फ्रान्स के प्रधानमंत्री लियाँ ब्लूम नामक विचारक ने ऐसी विचारधारा प्रचलित की कि यौवन में पर्याप्त यौन-अनुभव प्राप्त करने के बाद, स्थिर जीवन की आवश्यकता पड़ने पर ही, बड़ी आयु में विवाह करना चाहिये । जबकि जर्मनी के हाथों पराजित होने वाले फ्रान्स के वयोवृद्ध अध्यक्ष मार्शल पेताँ ने इस यौन-अवनति को ही फ्रान्स के पतन का प्रमुख कारण माना । अतंत्र यौन-व्यवहार की हिमायत और उत्तरदायित्वहीन यौन संबंधों का समर्थन अंत में व्यभिचार का ही प्रसार करते हैं । और जब तक अर्थ ही हमारी समाजरचना की बुनियाद माना जाता है, तब तक स्त्री-पुरुष के यौन-आवेग का विक्रय करने की वृत्ति भी रहेगी ही । गणिकावृत्ति का स्वरूप चाहे जितना बदल जाये, किसी न किसी रूप में यह वृत्ति जीवित रहेगी ही । कम से कम अब तक तो जीवित रही ही है ।



तीसरा परिच्छेद
अन्य यूरोपीय देशों में गणिकावृत्ति

१

इटली

बात सब जगह एक सी है । यौन-संबंध की कामना करने वाली वृत्ति की उग्रता, विशिष्टता और विपरीतता, एवं इन सब की तह में छिपी हुई अनियमितता, इन संबंधों को अंत में क्रय-विक्रय के क्षेत्र में खींच ले जाती हैं । पश्चिम के अनेक प्रगत देशों के नैतिक इतिहास को हम क्रमश: देखते चलें, तो यही दिखाई देता है । यूनान, रोम और ईसाई युग के रोमन साम्राज्य के बाद विविध देशों का महत्व कम-अधिक विकसित हुआ । सब प्रदेशों ने समय-समय पर जय-पराजय की धूपछाँव भी देखी । कभी फ्रान्स तो कभी स्पेन, कभी ऑस्ट्रिया तो कभी इटली ने पश्चिमी जनमानस का नेतृत्व करके यूरोपीय संस्कृति को नई गति प्रदान की । जिस समय जिस देश का नेतृत्व रहा उस समय उस देश की नीतिभावना की ओर भी सबकी दृष्टि आकर्षित हुई । यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि स्त्री-पुरुष के देह संबंध की प्रचलित मान्यताएँ और रस्मोरिवाज संस्कृति के अभिन्न और सूचक तत्व होते हैं ।

पहले हम इटली की ओर नजर करें । यूरोप के वर्तमान विकास में, कला और साहित्य के क्षेत्र में इटली का योगदान बहुत अधिक रहा है । संगीत और पाकशास्त्र में भी आज की इतालवी प्रजा निपुण मानी जाती है । पिछले वर्षों में प्रजातंत्र-शासन-पद्धति और साम्यवाद के अलावा 'राष्ट्रीय समाजवाद' (National Socialism) नामक विचारधारा ने भी संसार के कई देशों को प्रभावित करके पूरे विश्व को युद्ध की ज्वाला में झोंक दिया था । इस विचारधारा से प्रभावित दोनों प्रमुख वादों, फासिज्म और नाज़ीज्म, का जन्म इटली में ही हुआ था । कुछ देशों में सौंदर्य कदम कदम पर बिखरा रहता है । इटली इसी प्रकार का सौंदर्य संपन्न देश है । यह सौन्दर्य एक ओर जहाँ उच्च कोटि की कला और रसज्ञता को जन्म देता है वहाँ दूसरी ओर, प्रबल आवेगमय वासना और उसके अनुगामी नैतिक अनाचारों की भी सृष्टि करता है । सौन्दर्यदर्शन की परिणति सामान्यत: सौन्दर्योपभोग की लालसा में ही होती है ।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद, मध्य युगमें इटली का प्रदेश अनेक छोटे-छोटे स्वशासित क्षेत्रों में विभाजित हो जाने से वहाँ का सांस्कृतिक जीवन नगरों में केंद्रित हो गया । रोम, फ्लोरिन्स, पीसा, जिनोआ, नेपल्स, ल्यूका आदि उस समय के विख्यात नगरों की परस्पर सांस्कृतिक स्पर्धा के कारण साहित्य और कला का अत्यधिक विकास हुआ और सुंदर कलाकृतियों का निर्माण अबाध गति से होता रहा । परंतु इस स्पर्धा में से ही भयानक वैमनस्यों का जन्म हुआ और अपनी-अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के मोह में इन नगरों के सत्ताधीशों ने किराये के सैनिकों के बलपर संस्कृति को पैरों तले रौंदना आरंभ किया । विलास से खोखली हुई प्रजा जब आपस में लड़-लड़कर थक जाती है, तब वेतनभोगी विदेशी सैनिकों की सहायता लेना आरंभ करती है । अपने पौरुष को दफना कर भाड़े के टट्टुओं की शस्त्र- निपुणता में सुरक्षा या आश्रय ढूंढने वाली प्रजा अंत में उन सैनिकों की गुलाम बन जाती है । प्राचीन काल में हिंदू राजा वेतनभोगी अरबों, हब्शियों और अन्य मुसलमानों को अपने सैन्य में अच्छी खासी भरती रखते थे । परिणाम क्या निकला ? हिंदुओं को मुसलमानों की शहनशाहत का स्वीकार करना पड़ा । उसके बाद के

युग में भारत के हिंदू और मुसलमान शासकों ने फ्रान्सीसी या अंग्रेज अफसरों द्वारा अपनी सेना को शिक्षित करवाना शुरू किया । इसका भी परिणाम हमारी आँखों के सामने है, और आज अंग्रेज हमारे शासक हैं । विलास जब किसी प्रजा को इस हद तक परावलंबी बना दे, तब निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि वह नैतिक अवनति की पूर्व सूचना दे रहा है ।

इटली की नातक अवनति में सबसे बड़ा योगदान रोम की सुविख्यात धर्मसंस्था का था जा पोप के व्यक्तित्व में केन्द्रित हो गई थी । इटली या रोम का राजनीतिक महत्व तो मध्ययुग में पूर्णत : नष्ट हो गया । परंतु रोम की गणना ईसाई धर्म के प्रधान पीठ के रूप में होने के कारण, और धर्मगुरु पोप की सत्ता धार्मिक और सांसारिक दोनों क्षेत्रों में अमर्याद होने के कारण रोम और रोम के मठाधीश पोप का स्थान मध्ययुग में अत्यंत प्रबल और महत्वपूर्ण हो गया । पोप की आज्ञा से बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी डरते थे क्योंकि उसका एक शब्द बड़े से बड़े सम्राट को धर्म से ही नहीं, समाज से भी बाहर निकाल सकता था । परंतु ये सत्ताधारी धर्मगुरु धीरे-धीरे धर्म की आड़ में राज्यशासन और संपत्तिजन्य वैभव एवं मौजशौक में फिसल पड़े । जिस प्रकार राजाओं ने अपने राजदरबार जमाये, उसी प्रकार पोप की धर्मसंस्था ने राजाओं के राजवैभव को नीचा दिखानेवाले धर्मदरबार स्थापित किये । ये पोप नामक सर्वसत्ताधीश धर्मगुरु एक ओर तो नगरों और राज्यों को आपस में लड़ाकर इटली को राजनैतिक अव्यवस्था में घसीट रहे थे और दूसरी ओर अपने वैयक्तिक अनाचारों के उदाहरण से प्रजा को अनीति के मार्ग पर प्रवृत्त कर रहे थे । उस युग के राज्यकर्त्ताओं की तरह इन धर्मगुरुओं और आचार्यों को भी अनेक सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त थे, परंतु अकसर इन अधिकारों का दुरुपयोग ही होता था । बाईसवाँ जॉन, चौथा सॅक्सटस और छठा एलेक्झान्डर जैसे पोपों ने अपने सगे संबंधियों को सघन बनाने में ही अपनी सारी सत्ता और शक्ति खर्च की । संतान न हो, तो किसी बालक को गोद लेकर भी ये धर्मगुरु अपनी आनुवंशिक सत्ता बनाये रखते थे, जिसमें से अनेक अनैतिक संबंध जन्म लेते थे । पोप की रखैलों को उसकी भतीजियाँ कहा जाता था । खुले आम किसी स्त्री को रखैल के रूप में रखना इतने बड़े धर्मगुरु को शोभा नहीं देता, अत : ये युवतियाँ पोप की भतीजियाँ हैं, ऐसा प्रचार करके लोकोपवाद से बचने की कोशिश की जाती थी । आज हमारे देश में भी कॉंग्रेस के खादीधारी देश सेवकों के एक वर्ग से हम परिचित हैं जो 'बहनजी-बहनजी.' कहकर स्त्री-सौंदर्य के आगे पीछे मंडराया करता है ।

ईसाई धर्म में धर्मगुरुओं की श्रेष्ठ-कनिष्ठ, कई पदवियाँ हैं जिनकी छोटे-छोटे गाँवों से लगाकर बड़े-बड़े साम्राज्यों पर सत्ता चलती है । ईसाइयों के प्रॉटेस्टन्ट पंथ की स्थापना सोलहवीं शताब्दी में हुई थी । उससे पहले पूरा यूरोप पोप के धार्मिक नियंत्रण में था और इस सत्ता का कठोरता से उपयोग किया जाता था । प्रधान मठाधीश के आचरण का अनुकरण उसके सहायक भी करने लगें, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये । अत : पोप के उदाहरण को सामने रखकर, छोटी-बड़ी सब श्रेणियों के धर्मगुरु अपने आचार-व्यवहार द्वारा धर्म के बदले अनाचार और निरंकुश वासनातृप्ति की शिक्षा लोगों को देने लगे । दान्ते नामक सुविख्यात इतालवी कवि ने ''नरक'' नामक जगत्प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की है । इस काव्य में पोप के दरबार की तुलना प्राचीन बॅबीलोन की स्वेच्छाचारी शाही दरबार के साथ की गई है और घोषणा की गई है कि इस पोपली संस्था में शर्म या सद्‌गुण नाम की कोई चीज नहीं बची है । काव्य के उन्नीसवें सर्ग में कवि की नरक यात्रा का वर्णन है । वहाँ उनकी तीसरे निकोलस नामक पोप से मुलाकात होती है । ये नरकनिवासी पोप बोनीफेस नामक एक अन्य पोप के आगमन की राह देख रहा है और बोनीफेस के स्थान पर रोम की धर्मगद्दी पर क्लेमेन्ट नामक पोप बिराजने वाला है । इस प्रकार, इटली के उस युग के सर्वश्रेष्ठ महाकवि की दृष्टि में ये तीनों पोप नरक के अधिकारी थे । पोप संस्था के चारों ओर दुराचार की पर्तें इतनी गहरी जम गई थीं कि इटली के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मॅशियावॅली ने इन शब्दों में उसकी प्रशस्ति लिखी है : ''पो

के दरबार को यदि इटली से हटाकर स्विटजरलैंड में ले जाया जाय, तो उसके दुष्ट प्रभाव से यूरोप के ये अत्यंत भोले-भाले और धार्मिक प्रजाजन भी पलक झपकते ही अधम और नीच मनुष्य बन जायेंगे।''

पोप और उसके सहकारी अत्यंत स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत करते थे, इतना ही नहीं उनके लेखन, भाषण आदि में भी मर्यादा का ऐसा अशिष्ट अतिक्रमण होता था जो आज के किसी लेखक की कल्पना में भी नहीं आ सकता। फ्रान्स के आठवें चार्ल्स के आक्रमण के समय, उसके सैनिकों के संसर्ग से पूरे इटली में उपदंश का महारोग फैल गया। इस रोग से इटली का कोई वर्ग अछूता नहीं बचा। धर्मगुरुओं पर तो इस रोग का आक्रमण बहुत ही भयानक रूप से हुआ। पोप सेक्सटस चतुर्थ का भतीजा उस युग का अत्यंत धनाढ्य और कुप्रसिद्ध व्यभिचारी पुरुष था। उसके बारे में उल्लेख मिलता है: ''देह के मध्यभाग से लगाकर पाँव के तले तक वह रोग से लथपथ हो गया था।'' पोप जूलियस द्वितीय के संबंध में कहा जाता है कि वह अपने भक्तों को चरणस्पर्श नहीं करने देता था। कारण स्पष्ट है। गुरुजी के चरण घृणित रोग के चिन्हों से भरे हुए थे। पोप लियो के संबंध में भी यही कहा जाता था।

इस प्रकार, उस युग के धर्मगुरुओं में अनाचार व्यापक रूप से फैला हुआ था। अमीर उमरा भी इस मामले में पिछड़े हुए नहीं थे। बिएट्रीसेन्ट्र नामक एक सरदार ने अनेक पतिताओं को अपने घर में ही रख छोड़ा था। उनके संसर्ग से उसने अपने पूरे परिवार को कलुषित किया था। पोप उससे प्रचुर धन लेकर उसके हर पाप की माफी दे देता था। ईश्वर से इस महापापी उमराव की बार बार सिफारिश करके पोप महाशय उसे नित नये पाप करने की सुविधा कर देते थे। आज हम प्रश्न कर सकते हैं कि ऐसे पतित धर्मगुरु औरों को पाप से मुक्ति कैसे दिला सकते हैं?

नेपल्स में पतिताओं के अपराधों की छानबीन करने के लिए एक खास न्यायालय की स्थापना हुई थी। परंतु अनेक निरपराध स्त्रियों पर ज़ुल्म करके उनसे धन ऐंठना ही इस न्यायालय का प्रधान कार्य था। ग्यारहवीं शताब्दी के रोम में गणिकागृह और प्रार्थना मंदिर पड़ोस-पड़ोस के मकानों में हो सकते थे। उसके पाँच सौ वर्ष बाद भी इस स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। पोप पॉल द्वितीय के युग में गणिकाओं की संख्या बेशुमार बढ़ गई। क्लेमन द्वितीय नामक पोप ने धर्मसंस्था को समृद्ध बनाने के लिए वेश्यावृत्ति पर कर लगाने का फरमान जारी किया था। वेश्यावृत्ति पर कर लगाकर और विभिन्न अपराधों के लिए वेश्याओं पर किये जाने वाले जुरमानों की आय में से गिरजों को कुछ हिस्सा दिलवाकर इस धर्मगुरु ने धर्म और अनाचार के बीच निकट का संबंध स्थापित कर दिया। अपने सृष्टि सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध वेनिस नगर में असंख्य गणिकागृह थे। वेनिस की वारांगनाएँ यूरोप भर में प्रसिद्ध थीं और नगर की सरकार उनकी सेवाओं का उपयोग राजनीतिक कार्यों के लिए भी करती थी। धर्म और अनीति के संबंध का अंदाज लगाने में एविजोन नगर की एक धर्माज्ञा सहायक हो सकती है जिसके द्वारा धर्म-गुरुओं के सार्वजनिक स्नानगृहों में प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया गया था। गणिकाओं के प्रति अत्याधिक उदारता बरतने वाला ईसाई धर्म भी, कभी-कभी उनसे त्रस्त हो उठता था, इसका यह उत्तम उदाहरण है।

इटालियन समाज का आज तक चला आने वाला एक और रिवाज भी उल्लेखनीय है। कोई भी विवाहित स्त्री घर से बाहर निकलती है, तब उसके साथ उसका पति नहीं बल्कि कोई पुरुष मित्र या संबंधी होना चाहिये। यह पुरुष साथी इस स्त्री के प्रति अत्यंत आदर प्रदर्शित करता है, उसकी हर तरह से इज्जत करता है, और उसकी छोटी-मोटी सेवाएँ करने में गर्व का अनुभव करता है। गरमी हो तो उसे पंखा झलता है, कुछ सामान हो तो उठा लेता है, स्त्री के साथ अगर उसका पालतू कुत्ता हो, तो उसे गोद में उठाकर चलता है और वह मानो कोई महारानी हो, इस प्रकार उसकी हर तरह से खातिर करता हुआ, एक आज्ञाकारी सेवक के रूप में उसके साथ रहता है। इस रिवाज में से अनेक अनिष्ट संबंध उत्पन्न होते हैं

और तमाशबीनों के लिए यह प्रथा अशिष्ट और यौन-संकेत पूर्ण मजाक का विषय बन जाती है । पुरुष और स्त्री का सहवास सतत सावधानी की अपेक्षा करता है, क्योंकि सहवास का हर प्रसंग यौन-संबंध में परिणत हो जाने की संभावना सदा बनी रहती है ।

इटली की प्रजा स्वभाव से ही भावुक और भावना विवश होती है । पूरा प्रदेश अपेक्षाकृत कुछ ऊष्ण होने के कारण प्रजा के भावावेश की उग्रता के लिए प्रसिद्ध है ।आलस्य, भिक्षावृत्ति और यौन-स्खलनों के लिए उस देश के जलवायु को भी अंशत : जिम्मेदार माना गया है । यद्यपि प्रजा के अवगुणों के लिए देश के जलवायु को दोष देना सदा उचित नहीं होता क्योंकि किसी भी देश के ग्रामीण विस्तार यौन-अनाचारों से अकसर मुक्त होते हैं जबकि नागरिक विभागों में शिक्षा और शिष्टाचार के प्रभाव से यौन-संबंधों की उग्रता या तो खुले आम वेश्यावृत्ति के रूप में व्यक्त होती है, या शिष्टता के आवरण के नीचे पतितावस्था के अनुकूल वातावरण का निर्माण करती रहती है । यूरोप में इटली का अनेक दृष्टियों से विशिष्ट स्थान है । यूरोप की संस्कृति को इस देश ने अनेक उपहार दिये हैं । यौन-संबंधों के क्षेत्र में भी इस देश ने यूरोप की रसवृत्ति को विकसित किया है और राजाओं के बदले सत्ताधारी धर्मगुरुओं के रूप में अनाचार के पोषक तत्वों का विकास किया है ।

२
स्पेन

स्पेन का प्रादेशिक इतिहास भी इतना ही रसमय है । रूमसागर के दोनों किनारों पर जब रोमन साम्राज्य की सत्ता फैल रही थी, तब ये पूरा प्रदेश रोम के प्रभाव से व्याप्त था । स्पेन भी इसी प्रदेश का एक भाग होने के कारण, पूर्णत : रोमन सत्ता और रोमन प्रभाव के अंतर्गत आ गया था । रोमन कानून और रस्मोरिवाज स्पेन के समाज-जीवन की बुनियाद बन चुके थे और गणिकाओं की व्यवस्था भी रोम से मिलते जुलते ढंग पर ही की जाती थी । अंग्रेजी भाषा में गुंडों के लिए 'रफियन' (Ruffian) नामक एक शब्द है । यह शब्द स्पॅनिश भाषा के 'रफियानी' (Ruffiani) शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है ''गणिकाओं का साथी'' या ''गणिका के साथ रहने वाला गुंडा'' । कभी-कभी, छोटे-छोटे शब्दों में व्यापक इतिहास भरा रहता है । गणिकासंस्था के साथ जुड़े हुए विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अध्ययन निश्चित रूप से मनोरंजक हो सकता है ।

स्पेन में मुस्लिम संस्कृति भी कई शताब्दियों तक स्थिर होकर अपना प्रभाव जमा सकी थी । फ्रान्स के ईसाई राजा शार्लमॅन ने मुसलमानों को स्पेन से आगे बढ़ने से न रोका होता, तो आज पूरा यूरोप ईसाई के बदले इस्लामधर्म का अनुयायी होता । पलक झपकते ही विस्तृत प्रदेशों में फैल जाने वाली यह इस्लामी संस्कृति अपने आरंभ के दिनों में अत्यंत प्राणवान थी । इस संस्कृति के चिन्ह आज भी स्पेन में उपलब्ध हैं । स्पॅनिश संस्कृति का विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिये कि आज यूरोप के राज्यों में द्वितीय श्रेणी का माना जाने वाला यह देश उस युग में एक महान राज्य था जिसपर रोमन और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का गहरा प्रभाव पड़ चुका था । इस साहसिक प्रजा ने ही कोलंबस जैसे कुशल नाविक को जन्म दिया, जिसने स्पेन के राज परिवार की सहायता से अमरीका महाद्वीप का पता लगाया । स्पेन की महत्ता स्थापित करने के लिए यह एक उदाहरण ही काफी है ।

स्पेन में भी गणिकाओं और उनके रक्षक गुंडों के विरुद्ध कठोर नियमों की रचना की गई थी । अन्य

प्रचलित सजाओं के उपरांत वेश्यावृत्ति से जीवन-यापन करने वालों को गरम लोहे से दागने की या उनकी नाक काट देने की सजा भी दी जाती थी । "रफियानी" प्रमाणित होने वाले पुरुष को प्रथम अपराध के लिए दस साल तक जहाजों में रहकर गुलामी करनी पड़ती थी जहाँ उससे अकसर डाँड़ चलाने का कठिन काम करवाया जाता था । दूसरी बार पकड़े जाने वाले अपराधी को सौ कोड़े मारकर जीवन भर के लिए जहाजों पर गुलामी करने के लिए भेज दिया जाता था ।

अन्य प्रदेशों के अनुसार स्पेन का राजा या धर्मगुरु भी नीति के उच्च आदर्श नहीं माने जा सकते । प्रजा भी अपने राजाओं, नेताओं और धर्मगुरुओं का अनुकरण करती थी । स्पॅनिश राजपरिवार के प्रेम-संबंधों में गहरे उतरने की हमें आवश्यकता नहीं । फर्डीनान्ड और आइजाबेला के युग में कुछ समय के लिये स्पेन की नैतिक भावना ने उच्च कक्षा प्राप्त की थी । स्पेन के कानून में रखैल प्रथा आरंभ से ही स्वीकृत थी । इस स्वीकृति में ईसाई धर्म-भावना और मूरों की मुस्लिम संस्कृति का समन्वय दिखाई देता है । उस युग के स्पेन में ईसाइयों और मुसलमानों में परस्पर विवाह संबंध बड़ी संख्या में हुए थे । दोनों धर्मों के लोगों में स्थायी सद्भाव भी स्थापित हो सका था, जिसके परिणाम स्वरूप एक दूसरे के धर्म और कानून के प्रति सम्मान की भावना विकसित हो सकी । अत्यंत निर्दय माने जाने वाले स्पॅनिश ईसाई और धर्मांध कहे जाने वाले मुसलमानों के बीच एक दूसरे के धर्म के प्रति सम्मान की भावना संभव हो सकी, यह बात आज के भारतवासियों के लिए मननीय है ।

हम देख चुके हैं कि ईसाई धर्म के आरंभ के समय यह मान्यता थी कि पतिता स्त्री से विवाह करने वाला पुरुष बड़ा भारी पुण्यकार्य करता है । स्पेन में एक विचित्र घटना हुई । किसी युवक को फाँसी पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा था । एक गणिका ने उसे देखा और उसका पौरुषयुक्त सौंदर्य देखकर वह उस पर मोहित हो गई । गणिका ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की । युवक ने भी पतिता के साथ विवाह करना कबूल कर लिया होता, तो उस युग के नियमानुसार उसके प्राण बच सकते थे । परंतु उसने यह प्रस्ताव मान्य नहीं किया । पतित वेश्या के साथ विवाह करने जैसी कीमत चुका कर प्राणरक्षा करना उसने योग्य नहीं माना । उसकी ऐसी बहादुरी और जीवन के प्रति उपेक्षा देख कर राज्यसत्ता ने उसे फाँसी नहीं दी । इस युवक को फाँसी क्यों दी जाने वाली थी, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता । परंतु अवश्य ही उसने कोई ऐसा भयानक अपराध किया होगा जिसके लिये फाँसी की सजा दी जा सके । ऐसे अपराधी ने भी गणिका के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया । आज की नीतिभावना प्रश्न पूछ सँकती है कि ऐसा करके उसने नीति का समर्थन किया या अनीति का ?

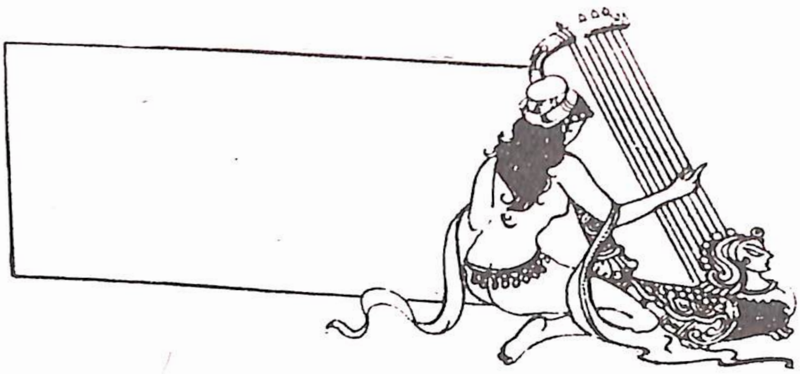
विवाहित स्त्रियों की सेवा में उनका पुरुष मित्र या संबंधी किस प्रकार तैनात रहता था, यह हम इटली के वर्णन में देख चुके हैं । इस प्रथा का स्पेन में भी प्रवेश हो गया था । विशेषता केवल इतनी थी कि स्पेन में स्त्री-सहवास के इस कार्य के लिए शहरों में सेना के अफसरों को अधिक उपयुक्त माना जाता था और गाँवों में पादरियों को । इन साथियों के प्रति स्त्रियों की वफादारी उनकी पतिनिष्ठा से भी अधिक स्नेहमयी होती थी और उसे समाज की प्रशंसा प्राप्त होती थी । पति को एक ओर छोड़कर किसी सैनिक या पादरी के सहवास को अधिक महत्वपूर्ण मानने वाली रूढ़ि पतिप्रेम को गौण बना दे, यह स्वाभाविक है । इस प्रकार के सहवास परपुरुष के संसर्ग को ही प्रोत्साहित करते थे और इनमें से एक विशिष्ट प्रकार की गणिकावृत्ति का जन्म होता था ।

स्पॅनिश प्रजा की उत्पत्ति गॉथ और मूर जातियों के मिश्रण से हुई है । उनकी बाह्य आकृति और उनकी स्वभाव-रचना भी इसका समर्थन करती हैं । इन दोनों जातियों के वंशचिन्ह आज भी इस प्रजा ने सुरक्षित रखे हैं । इटली और स्पेन आदि यूरोप के दक्षिण में बसे हुए देशों के प्रति उत्तर यूरोप के लोगों के

मन में बहुत ऊँची भावना सामान्यत : नहीं पाई जाती । स्पेनिश स्त्रियों की नैतिकता के संबंध में भी उत्तर की प्रजाओं का मत अच्छा नहीं है । फिर भी स्पेनिश आचार की एक विशेषता ध्यान आकर्षित करती है । स्पेन में पुत्र अपनी माताओं का अत्यधिक सम्मान करते हैं और माता की आज्ञा का पालन इतनी तत्परता से किया जाता है कि वह स्पेन की स्त्री सम्मान की भावना का सर्वोच्च और परिष्कृत रूप मालूम देता है । साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि अमरीका की खोज लगाकर वहाँ पर महान राज्यों की स्थापना करने वाली इस प्रजा ने अमरीका के आदिम निवासियों का निर्दय संहार करके उस जाति का निर्मूलन कर दिया । यह इतिहास स्पेनिश प्रजा का स्थायी कलंक माना जायगा । अनीति भरे देह-संबंधों के जरिये स्पेनिश नाविकों ने ही पूरे यूरोप में उपदंश की महामारी का प्रसार किया, यह सत्य भी स्पेन की नैतिक भावना की गम्भीर समीक्षा करता है ।

३
पुर्तगाल और अल्जीरिया

पुर्तगाल तो साधुसाध्वियों के कलंकित चरित्र के लिये ठेठ सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक बदनाम रहा । ऑडिविला नामक मठ तो पुर्तगाल के राजा पाँचवें ज्होन का जनानखाना बन गया था । इस मठ में पूरे देश की सुंदरतम और कला प्रवीर्ण गणिकाओं को साध्वियों के रूप में रखा जाता था । गणिकाएँ साध्वी का रूप धारण करके मठ-मंदिरों में रहने लगें तो धर्म बहुत शीघ्र गणिकावृत्ति का सहायक बन जाय, यह स्वाभाविक है ।



पुर्तगाली स्त्रियाँ स्वभाव से अत्यंत उन्मुक्त होती हैं परंतु पुरुष; पति के रूप में उतने ही ईर्ष्यालु होते हैं । सन् ११४३ में स्वीकृत एक पुर्तगाली कानून के अनुसार यदि कोई विवाहित स्त्री व्यभिचार करते हुए पकड़ी जाती थी तो राजा खुद न्यायासन पर बैठ कर न्याय करता था और दोषी प्रमाणित होने पर उस व्यभिचारिणी स्त्री और उसके प्रेमी को जिंदा जला दिया जाता था । एक कानून यह भी था कि कोई पुरुष किसी स्त्री पर बलात्कार करे, तो उसे उस स्त्री के साथ विवाह करना पड़ता था । ऐसा करने से एक दृष्टि से देखा जाय, तो बलात्कार करने वाले पुरुष का उद्देश्य सफल होता था ; परंतु दूसरी दृष्टि से देखें, तो बलात्कार का शिकार होने वाली स्त्री आजीवन उसके गले बँध जाती थी और बलात्कार करने वाले पुरुष को उत्तरदायित्वहीन रसिक के बदले गृहस्थी का भार ढोने वाला बैल बनना पड़ता था । एक बार के संभोग के परिणामस्वरूप जीवनभर के लिए स्त्री का भार उठाने की सजा ऐसे पुरुषों की अक्ल ठिकाने ला देती थी । यदि स्त्री उच्च परिवार की हो, तो बलात्कार करने वाले पुरुष की पूरी संपत्ति भी उसे दे दी जाती थी ।

गाँवों के अनाथालयों में ग्रामीण युवतियाँ खुले आम बच्चों को भरती करा जाती थीं । अधिकांश बालक अनौरस होते थे । ईर्ष्यालु पुर्तगाली पति विदेश जाते समय शीलरक्षा की खातिर अपनी पत्नियों को धार्मिक आश्रमों में छोड़ जाते थे, मानो इन आश्रमों के चारों ओर नैतिकता की किलेबंदी रही हो । आश्रमवासी धर्मगुरुओं और उनके चेलेचांटों को यह व्यवस्था बेहद पसंद आती थी, यह स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं ।

स्पेन और पुर्तगाल की चर्चा करते समय हमें सामने के किनारे पर स्थित अल्जीरिया का विचार भी कर लेना चाहिये । अफ्रीका के उत्तरी तट पर रहने वाले मूरों ने उस प्राचीन युग में जिस प्रकार स्पेन-पुर्तगाल को प्रभावित किया था, उसी प्रकार आज के युग में फ्रान्स, स्पेन और पुर्तगाल ने अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश को पदाक्रांत किया है । जमीन की भूखी पश्चिमी प्रजाओं ने पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व जमा लिया है । अफ्रीका का उत्तरी किनारा इस लोलुपता से बच जाय, ऐसी संभावना ही नहीं थी । इंग्लैंड, इटली, फ्रान्स और स्पेन ने मिलकर पूरे उत्तरी अफ्रीका को आपस में बाँट लिया है मानो लुटेरों ने लूट के माल का बंटवारा कर लिया हो । इस पूरे प्रदेश में इस्लाम धर्म का पालन करने वाले मूरों की आबादी है ।

ई. स. १८३० में फ्रान्स ने अल्जीरिया पर विजय प्राप्त की, उस समय वहाँ की तीस हजार की आबादी में केवल गणिकाओं की संख्या तीन हजार थी । अधिकांश गणिकाएँ मूर, अरब या हब्शी जाति की थीं । पुरानी राजसत्ता ने इन गणिकाओं पर कर लगाया था । फ्रान्सीसी शासन में भी यह कर जारी रहा, इतना ही नहीं, कर वसूल करने के ठेके का नीलाम होने लगा । इस प्रकार गणिकावृत्ति के प्राचीन रूप से परिचित इस प्रदेश को उसके नये रूप के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उसी समय से अल्जीरिया एक ऐसा प्रदेश रहा है जहाँ देशी, विदेशी, सब प्रकार की गणिकाएँ विपुल संख्या में सदा उपलब्ध रहती हैं । स्वाभाविक है कि इस प्रदेश की स्त्रियों के प्रति यूरोप निवासियों के मन में सम्मान की कोई भावना न हो ।

अल्जीरिया के अंदरूनी भाग में बसने वाली प्रजाओं में तो यह रिवाज खुलेआम प्रचलित था कि युवती स्त्रियों के पिता या भाई, धन के बदले में एक रात के लिए या एकाध सप्ताह के लिए अपनी बहन-बेटियों को विदेशियों के उपभोगार्थ उपलब्ध करा देते थे । इस प्रदेश की घृणित वेश्यावृत्ति के तीन प्रमुख कारण माने गये हैं :—

१. **भयानक दारिद्र्य**:— फ्रेन्च आक्रमण और उसके परिणाम रूप युद्धों को इस गरीबी का मूल कारण माना जा सकता है । युद्ध और अनीति का संबंध अत्यंत घनिष्ट होता ही है । फ्रान्स की विजय ने प्रजा में ऐसी भयानक दरिद्रता फैला दी कि गरीबों की तो बात ही छोड़िये, अल्जीरिया के अमीरों को भी

जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अपनी लड़कियों से वेश्यावृत्ति करवानी पड़ती थी । पश्चिम के ईसाई दिग्विजय का यह सीधा परिणाम था ।

२. अरब और मूर स्त्रियों की तीव्र भोगेच्छा और उनका आलस्य ।

३. लोगों की यह मान्यता कि स्त्री विक्रय की जा सके या किराये पर दी जा सके; ऐसी वस्तु है ।



अरब वेश्याएँ बाहर जाते समय बुर्का पहनती हैं और सभ्य स्त्रियों के समान ही वस्त्राभूषण धारण करती हैं । छिपी हुई वेश्यावृत्ति भी इस प्रदेश में व्यापकता से फैली हुई है । अनेक स्त्रियों का संबंध फौज के दस्तों से होता है । किसी प्रदेश में एक दस्ते के स्थान पर दूसरे दस्ते की नियुक्ति होने पर पुराने दस्ते के लोग इन गणिकाओं की सिफारिश अपने नये साथियों से करके, उन्हें नई फौज के सुपुर्द कर देते हैं ।

४
जर्मनी और आसपास के देश

बड़े और विकासशील देश के नगर पूरे देश की विशिष्टताओं के प्रतीक रूप होते हैं । जर्मनी के शहर भी पूरे देश की प्रतिकृति के समान हैं । जर्मनी के हॅम्बर्ग नगर में सन १३५० में शहर के व्यापार मंडल ने सार्वजनिक गणिकागृहों का निर्माण करवाया था । गणिकागृहों को उस युग में स्त्रियों के गृह कहा जाता था और प्रतिष्ठित कौटुंबिक जीवन व्यतीत करने वाले परिवारों को पुरुषों के गृह कहकर दोनों का भेद स्पष्ट किया जाता था । न्याय अच्छा है : शिष्ट गृहजीवन पुरुषों के नाम पर, और गणिकागृह स्त्रियों के नाम पर ! इन वेश्यालयों में एक पेटी रखी रहती थी, जिसमें प्रत्येक गणिका को अपनी आय का निश्चित

भाग जमा करना पड़ता था । गणिकाओं पर शहर के भिक्षुकाधिकारी नामक अफसर की हुकूमत चलती थी । हर सोमवार को प्रत्येक गणिका धार्मिक कार्यों के लिए भी कुछ चंदा अलग निकालती थी । बीमार या अपना गुजारा न कर सकने वाली गणिकाओं का पालनपोषण इस पेटी के धन से किया जाता था । मकानमालिक को किराये के रूप में प्रत्येक गणिका को निश्चित लंबाई की सूत की डोरियाँ बट कर देनी पड़ती थीं ।

इस व्यवस्था में तीन आश्चर्यजनक तत्व दिखाई देते हैं । प्रथम तो भिक्षुकाधिकारी नामक अफसर की नियुक्ति । आज के प्रगतिशील युग में हर जगह ऐसे पदाधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक होने पर भी, इस दिशा में अब तक कुछ नहीं हो पाया है । भारत को स्वराज्य मिलते ही प्रत्येक शहर में इन अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक तौर पर हो जानी चाहिये । दूसरी बात यह कि अपनी आय का निश्चित भाग धार्मिक और सामाजिक कार्यों के लिए अलग निकाल देती थीं । लाखों रुपये कमाने वाले धनिकों में भी इस प्रकार धर्मादाय रकम अलग निकालने वालों की संख्या कितनी होगी ? गांधीजी की झोली भरने क साथ-साथ अंग्रेज सरकार के युद्धफंड में दिल खोल कर चंदा देने वाले धनिक व्यापारियों में इन गणिकाओं के समान धर्मादाय रकम ईमानदारी से अलग रखने वाले कितने होंगे ? गणिकाओं की कमाई की अपेक्षा इन व्यापारियों की कमाई कम दूषित नहीं होती । और तीसरा आश्चर्य यह कि इस धन का उपयोग इन्हीं गणिकाओं की बदनसीब सहेलियों के भले के लिए किया जाता था । आज भी ऐसी सुरक्षा कितनों को प्राप्त है । बात सही है : हर काली बदली की रूपहली किनारी होती है ।

फ्रॅन्च क्रांति ने पूरे यूरोप के साथ जर्मनी के नैतिक संतुलन को भी डगमगा दिया था । फ्रॅन्च राजपरिवार के कई लोग जर्मनी में आकर बस गये थे । वे अपने साथ पॅरिस के रस्मोरिवाज और नीति-अनीति भी लेते आये थे । उस युग की हॅम्बर्ग शहर की गणिकाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

"देह वैशिष्ट्य और रंग आदि के संबंध में हॅम्बर्ग की गणिकाओं और अन्य शहरों की गणिकाओं में कोई फर्क नहीं है । व्यवसाय के आरंभ में वे कुछ दुबली होती हैं परंतु शीघ्र ही अच्छी खुराक और आरामभरे जीवन के कारण उनके शरीर स्थूलता की ओर झुकने लगते हैं । उनके मस्तिष्क और मुख पर उनके पेशे का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगता है । मुख पर बुद्धिजन्य चपलता के स्थान पर पाशविक विलासवृत्ति की निर्लज्जता दिखाई देने लगती है । कुछ समय में ही उनके चेहरे की कान्ति निस्तेज हो जाती है, दांत सड़ने लगते हैं, बाल झड़ने लगते हैं और पूरे शरीर पर अतंत्र विलासवृत्ति के चिन्ह दिखाइ देने लगते हैं । परंतु उनके पेशे का सबसे अधिक प्रभाव उनके स्वर पर पड़ता है । उनकी आवाज बहुत शीघ्र कठोर और कर्कश हो जाती है ।" ऐसा मालूम देता है कि स्वभाव और चरित्र कंठस्वर द्वारा भी व्यक्त हो जाते हैं । कठोर और कर्कश स्वर वाले मनुष्यों को इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये । गणिकाजीवन के अध्येताओं के लिए यह वर्णन उपयोगी सिद्ध हो सकता है । पेशे का प्रभाव देहाकृति और आदतों पर अवश्य पड़ता है । गणिकाओं के हावभाव और चेहरेमोहरे पर उनके पेशे की छाप छिपी नहीं रहती, यह मानी हुई बात है ।

अधिकांश गणिकाएँ कम शिक्षित, वहमी और कुछ हद तक धार्मिक वृत्ति वाली होती हैं । यूरोप के वेश्यागृहों में बाइबल के धार्मिक प्रसंगों के चित्र अकसर दिखाई दे जाते हैं । यद्यपि यह भी सत्य है कि वेश्याओं के पेशे के अनुकूल अश्लील चित्र भी इन चित्रों के साथ-साथ ही प्रदर्शित होते रहते हैं । हॅम्बर्ग शहर के एक वेश्यागृह के मालिक का सत्कृत्य भी उल्लेखनीय है । इस मनुष्य का नाम तो था चार्ल्स लेकिन वह "सिंह" के उपनाम से प्रसिद्ध था । इसने चौबीस वर्षों तक यह व्यवसाय किया था । सन १८४६ में भयानक शीत के कारण उस प्रदेश के लोगों पर पारावार संकट आ पड़ा । उदारता के आवेश में आकर इस "सिंह" ने एक सौ गरीब परिवारों को कई महीनों तक अन्नवस्त्र की सहायता देकर जीवित

रखा था । गणिकागृहों के और उनके मालिकों के विशिष्ट उपनाम पड़ जाते हैं । चार्ल्स का गणिकागृह उसके उपनाम ''सिंह'' के नाम से ही प्रसिद्ध था । गणिकाओं के मोहल्लों के लिए विशिष्ट नामों की योजना तो सभी जगह की जाती है । कई गणिकागृहों में वर्णभेद की दीवारें भी होती हैं । हैम्बर्ग के अधिकांश वेश्यालयों में हब्शी मल्लाहों के प्रवेश पर प्रतिबंध था । कुछ गोरकाय गणिकाओं का यह विश्वास होता है कि काले पुरुष के संसर्ग से प्राप्त उपदंश का रोग असाध्य और अधिक भयानक होता है । जातिभेद के समान सार्वत्रिक न होने पर भी वर्णभेद की व्यापकता कुछ कम नहीं है । अन्यथा, धन के बदले में देह बेचने वाली वेश्या को गोरे-काले का भेदभाव करने की क्या आवश्यकता हो सकती है?

प्राचीन काल के अनेक देशों की तरह जर्मनी में भी ईसाई धर्म के प्रचलन से पहले यह रिवाज था कि पुरुष जब तक युद्ध के मैदान में अपनी वीरता प्रमाणित न करे तब तक उसे स्त्री-समागम का अधिकारी नहीं माना जाता था । ऐसे पुरुष का स्त्री सहवास अत्यंत लज्जा की बात मानी जाती थी । पारिवारिक पवित्रता की रक्षा भी यत्नपूर्वक की जाती थी और किसी आदमी को दोगला कहना सबसे बड़ी गाली मानी जाती थी । व्यभिचार को प्राणदंड के योग्य अपराध माना जाता था और व्यभिचारियों को अकसर जिंदा जला दिया जाता था । ईसाई धर्म के प्रवेश के बाद इन सजाओं में कुछ नरमी बरती जाने लगी । ईसाई धर्म में भी ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारियों का महत्व बहुत अधिक था, परंतु पतिताओं के साथ विवाह करना पुण्यकार्य माना जाने के कारण ब्रह्मचर्य पालन को बाध्य साधुओं की हर तरह से सुविधा हो गई । खुद अपने द्वारा भ्रष्ट की गई स्त्रियों को ठिकाने लगाने में यह पतितोद्धारक विवाह की प्रथा और उससे प्राप्त पुण्य का सिद्धान्त उनके हित में अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुआ । इन साधुओं से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन होना तो संभव नहीं था । साधुता का ढोंग बनाये रखना भी आवश्यक था और विषयभोग भी अनिवार्य था । पतिताएँ इस आवश्यकता की दोनों तरह से पूर्ति करती थीं, और उन्हें ईसाई बनाकर एवं उनके विवाह की व्यवस्था करके धर्मगुरुओं को भी अपने दुष्कृत्यों पर गंगाजल छिड़क कर पापमुक्त हो जाने की सुविधा रहती थी । धर्म ने सचमुच ही मनुष्य के पापों के साथ मनमाना खिलवाड़ किया है ।

सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में और विशेषत: जर्मनी में श्रेष्ठीमंडलों (Trade Guilds) की स्थापना हुई । इन मंडलों ने राज्यसत्ता को भी प्रभावित करना आरंभ किया और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अनेक सामाजिक विधिनिषेधों की रचना की । असभ्य स्त्री-पुरुषों को अपने समारोहों में सम्मिलित न करने के एवं नीच वर्ग की स्त्रियों का पत्नी के रूप में स्वीकार न करने के नियमों का सबसे पहले प्रचलन हुआ । किसी व्यापारी को विवाह करना हो, तो उसका कर्तव्य माना जाता था कि पहले वह अपनी भावी पत्नी का महाजन मंडल की सभा में परिचय कराये जिससे मंडल को स्त्री की योग्यता का विश्वास हो सके । इस नियम का पालन न करने वालों को व्यापार मंडल से निकाल दिया जाता था । इतना सब करने पर भी धर्म, गृह और व्यापारी मंडलों की शुद्धि बनाए रखने के प्रयत्न कामयाब नहीं हुए । सभ्य परिवारों में गणिकाओं का प्रवेश हमेशा ही होता रहा और गणिकावृत्ति को भी सदा पोषण मिलता रहा ।

समाजशुद्धि के इन प्रयत्नों के साथ साथ एक विचित्र रिवाज भी उल्लेखनीय है । कोई साहूकार यदि कर्जदार पर दावा करे और इसके लिए उसे अदालत के शहर में आकर रहना पड़े, तो उसके भोजन, निवास इत्यादि का खर्च कर्जदार को देना पड़ता था । यहाँ तक तो गनीमत है और बात समझ में आ सकती है । परंतु इस निवास के दौरान में साहूकार को यदि स्त्री-सहवास की आवश्यकता महसूस हुई हो, तो इस संबंध के पूरे खर्च को भी वह अपने पावने में जोड़ सकता था और न्यायालय उसकी इस मांग को मान्य रखते थे ।

ये व्यापार मंडल धीरे-धीरे बड़े शहरों की व्यवस्थापक संस्थाओं में परिणत हो गये । एक बार किसी

शहर के एक धनाढ्य नागरिक को किसी दूसरे शहर में निमंत्रित किया गया । इस शहर के लोग धनाढ्य की कृपादृष्टि बनाये रखना चाहते थे । उसके सम्मान में सार्वजनिक समारंभ, भोजन समारोह आदि की व्यवस्था की गई । सम्मान समारोहों में खर्च अक्सर फूलहार, बैंडबाजे, जुलूस, मानपत्र, भोजन आदि में ही होता है । परंतु इस समारंभ में धनाढ्य मेहमान को खुश करने के लिए और उसकी शैय्या की शोभा बढ़ाने के लिए आमंत्रित युवतियों का खर्च भी जोड़ा गया था । आज की नगर पालिकाएँ प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तियों को मानपत्र देने में अनेक प्रकार का खर्च कर सकती हैं । परंतु मेहमान कितना ही प्रसिद्ध क्यों न हो, उसकी विषयवासना संतुष्ट करने का खर्च संस्था के कोष में से करने का साहस कोई नागरपालिका करे, इसकी संभावना नहीं । मेहमान की इच्छा होने पर भी सार्वजनिक धन का ऐसा उपयोग कोई संस्था नहीं कर सकती; यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान में ऐसी घटनाएँ अनेक बार हुई थीं कि जब विजयी सेना के सैनिकों की वासनातृप्ति के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी नगर पालिकाओं पर आ पड़ी थी । यह सब यूरोप की अत्यंत प्रगत मानी जाने वाली प्रजाओं में हुआ था । द्वितीय विश्वयुद्ध के दरमियान इस संबंध में कहाँ तक प्रगति हुई है, यह तो कुछ समय बाद ही मालूम हो सकेगा ।

जर्मनी में गणिकावृत्ति पर अंकुश तो आरंभ से ही था, परंतु गणिकाओं संबंधी पहला महत्वपूर्ण कानून ई. स. १७०० में रचा गया । उसके बाद, अनेक बार, इस कानून में परिवर्तन हुए । इस कानून में दो बुनियादी सिद्धान्त मान लिये गये थे । एक तो यह कि कामवासना का संपूर्ण रूप से दमन करना संभव नहीं है, और दूसरा यह कि यौन-अनियमितताएँ सम्य और क्षम्य मानी जानी चाहिये । इस कानून के अंतर्गत गणिकाओं को उनके अनियमित बर्ताव के लिए सजा भी दी जाती थी और उनके उद्धारार्थ आश्रम भी खोले जाते थे । इन आश्रमों में प्रवेश करते समय और पवित्र होकर वहाँ से विदा होते समय इन स्त्रियों को कोड़े मारे जाते थे । इस विचित्र प्रथा को "स्वागत और बिदाई की रस्म" कहा जाता था । इस प्रकार जर्मनी में गणिकावृत्ति का समूल नाश करने के या उसे नियंत्रित रूप में चलने देने के प्रयत्न सदा होते रहे ।

सन् १८१४ में राजाज्ञा हुई कि बर्लिन के गणिकागृहों को पूर्णत : बंद कर दिया जाय । परिणाम यह निकला कि गुप्त वेश्यावृत्ति का व्यापक प्रचार हुआ । रोगों का प्रमाण भी बढ़ गया और अस्पतालों की कमी पड़ने लगी । कानूनन प्रतिबंध लगाने पर भी वेश्यावृत्ति या गुप्तरोग घटते नजर नहीं आये, इसलिये नियमों को फिर कुछ शिथिल कर दिया गया और कुछ गणिकागृह फिर से खोलने की इजाजत दी गई । परंतु इस छूट के विरुद्ध एक आंदोलन खड़ा हुआ जिसके नेता थे एक पादरी और एक कलाल । पादरी ने तो नैतिक और धार्मिक भूमिकाओं पर इस शिथिलता का विरोध किया होगा, यह समझा जा सकता है । परंतु कलाल को इस आंदोलन में क्या दिलचस्पी थी, यह समझ में नहीं आता । गणिकागृहों में शराब के उपयोग पर संपूर्ण प्रतिबंध था, इसलिये शायद उसने गणिकागृह विरोधी आंदोलन का समर्थन किया हो । इन दोनों नेताओं ने पुलिस और मंत्रियों से गणिकागृह बंद करने की बार-बार बिनती की । अंत में राजा ने मध्यस्थी की और सन १८४५ में सब गणिकागृह फिर से बंद कर दिए गये और गणिकाओं को सरकारी दफ्तर में दर्ज करने का रिवाज भी समाप्त हो गया । पादरी और कलाल की जोड़ी को सफलता मिली । पादरी लोग सुनीति के पुतले नहीं होते और गणिकावृत्ति के विकास में उनका योगदान भी जगजाहिर है । फिर भी पादरी का विरोध समझ में आ सकता है । परंतु शराब बेचने वाला कलाल दारू बेचते-बेचते वेश्यावृत्ति के विरुद्ध झंडे गाड़ कर मैदान में उतरे और आंदोलन के नेता के रूप में स्वीकृत हो, इसे मानव स्वभाव की विचित्रता ही मानना होगा । कलाल और पादरी की जोड़ी के नेतृत्व में बर्लिन शहर कानून की दृष्टि से तो बिलकुल सदाचारी बनकर व्यभिचार से मुक्त हो गया; परंतु इसका इच्छित परिणाम नहीं निकला ।

वास्तविक परिणाम की कल्पना सन् १८४७ में एक अखबार में छपने वाले निम्नलिखित पत्र से की जा सकती है — ''कानून तोड़कर पेशा करने वाली वेश्याओं ने पूरे शहर में अपना जाल फैला रखा है और नगर को नीतिभ्रष्ट कर दिया है । पुलिस से बचने के हथकंडे इन्हें खूब याद हैं । वर्तमान स्थिति से तो परवाने वाली वेश्याओं के समय में नगर की नैतिकता अधिक सुरक्षित थी ।'' एक और पत्र में शिकायत की गई है, ''पहले गणिकाओं का पेशा अंधेरे में और नागरिकों की दृष्टि से छिप कर चलता था । परंतु आजकल तो शर्मोहया का नामनिशान भी नहीं बचा और पूरा व्यवहार खुले आम होता है ।'' उस युग के बर्लिन की अनियंत्रित गणिकावृत्ति के विस्तृत वर्णन में उतरने की आवश्यकता नहीं । राजा के कान पर ये सब शिकायतें पहुँचीं और १८४५ में गणिकावृत्ति पर लगाई गई पाबंदी सन् १८५१ में हटा देनी पड़ी । छ: वर्ष भी नहीं बीते थे कि गणिकावृत्ति को मान्य रखने वाले कानून फिर से प्रचलित हुए । पादरी और कलाल की जोड़ी ने इस बार भी कोई आंदोलन किया या नहीं, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

जर्मनी के अन्य नगरों की हालत भी इससे मिलती-जुलती थी । लिपजिग शहर की गणिकाओं के संबंध में एक लेखक ने लिखा है कि वे साहित्य-प्रेमी होती थीं । इन गणिकाओं के प्रिय साहित्यकारों की नामावली भी उसने दी है । जर्मनी की सामान्य परिस्थिति को देखते हुए यह बात सत्य मालूम नहीं देती । लिपजिग शहर पुस्तकों की छपाई और रोएंदार जानवरों के चमड़े के लिए प्रसिद्ध था । इसलिये, शोभा की खातिर गणिकाएँ अपने घरों में कुछ पुस्तकें सजाकर रखती हों, यह संभव है । सामान्यत : गणिकावृत्ति और अध्ययनशीलता या विचारशक्ति के एकत्र दर्शन होना मुश्किल है । अपवाद हो सकते हैं । प्राचीन भारत या यूनान की गणिकाओं की तरह उनमें साहित्यप्रेम विकसित हुआ हो, यह भी संभव है । कला, साहित्य या तत्वचिंतन ने पश्चिम के वर्तमान गणिका-जीवन को प्रभावित किया हो, ऐसा कहीं दिखाई तो नहीं देता । रॅनेसाँ या संस्कृति के पुनर्जागरण के नाम से प्रसिद्ध सांस्कृतिक क्रांति के आरंभ में गणिकाओं की रसवृत्ति साहित्य और कलाप्रेम के रंगों से रंग गई थी । परंतु उसे भी एक अपवाद ही मानना होगा ।

जर्मनी के पड़ोसी देश डेन्मार्क के संबंध में यह प्रसिद्धि है कि वहाँ की प्रजा शिक्षित, विवेकशील, सदाचारी और नियमित जीवन व्यतीत करने वाली है । परंतु गणिकावृत्ति वहाँ बिलकुल नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता । डेन्मार्क की राजधानी कोपनहेगन के कई होटलों में गणिकाएँ खुलेआम रहती हैं । सामान्यत : अधिक नीतिवान माने जाने वाले इस देश की एक बात उल्लेखनीय है । अतलांतिक महासागर में, यूरोप के उत्तर-पश्चिम में स्थित आइसलैंड नामक द्वीप शताब्दियों से डेन्मार्क के आधीन है । सन् १७०७ में, भयानक महामारी फैलने से वहाँ की जनसंख्या अत्यंत कम हो गई । जनसंख्या बढ़ाने के हेतु से, डेन्मार्क के ईसाई राजा ने एक फरमान जारी किया कि आइसलैंड की प्रत्येक स्त्री को परपुरुष के समागम से, कम से कम छ: संतान उत्पन्न करनी चाहिये । आइसलैंड की देशभक्त स्त्रियों ने राजा की इस आज्ञा का पालन इतने उत्साह से किया कि कुछ समय में ही राजा को यह फरमान वापस खींच लेना पड़ा ।

जर्मनी के दक्षिण में स्थित स्विटजरलैंड का पहाड़ी प्रदेश न तो अत्यंत धनवान है और न अत्यंत कंगाल । अतिवैभव और अतिदारिद्र, दोनों ही गणिकावृत्ति के पोषक तत्व हैं । स्विटजरलैंड इन दोनों से बचा हुआ होने के कारण वहाँ के निवासियों की नैतिकता उच्च कोटि की रह सकी है । इस देश के संबंध में कहा जाता है कि न तो वहाँ कोई शराबी दिखाई देता है और न कोई अवैध बालक । हम आशा करते हैं कि वहाँ की यह स्थिति बनी रहे ; क्योंकि ग्रीष्मविहार और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का केन्द्र होने के कारण इस देश में संसार भर के शौकीनों का जमघट सदा जुड़ा रहता है ।

५

रूस

प्राचीन और अर्वाचीन रूस प्रजाजीवन के अध्ययन की सुंदर सामग्री प्रस्तुत करता है । प्राचीन रूस की ख्याति केवल शराब के व्यसन और व्यभिचार के कारण थी । पीटर महान के युग से पहले यूरोप में रूस की गणना एक जंगली प्रजा के रूप में की जाती थी । आज भी रूस को सभ्य यूरोप का भाग मानना, या असंस्कृत और जड़ एशिया का भाग मानना, इसका निश्चय यूरोप की प्रजा नहीं कर सकी है । यूरोपीय राजनीति में भी रूस को स्थान अठारहवीं शताब्दी से पहले नहीं मिल सका । पीटर महान से पहले, सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में तीसरे इवान नामक राजा ने अनाचार के विरुद्ध कुछ नियम बनाये थे परंतु उनमें स्त्रियों का स्थान अत्यंत नीचा माना गया था । उस समय की रूसी स्त्रियाँ पर्दा करती थीं और घर में उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं थी । सूत कातना, कपड़े सीना और दिनभर नौकरानी की तरह काम करना ही उनका कर्तव्य माना जाता था ।

रूस को प्रगति की उच्च कक्षा पर लाने वाला पीटर देश की समृद्धि बढ़ाने में और सार्वजनिक जीवन में सचमुच ही एक महान शक्तिशाली और वज्रसंकल्पी पुरुष था । अपनी प्रजा के कल्याण में रत यह शासक सच्चे अर्थ में लोकनायक था । परंतु उसके वैयक्तिक जीवन, उसकी उग्र वासना, उसके अजीब शौक और उसकी विचित्र आदतों की जो स्मृति आज इतिहास में सुरक्षित रही है, उसके आधार पर तो वह अत्यंत साधारण मनुष्यों की श्रेणी में बैठने योग्य प्रमाणित होता है । समग्र प्रजाजीवन के गुणावगुण, पापपुण्य आदि के प्रति पूरे समाज का रवैया क्या है ? इसके आधार पर ही किसी प्रजा की नैतिक भूमिका निश्चित की जा सकती है । रूस का जार प्रजा का राजनीतिक और धार्मिक नेता माना जाता था । अत: उसके वैयक्तिक जीवन की जानकारी भी आवश्यक है । पीटर की पहली पत्नी यूरोक्सिया आरंभ में गुणवान और नीतिमान स्त्री थी । परंतु उसका सौंदर्य या उसके गुण उसके पति को चरित्रवान न बना सके । बाद में यूरोक्सिया भी प्रजा की निंदा का विषय बन गई । ग्लेबोफ नामक सरदार को यूरोक्सिया का प्रेमी मानकर पीटर ने मरवा डाला और अपनी पत्नी को साध्वी बनाकर किसी मठ में दाखिल कर दिया ।

पीटर जार बना तब से ही कॅथेराइन नामक सुंदरी के साथ उसका संबंध था । यह स्त्री विवाहित थी और दो एक रूसी सरदारों की रखैल भी रह चुकी थी । आरंभ में तो पीटर ने भी उसे रखैल का ही स्थान





दिया ; परंतु बाद में उसके साथ विवाह कर लिया । उस समय पीटर की पत्नी और कैथेराइन का पति, दोनों जीवित थे । पीटर कैथेराइन से अत्यधिक प्रभावित था । यह स्त्री पीटर के आवेशमय और ज़िद्दी स्वभाव को शांत रख सकती थी । तुर्कों के साथ के युद्ध में वह पीटर के साथ रणक्षेत्र में भी गई थी, और अपने उदाहरण से सैनिकों को धीरज बंधाती थी । परंतु कैथेराइन का चरित्र निर्मल नहीं था । उसका अपने महल के प्रबंधकर्ता अधिकारी के साथ अनैतिक संबंध था । पीटर को इसकी शंका आते ही उसने उस अफसर को तुरंत गिरफ्तार करवा लिया । प्रजा में निंदा न हो, और महारानी की बदनामी न हो इस हेतु से उस बेचारे ने पूरा दोष अपने ऊपर ले लिया और देहांत-दंड भी ज़बान खोले बिना सहन कर लिया । पीटर ने कैथेराइन को उसके कटे हुए मस्तक के चारों ओर घुमाया, परंतु इस दृढ़ स्वभाव की स्त्री के चेहरे पर शिकन भी नहीं पड़ी और मन का संतुलन खोये बिना, उसने इस भयानक दृश्य को देखा । परंतु इसके बाद, ईर्ष्यालु पीटर ने कैथेराइन के साथ बोलना भी बंद कर दिया ।

पीटर की मृत्यु के बाद कैथेराइन गद्दी पर बैठी । पीटर और कैथेराइन एवं उनके बाद गद्दी पर बैठने वाली ॲन और एलिज़ाबेथ, सब के सब दुराचारी और चरित्रभ्रष्ट शासक थे । इनके बाद के कैथेराइन द्वितीय और पीटर तृतीय आदि शासकों के वैयक्तिक जीवन भी अत्यंत भ्रष्ट थे, ऐसी प्रसिद्धि है । गुलामी की प्रथा रूस में भी प्रचलित थी जहाँ स्त्री-पुरुषों को गुलाम के रूप में रखने का रिवाज हो, वहाँ के सार्वजनिक या वैयक्तिक आचार बहुत उच्च कक्षा के हो ही नहीं सकते । इन परिस्थितियों में उस युग के रूस में यदि गणिकाओं की संख्या बहुत अधिक हो, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये ।

परंतु इसी रूस में गणिकाओं की संस्था अपने आप नष्ट हो जाय, ऐसे प्रयोग वर्तमान युग में हो रहे हैं । इसका विस्तृत विवेचन आगे के परिच्छेदों में होगा । प्रथम महायुद्ध के समय तक, याने आज से पचीस-तीस वर्ष पहले के ज़ारकालीन रूस में गणिकाओं का जीवन किस प्रकार का था, इसका चित्रण ''यामा धि पिट'' नामक प्रसिद्ध रूसी उपन्यास में हुआ है । इस पुस्तक का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है ।

रूस के पड़ोसी नॉर्वे, स्वीडन आदि देशों की नैतिक कक्षा भी बहुत उच्च प्रकार की नहीं कही जा सकती । एक लेखक का कहना है, ''स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम के जैसा खुल्लमखुल्ला अनाचार मैंने और कहीं नहीं देखा । स्त्री-देह का अधिक से अधिक प्रदर्शन करने में भी यह देश बाजी मार ले जाता है ।

चौथा परिच्छेद

हम पर राज्य करने वाला ब्रिटेन

१

ऐतिहासिक पार्श्वभूमि

अब हम हमारे राज्यकर्त्ता ब्रिटिश लोगों के नैतिक इतिहास को भी संक्षेप में देख लें । रोमन प्रजा ने ब्रिटेन पर विजय प्राप्त की, उस समय वहाँ के लोगों का नैतिक स्तर बहुत नीचा था । जनसंख्या छोटे-छोटे समूहों में बंट गई थी और स्त्री-पुरुष के यौन-व्यवहार पर किसी प्रकार का बंधन नहीं था । बालकों की परवरिश के लिए गृहजीवन आवश्यक था, अत : नाममात्र को विवाह नामक विधि का नाटक कर लिया जाता था । विवाह विधि बीभत्स प्रथाओं से भरी हुई थी । विवाह के समय पुरुष उस युग के, अशिष्ट ढंग के लाल कपड़े पहनता था और स्त्री बिलकुल वस्त्रहीन रहती थी । यह किसी प्रजा की बदनामी नहीं है, ठोस इतिहास है ।

अँगलो-सेक्सन लोगों ने ब्रिटेन में प्रवेश करते ही कठोर नीतिनियमों का प्रचार किया । व्यभिचार की सजा उस युग में अत्यन्त भयानक थी । व्यभिचारिणी स्त्री को आत्महत्या करने को बाध्य किया जाता था । उसके मृतदेह को पास की किसी झाड़ी में डालकर जला दिया जाता था और व्यभिचार में उसके साझेदार पुरुष को भी उसी स्थान पर देहांत-दंड दिया जाता था । कई बार तो व्यभिचारिणी स्त्री को



समाज की अन्य स्त्रियाँ क्रोधित होकर मार डालती थीं । अमुक स्त्री व्यभिचारिणी है, यह मालूम पड़ते ही, अपने आपको चरित्रवान मानने वाली समाज की अन्य स्त्रियाँ छुरे, गदा आदि हथियार लेकर उस स्त्री के



पीछे दौड़ती थीं और भागने वाली पापिनी को हथियारों से मारकर अपने क्रोध को शांत और अपनी नीति-भावना को संतुष्ट करती थीं । इस प्रकार एक ओर जहाँ व्यभिचार के लिए इतना कठोर दंड दिया जाता था, वहाँ दूसरी ओर अत्यंत निकट के संबंधियों में भी यौन-व्यवहार हो सकता था जो 'इनसेस्ट' (Incest) के नाम से प्रसिद्ध था । इस प्रथा के अंतर्गत निकट से निकट के संबंधियों का भी विवाह हो सकता था । परंतु धीरे-धीरे इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ, लोगों में मर्यादा की भावना अधिक व्यापक हुई और विवाह संबंधों में अधिक स्थिरता आई । यद्यपि उस युग में आम तौर से विवाह की व्याख्या यही की जाती थी कि इस प्रथा के अंतर्गत पुरुष, स्त्री को खरीदता है । प्रचलित ईथलबर्ट के कानून के अनुसार भी विवाह योग्य स्त्रियों को क्रय-विक्रय की वस्तु माना जाता था । ॲंग्लो-सॅक्सन प्रजा अत्यंत मेहनती और कठोर थी । खेती, शिकार और मछली पकड़ने के कठोर परिश्रम के बाद गणिकागमन के शौक के लिए न तो समय रहता था और न सुविधा । फिर भी, किसी न किसी रूप में इस प्रजा में भी गणिकावृत्ति प्रचलित थी ऐसे उल्लेख मिलते हैं ।

इंग्लैंड के कॅन्यूट नामक राजा का नाम सबने सुना होगा । समुद्र की लहरों के आगे कुरसी डालकर और बढ़ते हुए ज्वार को रुकने की आज्ञा देकर, अपनी सत्ता को अमर्याद और अबाध बताने वाले खुशामदी मुसाहिबों का मुँहबंद कर देने वाले इस राजा के समय में व्यभिचार की सजा में परिवर्तन हुआ और प्राणदंड के बदले नाक-कान काट देने की सजा प्रचलित हुई । धीरे-धीरे यह सजा और भी सौम्य कर दी गई और व्यभिचारिणी स्त्री के पति को कुछ रकम हरजाने के रूप में दिला देने की सजा ही इस अपराध के लिए पर्याप्त मानी गई । परंतु इसमें भी कठिनाइयाँ आने लगीं । कुछ पति-पत्नी आपस में मिलकर, धनवान लोगों पर व्यभिचार का अभियोग लगाकर, रुपये ऐंठने लगे । उन्हें इस बहाने कमाई का एक जरिया मिल गया । अपराधों को रोकने में किस प्रकार की सजाएँ अधिक कामयाब होंगी, यह निश्चित करना सचमुच ही एक कठिन काम है ।

इंग्लैंड में ईसाई धर्म की स्थापना के बाद गणिकावृत्ति को सत्य मानने की विचारधारा व्यापक होती गई । सेंट ऑगस्टाइन ने राजा इथलबर्ट को ईसाई बनाया परंतु उसके पुत्र एनबोर्ड ने ईसाई धर्म का पालन नहीं किया, क्योंकि उसे अपनी सगी सास से विवाह करना था, जिसके लिए ईसाई पादरियों की अनुमति मिलना संभव नहीं था । उपरोक्त कॅन्यूट राजा भी ईसाई था परंतु उसका वैयक्तिक जीवन व्यभिचार से ओतप्रोत था । उसकी मृत्यु भी उसकी किसी रखैल के हाथों हुई थी । नवीं शताब्दी में ब्रिटेन में गणिकावृत्ति बहुत अधिक प्रचलित हो, ऐसा लगता है, क्योंकि उस समय के लेखों में गणिकाओं का उल्लेख कदम-कदम पर हुआ है । एथिल्स्टन के समय में धर्मगुरुओं को लोगों की कमाई का दसवाँ हिस्सा मिलता था । गणिकाएँ भी अपने पेशे से धन कमाती हैं ; अत : धर्मगुरुओं का तर्क था कि इस लाभ का दसवाँ हिस्सा भी उन्हें मिलना चाहिये । सब प्रकार के लाभ का दशांश न मिले, तो धर्मगुरुओं का पालन-पोषण किस तरह हो ?

व्यभिचार को रोकने के लिए और अपनी मान्यता के अनुसार नीतिनियमों का प्रचलन करके, उनका सबसे पालन करवाने के लिए, धर्मगुरुओं ने धर्म के नाम पर कैसे-कैसे निर्दय कृत्य किये, इसका एक उदाहरण एडविन राजा के काल में मिल जाता है । सगोत्र संबंधियों के विवाह नहीं होने चाहिये, ऐसा विख्यात धर्मगुरु सेंट डन्स्टन का मत था । राजा एडविन इस मत का विरोधी था । वह एल्जीवा नामक सुंदरी को जी जान से चाहता था, जो उसकी निकट की संबंधी थी । ईसाई धर्मानुसार यह संबंध निषिद्ध था ; परंतु एडविन ने राज्यारोहण से पहले ही एल्जीवा से विवाह कर लिया । आखिर राज्याभिषेक का दिन आया । धार्मिक विधियों के बाद भोजन समारंभ चल रहा था परंतु राजा कहीं दिखाई नहीं दे रहा था । डन्स्टन और ओडो नामक धर्मगुरु राजा के गायब होने का कारण समझ गये । तुरंत दोनों राजा के

रंगमहल में पहुंचे और उनका अंदाज सही निकला । राजा-रानी, दोनों वहाँ मौजूद थे । तुरंत राजा का हाथ पकड़ कर खींचते, घसीटते हुए उसे भोजन समारंभ के स्थान पर ले जाया गया । एल्जीवा का सौंदर्य नष्ट करने के लिए उसका चेहरा धधकते हुए लोहे से दाग दिया गया और उसे देश निकाला देकर आयरलैंड भेज दिया गया । कुछ दिनों में उसके चेहरे के व्रण अच्छे हो गये और जख्मों का कोई चिन्ह नहीं बचा । वह इंग्लैंड वापस आ गई । धर्मगुरुओं को इस बात की सूचना मिलते ही उन्होंने उसके पीछे हत्यारे लगा दिए, जिन्होंने उस निरपराध युवती को जान से मार डाला । इस प्रकार धर्मगुरुओं ने अपनी मान्यतानुसार नीतिनियमों का राजा से पालन करवाने के लिए ऐसा भयानक पाप किया कि जिसके सामने एडविन और एल्जीवा के अवैध विवाह का तथाकथित पाप नितांत नगण्य दिखाई देने लगता है ।

व्यभिचार के प्रति धर्म की कैसी विचित्र दृष्टि रहती है, इसका एक और उदाहरण एडविन के बाद गद्दी पर बैठने वाले एडगर नामक राजा के शासनकाल में मिलता है । एडगर एडविन से भी अधिक विलासी था । उसने एक धर्ममठ को नष्ट-भ्रष्ट करके, एडिथ नामक अत्यंत सुंदरी साध्वी का हरण किया और कामावेश में उसके साथ बलात्कार भी किया । उस समय की ईसाई मान्यता के अनुसार एडगर ने दो अपराध किये थे । एक तो धर्ममठ पर आक्रमण करके उसमें रहने वाली साध्वी का हरण किया था और दूसरे उसे शीलभ्रष्ट किया था । धर्म सत्ता ने उसे सात वर्ष के लिए गद्दी से उतार देने की सजा दी परंतु एडिथ को अपने साथ रखने की अनुमति एडगर को मिल गई । जिस कारण से राजा को सात वर्षों के लिए राजगद्दी छोड़नी पड़ी, वह कारण ज्यों का त्यों बना रहा । इसके बाद साध्वी एडिथ एडगर की रखैल के रूप में रहने लगी । इस ईसाई राजा के और भी अनेक प्रेम पराक्रम प्रसिद्ध हैं । एक गाँव से गुजरते हुए वह किसी सरदार की सुंदर कन्या पर मोहित हो गया । उसने लड़की की माता के सामने अपनी इच्छा प्रकट की । उसे राजा का डर लगा इसलिए वह स्पष्ट इन्कार तो न कर सकी, परंतु अपनी पुत्री की शीलरक्षा के लिए उसने एक युक्ति की । एक सुंदर दासी को वस्त्राभूषणों से सजाकर अपनी पुत्री के कमरे में बैठा दिया और राजा को निमंत्रित किया । एडगर इस युक्ति को ताड़ गया परंतु उसे क्रोध नहीं आया, क्योंकि इस अदल-बदल में जो दासी उसकी शैयाभागिनी बनी थी, वह अत्यंत सुंदर और आकर्षक थी । बाद में यह दासी राजा का प्रेम संपादन करके उसकी अत्यंत मनचढ़ी रखैल के रूप में रहने लगी ।

एडगर के काम व्यवहारों का एक और प्रसंग भी उल्लेखनीय है । एल्फ्रीडा नामक एक सरदार घराने की स्त्री, दूर की किसी जागीर में रहती थी । उसके रूपयौवन की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी । ये युवती वास्तव में इतनी सुंदर है या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए एडगर ने अपने परम मित्र उमराव एथिलवार्ड को भेजा । एथिलवार्ड ने एल्फ्रीडा को देखा, और देखते ही उस पर मोहित हो गया । अत: उसने राजा को सूचना भेज दी कि एल्फ्रीडा के सौन्दर्य की बात बिलकुल झूठी है, और दरअसल तो वह एक अत्यंत बदसूरत स्त्री है । स्वाभाविक रूप से, एडगर की दिलचस्पी कम हो गयी । मौका देखकर एथिलवार्ड ने एल्फ्रीडा से विवाह कर लिया और राजा को समझा दिया कि उसने उसके सौंदर्य की खातिर नहीं बल्कि उसकी संपत्ति के कारण उससे विवाह किया है । परंतु राजा को संदेह हुआ और उसने एल्फ्रीडा को राजदरबार में उपस्थित करने की आज्ञा दी । एथिलवार्ड एक न एक बहाने से इस आज्ञा को टालता रहा ; अत : एक दिन राजा ने उसके घर जाने का निश्चय किया । अब राजा को रोकना संभव नहीं था ; इसलिए एथिलवार्ड ने अपनी पत्नी को यथासंभव बदसूरत दिखाई देने की आज्ञा दी । परंतु एल्फ्रीडा का हृदय स्त्री का हृदय था, जिसमें अपने सौंदर्य का स्थान सबसे ऊँचा होता है । वह अपने रूप-यौवन की ऐसी अवज्ञा कैसे सहन कर सकती थी ? उसने ऐसा साज श्रृंगार किया कि उसका सौंदर्य और भी चमक उठा । एल्फ्रीडा को देखते ही राजा समझ गया कि उसके मित्र ने उससे चालबाजी की है । उसने तुरंत एथिलवार्ड का वध करवा दिया और विधवा एल्फ्रीडा से विवाह कर लिया ।

इंग्लैंड में ऐंग्लोसॅक्सन रीतिरिवाजों के साथ-साथ डेनिश रस्मोरिवाज भी आ मिले थे । परंतु इससे नैतिकता का स्तर विशेष ऊँचा नहीं उठा । डेन्मार्क के सैनिक इंग्लैंड के राजा के सैन्य में बड़ी संख्या में भरती होते थे । उनकी स्वच्छता और सभ्यता देखकर इंग्लैंड की युवतियाँ उनकी ओर आकर्षित होन लगीं और प्रतिष्ठित इंग्लिश परिवारों की पत्नियाँ और पुत्रियाँ डेन्मार्क के इन स्वस्थ, सुंदर और सभ्य सैनिकों को देह-समर्पण करने लगीं । इस प्रकार स्वच्छता और सभ्यता की परिणति भी यौन-आकर्षण की वृद्धि में ही हुई ।

उस समय के ब्रिटिश कानूनों पर विचार करने से तो यही दिखाई देता है कि वेश्यावृत्ति को न सिर्फ सह्य माना जाता था, बल्कि उसे स्पष्ट प्रोत्साहन भी दिया जाता था । एक विचित्र कानून यह था कि यदि कोई पुरुष अन्य किसी की पत्नी को फुसला कर व्यभिचार करे, तो उसे उस स्त्री के पति को अमुक रकम जुरमाने के रूप में देनी पड़ती थी । इतना ही नहीं उसके उपभोग के लिये दूसरी स्त्री भी जुटा देनी पड़ती थी । इससे दंड की न्याय्यता तो बढ़ जाती थी, परंतु गणिकावृत्ति को इससे परोक्ष प्रोत्साहन ही मिलता था । इसका तो यही अर्थ होता है कि उस युग में व्यभिचार के लिए विवाहित स्त्रियाँ तो सदा तत्पर रहती ही थीं, परंतु गणिकावृत्ति को इससे परोक्ष प्रोत्साहन ही मिलता था । इसका तो यही अर्थ होता है कि उस युग में व्यभिचार के लिए विवाहित स्त्रियाँ तो सदा तत्पर रहती ही थीं, परंतु उनके स्थार पर उनके पतियों के उपभोग के लिए अन्य स्त्रियाँ भी, धन के बदले में, आसानी से मिल सकती थीं । दंड की रकम स्त्री की श्रेणी पर आधारित रहती थी । उमराव-पत्नी यदि व्यभिचार करते पकड़ी जाये, तो उसके उपभोग की कीमत छ : पाउंड (करीब नब्बे रुपये) के जुरमाने में शामिल हो जाती थी । सामान्य प्रजाजन की पत्नी के लिए आधे पाऊंड की अदायगी पर्याप्त मानी जाती थी । इस प्रकार, स्त्री की पवित्रता मानो क्रय-विक्रय की वस्तु हो, और पवित्रता को भंग करने की भरपाई थोड़े से रुपयों के जुरमाने से हो जाती हो, ऐसा सीधा-सीधा व्यवहार उस युग में मान्य था । इथिलबर्ट के कानून के अनुसार तो पुरुष खुलेआम पत्नी को खरीद सकता था । इस प्रकार पत्नी की खरीदारी के अनेक सौदों का उल्लेख उस युग के इतिहास में मिलता है । परंतु धीरे-धीरे इस प्रथा का लोप हो गया और विवाह में पत्नी की सम्मति आवश्यक मानी जाने लगी । पत्नी की रक्षा और भरणपोषण की जिम्मेदारी भी पति को स्वीकृत करनी पड़ती थी और पत्नी के प्रति सम्मानयुक्त बर्ताव करना पति का फर्ज माना गया । तब से ही विवाह से पहले सगाई करने का रिवाज भी प्रचलित हुआ ।

विजेता रिलियम के साथ-साथ नॉर्मन खून इंग्लैंड की प्रजा में मिश्रित हुआ । उसे नैतिककंक्षा कुछ उच्च हुई, परंतु व्यभिचार उतना ही अधिक छलनाभरा हो उठा । नॉर्मन समय में समाज दो वर्गों में बंटा हुआ था । एक विभाग भूमिपति उमरावों का और दूसरा उनके सेवक, भूमिहीन दासों का । इन गुलामों की संपत्ति और इनके शरीर पर स्वामी का सर्वाधिकार होता था और मालिक उनका चाहे जैसा उपयोग कर सकते थे । उमरावों को वंशपरंपरा से मिलने वाली जागीर के लिए राजा की अनुज्ञा लेनी पड़ती थी और राजा की मुँहमांगी रकम नजराने के तौर पर देनी पड़ती थी । जागीर का उत्तराधिकारी नाबालिग हो, तो उसके वयस्क होने तक पूरी जागीर राजा के मातहत रहती थी । वारिस अगर लड़की हो, तो उसके विवाह का प्रबंध भी राजा अपनी इच्छानुसार करता था और इस मौके पर भी नजराने के रूप में मनमानी रकम वसूल करता था । ज्यॉफ्रे नामक सरदार को ल्यूस्टर की उमरावजादी इजाबेल के साथ विवाह करने की अनुमति देने के बदले में हॅनरी तृतीय ने उससे बीस हजार डॉलर नजराना वसूल किया था ।

इस प्रकार धन के आदान-प्रदान पर आधारित विवाह कदाचित् ही सफल होते हैं । विवाहित दंपति के स्वभाव, शिक्षा, उम्र, आदि परिस्थितियों का ऐसे विवाहों में कोई विचार नहीं किया जाता । अत : आज के समान उस युग में भी ऐसे विवाहों से बंधे हुए स्त्री-पुरुष या तो विवाहबंधन से मुक्त होने

की कोशिश करते थे या अनियमित यौन-संबंधों द्वारा वासनातृप्ति करते थे । राजा यदि उमरावों की पुत्रियों के विवाह की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर आजीवन उन पर नियंत्रण रख सकता था, तो अमीरों को अपने दासदासियों पर इससे भी अधिक अधिकार प्राप्त था । अपनी जमींदारी में बसने वाले किसी भी व्यक्ति की पुत्री से समागम करने का अधिकार इन ताल्लुकेदारों को होता था । जमींदार की मरजी के अनुसार किसी भी युवती को उसकी सेवा में हाजिर कर देना, उसकी पूरी प्रजा का आद्य कर्तव्य माना जाता था ।

२

स्त्री-सम्मान की संस्था (Chivalry).

किसी भी प्रकार की अतिशयता प्रतिक्रिया के रूप में, ठीक विरोधी प्रकार की अतिशयता की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करती है । इसी नियमानुसार स्त्री को क्रय-विक्रय की वस्तु मानने की परिस्थिति में से स्त्री सम्मान की संस्था का विकास हुआ । पहली परिस्थिति में स्त्री गुलाम थी, तो दूसरी ने उसे देवी के समकक्ष बना दिया । दोनों परिस्थितियाँ एकांगी थीं जिनमें इस सत्य को भुला दिया गया था कि स्त्री न तो दासी है, न देवी,बल्कि सामान्य मानव-संतान है ।

यूरोपीय स्त्री-सम्मान (Chivalry) की भावना ने मध्य युग में केवल ब्रिटेन में ही नहीं बल्कि पूरे यूरोप में एक संस्था या आचार-प्रणाली का रूप धारण कर लिया था । वास्तव में, अन्य अनेक विशिष्टताओं का रूप धारण कर लिया था । वास्तव में, अन्य अनेक विशिष्टताओं की तरह यह संस्था भी ब्रिटेन ने यूरोप से प्राप्त की थी । इसके प्रभाव से यौन-आचार की नैतिक कक्षा निस्संदेह बहुत ऊँची उठ गई ; क्योंकि इस प्रणालिका का पहला नियम यह था कि प्रत्येक प्रतिष्ठित सैनिक को परस्त्री की शीलरक्षा करनेवाली वीर (Knight) बनना चाहिये । जिस पुरुष की बहादुरी के विषय में लेश मात्र भी शंका होती थी, उसे वीरमंडल से निकाल दिया जाता था । किसी भी सुंदरी के संबंध में अपमानास्पद शब्द बोलने वाले को भी इस वीरमंडल में स्थान नहीं मिल सकता था । दूसरी ओर, जिस स्त्री का शील भ्रष्ट माना जाता था, या जिसे अपने चरित्र की विशेष परवाह नहीं होती थी, ऐसी स्त्री की रक्षा के लिए वीरमंडल का कोई सदस्य तत्पर नहीं होता था । सार्वजनिक समारंभों में स्त्रियाँ अब आने लगीं थीं, परंतु जिनके चरित्र के बारे में तिलमात्र भी शंका होती थी, ऐसी स्त्रियों को समारंभ में आगे के स्थानों पर बैठने का अधिकार नहीं होता था । उन्हें नीतिवान मानी जाने वाली स्त्रियों केपीछे बैठना पड़ता था । स्त्री-सम्मान की भावना को लेकर जन्म लेने वाली इस वीरमंडल की संस्था ने आरंभ में स्त्रियों की चरित्रशुद्धि को उच्चतम कक्षा पर ले जाने का प्रशंसनीय कार्य किया । जिन्हें जान बूझ कर पतिताचार करना हो,उनके ऊपर तो कोई अंकुश नहीं रख सकता । परंतु केवल पशुबल के आधीन होकर जिन स्त्रियों को शीलभ्रष्ट होना पड़ता था, उनका भय दूर हुआ । स्त्रियों के शील-सम्मान की रक्षा के लिए वीरमंडल के सदस्य अनेक प्रकार के साहस और पराक्रम करने को सदा तत्पर रहते थे ; और इनकी श्रद्धा अर्जित करने के लिये स्त्रियाँ भी अपने चरित्र को विशुद्ध रखने को प्रेरित होती थीं । इंगलैंड के अनेक भाट-चारणों और संगीतकारों ने स्त्री-सम्मान की खातिर अपने प्राणों की परवाह न करने वाले वीरों की गाथाएँ और प्रशस्तियाँ गायी हैं । आज की समानतावादी संस्कृति को स्त्री-सम्मान का यह आधिक्य कुछ अनुचित दिखाई दे सकता है और वीरमंडल के पुरुषों की जरा-जरा सी बात पर अपमान अनुभव करके मरने-मारने पर उतारू हो जाने की मनोवृत्ति विचित्र मालूम दे सकती है । परंतु इसमें कोई शक नहीं कि उस युग की नीतिभावना पर इस संस्था ने बहुत अच्छा प्रभाव डाला था । स्त्रियों में अपनी पवित्रता के लिए आदर और उसे बनाये रखने की लगन उत्पन्न हुई और पुरुषों के मन में स्त्री को केवल भोग्य वस्तु नहीं बल्कि सम्माननीया देवी मानने की भावना जागृत हुई ।



इसके दूरगामी परिणाम का भी हम विचार कर लें । उस समय के युद्धों में पराजित प्रदेश की स्त्रियों को आमतौर से कैद पकड़ लिया जाता था । परंतु वीरमंडल की भावना इसके प्रतिकूल थी । अत : युद्ध में किसी शहर पर विजय प्राप्त करके, सैनिकों के नगर में प्रवेश करते ही सेनापति का प्रथम कर्तव्य यह हो जाता था कि वह ढिंढोरा पिटवा कर स्त्रियों पर अत्याचार करने की सख्त मनाही की घोषणा करवा दे । किसी भी युग के सैनिकों की मनोवृत्ति ऐसे निषेधों की ओर विशेष ध्यान देने की नहीं होती । सेना की नौकरी में यौन-आनंद या स्थिर जीवन में प्राप्त अन्य आमोद-प्रमोद प्राप्त करने के अवसर अत्यंत अनिश्चित होते हैं । अत : मौका मिलते ही सैनिक-विजित प्रजा की स्त्रियों पर भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़ते हैं । आज की हालत भी इससे विशेष भिन्न नहीं है । फिर भी, मध्ययुग के सैनिक स्त्री-सम्मान की भावना से प्रेरित होकर अपनी वासना के धधकते ज्वालामुखी को वश में रख सकते थे । यह परिस्थिति इसी बात का निर्देश करती है कि स्त्रियों की पवित्रता और उनके सम्मान की रक्षा की भावना ने उस युग की प्रजा में बहुत गहरे उतर कर जीवन के नैष्ठिक आचार का रूप धारण कर लिया था ।

स्त्री सम्मान की भावना का एक उदाहरण उल्लेखनीय है । नॉर्मन सैनिकों ने एक किला सर किया । किले में प्रवेश करते समय स्वाभाविक तौर से खूब होहल्ला हुआ । सभ्य समाज ने इसके लिये सैनिकों को दोषपात्र ठहराया और उनकी सब जगह निंदा हुई क्योंकि उनके शोर से किले में रहने वाली महिलाओं की शांति का भंग हुआ था । केवल शांति का भंग ; और वह भी पराजित पुरुषों की स्त्रियों की शांति ! इसे दोषपात्र मानने की हद तक विकसित होने वाली संस्कृति निस्संदेह प्रशंसा और आदर की पात्र कही जायेगी ।

वीरमंडल का आद्य सिद्धान्त था कि मंडल के प्रत्येक वीर को किसी सुंदरी का मित्र, रक्षक, सेवक और पुजारी बनना पड़ता था । वीर और वीरांगना पति-पत्नी नहीं हो सकते थे । पति अपनी विवाहिता पत्नी के सम्मान की रक्षा करे, और उसके प्रति एकनिष्ठ रहे, यह तो विवाह का सामान्य सदाचार है । परंतु वीरमंडल के नियमानुसार तो प्रत्येक वीर इस सामान्य आचार के उपरांत किसी भी कारण से आकर्षक लगने वाली किसी सुंदरी को चुनकर,जगत में उसका आदर-सम्मान सुरक्षित रखने की संपूर्ण जिम्मेदारी स्वेच्छा से अपने ऊपर ले लेता था । यह संबंध उसने पसंद की हुई सुंदरी की अनुमति पर आधार रखता था । यह सम्मति प्राप्त करने की विधि भी आज हमें विचित्र मालूम दे सकती है । आज के युग में किसी की पत्नी का संरक्षक वीर पुरुष समाज में या उस स्त्री के परिवार में सम्माननीय शायद ही माना जाय ! प्रथा इस प्रकार थी — संरक्षित स्त्री और संरक्षक वीर को पहले एक दूसरे की पसंद का अन्दाज लगाना पड़ता था । स्त्री को अपना संरक्षक वीर पसंद हो तो वह उसके सान्निध्य में अपना रूमाल



गलती से जमीन पर डाल देने का अभिनय करती थी । इस स्त्री का संरक्षक बनने को उत्सुक पुरुष तुरंत रूमाल को उठाकर उसके पास जाता था और अत्यंत अदब से, सुंदरी के सामने घुटने टेककर उसका रूमाल पेश करता था । सुंदरी यदि सस्मित मुद्रा से रूमाल को वापस उठा ले, तो दोनों के बीच वीर-

वीरांगना का संबंध स्थापित हो जाता था । ध्यान रहे कि ''वीरांगना'' का अर्थ यहाँ ''वीर-पत्नी'' या ''वीर स्त्री'' नहीं, बल्कि ''वीर द्वारा संरक्षित स्त्री'' करना चाहिये । इस संबंध में, वीर और उसकी संरक्षित सुंदरी में से एक या दोनों विवाहित या अविवाहित हो सकते थे ।

यह संबंध स्थापित होते ही वीर का कर्त्तव्य हो जाता था कि वह अपनी पसंद की हुई महिला को संसार की सबसे सुंदर, सबसे पवित्र और सबसे चतुर स्त्री माने, और जो इस भावना का सहज भी विरोध करे, उसे तुरंत चुनौती दे कर द्वंद्वयुद्ध के लिए आह्‌वान करे ; और या तो विरोधी पर विजय प्राप्त करके या अपने प्राण अर्पण करके अपनी वीर-सुंदरी की श्रेष्ठता सिद्ध करे । अपनी पसंद की सुंदरी के रूपगुण का ऐसा अभिमान पुरुष और स्त्री, दोनों की उन्नति कर सकता है । अपने वीर की भावना को सत्य प्रमाणित करने के लिए वीरांगना भी सदा प्रयत्नशील रहकर अपने चरित्र को निष्कलंक रखे, यह स्वाभाविक है । ऐसे वातावरण में पुरुष और स्त्री, दोनों की नैतिक कक्षा उन्नत हो, इसकी पूरी संभावना रहती है । अन्य किसी भाषा में जिसकी संपूर्ण व्यंजना नहीं हो सकती, ऐसा स्त्री-सम्मान नामक भाव इस संस्था के "Chivalry" शब्द के रूप में अंग्रेजी भाषा ने अब तक जीवित रखा है । अपनी मानी हुई सुंदरी ने स्मृतिचिह्न के रूप में अर्पण किया हुआ छोटा सा रुमाल या किसी पक्षी का पंख धारण करके ये वीर धार्मिक या राजकीय युद्धों में जाते थे और अपने आपको इस चिह्नों का अधिकारी प्रमाणित करने के लिए अलौकिक पराक्रम करने की प्रेरणा पाते थे । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारे आर्यावर्त में भी राजपूत वर्ग में इस से मिलती-जुलती भावना का विकास हुआ था ।

यूरोपीय समाज की इस महान संस्था की कब, किसने, किन कारणों से स्थापना की, कुछ मालूम नहीं । मध्य युग के आरंभ में यूरोप पर दो संकट मंडरा रहे थे । एक भय इस्लाम का और दूसरा आंतरिक अनाचार का । इस्लाम ने अपनी विजययात्रा में यहूदियों और ईसाईयों के धर्मस्थान छीनकर उनपर अपना अधिकार जमा लिया था और यूरोप व्यापी ईसाई धर्म को भयभीत कर दिया था । नवीं शताब्दी में फ्रान्स के राजा शार्लमॅन ने मुसलमानों को आगे बढ़ने से न रोका होता, तो आज कदाचित पूरा यूरोप ईसाई धर्म के बदले इस्लाम का अनुयायी होता, यह हम देख चुके हैं । परंतु यूरोप ने केवल ईसाई धर्म की रक्षा की । ईसा के उपदेशों की और नीति की रक्षा नहीं हुई । कानूनी और गैरकानूनी, दोनों प्रकार की गणिकावृत्ति यूरोप भर में फैली हुई थी । यह तो हुई खुल्लमखुल्ला वेश्यावृत्ति की बात । परंतु इसके उपरांत, उस युग के गृहस्थ और गृहिणियों के जीवन में भी संयम का स्थान बहुत ऊँचा नहीं था ; और व्यभिचार घरघर में फैला हुआ साधारण आचार बन चुका था । बड़े-बड़े जागीरदार गुलाम दासियों और अपनी प्रजा की सुंदर युवतियों के संग्रहालय जैसे जनानखाने जुटाकर आनंद मनाते थे । मठों में रहने वाले साधुओं को साध्वियों की कमी नहीं थी और हर आदमी अपने पड़ौसी की पत्नी को फुसला कर सरलता से प्राप्त कर सकता था ।

इन दोनों परिस्थितियों का मुकाबला करने को ही मानो यूरोपीय समाज के सुसंस्कारों ने वीरमंडल और नारी-सम्मान की भावना का विकास किया । उस युग के तत्त्वज्ञान, नीति, सदाचार और धर्म ने अपने शुभ तत्वों का मिश्रण करके इस संस्था द्वारा समाज के अधः पतन को रोका और उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाया । स्त्री-पुरुष के बीच सम्मान और समानता पर आधारित एक नयी तहजीब का विकास हुआ । स्त्री-सम्मान की इस संस्था ने पत्नी के रूप में पुरुष से नीची श्रेणी की और गणिका के रूप में पण्यांगना और क्षणिक आनंददायिनी भोग्या मानी जानेवाली स्त्री को सम्माननीया देवी, पूजनीया वीरांगना और पवित्र भाव तथा पराक्रम की प्रेरक शक्ति के रूप में स्थापित किया । इस विचारधारा ने स्त्री की गणिकागृह में से देवमंदिर में स्थापना की, यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी । साथ ही, वीरमंडल की योजना ने समाज को धर्मयुद्धों में हँसते-हँसते प्राणार्पण करने वाले योद्धा दिये और बढ़ती हुई अमर्याद एवं गणिकावृत्ति को रोककर स्त्री-पुरुष के संबंध में केवल देहभोग के स्थान पर मानसिक, आध्यात्मिक और अशरीरी प्रेम का विकास किया ।

वीरमंडल की संपूर्ण योजना में प्रत्येक वीर के लिए प्रेरणादायिनी सुंदरी के उपरांत एक सहायक नवयुवक का होना भी आवश्यक था जो उसकी सेवा-टहल और उसके घोड़े की देखभाल करता था। प्रत्येक वीर विशिष्ट प्रकार के शस्त्रास्त्र धारण करता था । धर्मयुद्ध की घोषण होते ही प्रत्येक वीर को इस्लाम की तलवार से लोहा लेने को जाना पड़ता था और युद्ध शांत हो गये हों, तब भी अपनी वीरसुंदरी के सौंदर्य



और पवित्रता की रक्षा करने के दौरान में उपस्थित होनेवाले द्वंद्वयुद्धों के अखाड़े में उतरकर अपनी शस्त्रनिपुणता को सदा सान पर चढ़ी हुई रखना पड़ता था । वीरमंडल में प्रवेश करने की धार्मिक क्रिया भी बहुत गंभीर होती थी । उपवास, जागरण, प्रार्थना, स्नान, ध्यान, पाठ आदि क्रियाएँ वीर की शुद्धि के लिए आवश्यक थीं । फिर गिरजे में जाकर ईश्वर के सान्निध्य में प्रतिज्ञा करनी.पड़ती थी, ''मैं ईश्वर को हाजिर नाजिर समक्ष कर, समग्र मनुष्य जाति की साक्षी में प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आज से परम विशुद्ध जीवन व्यतीत करूँगा ।'' इस विशुद्धि के दो अर्थ होते थे । धर्मयुद्ध के लिए सदैव तत्परता और स्त्री-सम्मान की भावना का पालन ।

स्त्री-सम्मान की भावना वैसे तो पूरी स्त्री-जाति के प्रति प्रदर्शित होती थी, परंतु पूरे स्त्री समुदाय में से किसी एक युवती को पसंद करके, उसके चारों ओर सम्मानभरी भावनाओं का दुर्ग रचकर और उसे ही



अपना आदर्श एवं अपने सब सत्कार्यों का केन्द्र बनाना वीरत्व का प्रधान लक्षण माना जाता था । वीर को इसके बदले में क्या मिलता था ? एक मुस्कराहट, एक छोटा सा रुमाल, एक रेशमी दस्ताना या युवती परम कृपालु हो, तो अधिक से अधिक एक चुंबन । अत : इस पूरी भावना को विशुद्धि के निश्चय का एक स्वार्थहीन प्रेमसाहस ही कहा जा सकता है ।

परंतु दुर्भाग्य से सभी मानव संस्थाएँ और रूढ़ियाँ अपने स्थापनाकाल की विशुद्धि को त्यागकर धीरे-धीरे हीन और विचित्र रूप धारण कर लेती हैं । स्त्री-सम्मान और वीरमंडल जैसी उदात्त भावनाएँ भी अपनी कठोर विशुद्धि के मार्ग पर चलते हुए लड़खड़ाने लगीं और धीरे-धीरे उनमें अनेक त्रुटियों का प्रवेश हो गया । सैद्धान्तिक दृष्टि से परिपूर्ण लगने वाली यह प्रथा वास्तव में इतनी अधिक भावनामय थी कि लंबे समय तक उसकी संपूर्ण विशुद्धि को बनाये रखना बहुत कठिन था । परिपूर्णता की शोध करने वाली मनुष्य-जाति संपूर्णता की झाँकी होने से पहले ही ठोकर खा जाती है, यह अनुभव परापूर्व से आज तक होता आया है ।

इसी नियमानुसार पराई स्त्री के प्रति ऐसा सद्भाव आरंभ में तो निस्संदेह स्त्री और पुरुष, दोनों की उन्नति का कारण हुआ, जिसकी यूरोपीय विचारधारा पर स्थायी छाप पड़ी । परंतु पराई स्त्री को अत्यंत पवित्र रूप से चाहने में भी एक प्रकार के मानसिक व्यभिचार की छाया स्पष्ट दिखाई देती है । प्रेम का आध्यात्मिक स्वरूप और अशरीरी या अतींद्रिय संबंध का जोश मनुष्य को कुछ समय तक देह-संबंध से परे रखे, यह संभव है ; परंतु पराई स्त्री का निरंतर ध्यान पवित्र मुनिवरों को भी चलायमान करके स्त्री-अभिमुख बना देता है । आरंभ में इन स्त्रियों के पतियों के लिए उनकी पत्नियों के वीरसंबंध अभिमान का विषय होते थे । परंतु धीरे-धीरे रूमालों और चुंबनों के आदान-प्रदान से वीर-वीरांगना के देह भी एक दूसरे के निकट आने लगे । अपनी प्रिय स्त्री पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकने वाला वीर उस सुंदरी को भेंट-सौगातों से खुश करने लगा और पवित्र आध्यात्मिक संबंध धीरे-धीरे देह के क्षेत्र में फैलने लगे । युद्ध में रत वीर निरंतर अपनी सम्मानित सुंदरी के ही ध्यान में डूबा रहता हो, तो उस स्त्री में उसकी आसक्ति अत्यंत बढ़ जाती होगी, यह बात सरलता से समझी जा सकती है । मुसलमानों से लड़ने वाले वीर धीरे-धीरे आरामतलब और स्त्री-सहचार के इच्छुक हो गये और युद्ध के दौरान में या उसके बाद कामलोलुपता ही उनके जीवन की प्रधान वृत्ति बन गई । बात यहाँ तक बढ़ी कि धर्मयुद्ध के लिए सदा तत्पर रहने वाले ये वीर लफंगों के कुकृत्यों को भी शरमा देने वाले कारनामे करने लगे । सैन्यों के आगे पीछे गणिकाओं के झुंड तो सदा मंडराते ही रहते हैं । उनके संपर्क से एक समय की यह परम विशुद्ध प्रथा अनाचार में आकंठ डूब गई और स्त्री-सम्मान की भावना को सिद्धांत रूप में ग्रहण करने वाली यह संस्था स्त्री-पुरुषों के अनियमित संबंधों का केन्द्र बन गई ।

बाद में तो वीरमंडल एक हास्यास्पद संस्था बन गया । डॉन क्विकझोट और सान्कोपान्झा के पात्रों द्वारा इस संस्था पर अमर हास्य की आड़ में निर्मम व्यंग्य किए गये । गुजराती साहित्य के भद्रंभद्र और अंबाराम की जोड़ी इन्हीं की याद दिलाती है । अस्त होते-होते इस संस्था ने गणिकावृत्ति के सभी लक्षण धारण कर लिये और अनीति का विरोध करने वाला एक महान आंदोलन अनीति का पोषक बन कर विलुप्त हो गया ।

आज के युग में, ये संबंध किस प्रकार के थे, इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है । वीरांगनाओं के पतिओं को इन संबंधों में कोई आपत्ति नहीं होती थी । अत : उस युग में ये संबंध एक शिष्ट और समाजमान्य रूढ़ि के रूप में प्रचलित थे ऐसा माना जा सकता है । परंतु पति के अलावा अन्य कोई पुरुष-स्त्री का साथी बनकर उसके सौंदर्य और सद्गुणों का रक्षक और समर्थक बनता हो, एवं उसके रूपगुण की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए शस्त्र उठाकर अपने प्राणों को संकट में डालने को सदा तत्पर रहता हो, तो वीर और वीरांगना के ये संबंध शिष्ट रूढ़ि से कहीं आगे बढ़कर गहरी भावुकता और प्रणयभावना में परिणत नहीं होते होंगे, यह मानना बहुत मुश्किल है। हुआ भी यही । इंग्लैंड के राजा आर्थर की पत्नी का नाम ग्वीनेवर था । आर्थर का परम मित्र था वीर लॅन्सलॉट । ग्वीनेवर ने उसे अपना संरक्षक वीर माना । परंतु बाद में इन दोनों का संबंध व्यभिचार में परिणत हो गया । अंग्रेजी भाषा के काव्य में इस संबंध का वर्णन अनेक बार हो चुका है ।

स्त्री-सम्मान की इस भावना में धर्मसंस्था का भाग भी नगण्य नहीं था । सिद्धान्त रूप में तो धर्मगुरु भी स्त्री को पूज्य मानते थे परंतु व्यवहार में धर्मभावना ने ब्रहमचर्य को महत्व देकर स्त्री-पुरुष के पार्थक्य को ध्येय माना था । मठों में रहने वाले साधु विवाह तो कर नहीं सकते थे ; और उनकी भावना थी कि स्त्री-पुरुष एकत्र मिलेंगे तो अनीतिमय वातावरण की सृष्टि होगी ही । इसके परिणाम स्वरूप गुप्त अनाचार और गणिकावृत्ति का व्यापक प्रसार हुआ एवं धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने वाले वीरों की व्यभिचारी लफंगों के रूप में ख्याति होने लगी ।

अंत में नैतिक दृष्टि से नीचे गिर जाने पर भी वीरमंडल की प्रथा का एक स्थायी शुभ परिणाम निकला । स्त्रियों की स्थिति में बड़ा सुधार हुआ । वे बुद्धिजन्य व्यवसायों में सम्मिलित होने लगीं ; पुस्तकें प्रकाशित करवाने लगीं, वाद-विवादों में भाग लेने लगीं, ग्रीक और लॅटिन भाषाएँ सीखने लगीं और कुछ हद तक राजनीति को भी प्रभावित करने लगीं । स्त्रियों की नीति-अनीति की शिकायतों का न्याय करने के लिए उस युग की स्त्रियों ने प्रेम की अदालतों (Courts of Love) की स्थापना भी की थी जिसमें न्यायदान का काम स्त्रियाँ ही करती थी । स्त्री-उन्नति के ये सब सुधार, उस युग के लिए, निश्चित ही बहुत अधिक प्रगति के सूचक थे । दूसरे हॅनरी की रखैल रोजामॉन्ड और चौथे एडवर्ड की उपपत्नी जेम्सशोर, ये दोनों स्त्रियाँ रूप, बुद्धि, चातुर्य और समझदारी के लिए प्रसिद्ध थीं । रोजामॉन्ड तो उसकी मृत्यु के बाद, दिव्य चमत्कार कर सकने वाली साध्वी मानी गई । उसके चमत्कारों की अनेक कहानियाँ अब तक प्रचलित हैं ।

३

राजाओं के चारों ओर फैली हुई गणिकावृत्ति

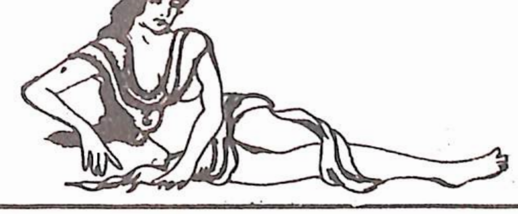
विवाह संस्था को नितांत अवहेलनीय तो आठवें हेनरी ने बनाया । सत्रह वर्ष तक उसने अपनी पत्नी कॅथेराइन के साथ सुखी विवाहित जीवन व्यतीत किया । परंतु फिर एकाएक उसकी वृत्ति में भीषण कामवासना जागृत हुई और उसने एक के बाद एक पत्नियों को तलाक देकर या जान से मार कर नयी-नयी स्त्रियों से विवाह किये । कॅथेराइन को तलाक देकर उसने सुस्वरूप ॲन बॉलिबन से विवाह किया । इस विवाह में कुछ इतिहासकारों को व्यभिचार से भी अधिक गंभीर अपराध दिखाई दिया है । ॲन बॉलियन की माता के साथ ही हॅनरी का अनैतिक संबंध था और फिशर नामक पादरी के लेख से यह सूचित होता है कि हॅनरी ने ॲन से विवाह करने की इच्छा प्रकट की तब उसकी माता ने स्पष्ट कहा था कि ॲन तो हॅनरी की ही संतान है ।

हॅनरी की पुत्री एलिजाबेथ की व्यभिचार-कथाएँ भी अंग्रेजी भाषा में खूब प्रसिद्ध हैं । उसके अनेक प्रेमी थे । इतिहास में उसे "कुमारी रानी" (Virgin Queen) कहा जाता है । परंतु यह पदवी नितांत झूठी प्रमाणित होती है, और ऐसा लगता है कि किसी ने रानी के अनाचार पर कटाक्ष करने के लिए ही इसे प्रचलित कर दिया होगा । एलिजाबेथ के प्रेम-साहस इंग्लिश राजदरबार के रंगीलेपन का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । उस के बाद गद्दी पर आने वाला विद्वान राजा जेम्स प्रथम निजी जीवन में अत्यंत संयमी पुरुष था, परंतु उसके दरबार में अनाचार का ही बोलबाला था । राजाओं के और बड़े आदमियों के उदाहरण पूरे समाज की परिस्थिति का दर्शन कराने में समर्थ होते हैं । राजाओं और नेताओं की नैतिकता के मापदंड से प्रजा की नीतिमत्ता भी नापी जा सकती है । किसी युवती के कंधे पर हाथ रखकर चलने की महात्मा गाँधीजी की आदत ने उनके अनुयायिओं में कैसे अनिष्ट परिणामों की उत्पत्ति की थी, यह प्रसिद्ध बात है । गाँधीजी को इस संबंध में लेख लिखकर अपनी इस आदत को छोड़ देने का निश्चय जाहिर करना पड़ा था । यद्यपि, उसके बाद के चित्रों को देखने से यह मालूम नहीं देता कि गाँधीजी ने इस निश्चय पर

अमल किया हो ।

इसी युग में ईसाई धर्म के शुद्धिकरण का आंदोलन जोर पकड़ता गया । ल्यूथर द्वारा स्थापित प्रॉटेस्टंट पंथ अधिकाधिक स्वीकृत होता गया । इस पंथ ने और इसमें से विकसित प्यूरिटन संप्रदाय ने व्यभिचार का जड़मूल से नाशकर देने के प्रयत्न आरंभ किये और प्राकृतिक भावावेशों के अतिचार को रोकने के हेतु से इन आवेशों को पूर्णत : वश में करने की कठोर उपाय योजना की । व्यभिचार का नाश करने के उपाय रूप समाज के कुछ अग्रणी स्त्री-पुरुषों के यौन-संबंधों पर संपूर्ण नियंत्रण रखने वाले कानूनों की रचना करने की सूचना की गई । भावना को आनंददायक ढंग से प्रदर्शित करना भी प्यूरिटनों के मतानुसार पाप माना जाता था । अपने सिद्यान्तों का प्रचार करने के लिए उन्होंने इस संप्रदाय की आचारकक्षा और विधिनिषेधों को अत्यंत कठोर बना दिया । संगीत, नृत्य, नाटक, और आमोद-प्रमोद की महफिलों को भी प्यूरीटनों ने निषिद्ध करार दिया, जिसके परिणाम स्वरूप पूरी जनता में एक प्रकार की उदासी छा गई । चार्ल्स के बाद, क्रॉमवेल के युग के अल्पजीवी प्रजातंत्र शासन ने जीवन को आनंदविहीन, भावहीन, वैराग्यपूर्ण और निष्ठुर बना दिया ऐसा अभियोग आज तक लगाया जाता है । मनुष्यजाति को आचार की अनियंत्रिता के समान आचार की अति कठोरता भी पसंद नहीं आती ।

परंतु चार्ल्स द्वितीय के गद्दी पर बैठते ही पूरी परिस्थिति फिर से बदल गई । नाट्यगृह खुल गये, नृत्यसंगीत की महफिलें जमने लगीं और अतिसंयम से मुरझाई हुई प्रजा ने, प्रतिक्रिया रूप, दूसरे सिरे पर पहुँचकर, आनंदभोग की मर्यादा तोड़ दी । राजा और उसके मुसाहिबों ने अपने रंगीलेपन से लोगों को अनियमित जीवन के लिए प्रोत्साहित किया । राज दरबार तो लगभग वेश्यालय बन गया । उस समय के नाट्-साहित्य में उस युग के अनाचार का स्पष्ट चित्रण हुआ है । किसी शौकीन पुरुष द्वारा किसी पराई स्त्री की लाज लूटी जाने के प्रसंग अधिकांश नाटकों में प्रदर्शित किये जाते थे, और इन्हें देखकर दर्शकगण पुलकित हो उठते थे । उस युग के अनाचार के प्रचार में नाटकों और नाट्यगृहों का योगदान बहुत अधिक रहा । नाट्यगृहों में संतरे बेचने वाली स्त्रियों की तो मानो बाढ़ आ गई थी । ये स्त्रियाँ जिस रफ्तार से नारंगियाँ बेचती थीं, उतनी ही आसानी से देह-विक्रय करने को तत्पर रहती थीं । शराब का शौक इस युग में बेहद बढ़ गया था । स्त्रियों के कपड़ों की कटाई-सिलाई इस प्रकार की जाने लगी कि स्त्रीदेह का अधिक से अधिक प्रदर्शन हो सके । यह फैशन शहरों में ही नहीं, ग्रामीण स्त्रियों में भी पहुँच गई थी । इसी युग में स्त्रियों ने नाटकों में काम करना आरंभ किया । इससे पहले कमसिन और सुंदर लड़के ही स्त्रियों की भूमिका करते थे । अब तक राजा और राजपरिवार के लोग सार्वजनिक नाटकगृहों में नहीं आते थे । परंतु चार्ल्स द्वितीय के युग में राजा, रानी और पूरा राजपरिवार नाट्यगृहों की शोभा बढ़ाने लगे और उनकी उपस्थिति में, अश्लीलता की पराकाष्ठा पर पहुँचने वाले नाट्यप्रसंगों का अभिनय होने लगा । इस समय लंदन में दो नाटकगृह थे । एक का नाम था ''महाराजा नाट्यगृह'' और दूसरे का ''अमीरी नाटकगृह'' । एक में ''रेंबेका मार्शल'' और दूसरे में ''नेल्मीन'' नामक विख्यात अभिनेत्रियाँ काम करती थीं । दोनों की चरित्रभ्रष्टता जग-जाहिर थी । उस युग के नाटक आज भी उपलबध हैं । उन्हें पढ़ते ही मालूम दे जाता है कि सार्वजनिक नाट्यगृहों में नटियों के मुख से अश्लील से अश्लील संवाद कहलवाये जाते थे । सबसे अधिक लोकप्रिय नटी वह प्रमाणित होती थी, जो लेखक की निर्लज्जता से भी दो कदम आगे बढ़ कर, मूल कथोपकथन में अपनी ओर से मिर्चमसाला छिड़क कर उसे और अधिक अश्लील और द्विअर्थी बना देती थी ।





राजा चार्ल्स अपनी अधिकांश रखैलों को इन नाट्यगृहों की नटियों में से ही पसंद करता था। उसकी रानी ने पहले तो बहुत हाथ पाँव पटके, परंतु अपने विरोध का कुछ नतीजा निकलता न देखकर वह इस ओर से उदासीन हो गई। धीरे-धीरे चार्ल्स की बेहयाई इतनी बढ़ गई कि रानी को राजमहल छोड़कर और कहीं जाकर रहना पड़ा। पार्लमिन्ट में नाट्यगृहों पर कर लगाने के प्रस्ताव पर भी चर्चा हुई, क्योंकि नाट्यगृह एक प्रकार के वेश्यालय ही बन गये थे। उस समय की चित्रकला में भी इसी निर्लज्जता के दर्शन होते हैं। फ्रान्स के हितसंबंधों को सुरक्षित रखने के लिए मिसेज कार्वे नामक एक स्त्री इंग्लैंड आई थी। राजनैतिक कार्यसिद्धि की खातिर उसने अपने रूप-यौवन का पूरा-पूरा उपयोग किया। चार्ल्स उस पर इस हद तक लट्टू हुआ कि इंग्लैंड पर फ्रान्स की श्रेष्ठता स्वीकृत करा लेने में यह स्त्री करीब-करीब सफल हो गई थी। ईसाइयों का पवित्र दिन रविवार चार्ल्स अपनी रखैलों के बीच निर्लज्ज श्रृंगार चेष्टाओं में व्यतीत करता था। कोई गवैया श्रृंगार रस के गीत गाता रहता था और राजा अपनी प्रिय स्त्रियों से घिरा हुआ उनसे कामुक छेड़-छाड़ करता रहता था। एक ओर मुसाहिब लोग जुआ खेलते रहते थे जिसमें हजारों रुपयों की रकमें दाँव पर लगती रहती थीं। एक ईसाई राजा ईसाइयों के पवित्र रविवार को इस प्रकार व्यतीत करता था। एक बार, रात भर उसने विलास किया। दूसरे दिन प्रातः आठ बजे उसे लकवा मार गया और आठ दिन में उसकी मृत्यु हो गई। विलास की अतिशयता प्रायः असाध्य रोग और अकाल मृत्यु में ही परिणत होती है।

चार्ल्स विलासी होने पर भी, कम से कम सौन्दर्य प्रेमी तो था। उसकी रखैलों में भी बुद्धि और कला का चमत्कार था। परंतु उसके भाई जेम्स द्वितीय में तो मामूली शिष्टाचार का भी अभाव था। सौंदर्य, बुद्धि, गुण या योग्यता, जेम्स को किसी की तमीज नहीं थी। स्त्री सुंदर हो या न हो, जेम्स की दृष्टि में समान थी। उसकी रखैलें भी बिलकुल सामान्य रूपगुण वाली स्त्रियाँ थीं। इन दोनों राजाओं के समय के दरबारी विलास और चरित्रभ्रष्टता की तुलना अन्य किसी युग से शायद ही की जा सके। फ्रान्स के पंद्रहवें लुई और उसके अभिभावकों का युग ही इतिहास का एकमात्र काल-खंड है, जो भोगविलास और अनाचारों में इंग्लैंड के चार्ल्स-जेम्स के युग से बढ़कर माना जा सकता है।

कठोर सुधारक क्रॉमवेल के युग में समाज मर्यादाशील था। परंतु उसके बाद प्रजा की नैतिक भावना अत्यंत शिथिल हो गई। उस युग के साहित्य और कला में तत्कालीन दुराचारों का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता है। अश्लील कल्पनाएँ, अश्लील उल्लेख और अश्लीलवर्णनों से उस युग का साहित्य भरा पड़ा है। धर्म और ईश्वर के विरुद्ध बोलना चतुराई का लक्षण माना जाता था और अश्लील साहित्य को प्राणवान साहित्य कहा जाता था। उपमा-अलंकार भी यौन-संकेतों से भरे हुए होते थे। इस युग की अनीति का को जो राय दी थी उससे उस युग की नैतिकता का कुछ अंदाज लग सकता है। लार्ड साहब ने अपने पुत्र को लिखा था, "जंगल रूपी इस महान पुस्तक को ही अपने अध्ययन का विषय बनाना। दिन में पुरुषों को टटोलना और रात में स्त्रियों को। ध्यान सिर्फ एक बात का रखना कि तुम्हारे अध्ययन के विषय बनने वाले स्त्री-पुरुष मनुष्यजाति के सुंदरतम नमूने हों।" एक बुद्धिमान और विद्वान माने जाने वाले कूटनीतिज्ञ पिता ने अपने पुत्र को यह राय दी थी। लंदन शहर में स्त्री के शील की कोई प्रतिष्ठा नहीं रही थी। श्रृंगार और व्यभिचार का ही बोलबाला था। कवि, नाटककार, निबंध लेखक या चरित्रलेखक, सबके ऊपर विलासिता की गहरी छाया पड़ी हुई थी। लंदन शहर से बाहर के ग्रामीण प्रदेशों में फिर भी एक प्रकार की धार्मिकता लोगों को कुछ हद तक मर्यादा में रख सकी थी; परंतु राजधानी का शहर लंदन तो गणिकाओं और कुट्टनियों का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया था।

४
नजदीक की शताब्दियाँ

इंग्लैंड में फिर से एक बार राजनैतिक क्रांति हुई और अब की बार लोगों ने विदेशी राजाओं को निमंत्रित कर के राज्यतंत्र चलाना शुरू किया । प्रथम और द्वितीय जॉर्ज को तो लोग केवल एक राजतंत्रीय आवश्यकता के रूप में ही देखते थे ; परंतु जॉर्ज तृतीय के युग में राजा और रानी के प्रभाव के कारण राजदरबार की नैतिक कक्षा बहुत ऊँची उठ गई । जॉर्ज तृतीय का पुत्र जॉर्ज चतुर्थ फिर विलासी और विषयी निकला ; यद्यपि उसकी विलासिता में उच्च शिक्षा, सुरुचि और सुसंस्कार की छाप आरंभ से ही दिखाई देती थी । इसी युग में फ्रान्स में क्रांति की ज्वाला धधक उठी जिसमें धर्म के साथ नीति भी जल कर भस्म हो गई और विवाह संबंध अस्थिर हो उठे । ब्रिटेन में इंग्लैंड और स्कॉटलैंड की सीमा पर स्थित ग्रेट नॉग्रिन नामक शहर ने त्वरित, साहसिक और क्षणजीवी विवाहों की सुविधा उपलब्ध कर देने वाले स्थान के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की । इस स्थान का उपयोग उत्तोत्तर व्यापक रूप से होने लगा ।

राजा, राजपरिवार और राजदरबार यदि राष्ट्रीय महत्ता के प्रतीक माने जाते हों, तो उनका चालचलन प्रजाजनों की नैतिकता का आदर्श बन जाता है । परंतु इसके बाद, इंगलैंड के राजनैतिक क्षेत्र में धीरे-धीरे उद्योगपतियों का प्रभुत्व बढ़ने लगा ; अत : उनका रहन-सहन भी लोगों को अनुकरणीय लगने लगा । धन की वृद्धि के साथ-साथ नगरों में पतित स्त्रियों की संख्या भी बढ़ने लगती है और स्त्रियों को गणिकावृत्ति में प्रवृत करने के अनेक मार्ग भी लोग ढूंढ निकालते हैं । क्रमश : गणिकावृत्ति खुद भी एक व्यापक और



विकसित उद्योग का रूप धारण कर लेती है । यूरोप के समान इंग्लैंड में भी इस नये वर्ग के विकास के साथ वेश्यावृत्ति भी विकसित हुई । फ्लेचर नामक उस युग के प्रसिद्ध नाट्यकार का ''विनोदी सेनापति'' (Humorous Lieutenant) नामक एक प्रहसन है । उसमें एक कुट्टनी अपनी बही में दर्ज वेश्याओं के नाम और उनके रूपगुण का निम्न प्रकार से वर्णन करती हुई प्रवेश करती है : ''क्लो ! ठीक है ! यह लड़की साढ़े तीन सौ पाऊंड कमा लायेगी । छोकरी है तो कुल में पंद्रह वर्ष की ; लेकिन उसकी देह बड़ी सुडौल है । इसके देहविक्रय से मुझे इतनी रकम तो कम से कम मिलेगी । इसके अलावा उसके पिता की सवारी के लिए एक घोड़ा मिल जायगा । ह'...... दूसरी एक व्यापारी की पत्नी है । उसे तो अपनी शील के

बदले में रुपये की भी जरूरत नहीं है । ठीक है ; इसकी तो पूरी कमाई अपनी ही रहेगी ।''..... उस युग के नाटकों में हास्य का यही स्तर था जो साभिनय रंगभूमि पर प्रदर्शित होता था । हास्य का प्रकार प्रत्येक युग में कुछ बदल जाता है ; परन्तु गणिका का पेशा और गणिकासंस्था की आत्मा प्रत्येक युग के समाज जीवन में जीवित रहते हैं ।

गाँवों में से स्त्रियों को फुसला कर उड़ा ले जाने की अनेक घटनाएँ भी होती रहती थीं । मित्रता का ढोंग करके अनुभवी कुट्टनियाँ गाँव की युवतियों को बहका लाती थीं । किसी धनवान स्त्री की संगिनी या एक बच्चों की देखभाल करने वाली स्त्री के लिए अखबारों में विज्ञापन छपते ही गाँवों की अनेक युवतियाँ उनसे आकर्षित होकर शहरों में आतीं थीं । इनमें से अधिकांश ग्रामीणाओं की यात्रा का अंत गणिकागृहों में होता था । जिनके माता-पिता या भाईबंधु नहीं हों, या होने पर भी उनकी देखभाल न करते हों, ऐसी कम उम्र की किशोरियाँ दया और सहानुभूति का ढोंग करने वाली कुट्टनियों के जाल में आसानी से फंस जाती थीं । एक बार घर छोड़ते ही, समझा-बुझाकर या डरा-धमका कर, इन युवतियों का शीलभंग होना ही था । गाँवों के गिरजों और रविवार की शालाओं के आसपास इन कुट्टनियों के दल सदा मंडराते रहते थे । कभी-कभी ग्रामीण किशोरियों को फाँसने के लिए शहर के दलालों के गिरोह भी गाँवों में आते रहते थे । लंदन और यूरोप के बड़े शहरों के बीच स्त्रियों के क्रय-विक्रय का व्यापार भी जोरों से चलता था । इस पेशे का संचालन अत्यंत कुशलता से किया जाता था । गुलाम गौरांगनाओं का व्यापार भी इसी में से विकसित हुआ ।

५

पतितावस्था के सामान्य कारण

उस युग में भी पतितावस्था के प्रमुख कारण दो ही थे । एक स्वभावजन्य और दूसरा परिस्थितिजन्य । स्वभावजन्य कारणों में विषयवृत्ति, मानसिक अस्थिरता, मिथ्याभिमान, वस्त्राभूषणों का शौक, संपत्तिसंचय की इच्छा, आलस्य आदि का समावेश होता है और मनमुटाव से विशृंखल हो जाने वाले विवाह, अपर्याप्त आय, बेकारी, शराब का व्यसन, गरीबी, शिक्षा की कमी, माता-पिता का अनैतिक चालचलन, अश्लील साहित्य का पठन या किसी के बहकाने-फुसलाने में आ जाना इत्यादि कारण परिस्थितिजन्य कारण के अंतर्गत आ जाते हैं ।

उस युग में व्यापक औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप शहरों में कारखानों की संख्या बढ़ गई थी । शहरों में लोगों की भीड़ दिनों-दिन बढ़ने लगी और निवास स्थानों की कमी पड़ने लगी । छोटी-छोटी कोठरियों में मनुष्यों की घिचपिच बस्ती होना भी पतितावस्था का एक कारण बन जाता है । इन तंग कोठरियों में परिवार के लोगों को रहने के लिए भी पर्याप्त जगह नहीं होती । कोई संबंधी या मेहमान आ जायें तो उनके सोने बैठने की व्यवस्था भी वहीं करनी पड़ती है जिससे परिचित-अपरिचित स्त्री-पुरुषों को अत्यंत निकट संसर्ग में रहना सोना पड़ता है । कई स्थानों पर तो एक बिस्तर पर पाँच से लगाकर तेरह स्त्री-पुरुष सोते हुए दिखाई दिये हैं । इसमें न तो छोटे-बड़े का भेद रह सकता है और न स्त्री पुरुष का । परिणामस्वरूप अत्यंत विचित्र यौन-संबंधों की उत्पत्ति होती है । गरीबों के दुखदर्द और उनकी कठिनाइयों की कल्पना उन्हें भुगते बिना नहीं आ सकती । संसार में अधिकांश लोगों को यही सब भुगताना पड़ता है । मनुष्य-जाति में दरिद्रता को जीवित रखने का अर्थ है पाप का पोषण करना । इतना पासपास सोना पड़े तो स्त्री-पुरुष धन के लिए नहीं, बल्कि विषय सुख के लिए ही पतित संबंधों में फिसल पड़े इसकी पूरी संभावना रहती है । इस प्रकार से अति निकट रहने की आवश्यकता गरीबों को ही

पड़ती है । स्वभावजन्य वासना धीरे-धीरे आदत का रूप धारण कर लेती है और इसके साथ थोड़ा बहुत धन कमा लेने की वृत्ति का संयोग होते ही पतितावस्था की दिशा में कदम उठ जाते हैं । अनैतिकता के दुष्टचक्र का अंतिम विश्लेषण करें तो स्वभावजन्य और परिस्थितिजन्य, दोनों कारण एक दूसरे में विलीन होकर एक बन जाते हैं ।

चारों ओर का वातावरण भी मनुष्य की वृत्तियों पर प्रभाव डालता है । अधिकांश गणिकाएँ तो निस्संतान होती हैं । परंतु जिनके बच्चे होते हैं, उन बच्चों के भाग्य में तो जन्म से ही दूषित वातावरण में रहना होता है । संतानवती गणिकाएँ अकसर इस बात की जी जान से कोशिश करती हैं कि उनके बच्चों को उनका पेशा मालूम न पड़ जाय । अपने बच्चों को अपने जीवन के दूषित व्यवसाय से बचाने के भगीरथ प्रयत्न भी अधिकांश गणिकाएं करती हैं । परंतु अपनी संतान से अपना पूरा जीवन क्रम हमेशा के लिए छिपा सकना असंभव हो जाता है । पुरुष की अपेक्षा स्त्री के अनाचार का दृष्टांत अधिक भयानक सिद्ध होता है । दुष्ट या पतित पुरुषों के बच्चे सदाचारी हो सकते हैं, परंतु पतिता माता के बालक गुणवान हों, इसकी संभावना बहुत कम होती है । इन बालकों के मानस पर उनकी माता के पतिताचार का अत्यंत भयानक प्रभाव पड़ता है । अत : इस भावी प्रजा को शारीरिक और मानसिक अवनति से बचाने के लिए भी स्त्रियों को अपना चरित्र शुद्ध रखने की आवश्यकता है । हम यह देख चुके हैं कि अनेक बार तो माता-पिता ही अपने अनाचारों के उदाहरण से बच्चों को गलत मार्ग पर प्रेरित करते हैं । यही नहीं, कभी-कभी तो उन्हें पतिताचार के लिए प्रोत्साहित भी करते हैं ।

इस युग में लंदन, पॅरिस, हॅम्बर्ग और अन्य शहरों के बीच स्त्रियों को गणिकावृत्ति के लिए खरीदने-बेचने का व्यापार जोर शोर से चलता था । इसके विरुद्ध अदालतों में मुकदमें भी चलते रहते थे । स्त्रियों का व्यापार करने वाली सुसंगठित टोलियों ने यूरोप के बड़े शहरों में अपना जाल फैला रखा था । इनके दलाल हर जगह घूमते रहते थे । वे स्त्रियों को फुसला कर उनसे करारनामा लिखवा लेते थे कि वे अमुक रकम के बदले में राजीखुशी से गणिकावृत्ति करने को तैयार हैं । निश्चित और आकर्षक आय का प्रलोभन देकर अनेक युवतियों को विदेश जाने के लिए भी राजी कर लिया जाता था ।

क्रमश : इंग्लैंड में भी यूरोप में फैली हुई पतितावस्था का प्रचलन उसी ढंग से हो गया । अंग्रेज प्रजा स्वभाव से इतनी संस्कार-घमंडी, रूढ़िवादी और दंभी है, कि इन अनवस्थाओं का व्यापक प्रसार होने पर भी न तो उन्हें स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होने देती है और न उनको स्वीकार करती है । ये प्रजा कानून भी ऐसे बनाती है मानो गणिकावृत्ति का उनके समाज में अस्तित्व ही न हो । यह आडंबर इतना पक्का होता है कि दूसरों को ही नहीं, खुद अपने आप को भी भ्रम में डाले रखता है । विक्टोरियन नीतिभावना तो दंभ का ही पर्याय मानी गई है । औद्योगिक विकास के परिणाम स्वरूप शहरों की भीड़भाड़, गरीबी, अंधानुकरण, असंतुष्ट विवाह-संबंध, वस्त्राभूषणों का शौक आदि कारणों ने मिलकर इंग्लैंड में भी गणिकावृत्ति का व्यापक विकास किया । यद्यपि स्त्रियों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रथम और उग्र विरोध इंग्लैंड में ही हुआ था, फिर भी प्रजा के जीवन में अनेक नये तत्वों ने प्रवेश करके इंग्लिश नीतिभावना को अत्यंत आरामपसंद और मानवसुलभ त्रुटियों से युक्त बना दिया । पतिताएँ अपना पेशा छोड़कर नैतिक मार्गों से जीवन यापन कर सकें इसके अत्यंत सुविधाजनक और शास्त्रीय साधन इंग्लैंड में उपलब्ध हैं । फिर भी पतिताओं को सुधारने का कार्य अत्यंत दुष्कर प्रमाणित हुआ है । धर्म, कानून, उपदेश, भय, रोग आदि कोई भी शक्ति इस बुराई का नियंत्रण नहीं कर सकी है । तथापि, प्रत्येक सत्प्रवृत्ति थोड़े बहुत अंश में तो सफल होती ही है । गणिकावृत्ति को नष्ट करने के प्रयत्नों को भी आंशिक सफलता मिली है, परंतु परोपकार के प्रयत्नों को निरंतर चलते रखने की जनता की वृत्ति बनी रही है । पतितों के प्रति सहानुभूति रखना, उनके मानस को समझना एवं उनकी कठिनाइयों का हमदर्दी से विचार करना ही पतितावस्था को नष्ट करने का सही मार्ग है । पतिताएँ इसी प्रकार की व्यापक सहानुभूति और दया की पात्र हैं ।

६
पतिता का कब्र लेख

इंग्लैंड की किसी पतिता ने एक कविता लिखी थी जो उसकी मृत्यु के बाद उसके तकिये के नीचे से मिली । कविता का भाव इस प्रकार था :—

''यदि मेरी पतित देह को ढँकने के लिए कोई पत्थर मिल जाय, तो मेरी कब्र पर यह कविता लिखवा देना :—

''अकाल नाश का शिकार बनी हुई और प्रेमहीन जीवन के अंतिम सिरे पर बैठी हुई यह अभागिन नारी अब मिट्टी के नर्म बिछौने पर मृत्यु की गोद में आराम करना चाहती है ।

''एक दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में मैं एक पुरुष के बहकाने में आ गई, और मेरा पतन हुआ । कुछ तो उस पुरुष ने मुझे फुसलाया और कुछ मैं अपने आप, मोहवश, उसके चंगुल में आ फँसी ।

''वह भयानक घड़ी मेरे हर गुनाह को, मेरी हर त्रुटि को और मेरे हर दूषण को घेर कर खड़ी है । उस एक क्षण की दुर्बलता ने मुझे जो पारावार दु :ख दिया है, वह अब इस कब्र के स्वागतार्ह अंधकार में सदा के लिए दफन हो जायगा ।

''मैं फुसलाई गई ; परंतु बाद के जीवन में मुझे लोगों का प्रेम भी मिला-जिसका मैंने दिल खोलकर उपभोग किया । साथ-साथ मैं भूखी भी मरी हूँ ; निराधार भी रही हूँ, और शराब भी मैंने खूब पी है । यह सब मैंने क्यों किया ? मेरा आनंद मेरा दु :ख, मेरा पाप, किसी के संबंध में मैं विचार करना नहीं चाहती थी । परंतु फिर भी मेरे मन में सदा संघर्ष चला रहा है ।

''आत्मा की आवाज का मैंने गला घोंट दिया था । कभी-कभी गंभीर विचार मन में उत्पन्न होते भी थे, तो उन्हें पुष्टि देने की मेरी आत्मा में शक्ति नहीं थी ।

''मेरे पतन से पहले मैं कौन थी, इसकी कल्पना करने की भी मुझमें शक्ति नहीं है । मैं पहले कौन थी, क्या थी, इसका विचार करने से भी क्या लाभ ? जब-जब मैंने यह सोचने का प्रयत्न किया है, मेरी चेतना सुन्न हो गई है, मानो मेरी आत्मा मेरे शरीर में निवास करना न चाहती हो और कुम्हला कर विस्मृति के गर्त में डूब जाना चाहती हो ।

''उसके बाद तो वासनाभरी दृष्टि या दूषित स्पर्श की अपवित्रता भी मेरे मन में किसी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं करते थे । उम्र तो मेरी अधिक नहीं हुई, परंतु मैंने वृद्धावस्था को तेजी से मेरी ओर बढ़ते हुए देखा । खिलने से पहले ही मैं मुरझा गई । आत्म तिरस्कार को दबाने के लिए मैं विषयभोग में अधिकाधिक गहरी उतरती गई । यद्यपि यह भोग जबरदस्ती किया हुआ लगता था, फिर भी इसके सिवा और कोई चारा न था ।

''मैं पाप से भरी हुई हूँ । मेरे रोम-रोम में रोग व्याप्त है । कर्ज के बोझ से मैं दबी हुई हूँ । सत्य परिस्थिति का अनुभव होने पर भी मैं धन की आकर्षक कल्पनाओं में सदा मग्न रही ; जबकि वास्तविकता यह है कि मैं सदा नुकसान और अभाव से ही ग्रस्त रही हूँ ।

''मेरा घर था गणिकागृह, पाप का साक्षात् आलय ! मेरे घूमने के स्थान थे शहर की अँधेरी गलियाँ । कलंकभरे सात लंबे वर्षों की यह मेरी अकथ्य दुख से भरी कहानी है । इन वर्षों में मैंने मनुष्य-जाति को सहलाया है, उसके स्पर्श से रोमांच अनुभव किया है और मौका मिलने पर एक शिकारी की तरह मैंने मानवपुरुष का शिकार भी किया है ।

''पाप और दुराचार की सब श्रेणियों से गुजर कर मैं इसमें पारंगत हो गई हूँ। आज मृत्यु के रूप में

मुक्ति का अनुभव करते समय मेरी उम्र सिर्फ बाइस वर्ष की है । इन बाईस वर्षों में मैंने इतने पाप का संचय किया है कि अब कब्र के सिवा और कोई स्थान मेरे शरीर को आश्रय देने की हिम्मत नहीं करेगा ।''

यह कविता एक पतिता के मानस को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करती है । उसकी देह पाप से भरी हुई होगी इसमें कोई शक नहीं । परंतु पाप को पहचान कर और उसकी जिम्मेदारी स्वीकार करके पश्चाताप करने वाला मनुष्य हमारी क्षमा, सहानुभूति और सहायता का अधिकारी नहीं है, यह कहना हमारी मनुष्यता को शोभा नहीं देगा ।

७

पतितोद्धार के प्रथम शास्त्रीय प्रयत्न

पतिताओं की सहायता के एक प्रारंभिक प्रयत्न का यहाँ उल्लेख करना योग्य होगा । लंदन में अपराधिनी गणिकाओं के लिए न्यूगेट नामक एक जेलखाना था । प्रशंसनीय उद्देश्यों से प्रेरित और अपने कार्य में प्रबल निष्ठा रखने वाली मिसेज फ्राय नामक एक समाज सेविका का ध्यान इस कैद खाने की ओर आकर्षित हुआ । उसने न्यूगेट के कारागृह के गणिका विभाग की जाँच की । इस विभाग की भयानकता का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता । इस कारागृह में छोटे-मोट अपराधों की सजा भुगतने वाली तीन सौ स्त्रियाँ घुट रही थीं । इनमें से कई स्त्रियों को प्राणदंड दिया जाने वाला था । छोटे बच्चों की तरह वे अस्त-व्यस्त हालत में जमीन पर चाहे जहाँ पड़ी हुइ थीं । कइयों के नीचे तो दरी या चटाई भी नहीं थी । उनके वस्त्र भी अस्तव्यस्त थे । सबकी सब शराब के नशे में चूर होकर गंदी गलियाँ बकती हुई चिल्ला रही थीं ।

जेल के अधिकारियों ने मिसेज फ्राय को राय दी कि इन स्त्रियों के बीच में जाना खतरे से खाली नहीं, और इनमें से किसी का सुधार होना संभव नहीं । परंतु इस दृढनिश्चयी महिला ने प्रयत्न कर देखने का निश्चय किया । जंगली जानवरों की गुफा के समान जेलखाने के इस भयानक विभाग में वह अकेली चली गई और सारी स्थिति को देखा-समझा । कुछ दिन बाद उसने इन स्त्रियों से मिलने की इच्छा फिर व्यक्त की । जेल के अधिकारियों ने इस जिद्दी स्त्री को समझाने की बहुत कोशिश की परंतु उसने यही उत्तर दिया, ''अब तो ऊखल में सिर दे दिया है । अब मूसलों से क्या डरना ?''

एक महीने के अंदर इस ध्येयनिष्ठ स्त्री की वैयक्तिक सच्चरित्रता और धार्मिक शिक्षा का बंदिनी स्त्रियों पर अत्यंत शुभ प्रभाव पड़ा । उसने शहर के प्रतिष्ठित .नागरिकों को और सरकार के बड़े-बड़े अफसरों को अपने कार्य का मूल्यांकन करने के लिए आमंत्रित किया । शहर की कुछ प्रतिष्ठित महिलाओं को भी बुलाया गया । सब ने देखभाल करके यही राय व्यक्त की कि मिसेज फ्राय के प्रयत्नों को सफलता मिली है, और इससे अधिक सफलता मिल सकती है । तबसे बंदियों और कारागृहों की स्थिति में सुधार करना एक मान्यताप्राप्त शास्त्रीय विषय बन गया ।

ये सब बंदिनियाँ दुराचार के भंडार जैसी वेश्याएँ थीं । पतिताचार में से अपराध में फिसल पड़ना अत्यंत सरल होता है । अपराधी को दंड देना यही एकमात्र सत्ताधीशों को अब तक दिखाई देता था । परंतु मिसेज फ्राय जैसी नि :स्वार्थ समाज सेविकाओं के प्रयत्न से परिस्थिति बदलती गई । वर्तमान युग में अपराधियों और पापियों को दंड दे देने में ही सब उपायों की परिसमाप्ति और शासकों के कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानी जाती । कोई भी अपराध या पाप केवल दंडपात्र ही नहीं, बल्कि सहानुभूति का पात्र भी है । अपराध या पाप के लिए आनुवंशिक या परिस्थितिजन्य कारण ही अधिकांश में जिम्मेदार होते हैं, ऐसी मानवतावादी मान्यताएँ भी अब रूढ़ होने लगी हैं । जो सज़ा अपराधी का सुधार कर सके, वही सच्ची सजा है । अन्यथा दंडविधान न्याय के बहाने बदला लेने की जंगलीवृत्ति का ही सभ्य रूप माना जायगा ।

पांचवाँ परिच्छेद

अमरीका महाद्वीप

१

यूरोपीय विजय का परिणाम

''अमरीका'' शब्द से सामान्यत : अंग्रेजी भाषा बोलने वाले उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्यों और कॅनेडा का बोध होता है । यह प्रदेश अत्यंत समृद्ध और प्रगतिशील है, मानो यूरोप का ही एक भाग समुद्रपार, हजारों मील दूर, विकसित हो गया हो । यूरोप की परिस्थिति का हम विस्तृत अध्ययन कर चुके हैं । धन-वैभव, आचार-विचार और आनंद-प्रमोद की कल्पनाओं में उत्तरी अमरीका के इन प्रदेशों में और यूरोप में अत्यधिक साम्य है । नैतिक दृष्टि से, प्रगति की इस कक्षा को हम ऊँची माने या नीची, यह अलग बात है ; परंतु हमारे ऊपर शासन करने वाली प्रजा हमसे कुछ उच्च कक्षा की ही होनी चाहिये, यह माने बिना छुटकारा नहीं । कुछ भी हो, उत्तरी अमरीका के इन दोनों देशों की आर्थिक और भौतिक समृद्धि निश्चित ही हम भारतवासियों की दरिद्रदशा से बहुत ऊँची है ।

परंतु अमरीका महाद्वीप का मध्य प्रदेश और समूचा दक्षिणी विभाग, संस्कृति के क्षेत्र में अब तक काफी पिछड़े हुए माने जाते हैं । अब तक इन प्रदेशों की राज्यव्यवस्था भी पूर्णत : स्थिर नहीं हो पाई है और ये विस्तृत भूखंड यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के सुसभ्य सत्ताधीशों के षडयंत्रों के अखाड़े बने हुए हैं । मध्य और दक्षिणी अमरीका के देशों पर यूरोप या उत्तरी अमरीका के राष्ट्रों का प्रभुत्व जमाने के लिए चालबाज राजनीतिज्ञों में होड़ लगी हुई है । इस प्रदेश के अर्धविकसित देशों में होने वाले विप्लवों के पीछे प्राय : यूरोप के ही किसी देश का सूत्र संचालन पाया जाता है । हारे हुए जर्मनी का तानाशाह हिटलर भाग कर दक्षिणी अमरीका के ही किसी प्रदेश में छिप गया है, ऐसी अफवाह अन्य अनेक किंवदंतियों के साथ आजकल प्रचलित है । दक्षिणी अमरीका और यूरोप की राजनीति के अन्योन्य संबंधों का इससे कुछ अंदाज लग सकता है । स्टॅलिन के कारण रूस से निर्वासित होने वाले ट्रॉट्स्की की, अत्यंत सावधानी बरतने के बावजूद भी, मॅक्सिको में हत्या हुई थी, यह तथ्य भी इस संबंध में उल्लेखनीय है । किसी भ दृष्टि से देखें, मध्य और दक्षिणी अमरीका के अस्थिर राज्यतंत्र आजतक यूरोप और उत्तरी अमरीका क राजनैतिक शतरंज में, एशिया के अनेक देशों की तरह, केवल प्यादों की भूमिका निभा रहे हैं

अमरीका की खोज लगानेवाले कोलंबस का उल्लेख स्पेन विषयक परिच्छेद में हो चुका है कोलंबस से पहले अमरीका की खोज लगाने का दावा भी कुछ देश करते हैं, परंतु यहाँ चर्चा अप्रासंगि होगी । स्पॅनिश नाविकों के साहस की सराहना हम चाहे जितनी करें, अमरीका महाद्वीप में उपनिवेशों क प्रथम स्थापना करने वाले इन विजेताओं का इतिहास तैमूर, चंगेजखाँ और नादिरशाह की क्रूर कत्लेआम को भुला दें इतना अमानुष और रक्तरंजित है । कॉर्टेज और पिजारो जैसे नाविक और वीर सेनाधिपतियों भी दक्षिणी अमरीका की अर्धसभ्य आदिमजातियों पर जैसे अत्याचार किए, वैसे जुल्म किसी भी सभ्य असभ्य प्रजा ने मानव-इतिहास में शायद ही कभी किए हों ।

इन विजेताओं ने वहाँ के आदिम निवासियों को बंदूक की गोलियों से भूनकर, उनका नामोनिश मिटा दिया । जो थोड़े बहुत लोग इस संहार से बच गये, वे ईसाई बनकर, शराब पीने वाली गुलाम प्रजा रूप में जीवित रहने को बाध्य हुए । इन आदिवासियों के जो थोड़े बहुत अवशेष अब बचे हैं, वे भी स्पॅ प्रभाव से भ्रष्ट हो चुके हैं । अमरीका महाद्वीप की विजय यूरोप के साहस की प्रशस्तिगाथा हो सकती

परंतु यूरोप निवासियों ने वहाँ की प्रजा की जो दुर्दशा की, उसे मनुष्यजाति का स्थायी कलंक और मानवता का करुणतम मरसिया मानना होगा ।

२
मॅक्सिको

हम मॅक्सिकों से आरंभ करें । अमरीका का यह मध्य भाग व्यवस्थित स्पॅनिश सत्ता का आरंभ से ही केन्द्र रहा है । स्पेन से आने वाले योद्धाओं, शासकों और कर्मचारियों के संपर्क से स्पॅनिश सभ्यता, रस्मोरिवाज और आचार विचार की छाप केवल मॅक्सिको पर ही नहीं, बल्कि पूरे दक्षिणी अमरीका पर पड़ी । स्पेन के आक्रमण से पहले की स्थिति का आज इन प्रदेशों में नामोनिशान भी नहीं बचा है । वह संस्कृति और वह प्रजा पूर्णत : नष्ट हो चुकी हैं । मॅक्सिको के आदिम प्रजाजन, नेता और राज्यकर्त्ता स्पेन की क्रूरता, स्पेन के लोभ और स्पेन की विषय वासना की चक्की में पिसकर बहुत जल्द समाप्त हो गये । स्पॅनिश लोगों के युद्धों और विजयों की कहानियाँ चाहे विस्मृत हो जाये, उनके जुल्म कभी भुलाये नहीं जा सकेंगे । इन अत्याचारों के अनेक वर्णन इतिहास में भरे पड़े हैं । हम उनमें से हमारे विषय के अनुकूल कुछ घटनाओं का ही संक्षेप में उल्लेख करेंगे ।

स्पॅनिश सैनिक जब प्राचीन अमरीकनों की स्त्रियों को युद्ध में कैद करके पकड़ते थे, तब युद्ध बंद होते ही, रात के समय स्त्रियों का बंटवारा होता था । यहाँ तक तो गनीमत है । परंतु प्रत्येक सैनिक अपने हिस्से



की स्त्री पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित करने के लिए उसके शरीर पर गरम लोहे से दाग कर विशिष्ट निशान बनाता था । आदिवासियों की सबसे सुंदर स्त्रियाँ इन विजेता सैनिकों के हिस्से में आती थीं । ये सैनिक स्पेन से अपनी स्त्रियों को तो लाते नहीं थे । अत : इन बंदिनी स्त्रियों का क्या उपयोग होता होगा,यह सरलता से समझा जा सकता है । अनावश्यक स्त्रियों को मार डालने में भी इन सैनिकों को बिलकुल संकोच नहीं होता था ।

समय के साथ पिजारों या कॉर्टेज जैसे वीरों की वीरता और साहसप्रियता भी स्पॅनिश प्रजा में से अदृश्य हो गई । बची सिर्फ निर्दयता और लंपटता जिसे स्पॅनिश सैनिकों और शासकों ने ही नहीं, सामान्य प्रजा ने भी जतन करके रखा । एक लेखक का मत है कि स्पॅनिश लोगों की क्रूरता और उनके अनाचार पूरे दक्षिणी अमरीका में ऐसी रफ्तार से फैले जैसे किसी ज्वालामुखी के स्फोट के बाद धधकता हुआ लावा चारों

ओर फैल जाता है । किसी भी प्रजा का वीरत्व विलुप्त होते ही ऐशोआराम, भोगविलास और आलस्य ही बाकी बचते हैं । विजयी प्रजा यदि विलासी बनकर अत्याचार करने लगे, तो उसके स्वार्थ की सीमा नहीं रहती । पराजित प्रजा हर प्रकार से उसके पैरों तले कुचली जाती है और उसकी स्त्रियों का शील विजेताओं की वासना के खप्पर में बलि चढ़ जाता है ।

उस समय के ईसाई भयानक रूप से धर्मांध थे । मुसलमानों के धर्मांध सिद्ध करने का प्रयत्न सदा से होते रहे हैं । धार्मिक अंध विश्वास थोड़े बहुत अंश में तो हर धर्म के अनुयायिओं में पाया जाता है । परंतु "मार-मार कर मुसलमान बना देने" के मुहावरे के बजाय" मार-मार कर ईसाई बना देने" की कहावत भाषा में प्रचलित हुई होती, तो बात अधिक न्याय संगत होती । ईसाई धर्म-प्रचार का इतिहास इस का साक्षी है । स्पेनिश प्रजा ने अमरीकी आदिवासियों का पहले तो जी भरकर संहार किया, और बचे खुचे पथभ्रष्टों की आत्मा का उद्धार करने के लिए ईसाई पादरियों के दल अमरीका में आ धमके!

अमरीका की प्राचीन प्रजाओं को चरित्र भ्रष्ट करने में इन पादरियों का योगदान कम नहीं था । ई. स. १६७७ में प्रकाशित एक ग्रंथ में इन ईसाई धर्मगुरुओं की करतूतों का विस्तृत वर्णन मिलता है । इन धर्मगुरुओं का रहन-सहन बड़े-बड़े धनवानों से भी अधिक ठाठबाट का होता था और उनके मठों में सुख-सुविधा के सब साधन मौजूद रहते थे । मॅक्सिको में धर्मप्रचारार्थ जाने वाले एक पादरी के विषय में यह लेखक कहता है : "इस धर्मगुरु ने पहले तो अपने पूर्वजों और अपनी योग्यता के संबंध में लंबी-चौड़ी बातें करके स्पेन के प्रमुख धर्मगुरु के साथ अपने घनिष्ठ संबंध का जिक्र किया । यहां तक तो ठीक था । परंतु जब उसने यह कहा कि इस प्रदेश की प्रसिद्ध सुंदरियाँ उसके प्रेम में दीवानी हो उठी हैं, तब मैं और मेरे साथी चौकन्ने हो गये । फिर उसने अपने कंठस्वर की प्रशंसा आरंभ की और किसी स्त्री को संबोधित करके लिखा हुआ प्रेमगीत गिटार बजाते हुए गाकर सुनाया, तब हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही । इस मठ में जुआ भी खुलेआम खेला जाता था । हमें यही महसूस हुआ कि स्पेन से आने वाले ये पादरी धर्म का प्रचार करने के लिए नहीं, बल्कि यथेच्छ विषय-सुख भोगने के लिए और निर्लज्ज जीवन व्यतीत करने के लिए ही इतनी दूर आते हैं । ईसाई साध्वियाँ भी यौन सुख की तलाश में ही यहाँ आती हैं । मठ-मंदिरों में कमरों की कमी नहीं होती । मिलने के अवसरों की या एकांत की हर प्रकार की सुविधा यहाँ मिल सकती है । साधु-साध्वियाँ एक दूसरे के निकट संसर्ग में आते हैं । वे साथ-साथ भोजन करते हैं और दिनभर एक दूसरे के सान्निध्य में रहते हैं । धनिक लोग इन धर्मपीठों और मठों को उदारता से दान देते हैं । परंतु मठों में धन जितना अधिक आता है, अनाचार उतना ही बढ़ जाता है । धर्मगुरु सदा इस धनवैभव में ही डूबे रहते हैं और धर्म को तो वे अपने असंयमी और विषयी जीवन को ढंकने वाला आवरण मात्र मानते हैं ।"

इस बुनियाद पर रची हुई संस्कृति कैसी होगी, यह समझा जा सकता है । मॅक्सिकों के लोगों के संबंध में वहीं के एक लेखक का कहना है, "हमारे यहाँ के पुरुषों को अपनी पत्नी की अपेक्षा अपने पड़ोसी की पत्नी से ही प्रेम करने की आदत होती हैं । "इस पर टिप्पणी करते हुए दूसरा लेखक लिखता है,,' यह तो इकतरफा बात हुई । पड़ौसी की पत्नियाँ भी कुछ बढ़ावा देती होंगी, तभी तो यह आदत पड़ती होगी ।" सब मिला कर यही कहा जा सकता है कि मॅक्सिकों के लोगों की नैतिक कक्षा बहुत नीची कोटि की है ।

३
दक्षिणी अमरीका

मॅक्सिको से हम दक्षिण की ओर बढ़ें । वहाँ भी स्पॅनिश लोगों की क्रूरता से बचे हुए आदिवासियों की राजकीय और सामाजिक दुर्दशा उतनी ही हृदयविदारक है । पेरू नामक देश स्पॅनिश लुटेरों के आगमन से पहले सभ्य और सुसंस्कृत था । वहाँ के सूर्यमंदिर के भग्नावशेषों में कुछ पुरातत्वज्ञों को भारतीय प्रभाव के दर्शन हुए हैं । यह पूरा प्रदेश स्पॅनिश विजेताओं के निर्दय अत्याचार, सीमाहीन लोभ और अमर्याद कामाचार के नीचे पिसकर खाक में मिल गया ।

स्पॅनिश राजाओं के लिए दक्षिणी अमरीका के प्रदेश मानो अक्षय संपत्ति के कोष थे । स्पेन से अमरीका जाने वाला मनुष्य वहाँ क्या करता है, इसकी कोई पूछताछ नहीं होती थी । उसे मनमाना अत्याचार और मनचाहा कामाचार करने की छूट थी । अमरीका के आदिम निवासियों की संख्या बहुत अधिक थी, परंतु दो चार पीढ़ियों के अंदर ही बहुत सी आदिम जातियाँ लुप्तप्राय हो गई और प्रजा में केवल दो वर्ग बचे । एक स्पॅनिश प्रभुओं का वर्ग, और दूसरा उनके देशी गुलामों का वर्ग । ऐसी परिस्थिति मालिकों और गुलामों, दोनों की अवनति का ही कारण होती है । राजकीय शिथिलता के साथ-साथ सामाजिक शिथिलता भी व्याप्त होती गई और आज यद्यपि इनमें से अधिकांश देश स्वतंत्र हो चुके हैं, परंतु स्पेन का अनिष्ट प्रभाव अभी तक पूर्णत: नष्ट नहीं हुआ है ।

इन प्रदेशों के कुछ बड़े शहरों में तो आधुनिक संस्कृति और समृद्धि के बाह्य चिह्न दिखाई दे जाते हैं, परंतु आंतरिक विभाग अब तक विकास के अत्यंत प्राथमिक सोपान पर हैं । पूरे प्रदेश की प्रजा अपने नेताओं का अनुकरण करके नीतिविहीन और आदर्शहीन जीवन व्यतीत करती है । पेरू की राजधानी लीमा की स्त्रियों के बारे में कहा जाता है : "उनका जीवन दो भागों में विभक्त होता है । पहले विभाग को हम सौंदर्य विभाग कह सकते हैं ।इस कालखंड में ये स्त्रियाँ कुछ भी काम नहीं करतीं । दिन-रात विषयभोग ही उनकी एक मात्र प्रवृत्ति होती है । जीवन का दूसरा विभाग रूपयौवन ढलने लगता है, तब से आरंभ होता है । इस कालखंड में ये स्त्रियाँ धर्म का आडंबर और पड़ौसियों की निंदा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं । लीमा की स्त्रियाँ अपने नाजुक पाँवों की बहुत देखभाल करती हैं । पाँव जितने कोमल हों, उतना ही उन्हें अपने सौंदर्य का अधिक अभिमान होता है । यूरोप की स्त्रियों के समान सुदृढ पाँव उन्हें अच्छे नहीं लगते । इसे चीन का प्रभाव माना जा सकता है । लीमा के बंदरगाह में विदेशी जहाज और नाविक बड़ी संख्या में आने लगे हैं । नशाखोरी और गणिकावृत्ति बंदरगाह से बढ़ती हुई, शहर के अंदरूनी भागों में भी प्रचलित हो गई हैं ।

यह सही है कि शताब्दियों पहले विजेता के रूप में आने वाले स्पॅनिशों के जैसी क्रूरता और धर्मांधता अब वहाँ दिखाई नहीं देती । परंतु किसी भी समय प्रजाजीवन में प्रवेश कर जाने वाला अनाचार का विष सरलता से नहीं उतरता बल्कि एक या दूसरे रूप में फूट-फूट कर निकलता रहता है और दीर्घकाल तक प्रजा का या व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ता ।

४

अन्य प्राचीन जातियाँ

अब हम उत्तरी अमरीका की, विशेषत : कॅनेडा की प्रचीन जातियों का विचार करें । कॅनेडा की वर्तमान समृद्धि यूरोप और अमरीकी युक्तराज्यों के टक्कर की है । कॅनेडा के आदिम निवासी रेड इन्डियनों की जाति पहले बहुत विशाल थी ; परंतु अब उनकी संख्या कम हो चुकी है . यूरोप की गोरी जातियों का स्वार्थ ही उनके वंशनाश का प्रमुख कारण है । ये कबीले जिन मैदानों और जंगलों में रहते थे उन सब पर गोरों ने कब्जा कर लिया है अत : इस अर्धसभ्य जाति को जीवननिर्वाह में बड़ी कठिनाई पड़ती है । यूरोपीय प्रजा ने इन लोगों में शराबखोरी, उपदंश, प्रमेह और शीतला आदि का व्यापक प्रसार कर दिया है । अब तो इनकी हालत यहाँ तक गिर चुकी है कि या तो इस जाति का संपूर्ण वंशनाश हो जायगा या इनकी विशिष्टताएँ नष्ट होकर ये आदिम निवासी अन्य जातियों में पूर्णत : विलीन हो जायेंगे ।

किसी भी प्रजा की सभ्यता की कक्षा उस प्रजा की स्त्रियों को प्राप्त सुविधाएँ एवं समाज में उनकी स्थिति के आधार पर निश्चित की जा सकती है । इस प्रजा की स्त्रियों को कड़ी मजदूरी करनी पड़ती है । फिर भी वे अपने बनाव-सिंगार का पूरा ध्यान रखती हैं ।अपने बालों को गूंथने में, रंगबिरंगे वस्त्र पहनने में एवं मुख और गालों को रंगने में ये स्त्रियाँ इतना अधिक समय खर्च करती हैं कि उन्हें देखकर आजकल के सभ्य देशों की, अपने बनावसिंगार और वस्त्रालंकार की देखभाल में ही पूरा दिन व्यतीत करने वाली आधुनिक सुंदरियों का स्मरण हो सकता है ।

पत्नी प्राप्त करने की दो-तीन प्रथाएँ इन जातियों में प्रचलित हैं । एक तो यह कि कन्या के पिता से सीधे बातचीत करना और उसकी मरजी हो, तो कन्या की कीमत चुका कर उसे खरीद लेना । पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है । अपनी पत्नी भेंट के रूप में किसी मित्र को भी दे सकता है । दूसरी प्रथा और भी सरल है । वह है किसी अन्य कबीले की कन्या का हरण कर लाना । अपने कबीले की युवती का हरण होते ही, पूरी जाति आवेश में आकर युद्ध के लिए तत्पर हो उठती है । परंतु हरण करने वाले पुरुष की ओर से दो एक घोड़ों की भेंट प्राप्त होते ही इस आवेश का शमन हो जाता है ।

पत्नी प्राप्त करने की तीसरी प्रथा भी उल्लेखनीय है । ये जातियाँ मैदानों में खेमे गाड़कर उनमें निवास करती हैं । यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को चाहता हो, तो वह जलती हुई मशाल लेकर उसके खेमे में प्रवेश करता है । युवती यदि मशाल को जलती रहने दे, तो यह माना जाता है कि उसे वह पुरुष पसंद नहीं है । परंतु वह उठ कर मशाल को बुझा दे तो इसका अर्थ यह होता है कि पुरुष उसे पंसद है और वह उसे पति के रूप में स्वीकारने को तैयार है । इस रिवाज का उल्लेख करने वाला लेखक बड़ी गंभीरता से पूछता है, ''रात्रि में होने वाली इन मुलाकातों में मशाल बुझा देने का यौन-दृष्टि से क्या परिणाम हो सकता है, यह विचारणीय है ।'' दरअसल इसमें विचार करने योग्य रह क्या जाता है ? कई जातियों में स्त्री खुद पुरुष से विवाह का प्रस्ताव करती है । इस प्रस्ताव को अस्वीकार प्राय : नहीं किया जाता ; परंतु विवाह के बाद विवाह-विच्छेद की सुविधा भी उतनी ही आसानी से मिल जाती है ।

रेड इंडियनों की एक जाति में युद्ध में पकड़ी हुई बंदिनी स्त्रियों के साथ किया जाने वाला बर्ताव आज भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है, इतना ही नहीं, सब युगों के लिए अनुकरणीय और श्लाघ्य सिद्ध होता है । युद्ध में पकड़ी हुई स्त्रियों को प्राय : विजेता जाति के पुरुषों से विवाह करना पड़ता है । यह रिवाज तो अन्य जातियों के समान इस जाति में भी था । परंतु जिस सैनिक ने जिस स्त्री को कैद पकड़ा हो, उसके साथ वह खुद विवाह नहीं कर सकता था । उसके साथ तो उसे भाई-बहन का संबंध निभाना पड़ता था और बहन का मान भंग न हो, इसलिए शस्त्र धारण करके उसकी रक्षा करनी पड़ती थी । परंतु धीरे-धीरे इस रिवाज में विकृति आ गई और एक सैनिक दूसरे सैनिक द्वारा पकड़ी हुई स्त्री को मांग कर, और उसके बदले में खुद गिरफ्तार की हुई स्त्री देकर एक दूसरे की सुविधा कर लेने लगे । कैद पकड़ी हुई स्त्री का भाई बन कर उसकी रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेने की योजना नैतिक दृष्टि से बेशक बहुत उच्च कोटि की है और आज के प्रगत कहाने वाले युग का भी आदर्श हो सकती है ।

ई. स. १७६२ में इस प्रदेश में अकाल पड़ा । किसी बीमार रेड-इंडियन स्त्री को मकई के भुट्टे खाने की इच्छा हुई । तुरंत उसका पति घोड़े पर बैठ कर सौ मील दूर के स्थान पर गया । एक छबड़ी भर मक्के के बदले में उसने अपना घोड़ा बेच डाला और वापसी में, सौ मील पैदल चलकर भी अपनी पत्नी को इच्छित वस्तु लाकर खिलाई । जंगली मानी जाने वाली इन जातियों में विशुद्ध प्रेम के ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं । इस प्रसंग को लेकर किसी ने कविता नहीं लिखी । परंतु कविता के लिए इससे अधिक उपयुक्त प्रसंग शायद ही कोई हो सकता है ।

एक रेड-इन्डियन जाति में ऐसा रिवाज है कि पुरुष को अपनी पत्नी की सब बहनों से विवाह करना पड़ता है । वर्तमान युग में यह रिवाज आफत खड़ी कर सकता है, परंतु उस प्रदेश में ऐसी मान्यता है कि इससे घर में शांति रहती है । चिरोकी नामक जाति में तो इसी उद्देश्य की खातिर माता और पुत्री का विवाह भी एक ही पुरुष से किया जाता है । विवाह से पहले संतान उत्पन्न हो जाय, तो इस जाति में कोई अप्रतिष्ठा नहीं मानी जाती, अत : यह विचित्र रिवाज भी संभव हो सकता है । जिस जाति में विवाह-संबंध अत्यंत सरलता से हो सकते हों, और उतनी ही सरलता से टूट सकते हों, उसकी नैतिकता के विषय में राय कायम करना कठिन कार्य है । परंतु ऐसी परिस्थिति में धनोपार्जन के लिए मजबूरी से की जाने वाली वेश्यावृत्ति की संभावना बहुत कम हो जाती है ।

मॅनीडोवेसिस नामक जाति में एक विचित्र रिवाज प्रचलित था । कोई युवती पति प्राप्त करने में असफल रह जाती थी, तो कबीले के किसी सामूहिक भोजन समारंभ में जी भर कर खानपान और आनंद प्रमोद हो चुकने के बाद, वह एक पर्दे के पीछे चली जाती थी और आमंत्रित मेहमानों में से प्रत्येक पुरुष के साथ रतिविलास करती थी । कोई आमंत्रित पुरुष इससे इनकार नहीं कर सकता था । पूरी जाति में यह कार्य अत्यंत प्रशंसनीय माना जाता था, और कभी-कभी इस तरीके से उस युवती को स्थायी पति भी मिल जाता था । देहविक्रय के विचित्र प्रकार कभी-कभी रिवाज का रूप धारण कर लेते हैं; और ऐसा होते ही उनमें भी पापभावना का विसर्जन हो जाता है ।

बॅकवर्थ नामक एक यूरोपीय पुरुष बचपन से ही रेड इन्डियनों के किसी कबीले में शामिल हो गया था । वर्षों तक वह उनके साथ रहा और उन्हीं का सा जीवन उसने व्यतीत किया । उसके संस्मरणों में से एक प्रसंग उल्लेखनीय है — ''हमारी कौम के नेता की पत्नी बहुत सुंदर थी । कबीले के सब नवयुवकों की नजरें उसी पर लगी रहती थीं । एकांत में मिल-मिलकर, बड़ी कठिनाई से मैंने उसका प्रेम संपादित किया, और अंत में वह मेरी होकर रहेगी ऐसा वचन उसने दिया । उसने अपनी अंगूठी मेरी उंगली में पहना दी और मैं निश्चिंत हो गया कि मेरी बिनती मान ली गई है । कुछ दिनों बाद हमारी टोली का मुखिया

युद्ध के लिए चला गया और उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी मेरे साथ रहने लगी । विजय प्राप्त करके कबीले के पुरुष वापस आये, और सरदार ने देखा कि इस दरमियान उसकी पत्नी उसकी नहीं रही। हमारा षडयंत्र पकड़ा गया । हमें तुरंत चारों ओर से घेर लिया गया, और सरदार की बहनों और अन्य स्त्रियों ने अत्यंत निर्दयता से कोड़े के अनगिनत प्रहार मेरी पीठ पर किये । चेहरे को जरा भी विकृत किये बिना मैंने यह अमानुष मार सहन की । मेरे चेहरे पर जरा सी भी विकृति आई होती, तो कबीले के नियमानुसार मुझे जान से मार दिया जाता । परंतु मेरी सहनशक्ति ने मुझे बचाया, और हँसते हुए मार सहन करके, उसकी पत्नी मुझे वापस लौटा देनी पड़ी । कुछ दिनों बाद मैंने फिर उसे मेरे साथ कहीं भाग चलने को उकसाया । वह तुरंत राजी हो गई और मेरे साथ चल पड़ी । कुछ दिन बाद हम पकड़ लिए गये और पहले के समान ही कोड़ों की मार से मेरी खाल उधेड़ दी गई । फिर एक बार मैंने उसे लौटा दिया । तीसरी बार यही हुआ, और चौथी बार हम फिर पकड़े गये, तब सरदार के क्रोध का पारावार न रहा । कुछ सैनिकों ने बीचबचाव करके मुझे बचाया न होता, तो वह मुझे उसी समय मार डालता । इन्हीं सैनिकों ने सरदार को समझाया कि, 'तीन बार इस आदमी ने हँसते हुए कोड़े खाये हैं । अब हम इसे पिटने नहीं देंगे । आप चाहें तो अपनी पत्नी की कीमत ले लें । परंतु अपनी जाति के नियमानुसार, चौथी बार इसे पीटना योग्य नहीं ।' सरदार ने सैनिकों की बात मान ली, और उसकी पत्नी के मूल्य स्वरूप मुझे एक सुंदर घोड़ा, दस बंदूकें, दस लाल रंग के कुरते और दस पजामें सरदार को देने पड़े । अलबत्ता, नियमानुसार उसकी पत्नी मुझे मिल गई ।'' तीन तीन बार कोड़ों की फटकार सहन करना, पीड़ा कितनी भी हो, चेहरे को जरा भी टेढ़ा-मेढ़ा न करना, और चेहरे पर विकृति आते ही मृत्यु के लिए तैयार रहना, बेशक इसके लिए असाधारण कोटि की सहनशक्ति की आवश्यकता है । ऐसी कठिन अग्निपरीक्षा के बदले में किसी को कोई स्त्री मिल जाय, तो उसके भाग्य की ईर्ष्या शायद ही की जा सकती है !



उत्तरी अमरीका के रेड इंडियनों की नैतिकता में इसी प्रकार के उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं । कॅनेडा में स्वप्नोत्सव नामक एक उत्सव पंद्रह दिनों तक मनाया जाता है । इस उत्सव में गंभीरता और नैतिकता को ताक पर रख दिया जाता है । इन पंद्रह दिनो में, सभ्य समाज जिसे असह्य अनैतिकता मानता है, ऐसा बर्ताव करने की सब को छूट रहती है । उत्सवों के दरमियान नैतिक नियमों में शिथिलता आ जाना संसार के सब प्रदेशों में होने वाली घटना है । जब तक ये प्रजाएँ गोरी जातियों के संसर्ग में नहीं आई थीं, तब तक के उनके यौन आचरण के संबंध में तो कल्पना ही की जा सकती है । परंतु गोरी प्रजाओं के साथ संपर्क बढ़ने के बाद इन जातियों में शराबखोरी और अनैतिक यौन-व्यवहार इतने भयानक हो उठे कि कॅनेडा में स्वप्नोत्सव नामक एक उत्सव पंद्रह दिनों तक मनाया जाता है । इस उत्सव में गंभीरता और शराब का व्यसन और उपदंश का रोग फैलाया और अपनी संस्कृति की यादगार रूप गणिकावृत्ति की भेंट भी इन भोली-भाली जातियों को दी ।

५

अमरीका के दोनों ओर

विश्व के किसी कोने में जाइये, यह तथ्य सब जगह स्वीकृत दिखाई देगा कि बलवान निर्बल पर प्रभुत्व जमाता है । जंगली जातियों में इसका स्वीकार अत्यंत स्पष्ट रूप से होता है । परंतु संस्कृति की कक्षा ज्यों-ज्यों ऊपर उठती जाती है त्यों-त्यों निर्बलों के अधिकार भी स्वीकृत होते जाते हैं और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के वैयक्तिक और सामाजिक प्रयत्न भी आरंभ होते हैं । पश्चिम के प्रगत समाजों में स्त्री-पुरुष के समान कक्षा पर पहुंच चुकी है, यह सत्य है । फिर भी सबल-निर्बल की मान्यता इन सभ्य समाजों में भी अब तक जीवित है, यह इन समाजों का गहराई से अध्ययन करते ही समझ में आ जाता है ।

अफ्रीका की हॉटेन्टाट, काफिर, डेहोमियन, झूलु, हब्शी और बर्बर आदि जातियों के विचित्र रस्मोरिवाज, यौन-पवित्रता की भावना का अभाव, बहुपत्नीत्व, नैतिक उच्छृंखलता और लैंगिक असंयम अत्यंत हीन कोटि के होते हैं । डेहोमी का राजा हजारों स्त्रियों से विवाह करता था । उसके सरदार-उमराव सैकडों स्त्रियाँ रखते थे और प्रजा के साधारण धनवान लोग भी कम से कम दस स्त्रियों का होना आवश्यक मानते थे । राजा किसी सरदार पर खुश हो जाय, तो उसका सम्मान करने के लिए भरे दरबार में अपनी हजारों स्त्रियों में से एक उसकी नजर कर देता था । हजारों स्त्रियों की एक सेना भी डेहोमी के राजा की सेवा में रहती थी । ये स्त्रियाँ पुरुष का वेश धारण करती थीं, विवाह नहीं करती थी, और कभी पुरुष के संपर्क में नहीं आती थीं । स्त्रियों की यह सेना अजेय मानी जाती थी । राजा, सरदार और धनिक प्रजाजन अपने लिये इतनी अधिक स्त्रियों को चुन लेते थे कि सामान्य, प्रजाजनों को यौन-सुख प्राप्त करने के लिए गणिकाओं का ही सहारा लेना पड़ता था ।इस श्रेणी की स्त्रियाँ चाहे जहाँ और चाहे जब मिल सकती थीं, इनमें की कुछ गणिकावृत्ति के अलावा अन्य व्यवसाय भी करती थीं । अफ्रीका के किनारों पर यूरोपियनों का आना-जाना बढ़ जाने के बाद नर्तकियों की संख्या भी बढ़ गई है । इन नर्तकियों का मुख्य व्यवसाय वेश्यावृत्ति ही होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

फ्रमेन जाति में पिता की मृत्यु के बाद उसकी पूरी संपत्ति पुत्र को मिलती है । उसकी पत्नियाँ भी, गुलाम होने के कारण, उसकी संपत्ति मानी जाती हैं । इस प्रकार पुत्र को उत्तराधिकार में उसकी माताएँ भी संपत्ति रूप में मिलें, ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं । यौन-प्रथाओं की विचित्रताएँ कैसे-कैसे घृणित प्रसंगों की सृष्टि कर सकती हैं ? झूलू राजा के जनानखाने में पंद्रह सौ से कम स्त्रियाँ नहीं होतीं । एबिसीनिया के लोग कुछ समय तक पत्नी के साथ रहने के बाद उसे बेच देते हैं । माता-पिता अपनी पुत्रियां को गणिका के रूप में बेच देने में बिलकुल नहीं हिचकते । एक मुसाफिर को वहाँ के राजा ने अपनी लड़की भेंट स्वरूप दे दी । युवती स्वेच्छा से यात्री की सेवा में उपस्थित हुई और अपनी योग्यता प्रमाणित करने के लिए कहने





लगी कि उसे इस तरह पाँच पुरुषों की सेवा करने का सौभाग्य मिल चुका है । इसे चाहें तो रिवाज कह सकते हैं, और चाहें तो वेश्यावृत्ति का ही एक प्रकार । कॉर्डोफीन प्रदेश के कुछ भागों में पत्नी का अन्य अनेक पुरुषों के साथ यौन-संबंध होना पति के लिए गर्व की बात होती है । ऐसी सम्माननीय अवस्था प्राप्त करने के लिए पति पत्नी की हर तरह से मदद करता है ?

ऑस्ट्रेलिया की एक जाति में पत्नी प्राप्त करने की प्रथा बिलकुल सरल है । किसी अन्य कबीले की अकेली दुकेली युवती दिखाई दे, तो उसके सिर पर लकड़ी मारकर पुरुष उसे बेहोश कर देता है और फिर उसे उठा ले जाकर उसके साथ विवाह कर लेता है । पत्नी के सिर पर प्रहार करने की इच्छा बहुत से लोगों की होती है, परंतु अकसर विवाह के बाद, और सहजीवन का थोड़ा बहुत अनुभव होने के पश्चात ! पहले से ही लगुड़ प्रहार करके, बेहोश, प्रियतमा को वश में करने की क्रिया तो विवाह की अपेक्षा बलात्कार के ही अधिक नजदीक मानी जायगी ।

ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के प्रदेशों में आरंभ में तो इंग्लैंड के निर्वासित अपराधी और आजीवन कारावास की सजा पाने वाले स्त्री-पुरुष को ही पुनर्वसन के लिए भेजा जाता था । पुरुष अपराधियों की अपेक्षा अपराधिनी स्त्रियों की व्यवस्था करना बहुत मुश्किल होता है । अपराधिनी स्त्रियाँ बहुत ही झगड़ालु, खूंख्वार, बेअदब और अनीति के भंडार जैसी होती हैं । परंतु इन अपराधी स्त्रीपुरुषों में से अनेक इस नये प्रदेश में आकर, विवाह करके स्थिर जीवन व्यतीत करना आरंभ कर देते थे, यह घटना विचारणीय है । विवाह की संभावना खड़ी होते ही, स्त्री और पुरुष दोनों के बर्ताव में फर्क पड़ जाता था और विवाहित स्त्री-पुरुष अधिक शांत, अधिक समझदार और अधिकारियों को कम से कम तकलीफ देने वाले सिद्ध होते थे । इसी कारण से विवाह की अरजी अधिकारियों द्वारा तुरंत स्वीकृत कर ली जाती थी । विवाह का ऐसा शुभ परिणाम अन्य कहीं शायद ही दिखाई दिया हो । विवाहित स्त्री-पुरुषों को अन्य अपराधियों की तुलना में सुविधाएँ भी अधिक मिलती थी और अपराधी स्त्री-पुरुष विवाह के बाद तनमन से अपना सुधार करने में जुट जाते थे । जब-जब स्त्रियों की कमी महसूस होती थी, तब-तब अपनी राजी-खुशी से ऑस्ट्रेलिया जाने को तत्पर युवतियों को इंगलैंड से वहाँ भेज दिया जाता था ।

परंतु केवल विवाह की खातिर ही ऑस्ट्रेलिया की नयी दुनिया में जाने वाली स्त्रियों के शील को मार्ग में ही बड़ा खतरा रहता था । उन दिनों इंग्लैंड से जहाज द्वारा ऑस्ट्रेलिया जाने में कई महीने लगते थे । जहाज के अफसरों और नाविकों की पत्नियाँ तो उनके साथ होती नहीं थीं । यद्यपि बीच में आने वाले बंदरगाहों में ऐशो इशरत के साधनों की कोई कमी नहीं थी । अंग्रेजी भाषा में तो मसल मशहूर है कि जहाजियों की हर बंदरगाह में एक-एक पत्नी होती है । परंतु उपरोक्त परिस्थिति में तो जहाजियों को बंदरगाह तक पहुँचने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी । केवल विवाह की इच्छा से ऑस्ट्रेलिया जैसे अज्ञात प्रदेश में जाने को तैयार हो जाने वाली युवतियों की कामेच्छा अत्यंत प्रबल और सतत जागृत होती थी । जहाज में ठसाठस भरी हुई ये युवतियाँ यौन के संबंधों के लिए सदा तत्पर रहती थीं और जहाज के अफसरों एवं ऑस्ट्रेलिया जाने वाले अधिकारियों के कुशल मार्ग-दर्शन में यौन-अनाचार के प्रारंभिक पाठ पढ़ लेती थीं । ऑस्ट्रेलिया में गोरों की संख्या बढ़ जाने पर वेश्यागृहों की भी स्थापना हुई और उनसे संबंधित दलालों और कुट्टनियों के दल भी समाज के आवश्यक अंग बन गये । ज्यों ज्यों ऑस्ट्रेलिया की समृद्धि बढ़ी, एवं खेती और सोने की खानों द्वारा लोगों को अधिकाधिक धन मिलने लगा, त्यों-त्यों गौरकाय स्त्रियों की गणिकावृत्ति भी बढ़ती गई । एक शहर में तो किराये की सब गाड़ियाँ वेश्याओं की मालिकिन की थीं । आज यदि वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियाँ मोटरों पर घूम सकती हैं, तो उस जमाने में वे गाड़ी-घोड़ों पर घूमती हों, तो आश्चर्य किस बात का ?

मार्क्विस द्वीप समूह में एक स्त्री के एकाधिक पति हो सकते हैं । बहुपतित्व की सामान्य प्रथा से यह प्रथा कुछ भिन्न है । किसी युवक सैनिक की पत्नी के प्रति यदि सेना के किसी बड़े अफसर का ध्यान आकर्षित हो जाय, तो पति-पत्नी इसे बड़े गौरव की बात मानते हैं । सैन्य का अधिकारी इस सैनिक और उसकी पत्नी को अपनी निगरानी में रखता है और स्त्री का उपभोग उसका पति और सेनाधिकारी, दोनों समान रूप से करते हैं । बाद में ये सब लोग एक ही झोपड़ी में साथ-साथ रहने लगते हैं । बहुपतित्व की प्रथा की स्वीकृति का यह भी एक प्रकार माना जा सकता है ।

इस प्रकार, यौन-अनाचार पश्चिम में भी है और पूर्व में भी । परंतु सभ्य पश्चिम के संपर्क ने पूर्व की नीतिभावना को शुद्ध किया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । एक लेखक का कहना है, ''प्राचीन असभ्य जातियों और यूरोप की गोरी प्रजाओं के संसर्ग ने एक दूसरे का नुकसान ही किया है । परंतु प्राचीन स्थानीय प्रजाओं की अपेक्षा गोरी प्रजाएँ अधिक दोषपात्र हैं, यह प्रमाणित करने के अनगिनत साधन उपलब्ध हैं ।'' असंस्कृत प्रजाओं के साथ यूरोपियनों का आद्य सहवास इन प्रजाओं के लिए कभी हितकारी सिद्ध नहीं हुआ । इस संसर्ग से या तो उनका अस्तित्व ही मिट गया ; अस्तित्व बना रहा तो स्वातंत्र्य छिन गया और उनकी विशिष्ट संस्कृति तो पूरी तौर से नष्ट हो गई ।





छठाँ परिच्छेद
पौर्वात्य प्रदेशों में गणिकावृत्ति

१
जावा-चीन-जापान

यूरोप और रोम से आरंभ करके पूरे यूरोप पर हमारी दृष्टि घूम चुकी । अमरीका महाद्वीप की प्राचीन जातियों का भी हमने संक्षेप में विचार किया । अब हम पूर्व की दुनिया में प्रवेश करें ।

जावा की संस्कृति में तीन विभिन्न स्तर स्पष्ट दिखाई देते हैं । प्रथम, हिंदू संस्कृति का शुद्ध रूप, दूसरा प्रजा द्वारा इस्लाम को स्वीकार किए जाने पर होने वाला परिवर्तन और तीसरा वर्तमान युग के डच शासन का प्रभाव । आज भी इन तीनों संस्कृतियों का प्रभाव जावा के प्रजाजीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है । यहाँ की स्त्रियों की स्थिति आसपास के असभ्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत उन्नत है । यहाँ उनका सम्मान भी अधिक होता है और इस्लाम धर्म के स्वीकार के बावजूद, सार्वजनिक जीवन में भी उन्हें स्वतंत्र स्थान प्राप्त है । यद्यपि इस आनंदी प्रजा में यौन अव्यवस्था के दर्शन व्यापक रूप से होते हैं, परंतु यह अस्थिरता स्त्रियों की स्वातंत्र्य भावना से उत्पन्न हुई है, उनके ऊपर लादे गये बंधनों के कारण नहीं । अनीति या स्त्रीपुरुष के यौन-संबंधों में दिखाई देने वाली अशिष्टता का जन्म प्राय : दो स्रोतों से होता है । अतिशय कठोरता से पाले जाने वाले बंधनों के कारण सामाजिक नीतिभावना के विरुद्ध विद्रोह जागृत हो, यह एक प्रकार, और अतिशय स्वतंत्रता के कारण अनाचार में फिसल कर समाज-मान्य शिष्टता के विरुद्ध बर्ताव करने की प्रवृत्ति हो, यह दूसरा प्रकार । विधवा का विवाह हो ही नहीं सकता, इस सामाजिक रुढ़ि की प्रतिक्रिया रूप उत्पन्न होने वाले अनाचार को प्रथम प्रकार का और स्त्रीपुरुष की इच्छानुसार, चाहे जब और चाहे जिसके साथ मिलने-जुलने की स्वतंत्रता में से जन्म लेनेवाले दुराचार को दूसरे प्रकार का उदाहरण माना जा सकता है । फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बंधन से उत्पन्न अनाचार स्वातंत्र्य से उत्पन्न अनीति की अपेक्षा अधिक भयावह व अनिष्ट है, और जबरदस्ती पालन की जाने वाली नैतिकता की अपेक्षा हृदय की मुक्त इच्छा के अनुसार मानी जाने वाली नीतिभावना अधिक स्थिर और परिणामकारक होती है । इतना ही नहीं, वर्तमान युग में तो इस सत्य के दर्शन भी होने लगे हैं कि जबरदस्ती पालन की जाने वाली नैतिकता की अपेक्षा तो स्वातंत्र्य से उत्पन्न अनीति अधिक वांछनीय है ।

जावा-बाली के समाज में नर्तकियों के एक बड़े वर्ग का भी पोषण होता है । इस वर्ग में गणिकावृत्ति का प्रचलन बहुत अधिक है । फिर भी नृत्य-गीत के समारोहों में सम्मिलित होना प्रतिष्ठा के विरुद्ध नहीं माना जाता । डच व्यापारियों और अधिकारियों के इतने वर्षों के नियंत्रण के कारण भी प्रजा की नीतिभावना का पतन हुआ है । डच व्यापारी या अफसर अपने घरों की देखभाल के लिए देशी स्त्रियों की नियुक्ति करते थे, जो अकसर उनकी रखैल भी होती थीं । ठीक ही है ; घर की देखभाल के साथ-साथ गृहस्वामी के शयनागार की देखभाल भी आवश्यक है ।

चीन की संस्कृति युग-युग से एकरूपता से चली आ रही है । यह एकरूपता ही इतने विशाल प्रदेश को सहस्राब्दियों तक संगठित रख सकी है । चीन को कुछ वर्ष पहले तक "स्वर्गीय साम्राज्य" कहा जाता था । अब वहाँ सम्राट या शहनशाह तो रहे नहीं, परंतु यूरोपियनों और अमरीकनों के स्वार्थवृत्ति के इशारों पर चलने वाला गणतंत्रीय शासन स्थापित हुआ है । "स्वर्गीय साम्राज्य" कहे जाने वाले युग में गणिकावृत्ति बड़े पैमाने पर चलती थी । एक लेखक कहता है : "गणिकागृहों की स्थापना स्थल पर ही

नहीं, जल पर भी हो चुकी है । नौकाओं में बड़े पैमाने पर गणिकावृत्ति होती है । चीन में छोटी-छोटी बालिकाओं को उड़ा लिया जाता है और बचपन से ही उन्हें गणिकावृत्ति की तालीम दी जाती है । कुछ लोग लड़कियाँ भगाने का ही पेशा करते हैं और उन्हें गणिकागृहों में बेचकर जीवननिर्वाह करते हैं । अकाल पड़ने पर तो माता-पिता खुद ही अपनी पुत्रियों को सरेआम बेच देते हैं ।'' इस अवतरण में नौकाओं में चलने वाली गणिकावृत्ति का जो उल्लेख हुआ है, उसे समझ लेना आवश्यक है । चीन में असंख्य नदियाँ हैं जिनका यातायात के लिए उपयोग व्यापकता से होता है । इन जलमार्गों के किनारों पर अनेक प्रकार के यात्री, व्यापारी और शौकीन लोगों का जमघट लगा रहता है । इनकी सुविधा के लिए चीन में विशिष्ट प्रकार के गणिकागृहों की योजना की जाती है । इन्हें पुष्पनौका कहा जाता है । बड़ी-बड़ी नदियों में फूलों से सजी हुई ये नौकाएँ सदा उपलब्ध रहती हैं । इनकी सजावट से ही लोग इन्हें पहचान लेते हैं । बड़े शहरों के पास से बहने वाली नदियों में ये नौकाएँ बड़ी संख्या में दिखाई देती हैं । चीनी पुरुषों के लिए वेश्यागमन कोई खास अशिष्टता का लक्षण नहीं माना जाता । अत: इन नौकाओं में आने जाने वाले पुरुष चोरी छिपे आने-जाने का प्रयत्न कभी नहीं करते । भारत में कश्मीर के सरोवरों की नौकाओं में एवं उत्तर प्रदेश में गंगा-जमुना के पवित्र जल में तैरते हुए बजरों में होने वाले रागरंग की यहाँ याद आ जाती है । वेश्यावृत्ति बाजारों और गलियों में फलेफूले, वहाँ तक तो गनीमत है । परंतु उसकी छाया इन पापमोचनी नदियों पर भी पड़े, यह आश्चर्य की बात है ।

जापान में गणिकावृत्ति का विकास और भी व्यापकता से हुआ है । एक ओर तो जापान के उच्चवर्गों की स्त्रियों की पवित्रता का अत्यंत सावधानी से जतन किया जाता है, परंतु दूसरी ओर खुल्लमखुल्ला गणिकावृत्ति जापानी जीवन का एक आवश्यक अंग बन गई है जिसका सब वर्गों के पुरुषों द्वारा पोषण होता है । ''योशीवारा'' नाम से प्रसिद्ध गणिकाओं के विशिष्ट मोहल्लों पर बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना हुई है, और ''गेइशा' नाम से प्रसिद्ध कलाप्रेमी वारांगनाएँ तो जापान जाने वाले यात्रियों के लिए आकर्षण का प्रमुख केन्द्र सिद्ध होती हैं । जापानियों के अत्यंत नम्र और सभ्य बर्ताव के कारण आरंभ में पश्चिम के लेखकों ने इस प्रजा को फरेबी और पाखंडी सिद्ध करने की कोशिश की थी । और आज तो यह देश इंग्लैंड-अमरीका से लड़ रहा है, अत: इसके संबंध में चाहे जैसे विशेषणों का प्रयोग करने की सब को छूट मिल गई है । पौर्वात्य प्रजाओं को और विशेषतौर पर भारतवासियों को झूठे, मक्कार और बेईमान कहने में पश्चिम के लेखकों को कब संकोच हुआ है ? पूरे एशिया महाद्वीप को हड़प जाने की नीयत रखनेवाली इन गौरकाय प्रजाओं के दंभ, असत्य और शोषणवृत्ति के परिणामस्वरूप आज पूरा संसार विश्वयुद्ध की ज्वालाओं से घिरकर विनाश की ओर बढ़ रहा है । आजकी परिस्थितियों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि दंभ और असत्य पूर्व के गुणविशेष हैं या पश्चिम के । पौर्वात्य लोग मूर्ख हो सकते हैं । मूर्ख न होते तो सब जगह अपने ऊपर पाश्चात्यों को शासन क्यों करने देते ? परंतु पाखंड और झूठ के क्षेत्र में तो पश्चिम को ही अग्रस्थान देना होगा । यहाँ पूर्व-पश्चिम के गुण दोषों की तुलना करने का प्रयोजन नहीं है । मानव होने के नाते पूर्व और पश्चिम, दोनों प्रदेशों के मनुष्य एक ही प्रकार की सामाजिक विषमताओं के शिकार हो सकते हैं । अनेक कलुष मनुष्य जाति में समान रूप से फैले हुए हैं । परंतु पश्चिम की प्रजाएँ अपने आपको श्रेष्ठ और पौर्वात्यों को हीन सिद्ध करने के लिए सदा कटिबद्ध रहती हैं । आज उनका पूरे विश्व पर प्रभुत्व होने के कारण उनके विचारों को मान्यता भी मिल जाती है । परंतु नैतिकता की किसी भी कसौटी पर कसें तो इस अभिमान में तथ्य दिखाई नहीं देता । पश्चिम के देशों में व्याप्त वेश्यावृत्ति भी इस श्रेष्ठता की भावना का खंडन करती है । फिर यह गरूर किस लिए ?

जापान में विवाहित पत्नी तो एक ही होती है, परंतु रखैलें इच्छानुसार चाहे जितनी रखी जा सकती हैं । वहाँ के गणिकागृह अत्यंत सुसज्जित, भव्य और सुखसुविधाओं से युक्त होते हैं । एक-एक गणिकागृह में तीस से पचास तक गणिकाएँ रहती हैं । मनोरंजन और आनंद-प्रमोद के अनेक साधन इनमें सदा सज्ज



रहते हैं । इनके उपाहारगृहों में कुशल नर्तकियाँ नृत्य करती रहती हैं । उनमें की अधिकांश गणिकाएं ही होती हैं । इन गणिकागृहों की शृंखला जापान के गाँव-गाँव में फैली हुई है । जापान में गणिकावृत्ति का आद्य संबंध धर्म के साथ था । 'प्रेम की देवी' के मंदिर में सैकड़ों गणिकाएँ एक साथ रहती थीं और भक्तों की कामवासना संतुष्ट करने का पुण्यकार्य करती थीं । आज भी गणिका जापान के समाजजीवन का स्वीकृत







विभाग है । आनंद-प्रमोद का कोई समारोह उनकी उपस्थिति के बिना पूर्ण नहीं माना जाता । आश्चर्य की बात यह है कि माता-पिता अपनी पुत्रियों को स्वेच्छा से गणिकागृहों में बेच देते हैं या कुछ समय के लिए वहाँ भेजकर वहाँ की तालीम दिलवाते हैं और वहाँ के जीवन से अभ्यस्त कराते हैं । कुछ समय तक गणिकालयों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद युवतियाँ बिना किसी झिझक के सभ्य समाज में प्रवेश करके प्रतिष्ठित पत्नियाँ और प्रतिष्ठित माताएँ बन सकती हैं । पतितावस्था की शिक्षा का कोई कलंक उनके सिर पर चिपका हुआ नहीं रहता । इसमें कोई शक नहीं कि नृत्य, संगीत, वस्त्रालंकार, प्रसाधन और गृहशृंगार की कलाएँ गणिकागृहों में उत्तम प्रकार से सीखी जा सकती हैं । कामशास्त्र में निपुणता प्राप्त करने में भी वहाँ की शिक्षा सहायक होती है । इन सब कलाओं में पारंगत युवती को बड़ी आसानी से मनचाहा पति मिल जाता है । विवाह की संभावना होते ही युवतियाँ यह व्यवसाय छोड़ देती हैं और रसिक एवं कलावती गृहिणी के रूप में जीवन व्यतीत करती हैं ।

उपरोक्त प्रेमदेवी की पूजा में से जापान में गणिकावृत्ति का उद्‌भव हुआ, परंतु इसके उपरांत दो अन्य कारण भी सहायक हुए थे । एक बार युद्ध के शौकीन किसी सम्राट ने विशाल सैन्य जुटा कर पूरे देश को कठोर नियंत्रण में रखा । कुछ समय बाद उसे महसूस हुआ कि यौन-सुख से वंचित उसके सैनिक सेना छोड़ कर भाग जायेंगे । अत : उसने सैनिकों की वासनातृप्ति के लिए जगह-जगह पर वेश्यालयों की स्थापना करवाई । युद्ध से समय मिलते ही सैनिक इन पतितागृहों में जाकर मौज करने लगे । दूसरा कारण यह हुआ कि एक बार किसी सम्राट को राजधानी छोड़ कर भागना पड़ा था । साथ में उसकी माता, कई नौकरानियाँ और अनेक साध्वियाँ थीं । एक स्थान पर शत्रु के भय से सम्राट और उसकी माता को नदी में डूबकर आत्महत्या करनी पड़ी । साथ की नौकरानियाँ और साध्वियाँ सुरक्षाहीन और साधनविहीन हो गईं । जीवन यापन का और कोई साधन न मिलने से उन्हें गणिकावृत्ति को स्वीकार करना पड़ा और देह-विक्रय द्वारा भी जीवन-यापन हो सकता है, इसका प्रथम उदाहरण देश के समक्ष उपस्थित हुआ । इस प्रकार जापान में गणिकावृत्ति के तीन उद्‌गम स्थान स्पष्ट होते हैं :—

१. धार्मिक गणिकावृत्ति ।
२. सैनिकों की कामवासना संतुष्ट करने के लिए जन्म लेने वाली गणिकावृत्ति ।
३. साधनहीनता और भुखमरी के कारण स्वीकार की हुई गणिकावृत्ति ।





२
तुर्कस्तान

तुर्कस्तान में दो प्रकार की गणिकावृत्ति प्रचलित थी :—

१. **नर्तकियाँ**:— नृत्य के उपरांत इनका पेशा ही वेश्यावृत्ति का था । ये नर्तकियां सुलतानों और अमीरों के जनानखानों में जाकर भी नृत्य करती थीं । अकसर ये नृत्य अश्लीलता की सीमा पर पहुंच जाते थे ।

२. दूसरे प्रकार को 'अल्पकालीन विवाह' कहा जाता था । किसी पुरुष को किसी अपरिचित शहर में जाकर रहना पड़े, तो वहां उसे कुछ दिनों के लिए कामचलाऊ पत्नी मिल सकती थी । वासनापूर्ति के लिए प्राप्त होने वाली इन स्त्रियों को गणिका का ही एक प्रकार कहा जा सकता है । इन लोगों में मोटी स्त्रियों को ही सुंदर माना जाता है । गणिकाएँ अपने शरीर की स्थूलता के अनुपात में ही द्रव्यार्जन कर सकती हैं ।



सातवाँ परिच्छेद
इतिहास का मंथन
१
विवाह संस्था की त्रुटियाँ

इस इतिहास में अधिक गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं । संसार के सब प्रदेशों में गणिकावृत्ति एक या दूसरे रूप में फैली हुई है यह सत्य, अब तक के अध्ययन से, बिना किसी संदेह के स्थापित होता है । विभिन्न प्रदेशों के रीतिरिवाजों में और परिस्थितियों में कोई न कोई तत्त्व ऐसा होता है जिसमें से गणिकावृत्ति उत्पन्न होती है और पोषण प्राप्त करती है । मनुष्य जाति के इतिहास में गणिकावृत्ति अमुक समय पर नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता । गणिका का जन्म शायद समाज की रचना के साथ-साथ ही हुआ । मनुष्यजाति ने क्रय विक्रय का प्रथम व्यवहार भी शायद देह-विक्रय से ही किया । इस व्यवहार के तुरंत बाद, देह-विक्रय की दलाली करने का दूसरा व्यवसाय मनुष्यजाति को मिला । समाजशास्त्रियों ने गणिकावृत्ति और उसकी व्यवस्था करने वाले दलालों की प्रवृत्ति को मनुष्यजाति के दो सबसे प्राचीन व्यवसाय माने हैं ।

हम आरंभ के परिच्छेदों में देख चुके हैं कि यौन-आकर्षण ही मनुष्य जाति का स्थिरता और वृद्धि का आद्य कारण है । साथ ही यह आकर्षण मनुष्य को निर्वचनीय देह-सुख प्राप्त कर देता है । अत : देह-सुख की कामना करने वाली मानवीय वृत्ति सामाजिक स्थिरता या सामाजिक वृद्धि की विशेष चिंता न करके इस सुख को ही श्रेय मान लेती है । व्यक्ति की मांग और समाज की मांग एक साथ पूरी हो सके, ऐसा सुवर्णमध्य ढूंढने के प्रयत्न मनुष्यजाति सदा से करती आई है । इसी प्रयत्न में से विवाह नामक संस्था मनुष्यजाति को मिल गई और इसका स्त्रीपुरुष के शिष्ट और मान्य संबंध के रूप में सभ्य मानव समुदाय के अधिकांश द्वारा स्वीकार भी हुआ ।

यह प्रथा शिष्ट हो सकती है ; है भी ; परंतु परिपूर्ण या दोषरहित नहीं है । इस परिपूर्णता के अभाव में से गणिकावृत्ति जन्म लेती है, और अन्य अनेक परिस्थितियों से पोषण प्राप्त करके विवाह संस्था का मजाक उड़ाती हुई समाज में फैलती रहती है । कभी-कभी रखैल प्रथा के रूप में यह विवाह से बिलकुल अभिन्न रूप धारण कर लेती है । सच्चा विवाह वह माना जाना चाहिये, जो जीवन भर चले । परंतु इस प्रकार जीवन भर चलने वाले आदर्श संबंध की जिम्मेवारी कौन लेगा ? प्रकृति भी नहीं लेती । मृत्यु के रूप में प्रकृति सुखी और स्वस्थ विवाहों को भी खंडित कर देती है । अत : विवाह का स्थैर्य और सातत्य खतरे में पड़ जाता है । विधुर होते ही पुरुष दूसरी स्त्री की कामना करता है । विधवा स्त्री की भी यही इच्छा होना स्वाभाविक है । जहाँ-जहाँ इस मांग के रास्ते में विघ्न उपस्थित होते हैं, वहाँ गणिकावृत्ति का सूत्रपात हो जाता है । विवाह अबाध रूप से चलता भी रहे, तो प्रेम, रूप, आकर्षण आदि में परिवर्तन होते रहते हैं । स्त्री और पुरुष जहाँ अपने आपको इन परिवर्तनों के अनुकूल नहीं कर पाते, वहाँ पुरुष की नजर तुरंत अन्य स्त्री पर पड़ने लगती है । अधिकांश प्रसंगों में यही होता है । इस परिस्थिति में से गणिकावृत्ति को दूसरा पोषणस्थान मिल जाता है और बाह्य रूप से सुस्थापित दिखाई देने वाले विवाह निरर्थक ढोंग मात्र रह जाते हैं । इस परिस्थिति के लिए समाज का स्त्री विभाग या पुरुषविभाग अकेला ज़िम्मेदार नहीं है । प्राकृतिक प्रेरणाएँ दोनों में समान रूप से होती हैं । परंतु समाज की विशिष्ट व्यवस्था के कारण गणिका



होने की कलंक भरी छाप स्त्री को ही लगती है और पुरुष अछूता बच जता है ; यद्यपि गणिकावृत्ति के उद्‌भव के लिए पुरुष स्त्री के जितना ही, या उससे भी अधिक जिम्मेदार है ।

विभिन्न स्वभावों के संघर्ष के विषय में तुलसीदास जी ने बहुत सुंदर बात कही है :—

'सबसे हिल मिल चालिये, नदी नाव संजोग'

नदी और नाव के संजोग का उदाहरण तुलसी ने समाज के चलायमान संबंधों के संदर्भ में दिया है । यदि इन अस्थिर संबंधों के लिए 'सब से हिल मिल चालिये' का सूत्र सही हो सकता है, तो स्थायी संबंधों के लिए तो वह और भी उपादेय सिद्ध होता है । विवाह की गणना संसार के अत्यंत स्थायी संबंधों में होती है । इसमें यदि हिलमिल कर चलने की भावना न हो, तो पूरा संबंध खतरे में पड़ जाता है । संबंध की स्थिरता को धक्का पहुँचते ही पूरी विवाहसंस्था की दीवारें डगमगा कर गिरने लगती हैं । गणिकावृत्ति इन्हीं गिरी हुई दीवारों के मार्ग से प्रवेश कर जाती है । स्वभाव का विरोध कभी-कभी उग्र रूप धारण करके पारस्परिक घृणा और तिरस्कार में परिणत हो जाता है । इस स्थिति में आते ही विवाह की पवित्रता नष्ट होकर वह लड़ते-झगड़ते और सदा कलह करते हुए पति-पत्नी का बाह्‌य सहवास मात्र रह जाता है । इसे विवाह की निकृष्ट और पतित अवस्था मानना चाहिये । अधिकांश विवाह-संबंधों में इतना उग्र स्वभाव-विरोध नहीं होता, परंतु कम से कम नब्बे प्रतिशत विवाहित पति-पत्नी में सहनशील्ता का अभाव तो दिखाई देता ही है । असहिष्णु व्यवहार से एक कदम आगे बढ़ते ही पतितावस्था का प्रवेश आरंभ हो जाता है । सुखी विवाहों में भी कभी-कभी विदेश गमन या युद्ध के कारण उपस्थित होने वाला वियोग, किसी आकर्षक और वाचाल मित्र का जीवन में प्रवेश, या किसी साधनसंपन्न पुरुष का सान्निध्य आदि कारणों से भी विवाह की मर्यादा भंग हो सकती है और पत्नी पतिताचार की सीमा को स्पर्श करने लगती है ।

दरिद्रता तो पतितावस्था का मुख्य कारण है ही । कुछ विचारकों के मतानुसार तो मनुष्यजाति में से दारिद्र्य दूर होते ही अन्य अनेक अनिष्टों के साथ-साथ गणिकावृत्ति भी नष्ट हो जायेगी । यह एक सीधी सीधी बात है कि गरीबी समाप्त होते ही धन की आवश्यकता नहीं रहेगी, और धन की आवश्यकता नष्ट होते ही धन के लिए देह-विक्रय का प्रश्न ही उपस्थिति नहीं होगा । धन और देह का आदान-प्रदान ही गणिकावृत्ति का प्रधान तत्व है । अत : गरीबी नष्ट होते ही पतितावस्था भी नष्ट प्राय हो जायेगी । व्यभिचार कम होगा या नहीं, यह अलग प्रश्न है । परंतु और अनेक प्रकार के दुराचार अत्यंत कम हो जायेंगे, इसमें कोई संशय नहीं ।

बहुत बड़ी उम्र तक अविवाहित रहना पसंद करने वाले स्त्री-पुरुषों की मनोवृत्ति में से भी वेश्यावृत्ति का उद्‌भव होता है । आयु और स्वभाव की अत्यधिक भिन्नता भी विवाह की मर्यादा तोड़कर व्यभिचार और उससे एक कदम आगे बढ़ते ही पतिताचार में स्त्री-पुरुषों को घसीट ले जा सकती है । अतिशयता से प्राप्त धन-संपत्ति, भोग विलास के साधन, अधिकार-सत्ता, या अवकाश भी व्यक्ति को अमर्याद कामाचार में प्रवृत्त करने वाले तत्त्व हैं । विवाह की नीरसता और एक रूपता से इन तत्वों का मेल नहीं रखता । वे वैविध्य चाहते हैं, और विविधता चाहनेवाली कामवृत्ति मनुष्यजाति की पतितावस्था का एक प्रमुख उद्‌गमस्थान है । धन, सत्ता और साधनसंपन्न बेकारी मनुष्य के कामावेश को सदा प्रज्ज्वलित रखते हैं । जगत की नीति को भ्रष्ट करने में इन तत्वों का योगदान कम नहीं है ।

विवाह का अर्थ है स्त्री-पुरुष का जीवनभर का सहचार । इस स्थिति को आदर्श कहा जा सकता है । इस आदर्श में जितने भी कमजोर स्थान होंगे, उन सब पर प्रहार करने को गणिकावृत्ति सदा उद्यत रहती है और विवाह रूपी प्रतिस्पर्धी संस्था पर मौका मिलते ही आक्रमण करके उसके प्रति विचारकों के मन में अविश्वास उत्पन्न कर देती है । अत : विवाह संबंध अत्यंत सावधानी का विषय सिद्ध होता है । विवाह होते ही, पतितावस्था टल गई, यह मानना युक्तिसंगत नहीं । पतिताचार का पोषण करने वाले पुरुष को यह समझ लेना चाहिये कि उसने यदि विवाह की मर्यादा को बाहर एक कदम रखा, तो उसकी पत्नी उस

लक्ष्मण रेखा से दो कदम बाहर अवश्य जायेगी । यह नहीं भूलना चाहिये कि वेश्यावृत्ति का पोषण करने वाले पुरुष अपने पवित्र माने हुए गृह-संसार में भी वेश्याओं की सृष्टि करता रहता है । समाज की मर्यादा और नीति के बंधन पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक चौकन्नी नजर रखते हैं । इस कारण से बाह्य दृष्टि से स्त्रियों में अनाचार कम दिखाई देता है । परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अपने स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करने वाले पुरुष को उसकी कीमत अपने ही घर में नहीं चुकानी पड़ेगी । गणिकागृह के दर्शन कर आने वाला पुरुष अपने घर के वातावरण को भी उतना ही अनीतिमय और विषाक्त बना देता है । इसलिए, स्त्रियों से सदाचार की आशा रखनेवालों को खुद भी ऊँचा आदर्श उपस्थित करना चाहिये । राम के निर्माण के बिना सीता की सृष्टि संभव नहीं ।

यह पूरा विवेचन विवाह संस्था पर श्रद्धा रखने वालों के दृष्टिकोण से किया गया है । विवाह के प्रति युग-युग से प्रजा के बहुत बड़े वर्ग के हृदय में आदर और श्रद्धा के भाव रहे हैं । पुरुष और स्त्री के संबंध का नियंत्रण एवं इस संबंध के परिणामों का नियंत्रण युगों से मानवसंस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण भाग माना गया है । विवाह के विरोध में चाहे जितने तर्क किए जायें, यह मानना ही होगा कि विवाहसंस्था ने समाज को नियोजित रचना और व्यवस्था प्रदान की है, और इस नियोजन को बनाये रखने की शक्ति दी है । अत : प्रजाजीवन के इतिहास में विवाह का महत्व निर्विवाद है और किसी भी प्रजा की नैतिकता का अध्ययन करते समय विवाह के प्रति उसका रुख क्या है, यह जानना नितांत आवश्यक है । साथ ही विवाह के प्रकार, उसमें होने वाले परिवर्तन, समाजसम्मति से उसके अंतर्गत मिलनेवाले अधिकार, उसके बंधन, उसकी मर्यादाएँ एवं उससे बाहर जाकर ली जाने वाली छूट आदि का विचार करना भी आवश्यक है ।

२
समाजधुरीणों के उदाहरण और उनका अनुकरण

राजाओं, राजपरिवारों, अमीर-उमरावों, धर्मगुरुओं, राजनीतिज्ञों और धनिकों को सदा से समाज का अग्रणी और धुरीण माना गया है । उनका बर्ताव, चाहे वे सदाचारी हों या दुराचारी, जनसाधारण के लिए आदर्श बन जाता है । उनके जीवन की हर छोटी-मोटी घटना लोगों का ध्यान आकर्षित करती है । उनके जीवन के मापदंड से ही सामाजिक जीवन की परीक्षा की जाती है । उनका जीवन कुछ हद तक तो सामान्य जन जीवन के प्रतिबिंब रूप होता है और कुछ हद तक उसका मार्गदर्शक । अत : किसी भी देश के सामाजिक इतिहास में इन्हीं का जीवन चित्रित हुआ दिखाई देता है । इतना ही नहीं, कभी-कभी तो इनके आचारण का समाज-जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव ही उस युग का नैतिक इतिहास बन जाता है । अत यह स्वाभाविक है कि इतिहास में उनके आचार-विचारों का उल्लेख अधिक प्रमाण में हो, और उनकी नैतिकता को पूरे समाज की नैतिकता का प्रतिबिंब माना जाय ।

साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कारण कुछ भी हो, परंतु विवाह संस्था को संपूर्ण सफलता नहीं मिली है । स्त्री-पुरुष का शारीरिक संबंध विवाह से कहीं अधिक प्रबल और अनिवार्य है । इस संबंध की अनेकरूपता को विवाह के अंतर्गत समेटना मुश्किल है । अशिष्ट माने जाने वाले अनेक यौन-संबंधों पर शिष्टता का आवरण डाला जा सकता है, परंतु मनुष्यजाति का आज तक का इतिहास यही कहता है कि यह आवरण उन संबंधों को पूर्णत : ढंकने में कभी सफल नहीं हुआ ।

व्यवसाय के रूप में गणिकावृत्ति मनुष्य का सबसे प्राचीन व्यवहार भले ही प्रमाणित हो परंतु अतंत्र यौन सहवास या व्यभिचार तो उससे भी पुराना, विवाह संस्था से भी पुराना आचार है । मौका मिलते ही

उसने विवाह के विरुद्ध मोरचेबंदी की है और इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है । आदिम काल से लगाकर अब तक वह पूर्णत: विलुप्त कभी नहीं हुआ । जब व्यभिचार से भी काम न चला, तब उसकी सहायता करने के लिए गणिकावृत्ति का जन्म हुआ जो आज तक अपने सहोदर के सहारे फलती रही है और मनुष्यजाति की सबसे बड़ी नैतिक, सामाजिक और शारीरिक समस्या बन बैठी है ।

अत : पतितावस्था को समझ पाने के लिए विवाह, विवाह-विच्छेद, एक पति या एक-पत्नीव्रत, बहुपति या बहुपत्नीप्रथा, स्त्रियों को भेंट-सौगात या विनिमय के रूप में लेने-देने का रिवाज, कन्याओं का धर्मार्थ समर्पण, रखैलप्रथा, यौन-संबंधों के लिए समाज द्वारा दी गई सुविधाएँ एवं समाज ने सहय माने हुए अनिष्ट आदि तत्वों का अध्ययन भी आवश्यक है ।ये सारे तत्त्व गणिकावृत्ति के साथ जुड़े हुए हैं । गणिकावृत्ति के समर्थन के लिए या उसे प्रोत्साहित करने के लिए नहीं, बल्कि उसे समझने के लिए इन सब पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है । इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो सकता है कि इस अनिष्ट के लिए समाज के सभ्य माने जाने वाले वर्ग, हम और आप, कहाँ तक जिम्मेवार हैं । जो सामाजिक वैचित्र्य परापूर्व से समाज के साथ चलता आया है, जो दुर्गों, और प्राचीरों, पर्वतों और महासागरों, एवं जंगलों और रेगिस्तानों की सीमाओं को तोड़ता हुआ संसार भर में फैलता रहा है ; जो प्रतिष्ठित गृहस्थों के घर में बेमालूम तौर से घुसता रहा है ; जिसके प्रभाव से कोई भी स्त्री या पुरुष शायद ही मुक्त रह पाया है ; और जो सभ्यता की प्रगति के साथ घटने के बदले नित नये रूप धारण करके समाज रचना में व्याप्त हो रहा है, उस वैचित्र्य को पहचानना और समझना हर सामाजिक मनुष्य का कर्तव्य है । गणिकावृत्ति को समाज का मामूली सा रोग या वैचित्र्य मान कर उसे हँसी में उड़ा देने से या उसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा । यदि इस अनिष्ट के कारण पूरी मनुष्यजाति में से केवल एक स्त्री या एक पुरुष का जीवन ध्वस्त होता हो, तो भी पूरे समाज का ध्यान इसकी ओर आकर्षित होना चाहिये । परंतु इसके परिणाम इतने सीमित नहीं हैं । यह अनिष्ट तो मानव की पीढ़ियों को अपनी ज्वाला में जलाता रहता है और कभी-कभी निर्दोषों को भी अपने दुष्परिणामों से पीड़ित करता है । अत : वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों से पतितावस्था का गहराई से अध्ययन होना अत्यंत आवश्यक है ।

३

इसके नियन्त्रण और रोकथाम के लिए मनुष्य की तत्परता

इस अनिष्ट को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के सबल और सद्हेतु प्रेरित प्रयत्न हर युग में हुए हैं । धर्म और शास्त्र हमेशा इसके विरुद्ध रहे हैं । धर्म ने तो इसके विरुद्ध इसी जन्म के नहीं बल्कि आने वाले जन्मों के भय का उपयोग भी किया है और इसके चारों ओर अनेक प्रकार के निषेधों की दीवारें खड़ी की हैं । परंतु भविष्य के जन्मों में भुगतने वाले परिणामों का भय या इस जन्म के निषेध पतितावस्था को रोकने में समर्थ नहीं हुए हैं । विजय सम्राटों ने विशाल प्रजाओं को जीता, परंतु गणिकावृत्ति के विरुद्ध उनकी मोरचेबंदी निष्फल रही । दूषित स्त्रियों को समाज ने देशनिकाला दिया, कोड़ों से पीटा, लोहे से दागा, जीवित चिता में जलाया, आरी से चीरा और सूली पर चढ़ाया ।उनके दुष्कृत्यों में साथ देने वाले पुरुषों को भी इसी प्रकार की सजाएँ दी गईं और समाज ने उनका उग्र तिरस्कार भी किया । परंतु विजेता सम्राटों और समाजधुरीणों के कठोरतम फरमानों को भी पतिताचार के विरुद्ध संपूर्ण सफलता नहीं मिली । नीति की वाणी और धर्म का उपदेश सदा पतिताओं के विरोधी रहे ; कटाक्षलेखकों ने उन पर जी भर के छींटाकशी की, परंतु इन में से कोई अनिष्ट को रोक न सका । आरोग्यशास्त्र ने इसके घोर परिणामों का डर दिखाया और इससे उत्पन्न रोगों को असाध्य ही नहीं बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रहने वाला आनुवंशिक अभिशाप माना, फिर भी यह अनिष्ट प्रत्येक में नये-नये रूप धारण करके और प्रत्येक काल में अधिकाधिक बल प्राप्त करके, सदा जीवित रहा है । संस्कृति के विकास के साथ भी इसकी वृद्धि घटती

नहीं है, बल्कि दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है ।

संसार के एक अत्यंत प्रगत और समृद्ध नगर के किसी विशेषज्ञ डाक्टर ने पतितावृत्ति की शक्ति और व्यापकता का इन शब्दों में वर्णन किया है :—"अपने शहर की वृद्धि हो रही है और दिनों दिन उसका विकास हो रहा है, यह आनंद की बात है । परंतु नगर में गणिकावृत्ति का प्रसार उससे भी अधिक रफ्तार से हो रहा है । पहले गणिकावृत्ति अंधकार में पनपती थी और अपने अस्तित्व को छिपा कर रखती थी । परंतु आजकल उसे अंधकार पसंद नहीं आता । दिन दहाड़े, भरे बाजारों में और प्रतिष्ठित मोहल्लों में विशुद्ध और सदाचारी स्त्री-पुरुषों को ठेलती हुई वह सीना तान कर चलती है । मैं आपको आग्रह कर देता हूँ कि गणिकावृत्ति जिस प्रकार रंगीन मोहल्लों में घूमती नजर आ रही है, उसे देखते हुए वह दिन दूर नहीं जब आपके शांतिमय घरों और प्रतिष्ठित मोहल्लों को भी वह पदाक्रांत कर लेगी । उसकी व्याप्ति अब चकलों से बढ़ते आपके उपनगरों और उद्यानों तक फैल गई है । आपके नाटकगृहों और उपाहारगृहों में वेश्यासंस्था खुले आम पनप रही है और धीरे-धीरे आपके पवित्र घरों में और रिश्तेदारी के दायरों में भी अपना मादक पर विषाक्त जाम भर कर आपको आकर्षित करती हुई बेरोकटोक घूमने लगी है । राज्यसत्ता और कानून ने उसे नष्ट करने के अनेक प्रयत्न किये, समाज ने उसकी अप्रतिष्ठा करके उसे शरमिंदा करने की कोशिश की और नीति ने उसका बहिष्कार किया । फिर भी यह पतित वृत्ति जीवित रही और आज आपके राज्यशासन, आपके कानून और आपके धर्म को चुनौती दे रही है कि, 'तुम सब क्रूर और निर्दय हो । तुम सब ने मेरे साथ असहय अन्याय किया है । मेरे साथ कैसा बर्ताव करना, यह तुममें से कोई नहीं जानता । भाग्य तुम्हारा ! इसमें मेरा कोई नुकसान नहीं और इस तरह मुझे कोई रोक भी नहीं सकता ।' आपका समाज, आपका कानून और आपकी राज्यसत्ता इस चुनौती से घबरा गये हैं व उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़े घिघिया रहे हैं ।"

४
समाज-स्वास्थ्य और गणिकावृत्ति

पश्चिम के समान पूर्व के देशों में भी सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा शासन का प्रधान कर्तव्य माना जाने लगा है । स्वास्थ्य विभाग पर प्रगत देशों में करोड़ों रुपये खर्च किए जाते हैं । और प्रजा के आरोग्य के लिए जितनी भी रकम खर्च की जाती है, उसका सामाजिक कल्याण के लिए सदुपयोग ही होता है, ऐसी मान्यता भी सभ्य देशों में फैलती जा रही है । गणिकावृत्ति प्रजा के स्वास्थ्य के लिए सबसे बड़ा भय स्थान है इस नाते यह पूरा विषय राज्य व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र में आ जाता है । उपदंश और प्रमेह के रोग जहाँ-जहाँ दिखाई दें, वहाँ उनके मूल में वेश्या और वेश्यागामी पुरुष ही आद्य कारण रूप होते हैं ; यद्यपि रोगी पुरुष या स्त्री का वेश्या या वेश्यागामी पुरुष से सीधा संपर्क हुआ हो, यह आवश्यक नहीं ।

गणिकावृत्ति केवल यौन-सुख के आदान-प्रदान पर नहीं रुकती, बल्कि उसके साथ भयानक रोग जुड़े हुए हैं । उतने ही भयानक व्यसनों के भंडार भी उसके चारों और बिखरे हुए हैं । गणिकालय पूरे समाज के कंटकरूप अपराधियों की आरामगाह और उनके आश्रयस्थान बन जाते हैं, यह तथ्य भी गणिकावृत्ति को एक सार्वजनिक अनिष्ट सिद्ध करता है । मामूली से मामूली बात पर चाहे जिसको छुरा या पिस्तौल दिखाकर धमकाने वाले खूनियों और बनावटी हस्ताक्षर, जाली दस्तावेज एवं नकली सिक्के बनाने वाले जालसाजों से लगाकर मामूली चोर, उचक्के और गिरहकट तक सभी प्रकार के गुंडे गणिकागृहों में एकत्र होते हैं । खाना, पीना, मौज करना और राजरंग में रात गुजारना, इतने से ही इन अपराधियों का पेट



नहीं मरता । नशे में चूर ये गुंडे गणिकागृहों में ही अपने बहादुरीभरे कारनामों का बढ़ा-चढ़ा कर बखान करते हैं, लूट के माल का बँटवारा करते हैं, भविष्य की नयी-नयी पापयोजनाएँ बनाते हैं और किस युवती को किस प्रकार से फँसाया जा सकता है, और उसे पतिताचार के लिए कैसे प्रेरित किया जा सकता है, इसकी युक्तियाँ सोचते हैं । अपराध की उत्पत्ति के, अपराध को छिपाने के, और अपराध की वृद्धि करके उसका प्रसार करने के सबसे बड़े केन्द्र गणिकागृह ही होते हैं ।

५
गणिकावृत्ति का संघटित व्यवसाय

केवल परस्पर आकर्षण से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष सहवास चाहते हों, तो उनका प्रेम क्षम्य माना जा सकता है ; उदरपूर्ति के साधनरूप कोई स्त्री देह-विक्रय करके अपना गुज़ारा चलाती हो, तो इसके लिए धनसंपत्ति के विषम विभाजन को दोषी ठहरा कर या समाज को अपराधी मानकर स्त्री को माफ किया जा सकता है ; परंत गणिकावृत्ति में संघटित व्यापारवृत्ति का भयानक विष मिलते ही वह उसे क्षमा या सहानुभूति के अयोग्य बना देता है । स्त्रियों का व्यापार करने वाले स्वार्थी जीव को प्रेमियों के प्रेम या जीवन निर्वाह की चिंता से ग्रस्त स्त्रियों की मजबूरियों की कोई परवाह नहीं होती । उसे तो प्रेम या काम की भावना से और स्त्रियों की गरीबी या निराधारता से लाभ उठाकर अपनी जेबें भरने की ही चिंता होती है । जिन युवतियों को ईमानदारी से जीवन-निर्वाह करने के साधन दिये जा सकते हैं, उनसे भी ये नराधम, उन्हें बहका-फुसला कर, लालच दिखाकर, डरा-धमका कर या उनकी कामवासना को उत्तेजित करके अनेक प्रकार के यौन-कुकृत्य करवाते हैं । गणिकावृत्ति का यही पहलू सबसे अधिक भयानक है । कोई युवती पति से नाराज हो, किसी स्त्री को पति ने घर से निकाल दिया हो, कोई युवती साधनरहित हो, आदि परिस्थितियाँ तो हमारी अपूर्ण समाज-रचना में आये दिन उपस्थित होती रहती हैं; परन्तु इन सामाजिक त्रुटियों का शिकार बनी हुई युवतियों को देह-विक्रय के मार्ग पर प्रेरित करना इन त्रुटियों का हल नहीं है । इन स्त्रियों के लिए समाज में अन्य अनेक प्रकार की सुव्यवस्थाएँ हो सकती हैं । परंतु ऐसी असंतुष्ट स्त्रियों की तलाश में घूमने वाले गुंडे, समाज की उपेक्षा और उदासीनता से लाभ उठाकर, उन्हें अपने जाल में फँसा लेते हैं और उनके लिए देहविक्रय का मार्ग खुला करके अपना स्वार्थ साधते रहते हैं । इस दुष्ट परंपरा में से जब अनावश्यक वेश्यावृत्ति बढ़ने लगती है, तब इन दलालों की व्यापारवृत्ति, स्वार्थ परायणता और संघटनाशक्ति को जला कर भस्म कर देने की आवश्यकता उपस्थिति होती है ; यद्यपि ऐसा अब तक हो नहीं सका है ।

स्त्रियों के देह-विक्रय से निर्वाह करने वाले ये समाजद्रोही अज्ञान और भोली किशोरियों के जीवन भी बरबाद कर देते हैं । यह और भी भयानक कुकृत्य है । गणिकाओं में कभी-कभी तो इतनी कम उम्र की किशोरियाँ दिखाई दे जाती हैं, कि उन्हें सिर्फ बच्चियाँ कहा जा सकता है । स्त्रीत्व का पूर्ण विकास होने से पहले ही ये दलाल इन निर्दोष बालिकाओं को अपने जाल में फँसा कर इस घृणित व्यवसाय में झोंक देते हैं । पतितावस्था के कारणों की गहराई में उतरने पर मानवजाति की इससे भी अधिक भयंकर विचित्रिताओं और दुष्टताओं से हमारा परिचय होता है ।

गणिकावृत्ति में फँसी हुई स्त्रियों की अपेक्षा उनकी इस व्यवसाय में योजना करने वाले ये दलाल और उनकी संघटनाएँ ही अधिक भयावह और तिरस्करणीय हैं । विषवृक्ष ये लोग बोते हैं — उसका फल गणिकाएँ भुगतती हैं । गणिकाओं के दिये हुए उत्तरों में प्राय: यही दिखाई देता है कि उन्हें या तो किसी पुरुष ने फुसलाया, या किसी ने उनपर अत्याचार करके, दर-दर की ठोकरें खाने के लिए, भाग्य के भरोसे छोड़ दिया । कभी-कभी, देवताओं की साक्षी में स्त्री का हाथ पकड़ कर उसकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा करने

वाला पति ही उसे गणिकावृत्ति करने को बाध्य करता है और कभी माता-पिता के पवित्र पद पर आसीन व्यक्ति ही अपनी पुत्रियों को इस मार्ग पर प्रेरित करते हैं। कभी-कभी स्त्री खुद ही इस पेशे को स्वीकार करती है, इतना ही नहीं, अन्य स्त्रियों को ललचा कर इस व्यवसाय में प्रवृत्त करती हैं।

कारखानों और दफ्तरों में काम करने वाली स्त्रियों को अत्यंत कम आय के बदले में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इसी कारण से वे गणिकावृत्ति करने के लिए प्रेरित होती हैं। करोड़ों रुपयों का मुनाफा करने वाले उद्योगपति अपने करोड़ों में से कुछ लाख का मोह छोड़ दें, तो श्रमजीवी महिलाएँ वेश्यावृत्ति के पातक से बच सकती हैं। परंतु इस अर्थ-प्रधान युग में धनपति लोग अपना नैतिक उत्तरदायित्व समझेंगे, ऐसी आशा नहीं। अपना लाभ छोड़कर, पूरे समाज के लाभकर्ता हों, ऐसे मार्ग अपनाने की मूर्खता व्यापारी मनोवृत्ति वाले लोग शायद ही करें। आज तो बड़े-बड़े राष्ट्रों की व्यवस्था भी पूंजीवादी सिद्धान्त पर हो रही है और पूरी समाजरचना दिनोंदिन अधिकाधिक अर्थप्रधान बनती जा रही है। धन से ही संसार के सब सुख प्राप्त किए जा सकते हैं, ऐसा विश्वास रखने वाले व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जब तक धन का महत्व घटा कर उसे केवल व्यवहार के एक साधान या विनिमय के एक माध्यम के रूप में स्वीकृत नहीं करेंगे, तब तक धन की पूजा बंद नहीं होगी। परंतु आज का व्यापार-उद्योग, आज की राजनीति, आज के युद्ध और आज की गणिकावृत्ति इस धनपूजा को ही ध्येय मान कर चल रहे हैं। आदर्शवाद की कमजोर सी लहर कभी-कभी उठती भी है तो वह इस धनपूजा के भीषण अंधड़ में विलुप्त हो जाती है; और मंजे हुए खिलाड़ी तो इस लहर पर भी सवार होकर, आदर्शनीति और अन्य उच्च भावनाओं को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बना लेते हैं।

धन की इतनी प्रतिष्ठा, साधन-शुचिता की परवाह न करते हुए सिद्धि का मोह एवं अर्थप्रधान समाजव्यवस्था के फैलाये हुए ये व्यापार-उद्योग के प्रपंच जब तक नष्ट नहीं होते, तब तक गणिकावृत्ति भी नष्ट होती दिखाई नहीं देती। आज की इस जीवित गणिकावृत्ति को अधिक निकट से देखना होगा। यह दृश्य अत्यंत भयावह है, परंतु समाजशास्त्र के अध्येताओं को इसके निकट से दर्शन करने ही पड़ेंगे। प्राचीन युगों का अध्ययन हम कर चुके हैं। अब हमें इसके वर्तमान पहलुओं पर विचार करना है। इसके लिए पश्चिम की वर्तमान गणिकावृत्ति के तत्वों का हमें विस्तृत अध्ययन करना होगा।

वर्तमान विश्वयुद्ध ने हमारे जीवन को हर तरह से प्रभावित किया है। आज के हमारे जीवन में यह युद्ध सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व बन बैठा है। लाखों मनुष्यों के संहार के बीच युद्ध मानों एक मात्र अमर तत्व हो, ऐसा लगने लगा है। साथ ही, यह युद्ध सत्य और न्याय के लिए लड़ा जा रहा है, ऐसा प्रलाप भी दोनों पक्षों द्वारा रातदिन किया जा रहा है। पश्चिम की संस्कृति ने पचीस वर्षों के दरमियान दो विश्वयुद्धों की देन मनुष्यजाति को दी है। आगामी परिच्छेदों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि युद्ध मानवजाति के यौन-आचारों को कितना भ्रष्ट और पतित बना देता है।







आठवाँ परिच्छेद
युद्ध और गणिकावृत्ति

१

मृत्यु में से अमरत्व प्राप्त करने के मानव-प्रयत्न

यौन-आकर्षण का मनुष्य ने कहाँ-कहाँ, किन-किन उद्देश्यों से और किस-किस ढंग से उपयोग किया है, इसका आश्चर्यजनक इतिहास हम देख चुके हैं । परंतु इस आकर्षण के इससे भी अधिक आश्चर्यकारक उपयोग हो चुके हैं और हो रहे हैं । इस सत्य से इस प्रश्न की विकटता का कुछ अंदाज लग सकता है ।

पतित अवस्था ने समाज में प्रवेश करने के अनेक द्वार ढूंढ रखे हैं । साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप धारण करके उसने मानो प्राचीन युग की गुलामी की प्रथा से स्पर्धा शुरू की है । परंतु अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति और युद्ध जैसे संहारक प्रसंगों में भी गणिकावृत्ति का जो उपयोग किया जाता है, वह उसके यश की विजयपताका सिद्ध होती है । अनादि काल से युद्धों ने गणिकावृत्ति की इस विजयपताका को सदा फहराती रखा है ।

पश्चिमी जगत में एक व्यवहार-सूत्र है: "युद्ध में और प्रेम में सब कुछ जायज है।" (Every thing is fair in love and war.) प्रेम के क्षेत्र में प्रयुक्त असत्य की न्यायता का हम विचार नहीं करेंगे । परंतु युद्ध में न्याय का क्या स्थान होना चाहिये, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है । युद्ध के भी कुछ नीति-नियम होते हैं, और होने चाहिये । परंतु युद्धकर्ताओं का यह कथन कि, "युद्ध में सबसे पहली आहुति सत्य की ही पड़ती है ।" (Truth is the first causality in war), युद्ध की नैतिकता के संबंध में गहरी अश्रद्धा उत्पन्न कर देता है । उन्नीसवीं शताब्दी तक तो फिर भी युद्धों में थोड़ा बहुत नैतिक तत्व बचा था । परंतु बीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्धशतक में युद्ध की जो नयी परंपरा चली, उसमें तो युद्ध विषयक प्राथमिक नीति-नियमों का पालन भी नहीं किया गया । युद्ध के दुष्परिणाम पहले से भी हजारों गुने भयानक हो गये, परंतु युद्ध के परिणाम स्वरूप मनुष्य-जाति में शांति की स्थापना होती हो, ऐसा दिखाई नहीं दिया । युद्ध के अंत में सत्य और धर्म की विजय तो बिलकुल नहीं होती । युद्ध के बहाने के रूप में न्याय, सत्य और लोकशासन की विजय के नारे अवश्य लगाये जाते हैं, परंतु अंत में वे भ्रामक ही सिद्ध होते हैं । श्रद्धालुओं की श्रद्धा बनाये रखने के लिए ईश्वर के नाम का उपयोग भी डट कर किया जाता है । परंतु अब धीरे-धीरे सबका विश्वास होता जा रहा है कि यह एक अत्यंत भयानक और भ्रामक असत्य है । युद्ध के दरमियान और युद्ध के बाद, स्वार्थ और धोखेबाजी परमार्थ और सत्य का ऐसा स्वांग धारण करते हैं कि साधारण मनुष्य किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है । उसकी श्रद्धा की बुनियाद इस हद तक हिल जाती है कि मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में से किसी की हार या किसी की जीत से उसे कोई दुखसुख नहीं होता । आनंद केवल युद्ध समाप्त होकर शांति स्थापित होने पर होता है जब युद्ध के रातदिन के असत्य प्रचारों से थका हुआ मन कुछ राहत अनुभव करता है । वर्तमान विश्वयुद्ध के प्रति कम से कम भारतवासियों की तो यही वृत्ति रही है ।

इसी परिस्थिति के कारण यूरोप के हर देश में युद्ध की निरर्थकता में दृढ विश्वास रखने वाले शांतिवादियों का बड़ा वर्ग उत्पन्न होता जा रहा है । अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, अंतर्राष्ट्रीय पुलिस, राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण, सेना की संख्या में कटौती, युद्ध का निषेध, अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण मार्गों से निपटारा, और अंत में विश्वराज्य की स्थापना आदि तत्वों को भी अधिकाधिक मान्यता मिलती जा रही है । आनंद की बात यह है कि विगत दोनों महायुद्धों में भाग लेनेवाली प्रजाओं ने भी इन सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त किया है ।

यह संतोष की बात है । मानव प्रगति के इतिहास की अनेक विचित्रताओं और परस्पर विरोधी परिस्थितियों में एक विचित्रता यह भी है कि विनाशक युद्ध करने वाली प्रजाएँ भी आदर्श के रूप में तो लोकशासन और विश्वशांति के ही नारे बुलंद करती रहती हैं ।

२
गाँधीजी की अहिंसा

इन दो विचारधाराओं के उपरांत एक तीसरा प्रवाह गाँधीजी के अहिंसा-असहयोग के विचारों के रूप में हमारे भारत में बह रहा है । अहिंसा की बुनियाद है प्रेम । विरोधी के साथ युद्ध या मारकाट नहीं बल्कि प्रभावशाली असहयोग द्वारा उसका प्रेम संपादन करना गाँधीजी के मार्ग का मूल तत्व है । युद्ध की भाषा में इस असहयोग की व्याख्या करनी हो, तो कुछ अटपटी शब्दावली का प्रयोग करना पड़ेगा । शत्रुत्व का भाव न रखकर, शस्त्रेतर साधनों द्वारा, किसी को जरा सा भी शारीरिक कष्ट दिए बिना, केवल अपनी सच्चाई और ईमानदारी का सबको विश्वास दिलाकर प्रेम पर आधारित व्यूह रचना द्वारा विरोधियों को अपने मार्ग पर लाने का प्रयत्न असहयोग कहलाता है ।



अहिंसा और असहयोग के तत्वज्ञान की व्याख्या करने का यहां प्रयोजन नहीं है । भारत के पिछले पचीस वर्षों का इतिहास उसकी सफलता या निष्फलता की गवाही देता है । उसे संपूर्ण सफलता तो शायद नहीं मिली ; परंतु इस प्रयोग से जन्म लेनेवाले दो सिद्धान्त हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं :—

१. विश्व में शांति की स्थापना करनी हो, तो मूर्तिमान अशांति जैसी हिंसा का आश्रय लिया ही नहीं जा सकता । व्यक्ति द्वारा नहीं, समाज द्वारा नहीं, और राष्ट्र द्वारा भी नहीं । युद्ध हिंसा का उग्रतम स्वरूप है ; अत : युद्ध का निर्मूलन होना ही चाहिये । युद्ध या पशुबल के अन्य किसी भी प्रकार की सहायता से प्राप्त विजय सत्य की या न्याय की विजय नहीं कही जा सकती ।

२. हिंसा और युद्ध से उत्पन्न सब परिणाम भ्रामक, मिथ्या और निष्फल सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार मनुष्यजाति की वीरता को अहिंसा और असहयोग ने एक नया मोड़ दिया । विरोधियों का हृदय परिवर्तन न हो, तो सत्याग्रही की अहिंसा या ईमानदारी में ही कोई दोष होना चाहिये, इस सिद्धान्त पर

बीसवीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय सहकार के तीन प्रयत्न हो चुके है :—

१. हेग कॉन्फरन्स ।

२. लीग ऑफ नेशन्स ।

३. ॲटलांटिक चार्टर (सान्फ्रॅन्सिस्को परिषद के फल स्वरूप, विश्वशांति की और मानव के मूलभूत, अधिकारों की घोषणा करने वाला अधिकार-पत्र) । *

* प्रस्तुत ग्रंथ के रचनाकाल तक संयुक्त राष्ट्र-संघ (यू. एन. ओ.) की स्थापना नहीं हुई थी ।

शांति की स्थापना का एक देशमर्यादित प्रयत्न रूस में भी हो रहा है । रूस की विचारधारा से प्रभावित मानस वाले साम्यवादियों को विश्व की वर्तमान अर्थव्यवस्था के प्रति गहरी घृणा हो गई है और उसे जड़मूल से उखाड़ फेंक कर नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न में इनकी शक्तियां लगी हुई हैं । इस विचारधारा के अनुसार देश की कृषि, खनिज साधन-संपत्ति, बड़े और भारी उद्योग, यातायात आदि को व्यक्ति के स्वार्थक्षेत्र से बाहर निकाल कर राष्ट्र की सार्वजनिक सत्ता के अंतर्गत लाया जा रहा है जिससे प्रजा के निम्नतम वर्गों की आवश्यकताएं पूरी हो सकें और खनिज-संपत्ति का न्यायसंगत वितरण हो सके । रूस में इस विचारसरणी के अनुसार योजनाएं सन १९१७ से चल रही हैं । विश्वशांति की स्थापना इस विचारधारा का अंतिम उद्देश्य बनाया जाता है और वहां के कार्यकर्त्ताओं का विश्वास है कि धीरे-धीरे पूरी मनुष्यजाति को इस प्रकार की कोई न कोई योजना माननी पड़ेगी ।

सन १९१८ में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ तब पश्चिम के राष्ट्रों को चिंता हुई कि रूस की विचार प्रणाली बहुत शीघ्र जगत्‌मान्य हो जायेगी । अर्थप्रधान विचारधारा से प्रभावित व्यक्तियों ने इन विचारों की आँधी को अपने देश में फैलने से रोकने के भरसक प्रयत्न किये । रूस को परेशानी में डालने के लिए उसका चित्रण एक अधर्मी पिशाच के रूप में किया गया और छोटे-मोटे देशों को उकसा कर रूस के विरुद्ध युद्धों की परंपरा खड़ी की गई । आज जिस जर्मनी और जापान के विरुद्ध पश्चिम के मित्रराष्ट्र शत्रुत्व की भावना रखते हैं, उनसे मित्रता करके एवं बड़े पैमाने पर उनकी आर्थिक सहायता करके उन्हें रूस के विरुद्ध शस्त्र सज्ज करने में भी इन राष्ट्रों ने कोई कसर नहीं छोड़ी । आज विजयी मित्र राष्ट्र पराजित जर्मनी और जापान के अनेक नेताओं पर मुकदमें चला कर उन अप्रिय व्यक्तियों को फाँसी पर लटका सकते हैं । परंतु यह निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है कि हिटलर और उसके नाजीवाद एवं मुसोलिनी और उसके फासिज्म के भयावह अनिष्ट इंग्लैंड-अमरीका के पूंजीपतियों की सहायता से ही उत्पन्न हुए थे । युद्ध के सच्चे अपराधी ढूंढने हों, तो इंग्लैंड-अमरीका के धनपतियों एवं राजनीतिज्ञों में उनकी खोज करनी चाहिये ।

रूस के विरोध में ऐसी प्रचंड शक्तियाँ खड़ी हो जाने पर, उसके सामने युद्ध की तैयारी करने के सिवा और कोई चारा न था । विश्वशांति की स्थापना करने की अपनी विचारधारा को व्यवहार्य सिद्ध करने के लिए भी रूस के लिए अन्य देशों से औद्योगिक एवं सैनिक क्षेत्रों में स्पर्धा करना अनिवार्य था । युद्ध अनिवार्य दिखाई देने लगा, तभी से रूस ने बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारियां शुरू कर दी थीं, जिसका परिणाम आज हम देख सकते हैं । संसार को चकित कर डालने वाली व्यूहरचना द्वारा अंग्रेज-अमरीकनों से भी पहले रूस ने ही शस्त्रसज्ज और अनुशासनबद्ध जर्मनी को सच्चे अर्थों में परास्त किया है ।

रूसी विचार प्रणाली मनुष्यजाति के कल्याण और विश्वशांति को आदर्श मानती हैं । परंतु इस आदर्श की प्राप्ति के लिए यदि हिंसा की आवश्यकता पड़े तो भी उसे कोई आपत्ति नहीं । अत : हिंसावृत्ति और हिंसा द्वारा विरोध को दबा देने की तैयारी उसे सतत जागृत रखनी पड़ती है । विश्वयुद्ध की इस भयानक बेला में भी संसार के शांतिवादी और रूस के साम्यवादी स्थायी शांति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं,

बल देकर एवं निष्फलता से उत्पन्न कटुता या वैर-भावना का शमन अहिंसा में ढूढकर, राजनैतिक क्षेत्र में गाँधीजी ने युद्ध की एक वैकल्पिक व्यूह योजना संसार के समक्ष प्रस्तुत की । उसकी सफलता या निष्फलता से हमारा संबंध नहीं । परंतु विश्वशांति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील मनुष्यजाति ने विकसित किये हुए तीन मार्गों में अहिंसा और असहयोग का भी स्थान है, यह निर्देश करना ही यहाँ हमारा हेतु है । दोहरा कर कहें, तो तीन मार्ग है :— १. युद्धविरोधी शांतिवादियों की अंतर्राष्ट्रीय एकता की भावना । २. रूस का साम्यवाद और ३. गाँधीजी का अहिंसक असहयोग ।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद संसार में यह भावना अब तक प्रचलित है कि युद्ध के बिना मनुष्यजाति के बहुत बड़े भाग को स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकती है ? पृथ्वी गोल है, और दो प्रकार की गतियों से घूमती रहती है, इस प्राथमिक सत्य को भी मनुष्यजाति द्वारा स्वीकृत-होने में बहुत लंबा समय लगा था । इसी प्रकार, युद्ध की निरर्थकता स्थापित हो जाने पर भी, युद्ध के बिना सिद्धि मिल ही नहीं सकती ऐसी भावना और पूंजीपतियों के स्वार्थ की खातिर रचे जानेवाले आर्थिक और राजनीतिक षडयंत्र युद्ध को अब तक जीवित रख रहे हैं । इन युद्धों में करोड़ों मनुष्यों का संहार होता है, प्रजा की समृद्धि नष्ट भ्रष्ट हो जाती है, बड़े-बड़े राष्ट्रों का नामोनिशान मिट जाता है और व्यवस्थित जीवन की नीवें डगमगा उठती हैं । जिनका युद्ध से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं, ऐसे निर्दोष प्रजाजनों को भी उसके भंवर में फँसना पड़ता है । और इतना भयानक विनाश होकर भी, युद्ध के परिणामरूप तो कुलजमा शून्य ही बचता है, यह अनुभवसिद्ध बात है । ब्लेनहीम की विजय से क्या प्राप्त हुआ, यह बात एक बालक की समझ में नहीं आई । वह बार-बार अपने पिता से युद्ध का रहस्य पूछने लगा । पिता के उत्तर से बालक का समाधान नहीं हुआ क्योंकि पिता एक ही बात को बार-बार दोहरा देता था कि, "कुछ भी हो, विजय महान थी । (But it was a great Victory!)" विजय क्यों [illegible] थी, यह कोई नहीं जानता ।

३

युद्ध में होने वाला सत्य और नीति का संहार

युद्ध में सत्य का संहार होता है, यह हम देख चुके हैं । युद्ध के प्रचार का मुख्य स्वर यही होता है कि शत्रु राक्षस है, और इस राक्षस से लड़ने वाले हम सब देवता हैं । दुश्मन की क्रूर, निर्दय, नमकहराम, गुंडे, निर्माल्य और दुष्ट आदि विशेषणों से सराहना की जाती है जबकि हम और हमारे मित्रपक्ष के लोग खानदानी सत्पुरुष होने के कारण इन सब बुराइयों से मुक्त हैं, ऐसा ध्वन्यार्थ युद्धकालीन प्रचार से सदा निकलता रहता है । युद्ध के दौरान में शत्रु की ही जनहानि अधिक होती है और उन्हीं के जहाज अधिक डूबते हैं । दुश्मन यदि विजय प्राप्त करके आगे बढ़ता है, तो इसे उसका मूर्खताभरा दुस्साहस माना जाता है ; जबकि अपनी पराजय और पीछे हटने की मजबूरी को बहादुरी भरी दूरदर्शिता सिद्ध किया जाता है । ये चीखपुकार युद्धकाल में सदा सुनाई देती रहती है मानों दोनों पक्षों में झूठ बोलने की होड़ लगी हो ।

इस प्रकार युद्ध के कारण असत्य का प्रपात अस्खलित बहता रहता है । अपनी पराजय को छिपाने के लिए सत्य पर आवरण डालना पड़ता है, इतना ही नहीं बल्कि विजय की कामना करने वाला प्रजामानस निराश या उदासीन न हो जाय इस लिए पराजय को विजय प्रमाणित करने की चालाकी भी करनी पड़ती है । इस कारण से असत्य के साथ-साथ पाखंड और दंभ भी युद्ध के नित्य परिणाम बन जाते हैं ।

असत्य की बात जाने दें, और सदा अपना पक्ष ही सच्चा और विजयी होता है, इस दंभ को भी क्षम्य मान लें, तो भी युद्ध सदा अनीति-प्रेरक, अनीति-पोषक और अनीतिवर्धक है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता । अनीति के अन्य प्रकारों की यहाँ चर्चा नहीं करेंगे । परंतु यौन-अनाचार युद्ध का असत्य

के जितना ही भयावह परिणाम है, इस बात को युद्ध के हिमायती जितनी जल्दी समझ लें, उतना ही अच्छा है। युद्ध और गणिकावृत्ति का प्रगाढ़ संबंध किस प्रकार स्थापित होता है, यह समझने के लिए हमें युद्ध को मनुष्यजाति की एक अनिष्ट प्रवृत्ति के रूप में देखना पड़ेगा । सामान्यत: वेश्यागृहों, स्नानगृहों, नाट्यगृहों, उपाहारगृहों और होटलों में चलने वाली गणिकावृत्ति से ही हम परिचित होते हैं । परंतु युद्ध के दौरान में गणिकावृत्ति अनेक नये-नये रूप धारण करके सामाजजीवन के विभिन्न विभागों में विकसित होती है । इन नयें रूपों में गणिकावृत्ति की युद्ध से भी अनेक गुनी प्रचंड संहारकशक्ति को देखकर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं । युद्धरूपी रौद्र और भयानक रस के विध्वंसक तांडव के बीच कामदेव की मधुर बाँसुरी की तान सचमुच ही अद्भुत कही जानी चाहिये । वीरता और प्रेम का घनिष्ठ संबंध होता है, यह तो सर्वमान्य बात है । परंतु वीरता को टिकाये रखने के लिए प्रेम नहीं बल्कि प्रेमभावना की भीषणतम विडंबना जैसी युद्धकालीन वारांगनाओं को सैनिकों के चारों ओर मंडराती देखकर वीरता का मरसिया गाने को ही जी चाहता है । हमें आश्चर्य चाहे जितना हो, परंतु है यह निर्विवाद सत्य । इससे भी बड़ा अचरज यह है कि सैन्यों के आसपास बंसी बजाने के लिए भगवान पुष्पधन्वा को खुद सरकार नियुक्त करती है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध भी गणिका वृत्ति करनेवाली संस्था है । गणिकावृत्ति का नाश करना हो, या उसे नियंत्रित करके उसकी व्यापकता कम करनी हो, तो अन्य अनेक संस्थाओं के समान युद्ध संस्था के स्वरूप को भी आमूल बदलने की आवश्यकता है । मनुष्यजाति की लोभवृत्ति, स्वार्थ और पाप एक ओर जहाँ गणिकावृत्ति में फलित होते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे युद्ध जैसी निष्फल संहारलीला में परिणत होते हैं । पतितावस्था और युद्ध शायद एक ही विषवल्लरी के दो पुष्प हैं । युद्ध काल में ये दोनों जहरीली शक्तियाँ एकत्र हो जाती हैं ।

गीता में अर्जुन युद्ध के एक दुष्परिणाम के रूप में स्त्रियों के दुराचार का उल्लेख करके वर्णसंकरता का भय व्यक्त करता है:

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रिय: ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकर: ।।

युद्ध के एक भयावह दुष्परिणाम के रूप में कुलीन स्त्रियों का पतन अत्यंत प्राचीन काल से विचारकों को चिंतित करता रहा है । युद्ध को वीरत्व के रंग में रंग कर उसके अनाचार की ओर किसी का ध्यान



आकर्षित न हो. इसके प्रयत्न भी उतने ही प्राचीन काल से होते आये हैं । परंतु अब युद्ध और वेश्यावृत्ति का सत्य स्वरूप और उनका पारस्परिक संबंध स्पष्ट होता जा रहा है । हम इस संबंध पर संक्षेप में विचार कर लें ।

सैनिकों का वेश्याओं से समागम युद्ध के मैदान में भी होता रहता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहास में बिखरे हुए हैं । जंगली कही जाने वाली प्राचीन जातियों के युद्धों में पराजित शत्रु की संपत्ति को लूटना एवं उनकी स्त्रियों को शीलभ्रष्ट करना साधारण बात मानी जाती थी । मानव संस्कृति की इतनी प्रगति के बाद आज के युद्धों में भी इस परिस्थिति में विशेष अंतर नहीं पड़ा है । पूर्व-मध्यकाल में विकसित युद्धसंबंधी शौर्यनीति में बालकों, वृद्धों और स्त्रियों को परेशान न करना प्रधान सिद्धान्त माना जाता था । परंतु आज के युग में अन्य सिद्धान्तों के समान इन नियमों का भी केवल जबानी जमाखर्च किया जाता है ; उनका पालन आवश्यक नहीं माना जाता । प्राचीन काल में भी युद्ध के पश्चात् पराजित प्रजा की स्त्रियों का शीलभंग करने का रिवाज प्रचलित होगा, और इसीलिए शायद मध्यकाल में उपरोक्त नियम की रचना करनी पड़ी होगी ।

ईसाइयों के धर्मस्थान मुसलमानों ने जीत लिए थे । अत : यूरोप के ईसाई राष्ट्रों ने शताब्दियों तक मुसलमानों के विरुद्ध धर्मयुद्धों की परंपरा जारी रखी थी । इन युद्धों में इस्लाम और ईसाई धर्म के संघर्ष का पूरा इतिहास समाया हुआ है । इन धर्मयुद्धों का वर्णन करते हुए एक अरबी इतिहासकार कहता है, ''तीन सौ सुंदरियों को एक जहाज में भरकर ईसाई सैनिकों के मनोरंजनार्थ रणक्षेत्र में भेजा गया ।इन वारांगनाओं ने सैनिकों के मनोरंजन का कार्य बड़ी ईमानदारी से किया । उनके वापस चले जाने पर यूरोपीय सैनिकों ने युद्ध करने से इन्कार कर दिया ।

ब्रहमचारी ईसा के पवित्र धामों को पुन : प्राप्त करने के लिए युद्ध करने वाले ईसा के अनुयायी वासनापूर्ति की सुविधा को अपनी सेवाओं की प्रथम शर्त के रूप में मंजूर करवायें, और उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित करने वाले सत्ताधीश उनकी वासनापूर्ति के लिए वारांगनाओं को युद्धक्षेत्र में भेजने को राजी हों, इस से बढ़कर धर्मभावना की विडंबना और क्या होगी । युद्ध और गणिकावृत्ति का यह संबंध उस युग से लगाकर आज तक चलता आ रहा है । मध्ययुग के ईसाई सैन्य जहाँ जहाँ मुकाम करते थे, वहाँ की स्त्रियों पर पाशविक अत्याचार करते थे । मध्ययुग का पूरा इतिहास उनके इन कारनामों से भरा पड़ा है ।

प्राचीन काल में स्त्रियों की खातिर महा भयानक युद्ध हुए हैं । धर्म के अंजन से मुक्त आँखों को इस प्रकार के युद्धों में यौन आकर्षण के ही दर्शन हों, तो आश्चर्य नहीं । शास्त्रीय अध्ययन किसी भी प्रश्न को रंगीन चश्मों से नहीं देखता । सीताहरण से जन्म लेने वाली रामायण, द्रौपदी के अपमान का बदला लेने को लड़े गये युद्धों का इतिहास रूप महाभारत एवं यूनान की रूपसी हेलन को प्राप्त करने के लिए भभक उठने वाले युद्ध पर आधारित इलियड, इन तीनों महान काव्यों की बुनियाद स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण पर ही रची गई है । युद्ध और यौन भावना के संबंध का यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रकार है ।



यूरोप के अधिकांश युद्धों के इतिहास में इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि वारांगनाओं के झुंड सैन्य के नियमित दस्तों की तरह सेना के साथ साथ ही चलते थे । ये सब स्त्रियाँ खुल्लमखुल्ला वेश्याओं



के रूप में स्वीकृत नहीं होती थी । परंतु बहाना कुछ भी क्यों न हो, सैनिकों की छावनियों के आसपास घूमने वाली स्त्रियों का एकमात्र पेशा सैनिकों की वासना संतुष्ट करना ही होता है । अत : सैनिकों को मिलने वाले वेतन और लूट के हिस्से के अधिकांश का विनियोग युद्धभूमि के इर्दगिर्द घूमने वाली इन रूपजीवाओं के आलिंगन में ही होता था ।

४
प्रथम विश्वयुद्ध और नैतिकता

अब हम और भी समीप के कालखंड का विचार करें । सन १९१४ से १९१८ तक चलने वाले विश्वयुद्ध का "युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देने वाले युद्ध" के रूप में प्रचार किया गया था । इस युद्ध में मित्रराष्ट्रों को विजय प्राप्त होते ही, संसार में और कोई युद्ध कभी नहीं होगा, ऐसी डींग उस समय हाँकी गई थीं । परंतु इस शेखी के बावजूद भी युद्ध तो नष्ट नहीं हुआ । उस पुनीत युद्ध में बड़ी संख्या में सैनिकों को नये-नये प्रदेशों में लड़ने के लिए भेजना आवश्यक था । परंतु पुरुषों का इतनी बड़ी संख्या में स्थानांतर उसी परिमाण में स्त्रियों के स्थानांतर की अपेक्षा रखता है । फलस्वरूप, युद्ध की घोषणा होने के एक सप्ताह के भीतर ही यूरोप भर में गणिकागृहों की संख्या बहुत बढ़ गई और वेश्याओं के अलावा छिपकर पेशा करनेवाली खानगी गणिकाओं के झुंड भी युद्धक्षेत्रों की ओर अग्रसर होने लगे मानो युद्ध के कारण गणिकावृत्ति में एकाएक बाढ़ आ गई हो !

युद्ध का आवेश प्रजाजीवन के सर्वांग को अस्थिर कर देता है और मनुष्य की भावुकता प्रक्षुब्ध हो उठती है । शांति के सामान्य काल में गणिकावृत्ति फिर भी मर्यादित रहती है । अविवाहित पुरुष या घर में संतुष्ट न होने वाली कामवृत्त का शमन चाहने वाले पुरुष ही गणिकागमन की जरूरत महसूस करते हैं । परंतु युद्ध काल में तो गणिकावृत्ति दोलायमान प्रजाजीवन के सब अंगों को स्पर्श करने लगती है । यौन आर्कषण नितांत अनिवार्य है अत : उसे संतुष्ट करना ही चाहिये, यह मान्यता युद्धकाल में अत्यंत प्रबल हो उठती है जिसके फलस्वरूप गणिकावृत्ति भी उतनी ही व्यापक और उतनी ही अनिवार्य हो जाती है ।

फ्रान्स के युद्ध के संबंध में वहाँ की एक लेखिका मार्था बिगोट लिखती है, "युद्धकालीन फ्रान्स में गणिकावृत्ति एक सरकारी विभाग का रूप धारण कर चुकी है । मनुष्य के नागरिक अधिकारों का जन्मदाता फ्रान्स आज एक भयानक सामाजिक रोग और गुलामी और अवशेष जैसी प्रथा का तिरस्करणीय केन्द्रस्थान बन गया है । युद्ध के संचालक मानते हैं कि स्त्री-सहवास के लिए सैनिकों के मार्ग में अड़चने खड़ी की गईं, तो वे मन लगाकर युद्ध नहीं करेंगे । अत : इस को कानूनन मान्य रखना पड़ा है और सरकार उस पर केवल स्वास्थ्यरक्षा के लिए आवश्यक हो उतना ही नियंत्रण रखती है । सैनिक व्यवस्था एक अत्यंत नियमबद्ध और सुव्यवस्थित अनुशासन प्रणाली है । अत : युद्ध में अंतिम विजय प्राप्त करने के लिए वेश्याओं और वेश्यागृहों की आवश्यकता हो, तो उसकी व्यवस्था भी कठोर अनुशासन से की जाती है । फ्रान्स में तो सैनिक अफसरों ने खुद ही इन युद्धक्षेत्रीय वेश्यागृहों की व्यवस्था अपने जिम्मे ले ली है ।"

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनों के आक्रमण से जो शहर बच गये थे, उनमें भी वेश्यालयों की संख्या बड़ी रफ्तार से बढ़ी । भोजनालयों और उपाहारगृहों के बहाने वेश्यागृह चलाने वाली कुट्टिनियों को सरकार की ओर से सब प्रकार की सहायता मिलती थी । वेश्याओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने के लिए खुलेआम सैनिक परवाने दिए जाते थे । इतना ही नहीं, वेश्याओं की सतत पूर्ति होती रहे इस काम में भी सरकार इन स्त्रियों की हर तरह से सहायता करती थी । शराब, तम्बाकू और व्यसन के अन्य साधनों की तरह युद्धरत सैनिकों के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध करने की जिम्मेदारी भी सरकार का परम

आवश्यक कर्तव्य माना गया था । फ्रान्स के सैनिक सर्वाधिकारी क्लेमेन्शॉं के एक फरमान में स्पष्ट आदेश दिया गया था कि ''जहाँ गणिकाओं के रहने की सुविधा न हो, वहाँ छोटे छोटे कमरे बनवा कर उनके रहने की योग्य व्यवस्था की जानी चाहिये । यदि इस काम में ठेकेदारी पद्धति से सुविधा होती हो, तो इस प्रकार के गणिकागृहों को व्यवस्थित ढंग से चलाने के ठेका भी इस कार्य के अनुभवी लोगों को दिया जा सकता है ।''

इसी युद्ध के इतिहास में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख है कि पूर्व के और पश्चिम के, दोनों मोरचों पर सरकारी नियन्त्रण में गणिकागृहों के देखभाल की जाती थी । कई शहरों में तो मोहल्ले के मोहल्ले और विस्तृत उपनगर केवल गणिकाओं से भरे हुए थे । जहाँ गणिकागृहों की सुविधा पहले से ही प्राप्त थी, वहाँ उनका विस्तार करने की योजनाएँ बनाई गई और सरकार द्वारा नियुक्त दलाल चारों ओर से ढूंढ-ढूंढ कर वेश्यावृत्ति करने वाली युवतियों की भरती इन आवासों में करने लगे । अकसर इन दलालों को इतनी स्त्रियाँ मिल जाती थीं, कि उन्हें विशेष खोज करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । इन दलालों का और गणिकागृहों के ठेकेदारों का पेशा अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुआ । इनमें से अनेक दलाल युद्ध समाप्त होने पर प्रचुर धन कमा कर निवृत्त हुए । जवीनभर के लिए संपत्ति संचय करने के उपरांत ये साहसी लोग युद्ध में सहायता पहुँचाने वाले प्रतिष्ठित नागरिकों के रूप में समाज का नेतृत्व भी प्राप्त कर सके । इनमें से अनेक ने युद्धकाल में प्राप्त किए हुए गणिकावृत्ति संबंधी अनुभव से बाद में भी बहुत लाभ उठाया । आज भी यूरोप के बड़े शहरों में चलने वाले अनाचार के अखाड़ों में, युद्ध में सहायता पहुँचाने वाले इन देशभक्त नागरिकों का बड़ा दबदबा है ।

युद्ध भूमि पर संचालित एक गणिकागृह का वर्णन यहाँ उपयोगी सिद्ध हो सकता है । आमिन्स्क नगर के पास सरकारी परवाने से चलने वाला एक वेश्यालय था । इस गृह का संचालन करने वाली एक चालीस वर्ष की स्त्री थी जो देखने में बिलकुल बुढ़िया लगती थी । गणिकागृह का कार्यक्रम इस प्रकार था : गणिका युवतियाँ सुबह आठ बजे उठती थीं और साढ़े आठ बजे तक तैयार होकर बाहरी कक्ष में हाजिर हो जाती थीं । साढ़े आठ बजने से पहले ही आसपास की छावनियों में से ब्रिटिश सैनिकों के झुंड के झुंड वेश्यालय में दाखिल हो जाते थे । एक एक करके सैनिकों को पसंदगी के कमरे में लाया जाता था । गणिकागृह में रहने वाली पंद्रह युवतियों में से किसी एक को पसंद करके, और निश्चित रकम संचालिका स्त्री को देकर, सैनिक अपनी पसंद की युवती के साथ ऊपरी मंजिल के कमरों में चले जाते थे । सैनिक इन युवतियों को वैयक्तिक भेंट-सौगात भी देते थे । शाम को आठ बजे तक यह क्रम चलता रहता था । सैनिकों के लिए रात को गणिकागृह में रहने पर प्रतिबंध था । आठ बजे के बाद ये युवतियाँ भोजन करती थीं और उसके बाद चिट्ठी-पत्री लिखती थी या ताश खेलती रहती थीं । रोज का यही कार्यक्रम था । युद्ध के दरमियान थोड़े थोड़े समय के लिए आराम करने को सैनिकों के दस्ते इस छावनी में आते रहते थे; अत: गणिकागृह को ग्राहकों की कमी कभी नहीं पड़ती थी । गृह की संचालिका और गणिका युवतियों को इस व्यवसाय से बहुत अच्छी आय होती थी । युद्ध कार्य में अपनी सेवाएँ अर्पण करने वाली ये युवतियाँ बाद में इस जीवन से अभ्यस्त होकर इसी में सुविधा अनुभव करती हैं । युद्ध की समाप्ति के बाद भी इस पेशे का अनुभव उनकी सहायता करता है । सैनिकों का मनोरंजन करके युद्धकार्य में सहायता पहुँचाने वाली ये गणिकाएँ देशभक्तिपूर्ण महान राष्ट्रकार्य करती हैं, ऐसी भी कुछ लोगों की मान्यता होती है । यह भावना सही हो या गलत, इतना तो मानना ही होगा कि इन वेश्याओं का काम अत्यंत परिश्रमपूर्ण रहा होगा । एक साथ बहुत से सैनिक एकत्र हो गये हों, तो कभी कभी इन्हें साठ से अस्सी पुरुषों को संतुष्ट करना पड़ता था, और तीस से चालीस समागम तो सामान्य नित्यक्रम में शुमार थे ।

युद्धजन्य गणिकावृत्ति के नियमन पर प्रकाश डालने वाला एक सेनापति का आदेश यहाँ उल्लेखनीय है : ''कई दस्तों के सैनिक गणिकागृहों में बहुत अधिक समय लगाते हैं जिससे दूसरों को इन गृहों से लाभ उठाने में अड़चन पड़ती है । इस प्रकार की गई शिकायतें आ चुकी हैं । सैनिकों की आवश्यकतानुसार

पर्याप्त संख्या में गणिकाएँ उपलब्ध करने के हर प्रयत्न सरकार और सेना के अधिकारियों द्वारा किए जा रहे हैं । परंतु गणिकागृहों में गणिकाओं की संख्या पर्याप्त न हो, तब तक के लिए सैनिकों को सूचना दी जाती है कि वे इन गृहों में अधिक समय तक न रहें बल्कि इस आनंददायक कार्य को यथासंभव शीघ्र पूरा करके अपने अन्य साथियों को भी इस आनंद में सहभागी होने का मौका दें । हमारे वीर सैनिकों से इतने त्याग की आशा हम अवश्य रखते हैं ।"

किसी भी क्षण मृत्यु का मुकाबला करने के लिए सदा तत्पर रहने वाले सैनिक रणक्षेत्र में भी यौन आनंद प्राप्त करने के लिए इतने आतुर और लोलुप हो सकते हैं, यह अत्यंत आश्चर्यजनक बात है । कहा जाता है कि युद्ध उच्च आदर्शों की खातिर लड़े जाते हैं । आदर्शवादी युद्धों में आदर्शों का खुल्लमखुल्ला भंग किस प्रकार होता है, इसका युद्धक्षेत्रीय गणिकावृत्ति उत्तम उदाहरण है । प्रचार कुछ भी किया जाय, सत्य यही है कि युद्ध में मनुष्यजाति के एक भी उच्च आदर्श का पालन नहीं होता ।

यह तो हुई सामान्य सैनिकों के लिए यौन सुख-सुविधाएं उपलब्ध करने की बात । सेना के उच्च अधिकारियों के लिए खास प्रकार की व्यवस्था की जाती है । सामान्य सैनिकों के लिए रात को आठ-नौ बजे बंद हो जाने वाले गणिकागृह अफसरों के लिए रातभर खुले रहते थे । अफसरों को प्राप्त इन विशेष सुविधाओं के कारण कभी कभी अफसरों और सैनिकों में झगड़े भी होते रहते थे । कुछ गणिकागृह सैनिकों और अफसरों, दोनों के लिए खुले रहते थे, जबकि कुछ केवल अफसरों के उपयोग के लिए खुले रहते थे सैनिकों के गणिकागृहों पर लाल रोशनी की जाती थी और अफसरों के गृहों पर नीली । कहीं कहीं अफसरों के विशिष्ट गृहों के बाहर "केवल अफसरों के लिए" लिखी हुई तख्तियां लगी रहती थीं । एक जर्मन सैनिक इस विषय में स्वानुभव का वर्णन करते हुए लिखता है : "अफसरों के लिए सुरक्षित वेश्यालयों में आश्चर्यचकित कर देने वाली यौन विचित्रताओं के दर्शन होते हैं । खिड़कियों में से या दरवाजों की दरारों में से, हम अपने अफसरों की लोलुपता और पशुता के दृश्य देखा करते थे । अत्यंत सामान्य स्त्री की चूमाचाटी करने वाले इन अधिकारियों के प्रति हमारे मन में सम्मान की कोई भावना कैसे उत्पन्न हो सकती थी ?" इस प्रकार के दृश्यों का वर्णन भी घृणाजनक है । परंतु इससे भी अधिक घृणित दृश्य युद्धकाल में देखे जाते हैं और वह भी देशप्रेम, स्वतंत्रता, नीति और आदर्श के नाम पर होने वाले युद्धों में । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसे घृणित साधनों से देश या प्रजा की उन्नति और स्वातंत्र्य या शांति जैसे उच्च साध्यों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?



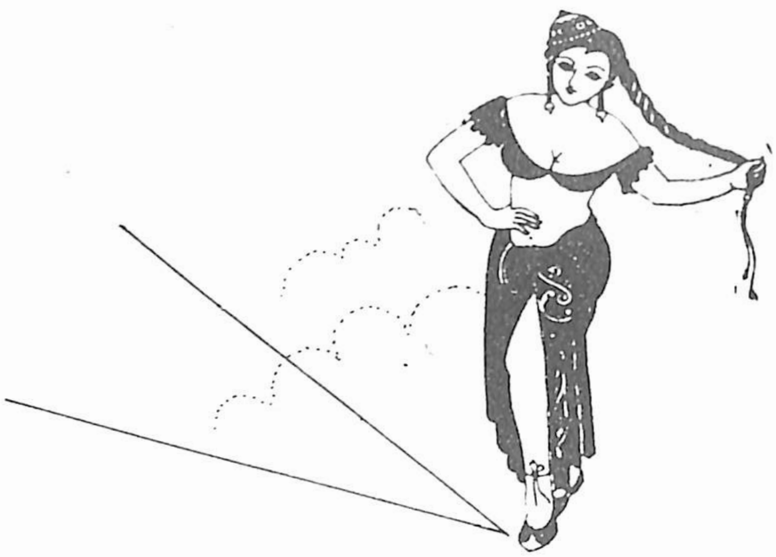
५
युद्ध और गुप्त गणिकावृत्ति

खुलेआम गणिकावृत्ति के साथ साथ युद्धकाल में गुप्त गणिकावृत्ति का भी व्यापक प्रसार होता है। प्रथम विश्वयुद्ध में इसका अत्यधिक प्रचलन हुआ। युद्धकाल में, युद्ध की घोषणा करने वाली प्रजा के नेताओं द्वारा देशभक्ति और देशाभिमान की मृगमरीचिका उत्पन्न की जाती है। मानसिक उत्तेजना प्राय: शारीरिक उत्तेज्ना से अधिक शक्तिशाली होती है और शराब के नशे से भी अधिक प्रबल जोश उत्पन्न करती है। सैनिक की वर्दी पहनकर रणक्षेत्र में जाने वाले हर पुरुष में स्त्रियों को देशरक्षा के लिए जूझने वाले वीर योद्धा के दर्शन होते हैं। मृत्यु की छाया इस योद्धा के सिर पर सदा मंडराती रहती है, इसमें कोई शक नहीं। इस हालत में, "देशहित और स्वातंत्र्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले इन योद्धाओं की थोड़ी देर के लिए देहसुख भोगने दिया जाय, तो बुराई क्या है ? बल्कि इतने भव्य आदर्श के लिए मृत्यु का मुकाबला करने वाले ऐसे किसी वीर की सेवा में दो एक रातों के लिए अपना शरीर अर्पण करना, यह तो प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में न जा सकने वाली स्त्रियों के लिए बडे गौरव की बात होनी चाहिये। स्त्रियाँ और किस प्रकार से इन बहादुरों की सेवा कर सकती हैं ?" इस प्रकार की विचारधारा से ही युद्धकाल में सामाजिक नियम और नैतिक संयम अत्यंत शिथिल हो जाते हैं और कभी कभी तो बिलकुल अदृश्य हो जाते हैं। पूरे समाज में इसी प्रकार की विचार-भूमिका फैल रही हो, तो नैतिक संयमों का पालन होना असंभव हो जाता है। देशभक्ति की इस भ्रामक भावना से प्रेरित होकर वे एक सैनिकों के साथ देहसुख भोग चुकने वाली युवतियों में से गुप्त गणिकावृत्ति का जन्म होता है।

युद्धकाल में विवाहित स्त्रियों को भी अपनो पतियों से अलग रहना पड़ता है। पति की अनुपस्थिति और युद्धकाल का उत्तेजक वातावरण विवाहबंधन को शिथिल करके यौन भावना को सदा उग्र बनाते रहते हैं। लड़ाई में न जा सकने वाले पुरुष प्रलोभन के रूप में सदा सामने होते हैं। और इस प्रकार सामान्यत : प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करने वाली विवाहित स्त्रियाँ भी युद्धकाल में अनाचार का शिकार बन जाती हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में रेल के स्टेशनों पर या पुरुषों की आमदरफ्त के अन्य स्थानों पर इस प्रकार की पतिविहीन विवाहित स्त्रियों के झुंड के झुंड दिखाई देने लगे थे। पुरुष के दर्शन और स्पर्श के लिए लालायित इन स्त्रियों को चाहे तो देशाभिमानी वीरांगनाएँ कहा जा सकता है, और चाहें तो कामलोलुप वारांगना।

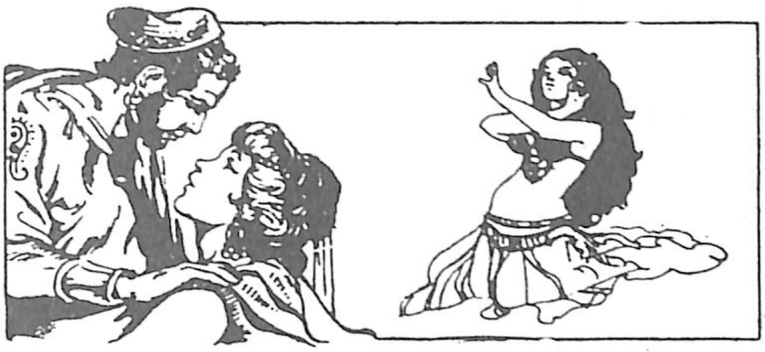
हम इससे भी एक कदम आगे बढ़ें। प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ में ही जर्मनी ने बेल्जियम को जीत लिया था। विजेता सैन्य के एक दस्ते ने किसी गाँव में छावनी डाली। यहाँ के एक किसान की सात पुत्रियाँ थीं जिनमें से सबसे छोटी चौदह वर्ष की थी। देखते देखते यह किसान अत्यंत धनवान हो गया और लोग उसके भाग्य से ईर्ष्या करने लगे। कारण बिलकुल स्पष्ट था। उसकी सातों पुत्रियाँ देहविक्रय से धन कमाने लगी थीं। कई बार युद्ध के बाद पराजित देशों में फैलने वाली गड़बड़ी के कारण गरीबी और भुखमरी फैल जाती हैं। जिन्हें गरीबी का अनुभव न हो, उनके लिए यह अत्यंत कठिन समय होता है। परंतु विजेता सैनिक इन परिवारों की दरिद्रता दूर करने को सदा तत्पर रहते हैं, शर्त सिर्फ एक कि परिवार में युवती लड़कियों की कमी न हो। युद्ध के दौरान में देहार्पण के लिए तत्पर युवतियों को गरीबी का कष्ट प्राय: नहीं भुगतना पड़ता। युद्धजन्य अस्थिरता सामान्य व्यापारधंधों में गड़बड़ी फैलाती है। मजदूर पेशा स्त्रियों में बेकारी फैल जाती है। देशभक्ति और मातृभूमि के प्रेम के नाम पर घोषित होने वाले युद्ध में देश की पराजय होते ही इसी मातृभूमि की कन्याएँ विजेता शत्रु सैनिकों को क्षणार्ध में देह समर्पण कर देती हैं।

आश्चर्य की बात यह है कि कभी कभी विजेता राष्ट्र की युवतियाँ शत्रुपक्ष के पराजित सैनिकों के साथ भी यही व्यवहार करती हैं । वर्तमान युद्ध का ही उदाहरण लें । २८ जुलाई १९४५ के दिन लंदन में प्रकाशित एक समाचार, संवाददाता के खुद के शब्दों में इस प्रकार था : ''विजयी फ्रान्सीसी सैनिकों के साथ फ्रान्स आने वाली जर्मन युवतियों का प्रश्न अधिकारियों को परेशान कर रहा है । युद्ध के आरंभ में फ्रान्स के असंख्य सैनिक और नागरिक कैदियों को जर्मनी में स्थानांतरित किया गया था । अब मित्रराष्ट्रों की विजय हो जाने से वे फ्रान्स वापस आ सकते हैं । परंतु उनके साथ सैंकड़ों की संख्या में जर्मन युवतियाँ भी आ रही हैं, जिनसे वे किसी भी कीमत पर अलग होना नहीं चाहते । सिर्फ जर्मन ही नहीं, ऑस्ट्रियन युवतियाँ भी बड़ी संख्या में फ्रान्स आ रही हैं । एक युवक फ्रान्सीसी कैदी ने कहा, 'मैं जर्मनी की जेलों में इतने वर्ष रहा । पिछले दो वर्षों से मेरा एक जर्मन युवती से प्रेम हो गया है । हमारा एक बच्चा भी है किन कारणों से आप मुझे अपनी प्रियतमा को अपने घर लाने से रोक सकते हैं ?'' इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं । यदि इन कैदियों को उनकी जर्मन प्रियतमाओं से जबरदस्ती अलग किया जाता है, तो उनकी शिकायतों का पारावार नहीं रहता । एक कैदी ने कहा कि उसकी प्रेमिका जर्मन युवती की सहायता से न मिली होती, तो कारागृह के इतने लंबे वर्षों को सहन करना उसके लिए असंभव हो जाता । ये जर्मन युवतियाँ जासूसी करती हैं या नहीं, इसकी दक्षता रखना आवश्यक है ; परन्तु



यह अलग प्रश्न है । फ्रान्स के राष्ट्रीय नियम के अनुसार जर्मनों से विवाह नहीं किया जा सकता । फिर भी अनेक फ्रान्सीसी बंदियों ने इन जर्मन युवतियों से विवाह कर लिए हैं ।''

प्रेमियों ने कानून के विधिनिषेधों की परवाह कभी नहीं की । अत : इनके विवाहों की वैधता के प्रश्न का जो भी निराकरण हो, वर्तमान युद्ध के फ्रान्सीसी बंदी और विजयी जर्मन प्रजा की युवतियों के प्रेमसंबंध प्रत्यक्ष घटना के रूप में हमारे सामने हैं । इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बातें युद्ध में होती रहती हैं । इसका क्या उत्तर है ? फ्रांस और जर्मनी में पीढ़ियों का बैर है जो विगत दोनों विश्वयुद्धों का आद्य कारण रहा है । आरंभ में फ्रान्स पराजित हुआ । हजारों फ्रान्सीसी सैनिकों को युद्धबंदियों के रूप में जर्मनी में रहना पड़ा । गाँवों की सैनिक छावनियों में इन्हें रखा जाता था । इन कैदियों के साथ विजयी



जर्मन प्रजा की युवतियाँ प्रेम करने लगीं, इनमें यौन संबंध होने लगे, बालकों का जन्म होने लगा और वैधता का दिखावा करने के लिए नाममात्र के विवाह भी होने लगे । इस परिस्थिति में न तो देशभक्ति का छींटा दिखाई देता है और न शत्रुता का द्वेष । न तो पीढ़ियों के वैयक्तिक बैर की झलक दिखाई देती है और न युद्धनीति के दाँवपेंच । दिखाई देती है केवल एक बात : स्त्री पुरुष की अनिवार्य कामवृत्ति ! पंथभेद, राष्ट्रभेद और विजय-पराजय के भेद लुप्त हो गये, एवं युद्ध के उद्देश्य विस्मृत हो गये । शेष बचीं केवल मानवसुलभ वृत्तियाँ । नीति-अनीति की सीमाओं को तोड़ फेंकने वाली मनुष्यजाति की यौन भावना रूपी महान शक्ति के ही दर्शन इस पूरे व्यवहार में होते हैं । युद्ध की निरर्थकता और मूर्खता का इससे अधिक विज्ञापन और कहाँ मिलेगा ?

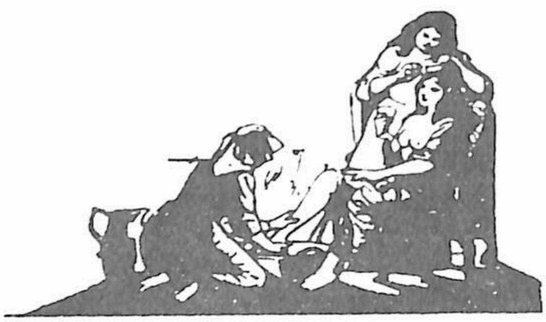
फ्रान्स की समस्या से मिलता जुलता एक उदाहरण अमरीका से मिलता है । सितबंर १९४५ के 'रीडर्स डायजेस्ट' में जॉर्ज केन्ट लिखता है, ''युद्ध समाप्त होते ही और यातायात की सुविधाएँ बढ़ते ही हमारे देश में एक लाख से भी अधिक यूरोपीय युवतियाँ अपने देहवैभव और उसके परिणामों को लेकर उपस्थित होंगी । ऐसे संबंधों से उत्पन्न हजारों बालकों का प्रश्न अब तक हल नहीं हो पाया है । दिनों दिन इन बच्चों की संख्या बढ़ती ही जा रही है । इन सुंदरियों के अमरीकन पतिदेवों की उम्र प्राय: पचीस से कम ही होती है । युद्ध के बाद इन्हें क्या काम धंधा मिल सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं । इस प्रकार के विवाहों में धोखाधड़ी भी जोरों से चल रही है । इसी युद्ध के दौरान में इंग्लैंड के एक बड़े उमराव की पुत्री का एक आकर्षक और चालाक अमरीकन वैमानिक से प्रेम हो गया । अमरीकन युवक ने उसे अपनी समृद्धि के खूब सब्जबाग दिखाये । विवाह के बाद वह अमरीका आई और आते ही उसका भ्रम दूर हो गया । आलीशान मकान या महल के बदले उसे एक झोंपड़ी में रहना पड़ा । उसका श्वसुर अपनी दूसरी पत्नी के साथ रहता था । ये दोनों मद्यपी थे । इस स्थिति को देखकर, वह लड़की निराश होकर इंग्लैंड लौट गई ।''

ये दोनों उदाहरण केवल बंदी फ्रान्सीसी सैनिकों की जर्मन प्रेमिकाओं और अमरीकन सैनिकों की यूरोपीय प्रेयसियों की कहानी कहते हैं । विजेता जर्मन सैन्य ने पाँच वर्षों तक विशाल प्रदेशों को जीतकर उनपर निरंकुश शासन किया था । इन पाँच वर्षों में विजेता सैनिकों और पराजित प्रजाओं की स्त्रियों में कामवासना के क्या क्या खेल खेले गये होंगे, इसकी कल्पना ही की जा सकती है । युद्ध में सत्य और नीति का निवाश होता है, यह निर्विवाद सत्य है । युद्ध के वातावरण में से गुजरने वाले हर देश की यही कहानी है । फिर चाहे वह देश महानीति घमंडी इंग्लैंड हो, रंगीला फ्रान्स हो या धनी और लापरवाह अमरीका हो । युद्ध की दुंदुभी बजते ही कामातुर सैनिकों के इर्द गिर्द पतिताओं के झुंड दिखाई देंगे ।



जनरल क्रोजियर नामक विगत विश्वयुद्ध का एक सेनापति युद्ध के नैतिक पहलू पर विचार करते हुए लिखता है, ''मेरे ऊपर अभियोग लगाया जाता है कि यौन रोगों की रोकथाम की योजना बनाने में मैंने मुक्त यौन अनाचार को प्रोत्साहन दिया । बात सही है । मैं इस दृष्टिकोण को समझ सकता हूँ । परंतु मेरी आलोचना करने वालों से मुझे इतना ही कहना है कि वे यह न भूलें कि उस समय हम युद्ध में लगे हुए थे । हमारे लिए यह जीवनमरण का प्रश्न था । इस सूत्र को माने बिना छुटकारा नहीं कि युद्ध आरंभ होते ही अनीति और अनारोग्य का प्रसार भी होगा ही । युद्ध और अनाचार एवं युद्ध और अनारोग्य एक ही ढाल की दो बाजुएँ हैं । सैनिकों का जीवन अत्यंत अस्थिर होता है । सतत आवेश और मृत्यु की संभावना उनके ज्ञानतंतुओं को अत्यंत संवेदनशील बना देती है । आप्तजनों और प्रियजनों के वियोग की तीव्र अनुभूति को भूल सकने का कोई भी मार्ग अपनाने की सैनिकों की सदा तैयारी रहती है । और सैनिकों को शिक्षा भी किस बात की दी जाती है ? अधिक से अधिक रक्तपात करके अधिक से अधिक लोगों के प्राण लेने की । यद्यपि शौर्य, स्वार्थत्याग, आत्मबलिदान और कर्तव्य भावना से मौत का खुली छाती से मुकाबला करना आदि गुणों के भी युद्ध के दौरान में दर्शन होते रहते हैं; फिर भी अनियंत्रित कामवासना की बेलगाम दौड़ युद्ध की मानसिक और भौतिक परिस्थितियों में अनिवार्य हो उठती है । मेरा तो काम ही तोप के गोलों के लिए मानवदेह रूपी भक्ष्य तैयार करना था । मैंने वही किया । जब तक युद्ध का अस्तित्व रहेगा तब तक आप इसे टाल नहीं सकते । लोभ, अनीति और रक्तपात तो युद्ध के अभिन्न साथी हैं । इनसे बचना हो तो पहले युद्ध का निर्मूलन करना होगा । मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को भड़काये बिना और उसके जंगलीपन को खुल-खेलने का मौका दिए बिना युद्ध हो नहीं सकता । अत : युद्धकाल में अनाचार या मुक्तप्रेम का व्यापक प्रचलन होना अनिवार्य है ।''

युद्ध और यौन अनाचार का घनिष्ठ संबंध युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना समझा नहीं जा सकता । इसका करुणतम रूप नबालिग गणिकाओं के रूप में व्यक्त होता है । तोप के गोलों से बड़े बड़े शहर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । बच्चे अनाथ और आश्रयहीन होकर इधर उधर टक्करें खाते रहते हैं । इस हालत में



निराधार भटकने वाली किशोरियाँ सैनिकों की कामवासना का शिकार बनकर बालगणिकाओं की संख्या में वृद्धि करती रहती हैं । जिनकों युद्ध के कारण अपना निवास स्थान छोड़ कर अन्य जगहों पर आश्रय लेना पड़ता है उनकी हालत तो और भी दयनीय होती है । अपना स्थान छोड़ने पर उन्हें योग्य काम धंधा नहीं मिलता ; आय का निश्चित जरिया नहीं रहता और रहने की जगह नहीं मिलती । अन्न की तो युद्धकाल में सदा तंगी रहती ही है । इस हालत में इन उखड़े हुए लोगों की लड़कियों को या माता-पिता विहीन

किशोरियों को अपनी और अपने परिवार की उदरपूर्ति के लिए देहविक्रय के सिवा और कोई मार्ग नहीं रहता । एक ग्रंथकार लिखता है, ''सिर्फ पेटभर भोजन प्राप्त करने के लिए इन अबोध बालिकाओं को विकट और जंगली सैनिकों के कामुक आलिंगनों में पिसती देखकर हृदय कांप उठता है और युद्ध की किसी भी कारण से हिमायत करने वाले, उसे न्याय्य प्रमाणित करने वाले और युद्ध के बिना मनुष्यजाति का कल्याण हो नहीं सकता ऐसी अनिष्ट विचारधारा का समर्थन करने वाले युद्ध पिपासुओं को किन शब्दों से संबोधित किया जाय,यही समझ में नहीं आता । बारह-बारह, तेरह-तेरह वर्ष की बालिकाओं को बड़ी उम्र की स्त्रियों जैसे कपड़े पहनकर सैनिकों को आकर्षित करते हुए देखते हैं तब मन का क्रोध व्यक्त करने वाली समूची शब्दावली अधूरी मालूम देती है ।

इन बालिकाओं के साथ साथ इन से कम उम्र के लड़के भी कामाचार और वेश्यावृत्ति के हथकंडों से परिचित हो जाते हैं । घर की, पड़ोस की या मोहल्ले की स्त्रियों के लिए ग्राहक ढूंढ कर लाने का काम आठ से बारह वर्ष तक की उम्र के लड़कों को सौंपा जाता है । इन बालकों में, कौन अधिक ग्राहक ढूंढ कर ला सकता है, इसकी स्पर्धा लगी रहती है । कुछ ही समय में ये बच्चे इतने चालाक और अनुभवी हो जाते हैं कि मनुष्य को देखते ही पहचान लेते हैं कि वह गणिकाओं का तलबगार है या नहीं । बड़े होने पर यही लड़के आवारा और गणिकावृत्ति के सहारे जीवनयापन करने वाले दलाल बन जाते हैं । कुछ शहर तो इस प्रकार के अनाचार के लिए अत्यंत प्रसिद्ध थे । बहनों के लिए उन्हीं के भाइयों को खुल्लमखुल्ला ग्राहक ढूंढने को जाना पड़े, यह एक ही घृणित परिणाम युद्ध को मनुष्यजाति का सबसे बड़ा अनिष्ट सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । नीति, विशेषत : यौन नैतिकता में हमारा विश्वास हो या न हो, परंतु इस परिस्थिति के पीछे रही हुई मानसिक अधोगति सब की आँखें खोल सकती है ।

जो युद्ध, युद्ध के मैदानों में, युद्ध की छावनियों में युद्ध के शिक्षाकेन्द्रों में, सैनिकों की आमदरफ्त के मार्गों में, युद्ध करने वाले देशों के हर शहर और हर गांव में हर स्त्री और हर पुरुष को गणिकावृत्ति के मार्ग पर प्रेरित करता हो, उसका समर्थन कैसे किया जा सकता है ? समझ में नहीं आता कि क्यों तो युद्धों की घोषणा होती है, क्यों उनका समर्थन किया जाता है और क्यों उन्हें निभाया जाता है । यह प्रश्न गहरी छानबीन की अपेक्षा रखता है । वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति युद्ध की संहारक शक्ति और व्यापकता को और भी बढ़ा देती है । विज्ञान की सहायता से लड़ा जाने वाला युद्ध कुछ क्षणों में ही विश्वव्यापी हो सकता है । फिर भी बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ही प्रगत और सुसभ्य मनुष्यजाति को एक नहीं बल्कि दो-दो भयानक विश्वयुद्धों का मुकाबला करना पड़ा है ।

६
युद्ध और गुप्तरोग

युद्धकालीन अनाचार प्रजा के आरोग्य पर कैसा खतरनाक प्रभाव डालते हैं, यह भी विचारणीय है । सामान्य समय में भी गणिकावृत्ति समाज के स्वास्थ्य पर विनाशकारी और भयावह असर डालती है । तो फिर समाजरचना के हर चक्र को शिथिल कर देने वाले युद्धकाल में कामोन्मत्त सैनिकों द्वारा प्रसारित यौन अनीति समाज के स्वास्थ्य की क्या हालत बना देती होगी, इसका लेखा-जोखा कैसे लगाया जा सकता है ? युद्धकाल में सैनिकों की छावनियों के इर्दगिर्द वेश्यावृत्ति करने वाली एक ही रोगदूषित वेश्या असंख्य सैनिकों को उपदंश या प्रमेह का शिकार बना सकती है । शांतिकाल में जिन स्त्रियों की शकल देखने से भी साधारण पुरुष इन्कार कर दे, ऐसी स्त्रियों के साथ भी युद्धकाल में सैनिकों का समागम होता रहता है । इसी प्रकार, युद्ध में जाने वाले पुरुषों की पत्नियाँ, शांतिकाल में जिनकी सूरत भी न देखें, ऐसे पुरुषों से युद्धकाल में यौन संबंध रखने में नहीं हिचकतीं । इन विशिष्ट परिस्थितियों में जननेंद्रिय संबंधी रोगों का प्रसार बड़ी सरलता से हो सकता है । समाज के स्वास्थ्य को सामान्य समय में सामान्य वेश्याओं से उत्पन्न

होने वाला भय भी कम नहीं होता ; परंतु युद्धकाल में जब कि हिंसावृत्ति, द्वेष, घृणा, धोखेबाजी, छलकपट और असंतुष्ट कामवृत्ति के अनेक ज्वालामुखी चारों ओर धधकते रहते हैं, रोग का ज्वालामुखी भी अपने विनाशक अग्निरस से समाज को लपेट कर भस्म कर देना चाहे, तो आश्चर्य की बात नहीं।

इन रोगों की लपेट में आ जाने वाले सैनिकों की संख्या कल्पनातीत होती है। उपदंश के रोगी सैनिक युद्ध के किसी भी काम के लिए नाकाबिल सिद्ध होते हैं। लाखों सैनिकों के लिए अन्य सब प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था करने वाले राज्यतंत्रों को उनके स्वास्थ्य की देखभाल भी करनी पड़ती है। राज्यशासन के लिए यह परिस्थिति एक अंतहीन दुष्टचक्र सिद्ध होती है। एक ओर जहाँ सैनिक जी जान से लड़ें, इसलिए उनके मनोरंजनार्थ छावनियों के इर्द-गिर्द वेश्यागृहों की स्थापना करनी पड़ती है, तो दूसरी ओर, वेश्याओं के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले रोगों से सैनिकों को बचाने की व्यवस्था भी इन्हीं को करनी पड़ती है। इस के लिए जटिल वैद्यकीय व्यवस्था सैन्यों के साथ संलग्न करनी पड़ती है। अन्य सब रोगों की अपेक्षा उपदंश का प्रसार ही सैनिकों में अधिक पाया जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध में तोपखाने की देखभाल करने वाले एक दस्ते में चौबीस सैनिक थे। डाक्टरी जाँच करने पर मालूम हुआ कि इनमें से बाईस उपदंश से पीड़ित थे। इन सब को वहाँ से हटा देना पड़ा। छानबीन करने पर मालूम हुआ कि तोपखाने के पास रहने वाली एक ही वेश्या के संसर्ग से इन सब पर रोग का आक्रमण हुआ था। इस प्रकार, सैनिकों के लिए वेश्याएँ उपलब्ध करना और उनके दूषित संसर्ग से होने वाले रोगों से सैनिकों की रक्षा करना युद्धतंत्र का एक परम आवश्यक विभाग बन जाता है।

कई बार युद्ध के मोरचे की भयानक परिस्थिति को देखकर घबराये हुए सैनिक जानबूझ कर रोगी होने का प्रयत्न करते हैं। किसी भी क्षण तोप के गोले से शरीर की धज्जियाँ उड़ जाने की निस्बत तो रोग के कारण घर लौटकर जीवित रहने का मौका ढूंढने की मनोवृत्ति अनेक सैनिकों में पाई जाती है। युद्ध में लड़ने वाले और मरने वाले सभी वीर नहीं होते।

प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रान्स को युद्ध के सबसे अधिक दुष्परिणाम भुगतने पड़े थे। वहाँ की एक डाक्टरी जाँच का निम्नलिखित परिणाम युद्ध का समर्थन करनेवालों और उसे अनिवार्य मानने वालों के लिए विचारणीय है : "पेरिस नगर में युद्ध से पहले वयस्क पुरुषों में से बीस प्रतिशत उपदंश से पीड़ित थे। सन १९१४ में युद्ध आरंभ होते ही यह रोग तीस प्रतिशत लोगों में पाया गया और १९१६ में यह प्रमाण बढ़कर पचास प्रतिशत हो गया। १९१७ में हालत यहाँ तक गिरी कि वयस्क पुरुषों में से दो तिहाई लोग इस रोग के संसर्ग से दूषित पाये गये।" युद्ध का यह एक आँखें खोल देने वाला परिणाम है।

उपदंश और प्रमेह आज के युग में असाध्य रोग नहीं माने जाते। जर्मनी में आविष्कृत साल्वर्सन की उपचार प्रक्रिया इन रोगों में कारगर सिद्ध हुई। अनाचार के शौकीनों को और अतंत्र यौन संबंधों के हिमायतिओं को इससे आनंद होना स्वाभाविक है। परंतु वैद्यकज्ञान यह चेतावनी भी देता है कि उपदंश से संपूर्ण मुक्ति कभी नहीं मिलती। वंशपरंपरा से चलने वाला यह रोग कब और किस रूप में प्रकट होगा, इसका कोई नियम नहीं। समय से पहले जन्म लेने वाले बालक, गर्भपात और मृतक बालाजन्म की अधिकांश दुर्घटनाएँ आनुवंशिक उपदंश के कारण ही होती हैं। उपदंश के रोगी की आयु औसतन चार वर्ष कम हो जाती है। यूरोप के देशों में वयस्क पुरुषों में से कम से कम छ: प्रतिशत की मृत्यु उपदंश के कारण होती है। एक लेखक कहता है, "संक्रामक रोगों से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि इन रोगों की संभावना हो ऐसे संसर्गों से पूर्णत: बच कर रहना चाहिये। इसका अर्थ हुआ ब्रह्मचर्य का पालन। ब्रह्मचर्य को हँसी में उड़ा देने वाले मनुष्य सचमुच ही निर्माल्य होते हैं।" यह प्रथम महायुद्ध के समय फ्रान्स के मंत्रिमंडल के एक सदस्य के हैं।

परंतु सैनिकों के संबंध में तो ब्रह्मचर्य सचमुच ही मजाक का विषय बन जाता है। सेना के बाहर भी अनेक लोग ब्रह्मचर्य की हँसी उड़ाते देखे जाते हैं। यौन समागम की सतत तत्परता ही मानो पुरुषत्व

और मर्दानगी का एकमात्र लक्षण हो, ऐसी मान्यता दिनों दिन व्यापक होती जा रही है । विवाह का विरोध करनेवाली और यौन संबंधों के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के नियंत्रण को अस्वीकार करने वाली आधुनिक नीति भावना भी ब्रह्मचर्य भंग को सतत प्रोत्साहन देती रहती है । युद्ध का उन्मादक आवेश यौन संबंधों को मर्यादित रखने वाले शिष्टता के कमजोर आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है और चारों ओर फैले हुए मृत्यु के कराल तांडव के बीच भी मदहोश होकर कल्पनातीत भोगविलास करने के लिए योद्धाओं को प्रेरित करता है । युद्धशास्त्र के एक विद्वान की राय है कि शराब और स्त्री के बिना युद्ध का संचालन संभव मानने वाला पुरुष मूर्खों का सिरताज होना चाहिये । यह मानी हुई बात है कि अधिकांश सैनिक समाज के संस्कृत या शिष्ट वर्गों से नहीं आते । उनके मन में उपदंश या प्रमेह जैसे घृणित रोगों के प्रति भय या शर्म की भावना भी नहीं होती । युद्ध काल में तो शिक्षित और सुसंस्कृत स्त्री पुरुष भी मर्यादा और शर्म को ताक पर रख देते हैं ।

युद्ध में मर जाने वालों के प्रति अकसर दया प्रदर्शित की जाती है । जिस प्रकार की मृत्यु उन्हें मिलती है, वह सुखी मौत तो नहीं मानी जा सकती । परंतु इस मौत के पक्ष में इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह त्वरित होती है, और क्षणार्ध में मनुष्य को अपनी विस्मृतिभरी गोद में छिपाकर उसकी सब पीड़ाओं का अंत कर देती है । जख्मी और अपंग सैनिकों की स्थिति इनसे अधिक करुणापात्र होती है । परंतु इन हत, आहत, और अंगहीन सैनिकों की अपेक्षा रोगों का शिकार होने वालों की हालत अधिक दयाजनक होती है । प्रथम विश्वयुद्ध के साढ़े चार लाख उपदंश के रोगी, तीन लाख प्रमेह के रोगी और चार लाख तपेदिक के रोगियों की स्थिति मरनेवाले लाखों सैनिकों से कहीं अधिक करुणापात्र थी । सन् १९१८ में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और १९१९ में सेनाओं का विसर्जन किया गया । ये संख्याएँ विसर्जन के समय की गई डाक्टरी जाँच पर आधारित हैं ।

इस युद्ध के परिणाम स्वरूप मानवजाति को युद्ध से मुक्ति मिली या नहीं, यह हम अच्छी तरह से जानते हैं । कितनी प्रजाओं को स्वतंत्र्य और कितने प्रदेशों को शांति मिली इसकी हकीकत भी हमें मालूम है । किसी भी पद दलित प्रजा का इससे कल्याण हुआ हो, यह भी नहीं सुना । एशिया में तो युद्धोत्तर काल में गोरी प्रजाओं की पकड़ और भी मजबूत हो गई । इस युद्ध का केवल एक ही शुभ परिणाम माना जा सकता है । रूस में क्रान्ति का श्रीगणेश युद्ध के कारण कुछ जल्दी हो सका । परंतु इस युद्ध के कारण मनुष्यजाति के सुख, स्वातंत्र्य, या समृद्धि में वृद्धि हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता । युद्ध से उपलब्धि क्या हुई ? लाखों सैनिक मारे गये । जो बचे उनमें से साढ़ेग्यारह लाख के जीवन उपदंश, प्रमेह और यक्ष्मा ने जलाकर भस्म कर दिये, इतना ही नहीं, इन रोगों की विरासत आने वाली कई पीढ़ियों को भी मिलती रहेगी । और ये संख्याएँ चौकसबुद्धि डाक्टरों द्वारा दी गई हैं । अत : इनमें न्यूनोक्ति दोष हो सकता है, अतिशयोक्ति नहीं । अकेले फ्रान्स का ही उदाहरण लीजिये । युद्ध से पहले प्रतिवर्ष चालीस हजार स्त्रीपुरुषों की उपदंश के कारण मृत्यु होती थी । युद्ध के बाद यह संख्या पचासी हजार पर पहुँच गई है और आनें वाली प्रजा के न मालूम कितने हजार मासूम बालक इस अभिशाप को विरासत में प्राप्त करके ही जन्म लेंगे । एकाध पीढ़ी यदि रोग से पीड़ित होकर विलुप्त हो जाय, तो हम उसे भी पचीस-तीस वर्ष तक चलने वाली एक युद्धजन्य आपत्ति मानकर संतोष कर सकते हैं । परंतु उपदंश के परिणाम तो सदा-सर्वदा के लिए और युद्ध से जिनका कोई लेनदेन नहीं, ऐसी भावी पीढ़ियों के लिए भी घातक सिद्ध होते हैं । ऐसे विनाशक युद्ध की फलश्रुति में कोई विचारशील इतिहासकार यदि यह कहे कि इससे प्राप्ति शून्य की भी नहीं हुई, बल्कि अभिशापों की परंपरा ही चली, तो उसे असत्य प्रमाणित कौन कर सकेगा ?

वर्तमान युग का प्रगत विज्ञान रोग के बाह्य लक्षणों से मनुष्य को भले ही मुक्त कर दे, परंतु इन रोगों से उत्पन्न क्षीणता अन्य रोगों को भी आकर्षित करती है और भावी प्रजा के जीवन के साथ तो ये रोग अत्यंत क्रूर खिलवाड़ करते हैं । युद्ध को रोकने के लिए यह एक कारण ही पर्याप्त होना चाहिये कि युद्ध अनाचार, रोग और वेश्यावृत्ति का सबसे प्रबल पोषक तत्व है ।



नवाँ परिच्छेद
वर्तमान युद्ध और गणिकावृत्ति के विविध रूप

१
कुछ प्रकाशित घटनाएँ

युद्ध में सैनिकों का मनोरंजन करने के लिए भेजी जाने वाली स्त्रियों की मंडलियों के समाचार गुप्त रखे जाने पर भी अंशत : प्रकट हो ही जाते हैं । हमारी नजरों के समक्ष होने वाली वर्तमान विश्वयुद्ध की कुछ विश्वसनीय घटनाओं का ही यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे ।

''टाइम्स ऑफ इंडिया'' में कुछ दिन पहले ही रोम से प्राप्त निम्नलिखित समाचार छपाथा । इस समाचार का संबंध इटली में लड़ने वाले भारतीय सैन्य से है । ''इस युद्ध में प्रथम बार भारतीय महिलाएँ इटली के युद्धक्षेत्र की मुलाकात कर रही हैं । सैनिकों का मनोरंजन करना उनका उद्देश्य है । ये महिलाएँ सातवीं सेना की मनोरंजन समिति की सदस्याएँ हैं । इस समिति को ENSA की भारतीय आवृत्ति कहा जा सकता है । इस मंडली में गीत और नृत्य द्वारा सैनिकों का मनोरंजन करने के लिए मिस मैकाल, मिस बिस्मिल्ला, मिस अमीना, मिस मीना और मिस सरदार अख्तर जैसी प्रसिद्ध गायिकाएँ सम्मिलित हैं । युद्ध के अनेकविध संकटों और भयस्थानों की परवाह किए बिना और इटली की भयानक ठंड को सहन करके ये मंडली दूर दूर बिखरे हुए भारतीय सेना के दस्तों का दो तीन घंटों के लिए भारत के प्रसिद्ध गीतों, नृत्यों और नाटकों से मनोरंजन करती है । भारतीय सेना में पंजाबी, सिख, पठान और अन्य अनेक प्रदेशों का समावेश होता है । यह मंडली इन हजारों सैनिकों का मनोरंजन कर रही है । जहाँ भी यह मंडली जाती है, वहाँ उसका उत्साहवर्धक स्वागत किया जाता है ।'' परंतु केवल नृत्य संगीत के कार्यक्रमों से ही सैनिकों का मनोरंजन पूर्ण हो जाता होगा, यह मानने को जी नहीं करता । समाचार पत्रों में छापा जा सके, ऐसा विवरण ही यहाँ दिया गया है । बाकी बातों का केवल संकेत किया गया है ।

'स्टेट्समैन' पत्र में छपने वाले दो एक पत्रों का विचार भी आवश्यक है । सैन्यों के लिए की जाने वाली गणिकाव्यवस्था के संबंध में एक साहब "Church Goer" के तखल्लुस से लिखते हैं, ''इन बदनसीब पतिताओं को समाज से अलग करके विशिष्ट निवासस्थानों में रखने का और पुलिस की निगरानी में इनसे देहविक्रय का दुष्कर्म करवाने का अर्थ है कि सरकार मानवजीवन और मनुष्य की आत्मा के व्यवस्थित विक्रय-व्यवसाय को आशीर्वाद दे रही है । गणिकागृहों का समाज में अस्तित्व है, यह तो हमें इच्छा से या अनिच्छा से मानना ही पड़ेगा, परंतु मानव स्वभाव में परिवर्तन नहीं हो सकता, इस बहाने की आड़ में हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना और इन अनिष्टों को चलने देना केवल पाखंड है ।'' 'स्टेट्समॅन' में ही एक और पत्र इस प्रकार लिखा गया है : ''गणिकाओं को शहर के बीच के विशिष्ट मोहल्लों से हटा दिया गया है, यह प्रसिद्ध करके लोगों का दिल बहलाने की कोशिश की गई । परंतु इन मकानों से हटाकर उन्हें और भी सुंदर मकानों में स्थान दिया गया है । ये नये मकान पुराने मकानों से कहीं अधिक सुविधाजनक हैं । अब तो गणिकाएँ प्रतिष्ठित मोहल्लों में भी रह सकती हैं । प्रतिष्ठित माने जाने वाले मकानों में भी आजकल कम से कम दो चार कमरे ऐसे जरूर होते हैं जिनमें गणिकाएँ रहती हों । गणिकाओं को परवाना देने की प्रथा बंद करके सरकार ने उन्हें पूरे समाज में फैलने की छूट दे दी है । इसे दीर्घदृष्टि का अभाव और मूर्खता ही कहा जायगा । आजकल तो स्थिति ऐसी हो गई है कि कुलीन स्त्रियों के

लिए कलकत्ते की सड़कों पर घूमना भी मुश्किल हो गया है । प्रकाश पर प्रतिबंध * लगाकर तो सरकार ने आफत खड़ी कर दी है । रोशनी पर लगाये गये अंकुश का अब दुरुपयोग होने लगा है । इस प्रतिबंध को जारी रखने की अब बिलकुल आवश्यकता नहीं है । अंधकार के बहाने नगर में गणिकावृत्ति को ही प्रोत्साहन मिल रहा है ।''

* द्वितीय विश्वयुद्ध के दरमियान भारत के बड़े शहरों में भी दुश्मन के हवाई हमले से बचने के लिए प्रकाश पर प्रतिबन्ध (Black out) लगाया गया था: यहां उसी का उल्लेख है ।

बम्बई की स्थिति भी कलकत्ते से भिन्न नहीं है । टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित एक पत्र से इसका अंदाज लगाया जा सकता है : ''फोर्ट और कुलाबा विभाग में बड़ी संख्या में गणिकाएँ सड़कों पर घूमती रहती हैं । पुलिस कभी-कभी इन स्त्रियों को पकड़कर अदालत में पेश करती है : परंतु न्यायाधीश उन्हें सौम्य और हास्यास्पद सजाएँ देकर छोड़ देते हैं । अकसर उन्हें दो एक रोज की सादी कैद या नगण्य सी रकम का जुरमाना करके छोड़ दिया जाता है । परिणाम यह निकलता है कि दिन में सजा पाने वाली गणिकाएँ रात को फिर अपने स्थान पर हाजिर हो जाती हैं । इनकी शायद ऐसी मान्यता हो गई है कि इससे कठोर दंड उन्हें दिया ही नहीं जायगा । न्यायाधीश जब तक उन्हें सबक सिखाने वाली कठोर सजाएँ नहीं देंगे तब तक बम्बई के गणिकावृत्ति प्रतिबंधक कानून का भंग होता ही रहेगा और जिन्हें देखकर भी घृणा हो ऐसे दृश्य आम सड़कों पर दिखाई देते रहेंगे ।''

भारत की राज्यसभा (Council of States) के पिछले अधिवेशन में भारत के प्रधान सेनापति सर क्लॉड ऑकिन्लेक का दिया हुआ एक उत्तर भी मननीय है । एक सदस्य ने प्रश्न पूछा था कि दिल्ली के एक पत्र में भारतीय सेना के लिए नर्तकियों की आवश्यकता होने का विज्ञापन छपा था, इसकी जानकारी सरकार को है या नहीं । अंग्रेज सेनापति ने इसको स्वीकार करते हुए सफाई पेश की थी कि भारतीय सेना का एक जनता संपर्क विभाग (Military Public Liaison Organisation) है । इसके अंतर्गत एक कला विभाग भी है और उसके अधिकारियों द्वारा सैनिकों के मनोरंजनार्थ इस प्रकार की नियुक्तियाँ की जाती हैं । इस योजना का उद्देश्य यह बताया गया कि भारतीय सेना का जनसाधारण से अधिकाधिक संपर्क हो, और सामान्य प्रजा उनसे अधिक से अधिकाधिक संपर्क हो, और सामान्य प्रजा उनसे अधिक से अधिक सहकार कर सके । जनता संपर्क के इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही स्त्री कलाकारों से युक्त नाटकसंघ या नृत्य मंडलियाँ सैनिकों के आनंद प्रमोद और मनोरंजन की व्यवस्था कर सकें ऐसी योजनाएँ बनाई जाती हैं । इस तथाकथित नृत्य-संगीत और आनंद प्रमोद की योजना की आड़ में क्या क्या गुल खिलते हैं, युद्ध के इतिहास से परिचित लोगों को यह समझाने की आवश्यकता नहीं ।

सन् १९४४ में 'मॉडर्न रिव्यू' नामक प्रसिद्ध भारतीय मासिक पत्रिका में निम्नलिखित टिप्पणी छपी थी : ''नाबालिग किशोरियों का गणिकावृत्ति केलिए विक्रय करने वालों पर मुकदमा चला कर उन्हें सजाएँ दी जाने के समाचार भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए हैं । गत वर्ष के बंगाल के अकाल के जख्म अब तक भरे नहीं हैं । उस समय भुखमरी और निराश्रयता के कारण हजारों युवतियाँ वेश्यावृत्ति के भंवर में फँस गई थी । इन बदनसीब स्त्रियों में से कुछ का उद्धार करने के प्रयत्न बंगाल में अभी आरंभ ही हुए हैं कि पंजाब और दक्षिणी भारत से समाचार आने लगे हैं कि स्त्री विक्रय का व्यवसाय वहाँ जोरों से चल रहा है । इस धंधे में उच्चकोटि की व्यवस्थाशक्ति, व्यापारी कांइयाँपन और साहसवृत्ति के दर्शन होते हैं । मद्रास के एक मुकदमें में हैदराबाद में बेची जाने वाले इकत्तीस लड़कियों की हकीकत पर प्रकाश पड़ा है ।''

२० दिसंबर १९४५ के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में निम्नलिखित समाचार छपा है : ''पॅरिस के प्रधान पुलिस अधिकारी मॉ. चार्ल्स लुई ने निश्चय किया है कि पॅरिस के गणिकागृह बंद कर दिए जायें । उन्होंने अपने निश्चय की सूचना नगरपालिका को दे दी है । केवल शहर के ही नहीं, बल्कि उपनगर के तमाम

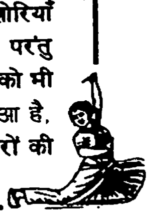
गणिकागृह भी बंद कर दिए जाएंगे । इस निश्चय को कार्यान्वित करने की तारीख बाद में सूचित की जायगी । मॅडम मार्था रिचर्ड नामक पॅरिस नगरपालिका की एक सदस्या के प्रयत्नों से यह संभव हो सकता है । मॅडम रिचर्ड ने गुरुवार को नगरपालिका की सभा में वक्तव्य देते हुए कहा कि पुलिस के दफ्तरों में छ : हजार गणिकाएँ दर्ज की गई है ; परंतु उनकी जाँच के लिए सिर्फ तीन डाक्टरों की नियुक्ति हुई है । परिणाम स्वरूप शहर में यौन का प्रसार दिनों दिन बढ़ता जा रहा है । युद्ध काल में इन गणिकागृहों में वेश्यावृत्ति के साथ साथ जासूसी भी बड़े पैमाने पर चलती थी । कुछ वेश्यालय तो नगर के जासूसों के प्रधान केन्द्र बन गये हैं ।'' युद्धकालीन अनीति की काली परछाई पूर्व और पश्चिम दोनों प्रदेशों पर पड़ी थी । अब उसकी कालिमा कुछ कम होने के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं । इसी प्रतिष्ठित पत्र, ''टाइम्स ऑफ इंडिया के २९ दिसंबर १९४५ के अंक में रंगून के नारी स्वातंत्र्य संघ के मंत्री का निवेदन छपा है । उनका कहना है, ''साधारण अंदाज है कि जापान के तीन वर्ष के प्रभुत्वकाल में पचास हजार ब्रह्मी युवतियों ने जापानियों से विवाह किए । इनमें से अधिकांश ने कष्टप्रद आर्थिक परिस्थिति और पराधीनता की मजबूरियों के कारण ही यह कदम उठाया है ।''

भारत की परिस्थिति पर फिर से एक बार नज़र डालें । हैदराबाद (सिंध) में अखिल भारतीय परिषद् का अधिवेशन हुआ । २ जनवरी १९४६ के 'स्टेट्समॅन' के अंक में उसका निम्नलिखित अहवाल छपा था : ''मिसेज शिवराव ने अधिवेशन में कहा कि पिछले कुछ वर्षों से स्त्रियों और बालकों के विक्रय की घटनाएँ बहुत बढ़ गई हैं । भारत की भयावह आर्थिक दुरवस्था के कारण इस विक्रय व्यवहार ने एक नया रूप धारण किया है । अन्न की कमी के कारण देश के कुछ भागों के किसानों और मध्यमवर्गीय परिवारों पर अत्यंत बुरा प्रभाव पड़ा है । इस भयानक अन्नसंकट से त्राण पाने के लिए बहुत से लोग अपनी पत्नियों को बच्चों के साथ बेच देने को मजबूर हुए हैं । केवल प्राणों को टिकाये रखने के लिए स्त्रियों को अपना शील बेचना पड़ रहा है । आश्रयहीन युवतियाँ तो बड़ी आसानी से देह विक्रय का शिकार हो जाती हैं । बंगाल के कुछ भागों में करीब नब्बे प्रतिशत लोग अकाल ग्रस्त हैं । इस परिस्थिति में बालिकाओं और युवतियों के विक्रय से आश्चर्य नहीं होना चाहिए । सैन्यों की उपस्थिति हमेशा ही अनीति को प्रोत्साहित करती हैं । बंगाल के अधिकांश जिलों में पारिवारिक जीवन नाम की चीज ही बाकी नहीं बची है । वेश्यागृहों की संख्या बेहिसाब बढ़ गई है । सन् १९३८ में कलकत्ता में गणिकाओं की संख्या पच्चीस हजार थी । सन् १९४५ में यह बढ़ कर चालीस हजार हो गई है । साथ-साथ यौन रोगों का प्रसार भी भयानक गति से बढ़ता जा रहा है ।''

विजेता, विशेषत : गोरे विजेता सदा पराजित प्रजा के भले के लिए ही उस पर राज्य करने का दंभ करते हैं द्वितीय विश्वयुद्ध के दरमियान इस दंभ की आवाज बहुत बढ़ गई थी । पश्चिम की गोरी प्रजाओं को थप्पड़ मार कर उनके घमंड को लगाम में रखने की ताकत किसी एशियाई प्रजा में हो, तो वह सिर्फ जापान में थी । परंतु एटम बमों के आक्रमण के सामने जापान ने घुटने टेक दिये । आजकल उसे समूचा निगल जाने की कोशिश अमरीका कर रहा है और बहती गंगा में हाथ धोने की नीयत इंग्लैंड और रूस की भी दिखाई दे रही है । दुश्मन को सुधारने के नाम पर उनके गण्यमान्य नेताओं और अग्रणी प्रजाजनों को युद्ध के अपराधी करार देकर उन पर मुकदमा चलाने का नाटक किया जा रहा है । उनके अपमान और उनकी हत्या की जो योजनाएँ बन रही हैं, वे संसार को तीसरे विश्वयुद्ध की दिशा में ही ले जा रही हैं । अपने आपको सभ्य और सुसंस्कृत कहलाने वाले मित्रराष्ट्रों के आचरण में उदारता और क्षमा के तो दर्शन भी नहीं होते । केवल पीढ़ियों तक मानवहृदय को विषाक्त कर देने वाले द्वेष और तिरस्कार का ही नंगा नाच दिखाई दे रहा है । उच्च आदर्शों के शब्दजाल में से झलकने वाली उनकी स्वार्थपरायण नीति या अनीति उन्हें प्राचीन युग के बर्बर विजेताओं से रत्तीभर भी कम निर्दय प्रमाणित नहीं करती । गोरी संस्कृति के मार्गदर्शन में मनुष्यजाति का भविष्य क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

यहाँ जापान में उनकी करतूतों का एक और उदाहरण दिया जाता है जो हमारे अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हो सकता है । १९४६ के ईस्वी नये संवत् के दूसरे ही दिन सुप्रसिद्ध पत्र स्टेट्समॅन में जापान का निम्नलिखित समाचार छपा था — ''जापान में गेइशा वारांगनाओं के व्यवसाय में बेशुमार वृद्धि हो रही है । यौन अनाचार के संघटित व्यवसाय का रूप देने की जापानी योजनाएँ पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित करने लगी हैं । जापान में यह व्यवसाय करने वालों के संगठित दल है । जापान में छावनी डालकर रहने वाले मित्रराष्ट्रों के सैन्यों का ध्यान वहाँ के प्रतिष्ठित परिवारों की कुलीन स्त्रियों की ओर आकर्षित हो, उससे पहले ही नाचरंग और वेश्यावृत्ति की सुविधाओं वाले गेइशागृहों की ओर उसे मोड़ देना ही इन योजनाओं का प्रधान उद्देश्य है । यह संघटना यौन अनाचार के व्यवसाय को बड़े पैमाने पर विकसित करना चाहती है । अगले महीने ब्रिटिश सैन्य की छावनी जापान में स्थापित होने वाली है । इस व्यवसाय के लिए इन सैनिकों का पूरा पूरा उपयोग करने की योजनाएँ भी बन रही हैं । इसके लिए जापान के मुख्य प्रदेशों से दूर एक एकांत स्थान का चुनाव किया गया है । जापान की इस हृदयहीन योजना की खोज लगाने वाला संवाददाता कहता है कि टोकियो के रंगीन और चमकदमक भरे मोहल्ले गीन्जा में उसने एक अत्याधुनिक ढंग के व्यापारी कार्यालय के व्यवस्थापक मि. मिनोरू सूजी से मुलाकात की । मुलाकात के दौरान में जापानी तहजीब के अनुसार बार बार झुक कर नमस्कार करने वाली जापानी सुंदरियों के दल के दल चाय आदि की व्यवस्था कर रहे थे । इन युवतियों के किमोनो पर अंग्रेजी के R.A.A. अक्षरों वाला बिल्ला लगा हुआ था । इन आद्याक्षरों का अर्थ था : Recreation Amusement Association (आनंदप्रमोद और रागरंग मंडल) । मिनोरू सूजी इस मंडल का प्रमुख कार्यवाह था । उसने अभिमान पूर्वक कहा, 'अब कुछ ही दिनों में हमारा मंडल एक नई कंपनी के रूप में दर्ज हो जायगा । फिलहाल हमारी पूंजी तीन करोड़ येन (करीब पाँच लाख पाउंड) है ।' यह कहते हुए उसने व्यापक अनीति की इस संघटित व्यापार-योजना के आंकड़े और कागजात हमारे संवाददाता को दिखाये । आगे बढ़ते हुए मि. सूजी ने कहा, 'इस योजना के अंतर्गत फिलहाल डेढ़ हजार नर्तकियों और छ : हजार गेइशाओं को काम दिया गया है । अभी यह योजना केवल टोकियो शहर और अमरीकन सैनिकों तक ही मर्यादित है । हमारे मंडल की व्यवस्था के अंतर्गत भव्य नृत्यगृहों का संचालन होता है जिनमें सैनिकों को हर प्रकार का आनंद मिल सकता है । इसके उपरांत दस गेइशागृह, तीन विश्रांतिगृह, चार उपाहारगृह और एक बिलियर्डगृह भी इस योजना के अंतर्गत चल रहे हैं । हमारा मंडल जनरल मॅक्आर्थर के कार्यालय के घनिष्ठ सहयोग से चल रहा है । अमरीकन सेना के डाक्टर नियमित रूप से मंडल की युवतियों की जाँच करते हैं, उनकी चिकित्सा करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर शल्यक्रिया भी करते हैं ।

''इस मंडल का पूर्वेतिहास मंडल के कार्य के जैसा ही कलंकित है । जापान पर कब्जा करने के लिए अमरीकन सेना के आगमन से छ: दिन पहले जापानी सरकार के आदेशानुसार मंडल की स्थापना हुई थी । मंडल के आद्य संचालक जापान के छ : प्रधान गणिकागृहों के मालिक हैं जिन्हें इस व्यवसाय का व्यापक अनुभव है । जापान की प्राय: सभी गेइशा युवतियाँ, कलंकित उपाहारगृहों, निशामंडलों, और अनाचार के गुप्त केन्द्रों पर इन्हीं छ : संस्थाओं का संपूर्ण नियंत्रण है । जापान पर शासन करने वाले अमरीकन सैन्य की दृष्टि जापान की प्रतिष्ठित कुलांगनाओं पर से हटा देना ही इस मंडल का प्रधान उद्देश्य माना गया है । अपनी जातिगत प्रतिभा के बल पर इन संचालकों ने,सरकार का आशीर्वाद प्राप्त इस योजना को एक अत्यंत लाभदायक उद्योग में परिणत कर दिया है । हजारों किशोरियाँ और युवतियाँ इस मंडल की सदस्या होने को तत्पर हैं । फिलहाल उन्हें प्रवेश नहीं मिल सकता । परंतु भावी सूचियों (Waiting list) में हजारों ने अपने नाम दर्ज करा रखे हैं । प्रधान कार्यवाह मि. सूजी को भी इस बात का आश्चर्य है कि जब से इस मंडल को मित्रराष्ट्रों के सेनाधिकारियों का सहयोग प्राप्त हुआ है, तब से, केवल शौक पूरा करने के लिए अनाचार का अनुभव करने को लालायित कई प्रतिष्ठित घरों की



युवतियों ने भी मंडल की सेवा करने के आग्रहभरे आवेदन किए हैं ।

उपरोक्त संपूर्ण वृत्तांत शब्दश : उद्धृत किया गया है । पूरे अहवाल में आश्चर्य की अनेक बातें हैं । जापानी सरकार का समर्थन प्राप्त अनीतिमंडलों की जनरल मैक आर्थर के दफ्तर के सहयोग से, विजेता अमरीकन सैनिकों की कामवासना संतुष्ट करने के और जापान की प्रतिष्ठित महिलाओं की शीलरक्षा करने के हेतु से स्थापना हो, इस पूरे व्यवहार में संबंधित लोगों में से किसके लिए आदर उत्पन्न हो सकता है ? यह समाचार प्रेषित करने वाले गोरे संवाददाता और उस पर टीका टिप्पणी करने वाले गोरे संपादक के नीति और पाखंड का तिरस्कार भी किन शब्दों में किया जाय । गोरी प्रजाओं की विजय हुई, इस लिए हर प्रकार की अनीति के लिए जापान को दोषी ठहराना अत्यंत सरल हो गया । परंतु वेश्याव्यवसाय की यह संघटित प्रथा पश्चिम की संस्कृति की ही देन है, यह नहीं भूलना चाहिये । यह पूरा आयोजन किस के लिए किया जा रहा है ? विजेता मित्रराष्ट्रों के, विशेषत : अमरीका के सैनिकों की कामवासना संतुष्ट करने के लिए । और इसके पीछे प्रधान हेतु क्या है ? जापान की प्रतिष्ठित महिलाओं की कामुक सैनिकों की कुदृष्टि से रक्षा करना । ये दोनों परिस्थितियां पश्चिम की नीतिभावना का स्पष्ट भाष्य कर देती हैं ।

युद्धकालीन गणिकावृत्ति का यह दूसरा अंक है । प्रथम अंक युद्ध के मैदानों पर खेला जा चुका है । ऐसा लगता है कि वर्तमान विश्वयुद्ध में तो प्रथम महायुद्ध से भी बड़ा दावानल संसार के अग्रणी राष्ट्रों ने प्रज्जवलित किया है, जिसमें संस्कार, मर्यादा, दया, उदारता और मानवता का अंतिम दाहकर्म हो जायगा । मनुष्यता की चिता जैसे इस विश्व युद्ध का समर्थन करते हुए प्रेजीडेन्ट रूजवेल्ट ने मनुष्य कि चार मूलभूत स्वातंत्र्यों की स्थापना को इसकी फलनिष्पत्ति माना था । मित्रराष्ट्रों की प्रजा ने तालियां बजाकर इस घोषणा का समर्थन किया था । प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट तो अब नहीं रहे । युद्ध में मित्रराष्ट्रों को विजय भी मिल गई । परंतु विजय के परिणाम स्वरूप घोषित की हुई चार सिद्धियों में से एक के दर्शन अब तक कहीं नहीं हुए हैं । किस परतंत्र प्रजा को स्वातंत्र्य मिला ? स्वातंत्र्य के लिए प्रयत्नशील जावा जैसे देशों को फिर से जीतकर विजेताओं नेउनके पुराने मालिकों के ही सुपुर्द कर दिया है । यह इस युद्ध की एक निष्पत्ति है । विजेता सैनिकों के लिए गणिकाओं की व्यवस्था करना इसकी दूसरी सिद्धि है और गणिकाओं का ऐसा सरेआम उपयोग मानों किसी को भी अप्रिय न हो, ऐसा आडंबर करना इसकी तीसरी उपलब्धि है । वास्तव में अब तक तो वर्तमान विश्वयुद्ध ने दासता, गणिकावृत्ति और धिक्कारपात्र दंभ के सिवा और कोई देन संसार को नहीं दी है । इसके बावजूद भी लोग इस युद्ध के गुणगान करने से नहीं थकते और इसकी सिद्धियों की मरीचिका से विश्व की प्रजाओं को गुमराह करने से नहीं चूकते । पश्चिम की संस्कृति ने मनुष्य जाति को जीवित रहने भी दिया, तो उसका अहसान कौन मानेगा ?

उपरोक्त सारी घटनाएं गण्यमान्य और प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं से उद्धृत की गई हैं । सैनिकों को क्या-क्या सुविधाएं मिल सकती हैं, इसके विज्ञापन में उन्हें, प्राप्त स्त्रीसहचार की सुविधा का जोर देकर उल्लेख किया जाता है । जर्मनी पर विजय प्राप्त करने के बाद जर्मन प्रजा से किसी भी प्रकार का संबंध न रखने की पाबंदी मित्रराष्ट्रों के सैनिकों पर लगाई गई थी । परंतु बहुत शीघ्र इस बंधन को शिथिल कर दिया गया और जर्मन स्त्रियों से मित्रता करने की और मेलजोल बढ़ाने की अनियंत्रित छूट सैनिकों को मिल गई । युद्ध में विजय मित्रराज्यों की हो, या शत्रुराष्ट्रों की ; अंततोगत्वा दोनों प्रजाओं की कैसी भयानक नैतिक अधोगति होती है, इसका वर्तमान विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थिति उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है । युद्ध में जीत न तो मित्रों की होती है, न शत्रुओं की । विजय होती है केवल सर्वस्पर्शी अनीति की ।

पश्चिम की सभ्यता इसे अनीति मानने को भी तैयार नहीं है । ठी है ; हम भी इसे स्त्री-पुरुष का अनिवार्य आकर्षण कहकर, किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह के बिना इन संबंधों की परीक्षा करें । यह आकर्षण हीन या घृणित नहीं है, यह मान लेने में हमें कोई संकोच नहीं । परंतु इसकी पवित्रता तभी निभ सकती है

जब यह आकर्षण स्वयंस्फूर्त हो । इसमें विक्रय का तत्व मिलते ही यह दूषित हो जाता है । युद्ध में सैनिकों को दी जाने वाली स्त्री सहचार की सुविधा किराये की होती है जो इन स्त्रियों की गणिकावृत्ति पर आधारित रहती है और इसकी व्यवस्था करने वाले राज्यतंत्रों को स्त्रियों का विक्रय करने वाले दलालों की कक्षा पर ला खड़ा करती है । मानव संस्कृति के चरम विकास जैसा राज्यतंत्र यदि किसी भी कारण से वेश्याओं का निर्माण करने लगे, तो उस राज्यतंत्र को मलिनता का आगर ही मानना पड़ेगा । जब युद्ध इन राज्यतंत्रों का ध्येय बन जाता है, तब स्त्री-पुरुष के पवित्र आकर्षण को अमर्याद, अशिष्ट, अनैतिक और रोगिष्ट बनाने का महापाप भी इन राज्यतंत्रों को करना पड़ता है । युद्धजनित अन्य अनिष्टों की बात छोड़ भी दें, और यौन अनाचार रूपी उसके एक ही दुर्परिणाम की चर्चा करें, तो भी यह मानना पड़ेगा कि गणिकावृत्ति की सहायता के बिना युद्ध का संचालन संभव नहीं । युद्ध के बड़े बड़े सूत्रधारों और सेनापतियों ने यह कबूल किया है । जो युद्ध स्त्रीदेह का ऐसा घृणित बलिदान चाहता हो, उसे मनुष्यजाति का घोरतम पाप और महत्तम कलंक ही मानना होगा ।

२

युद्ध: यौन आकर्षण को अमर्याद कर देने वाली प्रबल शक्ति

कुछ विचारक यौन आकर्षण को युद्ध की एक आवश्यक प्रेरक शक्ति मानते हैं । काम विकार को युद्ध की सीधी प्रेरणा तो नहीं माना जा सकता, परंतु स्त्रियों की खातिर अनेक युद्ध हुए हैं, यह हम देख चुके हैं । प्रकृति की अन्य जीवसृष्टियों में हम देखते हैं कि मादा को प्राप्त करने के लिए नर पशुपक्षियों में खूंख्वार युद्ध होता है । मादा, युद्ध के भाग लिए बिना, दूर खड़ी हुई तमाशा देखती रहती है और जीतने वाले वीर नर को खुशी-खुशी देह समर्पण करती है ।

सामान्य जीवन में नीतिवान माने जाने वाले पुरुष भी युद्धकाल में यथेच्छ देहभोग करते हैं । मनुष्य में काम का आवेग और क्रोध का आवेग,दोनों, समानान्तर रूप से विद्यमान रहते हैं । क्रोध भभक उठे तो रक्तपात और युद्ध में परिणत होता है ; और काम भड़क उठने पर बलात्कार, अमर्यादित व्यभिचार और गणिकावृत्ति में शमन ढूंढता है । एक का परिणाम मृत्यु है और दूसरे का जीवन । जीवन और मृत्यु ही सजीव सृष्टि के दो चिरंतन तत्व हैं । इन दोनों तत्वों को भड़काया जाय, तो ये अप्राकृतिक रूप धारण कर लेते हैं । इनमें का पहला तत्व युद्ध में परिणत हो जाता है और दूसरा भयानक अनाचार में ।

जीवन और मृत्यु दोनों प्राकतिक तत्व हैं । प्रकति इन दोनों को स्वाभाविक रूप में देखना चाहती है । इन दोनों को स्वाभाविक कक्षा पर और नियंत्रण में रखने वाली संयम नामक शक्ति केवल मानव संस्कृति में पायी जाती है । अतएव संयम को मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का मानदंड माना जाता है । इस संयम रूपी तत्व के अभाव में जीवन अस्वाभाविक और अप्राकृतिक हो जाता है । अनीति की अंतिम परिभाषा भी अस्वाभाविक कामजीवन की होती है । इसी प्रकार मृत्यु भी अस्वाभाविक और अप्राकृतिक नहीं होनी चाहिये । अनीति जिस प्रकार जीवन को अस्वाभाविक बनाती है, उसी प्रकार युद्ध या रोग मृत्यु को अस्वाभाविक बना देते हैं । अत: इन दोनों को अप्राकृतिक मानना होगा ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रोग और विनाश उत्पन्न करनेवाला युद्ध प्रकृति के अनुकूल नहीं है । अनीति और गणिकावृत्ति को अमर्याद कर देने वाला युद्ध हर हालत में अप्राकृतिक ही माना जायगा । युद्ध को न तो स्वाभाविक कहा जा सकता है और न नीतिप्रेरक ; न उसे धार्मिक कह सकते हैं और न ईश्वरप्रेरित । युद्ध का आरंभ होते ही ईश्वर मनुष्य का साथ छोड़ देता है । फिर भले ही मंदिरों में उसकी प्रार्थनाएँ होती रहें, देवालयों में दीपमालायें जलाई जायें, या धर्मालयों में घंटानाद किए जायें । विजेता और

पराजित, दोनों के लिए हिंसक युद्ध में ईश्वर की परछाँई भी दिखाई देना संभव नहीं ।

युद्ध और नीति का विचार करते समय हमारे हिंदू तत्वज्ञान से स्पष्ट की हुई षड्रिपु की भाव
सहायक हो सकती है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर को हमारे विचारकों ने मानवता के
सबसे प्रबल शत्रु माना है । युद्ध में इन छहों रिपुओं का तांडव अमर्याद हो उठता है यह सरलता से देखा
सकता है । युद्ध को आदरपात्र मानने वाले युद्ध के शौकीन विचार करें कि युद्ध में इन छ : में से कौनसा
अनुपस्थित रहता है ? हम एक एक करके इन पर विचार करें :—

१. युद्ध और अनीति का घनिष्ठ संबंध हम देख चुके हैं । अत : काम तो युद्ध में सदा उपस्थि
रहता ही है ।

२. लाखों अनजान और निर्दोष मनुष्यों की हत्या क्रोध के बिना संभव नहीं । अत : क्रोध की
युद्ध में सदा उपस्थिति रहती है ।

३. वर्तमान शताब्दी के युद्धों का जन्म अर्थप्रधान व्यवस्था के अमर्याद लोभ में से ही माना गया
साम्यवाद तो स्पष्ट आरोप लगा रहा है कि बड़े बड़े उद्योगपति, व्यापार में अमर्याद मुनाफाखोरी करने व
पूंजीपति और अंतर्राष्ट्रीय मंडियों पर नियंत्रण रखने वाले धनपति ही इस युद्ध के लिए जिम्मेदार है
अत : यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि धन, भूमि और यश का लोभ भी युद्ध का
महत्वपूर्ण उपादान है ।

४. युद्ध से स्वातंत्र्य की प्राप्ति होती है ; युद्ध द्वारा पददलित प्रजाओं को मुक्ति मिल सकती है ;
से भविष्य के युद्ध रुक सकते हैं ; युद्धों के बाद मनुष्यजाति का कल्याण करने वाली योजनाएँ कार्यान्वित
सकती हैं, आदि अनेक प्रकार के प्रचारात्मक सूत्रों का मोहजाल युद्धकाल में दोनों पक्षों द्वारा रचा जाता है
अकसर ईश्वर के नाम पर, धर्म के नाम पर, विश्वबंधुत्व के नाम पर या मानवता के नाम युद्ध पर लड़े ज
हैं । यह पूरा इंद्रजाल मनुष्यजाति के शत्रु मोह द्वारा ही रचा जाता है ।

५. युद्धरत प्रजाओं के मद का तो पार नहीं होता । आत्मश्लाघा, परनिंदा, असभ्यभाष
गालीगलौज, और छिद्रान्वेषण की वृत्ति मद होने के ही दुष्परिणाम हैं ।

६. और मत्सर तो सैन्यों की साँस है । युद्ध में बंदी वाले शत्रु के बड़े सेनानियों को वि
के सैनिक भी फौजी सलाम करके सम्मानित करें, ऐसी एक प्रथा महायुद्ध तक प्रचलित थी । प
मित्रराष्ट्रों के महान सेनापति कहे जाने वाले जनरल आइजन होवर ने इस प्रथा को तोड़ दिया । जो सैनि
इस पुरानी प्रथा का पालन करेंगे, उन्हें सजा दी जायगी, ऐसा फरमान जारी करके उसने मत्सर का
अक्षम्य उदाहरण प्रस्तुत किया है । अन्यत्र इस डाह की जोड़ी मिलना मुश्किल है । इस प्रकार का व्यव
असभ्यता की पराकाष्ठा है ; फिर चाहे वह हमारे सेनापतियों द्वारा किया जाय, चाहे दुश्मन
सेनाधिकारियों द्वारा । जो अशिष्ट बाते आज तक किसी युद्ध में नहीं हुई, वे इस युद्ध में हुई हैं ।
परंपरा-विरोधी बर्ताव भी युद्ध की निरर्थकता ही सिद्ध करता है ।

इस प्रकार युद्ध मनुष्यजाति के छहों प्रबल शत्रुओं का अनिष्ट संगठन सिद्ध होता है । युद्धका
मनुष्य की पशुता — पशुता नहीं ; क्यों की पशु भी युद्धरत मनुष्य की अपेक्षा कहीं अच्छे
हैं — मनुष्य की बर्बरता उसके संपूर्ण अनिष्ट भावों को जागृत कर देती है । युद्ध का संचालन करने
नेता इन भावों को और भी प्रज्ज्वलित करने की व्यवस्थित योजनाएँ बनाते रहते हैं । हिंसावृत्ति
विषयवासना उनकी इस कार्य में सहायता करते हैं । इसके लिए किसी विशिष्ट प्रजा को ही दोषपात्र म
योग्य नहीं होगा । जो भी प्रजा युद्ध में सहभागी होती है, वह जीते चाहे हारे, इन षड्रिपुओं के भ
तांडव का मुकाबला उसे करना ही पड़ेगा । विजेता अधिक नीतिवान होते हैं, यह मानने का कोई
नहीं ; क्यों कि युद्ध में विजय सदा सत्य की ही नहीं होती । अक्सर तो सत्य का आवरण ओढ़कर
और संहारशक्ति की श्रेष्ठता ही विजयी होते हैं ।

वर्तमान युग में यौन आकर्षण की बात चलते ही यौन मनोविज्ञान के दो वैज्ञानिक फ्रॉइड और हॅवलॉक एलिस का उल्लेख अवश्य किया जाता है । फ्राइड का मत है कि सामाजिक बंधन और रस्मो-



रिवाज मनुष्य की स्वाभाविक और नैसर्गिक वृत्तियों पर कड़ा अंकुश रखते हैं । ये वृत्तियाँ मनुष्यों के अंतर्मन में सदा जीवित रहती हैं । इन वृत्तियों में कामवृत्ति सबसे प्रबल होती है । युद्ध सामाजिक बंधनों और नीति के अंकुशों को नष्ट कर देता है अत: युद्धकाल में ये दबी हुई वृत्तियाँ बलपूर्वक सतह पर आ जाती हैं और समाज एवं कानून द्वारा अवरोधित मनुष्यबध और यौन अनीति आदि तत्व लगाम तोड़कर बेकाबू हो उठते हैं । हमारे अधिकांश सामाजिक और धार्मिक उत्सव कड़े अंकुश में रखे गये यौन आवेगों को कुछ हद तक निरंकुश होने का मौका देते हैं, यह हम देख चुके हैं । युद्ध भी देशभक्ति के नाम पर, धर्म के नाम पर और मानवता के नाम पर रचा जाने वाला एक महाभयंकर संहारोत्सव ही है । मुंडमाल पहन कर नाचनेवाली मनुष्य की आदिम जातियों का जंगलीपन ही युद्ध के रूप में सभ्य और प्रगत प्रजाओं में पुनर्जीवित हो उठता है । जिन यौन व्यवहारों को सुसंस्कृत प्रजाएँ अशिष्ट मानती हैं, वे भी युद्धकाल में शिष्टता का जामा पहन कर पुनर्जन्म लेते हैं । अन्य राजनैतिक या आर्थिक उद्देश्य युद्धों के पीछे नहीं होते, यह कहने का आशय नहीं है । परंतु युद्ध के घोषित और प्रचारित सदुद्देश्यों के साथ ये दुष्ट उद्देश्य कितनी बेमालूम तौर से संकलित हो जाते हैं, यह स्पष्ट करना ही हमारा हेतु है ।

ईसा की एक आज्ञा है : ''अपने पड़ौसी की पत्नी की ओर कुदृष्टि मत कर ।'' परंतु ईसाई प्रजाएँ युद्ध करते समय केवल पड़ौसी की ही नहीं बल्कि नजर पड़ने वाली अपनी, पराई, सभी स्त्रियों की ओर कुदृष्टि करती हैं । युद्धजन्य मानस में यौनवृत्ति सदा प्रक्षुब्ध और अमर्याद रहती है । भय, आश्चर्य, स्तंभ रोमांच का उत्कट अनुभव स्त्री-पुरुष की जननेंद्रियों को भी प्रभावित करता है । इससे उत्पन्न वासना के आवेग को संतुष्ट करने के लिए स्त्री-पुरुष चाहे जैसे यौन कृत्य-कुकृत्य करने पर उतारू हो जाते हैं । सामान्यत: एक चूहे से भी डरने वाली और चींटी को भी न मार सकने वाली कोमल स्त्री युद्धकाल में संवेदन के ऐसे तीव्र स्तर पर पहुँच जाती है कि मौत का मुकाबला करने वाले पुरुष से उसे आदर्श पौरुष के दर्शन होते हैं । इस आदर्शपुरुष के चरणों में आत्मसमर्पण करके उसे अपनी देह सौंप देने की प्रबल इच्छा स्त्रियों में बीजरूप से सदा मौजूद रहती है । युद्धकाल में सामान्य नीतिनियमों में शिथिलता आते ही यह सुषुप्त भाव जागृत हो उठता है और उन्हें अनीति के मार्ग पर ले जाता है । अनेक पत्नियों ने अपने पतिओं को, अनेक माताओं ने अपने पुत्रों को और अनेक बहनों ने अपने भाइयों को इसी आदर्श पुरुषत्व के भाव से प्रेरित होकर युद्ध में भेजे हैं । इसी भाव पर आधार रखकर, अनेक देशों में सैनिकों की भरती करने का काम स्त्रियों को सौंपा जाता है । युद्ध विरोधियों के साथ मेल जोल रखने में भी ये स्त्रियाँ अपमान का अनुभव करती हैं । इन स्त्रियों की प्रेरणा से ही अनेक पुरुष अपना रोजमर्रा का काम छोड़कर सेना में भरती हो जाते हैं, यह बात अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है । इस प्रकार स्त्रियों का मृदु स्त्रीत्व



मी पुरुषों को युद्ध में जाने की प्रेरणा देकर युद्ध की सहायता करना रहता है।

सुषुप्त यौन वृत्तियों को युद्ध अनियंत्रित बना देता है। संयम, सभ्यता और सब प्रकार के विधिनिषेध युद्धकाल में अदृश्य हो जाते हैं। युद्ध में जीवन की अस्थिरता बढ जाने के कारण, मृत्यु से पहले मिलने वाले हर क्षण का आनंदपूर्ण उपभोग कर लेने की वृत्ति सैनिकों में सतत जागृत रहती है। प्राथमिक आवेश में सैनिक युद्ध के मोरचों पर चले जाते हैं; या यह कहो कि स्त्रियां उन्हें प्रोत्साहित करके युद्धक्षेत्र में भेज देती हैं। परंतु कुछ समय बाद ही इन पुरुषविहीन स्त्रियों की कामवृत्ति में ऐसी तीव्रता जगती है कि युद्ध में न जाकर घर में बैठे हुए कायरों का भी कामतृप्ति के लिए उपयोग करने में वे नहीं हिचकतीं।



प्रथम विश्वयुद्ध की शुरूआत में, इंग्लैंड के समाचारपत्रों में विज्ञापन दिया गया था कि जो पुरुष सेना में भरती होंगे उन्हें मेरी पिक्फर्ड नामक विख्यात फिल्म अभिनेत्री एक-एक चुंबन देगी। फ्रान्स में गॅबी डेस्ली नामक अभिनेत्री ने भी इसी प्रकार की घोषणा की थी। इसके उपरांत अपने हस्ताक्षरयुक्त अपनी तस्वीर भी प्रत्येक रंगरूट को देने का प्रलोभन दिया था। इसे देशभक्ति माने या कुछ और? यदि इसमें देशभक्ति हो भी, तो उसका रूप कितना विकृत है! स्त्रियों के चुंबन बेच बेचकर सैनिक खरीदने पड़ें, ऐसे युद्ध में कौनसी उच्च भावना हो सकती है।

स्त्रियों का अलंकार-प्रेम तो प्रसिद्ध ही है। सैनिक की वर्दी पहने हुए पुरुष स्त्रियों को बहुत आकर्षक लगते हैं, यह भी मानी हुई बात है। मर्दानगी भरी और रोब दाब वाली फौजी पोशाक स्त्रियों को मोहित कर लेती है। इस संमोहन के प्रभाव में आ जाने वाली युवती सैनिक गणवेश वाले पुरुष के पीछे दीवानी हो उठती है और उससे वासनातृप्ति चाहती है। स्त्रियों के मानस की यह भी एक विचित्रता है। पुरुष सबसे अधिक अलंकृत और आकर्षक सैनिक वर्दी में ही दिखाई देता है। अत: वैयक्तिक रूप से अलंकार प्रेमी स्त्रीमानस अलंकृत पुरुष, के प्रति आकर्षित हो यह स्वाभाविक ही है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष परस्पर आकर्षित करने वाले कामव्यवहार की सृष्टि करके, एक दूसरे के सहारे, देश के युद्धों में तत्परता से भाग लेते हैं।

३

युद्धकालीन अनाचार का वर्गीकरण

युद्धकालीन अनाचार दो विचित्र विभागों में बंट जाता है:— (१) धनिकों का अनाचार (२) धनहीनों का अनाचार।

धनिक स्त्रियों को भी युद्धकाल में थोड़ी बहुत तकलीफ होती है यह सही है । परंतु उनका धन उनके सुखसुविधा के साधनों में कोई खास कमी नहीं पड़ने देता । युद्धकाल में सब चीजें महँगी हो जाती हैं ; परंतु धनिकों को वे मिलती ही रहती हैं । काले बाजार को प्रोत्साहन धनवानों द्वारा ही दिया जाता है । साथ ही, काले बाजार में बेहिसाब धन कमाने वाले युद्धकालीन धनकों का एक नया वर्ग भी उपत्न्न हो जाता है । खानदानी धनवान युद्धकाल में काले बाजार का आश्रय लेकर भी अपनी सुख-सुविधाओं में कमी नहीं पड़ने देते । काला बाजार करने की हिम्मत और काबिलियत होने वाले छोटे छोटे व्यापारी इन धनवानों से या गरजमंदें से मनमाना भाव वसूल करके,धीरे धीरे खुद भी धनवानों की श्रेणी में आ जाते हैं । इस प्रकार युद्धकाल में खानदानी धनवान तो धनवान ही रहते हैं, परंतु अनेक सामान्य मनुष्य भी बड़ी रफ्तार से पैसा कमाकर नूतन धनवानों का एक नया वर्ग खड़ा कर देते हैं ।

काले बाजार की करामात का प्रथम विश्वयुद्ध में तो भारत को अधिक अनुभव नहीं हुआ था, परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध में हमारे यहाँ भी काले बाजार की जड़ जम गई है । अनेक लोगों ने इस मार्ग से बेशुमार धन कमाया है । महात्मा गाँधी की जय के नारे लगाते हुए तिरंगा झंडा लेकर जुलुसों में उछलकूद करने वाले ; खादी धारण करके देशभक्ति के नाम पर होने वाले हर आंदोलन में जी खोल कर चंदा देने वाले, समाचार पत्रों में गरमागरम लेख लिखने वाले, और वाइसरॉय या गवर्नर पढ़े या न पढ़े इसकी परवाह किए बिना उन्हें लंबेलंबे पत्र लिखकर जेल में जाने की भीख मांगने वाले, कई प्रकार के नाटकी देशभक्तों ने इस युद्ध में भयंकर काला बाजार करके असीम धनसंपत्ति जमा की है । गाँधीजी की थैलियाँ उन्होंने इसी धन से भरी हैं, यह अलग से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं । हमारे ईर्दगिर्द नजर डालते ही, कहीं भी इन शुभ्रवसन धारी लोगों के दर्शन हो सकते हैं । खुद गाँधीजी के आसपास भी ये मँडराते रहते हैं ।

ऐसे अनेक धानक स्त्री-पुरुषों का युद्ध का प्राथमिक नशा उतरते ही उनकी आनदेच्छा जागृत हो उठती है और सार्वजनिक कार्य या युद्ध संबंधी कार्य करने के बहाने एकत्र होकर वे अनेक प्रकार के अनाचारों की सृष्टि करते हैं । विगत विश्वयुद्ध के दौरान में यूरोप के देशों में तीन-तीन, चार-चार बार विवाह करनेवाली स्त्रियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी । "तुम नहीं और सही, और नहीं और सही" वाली उक्ति उस समय यूरोप में सचमुच ही चरितार्थ हो रही थी । इसी युद्ध में विवाह संस्था के प्रति लोगों की श्रद्धा यहाँ तक कम हो गई कि विवाह के लिए "कानून मान्य गणिकावृत्ति 4(Legalized Prostitution)" नामक शब्दप्रयोग रूढ़ हुआ । विवाह कानून द्वारा तो मान्य है, परंतु उसे गणिकावृत्ति के समकक्ष मानना विवाह के स्थैर्य उत्तरदायित्व और सर्वांगी सहचार के अस्तित्व से भी इनकार करना है । विवाह सम्बन्ध और गणिकावृत्ति परस्पर विरोध भावनाएँ हैं । विवाहबंधन की शिथिलता और तलाक की विगत विश्वयुद्ध के बाद विवाह एक मजाक या विषय मात्र रह गया है । परंतु कटाक्ष में भी विवाह को 'कानूनमान्य गणिकावृत्ति' कहने की प्रथा और मनोवृत्ति युद्धोत्तर काल में ही शुरू हुई है । पुराने धनिक और युद्धकाल में काला बाजार करके बने हुए नवधनिकों और उनकी पत्नियों द्वारा बार बार बदले जाने वाले विवाह संबंधों की परंपरा धनिकवर्ग में एक विशिष्ट प्रकार की गणिकावृत्ति का प्रसार करके समाज में अनाचार फैलाती है । इस प्रकार के सुविधाजन्य विवाहों को विवाह की अपेक्षा उच्चभ्रू समाज की सोफियानी गणिकावृत्ति ही मानने को जी चाहता है ।

परंतु गरीब स्त्रियां का प्रश्न सरलता से समझ में आ सकता है । युद्ध की आँधी गरीब-अमीर का भेद किए बिना, सबको स्पर्श करती है । परंतु गरीबों के पास उससे त्राण पाने का कोई साधन न होने के कारण, युद्ध ज्यों ज्यों लंबा चलता जाता है त्यों-त्यों धनहीनों के गुजारे का प्रश्न विकट होता जाता । परिवार का कमाने वाला पुरुष ही युद्ध में मारा जाय, या अपंग होकर घर वापस आये, तो स्त्री के सामने जीवन-निर्वाह की कठिन समस्या खड़ी हो जाती है । सरकार से मिलने वाला निवृत्ति-वेतन कभी पर्याप्त नहीं होता । भरी जवानी में ही यह दुर्दिन आ पड़े तो देहसुख भोगने की कामना भी स्त्री पुरुष में लंबे समय तक जीवित रहती है । विषयसुख के आदान प्रदान द्वारा धन कमाना सुगम



दिखाई देते ही गरीब स्त्रियों में पतितावृत्ति आजीविका का राजमार्ग बन जाती है। युद्ध की या देशभक्ति की आँधी शांत हो जाने पर भी काम के अंधड़ का शमन नहीं होता। इसी परिस्थिति में से जल्दबाजी के कामचलाऊ विवाहों की परंपरा खड़ी होती है। बिना विचारे, केवल देहसुख के लिए सहवास करने वाले स्त्री पुरुषों को जल्द ही अलग होते हुए देखा गया है। इन जल्दम-पल्दम विवाहों का अंत भी अक्सर गणिकावृत्ति में ही होता है।

युद्ध के प्रक्षोभ में विवाह कर डालने वाले युवक-युवतियों की जल्दबाजी आश्चर्यजनक होती है। प्रथम विश्वयुद्ध की घोषणा होते ही पॅरिस शहर की लगभग आधी वयस्क जनसंख्या ने विवाह कर डालने का निश्चय किया। विवाह दर्ज करने वाले दफ्तरों के सामने सैनिक-युवक और युवतियों की लंबी-लंबी कतारें दर्ज किए गये थे। युवकों की जबान पर एक ही वाक्य सुनाई देता था, ''कल तो मुझे मोरचे पर जाना दर्ज किए गये थे। युवकों की जबान पर एक ही वाक्य सुनाई देता था, ''केवल नो मुझे मोरचे पर जाना है। आज विवाह कर ही लेना चाहिये।'' ऐसी हालत में विवाह की मर्यादा कहाँ पर समाप्त होकर विषयलोलुपता का प्रदेश का कहाँ से शुरू होता था, और कहाँ जाकर उसकी सीमाएँ गणिकावृत्ति से मिल जाती थी, यह निश्चय करना मुश्किल हो गया। देखते-देखते ऐसे विवाहों और गणिकावृत्ति में कोई अंतर न रहा।

इस प्रकार के कामोन्माद से स्त्री पुरुष के स्वभावों में भी परिवर्तन आ जाता है। स्त्री सामान्यत: अधिक लज्जाशील होती है। संभोग में पहल वह कभी नहीं करती। संभोग की माँग भी स्त्री की ओर से प्राय: नहीं की जाती। स्त्री-जाति का यह जन्मजात और स्वभावसिद्ध संकोच माना गया है। परंतु युद्धकाल



में स्त्री स्वभाव की लज्जावृत्ति शायद जड़मूल से नष्ट हो जाती है। पुरुषों से छेड़छाड़ करके उन्हें संभाग के लिए आमंत्रित करने की हद तक स्त्रियों की बेशर्मी पहुँच जाती है। लोकलाज का भय तो विगत विश्वयुद्ध की शुरुआत में ही अदृश्य हो गया था। शिष्ट-अशिष्ट, शिक्षित-अशिक्षित, धनिक-निर्धन, सभी प्रकार की स्त्रियाँ केवल कामुकता और विषयसुख के भँवर में ही फँसी हुई दिखाई देती थीं।

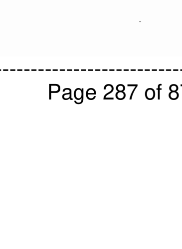
युद्धकाल में सैनिक मोरचों पर या शिक्षाकेन्द्रो में चले जाते हैं; अत: शहरों में पुरुषों की संख्या बिलकुल कम हो जाती है। इस परिस्थिति में इन कामुक स्त्रियों को पुरुष बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, और पुरुषों की प्राप्ति के लिए इनमें स्पर्धा चलती है। पुरुष संसर्ग के लिए ये स्त्रियाँ भीतर ही भीतर छोटे

मोटे षडयंत्र भी रचने लगती हैं । आज से सिर्फ पचीस वर्ष पहले, प्रथम विश्वयुद्ध के दरमियान फ्रान्स की एक स्त्री ने यौनसुख के कारण क्या-क्या तरकीबें लड़ाई इसका दृष्टांत यहाँ उपयोगी होगा । फ्रान्स की प्रजा यौन नीति-अनीति में विश्वास नहीं रखती और खुलेआम इसको स्वीकार भी कर लेती है । अत : उसा प्रजा में इस प्रकार के उदाहरणों का मिलना अधिक संभव है ।



युद्ध के आरंभ से ही फ्रान्सीसी पुरुष देश में उपस्थित नहीं थे ; अत ; इन स्त्रियों में अफ्रीका और एशिया के काले सैनिकों की मांग बहुत बढ़ गई । कृष्णवर्णीय पुरुषों, की विशेषत : हब्शियों की कामशक्ति गौरांग पुरुषों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और दीर्घजीवी होती है, ऐसी मान्यता भी यूरोपीय स्त्रियों में प्रचलित थी । एक फ्रान्सीसी युवती का पति युद्ध के मोरचे पर गया हुआ था । उसी शहर में छावनी डालकर पड़ी हुई अफ्रीकन सेना के एक हब्शी सैनिक से इस स्त्री ने प्रेम करना आरंभ कर दिया । यह स्त्री कोई किशोरी या मुग्धा नहीं थी बल्कि रतिसुख से परिचित मध्यम आयु की स्त्री थी । अपन हब्शी प्रेमी के साथ कुछ दिनों तक तो उसनेअमर्याद विषयसुख का उपभोग किया । परंतु कुछ सप्ताहों के बाद इस स्त्री को महसूस हुआ कि उसके श्यामवर्ण प्रेमी का उत्साह कुछ कम होता आ रहा है । वियोग का काल भी दिनोंदिन बढ़ने लगा । युवती को संदेह हुआ ; और पूछताछ करनपर उसका संशय सही प्रमाणित हुआ । मालूम हुआ कि सत्रह वर्ष की एक अन्य किशोरी के साथ इस हब्शी सैनिक का स्नेह संबंध जुड़ गया था । इस स्त्री ने किसी भी हालत में यह संबंध तुड़वा देने का निश्चय किया । उसने किसी प्रसिद्ध अस्पताल की मुहर वाले कागज पर हब्शी सैनिक के नाम एक पत्र लिखा । पत्र इस तरह लिखा गया मानो अस्पताल के डाक्टर इस सैनिक को राय दे रहे हों । पत्र में लिखा था, "अगर तुम्हारा ख्याल हो कि किसी कम उम्र की अक्षतयोनि बालिका क साथ देह सबध करने स तुम्हारा उपदश रोग अच्छा हा जायगा, तो यह तुम्हारी गलती है । ऐसे वहमों से रोग अच्छा नहीं होगा ; शास्त्रीय उपचार करने से ही रोग दूर हो सकेगा । अत : तुम्हें तुरंत अस्पताल में भरती हो जाना चाहिये ।" यह पत्र उसकी नयी प्रेमिका के हाथों में पड़े, ऐसी जगह रखा गया । कुतूहलवश इस मुग्धा ने अपने प्रेमी के नाम का पत्र खोलकर पढ़ा । वह तो लिखा ही उसके पढ़ने के लिए गया था । उसमें सत्य का छींटा भी नहीं था ; परंतु उसका प्रभाव तत्काल पड़ा । उपदंश के रोगी प्रेमी से भयभीत होकर दूसरे दिन सुबह ही वह अपना पता ठिकाना दिए बिना गायब हो गई । इस प्रकार एक स्त्री के कामोन्माद के कारण इस षडयंत्र की रचना हुई । युद्धकाल में इस प्रकार की घटनाएँ पश्चिम के देशों में होती ही रहती हैं ।

पुरुषों को आकर्षित करने की मनोवृत्ति में से ही वस्त्र परिधान के नये-नये फैशन और देहशृंगार की विविध प्रथाएँ स्त्रियों में प्रचलित होती हैं । कौनसी वेशभूषा पुरुष को अधिक से अधिक आकर्षित करेगी ; कौनसी अलंकार रचना पुरुष का अधिक ध्यान खींचेगी ; और कौनसी अदा पुरुष की आँखों को अधिक पसंद आयेगी, इन प्रयोगों में ही विगत युद्ध में स्त्रियों का ध्यान मशगूल रहता था । पुरुष को जाल में फाँसने के लिए वस्त्राभूषण और साजशृंगार के अनेकविध प्रयोग युद्धकाल में हुए थे । युद्धकाल में बचत







करनी चाहिये, यह प्रचार भी अमर्याद कामवृत्ति के अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुआ । वस्त्र की बचत करने के बहाने स्त्रियों ने अत्यंत ओछे, तंग और देह का अधिक से अधिक प्रदर्शन करने वाले वस्त्र पहनना आरंभ किया । ओछे वस्त्रों का मजाक उड़ानेवाला एक व्यंग्यचित्र युद्धकाल में प्रकाशित हुआ था । एक पुरुष और एक स्त्री में कपड़े के एक टुकड़े को लेकर विवाद हो रहा है । पुरुष उस चीर को अपनी टाई कहता है, परंतु स्त्री उसे अपनी स्नान की पोशाक (Bathing suit) प्रमाणित करने की कोशिश कर रही है । टाई की लंबाई-चौड़ाई से दुनिया में सब परिचित हैं । टाई में स्नानवस्त्र का भास होता हो, तो स्नानवस्त्र की लंबाई-चौड़ाई कितनी होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही यूरोप-अमरीका में स्त्रीदेह के प्रत्येक उभार को अधिकाधिक स्पष्ट करने वाली और स्त्री देह के अधिक से अधिक भाग का अनावृत प्रदर्शन करने वाली वेशभूषा प्रचलित और लोकप्रिय हो उठी थी, जिसका अपने यहाँ भी व्यापक अनुकरण हुआ है । द्वितीय विश्वयुद्ध ने इसमें और क्या-क्या सुधार और परिवर्तन किए हैं, यह देखना बाकी है । इन आचारों की परिणति व्यापक गणिकावृत्ति में ही होती है ।

युद्ध स्त्रीजाति को पतन की किस भूमिका तक ले जाता है, यह समझने के लिए विगत विश्वयुद्ध का एक ही उदाहरण काफी है । हंगरी के एक गाँव की स्त्रियों ने सेनापति के नाम आवेदन पत्र भेजा : "युद्ध के मोरचों पर लड़ने वाले वीरों की पत्नियाँ युद्ध संचालन के प्रमुख से एक नम्र प्रार्थना करती हैं । हम जानती हैं कि हमारे पतियों की युद्ध में आवश्यकता है और उन्हें दूर देर के मोरचों पर लड़ने के लिए भेजना भी जरूरी है । हम यह भी जानती हैं कि वे जल्द ही लौट कर नहीं आ सकेंगे । इसलिए हमारी प्रार्थना है कि युद्ध में दृष्टि खो बैठने वाले कुछ सैनिकों को हमारे गाँव में भेज दिया जाय । आँखों के अभाव में, किस स्त्री के साथ उनका संबंध हो रहा है यह वे जान नहीं सकेंगे । इस प्रकार स्त्रियों की लज्जा की भी रक्षा होगी और उनके पतियों की अनुपस्थिति भी उन्हें महसूस नहीं होगी ।" युद्धकाल में स्त्रियों की नीतिभावना इस हद तक गिर सकती है । अंध पुरुष से समागम करने से मानों व्यभिचार का पातक कुछ कम हो जाता हो !

४

युद्ध और व्यसन

मनुष्यजाति में यह मान्यता व्यापकता से प्रचलित है कि अफीम या कोकेन का नशा स्त्री और पुरुष की कामवृत्ति को अत्यंत प्रबल और जागृत बनाता है । आंशिक रूप में यह मान्यता सच भी हो सकती है ।ये दोनों चीजें जननेंद्रियों को कृत्रिम शक्ति प्रदान करती हैं । युद्ध के वातावरण में मन वैसे ही प्रक्षुब्ध रहता है । अफीम और कोकेन जैसे विष इस आवेग में और भी वृद्धि करते हैं । समागम सुख का उत्कट आनंद प्राप्त करने के लिए अफीम और कोकेन का नशा बहुत जल्दी सर्वप्रिय हो जाता है और स्त्री-पुरुष, दोनों वर्गों में उसका प्रयोग व्यापकता से होने लगता है । अन्य सब नशों की अपेक्षा अफीम या कोकेन का अमल व्यसनी को अपने पाश में अधिक मजबूती से पकड़ता है । ये व्यसन युद्ध की समाप्ति के बाद भी चलते रहते हैं । युद्ध की समाप्ति का अर्थ युद्धजन्य संकटों की समाप्ति नहीं होता । ये दोनों नशे मानवदेह को निर्बल, सुस्त, रोगिष्ट और किसी भी काम के लिए अयोग्य बना देते हैं । इनकी तलब इतनी भयंकर होती है कि इनके बिना व्यसनी का काम ही नहीं चलता । इन मादक पदार्थों की मात्रा भी दिन पर दिन बढ़ानी पड़ती है । वर्तमान् जगत में केवल देखादेखी या फैशन के नाम पर जो घातक शौक फैले हैं, उनमें कोकेन का स्थान बहुत ऊँचा है । इसे कहीं भी और कैसे भी छिपाया जा सकता है । किसी भी तरह, कहीं भी और किसी भी समय इसका सेवन किया जा सकता है । शराब की तरह इसकी बदबू से पकड़जाने का भय नहीं होता । अन्य मादक पदार्थों की तरह कोकेन का विक्रय भी सरकारी परवाने के बिना नहीं हो सकता । परंतु अमरीका में जिस प्रकार शराबबंदी के जमाने में गैर कानूनी शराब का व्यापार प्रजाजीवन में बहुत गहरा उतर गया था, उसी प्रकार कोकेन का गैर कानूनी और निषिद्ध व्यापार भी केवल दो एक देशों में नहीं बल्कि पूरे संसार में फैल गया है । इसके तस्कर-व्यापारी इस व्यवसाय से करोड़ों रुपया कमाते हैं । भारत में जुए के अड्डों, गणिकागृहों और कुछ पान वालों के यहाँ कोकेन का फुटकर व्यापार चलता है । आज के अनेक धनपतियों ने काले बाजार के साथ-साथ इस व्यापार से भी लाभ नहीं उठाया है, यह नहीं कहा जा सकता । अपने व्यापार का जाल पूरे देश में फैला देने वाले अनेक लखपती और करोड़पती काला बाजार करके धन कमाते हैं, यह बात न्यायालयों में शायद प्रमाणित न हो सके । परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि काले बाजार का उन्होंने नाम भी नहीं सुना, या वे भांग, गांजा, अफीम, कोकेन आदि के व्यापार से परिचित नहीं, या गणिकावृत्ति से उनका कोई संबंध नहीं । आजकल सिनेमा उद्योग को प्रोत्साहन देने वाले अनेक धनकुबेर इस संबंध में अदालतों में चाहे कुछ न कहें, परंतु एक मित्र के नाते आप पूछें, तो सत्य की झलक अवश्य दिखाई दे जायगी । विगत विश्वयुद्ध में कलकत्ते की बतसिया बारीवाली नामक सुविख्यात गणिका ने पुलिस की नजरों के सामने कोकेन का व्यापार करके लाखों रुपये कमाये थे ।

पुलिस के छापों में पकड़े जाने वाले कुछ अपराधियों के बयानों से कोकेन को छिपाकर लाने-लेजाने की अनेक तरकीबों पर प्रकाश पड़ सका है । यूरोप के एक तम्बाकू बेचने वाले ने अपनी दूकान के पिछले हिस्से में बिलियर्ड का टेबल लगवा लिया था । इस टेबिल के पाये अंदर से पोले थे, जिनमें वह कोकेन छिपा कर रखता था । सिगार, फाउन्टन पेन और पोमेड की शीशियों में भी कोकेन छिपाकर लाई जाती थी । तली हुई पकौड़ियों के भीतर, संतरों में और कृत्रिम फूलों में कोकेन छिपाकर बेचने के उदाहरण भी प्राप्त हैं और संगीतकारों के वाद्यों में छिपाई हुई कोकेन भी पकड़ी गई है । यह व्यसन है ही ऐसा कि एक बार मनुष्य इसके चंगुल में फँसा, तो आजीवन छूट नहीं सकता । यह नशा मनुष्य को पशु से भी नीची कक्षा पर ले जाता है । यह व्यसन अक्सर कामकाज बिना के रंगीले धनवानों, सदा युद्ध के प्रक्षोभक वातावरण में रहने वाले सैनिकों और अमर्याद कामवासना से उन्मत्त स्त्रियों में ही अधिक पाया जाता है । गणिकाएँ तो कोकेन के व्यसन में पारंगत होती हैं । अनेक पुरुषों के समागम से उत्पन्न होने वाली शिथिलता और शारीरिक छीजन को भुलाने के लिए गणिकाएँ अकसर कोकेन का ही सहारा लेती हैं ।

इस प्रकार शराब और अफीम के साथ साथ कोकेन भी वर्तमान संस्कृति की एक प्रबल दुश्मन बन बैठी है । युद्ध इस शत्रु को और भी पुष्ट करता है । व्यसनों का सहारा लिये बिना युद्ध में कोई लड़ ही नहीं सकता. ऐसी मान्यता भी अशिक्षित और अर्धशिक्षित सैनिकों में दिनोंदिन फैलती जा रही है । युद्ध, व्यसन और स्त्री, इन तीनों का मेल होते ही गणिकावृत्ति पूरी बहार से खिल उठती है । इनमें से युद्ध तो बंद हो भी जाता है; परंतु व्यसन और गणिकावृत्ति कभी बंद नहीं होते ।

युद्धजन्य परिस्थिति, इस प्रकार, अनेक अनिष्टों के लिए जिम्मेदार है । अनीति की दिशा में एक भी कदम उठाया जाय, तो अंत में यह गणिकावृत्ति की दिशा में ही ले जाता है । युद्ध के कारण अनेक परिवार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं; और वर्षों तक सुखी विवाहित जीवन व्यतीत करने वाले स्त्री पुरुष भी युद्धजन्य वियोग के कारण, अपने अपने तरीके से यौन सुख प्राप्त करने लगते हैं; और इसी में से विवाह विच्छेद के अनगिनत प्रसंग जन्म लेते हैं । एक पत्नी व्रत की शेखी हाँकने वाले यूरोप में एक साथ अनेक स्त्रियों से संबंध रखने की प्रथा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है । गर्भपात करवाने वाले अनेक शल्य चिकित्सक इसी को अपना एकमात्र व्यवसाय मानकर धन कमा रहे हैं । बालमृत्यु का प्रमाण बढ़ गया है । कालाबाजार अपने नागपाश में सभ्य जगत को जकड़े हुए हैं । गणिकाओं के झुंड के झुंड दिखाई देने लगे हैं और धीरे धीरे वे सभ्य और प्रतिष्ठित गृहों पर भी आक्रमण करने लगी हैं । मनुष्य दंभ तो करता है युद्ध में से स्वातंत्र्य प्राप्त करके मनुष्यजाति का कल्याण करने का । परंतु प्राप्ति होती है उसे केवल मानवता की भक्षक शैतानियत की । युद्ध के अंत में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हमारी विजयपताका हवा में फहरा रही है, या हमारा ध्वज विजेताओं के कदमों में धूल खाता पड़ा हुआ है । मानवता का पतन दोनों परिस्थितियों में समान रूप से होता है ।

५
पुरुषों की गणिकावृत्ति

युद्ध के कारण इन से भी कई गुने भयानक प्रसंगों की सृष्टि होती है । गणिकावृत्ति करने वाली स्त्रियाँ सुनी हैं, परंतु गणिकावृत्ति करने वाले पुरुष कभी नहीं सुने । न सुने हों, तो किसी भी युद्ध का इतिहास पढ़ना चाहिये ! युद्धकाल में पुरुष भी गणिकाओं के समान व्यवसाय करते हुए दिखाई देते हैं ।

शिष्टता के आडंबर से ग्रस्त उच्चवर्गों की धनिक स्त्रियाँ युद्धकाल में पुरुषों के अभाव के कारण अपनी वासना को संतुष्ट नहीं कर पातीं । देश के अधिकांश नौजवान युद्ध में या युद्ध संबंधी अन्य कार्यों

में व्यस्त रहते हैं । मध्यम वय क पुरुष राजनैतिक और सामाजिक कार्यों में लगे रहते हैं । ऐसे समय इन बेकार और साधन संपन्न स्त्रियों को किसी भी प्रकार का विधायक कार्य न होने के कारण, सतत उत्तेजना चाहने वाली इनकी कामवृत्ति बहक जाती है ।

इस हालत में ये कामोन्मत्त स्त्रियाँ गुप्त मंडलों की स्थापना करके वहाँ भूले भटके पुरुषों को आमंत्रित करती हैं ओर उन्हें कीमती भेंट-सौगात या नकद रकम देकर यथेच्छ व्यभिचार करती हैं । धीरे-धीरे इन पुरुषों से मोलभाव करके और उनकी मांगी हुई रकम चुकाकर ये स्त्रियाँ वासनातृप्ति करने लगती हैं । इसी को पुरुषों की गणिकावृत्ति कहा जाता है । जिस प्रकार स्त्री गणिका धन के बदले में पुरुष को देह समर्पण करके उसे संतुष्ट करती है, उसी प्रकार, पुरुष यदि धन देने वाली स्त्री की कामवृत्ति करे, तो उसे भी गणिका ही मानना होगा । यह बात चाहे जितनी आश्चर्यजनक मालूम दे, है यह पूर्णत: सत्य ।





दसवाँ परिच्छेद
युद्ध, जासूसी और गणिकावृत्ति

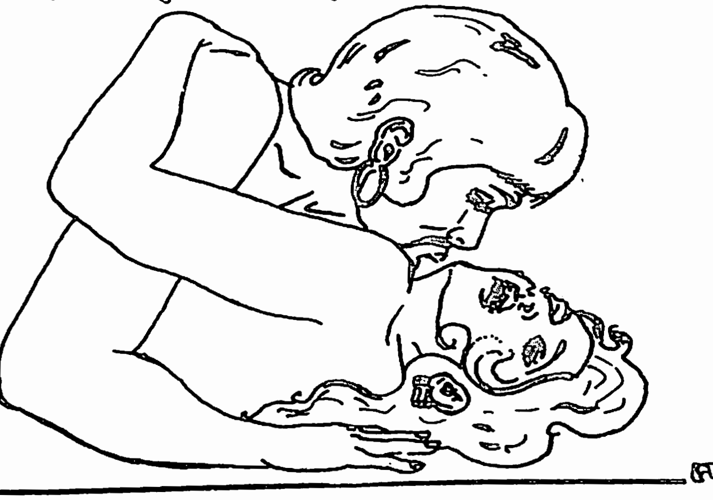
१
जासूसी के कारण

पिछले परिच्छेद में हमने देखा कि किस प्रकार अनाचार और गणिकावृत्ति का पोषक युद्ध सभ्य स्त्रियों को भी अनीति के मार्ग पर ले जाता है । युद्धरत देशों के सत्ताधीश अपने विरोधियों के गुप्त रहस्य, उनके गोपनीय दस्तावेज, छिपने के स्थान, सैनिक यातायात के कार्यक्रम और सांकेतिक संदेशों की खोज करके उनका अपने पक्ष की विजय के लिए उपयोग करते हैं । इसके लिए गुप्तचर विभाग की योजना की जाती है । इस विभाग में स्त्रियों की सहायता बड़े पैमाने पर ली जाती है । पुरुष एक बार किसी स्त्री के आकर्षण में बंधा, कि स्त्री का संमोहन उसे पूर्णत : पराधीन और असहाय बना देता है, यह मानी हुई बात है । पुरुष की गोद में या उसकी बगल में बैठकर, या उसके साथ सहशयन करके बालकों जैसे हास्यास्पद प्रश्न पूछने वाली सुंदर गुप्तचर-रमणी को एक बार हृदय सौंप देने पर, उसके बचकाने और निर्दोष लगने वाले प्रश्नों का उत्तर न देना, किसी पुरुष के लिए संभव नहीं । फिर ये प्रश्न चाहे फौजी दस्तों या नौकाओं के बेड़ों के यातायात संबंधी हो ; बारूद या हथियारों को छिपाने के स्थान विषयक हों ; या हवाई जहाजों की उड़ान के संबंध में हों । गलबहियाँ डाल कर बैठी हुई स्त्री, किसी भी पुरुष को, बड़े-बड़े ऋषि मुनियों को भी, कामविह्वल कर सकती हैं । स्त्री के लिए यह संपूर्ण विजय का क्षण होता है । कामांध पुरुष यदि शराब, अफीम या कोकेन के नशे में हो, और स्त्री यदि चौकन्नी और सावधान हो, तो वह उससे जो चाहे सो करवा सकती है । पुरुष ऐसी स्थिति में स्त्री पर अपना सर्वस्व निछावर करने को प्रस्तुत रहता है, और अपने देश या अपनी सेना के गुप्त रहस्य, जिनपर लाखों लोगों का जीवन निर्भर हो, हँसते-हँसते अपने पहलू में लेटी हुई स्त्री को सुना देता है । सैनिक अधिकारी मनुष्य की इस कमजोरी को जानते हैं और सुंदर स्त्रियों की गुप्तचर विभाग में नियुक्ति करके उनके रूपयौवन और आकर्षणशक्ति का युद्धविजय के एक शस्त्र के रूप में उपयोग करते हैं । इन जासूस सुंदरियों को देह की पवित्रता जैसी दकियानूसी बातों पर तिलभर भी विश्वास नहीं होता और देहोपभोग से वे बिलकुल नहीं झिझकतीं । प्रेम की पराकाष्ठा प्रायः देहसमागम में होती है, और स्त्री-पुरुष यदि स्वेच्छा से, और परस्पर आकर्षण के वश होकर ही देहसमागम करते हों, तो नीति का उल्लंघन शायद सह्य और क्षम्य भी मान लिया जाय । परंतु देहसमागम के पीछे, स्त्रीदेह जैसी पवित्र वस्तु के उपभोग के पीछे, यदि प्रेम या आकर्षण नहीं, बल्कि दुश्मन के गुप्त रहस्यों को जान लेने का ही हेतु हो, तो यह पूरा व्यवहार गणिकावृत्ति का ही एक प्रकार बन जाता है । संसार में सबसे कारगर रिश्वत स्त्रीदेह के उपभोग की ही हो सकती है । स्त्रियों की जासूसी की पूरी योजना वर्तमान संस्कृति की सबसे अधम कलंकगाथा कही जा सकती है । स्त्रीदेह का ऐसा हीन उपयोग करके दुश्मन की योजनाएँ जानने की अपेक्षा अधिक लज्जास्पद बर्ताव मानव सभ्यता के लिए और क्या हो सकता है ? इससे न तो जासूसी करवाने वाले सेनापतियों की शोभा बढ़ती है, और न उनकी नियुक्ति करने वाले राज्यतंत्रों की । परंतु पश्चिम में तो कहावत ही है कि "युद्ध में और प्रेम में सब कुछ जायज है ।" जासूसी के लिए स्त्रियों का ऐसा उपयोग एक घृणित अनाचार है, निर्लज्ज बेईमानी है और पतित व्यभिचार है । वर्तमान विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों को विजय दिलवानेवाले, इंग्लैंड के निवृत्त प्रधानमंत्री मि. चर्चिल को भी कहना पड़ा है कि "जासूसी में प्रयुक्त असत्य, चालाकी और बेईमानी जासूसी करनेवाले स्त्री-पुरुषों पर जीवन भर के लिए कलंक की मुहर लगा देते हैं ।" इन्हीं चर्चिल साहब ने वर्तमान विश्वयुद्ध में अपने

गुप्तचर विभाग में कितनी स्त्रियों की नियुक्ति की होगी, यह तो इस युद्ध का इतिहास लिखा जायगा, तभी मालूम हो सकेगा ।

इंद्रियजन्य सुख की सहायता लिए बिना, केवल चालाकी और असत्य पर आधारित जासूसी का उपयोग करने वाले गुप्तचरों के वर्ग में लॉर्ड रॉबर्ट बेडन-पॉविल और लॉरेन्स ऑफ अरेबिया के नाम अंग्रेज प्रजा में अमर होगये हैं । बेडन-पॉविल प्रथम विश्वयुद्ध के दरमियान तीन साल तक जर्मनी में रहा । युद्ध के मोरचों के इर्द-गिर्द छिपाये हुए दुश्मन के शस्त्र-सरजाम और बारूद के कोठरों का उसने बड़े पैमाने पर नाश किया और अपने देश को उपयोगी हो सकने वाली बहुत सी जानकारी एकत्रित की । टर्की के प्रति अरबों की वफादारी और हमदर्दी को नष्ट करके एवं इब्न सऊद और फैजल जैसे अरब राज्यकर्ताओं को खड़े करके पूरी अरब प्रजा को अंग्रेजों के पक्ष में मोड़ लेने वाले लॉरेन्स की प्रसिद्धि बेडन-पॉवेल से भी अधिक हुई । जासूसों के तरकश में मोहास्त्र बड़ा ही प्रभावशाली अस्त्र होता है । पुरुष जासूसों के लिए भी इसका प्रयोग निषिद्ध नहीं है । परंतु केवल इसी अस्त्र का उपयोग करके जासूसी करने वाली स्त्रियों को तो सचमुच ही गणिकाओं की शिरोमणि मानना होगा ।

प्रेम का नाटक करते करते कभी इन स्त्रियों को प्रेम की सचाई के दर्शन भी हो जाते हैं । ऐसा होते ही इन जासूस रमणियों का हृदयपरिवर्तन हो जाता है । अपने प्रेमियों को गूढ़ रहस्यों को प्रकट कर देने का पाप न करने की प्रबल भावना इनके मन में जन्म लेते ही, हृदय की स्नेहभावना में और कर्तव्यभावना में संघर्ष निर्माण हो जाता है । एक गुप्तचर स्त्री ने इसी भावना के वश होकर अपने अधिकारी के दफ्तर में जाकर नोटों की गड्डी उसकी मेज पर पटकते हुए साफ साफ कह दिया था, ''मैं और सब कुछ कर सकती हूँ, परंतु अपने प्रेमी से बेवफाई नहीं करूँगी । उसका रहस्य मैं किसी हालत में नहीं कहूँगी — क्योंकि मैं उसे दिल से चाहती हूँ ।'' कोपनहेगन शहर के एक विख्यात राजनीतिज्ञ से कुछ गुप्त जानकारी प्राप्त करने के लिए एक डेनिश जासूस सुंदरी की नियुक्ति हुई थी । इस स्त्री में देशभक्ति की अपेक्षा भावुकता अधिक थी । उस राजनीतिज्ञ के साथ इसका सच्चा प्रणयसंबंध स्थापित हो गया । अत: उसने अपने अधिकारियों से स्पष्ट कह दिया, ''आपके दिये हुए रुपये मैं वापस कर दूंगी ; परंतु मेरे प्रेमी का एक भी राज आपसे नहीं कहूँगी ।'' सभी गणिकाएँ धन के बदले में अनेक पुरुषों को अपना शरीर बेचती हैं । परंतु कभी-कभी इनमें से ही किसी पुरुष के प्रति सच्चा, निर्व्याज और निश्छल प्रेम किसी-किसी गणिका के हृदय में जन्म लेता है, यह सत्य गणिकावृत्ति के अध्येताओं से छिपा नहीं है । जासूस रमणियों के प्रमुख अस्त्र उनका सौंदर्य और उनकी वाक्पटुता ही होते हैं । दुश्मन सैनिकों या अफसरों को इस सौंदर्य से





मोहित करके ही उनके गुप्त रहस्य जाने जा सकते हैं । यह सीधा-सीधा गणिकावृत्ति का ही व्यवहार है । परंतु कई बार सच्चा स्नेह जागृत होकर देशभक्ति, जासूसी, और गणिकावृत्ति, सब पर विजय प्राप्त कर लेता है । एक इतालवी युवती की कहानी इससे कुछ भिन्न प्रकार की है । उसकी नियुक्ति ब्रिटिश गुप्तचर विभाग में हुई थी । परंतु उसने असत्य, काल्पनिक और भ्रम उत्पन्न करने वाली जानकारी देना शुरू किया जिससे लाभ के बजाय हानि की संभावना उत्पन्न हो गई । कुछ दिनों में यह प्रमाणित हो गया कि यह युवती जानबूझ कर झूठी खबरें दिया करती थी । युद्धकाल में इस प्रकार का द्रोह अक्षम्य अपराध माना जाता है । ब्रिटेन की नौकरी कर के ब्रिटेन के ही विरुद्ध ऐसी हरकत करने वाली इस युवती को कठोर दंड देने का निश्चय किया गया और इस विषयक कागजपात्र भी तैयार हो गये । परंतु इस चालाक युवती ने इसी दौरान में फ्रान्स के एक बहुत ही प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के पुत्र को अपने रूप-यौवन से मोहांध करके उसके साथ विवाह कर लिया । इस तरह वह दंड से अछूती बच गई ; क्योंकि उस समय फ्रान्स के इतने महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञ की पुत्रवधू को परेशान करना ब्रिटेन के हित में नहीं था । दंड से मुक्ति मिलने की निश्चिति होते ही वह अपने फ्रान्सीसी पति को छोड़कर किसी अमरीकन सेनाधिकारी के साथ भाग गई ।

देह समर्पण की कदम-कदम पर अपेक्षा रखने वाला जासूसी का काम करने के लिए केवल देशभक्ति की भावना से कितनी स्त्रियाँ प्रेरित होती हैं, यह कहना मुश्किल है । थोड़ी बहुत युवतियाँ ऐसी जरूर होती होंगी इसमें संदेह नहीं । परंतु इन स्त्रियों में से अधिकांश के लिए तो युद्धकालीन जासूसी उच्च प्रकार की गणिकावृत्ति में प्रवेश करने का एक द्वार मात्र होता है । इन स्त्रियों के लिए जासूसी का काम इनकी साहसप्रियता, कुतूहलवृत्ति और कामुकता को प्रकंपित करने का एक सुंदर साधन मात्र होता है । परस्पर विरोधी दो राज्यों की नौकरी में एक साथ रहकर, और दोनों से मुँहमांगी रकम वसूल कर के, एक की भी सेवा न करते हुए दिनरात केवल भोग विलास में ही डूबी रहने वाली युवतियों की पिछले विश्वयुद्ध में कोई कमी नहीं थी । इस प्रकार की स्त्रियों को जासूस-रमणी कहने के बजाय, जासूसी के बहाने वेश्यावृत्ति करने वाली वारांगनाएँ कहना ही उचित होगा । ऐसी अनेक जासूस गणिकाओं ने विगत विश्वयुद्ध में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी । इनमें से कई के जीवन पर तो सिनेमा-चित्र भी बन चुके हैं ।

२

कुछ विश्वप्रसिद्ध जासूस रमणियाँ

१. **माताहारी**:— जासूस गणिकाओं के इतिहास में विश्वविख्यात माताहारी के जितनी प्रसि[द्धि] और किसी को नहीं मिली । इसके जीवन पर आधारित सिनेमा-चित्र भी बन चुका है । अपने लि[ए] **'माताहारी' नाम चुनकर उसने पौर्वात्य हिंदू धर्म का रहस्यमय वातावरण अपने चहुँओर निर्माण किया यद्यपि 'माता' और 'हरि' इन दो शब्दों का एक ही समास में प्रयोग, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति, दोनों [को] मान्य नहीं । 'माता' स्त्रीलिंग संज्ञा है और 'हरि' पुल्लिंग । 'माता' शक्ति के पूजनीय रूप का नाम है और 'हरि' पौराणिक विष्णु का पर्याय है । इन दोनों का 'राधाकृष्ण' या 'सीताराम' की तरह समास बनाना क[भी] सुना नहीं । परंतु उस स्त्री को इससे कुछ मतलब नहीं था । उसे तो इन नामों से एक रहस्यमय [वातावरण] उत्पन्न करके अपने आकर्षण में वृद्धि करनी थी । वह एक सामान्य गणिका थी । उसका मूलनाम ग्रीटा[...] था और वह डच मातापित की संतान थी । फ्रान्स में उसने एक हिंदू के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी [...]** अपने आपको वह जावानीज माता-पिता की संतान कहलवाती थी । इसमें भी वह गड़बड़ा गई । जावा [के] नृत्यों पर हिंदूनृत्यपद्धति का बहुत अधिक प्रभाव है, यह सही है ; परंतु जावा की प्रजा का धर्म तो इस्लाम [है ।] **परंतु विदेशियों को एशियावासियों के धर्म और संस्कृति की बारीकी से छानबीन करने की आवश्यकता [...]**

होती । अत : माताहारी ने खुद हिंदू के रूप में मान्य हो सके ऐसा नाम रख लिया और लोगों ने उसे मान लिया । लोगों को उसके नाम से कुछ लेनदेन भी नहीं था । उन्हें गरज थी उसके सौंदर्य की ; और सौंदर्य कुदरत ने उसे दोनों हाथों से दिया था । उसकी मोहक अदाएँ बड़े बड़े सेनापतियों, राजनीतिज्ञों और देशनेताओं को तुरंत वश में कर लेती थी । आरंभ में यह सुंदरी कॅप्टन मॅकक्लेल्ड नामक सैनिक अफसर के घर की देखभाल करने वाली नौकरानी थी । कॅप्टन मॅकक्लेल्ड ने इसके लिए अखबारों में विज्ञापन दिया था और आवेदन करनेवाली स्त्रियों में से माताहारी को पसंद किया । इस पसंद के पीछे माताहारी के रूप यौवन का कोई प्रभाव नहीं होगा, यह नहीं कहा जा सकता । घर की देखभाल करते-करते उसने कॅप्टन मॅक्क्लेल्ड से विवाह भी कर लिया । विवाह उसके लिए प्रगति का एक सोपान मात्र था । विवाह संबंध की पवित्रता या एकनिष्ठता की उसे रती भर परवाह नहीं थी ।





कुछ दिनों बाद कॅ. मॅकक्लेल्ड का साथ छोड़कर वह फ्रान्स आ गई और कॅप्टन पियरी मास्लॉक नामक फ्रान्सीसी सेनाधिकारी के साथ रहने लगी ।उसके साथ उसकी चार वर्ष की पुत्री भी थी । धन, शृंगार सामग्री और विषयवासना के पीछे यह स्त्री इतनी मतवाली थी कि इसने धीरे-धीरे गुप्त गणिकागृहों में जाना शुरू किया । इसकी लाजशर्म की भावना इस हद तक मर चुकी थी कि अनेक बार गणिकागृह में जाने की तलब लगते ही, वह अपनी पुत्री को भी अपने साथ-साथ ले जाती थी । गणिकावृत्ति के साथ जुड़े हुए सभी प्रकार के धंधे इसने किये । चित्रकारों और मूर्तिकारों की मॉडल बनने का कार्य भी इसने किया । अंत में वह एक नृत्यगृह में भरती हो गई और शुरू में अर्धनग्न परंतु बाद में संपूर्ण नग्न नृत्य करने लगी । इन नृत्यों के साथ रहस्य और कलामयता का वातावरण जोड़ने के लिए उसने इन्हें ''हिंदू नृत्य'' या ''ब्राह्मण



नृत्य'' नाम दिया था ! नग्ननृत्य करते करते माताहारी ने पूर्वदेशी नृत्यों में पारंगत नर्तकी के रूप में यूरोपव्यापी ख्याति अर्जित की और इस प्रसिद्धि के बल पर वह यूरोप के बड़े बड़े कूटनीतिज्ञों, देशनेताओं, सेनापतियों और राजपुरुषों की प्रियतमा बनकर उनकी शैय्या की शोभा बढ़ाने लगी ।

इस प्रगतियात्रा में उसकी वाक्पटुता, उसकी तेजस्वी बुद्धि और उसका मिलनसार स्वभाव उसके सहायक हुए । परंतु उसका ब्रह्मास्त्र तो था उसका उन्मादक सौंदर्य । इस रूप यौवन ने ही उसके लिए सफलता के सब द्वार खोल दिये । उसके सौंदर्य में एक ऐसा संमोहन, एक ऐसी वशीकरण शक्ति थी कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और राजवंशी पुरुष भी उसके एक आलिंगन पर कुबेर का खजाना लुटाने को तत्पर रहते थे ।उसके एक संबंधी का कहना है कि माताहारी के सौंदर्य में साधारण स्त्रियों के जैसा सामान्य आकर्षण नहीं, बल्कि एक जादूगरनी के समान सब को संमोहित करने वाला कोई अद्‌भुत और अपार्थिव आकर्षण था । माताहारी की मनोवृत्ति में गुण और दोषों का अत्यंत विचित्र संमिश्रण दिखाई देता था । एक ओर जहाँ फरेब और मक्कारी उसमें कूट कूट कर भरे हुए थे, तो दूसरी ओर उसकी मूर्खता और भोलेपन की भी हद नहीं थी । क्षण में वह अभिमानिनी और अलिप्त दिखाई देती थी तो क्षण में स्त्रीसुलभ आवेश से सब के साथ हेलमेल कर लेती थी । उसके लोभ की कोई सीमा नहीं थी ; परंतु लुटाने बैठती तो अपना सब कुछ दे देती थी । कभी वह संकोचशील मुग्धा बन जाती थी तो कभी बातें कर-कर के कान पका देती थी । ठसक और घमंड उसमें पराकाष्ठा के थे । सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में वह सदा लगी रहती थी, परंतु सुख उससे सदा दूर भागता रहा । अमुक कार्य योग्य है या अयोग्य इसकी उसने कभी चिंता नहीं की । उसकी बुद्धि साधारण कोटि की थी; अत: जीवन में बुद्धि का सहारा न लेकर, भावना के वश होकर ही वह अधिकांश कार्य करती थी ।

जर्मन राज्यतंत्र ने उसे बहुत भारी वेतन देकर अपने गुप्तचर विभाग में भरती कर लिया । धन की उसे कभी कमी नहीं रही, परंतु चार-पाँच सौ फ्रैंक मिलते हों, तो चाहे जिसको देह समर्पण करके, इतनी मामूली रकम कमा लेने से भी वह कभी नहीं चूकती थी । उसके मित्रों और प्रशंसकों में ऐसे-ऐसे उच्चपदाधिकारी लोग थे कि लंबे अरसे तक फ्रान्सीसी सरकार को उसके जासूस होने का संदेह तो रहा; परंतु उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार का प्रमाण नहीं मिल सका । अंत में उसके कार्य इतने भयानक हो उठे कि फ्रान्सीसी सरकार को उसे गिरफ्तार करके उसपर मुकदमा चलाना पड़ा । वह दुश्मनों की जासूस सिद्ध



हुई व उसे गोली से उड़ा देने की सजा दी गई । सजा को कार्यान्वित करने के लिए सैनिक उसे वध स्थान पर ले गये । मृत्यु की भयानक छाया में भी इस मोहिनी स्त्री के सौंदर्य से उन्माद और संमोहन की मानो वर्षा हो रही थी । सेनाधिकारियों की कठोर आज्ञा का पालन किए बिना तो छुटकारा नहीं था, परंतु बंदूक चलाते समय एक सैनिक तो बेहोश हो गया । चारों तरफ से एक साथ ग्यारह गोलियाँ उस पर चलाई गईं, परंतु उसे केवल तीन ही लगीं । आठ सैनिकों के हाथ इस मूर्तिमान सुंदरता का नाश करते समय काँप उठे, और निशाना चूक गये ।

ऐसे अलौकिक सौंदर्य को युद्ध और जासूसी के चक्रवात में फँसा कर उसे धूल में मिला देने की घटनाएँ वर्तमान युद्ध में अनेक हुई हैं । माताहारी का मोहक सौंदर्य नष्ट करते हुए सैनिकों के हाथ काँप उठे थे, यह सत्य है ; परंतु युद्ध का संचालन करने वालें का कलेजा दहला था या नहीं, यह हम नहीं जानते । उसके सौंदर्य से मुग्ध असंख्य लोग वर्षों तक यही मानते रहे कि माताहारी निर्दोष थी और फ्रान्सीसी सरकार ने उसे बिना किसी अपराध के मार डाला । उनके मतानुसार, ऐसी अनिंद्य सुंदरी में दोष हो ही नहीं सकता । आज भी इस रूपसी के जीवन पर आधारित फिल्म देखकर लोगों के मन में टीस उठती है । युद्ध, सौंदर्य, जासूसी और गणिकावृत्ति का मेल प्राय: ऐसा ही विनाशकारी होता है ।

२. **कँथेराइन डीट्री** :— माताहारी एक अद्वितीय जासूस गणिका थी । परंतु प्रथम विश्वयुद्ध में और भी अनेक जासूस रमणियों को प्रसिद्धि मिली थी । इनमें कँथेराइन डीट्री नामक एक साहसिक सुंदरी की ख्याति सबसे अधिक है । युद्ध के आरंभकाल में उसका विवाह रूस के युद्धमंत्री के साथ हुआ था । परंतु जर्मन गुप्तचर विभाग के एक आकर्षक नौजवान के साथ उसका प्रेम संबंध इतना घनिष्ठ हो गया कि वह अपने पति से युद्ध के रहस्य जानकर अपने प्रेमी से कहने लगी । यह जासूस अंत में पकड़ा गया और उसे फाँसी की सजा दी गई । परंतु कँथेराइन युद्धमंत्री की पत्नी होने के कारण बेदाग बच गई ।

कँथेराइन अत्यंत निर्धन यहूदी मातापिता की संतान थी । उसका जन्म साइबेरिया में हुआ था । प्रकृति ने उसे रूपसौंदर्य दिल खोलकर दिया था । चौदह वर्ष की उम्र में ही उसका यौवन इतना विकसित हो चुका था कि वह किसी रूपगर्विता महारानी के जैसी दिखाई देने लगी । उसका प्रेम संपादन करने के लिए गाँव के युवकों में मारपीट तक होने लगी । चौदह वर्ष की उम्र में ही इस ज्ञातयौवना को अपने सौंदर्य की शक्ति पर इतना विश्वास था कि आँख के एक इशारे मात्र से वह अपने प्रेमियों से जो चाहे सो करवा सकती थी । एक दिन अपने पिता की जमापूंजी चुराकर वह अपने किसी प्रेमी के साथ भाग गई । कुछ दिनों में, पास का धन समाप्त होते ही, प्रेमी महाशय उसे अकेली छोड़कर लापता हो गये । परंतु कँथेराइन इससे घबरा जाने वाली अबला नारी नहीं थी । यूक्रेन प्रदेश के एक शिक्षाधिकारी ने स्त्री-सचिव के लिए विज्ञापन दिया था । यह अखबार कँथेराइन के हाथ पड़ गया । शिक्षाधिकारी के सचिव पद केलिए आवश्यक योग्यता या शिक्षा उसके पास नहीं थी । फिर भी, केवल अपने सौंदर्य पर भरोसा करके वह आवेदनपत्र लेकर मिलने गई । सौंदर्य ने काम दिया और किसी भी प्रकार की योग्यता न होने पर भी उसकी नियुक्ति हो गई । कामकाज तो वह क्या खाक करती होगी । परंतु दुनिया देखे हुए शिक्षाधिकारी महाशय उसके हिस्से का काम भी खुद ही पूरा कर लेते थे । इस उम्र में इस रत्न की प्राप्ति ही उनके लिए काफी थी । इस तरह दोनों का काम बड़े मजे से चल रहा था ; परंतु देखनेवाले नवयुवकों के मन में डाह न हो, इसलिए एक रोज मंत्री महाशय ने कँथेराइन से विवाह करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया ।

गरीब यहूदी की लड़की, विवाह होते ही समाज के उच्च वर्ग में पहुँच गई । यहीं से उसके ऐशो-इशरत भरे जीवन का आरंभ हुआ । बुढ़ापे में विवाह करने वाले पुरुष नवपरिणित युवती पत्नियों को बड़े लाड़-दुलार से रखते हैं, यह केवल भारत का ही नहीं, बल्कि संसार के सभी देशों का दस्तूर है । अत : सफेद बालों वाले शिक्षाधिकारी ने उसे बढ़िया वस्त्रालंकारों से सजाकर और अन्य अनेक प्रकार से लाड़ जताकर प्रियाराधन करना शुरू किया । अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए यूरोप के ग्रीष्मविहार के पर्वतीय प्रदेशों में उसे लेकर जाने लगे । पति के रूपमें ये बूढ़े बाबा कँथेराइन को कितने पसंद थे, यह तो अभी मालूम हो जायगा ; परंतु उनका स्नेह उसके लिए बहुत सुविधाजनक सिद्ध हुआ । पश्चिम के ग्रीष्मविहार के प्रदेश प्रेमव्यापार के लिए अत्यंत अनुकूल होते हैं । कँथेराइन को यहाँ मनचाहा विलास करने के मौके आसानी से मिलने लगे । वृद्ध पुरुष की मनचढ़ी पत्नी होने के लाभ शीघ्र ही कँथेराइन की समझ में आ गये । इस समय उसकी उम्र कुल बीस वर्ष की थी । परंतु उसकी अभिलाषाएँ आसमान को छूने लगीं ।





एक पर्वतीय स्थान पर उसका परिचय तिरसठ वर्ष के एक रूसी सेनापति से हुआ । सेनापति उम्र में तो शिक्षाधिकारी से भी बड़ा था, परंतु पद और सुखवैभव की दृष्टि से उससे कहीं बढ़ा चढ़ा था । शीघ्र ही तिरसठ वर्ष के सेनापति और बीस वर्ष की युवती में प्रेम हो गया । यह प्रेम किस कोटि का था, यह बताने की आवश्यकता नहीं । कॅथेराइन शिक्षाधिकारी को छोड़कर खुलेआम इस सेनापति के साथ रहने लगी । वृद्ध का प्रेम और खर्च, सब व्यर्थ सिद्ध हुए और उसे अदालत में दरख्वास्त देकर विवाह विच्छेद करना पड़ा । स्त्री-सचिव के लिए उसने दोबारा विज्ञापन दिया या नहीं, हम नहीं जानते । कॅथेराइन की कहानी को इससे मतलब भी क्या हो सकता है । वह तो यही चाहती थी । तलाक मिलते ही उसने इस दूसरे बूढ़े से विवाह कर लिया । वृद्ध पति को खुश रखकर खुद ऐसा करने की कला में तो वह अब सिद्धहस्त हो गई थी । यही रूसी सेनापति प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभकाल में रूस के जार का युद्धमंत्री था ।

'वृद्धस्य तरुणीभार्या' की यह कहानी दिनोंदिन दिलचस्प होती गई । पोलैंड की सीमापर नियुक्त चुंगी विभाग के एक सैनिक अफसर से कॅथेराइन की मुलाकात हो गई । यह अफसर अत्यंत सुस्वरूप था और स्त्रियों के हृदय जीतने की कला में पारंगत था । वह आनंद प्रमोद का भी शौकीन था, जिससे रुपये की उसे सदा जरूरत रहती थी । वेतन से गुजारा न होने के कारण वह डटकर तस्कर-व्यापारियों की सहायता करता था और उनसे पेट भर कर रिश्वत वसूल करता था । यूरोप के आनंद प्रमोद के स्थानों से वापस लौटते हुए, सब को इस स्थल पर चुंगी की तलाशी के लिए रुकना पड़ता था । यूरोप में खरीदी हुई कीमती चीजों पर चुंगी न देनी पड़े इसकी तजवीज सभी करते थे । चुंगी विभाग का यह शौकीन अफसर इस मामले में अत्यन्त चतुर और अनुभवी था । जिस स्त्री से उसे मेलजोल बढ़ाना हो, या जिसकी जान पहचान कभी उपयोगी होने की आशा हो, उन स्त्रियों को वह कर लिए बिना ही छोड़ देता था । उस समय रूस में बाहर से आनेवाली चीजों पर भारी कर लगता था । अत : कभी कभी शौकीन स्त्रियाँ इस अफसर को अपने देह की रिश्वत देकर भी आयात कर की भारी रकम बचा लेती थी । वह था भी इतना आकर्षक और सुस्वरूप कि उसे देहार्पण करना इन स्त्रियों को वैसे भी अप्रिय नहीं लगता होगा । एक बार यूरोप-भ्रमण से वापस लौटते हुए कॅथेराइन की इससे मुलाकात हुई और बहुत शीघ्र ही, इसके रूप और पौरुष पर मोहित होकर वह करीब करीब इसकी रखैल बनकर रहने लगी । वृद्ध सेनापति का पतित्व तो अबाध रूप से चल ही रहा था । वृद्ध पति तरुणी भार्याओं की शायद इसी रूप से सबसे अधिक सेवा करते हैं !

प्रथम विश्वयुद्ध का आरंभ होते ही धनलोभी चुंगी का अफसर जर्मनों का जासूस बन गया । रूस के युद्धमंत्री की पत्नी उसकी प्रियतमा थी ही । उसके जरिये उसे रूसी सेना के गुह्यतम रहस्य मालूम पड़ने लगे । उसने यह पूरी जानकारी सीधे कैसर को पहुँचाना शुरू किया । कैसर उससे इतना खुश था कि उसने इस जासूस की अपने गुप्तचर विभाग में अत्यंत ऊँचे पद पर नियुक्ति की । रूस पर जर्मनी की आरंभिक जीत इस जासूसी के कारण ही हुई थी । परंतु शीघ्र ही रूस में क्रांति हुई और जार की सत्ता नष्ट हो गई । क्रान्तिकारियों को जर्मनी से लड़ने का कोई कारण नहीं था । उन्होंने युद्ध बंद कर दिया । कॅथेराइन की जासूसी का भी यहीं अंत हो गया । परंतु इतनी भयानक जासूसी करके भी जीवित बच जाने वाली इस साहसिक सुंदरी का नाम गुप्तचर रमणियों के इतिहास में अमर हो गया ।

स्त्री, स्त्री का सौंदर्य, स्त्री का प्रेम या स्त्री की गणिकावृत्ति युद्ध में कितना महत्वपूर्ण भाग निभा सकते हैं, यह कॅथेराइन के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है । इससे इस सत्य की भी स्थापना होती है कि युद्धकाल में यौन आकर्षण नये-नये रूप धारण करके शत्रु और मित्र के भेद को मिटा देता है । एक ओर रूस की पूरी सेना जर्मनी से जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रही थी, और दूसरी ओर पूरी सेना का ही नहीं बल्कि पूरे युद्धतंत्र का संचालन करने वाले युद्धमंत्री की पत्नी अपनी वासनातृप्ति की खातिर अपने देशद्रोही प्रेमी को युद्ध के रहस्यों से अवगत करके पूरी व्यूह रचना को व्यर्थ प्रमाणित कर रही थी । ऐसे युद्ध से क्या परिणाम निकल सकता है ? और सब बातें छोड़ दें, वृद्ध विवाह की विडंबनाएँ भी भुला दे, तो भी

कॅथेराइन के उदाहरण से युद्ध की निरर्थकता तो सिद्ध होती ही है । युद्ध के साथ-साथ जासूसी और स्त्रियों की जासूसी भी निरर्थक सिद्ध होती है । स्त्री का, स्त्रीदेह का, स्त्री के सौंदर्य का और स्त्री के शील का यह बलिदान अंत में व्यर्थ ही जाता है और स्त्री जाति पर कलंक लगाने के सिवा और कोई काम नहीं करता, यह विचार भी हृदयद्रावक है ।

३. **एमा स्टुवर्ट** :— स्त्री-जासूस के सब गुणों से युक्त यह रमणी वियेना की निवासी थी । इसकी नियुक्ति ब्रिटिश गुप्तचर विभाग में हुई थी । यह मानने की गलती कोई न करे कि नीति घमंडी अंग्रेज प्रजा स्त्री-जासूसों का उपयोग नहीं करती । रानियों के से ठाठबाट से रहने वाली एमा को रूप-यौवन के उपरांत सुसंस्कृत मानस की देन भी मिली थी, अत : बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ, देशनेता और सेनाधिकारी उस पर तुरंत मोहित हो जाते थे । स्विटज़रलैंड का एक वैज्ञानिक जर्मनों का जासूस था । उसके प्रति एमा ने ऐसा उत्कट प्रेम प्रदर्शित किया कि वह उसे सच्चा मान बैठा । फ्रान्स की सीमा पार करते हुए एक दिन दोनों



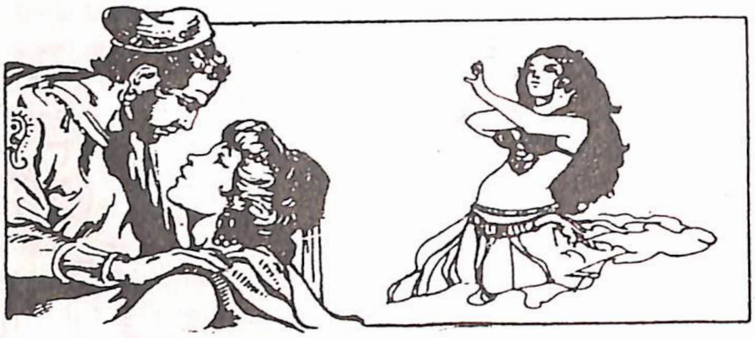
को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया और जासूसी करने के अपराध में दोनों को गोली से उड़ा देने की सजा मिली । एमा ने एक भयभीत और कोमल नारी का स्वाँग रचा और अपने प्रेमी की बाँहों में लिपट कर, सुबकते हुए उससे बिनती की कि वह जासूसी का पूरा दोष अपने ऊपर ले ले, तो शायद दोनों के प्राण बच जायँ । अपनी सौंदर्यवती प्रेयसी को रोती हुई देखकर वैज्ञानिक ने पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए अपराध कबूल कर लिया । परिणाम स्वरूप एमा तो बच गई; परंतु उसे प्राणदंड मिला ।

एक बार उसे जर्मन सेनाओं के संदेश भेजने की सांकेतिक भाषा की जानकारी प्राप्त करने की आज्ञा मिली । उसने एक शोकग्रस्त विधवा का रूप धारण किया, और मानो अपने पति का शव ढूंढने को युद्धक्षेत्र में आई हो, ऐसा दिखावा किया । इस जर्मन सेना का सेनापति ग्रॅन्ड ड्यूक ऑफ मॅक्लॅन्डबर्ग था । पति का शव ढूंढते-ढूंढते मानो अचानक ही वह उसके सामने जा पहुँची हो, ऐसा नाटक भी उसने किया । रूपवती विधवा को सेनापति ने आश्वासन दिया; परतु कुछही समय में ऐमा के मोहक सौंदर्य ने ऐसा वशीकरण मंत्र चलाया कि उसके कल्पित मृत पति के स्थान पर उसके जीवित पति की भूमिका रणक्षेत्र में ही निभाने का आग्रह सेनापति महाशय करने लगे । जासूस सुंदरी के लिए इससे अच्छा मौका और क्या हो सकता है ? कल्पित मुर्दे की अपेक्षा यह जिंदा लाश ही उसके उद्देश्य की अधिक पूर्ति कर सकती थी । सेनापति साहब यदि पूरे रसिया थे, तो एकमा भी अपनी कला में कुछ कम नहीं थी । उसने उनकी रस लोलुपता तृप्त की । परंतु इस तृप्ति के दौरान में ही कामांध सेनापति से इच्छित जानकारी प्राप्त कर लेना वह नहीं भूली । सांकेतिक भाषा की कुंजी दूसरे ही दिन उसने अपने अधिकारियों को पहुँचा दी ।



कार्यसिद्धि के लिए चाहे जिसको और चाहे जब देह समर्पण करने वाली यह युवती अंत में एक जर्मन फौजी सर्जन के प्रेमपाश में जकड़ी गई । अनेक प्रसंगों पर बिना, झिझके, अनेक अजनबियों को अपना रूपयौवन अर्पित करने वाली इस सुंदरी का प्रेम इतना शुद्ध साबित हुआ कि अपने सच्चे प्रेमी को गिरफ्तार करवा देने की अपेक्षा सदा के लिए जासूसी का काम छोड़ देना उसने अधिक पसंद किया । मानव स्वभाव की, मानवप्रेम की, मानव के पाखंडों की और मानव के हृदयपरिवर्तन की विचित्रता का ही यह एक उदाहरण है ।

४. **सॉलेन्ज**:— इस फ्रान्सीसी जासूस युवती की रामकहानी किसी उपन्यास से भी अधिक दिलचस्प है । उसका जन्म फ्रान्स के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था । उसका रूप-लावण्य अवर्णनीय

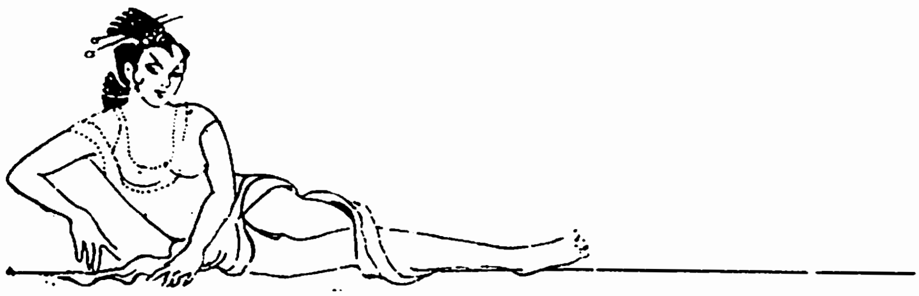


था और उसके स्वभाव की मिलनसारी और मिठास की तो कोई हद नहीं थी । युद्ध के आरंभ में वह किसी अस्पताल में परिचारिका का काम करती थी । जख्मी सैनिकों की सेवा वह इतनी लगन और ममता से करती थी कि कुछ ही समय में वह पूरे अस्पताल में लोकप्रिय हो गई । जन्म से वह फ्रान्सीसी थी, प्रतिष्ठित और धनी घराने की लड़की थी, और अपना काम इतनी निष्ठा और लगन से करती थी कि उसकी देशभक्ति के संबंध में किसी को तिलमात्र भी शंका होना संभव नहीं था । सैनिकों के जख्मों की पट्टियाँ बदलने के बाद, बारी-बारी से उनके पास बैठकर वह उनकी लंबी-लंबी दास्तानें दिलचस्पी से सुना करती थी । अपने शयनगृह में उसने एक नक्शा लगा रखा था जिसमें फ्रान्स के सारे रणक्षेत्रों का और सैनिक छावनियों का स्थाननिर्देश किया गया था । सैनिकों की सहायता से इस मानचित्र को समझने के लिए और छावनियों के स्थानांतरों की जानकारी प्राप्त करने के लिए वह सदा आतुर रहती थी । इसकी इस उत्सुकता को भी उसकी प्रबल देशभक्ति का ही प्रमाण माना जाता था ।

तोपखाने के दो अफसरों के साथ उसका प्रेमसंबंध था ; परंतु दोनों में से प्रत्येक यही मानता था कि सॉलेन्ज केवल उसी को चाहती है । बारीबारी से सॉलेन्ज दोनों को अपने कमरे में निमंत्रित करती थी और उनकी वासनातृप्ति करके सेना के गुप्त रहस्य पूछती रहती थी । इस कार्य को वह ऐसी युक्ति से करती थी कि जिससे उसके पूछे हुए प्रश्नों से दोनों में से एक के मन में भी संदेह उत्पन्न न हो । सेना के अमुक दस्ते में लड़नेवाला उनका अमुक मित्र उस समय कहाँ होगा, क्या कर रहा होगा, किस तरह लड़ता होगा, कहाँ छिपता होगा, ऐसे मित्रसुलभ प्रश्न पूछकर ही वह युद्धसंबंधी अमूल्य जानकारी प्राप्त कर लेती थी और तुरंत जर्मनों को पहुँचा देती थी ।

अंत में वह पकड़ी गई । उसकी गिरफ्तारी ने मनोविज्ञान की एक अद्भुत घटना पर प्रकाश डाला । वास्तव में एक जर्मन दंत वैद्य की संमोहनशक्ति (Hypnotism) के वशीभूत होकर ही सॉलेन्ज ने यह सब कुछ किया था । उस दंतवैद्य ने सॉलेन्ज के मन पर ऐसा संपूर्ण नियंत्रण प्राप्त किया था कि उसके सब कार्य अपने इस प्रेमी के मानसिक आदेशानुसार ही होते थे । इसी वशीकरण का प्रभाव उसके मन पर से हटते ही वह समझ सकी कि उसने न सिर्फ अपनी देह भ्रष्ट की थी, बल्कि देशद्रोह भी किया था । इससे उसे असह्य पश्चाताप हुआ और मुकदमा चलने से पहले ही जहर खा कर आत्महत्या कर ली ।

युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री के तन और मन को मानसिक शक्तियों द्वारा वश में करके भ्रष्ट करने का यह उदाहरण युद्ध की शैतानियतभरी विजयलालसा का अत्यंत डरावना चित्र प्रस्तुत करता है । मानसिक शक्ति में यदि कुछ बल हो, तो उसका उपयोग युद्ध का निषेध करने के लिए होना चाहिये, युद्ध की सहायता करने के लिए नहीं । मानसशास्त्रियों का यदि संमोहन या वशीकरण में विश्वास हो, तो इन शक्तियों का प्रयोग भी अर्थपिशाच और वज्रहृदयी युद्ध-संचालकों पर होना चाहिये न कि सुंदर और अबला नारियों पर । परंतु एटम बम का प्रयोग करके युद्ध की समाप्ति चाहने वाले पश्चिम के राजनीतिज्ञ वाममार्ग के साधक हैं । इनसे साधनशुचिता की आशा रखना व्यर्थ है ।



५. **श्रीमती एफ.**:— नीली आँखों वाली और गजबकी खूबसूरत इस स्त्री का पूरा नाम अब तक प्रसिद्ध नहीं किया गया । उपरोक्त रहस्यमय नाम से ही वह प्रसिद्ध है । जासूसी के कई विश्वविख्यात षड्यंत्रों में इस स्त्री ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था । उसका रूप मुनियों के मन विचलित करने वाला था । प्रथम दृष्टि में बिलकुल निर्दोष दिखाई देने वाली इसकी अदाएँ अत्यंत मादक और कामोत्तेजक सिद्ध होती थी । इसकी कारगुजारी के दो-एक प्रसंग हम देख लें ।

स्विटजरलैंड, वर्तमान विश्वयुद्ध की तरह प्रथम महायुद्ध में भी तटस्थ रहा था । इस नाते स्विस नागरिकों को दोनों पक्षों के देशों में आने जाने की सुविधा प्राप्त थी । अतः गुप्तचरों की आँखें इन नागरिकों की ओर सब लगी रहती थीं । अर्ल हार्ट नामक एक स्विस वैज्ञानिक एक एकान्त होटल में रह

कर जीवनयापन करता था ।। किसी से मिलने जुलने में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि वह किसी वैज्ञानिक अनुसंधान में लगा हुआ था । तटस्थ देश का यह वैज्ञानिक आखिर कौन से प्रयोग कर रहा है, और इससे दुश्मन को कोई लाभ या अंग्रेजों का कोई नुकसान ब्रिटिश जासूसों को लगी और उन्होंने उसका और इससे दुश्मन को कोई लाभ या अंग्रेजों का कोई नुकसान होने की संभावना तो नहीं है, यह जानने की तलावेली ब्रिटिश जासूसों को लगी और उन्होंने उसका रहस्य जानने का निश्चय किया । इस काम पर श्रीमती एफ. की नियुक्ति हुई । आरंभ में तो इस वैज्ञानिक साधक पर सुंदर स्त्री का प्रभाव पड़ने के कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये । परंतु श्रीमती एफ. ने कोशिश नहीं छोड़ी । यह अनुपम सुंदरी मित्रता के बहाने इस वैज्ञानिक के यहाँ जाने लगी, उपयुक्त बहाने ढूंढ कर रसभरी बातें करने लगी, और वृद्ध वैज्ञानिक का तरह-तरह से मन रखने लगी । दो एक बार तो, मौका देखकर, अपनी विवस्त्र देह के दर्शन भी उसे करा दिये; परंतु साधनारत इस विद्वान की आँखें उसके सौंदर्य से चकाचौंध नहीं हुईं । विश्वामित्र और मेनका की याद दिलाने वाला यह प्रसंग कई दिनों तक चलता रहा । वृद्ध वैज्ञानिक तो दृढ निश्चयी था ही, परंतु सौंदर्यवती यौवना का निश्चय तपोधन ऋषियों के निश्चय से भी अधिक कठोर सिद्ध हुआ । ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों त्यों इसकी कामकला भी विकसित होती गई और अधिकाधिक सूक्ष्म एवं प्रभावशाली रूप धारण करती गई । अंत में वृद्ध वैज्ञानिक की समाधि भंग होने के लक्षण दिखाई देने लगे । यह ताड़ते ही इस चालाक युवती ने व्यूहरचना बदल दी और अब वह रूठने और नाराज होने के बहाने देह समर्पण में बिलंब करने लगी । ज्यों-ज्यों उसका रूठने का स्वांग बढ़ता गया त्यों-त्यों बूढ़े बाबा का मन चंचल और बेताब होता गया । वृद्ध वैज्ञानिक को लगा मानों जवानी फिर से वापस आ रही है । श्रीमती एफ. भी समझ गई कि अब मछली ने काँटा निगल लिया है । अंत में एक दिन उसने उसकी एकांत प्रयोगशाला में आकर उसकी इच्छातृप्ति करना कबूल कर लिया और अपने वादे के अनुसार वह वहाँ पहुँची भी । फिर तो रूप और यौवन के तरकश के सब तीरों का प्रयोग करके उसने वृद्ध को कामविह्वल कर दिया और अत्यंत अनुकूल मौके पर दूसरे कमरे में से अपनी पसंद का इत्र ला देनेकी फरमाइश वृद्ध से की । इन क्षणों में की हुई फरमाइश का निरादर कोई पुरुष नहीं कर सकता । वैज्ञानिक के दूसरे कमरे में जाते ही तुरंत श्रीमती एफ. ने प्रयोगशाला की तलाशी लेना शुरू किया और आवश्यक कागजपत्र इकट्ठे करने लगी ।

परंतु इसी समय किस्से-कहानियों में होने वाली एक घटना वास्तविक जीवन में घटी । वैज्ञानिक का एक सहायक-शिष्य उसके साथ ही रहता था और अनुसंधान के कार्य में उसकी सहायता करता था । वृद्धावस्था में पदार्पण कर चुकने वाले अपने गुरु के कायाकल्प और फिर से प्रज्जवलित होने वाली उनकी प्रेमाग्नि की ओर उसका ध्यान था । एक वृद्ध पुरुष को खुश करने के लिए किसी नवयौवना सुंदरी को इतनी प्रयत्नशील देखकर उसके मन में संदेह भी उत्पन्न हो चुका था । इस रहस्य को जानने के लिए वह कभी-कभी इन दोनों की मुलाकात के समय प्रयोगशाला में छिपकर बैठ जाता था । उसकी यह आदत आज उपयोगी सिद्ध हुई । श्रीमती एफ. ने कागजपत्र एकत्रित किए ही थे कि उसने उसे टोका और इस सुंदरी की जासूसी सफल नहीं हुई ।

यह सही है कि इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिली । परंतु अनक बार उसे पूर्ण सफलता भी मिली थी । इन प्रसंगों में, झटलैंड के नौकायुद्ध में अंग्रेजों को विजय प्राप्त करा देने की उसकी कारगुजारी बहुत प्रसिद्ध है । एक जर्मन विनाशिका के कप्तान के मन पर मोहिनी डाल कर मॅडम एफ. ने उसके प्रति ऐसा उन्मादभरा प्रेम प्रदर्शित किया कि अफसर को विश्वास हो गया कि रणक्षेत्र में भी वह उसे अकेला नहीं जाने देगी । वह काम करता रहज था तब भी मॅडम एफ. उसकी ओर एकटक देखती हुई उसके सामने बैठी रहती थी । एक रोज कप्तान को आगे बढ़ने का आदेश मिला । मॅडम एफ. ने उसका साथ छोड़ने से साफ इनकार कर दिया । परंतु युद्धक्षेत्र में प्रियतमा के गले में हाथ डालकर नहीं जाया जाता । दोनों को अलग होना ही पड़ा । वियोग से पहले उसने अपने प्रेमी से एक बिनती की । यह प्रार्थना एक सच्ची प्रियतमा को

शोभा दे, ऐसी ही थी । युद्ध के दौरान में भी कप्तान साहब को अपनी प्रियतमा के आलिंगनों की याद आती रहे, और समुद्र के भयावह तूफानों में भी उसका स्मरण होता रहे इसलिए कप्तान के गुप्त यंत्रों वाली कैबिन को अपने मनपसंद इत्रों से भर देने की निर्दोष और प्रेम भरी मांग श्रीमती एफ. ने की । प्रेमांध नाविक को इसमें कोई बुराई दिखाई नहीं दी । यह मॅडम एफ. को अपनी गुप्त कैबिन में ले गया । कप्तान साहब बैठकर कुछ संख्याओं का हिसाब लगाने लगे और उनकी प्रियतमा सब स्थानों को सुगंधित द्रव्यों से भरने लगी । परंतु यह करते-करते उसने बड़ी चालाकी से एक पीले रंग की पुस्तिका उठाकर अपने वस्त्रों में छिपा ली । यह पुस्तिका जर्मन नौकादल की सांकेतिक भाषा की कुंजी थी । अंतिम बार अपने प्रियतम को संतुष्ट करके श्रीमती एफ. कमरे से बाहर निकली और दु:सह वियोग का दिखावा करती हुई जहाज से उतर गई । शीघ्र ही यह पीली पुस्तिका ब्रिटिश नौसेना के अधिकारियों को पहुँचा दी गई । इसमें से ऐसी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई कि उसके सहारे ही झेटलेंड के नौकायुद्ध में ब्रिटन को विजय प्राप्त हुई ।

युद्ध में, युद्ध के जय पराजय में स्त्रियों का योगदान कितना हो सकता है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है । युद्धों में मोहास्त्र का उपयोग होना अब तक बंद नहीं हुआ है । इन कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए स्त्रीदेह को कहाँ कहाँ, किस-किस की सेवामें प्रस्तुत करना पड़ता है इसकी तफसील में उतरने की आवश्यकता नहीं । शत्रु के रहस्यों को चुराने के लिए स्त्री को प्रकृति के वरदान रूप अपने पवित्र तन का बलिदान देना ही पड़ता है ।

६. **तुर्क सुंदरी**:— इस नाम से प्रसिद्ध एक साहसिक स्त्री ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों के लिए जासूसी करना स्वीकार किया । यह महिला अत्यंत चतुर और कार्यक्षम थी । दुश्मन जर्मनी के साथ मित्रता का दावा करने वाले एक तटस्थ देश के नेता के साथ प्रेमसंबंध स्थापित करके इस सुंदरी ने अनेक



षडयंत्र रचे । परंतु अमरीका की पुलिस के इस पर संदेह होने के कारण इसे गिरफ्तार कर लिया गया । उसके विरुद्ध यह अभियोग लगाया गया कि जिस प्रकार का शाहखर्च जीवन वह व्यतीत करती थी, वह दुश्मन से रिश्वत लिए बिना संभव नहीं था । इस आरोप का मुँहतोड़ जवाब उसने दिया कि धन के लिए उसे जर्मनों का मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं थी । मित्रदेशों में ही उसके इतने धनकुबेर प्रेमी थे कि धन का तो उसके कदमों में सदा ढेर लगा रहता था । उसके इन प्रेमियों के नाम पूछे गये परंतु उसने बताने से इनकार कर दिया । यदि वह इनकी जानकारी दे देती, तो अनेक प्रजाप्रिय देशनेताओं के नाम इस षडयंत्र में संकलित हो जाते । परंतु उसने तो किसी का भी नाम लेने की मानो कसम खा रखी थी । उसकी इस जिद के कारण उसे फाँसी की सजा दी गई । परंतु उसने इससे पहले ही आत्महत्या कर ली । बंदीगृह

में उसकी मृत्यु कैसे हुई, इस पर अब तक कोई प्रकाश नहीं पड़ सका है । इस तुर्क सुंदरी ने अपने दस-दस तो नाम रखे थे । पॅरिस में एक नाम, लंदन में दूसरा, तो न्यूयॉर्क में तीसरा । अंत में वह अपने आपको बॅरोनेस बी. बेल्विन कहलाने लगी थी और किसी बड़े सरदार की पत्नी होने का दिखावा करती थी । गुप्त भेदों को जान लेने में यह अत्यंत कुशल थी और जीवन का आनंद भी दिल खोलकर लूटना चाहती थी । उसकी मृत्यु के समान उसके जन्म, आरंभिक जीवन आदि पर भी रहस्य का पर्दा पड़ा हुआ है ।

७. **मार्था रिचर्ड**:— 'चंडोल चिड़िया' के नाम से प्रसिद्ध इस फ्रान्सीसी युवती ने जासूस के रूप में ब्रिटिश और फ्रेन्च सरकार की अमूल्य सेवा की थी । उसमें पुरुषों को भी मात कर देने वाले कुछ गुण थे । कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह शांत और स्वस्थ मन से काम कर सकती थी । वह संसार की पहली स्त्री-वैमानिक थी । पुरुष-मनोविज्ञान की गहरी जानकारी और अवलोकन शक्ति की तीव्रता आदि गुणों के सहारे उसने जासूसी के कई कठिनतम कार्य सिद्ध किए थे । प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के नौकादल से संबधित जासूसी का प्रधान केन्द्र स्पेन था । मार्था ने अपने रूपयौवन की कीमत अदा करके एक नौजवान जर्मन जासूस के साथ प्रेमसंबंध स्थापित किया । आवश्यक जानकारी की तलाश में उसने अनेक जर्मनों को



अपने फंदें में फँसा रखा था । दरअसल वह फ्रान्स और ब्रिटेन की सहायक थी, परंतु उसने दिखावा ऐसा किया मानो जर्मनी की सेवा करने को ही वह स्पेन आई हो । उसके काम से खुश होकर उसके एक जर्मन प्रेमी ने गुप्तचर विभाग के प्रमुख बॅरन क्रोन से उसका परिचय करवाया । प्रथम दर्शन में ही बॅरन साहब उसकेसौंदर्य के गुलाम हो गये । कुछ दिनों तक वह गुप्त रूप से इस अफसर की रखैल के रूप में भी रही । इस अप्रतिम सुंदरी से मिलने जुलने के लिये और उसके साथ रागरंग करने के लिए इस अफसर ने स्पेन की राजधानी मॅड्रिड में एक सौंदर्य प्रसाधनगृह की अपने खर्च से स्थापना करवाई । यह उनके निशाचार का अड्डा था, जहाँ दोनों प्रेमी बेरोकटोक मिल सकते थे । यह बात इस हद तक बढ़ी कि इस प्रसाधनगृह के लोग 'चडोल चिड़िया का घोंसला' कहने लगे । इस घोंसले में से मित्रराष्ट्रो को विजय प्राप्त करवा देने वाली उपयोगी जानकारी यह पक्षिणी अपने अधिकारियों को देती रहती थी । युद्ध में जासूसी करने वाली स्त्रियों के लिए शत्रुपक्ष के सैनिक अधिकारियों और जासूसों की मैत्री और प्रेम संपादन करना, उनसे कामक्रीड़ा करने को सदा तत्पर रहना, और मौका पड़ने पर उनकी रखैल बनकर रहना भी आवश्यक होता हो, तो ऐसा युद्ध करना ही क्यों चाहिये ? कौनसा शुभ उद्देश्य ऐसे युद्धों से पूर्ण हो सकता है ?

८. **मॅडम डॉक्टर**:— परंतु इन सब को भुला देने वाली एक जर्मन जासूस युवती थी, जो फ्रान्स में मॅडम डॉक्टर के नाम से प्रसिद्ध थी । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद प्रकाशित होने वाले असंख्य जासूसी, उपन्यासों, नाटकों और फिल्मों के मूल में इस महिला की साहस कथाएँ ही प्रेरणा रूप थी । इस युवती की एक और खासियत यह थी कि उसने इस पेशे को स्वीकार केवल शौक की खातिर किया था । धन, प्रेम,

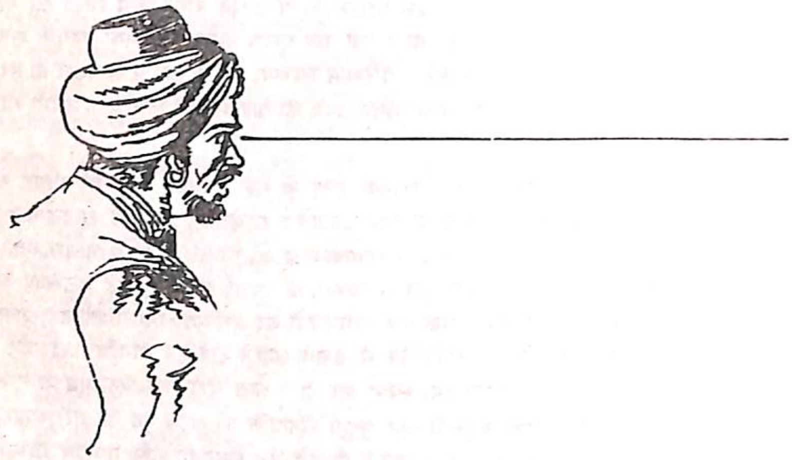
आनंद-प्रमोद, भोगविलास, किसी में उसे दिलचस्पी नहीं थी । कुछ लोगों की तो यहाँ तक मान्यता है कि मॅडम डॉक्टर आजीवन ब्रहमचारिणी रही थी । यद्यपि स्त्री जासूसों के लिए देहसमर्पण किये बिना अपने व्यवसाय में सफलता प्राप्त करना कहाँ तक संभव है, यह विवाद का विषय है । स्त्री-जासूस के सबसे प्रभावी शस्त्र हैं उसका रूप, उसका यौवन और उसका शरीर । इन का उपयोग किये बिना, और देह की पवित्रता का बलिदान चढ़ाये बिना शत्रु के गुप्त रहस्यों की जानकारी शायद ही प्राप्त की जा सके ।

विगत विश्वयुद्ध से पहले पूरा यूरोप मानो ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा हुआ था । यह ज्वालामुखी कब भभक उठेगा, इसका कोई भरोसा नहीं था । इस परिस्थिति में प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की युद्ध की तैयारियों की जानकारी प्राप्त करने के लिए आतुर था । स्त्री और पुरुष जासूसों की एक व्यापक संघटना खड़ी करने की आवश्यकता हर राष्ट्र को महसूस हुई । परिणाम स्वरूप, युद्ध के आरंभ से पहले ही हर देश में जासूसों के दल के दल राज्यसेवा में नियुक्त होकर अपने कार्य की तालीम पाने लगे थे । जर्मनी भी इस दौड़ में पीछे नहीं था ।

इसी दौरान में जर्मनी में एक जासूस की अचानक मृत्यु हो गई । उसके कोट की सीवन में से महत्वपूर्ण गोपनीय कागजपत्र प्राप्त हुए । परंतु ये सारे दस्तावेज सांकेतिक भाषा में थे जिनका अर्थ उपस्थित लोगों में से कोई नहीं लगा सका । यह प्रश्न राज्यकर्ताओं को चिंतित कर रहा था कि एक दिन अॅना मॅरी लेसर नामक सोलह वर्ष की एक युवती गुप्तचर विभाग के दफ्तर में हाजिर हुई । उसका कहना था कि मृत जर्मन जासूस उसका मित्र था और उसके सब कागजपत्रों का अर्थ वह लगा सकती है । शाम को गुप्तचर विभाग के बड़े बड़े अधिकारियों की उपस्थिति में उसने सामने रखे हुए मानचित्र की और उन दस्तावेजों की सहायता से फ्रान्स की पूरी व्यूहरचना स्पष्ट कर दी । सात घंटों तक अॅना युद्ध के गुप्ततम रहस्यों का स्पष्टीकरण करती रही । एक अनुभवी और बुजुर्ग सेनापति की तरह युद्ध की पूरी व्यूहरचना समझाने वाली इस षोडश-वर्षीया सुंदरी को देखकर जर्मनी के बड़े-बड़े सेनापति और गुप्तचर विभाग के अधिकारी दंग रह गये ।

ऐसी चतुर युवती को गुप्तचर विभाग भला कैसे छोड़ सकता था ! थोड़े ही दिनों बाद वह कला की विद्यार्थिनी के रूप में जिनेवा में प्रकट हुई । जिनेवा में फ्रान्स की सेना छावनी डाले पड़ी हुई थी और रोज फौजी दस्तों की कवायद होती थी । सैनिक अफसरों से मैत्री स्थापित करने में इस रूपसी को कोई कठिनाई नहीं हुई । सैनिकों के चित्र बनाते बनाते वह अत्यंत भोलेपन से अनेक प्रश्न पूछ पूछ कर अत्यंत उपयोगी जानकारी एकत्रित कर लेती थी । उसकी मासूमियत, उसका सौम्य सौंदर्य और उसकी बालसुलभ मुग्धता से ठगे जाकर बड़े बड़े फ्रान्सीसी सेनापति भी उससे युद्ध की अत्यंत गोपनीय बातें कह देते थे और मॅडम डॉक्टर इस उपयोगी जानकारी को तुरंत जर्मनी पहुँचा देती थी । इस प्रकार विदेशों में जासूसी का अनुभव प्राप्त करके वह बर्लिन वापस आई । गुप्तचर विभाग में एक उच्च पद पर उसकी नियुक्ति की गई । अन्य जासूस- स्त्रियों को इस कला की शिक्षा देने का काम भी उसे सौंपा गया । सन १९१४ में युद्ध शुरू होते ही यह बेल्जियम की राजधानी ब्रसेल्स पहुँची और एक फ्रान्सीसी युवती के रूप में रहने लगी । शीघ्र ही शत्रुपक्ष का एक नवयुवक सैनिक अफसर इस से प्रेम करने लगा । प्रेमी युगल के रूप में दोनों युद्ध के मोर्चों पर घूमने को भी जाने लगे । अॅना चित्रकार तो थी ही । उसने युद्ध की छावनियों के चित्र बनाना शुरू किया । इन चित्रों को वह स्विटजरलैंड के मार्ग से जर्मनी भेज देती थी । चित्रों के ऊपरी रंगों की परत खुरचते ही नीचे कॅनवास पर सैनिक छावनियों के नक्शे दिखाई देने लगते थे । इस अद्भुत चित्रकारी में मॅडम डॉक्टर अत्यंत निपुण सिद्ध हुई । एक दिन उसने अपने प्रेमी को समझाबुझा कर डच सीमा पर मोटर में घूमने जाने के लिए राजी कर लिया । हवा तेज चल रही थी । अॅना की डायरी का एक पन्ना मोटर के बाहर उड़ गया । अॅना का प्रेमी उसके पीछे भागा । अॅना समझ गई कि वह पन्ना हाथ लगते ही उसकी जासूसी का भेद खुल जायगा । तुरंत उसने मोटर चला दी और मोटर के मालिक, अपने भोले भाले प्रेमी को वहीं सड़क पर छोड़ कर तेज रफ्तार से गाड़ी को दौड़ा कर ले गई । अपनी

प्रियतमा को इस तरह पलायन करती देखकर पहले तो वह कुछ चकराया । हाथ का पन्ना उलट पलट कर देखा तो मालूम हुआ कि उस पर बेल्जियम के सैन्य की पूरी व्यूहरचना के नक्शे थे । तुरंत वह समझ गया कि उसकी प्रियतमा तो एक चालाक जासूस थी । उसे पकड़वाने की इस अफसर ने बहुत कोशिश की ; परंतु ॲना तो कभी की बेल्जियम की हद के बाहर पहुँच चुकी थी । सरहद पर पुलिस चौकी थी । संतरी ने तेज रफ्तार से जाती हुई मोटर को देखा । उसे रोकना तो संभव ही नहीं था । इतने में उसने देखा कि गाडी एक पेड़ से टकरा कर उलटी हो गई । क्षणार्ध में उसमें से आग की लपटें निकलने



लगीं और देखते-देखते गाड़ी जलकर राख हो गई । सिपाही ने यह भी देखा कि इस भयानक दुर्घटना के बावजूद भी जलती हुई मोटर में से एक स्त्री की आकृति बाहर निकली और नदी में कूद पड़ी । तीन घंटों तक ॲना नदी में तैरती रही । बेल्जियम की सीमा से कई मील दूर एक मछुए ने उसे नदी से बाहर निकाला ।

युद्धकाल में उसने अपना प्रधान कार्यकेन्द्र हॉलेंड के एक छोटे शहर में रखा था ; परंतु उसका कार्यकलाप तो पूरे यूरोप में फैला हुआ था । ॲना की कार्यकुशलता ऐसी गजब की थी कि कभी-कभी तो एक ही समय, एक साथ दो शहरों में वह अपनी उपस्थिति सिद्ध कर सकती थी । सन् १९१८ में वह स्पेन में किसी अमरीकन जमींदार की पत्नी के रूप में प्रकट हुई और जख्मी अमरीकन सैनिकों की सेवा चाकरी के लिये उसने स्वयं सेविकाओं का एक दल भी खड़ा किया । यहाँ एक दिन अचानक उसे उसका बेल्जियम प्रेमी दिखाई दे गया । उसकी नजर ॲना को पहचाने न पहचाने इससे पहले ही वह वहाँ से चल दी और कुशल वेश परिवर्तन द्वारा एक फ्रान्सीसी सेनाधिकारी का रूप धारण करके पूरे फ्रान्स को पार करती हुई, जर्मन सेना से जा मिली ।

ॲना शत्रुपक्ष के अनेक जासूसों को भी नौकरी में रखती थी । जर्मन नौसेना की पूरी जानकारी वह रेडियो द्वारा पहुचाती थी । एक बार इंग्लैंड के किसी बंदरगाह पर हमला करने के लिए तीन जर्मन विनाशिकाएँ भेजी गईं । परंतु ब्रिटिश नौदल उनके मुकाबले के लिए तैयार था, अत : ये तीनों विनाशिकाएँ डूब गईं । इन विनाशिकाओं के संचलन की जानकारी ॲना और उसके एक सहायक के सिवा और किसी को नहीं थी । विनाशिकाओं के डूबते ही ॲना समझ गई कि उसके सहायक ने ही यह गुप्त जानकारी

इंग्लैंड पहुँचाई होगी । ये समाचार मिले, तब वे दोनों साथ-साथ बैठे थे । अना अत्यंत शांति से खड़ी हुई, कमर से तमंचा निकाला और उसे वहीं ढेर कर दिया । इस प्रसंग ने उसे और भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया, और जर्मन सरकार की नजरों में उसकी इज्जत बहुत बढ़ गई । इस पूरे कार्यकाल में वह मॅडम डॉक्टर के नाम से ही पहचानी जाती थी और उसके नाम के साथ सच्ची-झूठी, अनेक किंवदन्तियाँ जुड़ गई थीं । अंत में उसे अफीम का भयानक व्यसन लग गया । युद्धकाल में काम का बोझ इतना अधिक रहता था कि वह थक जाती थी । अनेक बार तो वह दिन में बीस-बीस घंटों तक काम करती रहती थी । अफीम के सेवन से उसे कुछ राहत मिलती थी । युद्ध की समाप्ति से पहले ही वह बीमार पड़ गई और इतनी कमजोर हो गई कि उसे अस्पताल में ले जाना पड़ा । परंतु उसका जर्जर शरीर संभल नहीं सका और वहीं उसकी मृत्यु हो गई । ॲना आजीवन अखंड ब्रह्मचारिणी रह सकी थी या नहीं, यह निश्चय करना बहुत मुश्किल है परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री-जासूस के रूप में ॲना ने अपने देह सौंदर्य का उपयोग कम से कम किया था । उसकी कार्यपटुता उसकी प्रखर बुद्धि और चालाकी पर आधारित थी, उसके रूपयौवन पर नहीं ।

९. **ऑल्गा झेंखोव**:— वर्तमान विश्वयुद्ध, अनीति की दृष्टि से, विगत महायुद्ध से रतीभर भी कम नहीं रहा, इसके अनेक प्रमाण अब मिलने लगे हैं । स्त्रियों का जासूसी के लिए जो उपयोग प्रथम विश्वयुद्ध में हुआ था, वैसा ही द्वितीय विश्वयुद्ध में भी हुआ यह सिद्ध करने के लिए ऑल्गा झेंखोव नामक अभिनेत्री का उदाहरण यहाँ उपयुक्त होगा ।

ऑल्गा का जन्म पोलैंड में हुआ था और विवाह एक रूसी अभिनेता के साथ । सिनेमा कलाकारों के विवाह पूरे समाज में मजाक का विषय होते हैं, यह मानी हुई बात है । ऑल्गा के पति की मृत्यु हो गई । परंतु ऑल्गा ने अपने रूप सौंदर्य का उपयोग यौन अनाचार के लिए न करते हुए अपने देश पोलैंड और रूस की सेवा करने में किया और दोनों के दुश्मन जर्मनी को पराजित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी । लंबे, काले केशकलाप वाली और मादक सौंदर्य से युक्त ऑल्गा नाटक और सिनेमा, दोनों में अभिनय करती थी । इस कला के बल पर उसने जर्मनों के और खास तौर से बर्लिन निवासियों के हृदय जीत लिये थे । बर्लिन में यह कलावती इतनी लोकप्रिय थी कि वह जन्म से जर्मन नहीं है, यह जानने की भी किसी को इच्छा नहीं होती थी । उसकी प्रसिद्धि एक जर्मन भाषी अभिनेत्री के रूप में ही थी । सैकड़ों नाटकों और फिल्मों में काम करके ऑल्गा ने अपने अभिनय कौशल और रूप यौवन से जर्मन प्रजा का हृदय जीत लिया था । कहा जाता है कि उसके रूप का प्रभाव इस हद तक बढ़ा कि इटली का विदेशमंत्री कांउट सियानो जर्मन विदेशमंत्री रिबनट्रॉप और खुद हिटलर भी उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो उठे थे । हिटलर और उसके सहयोगियों को बदनाम करने के लिए ही विजेता मित्रराष्ट्रों ने ऑल्गा की कहानी गढ़ी है, यह एक सत्य घटना है, यह निश्चय करना असंभव नहीं है क्योंकि ऑल्गा अब तक जीवित है और रूस द्वारा एक वीर रमणी के रूप में सम्मानित होकर, पूर्व बर्लिन में रह रही है । परंतु आल्गा के प्रसंग की सत्यासत्यता के गड़े मुर्दे उखाड़ने की आवश्यकता नहीं क्योंकि युद्धकाल में यौन अनाचार और असत्य, क्या मित्रराष्ट्र और क्या शत्रुपक्ष, सभी जगह एक समान फैले हुए थे ।

हिटलर के साथ ऑल्गा की मैत्री इस हद तक बढी कि सन १९३९ में एक भव्य दरबार भरकर बड़े समारोह पूर्वक ऑल्गा का जर्मन प्रजा की एक माननीय कलाकार के रूप में सत्कार किया गया । हिटलर ने भरी सभा में उससे हस्तांदोलन करके और उसका हस्तचुंबन करके उसका महत्व बहुत बढ़ा दिया था । हिटलर जब कभी रणक्षेत्र में जाता था, तब उसके निवास स्थान में एक गुप्त कमरा अलग से तैयार रखा जाता था । लोगों का कहना था कि इस रहस्यमय कमरे में युद्ध के अनेक गुह्यतम रहस्यों के साथ-साथ उन रहस्यों को जानने वाली हिटलर की प्रियतमा ऑल्गा झेंखोव भी रहती थी ।







बड़े समारोह पूर्वक ऑल्गा का जर्मन प्रजा की एक माननीय कलाकार केरूप में सत्कार किया गया। हिटलर ने भरी सभा में उससे हस्तांदोलन करके और उसका हस्तचुबंन करकेउसका महत्व बहुत बढ़ा दिया था। हिटलर जब कभी रणक्षेत्र में जाता था, तब उसके निवासस्थान में एक गुप्त कमरा अलग से तैयार रखा जाता था। लोगों का कहना था कि इस रहस्यमय कमरे में युद्ध के अनेक गुह्यत्तम रहस्यों के साथ-साथ उन रहस्यों को जानने वाली हिटलर की प्रियतमा ऑल्गा झेखोव भी रहती थी।

ऑल्गा ने हिटलर की दोस्ती का उपयोग करके जर्मन राज्यतन्त्र के अनेक गुप्तभेद और सेना के रहस्य रूसियों को पहुँचाये। रूस की विजय में ऑल्गा का हिस्सा कितना था, यह अब शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। इतिहास के अनेक खंड अलग-अलग तैयार पड़े हैं। उन्हें एक साथ जोड़ कर पूरी कहानी को रचना करने भर की देर है। ऑल्गा का जासूसी का ढंग भी कुछ निराला था। हिटलर के साथ का उसका संबंध सुप्रसिद्ध था, अत: बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ और सेनापति अपनी दरख्वास्तें और योजनाएँ हिटलर से मंजूर करवाने के लिए ऑल्गा की सहायता लेते थे। बड़े-बड़े उद्योगपति और वैज्ञानिक भी अपने कारखानों या अपनी प्रयोगशालाओं का विकास करने की योजनाएँ ऑल्गा की उपस्थिति में ही बनाते थे और उसके साथ नि:संकोच विचार-विनिमय करते थे। हिटलर की अंतिम मंजूरी ऑल्गा के जरिये ही प्राप्त हो सकती थी। ऑल्गा, बिना किसी प्रयत्न के मालूम पड़ जाने वाली इन सब योजनाओं को अपनी डायरी में दर्ज कर लेती थी। उन्हें वह हिटलर के सामने तो प्रस्तुत करती ही थी, परंतु साथ-साथ उनकी रवानगी मॉस्को के लिए भी हो जाती थी। इस प्रकार, जिन रहस्यों की जानकारी केवल हिटलर और उसके उच्च अधिकारियों को होनी चाहिये थी, वह उसी समय स्टॅलिन को भी हो जाती थी।

ये गुप्त समाचार मॉस्को पहुँचाने की तरकीब भी ऑल्गा ने ढूंढ रखी थी। युद्ध शुरू होने से पहले उसकी एक रूसी अफसर से जान पहचान थी। पश्चिम में स्त्री के प्राथमिक परिचय बहुत शीघ्र प्रेमसंबंध और देह संबंध में परिणत हो जाते हैं, यह जानी हुई बात है। इस अफसर ने ऑल्गा से कहा, ''तेरा देश है पोलैंड। शीघ्र ही उस पर संकट आने वाला है। उसके बाद रूस की बारी आयेगी। क्या तू अपनी और अपने पति की मातृभूमि की सहायता नहीं करेगी?''

''अवश्य करूंगी।'' ऑल्गा ने कहा।

''तो फिर मेरे भेजे हुए मोटर-ड्राइवर को सदा अपने साथ रखना।'' ऑल्गा ने यही किया। ऑल्गा

जिन रहस्यों को अपनी डायरी में लिखती थी उन्हें यह ड्राइवर मॉस्को पहुँचा देता था । अपना वर्तमान और भविष्य पूर्णत : जर्मन प्रजा के साथ जोड़ देने की ऐसी गहरी छाप इसने जनता पर डाल रखी थी कि जर्मनी पराजित होने के बाद पोलेन्ड के भव्य राष्ट्रीय नाट्यगृह में जब ऑल्गा के नृत्य का कार्यक्रम हुआ तब पोलैंड निवासी प्रेक्षकों ने उसे देशद्रोही मान कर, उस पर सड़े हुए अंडे और टमाटर फेंक कर अपना रोष व्यक्त किया था ।

धीरे-धीरे जर्मनी की हार होती गई और विजयी रूसी सैन्य बर्लिन के समीप पहुँचता गया । जर्मनी पराजित होने के बाद पोलेन्ड के भव्य राष्ट्रीय नाट्गृह में जब ऑल्गा के नृत्य का कार्यक्रम हुआ तब पोलैंड निवासी प्रेक्षकों ने उसे देशद्रोही मान कर, उस पर सड़े हुए अंडे और टमाटर फेंक कर अपना रोष व्यक्त किया था ?

धीरे-धीरे जर्मनी की हार होती गई और विजयं रूसी सैन्य बर्लिन के समीप पहुँचता गया । जर्मनी की मैत्री का ऐसा संपूर्ण आडंबर करने वाली ऑल्गा का ड्राइवर एक दिन एकाएक गायब हो गया । ऑल्गा के मन में खलबली मची कि ड्राइवर ने सब जानकारी रूस तक पहुँचा दी होगी, या वह उसके ऊपर जासूसी करके उसे नाजियों के जाल में फँसा देने वाला गुप्तचर था ? वह इस चिंता में डूब गई कि यदि वह ड्राइवर जर्मन जासूस हो, तो अबतक एकत्र की हुई जानकारी रूस पहुँची ही नहीं होगी, और इस हालत में विजेता रूसी उसे बदनाम नाजियों की एक मित्र सुंदरी मानकर उसके साथ दुश्मनी का बर्ताव करें, तो यह स्वाभाविक ही होगा । कई महीने उसने इसी चिंता में बिताये । बर्लिन पर रात दिन अग्नि वर्षा हो रही थी । चिंतामग्न ऑल्गा एक दिन अकेली बैठी थी । एकाएक द्वार की घंटी बजी । उसने मशीन की तरह खड़ी होकर दरवाजा खोला । एक आदमी तेजी से अंदर आया और कहने लगा, ''आपका कर्तव्य आपने बखूबी निभाया है । आपका ड्राइवर सही सलामत है । आपके भेजे हुए सब समाचार हमें यथासमय मिल गये थे और युद्ध में उनका सफलतापूर्वक उपयोग भी किया गया है । विजयी सोवियेट सैन्य एक सप्ताह के अंदर बर्लिन आ पहुँचेगा । परंतु तब तक भयानक बमबारी और अग्निवर्षा होगी । इसलिए आप किसी सुरक्षित तहखाने में जाकर रहें ।''

अनेक जर्मन स्त्रीपुरुषों के साथ वह भी बमवर्षा से रक्षा करने वाले तहखाने में जा छिपी । ऊपर भयानक प्रलय मचा हुआ था । एक दिन वह इस भूगर्भ-आश्रयस्थान में से बाहर आई । उसका जीवन इन दिनों अत्यंत व्यग्र और अस्तव्यस्त हो उठा था । बाहर आते ही एक रूसी सैनिक अफसर ने उसे सम्मानपूर्वक फौजी सलाम की और समाचार दिये, ''मॉस्को में आपको सम्मानित करने के समारोह की तैयारियाँ हो रही हैं । इससे पहले आपको वहाँ पहुँचा देने की व्यवस्था भी हो चुकी है ।'' मॉस्को से वह अत्यंत सम्मानपूर्वक बर्लिन वापस आई । आज उसका नाम पूरी रूसी प्रजा में अत्यंत आदर से लिया जाता है ।

परंतु इतने वर्षों की जासूसी में उसे अपनी देह किस-किस को समर्पित करनी पड़ी होगी ? ऐसे बुद्धि वैभव ऐसे रूप-यौवन और ऐसी मोहकता का उपयोग युद्ध के छोटे मोटे और असत्यमय साहसों में होने के बदले मनुष्य जाति की सुखशांति के लिए हुआ होता तो ? जासूसी में निपुणता दिखाने वाली इन कार्यक्षम गणिकाओं को युद्ध का ही एक परिणाम माना जा सकता है । मित्र या शत्रु प्रजाओं के स्त्रीत्व का ऐसा उपयोग न तो मित्र की शोभा बढ़ाता है, न शत्रु की । इन विश्वविख्यात स्त्री जासूसों में से प्राय : सभी ने देहविक्रय के द्वारा गणिकाओं के समूह को ही समृद्ध किया है । युद्ध न हो, तो ये जासूस गणिकाएँ भी न हों ।



ग्यारहवाँ परिच्छेद
युद्ध और परिचारिका

१
स्त्री हृदय की सेवाभावना की आड़ में

युद्ध आरंभ होते ही पूरे देश में अनेक प्रकार की उथलपुथल होने लगती हैं । शस्त्र धारण करने योग्य नवयुवक और मध्यमवय के पुरुष युद्ध में या युद्ध की तालीम में लग जाते हैं । मजदूर-पेशा लोग मेहनत मजदूरी में अधिक समय व्यतीत करते हैं । राजनीतिज्ञों और अधिकारियों में दौड़भाग और कागजों की अदलबदल बड़े पैमाने पर होने लगती हैं । इस प्रकार पूरा पुरुष वर्ग अस्थिर और व्यस्त हो उठता है ।

दूसरी ओर स्त्रियों में भी एक अन्य प्रकार की अस्थिरता दिखाई देने लगती है । स्त्रियों की भावनाशक्ति और संवेदनशक्ति अधिक तीव्र होती हैं, और उनकी शारीरिक रचना भी इस प्रकार की होती है कि किसी भी प्रकार के मानसिक संक्षोभ का प्रभाव उनकी जननेंद्रियों पर तुरंत पड़ने लगता है । एक तरफ पुरुषों के दल युद्ध के मोरचों पर या तालीमकेन्द्रों में जाते दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर स्त्रियों और बालकों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने की भागदौड़ मची रहती है । इनके उपरांत, देशाभिमान के नशे से प्रेरित, धनिक और दरिद्र, युवती और वृद्धा, सब प्रकार की स्त्रियाँ भी युद्धकार्य में सहायता पहुँचाने को कमरकस कर तैयार हो जाती हैं । अनेक स्त्रियाँ सैनिकों के लिए स्वेटर, मोजे आदि बुनती हैं, और कुछ कपड़ों की सिलाई में लग जाती हैं । कई स्त्रियाँ सैनिकों के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद की योजनाएँ बनाने में लग जाती हैं । इन आनंद-प्रमोद के साधनों को सैनिकों की छावनियों तक में पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है । छुट्टी बिताने के लिये, या जख्मी होकर स्वदेश लौटने वाले सैनिकों को आनंद-प्रमोद के हर तरह के साधन उपलब्ध कर देने की जिम्मेदारी ये स्त्रियाँ अपने ऊपर ले लेती हैं । सगे संबंधी या इष्टमित्र बिना जख्मी सैनिकों को धीरज बँधाने और उनके दुःख में सहभागी होने के लिए भी सेवाभावी स्त्रियों के मंडल खड़े हो जाते हैं । युद्ध से संबंधित इसी प्रकार की अनेक ऐच्छिक सेवाओं में अनेक स्त्रियाँ जी जान से लग जाती हैं ।

साथ ही, युद्ध के मोरचों पर पुरुषों की अत्यधिक आवश्यकता होने के कारण, युद्ध की साधन सामग्री बनाने वाले कारखानों में भी स्त्री-कारीगरों की नियुक्ति बड़ी संख्या में की जाती है । पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को मजदूरी कम मिलती है, यह केवल भारत में ही नहीं, जगत् भर में प्रचलित प्रथा है । इस प्रकार मेहनत-मजदूरी कर सकने वाली स्त्रियाँ कारखानों में, और उच्च व मध्यम वर्गों की स्त्रियाँ युद्ध संबंधी अन्य कार्यों में लग जाती हैं । इन अन्य कार्यों में, जख्मी या बीमार सैनकों की सेवाचाकरी करने वाली परिचारिका का काम इन स्त्रियों के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक और अनुकूल होता है, और यही उन्हें अधिक पसंद भी आता है । युद्धकाल में परिचारिकाओं का सबसे बड़ा भाग समाज के मध्यमवर्ग में से ही उपलब्ध होता है । इनमें यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाली, कला के विभिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाली, दूकानों या दफ्तरों में काम करने वाली, इत्यादि सब प्रकार की युवतियों का समावेश होता है । कई बार राजघरानों की या अत्यंत धनी परिवारों की लड़कियाँ भी स्वेच्छा से परिचारिका का काम करना पसंद करती हैं । युद्धकार्य में अपना अपना सहयोग देकर देशभक्ति और कर्तव्य पूर्ति का संतोष प्राप्त करने की कोशिश ये सभी युवतियाँ करती है ।

इन सब का आरंभिक और मुख्य उद्देश्य देश की और युद्धक्षेत्र में जख्मी होने वाले सैनिकों की सेवा करना ही होता है, इसमें कोई शक नहीं । कम से कम शुरू शुरू में, सेवा के आवेश के वातावरण में तो इसी महान उद्देश्य से ये युवतियां प्रेरित होती हैं । सुखीजीवन या सीधासादा कामधंधा छोड़कर रणक्षेत्र में जाना, या देश में रहकर ही घायलों की सेवा के लिए दिनरात तत्पर रहना, स्त्री जाति की सेवाभावना का सुंदर और उदात्त उदाहरण है । प्रकाश की देवी के रूप में पूजी जाने वाली फ्लॉरेन्स नाइटिंगेल की तरह घायल सैनिकों की माता और बहन का स्थान लेने वाली अनेक परिचारिकाएँ इस अग्नि परीक्षा के समय में अपने आपको निष्काम भाव से सेवा कार्य में लगा देती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । उनकी जितनी भी स्तुति की जाय, कम ही है : और उनके ऋण से देश कभी मुक्त हो नहीं सकता ।

परंतु देशभक्ति के प्रथम आवेश का शमन हो जाने पर जिस प्रकार सैनिकों की अनेक मानवसुलभ कमजोरियाँ उभरने लगती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के सेवा और अनुकंपा के भावों का ज्वार शांत होते ही उनकी स्त्री सुलभ निर्बलताएँ भी सिर उठाने लगती हैं । इन कमजोरियों में यौन आकर्षण सबसे पहले जागृत होने वाला मानव सुलभ भाव है । इन दया की देवियों के चरणों में अनेक प्रकार के प्रेम निवेदन केवल अस्पतालों में ही नहीं बल्कि रणक्षेत्रों के काम चलाऊ खेमों में भी होते रहते हैं । परिचारिका का काम अत्यंत पवित्र है, पवित्र होना चाहिये और पवित्र रहना चाहिये, यह हम सबको मान्य करना ही होगा । परंतु युद्ध इस सेवा की पवित्रता को नष्ट भ्रष्ट कर देता है, इतना ही नहीं बल्कि इन सेवाव्रती युवतियों में से गणिकाओं की सृष्टि भी करता है । अत्यंत नाखुशी से क्यों न हो, परंतु इस कटु सत्य को माने बिना छुटकारा नहीं ।

२
युद्धकालीन परिचारिका

"Not so quiet" नामक पुस्तक की लेखिका हेलन जेना स्मिथ प्रथम महायुद्ध में रुग्णवाहिका (Ambulance car) चलाने का काम करती थी । उपरोक्त पुस्तक में युद्धकाल के अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए यह सुशिक्षित युवती कहती है, "युद्धकालीन सेवाएँ करने वाली इन अजीब लड़कियों के साहस, त्याग और आदर्शप्रियता की प्रशंसा पढ़कर मेरी यही इच्छा होती है कि जो चीज हाथ लगे, वह इन प्रशंसकों के सिर पर दे मारूं । इन युवतियों को बहादुर वीरांगनाएँ कहा जाता है । इस प्रकार के प्रशंसोद्गार सुनते-सुनते कान पक गये । जिस काम को किये बिना करने वाले का छुटकारा ही न हो, उसके लिए इतना आश्चर्य क्यों व्यक्त करना चाहिये ? हो सकता है कि थोड़ी-बहुत युवतियाँ केवल देश सेवा के उद्देश्य से ही युद्धकालीन परिचारिकाएँ बनती हैं । परंतु ऐसे शुद्ध और उच्च आदर्श वाली परिचारिका के मुझे तो अब तक दर्शन नहीं हुए । इन युवतियों की सराहना करके इन्हें सातवें आसमान पर चढ़ाने वाले लोग इनके सही-सही उद्देश्यों को जान लें तो अच्छा हो । इनमें की कुछ युवतियाँ युद्धकार्य में केवल कुतूहल वश भाग लेती हैं । मेरी तरह घर में बैठे-बैठे ऊब जाने वाली, और क्या करना, यह समझ में न आने वाली कुछ युवतियाँ भी युद्धकार्य करती हैं । परंतु इनमें की अधिकांश स्त्रियाँ केवल पुरुष का शिकार करने की ही शौकीन होती हैं और इसके लिए उपयुक्त मौके की तलाश में ही युद्धकार्य में भागलेने को लालायित रहती हैं । पुरुष संसर्ग का उन्माद जिन पर सदा सवार रहता है और जिनकी कामवृत्ति कभी संतुष्ट नहीं होती, ऐसी कामांध स्त्रियों को युद्धकाल में अपनी वासनापूर्ति का सुनहरा अवसर दिखाई देता है । अभी कुछ दिन पहले की घटना सबको याद होगी कि थ्रुम्स नामक परिचारिका घायल सैनिकों के बदले रुग्णवाहिका गाड़ी में ही उनके ऊपर प्रेमोपचार पर औषधोपचार करने लगती थी । उसके प्रेमकांडों का उपद्रव इतना बढ़ गया कि उसे किराया-भाड़ा देकर और हाथ जोड़कर इंग्लैंड



ापस भेज देना पड़ा । कुछ अधिकारप्रिय युवतियाँ भी इन सेवाओं में भाग लेती हैं । जिन्हें जीवन भर हुक्म चलाने की या हुक्म बजा लाने की ही आदत हो, उनके लिए ऐसे सेवादलों का कार्य अत्यंत अनुकूल सिद्ध होता है । थोड़ी बहुत युवतियाँ साहसवृत्ति से प्रेरित होकर भी युद्धकालीन परिचारिका का कार्य करती हैं । इस प्रकार, इन सेवादलों में विविध उद्देश्यों से प्रेरित युवतियों का मजमा जमता है । इसमें प्रवेश करते समय तो बात बड़ी सीधी और सरल होती है, परंतु कुछ दिनों बाद ऊँट किस करवट बैठेगा, इसकी इन्हें भी खबर नहीं होती ।''

युद्ध के जाज्वल्यमान उद्देश्य फीके पड़ जाते हैं जब हम यह सुनते हैं कि पूजनीय माने जाकर सदा प्रशंसा और पुष्पवृद्धि की अपेक्षा रखने वाले सैनिक और परिचारिकाएँ युद्धक्षेत्र में भी अमर्याद शृंगारचेष्टा और अतंत्र कामक्रीड़ा में डूबे रहते हैं । इसमें कोई शक नहीं कि युद्ध के समय ये वीर सैनिक मृत्यु का बहादुरी से मुकाबला करते हैं । परंतु यह भी सत्य है कि युद्ध से क्षणभर की फुरसत मिलते ही ये युद्धवीर शराब और स्त्री को ही गोद में लेकर बैठते हैं ।

चार्ल्स फ्रॉवेल नामक युद्धकालीन सेवाओं का अनुभवी लेखक भी परिचारिकाओं के जीवन के अनैतिक पहलू को ही स्पष्ट करता है । वह कहता है, ''युद्ध का आरंभ हुआ उसी दिन से रेडक्रॉस के कार्यालय में परिचारिका का काम करने को उत्सुक युवतियों के झुंड के झुंड आने लगे । छिछले हृदयवाली इन स्त्रियों में शुरू-शुरू में तो सेवा का उत्साह खूब दिखाई देता था । युद्ध काल की एक फैशन बन जाने वाली इस प्रथा का आँख मींच कर अनुकरण भी खूब हुआ । परंतु बहुत शीघ्र ही सेवा का मुलम्मा उड़कर उनका सच्चा रूप दिखाई देने लगता था । यह संभव है कि खुद उन्हें भी इस वास्तविकता का ज्ञान उस समय न होता हो । उनका एकमात्र ध्येय यही होता था कि सैनिक वर्दी में सज्ज पुरुषों का हृदय जीतकर उन्हें अपने वश में करना । युद्धकाल में युद्धवीरों को सहलाने और बहलाने का काम महान और सुंदर मानने की फैशन तो प्रचलित है ही । तरह-तरह के नखरे और मोहक अदाओं का प्रदर्शन करना तो इन स्त्रियों के बायें हाथ का खेल होता है । अजनबी पुरुषों के सामने यह सब और भी आसानी से हो सकता है, और समय भी बड़े आनंद से बीतता है । इसी में से कोई स्थायी प्रेमसंबंध जुड़ जाने की आशा भी अनेक युवतियाँ करती हों, तो आश्चर्य नहीं । यह न भी हो, तो नये नये पुरुषमित्रों का संसर्ग और विविधताभरे मधुर प्रेमानुभवों का प्रलोभन भी इन युवतियों को कम नहीं होता ।''

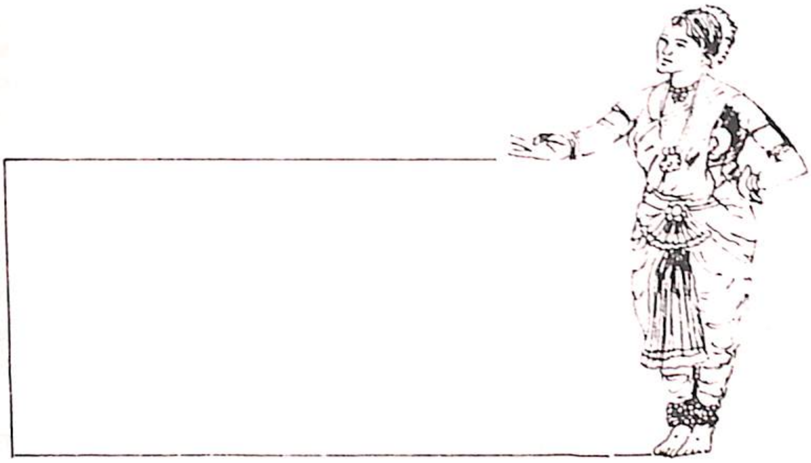
ऑटो वेनीन्जर नामक एक स्त्री द्वेषी लेखक की विगत विश्वयुद्ध से पहले ही मृत्यु हो गई थी । उसकी प्रेम-निष्फलता ने उसे स्त्री जाति का दुश्मन बना दिया था । एक जगह वह लिखता है, ''स्त्री-सुलभ अनुकंपा और माया के फेर में पड़कर लोगों ने मान लिया है कि स्त्रियों में भी आत्मा होती है । बीमारों की तीमारदारी करनेवाली परिचारिकाओं को देखकर लोगों को भ्रम हो गया है कि स्त्रीजाति दयालु और सेवाव्रती होती है । परंतु परिचारिका का काम करने के कारण ही स्त्रीजाति में दया, माया, ममता, अनुकंपा आदि गुणों का अस्तित्व मान लेना दीर्घदृष्टि का लक्षण नहीं । अपना स्वार्थ पूरा न हो सके, या अपनी वासना या अभिलाषा की तृप्ति न हो सके, ऐसा कोई काम स्त्री कभी करती ही नहीं । इस संबंध में अन्यथा सोचने की बेवकूफी कोई न करे ।'' कुछ मनोवैज्ञानिकों को शायद इस कथन में सत्य के दर्शन हो सकें ।

प्रॉफिसर विल्हेम स्टेकल कहते हैं, ''जो लोग बात बात में दूसरों की सहायता करने के लिए और दूसरों को राय देने के लिए आतुर होते हैं; सदा सब की सुविधा संभालने की दौड़धूप में लगे रहते हैं; और जिनके हृदय हर किसी के प्रति प्रेम और करुणा से छलक उठते हैं; वे सब के सब आत्मप्रेमी और अहंमन्य होते हैं । अक्सर ये लोग अपने सिवा और किसी की सुख सुविधा देखने वाले नही होते ।''

युद्धकाल में किसी अस्पताल में घटी हुई एक घटना परिचारिकाओं के मानस का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है । एक घायल सैनिक बिस्तर पर लेटा हुआ था । जख्मों के कारण उससे अधिक हिलाडुला

या बोला भी नहीं जाता था । एक परिचारिका उसके मुँह का पसीना पोंछने को आई । उसे देखते ही यह निर्बल, शांत और आहत सैनिक चिल्ला उठा, ''बाई, तू तुरंत यहाँ से चली जा । दोपहर के समय थोड़ी देर के लिए तो मुझे आराम कर लेने दो । एक या दूसरे बहाने से आकर तुम लोग मुझे परेशान करती रही हो । अब तक मैं कुछ नहीं बोला ; परंतु अब हद हो रही है । घंटे भर में, इस तरह मुझे परेशान करने वाली तू पंद्रहवीं परिचारिका है ।''

कामकाज बिना के निठल्ले वर्गों की स्त्रियों को परिचारिका का कार्य एक रंगीन स्वप्न के समान लगता है । एक और बात भी विचारणीय है । युद्धसेवा में भरती होने से पहले अनेक परिचारिकाएँ गुप्त रूप से गणिकावृत्ति करती रहती हैं ; और सैनिक भी उनके साथ सामान्य गणिकाओं का सा व्यवहार करते



हैं । ये गणिकाएँ युद्धकाल में परिचारिका बन कर भरती हों, तो युद्ध में गणिकावृत्ति का प्रवेश होना नितांत स्वाभाविक है । युद्ध और सैनिकों के साथ घनिष्ठ और निकट संबंध में आने वाली ये स्त्रियाँ चाहे जिस उद्देश्य से सेवाकार्य के लिए तत्पर हुई हों, कामवासना इन तमाम उद्देश्यों के पीछे किसी न किसी रूप में अवश्य मौजूद रहती है । युद्धकाल के अनुभवी स्त्री-पुरुषों की इन कथनियों में से यही ध्वनि निकलती है । प्रथम विश्वयुद्ध के इतिहासकारों ने यह निस्संदिग्ध रूप से मान्य किया है कि परिचारिका की वर्दी पहन कर सैकड़ों गणिकाएँ युद्धक्षेत्रों में पहुँच गई थीं । शुभ्र गणवेश धारण करने वाली ये साहसिक वारांगनाएँ कई बार धोखेबाजी और विश्वासघात करती हुई भी पकड़ी गई थी और उन पर मुकदमे भी चले थे । सैनिकों में इन परिचारिकाओं के प्रति कैसे भाव होते हैं, यह उनमें प्रचलित एक समूहगीत के आधार पर समझा जा सकता है गीत इस प्रकार है :—

पहला :— यहाँ हमारा मनोरंजन करने वाली कोई वारांगना नहीं है ।

दूसरा :— क्यों हमें झूठमूठ डराते हो ?

वहाँ इतनी परिचारिकाएँ किसलिए हैं ?

तीसरा :— इन ... की आँख नीली और भौंहे काली हैं :

ये सब की ... हम सैनिकों के लिए नहीं तो किसके लिए हैं ?



सैनिकों के और खास तौर से जख्मी सैनिकों के अंगउपांगों के साथ छेड़ छाड़ करने वाली परिचारिकाएँ सैनिकों में लज्जा की भावना भी उत्पन्न करती हैं । अनेक बार, इन नवयौवनाओं को देखकर शरमा जाने वाले सैनिक अपनी सेवा के लिए बडी उम्र की, वृद्ध परिचारिकाओं की मांग करते हैं । बीमार और घायल मनुष्य को माता की आवश्यकता होती है ; प्रिया की नहीं । प्रिया यदि उसकी तीमारदारी करना चाहे तो उसे भी माता का ही रूप धारण करना चाहिये ।

परिचारिका का काम सरल नहीं होता । बीमारों की सेवाचाकरी में उन्हें दिनरात लगे रहना पड़ता है । कभी-कभी कई रातों का जागरण भी हो सकता है । दु :ख और पीड़ा के वातावरण में ही उनका पूरा समय बीतता है । उनके ज्ञानतंतुओं पर इसका बड़ा प्रक्षोभक प्रभाव पड़ता है । ये प्रक्षुब्ध ज्ञानतंतु अनेक प्रकार के मनोरंजनों में राहत ढूंढें यह स्वाभाविक है । पुरुषों के सहवास में प्राप्त प्रेम या काम के मृदु अनुभव मन पर पड़ने वाले उग्र तनाव को कुछ कम कर देते हैं । अत : युद्ध के सतत तनाव भरे वातावरण में ये परिचारिकाएँ नैतिकता की चिंता छोड़कर गणिकाओं का सा बर्ताव करने लगें, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । आश्चर्य तो इस बात से होता है कि इस वातावरण से बच कर अपने आप को पवित्र रख सकने में कुछ परिचारिकाएँ सफल कैसे होती हैं ।

३
युद्धकाल में नैतिक बर्ताव की असंभावना

युद्ध हमेशा ऊँचे सिद्धान्तों की घोषणा करते हुए ही लड़े जाते हैं । सेनाओं की प्रथम मुठभेड़ के समय शायद ये उच्च आदर्श नजर के सामने रहते भी हों, परंतु शीघ्र ही युद्ध जन्य परिस्थिति घरों, गाँवों और देशों को अनाचार के अखाड़ों में परिणत कर देती है । इस विषय में, युद्ध का अनुभव कर चुकने वाले, युद्ध के परिणाम भुगत चुकने वाले और युद्धकाल में महत्वपूर्ण पदों पर रह चुकने वाले एक लेखक के अनुभव भी सुन लें । वह कहता है, ''जगत के भयानक अनिष्टों का नाश करने के लिए और इन अनिष्टों की जंजीरों से जकड़ी हुई मनुष्यजाति को मुक्त करने के लिए युद्ध करना सचमुच ही एक महान और सुंदर वीरकार्य है । परंतु प्रलोभन दिखाई देते ही अपनी पवित्रता और विशुद्धता की बिलकुल परवाह न करने वाले, मामूली चुंबन-आलिंगन से विचलित होकर चाहे जिस युवती से देह संबंध करने वाले, और माता, पत्नी, बहन या बेटियों के समक्ष पवित्रता की प्रतिज्ञा करके युद्धक्षेत्र में आने के बावजूद भी निम्नश्रेणी की बाजरी स्त्रियों के साथ विषयभोग करने वाले सैनिक, सेनापति या राजनीतिक नेता किसी भी प्रजा की जंजीरें तोड़कर उसका उद्धार कर सकेंगे, यह कैसे माना जा सकता है ? चाहे जिस ओर नजर डालिये, युद्ध में अनीति के ही अनेक रूप दिखाई देंगे । इस नीतिनाश ने व्यक्ति, परिवार और देश को भारी हानि पहुँचाई है । हमारे युवकों का बेहया बर्ताव, उनमें व्याप्त गणिकागमन की आदत, उनका अश्लील वार्तालाप और अश्लील चित्रों और पुस्तकों का उनका घृणित शौक देखकर मन क्षुब्ध हो उठता है । इसके उपरांत, धन के लोभ से होने वाले विवाह, धन-वैभव का आडंबर और धनसंपत्ति का मोह, व्यभिचार, तलाक, संतान निरोध के बहाने होने वाले गर्भपात और ऐशोआराम की बढ़ती हुई वृत्ति भी युद्ध के ही अवश्यभावी परिणाम हैं, जो पूरे देश को निर्बल और निर्वीर्य बना रहे हैं ।''

वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तरों पर ऐसी भयानक शिथिलता प्रेरित करने वाले वर्तमान युद्धों में से उदात्त तत्व दिन पर दिन अदृश्य होते जा रहे हैं । प्राचीन युद्धसंस्था में जो वैयक्तिक वीरता, योजनाशक्ति, आत्मसंयम और स्त्री, बालक, वृद्ध या असैनिक प्रजाजनों पर शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा आदि प्रशंसनीय तत्व थे, वे वर्तमान युग में लुप्त हो गये हैं । वर्तमान जगत तो इस भूमिका पर आ पहुँचा है कि किसी भी सदुद्देश्य की सिद्धि के लिए युद्ध का आश्रय लिया ही नहीं जा सकता । और यदि युद्ध छिड़ भी

जाय, तो इन उच्च उद्देश्यों में से एक की भी पूर्ति नहीं हो सकती । संस्कृति की रक्षा के लिए, पीड़ित प्रजाओं के स्वातंत्र्य के लिये और अन्याय के लिये बीसवीं शताब्दी में एक भी युद्ध हुआ है, यह कहने वाला झूठ बोलता है । यह विचार राजद्रोह माना जाय, तो भी कोई हर्ज नहीं । केवल रूस के क्रान्तियुद्ध में, यह युद्ध आक्रमक न होने के कारण, कुछ उदात्त तत्व जरूर थे । हमारे युग में गांधीजी ने युद्ध का एक नैतिक पर्याय प्रस्तुत करके संसार की प्रजाओं को जो बोधपाठ सिखाया है, उसकी ओर मुड़े बिना मानव संस्कृति की रक्षा होना असंभव है ।

वर्तमान विश्वयुद्ध अभी पूरा नहीं हुआ । परंतु अब वह अंतिम सांसे ले रहा है और कुछ ही दिनों में उसकी समाप्ति हो जायगी । युद्ध का यूरोपीय मोरचा कभी का शांत हो चुका है । परंतु यह सच्चा और शाश्वत युद्धविराम है या नहीं, यह आज ही नहीं कहा जा सकता । उसका एशियाई मोरचा अब तक सुलग रहा है । यूरोप ने एशिया पर प्राप्त किये हुए सर्वकंष प्रभुत्व से बचे रहने वाले जापान, और यूरोपीय संस्कृति के प्रतिनिधियों के बीच अब तक संघर्ष चल रहा है । अंत में रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है । रूस, अमरीका और इंग्लैंड की प्रचंड साधनशक्ति के सामने जापान हार जायगा इसमें तो कोई संदेह दिखाई नहीं देता । परंतु एशिया के विस्तृत प्रदेशों को दासता में रखने वाले पाश्चात्य राष्ट्रों को जापान पर विजय प्राप्त होते ही संसार में शांति और स्वातंत्र्य की स्थापना हो जायगी, यह नहीं कहा जा सकता । पश्चिम ने एशिया पर विजय प्राप्त करके उसे पददलित किया है । परंतु यह विजय चिरंजीवी नहीं है । पश्चिम के देशों को अपने प्रदेश में भी युद्ध से मुक्ति कहाँ मिली है ? अब तक तो पश्चिम के पाप ही बीसवीं शताब्दी के विश्व को युद्ध के दावानल में जला रहे हैं । एशियाई युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है और भारत की भूमि भी युद्ध क्षेत्र बन सकती है ऐसी घोषणाएँ अब तक की जा रही हैं । युद्ध का हमारे देश पर पड़ा हुआ प्रभाव भी हम देख रहे हैं । हमारी भूमि पर वर्तमान युद्ध का नगण्य सा भाग लड़ा गया है । परंतु फिर भी हमारी नैतिक अधोगति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है । काले बाजार ने जो नाम कमाया है, हम देख ही रहे हैं । बंगाल में लाखों मनुष्यों की भूख से मृत्यु होना वर्तमान युद्ध की दूसरी विजयपताका है और नैतिक अनाचार का व्यापक प्रसार इसकी तीसरी यशोगाथा है, जो अभी पूरी लिखी नहीं गई ।

सन् १९४३ में कलकत्ते के कुछ मुहल्लों के मकान खाली करवा कर उनमें सैनिकों के लिए गणिकाओं को बसाने की सरकारी योजना प्रसिद्ध हो चुकी है । बम्बई में राह चलती स्त्रियों से छेड़छाड़ करने वाले सैनिकों के उजड्डपन से भी हम परिचित हैं । इस संबंध में गांधीजी को भी कहना पड़ा था कि ऐसी परिस्थिति का निवारण यदि अहिंसा से न हो सकता हो, तो हिंसा से उसका प्रतिकार करना भी जायज है । परंतु अब तक उसके प्रतिकार में किसी ने हिंसा या अहिंसा का प्रयोग किया हो, यह नहीं सुना ; यद्यपि विक्टोरिया क्रॉस प्राप्त करने वाले भारतीय सैनिकों की वीर पूजा के समारोह जगह-जगह मनाये जा रहे हैं ।

वर्तमान युद्ध काल की एक एक और शर्मनाक घटना पर विचार करें । मध्यभारत के किसी छोटे से स्टेशन पर सशस्त्र सैनिकों से भरी हुई एक रेलगाड़ी खड़ी थी ।दूसरी दिशा से आने वाली सवारी गाड़ी भी वहाँ रुकी । सवारी गाड़ी इतने छोटे स्टेशन पर पांच या छ : मिनट से अधिक नहीं रुकी होगी । इस गाड़ी के जनाने डिब्बे में और अन्य डब्बों में अनेक स्त्रियाँ भी थीं । इन स्त्रियों को देखते ही सैनिकों ने खुले आम जो हल्ला गुल्ला, गाली गलौच, स्पष्ट आवाहन और अश्लील हाव भाव किये, वह एक अविस्मरणीय दृश्य था । यह जंगलीपन असह्य होते ही स्त्री-यात्रियों ने डिब्बे की खिड़कियाँ बंद कर लीं । तब सैनिकों ने खिड़की-दरवाजों पर पत्थर मार-मार कर स्त्रियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया । किसी भी सैनिक अधिकारी ने इस हैवानियत को रोकने का प्रयत्न नहीं किया, यही नहीं, खिड़की से बाहर झांक कर देखने का कष्ट भी नहीं किया । भारतीय सैन्य के अफसर सब गोरे ही थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं । इस देश में सेना काली हो सकती है, परंतु अफसर सब गोरे ही होने चाहिये । ये गौरांग अधिकारी अपने सलून मे बैठे चाय की चुस्कियाँ ले रहे थे और निर्विकार भाव से मुस्करा रहे थे । सवारी गाड़ी में



बाहर आकर सैनिकों के सामने खड़ा रहे और उनकी इस निर्लज्जता को रोकने की कोशिश करे । इनमें से कितने मुसाफिरों ने अहिंसा के आवरण के पीछे अपनी कायता को छिपाया, यह तो कौन कह सकता है ; परंतु अहिंसा की दुहाई देते हुए भी कोई माई का लाल डिब्बे से बाहर नहीं निकला । सैकड़ों की संख्या में पुरुष यात्री गाड़ी में मौजूद होने पर भी, सब के सब असहाय होकर, चेहरे पर अप्रसन्नता की हलकी सी झलक प्रदर्शित करते हुए, शांति से बैठे रहे और अपने साथ की स्त्रियों को अपमानित होती देखते रहे । ये अपमानित स्त्रियाँ इन्हीं यात्रियों की माताएँ, पत्नियाँ, बहनें और बेटियाँ थीं । किसी मुसाफिर को अखबारों में इसकी सूचना देने की भी फुरसत नहीं मिली । इन यात्रियों में प्रस्तुत लेखक भी शामिल था और भारतीय स्त्रियों की इस प्रकार बेइज्जती करने वाले सैनिक भी भारतीय थे ।

पुरुष नाम से पहचाने जाने वाले अनेक प्राणी भी थे । परंतु उनमें से किसी में भी इतना पौरुष नहीं था कि बाहर आकर सैनिकों की कोशिश करे । इनमें से कितने मुसाफिरों ने अहिंसा क आवरण के पीछे अपनी कायता को छिपाया, यह तो कौन कह सकता है ; परंतु अहिंसा की दुहाई देते हुए भी कोई माई का लाल डिब्बे से बाहर नहीं निकला । सैकड़ों की संख्या में पुरुष यात्री गाड़ी में मौजूद होने पर भी, सब के सब असहाय होकर, चेहरे पर अप्रसन्नता की हलकी सी झलक प्रदर्शित करते हुए, शांति से बैठे रहे और अपने साथ की स्त्रियों को अपमानित होती देखते रहे । ये अपमानित स्त्रियाँ इन्हीं यात्रियों की माताएँ, पत्नियाँ, बहनें और बेटियाँ थीं । किसी मुसाफिर को अखबारों में इसकी सूचना देने की भी फुरसत नहीं मिली । इन यात्रियों में प्रस्तुत लेखक भी शामिल था और भारतीय स्त्रियों की इस प्रकार बेइज्जती करने वाले सैनिक भी भारतीय थे ।

यूरोपीय युद्ध की समाप्ति हुए कुछ महीने भी नहीं बीते कि युद्ध की विजय ने विजेताओं के सामने खड़ी की हुई समस्याओं की गूंज सुनाई देने लगी है । अगस्त १९४५ में स्टेट्समॅन पत्र में निम्नलिखित समाचार छपा था : ''पॅरिस में रहने के मकानों की इतनी तंगी है कि अदालतों को विवाह विच्छेद कर लेने वाले अनेक पति-पत्नियों को एक ही मकान में रहने की अनुमति देनी पड़ी है । यह अनुमति देते समय न्यायालय यह सूचना भी देते हैं कि 'इस हालत में पति-पत्नी को अपने अपने कमरे में ताले लगा कर रहना चाहिये । रात को सोते समय तो इसकी विशेष तौर से सावधानी रखनी चाहिये !' अदालत द्वारा तलाक की दरख्वास्त मंजूर हो जाने पर भी साथ रहने को मजबूर एक पति ने शिकायत की है : 'मेरी पत्नी

ने रसोई का कमरा तो छोड़ दिया है, परंतु शयनगृह अब तक नहीं छोड़ा ।' विवाह विच्छेदित पति-पत्नी को कानूनन अलग-अलग मकानों में रहना चाहिये, परंतु पॅरिस में रहने का स्थान मिलता ही नहीं । न्यायालयों ने भी यह मान लिया है कि तलाक मिलना जितना सरल है, मकान मिलना उतना सरल नहीं ।''

४

युद्धशमन का बोधपाठ

अब तो युद्ध एशिया में भी समाप्त हो गया है । जापान की शरणागति की घोषणा भी हो चुकी है । शरणागति के संधिपत्रों पर हस्ताक्षर होने के ब्योरे वार वर्णन भी अखबारों में छप रहे हैं । गोरे संवाददाता अत्यंत गर्व और आनंद से वर्णन करते है कि जापानी प्रतिनिधियों के साथ यूरोपीय सेनापति कैसा असभ्य और उद्धत बर्ताव करते हैं । परंतु उनका यह वहशीपन तीसरे विश्वयुद्ध की सृष्टि करने वाली पशुता का ही प्रदर्शन है,यह भी नहीं भूलना चाहिये । अॅटम बम जैसे अमानुषिक और निषिद्ध अस्त्र का उपयोग करके विजय प्राप्त करने वाले मित्रराष्ट्रों ने तीसरे विश्वयुद्ध के बीज बो दिये हैं । इसका फल भी एक न एक दिन उन्हें चखना पड़ेगा ।

विगत विश्वयुद्ध हमें बहुत से बोधपाठ पढ़ा सकता है । प्रथम पाठ यह कि यूरोपीय राष्ट्रों के सामने पूरा एशिया महाद्वीप अपने जबाँदराज मुसलमानों, डरपोक हिंदुओं और चालाक बौद्धों के साथ झुक गया है । ईसा मसीह की जीत हुई या नहीं, यह तो नहीं मालूम, परंतु ईसाइयों की जीत अवश्य हुई है । मित्रराष्ट्रों की वर्तमान विजय का अर्थ है, पश्चिम की ईसाई संस्कृति की पूर्व की संस्कृतियों पर संपूर्ण विजय ।

दूसरा पाठ यह कि विजेताओं ने अभी तक घमंड का त्याग नहीं किया । यह घंमड ही तीसरे विश्वयुद्ध का मूल सिद्ध होगा ।

तीसरा पाठ यह कि यह विजय केवल भौतिक शक्ति और यांत्रिक युक्ति की ही विजय है । न्याय, लोकशासन, स्वातंत्र्य और समानता की प्रेसिडॅन्ट रूजवेल्ट द्वारा घोषित चतु:सूत्री के इस विजय में कहीं दर्शन नहीं हुए । भविष्य में कभी होंगे भी या नहीं, इसका उल्लेख भविष्य का इतिहासकार ही करेगा । एक या दूसरे बहाने से जर्मनी और जापान का अपमान करके उनके प्रदेशों पर कब्जा बनाये रखने का प्रयत्न मित्रराष्ट्रों को मानवता के सेवक नहीं बल्कि मानवता को पद दलित करनेवाले घमंडी विजेता सिद्ध करता है । पुराने जमाने के जंगली विजेताओं में और आज के विजेताओं में कोई खास फर्क मालूम नहीं देता । यदि फर्क हो भी, तो वह उन आदिम विजेताओं को ही श्रेष्ठ प्रमाणित करेगा ।

चौथा पाठ यह कि विगत युद्ध संपूर्णत : निरर्थक सिद्ध हुआ है । विजेताओं के उपनिवेश उन्हें वापस मिल गये हैं । पराधीन प्रजाओं ने युद्धकाल में जिन प्रदेशों को स्वतंत्र कर लिया था, वे भी उनसे छीनकर पुराने शासकों को सौंप दिये गये हैं । नक्शों पर कुछ देशों की सीमाएँ कुछ आगे-पीछे खिसकी हों, यह अलग बात है ; परंतु युद्ध से पहले और युद्ध के बाद की परिस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है ।

पाँचवा पाठ यह कि इस निरर्थक युद्ध में लाखों लोग मारे गये ; करोड़ों जख्मी हुए ; अरबों खरबों की संपत्ति का नाश हुआ ; महँगाई, अकाल और महामारियों का प्रमाण बेहद बढ़ गया ; और मानव हृदय के अनिष्टतम भावों ने सब मर्यादाएँ तोड़ कर नंगानाच शुरू कर दिया ।

छठा पाठ यह कि संसारभर में गणिकावृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई । देह बेचने वाली गणिका, काला बाजार करने वाला व्यापारी, रिश्वत लेने वाला अधिकारी और सत्य का नीलाम करने वाला राजनीतिज्ञ, सब निकट के संबंधी हैं — एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं । अनीति के इन प्रचारकों में और बाजारी



वेश्याओं में कोई अंतर नहीं । सत्य, साधुता, देशभक्ति और ईमानदारी की कोई पूछ नहीं रही । खास तौर से भारत में तो इनका बाजार-भाव बिलकुल उतर गया ।

सातवाँ पाठ यह कि युद्धशासन के बाद भी शांति की कहीं झलक भी दिखाई नहीं देती । युद्ध विजय के बाद प्रकाश के बदले अंधकार का ही साम्राज्य फैल रहा है ।

युद्ध तो पूरा हो गया, परंतु विश्व की समस्याएँ नहीं मिटीं । वे नये-नये रूप धारण करके प्रकट होती ही रहेंगी । गरीबी तो व्यापकता से मौजूद है ही । स्त्री विहीन पुरुष और पुरुष विहीन नारी गणिकावृत्ति को भी सदा फली फूलो रखेंगे । युद्ध को रोकने का और विश्व को फिर से युद्ध के दर्शन न हों, इसका जबानी आश्वासन तो सब देश दे रहे हैं, परंतु आचरण अब तक इस दिशा में नहीं हो रहा है । और सब कारणों की चर्चा न भी करें, तो हमारी माताओं, हमारी बहनों, हमारी पुत्रियों औरं हमारी पत्नियों की गणिकावृत्ति के नागपाश से बचाने के लिए भी युद्ध की समाप्ति करना अत्यंत आवश्यक है । आज की दुनिया बहुत छोटी हो गई है । जो कुछ एक देश में हुआ, वह दूसरे देश में नहीं होगा, यह मानने की गलती कोई न करे । युद्ध गणिकावृत्ति को सदा प्रफुल्लित रखन वाला स्रात हे । गणिकावृत्ति को कम करना हो, तो सबस पहले आर्थिक समानता के आधार पर समाज की पुनर्रचना करनी होगी । इससे भी बढ़कर यह आवश्यक है कि मनुष्यजाति को युद्ध का सर्वकालीन बहिष्कार करना चाहिये । किसी भी हालत में युद्ध का आश्रय नहीं लिया जायगा, इसकी दृढ निर्धारपूर्वक घोषणा होनी चाहिये । गरीबी न रहे, और युद्ध का नाश हो, तो गणिकावृत्ति भी अपने आप नष्ट हो जायगी ।



खण्ड ३

realpatidar.com

प्रथम परिच्छेद

गुलाम स्त्रियों के क्रय-विक्रय का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

१

प्राचीन जगत् में मानव-विक्रय

स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने की प्रथा का और खुलेआम या छिपकर उनका व्यापार करने वाले बाजारों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अत्यंत प्राचीन काल से लगाकर अब तक चला आ रहा है। हिमाचल के पहाड़ी प्रदेशों में अब तक स्त्रियों के क्रय-विक्रय के लिए पैंठ लगती है और स्त्रियों को खरीदने वाले शौकीनों की भी अब तक कमी नहीं पड़ी है। संसार की अनेकविध विचित्रताओं के भंडार जैसे भारत के लिये यह सत्य नितांत अपरिचित नहीं होना चाहिये।

हिंदू विवाह प्रथा में माता-पिता कन्या का दान करते हैं। यह दान की भावना कन्या के विक्रय के विरोध में विकसित हुई मालूम देती है। कन्या का विक्रय करने की अपेक्षा उसका दान करना निश्चित ही अधिक शिष्ट प्रकार है, जिसके पीछे कन्या के वैवाहिक संबंध में से किसी भी प्रकार का आर्थिक लाभ न उठाने का निश्चय स्पष्ट दिखाई देता है। परंतु इस उच्च भावना के बावजूद भी कन्या के माता-पिता को थोड़ा बहुत धन देकर उसे विवाह में प्राप्त करने की प्रथा भारत की नई जातियों में अब तक पाई जाती है। इसके विपरीत सुशिक्षित पारसियों में, सारस्वत ब्राह्मणों में, और बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों और भद्र-समाज की अन्य कई जातियों में कन्या के लिये वर खरीदना पड़ता है।

परंतु इस वर-विक्रय में पुरुष को कन्या के घर स्थानांतर नहीं करना पड़ता और पुरुष होने के नाते प्राप्त उसके किसी अधिकार या स्वातंत्र्य में भी इससे कोई बाधा नहीं पड़ती। डाकू और लुटेरे देहबल और शस्त्रबल के जोर पर लूट खसोट करते हैं: धनिकों में किसी चीज़ को लेकर स्पर्धा खड़ी हो जाय, तो विक्रेता विक्रय को नीलाम का रूप देकर मनमानी कीमत वसूल कर लेता है। परंतु कन्या के माता-पिता से धन वसूल करके विवाह करने वाले लोग तो डाकुओं की लूट खसोट और धनिकों की नीलामबाजी से भी आगे बढ़ कर अपनी शिक्षा या कुलीनता की सौदेबाजी द्वारा क्रय-विक्रय की एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देते हैं, कि जिसके लिये मानवभाषा को अब तक कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला है। रुपया वसूल करके विवाह करने वाले पुरुषों का कुलीनता का ढोंग मानवता और भद्रता के नाम पर एक कलंक है और उनकी शिक्षा वाममार्गियों की मैली विद्या के समान है। कन्या के माता-पिता से रुपये ऐंठ कर विवाह करने वाले कापुरुषों से अधिक स्वत्वहीन, निर्माल्य और तिरस्करणीय सामाजिक प्राणी और कोई नहीं। विवाह की शिष्टता से ढँकी जाने पर भी यह वृत्ति गणिकावृत्ति से भी अधिक पतित है। गणिकावृत्ति के लिए, कम से कम, शब्द तो मौजूद हैं; इस प्रकार के अधम पुरुष-विक्रय के लिए तो भाषा में शब्द भी नहीं।

स्त्री जाति के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण अभी तक समानता पर आधारित नहीं हो सका है। स्त्री के समान अधिकारों के संबंध में विचार तो बेशक बहुत ज्यादा हुआ है और स्त्री स्वातंत्र्य के आंदोलन भी समाज में व्यापकता से उठते रहे हैं। परंतु स्त्री पुरुष की संपत्ति है और भोज्य वस्तु है, इस भावना की जड़ें मनुष्य-जाति के हृदय में इतनी गहराई से जम गई हैं, कि उनका निर्मूलन होना कठिन है। शिष्टता के आवरण में स्त्री-समानता का ज़बानी प्रचार तो खूब किया जाता है; परन्तु स्त्री पुरुष से नीची श्रेणी की है और पुरुष ने उसके लिये निर्धारित किये हुए स्थान से ऊँचे

स्थान पर बैठने की अधिकारिणी नहीं, ऐसी प्रकट या अप्रकट भावना मानवजाति के प्रगत और अप्रगत, सभी विभागों में दृढमूल हो गई है। स्त्री पुरुष की संपत्ति है, और इसीलिये उसका क्रय-विक्रय और व्यापार हो सकता है, इस मान्यता के बीज मनुष्य जाति ने अपने हृदय के किसी कोने में सुरक्षित रखे हैं; अतः मनुष्य-जाति का यह प्राचीन संस्कार अब तक किसी न किसी रूप में अंकुरित होता ही रहता है। गणिकावृत्ति इसी विचारधारा का विषाक्त फल है।

स्त्रियों के विक्रय की प्रथा का विवाह प्रथा के साथ इतना निकट का संबंध स्थापित हो जाने पर अब हम विवाह बाह्य क्रय-विक्रय का विचार करें जो एक स्वतंत्र विषय है; क्योंकि विक्रय के सब तत्व मौजूद होने पर भी निकृष्ट से निकृष्ट प्रकार के विवाह में भी एक ऐसी विशिष्टता होती है जो इस पूरे संबंध को कोरे क्रय-विक्रय की कक्षा से ऊपर उठा कर स्त्री-पुरुष के सहचार की एक अनोखी भूमिका पर प्रतिष्ठित करती है।

वर्तमान विश्व गुलामी की प्रथा को नष्ट करना चाहता है। खुलेआम गुलामी को वर्तमान संसार, खास तौर से उसका शिष्ट विभाग, सह्य नहीं मानता। प्राचीन काल से लगाकर ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक, अर्थात् आजसे सिर्फ सां डेढ़ सौ वर्ष पहले के समय तक गुलामी की प्रथा संसार, खास तौर से उसका शिष्ट विभाग, सह्य नहीं मानता। प्राचीन काल से लगाकर ईसा की गुलामों को पकड़कर —कुछ शिष्ट भाषा में कहें तो उन्हें खरीद कर —अपने देश का अत्यंत कड़ी मेहनत-मज़दूरी का काम उनसे करवाते थे। अमरीका की वर्तमान समृद्धि में वहाँ के गुलामों के श्रम का योगदान बहुत अधिक रहा है।

गुलामी की प्रथा नष्ट हुए भी एक शताब्दी से आधक समय नहीं बीता है। इसे यदि दुनिया की प्रगति और सुधार की निशानी माना जाय, तो यही कहना होगा कि सभ्य जगत् की वर्तमान शिष्टता सौ साल से अधिक पुरानी नहीं है। आज से सिर्फ सौ वर्ष पहले के युग में युद्ध में पकड़े हुए बंदियों को, समुद्री डाकुओं के हाथ पड़ जाने वाले व्यापारियों और नाविकों को या विरोधी कबीलों से उड़ाये हुए मनुष्यों को गुलाम के रूप में बेचकर इस व्यापार से धन कमाने की प्रथा आम तौर पर प्रचलित थी। इन गुलामों में पुरुषों और स्त्रियों, दोनों का समावेश होता था। इनके मालिकों को इन गुलामों के ऊपर संपूर्ण स्वामित्व और उनके जीवन-मरण पर संपूर्ण नियंत्रण का अधिकार होता था। अतः इनका मनचाहा उपयोग और उपभोग करने की स्वतंत्रता भी इनके स्वामियों को प्राप्त हो, यह स्वाभाविक है।

कुछ लोग भूले भटके, या व्यभिचार म स जन्म लेने वाले परित्यक्त बालकों का पालन-पोषण करके उन्हें गुलाम के रूप में बेच देते थे और धनोपार्जन करते थे। आर्थिक संकट भी गुलामी प्रथा का विकास करने में एक प्रधान कारण होता है। अध सभ्य जगत् की कई जातियाँ और कई कबीले परिवार का या कबीले का पोषण न हो सकने पर समूह के कुछ बालकों को बेच देने में कोई बुराई नहीं समझते। आर्थिक दृष्टि से छोटे बच्चे ही परिवार पर सबसे अधिक भार रूप और अनुपयोगी होते हैं। उनके भावी उपयोग पर दृष्टि रखते हुए उनकी रक्षा करने जैसी स्थिति कई कबीलों में या परिवारों में नहीं पाई जाती। अपने बालकों के प्रति स्नेह मनुष्यमात्र का अत्यंत स्वाभाविक और प्राकृतिक भाव माना गया है। परंतु भूख इससे भी अधिक प्राकृतिक और प्रबल होने के कारण अपने बच्चों को बेच देने की प्रथा कई जातियों में प्रचलित हो जाती है। इस प्रथा की जड़ में बालकों के प्रति क्रूरता का भाव होता है, यह मानना उचित नहीं। बच्चों का योग्य पालन-पोषण करने की शक्ति अपने आप में न हो, तो जहां उनकी परवरिश हो सके, ऐसे स्थानों पर उन्हें दे देना, हम मानते हैं उससे कहीं अधिक ममताभरा कृत्य हो सकता है। मनुष्य की

असहायता मनुष्य से हम कल्पना भी न कर सकें ऐसे ऐसे दुष्कृत्य करवा लेती है और इन कृत्या को रुढि के रूप में समाज में स्थापित करके उन्हें धार्मिक और प्रतिष्ठित भी मनवा लेती है।

राजपूतों और पाटीदारों में कन्या को जन्मते ही "दूध पीती" कर देने का रिवाज़ केवल सौ वर्ष पूर्व तक हमारे देश के कुछ भागों में प्रचलित था। छिपे तौर पर तो इस रिवाज़ की भनक चालीस-पचास वर्ष पहले तक भी कानों में पड़ जाती थी। जन्म लेते ही कन्या को दूध से भरे बर्तन में डुबो कर उसका दम घोट कर मार देने को ही कन्या को "दूध पीती" करना कहा जाता था। यह रिवाज़ अत्यंत निर्दय और अमानुषिक था, इसमें कोई संदेह नहीं। ऐसी अघोरी प्रथाओं को तुरंत नष्ट कर देना चाहिये, संबध में भी मतभेद की गुंजाइश नहीं। परंतु इन रिवाजों को प्रचलित करने वाली सामाजिक परिस्थितियों का विचार करें, तो हमें कन्या को "दूध पीती" करने वाले माता-पिता पर नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर ही क्रोध आयेगा। माता-पिता तो इन परिस्थितियों के हाथ की असहाय कठपुतली मात्र होते हैं। जिस कन्या के पालन-पोषण के लिए उनके पास पर्याप्त साधन नहीं हों; जिसका विवाह करते समय जीवन भर के लिये कर्ज में डूब जाना अनिवार्य हो; जिसे सुखी करने की तिलमात्र भी संभावना न अपने घर पर रखने से हो, न ससुराल भेजने में; और जिसे पाल पोस कर बड़ी करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हों, ऐसी कन्या को जन्म लेते ही मार डालने की वृत्ति माता-पिता में हो, तो उसे क्रूरता का नहीं बल्कि अपनी संतान के प्रति दया की किसी विकृत भावना का ही आविर्भाव मानना पड़ेगा।

बालहत्या की प्रथा भारत के बाहर भी कई समाजों में प्रचलित थी। इस्लाम की स्थापना से पहले अरबों में भी यह रिवाज प्रचलित था। जरा गहराई से देखें, तो वर्तमान युग में संतान-निरोध के कृत्रिम उपायों का सहारा लेने वाले माता-पिता भी भ्रूण हत्या का ही पाप करते हैं। यद्यपि संतान-निरोध, गर्भपात और बाल हत्या इन तीनों पातकों की कक्षा अलग-अलग और पाप की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक जघन्य होती हैं, फिर भी, कम से कम सिद्धान्त की दृष्टि से तो उपरोक्त कथन का विरोध नहीं किया जा सकता। अतः कन्या बड़ी होकर निश्चित रूप से दुखी होनेवाली हो, तो उसे जन्मते ही "दूध पीती" कर देना तुलनात्मक दृष्टि से अधिक दयाभरा कृत्य माना जायगा। इन भयानक सामाजिक परिस्थितियों में कन्या यदि जीवित रह भी गई, तो वह आजीवन दुख की अग्नि में जलती रह कर अपने जन्मदाता माता-पिता को शाप ही देगी। ऐसी भयानक गरीबी में जन्म लेने वाले बालकों को जन्मते ही "दूधपीते" न कर देने वाले माता-पिता भी कुछ समय बाद उन्हें बेच देने के लिये या उन्हें जीवन भर के लिये गुलाम बना देने को ही मजबूर होते हैं। यह सब देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि प्रथम दृष्टि से निर्दय दिखाई देने वाले इन अघोरी रिवाजों के पीछे मूल प्रेरणा दया की भी हो सकती है।

२
स्त्रियों के खुले बाज़ार

पुरुषों के गुलाम के रूप में पकड़े जाने पर उनसे खेती-बारी, घरेलू काम, या कठिन मेहनत-मज़दूरी के अन्य काम करवाये जाते थे। कभी-कभी उनकी सैन्यों में भरती भी की जाती थी। इन गुलामों के सैन्यों द्वारा अपने स्वामियों के विरुद्ध किए जाने वाले विद्रोहों का भी इतिहास में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। गुलाम के रूप में पकड़ी जाने वाली स्त्रियों से भी घरेलू और अन्य काम करवाये जाते थे। परंतु अधिकांश में तो, स्वामी की वैयक्तिक संपत्ति मानी जाने वाली ये स्त्रियाँ उनके उपभोग की वस्तु ही होती थीं। गुलाम स्त्री यदि रूपवती हो, तो चौके-बर्तन का घरेलू काम करने के उपरांत उसे अपने मालिक का मनोरंजन भी करना पड़ता था। इन गुलाम स्त्रियों की संख्या मालिक की निजी आवश्यकता से अधिक हो, तो उन्हें गणिका गृहों में भरती कर दिया जाता था। गुलाम स्त्रियाँ, इस प्रकार, एक ओर गृहजीवन में

प्रवेश करके रखैलों का स्थान प्राप्त कर लेती थीं, तो दूसरी ओर गणिकागृहों में प्रवेश कर के अपने मालिक के लिये धन कमाती थीं।

प्राचीन काल में इन गुलाम स्त्रियों के क्रय-विक्रय के खुले बाज़ार हुआ करते थे। ये बाज़ार मंदिरों के अहातों में या इस व्यापार के लिये बनाये गये खास स्थानों में भरते थे। नग्न या अर्ध नग्न स्त्रियों को लेकर उनके मालिक यहां खड़े रहते थे। खरीदारों की संख्या भी कम नहीं होती थी। जिस प्रकार खरीदारी की अन्य किसी वस्तु के रूप रंग और आकार-प्रकार की परख की जाती है, उसी प्रकार खरीदार इन स्त्रियों को निरखते-परखते थे, उनका स्पर्श करते थे, और वे उन्हें किस हद तक उपयोगी हो सकेगी, इसका विचार करके ही उन्हें खरीदते थे। बाज़ार में जिस प्रकार निर्जीव वस्तुओं को खरीदते समय ग्राहक उन्हें हर तरह से ठोक-बजा कर और पसंद करके खरीदता है, उसी प्रकार इन सजीव स्त्रियों को भी बारीकी से निरखा जाता था। संपूर्ण रूप से पसंद होने पर ही मोलभाव करके मूल्य निश्चित किया जाता था। निश्चित कीमत अदा करते ही सौदा पक्का हो जाता था। अन्य वस्तुएँ खरीदने के जितने कारण होते हैं, उन्हीं कारणों से स्त्रियाँ भी खरीदी जाती थीं। उनकी खरीदारी अपने वैयक्तिक उपभोग के लिये हो सकती थी; मित्रों, अफसरों या शुभेच्छुकों को उपहार देने के लिये हो सकती थी या उन्हें गणिकागृहों में भरती करके धन कमाने के लिये हो सकती थी।

प्राचीन काल में टायर, साइप्रस, डॅलोस, रोम, एलेक्ज़ांड्रिया, बगदाद, बसरा आदि नगरों के स्त्री-विक्रय के बाज़ार प्रसिद्ध थे। इन बाज़ारों में केवल स्त्रियाँ ही नहीं, सुंदर और कमसिन लड़के भी यौन अपकृत्यों के लिये खरीदे बेचे जाते थे। यह परिस्थिति ईसाई युग में चली, मुस्लिम युग में भी चली, और ठेठ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक उसका अस्तित्व रहा। विवाह को अत्यधिक महत्व देनेवाले ईसाई धर्म में भी न सिर्फ अन्यधर्मीय गुलाम रखने की खुली छूट थी, बल्कि स्वधर्मीय ईसाई स्त्री-पुरुषों को भी गुलाम के रूप में खरीदने बेचने में कोई बुराई नहीं मानी जाती थी। ईसाई गुलाम स्त्रियाँ अपने निजी उपभोग के लिये भी खरीदी जा सकती थीं और परोपभोग द्वारा धन कमाने के लिये भी। इस्लामी संस्कृति के पक्ष में इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उसमें स्वधर्मियों को गुलामी से मुक्ति देनी पड़ती थी। कोई भी विधर्मी मुसलमान हो जाय, तो तुरंत उसे विजेताओं के समकक्ष मान लिया जाता था और उसे आद्य मुसलमानों के समान अधिकार प्राप्त हो जाते थे। कहीं-कहीं इस नियम में अपवाद भी दिखाई देते थे। खंभात में पकड़े हुए एक हिंदू गुलाम ने आगे चल कर मलिक काफ़ूर नाम धारण किया था और प्रधान सेनापति के रूप में अपने स्वामी अलाउद्दीन खिलजी की उत्तम सेवा की थी। गुजरात के प्राचीन इतिहास के जानकार इस घटना से परिचित होंगे। भारत में, गुलामवंश में से होने वाले इस्लामी सल्तनत के आरंभ की घटना से तो सभी परिचित हैं।

वेनिस और एलेक्ज़ान्ड्रिया में बसने वाले यूनानी यहूदी और अरब स्त्रियों का व्यवसाय करने वाले कुशल व्यापारियों के रूप में पूरे मध्य युग में प्रसिद्ध थे। रोम को भी स्त्री-व्यापार की बड़ी मंडी माना जाता था। ईसाई अमीरों, धनाढ्य यहूदियों और रंगीले मुसलमान सुलतानों के लिये स्त्रियों की खरीदारी इन्हीं बाज़ारों से होती थी। देशदेशांतर के गणिकागृहों के लिये यूरोप और एशिया की सुंदरियों की थोक खरीदारी भी यहीं होती थी और सुंदर लड़कों का व्यापार भी इन्हीं बाज़ारों में होता था। इन लड़कों का पुंसत्व नष्ट करके जनानखानों के रक्षकों और द्वारपालों के रूप में भी इनका उपयोग किया जाता था।

मनुष्य जाति के इतिहास में यौन उपभोग के लिये स्त्री-पुरुषों का क्रय-विक्रय अनादि काल से चलता आया है। एशिया-यूरोप की सुंदरियों के उपरांत मिस्र की ललनाएँ, भारत और चीन की रमणियाँ और अफ्रीका की कृष्णवर्णीय हब्शिनें भी इन-बाज़ारों में बिकने के लिए आती थीं। रूम-सागर के दोनों किनारों के देशों की और अंतर्देश के जर्मनी की स्त्रियाँ भी आती थीं। सब के ग्राहक भी मिल जाते थे। उस युग में ईसाई, मुसलमान और अन्यधर्मीय रईसों और शासकों में अपने जनानखानों में देशविदेश की विविध प्रकार की स्त्रियाँ रखने का स्पर्धाभरा शौक प्रचलित था। किसी विशिष्ट देश की सुंदरी अमुक रईस के

जनानखाने में हो, और दूसरे रईस के हरम में न हो, यह कैसे सहन किया जा सकता था ? इस प्रकार की कमियों को पूरा करना ही प्रतिष्ठा और रईसी का निचोड़ माना जाता था । मुसलमान सुलतान और ईसाई सम्राट भी इसी प्रथा के पोषक थे और उनके दरबारी और सरदार, सेनाधिकारी और अफसर, अमीर-उमरा और साधारण प्रजाजन, उन्हीं का अनुकरण करते थे ।

मानव जीवन में ज्यों ज्यों संस्कृति के अंश बढ़ते गये त्यों त्यों स्त्रियों के खुले बाज़ार कम होते गये । वे पूर्णतः नष्ट तो कभी नहीं हुए, परंतु इस व्यापार को छिपा कर करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई । पुरुष के उपभोग के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध करने की प्रणाली बदल गई । खुले बाज़ारों की संख्या कम हुई परंतु खुले गणिकागृहों की संख्या बढ़ गई । स्त्रियों का क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी और दलाल शहरों और बाज़ारों को छोड़ कर देश-विदेश के अंदरूनी हिस्सों में फैल गये । खुले बाज़ारों में मोलभाव कर के या नीलाम में बोली लगाकर क्रय-विक्रय करने के बदले गाँव-गाँव और घर-घर घूम कर युवतियों को या उनके अभिभावकों को समझा-बुझा कर, ललचा-फुसलाकर, डरा-धमका कर, या अन्य प्रकार से उन पर दबाव डालकर उन्हें यौन अनाचार में प्रवृत्त करने का व्यापार नये स्वरूप में प्रचलित हुआ ।

३
पश्चिम का वर्तमान अर्थ-प्राधान्य

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में मनुष्यजाति ने एक नया मोड़ पार किया । साहसिक नाविकों की समुद्र यात्राओं से पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के घनिष्ठ संपर्क में आये । पश्चिम ने व्यापार-वृद्धि करके चीन, भारत और अन्य एशियाई प्रदेशों में उपनिवेश स्थापित किये और अपनी समृद्धि बढ़ाई । धीरे धीरे व्यापार का क्षेत्र व्यापक होता गया और उसमें से साम्राज्यों की स्थापना हुई । जिन देशों की कलाकारीगरी से मोहित होकर वहाँ का माल खरीदने के लिए यूरोपीय प्रजाजन गये, उन्हीं देशों पर स्वामित्व प्राप्त करके ये व्यापारी चक्रवर्ती शासक बन बैठे । अपनी मातृभूमि से अनेक गुने विशाल प्रदेशों को जीतकर, उनपर राज्य करने के लिये एक विशिष्ट औपनिवेशिक व्यवस्था (Colonial System) का निर्माण भी इन्हीं लोगों ने किया । धीरे-धीरे ये उपनिवेश विजेताओं के देश के माल का विक्रय करने की मंडियाँ बन गये और उनकी समृद्धि में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि करने लगे । इन व्यापारी साम्राज्यों के अंतर्गत ऑस्ट्रेलिया-कॅनेडा जैसे स्वतंत्र उपनिवेशों और भारत जैसी परतंत्र प्रजाओं, दोनों का समावेश होता है ।

दूसरी ओर यूरोप में भाप की शक्ति का विकास हुआ और मनुष्य के दो हाथों में बाणासुर की सी शक्ति आ गई । विद्युत और भाप की शक्ति ने मनुष्य के कमज़ोर हाथों में हजार-हजार हाथियों का बल उत्पन्न करके अपने पुराणों की कई कल्पनाओं को सत्य प्रमाणित कर दिया । पूरे पश्चिम विश्व में औद्योगीकरण की हलचल मच गई और बिजली या भाप की शक्ति से चलने वाले असंख्य कारखानों ने पूरे यूरोप का —विशेष तौर पर इंग्लैंड का —कायाकल्प कर दिया । जिस यातायत में छः महीने लगते थे, वह छः दिनों में होने लगा । चरखे पर जितनी देर में एक गज़ सूत काता जाता था, उतनी देर में मशीनें हज़ारों गज़ कातने लगीं । जहाँ हाथ-करघे पर एक दिन में कठिनाई से दो चार गज़ कपड़ा बुना जाता था, वहाँ यांत्रिक करघे दिन भर में हजारों गज़ कपड़ा तैयार करने लगे । इस प्रकार चीज़ों का उत्पादन बेशुमार बढ़ गया और यातायात एवं परिवहन के साधन सुलभता और शीघ्रता से उपलब्ध होने लगे । इसी भागादौड़ी में यूरोप की अर्थ-व्यवस्था में पूंजीवाद की जड़ें अत्यंत गहरी जम गईं । उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही यह अर्थप्रधान पूंजीवादी व्यवस्था अपनी समस्त खासियतों और कमियों के साथ पश्चिम के प्रत्येक व्यक्ति का, वर्ग का, समाज का, प्रजा का और देश का धर्म बनकर उनका मार्गदर्शन करती आ रही



हैं । इसी दौरान में पूर्व का राजनीतिक भाग्य पश्चिम के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ गया । अतः पूंजीवाद के भले-बुरे परिणाम पूर्व को भी भुगतनें पडे और पूर्व के देशों की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई । पश्चिम पूर्व का मालिक था । अतः मालिकों के हितों को किसी प्रकार का धक्का न पहुँचे उसी हद तक पूर्व के देशों को यंत्रों का स्पर्श करने दिया गया । पूर्व के देशों की स्थिति कच्चा माल उत्पन्न करने वाले किसान या मज़दूर के समकक्ष हो गई । यह कच्चा माल अत्यंत सस्ते भाव से खरीद कर और अपने देश के यंत्रों की सहायता से उसे बिलकुल नया रूप देकर तैयार माल फिर पूर्व के ही देशों के गले मढ़ने की नयी और लाभदायक व्यापार-प्रणाली पश्चिम के देशों में विकसित हुई । यंत्रों की सहायता से माल के उत्पादन की गति और सफाई बहुत बढ़ गई और उत्पादन का खर्च बिलकुल कम हो गया । इस दोहरे लाभ के कारण पश्चिम के देश और भी बलवान हो उठे । साथ ही, पूर्व के देश उनके आश्रित भी बने रहे और उनके माल की खपत के लिए अच्छी मंड़ियाँ भी सिद्ध हुए ।

अर्थशास्त्र का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि उपभोग के बाद बच जाने वाली वस्तु या तो किसी को दे देनी पड़ती है, या बेच देनी पड़ती है । उपभोग की भी प्राकृतिक सीमाएँ हैं । उपभोग के विविध साधन दिनों दिन बढ़ते ही जाते हैं परंतु उन साधनों के उपयोग की प्राकृतिक मर्यादाएँ भी बनी रहती हैं । कोई किसान यदि सौ मन अनाज उत्पन्न करता है, और इतनी ही उसके परिवार की आवश्यकता है, तो वह जरूर उसका संग्रह करेगा । परंतु वर्षभर की अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज वह उत्पन्न करता हो, सौ के बदले दो सौ मन का उत्पादन होता हो, और सौ मन अनाज यदि बच जाता हो, तो या तो उसे वह अनाज बेच देना पड़ता है, या बाँट देना पड़ता है । बाँट देने से आर्थिक लाभ कुछ भी नहीं होता; जबकि बेचने से जो धन प्राप्ति होती है उससे और ज़मीन खरीद कर किसान कुछ वर्षों में बड़ा ज़मींदार बन सकता है; या अच्छा मकान बनवा कर सुख-सुविधा से रह सकता है; या पास के शहर में जाकर, नाटक-सिनेमा देखकर और अन्य प्रकार के शौक पूरे करके अपना मनोरंजन कर सकता है ।

जो बात अनाज के संबंध में सही है वही कपड़े के संबंध में भी सही है । दरअसल उपरोक्त सिद्धान्त उपभोग की हर वस्तु के संबंध में सही है । हम देख चुके हैं कि धीरे-धीरे और एक-एक करके बनने वाली वस्तुओं के स्थान पर सैंकड़ों और हजारों की संख्या में वस्तुओं का उत्पादन करने की शक्ति यंत्रों के रूप में पश्चिम के हाथ लग गई थी । एक ही वस्तु को अलग-अलग आकार-प्रकार के साँचों में ढाल कर माल की विविधता भी बढ़ गई और वस्तुओं के उत्पादन में भी बेशुमार वृद्धि हुई । इस प्रकार औद्योगिक दृष्टि से प्रगत प्रदेशों में उत्पादन उपभोग से कहीं अधिक होने लगा और इस अतिरिक्त उत्पादन को बाँटने के नहीं, बल्कि बेचने के मार्ग सरगर्मी से ढूंढे जाने लगे, क्योंकि बेचने से ही उसका लाभदायक बदला मिल सकता था । इंग्लैंड को भारत जैसा उपजाऊ और धनी आबादी का प्रदेश पहले ही मिल चुका था; अतः अंग्रेजों ने सब से पहले भारत को ही अपने माल की मंडी बनाया । यूरोप की अन्य प्रजाएँ भी चतुर्दिश अपने उपनिवेश स्थापित करके एवं वहाँ अपना माल खपाकर धन और सुख संपत्ति के साधन बटोरने में जुट गईं । यूरोप-अमरीका के देशों को इस नये उद्योगवाद ने बेशुमार संपत्ति प्राप्त कर दी । साथ ही, तैयार माल की मंडी बनने वाले पूर्व के देशों के भाग्य में सीमाहीन दारिद्र्य का सूत्रपात भी हो गया ।

उद्योगवाद और अर्थप्रधान समाज व्यवस्था अन्योन्याश्रित तत्व हैं । इनके दर्शन एक दूसरे के बिना जी न सकने वाले युग्म के रूप में ही होते हैं । इस व्यवस्था ने यूरोप को धनी, सत्ताधीश और चक्रवर्ती बना दिया इसमें कोई शक नहीं; परंतु साथ ही, यह भी सत्य है कि उसने इन प्रदेशों की प्राचीन समाज रचना को झकझोर डाला । इन परिवर्तनों ने एक ऐसी नयी समाजरचना को जन्म दिया जिसमें अस्थिरता, असंतोष और अनीति की काली छायाएँ अत्यंत घनी और भयावह हो उठीं । एक हाथ में हजार हाथों की शक्ति आ गई, यह सही है; परंतु एक हृदय का असंतोष भी हजारों हृदयों के असंतोष जैसा तीव्र हो उठा । एक ही कदम में हजार कदम आगे बढ़ जाने की शक्ति मनुष्य ने बेशक प्राप्त की; परंतु हजार कदम के बजाय लाख

कदम आगे बढ़ने की बेचैनी भी बढ़ने लगी । एक कदम उठाकर ही हजार कदम की प्रगति साध्य करना, और साथ ही लाख कदम उठा सकने की शक्ति प्राप्त करने की कल्पना करना बुरी बात नहीं है । परंतु इस प्रकार का अंधी गति का उपयोग क्या होता है, इस पर ही इसकी उपादेयता निर्भर करती है । यह भूलना नहीं चाहिये कि हर कदम में लाख कदमों की शक्ति आने लगे, तो मनुष्य के लिये यह पृथ्वी छोटी पड़ने लगेगी । सुख भोगने की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है, यह बात समझ में आ सकती है; सुख प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील रहे, यह भी प्रशंसनीय है । परंतु सुख प्राप्ति के मनोराज्य और प्रगति के आवेश में यह नहीं भुला देना चाहिये कि मनुष्य के चारों ओर सैंकड़ों योजनों तक सुख के साधनों के ढेर लगा देने पर भी उसकी देहमर्यादा पांच-छः फुट से अधिक नहीं बढ़ सकती । देह का आत्यंतिक और रोमांचक आनंदोपभोग कुछ क्षणों तक ही सीमित रहता है; घंटों तक नहीं चलता; यह भी नहीं भूलना चाहिये ।

इस प्रकार पश्चिम को पुरानी दुनिया मिली; उस पुरानी दुनिया के ऊपर अनियंत्रित सत्ता मिली; वेगवान वाहन मिले; हुनर-उद्योग और कारखाने मिले; साधनों के पुंज मिले; पुरानी दुनिया में माल खपाने की मंडियां मिलीं; और बेशुमार दौलत मिली । संक्षेप में, पश्चिम की प्रजाओं का सुखोपभोग का स्तर, सामान्यतः, बहुत ही ऊँचा उठ गया ।

४
इस अर्थ-लोलुपता के कुछ परिणाम

परंतु सुख के साधन और संपत्ति की वृद्धि के साथ साथ व्यक्ति या राष्ट्र के भोगविलास भी उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं । इतिहास इस बात का साक्षी है । कारखानों के, व्यापार के केन्द्रों के, और राजधानियों के आस पास विस्तृत नगर विकसित होने लगे और पश्चिमी राष्ट्रों की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग इन नगरों की ओर आकर्षित होने लगा । निवास स्थानों की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में कभी नहीं होती । मकानों में लगने वाली वैयक्तिक पूंजी लोगों की सुख-सुविधा के लिये नहीं बल्कि मुनाफा कमाने के लिये लगाई जाती है । अतः औद्योगीकरण का आरंभ होते ही बड़े शहरों में आवास-स्थानों की कमी महसूस होने लगी । कारखानों और उद्योग-धंधों में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी प्रतियोगिता करने लगीं और स्त्रियों के समान अधिकार के आंदोलन उग्रता से उठने लगे । स्त्रियों पर लादे जाने वाले पुराने बंधन एक एक करके टूटने लगे और मुक्त पुरुष के साथ मुक्त स्त्री के मेल मिलाप के अवसर और स्थान दिनों-दिन बढ़ने लगे । साधारण लोगों का सांपत्तिक और रहन-सहन का स्तर भी अब कुछ ऊँचा उठ गया । आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, पर्वतीय प्रदेशों या समुद्रकिनारे के रमणीय स्थानों की सैर और मदिरापान साधारण लोगों के लिये भी संभव हो गये, इतना ही नहीं, वे जीवन के आवश्यक अंग माने जाने लगे । यंत्रों की शक्ति और गति ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों त्यों यंत्रों के मालिकों को अधिकाधिक लाभ होने लगा । रातोंरात धनवान बन जाने की इच्छा भी व्यापक होने लगी और इस कामना से प्रेरित मनुष्यों के लिए शीघ्रातिशीघ्र धनप्राप्ति करना ही जीवन का सब से बड़ा आदर्श बन गया । यंत्रों की सहायता से चीज़ों के उत्पादन का वेग बढ़ जाता है, व धन प्राप्ति भी शीघ्र होती है, यह सही है। परंतु किस के पक्ष में ? मेहनत-मजूरी करने वाले कारीगरों के पक्ष में नहीं; केवल यंत्रों के मालिकों के, या यंत्र खरीदने की पूंजी एकत्रित कर सकने वाले धनिकों के पक्ष में ही यह सही है । अतः यंत्रवाद के परिणाम रूप रहन-सहन का सामान्य स्तर ऊँचा अवश्य उठा; परंतु धन प्राप्ति की धमनियाँ तो धनिकों के हाथ में ही रहीं और धनशक्ति का नियंत्रण करनेवाले पूंजीपति ही राज्यशक्ति के स्वामी और समाज के आदर्श नेता बन बैठे । इन्हीं लोगों ने और

अधिक धन प्राप्ति के लिये प्रजाओं को एक या दूसरे बहाने से युद्ध की ओर प्रवृत्त करना भी आरंभ किया। धनपतियों की कभी तृप्त न होने वाली धनतृष्णा प्रजाओं को युद्ध में किस प्रकार प्रवृत्त करती है, इसका कुछ निर्देश यहाँ आवश्यक है।

प्रथम विश्वयुद्ध में हारे हुए जर्मनी को फिर से पाँवों पर खड़ा करने वाले कौन थे? हिटलर के विरुद्ध आज चाहे, जितनी घोषणाएँ की जाये; परंतु हिटलर का निर्माण करने वाले कौन थे? इंग्लैंड के पूंजीपतियों ने ही यह शुभकार्य किया था। वर्तमान विश्वयुद्ध का उत्तरदायित्व भी उन्हीं के ऊपर है। शस्त्र-सामग्री के बड़े-बड़े कारखानों के संचालन से पूंजीपतियों को बेशुमार धन मिलता है। परंतु युद्ध या युद्ध की तैयारी के बिना इन शस्त्रास्त्रों की खपत कैसे हो? अत: युद्ध गणिकावृत्ति के साथ-साथ मुनाफाखोरी का भी आय स्रोत बन जाता है। इन धनपतियों के प्रभाव के कारण ही इंग्लैंड-अमरीका ने जापान को कोरिया और मंचूरिया हजम कर लेने दिया। इन्हीं लोगों ने चीन को ऐसे शस्त्रास्त्र बेचे कि जिनकी सहायता से वह जैसे-तैसे जीवित रहता हुआ बड़ी कठिनाई से जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रख सके। इन दोनों देशों को सदा लड़ते हुए रख कर व्यापारी मुंनाफा खाने वाले इंग्लैंड़-अमरीका के धनपति ही एशियाई युद्ध के लिए जिम्मेदार माने जाने चाहिये।

कहा जाता है कि अब युद्ध समाप्त हो गया है। परंतु इंग्लैंड-अमरीका ने निर्माण की हुई बेशुमार शस्त्र सामग्री को बेचने के लिये छोटे मोटे कलह, छोटी मोटी क्रांतियाँ और छोटे-मोटे युद्ध कहीं न कहीं होते ही रहेंगे इसमें कोई संदेह नहीं। पिछले दोनों युद्धों का अनुभव इसी बात की गवाही देता है।

धन और युद्ध के प्रभाव से शिथिल हो चुकने वाली समाज रचना में गृह या परिवार का अधिक महत्व नहीं रहता। धन कमाने की जिम्मेदारी, जो पहले पूर्णत: पुरुष के सिर थी, अब अंशत: स्त्री के सिर भी आ पड़ी है। यौन आवेग भी, अन्य शारीरिक आवेगों की तरह आवश्यक रूप से शमन करने योग्य है और विवाह कोई पवित्र इकरार नहीं बल्कि प्राचीनयुग की परिस्थितियों के अनुकूल एक अंधविश्वास भरी समाज व्यवस्था मात्र है, यह मान्यता ज्यों-ज्यों प्रचलित होती जा रही है त्यों-त्यों स्त्री-पुरुष के मुक्त सहवास में से पाप की भावना निकलती जा रही है और देह संसर्ग अधिकाधिक सुगम और व्यापक होता जा रहा है। बंधन माना जाने वाला विवाह यथा संभव देर से, और देह भोग का स्वतंत्र अनुभव प्राप्त कर चुकने के बाद ही किया जाता है। फ्रान्स के विचारक लियाँ ब्लूम के इस सिद्धांत का ज़िक्र हम कर ही चुके हैं कि यौवन में यथेच्छ वासनातृप्ति का अनुभव करने के बाद ही, स्थिर जीवन चाहने वाले स्त्री पुरुषों को अधेड़ आयु में ही विवाह के बंधन में पड़ना चाहिये।

पश्चिम के देशों में एक अर्थपूर्ण चुटकुला प्रचलित है: —एक पुरुष ने थाने में जाकर शिकायत की कि उसकी पत्नी उसे छोड़कर भाग गई है। पुलिस उसे ढूंढकर उसके सुपुर्द कर दे। थानेदार ने पूछा, "वह कब से लापता है?"

"जी, कोई पंद्रह वर्ष हुए होंगे।" फरियादी पति ने सबको चकित कर देने वाला उत्तर दिया।

"भले मानस, पंद्रह वर्ष तक तुम शिकायत करने क्यों नहीं आये?"

"जी, मुझे उसकी कमी अभी हाल ही में महसूस होने लगी है!"

पंद्रह वर्ष पहले भाग जाने वाली पत्नी को ढूंढने निकलने वाले पति का यह उत्तर पुरुष की अमर्यादवृत्ति का ही सूचक है।

सब युगों में होता आया है उसी प्रकार वर्तमान अर्थ प्रधान युग में भी सत्ताधीश और धनवान वर्गों का रहन सहन ही हमारे लिए आदर्श बन गया है। सब को दिन रात में मिला कर पांच छ: बार खाना-पीना चाहिये। जिसमें भी पीने का कार्यक्रम तो बढ़िया किस्म की कीमती शराब के बिना सफल हो ही नहीं सकता। बिना मोटर के कहीं आना जाना, हर एक को समय का दुरुपयोग दिखाई देने लगा है और नाचरंग के बिना रात गुज़ारना अकर्मण्यता और गावदीपन का लक्षण माना जाने लगा है। और इस नाचरंग की

सीमा कहाँ जाकर रुकती है ? स्त्री-पुरुष के अमर्याद और उन्मादक सहवास से उत्पन्न मस्ती और शराब की रंगीन बेहोशी में जिसकी परिणति न हो, वह नाचरंग किस काम का ? वस्त्र अत्यंत्र सुंदर और विविध प्रकार के होने चाहिये । स्त्री देह का कम से कम हिस्सा ढका जाना चाहिये । और जो भाग ढका भी जाय, तो वह इस तरह कि अवयवों का संपूर्ण सौष्ठव अधिक से अधिक स्फुट हो सके । इस स्थिति की सचाई की गवाही पश्चिम का कोई भी सिनेमा चित्र दे सकता है ।

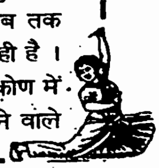


आवश्यकता से अधिक धन, ज़रूरत से ज़्यादा सुख के साधन, और बढ़ते हुए शौक मनुष्य को सदा सुखतृप्ति के पीछे दौड़ाते रहते हैं । वह चाहता है कि तृप्ति का एक साधन यदि नीरस साबित हो, तो उसकी जगह लेने का दूसरा तैयार होना चाहिये; और दूसरा भी असफल रहे, तो तीसरा, चौथा, पाँचवां, ... और इस तरह तृप्ति के साधनों की परंपरा लगी रहनी चाहिये । सुख की ऐसी उग्र तलाश धन की तृष्णा के साथ मिलकर प्राय : जुए का रूप धारण कर लेती है और मनुष्य की असंतोष्य सुख तृष्णा को तृप्त होने का बहाना प्राप्त कर देती है । परिणाम स्वरूप ताश या चौसर की बाजी से लगा कर घोड़ों और कुत्तों की दौड़ तक और सोने-चांदी या गल्ले से लगा कर व्यापारी संस्थाओं के हिस्सों (shares) के सट्टे तक, हर प्रकार का जुआ मनुष्य खेलता रहता है । आज के युग में तो किस वस्तु का सट्टा या जुआ नहीं खेला जाता, यह कह सकना मुश्किल है ।

जुए से भी सुख तृष्णा का शमन न होने पर अधिक आनंद-प्रमोद के लिये समुद्र-यात्राएँ की जाती हैं और विलास के हर मुमकिन साधन से सजे हुए एकांत स्थान ढूंढे जाते हैं । इस प्रकार यंत्रवाद और पूंजीवाद मिल कर पामर मनुष्य को सुख की मरीचिका के पीछे दौड़ने वाला असहाय पशु बना देते हैं । उसकी अतृप्त तृष्णा उसके संस्कारों, उसकी विद्वत्ता और उसके सारे सदाशयों को सोख लेती है ।

५
गणिकावृत्ति के स्रोत

सुखतृष्णा से मतवाले मनुष्य की भोगेच्छा इन खान पान, जुआ-सट्टा और यात्रा विहारों से भी तृप्त नहीं होती । सुख का एक महान साधन अब भी बाकी रह जाता है । उसका उपभोग किये बिना मनुष्य का सुखोन्माद शांत होता ही नहीं । वासना के सुख सागर का केन्द्र बिन्दु है स्त्री । मनुष्य जाति जब तक जीवित रहेगी तब तक यह मान्यता नष्ट नहीं होगी । स्त्री की दृष्टि में भी सुख का मध्यबिन्दु पुरुष ही है । स्त्री पुरुष को और उसकी दुष्टता को चाहे जितनी गालियाँ देती रहे, पुरुष के प्रति उसके इस दृष्टि कोण में फर्क नहीं पड़ता । साधन, स्वातंत्र्य और अवकाश का संयोग एक दूसरे के शरीर की कामना करने वाले



स्त्री पुरुषों का मार्ग अत्यंत सरल कर देता है । इस प्रकार यंत्रवाद या अर्थ प्राधान्य वाद ने अपने एक मौलिक निर्माण के रूप में गणिकावृत्ति को वर्तमान युग में ऐसी व्यापकता प्रदान की है कि जिसके सामने विगत सब युगों की गणिकावृत्ति फीकी पड़ जाती है । पुरानी गणिकावृत्ति के सब तत्व तो उसमें हैं ही; परंतु उसका विस्तार इतना व्यापक, उसकी प्राप्ति इतनी सरल और उसका प्रभाव इतना सूक्ष्म बन गया है कि आज उसने एक विश्वव्यापिनी सामाजिक समस्या का रूप धारण कर लिया है ।

समाज में होने वाले परिवर्तन हमारे यौन आवेग को संतुष्ट करने के तरीकों में भी कैसा आमूल बदल कर देते हैं, यह बात भी विचारणीय है । आज के युग में स्त्री पुरुषों के विवाह देर से हों, या बिलकुल ही न हों, यह एक सामान्य बात हो गई है । परंतु देहसुख तो दोनों को ही चाहिये । इस लिये परिस्थिति या देशकाल कैसे भी हों, वासनातृप्ति के लिये पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता पड़ती ही है । साहस की खातिर, शौकिया, अध्ययन के लिए या व्यापार के अर्थ स्थानांतर करने की सुविधाएँ जितनी आज के मनुष्य को मिल सकी हैं, उतनी पहले कभी नहीं मिलीं । इन स्थानांतरों में सभी विवाहित या अविवाहित पुरुषों का काम स्त्री-सहवास के बिना नहीं चल सकता । इसलिये स्थानांतर के प्रमुख केन्द्रों में स्त्रियाँ प्राप्त हो सकें ऐसी व्यवस्था सरकार द्वारा, संस्थाओं या दलालों के जरिये, या वैयक्तिक तौर पर हो सके, तो विदेश में बड़ी सुविधा रहती है । व्यापार के लिए या राज्य-शासन चलाने के लिये पुरुषों को दूर दूर के प्रदेशों में लंबे समय तक रहना पड़ता है । इस दीर्घकालीन निवास के दरमियान, विवाहित और अविवाहित, दोनों प्रकार के पुरुषों को स्त्री की ज़रूरत महसूस हो, यह स्वाभाविक है ।

इसके अलावा, देशदेशांतरों में फौजी छावनियों की स्थापना होती है । देश की सरहदें की रक्षा करने का कार्य इस युग में स्थायी बन गया है । युद्ध चल रहा हो या बंद हो, पड़ौसी देशों से स्वदेश की रक्षा करने के लिये या पड़ौसी देश के मन में आतंक उत्पन्न करने के लिये सैनिक दस्तों को मौके के स्थानों पर सदा सज्ज रहना पड़ता है । सेना के उच्च अधिकारी छावनियों के स्थान पर भी अपनी पत्नियों के साथ रह सकें ऐसी व्यवस्था तो प्राय: हो जाती है; परंतु छोटे मोटे अफसरों और सामान्य सैनिकों के लिये यह व्यवस्था मुमकिन नहीं होती । इस लिये, सैनिक छावनियों के केन्द्रों में भी, इन लोगों का मन संतुष्ट रहे व इन की स्त्री-सहवास की इच्छा पूरी हो सके इतनी स्त्रियों की व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है ।

आराम और आनंद-प्रमोद के लिए अकसर पहाड़ों पर जाया जाता है । परंतु वहाँ भी स्त्री संग के बिना आराम या आनंद कैसे मिल सकता है ? स्त्री-सहवास के लिये विवाह की यदि अनिवार्य आवश्यकता होती, तो प्रकृति ने विवाह बाह्य स्त्रीसंग को असंभव बना दिया होता । परंतु ऐसा तो दिखाई नहीं देता । विवाह की प्रथा तो केवल एक सामाजिक व्यवस्था मालूम देती है और पाप भावना से मुक्त आज की संस्कृति को, सामाजिक परिस्थिति बदल जाने पर, स्त्री-सहवास के अन्य व्यवहारों में कोई खास बुराई दिखाई नहीं देती । इस लिये, नीति, दर्शन और व्यवहार को घोल कर पी जाने वाला या इन तीनों को अपने अनुकूल बना लेने वाला मानस स्त्री-सहवास की सुविधा सब जगह निर्माण कर लेता है । वर्तमान युग की व्यापारी व्यवस्था हर जगह स्त्रियों के बाज़ार खड़े कर देती है और इन बाज़ारों की मांग पूरी करने के लिये देश-देशांतर की रमणियाँ हुक्म के साथ हाज़िर करने की व्यवस्था भी तुरंत हो जाती है ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बाज़ारों को भरा पूरा रखने के लिये स्त्रियाँ पर्याप्त संख्या में मिल जाती हैं । देश के भीतर ही, देश की कुछ स्त्रियाँ गणिकावृत्ति करें, यह बात तो समझी जा सकती है । परंतु विदेशी गणिकाएँ भी हिम्मत कर के पराये देशों में जायें और व्यापक प्रमाण में गणिकावृत्ति करें, यह आश्चर्य की बात है । इसी स्तर पर आकर स्त्रियों का व्यापार एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार बन जाता है । स्त्रियों की स्वेच्छा और संमति इसे फलाफूला रखती हैं । खुले आम गुलामी की प्रथा तो अब सभ्य संसार में से नष्ट हो गई है । असभ्य और अर्धसभ्य प्रदेशों में भी उसे नष्ट करने के लिए सभ्य प्रजाएँ प्रयत्नशील हैं । ऐसी हालत में, अलग अलग परिस्थितियों में पुरुष की रस तृषा का शमन करने के लिये स्त्रियों के देह विक्रय का व्यापार देश देशांतर में अपनी शाखा-प्रशाखाओं का प्रसार करता रहे, यह सामाजिक विरोधाभास निश्चित ही आश्चर्यजनक है ।

६
गौरांग स्त्रियों का दास-व्यापार

स्त्रियों के इस विश्वव्यापी व्यापार को 'गौरांग स्त्रियों का दास-व्यापार' (White Slave Traffic) के नाम से पहचाना जाता है । पूरे संसार में अपनी श्रेष्ठता का डंका पीटने वाले यूरोपीय देशों की स्त्रियाँ ही इस व्यापार में पुण्य वस्तुओं के रूप में प्रस्तुत होने के कारण अपनी संस्कृति का अभिमान रखने वाले पाश्चात्य सत्ताधीशों का ध्यान इस प्रश्न की ओर अधिक आकर्षित हुआ है । गौरांग स्त्रियों के इस व्यापार को 'दास व्यापार' का नाम देकर इससे आश्चर्यचकित हो उठने का अभिनय भी पश्चिम की सभ्य प्रजाएँ करती रही हैं ।

इस वाक्यांश की प्रथम रचना सन् १७६४ में हुई । फ्रान्स के एक उच्च पुलिस अधिकारी ने अपने निवेदन में इस शब्द-समूह का प्रथम प्रयोग किया था । कृष्णवर्णीय हब्शियों के व्यापार से भिन्नता दर्शाने के लिए इन शब्दों की योजना की गई थी । उस युग में अफ्रीका के काले निवासियों को पकड़ कर यूरोप-अमरीका में उन्हें बेचने का व्यापार खुले आम होता था और इसमें कोई बुराई नहीं मानी जाती थी । इन गुलामों में पुरुष भी होते थे और स्त्रियाँ भी । परंतु जब यह स्पष्ट होने लगा कि गौरांग स्त्रियाँ भी चोरी छिपे बेची जाती हैं, तो काले स्त्री-पुरुषों के खुले व्यापार से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये इस शब्दावली का प्रयोग किया गया ।

इस व्यापार के आद्य कारणों की संक्षिप्त चर्चा हम कर चुके हैं । भारत, सिंगापुर, हाँग काँग, शांग-हाई या दक्षिणी अमरीका के शहरों में अनेक साहसी व्यापारियों को या व्यापारी संस्थाओं के कर्मचारियों को लंबे अरसों तक रहना पड़ता है । अपनी पत्नियों को ये लोग अकसर स्वदेश में छोड़कर ही बाहर निकलते हैं । अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के इन सुदूर केन्द्र स्थानों में जीवन यापन करने वाले अधिकांश लोग तो विवाह के झंझट ही नहीं पालते । महीनों तक और कभी-कभी वर्षों तक विदेश में रहना पड़े, तो स्वाभाविक रूप से उनकी असंतुष्ट कामेच्छा स्त्री-सहवास के लिए तरसती रहेगी । इस देह भूख को संतुष्ट करने के दो मार्ग हैं । एक तो वहीं की स्त्रियों का उपभोग करना; और दूसरा, स्वदेश की स्त्रियाँ इन स्थानों में लाकर बसाने का साहस करने वाले दलालों से मिलकर अपने परिचित आचार-विचार वाली स्त्रियों का उपभोग करना । इन दोनों प्रकारों में से दो अलग अलग समस्याएँ जन्म लेती हैं । एक से मिश्र जातियों के निर्माण की और दूसरे से गौरांग स्त्रियों के दास-व्यापार की ।

स्थानीय स्त्रियों के समागम से यूरेज़ियन (Eurasian or Half–Caste) नामक वर्ण संकर प्रजा का निर्माण होता है । यह वर्ण सांकर्य लज्जा और अपमान का प्रतीक माना जाय, या प्रगति और युगधर्म का, यह अलग प्रश्न है । नृवंशवेत्ताओं का तो यह कहना है कि किसी न किसी प्रकार के सांकर्य से संसार की कोई भी जाति बच नहीं सकी है ।

दूसरी समस्या अधिक जटिल है । अनेक साहसी व्यापारी यूरोपीय देशों में से सुंदर स्त्रियों को बहला-फुसला कर, धोखा देकर, या उनकी राजी खुशी से विदेशों में ले जाते हैं और वहाँ रहने वाले यूरोपीय पुरुषों की कामवासना तृप्त करने में उनका उपयोग करके अंतर्राष्ट्रीय स्त्री-व्यापार का एक विस्तृत जाल खड़ा करते हैं । ये दोनों समस्याएँ आज विजेता और विजित, दोनों प्रजाओं के सामने समान रूप से खड़ी हैं ।

विदेशों में लंबे समय तक रहने वाले केवल व्यापारी ही नहीं होते । विस्तृत खेतीबारी और बगानों (plantations) के मालिक अनेक यूरोपीय पुरुष स्वदेश छोड़कर दूर-दूर के उपनिवेशों में लंबे समय तक निवास करते हैं । व्यापारी पीढ़ियों की स्थापना होने पर उनमें मुनीम-गुमाश्ते और कर्मचारियों को भी सुदूर

विदेशों में रहना पड़ता है । सैनिकों, सैनिक अफसरों, कूटनीतिज्ञों और सरकारी पदाधिकारियों को भी राजनीतिक कार्यों से विदेशों में रहना पड़ता है । इन सब की कामवासना तृप्त करने का काम यदि कोई साहसिक संघटना कर सके, तो उसे बेशुमार धन की प्राप्ति होती है । इस धन के जरिये अधिकाधिक गौरांग स्त्रियों को इस व्यवसाय में आकर्षित करने की शक्ति उनके हाथों में आ जाती है । प्रलोभन पर आधारित इस व्यापार-जाल के ताने-बाने दिनों दिन बढ़ते चले जाते हैं और अंत में बड़े-बड़े शहरों में गौरांग स्त्रियों के गणिका गृहों की स्थापना होती है । इन स्थानों में यूरोप के जैसे ही रागरंग किये जाते हैं मानो यूरोपीय संस्कृति के छोटे-छोटे टापू दूर-दूर तक बिखरे पड़े हों । आज पूरे पूर्व-जगत् में यही हो रहा है । एशिया के किसी भी बड़े शहर या किसी भी बंदरगाह में बसने वाले यूरोपीय पुरुष को अपने शहर में ही, यूरोपीय ढंग से रहने वाली यूरोपीय ललना उपभोगार्थ आसानी से मिल सकती है । पश्चिम के देशों में और उनके उपनिवेशों में इस प्रकार गौरांग स्त्रियों को फुसला कर, धोखा दे कर या उनकी स्वेच्छा से विदेशों में ले जाकर उनसे गणिकावृत्ति करवाने के व्यापार को ही "गौरांग स्त्रियों का दास व्यापार" (White Slave Traffic) कहते हैं । इस व्यापार के लिये यह संज्ञा अब संसार भर में रूढ़ हो गई है ।

यूरोप में धन और सुख के साधनों की वृद्धि हुई, यह बात सही है; परंतु यह धन क्रमश: कुछ थोड़े से धनाढ्यों के कब्जे में चला गया । हुनर उद्योगों के विकास ने अनेक स्त्रियों को रोज़गार दिया, यह भी सही है; परंतु जीवनयापन का स्तर ऊंचा उठ जाने से सब की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं, जिन्हें सर्वांश में पूरा करना सब के लिये संभव नहीं था । यंत्रों की मज़दूरी भी खेती या हाथ की कताई-बुनाई जैसी सौम्य मज़दूरी नहीं होती । मिलों और कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों के —चाहे वे गोरे हों या काले, पुरुष हों या स्त्री —अंग और ज्ञानतंतु इस अत्यंत उग्र और तीव्र गति की मज़दूरी के कारण शिथिल हो जाते हैं और उन्हें उत्तेजित करने के लिये मादक पदार्थों का सेवन आवश्यक बन जाता है । नशेबाजी और गणिकावृत्ति स्त्री पुरुषों के मिश्र समूहों में बड़ी तेजी से फैलती हैं । और बेशुमार धन-संपत्ति के बावजूद, दरिद्रता पश्चिम के देशों में भी नष्ट नहीं हुई है, बल्कि दिनों दिन बढ़ती ही जा रही है ।

अर्थ प्रधान संस्कृति का एक मुख्य लक्षण यह है कि धन के तो ढेर लगे रहते हैं और उसकी रक्षा करने के लिये चौकी-पहरा भी करना पड़ता है । परंतु इस धन का स्वामित्व कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में रहता है । उसका योग्य वितरण करने के बदले प्रजा के बहुत बड़े भाग को अकथ्य दरिद्रता में ही सड़ने दिया जाता है । आनंद प्रमोद की लालसा तो देखा देखी सभी के मन में जन्म लेती है । परंतु उसे तृप्त करना सबके बस की बात नहीं होती । अत: इस गरीबी में से जिस प्रकार देश की अंतर्गत वेश्यावृत्ति का जन्म होता है, उसी प्रकार विदेशों में चलने वाली गणिकावृत्ति का मूल भी इसी में है ।

स्वदेश में गणिकावृत्ति करनेवाली स्त्री यदि एक कदम आगे बढ़ कर विदेश जाने को तैयार हो जाय, तो इसमें इतने आश्चर्य की बात क्यों मानी जानी चाहिये ? अपनी राजीखुशी से विदेश जाने को तैयार होने वाली अनुभवी गणिकाओं या नयी फँसी हुई युवतियों के लिये 'गुलामी' या 'दास-व्यापार' जैसे शब्द प्रयोग भी उचित हैं क्या ? यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि इन स्त्रियों में से अधिकांश स्वेच्छा से विदेश जाकर गणिकावृत्ति करने के लिये तैयार होती हैं । परंतु अपनी राजीखुशी से जाने वाली गणिकाओं के अनुपात में, गलती से, प्रलोभन से, जबरदस्ती से, या मजबूरी से विदेश जाने वाली स्त्रियों की संख्या बिलकुल ही कम नहीं होगी । फुसलाकर, धोखा देकर या जबरदस्ती ले जाई जाने वाली इन युवतियों का और एकबार गणिकावृत्ति में फँस जाने पर, छुटकारा चाहने पर भी छूट न सकने वाली स्त्रियों का प्रश्न उपस्थित होते ही इस व्यवहार में गुलामी का तत्व प्रवेश कर जाता है । इसलिये, इन गौरांगनाओं की वेश्यावृत्ति के संबंध में 'दास-व्यापार' शब्द नितांत अनुचित तो नहीं कहा जा सकता ।

स्त्रियों को फुसलाने के लिये निम्नलिखित विज्ञापन प्राय: कारगर सिद्ध होते हैं: —

'अमुक नगर में यूरोपीय बालकों के लिये शिक्षिका की आवश्यकता है ।"

बगानों के मालिक धनिक गृहस्थ को घर की देखभाल कर सकने वाली सुशिक्षित स्त्री की आवश्यकता है।''

यूरोपीय ढंग के होटल में कोठार और रसोई घर पर निगरानी रखने के लिए हिसाब किताब जानने वाली युवती की आवश्यकता है।''

दूकानों में विक्रय का काम करने के लिये वाचाल, आकर्षक और मधुर स्वभाव की लड़कियों की आवश्यकता है।''

इस प्रकार के विज्ञापन प्राय: किस हेतु से दिये जाते हैं यह समझना मुश्किल नहीं। इनके उत्तर में युवतियाँ मुलाकात के लिये आती हैं। उनसे नौकरी के लिखित इकरारनामे और पक्के दस्तावेज करवा लिये जाते हैं। इसके बाद उन्हें विदेश भेजने की सुख-सुविधाभरी व्यवस्था की जाती है। समुद्रयात्रा के दरमियान, रास्ते में ही उन्हें आनंद-प्रमोद और विलास का चसका लगा दिया जाता है। सिंगापुर या पेरू पहुँचने पर दो एक दिन उन्हें आराम से रखा जाता है परंतु फिर वे नौकरी के संबंध में पूछने लगती हैं। शीघ्र ही उन्हें मालूम पड़ जाता है कि नौकरी के दस्तावेजों की कीमत रद्दी कागज़ के टुकड़ों से अधिक नहीं और उनका उपयोग देह-विक्रय से धन कमाने के लिए होने वाला है। इस हालत में यह पूरी योजना दास-व्यापार के सिवा और कुछ नहीं रह जाती।

इस तरह फुसलाई हुई युवतियों को अनेक प्रकार से समझाया जाता है। पहनने के लिये उन्हें सुंदर वस्त्रालंकार दिये जाते हैं और उन्हें सब तरह से खुश रखने की कोशिश की जाती है। परंतु अंत में काम तो उन्हें गणिकाओं का ही करना पड़ता है। यही नहीं, एक बार इस जाल में फँसने के बाद इसमें से छूटने का कोई उपाय नहीं रहता। विरोध करने पर उन्हें डराया धमकाया जाता है; कमरों में बंद कर दिया जाता है; पीटा भी जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उनके साथ इतनी सख्ती बरती जाती है कि अपने आप को बचाने का दृढ से दृढ निश्चय कर चुकने वाली युवती भी इस जुल्म के आगे लाचार हो कर अंत में अनीति का पेशा स्वीकार कर लेती हैं। एक बार इसको स्वीकार कर लेने पर तो इन असहाय युवतियों के लिये एक एक कदम करके संपूर्ण गणिका के रूप में विकसित होने के सिवा और कोई मार्ग ही नहीं रहता।

इस विषय के अध्येताओं में उपरोक्त जुल्म के संबंध में दो भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि गुलाम कही जाने वाली इन गौरांगनाओं का बहुत बड़ा भाग स्वेच्छा से विदेश जाने को तत्पर होता है और इस वर्ग की प्राय: सभी स्त्रियाँ विदेश जाने से पहले, स्वदेश में ही भ्रष्ट हो चुकी होती हैं। इतना ही नहीं, उन्हें गणिकावृत्ति का अच्छा खासा अनुभव भी होता है। अत: इन स्त्रियों को गुलाम नहीं कहा जा सकता। इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों की राय है कि जब इन स्त्रियों को छलकपट से या जबरदस्ती ले जाया जाता है, और एक बार फँसने के बाद मुक्त होने का रास्ता ही जब इनके लिये बंद है, तो इस व्यवहार में गुलामी का तत्व स्पष्ट दिखाई देता है।

इन दोनों विचार धाराओं में सत्य के अंश हैं। राजीखुशी से गणिकावृत्ति अंगीकार करके विदेश जाने वाली स्त्रियों की संख्या बड़ी हो सकती है; परंतु थोड़ी बहुत युवतियाँ भी यदि फुसलाकर या छल-फरेब से इस पेशे में लाई जाती हों, तो भी इसे गुलामी का ही एक प्रकार मानना होगा। और फिर इच्छा होने पर भी जिस व्यवसाय में से मुक्त होने का स्वातंत्र्य न हो, उसे गुलामी कहे बिना चारा नहीं। ऐसी गणिकावृत्ति, जिसमें स्त्री को चारों ओर से शकंजों में जकड़ कर और आर्थिक रूप से निराधार बनाकर उसे ऐसी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक परिस्थितियों के जाल में फँसा दिया जाता हो, जिसमें से वह छूट ही न सके, दासता नहीं तो और क्या कहलायेगी.? दरअसल गणिकावृत्ति का हर एक प्रकार गुलामी पर ही आधारित है; फिर चाहे उसका आरंभ शौकिया. या स्वेच्छा से ही क्यों न हुआ हो।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, विदेशों में ले जाई जाने वाली युवतियों की और उनसे करवाये जाने



वाले अनीतिमय कामों की चित्र विचित्र कहानियाँ यूरोप के देशों में फैलने लगीं । नाबालिग लड़कियों पर होने वाले अत्याचारों के हृदय द्रावक प्रसंगों की समाज में चर्चा होने लगी । देश के अंदर चलने वाली गणिकावृत्ति कुछ कम घृणित नहीं होती, परंतु मध्यकालीन यंत्रणाओं को भी भुला देने वाली आधुनिक पाशविकता की इस करुण कथाओं ने समाज को हिला दिया । सन् १८७० से आरंभ होने वाले कई दशाब्दों में ये घटनाएँ खुले आम अखबारों में छपने लगीं । सन् १८८५ में जब "पालमाल गज़ट" नामक सुप्रसिद्ध पत्र में भी अनीति के पेशे के लिये फुसलाई जानेवाली इन सुंदरियों की रोमांचक कहानियाँ और उनपर गुजरने वाले अत्याचारों के वर्णन छपने लगे, तो यूरोप-अमरीका के राज्यकर्ताओं का ध्यान भी इस प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ । ध्यान रहे कि "पालमाल गजट" उस युग का अत्यंत प्रतिष्ठित पत्र था । इसके बाद "रिव्यू ऑफ रिव्यूज़" नामक पत्रिका द्वारा दिगंतव्यापी ख्याति प्राप्त करने वाले पत्रकार विलियम स्टॅड ने भी इस प्रश्न पर प्रखर प्रकाश डाला । अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये इस विलक्षण आदमी ने खुद कुछ युवतियों को फुसलाया, उनसे वेश्यावृत्ति के गुलामी खत लिखवाये, कानून की नज़र में दोषी प्रमाणित होकर जेल की हवा भी खाई और वर्तमान युग में सत्य का प्रबल आग्रह रखने वाले सत्यान्वेषक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की । विलियम स्टॅड अध्यात्म विद्या का भी अध्येता था और मृत्यु के बाद के सूक्ष्म जीवन की संभावना स्वीकार करने वाले विचारक के रूप में भी इसकी ख्याति है । परंतु उसकी प्रतिभा का सर्वोच्च विकास पत्रकार के रूप में ही हुआ था । उसकी लेखनी से बड़े बड़े सत्ताधारी थर्राते थे और बड़े-बड़े राजा-महाराजा एवं राजनीतिज्ञ उसकी मैत्री के इच्छुक रहते थे । विख्यात टाइटॅनिक जहाज की दुर्घटना में वह डूब गया । उसके लेखों ने उस समय के स्त्रियों के दास-व्यापार के विरुद्ध व्यापक लोकमत जागृत किया था ।

परंतु बाद में अखबारों की खपत बढ़ाने के हेतु से गौरांगनाओं के दास-व्यापार की सनसनी खेज और मनगढंत कहानियाँ भी छपने लगीं । यूरोप के विभिन्न देशों ने इस विषय के नियमों को और सख्त बनाया । विदेश जानेवाले स्त्री-पुरुषों पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी और उनके पूर्वेतिहास और चाल चलन की अधिक सख्ती से जाँच-पड़ताल होने लगी । राज्यों के व्यवस्थापक तंत्र भी सतर्क हो उठे और सन् १८७५ से, इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिये, इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिये, और इसे हल करने के सर्वसंमत उपायों की योजना करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय परिषदों का आयोजन भी होने लगा है । इन परिसंवादों में विद्वत्तापूर्ण तथ्य निवेदन और आश्चर्य चकित कर देने वाली घटनाओं के वर्णन होते हैं, देह विक्रय के उद्देश्य से स्त्रियों को विदेशों में ले जाकर बेचने के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का सप्रमाण विवेचन होता है और उसे रोकने के उपायों की चर्चा होती है ।

संसार के सभ्य देशों में गणिका गृहों को क्रमशः निषिद्ध मानने के प्रयत्न हो रहे हैं । मनुष्य देह के खुले क्रय-विक्रय को तो निषिद्ध माना जा चुका है । परंतु दुर्भाग्य से, मानव देह का —विशेष तौर से स्त्री देह का —विक्रय अत्यंत सूक्ष्म रूप धारण करके जीवित रहता आ रहा है । धन की शक्ति से बिना दस्तावेज़ के भी मनुष्य को खरीदा या बेचा जा सकता है । आनंद प्रमोद का शौक और सुख का मोह धन की सत्ता को दिनों दिन प्रबल बनाता जा रहा है । स्त्री-पुरुषों के मर्यादाहीन यौन संबंधों में किसी भी प्रकार का पाप, अनाचार, दोष या अनौचित्य नहीं है, यह मान्यता भी चढ़ते हुए ज्वार की गति से संसारभर में फैल गई है जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रीदेह भी, अन्य पदार्थों के समान, क्रय-विक्रय की वस्तुओं की सूची में जा पहुँचा है । जबरदस्ती से होनेवाले क्रय-विक्रय की घटनाएँ अब कम होती हैं, ऐसी इस विषय के जानकारों की मान्यता है । हो सकता है, यह सही हो । परंतु साथ ही यह भी सही है कि युवतियों के चारों ओर प्रलोभन का जाल इतने विस्तार से, ऐसी युक्ति से और ऐसी अपरिहार्यता से बिछाया जाता है कि नारीदेह का व्यापार करने वालों को अपने व्यवसाय चलाने के लिये जबरदस्ती करने की आवश्यकता ही नहीं रहती । नारी व्यापार का स्वरूप और उसके केन्द्रस्थान समय-समय पर बदलते रहते हैं । सिंगापुर में व्यापार मंदा हो जाय, तो पूर्व का केन्द्र स्थान शांगहाई में बदल दिया जाता है और मार्सेल्स के बंदरगाह पर

पुलिस की कड़ी निगरानी हो, तो थोक व्यापार की मंडी काहिरा में चली जाती है । मॉन्टे कार्लो अनुकूल न हो, तो ये व्यवसायी मैक्सिको में अपना जाल फैलाते हैं; और मैक्सिको से जाल समेटना पड़ जाय, तो जावा के पटेविया में या आर्जेन्टाइना के ब्यूनो-आयर में व्यापार जमाते इन्हें देर नहीं लगती ।

७

स्वेच्छा का तथ्य

निकट भविष्य में युद्धों की समाप्ति होने के लक्षण दिखाई नहीं देते । पाश्चात्य संस्कृति के हृदय में से युद्ध का निषेध करने की गुहार तो बार बार उठती है; परंतु प्रथम विश्वयुद्ध के समय की हुई युद्ध निषेध की प्रतिज्ञाएँ सभ्य देशों के नेताओं ने अब तक पूरी नहीं की हैं । प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भी अनेक छोटी मोटी क्रांतियाँ और छुटपुट युद्ध चलते रहे; और प्रथम विश्वयुद्ध को भुला देने वाला द्वितीय विश्वयुद्ध अभी कुछ दिन पहले ही समाप्त हुआ है । यह स्थिति युद्धनिषेध के वादों का खोखलापन ही प्रमाणित करती है । संसार भर के देशों की सामाजिक और आर्थिक समतुला को झकझोर कर उन्हें अस्थिर बना देने वाला युद्ध, युद्ध के बाद की भुखमरी, उससे उत्पन्न रोग और अनीति की परंपराएँ —यह एक ऐसा दुष्ट चक्र है, जिसकी कल्पना भी भयावह मालूम देती है । अब तक युद्ध से पिंड नहीं छूटता, तब तक मनुष्य जाति का अनाचार कम होने की कोई संभावना नहीं; बल्कि साधनों की विपुलता के कारण उसमें वृद्धि होना ही अधिक संभव है । इस व्यापक अनाचार में स्त्रियों के देह विक्रय और उस विक्रय के दिग्दिगंत में फैले हुए व्यापार का स्थान सबसे ऊपर है । सभी युद्धों की यही कहानी रही है और वर्तमान युद्ध अन्य युद्धों से किसी प्रकार भी भिन्न है, यह मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता ।

नारी देह के विक्रय की कथा भी इतनी ही पुरानी है: गुलामों के खुलेआम व्यापार से भी अधिक पुरानी । परंतु आश्चर्य की बात यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब खुले आम दास-व्यापार को निषिद्ध मानने के स्तर पर मानव-संस्कृति पहुँची, तब से ही गौरांग स्त्रियों के दास व्यापार की प्रथा शुरू हुई । पुराने दस्यु गये, तो उनका स्थान नये पूंजीवादियों ने लिया; गुलाम अदृश्य हुए, परंतु अर्थ की जंजीरों से जकड़े हुए शोषितवर्ग का जन्म हुआ ; गणिकागृह बंद होने लगे, परन्तु गणिकाएँ हर गली के मोड़ पर मंडराने लगी ; नारी विक्रय के खुले बाज़ार नष्ट हुए, परंतु देश-देशांतर में स्त्रियों की सौदेबाजी आरंभ हुई ।

इस नैतिक ज्वार-भाटे के बीच अनीति का प्रवाह अक्षुण्ण बहता ही रहा है । युवतियों को फुसलाने के लिए इस पेशे के अनुभवी स्त्री-पुरुष देश देश में घूमते हैं । गली-कूचों में, नाट्य गृहों में, देवालयों में, मेलों में और होटलों में —सभी जगह सुंदर और नवयुवती स्त्रियों को खरीदने के लिए ये लोग सदा तत्पर रहते हैं । उन्हें अपने जाल में फँसाने के लिए वस्त्रालंकार आदि प्रलोभनों की इन्हें कभी कमी नहीं पड़ती । न मालूम कितनी निर्दोष बालिकाएँ इस हृदयहीन व्यापार का शिकार बनती होंगी । गणिकावृत्ति का पूर्व अनुभव कर चुकने वाली और स्वेच्छा से इस पेशे को स्वीकार करने वाली स्त्रियों का तो कोई शुमार ही नहीं ।

अमरीका की एक प्रतिष्ठित संस्था ने इस दास-व्यापार का शिकार बनने वाली करीब एक सौ स्त्रियों की आप बीती कहानियाँ प्रकाशित की हैं । उनसे मालूम पड़ता है कि इन सभी कथनियों को गुलामी का प्रकार नहीं कहा जा सकता । सिर्फ एक-तिहाई स्त्रियाँ ही ऐसी हैं, जिन्होंने जबर्दस्ती या छल फरेब से बहकाई जाने के कारण इस पेशे में फँसने की बात कही है । इनमें से भी कुछ के बयान असत्य हो सकते हैं । हो सकता है कि श्रोता की दयाभावना उभारने के लिए उन्होंने ये मनगढंत रामकहानियाँ जोड़ ली हों । अपना दोष दूसरे के सिर मढ़ देने की वृत्ति का भी यह परिणाम हो सकता है । नूतन स्वतंत्रता की प्रेमी और

साहस की शौकीन कोई युवती, आगे पीछे का पूरा विचार किये बिना, स्वेच्छा से, गणिकावृत्ति के रोमांचक अनुभव प्राप्त करने के लिए इस पेशे में प्रवेश करे; वातावरण नया नया और आनंद दायक लगे तब तक उसमें बनी रहे; और रूप यौवन ढलता हुआ देखकर, या भविष्य में जीवनयापन का अन्य कोई साधन दिखाई न देने पर भयभीत होकर, अपने शरीर का प्रथम उपभोग करनेवाले या बहका कर प्रथम बार इस रास्ते पर लाने वाले पुरुष के मत्थे पूरा दोष मढ़ दे, यह भी संभव है । परंतु सौ में से तेतीस या पूरी संख्या की एक-तिहाई गणिकाएँ भी यदि अपने आपको छल-फरेब या जबर्दस्ती का शिकार मानती हों, तो यह मानना ही पड़ेगा कि अंतर्राष्ट्रीय गणिकावृत्ति में प्रलोभन और स्वेच्छा के उपरांत विश्वासघात और ज्यादती का अस्तित्व भी है । न्याय का एक मूलभूत सिद्धांत यह माना जाता है कि सौ अपराधी निर्दोष छूट जायें तो कोई हर्ज़ नहीं; परंतु एक भी निरपराध मनुष्य दोषी माना जाकर दंडित नहीं होना चाहिये । गणिकाओं के वस-व्यापार के संबंध में भी न्याय का यही सिद्धांत कार्यान्वित होना चाहिये । सौ में से निन्यानबे गणिकाएँ स्वेच्छा से इस पेशे में आती हों, और एक छल फरेब से लाई जाती हो, तो भी इस पेशे पर कड़ी निगरानी रखने की आवश्यकता है; और यह एक युवती भी यदि गणिकावृत्ति में जबरन् प्रवत्त की जाती हो, तो इस पेशे को दास-व्यवसाय ही मानना होगा । यह बुराई केवल पश्चिम के देशों में ही है और गौरांग युवतियों तक ही सीमित है, यह मानने का कोई कारण नहीं । लीग ऑफ नेशन्स की जाँच-पड़ताल से यह स्पष्ट हो चुका है कि इसका प्रचलन पूर्व के देशों में भी व्यापकता से है ।

जबरदस्ती और छल-फरेब का अस्तित्व मान्य करके हम इस व्यवसाय के प्रति सतर्क रहें, यह तो आवश्यक है । परंतु इसको स्वीकार करनेवाली अधिकांश स्त्रियाँ राजीखुशी से ही इस मार्ग पर प्रेरित होती है, यह सत्य हमें उद्विग्न और व्याकुल कर देता है और इस व्यवसाय पर लगाये जाने वाले बंधनों को निरर्थक बना देता है । प्रबल प्रलोभन के साथ-साथ जिस पेशे में साहस, अप्रतिष्ठा, अस्थिरता, और रोग या अप्रिय देह संबंध का भय आदि अनेक संकट समाये हुए हैं, उसे स्वेच्छा से स्वीकार करने के लिए किन वैयक्तिक या सामाजिक कारणों से स्त्री प्रेरित होती है, इसका विचार होना भी आवश्यक है । इस व्यवसाय में आँखें खोल कर आने वाली स्त्री को इन संकटों और जोखिमों की कुछ भी कल्पना न होती हो, यह मानना वास्तविकता से दूर होगा । पश्चिम की प्रजाओं में शिक्षा का प्रसार अत्यंत व्यापक है । यद्यपि अधिकांश गौरांग गणिकाएँ उच्च शिक्षित होती हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता, परंतु उनका दुनियादारी का व्यवहार ज्ञान नितांत नगण्य भी नहीं होता । अखबार और उपन्यास पढ़ने का शौक तो पश्चिम की प्राय: सभी स्त्रियों को होता है । इस हालत में न तो उन्हें नितांत अज्ञान बच्चियाँ ही माना जा सकता है और न यह कहा जा सकता है कि दलाल उन्हें सरलता से फँसा लेते हैं ।

स्त्री के चाहने पर भी जुल्म-जबरदस्ती के विरुद्ध उसकी रक्षा न हो सकती हो, इतनी अव्यवस्था पश्चिम के सभ्य देशों के व्यवस्थापक तंत्रों में होती होगी, यह मानने को भी जी नहीं चाहता । गणिका गृहों पर, उनके संचालकों पर, और इस पेशे में सहायक होने वाले पूरे संगठन पर पुलिस की कड़ी निगरानी रहती है । कभी-कभी रिश्वत से उनकी आँखें और ज़बान बंद हो जाती हों, यह तो संभव है; परंतु गणिका गृह में से या किसी गुंडे के पास में से छूटने का निश्चय कर लेने वाली युवती पुलिस की या न्याय व्यवस्था की सहायता चाहे, और उसे वह न मिले, इतनी अराजकता पश्चिम के सभ्य देशों में नहीं फैली हुई हैं । वस्तुस्थिति यह होने पर भी, जबरदस्ती से फँसाई हुई किसी गणिका ने पुलिस-अफसर या न्यायाधीश के पास जाकर रक्षा की याचना की हो, या इस पेशे में से छूटने की कोशिश की हो, ऐसा अधिक सुनाई नहीं देता । सवाल उठता है कि सुरक्षा के साधन मौजूद होने पर भी, उनका व्यापक उपयोग क्यों नहीं किया जाता ?

इसका संभाव्य उत्तर यही हो सकता है कि गणिकाएँ अपने प्रिय व्यवसाय को छोड़ना नहीं चाहतीं । यह शायद मनुष्य का स्वभाव ही है । सरकारी नौकरी करने वाला मनुष्य कभी निवृत्त होना पसंद नहीं करेगा, यद्यपि उस नौकरी के विरुद्ध शिकायतें करते रहना उसका नित्यक्रम होता है । इतना ही नहीं,

मजबूरन निवृत्त किए जाने के बाद भी वह छोटी मोटी नौकरी की तलाश में ही रहता है । यह प्रवृत्ति बड़े-बड़े प्रशासकों और रजवाड़ों के दीवानों में भी पाई जाती है । वकील लोग अंतिम क्षण तक अपनी वकालत से चिपके रहते हैं और अपने पुत्र को भी अपने व्यवसाय की विरासत सौंपने में झिचकिचाते हैं । डाक्टर और वैद्य तो जितने वृद्ध हों उतने ही अनुभवी माने जाते हैं; और व्यापारियों की मनोवृत्ति स्पष्ट करने वाला निम्नलिखित चुटकुला पश्चिम के देशों में प्रसिद्ध है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच के संघर्षों को स्पष्ट करता हुआ आजीविका को जीवन से भी ज़्यादा प्यारी प्रमाणित करता है:



एक वृद्ध यहूदी मृत्युशय्या पर पड़ा था । उसके बचने की कोई आशा नहीं थी । जब मृत्यु बिलकुल समीप दिखाई दी, तब उसका शोकाकुल परिवार उसकी शय्या के चारों ओर एकत्रित हुआ । यहूदी का परिवार विशाल था । मृत्यु की छाया से घिरी आँखें खोलकर उसने पूछा,

"बड़ा लड़का कहाँ है ?"

"मैं यहाँ हूँ पिताजी । देखिये, आपके पास ही बैठा हूँ ।" दु:खी स्वर से बड़े लड़के ने कहा ।

"और मँझला पुत्र कहाँ है ?" अंतिम क्षण में पिता को सबकी याद आने लगी ।

"जी, मैं भी यहीं हूँ ।"

"और छोटा ?"

"मैं आपके पाँवों के पास बैठा हूँ, पिताजी ।" कहते हुए छोटे पुत्र की हिचकी बँध गई ।

"बड़ी लड़की कहाँ है ?"

"आपके सिरहाने बैठी हूँ ।" और बड़ी लड़की की आँखों से आँसू झरने लगे ।

"और छोटी ?" वृद्ध ने पूछा ।

"मैं यहाँ हूं ।" छोटी लड़की ने सिसकते हुए कहा ।

मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ यहूदी एकदम बैठ गया और गरज उठा, "अरे मूर्खो, तुम सब के सब मुझे घेर कर यहाँ बैठे हो, तो फिर दूकान की देखभाल कौन कर रहा है ?"

इसी नियम के अनुसार, वेश्यावृत्ति में भी एक बार प्रवेश कर लेने पर उसे छोड़ने की इच्छा न होती हो, यह संभव है । हर पेशे की अपनी अलग लीक होती है और अपना अलग व्यक्तित्व । लीक छोड़ कर चलना सब के बस की बात नहीं और एक रंग पर दूसरा रंग चढ़ना भी उतना सरल नहीं । और अधिकांश

गणिकाओं का तो व्यवसाय छूटे बाद, भविष्य में क्या होगा, इसकी चिंता करने का भी प्रयोजन नहीं होता ।

आज के युग में गणिकाओं को सन्मार्ग पर प्रेरित करने के सद्भावनायुक्त प्रयत्न सब ओर हो रहे हैं । उनके लिए आश्रमों और आश्रयस्थानों की भी कमी नहीं । गणिका गृह से निकल कर कोई गणिका पुलिस की शरण में जाय, तो वहाँ के अफसर उसे सीधे इन्हीं संस्थाओं में भेज देते हैं । परंतु गणिकाएँ अपना पेशा छोड़कर इन आश्रयस्थानों में आकर रहती हों, या इन सेवाओं का लाभ उठाने को तत्पर होती हों, ऐसा कोई लक्षण अब तक दिखाई नहीं दिया । अतः यह माने बिना छुटकारा नहीं कि अपनी राजीखुशी से इस व्यवसाय को स्वीकार करके आजीवन इसी में लगी रहने वाली स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व रखता है । जबरदस्ती किसी से पाप या अपराध करवाये जाते हों, तो उन्हें रोकने के और पीड़ितों की रक्षा करने के उपाय हो सकते हैं । परंतु स्वेच्छा से पाप या अपराध करने वालों को उस मार्ग से परांगमुख कैसे करना, यह मानव सुधार का सबसे विकट प्रश्न है । धर्म, नीति, राज्यसत्ता, और कानून या लोकनिंदा का भय —इनमें से कोई भी शक्ति इस परिस्थिति में विशेष सुधार नहीं कर सकी हैं ।

अपने प्रेमियों की खातिर, अपनी रक्षा करनेवाले गुंडों के लिए या अपने प्रति सद्भावना रखने वाले गणिका गृहों के हित के लिए गणिकावृत्ति किये जाने वाली युवतियों की कहानी हम देख चुके हैं । यही परिस्थिति जब अंतर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेती है, तब उसे स्त्रियों के दास-व्यापार के नाम से पहचाना जाता है । अपने प्रेमी या रक्षक को सुखी करने की, उसे संपत्तिमान बनाने की और अंत में उसके साथ घर-गृहस्थी बसाकर शांति से जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा से अनेक स्त्रियाँ किस प्रकार राजीखुशी से गणिकावृत्ति किये जाती हैं, और देह विक्रय से प्राप्त धन इन लोगों को देती रहती हैं, यह भी हम देख चुके हैं । यह तत्व स्त्रियों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यह सही है कि इन युवतियों के स्वप्न सर्वथा साकार नहीं होते । परंतु स्वेच्छा से स्वीकार किए हुए, और बाद में कोई रास्ता न होने के कारण मजबूरी से किए जाने वाले इस व्यवसाय में अपने प्रेमी को सुखी करने की अभिलाषा भी समाई रहती है । अपनी अनीति की कमाई से अपने प्रिय पुरुष को धनवान और सुखी होता देखकर, उसके सुख में ही अपने जीवन की कृतार्थता मानने वाली स्त्री मनुष्य-हृदय की महानता का सुनहरा आदर्श प्रस्तुत करती हैं । अंगारों से भरी हुई चिता में कोई छोटा सा हराभरा पौधा उगता देखकर जितना आश्चर्य हो सकता है, उतना ही अचरज इन गणिकाओं के उदात्त और त्यागमय मानस को देख कर होता है ।

पुरुषों को जिस प्रकार स्त्री देह के प्रति एक तरह का उन्मादभरा आकर्षण होता है, उसी प्रकार का आकर्षण स्त्रियों को पुरुष के लिए होना भी संभव है । इस उन्माद से पागल स्त्री, पुरुष की तरह विविधता की भी इच्छुक हो, तो पुरुषों को आश्चर्य नहीं होना चाहिये । पुरुषों का आर्थिक स्वातंत्र्य जिस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखते हुए, उनके गणिका गमन और अन्य यौन विविधताओं को संभव बनाता है, उसी प्रकार स्त्रियों का आर्थिक स्वातंत्र्य उनके मनोरंजन के लिए पण्य पुरुषों का वर्ग निर्माण कर सकता है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । यूरोप-अमरीका में प्रौढ़ आयु की धनिक और एकाकिनी स्त्रियों के लिए धन से खरीदा जा सकने वाला पुरुष वर्ग कभी का जन्म ले चुका है । बाह्य रूप से तो ये पुरुष इन स्त्रियों के सहचारी और नृत्य के जोड़ीदार (Dancing-Partners) कहे जाते हैं । परंतु यह सहचार केवल नृत्य तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उन स्त्रियों की इच्छानुसार उनकी देह तृप्ति करने तक उसकी व्याप्ति रहती है, यह सरलता से समझी जाने वाली बात है । गिगोलो (Gigolo) के नाम से पहचाने जाने वाले इस वर्ग के पुरुष धन के बदले में स्त्री के मित्र या सहनर्तक की ही नहीं बल्कि उसके प्रेमी की भूमिका भी निभाते रहते हैं । यह स्थिति पश्चिम में तो सर्वमान्य हो गई है । स्त्री की गणिकावृत्ति के समान उसका पुरुष-विभाग भी उत्पन्न हो चुका है और स्त्रियों के आर्थिक स्वातंत्र्य की वृद्धि के साथ उसका और विकास हो, यह संभव है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में चलने वाली गणिकावृत्ति देशांतर में फैलने पर एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बन जाती है । दोनों में व्यवसाय की समानता का संबंध अवश्य है; परंतु परिस्थिति की भिन्नता से दोनों अलग-अलग व्यवहार बन जाते हैं । दोनों की केन्द्र रचना, शाखा-प्रशाखाओं की स्थापना, आय खर्च का हिसाब, और लाभ का विभाजन आदि बातें एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न होती हैं । इस प्रकार की गणिकावृत्ति में अभिप्रेत गुलामी का राजीखुशी से स्वीकार करने के पीछे कभी गरीबी और सामाजिक बंधनों जैसी मजबूरियाँ तो कभी अपने प्रेमी को सुखी करने की उदात्त इच्छा जैसे परस्पर विरोधी तत्व कारणभूत होते हैं । मानव जीवन की विचित्रताओं का इतना अद्भुत उदाहरण अन्य किसी क्षेत्र में शायद ही मिल सके । कुछ अंशों में जबरदस्ती और छल-फरेब पर आधारित परंतु अधिकांश में स्त्री की स्वेच्छा से प्रेरित देह विक्रय का यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एशिया के नगरों में भी होता है और यूरोप-अमरीका में भी । आगे के परिच्छेदों में हम एशिया से आरंभ करके यूरोप-अमरीका की परिस्थिति पर विचार करेंगे ।



दूसरा परिच्छेद

एशिया महाद्वीप में स्त्रियों का दास-व्यापार

१
सामान्य क्रम

पूर्व के देशों में चलने वाले स्त्रियों और बालकों के व्यापार की जाँच-पड़ताल करने के लिए लीग ऑफ नेशन्स द्वारा एक समिति नियुक्त की गई थी । सन् १९३२ में इस समिति का निवेदन प्रकाशित हुआ । इस समिति ने स्त्रियों के दास-व्यापार के संबंध में अत्यंत प्रामाणिक जानकारी एकत्रित की थी । इस निवेदन के आधार पर स्त्रियों का अंतर्राष्ट्रीय दास-व्यापार दो प्रकारों में बँटा हुआ दिखाई देता है: —

१. एशिया महाद्वीप और अन्य महाद्वीपों के बीच चलने वाला स्त्री-व्यापार ।

२. एशिया के ही विभिन्न देशों के बीच चलने वाला स्त्री-व्यापार ।

प्रथम प्रकार के व्यापार में पश्चिम के सभ्य, ईसाई जगत् में से पूर्व के देशों में वेश्यावृत्ति करने के लिए आने वाली गणिकाओं का समावेश होता है और दूसरे प्रकार में एशिया महाद्वीप के देशों के बीच चलनेवाला आन्तरिक व्यापार आ जाता है । फ्रान्स की गणिका भारत में आकर गणिकावृत्ति करे, यह प्रथम प्रकार का उदाहरण है, और जापान की स्त्री चीन में जाकर वेश्यावृत्ति करे, यह दूसरे प्रकार का । परंतु इस में एक बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक दिखाई देती है । पश्चिम की गणिकाएँ तो पूर्व के देशों में आती हैं; परंतु पूर्व की गणिकाओं को पश्चिम ले जाने की या उनका व्यापार करने की प्रथा प्रचलित हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । इंग्लैंड-अमरीका में चीनी मल्लाहों के लिए गणिकावृत्ति करने वाली चीनी वेश्याएँ कुछ वर्ष पहले तक पाई जाती थीं; परंतु उपरोक्त निवेदन में इसका उल्लेख नहीं है, इसलिए, ऐसा मालूम देता है कि अब इस प्रथा का अस्तित्व नहीं रहा ।

पचीस-तीस वर्ष पहले तक पश्चिम से पूर्व के देशों में आकर गणिकावृत्ति करने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक थी । अब इस व्यवसाय पर सभी देशों के शासकों की कड़ी निगरानी होने के कारण इनकी संख्या कम अवश्य हो गई है, परंतु उनका आना संपूर्ण रूप से बंद नहीं हुआ है । ग्रीस, फ्रान्स, रूस, इटली, ऑस्ट्रिया, लैटविया, लिथुआनिया, इंग्लैंड आदि सभी यूरोपीय देशों की स्त्रियाँ पूर्व के देशों में गणिकावृत्ति करती देखी गई हैं । ग्रीस, फ्रान्स और रूस से आने वाली स्त्रियों की संख्या सबसे अधिक होती है । एशिया के देशों में चलने वाले आन्तरिक व्यापार में चीनी स्त्रियों की संख्या सबसे अधिक होती है । इसके बाद जापानी स्त्रियों का क्रम लगता है । मलाया, स्याम, हिंदचीन, फिलीपाइन्स, भारत, जावा ब्रह्मा, इराक, ईरान और सीरिया आदि देशों की स्त्रियाँ भी कम अधिक संख्या में इस व्यवसाय में लगी हुई पाई जाती हैं ।

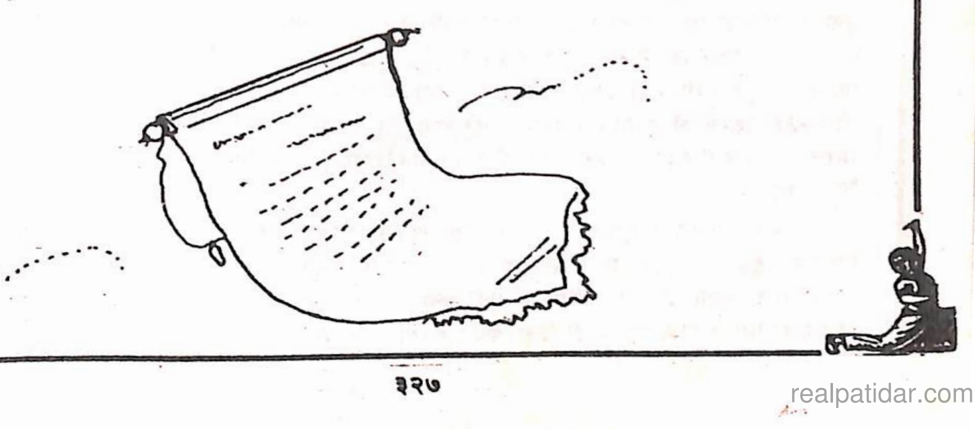
एशिया के प्रदेशों में चलने वाले इस स्त्री-व्यापार का एक खास लक्षण यह दिखाई दिया है कि विभिन्न देशों से आने वाली गणिकाएँ विदेश में भी अपने ही देशवासियों का संपर्क ढूंढती हैं । इसमें कुछ अपवाद हो सकते हैं; परंतु अधिकतर यही देखा गया है कि चीन की स्त्री यदि विदेश जाती है तो वह यथासंभव चीनी पुरुषों से ही संबंध रखना पसंद करती है और जापान की स्त्री जापानियों से । इसी प्रकार

भारत से जाने वाली स्त्रियाँ प्राय: विदेशों में बसे हुए तमिल श्रमिकों का ही मनोरंजन करती हैं और इराक की गणिकाएँ व्यापार के लिए आने वाले अरब मुसाफिरों का मन बहलाती हैं । यही प्रवृत्ति पश्चिम से आनेवाली गणिकाओं में पाई जाती हैं । गौरांग गणिकाएँ यूरोप-अमरीका के गौर निवासियों के सिवा अन्य वर्गों से व्यवहार करना प्राय: पसंद नहीं करतीं । पश्चिम के देशों में उनका बर्ताव इससे भिन्न हो सकता है । परंतु पूर्व में आकर उन्हें भी शायद वर्णभेद की हवा लग जाती है ।

वेश्या-व्यवसाय में भी वर्णभेद और प्रजाभेद का अस्तित्व है, यह स्थिति कुछ विचित्र दिखाई देती है । इसके पक्ष में शायद यही कहा जा सकता है कि अनीति का पेशा जब करना ही है, तो उसमें से और कुछ नहीं तो स्वदेशाभिमान का अधिक से अधिक संतोष क्यों न प्राप्त किया जाय ? विदेश में भी स्वदेशी गणिका मिल सकती हो, तो अन्य स्त्रियों के मुकाबले में उसे प्रोत्साहन देना भी शायद देशभक्ति का लक्षण माना जाता हो ! भाषा और संस्कृति की समानता भी इस स्थिति के लिए कुछ हद तक जिम्मेवार होनी चाहिये । इस भेदभाव का एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि यूरोप अमरीका से आने वाली गौरांग गणिकाएँ अधिक व्यय साध्य होती हैं और पूर्व के देशों के सामान्य-लोग उनकी ओर नज़र भी नहीं कर सकते । स्थानीय धनवान लोगों की रखैल बन कर रहने में अलबत्ता इन यूरोपीय स्त्रियों को कोई बुराई नज़र नहीं आती । पश्चिम की ये गणिकाएँ संपत्तिमान स्थानीय पुरुषों की रखैल बनने को सदा तैयार रहती हैं फिर चाहे वे काले हों या पीले; परंतु सामान्य पूर्व वासियों की ओर तो नजर उठाकर देखना भी पसंद नहीं करतीं । एशियाई पुरुष यदि पश्चिम की गौरांग गणिका को खुश करना चाहे, तो उसे पहले उसके चरणों में पर्याप्त धन की भेंट चढ़ानी पड़ती है ।

अंतर्राष्ट्रीय जाँच-समिति के निवेदन में से एक और तथ्य भी यहाँ उल्लेखनीय है । पश्चिम के देशों से आने वाली गणिकाएँ ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए और उनकी कामवृत्ति को भड़काने के लिए जैसे अमर्याद और अश्लील हावभाव करती हैं, वैसा प्रदर्शन पूर्व की गणिकाएँ अकसर नहीं करतीं । इस दृष्टि से, पूर्व की गणिकाओं ने गणिकावृत्ति में भी थोड़ी-बहुत मर्यादा बनाये रखी है । पश्चिम की गणिकाओं को शायद इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती । पश्चिम की स्वातंत्र्य-भावना अनीति को भी पूर्णत: बंधनमुक्त और मर्यादाहीन रखना चाहती है ।

इस व्यवसाय के अंतर्गत किस प्रकार के केन्द्रों की स्थापना होती है, केन्द्रों में से गणिका गृहों में गणिकाओं की पूर्ति किस तरह होती है, और देह विक्रय का यह पेशा देश विदेश को एक ही शृंखला में कैसे बाँध लेता है, इसका एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है । सिंगापुर के एक फ्रान्सीसी व्यापारी का मद्रास में वेश्या गृह चलाने वाली किसी स्त्री के नाम लिखा हुआ एक पत्र इस समिति के हाथ लग गया था जो शायद अब तक समिति के दफ्तर में सुरक्षित होगा । इस पत्र द्वारा इस योजना का पूरा स्वरूप समझा जा सकता है । पत्र इस प्रकार था: —



सिंगापुर, १० जनवरी, १९३०

श्रीमती

मुझे मालूम हुआ है कि आप मद्रास में एक मनोरंजनगृह चलाती हैं। मेरी एक मित्र युवती की उसमें व्यवस्था हो सके इस आशय से आपको पत्र लिख रहा हूँ। आशा है पत्र आपको मिल जायगा।

मेरी यह मित्र तेईस वर्ष की एक फ्रेन्च युवती है। उसकी आँखें काली, और बाल भूरे हैं। वह बेहद सुंदर है। परंतु मैं जानना चाहता हूँ कि मद्रास आने पर उसे सब खर्च काट कर रोज़ाना कितनी आमदनी हो सकती है। आप कृपया लिखें कि मद्रास में इस प्रकार की युवती को ग्राहकों से सामान्यत: कितनी कमाई हो सकती है; उसमें से आपका हिस्सा क्या होगा और उसका वहाँ रहने-खाने का खर्च कितना होगा। इन सब बातों का विस्तृत उत्तर देने की कृपा करें। सब तरह का खर्च काट कर रोज़ाना साठ या सत्तर रुपये की प्राप्ति हो सके, तो ही यह युवती मद्रास आने को तैयार होगी। यदि ऐसा होने की संभावना हो, तो आप तुरंत मुझे तार से सूचना दें। आपका तार-खर्च यह युवती मद्रास आते ही चुका देगी।

इस युवती की एक और सहेली भी है। यदि आप योग्य समझें, तो वह भी उसके साथ मद्रास आने को तैयार है।

आपका,

....

यह तहज़ीबभरा पत्र इस प्रकार के पत्र-व्यवहार का एक नमूना मात्र है। विदेशों में आने वाली गौरांग स्त्रियों में से आधी से भी अधिक अपने किसी पुरुष मित्र या संरक्षक के साथ ही पूर्व के नगरों में आती हैं। इन संरक्षकों का पूरा खर्च इन स्त्रियों की गणिकावृत्ति के सहारे ही चलता है। जो युवतियाँ अकेली आती हैं वे भी अपनी अनीति की कमाई का बहुत बड़ा भाग स्वदेश में रहने वाले अपने प्रेमियों, संरक्षकों या लेनदारों को भेजती रहती हैं। राज्यशासन की ओर से सख्ती होने पर सार्वजनिक गणिकालयों में रहने वाली गणिकाओं की संख्या कुछ कम हो जाती है; परंतु ज़रा सी भी ढीलढाल होते ही वे फिर से भर जाते हैं। स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों की संख्या भी इस सख्ती के अनुपात में कम अधिक होती रहती है। ये व्यापारी इन गणिकाओं को योग्य गणिका गृहों में व्यवस्था करके खुद बढ़िया होटलों में रहते हैं और सामान्य जनता से कुछ दूर रहकर लोगों से विशेष मिलते जुलते नहीं। प्रतिदिन सुबह ही गणिका गृहों में जाकर इन अभागी युवतियों से अपने हिस्से की, और कभी-कभी उन्हें डरा-धमका कर अपने वाज़िब हिस्से से अधिक रकम भी वसूल कर लाते हैं। स्त्री देह का व्यवसाय करने वाले ये सफेदपोश गुंडे कभी-कभी अन्य प्रतिष्ठित नौकरी या कांम धंधों में लगे रहने का दिखावा भी करते हैं। लीग ऑफ नेशन्स की समिति के सामने आने वाला एक उदाहरण उल्लेखनीय है, जो इस व्यवसाय का रूप समझने में हमारी सहायता कर सकता है। एक फ्रान्सीसी युवती ने समिति के समक्ष निम्नलिखित निवेदन किया था: —

'सन् १९२६ के नवंबर से मैं इस शहर में रह रही हूं। मेरे पति से मेरी मुलाकात इससे कोई दस वर्ष पहले हुई थी। साल भर के परिचय के बाद, फ्रान्स में हमारा विवाह हुआ। जब से मैं उसे जानती हूं, तब से यही देखती आ रही हूं कि मेरा पति कुछ भी काम नहीं करता। विवाह के बाद तो वह मेरे देह-विक्रय से मिलने वाले धन से ही जीवनयापन करता है —केवल जीवनयापन ही नहीं, बल्कि ऐश, आराम

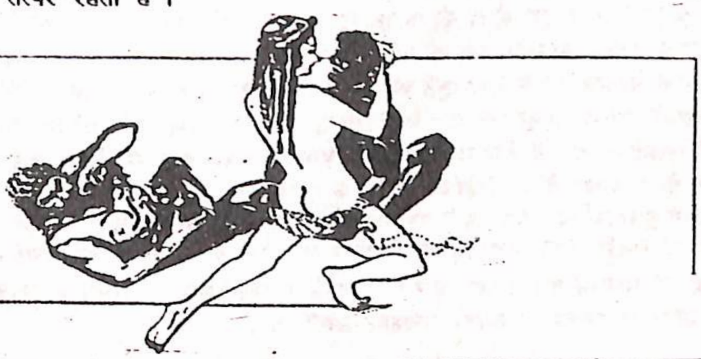
और रागरंग भरी ज़िंदगी गुज़ारता है । काम धंधा न होने वाले लोगों पर पुलिस की सख्त निगरानी रहती है । परंतु जब कभी पुलिस की पूछ ताछ होती है, मेरा पति किसी प्रतिष्ठित व्यवसाय में होने के झूठे-सच्चे प्रमाण देकर उनका समाधान कर देता है । सन् १९२६ के सितंबर में मेरे पति ने मुझे मार्सेल्स से हिंद चीन के नगर सायगाँव भेज दिया । वहाँ से मैं इस शहर में आई । जुलाई १९२७ तक के दस महीनों में ही मैंने पचास हजार फ्रैंक की रकम फ्रान्स भेज दी थी ।

''फ्रान्स से एक दिन मेरे पति ने मुझे तार से सूचना दी कि वह किसी अन्य स्त्री को साथ लेकर यहाँ आ रहा है । मैंने तुरंत जवाबी तार देकर उससे यहाँ न आने की प्रार्थना की । तार में मैंने यह कारण दिखाया कि मैं भारत जाना चाहती हूं । परंतु मेरी बात का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । सायगाँव पहुँच कर उसने फिर मुझे सूचना दी कि वह दो स्त्रियों को साथ लेकर आ रहा है । आप जानते ही हैं, कि पराई स्त्रियों के साथ रहने वाला पति किसी भी स्त्री को अच्छा नहीं लगता । फिर भी मैं उससे मिली । उन दो स्त्रियों में से एक को मेरे साथ रखने के लिए उसने ज़ोर दिया । मजबूरन मैं सहमत हो गई । कुछ समय बाद उसने मुझसे पूछा कि मेरे पास कुछ रुपये हैं क्या । मैं इसका उत्तर दूं इससे पहले ही उसने मेरा बटुआ खोला और उसमें सौ डॉलर के नोट थे वह ले लिये ।

''मैं और वह दूसरी स्त्री अपना पेशा किए जा रही थीं कि एक दिन मेरे पति ने कहा कि मुझे यह शहर छोड़कर उसके साथ जाना होगा । मैंने इस बात का विरोध किया और बहाना बनाया कि मेरे पास रुपये नहीं हैं । उसने तुरंत जेब से रिवाल्वर निकाल कर मुझे धमकाया । मैं डर गई और उसके साथ जाने को राज़ी हो गई । इसपर उसने तमंचा संदूक में रख दिया । इतने में वे दोनों स्त्रियाँ कमरे में आ गईं और मेरा पति बाहर चला गया । तुरंत मैंने रिवाल्वर निकालकर अपने कपड़ों में छिपा लिया । रिवाल्वर अब तक मेरे पास है । मेरी समझ में नहीं आता कि मैं उसका क्या करुं ? आप चाहें, तो अपने पास रख सकते हैं ।

''दूसरे शहर में जाने पर उसने मुझसे कहा कि मुझे उसके साथ ही रहना होगा । पुलिस की ओर से कुछ जाँच-पड़ताल होने की संभावना थी, अतः प्रतिष्ठित तौर पर अपनी पत्नी के साथ रहने का दिखावा करना उसके लिए आवश्यक था । हम पेरिस में रहते थे तब भी किसी स्त्री के संबंध में उसका पुलिस से झगड़ा हुआ था । पेरिस के पुलिस-दफ्तर में उसके जीवन की पूरी कहानी दर्ज है । मैंने आज तक उसे जितना धन भेजा है, उसकी रसीदें मेरे पास मौजूद हैं । आप चाहें तो उन्हें देख सकते हैं ।''

अंग्रेज़, अमरीकन, कॅनेडियन और ऑस्ट्रेलियन गणिकाएँ अपने रक्षकों से इस हद तक दबी हुई नहीं रहतीं । वे अधिक स्वतंत्रता से रहती हैं और गुंडे उन्हें डरा-धमका कर रुपया नहीं ऐंठ सकते । अलबत्ता, प्रेमियों को अपनी राज़ी-खुशी से रुपया देने को और उन्हें खुश रखने को वे भी अन्य गणिकाओं की तरह सदा तत्पर रहती हैं ।





२

रूसी नर्तकियाँ

खुलेआम गणिकावृत्ति करने वाली स्त्रियों के उपरांत, स्त्रियों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो गणिकावृत्ति का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार करनेवालों के जाल नें आसानी से फंस जाता है । यह वर्ग है नृत्य और संगीत की मंडलियों में काम करने वाली युवतियों का । एशिया के बड़े-बड़े बंदरगाहों और राजधानी के शहरों के भव्य होटलों में और नाट्यगृहों में वे पश्चिमी ढंग का नृत्य-संगीत प्रस्तुत करती हैं और इन प्रदेशों में बसने वाले पुरुषों के साथ, यूरोपीय पद्धति के अनुसार, पारिश्रमिक लेकर नृत्य भी करती हैं । स्त्री-पुरुषों का सह-नत्य पश्चिमी संस्कृति का एक अत्यावश्यक अंग है । विदेशों में बस हुए सभ्य समाज क पुरुषों को इन नृत्यों में साथ नाचने के लिए कुलीन परिवारों की युवतियाँ तो मिल नहीं सकतीं । इस लिए, मेहनताना लेकर नृत्य में पुरुष का साथ देने का व्यवसाय करनेवाली अनेक युवतियां विदेशों में आ बसती हैं । सैद्धान्तिक दृष्टि से नृत्य कोई अशिष्ट या अप्रतिष्ठित व्यवसाय नहीं है । अत: सदाचारी रहकर भी नृत्य-व्यवसाय से धन कमाया जा सकता है, ऐसी मान्यता से प्रेरित अनेक युवतियां विदेशों में इस व्यवसाय का आरंभ करती हैं । परंतु पुरानी और नयी, दोनों दुनियाओं में नृत्य-संगीत के कदम प्राय: यौन स्वेच्छाचार और गणिकावृत्ति की दिशा में ही बढ़ते दिखाई देते हैं । शीघ्र ही इस व्यवसाय को घेरे रहने वाले गुंडे उन्हें अपने या अन्य पुरुषों के आकर्षण-प्रवाह में बहाकर प्रलोभनों के ऐसे भँवर में डाल देते हैं कि देखते-देखते ये युवतियाँ गणिकाएँ बन जाती हैं ।

रूस की गणिकावृत्ति पर वहाँ की बॉल्शेविक क्रांति के प्रभाव का वर्णन भी इस समिति के निवेदन में है; परंतु वह कुछ हद तक अतिरंजित दिखाई देता है जो रूस की क्रांति और उसकी सफलता के प्रति यूरोपीय प्रजाओं की विरक्ति का द्योतक है । आज रूस एक बलवान देश और पश्चिमी यूरोप के शिष्ट देशों का मित्र राष्ट्र बन गया है । परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले यूरोप के यही देश उसे करीब-करीब अस्पृश्य मानते थे । रूसी क्रांति का विरोध करने वाले हजारों परिवारों को चीन, मंचूरिया आदि प्रदेशों में निष्कासित होना पड़ा था । भाग छूटने वाले इन परिवारों के पास विशेष संपत्ति होना संभव नहीं था, और जो कुछ थोड़ा-बहुत धन वे साथ ले जा सके थे, उसका विदेश की अस्थिर परिस्थिति में शीघ्र समाप्त हो जाना स्वाभाविक था । इस हालत में ये परिवार स्थानीय चीनी प्रजा के कर्ज़ के भार से दबने लगे । धीरे-धीरे, दरिद्रता असह्य हो उठने पर, परिवार के कर्ता पुरुष बालबच्चों को वहीं छोड़ कर काम धंधे की तलाश में दूर-दूर के देशों में जाने लगे । परंतु उनकी अनुपस्थिति में, चीनियों का कर्ज़ न चुका सकने पर, उनकी स्त्रियों को क्रमश: नौकरानी, रखैल या गणिका के रूप में लेनदारों की सेवा करनी पड़ी । स्त्री देह का व्यापार करने वाले तो ऐसे मौकों की तलाश में रहते हैं । छोटे-मोटे शहरों में या गाँवों में रहने वाली इन नौकरानियों, रखैलों या गणिकाओं को अधिक धन का प्रलोभन देकर ये व्यापारी उन्हें शहरों में ले जाने लगे जहाँ उनका गणिकावृत्ति के लिए खुलेआम उपयोग होने लगा । इनमें की कुछ होटलों में खाना परोसने वाली सेविकाओं, पुरुषों का नृत्य में साथ देने वाली सुंदरियों या केशभूषा और सौंदर्य-संवर्धन का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों के रूप में काम करने लगीं । कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सारे व्यवसाय प्रच्छन्न गणिकावृत्ति के ही प्रकार हैं । बॉल्शेविक क्रांति के समय रूस से भागकर विदेशों में गणिकावृत्ति करने वाली ये रूसी युवतियाँ कुछ वर्ष पहले तक कलकत्ता, सिंगापुर और फिलिपाइन्स तक की रूप-हाटों में बिखरी हुई थीं । समिति की जाँच-पड़ताल के समय तक वे कलकत्ते से बढ़ कर बम्बई और मद्रास में भी आ बसी हों, तो आश्चर्य नहीं । अधिकांश में ये रूसी गणिकाएँ यूरोप-अमरीका के पुरुषों की आमदरफ्त वाले बड़े शहरों में रहकर ही अपना व्यवसाय करती थीं ।

पिछले कई वर्षों से पश्चिमी ढंग की शिक्षा प्राप्त करनेवाले पुरुष —फिर चाहे वे पश्चिम के हों, या पूर्व के —यूरोपीय नृत्य के अत्यधिक शौकीन हो गये हैं । यूरोपीय नृत्य स्त्री के साहचर्य के बिना हो ही नहीं सकता । पश्चिम के मामूली से मामूली नृत्य में भी जोड़ी से नाचने वाले स्त्री-पुरुषों के विविध अंगों का स्पर्श होना अनिवार्य होता है । विदेशों में सब जगह नृत्य में साथ देने के लिए खानदानी स्त्रियाँ मिल नहीं सकतीं, यह हम देख चुके हैं । अत: इन सुदूर प्रदेशों में अनेक स्त्रियाँ पारिश्रमिक लेकर नृत्य में पुरुषों का साथ देने का व्यवसाय करती हैं । इस व्यवसाय में रूस से भाग छूटने वाली रूसी युवतियों की संख्या सब से अधिक पाई जाती है । एशियाई प्रदेशों में आने वाले सभी यूरोपीय पुरुष संपन्न नहीं होते । स्वदेश में यदि इनके विवाह हो चुके हों, तो भी, अपने परिवार या अपनी पत्नी को विदेश लाकर उसे यथेष्ट सुख सुविधा से रख सकने की शक्ति हर पुरुष में नहीं होती । अत: ये पुरुष प्राय: अकेले ही विदेशों में आते हैं । इन एकाकी पुरुषों में यूरोपीय गौरवर्ण और सभ्यता की छाप वाली ये निराश्रित रूसी युवतियाँ अत्यंत लोकप्रिय हो उठीं । अनेक पुरुषों ने इन से विवाह भी किये । परंतु विवाह का अर्थ है पारिवारिक जिम्मेदारी; जब कि घर-गृहस्थी के झंझट में फँसने की इच्छा हर पुरुष की नहीं होती । अधिकांश पुरुष तो विवाह किए बिना ही विवाहजन्य आनंद प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं । विदेशों में बिना उत्तरदायित्व के मिल सकने वाला क्षणिक सुख भी उनके लिए पर्याप्त होता है । यह परिस्थिति दोनों पक्षों के अनुकूल थी । रूसी युवतियों को जीवन यापन का साधन चाहिये था और पुरुषों को उनके साथ दो मीठी बातें करने वाली, नृत्य में उनका साथ देने वाली, और आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी झिझक के देह समर्पण करने वाली स्त्रियों की आवश्यकता थी । इस प्रकार इन स्त्रियों की आजीविका और विवाहित या अविवाहित यूरोपीय पुरुषों की आवश्यकता, एक दूसरे की पूरक बन गई और चीन के कई प्रदेशों में रूसी पण्यांगनाओं का प्राधान्य हो गया ।

बड़े शहरों में प्राप्त होने वाले आराम और आनंद-प्रमोद की खबरें अन्य निराश्रित रूसी स्त्रियों तक भी पहुँचने लगीं । स्त्री विक्रय का धंधा करने वाले स्त्री पुरुषों की ओर से इन उत्सुक स्त्रियों के कानों तक ये कहानियाँ पहुँचाने का योजनाबद्ध प्रचार किया जाता था । इस हालत में, सुख के प्रलोभन में एक क्षण के लिए भी फँस जाने वाली अनेक युवतियाँ साहस करके घर से बाहर निकल पड़ती थीं और शहरों में आकर नाट्यगृहों, उपाहार गृहों या गणिका गृहों के जरिये, नारीदेह का व्यापार करने वाले गुंडों के चंगुल में सदा के लिए फँस जाती थीं । अनजान स्थान हो, पास में पैसा न हो, यात्रा और राहखर्च के कारण किसी का कर्ज़ सिर पर हो गया हो, और कर्ज़ का लिखित दस्तावेज़ हो चुका हो, तो गुंडों की संगठित टोलियों का मुकाबला करने का कोई साधन घर छोड़ कर निकलनेवाली युवतियों के पास नहीं होता । इस हालत में, प्राप्त परिस्थिति को शिरोधार्य करके, चुपचाप गणिकावृत्ति को स्वीकार करने के सिवा; और यूरोप-अमरीका से आकर विदेशों में रहने वाले गौरवर्ण पुरुषों या धनवान चीनियों को देह समर्पण करके जीवनयापन करने के सिवा इनके लिए और कोई मार्ग नहीं था । कई वर्षों पहले आरंभ होने वाली यह स्थिति अब तक वैसी ही चल रही है ।



३
चीनी गणिकाएँ

परंतु इन सब वर्गों से कहीं अधिक संख्या में चीनी गणिकाएँ देश देशांतर में बिखरी हुई हैं। भारत के कुछ शहरों में भी चीनी गणिकाओं की बस्तियाँ हैं, यह जानी हुई बात है। चीनी गणिकाओं की संख्या सैंकड़ों में नहीं, बल्कि हजारों में गिनी जाती है। अभी कुछ दिन पहले स्याम में करीब एक हजार और मलाया में पाँच से छः हजार चीनी गणिकाओं की गणना हुई थी। जावा-सुमात्रा में उनकी निश्चित गणना नहीं हो पाई, परंतु वहाँ भी उनकी संख्या बहुत अधिक है। इसमें कोई संदेह नहीं। हाँग काँग में चार हजार और छोटे से मकाओ में एक हजार चीनी स्त्रियाँ गणिकाओं के रूप में दर्ज़ हुई थीं। नर्तकी का काम करने वाली स्त्रियाँ इन संख्याओं में शामिल नहीं हैं। उनमें से कुछ केवल नृत्य का ही व्यवसाय करके देह विक्रय से बच सकी होंगी, इससे इनकार नहीं; परन्तु उनका बहुत बड़ा भाग नृत्य के बहाने गणिकावृत्ति ही करता है, इसमें भी कोई शक नहीं। अधिकांश में ये स्त्रियाँ समाज के दरिद्र वर्गों में से आती हैं, अतः निष्ठापूर्वक केवल नृत्य-संगीत का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों को भी कुछ समय बीतने पर गणिकावृत्ति में कदम रखना ही पड़ता है।

इस परिस्थिति के लिए चीन का सामाजिक जीवन भी कुछ हद तक जिम्मेदार है। यह विचित्र सामाजिक जीवन विषम आर्थिक परिस्थितियों के साथ मिलकर दरिद्र वर्गों में से पतिताओं की सृष्टि करता रहता है और स्त्रियों का व्यापार करने वालों को पूर्ति का कभी न सूखने वाला स्रोत उपलब्ध कर देता है। आज चीन युद्धजन्य अत्यंत भयानक परिस्थितियों में से गुज़र रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध के आरंभ से तीन-चार वर्ष पहले जापान ने चीन से मंचूरिया का विशाल प्रदेश छीन लिया तब चीन की सहायता करने को सभ्य संसार का कोई भी देश आगे नहीं आया। चीन को छिन्न-भिन्न करके और उसे अपना आश्रित बनाकर उसपर स्वामित्व भोगने की इच्छा ब्रिटेन और अमरीका के मन में है, यह जग जाहिर बात है। अतः ये शक्तिशाली देश चीन का अस्तित्व मृतप्राय: दशा में रखते आ रहे हैं ताकि मौका लगने पर उसे आसानी से काबू में किया जा सके। जापान और रूस इस चाल को समझ गये हैं अतः चीन आज उनके



षड्यंत्रों की चक्की में भी पिस रहा है । चीन की राष्ट्रीय सरकार के पिछले कुछ वर्षों में मान्य किये हुए सामाजिक सुधार के कानून अब तक कारगर सिद्ध नहीं हुए हैं । इन नये कानूनों ने अब तक सामाजिक जीवन की जड़ों में प्रवेश नहीं किया है । अत: चीनी जनता दुविधा में पड़ी हुई है और भाग्य के भरोसे, पुरानी लीक पर चलती जा रही है ।

पुरानी चीनी समाज रचना की महत्वपूर्ण इकाई व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार है । पारिवारिक हित के सामने व्यक्ति का हित सदा से कम महत्वपूर्ण माना गया है । वृद्धों का आदर और पूर्वजों की पूजा इस समाज रचना के आधारभूत लक्षण हैं । पितृओं की स्मृति पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रखना सामाजिक मनुष्य का आद्य कर्तव्य माना जाता है । इस हालत में पुत्र को तो वंश की परंपरा चलाने वाली कड़ी माना जाता है, और उसके जन्म पर आनंद व्यक्त किया जाता है; परंतु लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को कहीं अधिक महत्व प्राप्त होता है । इस मनोवृत्ति के कारण, स्त्री को संतानोत्पत्ति के साधन से अधिक कुछ न माना जाय यह स्वाभाविक है । लड़कियों को दूसरों के परिवारों में जाकर उनकी संतानवृद्धि करनी पड़ती है, अत: उनका स्थान स्वाभाविक रूप से, लड़कों से कहीं नीचे माना जाता है ।

इस मनोवृत्ति के फल स्वरूप जनसंख्या में बेशुमार वृद्धि होती है । चीन की जनसंख्या आज भी संसार के और किसी देश की आबादी से अधिक है । इस विषय में केवल भारत ही चीन के पदचिन्हों पर चल कर उससे स्पर्धा करता दिखाई देता है । जनसंख्या की इस विपुलता का अर्थ है पोषण चाहने वाले मनुष्यों की विपुलता । ज़मीन, जागीर, व्यापार, नौकरी आदि आजीविका के साधन प्राय: स्थायी रहते हैं और तेज़ रफ्तार से बढ़ने वाले परिवार का सदा-सर्वदा भरण-पोषण करने में असमर्थ रहते हैं । देश में यदि राजनीतिक अव्यवस्था हो, तो उपरोक्त साधन और भी अपर्याप्त प्रमाणित होते हैं, और दारिद्रय और अधिक भयानक हो उठता है । भारत की तरह चीन भी एक अत्यंत निर्धन देश है । परिवार के सब लोगों के लिए पर्याप्त भोजन यदि न मिल सकता हो, तो परिवार के निकम्मे माने जाने वाले सदस्य ही सबसे पहले इस अभाव के शिकार होंगे । चीनी परिवार में सबसे निकम्मी और अनावश्यक सदस्याएँ होती हैं —परिवार की बालिकाएँ । अत: भोजन और वस्त्र, परवरिश और देखभाल, सभी दृष्टियों से, निर्धन परिवारों में इन की ही उपेक्षा होती है । भुखमरी के कारण यदि परिवार में से किसी व्यक्ति को हटा देने की नौबत आ जाय, तो कुटुंब के मुखिया का ध्यान सबसे पहले इन लड़कियों की ओर ही जाता है । जनसंख्या की विपुलता और दारिद्रय की व्यापकता मिलकर चीन में एक ऐसी विचित्र समाज-रचना को जन्म देती हैं जिसमें किसी न किसी बहाने परिवार की कन्याओं को अन्य 'कुटुंबों में धकेल देने के अनेक रिवाज मान्यता प्राप्त कर लेते हैं । कन्याओं को अन्य परिवार में दे देने के निम्नलिखित प्रकार चीनी समाज में प्रचलित हैं: —

१. संतानहीन पति-पत्नी अन्य परिवारों की कन्यांओं को गोद लेकर उनका अपनी कन्या के रूप में पालन करते हैं । लड़कियाँ गोद लेना भी प्राय: दरिद्रता का ही लक्षण माना जाता है । गोद ली हुई लड़की को पाल पोस कर बड़ी करके और सुयोग्य वर के साथ उसका विवाह करके वृद्धावस्था में अपनी देखभाल की व्यवस्था करना ही इस रिवाज का प्रधान हेतु माना जा सकता है ।

२. 'मुइत्साई' की प्रथा — चीन के अत्यंत निर्धन परिवारों में यह प्रथा पाई जाती है । धनवान परिवार निर्धन परिवारों की लड़कियों को अपने यहाँ रख लेते हैं और इसके बदले में लड़की के पिता को कुछ आर्थिक सहायता पहुँचाते रहते हैं । इन कन्याओं के भोजन-वस्त्र और अन्य सब सुविधाओं की जिम्मेवारी उनका पालन करने वाले धनिक परिवारों की हो जाती है । कन्या विवाहयोग्य होने पर

उसका विवाह भी यही परिवार कर देते हैं । इसके बदले में लड़की को इन परिवारों में घरेलू काम करना पड़ता है; परंतु उसका स्थान साधारण नौकरानियों से कहीं ऊँचा रहता है । प्राय: वह परिवार के लोगों के साथ बैठ कर ही भोजन करती है । उसे आश्रित माना जाता है, लेकिन उसका निरादर नहीं होता । साधारणत: उसका स्थान नौकरों और परिवार के लोगों के बीच में होता है । समय-समय पर उसके माता-पिता आकर उससे मिल सकते हैं । इन लड़कियों को 'मुइतसाई' कहा जाता है । चीन के दक्षिणी विभागों में यह प्रथा अब तक प्रचलित है । यह रिवाज अच्छा है या बुरा, इस विषय में मतभेद है । कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रथा के कारण निर्धन परिवारों की कन्याएँ धनिक परिवारों में परवरिश पाकर सुखी होती हैं और अपने घर के दारिद्र जन्य अभावों से बच जाती हैं । उनके विवाह भी अपेक्षाकृत ऊँचे परिवारों में हो सकते हैं । दूसरे पक्ष का कहना है कि इन लड़कियों के साथ प्राय: दुर्व्यवहार किया जाता है और वे उतनी सुखी नहीं होतीं जितना माना जाता है । कभी-कभी ये लड़कियाँ इन धनिक परिवारों के पुरुषों की वासना का शिकार भी हो जाती हैं और कभी-कभी इन्हें गणिकावृत्ति में भी प्रेरित किया जाता है । परंतु गणिकावृत्ति करनेवाली 'मुइतसाई' लड़कियों की नगण्य संख्या को देखते हुए, इस विचारधारा की अपेक्षा पहला मत ही अधिक योग्य दिखाई देता है ।

३. नाटक मंडलियों में नटी का काम करने के लिए लड़कियां दे देने की प्रथा —कुछ वर्ष पहले तक भारत की तरह चीन में भी स्त्रियाँ नाटकों में काम नहीं करती थीं । स्त्रियों की भूमिका कम उम्र के लड़के ही करते थे । परंतु बाद में गाँवों में घूमने वाली नाटक मंडलियों में स्त्रियाँ दिखाई देने लगीं, व अब तो नाटक में स्त्रियों का काम करना आम बात हो गई है । निश्चित की हुई रकम के बदले में इन नाटक मंडलियों को कुछ वर्षों के करार से लड़कियाँ सौंप दी जाती हैं । ये मंडलियाँ लड़कियों के भोजन-वस्त्र, निवास आदि की व्यवस्था करती हैं और उन्हें नृत्य-संगीत की तालीम भी देती हैं । बदले में लड़कियों को नाटकों में काम करना पड़ता है । करार का समय पूरा होने पर ये लड़कियाँ नाटक मंडली की सेवा से मुक्त हो सकती हैं । परंतु तब तक इस काम की उन्हें आदत पड़ जाती है, और अधिकांश लड़कियाँ बाद में भी इन मंडलियों में काम करती रहती हैं । इस हालत में उन्हें वेतन भी मिलता है । इन युवतियों के अनाचार के मार्ग पर मुड़ जाने की संभावना बहुत अधिक रहती है, यद्यपि उनके माता-पिता इस विषय में सतर्क रहते हैं और वे अनीति की ओर प्रवृत्त न हों, इसका ध्यान रखते हैं । अकसर इस व्यवसाय की कमाई से ही ये लड़कियाँ भविष्य में अपने वृद्ध माता-पिता का गुज़ारा करती हैं । परंतु माता-पिता की सतर्कता के बावजूद, अन्य देशों में होता आया है, उसी प्रकार चीन में भी इस व्यवसाय में नैतिक अनाचार का भय सदा बना रहता है और अनेक बार इन लड़कियों को प्रकट या प्रच्छन्न गणिकावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है ।

४. लड़कियों का खुले आम विक्रय — यह सीधा-साधा व्यवहार है जिसमें बालिकाएँ स्पष्ट रूप से बेच दी जाती हैं ।

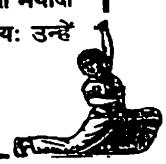
अंतिम प्रकार को छोड़कर और सब प्रकारों में कन्या के साथ माता-पिता के कम अधिक संपर्क की व्यवस्था रहती है । परंतु दूर-दूर के गाँवों में रहनेवाले माता-पिता यदि शहरों में अपनी लड़कियों को दत्तक या 'मुइतसाई' के रूप में देते हैं, तो उनसे मिलने का मौका उन्हें बार-बार नहीं मिलता और नये वातावरण में लड़की की क्या दशा होती है, यह जानने का भी उनके पास कोई साधन नहीं होता । गरीबी से मजबूर होकर और लड़की के सुख की एकमात्र कामना से प्रेरित होकर कभी कभी माता-पिता लड़की से मिलने-जुलने की शर्त को रद करके भी उसे अच्छे परिवारों में सौंप देते हैं ।

स्पष्ट विक्रय का अंतिम प्रकार अधिक विचार चाहता है । दरिद्र परिवारों की बालिकाओं को खरीदने के लिए धनिक और दयालु दिखाई देने वाली स्त्रियाँ गाँव-गाँव में घूमती रहती हैं । वे लड़की के माता-पिता को अनेक प्रकार से समझाती हैं; लड़की को अपनी ही कन्या समझकर उसका पालन करने

का वचन देती है ; इस वचन पर विश्वास हो ऐसा वर्ताव भी कुछ समय तक करती है और बड़ी हो जाने पर लड़की को सुयोग्य वर के साथ ब्याह देने की आशा भी दिलाती है । गाँव के अशिक्षित और सीधे-साधे लोग इस भुलावे में आ जाते हैं और अपनी मीठी-मीठी बातों से लोकप्रिय हो उठने वाली अजनबी स्त्री के हाथों अपनी कन्याएँ सौंप देते हैं । दरिद्र माता-पिता को इसके बदले में थोड़ा-बहुत धन भी मिल जाता है और लड़की सुख से रहेगी ऐसी आशा भी बँध जाती है । इस प्रकार के प्रसंगों में प्राय: यही होता है कि लड़कियों को खरीद कर ले जाने वाली स्त्री उनको कुछ समय तक अपने पास रखकर बाद में उन्हें अन्य व्यक्तियों के हाथ बेच देती है, जहाँ इनका उपयोग प्राय: गणिकावृत्ति के लिए ही होता है । स्त्रियों का व्यापार करने वालों के जाल में फँसकर ये युवतियाँ गणिकाओं के एक नये वर्ग का निर्माण करती हैं । लड़की यदि चतुर हो, तो उसे नृत्य-संगीत आदि कलाएँ सिखाई जाती हैं । कुशल नर्तकी बन सकने वाली युवती अपनी खरीदार स्त्री और उसके सहायकों के लिए धन प्राप्ति का उत्तम साधन सिद्ध होती है । लड़की यदि बहुत चतुर न हो, तो उससे घरेलू काम करवाया जाता है और अंत में अच्छी रकम के बदले में उसका चाहे जिस के साथ विवाह कर दिया जाता है या उसे किसी की रखैल बना दिया जाता है । यदि इसमें की कोई बात न हो सके, तो लड़की को किसी गणिकागृह में बेच दिया जाता है या कहीं घरेलू काम करने वाली नौकरानी के रूप में भेज दिया जाता है ।

लड़कियों को खरीदने वाली ये स्त्रियाँ और उनके सहायक अकसर खुद ही गणिका गृहों के मालिक या व्यवस्थापक होते हैं । कभी-कभी ये स्त्रियाँ व्यवसाय से निवृत्त हो चुकने वाली गणिकाएँ होती हैं । आश्चर्य की बात यह है कि चीन में भी इन कुट्टनियों को 'अम्मा' कहा जाता है । शायद उत्तरी भारत का यह उर्दू शब्द ब्रह्मा, मलाया और सिंगापुर की यात्रा करता हुआ चीन पहुँच गया हो । मनुष्य की तरह भाषा और शब्द भी यात्रा के शौकीन होते हैं । 'अम्मा' खरीदी हुई लड़कियों को सचमुच ही अपनी पुत्रियों की तरह रखती हैं । कभी-कभी इन नकली माँ-बेटियों के बीच अनबन के प्रसंग अवश्य होते होंगे, और कभी इन लड़कियों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया जाता हो, यह भी सम्भव है । परंतु अकसर तो इनके बीच सगी माँ-बेटियों जैसा वात्सल्यभाव ही पाया जाता है । अनाचार की काली बदली की भी रुपहली कोर नहीं होती, यह मानने का कोई कारण नहीं । कभी-कभी इन 'अम्माओं'' का और कोई सगा-संबंधी नहीं होता । युवावस्था में जमा की हुई पूंजी से 'अम्मा' इस प्रकार की कोई लड़की खरीद लेती है और दोनों गणिका गृह के वातावरण में रहकर अपना व्यवसाय किए जाती हैं । दोनों के बीच अकसर ऐसा प्रेमभाव पाया जाता है कि 'अम्मा' की वृद्धावस्था में उसके गुज़ारे की जिम्मेदारी लड़की बड़े आनंद से अपने ऊपर ले लेती है । कभी-कभी कोई शौकीन, पर हृदय का सच्चा पुरुष, इन गणिका गृहों में रहने वाली किसी लड़की को पत्नी के रूप में स्वीकार करने को भी राज़ी हो जाता है । चीन में इस प्रकार के विवाह उतने अप्रचलित नहीं हैं । पतिताओं का उद्धार करनेवाले आश्रय-स्थानों में शरण लेने वाली अधिकांश गणिकाएँ तो शीघ्र ही विवाह करके घर-गृहस्थी वाली गृहिणियाँ बन जाती हैं ।

पश्चिम की गणिकाओं की तुलना में पूर्व की, और विशेष रूप से चीन की गणिकाओं में विवाह का प्रमाण बहुत अधिक पाया जाता है । यह किसी पक्षपाती का विचार नहीं बल्कि इस विषय के पश्चिमी विद्वानों की राय है । पूर्व की प्रजाएँ भाग्य और भगवान पर अधिक भरोसा रखने वाली होती हैं । गणिका का पेशा स्वीकार करके और स्त्री जाति पर होने वाले अन्याय का कदम-कदम पर अनुभव करते हुए भी पूर्व की गणिकाओं में, प्राप्त परिस्थिति को भाग्य का खेल मानकर, शिकायत किए बिना उसे शिरोधार्य करने की जो वृत्ति होती है वह उनके अध:पात को नितांत निर्लज्ज और निष्ठुर नहीं बनने देती । बचीखुची मर्यादा की क्षीण रेखाएँ और ईश्वरलंबन की वृत्ति उनके स्त्रीत्व को पूर्णत: नष्ट नहीं होने देती और प्राय: उन्हें विवाह के योग्य रहने देती हैं ।



उपरोक्त चार प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं में से प्रथम दो गणिकावृत्ति को प्रोत्साहन देती हैं और अंतिम दो उसका सीधा पोषण करती हैं । बेची जाने वाली या स्वेच्छा से तैयार होने वाली ये युवतियाँ ही चीन की गणिकावृत्ति का प्रमुख पूर्तिस्रोत सिद्ध होती हैं ।

खरीदी हुई युवतियों की सब प्रकार की निजी आवश्यकताएँ गणिका गृहों द्वारा पूरी की जाती हैं, परंतु उनकी संपूर्ण आमदनी गणिका गृहों के संचालक ले लेते हैं । माता-पिता ने यदि कुछ रकम उधार लेकर कुछ समय के लिए अपनी कन्या को किसी नाटक मंडली या गणिका गृह में रेहन रखीं हो, तो जब तक उधार ली हुई पूरी रकम लड़की के वेतन के रूप में चुक न जाय, तब तक वह नाटक में काम करने को या गणिकावृत्ति करने को बाध्य रहती है । इस दौरान में उसकी आय का आधा हिस्सा नाटक मंडली या गणिका गृह के संचालकों को मिलता है, और आधा उसके नाम से जमा होता रहता है । परंतु युवती के हिस्से की इस आधी रकम का अधिकांश उसके वस्त्रालंकारों में खर्च हो जाता है और बाकी बची हुई बहुत थोड़ी रकम कर्ज़ के खाते में चुकती है । गणिका गृहों की तो योजना ही कुछ इस प्रकार की होती है कि ऐसी युवतियों का कर्ज़ यथासंभव देर से चुके । स्वेच्छा से गणिकावृत्ति स्वीकार करनेवाली स्त्रियों को भी उनकी आय का आधेसे अधिक हिस्सा नहीं मिलता । चीन का वर्तमान कानून इस प्रकार के मानव-विक्रय या गिरवी के व्यवहार को मान्य नहीं करता; परंतु प्रजाजीवन में अत्यंत गहरे उतर चुकने वाले ये रिवाज अब तक नष्ट नहीं हुए हैं । चीनी प्रजा की जन्मजात व्यवहारिकता किसी भी प्रकार के लेन-देन को ब्याज सहित पूरा-पूरा चुका देने में ही प्रतिष्ठा मानती है । यदि यह लेनदेन लड़कियों को बेचने या गिरवी रखने से संबंध रखता हो, तो भी उसके व्यवहारिक स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता ।

ज़िद्दी या गुमानी युवतियों को सीधी करने के लिए प्रत्येक गणिका गृह में गुंडों की नियुक्ति की जाती है । यह प्रथा सभी देशों में सामान्य रूप से पाई जाती है । इन गुंडों के उपरांत, स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने वाले अन्य गुंडों की टोलियाँ भी होती हैं । गणिका गृहों के मालिकों या रक्षकों को डराते धमकाते रहना और हर महीने उनसे कुछ न कुछ वसूल कर लेना इनके जीवन का साधारण क्रम होता है । ये समाजकंटक कुछ ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं मानो उनकी टोलियाँ गणिकाओं के रक्षणार्थ रची गई हों, गणिकाएँ उनके मंडलों की सदस्याएँ हों, और उनके हितों की रक्षा करने का एवं उनकी कठिनाइयों को दूर करने का उत्तरदायित्व केवल इन मंडलों पर ही हो । इस आडंबर के पीछे सत्य का अंश हो या न हो, इस बहाने वे गणिकाओं से और गणिका गृहों के संचालकों से अच्छी खासी रकम ऐंठते रहते हैं, इसमें कोई शक नहीं । गणिका गृहों में स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार के अनाचार, नियमितताएँ और अन्याय रातदिन होते रहते हैं । गणिकावृत्ति के साथ अपराध और अपराधियों का संबंध भी कदम-कदम पर आता है । ये गुंडों के दल इन सब अनियमितताओं की बारीकी से जानकारी रखते हैं; और हर छोटी-मोटी बात पर पुलिस को सूचना देने की धमकी देकर गणिका गृहों के संचालकों से धन वसूल करते रहते हैं । इस प्रकार, गणिकाओं की रक्षा के बहाने यह बदमाशी चलती रहती है और गणिकावृत्ति की शृंखला में गणिका और गणिका गृह के संचालक रूपी दो कड़ियों के साथ इस व्यवसाय से जुड़े हुए गुंडे और उन्हें धमकाने वाले बाहरी गुंडों की टोलियाँ रूपी दो कड़ियाँ और जुड़ जाती हैं । इन गुंडों के दलों को, समय-समय पर, उनके कहे अनुसार रिश्वत न दी जाय, तो वे गणिका गृहों में आकर दंगा-फसाद खड़ा करते हैं या पुलिस को सूचना देकर सब को अनेक प्रकार की कानूनी और गैर कानूनी उलझनों में फँसा देते हैं ।

४

चीन में स्त्री-व्यापार की व्यवस्था

चीनी पुरुषों के समुदाय विदेशों में जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ ये गणिकाएँ भी उनके पीछे-पीछे पहुँच जाता हैं । मेहनत-मज़दूरी और व्यापार-उद्योग में चीनी प्रजा अत्यंत कुशल प्रमाणित हुई है । यूरोपीय सत्ताओं के अंतर्गत मलाया, जावा, हिंदचीन ; सिंगापुर आदि प्रदेशों में जहाँ कहीं व्यापार-उद्योग का विकास हुआ, वहाँ चीनी मज़दूर और छोटे-मोटे व्यापारी अवश्य पहुँचे । इन प्रदेशों में, जहाँ इन चीनियों की संख्या लाखों में गिनी जाती हो, चीनी गणिकाओं का आ बसना स्वाभाविक ही कहा जायगा । यद्यपि खुले वेश्यालय अब सभ्य देशों में कानूनन बंद होते जा रहे हैं; फिर भी, मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता और उसकी बुद्धि कानून से बचने के अनेक मार्ग ढूंढ ही लेती है । समाज के नेता के जाने वाले अनेक सुशिक्षित वकील अपनी बुद्धि को चांदी के टुकड़ों पर तौलकर, कानून को तोड़ते हुए भी उससे बचे रहने के सुविधाजनक मार्ग गणिका गृहों के मालिकों को बताते रहते हैं । इन वकीलों की और उनकी बुद्धि की प्रशंसा हम चाहे जितनी करें, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि न्याय की गरदन मरोड़ कर अन्याय का समर्थन करने में इन वकीलों का योगदान कम नहीं रहा है । प्रकट में कबूल न करने पर भी दुनिया के सारे वकील और सारे न्यायाधीश इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं । इस आक्षेप के विरुद्ध कभी-कभी उनका नैतिक आडंबर क्रोध के रूप में भभक उठे, और उसकी सफाई देने को वे प्रस्तुत हों, यह संभव है; परंतु वकीलों ने गणिकावृत्ति का प्रसार करने में अपने व्यवसाय का दुरुपयोग नहीं किया, यह वे प्रमाणित नहीं कर सकते । कहावतें शताब्दियों के अनुभव और ज्ञान के निचोड़ में से जन्म लेती हैं और सामाजिक सत्य की अकसर बड़ी चुभती हुई अभिव्यक्ति करती हैं । हमारी एक कहावत भी वैद्य, वकील और वेश्या को एक ही वर्ग में शामिल करके उनके पेशों के अर्थप्राधान्य पर कटाक्ष करती है । ध्यान रहे कि इन तीनों पेशों की तुलना साधर्म्य पर आधारित है ।

खुले वेश्यालयों के बंद हो जाने पर बड़े-बड़े बँगलों का उपयोग इस कार्य के लिए होने लगा और गली-गली में घूम कर ग्राहक ढूंढने की पाश्चात्य गणिका प्रथा का पूर्व के देशों में भी प्रवेश हुआ । अमुक मकान वेश्यालय की व्याख्या के अंतर्गत नहीं आता और अमुक प्रकार के हावभाव या संकेत गणिकावृत्ति के ही लक्षण नहीं हैं इत्यादि सूक्ष्म तर्कों की सहायता से गणिकाओं और उनके संरक्षकों को कानून के चंगुल से बचाने को तत्पर वकीलों की किसी भी देश या किसी भी समाज में कभी कमी नहीं रही ।

बहुत बड़ी संख्या में चीनी प्रजा मलाया, सिंगापुर, हिंदचीन, जावा-सुमात्रा और फामोर्सा-फिलिपाइन्स में स्थायी हो चुकी हैं । अत: अनेक प्रकार के प्रतिबंधों के बावजूद इन प्रदेशों में चीनी गणिकाओं की आमदरफ्त बड़ी संख्या में होती रहती है । युवावस्था में गणिकावृत्ति का अनुभव कर चुकनेवाली, और अब दो एक लड़कियाँ खरीद कर गुज़ारा करने वाली वयस्क स्त्री, अपनी कन्याओं को बेचने वाले दरिद्र माता-पिता, उन्हें खरीद कर गणिका गृहों में पहुँचाने वाले दलाल, गणिका गृहों के संचालक, गणिकाओं को काबू में रखने वाले गुंडे, देश-विदेश में गणिका-व्यवसाय का जाल फैलाने वाले व्यापारी, उन्हें रुपया उधार देने वाले साहूकार, और इन सब की रक्षा करने के बहाने इन्हें लूटने वाले बदमाशों के दल, ये सब के सब चीनी स्त्रियों के व्यापक दास-व्यापार की महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं ।

पतिताओं का उद्धार करने के, उनसे उनका पेशा छुड़वाने के, और उन्हें मानव-स्वातंत्र्य का मूल्य समझाने के प्रयत्नों का परिणाम प्राय: शून्य में ही आता है, यह हम देख चुके हैं । चीनी प्रजा के अधिकारों की रक्षा करने वाले विभाग के एक अफसर का बयान यहाँ उल्लेखनीय है: —



अब तक वेश्यालयों पर कानूनन प्रतिबंध नहीं लगाया गया था तब तक गणिकोद्दार की हमारी सारी योजनाएँ निष्फल हो जाती थीं । गणिकाएँ सही परिस्थिति की जानकारी हमें कभी नहीं देती थीं; क्योंकि हम कभी उनके हृदय में विश्वास प्रेरित नहीं कर सके । सभी गणिकाएँ यही कहती थीं कि उन्होंने राजीखुशी से इस पेशे को स्वीकार किया है । हर साल हम शहर भर की चीनी गणिकाओं को एकत्रित करके उनके सामने लंबे चौड़े व्याख्यान झाड़ते थे, निष्ठापूर्वक उन्हें समझाते थे, और उनके मन पर यह ठसाने की कोशिश करते थे कि गणिका गृहों में वापस जाने को वे बाध्य नहीं हैं; और यदि उनके माता-पिता ने उन्हें बेचकर या गिरवी रख कर कर्ज़ लिया हो, तो उसे चुकाने की कोई कानूनी जिम्मेदारी उनके ऊपर नहीं हैं । हम उन्हें बार-बार यह समझाते थे कि वे चाहें तो उसी क्षण स्वतंत्र हो सकती हैं । परंतु इतनी लगन से समझाने-बुझाने का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । वे हमारी बातें शांति से सुनती थीं; बहुत हुआ तो मुस्करा देती थीं; और फिर मानो हमारा मजाक उड़ाती हुई, तुरंत गणिका गृहों में वापस चली जाती थीं ।''

इस पेशे की व्यवस्था समिति के हाथ पड़ जाने वाले निम्नलिखित पत्र से स्पष्ट हो जाती है जिसमें पूरे पेशे की योजना का वर्णन किया गया है: —

''प्रिय अम्मा,

मुझे मेरे भाई ने पत्र द्वारा सूचना दी है कि छः सौ मुद्राओं में अच्छी लड़की मिल सकती है । यदि ऐसा हो सके, तो उसका फोटो मुझे भिजवा देना । परंतु मैं जबतक तार या पत्र से सूचना न दूं, तब तक सौदा पक्का मत करना । लड़की हाथ से निकल न जाय इसका भी ध्यान रखना । तुम जानती ही हो कि जितनी लड़कियों को मैं सिंगापुर लाया, उन सबने एक-एक करके विवाह कर लिये, और मेरे पास से चली गईं । यहाँ के एक रईस ने मुझसे चौदह-पंद्रह वर्ष उम्र की पाँच-छः लड़कियाँ खरीदने को कहा है । यह काम भी तुम्हें ही करना है । इस तरह की लड़कियाँ जब भी तुम्हारे हाथ लगें, तुरंत उन्हें लेकर सिंगापुर आ जाना । राह खर्च न हो, तो कर्ज़ लेकर आना, या मुझे तार से सूचना देना, मैं तुरंत खर्च भेज दूंगा । किसी भी हालत में बदसूरत लड़कियाँ मत खरीदना । तुम्हारी भेजी हुई 'शुनाऊ' और 'साम्मुई' से ज़्यादा सुंदर लड़कियाँ खरीदने की कोशिश करना; उनसे कम सुंदर किसी भी हालत में नहीं । लड़कियों को यहाँ भेजने के लिए, जिसमें अपना 'ली' काम करता है वह जहाज़ ठीक रहेगा । भेजने से पहले मुझे तार देना ताकि यहाँ के बंदरगाह पर उन्हें उतारने की व्यवस्था मैं कर सकूं । फिलहाल जो मुइतसाई लड़की तुमने खरीदी है, उसके लिए जूते और कपड़ों से भरा सन्दूक भेज रहा हूं ।''

धंधा करने वाले अनेक रास्ते ढूंढ लेते हैं । परिस्थिति के अनुसार उनमें रद्दोबदल भी करते हैं । भाषा के अनेक संकेत भी उनमें प्रचलित होते हैं . ऊपर उद्धत किए हुए पत्र के जैसी स्पष्ट भाषा का प्रयोग भी वे कभी-कभी करते हैं; परंतु जहाँ पकड़े जाने का भय हो, वहाँ वे सांकेतिक भाषा लिखते हैं । विदेश भेजी जाने वाली लड़कियों के लिए प्रायः 'सामान', 'माल', 'जिन्स', आदि संकेतों का प्रयोग होता है । अन्य देशों में भी यही स्थिति है । सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत से अनाचारों का मार्ग खोल देती है और युद्ध तो इनके लिए राजमार्ग खोल देता है । कई बार मंत्रतंत्र या जादू टोने से लड़कियों को वश में करके उन्हें बेचने के उदाहरण भी मिलते हैं । जादू टोना एक वहम हो सकता है और मंत्र-तंत्र भी शायद कल्पना के सिवा और कुछ नहीं । परंतु पूर्व के देशों में व्यक्ति और समाज के ऊपर इनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि गणिकावृत्ति में इनका उपयोग किया जाता हो, तो आश्चर्य नहीं ।

५
अन्य एशियाई देशों की व्यापार-व्यवस्था

चीन की तरह जापान की गणिकाएँ भी कुछ वर्ष पहले तक बड़ी संख्या में विदेशों में फैली हुई थीं। सन् १९२० के बाद संसार के सभी सभ्य देशों ने स्त्रियों के व्यापार के विरुद्ध सख्ती से कार्रवाई आरंभ की थी। परिणाम स्वरूप यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पहले से बहुत कम हो गया। फिर भी, सन् १९२० से पहले ही विदेशों में जाकर बस जाने वाली गणिकाओं के जरिये, और बाद में भी अनेक युक्तियों से लाई जाने वाली युवतियों के कारण यह व्यवसाय अब तक चल ही रहा है। जापानी गणिकाओं की टोलियाँ बंबई और कराची तक के बंदरगाहों में अपना व्यवसाय करती थीं। सन् १९२० में अकेले सिंगापुर में ग्यारह सौ के करीब जापानी गणिकाएँ थीं। जापानी गणिकाएँ भी अन्य पौर्वात्य देशों की गणिकाओं के समान अपने ही देश के पुरुषों से व्यवहार करना पसंद करती हैं। जापानी सरकार के प्रयत्नों के कारण अब संसार के अन्य देशों में जापानी गणिकाओं की संख्या अत्यंत कम हो गई है।

परंतु खुद जापानी में सरकारी परवाना लेकर गणिकावृत्ति करने की छूट है। ''गेइशा'' के नाम से संबोधित नर्तकियों का, जापानी समाज का स्थायी अंग माना जानेवाला गणिका वर्ग संसार भर में प्रसिद्ध है। विदेशों में जाने वाले जापानी भी जहाँ-जहाँ जाकर बसते हैं वहाँ अपने चारों ओर जापानी का सा वातावरण जमा लेते हैं। नर्तकी के रूप में आनेवाली या उपाहार गृहों में खाना परोसने का काम करने वाली युवतियाँ प्राय: गणिकावृत्ति भी करती हैं, यह जानी हुई बात है। अधिकतर तो दारिद्र्य ही इस बुराई का मूल कारण होता है। थोड़े से धन की लालच से निर्धन माता-पिता अपनी कन्याओं को बचपन से ही नृत्य संगीत आदि कलाएँ सीखने के लिए गेइशागृहों में भेज देते हैं। इसी प्रथा में से गेइशाओं का स्थायी वर्ग जन्म लेता है। जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या से चिंतित अधिकारी पुरुषों के विदेशगमन को लोक संख्या घटाने का रामबाण उपाय मानते हैं; अत: अधिक से अधिक पुरुषों को विदेश भेजने की योजनाएँ बनाई जाती हैं। परंतु विदेश जाने वाले इन पुरुषों को भी थोड़ी बहुत संख्या में स्वदेशीय स्त्रियों की आवश्यकता पड़ती ही है; फिर चाहे वे गणिकाएँ ही क्यों न हों।

जापान में अनेक बार माता-पिता की गरीबी का बोझ हल्का करने के विशुद्ध हेतु से युवतियाँ गणिकावृत्ति करती हैं। इस मार्ग से वे परिवार पर चढ़ा हुआ कर्ज़ का बोझ उतार सकती हैं; घर खर्च चलाने में दरिद्र माता-पिता की सहायता कर सकती हैं; और अंत में थोड़ी बहुत पूंजी जमा करके विवाह कर सकती हैं और प्रतिष्ठित गृहिणी के रूप में जीवन व्यतीत कर सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में इन पतिताओं के प्रति समाज का तिरस्कार अत्यंत मृदु हो, यह स्वाभाविक है।

गैरकानूनी माने जाने वाले स्त्रियों के विक्रय-व्यवहार को कानूनी रूप देने की अनेक योजनाएँ व्यापारियों द्वारा बनाई जाती हैं। बड़े जहाज़ों द्वारा की जाने वाली समुद्रयात्रा के समय और विभिन्न देशों की सीमा पार करते समय यात्रियों की कड़ी जाँच-पड़ताल की जाती है। परंतु कानून के बंधन ज्यों-ज्यों कठोर होते जाते हैं त्यों-त्यों उन्हें तोड़ने की युक्तियाँ भी मनुष्य जाति में अधिकाधिक विकसित होती जाती हैं। व्यापारियों की स्वाभाविक चतुराई और खास तौर से स्त्रीदेह का व्यापार क[illegible] की चालाकियाँ कानून से बच निकलने के अनेक मार्ग ढूंढ लेती हैं। अत: कानून के अनेक [illegible] के बावजूद [illegible] यह व्या[illegible] चलता ही रहता है।

कानून को तोड़कर भी उससे बच निकलने की एक सरल तरकीब के रूप में जावा के व्यापारियों की युक्ति उल्लेखनीय है। जावा का धर्म तो इस्लाम है परंतु वहाँ के लोगों का रहन-सहन अन्य मुस्लिम देशों के रहन-सहन से भिन्न है। पुरुषों और स्त्रियों को बिलकुल अलग अलग कर देने वाली पर्दे या बुरके की प्रथा जावा में नहीं है। स्त्रियों को जनानखाने में, अलग रखने का रिवाज भी नहीं है। घर में, या घर के,

बाहर का सब काम करते समय स्त्रियाँ सब जगह खुले मुँह घूमती हैं ।जावा का इस्लाम धर्म इस में अप्रतिष्ठा की कोई बात नहीं मानता । जावा की वर्तमान संस्कृति में प्राचीन हिंदू संस्कृति के अनेक तत्व आज तक सुरक्षित रहे हैं । परंतु इस्लाम की तलाक-प्रथा स्त्रियों का व्यापार करने वालों को अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है । विदेशों में जाकर गणिकावृत्ति करने को तत्पर युवती के साथ जावा का स्त्री-व्यापारी इस्लाम धर्म के अनुसार निकाह कर लेता है । जहाज में बैठने से घंटे भर पहले भी वह चाहे तो विवाह कर लेने की सुविधा उसे आसानी से मिल सकती है । दो-एक दिन की यात्रा के बाद वह सिंगापुर पहुंच जाता है । सिंगापुर के बंदरगाह में उतरते ही, घंटे भर के अंदर वह उस विवाहित गणिका को तलाक दे देता है और पहले से निश्चित किये हुए गणिका गृह में उसे पहुँचा कर गणिकालय के मालिक से उसकी कीमत वसूल कर लेता है । इस प्रकार नियम पालन में अत्यंत कठोर माने जाने वाले इस्लाम धर्म को भी स्त्रीदेह के ये व्यवसायी अपने अनुकूल बना लेते हैं । विवाहिता पत्नी प्रमाणित हो चुकने वाली स्त्री को साथ ले जाने देने में जहाज के या सरहद के किसी अधिकारी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती । इस प्रकार का विवाह स्त्री-विक्रय का एक बहाना मात्र बन जाता है । पश्चिम के देशों में तो विवाह-संबंध अबाधित रखकर भी अपनी पत्नियों से गणिकावृत्ति करवाने के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं । इस हालत में जावा के, केवल बहाने के लिए किए जाने वाले इन काम चलाऊ विवाहों की अधिक कठोर आलोचना कैसे हो सकती है ?

स्याम की सीमा पार करके मलाया में प्रवेश करने वाली गणिकाएँ सीमाधिकारियों की जाँच से बचने के लिए एक और युक्ति का प्रयोग करती हैं । सरहद से दो-एक स्टेशन पहले ही वह रेलगाड़ी से उतर जाती हैं । दो-चार मील पैदल चल कर और चौकीदारों की आँखों में धूल डालकर जंगली मार्गों से सीमा पार कर लेती हैं और फिर दो एक स्टेशन आगे जाकर गाड़ी पकड़ लेती हैं ।

इस प्रकार एशिया महाद्वीप के किनारे-किनारे विभिन्न देशों की स्त्रियों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार जोरों से चलता रहा है । गरीब परिवारों में से लड़कियाँ खरीदी जाती हैं; उन्हें नृत्य-संगीत की तालीम देकर अधिक आकर्षक बनाया जाता है और उनके अज्ञान और भोलेपन से फायदा उठाया जाता है । विदेशों में बेशुमार धन कमाया जा सकता है, और स्वदेश से कहीं अधिक वैभव-विलास से रहा जा सकता है आदि प्रलोभनों से इन युवतियों को मंत्रमुग्ध करके उन्हें खरीदने वाले व्यापारियों की टोलियाँ विभिन्न प्रदेशों में घूमती रहती हैं । बड़े पैमाने पर इस व्यापार को चलता रखने के लिए रुपया उधार देने वाले महाजन सभी देशों में मिल जाते हैं । इनकी आमदरफ्त को नियंत्रित करने के लिए जगह-जगह संचालन केन्द्रों की स्थापना होती है । देश-विदेश में इन्हें खरीदने को तत्पर व्यक्तियों और संस्थाओं की भी कोई कमी नहीं पड़ती । जहाजों द्वारा इन्हें एक देश से दूसरे देश में ले जाने वाले अनेक वैध मार्ग भी हैं; परंतु कानून यदि बाधा डालता हो, तो नियमों का भंग करके भी उनकी यात्रा की सुविधा कर देने के लिए जहाजों के अधिकारी सदा तत्पर रहते हैं बशर्ते कि उनकी मुट्ठी गरम कर दी जाये । गणिकाओं और उनके संरक्षकों को डरा-धमकाकर उनसे मनमानी रकम वसूल करने वाले गुंडों की टोलियाँ भी अपना काम किए जाती हैं । विदेश में आकर बसने वाले अपने देश के लोगों से ही अधिक लगाव रखने की गणिकाओं की मनोवृत्ति राष्ट्रभावना के एक अतिविचित्र पहलू पर प्रकाश डालती रहती है और वर्ण, जाति, भाषा, एवं संस्कार-भिन्नता की दीवारें भी अनीति के इस अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अपना स्थान जमाये रखती हैं । और इस प्रकार, सत्ताधीशों की सख्ती का मजाक उड़ानेवाला और कानून का उल्लंघन करने में ही अपनी सफलता मानने वाला स्त्री-व्यापार इस बीसवीं शताब्दी में भी, पश्चिम के और पूर्व के, सभी देशों में समान रूप से चलता आ रहा है ।

ग़ैर कानूनी माने जानेवाले इस पेशे में प्रवेश करने को तत्पर युवती कभी-कभी अनेक संकटों का सामना करने को भी तैयार हो जाती है । विदेश के आकर्षक वर्णनों से मुग्ध युवती बंदरगाह और जहाज के अधिकारियों की कड़ी जाँच-पड़ताल से बचने के लिए, किनारे से काफी दूर जाकर जहाज पर चढ़ने को

राज़ी हो जाती है । इसके लिए उसे पहले किसी अज्ञात स्थान से छोटी सी नाव में बैठकर बीच समुद्र में जाना पड़ता है । समुद्र की अस्थिर तरंगों पर डगमगाती हुई नाव में से जहाज पर चढ़ना कम जोखिम का काम नहीं । इस षडयंत्र में मिले हुए जहाज के अधिकारी अन्य ईमानदार अफसरों की नज़र बचाकर उसे जहाज पर चढ़ा लेते हैं । जहाज पर उसे किसी अत्यंत असुविधा भरे स्थान में छिपा दिया जाता है । जहाज के अनेक अफसरों का इसमें प्रत्यक्ष सहयोग होता है और जिनकी प्रत्यक्ष सहायता नहीं होती वे भी देखा-अनदेखा करके और मिलनेवाले धन में से कुछ हिस्सा लेकर चुप रह जाते हैं । इन युवतियों को कभी-कभी तो ऐसे स्थानों पर छिपाया जाता है, जहाँ हिलने-डुलने की भी सुविधा नहीं होती । भोजन भी कच्चा-पक्का, और जहाज का परिचित अफसर जब भी चुपचाप ला दे तब मिलता है । इस प्रकार की कष्टमय यात्रा में कभी-कभी दस-दस, पंद्रह-पद्रह दिन बिताने पड़ते हैं । छोटी सी नाव में तरंगों के ऊपर उठकर रस्सी की सीढ़ियों द्वारा जहाज पर चढ़ना जान जोखिम का काम है । दस-पंद्रह रोज़ तक जहाज के अंधेरे तहखानों में माल-असबाब के पहाड़ों और चूहों की भाग दौड़ के बीच चोरों की तरह छिपे रहना भी कम साहस का काम नहीं । बड़े-बड़े धैर्यवान पुरुष भी इस यातना से घबरा सकते हैं । परंतु नियोजित स्थान पर पहुँचने के बाद मिलने वाले सुख-वैभव और विलास के रंगीन स्वप्नों के सहारे ये युवतियाँ इन भयानक कष्टों को भी चुपचाप सह लेती हैं ।

६
पश्चिमी एशिया में

अब हम एशिया के पश्चिमी प्रदेशों की ओर मुड़ें । वहाँ भी वे ही व्यापारियों की टोलियाँ, वे ही प्रलोभनों की परंपराएँ और वैसी ही गणिका गृहों की भूल भुलैयाएँ दिखाई देती हैं । फिर भी इस प्रदेश के स्त्री-व्यापार की कुछ विशेषताएँ हम देख लें । वैयक्तिक कर्ज़ चुकाने के लिए लड़कियों को क्या-क्या भुगतना पड़ता है, इसका एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है: —

उत्तरी अफ्रीका के समुद्री किनारे के लगभग मध्य में बसे हुए ट्रिपोली नगर में एक युवती वर्षों से गणिकावृत्ति करती थी । जिस गणिकागृह में वह रहती थी, उसकी संचालिका कुट्टनी से उसने कभी सात पाउंड (करीब सौ रुपये) उधार लिये होंगे । एक बार, ट्रिपोली से सैंकड़ों मील दूर के बेरुत शहर की एक कुट्टनी ने आकर ट्रिपोली की कुट्टनी के सौ रुपये चुका दिये। यह सारा व्यवहार उपरोक्त गणिका की जानकारी के बिना ही पूरा हो गया था । एक दिन अचानक उसे सूचना दी गई कि अब उसे ट्रिपोली के बजाय बेरुत जाकर रहना होगा क्योंकि उसका कर्ज़ चुका देने के कारण बेरुत की गणिका उसकी मालकिन हो गई है । इसमें कहीं भी जबरदस्ती नहीं की गई थी, परंतु फिर भी इस गणिका को यही महसूस हुआ कि इसमें कोई अनुचित बात नहीं और यही करना उसका फर्ज़ है । उसने बिना किसी विरोध के यह व्यवहार मान्य कर लिया और ट्रिपोली छोड़कर, बेरुत में अपनी नयी मालकिन के मातहत गणिकावृत्ति करने को राज़ी हो गई । इसी प्रकार बेरूत की गणिकाओं को कर्ज़ के कारण काहिरा भेजा जा सकता है और काहिरा की गणिका को एलेक्ज़ान्ड्रिया । इस प्रदेश में यह व्यवस्था सर्वमान्य हो गई है । गणिका के ऊपर कर्ज़ हो, और इस कर्ज़ को चुकाने के लिए कोई तैयार हो जाय, तो गणिका को उसका स्वामित्व कबूल रखना पड़ता है; और इस बहाने गणिकाओं का जगह-जगह स्थानांतर होता रहता है ।

अप्सरा

कानून के शकंजे में फँसे बिना स्त्रीदेह का व्यापार चलता रखने के लिए लोग कैसी-कैसी युक्तियाँ करते हैं, यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है । यह घटना हमारे ही देश की है । एक बार कलकत्ते के पुलिस अधिकारियों को खबर मिली कि स्त्रियों का व्यापार करने वाले गुंडों की एक टोली शहर में आ पहुँची है । एक बदनाम मुहल्ले में से इस दल के दो आदमियों की संशयास्पद जानकारी भी पुलिस को मिली । पुलिस उनके घर गई । दोनों आदमी वहाँ मौजूद थे और पुलिस के दफ्तर में दर्ज़ एक गणिका भी वहाँ मौजूद थी । पूछताछ करने पर उनमें से एक पुरुष ने कहा कि पुलिस के दफ्तर में दर्ज़ नामवाली स्त्री तो उसकी पत्नी है । वेश्यावृत्ति करने वाली, उसी नाम की कोई और स्त्री हो सकती है । वह तो अपनी पत्नी के साथ शीघ्र बम्बई जाना चाहता है । दोनों के पास एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के परवाने थे; अत: वे कोई गैर कानूनी काम कर रहे हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता था, और उन्हें रोका भी नहीं जा सकता था । परंतु पुलिस को संदेह पक्का था इसलिए उन पर निगरानी रखी गई । कुछ समय बाद मालूम हुआ कि ये तथाकथित पति-पत्नी बम्बई से मद्रास और मद्रास से कोलंबो चले गये । देश से बाहर चले जाने वाले अपराधियों के विरुद्ध पुलिस कुछ नहीं कर सकती ।

अब रहा उसी मकान में मिलने वाला तीसरा आदमी । उसका जन्म कॅनेडा में हुआ था । उसके पास कॅनेडा का पासपोर्ट भी था जिससे यह प्रमाणित होता था कि वह सिलाई का व्यवसाय करता था । पुलिस की जाँच-पड़ताल में उसने बताया कि सिंगापुर के प्राणी-संग्रहालय के लिए जंगली जानवर खरीदने के लिए वह भारत आया था । उसने एक चीता खरीदा भी था जिसका बीजक उसके पास था । चीता, खरीदने के कुछ दिन बाद ही मर गया था ! अधिक पूछताछ करने के लिए पुलिस ने उसे निगरानी में रखा लेकिन एक दिन वह चकमा देकर चंद्रनगर के फ्रान्सीसी प्रदेश में चला गया । फ्रेन्च प्रदेश में हिंदुस्तानी पुलिस कुछ नहीं कर सकती । वहाँ से मौका देखकर वह बम्बई भाग गया । वहाँ वह एक कॅनेडियन गणिका से मिला, जिसका नाम पुलिस-दफ्तर में दर्ज़ था । उसने उसे चेतावनी दी कि पुलिस उसका पीछा कर रही है । अत: उसी दिन उसने गाड़ी पकड़ी और मद्रास जाकर पास के पाँडीचेरी नामक फ्रेन्च प्रदेश में चला गया । वहाँ उसने दूसरा पासपोर्ट बनवा लिया । अब उसका पता लगाना मुश्किल था । बाद की जाँच-पड़ताल से मालूम हुआ कि यह चीतों का खरीदार बम्बई की उस कॅनेडियन गणिका की कमाई पर गुज़ारा करनेवाला दलाल था ।

इस प्रकार, एक ओर जहाँ अपनी विवाहिता पत्नी से गणिकावृत्ति करवाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर, किसी अन्य स्त्री की गणिकावृत्ति की कमाई से लाभ उठाने के लिए उसे अपनी पत्नी प्रमाणित करने की कोशिश की जाती है । एक देश की सीमा पार करके दूसरे प्रदेश में भाग जाने की सुविधा स्त्री-व्यापार को अत्यंत सरल बना देती है । सूरत या बम्बई का दिवालिया जिस प्रकार दमन (पुर्तगाली प्रदेश) जाकर अपनी जिम्मेदारियों को टाल सकता है उसी प्रकार स्त्रियों का व्यापार करने वाले लोग भी अलग-अलग राज्यों की सरहदों से फायदा उठाकर कानून से बच निकलते हैं । गोरी चमड़ी और यूरोपीय पोशाक कम से कम पूर्व के प्रदेशों में तो अब तक सज्जनता की निशानी मानी जाती हैं, जो इन दलालों को सीमाधिकारियों की अप्रिय तहकीकात से बचा लेती हैं । यदि जाँच-पड़ताल हो भी, तो उसमें से बचने के कानूनी परवाने उनके पास होते हैं और वे बेकार घूमने वाले गुंडे नहीं बल्कि प्रतिष्ठित व्यापारी हैं, यह सिद्ध करने के लिए वे शेर, भालू या चीतों के खरीदार भी बन जाते हैं । खरीदार वे अवश्य हैं; परंतु जंगली जानवरों के नहीं; सुंदर स्त्रियों के ! खरीदने के कुछ ही दिन बाद सुविधापूर्वक मर जाने वाले चीते का बीजक, हो सकता है कि किसी युवती की खरीदारी का रुक्का हो ।

७

युवतियों को बहकाने की विविध युक्तियाँ

अपनी निकट की संबंधी स्त्रियों को बहका कर लाने वाले महाभाग भी इस पेशे में मिलते हैं । यह काम अपेक्षाकृत सरल होता है । उनके हथकंडों का एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है: —पोलैंड की एक स्त्री अपने पति के साथ स्याम के बैंकॉक नगर में एक होटल चलाती थी । इस स्त्री की जवान भतीजी पोलैंड में रहती थी । बैंकॉक में सिलाई की दूकान करने से उसे अच्छा लाभ हो सकेगा, यह समझकर उसने अपनी भतीजी को पोलैंड से बुला लिया । लड़की बैंकॉक आ गई और अपनी चाची के होटल में रहने लगी । सिलाई की दूकान की बात तो न जाने कहाँ हवा हो गई; परंतु उसे होटल में रहने वाले यात्रियों को शराब पहुँचाने का काम दिया गया । कुछ ही दिनों में, इससे एक कदम आगे बढ़कर चाची ने समझाया कि उसे इन यात्रियों के साथ वेश्यावृत्ति भी करनी चाहिये । लड़की ने इनकार कर दिया, इतना ही नहीं, हिम्मत से बैंकॉक छोड़ कर सिंगापुर चली गई । चाची भी उसके पीछे पीछे वहाँ पहुँची और पहले तो उसे समझाने की और डराने-धमकाने की कोशिश की । परंतु लड़की टस से मस नहीं हुई । अब चाची ने आखिरी उपाय आज़माया । सिंगापुर के थाने में जाकर शिकायत कर दी कि लड़की उसके घर से चोरी करके यहाँ भाग आई है । परंतु चाची सेर थी, तो भतीजी सवासेर । उसने पुलिस से सारी स्थिति साफ-साफ़ कह दी । बैंकॉक में पूछताछ करने पर पुलिस को स्पष्ट मालूम पड़ गया कि लड़की ने चोरी-ओरी कुछ नहीं की है और चाची तो बहुत पहले से युवतियों को बहका कर उन्हें बेचने का धंधा करती थी ।

स्त्रियों को भरमाने के एक अन्य प्रकार का ब्यौरा एक युवती के निम्नलिखित निवेदन से मिल सकता है: —''एक वर्ष पहले की बात है । वेश्या घर पर अकेली ही थी कि एक आदमी हमारे यहाँ आया और कहने लगा कि मैं यदि उसके घर की देखभाल करती रहूँ, तो वह मुझे प्रतिमास २५ डालर देगा । मैंने उसकी बात मान ली और उसका घरेलू काम कर देने लगी । कुछ दिनों बाद उसने कहा कि मैं यदि टिएन्स्टीन की एक दूकान में काम करूँ, तो इससे कहीं अच्छा वेतन मुझे मिल सकेगा । मुझे यह प्रस्ताव भी बहुत पसंद आया, परंतु विदेश किस तरह जाना, इसकी उधेड़बुन में मैं पड़ गई । एक दिन उस आदमी ने मुझे उसके परिवार के साथ भोजन करने के लिए बुलाया । मेरी बड़ी आवभगत की गई । बढ़िया भोजन कराया, और उससे भी बढ़िया शराब मुझे पिलाई गई । शराब के हलके से सुरूर में मैंने टिएन्स्टीन जाना कबूल कर लिया । तुरंत उस आदमी ने एक कागज़ मेरे हस्ताक्षर के लिए सामने रखा, जिसमें लिखा हुआ था कि टिएन्स्टीन जाने के लिए मुझे तीन सौ डॉलर दिये गये हैं । मैंने हस्ताक्षर कर दिये और दूसरे ही दिन उसके साथ मैं टिएन्स्टीन के लिए रवाना हो गई, यद्यपि अब तक मुझे एक कौड़ी भी नहीं मिली थी ।

''टिएन्स्टीन पहुँचते ही मेरे साथी ने मुझसे कहा कि मुझे किसी दूकान में काम नहीं करना पड़ेगा; बल्कि वह मुझे एक ऐसी जगह ले जायगा जहाँ मैं आराम और आनंद से रह सकूंगी । मैं उसकी बात का आशय नहीं समझ सकी । स्टेशन से सीधे मुझे एक वेश्यालय में लेजाया गया । यहाँ भी हस्ताक्षर के लिए एक दस्तावेज मेरे सामने रखा गया, जिसमें लिखा हुआ था कि मैंने छ: सौ डालर प्राप्त् किए । मेरे यह पूछने पर कि बिना कुछ दिये ही मेरे दस्तखत क्यों करवाये जा रहे हैं, आसपास के लोगों ने मुझे खूब धमकाया । फिर भी मैंने हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया । इस पर मुझे इतने भयानक प्रकार से डराया-धमकाया और परेशान किया गया कि आखिर डर के मारे मैंने हस्ताक्षर कर दिये। तुरंत मुझे एक कमरे में बंद कर दिया गया । इस कमरे में मुझे गाँव से लाने वाला आदमी बैठा था । वह रात मैंने उसके साथ गुज़ारी । छ: महीने तक मुझे इस गणिकागृह में रह कर वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । और रास्ता भी क्या था ?



''एक दिन गणिका-समागम का इच्छुक एक रूसी पुरुष मेरे कमरे में आया । मैंने अपनी रामकहानी उसे सुनाई और हारबीन शहर में मेरा भाई रहता है, उसके पास मेरी खबर पहुंचा देने की विनती की । उसने पत्र अवश्य लिखा होगा, क्योंकि कुछ ही दिनों बाद मेरी भावज मेरी तलाश करने के लिए आई । मैंने उसकी आवाज़ सुनी, परंतु संचालकों ने हमारी मुलाकात नहीं होने दी । मेरे लिए तो वह कमरा देह-विक्रय का मीना बाजार भी था, और घुट मरने का कैदखाना भी । मैं मरे बाज़ार में बंदी थी ।

''गणिकागृह के संचालकों को कुछ संदेह हुआ होगा; क्योंकि तुरंत ही, मुझे साढ़े पाँच सौ डॉलर में पेकिंग के किसी गणिकागृह में बेच दिया गया । वहाँ मैं चार महीने रही, परंतु काम नहीं कर सकी, क्योंकि इन दिनों में लगातार बीमार रही । एक दिन इस ज़िंदगी से ऊबकर मैंने भाग जाने का निश्चय किया । एक किराये की रिक्शा में बैठकर मैं जा रही थी कि गणिकागृह के किसी नौकर ने मुझे देख लिया । वह मुझे पकड़ कर पुलिस थाने में ले गया । थाने में चीनी भाषा के सिवा अन्य भाषा कोई नहीं जानता था, अत : मैं अपनी बात उन्हें समझा न सकी । दो महीने तक मुझे हवालात में बंद रखा गया । फिर हारबीन से पूछताछ करता हुआ एक पुलिस अफसर आया और मुझे वहाँ ले जाया गया । टिएन्स्टीन के गणिकागृह का मालिक हमारे साथ ही था । रास्ते में उसने मुझे समझाया कि मैं अगर यह कबूल नहीं करूँगी कि टिएन्स्टीन मैं अपनी राजीखुशी से गई थी, तो मुझे जेल भेज दिया जायगा । यदि मैं बीमार होने की बात कहूंगी, तो भी मुझे जेल के अस्पताल में रखा जायगा । अत: जब सरकारी वकील ने मुझसे पूछा, तो मैंने यही बयान दिया कि मैं स्वेच्छा से अपना घर छोड़कर टिएन्स्टीन गई थी । मुझसे आग्रहपूर्वक यह कहा गया था कि मैं अपनी उम्र अठारह वर्ष की बताऊँ । मैंने यही किया यद्यपि मैं अभी पूरे सोलह वर्ष की भी नहीं हूं । सरकारी वकील के साथ बातचीत हो जाने पर मुझे घर जाने की इज़ाज़त मिली । परंतु न्यायालय में मुकदमा चला, तब मैंने सारी सत्य स्थिति ज्यों की त्यों बयान कर दी ।

''टिएन्स्टीन में ही मुझे एक और दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने पड़े थे । जिसमें मैंने बारह सौ डॉलर की प्राप्ति कबूल की थी । मुकदमे के अंत में, मुझे घर से लाने वाले आदमी को कैद की सज़ा हुई । उसका भाई अब भी हारबीन नगर में दो वेश्यागृह चलाता है । परंतु मेरा जीवन नष्ट हो गया । मैं उपदंश से पीड़ित हूं । मैं कुछ भी काम नहीं कर सकती, और गुज़ारे का अन्य कोई साधन मेरे पास नहीं है ।''

उपरोक्त दुखभरी कहानी रूस से मंचूरिया में आ बसने वाले किसी रूसी परिवार की एक युवती की है । छल, कपट, जुल्म और हृदय हीनता के ऐसे असंख्य उदाहरण इस व्यवसाय में मिल सकते हैं । अब हम एक चीनी युवती की कहानी उसी के शब्दों में सुनें: —

''मेरी उम्र तेईस वर्ष की है । मैं गणिकावृत्ति करती हूं । मेरा जन्मस्थान क्वान्सी प्रांत में है । वहाँ से तीन गुंडे मुझे भगा लाये थे । दो बार मेरे संबंधियों ने काफी रकम खर्च करके मुझे इन गुंडों के जाल से छुड़ाया । एक बार दो सौ डॉलर दिये थे और दूसरी बार पाँच सौ । परंतु तीसरी बार जब बदमाश मुझे ले भागे, तब मेरे परिवार की आर्थिक स्थिति खराब थी और धन चुकाने का कोई साधन उनके पास नहीं था; अत: मैं उन गुंडों के कब्ज़े में ही रही । ये लोग मुझे हाँगकाँग ले गये और एक कुट्टनी के हाथों दो सौ डॉलर में बेच दिया । करारनामे के अनुसार मैं सात वर्ष तक इस कुट्टनी के लिए धन कमाने को बाध्य थी । मेरे विक्रय के व्यवहार में से मुझे एक दमड़ी भी नहीं मिली; उलटे, वे गुंडे मेरे संबंधी हैं, ऐसी झूठी बात मुझे कहनी पड़ी । वेश्यागृह में मैं जो कुछ भी कमाती थी, सब का सब वह बुढ़िया ले लेती थी । कभी-कभी कोई पुलिस का अफसर पूछताछ के लिए आता तो अपनी मालकिन के कहे अनुसार मुझे यही कहना पड़ता था कि मैं बहुत सुखी हूं और स्वेच्छा से वेश्यावृत्ति करती हूं । आजतक मेरे मन पर यह भय हँमेशा ठसाया गया है कि यदि मैं ऐसा नहीं कहूंगी, तो मुझे जेल जाना पड़ेगा ।''

एक अन्य आप बीती कहानी इस प्रकार है: — तीस साल की एक स्त्री चीन से अपने भाई के साथ सिंगापुर आई । उसे आशा थी कि किसी अच्छे परिवार में बच्चों की देखभाल करने का काम उसे मिल

जायगा । परंतु बहुत कोशिश करने पर भी उसे कोई काम नहीं मिला । उसका भाई भी बेरोज़गार था । भाई ने उससे गणिकावृत्ति करने का आग्रह किया और उसके स्वीकार न करने पर उसे जबरदस्ती इस पेशे में डालना चाहा । उसके विरोध करने पर उसे खूब पीटा गया और धमकी दी गई कि यदि वह नहीं मानेगी तो उसे जान से मार डाला जायगा । निरुपाय होकर उसे वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । जो कुछ आमदनी होती थी, वह भाई की रखैल छीन लेती थी । कुछ दिनों बाद इस स्त्री पर उपदंश का भयानक आक्रमण हुआ और उसे अस्पताल ले जाना पड़ा । अस्पताल के अधिकारियों ने उसकी करुणाजनक हालत पर तरस खाकर इस पेशे से उसका छुटकारा करवाया ।

अपने भारत के निवासी एक तमिलियन पिता ने मलाया और सिंगापुर में अपनी पुत्री से जिस घृणित प्रकार की गणिकावृत्ति करवाई थी, उसकी सत्य-घटना अभी प्रकाशित हुई है । तमिल पुरुष मज़दूरी करने को बड़ी संख्या में मलाया जाते हैं । इनमें से कई सपरिवार भी जाते हैं । एक तमिल भारतीय अपनी पत्नी और पुत्री के साथ पिनांग से सिंगापुर जाते हुए पकड़ा गया । जाँच-पड़ताल के बाद मालूम हुआ कि उसके कुकृत्य गणिकावृत्ति को भी मात देने वाले थे । उसका तरीका बड़ा विचित्र था । कई जगहों से उसकी लड़की के विवाह की मांग हो रही थी । अपनी पुत्री से विवाह करने की इच्छा प्रकट करने वाले प्रत्येक पुरुष से यह आदमी पेशगी रकम वसूल करता था और अपनी पुत्री को दो चार रातों के लिए उसके यहाँ रहने देता था । चार-छः दिन बाद माता-पिता और पुत्री गायब हो जाते थे । इस प्रकार विवाह की आशा दिला कर उसने कई लोगों से रुपये वसूल किए थे, और उन्हें धोखा दिया था । उसने यदि रुपये के लेनदेन में ही धोखेबाज़ी की होती, तो उसके कुकृत्य की कालिम इतनी गहरी नहीं मानी जाती, परंतु वह तो लोगों को विवाह की आशा दिला कर अपनी पुत्री को उनके उपभोग के लिए प्रस्तुत करता था । उसका यह कृत्य स्त्रीदेह के व्यापार में भी नीचता का एक नया निम्नस्तर स्थापित करता है । मुकदमे में यह सब बातें प्रमाणित हो जाने पर उसे दो साल की सज़ा हुई और लड़की की माता को भी दंड दिया गया । गणिका के रूप में अपने माता-पिता की सेवा करने वाली इस अभागिनी युवती को भारत वापस भेज दिया गया ।

पूर्व की दुनिया में चलने वाले स्त्रीदेह के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का वर्णन उसके अलग-अलग प्रकारों को इन कहानियों के साथ समाप्त करना ही ठीक रहेगा ।





तीसरा परिच्छेद

पश्चिम के देशों में स्त्रियों का दास-व्यापार

१

यूरोप और अमरीका का दृश्य

अब तक हमने पूर्व के देशों का विचार किया । पश्चिम के देशों में यह व्यापार पूर्व से भी अधिक कुशलता-पूर्वक किया जाता है । विशेष तौर से राजधानी के बड़े नगरों में, बंदरगाहों में, सुखद जलवायु वाले पर्वतीय प्रदेशों में और समुद्रतट के रमणीय स्थानों में यह प्रवृत्ति अत्यंत व्यवस्थित रूप से चलती रहती है । यद्यपि यह पूरी व्यवस्था गुप्त रूप से चलती हुई मानी जाती है, तथापि पश्चिम के कई पत्रकार, लेखक और डाक्टर इस प्रवृत्ति की गहराई से छानबीन करके महत्वपूर्ण जानकारी एकत्रित कर सके हैं । पुलिस विभाग के अधिकारियों ने भी अपने अनुभव के आधार पर इस पेशे पर प्रकाश डाला है, और कुछ हद तक, सेवाभावी सुधारकों ने भी इस कार्य में सहायता पहुँचाई है । समाज-सुधारकों को उनकी लगन और कोशिश का पर्याप्त फल हमेशा नहीं मिलता क्योंकि उनकी सेवा और सुधार की भक उन्हें सब जगह अप्रिय बना देती है ।

कई साहित्यकारों ने स्त्री-व्यापार पर आधारित उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी हैं । इस प्रकार के साहित्य में कुछ हद तक कल्पना के अवास्तविक रंगों का होना स्वाभाविक है । परंतु यह व्यवसाय पश्चिम के समाज जीवन का एक ऐसा आवश्यक अंग बन बैठा है कि इन कथाओं में साहित्यकारों द्वारा की हुई रंगीन से रंगीन कल्पना भी कोरी कपोल-कल्पना सिद्ध नहीं होती । अनेक बार तो इस पेशे की वास्तविकता उर्वर से उर्वर कल्पकता को भी मात कर देती है । आलबर्ट लॉन्ड्रे नामक सुविख्यात फ्रान्सीसी साहित्यकार ने "रोड टु ब्यूनो-आयर" नामक उपन्यास लिखा है । पश्चिम के विद्वानों की राय है कि इस उपन्यास में स्त्रियों के व्यापार का यथार्थ स्वरूप चित्रित किया गया है । लेखक पेरिस के एक प्रसिद्ध दैनिक का संवाददाता है । फ्रान्स और पेरिस से आरंभ करके अतलांतिक महासागर के उस पार, हजारों मील दूर स्थित अर्जेन्टाइना नामक देश की राजधानी ब्यूनो-आयर तक इस पेशे का जाल किस तरह फैला हुआ है, इसका अत्यंत रोमांचक पर वास्तविक वर्णन इस उपन्यास में किया गया है । यूरोप-अमरीका के बड़े शहरों और बंदरगाहों में व्यापकता से फैली हुई परिस्थिति का सत्यदर्शन करानेवाली एक झलक इस कथा द्वारा प्रस्तुत की गई है ।

सन् १९२८ में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ और बाद में इसके कई संस्करण छपे । हम देख चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्त्रियों के देह-व्यापार को समाप्त करने के प्रयत्न अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने पर भी यह दास-व्यापार नष्ट नहीं हो सका । उपरोक्त पुस्तक प्रकाशित हुए मुश्किल से एक दशाब्दी बीती थी, कि दूसरा विश्वयुद्ध भभक उठा । छः वर्ष के भीषण संहार के बाद अब कहीं उसका अंत हुआ है । परंतु इस युद्ध के दरमियान वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय नैतिकता का कितना भयानक पतन हुआ होगा, और युद्ध के बाद की नयी समाजरचना में अनाचार के कौन-कौन से विनाशक झंझावात प्रवेश कर चुके होंगे, यह तो युद्ध समाप्ति के कुछ समय बाद ही मालूम हो सकेगा । युद्ध का आज तक का इतिहास नैतिक दृष्टि से किसी प्रकार की उन्नति की आशा नहीं दिलाता । क्या स्त्रीदेह का व्यापार इस युद्ध के

बाद भी फिर से नये-नये रूप धारण करके पूरे संसार को व्याप्त कर लेगा । एक ओर जर्मनी, इटली और जापान आदि पराजित देश विध्वंस के गहरे गर्त में डूबे हुए हैं । दूसरी ओर ब्रिटेन, रूस आदि विजेता देशों में भी संहार का भयानक तांडव कुछ कम नहीं हुआ है । चीन, फ्रान्स और पोलैंड आदि देशों ने तो युद्ध के विजय और पराजय रूपी दोनों पहलुओं की पंचाग्नि का अनुभव किया है । युद्ध का कुछ दूर से दर्शन करनेवाले भारत, ईरान आदि देशों ने, और कुछ नहीं तो युद्धजनित भुखमरी और अकाल के खप्पर में लाखों मनुष्यों की बलि चढ़ाई है । इसके परिणाम स्वरूप पूरे विश्व में स्त्रीदेह के विक्रय-व्यापार की भूमिका तो निस्संदेह रूप से तैयार हो चुकी है । नयी दुनिया की रचना के रंगीन स्वप्न देखने वाले संसार भर के समाज नेता क्या स्त्री-विक्रय की इस अति भयानक पर रमणीय और आकर्षक दिखाई देने वाली विभीषिका को रोक सकेंगे ? ये सारे प्रश्न हमारे सामने मुंह बाये खड़े हैं । फिलहाल हम इन सब को अनुत्तरित छोड़कर, पश्चिम के देशों में चलने वाले स्त्री-व्यापार के भयावह पर बाह्य दृष्टि से आकर्षक दिखाई देने वाले दृश्यों को देखने का प्रयत्न करेंगे । इससे गौरांग स्त्रियों के दास-व्यापार की एक प्रातिनिधिक झलक हमें मिल सकेगी ।

अपनी इस मानसयात्रा में हम कल्पना करें कि हम यूरोप के किसी बड़े शहर में बैठे हैं, जहाँ से स्त्री-विक्रय के व्यवसाय की पूरी योजना का विहंगम-दृश्य हमें देखना है । यूरोपीय देश है; अतः अपना निजी मकान तो यहाँ हो नहीं सकता । होटलों में रहना, खाना और सोना यहाँ की सामान्य प्रथा है । बगल वाले कमरे में रहने वाला हमारा पड़ौसी कौन है, इसकी जानकारी भी लंबे समय तक हमें नहीं हो सकेगी । चलो अच्छा ही है । भोजन भी बहुत बड़े कमरे में, अनेक अजनबी लोगों के साथ बैठ कर करना होगा । यहाँ चाय या सिगरेट पीने के लिए या घंटा-आध घंटा बैठकर गपशप करने के लिए भी विशिष्ट कमरों में जाना पड़ता है । हम पश्चिम में आये हैं, अतः कम अधिक मिकदार में शराब पीने की आदत भी हमें डालनी होगी । सिगरेट या सिगार पीने से मैत्री जोड़ने में बड़ी सुविधा रहती है और जान पहचान करने का एक बहाना मिल जाता है, ऐसी मान्यता यहाँ सर्वत्र प्रचलित है, अतः हम इसका भी विरोध नहीं कर सकते । बड़ी सुंदर-सुंदर मधुशालाएँ पश्चिम के देशों में हैं, जहाँ मदिरा के साथ विलास की और भी बहुत सी चीज़ें मिल सकती हैं । शर्त सिर्फ एक है: नोटों की मोटी सी गड्डी आपकी जेब में होनी चाहिये । फिर आप सुख का चाहे जा साधन मांग सकते हैं । स्त्री पुरुषों के समुदाय-अधिकतर युवा स्त्री-पुरुषों की 'जोड़ियों' —की चहल-पहल यहाँ सदा मची रहती है । स्त्रियों की मधुर हँसी का तार स्वर वातावरण में गुंजता रहता है । बीच-बीच में स्त्री-पुरुष के देहस्पर्शी नृत्य भी चलते रहते हैं । कुछ देखना है, तो हमें भी इसी वातावरण से समरस होना पड़ेगा ।

सामने ही कुछ स्वल्पवसना स्त्रियों के साथ, बढ़िया कपड़े पहने हुए कुछ रौबदार पुरुष बैठे हैं । हो सकता है कि इनमें से दो-चार का स्त्री-विक्रय के पेशे के साथ घनिष्ठ संबंध हो; हो सकता है कि इनमें से कुछ इस व्यवसाय के संचालक या सूत्रधार हों । इनके साथ बैठी हुई, आकर्षक वस्त्रालंकारों से सज्ज रूपवती युवतियों के मधुर हास्य के सुरों में यह संभावना भी गूंज रही है कि इनमें की दस-पाँच प्रतिष्ठा के आवरण के पीछे गणिकावृत्ति करती हों, और कुछ इस पेशे को स्वीकार करने के रास्ते पर हों । इस ओर नृत्य-संगीत के शौक की आड़ में यहाँ एकत्रित होनेवाले पुरुषों का मनोरंजन करने वाली वैतनिक नर्तकियों का दल है । इनमें से तो अधिकांश ऐसी हैं, जिनका स्वदेश में या विदेश में देह विक्रय के पेशे से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध रह चुका है । प्रतिष्ठा का आडंबर ओढ़े यहाँ बैठे हुए स्त्रीदेह के व्यापारी इन पेशेवर स्त्रियों पर कड़ी निगरानी रख रहे हैं । किसका किस प्रकार से उपयोग करने पर धनोपार्जन की स्थायी टकसाल खुल सकती है, इसी का याजनाएँ इनके मन में चल रही होंगी । हम केवल कुछ क्षणों के अवलोकन के लिए यहाँ बैठे हैं; परंतु यह मुमकिन है कि हजारों मील दूर के नगरों में फैले हुए अनाचार और स्त्रियों के दास-व्यापार के जाल के तानेबाने हमारी नज़रों के सामने ही बुने जा रहे हों ।

इन सुंदर मद्यालयों या उपाहारगृहों में सीधी पूछताछ करने से हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा । सत्य की तो झलक भी नहीं मिल सकेगी । इस पेशे के अनुभवी स्त्री-पुरुषों में कुछ ऐसी प्रगल्भता और संमोहनशक्ति होती है कि प्रथम दर्शन में तो उनके असली रूप की कल्पना शायद ही कोई कर सकता है । आप किसी युवती के साथ नृत्य करें, उसे दावत दें, मोटर में घुमाने ले जायें, परिचय कुछ घनिष्ठ होने पर अपनी संपन्नता की सच्ची झूठी कहानियाँ उसे सुनायें, और इसके बाद आपके प्रति कुछ विश्वास उसके मन में उत्पन्न हो, और आप यौन अनाचार को क्षम्य मानने की हद तक शौकीन हैं ऐसा वातावरण आप जमा सकें, तो शायद वह युवती अपने असली पेशे की परोक्ष जानकारी आपको दे सकती है; अन्यथा नहीं । पुरुषों से पेश आना और भी कठिन होता है । इस वर्ग के स्त्री-पुरुषों में एक ऐसी आंतरिक शक्ति का विकास हो जाता है, जो सामने वाले के आशय को तुरंत पहचान लेती है । उनकी बातें करने की सफाई भी इतनी प्रभावशाली होती है कि आप उन्हें परखें इससे पहले वे आपको परख लेते हैं । पश्चिम के लोगों का सामान्य ज्ञान अत्यंत विस्तृत होने के कारण उनका वाक्‌चातुर्य प्रथम मुलाकात में ही सामने वाले को चकाचौंध कर देता है । अत: इन लोगों के मन में यदि यह बात आ जाय, कि आप उनके रहस्यों को जानने के काबिल नहीं, तो गौरांग स्त्रियों के देह-व्यापार से जीवनयापन करनेवाले इन धूर्तों के बीच रातदिन रहने पर भी, आप यह जान नहीं सकेंगे कि आपकी नज़रों के सामने ही यह पेशा जोरशोर से चल रहा है ।

इस पेशे में व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र, गौण केन्द्र, मालगोदाम (जी हाँ, स्त्रियों के गोदाम) दफ्तर में बैठकर या घूम-फिर कर काम करने वाले दलाल, और बातबात पर मारपीट कर बैठने को तत्पर गुंडों के दल आदि का एक व्यापक और योजनाबद्ध तंत्र होता है । इस योजना के अंतर्गत केवल स्वदेश में ही नहीं बल्कि विदेशों में, और विदेश जाने वाले जहाजों पर भी अपने मेलजोल के आदमी और जासूस रखने पड़ते हैं । ये वैतनिक जासूस और भेड़िये जहाजों पर छोटी-मोटी नौकरी भी करते हैं और उचित मेहनताने के बदले में, स्त्री व्यापार करने वालों को सब प्रकार की सुविधाएँ भी उपलब्ध कर देते हैं । यह व्यापक व्यवस्था न तो महासागरों की परवाह करती है, न देश विदेश की सीमाओं की; न तो इसे पुलिस की सख्तियों का डर होता है, और न कानून के शासन का । धर्म और नैतिकता को तो ये लोग ताक पर रख कर ही घर से निकलते हैं और कदम कदम पर उसकी अवहेलना और तिरस्कार करने में ही अपनी शान समझते हैं ।

२

राम झरोखे बैठ कर....

मौका मिलते ही फिर किसी दिन हम किसी उपाहारगृह में जा बैठते हैं । यहाँ बैठे-बैठे हम इस पूरी योजना के दर्शन कर सकते हैं । दिव्यदृष्टि की तो आवश्यकता नहीं, परंतु मनुष्य का हृदय पहचानने की थोड़ी बहुत भी शक्ति हममें हो, तो किसी मानचित्र की सी स्पष्टता से हमारी आँखों के सामने इस व्यवसाय का पूरा अभिनय हम देख सकते हैं और अपने स्थान से हिले बिना ही लंदन या न्यूयॉर्क से लगाकर सिंगापुर और शांगहाई तक चलनेवाले व्यापार का दिग्दर्शन कर सकते हैं ।

पास में बैठा हुआ, गंभीर दिखाई देने वाला आदमी नाश्ता कर रहा है । केवल बाह्य दिखावे से ही परीक्षा करें, तो हम उसका आदर करने को प्रेरित होंगे । परंतु आप जानते हैं कि वास्तव में वह क्या कर रहा है ? नाश्ता तो सिर्फ बहाना है । अधिक संभव यही है कि वह उस समय उपाहारगृह में बैठी हुई उसकी आश्रित गणिकाओं पर निगरानी रख रहा हो; या उपस्थित स्त्रियों में से उसके प्रभाव में आ सकने योग्य युवतियाँ कितनी हैं, इसका अंदाज लगा रहा हो । नृत्य करते हुए, खाना खाते हुए, सिगरेट पीते हुए या शराब की चुस्कियाँ लेते हुए जो स्त्री-पुरुष हमारे चारों ओर दिखाई दे रहे हैं, वे अपनी-अपनी योजनाएँ निश्चित करके भविष्य के कार्यक्रम गढने में ही मशगूल हैं । प्रधान केन्द्र के मालिक या संचालक सांकेतिक भाषा में आज्ञाएं दे रहे हैं । गौण केन्द्रों के संदेशवाहक या जिनके बल पर यह व्यवसाय चल रहा है वे स्त्रियाँ मालिकों की सूचनाओं को कार्यान्वित करने में लगी हुई हैं । इन सूचनाओं में हम चाहें जितनी विविधता का समावेश कर सकते हैं । किसी युवती को नाटक या सिनेमा में ले जाने की व्यवस्था करनी है, तो किसी को मुलाकात के समय की सूचना देनी है; विदेश भेजी जाने वाली किसी युवती के लिए वस्त्राभूषणों की पसंदगी करनी है, तो किसी के लिए कानूनी पासपोर्ट और विश्वासजनक प्रमाणपत्रों का प्रबंध करना है । किस नृत्यमंडली में से कौन-सी लड़की भरमाकर अपनी मंडली में शामिल करने योग्य है; कौनसी युवती विदेश जाने को उत्सुक है; कौनसी स्वदेश में ही रहकर गणिकावृत्ति करने को तैयार है, आदि बातों की जानकारी भी यहीं मिलती है और उन्हें कार्यान्वित करने की सूचनाएँ भी यहीं दी जाती हैं । इतनी अनेकविध प्रवृत्तियाँ यहाँ चलती रहती हैं; जबकि इस इंद्रजाल को न पहचानने वाले यही सोचते रहते है कि यूरोपीय शिष्ट समाज के कुछ प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष निर्दोष मनोरंजन प्राप्त करने के लिए कुछ क्षणों के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं ।

एक ओर ये सूचनाएँ जारी होती रहती हैं, तो दूसरी ओर उनपर अमल होता रहता है । तीसरी ओर स्त्री-विक्रय का कोई थोक व्यापारी पुलिस अफसरों को खिला पिला कर अपने और अपने व्यवसाय के प्रति उनकी हमदर्दी संपादन करने के प्रयत्न में लगा रहता है तो चौथी ओर इसी गिरोह का कोई आदमी निराधार और पतित स्त्रियों के लिए चंदा एकत्रित करने के लिए मनोरंजक कार्यक्रम के टिकट बेचता रहता है । इन समाजसेवक महाशय का असली व्यवसाय तो प्राय: स्त्रियों का सफलतापूर्वक क्रय-विक्रय करना और कानून की पाबंदियों से दामन बचाते हुए लोगों की आँखों में धूल झोंकना ही होता है ।

हम देख चुके हैं कि फ्रान्स से उड़ाई हुई स्त्री को न्यूयॉर्क और न्यूयॉर्क में बहकाई हुई युवती को सिंगापुर तक भेजा जा सकता है । रोम में फँसी हुई किसी साहसिक सुंदरी को शांगहाई, और विएना से हाथ लगने वाली रमणी को दक्षिणी अमरीका के गणिका गृहों में भेजा जा सकता है । स्त्री व्यापार की इस योजना के तानेबाने संसार भर के शहरों में फैले हुए हैं । जिन देशों में ये स्त्रियाँ भेजी जाती हैं, वहाँ भी, स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल युवतियों को भरमाने का व्यापारतंत्र स्थापित हो जाता है ताकि अनेक देशों के बीच युवतियों के आदान प्रदान का कार्य सरलता से चलता रहे ।

इन व्यापार केन्द्रों के सूत्र संचालक खुद भी एक देश से दूसरे देश की यात्रा करते रहते हैं; अपने व्यवसाय के विकासार्थ आवश्यक योजनाएँ गढ़ते हैं; नये नये संबंध स्थापित करते हैं; वेश परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न नामों से अलग-अलग स्थानों में घूमते हैं; विभिन्न व्यापारों के आवरण के पीछे अपने असली व्यवसाय को छिपाने का जीतोड़ प्रयत्न करते हैं; हजारों रुपये रिश्वत देने में लुटाते हैं और इससे भी अधिक अपने वैयक्तिक भोग विलास में खर्च करते हैं । ऐशो इशरत से रहने में, किसी भी प्रकार का श्रम न करने में, और केवल दंभ, बदमाशी और छल फरेब के बलबूते पर ही अपने पेशे में सफलता प्राप्त करने में इस व्यवसाय के लोग अपने जीवन की चरम सिद्धि मानते हैं । आवश्यकता पड़ने पर छिप जाने की, भाग जाने की, नाम बदल देने की या वेश परिवर्तन करने की योग्यता उनमें जरूर होनी चाहिये । यथासंभव, साम-दाम-दंड-भेद से अपना उल्लू सीधा करने की धूर्तता और अत्यंत आवश्यक होने पर

मारपीट कर सकने की शक्ति भी उनमें होनी चाहिये । रोबदार कपड़ों का शौक, शराब की लत और जुए का व्यसन उनके लिए दिन भर का और रात भर का कार्यक्रम उपलब्ध कर देते हैं । इस वर्ग के प्रत्येक पुरुष को कम से कम चार-छ: स्त्रियों के साथ झूठा-सच्चा प्रेम संबंध भी रखना पड़ता है । इनमें से कई बालबच्चों वाले विवाहित गृहस्थ भी होते हैं जिनके परिवार का भरणपोषण इस पेशे पर ही आधारित होता है । अपने बच्चों से इस लज्जास्पद व्यवसाय को छिपाये रखने के प्रयत्न वे अवश्य करते हैं, परंतु उनकी पत्नियों से प्राय: कोई बात छिपी नहीं रहती । अनेक बार, गणिकावृत्ति कर चुकने वाली कोई युवती ही उनकी पत्नी होती है ।

३
व्यापार के प्रसंग

इन सुंदरियों का देह व्यापार किस प्रकार चलता है, इसके भी कुछ दृश्य हम साथ-साथ देखते चलें । यूरोप से अमरीका जानेवाले जंहाज में किसी युवती को साथ ले जाने वाले व्यापारी के मुख से उसने उस युवती को किस प्रकार वश में किया, इसकी कहानी सुनें:

"एक दिन एक प्रसिद्ध होटल के बरामदे में कुरसी डाल कर मैं बैठा था । यह लड़की मेरे सामने से गुज़री । इसके रंगढंग परख कर मैंने इशारे से इसे अपने पास बुलाया । पास आते ही मैं देख सका कि इसके शरीर पर अच्छे कपड़े भी नहीं थे और फटी हुई चप्पल पहने यह घूम रही थी । इसे देखते ही मैं समझ गया कि यह कोई निराधार, दरिद्र और फटेहाल युवती है जो सहज में ही काबू में आ जायगी । सब से पहले तो मैंने इसे एक बढ़िया होटल में ले जाकर पेट भर खाना खिलाया । मैंने भी साथ में ही खाना खाया । फिर मुझे महसूस हुआ कि यह लड़की कुछ बीमार है; अत: मैं इसे डाक्टर के यहाँ ले गया और इसका इलाज करवाया । स्वभाव से यह लड़की मुझे मिलनसार और स्नेहमयी दिखाई दी । नये ज़माने की स्वाधीन लड़कियों जैसी लापरवाही और अकड़ इसमें नहीं थीं । मैंने इसे अच्छे कपड़े, मोजे, जूते, एक छोटी सी छतरी और एक सुदर सा हैंड बेग दिलवा दिये । दाना समय के भोजन की सुविधा हो सके, इतने रुपये भी दिये । इस प्रकार कुछ दिनों तक हमारा सहवास चलता रहा । एक रोज़ मैंने धीरे से कहा कि मुझे कुछ दिनों में विदेश जाना पड़ेगा । यह सुनते ही यह लड़की इतनी रोई कि मैं सकपका गया । इसके पूछने पर मैंने बताया कि मुझे अमरीका जाना है । यह सुनते ही वह पूछ बैठी, 'आप कहीं गोरी स्त्रियों का व्यापार तो नहीं करते ?' यह प्रश्न सुनकर पहले तो मुझे आश्चर्य का धक्का लगा; परंतु बात को हँसी में उड़ा देने के इरादे से मैंने कहा, 'मेरे यहाँ तो गोरी, काली, पीली, हर प्रकार की स्त्री का स्वागत है । तुझे मेरे साथ चलना हो, तो मैं ले जा सकता हूं । पुरुषों को रिझा कर धन कमाने का जो काम तू यहाँ कर रही है, वही तुझे वहाँ करना पड़ेगा । फर्क सिर्फ इतना ही पड़ेगा कि यहाँ तू बांस जैसी दुबली-पतली है; और वहाँ वज़न किस तरह कम करना, इसकी चिंता तुझे करनी पड़ेगी ।' इसने तुरंत मेरी बात मान ली; इसलिए मैं इसे अपने साथ लिए जा रहा हूं । इस लड़की की एक बहन सन्यासिनी हो गई है और

किसी गिरजे के धर्मादाय अस्पताल में परिचारिका का काम करती है । अमरीका में मेरे लिए धन कमाने वाली एक और युवती भी है जो अब तक अपनी कमाई में से बारह हजार फ्रैंक मुझे भेज चुकी है ।''

'दूसरी स्त्री को आपके साथ देखकर उसे ईर्ष्या नहीं होगी ?''

इस प्रश्न का उत्तर उसने बड़े आत्मविश्वास से दिया: ''थोड़ी बहुत ईर्ष्या होना स्वाभाविक है । परंतु मेरा तो यह व्यवसाय है । इस प्रकार की भावुकता से हमारा काम नहीं चल सकता । इन युवतियों को हमें इस बात की विशेष रूप से तालीम देनी पड़ती है कि वे हमें अपना आश्रयदाता समझें, और हमारी हाँ में हाँ मिलाती हुई सदा हमारे वश में रहें ।''

अपने साथ की लड़की का स्वागत करने के लिए इस व्यापारी ने बारह हजार फ्रैंक कमा देने वाली अपनी अमरीकी प्रियतमा को ही बंदरगाह पर भेजा । जाते जाते इस युवती ने व्यापारी के एक मित्र से पूछा,

''क्या यह लड़की बहुत सुंदर है ?''

''बेहद । बला की खूबसूरत ।''

''तभी तो ।''कहते हुए इस युवती ने हँस कर व्यापारी का कान खींचा और उसके मित्र से कहने लगी,

''ठीक तो है । यहाँ तो मैं हूं । परंतु स्वदेश में भी तो इसे मनोरंजन का कोई साधन चाहिये । आखिर पुरुष है ! बिना दिल बहलाये कैसे रह सकता है ? यह नयी आने वाली लड़की सुंदर है, तो और भी अच्छी बात है । धंधा जोरों से चलेगा । और फिर एक से दो भले । मेरा प्रियतम जल्दी से धनवान हो जायगा ।'' फिर बड़े लाड़ से उस व्यापारी की ओर देखकर पूछा, ''परंतु तुम्हारी सच्ची प्रियतमा तो मैं ही हूं न ?''

उसके इस स्नेह-प्रदर्शन का निष्ठुर पुरुष ने उत्तर दिया:

''ठीक है, ठीक है । पर तू कितनी अच्छी लड़की है इसका सबूत दे, और जल्दी से तैयार हो जा और देख, नयी लड़की के साथ अच्छा बर्ताव करना ।''



विदेशों में जाकर स्त्रीदेह के इन व्यापारियों का पता कैसे लगाना ? पुलिस विभाग हमारा मार्गदर्शन कर सकता है, परंतु वह पर्याप्त नहीं होता । एक अध्येता का अनुभव शायद हमारी सहायता कर सके । बीस लाख जनसंख्या वाले ब्यूनो आयर शहर में स्त्री-व्यवसाय करने वाले लोगों का केन्द्रस्थान ढूंढने की इस अध्येता ने कोशिश की । उसे कहीं से एक पता मिला था । उस पते पर वह पहुँच तो गया, लेकिन वहाँ तो गुंडों और दलालों के गुप्त अड्डे के बजाय पुस्तक-विक्रेता की दूकान थी । सुंदर किताबें, ज्ञान

समृद्धि से भरे ग्रंथ और देश विदेश के साहित्य की उत्तमोत्तम रचनाओं से दूकान भरी हुई थी । उसे पहले तो आश्चर्य हुआ । सरे बाज़ार, इस स्थान पर, जहाँ रोज सैंकड़ों लोग किताबें खरीदने आते हों, स्त्रियों का व्यापार करनेवाले दलालों का केन्द्र कैसे हो सकता है ? उसके मनमें शंका आई कि कहीं वह गलत पते पर तो नहीं आ गया । परंतु हिम्मत करके उसने दूकान के मालिक से धीरे से पूछ ही लिया, ''क्या मैं स्त्रियों का व्यापार करने वालों के मुखिया से मिल सकता हूं ?'' उसक़ी इस मूर्खता से दूकान का मालिक क्रोध से पागल हो उठा । उसने ऐसी उछल कूद और चिल्लाहट मचाई कि दूकान के कर्मचारी और किताबें खरीदने वाले ग्राहक भी चौकन्ने होकर देखने लगे । दस मिनट तक उसे उबलने देकर अध्येता ने फिर शांति से कहा, ''मैं अच्छी तरह जानता हूं कि आपकी दूकान ही इन देह व्यापारियों का संपर्कस्थान है । इन लोगों का पत्र व्यवहार भी आपके पते पर ही होता है । मुझे इस केन्द्र की सूचना फ्रान्स से मिली है, और आपके नाम एक परिचयपत्र भी मैं लाया हूं ।''

ज्ञान और विद्या का वह व्यापारी तुरंत शांत हा गया और अध्येता को दूकान के अंदरुनी हिस्से में ले गया । वहाँ से टेलीफोन करके उसने गणिकाओं का दास-व्यापार करने वालों से इसका संपर्क करा दिया । इस प्रकार पुस्तकों का विक्रेता स्त्री-विक्रय का आढ़ती सिद्ध हुआ; और सरस्वती का मंदिर गणिकागृह का प्रवेशद्वार प्रमाणित हुआ ।

इन केन्द्रों के संचालक कैसे होते हैं ? आप कभी पुलिस थाने की ओर से गुज़रे हों तो देखा होगा कि वहाँ फरार अपराधियों की तस्वीरें लगी रहती हैं । इनमें से ही कुछ चित्र इन व्यापारियों के रूप में साकार हो उठते हैं । परंतु यही चित्र जब इनके घरों में टांगे जाते हैं, तब इनके बाल बच्चे उन तस्वीरों के प्रति बड़ी श्रद्धाभक्ति प्रदर्शित करते दिखाई देते हैं । उन बेचारों को क्या मालूम कि उनके पालनकर्ता की तस्वीर पुलिस थानों में फरार अपराधियों की तस्वीरों के साथ लगी हुई है और पुलिस अफसरों को जानकारी न होने के कारण या उनकी मुट्ठी गरमाये जाने के कारण ही उनका पिता अब तक स्वतंत्र रह सका है । हम इस व्यापार के मुखियाओं का कुछ और निकट से परिचय प्राप्त करें । नैतिकता के विषय में फ्रान्स यूरोप के सब देशों के गुरुस्थान पर होने के कारण हम वहीं की परिस्थिति क़ा निरीक्षण करें । यह सिद्ध हो चुका है कि ब्यूनो-आयर जैसे हजारों मील दूर के नगरों में भी स्त्रियों का व्यापार करने वाले बड़े व्यापारी मुख्यत: दो ही केन्द्रों से आते हैं: एक पेरिस और दूसरा मासेर्ल्स । धर्म और नीति का सदा उपहास करनेवाली उन्हीं की भाषा में कहें, तो फ्रान्स में अनीति के दो प्रधान मठ हैं: एक पेरिस में और दूसरा मासेर्ल्स में ।

भाषणों में हम अकसर शुद्ध हृदय से कह उठते हैं, ''गुणा: पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वय: ।'' गुणी की जाति क्या ? गुण में स्त्री-पुरुष का भेद कैसा ? गुण का उम्र से क्या संबंध ? इस धंधे के संबंध में भी हम उपरोक्त प्रश्न पूछ सकते हैं । रूप सौंदर्य के इन विक्रेताओं में चौबीस वर्ष के नवयुवक भी होते हैं, और चौवन वर्ष के अधेड़ भी । ये लोग प्राय: निरंकुशतावादी और अराजकतावादी होते हैं । राजनीतिक दृष्टि से नहीं; केवल सामाजिक दृष्टि से । राज्य तो उन्हें स्थैर्य और शांति वाले ही पसंद आते हैं, जहाँ वे बिना किसी रोकटोक के अपना धंधा बेखटके कर सकें । उनकी आकांक्षाएँ भी वैसे तो बड़ी सात्विक होती हैं । किसी शांत सरोवर के किनारे एकांत में कहीं छोटा सा मकान हो, जहाँ वे अपने परिवार के साथ शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकें; और ताश खेलने के लिए, चिड़ियों का शिकार करने के लिए या मछली पकड़ने के लिए पर्याप्त समय हो । बस . . . . . और कुछ नहीं । अकसर यही उनके जीवन की सर्वोच्च अभिलाषा होती है । परंतु उनकी वृत्ति यही होती है कि यह सब बिना किसी प्रकार का परिश्रम किये ही मिल जाय । वैसे काम करने से वे डरते नहीं । आवश्यकता पड़ने पर चाहे जैसा काम वे कर सकते हैं । सिर्फ सामाजिक मनुष्य के सामान्य कहे जाने वाले कामकाज के प्रति उन्हें तीव्र अरुचि होती है ।

इस प्रकार के जीवन की तालीम उन्हें बचपन से ही मिलती रहती है । पाठशाला जाने के बहाने इधर उधर भटरगश्ती करना उनके जीवन की प्रथम निरंकुश भूमिका होती है । इसीसे उनके स्वतंत्र जीवन का आरंभ होता है । बेकार भटकते हुए कभी वे किसी दूकान में घुस जाते हैं और कभी किसी बाग में । दूकानों में वे छोटी-मोटी चीजें पार कर देने की विद्या सीखते हैं, और बाग में पेड़ की छाया में सोये हुए किसी थके हुए मनुष्य की जेबें टटोल कर उसकी घड़ी या सिगरेट की डिबिया उड़ा लेने की तालीम हासिल करते हैं । इसमें कभी-कभी वे पकड़े भी जाते हैं । परंतु कम उम्र के बालकों के छोटे-मोटे अपराधों को क्षमा करके उन्हें छोड़ देने की सार्वजनिक वृत्ति उनकी चोरियों की गंभीरता का उन्हें अनुभव नहीं होने देती । धीरे-धीरे वे मंजे हुए गिरहकट बन जाते हैं, और कुछ बड़े होने पर और भी बड़ी चोरियाँ और बड़े अपराध करने लगते हैं । यहीं से शराब भी उनके जीवन में स्थायी रूप से प्रवेश कर जाती है । यौवन के प्रथम आगमन पर उनके मन में साहस की प्रबल वृत्ति जन्म लेती है । रात में दो-चार मित्र इकट्ठे होकर, निर्जन मार्ग से जाने वाले किसी मज़दूर को लूट लेते हैं । लूट में क्या मिलता है ? थोड़ा सा तंबाकू, दो-चार बीड़ियाँ और दो-चार आने के पैसे ! ऐसी ही किसी छोटी-मोटी डकैती में वे पकड़े जाते हैं और प्रथम बार जेल की हवा खाते हैं । यह उनके जीवन का एक ऐसा मोड़ प्रमाणित होता है जहाँ से वापस लौटना संभव नहीं । केवल अनीति के सहारे जीवनयापन किस प्रकार हो सकता है, इसके तीव्र अनुभव और प्रभावकारी उपदेश उन्हें यहीं मिलते हैं । शीघ्र ही कोई पुराना, अनुभवी गुंडा उन्हें गुरुमंत्र देता है कि इस प्रकार की छोटी मोटी चोरियाँ या लूटमार से कोई फायदा नहीं । इसमें खतरा भी अधिक है । हमेशा के लिए चैन की बंसी बजाना हो, तो किसी युवती को फँसाकर उसे अपने लिये धन कमाने में लगा देना अत्यंत आवश्यक है ।

यह विचार उनके हृदय में बिजली की तरह कौंध जाता है । जेलखाने से बाहर निकलने पर उन्हें प्रथम बार यौवन की स्फूर्ति महसूस होती है । प्रथम बार उनकी नज़रें स्त्रियों की ओर और स्त्रियों की नज़रें उनकी ओर आकर्षित होती हैं । साहस के साथ रूप और यौवन का मेल हो जाता है । अनेक स्त्रियाँ इन लफंगों से मोहित होकर उन्हें भोग-विलास के आरंभिक पाठ पढ़ा देती हैं, इतना ही नहीं, उनका मन रखने के लिए कुछ रुपया-पैसा या ज़ेवर आदि भी उन्हें देती रहती हैं । फिर तो एक स्त्री को छोड़कर दूसरी प्राप्त करने का मार्ग खुल जाता है । इन स्त्रियों की नज़रों में बहादुर प्रमाणित होने के लिए वे बात-बात पर ग़र्राना और मारपीट करना सीखते हैं । इसके फलस्वरूप फिर जेल जाना पड़ता है। वहाँ पुराने कैदियों के पराक्रमों की वे ही गाथाएँ फिर सुनाई पड़ती हैं; स्त्रियों के देह विक्रय की कमाई से किस प्रकार जीवन यापन किया जा सकता है, इसकी अनेक योजनाएँ भी फिर से सुनाई देती हैं; फिर एक बार वे जेल से बाहर निकलते हैं और अपनी प्रेमिका युवती को अनाचार के मार्ग पर प्रवृत्त करके, रोजगार का सरल साधन ढूंढने के प्रयत्नों में लग जाते हैं । यह दुष्टचक्र इसी प्रकार चलता रहता है । दो-चार बार के अनुभव के बाद जब वे जेल से निकलते हैं, तो अपने प्रति आकर्षित होकर अपने कहे अनुसार कैसा भी काम करने को तैयार हो जाने वाली स्त्रियों की तलाश फिर सरगर्मी से शुरू कर देते हैं । आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें ऐसी स्त्रियाँ प्राय: मिल भी जाती हैं ।

एक कुप्रसिद्ध स्त्री-व्यापारी ने स्त्रियों की कमाई से जीवनयापन का आरंभ किस प्रकार किया, इसकी कहानी उसी के मुख से सुनने योग्य है: — "मैं जेल में था तब मेरी प्रेमिका मुझे थोड़े-बहुत रुपये भेजती रहती थी । परंतु जेल से निकलने पर मैं उसका पता न लगा सका । शायद वह मेरे जैसे किसी और प्रेमी के साथ कहीं चली गई होगी । अत: फिर से मैंने उपयुक्त स्त्री की तलाश आरंभ की । किसी कारखाने में

काम करनेवाली सत्रह-अठारह वर्ष की एक लड़की मुझे मिल गई और उसके साथ मेरे स्वभाव का मेल भी बैठ गया । परंतु उसकी माँ उसके साथ रहती थी । बुढ़िया की उपस्थिति में लड़की को अनाचार में प्रवृत्त करना मुश्किल था । अतः उसे उसकी माँ के संरक्षण से दूर करने का एक उपाय मैंने ढूंढ निकाला । मैंने उस लड़की से कहा कि मैं एक कुशल इंजीनियर हूं, और लंदन जाकर काम करना चाहता हूं । मुझे बहुत अच्छी नौकरी भी मिल गई है । झूठ बोलने में मुझे कोई बुराई दिखाई नहीं दी । मेरे प्रति प्रेम से और मेरे प्रतिष्ठित व्यवसाय से आकर्षित होकर वह मेरे साथ चलने को राज़ी हो गई । कुछ ही दिनों बाद हम उस शहर से चल दिये । रास्ते में मैंने उसके लिए कुछ सुंदर कपड़े खरीद लिए ।

'लंदन में मेरे कई मित्र रहते थे, जिनसे मेरा परिचय जेल में हुआ था । उनके कहे अनुसार मैंने एक कमरा किराये पर ले लिया । उन्होंने मुझे कुछ रुपये भी दिये । लड़की को वहीं छोड़कर मैं नौकरी की तलाश के बहाने घर से निकला । परंतु न तो मैं इंजीनियर था और न मुझे नौकरी मिल सकती थी । दो-चार घंटे इधर-उधर घूम कर मैं घर वापस आ गया और अत्यंत निराश होने का ढोंग किए पड़ा रहा । उसके पूछने पर अत्यंत चिंतित मुद्रा से मैंने बताया कि एक दिन की देर हो जाने के कारण नौकरी हाथ से निकल गई । उसने मेरी बात को सच मान लिया और उसके कोमल मन पर इसका इच्छित प्रभाव भी पड़ा । दूसरे दिन भी मैं पूरे दिन इधर-उधर घूमता रहा, और नौकरी ढूंढने की भरसक कोशिश करने का पूरा दिखावा किया । शाम को घर लौट कर फिर निराशा का अभिनय किया । कई दिनों तक मैंने यही क्रम जारी रखा । आखिर उसे पक्का विश्वास हो गया कि मुझे नौकरी नहीं मिल रही । एक दिन उसने पूछा, 'अब अपना क्या होगा ?''

'अब तो सब तेरे ऊपर निर्भर है ।

'मेरे ऊपर ? यह कैसे ?

'अब तो तू यदि गलियों में घूमना शुरू करे, तो ही अपना गुजारा चल सकता है ।

गलियों में घूमने (Street Walking) का अर्थ वह समझती थी । अतः यह सुनते ही वह रोने लगी । मैंने उसे प्रेम से समझाया कि यह तो सिर्फ दो-चार दिन की बात है । मुझे काम मिलते ही वह पूर्णत स्वतंत्र और सुखी हो जायगी । मेरे समझाने का इच्छित परिणाम हुआ । दूसरे दिन से, मेरे एक साथी की योजनानुसार उसने गलियों में घूमना शुरू कर दिया । मैं और मेरा साथी देखना चाहते थे कि यह युवती पुरुषों का शिकार किस तरह करती है । पंद्रह मिनट के अंदर ही उसे एक पुरुष के साथ गलबहियाँ डाले जाते हुए देख कर हम दोनों बहुत खुश हुए । हमें ऐसा महसूस हुआ कि गणिकावृत्ति की प्रतिभा स्त्रियों में शायद जन्म-जात होती है । कुछ देर बाद उस आदमी से मिले हुए पैसे लेकर वह हमारे पास आई । मैंने उसकी पीठ थपथपा कर उसे शाबाशी दी । शर्म से उसकी गरदन झुक गई; परंतु मैंने आश्वासन दिया कि यह सब वह मेरे लिए ही कर रही है और दो-चार दिनों में ही इसकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी; इसलिए वह घबराये नहीं ।

'उस रोज उसे दस शिलिंग मिले । कारखाने में मज़दूरी करके दस शिलिंग कमाने में कितनी मेहनत पड़ती है और कितना समय लगता है, यह उसे मालूम था । अतः दूसरे दिन से उसने अपनी मरज़ी से गलियों में घूमना शुरू किया । उस दिन तीस शिलिंग मिले । धीरे-धीरे तीस के चालीस हुए, और चालीस से बढ़कर उसे एक-एक रात में साठ-सत्तर शिलिंग तक मिलने लगे । मैंने फिर एक बार उसके लिए सुंदर कपड़े सिलवा दिये । अब तक मैंने उसकी कमाई को हाथ भी नहीं लगाया था । परंतु जब रोज़ाना सत्तर शिलिंग की आमदनी होने लगी, तो मैंने प्रथम बार अपने लिए एक टोपी और कुछ कालर खरीदे । इसके बाद हमने दक्षिणी अमरीका जाने का निश्चय किया । रास्ते भर मैं उसे यह समझाता रहा

कि अमरीका में धन की कोई कमी नहीं है, परंतु वहाँ उसे अपनी प्रलोभन-कला का पूरा-पूरा उपयोग करना पड़ेगा । मैंने उसे वचन दिया कि पर्याप्त धन जमा होते ही मैं उससे विवाह कर लूंगा । साथ ही उपयुक्त मौका देखकर यह इशारा भी कर दिया कि शीघ्रता से रुपया कमाने के लिए मुझे अन्य स्त्रियों को भी व्यवसाय में लगाना पड़ेगा ।''

आज के एक धुरंधर स्त्री-व्यापारी के व्यवसाय का यह आरंभ था । अनेक युवतियों को गलियों में घुमाकर; अनेक को गणिका गृहों में बसाकर, कुछ को विदेश ले जाकर और कुछ को प्रेम और विवाह के सब्ज़ बाग दिखाकर उनके देह-विक्रय से जीवनयापन करने वाले इन हृदयहीन तथाकथित व्यापारियों ने ही संसार भर में स्त्रियों के दास व्यापार को व्यापकता से फैलाया है ।

इस व्यवसाय की केंद्रीय व्यवस्था को हम एक स्वतंत्र और कानून का भंग करने वाली, राज्यशासन की प्रतिस्पर्धी सत्ता मान सकते हैं । यह एक ऐसे लोगों की संघटना है जो खुले आम स्त्रियों का व्यापार करते हैं । जिस प्रकार अनाज, कपड़ा, ईंधन या अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का व्यापार करने वाले थोक व्यापारियों के मंडल होते हैं उसी प्रकार गौरांग स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने वाले इन व्यापारियों के भी मध्यवर्ती संघटन होते हैं । ये संगठन व्यापारी-मंडलों से कहीं अधिक शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि उनके मातहत कार्यकर्ताओं और इस व्यवसाय में फँसी हुई स्त्रियों के ऊपर उनकी अमर्याद सत्ता होती है । सच कहें तो इनकी तुलना डाकुओं के गरोहों के साथ होनी चाहिये । पुलिस के सिवा राज्य की और कोई सत्ता इनका स्पर्श भी नहीं कर सकती । और पुलिस के साथ ये लोग ऐसा संबंध रखते हैं मानो यह विभाग उनकी सार्वभौम सत्ता का एक मित्र राज्य हो । इस विभाग के साथ मित्रता भरे संबंध बनाये रखने के लिए गणिका व्यापारियों के केन्द्रमंडल किसी दूतावास की सी योजनाएँ बनाते हैं । इनके प्रतिनिधि पुलिस के साथ मिलकर, साम, दाम, दंड, भेद की नीति से कठिन से कठिन समस्याओं को हल कर लेते हैं ।

इन व्यापारियों का एक ही सिद्धान्तसूत्र होता है: ''सिर्फ उन्हीं स्त्रियों से संबंध रखिये, जिनमें तुम्हारा गुज़ारा चलाने की शक्ति हो, और जो तुम्हारी सेवा करने को उत्सुक हों ।'' इसके सिवा अन्य कोई बात, और इसके अलावा और कोई काम वे निषिद्ध मानते हैं । अन्य कोई धंधा करना तो शायद उनकी दृष्टि में बड़ा भारी पाप है । दूषित समाज-व्यवस्था के चक्र में फँसी हुई स्त्रियों का शोषण करके, बिना हाथ-पाँव हिलाये अपना निर्वाह करना ही उनके जीवन की एकमात्र महत्वाकांक्षा होती है ।



४

स्त्रियों के दो प्रकार: भाग्यहीन और चरित्रहीन

इस व्यवसाय में आकंठ डूबी हुई एक स्त्री की राय है कि इस पेशे में दो ही प्रकार की स्त्रियाँ पायी जाती हैं: एक भाग्यहीन, और दूसरी चरित्रहीन । गणिकावृत्ति करने वाली अस्सी प्रतिशत स्त्रियाँ अभागिनी दुखियाएँ होती हैं, और बीस प्रतिशत कामुक कुलटाएँ ।

भाग्यहीन या बदकिस्मत किसे कहा जाय ? सोलह वर्ष की किसी लड़की को उसकी माता शराब के नशे में चूर हो कर रोज शाम को घर से बाहर निकाल दे, और पंद्रह-बीस रुपये कमा कर लाये बिना घर में न घुसने देने की धमकी दे, तो ऐसी लड़की को बदनसीब नहीं तो और क्या कहा जायगा ? दुर्भाग्य से, ऐसी परिस्थिति समाज में हम मानते हैं उससे कहीं अधिक प्रमाण में फैली हुई हैं ।

कोई लड़की अनाथ हो । उसकी देखभाल करने वाला कोई संबंधी भी न हो । रुपया-बारह आने रोज वह कहीं मेहनत-मज़दूरी कर के कमा लेती हो; परंतु एकाएक उसका काम छूट जाय । तीन रोज तक उसे रोटी का टुकड़ा भी नसीब न हुआ हो, और कोठरी का मालिक किराये का तगादा कर रहा हो, तो इस लड़की को भी बदकिस्मत ही कहना होगा । ऐसे उदाहरण अपवाद रूप नहीं हैं । धनवान देशों में भी ऐसी अभागिनी युवतियाँ मिल सकती हैं ।

कोई जवान लड़की है । पिता महीनों से खाट पर पड़े हैं । छोटे भाई-बहन खाना माँग-माँग कर परेशान करते हैं । पिता के लिए दवा भी लानी है । दवा के लिए, या छोटे बच्चों को कुछ मँगवा कर खिलाने के लिए घर में एक पैसा भी नहीं है । जो छोटा-मोटा काम वह करती थी, सो भी या तो छूट गया है, या छोड़ देना पड़ा है । इस परिस्थिति में यह लड़की भी भाग्यहीन कही जायेगी । अन्य काम के अभाव में, गणिकावृत्ति किए बिना उसका छुटकारा नहीं ।

कोई युवती किसी पुरुष के लंबे-चौड़े वादें से बहक कर उसकी वासना का शिकार हो गई हो । प्रतिष्ठित समाज और घर के दरवाजे उसके लिए बंद हो गये हों । उसे बहकाने वाला पुरुष आश्रय देने के बजाय उसे गणिकावृत्ति करने को ही प्रेरित करता हो, तो यह युवती भी बदकिस्मत ही कही जायेगी । इसी प्रकार की किसी अन्य युवती के पास रुपया-पैसा नहीं है । कुछ दिनों बाद वह माँ बन जाती है । बालक का पिता गायब हो चुका है । बच्चे की देखभाल करने वाला कोई नहीं, और उसका गला घोट देने की ताकत नहीं; तो इस युवती को भी भाग्यहीनता का ही उदाहरण कहना होगा ।

इस अभागिनी युवतियों को पाप करने से पहले या उसके बाद डूब मरना चाहिये, ऐसी अमूल्य राय देने वाले स्त्री-पुरुष भी समाज में बहुतायत से मिल जाते हैं । ये पावन स्त्री-पुरुष पूजा के पात्र हैं और उनके द्वारा पापियों को दी जाने वाली डूब मरने की राय भी उनकी पवित्रता के अनुरूप है । हमारा कहना सिर्फ इतना ही है कि इन निष्कलंक स्त्री-पुरुषों को निराधार स्थिति में खुद भूखे रहकर, बीमार माता-पिता को दम तोड़ते देखने का या छोटे-छोटे भाई-बहनों का भूख से बिलबिलाते देखने का कभी मौका नहीं पड़ा होगा । ऐसा अनुभव जीवन में एक बार भी उन्हें हो चुका हो, तो उनका इससे भी कठोर सज़ा फरमाना योग्य माना जा सकता है । अन्यथा, जिन्हें दुख दर्द का अनुभव नहीं, उन्हें दुखियों पर अभियोग लगाने का, या उन्हें दंड देने का कोई अधिकार नहीं ।

दूसरा प्रश्न यह है कि स्वभाव से ही बदचलन या चरित्रहीन स्त्री किसे कहना ? उत्तर स्पष्ट है: जो स्त्रियाँ राजीखुशी से, अपने शौक या अपनी वासना की तृप्ति के लिए इस पेशे में आती हैं, उनके लिए इसी विशेषण का प्रयोग उचित होगा । पुरुष समागम का शौक तो गणिकावृत्ति करनेवाली स्त्रियों में बहुत जल्द समाप्त हो जाता है । उसके परिणामों से बचने के लिए भी इन स्त्रियों को अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है । अत: यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि बिना किसी अन्य कारण के, केवल शौक पूरा करने के लिए यह पेशा लंबे समय तक करने वाली स्त्रियों की संख्या अत्यंत कम होती है । इस वर्ग की अधिकांश युवतियाँ तो वही होती हैं, जिनकी बचपन से परवरिश ही इस वातावरण में हुई हो, और जिनकी नज़र के सामने गणिकावृत्ति करने वाली उनकी माता या बड़ी बहनों का उदाहरण हो । स्त्रियों के लिए धन कमाने का इसके सिवा और कोई मार्ग ही नहीं, ऐसी प्रबल मान्यता वाली युवतियाँ भी इसी वर्ग में आती हैं । जिस वातावरण में इन युवतियों का पालन-पोषण होता है, वह इतना दूषित होता है कि बारह-तेरह वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते तो उन्हें यौन अनुभव हो चुका होता है । कोई भी युवती इस मार्ग पर एक बार बढ़ी, कि एक-एक सोपान नीचे उतरना —अत्यंत सरल होता है, और शीघ्र ही वह दिन आ जाता है जब वह अपने आप को गलियों में घूम-घूम कर पुरुषों को आकर्षित करने के व्यवसाय में आकंठ डूबी हुई पाती है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाग्यहीन युवतियों की दयनीय परिस्थिति और दूषित वातावरण में पलने वाली युवतियों के सदा समक्ष रहनेवाले उन्हीं की माँ बहनों के उदाहरण, मिल कर युवतियों को इस व्यवसाय में प्रेरित करते रहते हैं । अनुचित उदाहरण सामने होना भी एक प्रकार का दुर्भाग्य ही है । यौवन का आवेग उन्हें इस मार्ग पर प्रेरित होने में सहायक होता है । युवती यदि रूपवती हो, तो यह रफ्तार और भी बढ़ जाती है । इस उम्र में कुछ रूप तो कुदरत ही दे देती है, और कुछ उसे बढ़ाने के कृत्रिम साधनों की भी कमी नहीं है । फिर यह भी सत्य है कि वासना के भूखे पुरुष की आँखों में तो हर स्त्री रूपवती ही दिखाई देती है ।

इस वर्ग की स्त्रियाँ भी केवल अपने बलबूते पर विदेश नहीं जा सकतीं । उन्हें ले जाने वाला कोई न कोई पुरुष साथी अवश्य होता है । किसी भी बदनसीब या शौकीन युवती को विदेश ले जाकर और वहाँ उससे गणिकावृत्ति करवा कर उसकी कमाई पर जीने वाले स्त्री-पुरुष या स्त्री-पुरुषों के मंडल इन युवतियों से गुलामी ही करवाते हैं । यूरोप-अमरीका का कोई भी देश इस व्यवसाय से अछूता नहीं है ।





५
बंद दरवाज़ों के पीछे

अब इस पेशे के कुछ पाश्चात्य दृश्य हम नज़दीक से देखें । हम एक सुंदर, सजे हुए कमरे में प्रवेश करते हैं । सद्‌गुणी आदमी सब सुखी होता है और दुष्कृत्य करनेवालों को दुख भुगतना पड़ता है, यह नीति-सिद्धान्त यहाँ झूठा पड़ता दिखाई देता है । दो रौबदार पुरुष, मानो किसी बड़े व्यापार की योजना बना रहे हों, ऐसी गंभीरता से बातें कर रहे हैं । एक पुरुष कहता है, "तो फिर मेरा बताया हुआ माल आप खरीद लेंगे न?"

"खास बाधा तो नहीं है; पर आपको यह माल बेचना क्यों पड़ रहा है?" दूसरा जवाब देता है ।

"आपके इन सवालों से ही तो गाड़ी पटरी पर नहीं आती ।"

"अच्छा छोड़ो । मगर दाम क्या होगा?"

"बिल्कुल खरीद भाव । एक पाई भी ज़्यादा नहीं । इस सौदे में नफा खाने की इच्छा ही नहीं । और भला आपसे क्या मैं ज़्यादा ले सकता हूं? दो हजार खरीद-कीमत है । ढंग से काम लोगे तो देखते-देखते कीमत वसूल हो जायेगी । वैसे मैं चाहूं तो मुझे तीन हजार भी मिल सकते हैं ।"

"तेरह सौ मंजूर हैं? सोच लो, पड़ता खाता हो, तो सौदा पक्का ।"

"अच्छा मंजूर है । मुझे तो जल्दी से जल्दी माल का निकास करना है ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह व्यवहार किसी स्त्री के संबंध में हो रहा है । खरीदार पुरुष के अलग-अलग स्थानों पर ऐसे चार मकान हैं जिनमें एक-एक युवती उसके लिए अनीति की कमाई कर रही है । विक्रेता और दलाल उसके यहाँ आते ही रहते हैं । इसके उपरांत लंदन में और अन्य शहरों में भी उसके लिए देह विक्रय से कमाई करनेवाली कई स्त्रियाँ रहती हैं । किसी कुशल संचालक की तरह वह उन्हें आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलता रहता है । उसकी आर्थिक स्थिति के संबंध में हम उससे पूछते हैं । सुनिये, वह क्या कहता है: "मेरी हैसियत इस समय बीस लाख की है । जी हाँ, पूरे बीस लाख । और मेरे लिए यह काफी है । मेरी उम्र पैंतीस वर्ष की है जिसमें के पाँच मैंने जेल में काटे हैं । इसके अलावा मुझे सरकार से निवृत्ति-वेतन भी मिलता है । सन् चौदह के युद्ध में मैं शामिल था । जब मैं स्वदेश जाता हूं, तब सरकारी दफ्तर से अपने पेन्शन की रकम भी वसूल कर लाता हूँ ।"

हमारे मन में शंका उत्पन्न होती है कि यहाँ हजारों मील दूर बैठा हुआ यह आदमी लंदन में रहनेवाली गणिका पर नियंत्रण कैसे रखता होगा? हमारी शंका का समाधान भी हम उसीके मुँह से सुनें: "इसमें कोई खास दिक्कत नहीं होती । लंदन में रहनेवाली इस युवती का मुझसे बहुत लगाव है । फिर मैंने उसका वहाँ विवाह भी कर दिया है; इसलिए चिंता की कोई बात नहीं ।" लंदन में रहने वाली गणिका का इस व्यापारी से प्रेम है, यह तो हम समझ सकते हैं । परंतु उसके विवाह की बात, और इस कारण से

व्यापारी को होने वाली निश्चिंतता हमें चकित कर देती है। हम अपने आश्चर्य को प्रश्न द्वारा व्यक्त करते हैं; परंतु उसे हमारे प्रश्न से ही अचरज होता है, और वह हमसे पूछता है:

"क्यों, इसमें ताज्जुब की क्या बात है?"

"विवाहित स्त्री पर तुम अपना हक कैसे जमा सकते हो?"

"अरे भाई, यह विवाह सिर्फ सरकारी दफ्तर में दर्ज करने के लिए होता है। फ्रान्स की कोई युवती विवाह किये बिना लंदन में रहे, और गलियों में घूम कर ग्राहक फँसाती हुई पकड़ी जाय, तो पुलिस अधिकारी उसे तुरंत फ्रान्स वापस भेज देते हैं। इस स्थिति को टालने के लिए उसे विवाहित सिद्ध करना जरूरी होता है। इस लिए पक्के कागज-पत्र पास में रखने पड़ते हैं।"

"परंतु, क्या इस तरह विवाह करनेवाले पुरुष मिल जाते हैं?"

"क्यों नहीं? चाहे जितने मिल सकते हैं। बेकार भटकने वाले लोगों की कोई कमी है क्या? किसी से भी कहिये कि अमुक स्त्री के साथ जाकर विवाह दर्ज कर आने पर उसे बीस पाउंड मिलेंगे, तो जनाब, वह तो आपके तलवे चाटेगा। सब की राजीखुशी से यह सौदा पूरा हो जाता है। फिर हम तीनों कहीं जाकर शराब पीते हैं और मौज करते हैं। शराबखाने से बाहर निकलते ही स्त्री उसे आखिरी सलाम कर देती है।"

"परंतु वह आदमी अपनी स्त्री पर विवाह का अधिकार जमाने को फिर से आ पहुँचे तो क्या हो?"

"तो हम उसे ऐसा सबक सिखाते हैं कि बेटा ज़िंदगी भर याद करे। हड्डी-पसली की ऐसी मरम्मत होती है कि दोबारा विवाह के अधिकारों का नाम लेना भी भूल जाय।"

"इस पर भी वह स्त्री तुम्हें चाहती रहती है?"

"बेशक। और मुझसे विवाह कर सकने की आशा में अपना काम और भी जोरशोर से करती रहती है।"

"क्या तुम भी उसे चाहते हो?"

"क्या बात कही है! भाईजान, हम लोग सिर्फ व्यापार के साझेदार हैं; प्रेम के नहीं। हमारे व्यापार में स्थायी प्रेम का झंझट निभ ही नहीं सकता। हम तो सीधा-सीधा हिसाब जानते हैं। हमने उसे भूख की आग से बचाया; वस्त्रहीनता की शर्म से बचाया; इस का बदला क्या उसे कुछ भी नहीं चुकाना चाहिये?"

जिस भूख और वस्त्रहीनता के शमन के लिए स्त्री को अपनी लाज बेचनी पड़ती हो, उसकी उग्रता का कुछ अंदाज़ इससे लग सकता है। इस पेशे के व्यापारी, उनके साधन और उनकी युक्तियों के दर्शन हमने किये। अन्य व्यापारों की तरह इस पेशे से भी मानवता तो कभी की निर्वासित हो चुकी है।

अब हम किसी गणिका गृह में भी झाँक लें। लाल या भूरे रंग का प्रकाश और कांच के दरवाज़ों पर डले हुए परदे इन गृहों के सामान्य लक्षण होते हैं। हर पचास या सौ गज़ के अंतर पर यह गणिकालय दिखाई देते हैं। ऐसे ही किसी मकान में हम प्रवेश करते हैं। क्या करें, मजबूरी है। अंदर प्रवेश किये बिना वहाँ चलने वाली करुण कहानी ठीक से समझ में नहीं आयेगी। पाँच-सात सीढ़ियाँ चढ़कर हम बरामदे में पहुँच जाते हैं .... सामने ही परदा डला हुआ दरवाज़ा है .... अंदर प्रकाश दिखाई दे रहा है .... हम बिजली की घंटी का बटन दबाते हैं .... वाह, घंटी की आवाज़ कितनी मधुर है! .... घंटी बजते ही परदा उठता है .... अधेड़ उम्र की एक स्त्री हमें घूर कर देखती है .... और उसकी नज़र में अगर हम अंदर प्रवेश करने लायक प्राणी दिखाई दें, तो वह हमें अंदर बुला लेती है। पर यह क्या? .... अंदर तो बैठने की भी जगह नहीं है .... कई लोग बैठे राह देख रहे

हैं . . . . . सामने के कोच पर पाँच आदमी बैठे हैं . . . . इस ओर तीन आदमी कुरसियों पर बैठे हैं . . . . चार खड़े हुए हैं . . . . बारह आदमी हुए . . . . . अपनी बारी आई भी, तो इन बारह के बाद . . . . . नहीं, नहीं . . . . . यहाँ भीड़ बहुत है . . . . . कब तक राह देखेंगे ? . . . . . बड़ी देर हो जायेगी . . . . . कहीं और चलें . . . . . यहाँ तो चारों ओर ऐसे मकान बिखरे हुए हैं . . . . . ।

. चलिये, और कोई लाल प्रकाश वाला मकान ढूंढें । लेकिन यह क्या ? . . . . . सब जगह एक सी भीड़ है . . . . . कहीं न कहीं तो जाना ही है . . . . . यहाँ ठीक है, क्यों कि यहाँ सिर्फ नौ आदमी बैठे हैं . . . . . यह संख्या सब से कम है . . . . . हम दसवें क्रम पर, सोफा के एक किनारे बैठ जाते हैं . . . . . इधर-उधर देखिये, हमसे पहले आने वाले लोग किस तरह समय बिता रहे हैं . . . . . जाने कब से बैठे हैं . . . . . कोई अखबार पढ़ रहा है . . . . . कोई सिगरेट के लंबे-लंबे कश खींच रहा है . . . . . कोई यूं ही कुरसी पर पाँव फैलाये पड़ा है . . . . . सबको भरोसा है कि उनकी बारी अवश्य आयेगी ।

यकायक अंदर का दरवाज़ा खुलता है, और एक पुरुष जल्दी से निकल कर बाहर चला जाता है । वह किसी से नज़रें भी नहीं मिलाता । उसके पीछे-पीछे जो युवती बाहर आकर खड़ी है उसे देखा ? सचमुच, है तो सुंदर । तुरंत पहली कुरसी पर बैठा हुआ पुरुष खड़ा हो जाता है और सब के सामने उसका हाथ पकड़ कर अंदर चला जाता है । दोनों परदे के पीछे अदृश्य हो जाते हैं । दरवाज़ा बंद हो जाता है । बाकी लोग पहले की तरह ही अखबार पढ़ते रहते हैं, या सिगरेट पीते रहते हैं । सहसा दो-तीन आदमी उठकर चल देते हैं । हम अपने पड़ोसी से इसका कारण पूछते हैं । कई लोग एक साथ नुकता चीनी करने लगते हैं:

'शायद उन्हें इतनी गोरी स्त्री पसंद नहीं होगी ?'

'उन्हें शायद इससे मोटी स्त्रियाँ पसंद होंगी ।' इत्यादि । बेशक, गणिका गृहों में हास्य विनोद की कोई कमी नहीं होती ।

आठ-दस मिनट के बाद फिर दरवाज़ा खुलता है । बाहर निकलने वाला पुरुष फिर नज़रें बचाता हुआ शीघ्रता से पलायन कर जाता है । युवती फिर दरवाज़े पर खड़ी दिखाई देती है । सब से आगे बैठा हुआ पुरुष फिर अंदर चला जाता है । दरवाज़ा फिर बंद हो जाता है । देह विक्रय और स्त्री-उपभोग के व्यवसाय का यही निरंतर क्रम है । पूरी रात यही चक्र चलता रहता है ।

इन गणिकाओं की आय का हिसाब सुन कर तो बड़े-बड़े धनवान और ऊँचे से ऊँचा वेतन पाने वाले अधिकारी भी आश्चर्य चकित हो सकते हैं । मध्यम श्रेणी की किसी अप्सरा से हम उसकी आय का अंदाज़ पूछें । उसका उत्तर हमें चकित कर देता है । वह कहती है, "आजकल तो कमाई कुछ कम हो गई है; परंतु शुरू शुरू में मुझे चार सौ पेसो रोज मिल जाते थे ।" यह गणिका यदि हफ्ते में पाँच दिन ही काम करती हो, तो भी एक सप्ताह में दो हजार पेसो हुए । आर्जेन्टाइना का एक पेसो करीब चौदह फ्रैंक के बराबर होता है । इस हिसाब से प्रति सप्ताह इस गणिका को अट्ठाइस हजार फ्रैंक मिले । हफ्तों के महीने और महीनों के वर्ष होते देर नहीं लगती । अत: एक साल में तो एक-एक गणिका कई लाख फ्रैंक की कमाई कर लेती होगी । निस्संदेह, इस पेशे में लुटनेवाले धन की कल्पना भी मनुष्य की बुद्धि को कुंठित कर देती है ।

परंतु इस आमदनी का विचार करते समय इस व्यवसाय के बेशुमार खर्चों को भी नहीं भूलना चाहिये । स्त्री-विक्रय का व्यवसाय संसार के और सब व्यवसायों से अधिक जोखिम भरा काम है । यह सच है कि एक पुरुष के नियंत्रण में रहकर, कई स्त्रियाँ यह पेशा करती हैं । परंतु इनमें से इक्कादुक्का स्त्री ही ऐसी होती है, जो अपने संरक्षक पुरुष पर संपूर्ण विश्वास रख कर, पर्याप्त कमाई हो जाने के बाद उसके साथ विवाह कर लेती हो । बाकी स्त्रियों का कोई भरोसा नहीं । किसी शौकीन ग्राहक को इनमें से

कोई सुंदरी पसंद आ जाय, तो वह उसके साथ विवाह करके या वैसे ही चली जाय इसकी संभावना हमेशा रहती है । इसके उपरांत इन गणिकाओं की बीमारी का खर्च सदा लगा रहता है । बीमारी के दरमियान उनके जरिये होने वाली कमाई भी बंद हो जाती है । यह दोहरा नुकसान धंधा करने वालों को भारी पड़ जाता है । इस पेशे में किसी स्त्री को लाने में ही पचीस-तीस हजार फ्रैंक खर्च हो जाते हैं । प्रथम तो योग्य स्थानों से ऐसी युवतियाँ ढूँढ कर उनकी कीमत चुकानी पड़ती है । फिर उन्हें वस्त्राभूषण से सज्ज करने में दिल खोलकर खर्च करना पड़ता है । उन्हें एक देश से दूसरे देश भेजते समय जहाज के किराये में और अनेक अफसरों को अनेक प्रकार की रिश्वतें देने में भी काफी खर्च होता है । यह सब प्राथमिक खर्च ही कई हजार फ्रैंक तक पहुँच जाता है । फिर देह विक्रय के व्यापार का संचालन भी अत्यंत कठिन और खर्चीला होता है । आमदनी हो या न हो, गणिकाओं को सुंदर मकानों में अत्यंत सुख चैन से रखना पड़ता है । इस व्यवसाय के लिए मिल सकने वाले मकानों के किराये भी बहुत भारी होते हैं । गणिकाओं पर निगरानी रखने के लिए प्रत्येक मकान में एक कुट्टनी रखनी पड़ती है, और दो चार नौकरों का होना भी आवश्यक होता है ।

यह खर्च-खाता यहीं पर समाप्त नहीं होता । इन युवतियों के माता-पिता या भाई-बहनों को भी कुछ रुपया भेजना पड़ता है । अदालत के मामले-मुकदमे सदा लगे रहते हैं, जिनमें होने वाले जुरमानों की रकम प्राय: बहुत अधिक होती है । कानून से लड़ने के लिए भारी फीस देकर वकील नियुक्त करने पड़ते हैं और पुलिस का मुँह बंद रखने के लिए भारी रिश्वत देनी पड़ती है । ये सारे खर्च इसी आय में से होते हैं । यही व्यवसाय करने वाले अन्य व्यापारियों की सहायता भी समय-समय पर करनी पड़ती है । यह मदद अत्यंत उदारता से की जाती है । गणिकाओं के दास-व्यापार से धन कमाने वाले व्यापारी अपने मित्रों और सहयोगियों के प्रति अत्यंत उदार और वफादार होते हैं । पुलिस को दी जाने वाली रिश्वत कभी-कभी बड़े विचित्र रूप धारण करती है । पुलिस अफसरों के परिवार में कोई शादी-विवाह हो, या दावत और मनोरंजन के कार्यक्रम का अन्य कोई प्रसंग हो, तो इन समारोहों का पूरा खर्च प्राय: इसी पेशे के सिर मढ़ दिया जाता है । अमरीका से यूरोप या यूरोप से अमरीका की सपरिवार यात्रा करने वाले पुलिस अफसरों का पूरा खर्च भी सफर के आनंद-प्रमोद के खर्च के साथ, इसी व्यवसाय को उठाना पड़ता है ।

प्रश्न उठता है कि फिर इन गणिकाओं को अपने लिए क्या बचता है ? अकसर उनके लिए नहीं के बराबर रकम बचती है । न जाने क्यों, ये युवतियाँ अपनी कमाई का अधिकांश अपने प्रेमियों और संरक्षकों को ही दे देती हैं । वे शायद इसी आशा से प्रेरित होती हैं कि ऐसा करने से बहुत शीघ्र पर्याप्त रकम इकट्ठी हो जायगी और वे अपने प्रियतम से विवाह करके इस पेशे की छाया से भी दूर रह कर शांतिमय पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकेंगी । इसमें कोई शक नहीं कि इस दरमियान उन्हें अच्छा खाना मिलता है, सुंदर वस्त्रालंकार मिलते हैं, रहने के लिए सजे हुए कमरे मिलते हैं, इच्छानुसार घूमने-फिरने की और नाटक-सिनेमा देखने की सुविधा मिलती है, और इस सब के लिए देह-समर्पण के सिवा और किसी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता । परंतु यह श्रम कैसा है ? देह और आत्मा को थकान से चूर कर देने वाला, और कदम-कदम पर रोग और विनाश को निमंत्रण देने वाला । और इसका अंजाम क्या है ? यही कि रोज़ाना पंद्रह सौ से दो हजार फ्रैंक तक की आमदनी होने वाली स्त्रियों के पास कभी-कभी जहर खाने को फूटी कौड़ी भी नहीं होती ।

जिन युवतियों को अपने देश में ही गणिकावृत्ति का थोड़ा बहुत अनुभव हो चुका होता है, वे तो विदेशों में आते समय जानती हैं कि दासता पर आधारित इस व्यवसाय में उन्हें क्या-क्या करना पड़ेगा । परंतु कुछ युवतियाँ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें इस नये जीवन के विषय में पूरी जानकारी नहीं होती । अस्पष्ट रूप से वे इतना तो समझती हैं कि यहाँ उन्हें अपने रूप यौवन को बेचकर ही धन कमाना होगा; परंतु इस पेशे की विस्तृत जानकारी उन्हें नहीं होती । कुछ ही दिनों में उनके प्रेमी, उनके ग्राहक और इसी पेशे की उनकी सहेलियाँ उन्हें सब बातें सिखा देती हैं और बहका कर लाई जाने वाली ये युवतियाँ भी बहुत शीघ्र



अपने पेशे की बारीकियों से वाकिफ हो जाती हैं ।

यह भी देखा गया है कि कुछ स्त्रियाँ इस पेशे में प्रवेश करने के लिए खुद ही बहुत उत्सुक होती हैं । कुछ स्त्रियों को पुरुषों के प्रलोभन इस मार्ग पर लाते हैं । कुछ दोनों बार पेट भर सकने की स्थूल आकांक्षा से इस व्यवसाय में आती हैं और कुछ अपने कुटुंबीजनों को भुखमरी से बचाने के लिए यहाँ आने को मजबूर होती हैं । कभी कभी हम कल्पना भी न कर सकें ऐसे-ऐसे लोग इस व्यवसाय से संबद्ध होते हैं । अमरीका के आदिम निवासियों को सभ्य बनाकर उन्हें ईसा के पवित्र मार्ग पर प्रेरित करने वाले धर्म-प्रचारक तक स्त्री विक्रय के इस पेशे में लगे हुए पाये गये हैं ।

गौरांग स्त्रियों के व्यापार की यह एक झलक मात्र है । इस प्रकार के अगणित दृश्य यूरोप-अमरीका के असंख्य शहरों में रात-दिन अंकित होते रहते हैं । इन चित्रों की पृष्ठभूमि बदल सकती है; उनके घटनास्थल बदल सकते हैं; उनमें दिखाई देने वाले पात्र भी बदल सकते हैं; परंतु उनका विषय कभी नहीं बदलता । कहीं ये चित्र ढँके हुए रहते हैं, कहीं खुले । कहीं इनकी रेखाएँ स्पष्ट और पैनी होती हैं तो कहीं अस्पष्ट और क्षीण । इनके रंग कहीं धूमिल हो सकते हैं और कहीं भड़कीले; परंतु वे नकली कभी नहीं होते । हो सकता है कि देह विक्रय के व्यवसाय का चरम सत्य इन चित्रों से भी अधिक भड़कीले रंगों से रंगा हुआ हो और इससे भी अधिक घृणित व्यापारों से भरा हुआ हो । यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य के नैतिक पतन का कोई भी पहलू सुंदर या शिव तो क्वचित् ही होता है । परंतु उसके सत्य होने से इनकार नहीं किया जा सकता । मनुष्य समाज की हिलती-डुलती यवनिका पर ये चित्र सदैव अंकित होते रहे हैं और होते रहेंगे । आधुनिक संस्कृति का विस्तार इन चित्रों को अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि प्रदान करके इन्हें अधिक भीषण बनाने के सिवा और कुछ नहीं कर रहा ।



चौथा परिच्छेद
गणिकावृत्ति का नियंत्रण

१
गणिकावृत्ति का निरोध करनेवाले तत्त्व

युग-युग से चली आने वाली गणिकावृत्ति का समाज ने कभी प्रच्छन्न तो कभी स्पष्ट रूप से पोषण किया है, यह सत्य है । परंतु मनुष्यजाति के सभी पुरुष और सभी स्त्रियाँ गणिकावृत्ति से परिचित होते हैं, यह मानने की भूल कोई न कर बैठे । गणिकावृत्ति को मनुष्य ने अधिकतर युगों में शिष्ट समाज से बहिष्कृत संस्था माना है; और गणिका गमन को, न्यूनाधिक अंश में सभी युगों में सामाजिक कलंक और वैयक्तिक पतन का लक्षण माना गया है । सामाजिक प्रतिष्ठारूपी इस निरोधक शक्ति ने समाज के बहुत बड़े भाग को वेश्यागमन से बचा लिया है । वासना और कुतूहलवृत्ति अनेक पुरुषों को गणिकाओं की ओर आकर्षित करती रहती है; परंतु अप्रतिष्ठा का भय इतना प्रबल होता है कि अधिकांश स्त्री-पुरुष इस मार्ग पर जाने का साहस नहीं करते ।

गणिकावृत्ति एक व्यवसाय होने के कारण, क्रय-विक्रय के अन्य व्यवहारों की तरह इसमें भी धन की आवश्यकता पड़ती है । भारत जैसे दरिद्र देश में लोगों को दो बार पेट भर रोटी भी नसीब नहीं होती । इस हालत में मनोरंजन या भोग विलास पर खर्च करने के लिए फालतू रुपया लोगों के पास नहीं होता । गणिकाओं का आकर्षण अत्यंत व्यापक होने पर भी, और गणिकागमन द्वारा कामतृप्ति की सुविधा आसानी से मिल सकने पर भी, इस सुविधा के लिए आवश्यक धन सब के पास नहीं होता । पण्यांगनाओं के पारिश्रमिक में चार हजार रुपये से लगाकर चार आने तक का अंतर हो सकता है, यह सत्य है । परंतु चार आनों से रीझने वाली गणिकाएँ सब जगह नहीं मिलतीं, और जहाँ मिलती हैं, वहाँ के अधिकांश पुरुषों को चार आने प्राप्त करने में भी कठिनाई पड़ती है । अत : स्त्रियों के पक्ष में दारिद्र्य यदि पतितावस्था का मूल कारण है, तो पुरुषों के पक्ष में वह गणिकागमन पर लगनेवाला सबसे बड़ा प्रतिरोध है ।

मानव संस्कृति के साथ-साथ विकसित होने वाली गणिका संस्था क्रमश: जटिल रूप धारण करती गयी है और इसके संपूर्ण उपभोग के लिए अनेक खर्चीले उपस्कार आवश्यक माने गये हैं । मदिरापान तो अनादि काल से गणिकागमन का निकट का संबंधी बन बैठा है । शराब और सुंदरी की अविभाज्यता अंग्रेजी भाषा में कहावत का रूप धारण कर चुकी है । गणिका संस्था में इन दोनों की घनिष्ठता अनिवार्य मानी जाती है । मदिरासेवन का अर्थ है जानबूझकर उत्पन्न की हुई बेहोशी, जिसका एक परिणाम होता है अपराध करने की वृत्ति और दूसरा परिणाम है धन का अत्यधिक व्यय । शराब के बिना भी गणिकागमन दरिद्रों के लिए दु:साध्य होता है, यह हम देख चुके हैं; तो फिर शराब को साथ जोड़कर गणिकागमन करना तो उनके लिए और भी मुश्किल है । साधारण आदमी वेश्यागमन और शराब, दोनों का खर्च एकसाथ बरदाश्त नहीं कर सकता । शराब की तरह जुआ भी गणिका गृहों के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा रहता है । दरिद्रता इसके मार्ग में भी बाधाएँ उपस्थित करती है । शराब की तरह जुए का शौक भी धनहीनों को महँगा पड़ता है । गणिका गृहों में गणिकाओं को निश्चित की हुई रकम दे देने से ही छुटकारा नहीं होता । अकसर उन्हें भेंट-सौगात भी देनी पड़ती है । गलबहियाँ डाले बैठी हुई युवती, चाहे वह गणिका ही क्यों न हो, पुरुष की उंगली की अँगूठी, कलाई की घड़ी, उसकी जेब का रेशमी रुमाल, सोने-चाँदी की सिगरेट की

डिबिया या कीमती फाउन्टन पेन मांग बैठे, तो इनकार करने की ताकत हर पुरुष में नहीं होती । मन पर का काबू तो पहले ही गँवा बैठता है । अतः निश्चित की हुई रकम के उपरांत ये छोटी-मोटी चीज़ें दे सकने की तैयारी से ही गणिकागृह में प्रवेश करना मुनासिब होता है । परंतु अधिकांश पुरुष इतना खर्च बरदाश्त नहीं कर सकते । इस प्रकार गणिकागमन के साथ जुड़े हुए महँगे उपस्कार दरिद्रता को उसका सबसे प्रभावी अंकुश सिद्ध करते हैं, और यह कहा जा सकता है कि आर्थिक असमर्थता गणिकावृत्ति का काफी हद तक प्रतिरोध करती है ।

सामाजिक अप्रतिष्ठा का भय और आर्थिक अशक्ति के उपरांत एक और महाभयावह तत्व भी गणिकावृत्ति का निरोध करता है । वह है उपदंश और प्रमेह जैसे संसर्गजन्य रोगों का डर । अनियंत्रित और व्यापक काम व्यवहार सब प्रकार के रोगी और निरोगी स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे के निकट संपर्क में लाता है जिसमें से महाभयानक रोगों का संसर्ग हो सकता है । वेश्यागमन के इन भयंकर परिणामों से परिचित होने के कारण जनसाधारण में गणिकासंस्था से यथासंभव दूर रहने की वृत्ति होती है । ये रोग महाभयानक शारीरिक यातना देने के उपरांत रोगी के गुप्त गणिकागमन को प्रकट करके उसे कलंक और घृणा का पात्र भी बना देते हैं । रोग के भय से भी न घबराने वाले थोड़े बहुत बहादुर समाज में हो सकते हैं; परंतु उस से डर कर गणिकागमन से दूर रहने वालों की संख्या निस्संदेह बहुत अधिक होती है ।

केवल पवित्रता की भावना से प्रेरित होकर इस ओर आँख उठाकर न देखने वाले सच्चरित्र पुरुषों की संख्या भी नितांत कम नहीं होती । विवाहित जीवन में ही सुख मानने वाले, उसकी कमियों के प्रति सहिष्णुता रखने वाले और उसके प्रपंचों में फँसे रहकर गणिकावृत्ति का विचार भी न करने वाले पुरुषों की संख्या किसी भी समाज में निस्संदेह बहुत अधिक होती है । पकड़े जाने का भय न होने पर और उपयुक्त मौका मिलने पर भी प्रतिष्ठित माने जाने वाले पुरुष गणिका गृहों की ओर कभी आकर्षित नहीं होते, यह तो नहीं कहा जा सकता; परंतु अप्रतिष्ठा का भय और आर्थिक असामर्थ्य अधिकांश पुरुषों को गणिकावृत्ति से दूर रखते हैं, इसमें कोई शक नहीं । रोग का भय भी अत्यंत व्यापक होता है और स्वस्थ संस्कार एवं नैष्ठिक धर्मभावना का भी नितांत अभाव नहीं है । अत: अप्रतिष्ठा या रोग का भय, दारिद्रय धार्मिक संस्कारों की मर्यादाओं को उलांघ जाने वाले पुरुषों के अस्तित्व को मान्य कर लेने पर भी, अंतिम विश्लेषण में यही मानना पड़ता है कि मनुष्य जाति को गणिकावृत्ति से विमुख करने वाली ये ही प्रमुख शक्तियाँ हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक जीवन का एक प्रवाह यदि गणिकावृत्ति का विकास करता है, तो दूसरा प्रवाह उसे गणिकावृत्ति से दूर रखता है । इस विरोधी प्रवाह की शक्ति गणिकावृत्ति को नियंत्रित करने का निरंतर प्रयत्न करती रहती है और इसमें उसे अंशत: सफलता भी मिलती है । मनुष्य समाज में शायद गणिकावृत्ति के साथ ही इन निरोधक बलों का बीजारोपण भी हो चुका था । सामाजिक अप्रतिष्ठा से कुछ आगे बढ़कर ये विरोधक शक्तियाँ कानून का रूप धारण कर लेती हैं । प्राचीन काल से लगाकर अब तक कानून की सहायता से गणिकावृत्ति को नियंत्रण में रखने के अनेक प्रयत्न हो चुके हैं । फ्लेन ने तो अने मानव प्रवृत्तियों को वश में रखा है; उसके काबू में नहीं आयी हैं केवल दो प्रवृत्तियाँ: एक गणिकावृत्ति और दूसरा युद्ध । इन दोनों का नियंत्रण करने में कानून सदा असफल रहा है । दोनों सहोदर भाई-बहन हैं । दोनों का जन्म स्वार्थ, लोभ, नीचता और निरंकुशता रूपी समान स्रोतों से होता है ।

२
गणिकावृत्ति का नियंत्रण

अनेक देशों ने और अनेक प्रजाओं ने, अनेक धर्मों ने और अनेक राज्यों ने गणिकावृत्ति का नियंत्रण करने के प्रयत्न किये हैं । केवल नियंत्रण के ही नहीं, बल्कि इस वृत्ति का जड़ से उच्छेदन करने के प्रयत्न भी अनेक बार हो चुके हैं । जिस प्रकार ईसाई धर्म के आरंभिक युग में गणिकावृत्ति के प्रति धार्मिक सद्भावनायुक्त एवं सहानुभूतिपूर्ण विचार हुआ था, उसी प्रकार आज के समाजशास्त्री, न्याय-विशारद एवं राज्यशासक भी थककर, मजबूर होकर, या सोच समझ कर गणिकावृत्ति और गणिकासंस्था के प्रति मानवतापूर्ण और सहृदय दृष्टि से देखने को प्रेरित हुए हैं । आधुनिक युग में यह सिद्धांत भी मान लिया गया है कि ज़ोर जबरदस्ती से किया हुआ नियंत्रण मानव समाज के किसी भी दूषण का निवारण नहीं कर सकता ।

नियंत्रण के इन नये-पुराने प्रयत्नों को दो विभागों में बाँटा जा सकता है: —

१. संपूर्ण उच्छेदन के प्रयत्न ।

२. नियंत्रण या अंकुश में रखने के प्रयत्न ।

हजारों वर्षों से, बल्कि यूं कहिये कि मनुष्य समाज की रचना स्थिर होने के तुरंत बाद से, गणिकावृत्ति का उच्छेदन करने के प्रयत्न एक या दूसरे रूप में होते आये हैं, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिली । आज की घड़ी तक गणिकावृत्ति का संपूर्ण नाश करना किसी भी मानव संस्था की शक्ति के बाहर की बात रही है । संपूर्ण उच्छेदन की तरह उसके नियंत्रण के प्रयत्न भी प्राय: असफल रहे हैं । इन प्रयत्नों की असफलता के कारण विचारणीय हैं । नियंत्रण के प्रयत्न तीन तत्त्वों को स्वीकार करके आगे बढ़ते हैं: (१) गणिकावृत्ति का स्वीकार (२) उसे सह्य मानने की वृत्ति और (३) उसे नियंत्रित रखने की आवश्यकता । कभी कभी नियंत्रण और उच्छेदन के प्रयत्न एक साथ मिले हुए भी दिखाई देते हैं । अत्यंत प्राचीन काल से चले आने वाले इन मिले-जुले प्रयत्नों ने कानून की सहायता लेकर प्राय: निम्नलिखित अंकुशों का रूप धारण किया है: —

१. अलग निवास: — विशिष्ट मोहल्लों में और आसानी से पहचाने जा सकें ऐसे विशिष्ट निशानी वाले मकानों में ही गणिकाओं का निवास सीमित रखना ।
२. गणिकाओं पर राज्य-कर का भारी बोझ डालना ।
३. विभिन्न कारणों से उन पर जुरमाने करते रहना ।
४. गणिकाओं पर अमुक प्रकार के वस्त्र पहनने का या अमुक प्रकार की वेशभूषा न करने का प्रतिबंध लगा कर, उन्हें आसानी से पहचाना जा सके ऐसी व्यवस्था करना ।
५. उन्हें देश से निर्वासित कर देना ।
६. कोड़े मारकर या पत्थर मारकर उनका अंत करने की अनुमति देना ।
७. कभी-कभी फाँसी या सूली पर चढ़ाकर, चिता में जलाकर, शिरच्छेद करके, आरे से चीरकर या पानी में डुबाकर प्राणदंड देना ।
८. अमुक सड़कों पर, मंदिरों में या सार्वजनिक स्थानों में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगाना ।
९. उनकी संपत्ति लुटवा देना ।
१०. गणिका गृहों के संचालकों को दंड देना ।



और किसी भी अपराध की अपेक्षा गणिकावृत्ति के नियंत्रण के लिए अधिक कठोर और निर्दय कानूनों की रचना की गई है । कभी-कभी तो हत्या और राजद्रोह के अपराधों से भी इसे अधिक भयानक माना गया है । उपरोक्त नियम इसी कठोरता के प्रतीक हैं । परंतु अधिकांश युगों में इतनी सख्ती नहीं बरती गई, और गणिकावृत्ति के नियंत्रण के लिए कुछ सौम्य उपायों का सहारा लिया गया । सभ्य समाजों में प्रायः निम्नलिखित नियम ही प्रचलित रहे हैं: —

१. पेशेवर गणिकाओं की गणना करके उन्हें परवाने देना और उनकी सूचियाँ बनाना ।
२. विशिष्ट मोहल्लों में अनुमतिप्राप्त गणिका गृहों की स्थापना करना ।
३. गणिका व्यवसाय पर पुलिस की कड़ी निगरानी रखना । इस कार्य के लिए पुलिसदल का अलग विभाग स्थापित करना ।
४. परवाना लिए बिना पेशा करने वाली स्त्रियों को और उनके सहायकों को अपराधी मान कर उन्हें दण्ड देना ।
५. गणिकाओं के निर्लज्ज व्यवहार और अमर्याद आमंत्रणों को गैर कानूनी मान कर उन पर प्रतिबंध लगाना ।
६. गणिकाओं की अनिवार्य रूप से डाक्टरी जाँच करवाना और रोग पीड़ित गणिकाओं को योग्य चिकित्सा होने तक व्यवसाय से दूर रखना ।
७. युवतियों को इस मार्ग पर प्रेरित करनेवाले और उनकी वेश्यावृत्ति की कमाई से जीवन निर्वाह करनेवाले स्त्री-पुरुषों को कठोर दंड देना ।
८. इन स्त्रियों को गणिकावृत्ति से छुड़ाकर नियमित जीवन में लाने के प्रयत्न करना और उसके लिए उचित साधन उपलब्ध करके और आश्रमों की स्थापना करके गणिकाओं को उस ओर आकर्षित करना ।

गणिकावृत्ति का संपूर्ण निर्मूलन या आंशिक नियन्त्रण करने के हेतु से इस प्रकार के अनेक कानून रचे गये, परंतु उन्हें कोई खास सफलता अब तक तो मिली नहीं है । इन प्रयत्नों के कुछ प्राचीन उदाहरण हम देख लें: —

रोम के थियोडॉशियस और वॅलेस्टीनियन नामक सम्राटों ने कानून बनाया था कि उनके राज्य में गणिकागृह नहीं होने चाहिये । जस्टीनियन ने और भी कठोरता से गणिकाओं को देश निकाला देने का फरमान जारी किया था । थियोडॉरिक नामक शासक ने गणिकावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाले सभी लोगों के लिए प्राणदंड निर्धारित किया था । रिकार्ड नामक राजा ने गणिकावृत्ति पर संपूर्ण पाबंदी लगाकर यह घोषणा करवाई कि इसके बावजूद भी यदि कोई स्त्री गणिकावृत्ति करती पायी जायगी तो उसे तीन सौ कोड़े मार कर नगर से बाहर निकाल दिया जायगा । सेंट लुई के कानून के अनुसार गणिकाओं को देश-निर्वासित करके उनकी पूरी संपत्ति ज़ब्त की जा सकती थी; यहाँ तक कि उनके पहने हुए कपड़े भी उतारे जा सकते थे । अठारहवीं शताब्दी के मध्य में, अर्थात् आज से सिर्फ दो सौ वर्ष पहले ऑस्ट्रिया की सम्राज्ञी मॅरिया थेरेसा ने गणिकावृत्ति के निर्मूलन के लिए भारी जुरमाना, कैद, कोड़े मारना, और इनसे भी अधिक कठोर सज़ाएँ निर्धारित की थीं । विवाहित जीवन की पवित्रता और पातिंव्रत्य का कानूनन पालन करवाने के लिए और उनका महत्व लोगों के मन पर ठसाने के लिए उसने एक "यौन विशुद्धि आयोग" की नियुक्ति भी की थी । इस समिति के निवेदनों और प्रयत्नों के बावजूद गणिकावृत्ति की व्यापकता में कोई खास फर्क नहीं पड़ा यह अलग बात है ।

असह्य अपमान, कठोर सज़ाएँ, भयानक काया कष्ट, और अकाल मृत्यु का भय तक गणिकावृत्ति को नष्ट नहीं कर सके हैं। आज तक संस्कृति के इतने उलटफेर मनुष्यजाति ने देखे, परंतु वासनाशमन के इस प्रकार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न युगों में, अलग अलग देशों में इसका विरोध करने के विभिन्न नियम बनाये गये। इन नियमों और कानूनों के पीछे कभी असहायता से गणिकावृत्ति को मान्य कर लेने की पराजितवृत्ति दिखाई देती है, तो कभी एक ही झटके से वेश्यावृत्ति का निर्मूलन कर देने का उग्र आवेश और उस आवेश से जन्म लेने वाली कठोर प्रतिबंध-परंपरा के दर्शन होते हैं। इन प्रतिबंधों का पालन निर्दय दंडविधान द्वारा करवाया जाता है। कभी-कभी इन प्रतिबंधों और नियमों के पीछे से गणिकावृत्ति को अपराध नहीं बल्कि मनुष्य जाति की एक कमज़ोरी या एक दूषण मानते हुए उसकी उत्पत्ति के कारणों को समझने का और यथा संभव उन्हें दूर करने का सत्प्रयत्न भी झाँकता दिखाई देता है।

३
गणिकावृत्ति निंदनीय या दंडनीय?

गणिकावृत्ति एक अपराध है, या एक वैयक्तिक दूषण मात्र है, यह प्रश्न युगों से मनुष्यजाति के विचार का विषय बना हुआ है। आज उसे अपराध नहीं, वैयक्तिक दोष भी नहीं, अपितु समाजरचना की एक भयानक भूल मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। गणिकावृत्ति हम सोचते हैं उतनी सरल और केवल कुछ व्यक्तियों से संबंध रखने वाली एकाकी घटना नहीं है, बल्कि एक उलझी हुई सामाजिक समस्या है। अपने सरलतम रूप में यह व्यवहार दो सज्ञान व्यक्तियों के बीच राज़ीखुशी से स्थापित किया हुआ संबंध मात्र होता है। यह संबंध समाज की जानकारी के बिना गुप्त रूप से चलने वाला और समाज को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने वाला हो सकता है। कभी-कभी यह संबंध वैयक्तिक तौर पर किसी स्त्री की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए स्थापित किया जाता है। कभी किसी की जुल्मजबरदस्ती के कारण इसको स्वीकार करना पड़ता है। कभी गणिकावृत्ति के साथ प्रत्यक्ष संबंध न रखने वाले बाहरी व्यक्तियों या मंडलों के लाभ के लिए इन संबंधों की परंपरा खड़ी होती है। इस प्रकार गणिका वृत्ति में अभिप्रेत शरीर संबंध के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। अतः उसमें केवल दो व्यक्तियों को पापी मान कर उनके पाप को ही इसका एकमात्र कारण मानना योग्य नहीं होगा। दो कमज़ोर मनुष्य-प्राणियों की पाप भावना के उपरांत भी कई तत्व उसमें निहित होते हैं।

फिर यह भी संभव है कि गणिकावृत्ति सर्वथा पापमय या समाजद्रोही वृत्ति न हो। तर्क किया जा सकता है कि पुख्ता उम्र के दो समझदार स्त्री-पुरुष के बीच समाज द्वारा अमान्य संबंध, समाज की जानकारी के बिना, पर समाज को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना स्थापित हो जाय, तो इसमें ऐसा कौनसा भयानक अपराध होता है? इसी तर्क को कुछ आगे बढ़ा कर यह पूछा जा सकता है कि आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की सदोष रचना ही यदि गणिकाओं का निर्माण करती है, तो इसमें दोष किसका माना जाना चाहिये? समाज रचना का, या उसका शिकार होनेवाली स्त्रियों का? माता-पिता, पति या मालिक की जबरदस्ती के कारण गणिकावृत्ति धारण करनी पड़ी हो; या किसी मक्कार प्रेमी की धोखेबाजी इसके कारण रूप हो; या कुछ शक्तिशाली संघटनों के लाभ की व्यापारी योजनाओं के कारण इस जाल में फँसना पड़ा हो, तो इसमें दोष समाज द्वारा तिरस्कृत गणिकाओं का नहीं, परंतु उन्हें जबरदस्ती से, छलकपट से, लालच से या अन्य किसी युक्ति से इस व्यवसाय में प्रेरित करने वाले व्यक्तियों या समुदायों का गिना जाना चाहिये।



अतृप्त वासना की समस्या बिलकुल पृथक निदान की अपेक्षा करती है । काम की जिस अतृप्ति में से वेश्यावृत्ति जन्म ले, और वासना की जो उग्रता-वैवाहिक संबंध से संतुष्ट न होकर, स्त्री-पुरुष को व्यभिचार या गणिकावृत्ति में प्रवृत्त करे, उसे दोष नहीं बल्कि रोग मानना चाहिये, और यह पूरा प्रश्न चिकित्साशास्त्र का विषय माना जाना चाहिये । ऐसे प्रसंगों में संबंधित व्यक्तियों को अपराधी नहीं बल्कि रोगी मान कर उन्हें दंड नहीं बल्कि दया और चिकित्सा का पात्र मानना ही उनका सही निदान हो सकता है । गणिकावृत्ति की बाह्य सदोषता के परे देखने का प्रयत्न करें तो यही मालूम देगा कि सच्चे अर्थ में अपराधिनी कही जा सकने वाली गणिकाओं की संख्या अत्यंत कम होती है । वैयक्तिक या जन्मजात कामोन्मत्तता, यौन संतोष का अभाव, स्वार्थसाधकों की गलत सीख, और स्त्री-विक्रय का व्यवसाय करनेवालों के प्रलोभन-पाश गणिकाओं को नहीं बल्कि उनकी सृष्टि करनेवाली समाजरचना को और उस रचना के विधायकों को ही अपराधी मानने को हमें बाध्य करते हैं । गणिकावृत्ति के अध्येताओं से यह सत्य भी छिपा नहीं है कि स्वभावजन्य या वैयक्तिक दोषों के कारण जितनी गणिकाएँ निर्मित होती हैं, उससे कहीं अधिक संख्या में वे विषम परिस्थितियाँ और सदोष समाजरचना के कारण उत्पन्न होती हैं ।

गणिकावृत्ति के मूल में चाहे व्यक्ति का दोष हो चाहे समाज का, सभ्य मनुष्यों के समुदायों ने उसके प्रदर्शन को और उस प्रदर्शन से संबंधित स्त्रियों को सदा निंद्य माना है; इतना ही नहीं, यह प्रदर्शन यदि अमर्याद और अयोग्य रूप धारण करे, तो उसे अपराध करार देकर दंडनीय भी माना है । उदाहरण के तौर पर पश्चिम के देशों में गलियों में घूम कर वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया जा सकता है । ये गणिकाएँ राह चलते पुरुषों को खुले आम आमंत्रित करके अनीति का बड़ा बीभत्स प्रदर्शन करती हैं । समाज के चौकठे में रहकर चोरी छिपे चलने के बदले गणिकावृत्ति जब ऐसा निरंकुश व्यवहार करने लगती है, तब उसका अपराध माना जाना नितांत स्वाभाविक है ।

तथापि अपराध और दूषण के बीच की सूक्ष्म सीमारेखा इतनी आसानी से स्पष्ट नहीं होती । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मार दे, तो यह एक भयानक अपराध माना जाता है; परंतु आत्मरक्षा का प्रयत्न करते हुए किसी की हत्या हो जाय, तो कानून की दृष्टि में वह क्षम्य मानी जाती है । दो पक्षों या राज्यों के बीच युद्ध हो रहा हो, तब तो अधिक से अधिक हत्या कर सकने की शक्ति को ही वीरता का लक्षण माना जाता है । इस प्रकार एक ही कार्य, जो साधारणत: अपराध की कक्षा में आता हो, परिस्थिति या उद्देश्य बदल जाने पर क्षम्य या आदरणीय भी माना जा सकता है । अपराध की व्याख्या में तीन तत्व प्राय: आवश्यक होते हैं: — (१) वह एक अनुचित और अवांछनीय कार्य होता है: (२) समाज एकमत से उसे निंद्य मानता है: और (३) उसे रोकने के हेतु से कानून दंड का विधान करता है । अवांछनीय और दूषित कार्य निंद्य माने जाने की सीमा पर रुक जाते हैं । सामाजिक संस्कार को वे अप्रिय और अयोग्य जरूर लगते हैं, परंतु कानून की दृष्टि में वे दंड के पात्र नहीं होते । निंद्य कार्य जब इस हद तक समाज-विरोधी बन जायें कि कानून को हस्तक्षेप करना पड़े और उन्हें रोकने के हेतु से उनका आचरण करने वालों को दंड देना पड़े, तब वे अपराध की कक्षा में आ जाते हैं । शराब पीना सामान्यत: एक निंद्य कार्य माना जाता है; वह अपराध नहीं है । परंतु शराब पीकर सड़क पर दंगा-फसाद करने की हद तक पहुँचने वाली मदहोशी मदिरापान को अपराध बना देती है ।

गणिकावृत्ति को अपराध मानने पर इसी प्रकार के कई विवाद्य प्रश्न उपस्थित होते हैं । उसे अपराध मान कर एक बहुत बड़ी गलती आज तक होती आयी है । यह तो सभी जानते हैं कि गणिकाव्यवहार में केवल स्त्री की उपस्थिति से ही काम नहीं चलता । इस व्यवहार में पुरुष भी स्त्री के जितना ही आवश्यक घटक है । फिर भी समाज ने, इतिहास ने, धर्म ने और कानून ने गणिकावृत्ति के लिए पुरुष को शायद ही कभी जिम्मेदार माना है । जहाँ माना भी है, वहाँ उसकी जिम्मेदारी स्त्री की तुलना में अत्यंत कम मानी गई है । उचित तो यह है कि गणिका व्यवहार में गणिकावृत्ति करने वाली स्त्री और मूल्य चुका कर उसके देह

का उपभोग करने वाला पुरुष दोनों समान रूप से जिम्मेदार माने जाने चाहिये । परंतु तिरस्कार और दंड की पात्र सदा गणिका का पेशा करने वाली स्त्री ही मानी गई है; और पुरुष अकसर इन दोनों से अछूता बच जाता है ।

गणिकावृत्ति को निंद्य और दूषित मानने की सामाजिक वृत्ति एक अकाट्य सत्य की बुनियाद पर खड़ी है । गणिकावृत्ति में पुरुषत्व और स्त्रीत्व, दोनों का ह्रास होता है । किसी भी कारण से यौन व्यवहार को अनियमितता का मौका मिले, तो वह पौरुष एवं स्त्रीत्व, दोनों का भयानक विनाश करने वाले संयमहीन और समाजशोषक दुर्व्यय का ही रूप धारण करता है । गणिकावृत्ति के साथ शराब आदि अन्य अनिष्ट जुड़े हुए नहीं होते तब भी वह प्रजाजीवन की प्रफुल्लता को जला कर भस्म कर देने वाली आसुरी शक्ति का ही काम करती है । इसके उपरांत, वेश्या व्यवहार अनेक भयानक रोगों का उत्पत्तिस्थान है, यह भी मानी हुई बात है । समाज के कुछ विभागों में तो ये रोग अत्यंत व्यापकता से फैल कर असंख्य मनुष्यों को अध:पतन और सर्वनाश के गहरे गर्त में धकेल देते हैं । अत: गणिकावृत्ति को निंद्य और दूषित मानने की सामाजिक वृत्ति वास्तविकता पर ही आधारित कही जायगी । परंतु इस निंद्य दूषण की जिम्मेदारी से गणिका के सहभागी पुरुष को बरी रखना, या उसका अपराध कम मानना न्याय-संगत नहीं । जब गणिकावृत्ति को अपराध मानकर उसकी जिम्मेदारी पूर्णत: स्त्री के सिर मढ़ी जाती है; अनेक प्रकार के कानूनों द्वारा उसे दंडित किया जाता है; और पुरुष को इस उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त रखा जाता है, तब तो यह अन्याय अत्याचार का रूप धारण कर लेता है ।

यह एक कटु सत्य है कि हम हमारे अनेक अन्यायों, अत्याचारों और पापों को अन्याय, अत्याचार या पाप मानने से हिचकते हैं । स्त्रियों को दोषी मानकर उनका फैसला करते समय पुरुष का बर्ताव इसी हिचक का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है । पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी इस प्रचलित मान्यता के प्रवाह में बह कर केवल गणिकाओं को ही दोषी और दंडपात्र मानने लगती हैं । यह अन्याय ही गणिकावृत्ति का नियंत्रण करने के सारे प्रयत्नों को निष्फल और निरर्थक बना देता है । दोष का आरोपण और अपराध का दंड जब तक स्त्री के साथ पुरुष को भी समान रूप से नहीं मिलेगा, तब तक गणिकावृत्ति का विरोध करने वाले सारे कानून अन्यायी और निष्प्रभ ही सिद्ध होते रहेंगे ।

गणिकावृत्ति को केवल स्त्री का ही अपराध न मानने के पक्ष में और भी अनेक कारण दिये जा सकते हैं । कुछ परिस्थितियों में गणिका व्यवसाय स्त्रियों का सहायक व्यवसाय मात्र होता है । अनेक शिक्षिकाएँ, परिचारिकाएँ, और घरेलू काम करने वाली स्त्रियाँ देखादेखी, शौकिया या अधिक धन कमाने की लालच से इस मार्ग पर प्रवृत्त होती हैं । पश्चिम के देशों में यह प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है । अपने प्रमुख व्यवसाय द्वारा समाज की सेवा करके समाज-व्यवस्था का उपयोगी अंग सिद्ध होनेवाली ये स्त्रियाँ यदि साथ में गणिकावृत्ति भी करती हों, तो इससे उनके प्रमुख कार्य की उपयोगिता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते । अनेक बार बीमार माता-पिता, निराश्रित संबंधियों या निराधार बालकों के पोषण के लिए भी स्त्रियों को यह व्यवसाय करना पड़ता है । गणिकावृत्ति में गहरी उतरी हुई अनेक स्त्रियाँ इस पेशे को छोड़ कर नियमित जीवन व्यतीत करने को उत्सुक भी देखी जाती हैं । इस हालत में गणिका मात्र को पतिता और अपराधिनी मानकर उसे सज़ा देने में न तो न्याय के दर्शन होते हैं न दया के, और न समझदारी के । गणिकाओं को अपराधिनी मान कर उन्हें दंड देने की अपेक्षा गणिकावृत्ति के कारणों की गहराई में उतर कर उन्हें दूर करना ही उन्हें सुधारने का सही मार्ग है ।

यौन संबंधों की सूक्ष्मता और विचित्रता की गहराइयों में भी शरीर विज्ञान या मनोविज्ञान के विशारद अब तक बहुत गहरे नहीं उतर सके हैं । पश्चिम में व्यभिचार को फौजदारी अपराध नहीं माना जाता । उसे केवल दीवानी दावे का विषय या तलाक का कारण माना जाता है । पुलिस उसके विरुद्ध कोई उपाय-

योजना नहीं कर सकती । केवल व्यक्ति के वैवाहिक अधिकारों का ही उसमें उल्लंघन माना जाता है और संबंधित व्यक्ति को ही उसके विरुद्ध शिकायत करने का अधिकारी समझा जाता है । वासना की दुर्निवार्यता को स्वीकार कर लेने पर और व्यभिचार को केवल वैयक्तिक बात मान लेने पर, केवल क्रय-विक्रय के तत्व की उपस्थिति के कारण ही गणिका व्यवहार को अपराध मानना उचित नहीं होगा । वह सिर्फ व्यभिचार का ही एक उग्र, व्यापक और व्यवहारी रूप है । अतः वर्तमान समाज रचना का विचार करते समय उसे अपराध मानने के बजाय एक अप्रिय और समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार मानना ही अधिक वास्तविक होगा और कानून के अब तक असफल सिद्ध होने वाले उपायों से उसका नियंत्रण करने के बदले शिक्षा, स्वास्थ्य, सहानुभूति और समाजसुधार के दृष्टिकोणों से ही उसका विचार करना मानवता के अधिक निकट होगा । वैसे तो आज के युग में सभी प्रकार के अपराधों के प्रति इसी प्रकार का प्रगतिशील और मानवतापूर्ण मानस दिखाई दे रहा है । इस प्रगतिशील मानस को गणिकाओं तक प्रसारित करके उन्हें तिरस्करणीय और समाजविरोधी अपराधी मानने की भावना नष्ट होनी चाहिये । समाज का, समाज के कानून का, और समाज के पुरुषवर्ग का यह उनके प्रति न्यूनतम कर्तव्य है ।

४

नियंत्रण के पीछे की शक्तियाँ

इस प्रगतिशील मान्यता के अनुसार गणिकाओं और उनके व्यवसाय को अपराध की कक्षा में न रखा जाय, तो भी उनके चारों ओर फैले हुए अन्य अपराधी तत्वों का विचार तो करना ही होगा । वैयक्तिक स्तर पर तो एक पुरुष और एक स्त्री देहोपभोग का कार्य क्रय-विक्रय के रूप में करते हों तो भी उसे अपराध की कक्षा से बाहर रखा जा सकता है । संसार के अनेक वैयक्तिक व्यवहार आर्थिक लेनदेन पर ही आधारित होते हैं । विवाह भी कभी-कभी लेनदेन और आर्थिक व्यवहार का रूप किस तरह धारण करता है, इससे हिंदू समाज तो अपरिचित नहीं है । अपनी ही उपजाति के दायरे में विवाह करना हो, तो लड़कों या लड़कियों की कमी उन्हें किस तरह बेशकीमत बना देती है, यह भी हमारे अनुभव की बात है । परंतु गणिकावृत्ति जब एक संस्था का रूप धारण कर लेती है; अपनी राजीखुशी से यौन संबंध के लिए संपर्क में आने वाले स्त्री-पुरुषों के उपरांत और भी अनेक व्यक्तियों के स्वार्थ जब इसके साथ जुड़ जाते हैं; जब सामाजिक व्यवस्था और शिष्टता का भंग होने की संभावना इसमें से जन्म लेती है; जब नाबालिग लड़कियों को फुसला कर इसमें प्रवृत्त किया जाता है; और जब इसका व्यापक संघटन बनाकर उससे आर्थिक लाभ उठाने वाले व्यापरियों या व्यापारी-संस्थाओं के हाथ में इसका संचालन चला जाता है, तब यह वृत्ति और यह व्यवसाय अवश्य ही नियमन और नियंत्रण की अपेक्षा करते हैं । संस्था का रूप धारण करने के बाद, गणिकावृत्ति, विशिष्ट गृहों में सीमित रहने के बदले जब गलियों में घूम कर समाज की मर्यादा को तोड़ने लगती है, तब भी, शिष्टता की रक्षा के लिए, कानून की सहायता उसे अंकुश में रखने की आवश्यकता महसूस होती है । सर्वमान्य शिष्टाचार और सामाजिक अनुशासन के साथ का प्रथम संघर्ष ही उसे कानून के दायरे में घसीट लाता है । और कानून का क्षेत्र शुरू हुआ, कि उसके भंग की सज़ा भी साथ-साथ आयी ।

गणिकावृत्ति के साथ मदिरापान का तो अत्यंत घनिष्ठ संबंध रहा है; अतः गणिका गृहों के साथ शराबखाने भी जुड़े हुए पाये जाते हैं । अनेक बार तो यह भी देखा गया है कि शराब की खपत बढ़ाने के लिए मधुशालाओं के मालिक गणिकाओं की नियुक्ति करते हैं, और शराब की बिक्री के अनुपात में उन्हें वेतन दिया जाता है । इस्लाम ने मद्यपान को निषिद्ध माना है; हिंदू संस्कृति में भी उसे तिरस्करणीय माना जाता है; परंतु पश्चिम की ईसाई संस्कृति के अनुसार वह एक शिष्ट व्यवहार और तहजीब का आवश्यक अंग माना गया है । अतः इस संस्कृति के प्रभाव में आकर अपने आपको धन्य मानने वाली प्रजाएँ मद्यपान को अपनी सभ्यता का प्रमाण और आवश्यक आचार मान बैठी हैं । इसका परिणाम क्या हुआ है, यह तो आज

की आत्मघातक पाश्चात्य संस्कृति के अंजाम से ही स्पष्ट हो जाता है । महाभारत में एक कथा है कि मद्य के कारण ही पूरे यादव कुल का संहार हुआ था और श्रीकृष्ण को अपनी इहलीला समेट लेनी पड़ी थी । आजके विश्व के सामने यह कथा बड़ा प्रेरक उदाहरण प्रस्तुत करती है । युद्ध के साथ मद्य के निकट संबंध की बात जाने भी दें, तो भी, छोटे मोटे दंगे, गाली गलौज, मारपीट, हत्या, बदतहजीबी और हैवानियत के साथ शराब का घनिष्ठ संबंध अलग से स्थापित करने की आवश्यकता नहीं । इसके प्रमाण ढूंढने के लिए बहुत दूर नहीं जाना पड़ता । शराब एक अपराध प्रेरक नशा है, यह तो शराब पीकर होश में रहने वाले लोग भी मान्य करते हैं, और पीकर बेहोश होने वाले भी । समाज के अधिकांश अपराध शराब के नशे में, शराबखानों में, और शराब से आकर्षित होनेवाले जन-समुदायों में ही जन्म लेते हैं । शांति और सुव्यवस्था की रक्षा के लिए राज्य की नियंत्रक शक्तियाँ भी मद्यालयों पर कड़ी निगरानी रखना योग्य समझती हैं । अव्यवस्था के इन धामों का और गणिका गृहों का अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है । अत: इस दृष्टि से भी गणिकावृत्ति कानून का कठोर नियंत्रण और नियमन चाहती है और सामाजिक शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए कानून भी गणिकाओं और गणिकावृत्ति को मर्यादा में रखना अपना कर्तव्य समझता है ।

वर्तमान युग में समाज का स्वास्थ्य भी राज्यसत्ता की देखभाल का विषय बनाता जा रहा है । राज्यसत्ता पर ज्यों-ज्यों प्रजा का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों केवल बाह्य शुत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने में ही राज्यसत्ता के कर्तव्य की समाप्ति नहीं मानी जाती, बल्कि प्रजा जीवन के अनेक अंगों का विकास और उनकी रक्षा करना भी राज्य का धर्म माना जाने लगा है । चोर-डाकुओं और बाहरी दुश्मनों से प्रजा की रक्षा करना तो राज्यसत्ता का कर्तव्य है ही, परंतु साथ-साथ प्रजा की शिक्षा, उसका स्वास्थ्य, उसकी चिकित्सा, उसकी नैतिकता, उसकी समृद्धि और उसके आनंद प्रमोद आदि विषय भी राज्यधर्म के अंतर्गत आते जा रहे हैं । प्रजा का एक भी व्यक्ति अन्नवस्त्र से वंचित न रहे इसकी जिम्मेदारी भी विगत विश्वयुद्ध के समय से राज्यधर्म का ही अंग मानी जाने लगी है । गणिकावृत्ति के संबंध में नैतिकता की दृष्टि से विचार न करें तो भी, उसके जरिये आसानी से फैलने वाले दो भयानक रोगों-उपदंश और प्रमेह —की मनुष्यजाति को नष्ट-भ्रष्ट कर सकने वाली विनाशक शक्ति की उपेक्षा कोई राज्यसत्ता लंबे समय तक नहीं कर सकती । इन रोगों की भयंकरता गणिकावृत्ति को शासन के दायरे में ला खड़ी करे, यह अत्यंत स्वाभाविक है । खुले आम चलने वाला यह यौन-व्यवहार अनैतिक चाहे न हो, अशिष्ट भी चाहे न हो, परंतु इन जहरीले रोगों के प्रसार का वह महामार्ग है, इसमें मतभेद की गुंजाइश नहीं । गणिकावृत्ति इन महारोगों का उत्पत्तिस्थान होने के कारण समाज के स्वास्थ्य की दृष्टि से उसका सामाजिक और राजकीय नियंत्रण अत्यंत आवश्यक है ।

इसके नियंत्रण के संबंध में अनेक दृष्टियाँ मिलकर एक हो जाती हैं । प्रथम तो गणिकावृत्ति एक पाप है और धर्मविरुद्ध कृत्य है, अत: धार्मिक दृष्टि से इसका निर्मूलन करने के प्रयत्न संबंधित शक्तियों द्वारा किये जाते हैं । दूसरे, प्रजा के बहुत बड़े भाग की नीतिभावना की सुरक्षा की दृष्टि से और पुरुषों की उग्र कामवासना को संतुष्ट होने का मार्ग प्रस्तुत करके गृहजीवन की पवित्रता बनाये रखने के उद्देश्य से राज्यसत्ता भी कानून की सहायता से इस पर कठोर नियंत्रण रखती है । तीसरे, इसे मनुष्य की एक सहज और अनिवार्य कमज़ोरी मान कर समाजसत्ता इसे मर्यादित रखने के प्रयत्न करती है । चौथे, स्त्री-पुरुष के यौन सबध को नीति के क्षेत्र से बाहर रखनेवाली आधुनिक उदार वृत्ति भी सामाजिक शिष्टता और सभ्यता की रक्षा के लिए और कामवृत्ति के निरोध से प्रेरित दंगे-फसाद, मारपीट आदि को रोकने के हेतु से गणिकावृत्ति को चलती भी रखना चाहती है और उस पर कुछ नियंत्रण भी चाहती है; फिर चाहे वह नियंत्रण अत्यंत ढीलाढाला ही क्यों न हो । और अंत में जनसाधारण के आरोग्य की दृष्टि से भी गणिकावृत्ति का नियंत्रण आवश्यक हो जाता है । इस प्रकार कानून की सहायता से गणिकावृत्ति का निरोध करने की प्रवृत्ति के पीछे धर्म, नीति, सभ्यता, सामाजिक आवश्यकता और स्वास्थ्यरक्षा का आग्रह आदि विभिन्न शक्तियाँ काम करती रहती हैं ।

पाँचवां परिच्छेद

गणिकावृत्ति के नियंत्रण में कानून का तत्व

१

भिन्न-भिन्न देशों के कानून

आधुनिक युग में सभ्य देशों में गणिकावृत्ति-निरोधक कानून ने कौनसे रूप धारण किये हैं, इसकी रूपरेखा हम संक्षेप में देख लें। यहाँ हम चार-पाँच अग्रणी माने जाने वाले देशों का ही विचार करेंगे। प्राचीन युग का विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उस युग ने गणिकावृत्ति के उच्छेदन और नियंत्रण के लिए अत्यंत कठोर कानूनों की रचना की थी, जिनका उल्लेख इससे पहले हम कई स्थानों पर कर चुके हैं। यहाँ तो कुछ निकट के भूतकाल का विचार करना है और यह देखना है कि उस समय के कानूनों में से आज के नियमों का विकास किस तरह हुआ। सबसे पहले हम इंग्लैंड की परिस्थितियों का विचार करेंगे क्योंकि निकट के अतीत में हमारा उसी देश के साथ अधिक संबंध रहा है।

इंगलैंड

बहुत दूर के युग तक न जाते हुए हम पचास-साठ वर्ष पहले की परिस्थिति का ही अध्ययन करें। वर्तमान युग के उदारताभरे नियमों की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में ही हुई थी। सन् १८८१ में आल्फ्रेड डायर और जॉर्ज विलेट नामक दो क्वेकरपंथी सुधारकों ने समाज की नैतिक परिस्थिति को समझने का प्रयत्न किया था। नैतिकता के किसी भी अध्ययन में गणिकावृत्ति का समावेश होना अनिवार्य है। इन दोनों समाज-सुधारकों ने तत्कालीन परिस्थिति का परिचय कराने वाले निवेदन भी प्रकाशित किए थे। इसके बाद जॉसेफाइन बटलर नामक प्रसिद्ध स्त्री ने इस समस्या पर ध्यान दिया और इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों के बीच चलने वाले युवतियों के विक्रय-व्यापार की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। परंतु इस संबंध में सब से अधिक कार्य तो "रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़" के संपादक विलियम स्टॅड ने किया। उसने वैयक्तिक तौर पर जाँच करके युवा स्त्रियों के और नाबालिग लड़कियों के व्यापार से संबंधित अनेक रोमांचक घटनाओं का उद्घाटन किया। साथ ही इस संबंधी लेखमाला भी उसके प्रसिद्ध पत्र में प्रकाशित होने लगी। इन व्यवहारों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए स्टॅड ने कारावास की सज़ा भी भुगती थी। फल स्वरूप, सन् १८८५ में गणिकाओं संबंधी फौजदारी कानून में सुधार किया गया। इन सुधारों का प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। इन संशोधित नियमों के अनुसार गणिकावृत्ति से संबंधित निम्नलिखित व्यवहार दंडनीय माने गये थे: —

१. अनाचार के लिए कहीं से भी मद्य उपलब्ध करना।

२. अनाचार में प्रवृत्त करने के हेतु से स्त्रियों को डराना-धमकाना; झूठे-सच्चे वादे करके युवतियों को बहकाना; और गणिकावृत्ति का प्रलोभक वर्णन करके य किसी भी प्रकार की धोखेबाजी का सहारा लेकर युवतियों को इस ओर आकर्षित करना।

३. अपने जाल में फँसी हुई स्त्री को मादक पदार्थों से बेहोश करना।

४. तेरह वर्ष से कम उम्र की बालिकाओं से यौन-संबंध करना, या इसका प्रयत्न करना, या उन्हें अन्य किसी के उपभोग के लिए प्रस्तुत करना।

५. यौन-व्यवहार का अर्थ न समझने वाली किसी भी असहाय युवता का उपभोग करना ।

६. किसी भी स्त्री को अनीतिमय कार्यों के लिए उसकी इच्छा के विरुद्ध रोक रखना या उसे उसके माता-पिता या अभिभावकों के संरक्षण से दूर करना ।

७. माता-पिता या अभिभावकों द्वारा नाबालिग लड़कियों के यौन-व्यवहार की उपेक्षा किया जाना, या उसे सक्रिय प्रोत्साहन दिया जाना ।

८. वेश्यागृह में किसी भी स्त्री को जबरदस्ती रोक रखने का प्रयत्न करना, और किसी भी मकान का, जान बूझकर, वेश्यालय के रूप में उपयोग होने देना ।

आरंभ में इंग्लैंड में उपरोक्त कार्य ही अपराध की व्याख्या में आते थे । क्रमशः और नियम भी गढ़े गये । जिनके अनुसार निम्नलिखित कार्य भी अपराध माने जाने लगे: —

१. सार्वजनिक स्थानों में गणिकाओं का असभ्य और अमर्याद बर्ताव करना ।

२. गलियों में भटक कर राहगीरों को यौन-व्यवहार के लिए आकर्षित या आमंत्रित करना ।

३. विद्यार्थियों को फँसाने के हेतु से रात के समय विद्यापीठों के आसपास भटकना ।

४. किसी भी स्त्री की वेश्यावृत्ति की कमाई से किसी भी पुरुष या स्त्री का जीवन-निर्वाह करना ।

५. छोटे बच्चों को गणिका गृहों में या गणिका घोषित हो चुकने वाली स्त्रियों के साथ रहने देना । गणिकाओं के अपने बच्चे इस नियम के अपवाद रूप माने जाते हैं । यदि उनकी उचित देखभाल करने की और उन्हें पतित मार्ग से बचाने का प्रयत्न करने की जिम्मेदारी गणिकाएँ अपने ऊपर ले लें, तो वे उन्हें अपने साथ रख सकती हैं ।

गणिकाजीवन का नियंत्रण करने के लिए रचे जाने वाले ये नियम इंग्लैंड की न्यायपद्धति और वहाँ के रहन-सहन पर भी प्रकाश डालते हैं । बीच में एक ऐसा कानून जारी किया गया था कि किसी स्त्री के समागम से यदि शाही सेना के किसी सैनिक को रोग का संसर्ग हो, तो उस स्त्री की अनिवार्य तौर पर डाक्टरी जाँच की जाय । परंतु लोगों में यह नियम इतना अप्रिय हो उठा कि आठ महीने बाद ही उसे रद्द करना पड़ा । इंग्लैंड एक महानीति घमंडी देश है । यह प्रजा वास्तव में नीतिमान् है या नहीं. यह अलग प्रश्न है । इसलिए अंग्रेज़ी कानून गणिकावृत्ति को स्पष्ट स्वीकार कभी नहीं करता । केवल गणिकावृत्ति के साथ आवश्यक रूप से जुड़े निर्धारित करता है । वेश्यावृत्ति को इस नाम से संबोधित करना भी अंग्रेज़ी नीति-भावना को अच्छा नहीं लगता । अतः मुख्य अपराध का नाम भी न लेते हुए उस पर अवलंबित अन्य कार्यों को ही अपराध मानने का द्राविड़-प्राणायाम इंग्लैंड की नीतिभावना करती रही है ।

•

फ्रान्स —

पाश्चात्य संस्कृति में फ्रान्स का योगदान बहुत अधिक है । बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक फ्रेन्च भाषा का प्रभुत्व संसार भर में मान्य था और अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा के रूप में भी उसे ही मान्यता प्राप्त थी । विगत विश्वयुद्ध में जर्मनी के हाथों फ्रान्स का पराभव हुआ, जिसके परिणामों से अब कहीं उसे मुक्ति मिली है । फ्रान्स के इस पतन के लिए मार्शल पेताँ ने फ्रान्स की विलासवृत्ति को ही जिम्मेदार माना था, यह तथ्य केवल फ्रान्स के ही नहीं, सभी प्रजाओं के लिए विचारणीय है । विलास के विविध प्रकारों में बड़े प्राचीन काल से फ्रान्स यूरोप की प्रजाओं का अग्रणी रहा है । विलास की अतिशयता के बावजूद भी इस देश की संस्कृति अवहेलना के पात्र नहीं है । इस प्रजा ने भी, इंग्लैंड की तरह

गणिकावृत्ति की ओर नहीं, बल्कि उसके साथ जुड़े हुए अन्य अपराधों की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि इंग्लैंड की अपेक्षा फ्रान्स की प्रजा कहीं अधिक निर्व्याज और स्पष्टवादिनी है। उसे अपनी नैतिकता का घमंड रंचमात्र भी नहीं। न वह ऐसा दावा ही करती है। गणिकावृत्ति की अनिवार्यता का अंशतः स्वीकार भी फ्रेन्च मानस में पाया जाता है।

यह सही है कि पश्चिम की न्याय-व्यवस्था पर प्राचीन रोम का प्रभाव बहुत अधिक रहा है। तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, अपनी विजयों से सारे संसार को हिला देने वाले नेपोलियन का प्रभाव जिस प्रकार यूरोप की राजनीति पर पड़ा, उसी प्रकार उसके प्रसिद्ध कानूनों ने भी यूरोपीय देशों की शासन-व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया था। नेपोलियन केवल एक महत्वाकांक्षी विजेता या दुर्दमनीय योद्धा ही नहीं था; वह एक समर्थ समाज-विधायक भी था। सन् १८८० में उसके नाम से जारी किए जाने वाले कानूनों में गणिकावृत्ति संबंधी जो नियम रचे गये थे, वे थोड़े बहुत रद्दोबदल के साथ अब तक फ्रान्सीसी शासन-व्यवस्था में प्रचलित हैं। निम्नलिखित निषिद्ध माने जाने वाले कार्यों की समीक्षा से फ्रान्स के गणिकावृत्ति संबंधी मानस का स्पष्टीकरण हो जाता है: —

१. इक्कीस वर्ष से कम उम्र के स्त्री-पुरुषों की विषयवृत्ति को भड़काना या उसके शमन की सुविधाएँ प्रस्तुत करना अपराध माना जाता है। यह अपराध यदि माता-पिता या अभिभावकों द्वारा किया जाय, तो अपराधी को अधिक कठोर सज़ा दी जाती है।
२. पुरुष की वासनातृप्ति के लिए कम उम्र की बालिकाओं या अन्य स्त्रियों को छल-फरेब से, डरा-धमका कर, या ललचाकर अनीति के मार्ग पर प्रवृत्त करना भी अपराध माना जाता है।
३. किसी भी स्त्री को उसकी मरज़ी के विरुद्ध वेश्यालय में रोक रखना भारी अपराध माना जाता है। इसी प्रकार, कर्ज़ के भुगतान के रूप में किसी स्त्री पर यौन संबंध की जबरदस्ती नहीं की जा सकती।
४. अठारह वर्ष से कम उम्र की नाबालिग लड़कियाँ यदि गणिकावृत्ति या व्यभिचार में प्रवृत्त होने का बार-बार प्रयत्न करती हों, तो उन्हें कड़ी सज़ा न देते हुए, सुधरने का मौका दिया जाता है और उनपर सुधार-आश्रमों में रहने की पाबंदी लगाई जाती है।
५. नाबालिग लड़कियों को गणिकावृत्ति करने में सहायता पहुँचाने वालों को और अपने संरक्षण में उनसे गणिकावृत्ति करवानेवालों को अपराधी माना जाता है।
६. उपाहार गृहों या नृत्य गृहों के संचालक यदि पेशेवर स्त्रियों को गणिकावृत्ति के लिए नियुक्ति करते हों, तो उनका यह कृत्य अपराध की कक्षा में आता है।
७. अठारह वर्ष से कम उम्र के युवक-युवतियाँ यदि बेकार इधर-उधर भटकते हुए या अधिक रागरंग करते पाये जायें, तो कानूनन उन्हें रोका जा सकता है और उन्हें सज़ा भी दी जा सकती है।

इन सब नियमों के बावजूद, फ्रान्स की समाज-व्यवस्था में गणिकावृत्ति का कुछ हद तक स्वीकार तो है ही। पुलिस दफतर में दर्ज़ और वेश्यावृत्ति का परवाना प्राप्त करने वाली गणिकाएँ अनुमतिप्राप्त स्थानों में वेश्यावृत्ति कर सकती हैं। यह व्यवहार अपराध नहीं माना जाता। देह विक्रय करने वाली इन वारांगनाओं का नियंत्रण पुलिस विभाग के विशिष्ट अधिकारियों द्वारा किया जाता है। इन गणिकाओं को पुलिस विभाग के सारे नियम शिकायत किए बिना मान्य रखने पड़ते हैं। फ्रान्स में, इस प्रकार, गणिकावृत्ति का अंशतः स्वीकार करके उसके नियंत्रण के प्रयत्न किये जाते हैं। नियत किये हुए स्थानों से बाहर गणिकावृत्ति का फैलाव न हो, इसके लिए कठोर नियम बनाये गये हैं। विशेष तौर से नाबालिग युवक-युवतियों की गणिकावृत्ति से रक्षा करने की सावधानी फ्रान्सीसी कानून में अधिक पायी जाती है।

फ्रेन्च कानून का एक और तत्व भी उल्लेखनीय है । फ्रान्स का कोई नागरिक, गणिकावृत्ति संबंधी कोई अपराध यदि फ्रान्स की सत्ता न होने वाले प्रदेशों में करे, तो भी उसका न्याय फ्रान्सीसी कानून के अनुसार ही किया जाता है और उसके अपराध की व्याख्या और दंड की व्यवस्था भी उसी कानून के अनुसार होती है । उदाहरण के तौर पर, यदि कोई फ्रान्सीसी नागरिक भारत में किसी भारतीय युवती को गणिकावृत्ति में प्रवृत्त करे, तो फ्रान्स का कानून उसे दंडनीय अपराध मानेगा, फिर चाहे भारतीय कानून उसे दंडनीय मानता हो या नहीं । फेन्च कानून की इस विशेषता के कारण गौरांग स्त्रियों के देह विक्रय के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर काफी नियंत्रण रह सका है । अब तो सभी देशों के न्याय विधायकों ने इस तत्व को स्वीकार कर लिया है कि इस पूरे प्रश्न का समावेश अंतर्राष्ट्रीय कानून में किया जा सकता है ।

जर्मनी —

आज तो जर्मनी दुश्मन देश है; परंतु कुछ समय पहले इस प्रजा से हमारी मित्रता थी । राजनीति में दोस्ती और दुश्मनी के रंग बहुत पक्के नहीं होते । क्षण-क्षण में उनमें परिवर्तन हो सकता है । इंग्लैंड, फ्रान्स और जर्मनी के बीच तो विगत दो-तीन शताब्दियों में बारी-बारी से दोस्ती और दुश्मनी के कई युग आ चुके हैं । जर्मनी आज शत्रुपक्ष में होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि पश्चिम की संस्कृति पर इस प्रजा का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा है । मनुष्यजाति की वैज्ञानिक सिद्धियों में इस प्रजा के योगदान की अवगणना तो उसके बड़े से बड़े दुश्मन भी नहीं कर सकते । यह निश्चित है कि युद्ध की समाप्ति होते ही, आज एक दूसरे का नामोनिशान मिटा देने पर तुले हुए पश्चिम के ये देश फिर से एक बार मित्रता के सूत्र में बंधेंगे और युद्ध की निरर्थकता का एक और प्रबल प्रमाण संसार के समक्ष प्रस्तुत करेंगे । पराजित प्रजाओं पर होने वाले अत्याचार भी आज के युग में लंबे समय तक नहीं टिक सकते । और फिर यह जर्मन प्रजा तो पराजित होने पर भी एक महान प्रजा है । अत: यूरोपीय प्रजाओं का विचार करते समय, इंग्लैंड और फ्रान्स के बाद, तीसरे अग्रणी देश जर्मनी का अवलोकन करना ही होगा ।

गणिकावृत्ति के प्रति जर्मन प्रजा का रुख पूर्णत: वास्तविकता पर आधारित है । गणिकावृत्ति करनी ही हो, तो गणिकाओं को पुलिस की निगरानी को स्वीकार करना पड़ता है । प्रजा के सुख, स्वास्थ्य, शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए जो भी नियम गढ़े जायँ, उनका संपूर्ण स्वीकार इस पेशे को करना होता है व नियमों को न मानने वाले कठोर दंड के भागी होते हैं । जर्मन कानून के अंतर्गत गणिकावृत्ति संबंधी सभी नियमों का संपूर्ण पालन किए बिना यह पेशा करना संभव ही नहीं है । इस कानून में निम्नलिखित नियमों और निरोधक तत्वों का समावेश होता है: —

१. अठारह वर्ष से कम उम्र की नाबालिग युवतियों की पतितावस्था से रक्षा करने के भरसक प्रयत्न किये जाते हैं । अनाथ और आश्रयहीन लड़कियों की आश्रमों में या अच्छे परिवारों में व्यवस्था करके उन्हें गणिकावृत्ति से दूर रहने की पूरी सुविधाएँ दी जाती हैं ।
२. यौन रोगों का प्रसार रोकने के भरसक प्रयत्न किये जाते हैं ।
३. मंदिरों, पाठशालाओं और तीन से अठारह वर्ष तक की उम्र के बालकों की आमदरफ्त हो ऐसे स्थानों के आस पास गणिकालयों की स्थापना नहीं होने दी जाती ।
४. खुलेआम या समाज की सुरुचि का भंग हो, ऐसे किसी भी प्रकार से गणिकावृत्ति या गणिकागमन करने का अधिकार किसी स्त्री-पुरुष को नहीं होता ।
५. चौदह वर्ष से कम उम्र के बालकों का विशेष ध्यान रखा जाता है । इस उम्र के बच्चों पर गणिकावृत्ति की वक्रदृष्टि पड़े, तो उसकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है । अत: कम उम्र के

बालकों को अनीतिमय कामों में प्रवृत्त करना हीनतम अपराध माना जाता है ।

६. नाबालिग युवतियों को डरा-धमकाकर या छलकपट से उनके माता-पिता या अभिभावकों के संरक्षण से दूर करके उन्हें अनाचार में प्रवृत्त करने वालों को कठोर दंड दिया जाता है ।

७. जबरदस्ती से, डरा-धमका कर या धोखेबाजी से किसी भी स्त्री को अनीतिमय कार्यों के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता ।

८. अनाचार के मार्ग पर स्त्रियों को प्रवृत्त करने वाले व्यक्ति यदि उन स्त्रियों के माता-पिता. पति, शिक्षक-शिक्षिका, या अभिभावक हों, तो उन्हें अत्यन्त कठोर दंड दिया जाता है । इन पवित्र संबंधों की गणिकावृत्ति के दूषण से यथासंभव रक्षा की जाती है ।

९. स्त्री की गणिकावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाले पुरुष दंड के भागी होते हैं ।

इन नियमों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जर्मन कानून का प्रधान उद्देश्य भी नाबालिग और असहाय युवतियों की रक्षा करना ही है । जबरदस्ती से या छल फरेब से स्त्रियों को गणिकावृत्ति में प्रवृत्त करने वालों को वह अपराधी मानता है; और कम उम्र के बालकों पर बुरा प्रभाव पड़े, या समाज की सुरुचि का भंग हो ऐसे किसी भी ढंग से की जाने वाली गणिकावृत्ति भी दंडनीय मानी जाती है ।

संयुक्त राज्य-अमरीका —

यूरोपीय सभ्यता की परंपरा में इसके बाद का देश है अमरीका । इंग्लैंड की धार्मिक असहिष्णुता के विरोध में देश छोड़कर नयी दुनिया में जा बसने वाले अंग्रेज़ों के वंशजों ने इन संस्थानों की स्थापना की और बाद में यूरोप की अनेक जातियों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाले इस समाज ने अंग्रज़ों का मुकाबला करके स्वतंत्रता प्राप्त की । अंग्रेज़ी भाषा को मातृभाषा के रूप में स्वीकार करने के एक अपवाद को छोड़कर अंग्रेज़ी सत्ता के और सब बंधनों को इस प्रजा ने तोड़ फेंका । आज यह देश अपनी यूरोपीय मातृभूमि के प्रदेशों से भी कहीं अधिक समृद्ध और शक्तिशाली हो गया है । यह प्रगतिशील प्रदेश भिन्न-भिन्न स्वतंत्र प्राय: राज्यों का एक समवाय संघ है । भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रादेशिक कानून अलग-अलग होने पर भी केन्द्रीय शासन के नियम सब राज्यों के लिए एक से हैं । अत: प्रत्येक राज्य के कानूनों का अलग-अलग विचार न करते हुए हम गणिकावृत्ति संबंधी नियमों की विशिष्टताएँ ही देख लें । अमरीकन कानून के निम्नलिखित नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: —

१. स्त्रियों, बालकों, प्रतिबंधित दवाइयों और अश्लील साहित्य का व्यवसाय करने वाले समान रूप से अपराधी माने जाते हैं ।

२. पारिश्रमिक लेकर या बिना लिये किसी को यौन संबंध के लिए आमंत्रित करना अपराध माना जाता है ।

३. विपरीत यौन संबंध स्थापित करनेवाले नैतिक दुराचारियों और दुर्बल मानस वाले स्त्री-पुरुषों का सहानुभूतिपूर्ण विचार किया जाता है । सुप्रजननशास्त्र के विशारदों की समिति द्वारा उनकी जाँच करवाई जाती है और उन्हें सुधरने का मौका दिया जाता है । इसका कोई परिणाम न निकले, तो ऐसे लोगों की संतानोत्पादक शक्ति नष्ट कर देना कानून की दृष्टि में योग्य माना जाता है ।

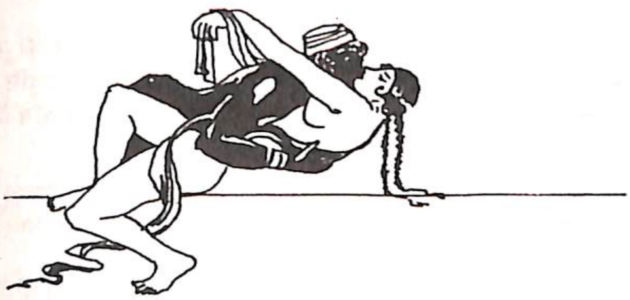
४. काले और गोरे प्रजाजनों के बीच यौन संबंध वर्ज्य माना गया है । अमरीका में काली प्रजा का अर्थ होता है हब्शी गुलामों के वंशज और गोरी प्रजा का अर्थ है सत्ताधीश और श्रेष्ठ यूरोपीय प्रजाओं के वंशज । अत: गोरा पुरुष काली स्त्री का उपभोग करे तो कोई खास बुराई नहीं मानी जाती, परंतु कृष्णवर्णीय पुरुष गौरांग स्त्री से यौन संबंध हरगिज़ नहीं रख सकता । इस नियम को तोड़ने की हिमाकत यदि कोई काला आदमी करे, तो गौरांगों का क्रोध इतना भयानक हो उठता है कि कानून

का विचार ताक पर रख कर उस काले पुरुष को निर्दयता से पीट-पीट कर उसका अंत कर दिया जाता है। मनुष्यवध का यह नृशंस प्रकार ''लिंचिंग'' (Lynching) कहलाता है।

५. अमुक मोहल्लों में या सार्वजनिक स्थानों में गणिकावृत्ति को निषिद्ध मानने का नियम तो सभी देशों में है: परंतु अमरीका में वाहनों में भी गणिकावृत्ति को निषिद्ध माना जाता है। इस नियम से यही जाहिर होता है कि गणिकावृत्ति के लिए वाहनों का उपयोग करने की प्रथा वहाँ प्रचलित रही जरूर होगी।

६. कई राज्यों में गणिकावृत्ति के लिए स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से अपराधी माना जाता है।

इन नियमों की कुछ विशिष्टताएँ अमरीका की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई हैं। आज पाश्चात्य सभ्यता और भौतिक समृद्धि के शिखर पर जा पहुँचने वाले इस देश में केवल एक शताब्दी पहले गुलामों का व्यापार खुले-आम होता था। अफ्रीका से काले हब्शियों को पकड़ लाकर, उन्हें गुलाम के रूप में बेच दिया जाता था। इन गुलामों से अत्यंत निर्दयतापूर्वक कड़ी मज़दूरी करवाई जाती थी। आरंभ में इसके बल पर ही अमरीका की गोरी प्रजाएँ समृद्ध हुई थीं। अमरीकी गृहयुद्ध के बाद गुलामी की प्रथा तो नष्ट हो गई, परंतु काले हब्शियों के प्रति गोरे अमरीकनों का बर्ताव समानता पर आधारित है, यह आज भी नहीं कहा जा सकता। इस असमानता के दर्शन गणिका व्यवसाय में भी हो सकते हैं। गौरांग गणिका काले पुरुष को देहार्पण करने में पराकाष्ठा का अपमान अनुभव करती है। उसकी मान्यता के अनुसार उसकी गोरी चमड़ी का सम्मान और सदुपयोग तभी होता है, जब वह गोरे पुरुषों की वासनातृप्ति के काम आये। काले पुरुष को देह समर्पण करने वाली गौरांगी तो मानो पूरी गोरी प्रजा पर कलंक लगाती है! अनाचार की मूल भावना चाहे एक ही हो, गौर अनीति कृष्णवर्णीय स्त्री-पुरुषों की अनीति से अतिशय उच्च और नितांत



भिन्न कक्षा की मानी जाती है। कानून का यह स्पष्ट विधान होने पर भी अनेक गौरांग गणिकाएँ काले पुरुषों को देहार्पण करती हैं, यह अलग बात है। हमें तो यहाँ यही देखना है कि गोरी प्रजाओं का मानस कितना मगरूर है। वर्णभेद पर आधारित इस विचित्र मान्यता का अपवाद छोड़ दें, तो गणिकावृत्ति के प्रति अमरीका का रुख यही दिखाई देता है कि वर्तमान काल में गणिकावृत्ति पर सतत और कठोर नियंत्रण रखना चाहिये और अंतिम ध्येय के रूप में उसका संपूर्ण उन्मूलन करने के प्रयत्न होने चाहिये।

सभ्य देशों के वर्तमान कानूनों में इससे गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं। सभी देशों में छोटे मोटे परिवर्तनों के साथ लगभग एक से ही तत्व स्वीकृत हैं। इनमें से प्रत्येक देश का आदर्श स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार किसी भी सभ्य देश का आदर्श हो सकता है। गणिकावृत्ति का संपूर्ण उच्छेदन करने की आशा मानव संस्कृति के हृदय की गहराई में जीवित अवश्य है। उससे यह उच्छेदन हो नहीं सका है, इसीलिए वह गणिकावृत्ति को सहन करती आ रही है। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ गणिका संस्था द्वारा संतुष्ट होने के कारण सभ्य समाज उसका नाश करने के प्रयत्नों के साथ-साथ उसका पोषण भी करता जा रहा है। गणिकावृत्ति को सह्य बनाने के लिए वह नियंत्रण का मार्ग ग्रहण करके कानूनों की



रचना करता है; गणिकाओं के लिए अलग आवास और अलग मोहल्ले बसाता है एवं उनके सुधार के लिए आश्रमों की स्थापना करता है । साथ ही गणिकावृत्ति को अनिवार्य मानकर वह पेशेवर गणिकाओं की सूचियाँ बनवाता है; उन्हें परवाने देने की व्यवस्था करता है; गणिकाओं पर पुलिस द्वारा निगरानी रखवाता है, वेश्यावृत्ति के लिए खास मोहल्ले नियत करके इसका विषाक्त प्रभाव उन स्थानों के बाहर न फैले ऐसे प्रतिबंध लगाता है; शंकास्पद आमोद-प्रमोदगृहों या सहायक व्यवसायों के आवरण के पीछे गुप्त गणिकावृत्ति का प्रसार न हो ऐसी व्यवस्था करता है और कम उम्र के संस्कारक्षम युवक-युवती अनीति के मार्ग पर प्रवृत्त न हों इसका ध्यान रखता है । आज का न्यायशासन भी सामाजिक स्वास्थ्य को जलाकर भस्म कर देनेवाले यौन रोगों से और आनुवंशिक उग्र वासना से भविष्य की पीढ़ियों की रक्षा करने के, सामाजिक स्थैर्य एवं पारिवारिक जीवन की पवित्रता बनाये रखने के, और वैयक्तिक नीति-अनीति के प्रश्नों में दखल दिये बिना सार्वजनिक यौन व्यवहार को नियंत्रित करने के कदम धीरे-धीरे पर दृढ़ता से उठाता जा रहा है ।

२

कानून का नियन्त्रण : प्रभावशाली का निष्प्रभ ?

कानून की आवश्यकता का विचार हम कर चुके । अत्यंत कठोर नियंत्रण के बजाय उदारता की ओर झुकनेवाला शासन का रुख भी हमने देखा । अब यह देखना है कि कानून किस हद तक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है । समाज की गणिकावृत्ति से रक्षा करने के हेतु से रचे जाने वाले कानूनों का विचार करते समय तीन तत्व प्रमुख दिखाई देते हैं: —

१. बिना किसी परदे के स्पष्ट रूप से चलनेवाली गणिकावृत्ति को, गलियों में भटक कर की जाने वाली अमर्याद वेश्यावृत्ति को, और गणिकावृत्ति से जीवन निर्वाह करनेवाले पुरुषों की प्रवृत्ति को समाज ने अनादि काल से लगा कर आज तक हमेशा निषिद्ध माना है । फिर भी गणिकावृत्ति में ये सारे तत्व आज तक चले आ रहे हैं ।

२. प्रौढ़ और अनुभवी गणिकाओं को उन्के मार्ग पर जाने देने की उदारता कानून अवश्य दिखाता है ; परंतु नाबालिग और अपना भला बुरा न समझ सकने वाली युवतियों की रक्षा करने के लिए वह अधिकाधिक कठोर और निरोधक रूप धारण करता जा रहा है ।

३. शक्तिशाली संघटनों द्वारा व्यापारवृत्ति से संचालित गणिकावृत्ति के शोषक और अर्थ लोभी जाल की ओर कानून की दृष्टि अधिकाधिक कठोर होती जा रही है ।

कानून द्वारा संरक्षित समाजरचना में गणिकाओं का खुद का स्थान अब तक अनिश्चित रहा है; और कानून की उनकी ओर देखने की दृष्टि भी अस्पष्ट रही है । गणिका को परिस्थितियों के आधीन एक कठपुतलीमात्र मान कर उसकी ओर सहानुभूति से देखने की वृत्ति कानून में बढ़ती जा रही है; परंतु अपराधिनी के रूप में उसकी भूमिका स्पष्टता से निर्धारित नहीं हुई है । गणिका को कानून के क्षेत्र के बाहर होने वाली विद्रोहिणी मानना, या अनुभवहीन अपराधिनी मानना; स्वास्थ्य का विध्वंस करने वाले रोगों की खान मानना या शासन और समाज के नियमों की उपेक्षा करने वाली निरंकुश स्त्री मात्र मानना, यह अब तक निश्चित नहीं हो सका है । अतः प्रसंगानुसार इसमें से किसी भी क्षेत्र में गणिका की गिनती होती रही है । कम-अधिक अंश में ये सारे अपराधी तत्व उसमें एक साथ मौजूद हों, ऐसा आभास भी कभी कभी होता है ।

गणिकाओं को परवाने देने की कानूनी पद्धति को कार्यान्वित करने में भी अनेक कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं । पुलिस दफतरों में दर्ज गणिकाओं का इससे नियंत्रण किया जा सकता है; परंतु दर्ज न होने वाली

स्त्रियों पर अंकुश रखने की इसमें कोई व्यवस्था नहीं होती । यह तो मानी हुई बात है कि गणिका के रूप में दर्ज न होने वाली अनगिनत स्त्रियाँ गणिकावृत्ति करती हैं । इन स्त्रियों का नियंत्रण कैसे किया जाय ? गणिकाओं की सूची बनाते समय भी कठिनाई पड़ती है । गणिका किसे माना जाय और किसे नहीं, यह प्रश्न अत्यंत उलझन भरा है । दुराचारिणी स्त्रियों को गलियों में भटकने से रोका जा सकता है; परंतु अपने घर की खिड़कियों में या बरामदों में खड़ी रहने से उन्हें कैसे रोका जा सकता है ? सड़क पर घूम कर या खिड़कियों में बैठकर इशारों से राहगीरों को आमंत्रित करना अपराध माना जा सकता है । परंतु 'इशारा', 'आमंत्रण' या 'आवाहन' किसे कहना, यह निर्णय करना अत्यंत मुश्किल काम है । एक कठिनाई और है । इस संबंध में विवेक से काम न लिया जाय, तो सड़क से जाते हुए अपने किसी मित्र या संबंधी का मुस्करा कर अभिवादन करने में भी शिष्ट स्त्रियों के लिए खतरा हो सकता है; और किसी भी गृहिणी का अपने घर की खिड़की के पास या बरामदे पर खड़ा होना भी दूभर हो सकता है । थोड़ी देर के लिए मान लें कि ऐसा प्रतिबंध लगाया जा सकता है और गणिकाओं को छज्जों पर या खिड़कियों में बैठ कर लोगों को आमंत्रित करने से रोका जा सकता है; तो भी, इससे उनका व्यवसाय कैसे रुक सकता है, यह समझ में नहीं आता । गणिकाएँ और उनके निवास स्थान आसानी से पहचाने जा सकते हैं; और वहाँ जानेवाले सदा निमंत्रण की अपेक्षा नहीं रखते । गणिका का निमंत्रण गणिकागृह में जाने का मुख्य हेतु भी नहीं है । अत: यह नहीं कहा जा सकता कि आवाहन के अभाव में गणिकालयों में कोई जायगा ही नहीं । फिर, सड़कों पर घूमकर या खिड़कियों में बैठ कर ग्राहक फँसाने वाली स्त्रियाँ अपनी विद्या में पारंगत होती हैं और बिना किसी इशारे या आवाहन के लोगों को आकर्षित करना भी अच्छी तरह से जानती हैं । वे चाहें तो गलियों में भटकने, खिड़कियों में बैठने, इशारे करने और आमंत्रण देने के विरुद्ध रचे जानेवाले तमाम कानूनों को निरर्थक सिद्ध कर सकती हैं । सभी गणिकाएँ बदतहजीब नहीं होतीं और सभी गणिकाओं का बर्ताव या रहन सहन असभ्यतापूर्ण नहीं होता । गणिकाएँ हमेशा ही पुरुषों को जबरदस्ती से या उनकी मरज़ी के विरुद्ध आकर्षित करती हों, यह बात भी नहीं । अकसर उनका आग्रह और इसरार पुरुष को पसंद होने वाली एक काम-चेष्टा के सिवा और कुछ नहीं होता ।

गणिका गृहों में दंगाफसाद या शांति का भंग होने पर उसे अपराध माना जाय, इसमें कोई हर्ज़ नहीं । रोज रोज दंगा फसाद खड़ा करने वाली किसी भी गणिका का काम लंबे समय तक नहीं चल सकता । वह अच्छी तरह समझती है कि इस प्रकार की 'उछल-कूद' उसके पेशे के लिए अत्यंत घातक सिद्ध हो सकती है । अत: स्वभाव से ही निर्लज्ज और निरंकुश होने वाली गणिकाएँ भी बेहयाई और बेपर्दगी का अधिक प्रदर्शन नहीं करतीं । बहस के लिए हम यह मान भी लें कि गणिकाओं के प्रत्यक्ष या परोक्ष इशारों, सभ्य या असभ्य आमंत्रणों और प्रिय या अप्रिय आवाहनों पर कानूनन प्रतिबंध लगाना संभव है, तो भी, यह नहीं कहा जा सकता कि सड़क से गुजरने वाले जन-साधारण की भावना को इन इशारों, आमंत्रणों या आवाहनों से ठेस पहुँचती है या उन्हें इसमें मर्यादा का भँग दिखाई देता है । बहुत से लोगों की तो इच्छा होने पर भी बेचारों को इस प्रकार के आमंत्रण नहीं मिलते ! और जब तक समाज की सुरुचि को ठेस न पहुँचती हो, और उसकी मर्यादा का भंग न होता हो, तब तक कानून उन्हें अपराध मानकर दंडित नहीं कर सकता । इन सब बातों से यही स्थापित होता है कि गणिकावृत्ति के इन तत्वों पर संपूर्ण नियंत्रण रखना अव्वल तो संभव नहीं, और संभव भी हो, तो उससे बच निकलने के रास्तों की कमी नहीं ।

गणिकावृत्ति-निरोधन कानून के तीन प्रमुख उद्देश्य होते हैं: —

१. सामाजिक शांति और शिष्टता की रक्षा करना ।
२. कम उम्र के युवक-युवतियों की इससे रक्षा करना और वे इस मार्ग पर आसानी से प्रवृत्त न हो सकें ऐसी व्यवस्था करना
३. गणिकाओं और गणिका गृहों को रोगों का उत्पत्तिस्थान मानकर सामाजिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने की योजनाएँ बनाना ।

परंतु गणिकाएँ इन तीनों उद्देश्यों को निष्फल बना कर नियमों की पकड़ से कैसे छूट निकलती हैं, यह हम देख चुके हैं ।

गणिका के ग्राहक पुरुष को अपराधी मानना या नहीं, इस विषय में न्यायविशारदों में एकमत नहीं है । प्रजा के बहुत बड़े भाग को गणिकावृत्ति के प्रति बाहय रूप से तिरस्कार होता है, इसमें कोई शक नहीं । परंतु गणिकावृत्ति को एक सामाजिक आवश्यकता मान कर ही समाज आगे बढ़ता है । अत: शिष्टता और सभ्यता की दृष्टि से, गणिकागामियों का कौनसा व्यवहार, कब, कहाँ, और किस हद के बाद सुरुचि और मर्यादा का भंजक होता है, यह निश्चय करना बहुत मुश्किल है । न्यायविशारदों का इस विषय में मतभेद ही कानून की कठोरता से गणिका के ग्राहकों को बिलकुल अछूता बचाता आ रहा है ।

अनियंत्रित यौन संबंध उपदंश और प्रमेह जैसे भयानक रोगों का प्रसार करते हैं, यह तो सिद्ध है; परंतु कानून इन अनियंत्रित संबंधों के लिए सिर्फ गणिका को ही जिम्मेदार मानता है । यह रुख न सिर्फ पक्षपाती है, बल्कि अधूरा और एकांगी भी है जो कानून के उद्देश्य को निष्फल बना देता है । इन रोगों के प्रसार में गणिका एक मुख्य कारण है, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु गणिकागामी पुरुष भी इसके लिए गणिका के जितना ही, या शायद उससे भी अधिक जिम्मेदार है । कानून के चंगुल से पुरुष तो साफ बच निकलता है; अत: डाक्टरी जाँच की कानूनी अनिवार्यता भी केवल गणिकाओं तक ही सीमित रहती है और रोग फैलाने वाले वेश्यागामी पुरुषों का पूरा वर्ग इससे बरी रहता है । फिर गणिकाओं में भी सब की जाँच कहाँ हो पाती है ? परवानाशुदा गणिकाओं पर ही यह पाबंदी लगाई जा सकती है; जबकि बिना परवाने, गुप्त रूप से वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों की जाँच के लिए कोई प्रबंध नहीं होता; और इनकी संख्या भी कुछ कम नहीं है ।

इस प्रकार समाज का पूरा पुरुष वर्ग, दर्ज न होनेवाली गणिकाएँ, वेश्यागामी पुरुषों के जरिये रोग के संसर्ग में आने वाली उनके परिवार की स्त्रियाँ और उनके बच्चे डाक्टरी जाँच के क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं । इन सब की एकत्रित संख्या जाँच की जानेवाली गणिकाओं की संख्या से बहुत अधिक हो सकती है । इन स्त्री-पुरुषों के लिए रोग की जाँच और चिकित्सा अनिवार्य न होने के कारण वे इसे लंबे समय तक छिपाये रख सकते हैं और रोग का प्रसार करते रहते हैं । चिकित्साशास्त्री की दृष्टि से रोग को छिपाये रखना उसे बढ़ाने का और उसका प्रसार करने का सरलतम तरीका है जो सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से महा भयानक सिद्ध हो सकता है । दर्ज की हुई गणिकाओं को छोड़कर समाज का बाकी रोगग्रस्त वर्ग डाक्टरी जाँच के अंकुश से मुक्त रहने के कारण रोग-प्रतिबंध का कानूनी उद्देश्य सफल नहीं हो पाता और समाज की सुरुचि और मर्यादा की रक्षा के लिए गढ़े जाने वाले कानून भी गणिकावृत्ति का सर्वांगीण स्पर्श न कर सकने के कारण अधूरे और निष्फल रह जाते हैं ।

अब हम पुलिस विभाग की निगरानी का और गणिकाओं को परवाने देने की पद्धति का विचार करें । इस पद्धति की बुनियाद में ही कुछ ऐसी कमज़ोरियाँ रह जाती हैं, जो इसके उद्देश्य को सफल नहीं होने देतीं । यथा:

१. परवाना देते समय समाज और शासन व्यवस्था गणिका संस्था की आवश्यकता को स्वीकार करके ही आगे बढ़ते हैं ।

२. परवाना देते ही गणिकावृत्ति का तो स्पष्ट स्वीकार हो जाता है; परंतु सभी गणिकाएँ परवाना लेकर पेशा नहीं करतीं । परवाना प्राप्त करने वाली कुछ गणिकाएँ पेशा करना छोड़ देती हैं और कुछ अन्य शहरों में चली जाती हैं । इन सबका ठीक-ठीक ब्योरा और पता-ठिकाना रखना हमेशा संभव नहीं होता । अनिश्चित ढंग से होने वाले ये परिवर्तन परवाने देने की पूरी प्रथा को संदिग्ध बना देते हैं ।

३. परवाना-पद्धति के अनुसार अनियमित यौन संबंधों को केवल दो ही विभागों में बाँटा जा सकता

है । परवाना लेकर चलने वाले अनाचार को वेश्यावृत्ति और बिना परवाने चलने वाली अनीति को व्यभिचार माना जाता है । परंतु विभाजन की यह कसौटी व्यभिचार के कुछ प्रकारों को गणिकावृत्ति में और स्पष्ट वेश्यावृत्ति के अनेक प्रकारों को व्यभिचार के अंतर्गत गिनकर समाज के बहुत बड़े भाग को गणिकावृत्ति के किनारे पर ला खड़ा करती है । इस हालत में व्यभिचार और गणिकावृत्ति के बीच की सीमारेखा निश्चित करना बहुत मुश्किल हो जाता है । गणिकावृत्ति और व्यभिचार के बीच के भेद की स्थापना के लिए केवल परवाने की कसौटी अनिश्चित और अविश्वसनीय सिद्ध होती है । गणिकावृत्ति की परीक्षा में केवल परवाना-पद्वति पर ही भरोसा रखने से बिना परवाने चलने वाली गणिकावृत्ति का स्वीकार ही नहीं होता । यह अस्वीकार वास्तविकता पर आधारित नहीं है ।

परवाना-पद्वति की असफलता के ये मुख्य कारण हैं । अधिकांश प्रगत देशों में यह प्रथा अब बंद हो रही है । गणिकावृत्ति करने वाली प्रत्येक स्त्री को परवाना लेने के लिए बाध्य करना लगभग असंभव सिद्ध हुआ है और समाज के हर स्तर में व्यापक रूप से फैली हुई गणिकावृत्ति के सभी प्रकारों का परवाना-पद्वति में समावेश करना भी कभी संभव नहीं हुआ ।

३

स्थानांतर पर प्रतिबंध

गणिकाओं को अमुक स्थानों में ही रहने की अनुमति देना, और अमुक स्थानों में उनके संचार को निषिद्ध मानना भी प्रतिबंधक कानून का एक प्रधान नियम रहा है । परंतु इस प्रतिबंध पर अमल करवाना उतना सरल नहीं है । कानून की इस कठोरता के कारण, रात के समय अपने बीमार बालक की दवा लेने के लिए शहर के निषिद्ध विभाग में प्रवेश करने वाली स्त्री को गणिका मान कर उसे गिरफ्तार करने की घटनाएँ कहीं कहीं हो चुकी हैं ।

निश्चित किये हुए गणिका गृहों में ही गणिकावृत्ति को सीमित रखने की व्यवस्था भी अब निष्फल मानी जाने लगी है। उपाहारगृहों, नृत्य गृहों, सौंदर्य-संवर्धन गृहों और स्नानागारों में काम करने वाली अधिकांश स्त्रियाँ स्पष्ट रूप से वेश्यावृत्ति करती हैं, फिर भी कानून उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकता । यदि इन स्त्रियों पर पाबंदियाँ लगाने का प्रयत्न किया जाय, तो ईमानदारी से गुज़ारा करनेवाली कुछ स्त्रियों पर अन्याय होने की संभावना रहती है । बहुत संभव है कि इनमें के कुछ उपाहारगृहों में ईमानदारी से केवल क्षुधातृप्ति का ही कार्य होता हो; कुछ नृत्यगृहों में नृत्य से अधिक निकट का और कोई शरीर संबंध न होता हो; कुछ स्नानागारों में केवल शास्त्रोक्त पद्वति से स्नान ही होता हो; और कुछ शृंगार गृहों में सौंदर्य प्रसाधन के कृत्रिम उपचार ही होते हों । यद्यपि यह सभी जानते हैं कि इन स्थानों में गणिकावृत्ति नियंत्रण की कक्षा के बाहर रह कर बिना किसी रोक-टोक के पनपती रहती है; फिर भी केवल इसी कारण से इन स्थानों पर प्रतिबंध लगाने का अर्थ होगा बिना किसी प्रमाण के, केवल संदेहजन्य मान्यता के कारण कुछ आवश्यक और निर्दोष व्यवसायों का निरोध करना । इस दुविधा के कारण ही कानून गणिकावृत्ति पर संपूर्ण नियंत्रण कभी नहीं रख सका । उपहार गृहों और नृत्य संगीत का आश्रय लेकर गणिकावृत्ति का यह व्यापक प्रकार कानून के क्षेत्र के बाहर रह सकता है और इस अँधेरे के साम्राज्य की शहजादियाँ बिना किसी संकोच के अपना व्यवसाय करती रहती हैं ।

गलियों में घूमकर वेश्यावृत्ति करने वाली गणिकाओं के लिए कानून का नियंत्रण प्रथम दर्शन पर तो अत्यंत आवश्यक दिखाई देता है; परंतु व्यवहारिक दृष्टि से यह भी कामयाब नहीं होता । गलियों में भटककर ग्राहक ढूंढने वाली अधिकांश गणिकाएँ इतनी अनुभवी और चालाक होती हैं कि अपराध के क्षेत्र में

आने वाले ढंग से वे पुरुषों को कभी आमंत्रण नहीं देतीं । यह भी देखा गया है कि शहर के जिन विभागों में उनके संचार पर प्रतिबंध लगाया गया हो, उन्हीं विभागों में घूमना उन्हें अधिक पसंद होता है । पुलिस की नज़र बचाकर ग्राहक फँसाने में इन्हें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती । इस प्रकार की स्त्रियों की आँखों की सहज चंचलता, चेहरे के हावभाव, और सूक्ष्म से सूक्ष्म इशारे शौकीन पुरुषों की नज़र से छिपे नहीं रहते । पुलिस के अफसरों को किसी न किसी प्रकार की रिश्वत देकर उन्हें अपना सहयोगी बना लेने में भी अनुभवी गणिकाओं को अधिक समय नहीं लगता । इस कारण से, गलियों में घूम कर वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों पर लगायी हुई पाबंदियाँ अकसर कागज़ पर ही रह जाती हैं । कानून प्रतिबंध लगाता है कि राह चलते पुरुषों को यौन व्यवहार के लिए कोई स्त्री आमंत्रित न करे । परंतु कानून पोथियों में ही रह जाता है और सैंकड़ों स्त्रियाँ हजारों राहगीरों को वेश्यावृत्ति का निकट परिचय गलियों में घूम कर ही देती हैं ।

४

अनुमति प्राप्त अनुसूचित गणिकागृह

विशिष्ट मोहल्लों में विशिष्ट मकानों को परवाने देकर उन्हीं गृहों में गणिकावृत्ति को सीमित रखने की योजना का उपयोग गणिकावृत्ति के नियंत्रण के लिए अत्यंत प्राचीन काल से होता रहा है । इस प्रकार के निर्दिष्ट गणिकालयों के संचालक पहले तो गणिकावृत्ति के लिए इन मकानों का उपयोग करने के परवाने प्राप्त करते हैं । इनमें रहकर गणिकावृत्ति करनेवाली स्त्रियाँ या तो इन संचालकों से निश्चित वेतन लेकर पेशा करती हैं, या उन्हें अपनी आमदनी का कुछ भाग संचालकों को देना पड़ता है । इस प्रकार के अधिकांश गणिकागृहों में यह प्रथा पायी जाती है कि गणिकाओं को संचालकों की ओर से भोजन वस्त्र, रहने का स्थान, और अन्य छोटी-मोटी सुविधाएँ मिलती हैं, जिसके बदले में उन्हें ग्राहकों का मनोरंजन करने के लिए सदा तत्पर रहना पड़ता है और अपनी आमदनी का कुछ भाग, सामान्यत: आधा या आधे से कुछ अधिक हिस्सा, संचालकों को देना पड़ता है । बची हुई आधी रकम भी उनके वस्त्रालंकार, इत्रफुलेल और दवादारू के खर्च के बहाने संचालक ही ले लेते हैं । सैद्धान्तिक दृष्टि से ये स्त्रियाँ अपनी आमदनी की मालिक भले ही मानी जायँ, परंतु व्यवहार में उन्हें अपनी पूरी आय, आधी गृहमालिक के हिस्से के रूप में और आधी वस्त्राभूषण और विलास के अन्य उपकरणों के नाम पर, गृहमालिकों को ही दे देनी पड़ती है । उनके हाथ में तो नहीं के बराबर रकम बचती है । कानून इन गणिकाओं का पक्ष लेकर गृहमालिकों पर सख्ती करना भी चाहे तो नहीं कर सकता । क्योंकि ये लोग बाह्य रूप से तो अपने मकानों में रहने वाली गणिकाओं को किरायेदार बताते हैं और खुद मकान के किराये के सिवा और किसी चीज़ में दिलचस्पी न रखने का और गणिकाओं के पेशे संबंधी किसी भी बात के लिए जिम्मेदार न होने का दिखावा करते हैं । परंतु सत्य यह है कि वे एक या दूसरे रूप में गणिकाओं से उनकी पूरी आमदनी ऐंठ लेते हैं, जिसका कोई हिसाब न वे रखते हैं, न किसी को बताते हैं । इस प्रकार परवाने देकर गणिकावृत्ति को अमुक मकानों में ही सीमित रखने की प्रथा गणिकाओं को लाभकारी होने के बदले गृहमालिकों का ही भला करती है । कानून अगर इन गृहों में रहनेवाली स्त्रियों को स्पष्ट रूप से किरायेदार मनवाने की सख्ती कर सके, तो शायद यह प्रथा उनके लिए हितकारी हो सकती है ।

इन मकानों के मालिक या तो इस व्यवसाय से जीवन निर्वाह करने वाले गुंडे होते हैं या निवृत्त, अनुभवी गणिकाएँ । विगत विश्वयुद्ध के बाद होनेवाले अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के अनुसार इस प्रकार के गणिकालयों की संख्या अब दिन ब दिन घटती जा रही है । नये आवासों की स्थापना की अनुमति भी नहीं दी जाती । इंग्लैंड, स्विटज़रलैंड, हॉलैंड, डेन्मार्क, नॉर्वे और जर्मनी में गणिकाओं की एकत्र बस्ती वाले गणिकालय ग़ैर कानूनी माने जाने लगे हैं । जब तक इन गृहों पर नये कानूनों का अंकुश नहीं लगा था, तब तक वे उनके संचालकों के लिए बेशुमार आमदनी का स्रोत सिद्ध होते रहे । आज भी, इस प्रकार के गृह नहीं चलाये जाते, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । सामाजिक या राजकीय अस्थिरता के काल में तो

ऐसे गृहों की स्थापना देखते-देखते हो जाती है । बाज़ारो में मंदी छा जाने पर, या युद्ध रूपी ज्वालामुखी भभक उठने पर भी इस प्रकार के वेश्यालय कानून का मजाक उड़ाते हुए, कानून की आँखों के सामने ही पनपते रहते हैं । इतना ही नहीं, युद्ध-संचालन के जिम्मेदार अधिकारी खुद ही ऐसे स्थानों की स्थापना करवाते हैं । युद्ध में सत्य की हत्या तो होती ही है, साथ-साथ नीति और सदाचार का भी नाश होता है । नीति की रक्षा करने के लिए गढ़े जाने वाले कानूनों की हत्या तो उनकी रचना करने वाले सत्ताधीशों के हाथों ही होती है । विगत युद्ध का ही उदाहरण लें । इस युद्ध के दौरान में सरकारी तौर पर स्थापित होने वाले गणिका गृहों का लेखा जोखा कौन दे सकता है ?

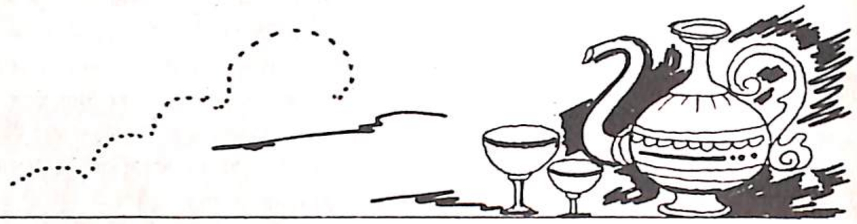
इन गृहों का स्वरूप प्राय: सभी युगों में एकसा ही होता है । वर्तमान विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया गणिकावृत्ति की ओर फिर पहले की सी रफ्तार से नहीं मुड़ेगी, ऐसा विश्वास संसार के सत्ताधीशों द्वारा दिलाया जाय तो भी, आज की परिस्थिति में उस पर भरोसा रखने को जी नहीं करेगा । इस प्रकार के गृहों के दो एक उदाहरण यहाँ देख लें, तो राज्यसत्ता और लोकमानस का इन ग्रहों के प्रति तिरस्कार दिनोंदिन क्यों बढ़ता जा रहा है, यह स्पष्ट हो जायगा । बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की परिस्थिति का दर्शन करें । सन् १९०६ में ऑस्ट्रिया की राजधानी विएना में एक मुकदमा चला था जिसमें संघटित वेश्यावृत्ति के कुछ अत्यंत घिनौने पहलुओं का पर्दाफाश हुआ था ।

विएना में एक स्त्री गणिकागृह चलाती थी जिसमें लगभग बीस युवतियाँ रहती थीं । गृह की संचालिका स्त्री वार्षिक चार सौ पाउंड (करीब छ: हजार रुपये) मकान का किराया देती थी । किसी कारखाने में छोटा-मोटा काम ढूंढ कर या घरेलू काम करके गुज़ारा चलाने की आशा से ग्रामीण विभागों से अनेक युवतियाँ विएना आती थीं । इस प्रकार की सभी स्त्रियों को शहर में आते ही काम धंधा नहीं मिल जाता, और आरंभ में उन्हें बड़ी कठिनाई पड़ती है । उपरोक्त युवतिगृह की संचालिका स्त्री, जिसका नाम रॅशेल था, इन अजनबी स्त्रियों की कठिनाइयों को समझती थी और उनसे लाभ उठा कर अपना गणिकागृह सदा भरा हुआ कैसे रखना, यह भी जानती थी । इस स्त्री ने काम काज की तलश में शहर आने वाली स्त्रियों को भरमा कर अपने गणिकागृह में लाने के लिए वैतनिक दलाल नियुक्त किये थे, जिनमें वृद्ध स्त्रियों, आकर्षक नौजवानों और निष्पाप दिखाई देने वाले छोटे छोटे लड़कों का भी समावेश होता था । ये लोग जैसा मौका देखते वैसी तरकीब लड़ा कर आश्रयहीन युवतियों को रॅशेल के गणिकागृह में ले आते थे । बाह्य रूप से इस स्त्री ने अपने मकान को "रॅशेल का केश-विन्यास भवन" नाम दिया था और खुद एक प्रतिष्ठित और उपयोगी व्यवसाय करती है ऐसा दिखावा किया था ।

उसके सहायक पूरे शहर में घूम-घूम कर रोज़ी की तलाश में गाँवों से आनेवाली लड़कियों को यह समझाते थे कि रॅशेल के शृंगार भवन में केश विन्यास की कला सिखाई जाती है और बड़े परिवारों में रहकर घरेलू काम किस तरह करना इसकी तालीम भी दी जाती है । शिक्षा के उपरांत, जिन्हें नौकरी करनी हो, उन्हें अच्छा वेतन दिया जाता है । इन प्रलोभनों से आकर्षित होकर अनेक युवतियाँ काम सीखने की या नौकरी की लालच से रॅशेल के यहाँ आ पहुँचती थीं । रॅशेल अत्यंत चालाक और तरह-तरह के भावप्रदर्शन में अत्यंत कुशल स्त्री थी । समयानुसार बर्ताव करना वह अच्छी तरह से जानती थी । केशविन्यास की शिक्षा देते देते वह इन युवतियों के सामने यौन अनाचार के रसीले और ललचाने वाले प्रसंगों का वर्णन करती रहती थी । जिस युवती ने थोड़ी सी भी दिलचस्पी जाहिर की, उसे वह तुरंत गणिकावृत्ति में धकेल देती थी । अत्यंत भोली-भाली, या इन रसभरे वर्णनों से आरंभ में बिचक उठनेवाली युवतियों को वह और कुछ दिनों तक अश्लील और उन्मादक वातावरण में डूबा रखती थी और उपयुक्त मौका देखते ही फिर अपना प्रस्ताव दोहराती थी । धीरे-धीरे ये भी वश में हो जाती थीं । इन युवतियों की गणिकावृत्ति की कमाई से ही वह अपना जीवननिर्वाह चलाती थी । उसके यहाँ का वातावरण ही कुछ ऐसा कामुक और मादक था, जो युवती स्त्रियों को अनाचार के मार्ग पर जबरन् खींच ले जाता था । जो युवती किसी भी युक्ति से काबू में नहीं आती थी उसे ठीक करने के लिए तरह-तरह के अत्याचार और छलकपट रूप तीर भी रॅशेल के तरकश में मौजूद थे ।

कानून के नियमों से बचने के लिए यह स्त्री नाबालिग लड़कियों की उम्र बढ़ा-चढ़ा कर बतलाती थी और अपने गणिकागृह में रहने वाली लड़कियों से, वे अपनी राजीखुशी से और अपने माता-पिता या अभिभावकों की संमति से वेश्यावृत्ति कर रही हैं, ऐसा इकरारनामा लिखवा लेती थी । इस के तथाकथित केशविन्यास भवन में काम सीखने या नौकरी करने के लिए आने वाली युवतियाँ बहुत शीघ्र गणिकावृत्ति करने लगती थीं ; और एक बार इस के जाल में फँसने के बाद उनकी हालत बंदिनियों से भी बदतर हो जाती थी । एक बार काबू में आयी हुई लड़कियों पर रँशेल ऐसा भयानक नियंत्रण रखती थी कि उन भयभीत युवतियों को इसके जाल से छूटने का मौका अगर कभी मिलता भी था, तो वे सहम कर उससे लाभ नहीं उठाती थीं । इस प्रकार, बाह्य दृष्टि से "केश-विन्यास भवन" के आकर्षक नाम से प्रसिद्ध होने वाला यह स्थान पुलिस के परवाने से चलने वाले गणिकागृह के सिवा और कुछ नहीं था ।

किसी कामधंधे की शिक्षा या नौकरी दिलाने का प्रलोभन सदा से ही दरिद्र युवतियों को गणिका गृहों में आकर्षित करने का मुख्य बहाना रहा है । इसी प्रकार पुरुषों के लिए गणिका गृहों की प्रबल आकर्षक शक्ति है शराब । अन्य कई व्यसनों की तरह शराब भी महफिल में बैठ कर पीने-पिलाने की चीज़ मानी



जाती है । मदिरा के साथ मदिराक्षी भी मौजूद होने के कारण गणिका गृहों में ये महफिलें और भी रंगीन हो उठती हैं । इन पानगोष्ठियों में कृपणता का क्यां काम ? खूब शराब पीने की और पीकर पचाने की ताकत पौरुष का सर्वोच्च लक्षण माना जाता है । इन कारणों से गणिका गृहों में आनेवाले शौकीनों को सबसे पहले शराब पेश की जाती है । केवल आगंतुक रईस ही नहीं, उसकी सेवा के लिए प्रस्तुत गणिका, उसकी सहेलियाँ, संचालिका, कुट्टनी और उपस्थित तमाशबीन भी पीने पिलाने के इस दौर में शामिल होते हैं । कुछ सुरूर जमते ही चारों ओर से आनंद और हास्य की किलकारियाँ उठने लगती हैं । अधिकाधिक शराब प्यालों में ढलती जाती हैं, जिसका पूरा खर्च ग्राहक के ही सिर होता है । शराब के व्यापारियों की ओर से गणिकाओं को शराब की खपत के अनुपात में आर्थिक प्रोत्साहन दिया जाता है । इतना ही नहीं, यह भी देखा गया है कि जिन गणिकालयों में शराब की खपत कम होती है, वहाँ की गणिकाएँ अपने व्यवसाय के लिए नाकाबिल समझी जाती हैं । शराब के प्रभाव के बाद गणिकाओं को अनेक प्रकार की कामचेष्टाओं और धींगामस्ती के लिए तैयार रहना पड़ता है । धीरे धीरे ये गणिकाएँ खुद भी शराब के व्यसन की गुलाम हो जाती हैं और गणिकागृह की संचालिका स्त्री की कर्ज़दार हो जाती हैं ।

अनेक देशों में कानून द्वारा यह पाबंदी लगाई जाती है कि गणिकागृहों में रहनेवाली गणिकाओं को उनकी कमाई का आधा या आधे से अधिक हिस्सा मिलना चाहिये । परंतु गृहमालिकों की चालाकियों के सामने कानून की कुछ नहीं चलती और वे गणिकाओं के हाथ में नाम मात्र की रकम ही बचने देते हैं । इसका एक उदाहरण उल्लेखनीय है । गणिकागृह में रहने वाली एक युवती एक बार बीमार पड़ गई । अच्छे अस्पताल में उसका इलाज करवाया गया । परंतु अच्छी होने के बाद उसने निश्चय किया कि गणिका का पेशा नहीं करना चाहिये । उस युवती के उद्धार में दिलचस्पी रखनेवाली एक स्त्री ने गणिकागृह से उसके कपड़े और सामान वापस मँगवाना चाहा । जवाब मिला कि उसके कोई कपड़े-लत्ते गणिकागृह में

नहीं हैं । थाने में शिकायत करने पर दो-चार फटे-पुराने चिथड़े निकाल कर दे दिये गये । इस प्रकार गणिका गृहों के संचालकों के लिए वर्षों तक अनीति के मार्ग पर चल कर हजारों रुपयों की कमाई कर देने वाली युवती को गणिकागृह छोड़कर जाते समय एक पाई भी नहीं मिली ।

इस प्रकार के गणिकालयों की प्रथा अब बहुत कम होती जा रही है; परंतु पूर्णत: नष्ट हो गई है, यह नहीं कहा जा सकता । इन गृहों के ऐश्वर्यकाल में गणिकाओं के मोहल्लों में मकानों की कीमत आसमान पर पहुँच जाती थी । शहर के अमुक मोहल्लों में गणिकाओं की बस्ती होने वाली है, ऐसी अफवाह फैलने पर भी उस मोहल्ले के सब मकान अनेकगुनी कीमतें दे देकर इस व्यवसाय के मोटे आसामी खरीद लेते थे । यह प्रथा कम हो जाने के और भी कई कारण हैं । इसमें से ही गौरांग स्त्रियों का अंतर्राष्ट्रीय दास व्यापार बड़े पैमाने पर चलने की संभावना खड़ी होती है । इस व्यापार के विरुद्ध संसार भर के देशों में कितना प्रबल विरोध जागृत हुआ है, यह हम देख चुके हैं । इन गृहों में रहने वाली युवतियों पर होनेवाले अत्याचारों की कहानियाँ प्रकाशित होने के कारण और इन पर राज्यसत्ता की कड़ी निगरानी होने के कारण भी इनमें भरती होनेवाली युवतियों की संख्या कम हो गई है । इनमें आ घुसने वाली अधेड़ उम्र की अनाकर्षक स्त्रियों के कारण भी इनकी लोकप्रियता कम हुई है । इसके उपरांत इन गृहों में अप्राकृतिक और विपरीत ढंगों से यौन आनंद प्राप्त करने के प्रयत्न भी होते हैं, जिनके विरुद्ध मनुष्य की सुरुचि-भावना ने सदा विद्रोह किया है । इन शंकास्पद गृहों का वातावरण भी दिनोंदिन अपराधमय होता जा रहा है । धीरे-धीरे ये स्थान गुंडों के केन्द्र बनते जा रहे हैं; पुलिस का हस्तक्षेप दिनों दिन बढ़ता जा रहा है; और इनका संचालन करना अधिकाधिक जोखिमभरा काम होता जा रहा है । इस कारण से भी इन गृहों का चलन अब कम हो गया है ।

अकसर यह कहा जाता है, और माना भी जाता है कि निर्दिष्ट गणिका गृहों में गणिकावृत्ति को सीमित कर देने से अनाचार की व्यापकता मर्यादित और केन्द्रित हो जाती है । परंतु यह मान्यता पूर्णत : सत्य नहीं है । इन गणिकाओं को बंदिनी मान लें, तो भी उन्हें सदा सर्वदा इन मकानों में बंद रखना संभव नहीं होता । व्यवसाय मंदा पड़ जाने पर इनमें की अनेक युवतियों को गलियों में घूम कर ग्राहक ढूंढने की आवश्यकता पड़ती है । अत: निर्दिष्ट गणिका गृहों की स्थापना होने से गली-बाज़ार सुरक्षित हो जाते हैं, यह नहीं कहा जा सकता । इसके अलावा, कभी-कभी गणिका गृहों के बीच स्पर्धा की भावना भी पायी जाती है । मालिकों की ईर्ष्या और झगड़ों के कारण अधिक आकर्षक गणिकाओं को बहका-फुसला कर अपने-अपने गणिकालयों में ले जाने की खींचातानी चलती रहती है और गणिकाओं को भी अपने अपने आवासों की समृद्धि के खातिर अपनी अदाओं का अधिकाधिक खुला प्रदर्शन करना पड़ता है ।

पुलिस की निगरानी में चलने वाले इन अनुमति प्राप्त गणिका गृहों के उपरांत बिना परवाने चलनेवाले गृहों का अस्तित्व भी भुलाने की बात नहीं है । होटल, धर्मशाला, उपाहारगृह, विश्रांतिगृह आदि कानूनी नामों के अंतर्गत चलने वाले स्थान भी बहुधा यौन अनाचार के अड्डे ही प्रमाणित होते हैं । ये स्थान निर्दिष्ट गणिका गृहों से स्पर्धा करते हैं और उनकी लोकप्रियता कम कर देते हैं । इन के व्यापक अस्तित्व ने निर्दिष्ट और नियंत्रित गणिकालयों का प्रचलन कम कर दिया है । निर्दिष्ट गणिकालय यौन अनाचार का स्पष्ट विज्ञापन करने वाले अनीतिधाम होते हैं । इनमें रहने वाली स्त्रियों की हालत बंदिनियों से अधिक अच्छी नहीं होती । इतना ही नहीं, इन आवासों का वातावरण उन्हें व्यसनी और रोगिणी बना देता है और यहाँ से छूट निकलने की उनकी इच्छाशक्ति ही नष्ट कर देता है । इन गृहों के आसपास ही यौन अनाचार से आर्थिक लाभ उठाने वाले व्यापारियों का वर्ग पनपता है और इन्हीं के करिश्मों से गौरांग स्त्रियों के शील विक्रय के नाम से प्रचलित अनीतिमय परंपराएँ जन्म लेती हैं । इसके उपरांत, ये वेश्यागृह रोग के अनिवार्य उत्पत्तिस्थान और सामाजिक अनारोग्य के केन्द्रस्थान तो हैं ही ।

गणिकालयों को हम कठोर दृष्टि से देखें या सहानुभूति से; गणिकाओं के ित की दृष्टि से देखें या गणिका लोलुपकामी पुरुषों के संतोष की दृष्टि से सामाजिक स्वास्थ्य की ृ ट से देखें या सामूहिक

व्यवस्था की; किसी भी दृष्टि से ये स्थान मनुष्यता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते । अंत में यही कहना पड़ता है कि गणिकागृह मनुष्य के किसी भी उद्देश्य की पूर्ति न करनेवाला एक अमानुषी स्थान है । यह भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि गणिका गृहों की व्यवस्था और नियंत्रण के कानूनी प्रयत्न अब तक निष्फल रहे हैं । अनाचार को सीमित रखने का उद्देश्य इन से पूरा नहीं हुआ; यही नहीं, इनके कारण गणिकावृत्ति में और भी अनेक अनिष्ट तत्वों का प्रवेश हो गया है ।

५
कानून और डाक्टरी जाँच

यह सही है कि गणिकावृत्ति-निरोधक कानून मुख्यतः रोगों की रोकथाम करने के हेतु से रचे जाते हैं । परंतु इस दृष्टि से भी उन्हें बहुत अधिक सफलता मिली हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । रोगिणी गणिकाओं की प्रचलित जाँच-पद्धति संतोषकारक नहीं कही जा सकती । अधिकांश देशों में नियमानुसार दर्ज की हुई गणिकाओं को सप्ताह में एक या दो बार पुलिस द्वारा नियुक्त डाक्टरों से शारीरिक जाँच करवानी पड़ती है । कहीं-कहीं यह जाँच स्त्री-डाक्टरों द्वारा की जाती है । कुछ देशों में इस जाँच के लिए मामूली फीस ली जाती है, और कहीं यह निःशुल्क होती है । फीस ली जाती हो या नहीं, दोनों प्रथाओं में रिश्वत की बुराई प्रवेश कर जाने का डर रहता है । रिश्वत के सब प्रकारों में डाक्टरों को दी जाने वाली यह रिश्वत हीनतम मानी जायगी क्योंकि यह डाक्टरी के जाँच के उद्देश्य को निष्फल बना कर मनुष्य जीवन के साथ खिलवाड़ करती है । डाक्टरी जाँच का एक वर्णन यहाँ उल्लेखनीय है जो इस प्रकार के परीक्षणों की निरर्थकता पर प्रखर प्रकाश डालता है: —

"दिन भर उदास गणिकाओं के झुंड के झुंड दवाखाने में आते रहते हैं । जाँच के पूरे साधन भी वहाँ उपलब्ध नहीं होते । जिन घिसे-पुराने औजारों से काम लिया जाता है, वे अत्यंत घटिया किस्म के और अपर्याप्त होते हैं । गणिकाओं की परीक्षा करने का अप्रिय काम अस्पताल के दो डाक्टर यंत्रवत् करते रहते हैं, मानो बेगार टाल रहे हों । गणिकाओं को पंक्ति में खड़ी कर दिया जाता है । एक डाक्टर साहब कुरसी पर बैठे रहते हैं । उनके सामने से ये स्त्रियाँ मुँह फाड़कर जीभ बाहर निकाले, एक-एक कर के गुज़रती जाती हैं । यह काम अत्यंत शीघ्रता से होता है । सबकी ज़बान और गले की जाँच एक ही चम्मचनुमा औजार से दबाकर होती है जिसे कभी-कभी एक अत्यंत मैले कपड़ों से पोंछ लिया जाता है । मुँह की परीक्षा पूरी होते ही गुप्तांगों की जाँच शुरू होती है । यह काम भी उतनी ही रफतार से पूरा कर दिया जाता है । एक के बाद एक इन स्त्रियों को दो कुरसियों पर बैठाया जाता है, और डाक्टर साहब शीघ्रता से जाँच कर लेते हैं । कभी-कभी तो कुरसी पर बैठते ही जाँच पूरी हो जाती है । पूरी जाँच में प्रति स्त्री पचीस-तीस सेकंड से अधिक समय नहीं लगता । इस बार भी पचीस-पचीस, तीस-तीस युवतियों की जाँच के लिए एक ही औजार, बिना साफ किये, काम में आता रहता है । डाक्टर अगर रंगीले हों, तो बीच-बीच में भद्दे मजाक भी करते रहते हैं । बीभत्सता का इससे हीन प्रदर्शन शायद ही कहीं होता हो ।" डाक्टरी जाँच का यह वर्णन प्रातिनिधिक है । स्पष्ट है कि इस के तमाशे से रोगों का निरोध होने के बजाय उनका प्रसार होने की ही संभावना अधिक रहती है ।

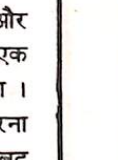
इस जल्दबाजी भरी, अधूरी और अविश्वसनीय जाँच के परिणाम स्वरूप यदि कोई गणिका रोगिणी मालूम दे, तो उसके उपचार की भी कोई योग्य व्यवस्था नहीं होती । इन रोगिणियों के चिकित्सास्थान जेल की कोठरियों से भी बदतर होते हैं । पेरिस में तो रोगिणी गणिकाओं को साँलाज़ेल नामक एक मध्यकालीन कारागृह में रखा जाता था । ऐसे स्थानों का अस्पताल के रूप में उपयोग करना भी चिकित्साशास्त्र का मजाक उड़ाना है । अपने पेशे की अनुभवी और कठिन हृदय गणिकाएँ भी साँलेज़ेलका नाम सुनते ही काँप

उठती थीं और वहाँ जाने से बचने की जी तोड़ कोशिश करती थीं । जो रुग्णालय जेलखानों के प्रतिरूप हों, और जहाँ जाने में रोगियों को डर लगता हो, वहाँ उनकी चिकित्सा क्या खाक हो सकती है ! ऐसे स्थान तो मानव सभ्यता पर कलंकरूप माने जाने चाहिये ।

इस स्थिति में सुधार की गुंजाइश है, और अब धीरे-धीरे सुधार हो भी रहा है । फिर भी, केवल अनुमति प्राप्त गणिका गृहों में रहने वाली और पुलिस दफतर में दर्ज गणिकाओं की समय-समय पर जाँच कर लेने से ही इस प्रश्न का समाज-स्वास्थ्य संबंधी पहलू पूर्णत: हल नहीं होगा । डाक्टरी जाँच कभी कभी नितांत भ्रामक भी हो सकती है । इसके चाहे जितने उदाहरण मिल सकते हैं । एक बार किसी धनी गृहस्थ ने पेरिस में कुछ रोज़ आनंद से गुज़ारे । कुद दिनों में ही उसे डाक्टरी राय लेने की आवश्यकता पड़ी । जाँच करने पर मालूम पड़ा कि यह महाशय उपदंश से पीड़ित थे । परंतु यह सुनते ही वह क्रोध से चिल्ला उठा, ''डाक्टर साहब, यह असंभव है । मैं अब तक ऐसी किसी स्त्री के संपर्क में नहीं आया जिसके पास रोगमुक्त होने का प्रमाणपत्र न हो । इतना ही नहीं, जिन स्त्रियों से मेरा संबंध रहा, उन सब की मैंने पहले डाक्टरी जाँच करवा ली थी । अमुक स्त्री पूर्णत: स्वस्थ है, और किसी भी रोग से पीड़ित नहीं है, ऐसा प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए मुझे हर बार सौ फ्रैंक तो डाक्टर को देने पड़े हैं । डाक्टर मुस्करा उठा । कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के प्रमाणपत्र सैंकड़ों के हिसाब से, और अत्यंत सस्ते दामों मिल सकते हैं । इन महाशय ने व्यर्थ ही इतना खर्च किया । अनेक स्थानों पर तो शासन की ओर से परवानाशुदा गणिकाओं को रोगमुक्त घोषित करनेवाले प्रमाणपत्रों पर विश्वास न रखने की स्पष्ट सूचनाएँ दी जाती हैं । यह परिस्थिति डाक्टरी जाँच की उपयोगिता और विश्वसनीयता पर अच्छा प्रकाश डालती है ।

गणिकाओं की डाक्टरी जाँच प्राय: उपदंश और प्रमेह, इन दो रोगों तक ही सीमित रहती है । इन दोनों महारोगों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा । गणिकावृत्ति के साथ जुड़े हुए रोगों में ये दो ही सबसे अधिक भयानक हैं, यह तो सही है; परंतु इन दोनों रोगों को आसानी से पहचान लेना सर्वदा संभव नहीं होता । इन रोगों के विकास की विविध अवस्थाएँ होती हैं । आरंभिक अवस्था में, दो-दो, तीन-तीन वर्षों तक इन्हें पहचानना मुश्किल होता है । फिर यौन संसर्ग ही इन रोगों के फैलाव का एकमात्र कारण नहीं है । कभी-कभी इनकी छूत मौखिक या किसी प्रकार के शारीरिक संपर्क से भी फैल सकती है । कुछ धनलोलुप डाक्टर अपने व्यवसाय के गौरव को भुला कर रोग के लक्षण दबाने की सूइयाँ भी देते हैं । इससे, रोग होने पर भी उसके लक्षण दिखाई नहीं देते, और रोगिणी गणिकाओं का पेशा आराम से चलता रहता है । इस प्रकार के व्यवहार रोगों का नाश करने के बजाय उनका प्रसार ही करते हैं । तीन चौथाई भाग के रोगी तो कभी डाक्टर जाँच करवाते ही नहीं; और जो करवाते हैं, उनमें से अधिकांश का सही निदान नहीं होता ।

एक और परिस्थिति भी इस संबंध में महत्व रखती है । गणिकाओं के यौन संबंध अनियमित और अनिर्बंध तो होते ही हैं, उनपर संख्या का बंधन भी नहीं होता । यह तत्व भी यौन रोगों के फैलाव में एक महत्वपूर्ण घटक है । कितने पुरुषों से संबंध रखना, इसका कोई बंधन गणिकाओं के ऊपर नहीं होता । अनुमति प्राप्त सामूहिक गणिकालयों में रहने वाली वेश्याओं को तो बड़ी संख्या में पुरुषों को संतुष्ट करना पड़ता है । दस से तीस तक की संख्या औसत मानी जाती है; परंतु कभी-कभी यह संख्या इससे भी बढ़ जाती है । एक ही गणिका द्वारा एक रात में पचास-साठ पुरुषों को संतुष्ट किए जाने के उदाहरण मिलते हैं । फ्रान्स की एक जाँच-समिति के समक्ष तो इससे भी अधिक आश्चर्यजनक उदाहरण आया, जब एक गणिका ने एक रात में बयासी पुरुषों को संतुष्ट करने की असंभव दिखाई देनेवाली बात कबूल की । इस प्रकार एक ही गणिका के अमर्यादित पुरुष संख्या वाले अनियमित संबंध, न जाने कितने लोगों में यौन रोगों के प्रसार का महाभयानक साधन बन सकते हैं । गणिकावृत्ति में संबंधों की संख्या मर्यादित हो, और अनियमितता कम हो, तो ही यौन रोगों [illegible] कुछ कम होने की संभावना हो सकती है । परंतु मौजूदा परिस्थिति में, एक पक्षीय जाँच पर आधारित कानूनों के सफल होने की आशा बहुत कम है । गणिकाओं



की जाँच तो होती हो, परंतु उनसे संबंध जोड़ कर पूरे समाज में रोग का प्रसार करनेवाले गणिकागामी पुरुषों की जाँच अनिवार्य न मानी जाती हो, तो ये पुरुष रोग प्रसार के गणिकाओं से भी अनेक गुने भयानक साधन सिद्ध हो सकते हैं । दुख की बात है कि कानून उन्हें छूने की भी हिम्मत नहीं करता ।

इस प्रकार, हम देख सकते हैं कि वैद्यक दृष्टि से भी कानून का अमल अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुआ है । इस असफलता के मूल कारणों का विचार हम कर चुके । संक्षेप में उनकी पुनर्गणना इस प्रकार हो सकती है: —

१. सभी गणिकाएँ दर्ज नहीं होतीं । हो भी नहीं सकतीं । तीन चौथाई भाग की गणिकाएँ किसी भी प्रकार की डाक्टरी जाँच के बिना निरंकुशता से अपना व्यवसाय करती रहती हैं ।

२. पुरुषों की जाँच अनिवार्य नहीं मानी जाती । गणिका के संसर्ग से रोग प्राप्त करके उसकी विरासत अपनी गृहस्थी में फैलाने वाले पुरुषों की कमी नहीं है । गणिकागामी पुरुष रोगवृद्धि का दूसरा प्रमुख स्रोत है जो कानूनन डाक्टरी जाँच के दायरे से बाहर रह जाता है । कानून के रोग प्रतिरोधक उद्देश्य की असफलता का यह सबसे बड़ा कारण है ।

गणिकाओं की डाक्टरी जाँच होती है; परंतु अकसर वह अधूरी, बेढंगी और रोग-प्रसारक होती है । रोगिणी गणिकाओं की योग्य चिकित्सा और देखभाल नहीं होती । योग्य अस्पतालों का अभाव है; और यौन रोगों की व्यापकता और भयानकता देखते हुए, इलाज करनेवालों की संख्या और चिकित्सा के साधन भी पर्याप्त नहीं हैं ।

४. रोग के चिन्ह कभी तो अपने आप और कभी दवाइयों की सहायता से छिपाये जा सकते हैं । जल्दबाजी से की हुई ऊपर ऊपर की डाक्टरी जाँच इस प्रकार छिपाये जाने वाले रोगों का निदान नहीं कर सकती ।

कानून जब तक स्पष्ट और गुप्त, दोनों प्रकार की गणिकावृत्ति का समान रूप से नियंत्रण नहीं करता; जब तक गणिकावृत्ति के लिए केवल स्त्री को अपराधिनी मानकर, स्त्री से भी अधिक अपराधी पुरुष को बरी रखने की एकांगी प्रथा का अंत नहीं होता; और जब तक गणिकावृत्ति के दायरे से बाहर निकल कर पूरे समाज में फैलने वाले यौन रोगों को सावधानी और चिकित्सा द्वारा वश में नहीं किया जाता, तब तक, गणिकावृत्ति के नियंत्रण के; अपराधों को रोकने के; और रोगों का प्रतिरोध करने के कोरे कानूनी प्रयत्न कभी सफल नहीं होंगे। किसी भी दृष्टि से विचार करें, गणिकावृत्ति में पुरुष और स्त्री का उत्तरदायित्व समान दिखाई देता है । सिद्धान्त और न्याय की दृष्टि से भी दोनों समान रूप से जिम्मेदार माने जाने चाहिये । पुरुषों द्वारा रचे गये कानून पुरुष को जिम्मेदार चाहे न मानें; परंतु प्रकृति के नियम न्याय की तुला के रत्तीमात्र भी ऊँची-नीची नहीं होने देते । मनुष्य अन्याय करले ; प्रकृति उसे सहन नहीं करती । समाज के निर्माण की हुई प्रतिष्ठा और शिष्टता से समाज के सदस्य भले ही चकाचौंध हो जायँ, कुदरत उनसे ठगी नहीं जाती । इन रोगों के लिए जो भी जिम्मेदार हों, प्रकृति उन्हें ढूंढ ढूंढ कर सज़ा देती है । समाज के कानून से बच निकलने वाला पुरुष कुदरत के कानून से नहीं बच सकता । पुरुष को बेदाग बचाकर स्त्री को सज़ा देने वाला कानून एकांगी है, लंगड़ा है, और पक्षपाती है । जब तक इस दृष्टिकोण में फर्क नहीं पड़ता, तब तक गणिकावृत्ति के नियंत्रण में कानून को सफलता मिलने की संभावना नहीं ।

६
कानून की कठोरता ? या मानवताभरी सहृदयता ?

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में गणिका-नियंत्रण कानून के संबंध में यूरोप में दो मत प्रचलित थे । पहला मत नियंत्रण-मत कहा जाता था और दूसरा 'निनिर्यमन-मत के नाम से परिचित था । पहले मतानुसार गणिकावृत्ति के नियंत्रण के लिए कानून की आवश्यकता प्रतिपादित की जाती थी ; परंतु दूसरी विचारधारा के अनुसार गणिकावृत्ति-निरोधक कानूनों के अस्तित्व को ही गणिकावृत्ति का सबसे बड़ा समर्थन और निरोध के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मानकर कानून के बंधनों को अनावश्यक माना जाता था । इन दोनों विचारधाराओं के विरोध से उत्पन्न होने वाले वाद विवादों से पतिता-जीवन के सभी पहलुओं पर प्रखर प्रकाश पड़ा और बहुत सी अनपेक्षित जानकारी एकत्रित हो सकी । यहाँ हम इन दोनों मतों को कुछ गहराई से समझ लें ।

नियंत्रणवादियों के मतानुसार गणिकाओं को निश्चित मकानों में और निश्चित मोहल्लों में बसाना चाहिये । उनकी गणना करके उनकी सूचियाँ बनाना चाहिये और उनपर पुलिस का कड़ा नियंत्रण होना चाहिये । समय समय पर उनकी डाक्टरी जाँच भी अनिवार्य रूप से होनी चाहिये । निर्नियमनवादियों के मतानुसार गणिकाओं के पेशे पर विशिष्टता की छाप लगाने के बदले गणिकावृत्ति से संबंधित अपराधों को भी अन्य अपराधों के समकक्ष मानना चाहिये । इसी प्रकार रोगनिदान और चिकित्सा के साधनों को भी केवल गणिकाओं तक सीमित रखकर उन्हें कलंकिनी प्रमाणित करने के बदले उनका क्षेत्र यौन रोगों से पीड़ित सब लोगों तक बढ़ाना चाहिये ।

नियंत्रणवादियों का मत है कि गणिकाओं को अनिवार्य रूप से पुलिस-दफतर में अपना नाम, पता-ठिकाना आदि जानकारी दर्ज करवानी चाहिये । पुलिस अनुमति दे उन्हीं मोहल्लों में बसना चाहिये और प्रतिबंधित मोहल्लों में प्रवेश नहीं करना चाहिये । पुलिस की सूचनानुसार डाक्टरी जाँच के लिए भी हाज़िर होना चाहिये । परंतु नियंत्रणवादियों की इन योजनाओं के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं । सभी गणिकाओं को दर्ज करना मुमकिन नहीं होता । अनुमतिप्राप्त गणिका गृहों के अलावा भी अन्य बहुत स स्थानों पर धन के आदान-प्रदान पर आधारित व्यभिचार चलता रहता है । यह हम देख ही चुके हैं कि व्यभिचार में आर्थिक देन लेन का प्रवेश होते ही गणिकावृत्ति का क्षेत्र शुरू हो जाता है । धन के बदले में स्त्रीदेह का उपयोग होने में गणिकागृह की आवश्यकता अनिवार्य नहीं होती । इस प्रकार के व्यवहार रात दिन होते रहते हैं और वे कानून की पकड़ में कभी नहीं आते । इस कक्षा में आने वाले गणिकावृत्ति के बहुत अधिक प्रसंग कानून के दायरे से बाहर रह जाते हों, तो गणिकावृत्ति का नियंत्रण करने वाला कोई भी कानून सफल कैसे हो सकता है ? और नियंत्रणविरोधियों का यही तर्क है कि जिन कानूनों के कारगर होने की संभावना न हो, वे नितांत अनावश्यक हैं ।

यहाँ पर, एक प्रसिद्ध लेखक द्वारा प्रस्तुत की हुई गणिकावृत्ति की व्याख्या का विचार कर लें । उसका कहना है कि "गणिकागृह का अर्थ केवल गणिकाएँ रहती हों, उसी स्थान तक सीमित नहीं होता; बल्कि जहाँ-जहाँ वे अपने ग्राहकों और आश्रयदाताओं को ले जाती हों, और जहाँ-जहाँ उनका मिलन होता हो, वे सारे स्थान भी इसी व्याख्या में आते हैं ।" कानून और नियंत्रण के विरोधी आसानी से प्रमाणित कर सकते हैं कि खुले और स्पष्ट गणिका गृहों के उपरांत ऐसे और भी बहुत से स्थान होते हैं, जहाँ अन्य किसी व्यवसाय के बहाने वेश्यावृत्ति ही होती है । इस हालत में कानून की पाबन्दी लगाकर गणिकाओं को अलग मकानों में रखने की आवश्यकता नहीं है । पुलिस के नियंत्रण और डाक्टरों की जाँच का क्या परिणाम होता है, यह हम देख चुके हैं । अत: नियंत्रण-विरोधियों की स्पष्ट राय है कि कानून का नियंत्रण बिलकुल निरर्थक है ।



कानून द्वारा लगाये जानेवाले प्रतिबंध दूरकर देने से पतिताओं पर लगनेवाली कलंक की छाप से भी उनकी रक्षा हो सकेगी । वैयक्तिक अनाचार को कानून रोक नहीं सकता । दो व्यक्तियों के निजी संबंध अनीतिमय हों, तो भी पुलिस या कानून उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते । अतः नियंत्रणवादियों का कहना है कि गणिकावृत्ति को भी वैयक्तिक अनाचार का कार्य मानना चाहिये; पुलिस की अधिकार-कक्षा में आनेवाला फौजदारी अपराध नहीं । आर्थिक देनलेन पर आधारित, एक स्त्री के साथ एकाधिक पुरुषों का यौनसंबंध समाज में खुली गणिकावृत्ति के क्षेत्र के बाहर भी चल रहा है; और खूब चल रहा है । तो फिर गणिकावृत्ति पर ही कलंक की छाप लगाकर उसे दूषित अपराधियों की संस्था करार देने से क्या फायदा ? इससे न तो समाज को ही कोई लाभ पहुँचता है, और न गणिकाओं को; केवल उनके आत्मसम्मान को ठेस लगती है, और उनकी मनुष्यता लुप्त हो जाती है । गणिका को कलंकिनी, और स्वस्थ समाज से अलग, सिर्फ गणिका गृहों की चहारदीवारी में रहने योग्य पापिनी मानने के बजाय उसे समाज के अन्य लोगों की तरह साधारण व्यक्ति, और समाज एवं कानून के नियमों की वशवर्तिनी मानने से ही उसकी हीन-भावना दूर हो सकेगी और वह निर्लज्जता का बाना ओढ़ कर बेहयाई पर उतारू होने के बदले मनुष्यता के सामान्य स्तर पर रहकर अधिक अच्छा बर्ताव कर सकेगी । विशिष्ट कानूनों की सहायता से गणिकाओं का दमन करने के बदले उन्हें देश के सामान्य फौजदारी कानून से वश में रखना अधिक न्याय-संगत होगा । नियंत्रण-विरोधियों के इन तर्कों की उपेक्षा करना मुश्किल है ।

शराब पीकर, मदहोशी में सड़क पर झूमने वाले किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की अपेक्षा शराब के नशे में चूर होकर गलियों में भटकने वाली वेश्या का अपराध हीनतर क्यों माना जाना चाहिये ? राहगीरों को बहला-फुसलाकर दो-चार रुपये ऐंठ लेने वाली गणिका काला बाज़ार करके धनपति बनने वाले प्रतिष्ठित व्यापारियों से अधिक दोषपात्र क्यों मानी जानी चाहिये ? निश्चित की हुई रकम से कुछ अधिक वसूल कर लेने वाली वारांगना को निश्चित भाव से अधिक दाम लेकर चीज़ें बेचने वाले व्यापारी से भिन्न कोटि की अपराधिनी क्यों मानना चाहिये ? गणिका के पेशे को भी धन कमाने की अन्य व्यवसायों के समकक्ष क्यों नहीं मानना चाहिये ? मनुष्य अपनी बुद्धि बेचता है; ज्ञान बेचता है; विज्ञान बेचता है; युद्ध के समय धन के बदले में अपने प्राण बेचता है; और समय पड़ने पर अपनी आत्मा भी बेचता है । जिस युग में धन के बिना काम ही न चलता हो, उस युग में कोई असहाय स्त्री अगर अपना शरीर बेचकर आवश्यक धन प्राप्त करले, तो उसका यह कृत्य इतना महाभयानक पाप क्यों माना जाना चाहिये ? इन प्रश्नों के उत्तर देना कठिन है । जीवन के सब क्षेत्रों में, यहाँ तक कि हमारे प्रतिष्ठित कहे जाने वाले विवाहों में भी आर्थिक व्यवहार का स्थान कितना महत्वपूर्ण होता है, इस का विचार करते हुए, इसी व्यवहार के लिए अलग नियम बनाने की आवश्यकता क्यों मानी जाती है, यह समझ में नहीं आता ।

इसलिए, गणिकावृत्ति को एक विशिष्ट अपराध मानकर उस पर विशिष्ट अंकुश लगाने के बजाय उसे अनिवार्य यौन आवेग पर आधारित एक आर्थिक व्यवहार मात्र मानकर उससे संबंधित अपराधों को अन्य अपराधों के समकक्ष मानने की नियंत्रण-विरोधियों की विचारधारा अधिक न्यायसंगत दिखाई देती है । शराब पीकर सड़क पर दंगा फसाद करनेवाली गणिका शराब के नशे में दंगा करने वाले अन्य गुंडों के जितनी गुनहगार अवश्य मानी जानी चाहिये । परंतु वह गणिका है, इसलिए अधिक दंड की पात्र है, यह मानना; या, वह गणिका है, इसलिए शराब पीकर दंगा करेगी ही, यह समझ कर उस पर पहले से ही कानून की पाबंदियाँ लगाना न्यायसंगत नहीं होगा । गणिका यदि किसी को धोखा दे, तो धोखेबाजी करने वाले अन्य ठगों की तरह उसे भी सज़ा मिलनी चाहिये । परंतु धोखा देनेवाली व्यक्ति गणिका है, केवल इसी कारण से उसे अधिक सज़ा देना, उसके प्रति अन्याय होगा । और वह गणिका है, इसलिए छल-कपट और विश्वासघात करेगी ही, ऐसा पूर्वनिश्चय करके उसके सामान्य जीवन-व्यवहार पर अंकुश लगाना तो अन्याय की पराकाष्ठा होगी ।

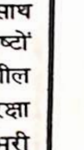
कानून के नियम समाज के बहुमत के निर्णयों का निचोड़ होते हैं । परंतु समाज का अभिप्राय

घनीभूत होकर कानून का रूप धारण करे, उससे पहले ही सामाजिक मान्यताओं का कलेवर बदल जाय, यह भी हो सकता है । समाज में प्रचलित कोई मत समाज के बहुमत की मान्यता के रूप में स्वीकृत हो, परंतु यह मान्यता पुष्ट होकर कानून का रूप धारण करे उससे पहले ही उसके स्वरूप में और उसकी प्रेरक शक्तियों में आमूल परिवर्तन हो जाय, यह संभव है । जात-पाँत के बंधन टूटने चाहिये ऐसी मान्यता अपने देश में पिछले सौ वर्षों से प्रचलित है । आज यह मान्यता अत्यंत प्रबल हो उठी है । विजातीय विवाहों के प्रति पहले जितना विरोध प्रदर्शित किया जाता था, वह भी अब नहीं रहा । परंतु इन मान्यताओं ने कानून का रूप अब तक धारण नहीं किया है । जातिप्रथा के बंधन तोड़ने वाले सर्वमान्य नियम जन्म लें उससे पहले ही सादृश्य के नये वर्तुलों का निर्माका होकर जन्मजात नहीं, बल्कि आर्थिक या बौद्धिक साधर्म्य पर आधारित नयी जातियाँ उत्पन्न हो जायें, तो आश्चर्य नहीं । हिंदू समाज में सामान्यतः एक पत्नीव्रत का पालन होने पर भी बहुपत्नीप्रथा को निषिद्ध नहीं माना जाता था । आज उसे कानूनन निषिद्ध मान लिया गया है । परंतु इसी दरमियान, एकपत्नीव्रत का कठोरता से पालन करने वाली ईसाई संस्कृति ने इस प्रथा की बुराइयाँ गिनाना शुरू कर दिया है । उसे गणिकावृत्ति का प्रधान कारण माना जाने लगा है और उसके विरुद्ध 'नयी नैतिकता' (New Moratity) की मोरचेबंदी खड़ी की गई है, जिसमें यौन संबंधों की शिथिलता को ही प्रमुख सिद्धांतपक्ष माना जाता है ।

इसीप्रकार गणिका को सामान्य नागरिक-कानूनों की कक्षा से बाहर की समाजद्रोहिणी या समाज के सामान्य दंड विधान से अधिक सज़ा की पात्र जन्मजात अपराधिनी मानने की वृत्ति भी कम होती जा रही है । केवल कानून की कठोरता से गणिकासंस्था का नियंत्रण करने के बदले उसे मानवसंस्कृति के साथ वज्रलेप से जुड़ी हुई आवश्यकता मान कर उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखने की और उसके अनिष्टों को दंड के भय से नहीं, बल्कि सुधार, उदारता और समवेदना के कोमल हाथों से धो डालने की प्रगतिशील दृष्टि भी आज विकसित हो चुकी है । मृत्युदंड, कोड़ों की फटकार, देशनिकाला, कलंक की छाप, सुरक्षा का अभाव, संपत्ति पर अनधिकार, सामाजिक तिरस्कार, पुलिस का नियंत्रण, डाक्टरों की अपमानभरी जाँच, और अलग मोहल्लों में बसने की बेइज़्ज़ती जैसे प्रबल निरोधक तत्वों का मजाक उड़ाते हुए जीवित रहने वाली और भविष्य में भी अनंत काल तक जीवित रहने की आशा रखने वाली गणिका संस्था की जीवनशक्ति निश्चित ही असाधारण चिकित्सा की अपेक्षा करती है । यह संस्था केवल एक समस्या ही नहीं है; वह अनेक समस्याओं का समूह है । गणिकासंस्था के मूल केवल वैयक्तिक यौन विकृति या यौन अनाचार की वृत्ति में ही नहीं हैं । वे समाज के तानेबाने में इससे कहीं गहरे उलझे हुए हैं ।

इसके उपरांत, गणिकावृत्ति हमारे समाज की अनेक अनवस्थाओं को स्पर्श करके उनसे भी बल प्राप्त करती रहती है । हम देख चुके हैं कि समाज की आर्थिक अव्यवस्था उसका एक प्रमुख कारण है । स्वास्थ्य की दृष्टि से यह प्रश्न एक महाप्रश्न है ही । दंडविधान की दृष्टि से भी मानवबुद्धि ने इस वश में रखने के अनेक प्रयोग किये हैं, परंतु सफलता नहीं मिली । इसमें व्यापार के तत्व आ मिले हैं, धर्म मिश्रित हुआ है, राजनीति के षडयंत्र शामिल हुए हैं, और मानवहृदय की भावनाएँ भी आ उलझी हैं । गणिकासंस्था की यह पचरंगी गुदड़ी बुनने वाले तानेबाने इतने उलझे हुए रहे हैं कि शताब्दियों से उन्हें सुलझाने के प्रयत्न होने के बावजूद भी उनकी उलझन दूर नहीं हुई है । कानून और शासन की सख्तियाँ कुछ हद तक आवश्यक होने पर भी, इसका उन्मूलन या नियंत्रण करने में असफल रही हैं । स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से भी कानूनी नियंत्रण की आवश्यकता है, परंतु उसे भी पूरी सफलता नहीं मिली है ।

एक लेखक का कहना है कि गणिकावृत्ति कुछ हद तक अज्ञान का परिणाम है । यह मान लें, तो जिस हद तक वह अज्ञान पर आधारित हो, उस हद तक कानून और पुलिस की सख्ती उसका नियंत्रण करने में असफल रहेगी । गणिकावृत्ति के सब अनिष्टों का मूल अज्ञान को मान लें, तो उन्हें दूर करने का उपाय ज्ञान में ही मिल सकता है । मानसिक या नैतिक त्रुटियों और कमज़ोरियों में से गणिकावृत्ति का जन्म



मानें तो भी कानून और पुलिस की सहायता शायद ही आवश्यक सिद्ध हो । इस हालत में इस अनिष्ट के सुधार की जिम्मेदारी राज्य और समाज, दोनों को अपने ऊपर ले लेनी चाहिये । प्राकृतिक आवेगों को दबाने से गणिकावृत्ति का जन्म होता हो, तो सामाजिक जीवन की अधिक उदारताभरी पुनर्रचना होनी चाहिये । उदाहरण स्वरूप, बालविधवाओं के विवाह पर रोक लगाने से गणिकावृत्ति जन्म लेती हो, तो विधवा-विवाह के प्रति समाज को अपना रुख बदलना चाहिये । विधवा-विवाह वांछनीय है, या अविवाहित विधवाओं की छिपी गणिकावृत्ति ? समाज को इन परस्पर-विरोधी तत्वों में से एक को पसंद करना ही पड़ेगा ।

नशेबाजी, वर्णसांकर्य, परिवार भंग, दूषित वातावरण, अपर्याप्त आय, असहाय दारिद्रय, या औद्योगिक शोषण आदि तत्व यदि गणिकावृत्ति के मूल में हों, तो व्यापक शिक्षा, सच्चा मानवधर्म, प्रबुद्ध विज्ञान, प्रभावकारी स्वास्थ्यरक्षा और उदार राजनीति एवं सहानुभूतिपूर्ण समाजरचना ही इस स्थिति में परिवर्तन कर सकते हैं । केवल कड़ा इंतज़ाम या निर्दय दंड विधान कर देने से ही गणिकावृत्ति जैसे कूट प्रश्न हल नहीं होंगे । ऐसी जटिल समस्याओं का निराकरण केवल एक ही सरल और रामबाण साधन से नहीं हो सकता । समाज के अनेक पहलुओं से फूट निकलने वाली गणिकावृत्ति का मुकाबला भी अनेक पहलुओं से और अनेक मोरचों पर करना होगा । और यह मुकाबला युद्धवृत्ति से नहीं; सहानुभूतिपूर्ण और अहिंसक मार्गों से करना होगा । युद्धवृत्ति से तो संसार की कोई समस्या आज तक नहीं सुलझी ।

गणिकासंस्था की जटिलता को समझने के दौरान में हमने उसके कानून की पकड़ में आने वाले एक भाग के दर्शन किये । परंतु कानून के क्षेत्र से बाहर भी उसके कितने और कैसे-कैसे रूप प्रचलित हैं, यह समझने के लिए हमें यूरोप-अमरीका की परिस्थितियों का अधिक अध्ययन करना होगा । आज भारत में भी जीवन के सब क्षेत्रों में पश्चिम की संस्कृति का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है । अत: गणिकावृत्ति अब हमारे यहाँ भी अपने पाश्चात्य रूप में दिखाई देने लगी है । इसके स्वरूप को समझने के लिए हमें विशाल दृष्टि और दृढ़ मानस की आवश्यकता पड़ेगी । केवल कानून से काम नहीं चलेगा; सहानुभूति और मनुष्यता का प्रयोग ही अधिक करना पड़ेगा । कानून की सहायता जहाँ आवश्यक हो, वहाँ भी उसे सख्ती पर नहीं, बल्कि सहृदयता और उदारता पर ही आधारित रखनी होगी ।



छठा परिच्छेद
गणिकागृह: खुले और गुप्त

१
पूर्व-पीठिका

गणिकागृह अपने आप में एक संस्था है; बल्कि यूं कहिये कि अनेक संस्थाओं का समूह है । ज्ञात का आकर्षण और अज्ञात की मोहिनी; दुखियाओं की असहायता और कुलटाओं के विलास; व्यापारियों के अर्थजाल और कुट्टनियों के षडयंत्र; गुंडों के अत्याचार और व्यसनियों के व्यसन उसके विभिन्न पहलू हैं । कानून द्वारा नियंत्रित किये हुए, कानून की नज़र बचाकर चोरी-छिपे चलनेवाले, और कानून को ताक पर रखकर खुले आम चलनेवाले, सभी प्रकार के गृहों का और उन गृहों के मोहल्लों का इस वर्तुल में समावेश होता है ।

इन सभी प्रकार के गणिका गृहों का अंतरंग सब जगह एकसा होता है; परंतु बहिरंग में देशकाल के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं । सामूहिक वेश्यालय अब दिनोंदिन अप्रिय होते जा रहे हैं; उनकी संख्या भी कम होती जा रही है; परंतु उनका संपूर्ण लोप नहीं हुआ है । उपयुक्त मौका मिलते ही वे चाहे जहाँ विकसित हो जाते हैं । यदि किसी शुभ घड़ी में इनका पूर्ण लोप हो जाय, तो भी समाज को अपना हृदय टटोल कर यह पूछना पड़ेगा कि इससे उसने क्या पाया और क्या गँवाया ।

गणिका को संपूर्ण रूप से पहचानने के लिए पहले गणिका गृहों का परिचय पाना ज़रूरी है । अत: इन गृहों को एक नज़र देखते चलें । प्राचीन यूनान और रोम के गणिकालयों का वातावरण हम देख चुके हैं । समाज में होनेवाले अन्य परिवर्तनों के साथ गणिकालयों का वातावरण भी परिवर्तित होता है । अनीति के धाम जैसे सामूहिक वेश्यालयों का नियोजन यूरोप-अमरीका में अलग-अलग ढंग से होता है । गणिकालयों के ये विभिन्न प्रकार भारत के बंबई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, लाहौर और लखनऊ आदि शहरों में भी दिखाई देने लगे हैं । पाश्चात्य संस्कृति के अनेक अंगों के अनुकरण के साथ-साथ इनका प्रवेश भी अनिवार्य था । इनमें का सबसे प्रचलित प्रकार खुले वेश्यालयों का है जिनमें पूरा व्यवहार स्पष्टता से चलता है । सभ्य भाषा में इन्हें 'बैठक खाने' (Parlour Houses) कहा जाता है । इन मकानों में रहनेवाली युवतियाँ एक ही दीवानखाने में एक साथ बैठती हैं और ग्राहक भी उनसे वहीं मिलते हैं । इस प्रथा के कारण शौकीनों को स्वयंवर की तरह अनेक युवतियों में से एक को पसंद करने का मौका मिलता है । दीवानखाने के दोनों ओर सजे हुए कमरे होते हैं । अपनी-अपनी पसंद की युवती के साथ ग्राहक इन कमरों में चले जाते हैं ।

ये दीवानखाने वाले मकान प्राय: प्रतिष्ठित मोहल्लों में होते हैं । कभी-कभी इन मकानों की दो एक मंज़िलों पर तो व्यापारी संस्थाओं के दफतर आदि होते हैं, और ऊपर की मंज़िलों पर वेश्यालय होते हैं । कलकत्ते में कुछ वर्ष पहले देखा हुआ एक दृश्य भुलाया नहीं जा सकता । एक बड़े मकान के ऊपर किसी बीमा कंपनी का लंबा चौड़ा साइन बोर्ड लग रहा था । उस पर अंग्रेज़ी में बड़े-बड़े अक्षरों में लिख रहा था: "श्री सुरेन्द्रनाथ बॅनरजी के संरक्षण में संचालित ।" और बोर्ड से चार हाथ नीचे की खिड़कियों में बैठी हुई

सजीधजी वारांगनाएँ मुस्करा-मुस्कराकर लोगों को आकर्षित कर रही थीं ! इस प्रकार के मकान कभी-कभी पाठशालाओं, मंदिरों, और अस्पतालों के आस-पास भी पाये जाते हैं । होटलों के निकट तो उनका होना स्वाभाविक ही है । उपाहारगृहों, जौहरियों की दूकानों, वस्त्रभंडारों और स्त्रियोपयोगी शृंगारसामग्री की दूकानों की ऊपरी मंज़िलों का उपयोग भी इस रूप में होता है । इन गृहों का स्थान प्रतिष्ठित और चहलपहल वाले व्यापारी मोहल्लों के बीच में हो, तो इनके आश्रयदाताओं को बडी सुविधा रहती है ।

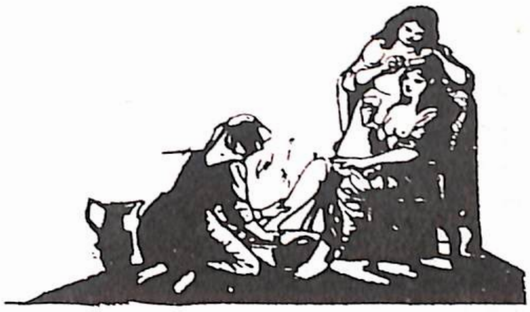
यहाँ पर आकर गणिका को केवल एक व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि उसे आश्रय और पोषण देने के साथ-साथ उसका शोषण करनेवाली संघटना की एक इकाई के रूप में देखना होगा । सजे हुए छोटे छोटे मकानों से आरंभ करके यह जाल देश-विदेश और द्वीप-महाद्वीप तक किस तरह फैला हुआ है, इसके दर्शन भी हम क्रमशः करते चलेंगे । गणिकावृत्ति नीतिविरोधी हो सकती है; वह शायद पाप भी है; परंतु उस पाप को प्रेरणा देनेवाली आर्थिक शक्तियाँ कौन सी हैं, इसका विवेचन वर्तमान युग की अर्थ व्यवस्था का बड़ा भयानक चित्र प्रस्तुत करता है । अधिकांश गणिकाएँ आर्थिक कठिनाई के कारण ही देह विक्रय करती हैं, यह सही है । परंतु देह विक्रय के लिए उनका मार्ग साफ हो जाय, उसपर वे जल्द से जल्द फिसल पड़ें, एक बार उस रास्ते पर चलने के बाद तिलभर भी इधर-उधर हिल न सकें, किसी बड़ें संघटन के आर्थिक चंगुल में फँसकर अपने अमूल्य मानव-जन्म को निरर्थक गँवायें और अंत में नरकयातना से भी बदतर दुखों का अनुभव करती हुई मानवतारहित गुलामी का जीवन व्यतीत करने को मजबूर हों, ऐसे उपायों की जानबूझ कर योजना करनेवाली व्यापारी वृत्ति का परिचय हमें इन गणिका गृहों के संचालन में ही दिखाई पड़ता है । इस व्यापारी वृत्ति को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रेरणा देनेवाले सभ्य और असभ्य मानव-प्राणियों से हमारा परिचय भी यहीं होता है । व्यापारवृत्ति ने पूरी प्रकृति को लूटकर श्रीहीन कर दिया है । इसने किसी को नहीं छोड़ा । इसकी गुलामी के पाश से न पशु बचे, न मनुष्य । सम्मानित नारी जाति को इसने वासना तृप्ति का खिलौना मात्र बना दिया और मनुष्य के सब से निजी संबंध को थोड़े से रुपयों से खरीदी जा सकनेवाली क्षुद्र वस्तु समझ लिया । पूंजीवाद का विनाश चाहने के पक्ष या विपक्ष में और चाहे जितने तर्क हों, परंतु जो अर्थप्राधान्य मनुष्य के अतिवैयक्तिक यौन संबंध को क्रय विक्रय का विषय बना देता है, उसका नाश तो होना ही चाहिये । कुछ विचारकों का यह मत कि अर्थ प्राधान्यवाद के उच्छेदन से ही गणिकावृत्ति का निर्मूलन हो सकेगा, बिलकुल सही मालूम देता है । रूस का अनुभव भी हमें इसी मान्यता को स्वीकार करने को बाध्य करता है ।

गणिकालयों की स्थापना का तंत्र भी हम समझ लें । आर्थिक कठिनाई में आ पड़नेवाली असहाय स्त्रियों की किसी भी समाज में कमी नहीं होती । यह कठिनाई कभी-कभी इतनी तीव्र और दुर्निवार्य हो उठती है कि उनके लिए देह विक्रय करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता । गणिकावृत्ति का संघटित व्यवसाय करनेवाले व्यापारी उनकी इस मजबूरी से अच्छी तरह परिचित होते हैं । गणिकावृत्ति को स्वीकार करते ही सब प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ क्षण भर में दूर हो सकती हैं, ऐसा प्रचार भी इन युवतियों में इन्हीं लोगों द्वारा करवाया जाता है । गणिकालयों की स्थापना करते समय उन्हें इस बात का विश्वास होता है कि इन गृहों में रहकर वेश्यावृत्ति करने को उत्सुक स्त्रियों की कभी कमी नहीं पड़ेगी । गणिकालयों की स्थापना और व्यवस्था अत्यंत बारीकी से, ठंडे दिल से, और कुशलता से की जाती है । पहले तो बड़े-बड़े शहरों के प्रसिद्ध मोहल्ले पसंद किए जाते हैं । फिर इन मोहल्लों में उपयुक्त मकान ढूंढकर उनके मालिकों की संमति प्राप्त की जाती है । यह संमति स्पष्ट हो सकती है या गर्भित, परंतु इसके बिना काम नहीं चल सकता । यह सौदा इस काम के अनुभवी दलालों द्वारा पूरा करवाया जाता है । अकसर तो गणिकागृहों के संचालक, मकानमालिक और सौदा पूरा करवाने वाले दलाल एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित होते हैं । इस काम में आने वाले मकान बहुत अच्छे न हों, तो भी उनके किराये अत्यंत ऊँचे होते हैं । कभी-कभी कानून के चंगुल से बचने के लिए मकान-मालिक कमरे इस शर्त पर देने को राज़ी हो जाते हैं कि किरायेदार उन्हें शिकमी (और किसी को किराये पर) दे सकता है । ऐसा करने से कानून की दृष्टि से सब की

जिम्मेदारी कुछ कम हो जाती है । इस व्यवहार के हर स्तर पर दलालों को पूरी दलाली मिलती है । कभी-कभी ये दलाल संचालकों के साझेदार भी होते हैं । इस व्यवहार की कानूनी लिखापढ़ी भी होती है । पक्का किरायेनामा भी लिखा जाता है । परंतु किरायेनामे पर लिखी हुई रकम से असली किराया प्रायः बहुत अधिक, कहीं-कहीं तो दुगुने से भी ज़्यादा होता है । पुलिस की सख्ती होने पर, अखबारों में होहल्ला होने पर, या लोगों में पवित्रता का क्षणजीवी उबाल आने पर इन मकानों के किराये कुछ समय के लिए कम भी हो सकते हैं ।

२
गृह संचालिका: कुट्टनी

गणिका गृहों की स्थापना साधारणतः उपरोक्त तरीके से ही होती है । विशेष मोहल्लों में मुख्य सड़क के दोनों ओर के कुछ मकान ही इस कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं। मकान का निर्वाचन, दलालों की दलाली, और किराये की रकम आदि निश्चित हो जाने पर, पुलिस और अखबारवालों का ध्यान बँटाने के लिए, कुछ समय बीतने दिया जाता है । गणिकालय का स्थान निर्धारित हो जाने पर सबसे पहले कुट्टनी की नियुक्ति की जाती है । पश्चिम में इन स्त्रियों को सम्मान से 'मॅदाम' कहा जाता है । इन स्त्रियों को या तो वेतन मिलता है, या आय का कुछ प्रतिशत भाग । अकसर ये स्त्रियाँ गणिकावृत्ति से निवृत्त हो चुकने वाली अनुभवी



गणिकाएँ ही होती हैं । गणिका के रूप में जिसकी मांग न रही हो, परंतु गणिका के पेशे की जानकारी और अनुभव जिसे हो, ऐसी स्त्रियाँ ही इस काम के लिए उपयुक्त मानी जाती हैं । गणिकालयों को व्यवस्थित रूप से चलाने की और आर्थिक दृष्टि से उन्हें लाभदायक बनाने की जिम्मेदारी अधिकांश में इन्हीं स्त्रियों के सिर होती है । इन स्त्रियों को पक्का हिसाब रखना पड़ता है, और रात की कमाई का ब्योरा दूसरे ही दिन मालिकों या संचालकों को देना पड़ता है । इस प्रकार देह विक्रय के इस पेशे में मकान-मालिक, मकान किराये पर लेकर गणिकालय का संचालन करनेवाले व्यापारी, व्यवहार पूरा करवानेवाले दलाल, और गृह की व्यवस्था करनेवाली कुट्टनी, ये चार कड़ियाँ मुख्य होती हैं ।

अब हम कुछ और बातें देखें । गृह की संचालिका कुट्टनी को अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है । संचालन कार्य में उसकी सहायता करने के लिए कई नौकर भी उसे दिये जाते हैं । गणिकाओं की संख्या के हिसाब से रसोइये, कमरों की सफाई, चौका-बर्तन आदि कामों के लिए कहारिनें, ग्राहकों को शराब-सिगरेट आदि चीज़ें ला देने वाले और उनके संदेश लाने ले जाने वाले छोकरे और ग्राहकों को पटाकर लाने वाले, उन्हें रास्ता दिखानेवाले और पुलिस के छापों की पूर्वसूचना देने वाले दलाल या गुंडे इन नौकरों में मुख्य होते हैं । कभी-कभी इनके काम मिलेजुले रहते हैं । रसोइया पान-सिगरेट ला सकता है और संदेशवाहक छोकरा पुलिस की गतिविधि का भेदिया भी हो सकता है ।

परंतु फिर भी इस व्यवसाय का मुख्य आधार तो वेश्यावृत्ति करने वाली आकर्षक और युवा स्त्रियों पर ही होता है। वे ही इस धंधे का मूलधन होती हैं। ऐसी युवतियाँ उपलब्ध करने की और उनका रूपयौवन बना रहे तब तक उन्हें गणिका गृहों में टिकाये रखने की जिम्मेदारी कुट्टनियों पर होती है । ये युवतियाँ संतुष्ट रहें, आपस में झगड़ें नहीं, और ग्राहकों को आकर्षित करने की कला निरंतर प्रदर्शित करती रहें, आदि कठिन जिम्मेदारियाँ इन्हीं स्त्रियों को पूरी करनी पड़ती हैं जिसमें उन्हें युक्ति और शक्ति, दोनों का प्रयोग करना पड़ता है । मोहक रूप और आकर्षक हावभाव द्वारा धन के ढेर लगा सकने वाली युवतियों को साम-दाम-दंड-भेद से वश में रखना पड़ता है । वेश्यागृहों के कलंकित वातावरण में भी कुछ युवतियाँ अपने रूप यौवन या वाक्चातुर्य द्वारा नाम कमा लेती हैं । इन युवतियों को अपने-अपने गणिका गृहों में लाने की स्पर्धा संचालकों और कुट्टनियों में सदा चलती रहती है । जिस प्रकार अच्छा काम करनेवाले मुनीम या विक्रेता को अपनी सेवा में बनाये रखने की स्पर्धा व्यापारियों में चलती है, ठीक उसी तरह । शौकीन तमाशबीन भी जिन गृहों में ऐसी विख्यात सुंदरियाँ हों, वहीं जाते हैं । कुछ मनचले धनवान तो किसी खास रूपसी के ही प्रशंसक होते हैं और जिस गणिकागृह में वह रहती हो, उस गृह के सिवा और कहीं जाना पसंद नहीं करते ।

अधिकांश गणिकालयों में प्रत्येक युवती का उपभोग-मूल्य पूर्व-निश्चित होता है । अधिक आकर्षक, अधिक सुंदर, अधिक नखरैल, अधिकवाचाल और अधिक सजीले मकानों में रहने वाली युवतियों का मूल्य भी अधिक होता है । जैसे-जैसे ये गुण कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी कीमत भी कम होती जाती है । उनके ग्राहकों की श्रेणी भी उसी अनुपात में नीची होती जाती है । गणिकाओं को जो प्राप्ति होती है, प्राय: उसका आधा भाग उन्हें मिलता है और आधा संचालकों को । परंतु गणिका के हिस्से का आधा भाग नाम मात्र का ही होता है । इस रकम में से उनके खाने का खर्च पहले ही काट लिया जाता है । बची हुई रकम भी उनके कपड़े-लत्ते, मोजे-जूते, तेल-साबुन, इत्र-फुलेल और नकली अलंकारों की कीमत के रूप में कट जाती है ।

व्यापारी वृत्ति से चलाये जाने वाले इन गृहों में अनेक प्रकार के अपराधों का प्रवेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है । गणिकाओं को दी जानेवाली उपरोक्त चीज़ें अकसर चोरी का माल होती हैं जिन्हें सस्ते दामों खरीदकर अत्यंत महँगे दर से गणिकाओं के सिर मढ़ दिया जाता है   कुट्टनियाँ इस व्यवहार से अच्छा खासा मुनाफा कमा लेती हैं । किसी गणिकालय में एक बार एक रेशमी स्कर्ट बिकने के लिए आया जो

किसी प्रसिद्ध दुकान में से किसी उठाइगीरे द्वारा उड़ाया गया था । भारतीय मुद्रा में उसकी कीमत लगभग चौबीस रुपये थी । परंतु मध्यस्थ दलाल ने यह चीज़ कुट्टनी को तीस रुपये में दी और मँदाम ने मौका देखकर उसे किसी आश्रिता लड़की के सिर पचपन रुपये में मढ़ दिया । कहने की आवश्यकता नहीं कि रुपये इस युवती की कमाई के हिस्से से काट लिए गये । इस प्रकार चौबीस रुपये का चोरी का माल तीस रुपये में बिका और कुट्टनी ने उस पर पचीस का नफा चढ़ाकर पचपन वसूल किये । एक और कुट्टनी ने बीस रुपये का कपड़ा अपनी आश्रिता गणिका को सत्तर रुपये में बेचा । इन व्यवहारों में कितने प्रतिशत लाभ हुआ, इसका हिसाब आप खुद जोड़ लें ! बाहर इस प्रकार का काला बाज़ार शायद युद्धकाल में ही होता है; परंतु गणिका गृहों में तो हमेशा चलता रहता है ।

गणिकालयों में फँसी हुई युवतियों को कर्ज़ के भार से मुक्त कभी नहीं रहने दिया जाता । इन्हें किसी न किसी प्रकार से सदा कर्ज़ में डूबी रखने की युक्तियाँ संचालकों और कुट्टनियों द्वारा कार्यान्वित होती ही रहती हैं । और कुछ नहीं, तो पाँच-दस रुपये हाथ खर्च के लिए देने का दिखावा करके भी गणिका को कर्ज़दार रखा जाता है । कर्ज़दार होने पर एक तो वह उस स्थान को छोड़कर और कहीं जा नहीं सकती और दूसरे, उसके हिस्से की बची-खुची रकम भी कर्ज़ या ब्याज के खाते में मनमाने रूप से वसूल की जा सकती है । हम देख चुके हैं कि कुटन पेशा करने वाली स्त्रियाँ अकसर अनुभवी और निवृत्त गणिकाएँ ही होती हैं । जब तक गणिकाओं में धन कमाने की शक्ति होती है, तब तक ये कुट्टनियाँ उनके साथ अत्यंत प्रेमभरा बर्ताव करती हैं । उनकी रक्षिका होने का दावा करती हैं, माँगे बिन माँगे उन्हें अपनी अमूल्य राय देती रहती हैं, उन्हें सब तरह से खुश रखने का प्रयत्न करती हैं, और चढ़ते हुए रूपयौवन वाली ये लड़कियाँ अधिक से अधिक धन प्राप्ति कर सकें, ऐसी तरकीबें भी उन्हें बताती रहती हैं । वास्तव में ये कुट्टनियाँ ही सामूहिक रूप से चलने वाले गणिकालयों की जान होती हैं । नयी फँसी हुई युवतियाँ दुखी हो कर भाग न जायें, इसलिए ये बूढ़ियाँ शुरू-शुरू में उनके साथ ऐसा सद्भावनापूर्ण बर्ताव करती हैं कि ये दुखियारी स्त्रियाँ उन्हें 'माँ' या 'अम्मा' कहकर संबोधन करने लगती हैं । धीरे-धीरे पुराने ग्राहक भी उन्हें 'अम्मा' कहने लगते हैं ।

बात विचित्र लग सकती है, परंतु है बिलकुल सत्य कि कई गणिका गृहों के मालिक इन कुट्टनियों से विवाह कर लेते हैं । कहीं-कहीं वे उनकी रखैल के रूप में रहती हैं । इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि ये कुट्टनियाँ बड़ी नेक और वफादार पत्नियाँ सिद्ध होती हैं । चाहे पत्नी के रूप में हो, चाहे रखैल के, और चाहे नौकरानी के, गणिका गृहों की पूरी देखभाल ये कुट्टनियाँ ही करती हैं । ग्राहकों से मिलना जुलना, उनसे प्रसन्न मन से बातें करना, उनकी पसंद के अनुसार युवतियाँ उन्हें दिखाना, उनकी जेब से अधिक से अधिक रुपये निकलवाने की कोशिश करना, ग्राहकों से मिले हुए पूरे के पूरे रुपये गणिकाओं से वसूल कर लेना, कौन आदमी किस प्रकार की स्त्री पसंद करता है इसका ध्यान रखना, प्रत्येक गणिका के पास कितने ग्राहक आये इसका हिसाब रखना, शराब की अधिक से अधिक खपत हो ऐसी योजनाएँ बनाना, गणिकागृह के सब प्रकार के देनलेन का हिसाब चुकता करना, नौकरों पर निगरानी रखना, पुलिस के छापों से अपने गृह को यथासंभव बचाये रखना, और इतना करने पर भी पुलिस छापा मारे, तो गिरफ्तार हो कर सज़ा भुगतना आदि गणिकालय से संबंधी सभी महत्वपूर्ण काम 'अम्मा' के नाम से परिचित ये चतुर बुढ़ियाएँ ही करती हैं । इन तमाम कामों के सुयोग्य संचालन की ब्योरेवार जानकारी इन स्त्रियों को होती है । वेतन लेकर या साझेदारी में काम करने वाली इन स्त्रियों की संचालकों के प्रति नमकहलाली अन्य प्रतिष्ठित व्यवसायों के पुराने नौकरों की ईमानदारी से रत्ती भर भी कम नहीं होती ।

कहीं-कहीं यह भी देखा गया है कि गणिकालयों के संचालक इन कुट्टनियों को अपनी शिकमी किरायेदार के रूप में मानते हैं जब कि वे होती हैं वैतनिक नौकरानियाँ । इस व्यवस्था से यह फायदा होता है कि कानून की कोई कार्रवाई हो, तो उसकी जिम्मेदारी कुट्टनी पर आ जाती है, जिसे राजीखुशी से उठाने के लिए ये स्त्रियाँ सदा तत्पर रहती हैं । गणिकालय की पूरी व्यवस्था में इनका स्थान कितना महत्वपूर्ण

होता है, यह हम देख चुके हैं । अतः कानून का कोई झंझट खड़ा हो, तो अदालत में इनके बचाव का पूरा खर्च असली मालिक बड़ी खुशी से झेल लेते हैं । इस स्थिति में इन दोनों के बीच का सहयोग वाकई आश्चर्यचकित कर देनेवाला होता है । अदालत से सज़ा मिले, तो जेल जाने के लिए ये कुट्टनियाँ सदा तैयार रहती हैं । दूसरी ओर, जेल से निकलते ही उन्हें उनकी पुरानी जगहों पर बहाल कर देने के लिए मालिक लोग भी सदा तत्पर रहते हैं ।

यह तो हुई बाह्य रूप से प्रतिष्ठित ढंग से चलने वाले व्यवहार की बात । परंतु कभी-कभी ये कुट्टनियाँ अपराध के क्षेत्र में उतर पड़ती हैं । ग्राहकों की जेब खाली करवाने में तो ये स्त्रियाँ अत्यंत कुशल होती ही हैं, परंतु कभी-कभी नशे में चूर होकर गणिका गृहों में आ पहुँचनेवाले पुरुषों के शरीर पर की अन्य कीमती चीज़ें भी गायब कर दी जाती हैं । जेब के रुपयों के अलावा अंगूठी, घड़ी आदि चीज़ें गँवा कर ही ये पुरुष वापस लौटते हैं । अनेक बार ये कुट्टनियाँ खुद ही गणिकालयों की मालकिन होती हैं । इस हालत में ये स्पष्ट रूप से गणिकागृह चलाने के बदले सुंदर और सजे हुए कमरों में रूपयौवन संपन्न युवतियों को किरायेदार के रूप में रखकर कला, संगीत, साहित्य या ज्ञान चर्चा की आड़ में अपना पेशा करती हैं । इस योजना के अंतर्गत गणिकाओं के पल्ले दस-पंद्रह प्रतिशत से अधिक रकम शायद ही पड़ती है ।

गणिकालयों में ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए और उनके मन का भय दूर करने के लिए डाक्टरी जाँच का ढकोसला भी शुरू किया जाता है । प्रत्येक युवती के पास रोग-विरहित होने का प्रमाणपत्र अवश्य होगा । प्रमाणपत्र पर लंबी चौड़ी डिग्रीधारी किसी डाक्टर के भव्य हस्ताक्षर भी जरूर होंगे । सत्य यह होता है कि इस काम के जानकार कुछ विशिष्ट डाक्टर ही समय-समय पर इन गृहों की जाँच कर जाते हैं । गणिकाओं से वसूल की हुई फीस की रकम में से भी आधा भाग गणिकागृह के मालिकों का होता है, जिसे वे ईमानदारी से लौटा देते हैं । अमरीका के एक शहर में ''स्वातंत्र्यप्रिय लोकोपकारक मंडल'' नामक एक संस्था थी । इस संस्था के सभी सदस्य एक या दूसरे रूप से गणिकावृत्ति के साथ जुड़े हुए धंधों से संबंधित थे । इनमें से एक डाक्टर कहलाने वाला व्यक्ति गणिकाओं की डाक्टरी जाँच भी कर देता था । इन डाक्टरों में से कुछ स्थानीय प्रतिष्ठित संस्थाओं के अग्रणी होते हैं । नगरपालिका या राजनीतिक संस्थाओं से संबंध रखनेवाले डाक्टरों के पास ही गणिकाओं की जाँच का काम अधिक आता है, क्योंकि कभी-कभी इनकी सिफारिश के कारण वेश्यागृह और उनके संचालक बड़ी-बड़ी आफतों से बच जाते हैं । इन तथाकथित डाक्टरों द्वारा दिए गये प्रमाणपत्र नितांत झूठे और बनावटी होते हैं । गणिका गृहों में रहनेवाली अधिकांश स्त्रियाँ यौन रोगों से पीड़ित होती ही हैं, फिर चाहे उनके पास दसियों प्रमाणपत्र क्यों न हों ।

३

प्रचार, विज्ञापन और आकर्षण योजना

गणिकालय की स्थापना हो चुकी; उसकी व्यवस्था किसी अनुभवी कुट्टनी के हाथों सौंप दी गई; कुट्टनी ने गृह में रहने वाली युवतियों पर नियंत्रण रखना और उनका दिल बहला कर उन्हें संतुष्ट रखना भी शुरू कर दिया; ये युवतियाँ आने वाले थोड़े बहुत ग्राहकों का मनोरंजन करके धन कमाने लगीं और धीरे-धीरे वैद्य-डाक्टरों के प्रमाण पत्र गणिकाओं के निरोगी होने की घोषणा भी करने लगे । यह सब हो जाने पर आप शायद सोचेंगे कि गणिकागृह की स्थापना संपूर्ण हो चुकी । बेशक, गणिका व्यवसाय के सारे उपादान तो जुड़ गये । परंतु काम अभी अधूरा है । अभी एक मुख्य अंग बाकी रह गया है । पर्याप्त संख्या में ग्राहक कहाँ हैं ? ग्राहक लगातार आते रहें, पर्याप्त संख्या में आते रहें, और मुँह माँगे दाम देते रहें, इसकी योजना

करना अभी बाकी है । वेश्या व्यवसाय का यह भी एक अति-महत्वपूर्ण विभाग है जिसके बिना और सब बातें निष्प्रभ सिद्ध हो सकती हैं ।

ग्राहक आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार के विज्ञापन और प्रचार-पद्धतियों का उपयोग किया जाता है । मानी हुई बात है कि यह प्रचार स्पष्ट रूप से तो हो नहीं सकता । अतः इस काम में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है । वेश्यालयों को पोषण देने वाले पुरुषों के नामठाम और पते-ठिकाने व्यवस्थापकों के पास होते हैं । थोड़े-थोड़े दिनों के अंतर से इन लोगों के पते पर अस्पष्ट परंतु इस वर्ग के लोगों की तुरंत समझ में आ जाने वाली सूचनाएँ भेजी जाती हैं । इन सूचनाओं की शब्दरचना प्रायः इस तरह होती है: —

''हमने हमारा स्थान अमुक जगह पर बदला है ।''

''हमारे यहाँ उच्च प्रकार का नया माल आया है । आप की उपस्थिति प्रार्थनीय है ।''

''हमारी दूकान पर पधारिये ।बसंत ऋतु का सुंदर नया संभार आप देख सकेंगे ।''

पुस्तकालय के पवित्र नाम का इन विज्ञापनों में उपयोग करने से भी ये व्यवसायी नहीं चूकते । यथा:

''हमारा पुस्तकालय अमुक स्थान पर बदला गया है । नयी किताबें बड़ी संख्या में मँगवाई हैं । पुस्तकालय के आप जैसे पुराने सदस्य आकर देखने की कृपा करेंगे, ऐसी आशा है ।''

इस प्रकार के सूचक विज्ञापन जाने पहचाने लोगों के पतों पर भेजे जाते हैं । कभी-कभी स्पष्ट निमंत्रण देने वाले पत्र भी डाक से भेजे जाते हैं । यथा:

''प्रिय महोदय,

निम्नलिखित पते पर तुरंत पधारने की कृपा करें ।''

इस प्रकार के विज्ञापनों से आकर्षित होकर अनेक पुरुष गणिका गृहों में जाते हैं; परंतु इस तरीके का क्षेत्र अधिक व्यापक नहीं हो सकता । अतः ग्राहकों को फँसा कर लाने की मुख्य जिम्मेदारी अन्ततः दलालों के ऊपर ही आती है । ये छोकरे दोहरा काम करते हैं । पुलिस के छापों की पूर्व सूचना भी देते हैं; और गलियों में घूम-घूम कर, गणिका-प्रेमियों के समक्ष गणिकाओं के लुभावने वर्णन करके और उनका कुतूहल जागृत करके उन्हें अपने-अपने गणिका गृहों में ले जाते हैं । केशविन्यास गृहों, उपाहारगृहों, मेले-तमाशे और खेलकूद के स्थानों, होटलों, नाट्यगृहों, स्टेशनों और भीड़भाड़ के अन्य स्थानों पर भी ये लोग घूमते रहते हैं और उत्सुक ग्राहकों को वेश्याओं की और वेश्यालयों की रसमय जानकारी देकर गणिकाओं के पेशे को सदा चलता रखते हैं । होटलों में खाना परोसने वाले बैरे, दंगल-कुस्ती के अखाड़ों में जमे रहने वाले गुंडे, जुआरी, और जेबकतरे भी वेश्याओं की दलाली का पेशा करते है । कौन अधिक से अधिक ग्राहक फाँस कर ला सकता है, इसकी इन लोगों में होड़ लगी रहती है । ''आठ से कम ग्राहक तो मैं किसी दिन नहीं लाया ।'' आदि डींगे इन लोगों के वार्तालाप में अकसर सुनाई देती रहती हैं । मोटर-ड्राइवर और टैक्सी वाले भी गणिकाओं को सहायता पहुँचाते हैं । होटलों, उपाहारगृहों, स्टेशनों और नाटक-सिनेमागृहों के बाहर या सड़कों के मोड़ पर ये लोग अपनी गाड़ियाँ लिए खड़े रहते है और उपयुक्त आसामी देखते ही, ''साहब, कुछ तफरीह करेंगे ?'' ''साहब, कुछ बढ़िया चीज़ें दिखलाऊँ ?'' ''साहब, किसी दिलकश जगह ले चलूं ?'' आदि प्रश्नों से ग्राहक का मन टटोलते हैं । अकसर उनके ये आमंत्रण सफल होते हैं । भोजनगृहों में या शराबखानों में काम करने वाले बैरे इस कार्य में अत्यंत कुशल होते हैं । ग्राहक के खाने-पीने के दरमियान ये लोग बड़ी कुशलता से गणिका गृहों के पते-ठिकाने वाले कार्ड ग्राहक का ध्यान आकर्षित हो ऐसी जगह टेबल पर रख देते हैं । कुछ बेतकल्लुफी होने पर वेश्याएँ और खानगी रूप से कसब करनेवाली स्त्रियाँ किस स्थान पर, या किस होटल में मिल सकती हैं, इसकी स्पष्ट जानकारी भी वे

तलबगारों को देते हैं । ग्राहक फँसाकर लानेवाले इन सब लोगों को वेश्यालयों के संचालकों की ओर से दलाली मिलती है ।

गणिकासंस्था इसी प्रकार की चौतरफा सहायता से जीवित रह रही है । गणिकाओं का विज्ञापन और भी अनेक युक्तियों से किया जाता है । उच्च कोटि के गणिकालयों में बाहय रूप से सभ्यता और सुरुचि का भंग कहीं नहीं होने दिया जाता । परंतु वे भी इस प्रकार की विज्ञापनबाजी से मुक्त नहीं रह सकते । ऊँचे से ऊँचे दर्जे के गणिकालयों को प्रचार का यह जाल फैलाना ही पड़ता है ।

गणिकालयों की समृद्धि में शराब का भाग कितना महत्वपूर्ण होता है, यह हम देख चुके हैं । मदिरा के बिना मदिराक्षी का आकर्षण फीका पड़ जाता है और गणिका गृहों की चहलपहल भी कम हो सकती है । अत: शराब का गणिकालयों के साथ अभिन्न संबंध रहता है । इसमें लागत कम और मुनाफा ज़्यादा । गणिकागृह में शराब की छोटी सी बोतल भी अधिक से अधिक दाम लेकर बेची जा सकती है । गणिकागृह में कदम रखे बाद सच्चे शौकीन स्त्री-सहवास और शराब की कीमत का मोलभाव नहीं करते और मुँहमाँगे दाम अदा कर जाते हैं । इसके उपरांत, अधिकांश वेश्यालयों में कामक्रीडा के अत्यंत अश्लील और उद्दीपक दृश्यों की योजना भी की जाती है, जिन्हें देखने के लिए लोग मुँहमाँगे दाम दे सकते हैं । उत्तेजक और भद्दे चित्र एवं अश्लील किताबें भी यहाँ मनमानी कीमत लेकर बेची जाती हैं । कामोद्दीपन के ये सब उपचार निर्दिष्ट गणिकालयों में ही नहीं, कीमत चुकाने पर होटलों, शृंगारगृहों और मालिशगृहों में भी प्राप्त हो सकते हैं । इस मायावी वातावरण में अर्थ अपनी संपूर्ण शक्ति द्वारा गणिकालयों का अनेक रूपों में पोषण करनेको सदा तत्पर रहता है । परंतु जिन स्त्रियों की कमाई के सहारे ये गृह चलते हैं, उनके हितों की चिंता यहाँ किसी को नहीं होती । येनकेन प्रकोरण रुपया प्राप्त करने की व्यापारी वृत्ति के सिवा और किसी मानवीय मनोभाव के यहाँ दर्शन भी नहीं होते ।

कभी-कभी इन गणिकाओं को जानबूझ कर दरिद्र मोहल्लों में रखा जाता है ताकि वहाँ के धनहीन लोग यह देख सकें कि गणिकावृत्ति करने वाली स्त्रियाँ उनसे कहीं अच्छे ढंग से रह सकती हैं । गणिकाएँ समय-समय पर इन लोगों को छोटी-मोटी भेंट-सौगात और इनके बच्चों को फल या मिठाइयाँ देती रहती हैं । धीरे-धीरे इन बालकों का उपयोग संदेश लाने-लेजाने में और गणिकावृत्ति संबंधी अन्य छोटे-मोटे कामों में किया जाने लगता है । इस वातावरण में परवरिश पानेवाले बालकों पर शीघ्र ही इसका इच्छित प्रभाव पड़ने लगता है । लड़कियाँ बहुत जल्द गणिकावृत्ति में आकर्षित हो जाती है, और लड़के गणिका के पेशे की बारीकियों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करके पेशे के सहायक वर्ग में जा मिलते हैं ।

४

गुप्त अनीतिधामों की परंपरा

कुछ गणिका गृहों में ऐसी व्यवस्था होती है कि गणिकाएँ वहाँ चौबीसों घंटे नहीं रहतीं । इन गृहों में उनके अलग-अलग कमरे होते हैं जहाँ वे अपनी सुविधानुसार आती जाती रहती हैं । इस प्रकार की युवतियाँ प्राय: अन्य कोई प्रतिष्ठित व्यवसाय भी साथ-साथ करती रहती हैं । ग्राहकों की इच्छानुसार उन्हें टेलीफोन करके गणिकालयों में बुला लिया जाता है । इनमें की कुछ तो प्रतिष्ठित परिवारों की लड़कियाँ होती हैं । उनके दफतर-कारखाने के, या घर के आसपास के किसी टेलीफोन पर उनसे बात कर ली जाती है और अमुक समय अमुक स्थान पर उपस्थित रहकर ग्राहकों का मनोरंजन करके धन कमाने का उन्हें आमंत्रण दिया जाता है । खुले आम वेश्यालयों में रहने वाली गणिकाओं की अपेक्षा अन्य व्यवसाय करने वाली और परिवारों में रहने वाली इन युवतियों के आसपास प्रतिष्ठा का वातावरण कुछ अधिक रचना

पड़ता है । इस वर्ग की युवतियों को आकर्षित करने के लिए गणिकालयों के संचालकों को इन स्थानों में अधिक घर-गृहस्थी का सा और अधिक प्रतिष्ठित वातावरण रचना पड़ता है । सुविधाएँ और सजावट भी अधिक सुरुचिपूर्ण और संस्कारयुक्त रखनी पड़ती हैं । साथ-साथ ग्राहकों की आवश्यकता, आनंद और दिल बहलाव का भी ध्यान रखना पड़ता है । इन गृहों की अधिष्ठात्री भी कोई स्त्री ही होती है । ये गृह उस प्रतिष्ठित वर्ग के पुरुषों की मांग पूरी करते हैं जिन्हें खुले गणिका गृहों की अपकीर्ति एवं शोरगुल अच्छे नहीं लगते या जो वहाँ जाने का खतरा मोल लेना नहीं चाहते । स्वाभाविक रूप से ऐसे पुरुष कुछ संस्कारी दिखाई देने वाली युवतियों का सहवास कुछ शांत दिखाई देने वाले स्थानों में ढूंढते हैं ।

इस श्रेणी के गृहों के संचालन के लिए जो कारण दिये जाते हैं, उनमें भी सत्य का अंश होता है । इस प्रकार के एक गृह की संचालिका स्त्री से पूछने पर उसने जो कारण बताया वह उल्लेखनीय है । ''अपने शहर में ऐसे अनेक प्रतिष्ठित रईस हैं जिन्हें सुरक्षित और प्रतिष्ठित स्थानों पर सुंदर युवतियों के सहवास में दिल बहलाने का शौक होता है । ये लोग संस्कारी युवतियों के साथ संध्या का समय बिताना चाहते हैं और जीवन के दर्द भरे एकांत को कुछ देर के लिए भूलना चाहते हैं । इन लोगों की मांग पूरी करने के लिए हमारी संस्था जैसे साधनों की सदा आवश्यकता रही है, और रहेगी ।'' इस कारण को नितांत झूठा या केवल बहाना नहीं माना जा सकता । इन प्रतिष्ठित पुरुषों को उनकी मनपसंद संस्कारी युवतियाँ और कहाँ मिल सकती हैं ? इस प्रकार की व्यवस्थावाले गृह इस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं । इसके लिए पर्याप्त संख्या में लड़कियाँ भी मिल जाती हैं, जो इस व्यवस्था का पूरा पूरा उपयोग करती हैं । दिन भर सूने सूने दिखाई देने वाले इन स्थानों में शाम से ही चहल पहल होने लगती है । ग्राहक आते ही गृह की संचालिका उसे विविध सुंदर युवतियों की तस्वीरें दिखाती हैं और उनका वर्णन भी करती हैं । ग्राहकों की इच्छा और पसंद के अनुसार युवतियों को बुला लिया जाता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक युवती का उपभोग-मूल्य उसकी तस्वीर पर ही लिखा रहता है ।

इस प्रकार की युवतियाँ प्राप्त करने के लिए गणिकागृह की व्यवस्थापिका कुट्टनियाँ अनेक प्रकार की युक्तियाँ आज़माती हैं । उपाहारगृहों में, नाट्यगृहों में या बाग बगीचों में अकेले दुकेले या टोलियों में घूमनेवाली अल्हड़ युवतियों से वे हँस हँस कर बातें करती हैं और प्राथमिक परिचय स्थापित कर लेती हैं । कुछ घनिष्ठता बढ़ने पर उन्हें उपाहारगृह या नाटक-सिनेमा में ले जाया जाता है । इसके बाद उन्हें किसी अच्छे वस्त्र भंडार में ले जाकर थोड़े बहुत कपड़े या सौंदर्य-प्रसाधन की कोई छोटी-मोटी चीज़ दिला देने की चाल चली जाती है । उनके साथ अत्यंत स्नेह और हमदर्दी भरा बर्ताव किया जाता है, और उन्हें संपूर्ण रूप से अपने प्रभाव में कर लिया जाता है । जब इनमें की किसी बदनसीब युवती का मन पतन के लिए पूर्णत: परिपक्व हुआ दिखाई देता है, तब, उपयुक्त अवसर देखकर अपना प्रस्ताव बहुत कुशलता से उनके कानों पर डाला जाता है । और एक बार कोई युवती पतन की ओर ले जाने वाले इस रास्ते पर चली, कि आगे का मार्ग तो अत्यंत ढालू होता है ।

पश्चिम के देशों में इस विषय की वैयक्तिक जाँचें भी हो चुकी हैं । इनमें की एकाध का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा । जाँच का काम जिसे सौंपा गया था, उस युवक ने एक ऐसे ही गणिकालय में प्रवेश किया । इन अध्येताओं को शुरू शुरू में अत्यंत रंगीले होने का स्वाँग धारण करना पड़ता है । दीवानखाने में चार युवतियाँ बैठी थीं । सब के पास रोगविहीनता के डाक्टरी प्रमाण पत्र भी मौजूद थे । गृह की संचालिका ने देखा कि इस ग्राहक को चारों में से एक भी लड़की पसंद नहीं आ रही है । अत: वह बोली, ''इनमें से कोई आपको पसंद न हो, तो मैं आपकी तबीयत फड़क उठे, ऐसी लड़की बुलवा सकती हूं । लेकिन दाम ज़रा ज्यादा खर्चने पड़ेंगे क्योंकि वह लड़की पेशेवर नहीं है ।'' ग्राहक के हाँ कहते ही उसने टेलीफोन करके एक और लड़की को बुलवाया । कुछ देर में ही इरीन नामक अठारह वर्ष की एक सुंदर युवती वहाँ आ पहुँची । ग्राहक का स्वाँग धारण करके आने वाले युवक को उसने बताया कि वह किसी विविध वस्तु भंडार में काम करती थी, और यह धंधा तो उसने कुछ महीनों से ही शुरू किया था । डेढ़ वर्ष



पहले किसी युवक ने उस विवाह का वचन देकर धोखा दिया था । तब से वह यौन संबंध का अर्थ समझने लगी थी, और इस सुख के विक्रय द्वारा रुपया कमाया जा सकता है, इसका भी उसे ज्ञान हो चुका था । वैसे तो वह अपनी चाची के साथ रहती थी । चाची अत्यंत कठोर स्वभाव की थी । शाम को अमुक समय से पहले ही घर आ जाने की उसकी कड़ी आज्ञा थी, जिसका पालन किए बिना छुटकारा नहीं था । स्टोर की प्रतिष्ठित नौकरी से वह पर्याप्त रुपया कमा लेती थी, और कभी कभी वेश्यावृत्ति करके कुछ आमदनी और कर लेती थी । परंतु गणिकावृत्ति करने का मुख्य कारण उसने यही बताया कि उसे किसी पुरुष ने धोखा दिया था । एक बार भोगविलास का चसका लग जाने पर अब तो वह किसी भी परिचित कुट्टनी का आमंत्रण मिलते ही, किसी भी ग्राहक का मनोरंजन करने को तैयार हो जाती थी । इस प्रकार के गृहों से वह अब अच्छी तरह से परिचित हो गई थी । वैसे वह एक प्रतिष्ठित परिवार में रहती थी और चाची के आदेशानुसार शाम को निर्दिष्ट समय पर उसे घर पहुँचना ही पड़ता था । परंतु वह किसी न किसी युक्ति से, उससे पहले ही गणिकावृत्ति के लिए पर्याप्त समय निकाल लेती थी । केवल अठारह वर्ष की उम्र में वह गणिकालयों में रह कर पेशा करने वाली स्त्रियों के वर्ग से बाहर रह कर भी एक अनुभवी वारांगना बन चुकी थी । यह तो केवल एक दृष्टांत है । ऐसे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । व्यवसाय के रूप में गणिकावृत्ति कैसे कैसे रूप धारण कर सकती है, इसका यह एक नमूना मात्र है । घर के बुजुर्गों की जानकारी से बाहर चलने वाली इस प्रकार का व्यभिचार गणिकावृत्ति की सूक्ष्म व्यापकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

कई होटलों के पिछवाड़े के कमरों का उपयोग भी इसी काम के लिए होता है । अनगिनत युवतियाँ अतिरिक्त आय की लालच से यहाँ आती रहती हैं । इनमें की कुछ मालिकों से निश्चित वेतन लेकर होटल के ग्राहकों का मनोरंजन करती हैं । अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय पूरा करके, शाम को कुछ समय के लिए निश्चित स्थान पर जा पहुँचना; आगंतुक पुरुष को देह समर्पण करके थोड़ा बहुत धन कमा लेना; और रात को फिर अपने प्रतिष्ठित परिवारों में पहुँच जाना, यह क्रम पश्चिम की जीवनचर्या में अच्छी तरह से रवाँ हो गया है । होटलों मैं चलनेवाले इस पेशे का आर्थिक व्यवहार बड़ा सीधा सीधा होता है । सजे हुए कमरे के किराये के रूप में होटल मालिक को जितने रुपये मिलते हैं, उसमें से आधे उसके और आधे गणिकावृत्ति करनेवाली युवती के होते हैं । इसके उपरांत, ग्राहक ने जितनी शराब पी हो, उसके मुनाफे का दस से पचीस प्रतिशत भाग भी उस युवती को दिया जाता है । इस सब के उपरांत ग्राहक से और कुछ रुपये या भेंट सौगात ऐंठ सकने की उस में शक्ति हो, तो वह कमाई अलग । कई बार, होशहवास खो बैठने वाले ग्राहकों की जेबें भी ये स्त्रियाँ साफ कर देती हैं । नशे में चूर ग्राहक को अपने नुकसान का होश हो, उससे पहले ही ये गायब हो जाती हैं । ग्राहक की नज़र से वे भले ही ओझल हो जायँ, गृहमालिकों की नज़र से वे नहीं बच सकतीं । अपनी कमाई की पाई-पाई का हिसाब उन्हे होटलों के मालिकों को देना पड़ता है । इसका फैसला करने वाले कुछ अनुभवी दलाल होते हैं जिनका काम ही गणिका की कमाई का गणिका और होटल मालिक के बीच बँटवारा करना होता है ।

इन शृंगारित कमरों या होटलों का उपयोग करने वाली स्त्रियों को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है: —

१. प्रथम वर्ग में छिपकर और कभी कभी शौकिया गणिकावृत्ति करने वाली युवतियाँ आती हैं । उनकी और उनके प्रेमियों की, दोनों की दृष्टि से इस प्रकार के गुप्त और एकांत मिलन स्थान अत्यंत सुरक्षित और सुविधाजनक होते हैं ।

२. दूसरे वर्ग में नियमित गणिकावृत्ति करने वाली वे युवतियाँ आती हैं जिनके लिए खुले गणिका गृहों की अपेक्षा यह स्थान अधिक अनुकूल होते हैं । हम देख चुके हैं कि प्रतिष्ठा की भावना और पकड़े जाने के भय के कारण बहुत से पुरुष खुले गणिका गृहों में जाने से झिझकते हैं । इस प्रकार के गुप्त मिलनस्थान उनकी रस वृत्ति को भी संतुष्ट कर सकते हैं, और उनकी प्रतिष्ठा भी बनाये

३ तीसरे वर्ग में गणिकावृत्ति से निवृत्त होने के पात्र स्त्रियाँ आती हैं । रूपयौवन ढल जाने के कारण या रोगपीड़ित होने के कारण ये स्त्रियाँ खुले गणिका गृहों में अन्य स्त्रियों की स्पर्धा में खड़ी नहीं रह सकतीं । गुप्त स्थानों में प्रतिष्ठा का ढोंग बनाये रखने की आड़ में ये वयस्क, अनाकर्षक और रोगपीड़ित स्त्रियाँ भी खप जाती हैं । उन्हें गुज़ारे का एक साधन मिल जाता है, और ग्राहक की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रहते हुए उसे यौन संतोष और यौन रोग, दोनों एक साथ मिल जाते हैं ।

शृंगारगृह या मालिशगृह के नाम से चलने वाले अनीतिधाम शास्त्रशुद्ध शृंगार प्रसाधन करने की या मालिश द्वारा स्वास्थ्य संवर्धन करने की आड़ में गणिकाओं और उनके तलबगारों को मिला देने के स्थान मात्र होते हैं । गणिका गृहों का यह प्रकार भी पश्चिम में खूब विकसित हुआ है । यह धंधा करने वालों को एक लाभ यह भी होता है कि शास्त्रोक्त शृंगार विन्यास या मालिश की कला सिखाने के बहाने खुलेआम विज्ञापन देकर युवतियों को आकर्षित कर सकते हैं । इन गृहों की संचालिकाएँ भी अकसर निवृत्त और अनुभवी गणिकाएँ ही होने के कारण वे आसानी से युवतियों को वेश्यावृत्ति में प्रेरित कर सकती हैं । सभ्यता और प्रतिष्ठित व्यवसाय का ढोंग बनाये रखने के लिए वे बिलकुल निरपेक्ष होने का दिखावा करती हैं । परंतु वास्तव में वे अपने गणिकावृत्ति के काल की परिचित स्त्रियों की सहायता से नवागंतुक युवतियों को गणिकावृत्ति की पक्की तालीम देती रहती हैं । पुरानी अनुभवी, और गणिकावृत्ति के हर पहलू से परिचित इन स्त्रियों के संपर्क में नयी आने वाली अल्हड़ युवतियाँ शीघ्र ही पतन के मार्ग पर अग्रसर हो जाती हैं । इस प्रकार के गृहों के संचालक अपना पेशा शास्त्रोक्त शृंगार प्रसाधन करने का ही है, यह सिद्ध करने के लिए डाक्टरों और बड़े-बड़े अफसरों के प्रमाण पत्र भी प्राप्त कर लेते हैं ।

इस पेशे की विचित्रताएँ यहीं पर समाप्त नहीं हो जातीं । गणिकावृत्ति का पोषण करने वाले कुछ अन्य स्थानों का जिक्र भी आवश्यक है । ''स्त्री मंडल'' के नाम से पहचानी जाने वाली अनेक संस्थाएँ, संगीत गृह, नृत्यगृह, नाट्यगृह, दिल बहलाव के लिए आयोजित किये जाने वाले जल से, नदियों में तैरने वाले छोटे-छोटे बजरे और समुद्रयात्रा के बड़े बड़े जहाज भी इस व्यवसाय में योगदान देते रहते हैं । भारत में कश्मीर के बजरों में चलनेवाले आमोद प्रमोद अत्यंत प्रसिद्ध हैं । खुले गणिका गृहों में जाने से प्रतिष्ठा घट जाने का जिन्हें भय होता है ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ इन स्थावर या जंगम स्थानों का आश्रय लेकर गणिकावृत्ति की अमरबेल को सदा फली फूली रखते हैं । यह भी देखा गया है कि चाय-कॉफी की दुकानों, केश विन्यास गृहों, नाखून काटने या रंगने के स्थानों, सिगार-सिगरेट की दुकानों, हस्तरेखा, दिव्यदृष्टि, ज्योतिष, आदि की जानकारी का दावा रखने वाली संस्थाओं और गांजा, अफीम आदि मादक पदार्थों का सेवन करने के अड्डों का उपयोग भी गणिकावृत्ति के लिए होता है । दरअसल प्रतिष्ठित माने जाने वाले सभी स्थान, मठ-मंदिर से लगा कर पान-सिगरेट की दूकानों तक, और स्त्री-दुख निवारक संस्था से लगा कर सजे हुए बजरों तक, गणिकावृत्ति के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं । सवाल उठता है कि वेश्यावृत्ति के लिए मनुष्य ने किस स्थान का उपयोग नहीं किया ? नृत्य के नाम पर चलने वाली अधिकांश संस्थाएँ तो व्यभिचार और बीभत्स कामुकता के अड्डों के सिवा और कुछ नहीं होतीं । तफरीह के बहाने नदियों में तैरने वाले बजरे युवा स्त्री-पुरुषों को इच्छित एकांत उपलब्ध कर देते हैं और गणिकावृत्ति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । इन नौकाओं में मिलने वाली अधिकांश स्त्रियाँ अत्यंत साधारण श्रेणी की वेश्याएँ होती हैं । अनुभवहीन युवकों को ये अनुभवी वारांगनाएँ अपनी बनावटी मुग्धता से भरमा कर व्यभिचार में प्रेरित करती हैं । नाटकों और नृत्यगृहों में काम करने वाली स्त्रियों की वेशभूषा और उनके हावभाव शिष्टता के पोषक क्वचित ही होते हैं । सोलह-सोलह वर्ष के, या इससे भी कम उम्र के लड़के-लड़कियाँ कल्पनातीत पतिताचार में पटु हो जाते हैं । इस रूप में गणिकावृत्ति हम मानते हैं उससे कहीं अधिक व्यापक है और हम प्रमाणित कर सकें उससे कहीं अधिक अटपटे रूपों में फैली हुई है ।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि सभी स्त्री-संस्थाएँ, सभी संगीत या नृत्यगृह, सभी



थियेटर और सभी बजरे केवल इसी काम के लिए होते हैं । इनमें के बहुत से स्थानों का उपयोग उनके नियत उद्देश्यों के लिए ही होता है । परंतु इन स्थानों का पतित उद्देश्यों के लिए उपयोग हो सकता है, और होता है, केवल यही कहने का अभिप्राय है । वासना अपने शमन के लिए मनुष्य प्राणी से धन का आदान-प्रदान भी करवाती है । केवल इसी एक तथ्य के सहारे मनुष्य के यौन आवेग को बहका कर या उसे विलक्षण रूप दे कर उससे धन कमाने की योजनाबद्ध कला गणिकावृत्ति का किस हद तक पोषण और रक्षण कर रही है, इसका अंदाज़ लगाने के लिए भी इन स्थानों का परिचय आवश्यक है । सामान्य मनुष्य की नज़र में ये सब स्थान प्रतिष्ठित ही दिखाई देते हैं । परंतु प्रतिष्ठित व्यवसायों की आड़ में वासनातृप्ति के साधन उपलब्ध करने की ओर वासना को सदा प्रज्वलित रख सकने की योग्यता धन प्राप्ति का स्रोत बन सकती है, यह घटना आज के अर्थ प्रधान युग में भी अर्थ के सामर्थ्य या अर्थ के कलंक का ध्यान दिला कर हमारी आँखें खोल सकती है । मनुष्य की साहसवृत्ति या कुतूहलवृत्ति का उपयोग भी कुशल व्यापारियों द्वारा धनोपार्जन के लिए किया जा सकता है इसका यह उत्तम उदाहरण है ।

इन स्थानों पर मानवप्राणियों का कैसा बहुरंगी मेला जुड़ता है, यह भी प्रेक्षणीय है । गणिका गृहों के मालिक, गृहों का संचालन करने वाली कुट्टनियाँ, गलियों में भटकने वाली वेश्याएँ, दलाल, जुआरी, गिरहकट, चोर-उचक्के, और हर प्रकार की बदमाशी में पारंगत लफंगे यहाँ इकट्ठे होते हैं । आवश्यकतानुसार यहीं उनकी योजनाएँ बनती हैं, युक्तियाँ सोची जाती हैं, रुपये का लेनदेन चुकाया जाता है और सहयोगियों के साथ सहकार स्थापित किया जाता है । समाज विरोधी सारे धंधों की पराकाष्ठा स्त्रियों के देह व्यापार में होती है और सुंदर युवतियाँ ही इस व्यवसाय का मूलधन होती हैं । इन मकानों की दीवारों के अगर जबान होती, तो स्त्रियों के देह विक्रय में से अनेक अनिष्ट व्यापारों की शाखा-प्रशाखाएँ किस तरह फूटती हैं, इसका पूरा गुप्त इतिहास मालूम हो सकता । शराब और कोकीन, अफीम और गाँजा आदि मादक पदार्थों के विक्रय की योजनाएँ भी यहीं बनती हैं । आसपास मँडराने वाले युवक यह सब देखते रहते हैं । पाताल लोक की इस दुनिया में साहस के प्रति आकर्षण स्वाभाविक होता है । देखते देखते वे चोरी और व्यभिचार की कला में पारंगत हो जाते हैं, और उनके स्वभाव में एक प्रकार का शोहदापन आ जाता है । वे बड़ेबलवान और बाँके होने का दावा करने लगते हैं; बात बात में मारपीट करने पर उतारू हो जाते हैं; और चुनाव की सभाओं की रक्षा करने को या ध्वंस करने को भी सदा तत्पर रहते हैं । अंत में उनकी प्रतिभा का संपूर्ण विकास गणिकाओं की दलाली करने में होता है ।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त गणिकालय समाज की स्वस्थता को किस हद तक हचमचा देते हैं ।

५

व्यापार का जाल

मनुष्य की कामवासना अत्यंत प्रबल है, यह माना । स्त्री या पुरुष की उग्र वासना उन्हें अनाचार के मार्ग पर ले जा सकती है, यह भी सही है । वासना का निग्रह करने की अक्षमता ही अनेक लोगों के पतन का कारण होती है, इससे भी इन्कार नहीं । परंतु वासना के आवेग से ही, या उसे रोक न सकने के कारण ही गणिकावृत्ति रूपी आग इतनी उग्रता से भभकती रही है, यह मानने को जी नहीं करता । व्यापार की भावना और आज की अर्थमूलक समाज व्यवस्था गणिकावृत्ति को नितांत मर्यादाहीन व्यवहार बना देती है, इसमें कोई शक नहीं । परंतु फिर भी गणिकावृत्ति की व्यापक अग्निज्वाला की आहुति बन जाने वाले अगणित स्त्री-पुरुष केवल वासना की प्रबलता के, या उसे अंकुश में न रख सकने के कारण ही आत्मघात के इस मार्ग पर प्रेरित होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता । गणिकासंस्था की संघटित आर्थिक योजना ही इतने विशाल पैमाने पर मनुष्यजीवन के विनाश को मुमकिन बनाती है । कुशलता पूर्वक संचालित किए

जाने वाले व्यवसायिक रूप के अभाव में गणिकावृत्ति इतनी प्रचलित या इतनी व्यापक शायद न हुई होती । व्यापारीवृत्ति ने मनुष्य प्राणी की वासना की प्रबलता और उसके निरोध की अक्षमता को ही अपना मूलधन मान कर उनका व्यवसाय न किया होता, तो गणिकावृत्ति की भयानकता शायद कुछ कम हुई होती । परंतु व्यापारवृत्ति ने वासना की लगाम बिलकुल ढीली छोड़ दी और मनुष्यजाति की वर्तमान आर्थिक रचना का सहारा लेकर एक महाभयानक परिस्थिति उत्पन्न कर दी है ।

हतभागिनी गणिका, जो इस व्यापार के केन्द्र रूप है, और इस पेशे का सब से महत्वपूर्ण घटक है, उसे तो इस कार्य से नगण्य सा लाभ होता है । आरंभ में कुछ अच्छे कपड़े, थोड़ा बहुत धन और यौन आनंद का क्षण जीवी कंप —बस यही उसके हिस्से में आता है । परंतु पाँच-सात वर्ष में ही आनंद की अनुभूति लुप्त हो जाती है और कमाया हुआ धन कर्ज़ चुकाने में समाप्त हो जाता है । उसके पास बचता है केवल गुज़ारे का साधन । और गुज़ारा भी कैसा ? अभाव और अपमान से ग्रस्त । दो चार वर्षों में वह भी नष्ट हो जाता है और गणिकावृत्ति की इस मध्यवर्ती कड़ी के भाग्य में बचते हैं रोग, व्यसन, दर दर की ठोकरें, बेकारी और मौत । गणिकावृत्ति ही एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें व्यवसायी की कीमत दिनोंदिन कम होती जाती है ।

यह व्यवसाय अमानुष इस लिए माना जाता है कि उसने हमारे अत्यंत निजी संबंध को भी सार्वजनिक संस्था बना दिया है । यह व्यापार राक्षसी इसलिए कहा जाता है कि वह अपने मूलधनरूपी गणिकाओं का अनियंत्रित शोषण करता है । इस शोषण में दया, उपकार या सहानुभूति का लवलेश भी नहीं होता । कभी कभी इनकी झलक दिखाई भी देती है, तो वह केवल स्वार्थसाधन के खातिर । यह पेशा स्त्री की अवनति और उसके विनाश को इतने ठंडे दिल से आमंत्रित करता है कि उसकी निर्दयता की तुलना रणक्षेत्र में दिखाई देने वाली बर्बरता से ही की जा सकती है । इस पेशे के व्यापक संघटन से नफा कमाने वाले व्यक्ति खुद जल कमलवत् अलिप्त रह कर इसमें पिसने वाली सैंकड़ों असहाय अबलाओं को जीते जी चिता की ज्वाला में होमते जाते हैं । बलिवेदी पर चढ़ा दी जाने वाली इन युवतियों को आकर्षित करने के और फिर इनके प्रलोभन द्वारा पुरुष को मोहित करने के साधन ही इस दुष्ट योजना के सबसे अधिक चमकीले परंतु सबसे अधिक अनिष्टकारी हथियार सिद्ध होते हैं । इन शक्तिशाली साधनों के साथ जब हमारे प्रतिष्ठित व्यवहार और सभ्य रस्मोरिवाज हाथ मिलाकर खड़े हो जाते हैं, तब तो इस व्यवसाय की विषमता और विषमयता और भी बढ़ जाती है । इस हालत में आत्मरक्षा का एक भी मार्ग समाज के सामने न रहने की भयावह संभावना खड़ी होती है ।

गृहमालिक, गृह की संचालिका कुट्टनी, दलाल, गणिकाओं के संरक्षक गुंडे, शराबखाने के मालिक कलाल और इन सब को रुपया उधार देने वाले सूदखोर महाजन, ये सब मिल कर गणिकाओं के जीवन को मुनाफा कमाने का एक यंत्र बना देते हैं । इस निष्ठुरता को व्यापारवृत्ति का ही लक्षण या कुलक्षण कहा जा सकता है । आर्थिक वृत्ति अपनी व्यापारी दृष्टि और व्यवसायी शक्ति के साथ गणिकावृत्ति में आकर न मिली होती तो शायद गणिकाओं की समस्या इतनी विषम, इतनी कूट और इतनी उलझनभरी न हुई होती । वर्तमान गणिकावृत्ति में आधुनिक व्यापारवृत्ति की सब बुराइयों के दर्शन हो सकते हैं । अन्य प्रतिष्ठित व्यवसायों की तरह इसमें भी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है, साझेदारियाँ होती हैं, अपना हिस्सा बेचा जा सकता है, मुनाफे का बँटवारा होता है, पक्के हिसाब रखे जाते हैं और धंधा चलता रहे और लाभदायक ढंग से चलता रहे इसलिए व्यापार के सभी हथकंडे इसमें आजमाये जाते हैं । संसार के अन्य बड़े व्यापारों की तरह गणिकावृत्ति का व्यापक संघटन भी एक बड़ा व्यापार बन चुका है । आज के सभी व्यापार-धंधों की योजना पूंजीवाद के सिद्धांत पर की जाती है । 'बिना पूंजी के कुछ हो नहीं सकता, और मुनाफे की आशा के बिना पूंजी मिल नहीं सकती' —यह आज के अर्थ प्राधान्य वाद का सिद्धांत-सूत्र है ।

समाजहित की दृष्टि से देखा जाय तो कपड़े या जूतों का उत्पादन, शराब और मिठाई का उत्पादन या युद्ध के साधनों और यात्रा के उपकरणों का उत्पादन; पुस्तक विक्रय, संगीत श्रवण या नाट्य-दर्शन —सभी

अलग अलग प्रकार की सामाजिक सेवाएँ हैं । भिन्न भिन्न समय पर समाज को इनकी आवश्यकता पड़ती है और वे समाज के .नए उपयोगी सिद्ध होती हैं । परंतु जनसाधारण के उपयोग के लिए बनायी जानेवाली वस्तुओं या योजनाओं में लगने वाला धन भी यदि मुनाफा कमा कर नहीं देता, तो पूंजीवाद उसे अनुपयोगी और निरर्थक मानता है और उसे अपनी कक्षा से बाहर धकेल देता है । स्त्री-सहवास भी मनुष्य की एक प्राथमिक आवश्यकता होने के कारण उसका भी व्यापार किया जा सकता है, यह माननेवाला साहसिक वर्ग सभी समाजों में पाया जाता है, जो इस संबंध को व्यापार की कक्षा में घसीट लाता है और अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय या लेन-देन के समान उसे भी व्यापार का एक सामान्य व्यवहार बना देता है । केवल व्यवहार की दृष्टि से देखें, तो गणिकावृत्ति में और अन्य व्यापारों में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता । वेतन लेकर शिक्षक विद्या पढ़ाते हैं; फीस लेकर वकील मुकदमे लड़ते हैं; दवाई के उपरांत अपनी उपस्थिति की भी कीमत वसूल करने के बाद ही डाक्टर रोगियों का इलाज करते हैं और पारिश्रमिक लेकर ही ठेकेदार किसी का मकान बनाते हैं । इसी प्रकार पुरुष की वासनातृप्ति करने का आवश्यक कार्य करने वाली गणिका भी मेहनताना लेकर मनुष्य की एक प्राथमिक मांग की पूर्ति करती है । केवल व्यवसाय की दृष्टि से इन सब कार्यों में कोई फर्क शायद ही दिखाई दे । अत: हम इस व्यवसाय की कुछ और गहराई से जानकारी प्राप्त करें । गणिका और कुट्टनी रूपी इसके सब से महत्वपूर्ण तत्वों का वर्णन हम कर चुके । अब इस धंधे में गणिका के सहायक और साझेदार होने वाले लोगों का भी परिचय प्राप्त कर लें ।



सातवाँ परिच्छेद

गणिकाओं के सहायक और गणिकावृत्ति का अर्थजाल

१

गणिकालयों के मालेक

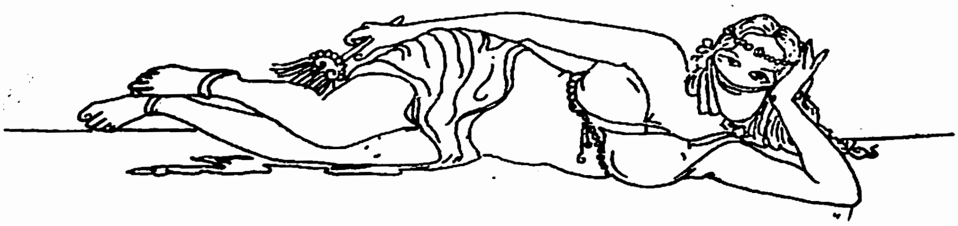
पिछले परिच्छेद में गणिकाओं और कुट्टनियों के साथ हमने गणिका गृहों के मालिकों का भी उल्लेख किया है । इनका कुछ अधिक परिचय आवश्यक है । गणिका गृहों के मालिक विविध मार्गों से इस पेशे में आते हैं । अपने वर्तमान या पूर्व जीवन में ये लोग दंगलकुश्ती के शौकीन पहलवान, राजनीति के उग्र पहलू के प्रतिनिधि राजनीतिक गुंडे, चीज़े गिरवी रख कर भारी ब्याज से कर्ज़ देने वाले सूदखोर, जुआरी, सटोड़िये या कोई छोटा मोटा व्यापार करने वाले व्यवसायी होते हैं । बाह्य दिखावे के लिए वे चाहे जो धंधा करते हों, उनका असली उद्देश्य अपने गणिकागृहों को आबाद रखना ही होता है । इनमें के कुछ लोग गणिकालयों के एकमात्र मालिक होते है और कुछ साझेदारी में यह धंधा करते हैं । कभी-कभी एक ही मालिक के अनेक गणिकालय होते हैं जिन्हें चलाने के लिए भाई-भतीजों, साले-बहनोइयों या अन्य संबंधियों की पारिवारिक पलटन की आवश्यकता पड़ती है । हमारे बड़े बड़े उद्योग धंधों में भी रिश्तेदारों की ऐसी ही फौज पाई जाती है ताकि सारा नफा परिवार के लोगों में ही बँट सके । बड़े और प्रतिष्ठित्त कहे जाने व्यापार-उद्योगों में पलने वाले सगे संबंधियों की कहानी अध्ययन की रसमय सामग्री प्रस्तुत कर सकती है । इसके लिए किसी भी बड़े व्यवसाय की ओर नज़र उठाकर देखना ही काफी होगा ।

कभी कभी इन व्यापारियों और उनके सहायकों के दो या अधिक दल एकत्र होकर यह व्यवसाय करते हैं । इस हालत में उनका संगठन अत्यंत प्रबल हो उठता है । इसी प्रकार इस व्यवसाय में साझेदारी की प्रथा भी पाई जाती है । अन्य व्यापारी कंपनियों में होता है, उसी तरह इस धंधे में भी अपने मित्रों, संबंधियों या उपयोगी हो सकने वाले व्यक्तियों को मुनाफे का थोड़ा बहुत हिस्सा देकर उन्हें हिस्सेदार बना लिया जाता है । यह हिस्से बेचे जा सकते हैं और उनका मूल्य व्यवसाय की समृद्धि के अनुपात में बढ़ता-घटता रहता है । रूई, कपड़ा, लोहा या रंग आदि के व्यापार में जिस तरह बाज़ारों पर नियंत्रण रख सकने वाले किसी बड़े व्यापारी को उस व्यापार का राजा कहा जाता है, उसी प्रकार गणिकावृत्ति के व्यवसाय में भी ताज बिना के न मालूम कितने बादशाह राज करते रहते हैं । राजनीति के रुख और जनसाधारण के मानस को पहचान कर अपना धंधा करते रहने की उनकी शक्ति वाकई प्रशंसनीय होती है । राज्यशासन द्वारा नये कानूनों की रचना हो रही हो, या कोई समाज-सुधारक उनके व्यवसाय के विरुद्ध जिहाद की घोषणा कर रहा हो, तो इसे सामूहिक संकट मान कर इस व्यवसाय के प्रमुख सूत्रधार एकत्रित होकर मंत्रणा करते हैं । कानून के निष्णात वकीलों की राय ली जाती है, और उनकी सलाह के अनुसार ही कार्य व्यवस्था की जाती है । इस बात की हमेशा सावधानी रखी जाती है कि व्यवसाय ज़ोरों से चलता रहने पर भी उन पर किसी भी रूप से कानून या जनमत का कोप न हो । पूंजीवादी व्यवस्था के अनुसार चलने वाले व्यापारों में कितना साम्य होता है !





गणिका-व्यापार से जीवननिर्वाह करनेवाले किसी व्यापारी का शब्दचित्र देख लें तो हम उससे अधिक घनिष्ठता से परिचित हो सकेंगे । जीवन भर उसने असहाय स्त्रियों को फँसाने का ही काम किया है । इस योग्यता पर ही उसके व्यापार की इमारत खड़ी है । उसके बचपन में उसकी परवरिश भी दूषित वातावरण में हुई है । उसके पिता शायद किसी अप्रतिष्ठित मोहल्ले में छोटा सा उपाहारगृह चलाते थे; जहाँ बैठकर गणिकाएँ, उनके दलाल और गुंडे अपने व्यवसाय की योजनाएँ बनाते रहते थे । इस व्यक्ति ने बचपन से यही दृश्य देखा है । गणिका-व्यापार के हीन संस्कार उसके मानस पर उस कच्ची उम्र से ही पड़े हुए हैं । वह खुद विवाहित है और अपना धंधा अपनी पत्नी और बच्चों से छिपा कर करता है । परंतु यह बात बहुत दिनों तक छिपी नहीं रहती । कभी कभी यह भी हो सकता है कि उसके व्यवसाय में किसी समय उसकी सहायता करने वाली कोई गणिका या अर्धगणिका ही उसकी पत्नी हो । इस हालत में उससे कुछ छिपाया नहीं जा सकता; बल्कि वह उसके व्यवसाय में एक अनुभवी सहायक बन जाती है । स्त्रियों के देह विक्रय की कमाई से जीवन निर्वाह करने वाले लोगों की पुत्रियाँ भी गणिकावृत्ति करने लगें, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । बड़ी होने पर इस व्यापारी की लड़कियाँ भी वेश्यावृत्ति करने लगती हैं और उसके लड़के इस व्यवसाय के दलाली-विभाग में निपुण हो जाते हैं । व्यापारी खुद, उसकी पत्नी और उसके पुत्र अधिक से अधिक युवतियों को अपने गणिकालय में आकर्षित करने की योजनाएँ गढ़ते रहते हैं । गणिकालय के मालिक के परिवार का वातावरण अकसर इसी प्रकार का होता है । प्राय: ये व्यापारी किसी अन्य प्रान्त से आकर बड़े शहरों में बसते हैं, क्योंकि जहाँ लोग उन्हें जानते हों ऐसे परिचित प्रदेशों में अपना धंधा करने में आरंभ में कुछ संकोच होना स्वाभाविक है । परंतु धीरे धीरे उनकी वृत्ति यह हो जाती है कि 'सब भूमि गोपाल की', और व्यवसाय में एक बार स्थिर हो जाने पर वे देश-परदेश के भेद की अधिक परवाह नहीं करते ।



एक अन्य लेखक ने भी गुलाम-व्यवसायी का रेखाचित्र खींचते हुए कुछ इसी प्रकार की कल्पना की है कि अकसर वह एक लंबा-चौड़ा, हट्टा कट्टा, छ: फुट ऊँचा और चालीस-बयालीस वर्ष की उम्र का आदमी होता है । उसके कपड़े अद्यतन फैशन के, इस्त्री किये हुए और दूर से ही ध्यान आकर्षित करें ऐसे सुंदर और कीमती होते हैं । सोने की जंजीर वाली जेबघड़ी उसकी वास्कट जेब की शोभा बढ़ाती रहती है । उसकी भड़कीली नेक टाई पर बड़े से हीरे वाला टाईपिन लगा रहता है । उसकी मोटी मोटी उंगलियों में सोने और हीरे की कई अंगूठियाँ होती हैं । दरअसल यह चित्र किसी भी सफल व्यापारी का हो सकता है । अपने व्यापार में सफलता प्राप्त करनेवाले पूंजीपतियों और उद्योगपतियों का चित्र इससे बहुत भिन्न नहीं हो सकता ।

इस व्यवसाय का राजा माना जाने वाला एक व्यापारी ग्यारह गणिकालयों का संचालन करता था। जाँच करने पर मालूम हुआ कि इनमें के कई गृह तो उसके अकेले की मालिकी के थे। गणिका व्यवसाय करनेवाला एक अन्य व्यापारी जवाहरात का व्यापार भी करता था। एक ओर सुंदरियों का और दूसरी ओर जवाहरात का व्यापार साथ साथ चलता रहता था। अन्य बड़े व्यापारियों की तरह इन लोगों को भी कानून का भय बिलकुल नहीं होता क्योंकि उनकी यह निश्चित मान्यता होती है कि अन्य चीज़ों की तरह न्याय भी आसानी से खरीदा जा सकता है। इनमें के कई लोग चोरी के माल का व्यापार भी करते हैं। सफर करने में ये लोग बड़े पक्के होत हैं और अपने व्यवसाय की तरक्की के लिए देश-विदेश में घूमते ही रहते हैं।

आश्चर्य की बात है कि उनके विश्वासघात का शिकार होने वाली युवतियों में से ही कोई स्त्री आगे चलकर उनके गणिकालयों की अधिष्ठात्री के रूप में उनके प्रति एकनिष्ठ और अत्यंत ईमानदार सिद्ध होती है। ये स्त्रियाँ उनके व्यवसाय की उन्नति के लिए अपनी जान लड़ा देती हैं। रक्षकों या मालिकों के साथ उनके संबंध कभी कभी अत्यंत अद्‌भुत और रोमांचक कोटि के होते हैं। पतिताचार के हीनतम अनुभवों में से गुज़रने के बाद भी ये स्त्रियाँ अपने मालिकों और उनके गणिकालयों की तरक्की ही चाहती हैं। अकसर ये व्यापारी इन अनुरागी और वफादार स्त्रियों को कुछ समय के बाद त्याग देते हैं और निष्ठुरता से उन्हें दरदर की ठोकरें खाने को छोड़ देते हैं। इतना दुर्व्यवहार होने पर भी, गणिकालय की नौकरी को स्वीकार किए बाद किसी कुट्टनी ने गृहमालिक को धोखा दिया हो, उसके रुपये मार लिये हों, या उसे पुलिस या कानून के चंगुल में फँसा दिया हो, ऐसा कभी सुनाई नहीं देता। मालिक का व्यवसाय अगर ठीक से न चल रहा हो, तो धंधे की उन्नति की कोशिश में ये स्त्रियाँ आकाश पाताल एक कर देती हैं और उसकी तरक्की की खातिर अनेक संकटों और खतरों का मुकाबला करके अनेक युवतियों को अपने जाल में फँसाती रहती हैं। इस प्रवृत्ति के पीछे कोई दुष्टता की भावना नहीं होती; सिर्फ वफादारी की प्रेरणा होती है। उनकी यह एक निष्ठा भयानक कालिमा भरे गणिकावृत्ति के वातावरण में भी प्रकाश की कुछ किरणें झलका जाती है।

संगठित वेश्यालयों के स्तर पर आकर गणिकावृत्ति कुछ स्त्रियों का वैयक्तिक प्रश्न न रहकर व्यापारियों की धनलालसा से प्रेरित एक व्यापक समस्या बन जाती है। इस धंधे की व्यवस्था करने वाले साहसिक लोग व्यापार के अनुकूल स्थान ढूंढने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे स्थान उन्हें कहाँ नहीं मिल जाते? आज का पूरा सभ्य समाज उनके व्यापार का उपयुक्त क्षेत्र बन गया है। प्रतिष्ठित और वैध व्यवसायों का भी शायद इस धंधे के जैसी कुशलता और बारीकी से संचालन नहीं होता होगा। अन्य धंधों में परिस्थितियाँ बदल जाने पर, घाटा होने की भी संभावना रहती है। परंतु गणिकाओं के आसपास रचा जाने वाला यह व्यवसाय तो अपने आपको परिस्थितियों के अनुरूप बना लेने में इतना निपुण है कि धर्म, कानून और जनमत जैसे प्रबल तत्व भी उसे स्पर्श नहीं कर सकते। एक स्थान पर काम न चले तो दूसरे स्थान पर चलाया जा सकता है। कोई जागरूक पुलिस अफसर यदि किसी शहर में गणिकालयों के अस्तित्व को कठिन या असंभव बना दे, तो गृहमालिकों को इससे घबराने का कोई कारण नहीं होता। अन्य किसी शहर में किसी सहयोगी से उसकी जान पहचान अवश्य होती है। वहाँ जा कर वह उसके साझे में व्यवसाय कर सकता है, इतना ही नहीं, अपने और अपने साथी के अनुभवों को एकत्र करके व्यापार का विस्तार कर सकता है। यदि कोई साझेदार न मिले, तो स्वतंत्र रूप से भी व्यवसाय किया जा सकता है। स्त्रियों के देह विक्रय की सुविधा संसार के सभ्य और असभ्य, सभी देशों में आसानी से मिल जाती है।

व्यापकता से फैले हुए इस व्यापार जाल से गणिकालयों के मालिक बेशुमार धन कमाते हैं। मालिकों के बाद दूसरी महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं गणिका गृहों की अधिष्ठात्री, गृह संचालिका कुट्टनी। इसका वर्णन पिछले परिच्छेद में हो चुका है। परंतु इस व्यवसाय में और भी कई घटकों का समावेश होता है, जिन्हें क्रमशः देख लें।

२
दलाल और गुंडे

गृहमालिक और कुट्टनी के बाद इस व्यवसाय में तीसरी महत्वपूर्ण कड़ी है दलाल । गृह मालिक और कुट्टनियाँ भी युवतियों को बहकाने का काम अपने अपने ढंग से करते ही रहते हैं; परंतु यह पर्याप्त नहीं होता । अत: एक ऐसा वर्ग भी जन्म लेता है जो खुद गणिका गृहों का मालिक न होने पर भी स्त्रियों को बहका कर गणिकालयों में लाने का और शौकीन पुरुषों का मार्गदर्शन करने का काम करता है । यह सही है कि गणिकालयों के अस्तित्व के कारण ही इन लोगों का धंधा चलता है । परंतु साथ ही यह भी सत्य है कि इन मार्गदर्शकों के माध्यम से ही ज़रूरतमंद स्त्री और शौकीन पुरुष का इन स्थानों में मिलन हो सकता है । इनकी सहायता के बिना शौकीनों को खुले या गुप्त गणिकालयों का पता लगना ही मुश्किल हो जाय । कारखानों, दूकानों और सिनेमागृहों के इर्द गिर्द घूमने वाले ये दलाल आरंभ में केवल मुस्करा कर युवतियों के साथ प्राथमिक परिचय स्थापित कर लेते हैं और जीवन में साहस की कामना करने वाली अल्हड़ युवतियों को शीघ्र ही गणिकालयों के दरवाज़ों पर पहुँचा देते हैं । बाग बगीचों में या नदी किनारे के सैरसपाटे के स्थानों में भी ये दलाल घूमते रहते हैं और तफरीह के बहाने, बड़ी सफाई से स्त्री-पुरुषों को अनीति के धामों में ले जाते हैं ।

कभी कभी यह भी होता है कि युवतियों को बहकाने के लिए दलाल खुद ही उनके प्रेमी होने का स्वाँग भरते हैं । कुछ दिनों में प्रेम संबंध अप्रिय हो उठने पर, या प्रेम के नाटक से जी भर जाने पर प्रेमी महाशय खुद ही प्रियतमा के दलाल बन कर उसे गणिकागृह का रास्ता दिखाते हैं । शीघ्र ही, असहाय या प्रेमोन्मत्त युवती अपने प्रियतम को खुश करने के लिए, या उसे आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिए बारंबार गणिकालयों में जाने वाली वार-योषिता बन जाती है । ऐसे किसी दलाल के प्रति किसी युवती को यदि हार्दिक प्रेम हो, तो वह गणिकावृत्ति करते हुए भी उसकी प्रियतमा की भूमिका निबाहती रहती है । इस हालत में उनके बीच सुरक्षा का आदान-प्रदान चलता है । युवती उसे आर्थिक रूप से सुरक्षित रखती है, और दलाल उसकी शारीरिक रक्षा करने वाले गुंडे की भूमिका अदा करता है । शोहदेपन में ये लोग पहले से ही निपुण होते हैं । उनकी मुस्कराहट, बातचीत की सफाई, वाचालता, धृष्टता और सभ्यता के आवरण के पीछे विशुद्ध धूर्तता छिपी रहती है । गुंडेपन के व्यापक अनुभव के बिना गणिकाओं की दलाली करना संभव नहीं ।

इस वर्ग के लोगों की जीवनचर्या ही ऐसी होती है कि गुंडेपन की तालीम उन्हें बचपन से ही मिलती रहती है । छोटी मोटी चोरियाँ, छोटे मोटें साहस और फुटकर अनीतिमय कार्यों से आरंभ करके शीघ्र ही ये लोग लफंगेपन, मारपीट और गुंडई के लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं । यहाँ से मद्यालयों का मार्ग बिलकुल समीप होता है ; और मद्यालयों के पड़ोस में ही वेश्यालय होते हैं । युवावस्था में पदार्पण करते-करते तो ये लोग गणिकावृत्ति के हर पहलू से और गणिकालयों के हर व्यवहार से परिचित हो जाते हैं ।

इससे आगे के सोपान पर ये नौजवान कारखानों में काम करने वाली मनचली युवतियों के साथ संपर्क स्थापित करते हैं । गणिकावृत्ति और गणिकालयों से तो वे बचपन से ही परिचित होते हैं; अत: इन श्रमजीवी युवतियों को बहकाने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता । धीरे धीरे वे उनके यौवन का आस्वादन भी करने लगते हैं और उन्हें गणिकालयों में ले जाकर उनके और अपने लिए धन कमाने का एक सरल मार्ग खोल देते हैं । इन युवतियों से इनका परिचय ज्यों ज्यों घनिष्ठ होता जाता है, त्यों त्यों,

शोहदेपन में पारंगत इन बाँकों का यौवन कुछ युवतियों पर ऐसा जादू कर देता है कि वे पूर्णत: उनके वश में होकर, उनकी इच्छानुसार कुछ भी करने को तैयार हो जाती हैं । इन युवतियों की स्नेहपरवशता का ये गुंडे अनुचित लाभ उठाते हैं और अपने प्रेम का आभास निर्माण करके उनसे वेश्यावृत्ति करवाते हैं । शीघ्र ही वे उनकी कमाई से जीवनयापन करनेवाले पेशेवर दलाल बन जाते हैं । इसके बाद ये लोग इन युवतियों को खुलेआम गणिकालयों में ले जाने लगते हैं । मेहनत-मज़दूरी से जीवनयापन करने वाली युवतियों को शीघ्र ही इस कमाई का चसका लग जाता है । धीरे धीरे ये गुंडे उनका अन्य काम छुड़वा कर उन्हें गणिकालयों में रहने वाली पूर्ण वेश्या बना देते हैं । उनका रूप यौवन बना रहे तब तक उनके लिए ग्राहक ढूंढते हैं, और गृह संचालिका कुट्टनी से दलाली का दर तय करके अपने लिए कमाई का एक स्थायी स्रोत पैदा कर लेते हैं । आश्चर्य की बात है कि गणिका के रूप में अपने शरीर को सर्वोपभोग्य बना देने पर भी ये युवतियाँ इन गुंडों को अपना प्रियतम मानती रहती हैं; उनके सहवास में आनंद और सुख का अनुभव करती हैं और कठिनाई के समय उन्हीं का आश्रय ढूंढती हैं ।

इस प्रकार ये गुंडे गणिकाओं के दलाल, प्रेमी और संरक्षक —सब की भूमिका एक साथ अदा करते हैं । धीरे धीरे दोनों का सहवास इतना घनिष्ठ और अभिन्न हो उठता है कि संरक्षक युवक अपनी रक्षिता गणिकाओं के साथ ही रहने लगते हैं; इतना ही नहीं वे मानो उनके पति हों, ऐसा बर्ताव करने लगते हैं । धन प्राप्ति उनकी प्रेमिकाएँ करती हैं; फिर भी वे उन्हें अपने काबू में रखते हैं, उन्हें धमकाते हैं, मारते-पीटते हैं, उनकी कमाई के रुपये उनसे छीन लेते हैं, और उनकी वेश्यावृत्ति अधिक ज़ोरों से चलती रहे और अधिकाधिक अर्थ प्राप्ति होती रहे इस हेतु से नित नयी कामक्रीडाएँ आज़माने को उन्हें मजबूर करते हैं । गणिकाएँ यह सब चुपचाप सहन कर लेती हैं, इतना ही नहीं बल्कि सप्ताह में दो एक बार ये गुंडे अगर उन्हें मारें पीटें नहीं, तो उन्हें ऐसा महसूस होने लगता है कि उनके प्रति उनके प्रेमियों का प्रेम शायद कुछ कम हो गया है !

इसे क्या स्त्री-स्वभाव का सामान्य लक्षण माना जाय ? संसार के सभ्य या असभ्य, किसी भी प्रदेश में कोई भी स्त्री क्या पुरुष की धौल-धप्पड़ खाये बिना बची होगी ? यह तो सभी जानते हैं कि पौरुष का प्रदर्शन स्त्री को अत्यंत प्रिय होता है । सह्य आत्मपीडन या प्रहारप्रियता को कामशास्त्र के विद्वानों ने भी कामोद्दीपन का एक स्त्री सहज उपचार माना है । आत्मपीडन का यह तत्व स्त्रियों में, और कभी कभी पुरुषों में भी इतना विकसित हो उठता है कि थोड़ी बहुत पीड़ा का अनुभव हुए बिना उनकी कामवृत्ति जागृत ही नहीं होती । कामविज्ञान के विद्वानों द्वारा आत्मपीडन या प्रहारप्रियता (Masochism) की इस वृत्ति का शास्त्रीय विवेचन भी हो चुका है ।

गणिकावृत्ति के अध्ययन में एक विचित्रता बार बार हमारा ध्यान खींचती है कि एक ओर यदि एक पति और एक पत्नी का बंधन लगानेवाला विवाह संबंध अपनी एकतानता से स्त्री पुरुष को ऊबा देता है, तो दूसरी ओर, अगणित पुरुषों के संसर्ग का अनुभव करने वाली गणिका क्षणिक आनंद का आदान प्रदान करनेवाले देह संबंधों से ऊब कर किसी एकनिष्ठ और अनुरक्त प्रेमी की कामना करती है । इस प्रकार के प्रणय संबंध के लिए बचपन या यौवन का प्रेम आवश्यक नहीं है । यौवन का कोई प्रेम संबंध हो या न हो, इसकी परवाह किए बिना, अपने धंधे में गहरी डूबी हुई गणिकाएँ भी किसी मनपसंद गुंडे, दलाल या संरक्षक को अपने वैयक्तिक प्रेमी का स्थान देकर उसके वश में रहने में ही अपने जीवन की धन्यता समझती हैं ।

'स्त्री को किसी भी हालत में स्वतंत्र नहीं रखना चाहिये', हिंदू स्मृतियों के इस विधान से संस्कारी महिलाएँ और स्त्री-स्वातंत्र्य के हिमायती अकसर नाराज़ रहते हैं । इसे पुरुष स्मृतिकारों का पक्षपात और नारीजाति के प्रति अन्याय मानकर पुरुष श्रेष्ठता के समर्थन के लिए उनकी निंदा की जाती है । परंतु गणिकाओं और उनके संरक्षकों के आपसी संबंध में स्त्री की प्रहारप्रियता और पारतंत्र्यप्रियता का विचित्र तत्व इस मान्यता का एक नया ही पहलू उपस्थित करता है । गणिका नीति के बंधनों से पर स्वैरिणी स्त्री



है । समाज द्वारा स्वीकृत मर्यादाओं को भंग करने वाली यह स्वेच्छाचारिणी नारी चाहे तो समाज का प्रतिष्ठा और सुरुचिभावना को पैरों तले रौंद सकती है । आर्थिक दृष्टि से भी वह आत्मनिर्भर होती है । जो आर्थिक कठिनाइयाँ सभ्य समाज की प्रतिष्ठित स्त्रियों को पराधीन रख कर कदम कदम पर उनकी मुक्ति का रास्ता रोकती हैं, उनसे भी वह अधिकांश में मुक्त होती हैं । स्त्री के आर्थिक बंधनों को तोड़ने के लिए गणिका द्वारा स्वीकृत मार्ग प्रतिष्ठित न होने पर भी अत्यंत सफल प्रमाणित हुआ है । बच्चा के पालन-पोषण या सामाजिक व्यवहार की अन्य जिम्मेदारियों से भी वह मुक्त रहती है । किसी भी दृष्टि से देखें, स्त्री जाति के लिए गणिकावस्था की अपेक्षा अधिक स्वातंत्र्य की कल्पना और किसी अवस्था में नहीं की जा सकती । कानून भी उस पर बहुत अधिक बंधन नहीं लगा सकता । तो फिर, हृदयहीन मानी जानेवाली यह नारी, इतनी स्वतंत्र होने पर भी और आर्थिक या सामाजिक बंधनों से सर्वथा मुक्त होने पर भी किसी पुरुष की भावविवश ताबेदारी और स्नेहमयी परवशता के लिए क्यों तरसती है, और किसी पतिव्रता अबला की तरह सदा पुरुष के अवलंबन की कामना करती हुई किसी निष्ठुर गुंडे की सेविका बनकर रहना क्यों पसंद करती है, यह प्रश्न समाजशास्त्रियों को गहरी दुविधा में डालता आया है और स्त्री जाति के प्रति पुरुष के तथा कथित अत्याचारों की अधिक उदारतामरी और शास्त्रीय विवेचना की जाने की अपेक्षा रखता है ।

गुंडे, रक्षक या दलाल अपनी नम्रता या उदारता के लिए प्रसिद्ध नहीं होते । उनकी कठोरता आरंभ में गणिकाओं को प्रिय भले ही लगती हो, बाद में उनका स्वार्थी बर्ताव असह्य हो उठता है । फिर भी, अपनी बची खुची मनुष्यता और थोड़ा बहुत स्नेह अपनी प्रिय गणिका के प्रति व्यक्त करने का वे प्रयत्न ही नहीं करते, यह नहीं कहा जा सकता । सुरक्षा और आश्रय चाहनेवाली गणिकाओं का गणिकालय के मालिकों, कुट्टनियों और ग्राहकों से परिचय ये ही लोग कराते हैं । कानून के चंगुल से, अन्य गुंडों के अत्याचार से और बदतहज़ीब ग्राहकों के दुर्व्यवहार से गणिकाओं की रक्षा करने में ये लोग अपनी जान तक लड़ा देते हैं । बीमारी की हालत में अपनी प्रिय गणिका की सेवाचाकरी करने की सहृदयता भी इनमें देखी जाती है । "मैं गणिका हूं" यह कह देने से या इसकी घोषणा मात्र कर देने से किसी गणिका को ग्राहक नहीं मिल जाते और उसके व्यवसाय का आरंभ नहीं हो जाता । अन्य व्यवसायों की तरह यह धंधा भी कुछ वैयक्तिक योग्यता, थोड़ा बहुत विज्ञापन, अनुकूल स्थान, अविचल धैर्य और थोड़ी बहुत पूंजी की अपेक्षा रखता है । इस आवश्यक उपादानों की योजना ये दलाल ही करते हैं । इसके उपरांत, आरंभ में कुछ दिनों तक गणिका की मन को परेशान और अस्वस्थ कर देने वाली दिनचर्या के दरमियान, और बाद में देह विक्रय के अत्यंत नीरस और एकतानता भरे धंधे के दिनों में ये दलाल ही अपने निकट सहचार के द्वारा गणिकाओं के जीवन के एकाकी पन को कुछ हलका करते हैं । इतना ही नहीं, धन की शक्ति से खरीदे, बेचे, और किराये पर दिये जा सकने वाले संबंधों की इस दुनिया में कोई अपना भी है, ऐसा संतोष गणिकाओं को इन्हीं के सहवास में मिलता है । धीरे धीरे ये गुंडे इन दुखियारी स्त्रियों के अंतरंग मित्र, घनिष्ठ संबंधी और सुखदुख के साथी बन जाते हैं । अपने प्रेम के एक मात्र अधिकारी इन पुरुषों के बिना गणिकाओं का काम चलना ही मुश्किल हो जाता है, मानो उनका संबंध प्रतिष्ठित समाज के अनन्यनिष्ठ पति पत्नी के जीवन की प्रतिकृति हो ! वेश्यावृत्ति की इस घृणित, कलुषित और अँधेरी दुनिया में गणिका और उसके रक्षक के आपसी संबंध सचमुच ही प्रकाश की एक सुनहरी किरण झलका जाते हैं ।

केवल परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो गणिकालय का मालिक, गृहरक्षिका कुट्टनी, दलाल और उपरोक्त प्रकार के रक्षक या साथी, सभी गणिकाओं से गुलामी करवाने में ही सहायक होते हैं । यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि गणिकाओं के रक्षक उन्हें बंदीगृह में रखते हैं, फिर भी, समय व्यतीत होने के साथ वे इन गुंडों पर इस हद तक आधार रखने लगती हैं कि संपूर्ण रूप से उनकी वशवर्तिनी होकर रहने के सिवा और कोई मार्ग ही इन स्त्रियों के लिए नहीं बचता । गणिकाओं का यह इक तरफा प्रेम इन गुंडों के हक में कितना उपयोगी हो सकता है, यह वे जानते हैं; और इसीलिए उसे बनाये रखने के प्रयत्न भी वे करते रहते हैं । अंत में गणिका खुद ही एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाती है कि उसे उसके व्यवसाय से

मुक्त होने की सुविधा दी जाय, तो भी वह अपना देश पेशा छोड़ना नहीं चाहती । इन गणिकाओं का प्रेम इतना शुद्ध और निश्छल होता है कि अपनी पूरी की पूरी कमाई इन संरक्षकों को दे देने में उन्हें जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती और स्वहित का विचार भी उनके मन में नहीं आता । स्त्रीमानस की इस विशिष्टता की जानकारी के आधार पर ही असंख्य पुरुष इन गणिकाओं की कमाई से जीवनयापन करते रहते हैं । बात यहाँ तक बढ़ती है कि अपने इन प्रेमियों की खातिर अगर इन स्त्रियों को विदेश जाना पड़े तो भी वे राजीखुशी से तैयार हो जाती हैं और हजारों मील दूर के अजनबी प्रदेशों में देह विक्रय करके अपनी कमाई का अधिकांश इन गुंडों को भेजती रहती हैं । इन भाग्यवान लोगों के प्रति इन स्त्रियों को इतना अधिक प्यार होता है कि वे नवाबी ठाठ से रह सकें इतना रुपया वे उन्हें देती रहती हैं और प्रेम की इस अंधी शक्ति पर भरोसा रख कर बिना किसी शर्म या संकोच के, ये लोग इस कमाई से निर्वाह किये जाते हैं । इतना ही नहीं, कभी कभी तो ये परभृत पुरुष इसे अपना अधिकार मानने लगते हैं, और गणिकाएँ उनके इस दावे को मान्य भी कर लेती हैं ।

इसका एक उदाहरण ल । फ्रेनी नामक एक गणिका का प्रेमी बड़ा कुप्रसिद्ध गुंडा था । किसी कारण से फ्रेनी कानून के चंगुल में फंस गई और उसे पाँच महीने की सज़ा हुई । उसके संरक्षक गुंडे ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील करके उसे छुड़वा लिया । इस काम में, उसके कहे अनुसार, उसके पाँच सौ डॉलर खर्च हुए । पुलिस की कठोर निगरानी होने के कारण फ्रेनी को वह शहर छोड़ देना पड़ा और वह किसी अन्य शहर में जाकर गणिकावृत्ति क[illegible] अपना छुटकारा कराने वा[illegible] के प्रति उसके [illegible] प्यार और अहसान की ऐसी तीव्र भावना जागृत हुई कि वह वहाँ से हर महीने डेढ़ सौ डॉलर उसे भेजने लगी । परंतु उसका रक्षक हमेशा यही शिकायत करता रहता था कि वह सप्ताह में सैंकड़ों डॉलर कमाती है, पर उसे सिर्फ मासिक डेढ़ सौ डॉलर जैसी नगण्य रकम भेजती है । फ्रेनी को छुड़वाने में उसके प्रेमी ने सचमुच ही पाँच सौ डॉलर खर्च किए हों, तो भी उसके अहसान का बोझ तीन चार महीनों में उतर गया होगा; जब कि डेढ़ सौ डॉलर की मासिक प्राप्ति तो उसे लंबे समय तक होती रही थी । फिर यह शिकायत किस लिए ? अधिक रकम प्राप्त करने के अधिकार का आग्रह किस लिए ? आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी हालत में अधिकांश गणिकाएँ अपने प्रमियों का यह अधिकार मान्य रखती हैं और उनके दुराग्रह के अनुसार बर्ताव करने को राज़ी हो जाती हैं । गणिकावृत्ति में से वैयक्तिक आनंदोपभोग का तत्व पूर्णत: नष्ट हो जाने के बाद भी केवल अपने प्रेमी को सुखी रखने के उद्देश्य से इस पतित व्यवसाय को चलता रखने वाली गणिका क्या पंक में जन्म लेने वाले पंकज की याद नहीं दिलाती ? विचित्र और अयोग्य दिखाई देने पर भी उसका स्वार्थ त्याग क्या उच्च कोटि का और काव्य का विषय होने के योग्य दिखाई नहीं देता ? गणिका के पेशे से किस किस का किस प्रकार निर्वाह होता है, इसका यह उत्तम उदाहरण है ।

३

गणिका खुद

गणिका के इर्द गिर्द रचे जाने वाले आर्थिक जाल को हम ज़रा और बारीकी से देख लें । अब तक के विवेचन से यह व्याख्या स्थापित होती है कि जो स्त्री अपने वैयक्तिक आर्थिक लाभ के लिए किसी रक्षक, दलाल या गुंडे के मार्गदर्शन में देह विक्रय द्वारा धन कमाती है, उसे वेश्या कहा जाता है । गणिकाओं की संख्या का अंदाज़ा भी हम लगा चुके हैं । इस विष्य के विद्वानों की राय है कि न्यूयॉर्क या शिकागो जैसे एक एक शहर में पचीस हजार से एक लाख तक स्त्रियाँ गणिकावृत्ति से जीवननिर्वाह करती हैं । समाज के किन विभिन्न स्तरों से ये स्त्रियाँ आती हैं, यह भी हम देख चुके हैं । अधिकांश में ये स्त्रियाँ अज्ञानी, अनुभवहीन, विलासप्रिय, दुर्बल मानसवाली, मिथ्याभिमानी और साहसिक होती हैं, जो अपने स्वाभाविक झुकाव के कारण या किसी पुरुष के छलफरेब में फँस कर इस मार्ग पर प्रवृत्त होती है ।

हम यह भी देख चुके हैं कि ये स्त्रियाँ गणिकावृत्ति स्वीकृत करने का एक ही कारण नहीं गिनातीं । पारिवारिक या विवाहित जीवन की अनवस्थाएँ, आनंद प्रमोद का अत्याधिक शौक, और आर्थिक कठिनाई इसके तीन प्रमुख कारण माने जाते हैं । माता पिता द्वारा होने वाली उपेक्षा, बालकों की अवस्था के प्रतिकूल कामों में उनका उपयोग, अभिभावकों का अत्यंत कठोर स्वभाव, बाल और युवा मानस को समझ सकने की बुजुर्गों की अक्षमता, आदि तत्व भी पारिवारिक कठिनाई के अंतर्गत आते हैं । घर में कदम कदम पर दारिद्र्य के दर्शन होते हों, और सच्चे परिवार के अन्य लोगों को रात दिन विभिन्न अनाचारों में जुटे हुए देखते हों, तो उनका स्वाभाविक झुकाव गणिकावृत्ति की ओर ही होगा । विवाहित जीवन में पति का निर्दय व्यवहार, स्वभाव की असमानता, परिवार का पालन पोषण करने की अक्षमता, और पत्नी या बच्चों को निराधार छोड़ देने की लापरवाही आदि कारण भी जीवन को दूभर बना देते हैं । इस विषाक्त वातावरण से छूटने के लिए भी स्त्री को गणिकावृत्ति का सहारा लेना पड़ता है । कभी कभी पति खुद ही पत्नी को गणिकावृत्ति करने की प्रेरणा देता है । इसके मूल में अकसर आर्थिक कठिनाई या उत्तरदायित्व की भावना का संपूर्ण अभाव आदि कारण होते हैं । इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखे गये हैं । स्त्री की क्षणिक से क्षणिक कमज़ोरी, उसकी छोटी से छोटी भूल, इस भूल की जिम्मेदारी अपने सिर लेने की पुरुष की अनिच्छा, भोग विलास की दुर्दम्य इच्छा, शीघ्रता से बहुत सा धन कमा लेने की लालसा, और सुंदर वस्त्रालंकार आसानी से प्राप्त कर सकने की कामना आदि अनेकविध प्रेरक शक्तियाँ स्त्री को गणिकालय की ओर ही प्रेरित करती हैं ।

अनेक बार नीरस और एकांत जीवन भी स्त्रियों के मन में गणिकावृत्ति की तड़क भड़क के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है । अपनी पत्नियों को पर्याप्त समय या साथ न देने वाले पतियों को यह संभावना ध्यान में रखनी चाहिये । कामकाज के बहाने पत्नी को सदा अकेली रखने वाला पति उसे गणिकावृत्ति में प्रेरित करने के दोष का भागी हो सकता है । कभी कभी कच्ची उम्र की भावनाशील युवतियों के मार्ग में जानबूझ कर प्रलोभन खड़े किए जाते हैं । प्रतिष्ठित माने जाने वाले सभी व्यवसायों में आजकल स्त्रियों को नौकरी में रखने का रिवाज़ बढ़ता जा रहा है । टाइपिस्ट या टेलीफोन पर काम करने वाली लड़कियाँ और बड़ी बड़ी दूकानों या दफ्तरों में विविध पदों पर नियुक्त युवतियाँ आसानी से इन प्रलोभनों की लपेट में आ जाती हैं । इन युवतियों को दफतरों के मालिक, व्यवस्थापक या अन्य बड़े अफसर होटलों में दावतें देते हैं, उन्हें नाटक सिनेमा दिखाने ले जाते हैं, किसी न किसी बहाने उन्हें बहुमूल्य भेंट सौगात देते रहते हैं और अन्य अनेक प्रकारों से अपने प्रेम का प्रदर्शन करते रहते हैं । पुरुष मित्रों या पुरुष अफसरों द्वारा मातहत युवतियों की अत्यधिक पूछताछ या आवभगत की जाती हो, या उनके ऊपर दिल खोल कर रुपया खर्च किया जाता हो, तो उन्हें सावधान हो जाना चाहिये । इस उदारता की आड़ में पुरुष का एकमात्र उद्देश्य क्या होता है, यह समझने के लिए विशेष अनुभव की आवश्यकता नहीं होती; परंतु अल्हड़ युवतियाँ इसके मर्म तो ताड़ नहीं सकतीं और शीघ्र ही गणिकावृत्ति के इस अत्यंत सूक्ष्म प्रकार में आकंठ डूब जाती हैं । यौवनमद से माती इन युवतियों को प्रलोभन का यह रूप अत्यंत आकर्षक दिखाई देता है, क्योंकि दूकानों या दफतरों के नीरस और परिश्रम भरे काम से जितना आनंद और वेतन उन्हें मिलता है उससे कई गुने सुख और धन की प्राप्ति इस जरिये से हो सकती है ।

गणिकाएँ सामान्यतः दस वर्ष तक ही अपना पेशा ठीक तरह से कर सकती हैं । वैसे तो पचास वर्ष की उम्र तक वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों के उदाहरण मिल सकते हैं, परंतु अधिकांश गणिकाओं का समावेश पंद्रह से पैंतीस वर्ष की आयु के वर्ग में होता है । इस उम्र के बाद अधिकांश गणिकाएँ रोग का शिकार हो जाती हैं । कुछ की रोगों से ही मृत्यु हो जाती है । कुछ भाग्यवान गणिकाएँ मौका देख कर पेशा करना छोड़ देती हैं और विवाह भी कर लेती हैं । परंतु इनकी संख्या अत्यंत कम होती है । अकसर तो

स्वेच्छाचार और व्यसन के अतिरेक स उनके शरीर जर्जर और निरर्थक हो जाते हैं । निरंकुश भोग विलास या अमर्याद व्यसन में डूबे रहने पर तो किसी वज्रदेही का शरीर भी दयनीय अस्थिपंजर मात्र रह जाता है । तो फिर स्वेच्छाचार और व्यसन का व्यवसाय लेकर बैठने वाली नारियाँ इस नियम का अपवाद कैसे हो सकती हैं ? गणिकाओं के जीवन का अंजाम अकसर एक करुण शोकांतिका में ही होता है । रोग, कुरूपता, निराश्रयता, भयानक आर्थिक कठिनाई और मरूदित मृत्यु ही इस करुण नाटक के अंतिम दृश्य होते हैं ।

४

गणिका के ग्राहक

अब गणिकावृत्ति के प्रमुख पोषक तत्व, ग्राहक को भी थोड़ा बहुत समझने का प्रयत्न करें । इन ग्राहकों की मांग के कारण ही गणिकावृत्ति जन्म लेती है । इस दृष्टि से देखा जाय तो गणिका के बाद ग्राहक ही गणिकाजीवन का दूसरा मुख्य पहलू है । यह हम देख चुके हैं कि गणिकाओं की ऊँची नीची कई श्रेणियाँ होती हैं । इस विभाजन की गहराई में उतरने पर मालूम देता है कि गणिका के ग्राहक भी समाज के उच्च से उच्च स्तर से लगा कर नीचे से नीचे स्तर में मिलते हैं । गाड़ीवान, मज़दूर, सैनिक, नाविक आदि का समावेश कम पैसा खर्च कर सकने वाले वर्ग में होता है । वासना का शमन कर सकने वाली किसी भी स्त्री से इनका काम चल जाता है । इस वर्ग की मांग पूरी करने के लिए निर्लज्जता का खुला प्रदर्शन करनेवाली निम्नकोटि की गणिकाएँ बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं । मध्यम वर्ग की स्थिति के अनुरूप मध्यम श्रेणी की गणिकाएँ भी होती हैं जो उपरोक्त निम्नवर्ग की वेश्याओं की तरह निर्लज्जता के अंतिम सोपान पर पहुँची हुई नहीं होतीं । क्लर्कों, छोटे मोटे व्यापारियों, साधारण स्थिति के मुसाफिरों और नौजवान विद्यार्थियों की आवश्यकता इसी श्रेणी की गणिकाओं से पूरी होती है । इनका मूल्य भी मध्यम श्रेणी के साधारण लोगों के बूते से बाहर नहीं होता । इनके व्यसन और बेहयाई की भी सीमा होती है और इनके चारों ओर अपराध का वातावरण उतना घना नहीं होता । पर्याप्त धन खर्च कर सकने वाले नफासत पसंद रसिकों और शौकीन तबीयत वाले रईसों को सब से उच्च श्रेणी की गणिकाएँ प्राप्त हो सकती हैं । इन वारांगनाओं में अकसर उच्च कोटि की कलाप्रियता और संस्कार की झलक देखने में आती है । इस प्रकार, आर्थिक या सांस्कारिक दृष्टि से उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ श्रेणी के पुरुषों के लिए गणिकाएँ भी तीनों श्रेणी की मिल सकती हैं ।



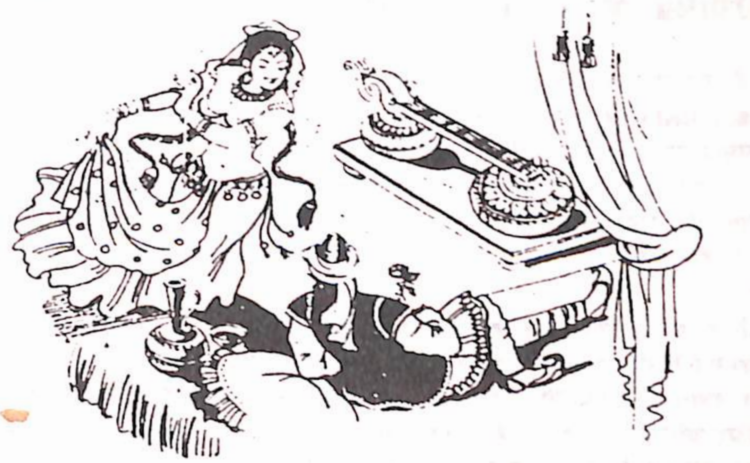
कोई शिक्षक या क्लर्क उसके बाह्य रंगरूप के कारण ही गणिकागमन से परे होना चाहिये यह मान्यता भ्रांत हो सकती है । हो सकता है कि उसकी साधारण स्थिति के अनुरूप कोई साधारण गणिका उसकी मांग पूरी करती रही हो । किसी भी बड़े शहर में रहने वाले प्रतिष्ठित वकीलों, डाक्टरों, अफसरों और नेताओं के संबंध में प्रचलित किंवदन्तियाँ आपने सुनी हैं ? बाह्य दृष्टि से केवल परनिंदा दिखाई देने वाली इन कानाफूसियों में अकसर सत्य का बहुत अधिक अंश होता है । अत: निम्नवर्गों के स्पष्ट और खुले गणिकागमन से अधिक दुखी या आश्चर्यान्वित होने की आवश्यकता नहीं । फर्क सिर्फ इतना ही है कि निम्नवर्गों के पुरुष अपने अनाचार को छिपाने की विशेष परवाह किये बिना वेश्यागमन करते हैं और समाज के निम्नतम वर्गों में वेश्यावृत्ति का प्रदर्शन अत्यंत निर्लज्जता से होता है ।





स्वभावत: सभी पुरुष गणिकाप्रेमी होते हैं, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण दिखाई दे सकता है । इसे प्रमाणित करना तो और भी मुश्किल है । परंतु कोई पुरुष धर्म, संस्कार, सभ्यता, शिष्टता और सामाजिकता की सभी शर्तें पूरी करता हो, तो वह गणिकागामी हो ही नहीं सकता, यह कहना वास्तविकता पर आधारित नहीं होगा । बाह्य रूप से सभ्य दिखाई देने वाले उस पुरुष का किसी धर्मस्थान या सांस्कृतिक सभा से संबंधित स्त्री के साथ गुप्त संबंध हो, यह असंभव नहीं है । समाज के अग्रणी जनता के नेता और संस्कृति के संरक्षक हमारी श्रद्धा और सम्मान के पात्र हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु वे अग्रणी या नेता हैं केवल इसीलिए मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताओं से परे और मोहमाया से विरक्त होंगे, ऐसा मानकर हम अकसर बहुत बड़ा धोखा खाते हैं । स्वभाव से गरीब और सीधा साधा दिखाई देनेवाला

निम्नकोटि के वेश्यालयों में वेश्यावृत्ति किस हीन स्तर पर चलती है, इसका एक ही उदाहरण



पर्याप्त होगा । अमरीका की एक समाजशास्त्रीय जाँच में निम्नलिखित वर्णन मिलता है: —''गणिका के कमरे के बाहर वाली बैठक में लकड़ी की एक लंबी बेन्च डाल रखी थी । धंधा बहुत ज़ोरों से चल रहा था । गणिकालय को प्रोत्साहन देने वाले शौकीनों की कोई कमी नहीं थी । बेन्च पर कई लोग अत्यंत सट कर बैठे थे । जिन्हें बैठने की जगह नहीं मिल सकी थी, वे कमरे की दीवारों के सहारे खड़े हुए अपनी बारी आने की राह देख रहे थे । बैठक और गणिका के कमरे के बीच में एक छोटी सी सीढ़ी थी जिसके ऊपर वाले सिरे पर एक आदमी खड़ा था । कमरे में से एक एक ग्राहक संतुष्ट होकर बाहर निकलते ही, यह आदमी चिल्ला कर पुकारता था, 'चलो, अब किसकी बारी है ।' तुरंत ही बेन्च पर पहले क्रम पर बैठा हुआ मनुष्य सीढ़ियाँ चढ़ कर अंदर चला जाता था । बेन्च पर उसकी जगह खाली होते ही बाद के लोग आगे सरकते जाते थे और खड़े हुए लोगों में से कोई अंतिम स्थान पर बैठ जाता था । रेल या सिनेमा के टिकटघर के आगे कतार लगाने वालों को जिस तरह क्रम से टिकट मिलता है, उसी प्रकार ये लोग भी बारी बारी से कमरे के भीतर जा कर खर्च की हुई रकम का बदला वसूल कर के बाहर निकल रहे थे ।''

इन घृणित स्थानों में एक एक गणिका को रोज़ाना कितने पुरुषों को संतुष्ट करना पड़ता होगा, इसका अंदाज़ा लगाना मुश्किल है । जानकारों की राय है कि हर गणिका को कम से कम दस-पंद्रह पुरुषों को तो संतुष्ट करना ही पड़ता है । बड़े शहरों में अगर इस श्रेणी की पाँच हजार गणिकाएँ भी होती हों, तो रोज़ाना पचास से पचहत्तर हजार पुरुषों का वेश्यागमन सिद्ध होता है । शनिवार-रविवार या त्यौहार के दिन तो ग्राहकों की संख्या और भी बढ़ जाती है । छुट्टी के इन दिनों में इर्दगिर्द के गाँवों से शहर में घूमने-फिरने या नाटक-सिनेमा देखने के लिए आने वाले शौकीनों की संख्या बहुत अधिक होती है । गणिकाओं को प्रोत्साहन देकर गणिकावृत्ति को जीवित रखने वाले और उनके संसर्ग से भयानक रोग प्राप्त करके अपने घर, परिवार और समाज में उनका प्रसार करनेवाले इन पुरुषों की बेशुमार संख्या इस प्रश्न की गंभीरता और भयावहता का स्पष्ट निर्देश करती हैं । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गणिका की अपेक्षा गणिकागामी पुरुष कहीं अधिक खतरनाक है । इस समस्या का यह पहलू भी विचारणीय है कि दोष के सच्चे भागी ये पुरुष अप्रतिष्ठित मानी जाने वाली गणिकाओं का उपभोग करके तुरंत ही शिष्ट समाज में जा मिलते हैं और अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं । कैसी विचित्र बात है कि इस सारे व्यवहार में अप्रतिष्ठा या दोष की भागी गणिका ही मानी जाती है; गणिकागामी पुरुष नहीं ।

५

गणिका के चारों ओर लगने वाले धन के ढेर

साथ ही गणिकाओं को होने वाली धनप्राप्ति का भी हम विचार कर लें । यह हम देख चुके हैं कि **गणिकावृत्ति का विकास नगर संस्कृति में ही होता है । अतः विभिन्न नगरों में बसने वाले मानव समुदाय** की आर्थिक समृद्धि पर ही वहाँ की गणिकाओं की आय आधारित रहती है । हम यह भी देख चुके हैं कि गणिकाओं को आय तो पर्याप्त होती है, परंतु उसमें का एक पैसा भी गणिकालयों के मालिकों की नज़र से बाहर नहीं रहता और गणिकाओं को अपनी आमदनी की पाई पाई का ही नहीं, मिली हुई भेंट-सौगातों का हिसाब भी संचालकों को देना पड़ता है । अब हम विभिन्न प्रकार के वेश्यालयों की आर्थिक योजना पर विचार करेंगे ।

कुछ गणिकालयों में निश्चित की हुई रकम प्रवेश शुल्क के रूप में ही वसूल कर ली जाती है और ग्राहक भीतर जा कर किसी एक गणिका को चुन लेता है । इन स्थानों में प्रत्येक गणिका के नाम का एक कार्ड होता है । **ग्राहकों की संख्या गिनने के बजाय, प्रत्येक गणिका के पास जितने ग्राहक आये हों, उतने** छिद्र इस कार्ड पर अंकित कर दिये जाते हैं । हिसाब करते समय गृहमालिक या व्यवस्थापक इन छिद्रों की संख्या गिन कर ग्राहकों से मिली हुई रकम का हिसाब लगा लेता है । एक बार पश्चिम के किसी शहर में इस प्रकार के एक वेश्यालय की जाँच की गई । जौलाई का महीना था । गरमी सख्त पड़ रही थी । गृह की सब गणिकाओं के कार्डों पर ग्राहकों की संख्या गिनी गई, तो जोड़ २६४ हुआ । बस्टर नामक गणिका के कार्ड पर तीस, बेबी के कार्ड पर सत्ताइस, शारलॉट की परची पर तेईस और डॉली की परची पर बीस, इस प्रकार सोलह गणिकाओं के ग्राहकों का जोड़ २६४ हुआ । इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक गणिका को एक रात में कितने पुरुषों को संतुष्ट करना पड़ा था । यह मकान 'डॉलर-हाउस' के नाम से प्रसिद्ध था । अर्थात, इसमें प्रवेश करने वाले प्रत्येक पुरुष को एक डॉलर प्रवेश करते समय ही देना पड़ता था । उस रात में बस्टर को ३०, बेबी को २७, शारलॉट को २३, डॉली को २०, इन को १६, मिनी को १५, डॉरोथी को ११, इस प्रकार सोलह गणिकाओं को २६४ डॉलर की प्राप्ति हुई । प्रति गणिका औसत आमदनी साढ़े सोलह डॉलर हुई । इस में की आधी रकम गणिकाओं में और आधी गणिकालय के मालिक और व्यवस्थापकों में बाँट दी गई । प्रत्येक गणिका के हिस्से में से डेढ़ डॉलर भोजनखर्च के हिसाब में काट लिया गया । पंद्रह-सोलह गणिकाओं वाले इस गृह में इस प्रकार एक दिन में ढाई सौ से अधिक डॉलर की प्राप्ति हुई । यह वेश्यालय विशेष उच्च कक्षा का नहीं था । उच्च कोटि के गृहों में तो इससे अनेक गुना पैसा बरसता है ।

इस जाँच के दरमियान एक डॉलर प्रवेशशुल्क लेने वाले तीस गणिकालयों का हिसाब देखा गया । प्रतिमास इन तीस आवासों की एकत्रित आय ८१,७२७ डॉलर हुई थी । इसमें से १९,६५५ डॉलर गृहसंचालन में खर्च हुए । इस खर्च में ३० कुट्टनियाँ, ८७ नौकरानियाँ और २४ संरक्षक गुंडों के वेतन एवं यह सारा धन कमा कर देने वाली ४३२ गणिकाओं के भोजन का खर्च शामिल था । बाकी आय गणिकाओं और इन गृहों के ६५ मालिकों के बीच बाँट दी गई । गणिका-समागम के लिए पाँच डॉलर शुल्क लेने वाले आठ उच्च कक्षा के वेश्यालयों की आर्थिक परिस्थिति की जाँच से मालूम हुआ कि इन गृहों में १०० गणिकाएँ और १५ कुट्टनियाँ रहती थीं । इन गृहों का संचालन-व्यय सात हजार डॉलर था और इनकी मासिक आय १८,४०० डॉलर थी । यह आर्थिक व्यवहार, और कुछ नहीं तो हमारी समाज रचना **में गणिकावृत्ति आर्थिक दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, इसका स्पष्ट निर्देश करता है । सामान्य** तौर पर जिसकी कल्पना भी न की जा सके, इतना लंबा-चौड़ा आर्थिक देन-लेन इस व्यवसाय में होता रहता है ।

उपरोक्त तीस 'डॉलर हाउस' वेश्यालयों के आर्थिक व्यवहार का कुछ गहराई से विवेचन करें । बड़े शहरों के लिए तीस गृहों की संख्या अत्यंत कम मानी जाती है । इतने गणिकालय तो औसत दर्जे के शहरों में भी होते हैं । इन तीस गृहों में ही साल भर में करीब दस लाख डॉलर की आमदनी हुई । कुछ रकम भूल चूक के लिए काट दें, तो भी नौ लाख की आय तो निश्चित रूप से हुई । यह रकम गणिकाओं और मालिकों में आधी आधी विभाजित होती है, यह मान कर चलें, तो प्रत्येक विभाग को वार्षिक साढ़े चार लाख डॉलर की आमदनी हुई । गृह संचालन का पूरा खर्च हुआ सवा दो लाख डॉलर । इसका आधा भाग यदि मालिकों के मुनाफे में से काट दें, तो भी तीस गृहों के मालिकों के हिस्से में वार्षिक तीन लाख से कुछ अधिक डॉलर की शुद्ध आय बचती है । परन्तु हम देख चुके हैं कि संचालन का पूरा खर्च तो किसी न किसी रूप में गणिकाओं के सिर ही मढ़ दिया जाता है । इस हालत में मालिकों की कमाई साढ़े चार लाख डॉलर ही माननी चाहिये ।

फिर हिसाब में गिनी जाने वाली इस रकम में तो उसी धन का समावेश होता है जो शुल्क के रूप में ग्राहकों से नकद मिलता है । परन्तु इस पेशे में शराब, तंबाकू, सिगरेट, अश्लील चित्र आदि कामोत्तेजन की सहायक सामग्रियों के विक्रय से भी मालिकों को अच्छी खासी रकम मिलती रहती है । कुछ उदार वृत्ति के रईस बख्शीश के रूप में भी गणिकाओं, कुट्टनियों और रक्षक गुंडों को काफी रुपया दे जाते हैं । आय के इन तमाम स्रोतों का जोड़ लगाया जाय तो इस पहेली का उत्तर मिल जाता है कि असहाय अबलाओं को फंसा कर उनके शोषण का व्यवसाय करने वाले ये विषधर व्यापारी कुछ समय में ही लाखों रुपयों की संपत्ति के मालिक कैसे बन जाते हैं ।

और यह तो सिर्फ दर्ज होने वाले उन गणिकालयों की बात हुई, जिनकी जाँच हो सकती है । परन्तु इनके अलावा, गलियों में भटक कर पेशा करने वाली वेश्याएँ, गुप्त रूप से धंधा करने वाली गणिकाएँ, और पूर्ण रूप से इस धंधे को स्वीकार न करते हुए, अन्य व्यवसाय करके फुरसत के समय देह विक्रय करने वाली आधुनिक पण्यांगनाओं के आसपास मनुष्यजाति की कितनी आर्थिक समृद्धि बरसती होगी, और इन विविध व्यवहारों में कितने रुपयों का आदान-प्रदान होता होगा, इसका हिसाब कौन लगा सकता है ? फिर, अब तक हमने केवल गणिकाओं के देह विक्रय से प्राप्त होने वाली आमदनी का ही विचार किया है । परंतु हम देख चुके हैं कि गणिकालयों के मालिक गणिका गृहों में रहने वाली स्त्रियों को गहने-कपड़े और सौंदर्यवृद्धि के विविध प्रसाधन अत्यंत महँगे दर से बेच कर भी काफी आमदनी कर लेते हैं । इस धंधे में प्रयुक्त होनेवाले मकानों को किराये पर देने या खरीदने-बेचने का व्यवहार भी आर्थिक दृष्टि से अत्यंत लाभकारी होता है । यह हम देख चुके हैं कि गणिकाओं के मोहल्ले में मामूली से मामूली मकान का मुँहमांगा किराया या मुँह मांगे दाम मिल सकते हैं ।

ग्राहकों का विचार गणिकावृत्ति के आर्थिक पहलू की ओर हमारी विचारधारा को जबरन् खींच ले जाता है । परंतु यह आर्थिक पहलू केवल गणिकाओं की कमाई और उसके विभाजन या इस पेशे से होने वाले आर्थिक लाभ के जोड़ का विचार कर लेने से ही समाप्त नहीं हो जाता । गणिकावृत्ति के कारण जन्म लेने वाले और भी कई आर्थिक अपव्ययों का विचार इसी संदर्भ में करना आवश्यक है ।



६
रोग और अर्थ व्यय

इन अन्य आर्थिक अपव्ययों में सबसे मुख्य है इस धंधे के साथ जुड़े हुए रोगों के निवारण का खर्च । गणिकावृत्ति के आर्थिक पहलुओं का विचार करते समय इस प्रश्न की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती । गणिकाओं का जहाँ भी अस्तित्व होगा, वहाँ यौन रोगों का प्रसार अवश्य होगा । यौन संबंधों की अनियमितता से जन्म लेने वाले रोग शरीर को जर्जर और निकम्मा बना देते हैं और अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को जन्म देकर पर्याप्त आय होने के बावजूद गणिकावृत्ति के आर्थिक पहलू को अस्थिर और भयावह बना देते हैं ।

यूरोप के एक शहर के तेरह अस्पतालों में मरीज़ों की जाँच की गई तो लगभग साठ प्रतिशत रोगी यौन रोगों से पीड़ित पाये गये । यह मानी हुई बात है कि रुग्णालयों में बहुत ही कम रोगी भरती हो सकते हैं, और वह भी तब, कि जब कोई अन्य उपाय ही नहीं रहता । भरती होना चाहने वाले सभी रोगियों के लिए अस्पतालों में पर्याप्त स्थान नहीं होता । फिर, इन रोगों के संपूर्ण लक्षण प्रकट होने में भी काफी समय लगता है । इस हालत में भी, जब अस्पतालों के इतने अधिक रोगियों में यौन रोगों का अस्तित्व पाया जाता हो, तो यह मानने में कोई हर्ज़ नहीं कि पूरे समाज में तो इन रोगों का फैलाव और भी अधिक होता होगा । अस्पतालों में प्रवेश न पा सकने वाले असंख्य लोग यौन रोगों से पीड़ित रहते हैं । रोगी मनुष्य सामाजिक दृष्टि से निरुपयोगी और आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक और भार रूप होता है, इसका विचार न करें, तो भी, इन लोगों की चिकित्सा आदि में पूरे समाज को कितनी आर्थिक हानि सहन करनी पड़ती होगी, इसका अंदाज़ा कौन लगा सकता है ? उपरोक्त अस्पतालों की जाँच द्वारा यौन रोगों से पीड़ित लोगों में स्त्री और पुरुष एवं विवाहित और अविवाहित रोगियों का जो प्रमाण मालूम दिया, वह भी मन को परेशान करने वाला है: —

पुरुष			स्त्री		
अविवाहित	विवाहित	विधुर	अविवाहिता	विवाहिता	विधवा
६४०	२९५०	५७	५८९	८०२	९०

रोगी पुरुषों में सबसे अधिक संख्या विवाहितों की है । स्त्रियों की भी वही हालत है । पवित्र मानी जाने वाली विवाहित अवस्था का लाभ उठाने वाले न मालूम कितने पुरुष अपनी पत्नियों को यौन रोगों की विरासत देते रहते हैं ।

उच्च और निम्न, समाज के सभी दर्जों के लोगों में ये रोग पाये जाते हैं, यह तथ्य भी विचारणीय है । इन रोगों के जरिये गणिकावृत्ति समाज की कितनी संपत्ति का शोषण करती होगी, इसका अंदाज़ लगाना भी मुश्किल है । सभी रोगी जब तक अस्पतालों में दर्ज नहीं होते, तब तक सही अंदाज़ नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अस्पतालों में स्थान न पा सकने वाले रोगियों की संख्या स्थान पा सकने वालों से कहीं अधिक होती है । फिर, इन रोगों के दुष्परिणाम केवल आर्थिक अपव्यय तक ही सीमित नहीं रहते । उनका प्रभाव और भी अनेक रूपों में फूट निकलता है । पक्षाघात (लकवा), निःसंतानता, गर्भस्राव,

विकलांग संतति, मानसिक दुर्बलता, पागलपन, अंधत्व आदि मनुष्यजाति को यन्त्रणा देने वाले अनेक अभिशाप प्राय: यौन रोगों के ही परिणाम होते हैं । ये रोग एक ही व्यक्ति पर आक्रमण करके रुक जाते, तो इतनी बुराई नहीं थी । परंतु इनका प्रभाव तो रोगी की तीसरी, चौथी पीढ़ी तक आनुवंशिक रूप से उतरता रहता है । यदि इनका कोप केवल यौन अनाचार के अपराधियों पर ही होता, तो भी कोई बुराई नहीं थी । परंतु हम देख चुके हैं कि असंख्य निरपराधी स्त्री-पुरुष भी इसकी चपेट में आ जाते हैं ।

इन सब रोगों की चिकित्सा में खर्च होने वाली रकम और इलाज न हो सकने वाले रोगियों की अनुपयोगिता के कारण समाज पर पड़ने वाला आर्थिक भार कितना अधिक होता है, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है । आरंभ में व्यापार और अंत में रोग, ये दोनों स्वरूप धारण करनेवाली गणिकावृत्ति करोड़ों नहीं बल्कि अरबों-खरबों रुपयों का आर्थिक बोझ मनुष्यजाति के ऊपर लादती है । विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखा जाय, तो भी गणिकावृत्ति मानव समाज की एक अत्यंत विषम और विषमय समस्या सिद्ध होती है, जिसमें करोड़ों, अरबों रुपयों का अपव्यय होता है । यह सही है कि अन्य व्यवसायों में भी शोषण के अनेक अनिष्ट तत्व मौजूद रहते हैं । परंतु उनमें प्रजा को उनके अर्थव्यय का थोड़ा बहुत बदला अवश्य मिलता है । इस व्यय से समाज की दो एक कदम प्रगति हुई, ऐसा संतोष भी कभी कभी मिलता है । परंतु वेश्यावृत्ति का व्यवसाय तो मनुष्यजाति की हीनतम प्रवृत्तियों का प्रतीक होने के कारण, उससे संबंधित व्यक्तियों की सर्वांगीण अधोगति ही करता है । धन के इस महाभयानक अपव्यय के बदले में मिलनेवाला आनंद क्षणिक और घातक होता है । इस व्यवसाय के अंतिम चिट्ठे में लाभ के खाते में रोग के अलावा और कुछ नहीं बचता । आगे के परिच्छेदों में जब हम देखेंगे कि इस धंधे का जाल देश-देशांतर के गणिकालयों को एक ही शृंखला में किस तरह जकड़ लेता है, तब हम समझ सकेंगे कि गणिकावृत्ति लापरवाही से निभा लेने जैसी, हँसी में उड़ा देने योग्य या उपेक्षा के काबिल मानवसुलभ दुर्बलता नहीं है; बल्कि पृथ्वी पर से मनुष्य के वंश का उच्छेद कर सकने वाली एक भयानक महामारी है ।





आठवाँ परिच्छेद
गणिकावृत्ति और यौन रोग

१.
गणिकावृत्ति का यौन रोगों से निकट संबंध

गणिकावृत्ति के साथ यौन रोग अभिन्न रूप से जुड़े हुए होने के कारण इस प्रश्न का हमें विस्तार से विचार करना होगा । गणिकासंस्था अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक आधिव्याधियों का उत्पत्तिस्थान है, यह हम देख चुके हैं । गणिकावृत्ति के साथ अत्यंत निकटता से जुड़े हुए उपदंश और प्रमेह नामक दो रोगों का यहाँ कुछ विस्तृत विवेचन करना आवश्यक है । इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों महारोगों का फैलाव यौन संबंधों की अव्यवस्था और निरंकुशता के कारण होता है । अनियमित यौन संबंधों की मांग और पूर्ति खुलेआम या छिपकर, मनुष्यजाति में परापूर्व से होती आई है । यौन संबंधों को व्यवस्था और स्थिरता प्रदान करने वाली विवाह जैसी संस्था मनुष्य समाज में अत्यंत प्राचीनकाल से विकसित होने पर भी अनियमित यौन संबंध मनुष्यजाति में सदा प्रचलित रहे हैं । लैंगिक रोग इन अनियमित संबंधों का अनिवार्य परिणाम है, यह तथ्य अब पूर्णत स्थापित हो चुका है । इन रोगों का निर्मूलन करने के प्रयत्न भी मानवजाति में हमेशा चलते रहे हैं । गणिकाओं का नियंत्रण और उनकी वैद्यक जाँच आदि उपायों का जन्म भी इन रोगों का निरोध करने के प्रयत्नों में से ही हुआ है । अधिकतर समाजशास्त्रियों के मतानुसार तो गणिकावृत्ति और उपदंश-प्रमेहादि रोग एक दूसरे के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ी हुई सामाजिक समस्याएँ हैं; परंतु सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों प्रश्नों को स्वतंत्र भी माना जा सकता है । गणिकावृत्ति पूर्णतः नष्ट हो जाने पर भी किसी न किसी रूप में इन रोगों का अस्तित्व बना रहे, यह संभव है । दूसरी ओर यह कल्पना भी की जा सकती है कि दुर्निवार्य कामवासना के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई गणिकासंस्था पूर्णतः नष्ट न होने पर भी इन दोनों रोगों पर नियंत्रण रखना संभव हो सके । वास्तव में गणिकावृत्ति अनियमित यौन संबंधों का ही एक प्रकार है । अतः यह कहना ही अधिक तर्क संगत मालूम देता है कि जब तक अनियमित यौन संबंध चलते रहेंगे तब तक उनसे उत्पन्न होने वाले रोगों का अस्तित्व भी रहेगा ही ।

२
उपदंश और उसका इतिहास

इन रोगों को पश्चिम में वॅनीरियल रोगों के नाम से पहचाना जाता है । यूनान की सौंदर्य देवी वीनस पूरे पाश्चात्य जगत् में प्रेम और सौंदर्य की इष्टदेवी मानी जाती है । वीनस से संबंध रखने वाली हर वस्तु के लिए 'वॅनीरियल' विशेषण प्रयुक्त होता है । प्रेम और सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी के नाम के साथ इन भयानक रोगों का संबंध जोड़ा जाना कुछ अजीब मालूम दे सकता है; परंतु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । अपने यहाँ भी चेचक और उस वर्ग के रोगसमूह को माता या शीतला के नाम से ही पहचाना जाता

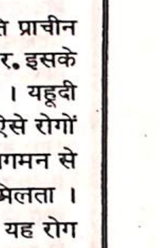
है । और कई रोगों के भी ऐतिहासिक या पौराणिक नाम प्रचलित हैं । इन रोगों को 'वॅनीरियल' विशेषण दे कर देवी वीनस का अपमान करना कहाँ तक उचित है, ऐसा एक साहित्यिक विवाद सन् १९३० में पश्चिम के देशों में खड़ा हुआ था ।

पश्चिम में उपदंश के लिए 'सिफिलिस' नाम प्रचलित है । हमारे देश में भी अब इस रोग के लिए यह पाश्चात्य नाम ही स्वीकृत हो गया है । इस शब्द का इतिहास भी कुतूहलजनक है । फ्रॅकास्टोरस नामक सुविख्यात चिकित्सक, तत्वज्ञ और कवि इस शब्द का जन्मदाता है । कॉपरनीकस नामक सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् का यह समकालीन था और उसी के साथ का पढ़ा हुआ था । उसने लेटिन भाषा में एक कविता लिखी जिसमें उपदंश के लक्षणों का वर्णन इतनी वास्तविकता से किया गया है कि आज तक उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी । कविता में वर्णन आता है कि 'सिफिलिस' नामक एक गड़रिया था । वह किसी राजा के पशुओं को चराया करता था । एक बार भयानक अकाल पड़ा, और उसके मवेशी एक एक करके मरने लगे । 'सिफिलिस' ने चिड़चिड़ा कर सूर्यदेव को गालियाँ दीं, जिससे क्रोधित होकर सूर्यदेव ने उसे भयानक रोग से ग्रसित होने का शाप दिया । फलस्वरूप 'सिफिलिस' को जो रोग हुआ, वह उसी के नाम से प्रसिद्ध हुआ । दर असल, फ्रॅकास्टोरस ने भी यह नाम ओविड के प्राचीन काव्य से लिया था ।

उपदंश के संबंध में एक भारतीय साहित्यिक-संदर्भ भी उल्लेखनीय है । संस्कृत में 'लोलिम्बराज' नामक वैद्यक का एक ग्रंथ है, जिसमें द्विअर्थी श्लोकरचना की गई है । एक अर्थ लेने पर रोगों के लक्षण और उपचार सूचित होते हैं और दूसरे अर्थ में शृंगारचेष्टा के विविध व्यवहार ध्वनित होते हैं । वैद्यक जैसा नीरस विषय भी शृंगाररस की कविता प्रेरित कर सकता है, यह विचित्र तत्व मानवस्वभाव के उससे भी विचित्र पहलू पर प्रकाश डालता है ।

एक आधुनिक लेखक ने उपदंश, यक्ष्मा और नशेबाजी को वर्तमान युग के तीन सबसे बड़े अभिशाप माने हैं । एक अन्य लेखक से पूछा गया कि आधुनिक युग और प्राचीन युग में मुख्य विभिन्नता क्या है, तो उसने उत्तर दिया कि प्राचीन युग के प्रधान लक्षण थे प्रतिज्ञापालन और आत्मसम्मान, जब कि वर्तमान युग का व्यवच्छेदक लक्षण है संसर्गजन्य रोग । एक अन्य विद्वान की राय है कि आधुनिक संस्कृति ने जिस प्रकार व्यापार की अनेक वस्तुओं का प्रसार संसार के कोने कोने में कर दिया है, उसी प्रकार उसने यौन रोगों को भी विश्वव्यापी बना दिया है ।

परंतु अतीत और वर्तमान के गुणदोषों की तुलना करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है । अति प्राचीन काल में इन रोगों का अस्तित्व था या नहीं, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है और इसके पक्षविपक्ष में वाद विवाद होते रहे हैं । प्राचीन रोम में एक रोग 'लज्जास्पद रोग' माना जाता था । यहूदी साहित्य में 'अग्नि की तरह जलाने वाले, किसी रोग का उल्लेख है । यूनानी साहित्य में भी कुछ ऐसे रोगों का वर्णन है जिनकी तुलना उपदंश या प्रमेह से की जा सकती है । परंतु इन रोगों का संसर्ग गणिकागमन से होता है, या स्त्री समागम से इनका कोई संबंध है, ऐसा कोई उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता । कुछ समय तक यह मान्यता प्रचलित थी कि उपदंश का प्रवेश मिस्र से रोम में हुआ और मिस्र में यह रोग पूर्व के प्रदेशों से आया । उस समय की धार्मिक भावना के फलस्वरूप मिस्र में हजारों वर्ष पहले के मृतदेह आज तक सुरक्षित पाये जाते हैं, जिन्हें 'ममी' कहा जाता है । संसार भर के सुप्रसिद्ध शरीर-विज्ञानियों ने इनमें के कई ममी की परीक्षा की है, परंतु किसी में भी उपदंश के अस्तित्व का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया । विद्वानों की राय है कि सोलहवीं शताब्दी तक चीन और पूर्व के अन्य देश इस रोग से पूर्णतः अपरिचित थे ।



परंतु आज अमरीका के नाम से पहचाने जाने वाले पश्चिमी गोलार्ध के भूखंडों में इस रोग का अस्तित्व प्राचीन काल से था, यह मान्यता अनेक विचारकों द्वारा स्वीकृत हो चुकी है । वर्तमान अमरीका के विद्वान इस राय से सहमत नहीं होते । उन्हें इसमें अमरीका का अपमान दिखाई देता है । अणुबम जैसे अमानुषी और निषिद्ध शस्त्र के प्रयोग द्वारा युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद अणुबम की भयंकरता के विषय में सोफियानी बातें करनेवाला यह देश उपदंश का उत्पत्तिस्थान होने का अपमान स्वीकृत न करे, यह अलग बात है; परंतु विगत विश्वयुद्ध में अणु बम का प्रयोग करके उसने मानवता का जो भयानक द्रोह किया है, उसका कलंक इस प्रजा के ललाट पर सदा चिपका रहेगा । हम निर्बल भारतीय अमरीका के इस महत्पाप के संबंध में चुप रहें या चिल्लायें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । मनुष्यजाति ने भुगते हुए किसी भी रोग से अनेक गुने भयानक रोगों की विरासत अमरीकी अणु बमों ने मनुष्यजाति को दी है, इसमें कम से कम पूर्व की दुनिया को तो कोई संदेह नहीं । ख़ैर, सत्य यह है कि सन् १९२५ में प्रागैतिहासिक युग के तीन अस्थिपंजर अमरीका में उपलब्ध हुए थे जिनमें उपदंश के तो नहीं, परंतु प्रमेह के लक्षण विद्यमान थे ।

इन भयानक रोगों की उत्पत्ति प्राचीन काल में हुई या आधुनिक युग में, इस वाद विवाद का कुतूहलशमन के अलावा और कोई महत्व नहीं है । इनका उत्पत्तिस्थान होने का सुयश कमाने को पुरानी या नयी दुनिया का कोई भी देश तैयार नहीं होगा, यह भी स्वाभाविक है । अत: इस विवाद को यहीं समाप्त कर देना उचित होगा ।

ज्ञात इतिहास के अनुसार पश्चिम के देशों का उपदंश से प्रथम स्वीकृत परिचय सन् १४९४-९५ में हुआ था । फ्रान्स के शासक आठवें चार्ल्स ने इटली पर आक्रमण किया, उस समय उसकी सेना में एक भयानक रोग फैला हुआ था ऐसा उल्लेख मिलता है । यह रोग उपदंश ही था । फिर तो इटली, स्पेन और पूरे फ्रान्स में भी यह रोग फैल गया और उसने ऐसा भयानक रूप धारण किया कि पूरा यूरोप इसके भय से थर थर काँप उठा । उस समय भी इस रोग के लक्षण आज के समान ही होते थे; परंतु पाँच सौ वर्ष पहले के उस युग में इस के कारण होने वाली प्राण हानि का प्रमाण अत्यंत अधिक था । संसर्ग की संभावना बहुत अधिक रहती थी और इससे उत्पन्न होने वाली शारीरिक यातना भी बहुत तीव्र होती थी । प्राय: यह देखा गया है कि सांसर्गिक महामारियाँ आरंभ में तो बड़ी तेज़ी से फैलती हैं, परंतु ज्यों ज्यों उनका प्रसार होता जाता है त्यों त्यों मनुष्य-शरीर में उनका प्रतिकार करने की शक्ति उत्पन्न होती जाती है, और कुछ दिनों बाद उनका जोर कम हो जाता है । यूरोप में स्पेन, इटली और फ्रान्स में ही इस रोग की भयंकरता अधिक महसूस हुई । इसी युग में लोगों की समझ में यह बात भी आ गई कि इस रोग का संबंध वेश्यागमन से है और इसका प्रसार वेश्यालयों में से ही होता है ।

कोलंबस ने सन् १४९२ में अमरीका महाद्वीप की खोज की थी और सन् १४९३ में स्पेन लौटा था । अत: नयी दुनिया से पुरानी दुनिया में इस रोग के आयात करने का श्रेय भी कोलंबस के साथी मल्लाहों को मिलना चाहिये । आज यही मत सर्वमान्य है; यद्यपि इसका भी विरोध हो चुका है । आरंभ में यूरोप के देशों में इस रोग को 'भारतीय रोग' या 'गॉलिक (फ्रान्सीसी) रोग' कहा जाता था । इसका कारण सरलता से समझा जा सकता है । यह तो सभी जानते हैं कि कोलंबस भारत पहुँचने का समुद्रीमार्ग ढूंढने के प्रयत्न में अमरीका जा पहुँचा था । उसने और उसके साथियों ने उसी देश को भारत समझ लिया था और वहाँ के आदिम निवासियों को 'रेड इंडियन' कहना शुरू किया था । आज तक अमरीका के आदिम निवासी इसी नाम से पहचाने जाते हैं । इतना ही नहीं, जावा-सुमात्रा के द्वीपसमूह को भी आज तक ''ईस्ट इंडीज़'' कहा जाता है । इससे, उस युग में यूरोप की नज़रों में भारत का महत्व कितना था, और समूचे पूर्वी जगत् पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव किस हद तक था यह प्रमाणित होता है । साथ ही, 'भारत' पहुँचने का समुद्री मार्ग खोज कर लौटने वाले नाविकों द्वारा फैलाये जाने वाले रोग को 'भारतीय रोग' नाम दिये जाने की व्याख्या भी हो जाती है । वापस लौट कर ये नाविक अकसर सेना में भरती हो जाते थे । इन्हीं के द्वारा

आठवें चार्ल्स की फोज में इस रोग का प्रसार हुआ था और फ्रेन्च सैनिकों ने उसे पूरे यूरोप में फैलाया था । अत: उसके दूसरे नाम 'गॉलिक रोग' की उत्पति का भी स्पष्टीकरण हो जाता है । नामों की इस गड़बड़ी के कारण काफी भ्रम फैला है, परंतु सत्य यह है कि वास्तविक भारत का उस युग में इस के साथ कोई संबंध नहीं था ।

३
उपदंश की भयानकता

यौन समागम के साथ जुड़े हुए तीन रोगों में उपदंश सबसे अधिक भयानक है । उसके परिणाम भी अधिक व्यापक होते हैं । प्रमेह से प्राचीन युग के लोग परिचित थे, परंतु उपदंश, प्रमेह और विद्रधि (प्रमेहजन्य व्रण) के बीच का भेद बहुत कम लोगों को मालूम था । वैद्यक के विद्वानों में भी इसकी जानकारी कम थी । बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही चिकित्सकों को अन्य अनेक रोगों के साथ साथ इन रोगों का अधिक ज्ञान प्राप्त हो सका; और अब तो इन रोगों को पूर्णत: काबू में कर सकने का विश्वास भी चिकित्सा विज्ञानियों को होने लगा है ।

इस रोग समूह का सबसे भयानक रोग है उपदंश । इसकी तीन भूमिकाएँ हाती हैं । आरंभिक अवस्था में इस रोग को पहचान पाना भी मुश्किल होता है । इस कारण से इसकी भयानकता और भी बढ़ जाती है । मानव शरीर पर इस रोग की पकड़ अत्यंत सूक्ष्म पर उतनी ही भयंकर और शक्तिशाली होती है । पक्षाघात आदि कई असाध्य रोग शरीर में वर्षों से छिपे रहने वाले उपदंश के विष के कारण ही जन्म लेते हैं । आजकल के वैद्यक विज्ञान में यह बात भी स्थापित हो चुकी है कि यह रोग विशिष्ट कीटाणुओं द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है । उपदंश के जैसा पकड़ाई में न आनेवाला शायद और कोई रोग नहीं । टायफाइड, मोतीभिरा आदि रोग अत्यंत वेग से आक्रमण करते हैं और देखते देखते फैल जाते हैं । मानवशरीर के जीवन तत्वों के साथ इन रोगों के कीटाणुओं का संघर्ष होता है । शरीर यदि स्वस्थ हुआ, तो जीवन तत्वों द्वारा पराजित होकर ये रोग अपने अस्तित्व का कोई चिह्न छोड़े बगैर कुछ समय बाद अदृश्य भी हो जाते हैं । परंतु उपदंश का आक्रमण इस प्रकार का नहीं होता । प्रथम तो उसका संसर्ग ही सुख का आभास उत्पन्न करने वाले सयागों में और अनजाने में होता है । और एक बार इसका संसर्ग हो जाने पर इसका विष शरीर के जर्रे-जर्रे में व्याप्त हो कर इतना गहरा उतर जाता है कि उससे निस्तार पाना असंभव हो जाता है । शरीर के कण कण में समाया हुआ यह रोग विभिन्न समयों पर भिन्न भिन्न रूप धारण करके प्रकट होता रहता है और अंत में ऐसी अवस्था पर पहुँच जाता है कि शरीर का एक भी कोशाणु इसके प्रभाव से अछूता नहीं बचता ।

इस रोग का देह व्यापी विष इतना सूक्ष्म पर इतना प्रबल होता है कि लंबी और कष्ट साध्य चिकित्सा के बाद उसके बाहय लक्षण यदि अदृश्य हो जायँ, तो भी कोई यह विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि रोग का संपूर्ण नाश हो चुका है । निष्णातों की दृष्टि को, चिकित्सकों के प्रयोगों को और वैज्ञानिकों के अनुसंधानों को धोखा देकर इस रोग का विष शरीर के किसी न किसी अवयव में जा छिपता है । रोगी और चिकित्सक जब इसे जीत लेने की खुशियाँ मनाते हैं, तब यह विनाशक विष शरीर के किसी कोने में छिपकर बैठा हुआ उनका मज़ाक उड़ाता रहता है और मौका मिलते ही फिर आक्रमण करता है ।

यह रोग यदि कुछ व्यक्तियों पर आक्रमण करके ही संतुष्ट रहा होता, तो शायद इसकी भयानकता कुछ कम हो गई होती । अनियमित यौन उपभोग के अपराध में समान रूप से जिम्मेदार स्त्री-पुरुषों तक ही यह सीमित रहा होता, तो भी इसकी भयंकरता इतनी व्यापक न हुई होती । संबंधित व्यक्ति तो इस हालत में भी इसके विकराल जबड़ों में पिस कर नष्ट भ्रष्ट और छिन्न विच्छिन्न हुए होते; पर भविष्य की

निरपराध पीढ़ियाँ बच जातीं । परंतु यह तो सीमित रहना जानता ही नहीं । रोग ग्रस्त स्त्री-पुरुषों के संबंध से जन्म लेने वाले निरपराध बालकों को भी, या यों कहिये कि मनुष की जननशक्ति को ही यह राहु की तरह ग्रस लेता है और मनुष्य जीवन एवं मानव-उत्पत्ति के केन्द्र बिंदु को ही विषमय बना देता है । इसका विष मनुष्य की प्रजनन शक्ति को नपुंसकत्व या बंध्यत्व से जकड़ लेता है । प्रजनन यदि हुआ भी, तो वह दुर्बल, विकलांग और रोगी संतति का निर्माण करेगा जिनके माध्यम से ये त्रुटियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती ही जायेंगी । उपदंश-पीड़ित स्त्री-पुरुष की संतति जन्म के समय निरोगी और स्वस्थ दिखाई देने पर भी, वर्षों बाद उपदंश के लक्षण व्यक्त कर सकती है । इस रोग के चिहन स्पष्ट दिखाई दें या न दें, जनसाधारण के स्वास्थ्य में यदि कहीं कोई भयानक और अनाकलनीय गड़बड़ी दिखाई दे, तो निश्चित रूप से यही समझना चाहिये कि उस की जड़ों में उपदंश का विष कहीं न कहीं अवश्य छिपा बैठा है । यह रोग शरीर के बाहय अवयवों को अनेक प्रकार से विरूप और बेडौल बना सकता है, इतना ही नहीं, मस्तिष्क और ज्ञानतंतुओं पर भी इसका भयानक असर पड़ता है । यह प्रभाव अकसर निम्नलिखित प्रकारों से व्यक्त होता है: —

१. स्तब्धता उत्पन्न करके । इस हालत में रोगी में एक विचित्र प्रकार की जड़ता उत्पन्न हो जाती है ।
२. पांडुरोग या पचन क्रिया की शिथिलता उत्पन्न करके । इन लक्षणों से युक्त रोगों को नाम कुछ भी दिये जायँ, उनके मूल में उपदंश का ही प्रभाव होता है ।
३. ज्ञान तंतुओ में सूजन उत्पन्न करके ।
४. ज्ञानतंतुओं की शिथिलता उत्पन्न करके । इस हालत में मस्तिष्क की शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाती है ।
५. पक्षाघात उत्पन्न करके । पक्षाघात का मूल वर्षों से शरीर में छिपे हुए उपदंश में ही ढूंढा जा सकता है ।
६. उन्माद (पागलपन) उत्पन्न करके । भ्रमित चित्तवृत्ति वाले रोगियों की देखभाल और चिकित्सा करने वाले अस्पताल या पागलखाने इसी रोग की देन हैं ।

क्रॉफ्ट एबिंग नामक लेखक का कहना है कि सभ्यता की प्रगति का उपदंश के साथ घनिष्ठ संबंध है । इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है । मानव सभ्यता का विकास या प्रगति मनुष्य के हृदय पर जख्म छोड़े बिना और उसके चित्त में तनाव उत्पन्न किए बिना नहीं होती । इसके फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क दुर्बल होता जाता है और कमज़ोर मस्तिष्क पर उपदंश का आक्रमण होते ही मनुष्य तुरंत पक्षाघात जैसे रोगों का शिकार हो जाता है । मानवदेह और मानव स्नेह जैसे दैवी आशीर्वादों को छिन्न भिन्न कर डालने वाली उपदंश की भयावह शक्ति की तुलना अन्य किसी रोग की विनाशकता से नहीं की जा सकती । एक बार संसर्ग हुए बाद इसे आमूल नष्ट करना संभव नहीं होता । किसी न किसी रूप में जीवित रहकर यह रोग रोगी का नित्य साथी बन जाता है ।

इसकी विनाशकता के साथ साथ इसकी व्यापकता भी उतनी ही भयावह है । उपदंश से पीड़ित लोगों की संख्या का सही सही अंदाज़ लगाना मुश्किल है । परंतु भिन्न भिन्न देशों में समय समय पर होने वाली डाक्टरी जाँचों और सामाजिक अवलोकनों के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यूरोप के देशों में उपदंश से ग्रसित लोगों की संख्या वयस्क जनसंख्या के पाँच से पचीस प्रतिशत तक हो सकती है और इनमें से कम से कम पंद्रह प्रतिशत लोगों की मृत्यु इसी रोग के प्रत्यक्ष या परोक्ष परिणामों के कारण होती है । पश्चिम के अनेक देशों में उपदंश के रोगियों की संख्या निश्चित हो चुकी है । ये संख्याएँ अत्यंत भयावह हैं । फ्रान्स के इस विषय के निष्णातों का निश्चित मत है कि वहाँ की प्रजा के सत्रह प्रतिशत लोगों में उपदंश का रोग फैला हुआ है । अत्यंत प्रगतिशील कहे जाने वाले अमरीका के महानगर न्यूयॉर्क में प्रतिवर्ष ढाई लाख उपदंश-पीड़ित रोगी अस्पतालों में दर्ज होते हैं । वहीं के एक अन्य बड़े शहर में उच्च

वर्ग के परिवारों की चिकित्सा करने वाले एक डाक्टर का कहना है कि इन धनी मानी परिवारों के पुरुषों में से लगभग एक तिहाई युवकों को उपदंश का रोग निश्चित रूप से होता है । जर्मनी में प्रतिवर्ष आठ लाख रोगियों की यौन रोगों के लिए चिकित्सा की जाती है । वहाँ के बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के करीब पचीस प्रतिशत विद्यार्थी इस रोग से पीड़ित होते हैं । लंदन के एक अस्पताल में आने वाले रोगियों का दसवाँ भाग उपदंश की चिकित्सा के लिए आया था । इसका यही अर्थ हुआ कि लंदन की लोक संख्या का पंद्रह प्रतिशत भाग इस रोग से पीड़ित हैं । इन संख्याओं को कुछ बढ़ी चढ़ी मान लें, तो भी इस रोग की व्यापकता का चित्र महाभयानक ही दिखाई देगा ।

इस भयानक रोग से किसी भी देश की प्रजा के लाखों लोग पीड़ित रहते हैं । जिन लोगों को युवावस्था में ही इसका संसर्ग हो जाता है, उनके स्वास्थ्य और उनके पूरे जीवन की यह रोग कैसी दुर्दशा करता होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । बिना किसी अपराध के जीवन भर यातना सहन करने के लिए कितने क्षीणकाय और विकलांग बालकों को यह रोग जन्म देता होगा ? मनुष्यजाति की अनेकांगी अवनति में इसका योगदान कितना अधिक होगा ? इसकी चिकित्सा के नाम पर मानव समाज को कितने करोड़ रुपयों का व्यय करना पड़ता होगा ? इन सारे प्रश्नों के विचार से भी मन थर्रा उठता है । आर्थिक दृष्टि से देखें या सामाजिक दृष्टि से, वैयक्तिक सुख की नज़र से देखें या भविष्य की प्रजा के कल्याण की दृष्टि से; मालूम यही देगा कि उपदंश का रोग मनुष्यजाति का सब से भयंकर शत्रु है । लाखों मनुष्यों, लाखों निरपराध बालकों और लाखों-करोड़ों रुपयों का बलिदान लेनेवाले इस रोग का आद्य कारण गणिका समागम ही है, यह अलग से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं । गणिका संस्था न होती, तो इस रोग का पाश भी इतना व्यापक न होता ।

४

प्रमेह

यह तो एक भयानक रोग की बात हुई । परंतु उपदंश से भी अधिक व्यापक प्रमेह नामक रोग भी अनियमित यौन व्यवहार से ही जन्म लेता है और फैलता है । अनियमित यौन व्यवहार अधिकांश में गणिकावृत्ति में ही समा जाता है । अतः इस रोग के लिए भी मुख्य रूप से गणिकागमन को ही जिम्मेदार मानना होगा ।

एक समय ऐसा था कि प्रमेह की बीमारी को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता था । मामूली सर्दी-जुकाम की ओर आज हम जितना ध्यान देते हैं, पुरुषों द्वारा प्रमेह को उतना ही महत्व दिया जाता था और स्त्रियाँ तो इसे रोग मानती ही नहीं थीं । परंतु यह दृष्टिकोण अब बदल गया है और इस रोग की ओर भी गंभीरता से ध्यान दिया जाने लगा है । इसके परिणामों की भयंकरता भी मान ली गई है । प्रमेह का मुख्य दुष्परिणाम है संतानोत्पत्ति की अक्षमता । कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि लगभग अस्सी प्रतिशत वंध्यत्व प्रमेह के कारण ही होता है । दूसरी ओर यह भी देखा गया है कि प्रमेह के रोगियों का विवाह हो जाने पर, अधिकतर तो उनकी पत्नियों को इस रोग का संसर्ग ही नहीं होता, और जिन स्त्रियों में इसके लक्षण दिखाई देते हैं उनमें से पचास प्रतिशत से अधिक स्त्रियाँ संतोनोत्पत्ति कर सकती हैं । इन दोनों मतवादों में से सत्य किस पक्ष में है, इस विवाद में उतरने की आवश्यकता नहीं । परंतु इतना तो निश्चित है कि प्रमेह का रोग स्त्रियों के वंध्यत्व के लिए बहुत अधिक हद तक जिम्मेदार है ।

प्रमेह इससे भी अधिक भयानक परिणामों की उत्पत्ति करता है । जन्मांध या जन्म से ही कमज़ोर आँखों वाले बालक प्रायः माता-पिता के प्रमेह की ही सज़ा भुगतते हैं । प्रमेह की विरासत लेकर जन्म लेने वाले बालक यदि जन्मांध न हों, तो कुछ वर्षों बाद ही अंधे हो जाते हैं । इंग्लैंड में चार अंध-सहायक

आश्रमें। की जाँच से मालूम हुआ था कि तीस से चालीस प्रतिशत लोगों के अंधत्व के लिए उनके माता पिता का प्रमेह उत्तरदायी था । जर्मनी में भी तीस प्रतिशत नेत्रहीनों का अंधत्व प्रमेहजनित माना गया है । बंगाल के डाक्टर मुकरजी का कहना है कि वहाँ के छः लाख अंधे भिखारियों में से चालीस प्रतिशत के अंधत्व के लिए उनकी माताओं का प्रमेह जिम्मेदार है । यह तो हुई दरिद्र भिखारियों की संख्या । कुछ लोगों में इस रोग का प्रसार अधिक होता है । उपदंश के जैसे भयानक दुष्परिणाम प्रमेह से जन्म नहीं लेते, यह सही हो तो भी अंधत्व रूपी यह एक ही परिणाम उसे एक भयानक अभिशाप सिद्ध करता है ।

सन् १९३५ में संयुक्त राज्य अमरीका में एक अवलोकन हुआ था जिसके निष्कर्ष थर्रा देने वाले हैं । विद्वानों की राय थी कि जनसंख्या के पाँच प्रतिशत लोग भी उपदंश से पीड़ित हों, तो अकेले अमरीका में ही इस रोग से दूषित लोगों की संख्या साठ लाख से भी अधिक माननी होगी । प्रमेह के रोगियों का प्रमाण इससे कम से कम तिगुना मानना चाहिये । उपदंश के नौ-दस रोगियों में से केवल एक की योग्य प्रकार से चिकित्सा हो पाती है । प्रमेह के संबंध में यह स्थिति और भी भयानक है । इस रोग के तो पचीस से चालीस रोगियों में से एक की योग्य देखभाल हो सकती है । इसका अर्थ यही हुआ कि अनगिनत रोगियों की किसी भी प्रकार की चिकित्सा या देखभाल नहीं हो पाती; और जो थोड़े बहुत लोगों की चिकित्सा होती भी है, उनमें से अधिकांश को केवल नीमहकीमों के ऊलजलूल उपचार ही नसीब होते हैं ।

५
यौन रोगों के प्रति समाज का रुख

इन रोगों के विरुद्ध विभिन्न युगों में अलग-अलग प्रकार की उपाय योजना की गई है । गणिकावृत्ति का नियंत्रण करने की प्रधान प्रेरणा इन रोगों को काबू में रखने की आवश्यकता से ही जन्म लेती है । अब धीरे धीरे संसार के सभी देश यह स्वीकार करने लगे हैं कि केवल गणिकाओं की सूचियाँ बना देने से या उनपर पुलिस और डाक्टरों का दिखावटी अंकुश लगा देने से इन रोगों को काबू में नहीं किया जा सकता । व्यभिचार या दुराचार का दंड ईश्वर इन रोगों के रूप में देता है, इस मान्यता के सहारे हाथ पर हाथ रखे अब कोई बैठा नहीं रहता । इस दृष्टि से देखें तो सभी रोग किसी न किसी प्रकार के अतिचार, अनियमितता या अज्ञान के ही परिणाम होते हैं । व्यवहारिक दुनिया के अनेक अनाचारों में से केवल यौन दुराचार ही मनुष्य को नरक यातना देने वाला सबसे बड़ा पाप है, यह मानना भी अन्य दुराचारों की उपेक्षा करनेवाला एकांगी विचार है । अनुचित मुनाफाखोरी करने वाले व्यापारियों, अणुबम बरसाने वाले राजनीतिज्ञों और रिश्वत लेने वाले अधिकारियों का अपराध गणिकागमन करने वाले दुर्बल मनुष्यों के अपराध से रत्तीभर भी कम भयानक नहीं होता । ईश्वर नामक शक्ति का अस्तित्व यदि कहीं है, तो वह गणिकागमन को मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरी मान कर उसे शायद माफ भी कर दे । परंतु लोगों का खून चूसनेवाले प्रतिष्ठित व्यापारियों, रिश्वतखोर अफसरों और दंभी नेताओं की तो वह खाल खिँचवा लेगा । इन अपराधों की यही योग्य सज़ा हो सकती है ।

आधुनिक विचारधारा से प्रेरित समाजों में रोग और रोगियों के प्रति अधिक उदार, सहानुभूतिपूर्ण और मानवताभरा दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है । इन रोगों का मुकाबला आजकल तीन मोरचों पर किया जाता है: —

१. रोग के लक्षण, रोग का निदान और रोग की चिकित्सा का बढ़ता हुआ ज्ञान इन रोगों की रोकथाम के लिए प्रयुक्त होने लगा है । पहले मोरचे पर अनेक प्रकार के निरोधक उपायों द्वारा इन रोगों को रोकने की कोशिश की जाती है ।

२. उपदंश और प्रमेह दोनों की चिकित्सा के लिए अधिक कार्यक्षम साधनों और अधिक प्रभावशाली उपचार-पद्धतियों का प्रयोग करके इन रोगों का मुकाबला किया जाता है । यह हुआ दूसरा मोरचा ।

३. तीसरे मोरचे पर सामाजिक जागृति, शिक्षा और कानून की सहायता से इन रोगों के प्रति समाज़ का दृष्टिकोण बदलने के प्रयत्न किये जाते हैं ।

उपदंश के इलाज में पारे का प्रयोग अत्यंत प्राचीन काल से होता आया है । आधुनिक युग में इस रोग का रामबाण इलाज ढूंढने में जापानी वैज्ञानिक हाटा का योगदान बहुत अधिक है । उसकी पद्धति '६०६' के नाम से प्रसिद्ध है । कहीं कहीं इस पद्धति को 'साल्वरसन' पद्धति भी कहा जाता है । इस उपचार पद्धति में संखिया का उपयोग किया जाता है । आजकल पेनिसिलिन नामक दवाई भी इन रोगों पर अत्यंत गुणकारी सिद्ध हुई है । विगत विश्वयुद्ध में जापान को दुश्मन मानने वालों को भी इस क्षेत्र में जापानी वैज्ञानिकों की सिद्धि स्वीकृत करनी पड़ी है ।

कामवासना के परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले इन रोगों को वश में करने के प्रयत्न संसार भर के चिकित्सा शास्त्रियों द्वारा किए जा रहे हैं । इन प्रयत्नों में से कई आशाजनक परिणाम भी निकले हैं । कुछ प्रयत्न सामाजिक और राजकीय क्षेत्रों में भी हुए हैं, जिनमें सोवियत रूस का उदाहरण उल्लेखनीय है । ज़ार के समय में तो रूस दुनिया भर के षडयन्त्रों और अनियमितता का केन्द्र स्थान माना जाता था; परंतु सन् १९१८ की क्रांति के बाद रूस का पुनर्जन्म हुआ है । सोवियत व्यवस्था के अनुसार क्या पुरुष और क्या स्त्री, सबको कुछ न कुछ काम अनिवार्य रूप से करना पड़ता है । बालक, रोगी, अक्षम और वृद्धों के सिवा और किसी को निकम्मा नहीं रहने दिया जाता । रूस का यह नियम प्रत्येक स्वस्थ स्त्री से कुछ न कुछ काम की अपेक्षा रखता है और उनके लिए योग्य कार्यक्षेत्र भी उपलब्ध कर देता है । क्रांति से पहले के वर्षों में गणिकावृत्ति से जीवननिर्वाह करने वाली स्त्रियों को भी इस व्यवस्था में अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय करने का मौका दिया गया है । अत : दारिद्रय, बेकारी या निराश्रयता के कारण किसी स्त्री को वेश्यावृत्ति करनी पड़े ऐसी स्थिति ही अब रुस में नहीं रही । परंतु राज्यव्यवस्था में परिवर्तन होते ही प्रजा की पुरानी आदतें और पुराने रिवाज चुटकी बजाते ही नहीं बदल जाते । अत: गणिकाजीवन में अत्यंत गहरी उतर चुकने वाली स्त्रियों को आरंभ के दिनों में मॉस्को आदि बड़े बड़े शहरों के आरोग्यधामों या सुधार-आश्रमों में रखा जाता था । वहाँ उनके पुराने रोगों की उत्तम चिकित्सा की जाती थी, उन्हें अच्छी शिक्षा और किसी काम धंधे की तालीम दी जाती थी एवं उनमें उत्तरदायित्व और नागरिकता की भावनाएँ उत्पन्न की जाती थीं । इन प्रयत्नों का परिणाम यह निकलता है कि पुरानी पतिताएँ भी धीरे धीरे देश के सामान्य प्रतिष्ठित जीवन में रम गई हैं और अपने पुराने कलंकित और रोगग्रस्त जीवन को उन्होंने सांप की केंचुली की तरह उतार फेंका है ।

तत्वज्ञान, समाजशास्त्र, रसायन और वैद्यक, इत्यादि ज्ञान के सभी क्षेत्रों में जर्मन प्रजा का योगदान बहुत अधिक रहा है । आज जर्मनी से दुश्मनी होने पर भी इसको अस्वीकार कोई नहीं कर सकता । परंतु नाज़ी सत्ता के उत्कर्ष के समय स्त्रियों को फिर से एक बार घर की चहारदीवारी में धकेल कर उनका केवल सैनिकों का उत्पादन करने वाली मशीनों के रूप में उपयोग होने लगा था । अनिवार्य विवाहित जीवन के साथ गणिकावृत्ति भी अभिन्न रूप से जुड़ी रहती है । अत: नाज़ी जर्मनी में वेश्यालयों की संख्या काफी बढ़ीचढ़ी रही । अब फ्रान्स के सिवा अन्य किसी सभ्य देश में गणिकाओं की गणना करके उन्हें परवाने देने की प्रथा का अस्तित्व नहीं रहा । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रान्स का लोकमत भी इस प्रथा को बंद करने के पक्ष में दिखाई दिया है ।

संसार के किसी भी देश में उपदंश की रोकथाम के जितने प्रयत्न किये जाते हैं, और उसके विरुद्ध जितनी सावधानी रखी जाती है उतनी प्रमेह के संबंध में नहीं बरती जाती । वैसे इन दोनों ही रोगों को परास्त करने के मनुष्यजाति के अविरत प्रयत्नों के फलस्वरूप अब ये भयानक और असाध्य माने जाने वाले रोग बहुत अधिक अंश में काबू में आ गये हैं । इनकी रोकथाम और चिकित्सा के उपाय भी सरल हो गये

हैं और उनकी व्यापकता भी कुछ हद तक कम हुई है । स्वास्थ्य रक्षा के नियमों की जानकारी सभ्य प्रजाओं में अधिकाधिक फैलती जा रही है और चिकित्साविज्ञान ने भी कल्पनातीत प्रगति की है । इसके उपरांत, आज की दुनिया के स्त्री पुरुषों के यौन संबंधों में पुरानी दुनिया की कल्पना में भी न आ सकने वाली स्वतंत्रता स्वीकृत होती जा रही है, जिसके फलस्वरूप गणिकावृत्ति के प्रकारों में आमूल परिवर्तन हो चुका है । वेश्यालयों को परवाने देकर उन्हें सरकारी नियंत्रण में रखने की प्रथा और वेश्यावृत्ति के प्रति कानून की कठोरता इत्यादि उपायों को अब इस समस्या का सही इलाज नहीं माना जाता । अनुमतिप्राप्त खुले गणिका गृहों में रहने वाली वेश्याएँ भी अब उतनी दिखाई नहीं देतीं । गणिकावृत्ति अब तक सभी प्रजाओं में प्रचलित है; परंतु यौन संबंधों के प्रति वर्तमान युग के उदार दृष्टिकोण के कारण अब वह अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक और सामाजिक जीवन के साथ अधिक घुली मिली दिखाई देने लगी है । पुराने युगों में गणिकावृत्ति समाज की एक बिलकुल अलग, स्पष्ट और आसानी से पहचानी जा सकने वाली संस्था थी; परंतु अब उसके विभिन्न रूपों को पहचान पाना भी मुश्किल है । हो सकता है कि वर्तमान युग में स्त्री पुरुष के सहवास की मर्यादारहित अतिशयता ने अन्य अनेक अवांछनीय और अप्रतिष्ठित परिणामों को जन्म दिया हो; परंतु उसने कलंक की छाप वाली गणिकावृत्ति को बिलकुल कम कर दिया है, इसमें कोई शक नहीं ।

सुप्रसिद्ध पाश्चर इन्स्टीट्यूट में लुई पाश्चर का स्थान लेने वाले विज्ञानविद् ड्यूक्लॉ के श्ब्दों में, यौन रोगों के प्रति नया और उदार दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त हुआ है: —''उपदंश और प्रमेह के रोगियों को बहुत बड़े अपराधी मानने के बजाय उन्हें एक दुष्ट महामारी के भाग्यहीन शिकार मानने की विचारधारा जब तक दृढ़ नहीं होती, तब तक इन रोगों के विरुद्ध की जाने वाली लड़ाई सफल नहीं होगी । इन रोगों को लज्जास्पद और स्पष्ट उल्लेख के भी अयोग्य मान लेने से उनकी उपेक्षा हो सकती है; उनका उपचार नहीं । परिवार पर, समाज पर, और पूरी मनुष्यजाति पर एक अभिशाप के रूप में बरसने वाले इन रोगों की ओर उनके परिणामों की जानकारी समाज के हर सदस्य को होनी चाहिये । इसके लिए, सब से पहले हमें इन रोगों के प्रति प्रतिष्ठित समाज में पायी जाने वाली लज्जा और घृणा की भावना को दूर करना होगा ।'' इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी बुराई को दूर करना हो, तो पहले हमें इमानदारी से उसके स्वरूप को पहचानना पड़ेगा, उसे समझना पड़ेगा और उसके अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा । किसी भी रोग को छिपाने की प्रवृत्ति तो अंत में उसे अधिक विकट और अधिक विस्तृत ही बना कर छोड़गी ।

इन रोगों की और इनकी सांसर्गिकता की जानकारी होने पर भी जो लोग अनियमित यौन समागम करते हैं, वे जान बूझ कर आफत मोल लेते हैं; अतः उनके प्रति कोई हमदर्दी नहीं होनी चाहिये, ऐसी भी एक विचारधारा है । यह मान्यता जितनी जल्द दूर हो सके उतना ही अच्छा है । इस दृष्टि से देखा जाय तो, मनुष्य के प्रायः सभी रोग उसके जानबूझ कर किये हुए कार्यों के परिणाम होते हैं । हम देख चुके हैं कि क्षुधा और कामवासना मनुष्य के जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए शरीरधर्म हैं । अतः जिस प्रकार पथ्यापथ्य की जानकारी रखनेवाला मनुष्य भी कभी-कभी उनका पालन न करके बदहज़मी का शिकार हो जाता है, उसी प्रकार वासनातृप्ति में भी विवेक रखना चाहिये, यह समझनेवाला मनुष्य भी कभी कभी उसकी भूल भुलैया में भटक जाता है । मनोविकारों के वश होकर चलना जिस प्रकार मनुष्य के मन की सहज प्रवृत्ति है, उसी प्रकार देह के आवेगों के वश होना उसके शरीर का स्वाभाविक धर्म है । इन सहज प्रवृत्तियों का आवेग मनुष्य की विवेकबुद्धि और तुलनाशक्ति को मूर्छित कर देता है । क्षुधा तृप्ति में होनेवाली बदपरहेज़ी एक सर्वसामान्य कमज़ोरी है । हम सब कभी कभी यह गलती करते हैं । इसी प्रकार वासनातृप्ति के क्षेत्र की भूलें भी सबके अनुभव का विषय है । पापी और पुण्यात्मा के बीच का अंतर हम समझते हैं उतना विशाल नहीं होता । अकसर यह अंतर इतना ही होता है कि दुष्कर्मों को छिपा सकने वाले प्रतिष्ठित और न छिपा सकनो वाले पापी माने जाते हैं । इन क्षेत्रों में होने वाली भूलों की परंपरा के कारण ही मनुष्य जीवन में सुख और आनंद की अस्पष्ट सी झलक कौंध जाती है । यह कहने में इन भूलों

का समर्थन करने का हेतु नहीं है; सिर्फ उनकी अपरिहार्यता का निदेश करने का उद्देश्य है । दुर्निवार्य आवेग से प्रेरित होकर, या अनजाने में की हुई भूलों को पाप नहीं मानना चाहिये । फिर, इस रोग से पीड़ित होने वाले सभी लोग दूषित होते हैं और अपने पापों का ही फल भोगते हैं, यह भी सर्वदा सत्य नहीं होता । माता पिता से रोग का उत्तराधिकार प्राप्त करके जन्म लेने वाले बालकों को पापी या दोषी कैसे माना जा सकता है ?

खुद निर्दोष होते हुए भी उपदंश से पीड़ित होने वाले लोगों को निम्नलिखित पाँच विभागों में बाँटा जा सकता है: —

१. माता पिता के रोग की विरासत लेकर जन्म लेने वाले बालक ।
२. दाइयाँ, परिचारिकाएँ और डाक्टर, जिन्हें उपदंश के रोगियों की सेवा-चिकित्सा करते समय इस रोग का संसर्ग हो जाता है । इस वर्ग में आने वालों की संख्या नगण्य नहीं होती ।
३. चुंबन आदि प्रेमोपचारों के आदान प्रदान से रोग का शिकार होने वाले स्त्री, पुरुष या बालक । पश्चिम में यह प्रथा अत्यंत प्रचलित होने के कारण इस वर्ग में आने वाले रोगियों की संख्या अधिक होती है । स्वस्थ बालकों को इस रोग का संसर्ग प्राय: इसी जरिये से होता है ।
४. मामूली संपर्क से, या जीवन के नित्य-व्यवहार में आकस्मिक रूप से रोग संसर्ग प्राप्त करने वाले स्त्री-पुरुष । उपदंश के रोगी द्वारा प्रयुक्त गिलास, रुमाल, तौलिया, उस्तरा या छुरी-चम्मच इत्यादि साधारण चीज़ों के उपयोग से भी इस रोग का संसर्ग हो सकता है ।
५. पति की ओर से रोग प्राप्त करनेवाली स्त्रियाँ । निश्चित ही, किसी भी समाज में इनकी संख्या सबसे अधिक होती है ।

६
चुंबन प्रथा और रोगों का आदान-प्रदान

पश्चिम में चूमने की क्रिया को बिलकुल निर्दोष और विकाररहित माना जाता है । पुरानी मर्यादाओं का मजाक उड़ाने वाली नयी नीतिमत्ता ने हमारे यहाँ भी चुंबन-प्रथा को खूब प्रचलित कर दिया है । सोने से पहले बालकों को माता-पिता का, विशेष रूप से माता का चुंबन करना ही चाहिये, ऐसी प्रथा हमारे उच्चभ्रू परिवारों में भी रूढ़ होती जा रही है । आयाओं और नौकरों के जिम्मे सौंप दिये जाने वाले बालकों को दिन भर में माता के निकट संपर्क का शायद यही एक मौका मिलता है । पश्चिम के अंधानुकरण से जन्म लेने वाली इस प्रथा के संबंध में पश्चिम के ही प्रसिद्ध विद्वानों की यह राय है कि जिन लोगों में एक दूसरे के स्वास्थ्य की संपूर्ण जानकारी होने जितनी घनिष्ठता न हो, उन्हें चुंबन का आदान-प्रदान करने का अधिकार नहीं । इस क्रिया द्वारा उपदंश का संसर्ग होने के कई उदाहरण उल्लेखनीय हैं: —

१. किसी वेश्या ने एक बालक को चूम लिया । बालकों के प्रति इस तरह प्रेम व्यक्त करना अत्यंत स्वाभाविक है, और वेश्या भी आखिर तो मानव-हृदय रखनेवाली रानी ही है । परंतु इस निर्दोष क्रिया से बालक को रोग का संसर्ग हो गया और उसका रोग उसकी माता और दादी को भी लगा ।
२. फ्रान्स की प्रथा के अनुसार विवाह-संस्कार हो जाने के बाद उपस्थित मेहमान नववधू का चुंबन करते हैं । एक युवती को किसी मेहमान के चुंबन से, विवाह के पहले दिन ही रोग का संसर्ग हो गया ।
३. एक अमरीकन युवती सामूहिक नृत्य-समारंभ सेघर लौट रही थी । उसे पहुँचाने को आने वाले युवक का उसने आभार-प्रदर्शन के लिए चुंबन किया । वहाँ की तहज़ीब की इस मामूली सी क्रिया से उस युवती को रोग का संसर्ग हो गया । इतना ही नहीं, कुछ समय में ही वह रोग उसकी माता और उसकी तीनों बहनों में भी फैल गया ।



इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी कभी चुंबन जैसा दोषरहित दिखाई देनेवाला स्नेहोपचार भी भयंकर रोगों का वाहक बन सकता है । बर्तन, रुमाल, तौलिया, उस्तरा आदि नित्योपयोगी वस्तुओं के माध्यम से भी यह रोग फैलता है. यह बात तो निस्संदेह रूप से सिद्ध हो चुकी है । अत: इन रोगों का शिकार होने वाले सभी रोगी जानबूझ कर और अनियमित वासनातृप्ति के माध्यम से ही रोग प्राप्त करते हैं, यह कहना न्यायसंगत नहीं होगा । इन रोगों से पीड़ित रोगियों में से अनेक किसी भी प्रकार के यौन दुराचार के अपराधी नहीं होते ।

७

यौन रोग और नैतिक मान्यताएँ

अनियमित यौन संबंधों से रोग प्राप्त करने वाले स्त्री-पुरुष अकसर कम उम्र के होते हैं । दुनिया क्या है,.इसकी उन्हें खबर ही नहीं होती । उनके चरित्र का संपूर्ण विकास नहीं हुआ होता और उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं मिली होती कि जिसके बल पर वे संयम का मूल्य समझ सकें, या योग्यायोग्य का विवेक कर सकें । इन अनुभवहीनों के चारों ओर असंख्य प्रलोभन बिखरे रहते हैं । इस हालत में इन अशिक्षित या अर्धशिक्षित, भोले और अज्ञानी युवक-युवतियों को अक्षम्य अपराधी मान कर उनका तिरस्कार करना मानसिक अपरिपक्वता का ही लक्षण माना जायगा । रोगी को पापी मान कर ठुकरा देना मनुष्यता का लक्षण नहीं । बहुत से पापों से हम केवल आकस्मिक रूप से ही बचे रहते हैं । इन लोगों को पापी मान कर दुत्कार देने से हम उसी प्रकार के पाप की छाया से भी सदा-सर्वदा के लिए बच जायेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं । प्रकृति ने काम को ऐसा मोहक रूप दिया है कि उसके प्रलोभन-पाश में कोई भी फँस सकता है । यौवन में इसका आकर्षण और भी अधिक हो, तो आश्चर्य किस बात का ? नैतिक दृष्टि से नासमझ बालकों के अपराध जिस प्रकार सहय और सुधार के पात्र माने जाते हैं उसी प्रकार अनुभवहीन यौवन की भूलों को भी क्षम्य और सुधार के योग्य मानना चाहिये । जीवन के अनेक क्षेत्रों में अज्ञान और निर्दोषता पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं । रोग और रोगी के संबंध में भी इसी नियम और इसी दृष्टिकोण का प्रयोग होना चाहिये ।

अत: इन रोगों के विरुद्ध सचमुच ही युद्ध की घोषणा करनी हो, तो हमें हमारे नैतिक और धार्मिक विश्वासों, पाप-पुण्य की भावनाओं और उचित-अनुचित के मानदंडों में आमूल परिवर्तन करना होगा और इस समस्या को केवल स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से देखना होगा । नैतिक विशुद्धता के पक्षपाती अकसर महाअभिमानी और दुराग्रही होते हैं । इस रोग की व्यापकता का प्रश्न इतना पेचीदा है कि सदाचारी और दुराचारी दोनों, जानबूझ कर या अनजाने में, कब, कहाँ और कैसे इसकी लपेट में आ जायेंगे, यह नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार गणिकावृत्ति के लिए पूरा समाज उत्तरदायी है, उसी प्रकार इन रोगों की जिम्मेदारी भी पूरे समाज को उठानी पड़ेगी । गणिकागमन न करने वाले सदाचारी पुरुष भी जिस प्रकार इस संस्था के अस्तित्व में अपना दोष भाग नहीं टाल सकते, उसी प्रकार समाज के स्वस्थ और निरोगी सदस्य भी, केवल इस बिना पर कि वे खुद इन रोगों से पीड़ित नहीं हैं, इनकी आंशिक जिम्मेदारी से इनकार नहीं कर सकते । मनुष्य के प्राणघातक रोगों में उपदंश का क्रम चौथा आता है । कुछ चिकित्सक इसे पहला स्थान देते हैं । इसका क्रम जो कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि यह रोग मनुष्यजाति का एक महाभयानक शत्रु है और नीतिमान एवं नीति से परे, सभी प्रकार के लोगों को संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना से इसका मुकाबला करना है ।

८

कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्ष

इन रोगों का हम अनेक पहलुओं से विचार कर चुके । अब तक के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष स्थापित होते हैं: —

१. उपदंश और प्रमेह; आतशक और सूज़ाक या सिफिलिस और गनोरिया के नाम से प्रसिद्ध ये दोनों महारोग अनियमित यौन व्यवहार में से जन्म लेते हैं ।

२. यह सत्य है कि कभी कभी दूषित व्यक्तियों या वस्तुओं के स्पर्श से भी ये रोग हो सकते हैं । परंतु सारे मनके घुमा लेने के बाद अंत में यह माला अनियंत्रित यौन संबंधरूपी सुमेरु पर ही आ कर रुकती है । किसी के पोंछे हुए तौलिये या जूठे गिलास से इन रोगों का संसर्ग हो सकता है । परंतु कहीं न कहीं, किसी न किसी स्तर पर इन रोगों के मूल में अनियमित यौन संबंधों से उत्पन्न रोग संसर्ग अवश्य दिखाई देगा ।

३. ये रोग आनुवंशिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी चल सकते हैं । निर्दोष बालकों में पाये जाने वाले इन रोगों के लक्षण उनके किसी पूर्वज के अनियमित यौन व्यवहार के ही परिणाम होते हैं ।

४. अनियमित यौन संबंध जीवन के अनेक क्षेत्रों में चलते रहते हैं । परंतु गणिकावृत्ति उनका स्पष्ट और स्वीकृत रूप होने के कारण इन रोगों की जिम्मेदारी इसी संस्था के हिस्से में आती है; और इसी कारण से इन रोगों के अध्ययन, चिकित्सा एवं रोकथाम के लिए सुधारकों की दृष्टि सबसे पहले वेश्यालयों की ओर ही जाती है ।

५. ये रोग व्यक्ति और प्रजा को निःसत्व, दुर्बल, निर्माल्य और अनुपयोगी बना देते हैं । देह और मन को भयानक यातना पहुँचाने वाले परिणाम इनमें से जन्म लेते हैं । पतन और कलंक की दुष्ट छाप भी इन भाग्यहीन रोगियों के ललाट पर सदा के लिए चिपक जाती है, जिसकी लज्जा को सहन करना अत्यंत मुश्किल होता है ।

६. इन रोगों के प्रति नीति के पहरेदारों का दृष्टिकोण सच्ची नीतिमत्ता का द्योतक नहीं है । यौन रोगों से पीड़ित स्त्री-पुरुषों का तिरस्कार करके, उन्हें ठुकरा कर, या उनका मज़ाक उड़ा कर समाज उन पर बड़ा भारी अन्याय करता है । इस अन्याय की प्रतिक्रिया अत्यंत हिंस्र रूप धारण करके समाज से बदला लेती है । तब उसकी चपेट में अपराधी और निरपराध, सदाचारी और दुराचारी, सभी आ जाते हैं ।

७. योग्य चिकित्सा से ये रोग अच्छे हो सकते हैं । यौन विज्ञान की शिक्षा आदि उचित उपायों से इनकी रोकथाम हो सकती है । प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ये रोग समाज को करोड़ों रुपयों की हानि पहुँचाते हैं, और उसके स्वास्थ्य को नष्टभ्रष्ट कर देते हैं । अतः इनके नियंत्रण की समुचित व्यवस्था होनी ही चाहिये ।

९

यौन विज्ञान की शिक्षा

हमारे देश में यह बात आज भी विचित्र लग सकती है, और कुछ वर्ष पहले तक यूरोप में भी इसे विचित्र माना जाता था कि यौन वासना रूपी मनुष्य की आद्य प्रेरणा अपनी सफलता और सार्थकता के लिए



अत्यंत कौशल्यपूर्ण और वैज्ञानिक प्रशिक्षा की अपेक्षा रखती हैं । योग्य शिक्षा के अभाव में भी यह आवेग व्यक्त होता है और अपना काम किए जाता है, यह अलग बात है । परंतु इस स्थिति में उसमें अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । इन त्रुटियों को आसानी से रोका जा सकता है । प्रत्येक युवक-युवती को यौन आवेग प्रकट होने के आरंभकाल में ही यदि स्वास्थ्य रक्षा और यौन विज्ञान संबंधी आवश्यक शिक्षा मिल जाय, तो अनेक अनर्थ टल सकते हैं । यौन समागम में परिणति चाहने वाले आवेग को यदि योग्य मार्गदर्शन न मिले तो उसकी निष्पत्ति भयावह परिणामों में हो सकती है । इसके विपरीत, योग्य समय पर उचित शिक्षा मिल जाय, तो कामोन्मत्त यौवन रोग का शिकार होने से बच सकता है; अपना उत्तरदायित्व समझ कर कुछ हद तक संयम रख सकता है; और रोगों को संबंधित व्यक्तियों तक सीमित रखने की सावधानी भी बरत सकता है ।

वैयक्तिक उत्तरदायित्व के संबंध में कई विचारकों की बड़ी कठोर राय है । उनका कहना है कि यौन विज्ञान में प्रशिक्षित युवक-युवती यदि जान बूझ कर किसी अन्य को रोगी बनाते हों, तो उन्हें कानून की दृष्टि से कठोर दंड का पात्र मानना चाहिये । विशुद्ध नैतिक दृष्टि से देखें, तो यह बात न्याय दिखाई देती है । किसी व्यक्ति को छुरे, बंदूक या विष से मारने की अपेक्षा, खुद रोगग्रस्त होने पर भी, इस बात को छिपा कर, सुख के क्षणिक आवेश में अपने भयानक रोग से किसी निर्दोष युवक या युवती को दूषित करके उसे घुला घुला कर मारना अधिक भयानक और अधिक जघन्य पाप है ।

एक रोगिणी स्त्री का वृत्तांत इस संबंध में उल्लेखनीय है । वैयक्तिक जिम्मेदारी का प्रश्न और रोग का शिकार होने वालों की बढ़ती हुई प्रतिशोध-भावना पर इस घटना से प्रकाश पड़ता है । इस स्त्री को किसी पुरुष के समागम से उपदंश का संसर्ग हो गया था । रोग अभी आरंभिक अवस्था में था, और उसकी चिकित्सा भी निःशुल्क हो रही थी । परंतु इस स्त्री ने इलाज करवाने से स्पष्ट इनकार कर दिया । उसे रोगिणी बनानेवाले पुरुष की पूरी जाति से उसे बदला लेना था । इस स्त्री के पास एक डायरी थी जिसमें उसने अपने समागम से दूषित किये हुए पुरुषों के नाम दर्ज कर रखे थे । जब यह संख्या दो सौ तक पहुँच गई, तब उसे फिर एक बार इलाज करवाने के लिये समझाया गया । परंतु उसने स्पष्ट शब्दों में ना कहते हुए जवाब दिया कि जब तक वह कम से कम पाँच सौ पुरुषों से बदला नहीं ले लेती, तब तक वह रोगमुक्त होना नहीं चाहती ।

एक अन्य ऐतिहासिक घटना का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक होगा । यह बात फ्रान्स के राजा फ्रान्सिस प्रथम समय की है । किसी प्रसिद्ध और धनवान व्यापारी की पत्नी लाबेल फॅरोनियर असाधारण सुंदरी और लावण्यवती थी । फ्रान्सिस की नज़र उस पर पड़ी; परन्तु नज़र का नज़र से जवाब नहीं मिला । राजा के सारे प्रयत्न इस युवती द्वारा ठुकरा दिए गये । सत्ताधीशों की इच्छा के अनुसार न्याय को मोड़ तोड़ कर कानूनी सुविधा उत्पन्न कर देने के लिए किसी भी युग की वकील मंडली सदा तत्पर रहती है । राजा ने भी अपने राज्य के धुरंधर वकीलों की इस विषय में राय ली । वकीलों ने फतवा दिया कि अपनी प्रजा की किसी भी स्त्री का, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित, उपभोग करने का राजा को अधिकार है । फॅरोनियर को इस निर्णय की सूचना दी गई । उसने अपने पति से इसका जिक्र किया । बहुत सोचविचार के बाद पति महोदय भी इसी नतीजे पर पहुँचे कि राजा की आज्ञा का पालन तो होना ही चाहिये । परंतु अपनी पत्नी के कहने से उसन यह निश्चय किया कि राजा को सबक भी ऐसा सिखाना चाहिये कि जीवन भर याद करे । अतः इस आज्ञा के कार्यान्वित होने से पहले उसने महत्प्रयत्न से उपदंश का रोग प्राप्त किया । फिर इस रोग से उसने अपनी पत्नी को दूषित किया और विवश होकर राजाज्ञा को शिरोधार्य करने वाली फॅरोनियर ने राजा को यह तोहफा दिया । अंत में फ्रान्सिस की मृत्यु इसी रोग के कारण हुई ।

दोनों उदाहरण अलग अलग प्रकार के हैं, परंतु प्रतिहिंसा की भावना दोनों में समान है । दोनों में अपना जीवन भ्रष्ट करनेवाले पुरुष से बदला लेने का कोई न्याय मार्ग स्त्री को नहीं मिला । कानून में

अपराधी पुरुष को दंड देने की कोई व्यवस्था होती, या किसी प्रकार से पुरुष की जिम्मेदारी का उसे ज्ञान कराया गया होता, तो शायद इन स्त्रियों की वैरभावना इस कक्षा पर न पहुँचती ।

यौन विज्ञान की उचित शिक्षा मिले बाद सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन हो और वैयक्तिक उत्तरदायित्व का तत्व स्वीकृत हो जाय, तो इन रोगों की भयानकता और व्यापकता बहुत कुछ कम हो सकती हैं । परंतु आज का प्रगतिशील मानस अपराध के सभी प्रकारों को रोगी और असंतुलित मानस का परिणाम मानने लगा है । इस नियम के अनुसार यह अपराध भी दंड के नहीं बल्कि चिकित्सा के पात्र माना जायगा, और यौन रोगों का फैलाव करने वालों के प्रति भी अंत में उदारता का ही बर्ताव करने की आवश्यकता रहेगी ।

यौन विज्ञान की शिक्षा युवावस्था के आरंभ में ही मिलनी चाहिये । शरीर के विभिन्न अवयवों का ज्ञान, जननेंद्रियों की रचना और कार्य एवं किसी भी प्रकार के अतिचार के दुष्परिणामों की जानकारी देना अत्यंत आवश्यक है । विवाहित जीवन में या विवाह की मर्यादा के बाहर, वेश्याओं के साथ या सभ्य समाज की प्रतिष्ठित मानी जाने वाली स्त्रियों के साथ किए जाने वाले यौन अनाचार में किन भयानक रोगों का खतरा समाया हुआ है, इसकी ओर भी युवक-युवतियों का ध्यान खींचना आवश्यक है । रोगग्रस्त, विकलांग या वज्रमूढ बालकों को जन्म देने वाले माता पिता केवल उन बालकों का ही जीवन नष्ट नहीं करते, बल्कि देश और जाति के ऊपर एक भयानक अभिशाप बरसाने का महापाप भी करते हैं । इस व्यक्तिगत जिम्मेदारी का ज्ञान भी शिक्षा के द्वारा ही उन्हें दिया जा सकता है । रोगों के संबंध में और भी अनेक छिपे हुए रहस्य युवक-युवतियों को समझाये जायें तो अच्छा हो; ताकि उन्हें इन रोगों से बचे रहने का मौका मिल सके ।

वर्तमान संस्कृति के तीन रोग माने गये हैं: उपदंश, यक्ष्मा और शराबखोरी । इन तीनों के विरुद्ध खतरे की घंटी बजाना स्वास्थ्य शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये । नीति-अनीति के निरर्थक झगड़ों में पड़ने से आज तक न तो कुछ हासिल हुआ है, न होगा । परंतु भयस्थानों की ओर ध्यान आकर्षित कर देने से भविष्य की प्रजा को अनेक संकटों से बचायां जा सकता है ।

इस प्रकार, शरीर विज्ञान की जानकारी, रोगों की भयानकता का ज्ञान, सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, यौन आवेग की दुर्निवार्यता का स्वीकार, और इस आवेग को संयम की लगाम से काबू में रखकर यौन जीवन को स्वच्छ और पवित्र रखने की आवश्यकता, इन पाँच तत्वों की बुनियाद पर ही यौन विज्ञान की शिक्षा का निर्माण होना चाहिये । तभी इन रोगों का निर्मूलन हो सकेगा । रोगियों के प्रति सहानुभूति रखना और उनकी योग्य चिकित्सा करके उन्हें रोगमुक्त करना बेशक पुण्य का काम है । परंतु इससे भी ऊँची कोटि का पुण्यकार्य यह है कि समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाय, कि कोई युवक या युवती इन रोगों की चपेट में आये ही नहीं । ऐसी स्थिति उत्पन्न करने का सरलतम मार्ग तो यह है कि समाज मे से गणिकावृत्ति का नामोनिशान मिटा दिया जाय । परंतु यह संभव नहीं है । हम देख ही चुके हैं कि इसके साथ जुड़ा हुआ आर्थिक पहलू इसके निर्मूलन या नियंत्रण की समस्या को कितना जटिल बना देते हैं । कामवासना रूप इससे कई गुना विकट प्रश्न भी इस संस्था के साथ जुड़ा हुआ है जो इस समस्या की गंभीरता को और भी बढ़ा देता है । परंतु फिर भी, अंतिम निष्कर्ष यही निकलता है कि उपदंश और प्रमेह आदि रोगों को नष्ट करना हो, तो पहले इनके जन्म और प्रसार का केन्द्र बिंदु होने वाली गणिकासंस्था का निर्मूलन करना ही पड़ेगा ।



नवाँ परिच्छेद
दलाली का अंतरंग

१
दलाली और व्यापार

मुनाफा कमाने की वृत्ति से किए जाने वाले किसी भी व्यापार में दलाली अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पूंजीवादी सिद्धान्तों के आधार पर किए जाने वाले व्यवसायों में तो दलालों की मध्यस्थता एक अनिवार्य आवश्यकता है। गणिका व्यवसाय में भी दलाली का स्थान महत्वपूर्ण हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि आर्थिक लाभ गणिकावृत्ति का एक प्रधान अंग है। एक दृष्टि से देखें तो गणिकावृत्ति पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का ही एक परिणाम है। अत: पूंजीवाद ने वर्तमान युग में उत्पन्न किये हुए अन्य अनेक धंधों के वर्ग में इसे भी गिना जा सकता है। विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि गणिकावृत्ति मनुष्यजाति का सबसे पुराना व्यवसाय है। इसे यदि सबसे पुराना व्यवसाय मान लें, तो स्पष्ट है कि दूसरा क्रम दलाली का ही मिलेगा। इस दृष्टि से गणिकावृत्ति और गणिकाओं की दलाली को मनुष्यजाति के दो आद्य व्यवसाय माना जा सकता है। दूसरी दृष्टि से देखें, तो गणिका को इस व्यवसाय की पूंजी, और दलाल को इस पूंजी की व्यवस्थित योजना से मुनाफा कमानेवाला व्यापारी कहा जा सकता है।

बड़े उद्योगपतियों, सटोड़ियों, थोक व्यापार के अनभिषिक्त राजाओं और उनके कुटुंबीजनों को उनके व्यापार की गणिकावृत्ति के साथ तुलना अच्छी नहीं लगेगी। परंतु अव्वल तो समर्थ व्यापारियों और सफल दलालों को यह सब पढ़ने का समय ही नहीं मिलेगा; और यदि किसी की नजर इस पर पड़ भी जाय, तो हमें विश्वास है कि वे इन विचारों को अपनी नहीं बल्कि किसी अन्य व्यापार के पूंजीपतियों की टीका मानकर आश्वस्त हो जायेंगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से गणिकावृत्ति निम्नलिखित भूमिकाओं से होकर गुज़र चुकी है :—

१. अतिथि सत्कार की भावना से मेहमान के मनोरंजन के लिए घर की स्त्रियों का नियोजन।
२. धार्मिक विश्वास या पवित्र मानी जाने वाली रूढ़ि के कारण देवताओं या मंदिरों की सेवा में कन्याओं को आजीवन समर्पित कर देने की प्रथा।
३. राज्यशासन द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में उपयोग करने के हेतु से प्रयुक्त स्त्री-समूह। युद्ध काल में सैनिकों की वासनातृप्ति के लिए भेजी जाने वाली वारांगनाओं और राजनीतिक रहस्यों का पता लगाने के लिए शत्रुपक्ष के उपभोगार्थ नियुक्त की जाने वाली जासूस रमणियों का समावेश इस वर्ग में होता है।
४. समाज द्वारा स्वीकृत और कानून द्वारा नियंत्रित वैयक्तिक गणिकावृत्ति
५. मुनाफा कमाने के हेतु से व्यापारी ढंग के संघटनों द्वारा आयोजित विशुद्ध वेश्यावृत्ति।

यह अंतिम प्रकार वर्तमान संस्कृति की प्रमुख देन है; और दलाली उसका अनिवार्य आनुषंगिक परिणाम है। पूंजीवाद के अन्य अनेक अनिष्टों के साथ हमें इसको भी स्वीकार करना पड़ेगा। अंतिम दो वर्गों के सिवा बाकी तीन वर्गों को दलालों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से नहीं पड़ती, क्योंकि इन तीनों प्रकारों में गणिकावृत्ति की बुनियाद अर्थ पर आधारित नहीं है।

कहने का आशय यह नहीं है कि पहले तीनों प्रकारों की गणिकावृत्ति में दलालों की आवश्यकता बिलकुल ही नहीं पड़ती । यह कहा जा सकता है कि अतिथिसत्कार की भावना से मेहमान को अपनी पत्नी या पुत्री अर्पित करने वाला गृहस्वामी खुद ही दलाल का स्थान ग्रहण करता था । परंतु उसमें मुनाफा कमाने का हेतु नहीं होता था, अत: गणिकावृत्ति की इस भूमिका में दलाली का अस्तित्व न मानना ही योग्य होगा । अन्य प्रकारों में भी जिस हद तक अर्थ का प्राधान्य बढ़ता जाता है, उसी हद तक दलालों की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है । धार्मिक गणिकावृत्ति में धर्म या देवता के नाम पर पंडे-पुजारी और धर्मगुरु ही दलालों की भूमिका निबाहते थे । परंतु उसमें भी विशुद्ध मुनाफाखोरी की भावना नहीं थी । देवार्पण की भावना और पवित्रता का कुछ विचार उसमें था ही । अत: इस रूप में होने वाली दलाली को उसके धार्मिक अवलंबन के कारण क्षम्य माना जा सकता है । धर्म के नाम पर होनेवाले अनाचार और अन्याय धर्म की चक्की में थोड़े बहुत पापों को भी पीस डालते हैं । राजनीतिक गणिकावृत्ति में राजनीतिज्ञों को दलाल माना जा सकता है । परंतु इस प्रकार में भी उनके वैयक्तिक लाभ की अपेक्षा किसी राजपरिवार या राज्य व्यवस्था के प्रति उनकी निष्ठा ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है जो उनकी मध्यस्थ की भूमिका को किसी हद तक दोष रहित बना देती है । अत: गणिकावृत्ति का उपयोग करने वाले राजनीतिज्ञों को स्पष्ट रूप से दलाल नहीं माना जा सकता । फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्त्री जीवन की भ्रष्टता में से सामाजिक धार्मिक या राजनीतिक लाभ उठाने वाले व्यक्ति दलाल न होते हुए भी इन स्त्रियों के पतन के लिए आंशिक रूप से जिम्मेवार अवश्य हैं ।

परंतु वर्तमान युग की व्यापारी दृष्टि से होने वाली वैयक्तिक या संघटित वेश्यावृत्ति में तो दलाल का अत्यंत महत्वपूर्ण और स्पष्ट स्थान है । जहाँ व्यवसाय की बुनियाद ही पूंजीवाद और मुनाफाखोरी पर आधारित हो, वहाँ दलालों और दलाली का विकास होना अनिवार्य है; फिर चाहे वह व्यवसाय बीमे का हो वकील का हो, वैद्य का हो, या वेश्या का हो ।

२

गणिकावृत्ति में दलाल का स्थान

आज के प्रगतिशील युग में जिस प्रकार प्रतिष्ठित व्यवसायों में दलालों, एजंटों, आढ़तियों और मध्यस्थों का स्थान निश्चित और महत्वपूर्ण होता है उसी प्रकार अप्रतिष्ठित माने जाने वाले इस धंधे में भी दलालों की आवश्यकता अनिवार्य होती है । आज के युग में व्यापारी और दलाल धन कमाने के एक ही विशाल यंत्र के परस्पर अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए चक्र माने जाते हैं । भयानक स्पर्धा के इस युग में किसी भी व्यवसाय को सफलता से चलाना आसान बात नहीं है । गणिका का धंधा भी दूर से देखने वालों को जितना सरल दिखाई देता है, उतना सरल नहीं है ।

किसी स्त्री द्वारा देह विक्रय से धन कमाने का निश्चय किया जाते ही उसे ग्राहक मिल जाते हों, और उसका धंधा सरलता से चल कर उसे अपेक्षित आय हो जाती हो, ऐसा प्राय: नहीं देखा जाता । अन्य व्यवसायों की तरह यह धंधा भी आरंभ में अनेक कठिनाइयाँ खड़ी करता है और कठिन परिश्रम एवं लगन की अपेक्षा रखता है । यह सही है कि कुछ गणिकाएँ देखते देखते हजारों रुपये कमा लेती हैं । हजारों के ज़ेवर-जवाहरात उन्हें भेंट स्वरूप मिल जाते हैं; उनकी मालिकी की जायदादें होती हैं; वे लॅन्डोगाड़ी या मोटर कार रख सकती हैं; और जो कुछ भी वे चाहें, वह उन्हें मिलता रहता है । परंतु उनकी संख्या अत्यंत नगण्य होती है । ऐसी एक सफल गणिका के पीछे हजारों हतभागिनी स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें वेश्यावृत्ति का खुला स्वीकार करके भी ग्राहकों की राह देखते बैठा रहना पड़ता है और जिन्हें कभी कभी,

लाचार होकर, अपना शील चार-आठ आनों के बदले में भी बेचना पड़ता है । इतना ही नहीं, बाह्य दृष्टि से तड़क भड़क और सुखचैन भरे दिखाई देने वाले इस धंधे में कभी कभी भयानक दरिद्रता और भुखमरी के प्रसंग भी देखे जाते हैं । अमरीका जैसे धनवान देश में एक डॉलर तो सामान्य नियम है, पर पचास सेंट (करीब दो रुपये) के लिए देह विक्रय करने वाली गणिकाएँ भी मिल जाती हैं । देह विक्रय नफानुकसान पर आधारित सामान्य आर्थिक व्यवहार बनते ही मांग और पूर्ति का नियम अपनी पूरी निष्ठुरता से इस धंधे में भी चरितार्थ होता है; और खपत के अनुपात में ही माल की कीमत मिल सकती है । विद्वानों का अर्थशास्त्र गणिका-व्यवसाय को भी अछूता नहीं छोड़ता ।

दूसरे, यह व्यवसाय अप्रतिष्ठित और कई स्थानों पर गैर कानूनी माना जाने के कारण इसमें खतरे का एक अतिरिक्त विषम तत्व जुड़ जाता है । इस कारण से भी इस धंधे में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा दलालों की आवश्यकता अधिक रहती है । अप्रतिष्ठित और गैर कानूनी करार देकर भी समाज ने इस धंधे को सहय और आवश्यक माना है । अतः प्रतिष्ठा और कानून का भंग न करते हुए धंधा किस तरह चलाना, यह टेढ़ी समस्या कुशल और अनुभवी दलालों एवं गणिकाओं के रक्षक गुंडों की आवश्यकता को और भी बढ़ा देती है ।

तीसरे, जिस क्षण से स्त्री यह निश्चय करती है कि उसे गणिकावृत्ति द्वारा उदर निर्वाह करना है उसी क्षण से उसे इस तथ्य के विज्ञापन की आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार का विज्ञापन अखबारों या अन्य प्रचलित माध्यमों द्वारा तो किया नहीं जा सकता । यह तो बड़ी चतुराई से करने योग्य विशिष्ट प्रकार का रहस्यमय प्रचार है जिसके लिए कुशल दलालों और रक्षक गुंडों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से पड़ती है । इस प्रकार का विज्ञापन होते ही वह स्त्री सभ्य समाज में से सदा के लिए बहिष्कृत हो जाती है । सभ्य समाज के सुसभ्य पुरुष उसे ढूंढते हुए आयें, यह अलग बात है । भद्र समाज से निष्कासित इन स्त्रियों को धंधा करने के लिए स्थान की भी आवश्यकता पड़ती है । प्रतिष्ठित मोहल्लों में, खानदानी परिवारों के बीच इन्हें रहने का स्थान नहीं मिल सकता यह मानी हुई बात है । अतः इन्हें विशिष्ट मोहल्लों में ही मकान ढूंढने पड़ते हैं जिनके मालिक सब कुछ जानते हुए भी अनजानपने का ढोंग करते हुए मनमाना किराया वसूल करके इन्हें कमरे देने को तैयार होते हैं । हम देख चुके हैं कि खुलेआम गणिकावृत्ति के लिए कमरे किराये पर देने वाले मकानमालिक अकसर प्रतिष्ठा और कानून को घोल कर पी जाने वाले नंबरी बदमाश होते हैं । इस प्रकार, बड़ी मुश्किल से, गणिकावृत्ति करना चाहने वाली स्त्री को रहने का स्थान मिलता है । गणिकाओं को कुछ विशिष्ट मकानों में सामूहिक रूप से रखने की प्रथा समाज द्वारा अनादि काल से आजमाई जा रही है । अब भी यह प्रथा अनेक देशों के बड़े शहरों में प्रचलित है । परंतु खुले वेश्यालयों की इस प्रथा में ही पूरी गणिकावृत्ति का समावेश नहीं हो जाता । प्रतिष्ठित माने जाने आवासों में भी चोरी छिपे वेश्यावृत्ति चलती है, यह हम देख चुके हैं । खुले वेश्यालय और प्रतिष्ठित माने जाने वाले गुप्त आवास अलग अलग प्रकार की गणिकाओं को आकर्षित करते हैं । इन स्त्रियों को अनुकूल और उपयुक्त स्थानों पर पहुँचा देने की व्यवस्था करने के लिए भी दलालों की आवश्यकता पड़ती है ।

इस प्रकार व्यवसाय और उसका स्थान निश्चित हो जाने के बाद भी पर्याप्त संख्या में ग्राहक आकर्षित करने की मुख्य समस्या बाकी रह जाती है । हम देख चुके हैं कि गणिकाओं के ग्राहक समाज के सभी वर्गों से आते हैं । चोर-डाकू, शराबी, लफंगे, खोमचेवाले, सैनिक, नाविक आदि समाज के उग्र वर्गों के साथ साथ प्रतिष्ठित माने जाने वाले वर्गों के लोग भी इस अप्रतिष्ठित संस्था का उपयोग करने को उत्सुक रहते हैं । इस वर्ग में विद्यार्थी, छोटे मोटे दूकानदार, क्लर्क, घर से ऊबे हुए गृहस्थ, रोगिणी पत्नियों के प्रतिष्ठित पति, वैविध्य चाहनेवाले रसिक, मनचले रईस, अफसर-हुक्काम और प्रतिष्ठित जीवन में रह कर भी इस रंगीन दुनिया का अनुभव चाहने वाले साहसिक इत्यादि सभी प्रकार के लोगों का समावेश होता है । गुंडे या लफंगों की तरह ये लोग धड़ल्ले से वेश्यालयों में नहीं जा सकते । अतः लोगों की नज़र बचाकर टेढ़ी मेढ़ी गलियों से इन्हें गणिकालयों में लाने का काम भी दलाल ही करते हैं ।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि वासनातृप्ति लोगों को गणिकालयों में आकर्षित करने का एक मात्र बहाना नहीं होता । अन्य कारण भी कुछ लोगों को गणिका गृहों की ओर ले जाते हैं । किसी डाकू को गणिकागृह में वासनातृप्ति का साधन तो मिलता ही है, परंतु वहाँ उसे पीछा करने वाले पुलिस के सिपाहियों से जान बचाने का या चोरी का माल छिपाने का सुरक्षित स्थान भी मिल जाता है । सांसारिक झंझटों से या घर के झगड़ों से ऊबे हुए पुरुष को गणिकालय में कुछ समय के लिए शांति, उद्दीपक वातावरण, निश्चिंत मनोरंजन और घर में न मिल सकने वाले विलास के साधन मिल जाते हैं । इस प्रकार, विषय-सेवन ही गणिकागमन का मुख्य उद्देश्य होने पर भी अनेक गौण और आनुषंगिक आकर्षण भी उसके साथ जुड़ सकते हैं । इन विभिन्न प्रकार के लोगों को आकर्षित करने के लिए गणिकालयों के संचालकों को अलग अलग प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है । चोर, उचक्के या शराबी जिन सदर दरवाज़ों से बेधड़क प्रवेश कर सकते हैं वे प्रतिष्ठित लोगों के किसी काम के नहीं । जुए के शौकीनों की अलग व्यवस्था करनी पड़ती है । खुले आम शराब पी कर दंगा करने वाले पियक्कड़ों के साथ शरमीले नौसिखियों को बैठाना योग्य नहीं होता । पीने के बाद सब के सब एक से हो जाते हैं, यह सही है; परंतु आरंभ में तो इन में तारतम्य रखना ही पड़ता है । इन सब प्रकार के लोगों को वेश्यालयों में आकर्षित करने के लिए अलग अलग युक्तियों का सोच समझ कर प्रयोग करना पड़ता है । स्पष्ट है कि अकेली गणिका यह सब नहीं कर सकती, और इस कार्य में उसे कई लोगों की सहायता लेनी पड़ती है । कई देशों में गणिकाएँ गलियों में घूम कर ग्राहकों को आकर्षित नहीं कर सकतीं । इसे केवल अशिष्टता ही नहीं, बल्कि दंडनीय अपराध माना जाता है । कामुक हावभाव या अश्लील इशारों से लोगों को आकर्षित करना भी प्राय: सभी देशों में अपराध माना जाता है । इन कानूनों को तोड़कर ग्राहक ढूंढने वाली गणिका कानूनी कार्रवाई का खतरा मोल लेती है । इस हालत में ग्राहकों को आकर्षित करके लाने का काम देह व्यापार की व्यवस्था का एक स्वतंत्र विभाग बन जाता है, जिसमें दलालों, संदेशवाहकों और कुट्टनियों की बड़ी संख्या में आवश्यकता पड़ती है ।

इस भूमिका पर पहुँच जाने पर, गणिकाओं की मांग निरंतर बढ़ती रहे, इसकी जिम्मेवारी इन्हीं लोगों पर आ पड़ती है । धंधा ज़ोरों से चलता रहे इसलिए स्वाभाविक कामोद्दीपन के उपरांत कृत्रिम रूप से विषयवासना को भड़काने वाले कामोपचारों की योजना भी इन्हीं लोगों को करनी पड़ती है । गणिकाओं के धंधे को फलाफूला रखने के लिए शराब-कोकेन, अश्लील चित्र या किताबें, कामुक नृत्य इत्यादि अनेक सहायक उपस्कारों का आयोजन किया जाता है । गणिकालयों की ओर प्रत्यक्षरूप से नहीं तो इन प्रलोभनों के परोक्ष मार्ग से लोग आकर्षित हों, ऐसी युक्ति से इन सहायक धंधों का जाल फैलाया जाता है । गणिकावृत्ति और ये व्यवसाय एक दूसरे के पूरक हैं । एक ओर आनुषंगिक व्यवसाय करने वाले ये लोग गणिकारूपी केन्द्रबिंदु के आसपास ही चक्कर काटते रहते हैं और गणिकालयों के सहारे ही पनपते हैं, तो दूसरी ओर गणिकाओं के आकर्षण को जीवित रखने के लिए इन उपव्यवसायों की आवश्यकता भी कदम कदम पर पड़ती है ।

देह विक्रय के इस व्यवसाय से गणिकाओं का जीवन निर्वाह अच्छी तरह हो सके इतनी प्राप्ति होना अत्यंत आवश्यक है । इसके उपरांत, गणिकाओं के चारों ओर बिखरे हुए इन सहायकों को भी पर्याप्त आय होती रहे यह जरूरी है । अन्यथा इनका सहयोग लंबे समय तक नहीं मिल सकता । गणिकाओं को उनके देह विक्रय की कीमत मिलती रहे और गणिकालयों के सहारे जीने वाले इन अनेकविध सहायकों को उनके परिश्रम के अनुसार उचित आय होती रहे इसकी जिम्मेवारी संचालकों के ऊपर होती है जिसे वे दलालों की सहायता के बिना पूरी नहीं कर सकते । अत: ग्राहक अधिक से अधिक संख्या में आयें: एक बार आने पर बार बार आकर्षित हों ऐसा आनंद उन्हें मिले; और इस आनंद के प्रलोभन से अधिकाधिक धन खिंच कर गणिकालयों में आता रहे इस की व्यवस्था करना गणिकालय के रक्षकों और दलालों का मुख्य कर्तव्य हो जाता है ।

इसी परिच्छेद में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि अलग अलग प्रकार के ग्राहक अलग अलग उद्देश्यों से गणिकालयों में आते हैं । परंतु उन्हें हर अतिरिक्त सुविधा की कीमत भी अलग अलग चुकानी पड़ती है । वेश्यालयों के संचालक इतने भोले नहीं होते कि बिना किसी आर्थिक लाभ के व्यर्थ में किसी झंझट में पड़ कर खतरा मोल लें । चोरी का माल छिपानेवाला ग्राहक यदि माल की कीमत का उचित हिस्सा गणिकालय के संचालकों को न दे, तो वह आसानी से पुलिस के हवाले हो सकता है । हिस्सा दिये बिना इन लोगों का छुटकारा ही नहीं । कभी कभी गणिकालयों के संचालकों के छोटे मोटे शागिर्द ही चोरी के माल का व्यापार करते रहतो हैं । गणिकालयों में आ छिपने वाले अपराधियों को हवालात की कोठरी से बचाने के लिए पुलिस के सिपाहियों और अफसरों को सदा खुश रखना पड़ता है । इस खुश रखने की क्रिया में नकद रिश्वत के उपरांत गणिकाओं के उपभोग का भी समावेश होता है ।

कुछ फसादी ग्राहक कभी कभी गणिका का उपभोग करके उसका मूल्य चुकाने से आनाकानी करते हैं । इन लोगों की खबर लेने वाली साथी गणिकाओं को हमेशा पास रखने पड़ते हैं । बलवान पुरुष-ग्राहक यदि निर्बल स्त्री को निश्चित की हुई रकम न दे, तो उसकी अक्ल ठिकाने कर के उससे जबरदस्ती रुपया वसूल करने के लिए अकेली गणिका की शक्ति कभी पर्याप्त नहीं होगी । इसके विपरीत कुछ ग्राहक निश्चित रकम से कुछ ज्यादा इनाम के तौर पर दे जाते हैं । ग्राहक निश्चित की हुई या उससे कुछ अधिक रकम संतुष्ट हो कर दे जाय और बार बार अपने ही वेश्यालय में आने को लालायित हो, ऐसा वातावरण भी इस धंधे की सफलता के लिए रचना पड़ता है । यह सब अकेली गणिका के बूते की बात नहीं । पैसे न देने वाले, शराब पीकर दंगा करने वाले, और मौका मिलने पर गणिका की ही जेब साफ कर देने वाले ग्राहकों को सीधा करने के लिए, और कानून की परवाह किए बिना केवल शारीरिक शक्ति के बल पर इन लफंगों से गणिकाओं की रक्षा करने के लिए साहसिक रक्षकों की आवश्यकता गणिकाओं को कदम कदम पर पड़ती है । उनकी सहायता के अभाव में गणिका केवल एक असहाय अबला रह जाती है ।

गणिकावृत्ति और उसके आनुषंगिक व्यवसायों पर प्राय: अपराध की छाया पड़ी रहती है । ये धंधे पुलिस-अफसरों, डाक्टरों और न्यायाधीशों की निर्मम निगरानी में ही चल सकते हैं । कदम कदम पर कानून का भंग होने का डर रहता है और नियमभंग की सज़ा अत्यंत कड़ी होती है । अत: हो सके वहाँ तक पुलिस को संतुष्ट रखकर कानून से बचने की; कोई अपराध हो जाय तो वकीलों से पैरवी करवाने की; और इससे भी काम न चले तो दबाव डलवा कर या सिफारिश लड़ा कर न्यायाधीशों को वश में करने की अनेकविध जिम्मेवारियाँ इस व्यवसाय के साथ जुड़ी रहती हैं । गणिका को अव्वल तो पुलिस थाने पर जाना ही न पड़े; यदि जाना पड़ जाय तो वह जमानत पर छूट सके; और मुकदमा चले तो उसपर लगाये हुए अभियोग सिद्ध न हों, इत्यादि जटिल दाँव पेंच लड़ाने के लिए गणिका को अनेक मित्रों, रक्षकों, और सहायकों की आवश्यकता पड़ती है । पुलिस को खुश करना, वकीलों की फीस तय करना, और अदालत में अर्दली-मुहर्रिर से लगाकर न्यायाधीश तक को संतुष्ट रखना आदि झंझट भरे काम देह विक्रय करने वाली अकेली या असहाय स्त्री के बूते से बाहर होते हैं ।

३

दलालों का व्यावहारिक उपयोग

इस व्यवसाय में कमाई के मुख्य साधन हैं गणिकाएँ और उनका देह विक्रय । परंतु यह साधन सुरक्षित रहे, दिनों दिन उसकी मांग बढ़ती रहे और वह अधिकाधिक धन कमाता रहे आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अकेली गणिकारूपी पूंजी पर्याप्त नहीं होती । पूंजी का योग्य विनियोग किए बिना कोई भी

धंधा सफलता से नहीं चलाया जा सकता । गणिकावृत्ति भी इस नियम का अपवाद नहीं है । परंतु इसमें एक कठिनाई खड़ी होती है । गणिकाओं का इस व्यवसाय में पूंजी के रूप में प्रयोग भले ही किया जाय; परंतु यह पूंजी जड़ नहीं है । पशुधन की तरह मूक नहीं है, और गुलामों की तरह पराधीन नहीं है । मानव-समाज की शिष्टताओं को तोड़ फेंकने वाली यह विद्रोहिणी नारी आखिर तो मनुष्य प्राणी है । अत: मानव सुलभ भावनाओं, मनौविकारों और आवेगों की अनुभूति उसे भी होती है । स्वभाव से ही विद्रोहिणी होने के कारण उसके ये मनोभाव और भी उग्र हो उठते हैं । अत: जड़ पूंजी की तरह उसका चाहे जैसा उपयोग नहीं किया जा सकता । उसका उपयोग करनेवालों को जाने-अनजाने कुशल मनोवैज्ञानिक की भूमिका निबाहनी पड़ती है । जड़ पूंजी का हम अपनी इच्छानुसार, चाहे जैसा उपयोग कर सकते हैं । पेट्रोल, सीमेंट, नाज, कपड़ा या सोना चांदी यह नहीं कहते कि हम अमरीका में ही रहेंगे और जापानियों के पास नहीं जायेंगे । जड़ साधन-सामग्री का उपयोग कब, कहाँ, और कैसे होता है, इस विषय में वह उदासीन रहती है । उसका पीस कर बुरादा कर दीजिये, भट्टी में डाल कर गलाइये, या उसके मनमाने रुपांतर कीजिये, जड़ पूंजी इस विषय में बिलकुल निस्पृह रहती है ।

परंतु गणिका जड़ नहीं है । वह चैतन्ययुक्त है; वह मनुष्य है । और साधारण नहीं बल्कि विद्रोही, असामान्य, रोगी और आवेशमय मनुष्य है । मानवदेह के अलावा उसे मनुष्य का मन और मनुष्य की बुद्धि भी मिली है । मनुष्य प्राणी की सभी विशिष्टताएँ और सारी कमज़ोरियाँ भी उसमें हैं । एक क्षण में वह अत्यंत जिद्दी और हृदयहीन हो सकती है; तो दूसरे क्षण वह भावुकता के आवेश में प्राणों का बलिदान कर सकती है और तीसरे क्षण में निपट निर्लज्जता और अश्लील वाणी का प्रयोग कर सकती है । इस प्रकार की तीव्र भावप्रवणता से संचालित इस असाधारण नारी को कभी बहला कर खुश रखने की, कभी धमका कर चुप करने की, और कभी मारपीट कर शांत करने की आवश्यकता इस धंधे में कदम कदम पर पड़ती है । वह रूठ जाय तो उसे मनाना पड़ता है; उदास हो जाय तो उसे प्रफुल्ल और हँसमुख बनाना पड़ता है; और उदासीन या लापरवाह हो जाय तो बहला फुसला कर या सुंदर जेवर कपड़ों का प्रलोभन दिखा कर उसे जीवन के प्रति आसक्त करना पड़ता है । इन सब कार्यों के लिए उसे एक ऐसे मित्र की आवश्यकता होती है जो उसके स्त्रीत्व को प्रभावित कर सके, उसके उत्साह को जागृत रख सके और उसके स्नेह का संपादन कर सके । ऐसे प्रेमी या रक्षक के अभाव में गणिका का पेशा सफलता से नहीं चल सकता ।

स्त्री जब किसी प्रकार के आर्थिक लाभ के बिना देह समर्पण करती है तब उसका यह कृत्य आकर्षण या प्रेम कहलाता है । जब वह बदले में धन की इच्छा रखती है, तब वह गणिकावृत्ति में पहला कदम रखती है; और जब वह अनेक पुरुषों से रुपया लेकर देह विक्रय करने लगती है, तब वह पेशेवर वेश्या बन जाती है । एक बार इस पेशे को स्वीकार करते ही उसे व्यवसाय के योग्य स्थान प्राप्त कर देने वाले; पर्याप्त संख्या में ग्राहक भेज कर उसके धंधे को चलता रखने वाले; पुलिस और अन्य आफतों से उसकी रक्षा करने वाले; और आवश्यकतानुसार उसे मना कर, समझा कर, धमका कर, या पीट कर उसके स्त्रीत्व को संतुष्ट करने वाले पुरुष की तीव्र आवश्यकता महसूस होती है । मित्र, प्रेमी, दलाल और संरक्षक की भूमिकाएँ एक साथ निबाह सकने वाले किसी पुरुष के अभाव में उसका काम चलना मुश्किल हो जाता है । गणिकाओं की दलाली करने वाले पुरुषों के वर्ग में से ही कोई भलामानस दिखाई देने वाला गुंडा इस पद पर आसीन हो जाता है । शीघ्र ही वह अपनी गौण भूमिका को भुलाकर गणिका पर संपूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेता है और गणिकावृत्ति के व्यवहार-चक्र को चलता रखने वाला एक कुशल संचालक बन बैठता है । परिस्थिति इस रफतार से बदलती है कि कुछ दिनों में ही इस दलाल की नज़र में उसकी आश्रिता गणिका उसके इशारों पर नाचने वाली कठपुतली और उसके लिए धन कमाने का एक यंत्र मात्र रह जाती है । क्रमश: वह और स्त्रियों को भी अपने नियंत्रण में लाता जाता है और शीघ्र ही उसके चारों ओर स्त्रियों के क्रय विक्रय का एक विस्तृत, और अन्तर्प्रान्तीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार खड़ा हो जाता है जिसका सूत्रसंचालन उसी के हाथ में होता है । यह हम देख ही चुके हैं कि ऐसे विशाल पैमाने पर चलने वाले इस

व्यवसाय में अपराधियों से लगाकर न्यायाधीश तक, और गुंडों से लगा कर कानून की रचना करने वाले राजनीतिज्ञों तक —सभी प्रकार के लोग उलझे रहते हैं।

गणिकाएँ किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर इन रक्षक गुंडों को अपने ऊपर हुकूमत चलाने देती हैं, यह स्त्री-मानस का एक गुह्यतम रहस्य है। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करें। एक गणिका कहती है: "मेरा प्रेमी मित्र अत्यंत समर्थ और प्रभावशाली है। उसका रसूक सब जगह है। पुलिस कमिश्नर साहब के दफतर में उसका रोज का आना जाना है। दफतर के सभी लोग उसके मित्र हैं; अतः पुलिस के सिपाही मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। कभी कोई अनजान आदमी मुझे किसी गैरकानूनी काम में फँसाने की कोशिश करता है, तो भी मुझे डर नहीं लगता। मेरा प्रेमी न्यायाधीश से दो बातें करके मुझे बड़े से बड़े अपराध से तुरंत बरी करवा सकता है।"

एक गणिका चार वर्ष में छियानबे बार कानून को भंग करती हुई पकड़ी गई। हर बार उसके रक्षक मित्र ने उसे जमानत पर या जुरमाना देकर छुड़वा लिया। दलालों की इस उदारता को मनुष्यता या सहृदयता से प्रेरित मानने की गलती कोई न करे। गणिका उनकी दाल रोटी और सुख समृद्धि का साधन होती है। इसी कारण वे इतनी उदारता दिखाते हैं। परंतु गणिकाओं के मन में ऐसे रक्षक, प्रेमी या दलाल के प्रति कृतज्ञता की भावना क्यों होती है, और इन लोगों के प्रति वे इतनी आकर्षित क्यों होती हैं, इसका स्पष्टीकरण इन उदाहरणों से हो जाता है। पुलिस या कानून के चंगुल से बचाने वाले पुरुष को गणिका सच्चे हृदय से चाहने लगे, यह स्वाभाविक है। पुरुष स्त्री-स्वभाव की इस कमजोरी को पहचानता है और आश्रिता गणिका सदा उसके वश में रहे ऐसे छोटे मोटे अहसान उस पर करता रहता है।

४

दलाल : रक्षक, प्रेमी या गुंडा?

जिस प्रकार अन्य प्रतिष्ठित व्यवसायों में बेकारी की समस्या खड़ी होती है, उसी प्रकार गणिकावृत्ति में भी धंधे के अभाव में खाली बैठे रहने के अनेक मौके आते हैं, जो उसे एक अत्यंत अनिश्चित और जोखिम भरा व्यवसाय बना देते हैं।

कभी कभी पुलिस या सरकारी स्वास्थ्य विभाग द्वारा गणिकालयों को कुछ समय के लिए बंद करवा दिया जाता है या विशिष्ट मोहल्लों से गणिकाओं को हटा दिया जाता है। इस हालत में अन्य स्थान मिलने तक गणिकाओं का धंधा बंद हो जाता है। कभी कभी उन्हीं मोहल्लों में रहने वाले प्रतिष्ठित पड़ोसियों की नैतिक या नागरिक भावना एकाएक जागृत हो उठती है। इस हालत में वैयक्तिक रूप से, अखबारों के प्रचार द्वारा, या कानून के माध्यम से मकानमालिकों पर दबाव डाला जाता है और वे गणिकाओं से मकान खाली करवा लेते हैं। कभी कभी किसी विशिष्ट गणिकागृह में ग्राहकों का आना ही बंद हो जाता है। इस स्थिति में भी गणिकाओं को वह स्थान छोड़ कर अन्य कहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार की कोई भी मुसीबत आ पड़ने पर अन्य मकान ढूंढने के लिए, और ग्राहकों को उन नये स्थानों में आकर्षित करने के लिए दलालों की आवश्यकता पड़ती है। दलाल को यह सब व्यवस्था पूरी करने में किसी चतुर व्यापारी की सी योजनाशक्ति का परिचय देना पड़ता है। उसकी आश्रिता गणिकाएँ और उसके द्वारा संचालित वेश्यालय, अन्य वेश्याओं या वेश्यालयों के मुकाबले में नीचे दर्जे के प्रमाणित न हो जायँ, इसकी सावधानी भी उसे रखनी पड़ती है। इसके उपरांत, थकी हुई या आलसी गणिकाओं को जागृत रखने की, उन्हें सुंदर वस्त्रालंकारों से सजाने की और ग्राहकों को उनके प्रति सदा आकर्षित रखने की जिम्मेवारी भी इन्हीं लोगों पर आती है। इस प्रकार गणिका का प्रेमी दलाल या रक्षक क्रमशः उसके व्यवसाय का व्यवस्थापक या

अधिष्ठाता बन जाता है ।

गणिकावृत्ति एक ऐसा धंधा है कि जिसमें मानव-व्यवहार का स्तर अत्यंत नीचा रहता है —या रखना पड़ता है । यह व्यवसाय नैतिक या कानून की दृष्टि से सह्य है या नहीं, इसकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे । गणिकाओं के ग्राहकों का बहुत बड़ा भाग समाज के जिन स्तरों से आता है उसे देखते हुए इस धंधे में उच्च प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती । गणिकाओं के अधिकांश ग्राहक शराबी, ठग, गुंडे, फसादी और सामान्य तौर से अपराधी माने जाने वाले वर्गों से आते हैं । यह सही है कि सभ्य और प्रतिष्ठित माने जाने वाले लोग भी छिपकर गणिका गृहों में आते हैं । परंतु एक बार गणिकालय में पहुँचने के बाद उन्हें सभ्य या प्रतिष्ठित दिखाई देने की आवश्यकता नहीं रहती; और वे भी बहुत जल्द गणिकालयों के अश्लील वातावरण के अनुरूप बर्ताव करने लगते हैं । नफासत और तहज़ीब भरा बर्ताव करने वालों की संख्या तो बहुत ही कम होती है । इतना ही नहीं, कुछ पशुवृत्ति वाले दहकान तो गणिकाओं से विचित्र या विपरीत देह संबंध की मांग करते हैं । कुछ उन्हें ठगने के हेतु से आते हैं और कुछ उनके रुपये पैसे, माल-असबाब या ज़ेवर पर भी हाथ साफ कर जाने वाले होते हैं ।

इन विकट प्रसंगों पर गणिका, जो अंत में एक दुर्बल नारी ही है, यदि अरक्षित और अकेली हो, तो इन उजड्डों का मुकाबला कैसे कर सकती है ? परंतु उसका रक्षक सदा उसके आसपास ही मँडराता रहता है । ठगों, गँवारों और शोहदों की युक्तियों और धमकियों से गणिका की रक्षा वही करता है । जरूरत पड़ने पर वह मारपीट के लिए भी तैयार रहता है । गणिकाओं के रक्षक अकसर कसरती जवान होते हैं और ग्राहक को मारपीट कर या धक्के देकर मकान से बाहर निकाल देने की ताकत रखते हैं । कुछ भी हो, इन लोगों की सहायता से ही गणिकाएँ अनाड़ी ग्राहकों की ज्यादतियों से बच सकती हैं ।

इसके उपरांत, जैसा कि हम देख चुके हैं, गणिकाओं की भाव प्रवणता भी अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है । नशे की खुमारी के योग से यह और भी बलवती हो उठती हैं । गणिकाओं को अपने ग्राहकों के साथ शराब पीनी पड़ती है । आरंभ में कम होने पर भी, धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ती जाती है और कुछ ही समय में उन्हें शराब की आदत पड़ जाती है । देह का अमर्याद उपभोग गणिका के मन और शरीर को शिथिल और जर्जर कर देता है । खंडहर बने हुए शरीर और वीरान बने हुए मन को कुछ स्फूर्ति देने के लिए गणिकाओं को शराब की सहायता लेनी ही पड़ती है । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही वे कोकेन की आदी हो जाती हैं । पराकाष्ठा के कृत्रिम भाव-जगत् में जीवन यापन करने वाली गणिकाओं की भावनाएँ विरूप और विकृत होकर उनके मन में ऊब, उदासीनता, निराशा, आत्मघात और हत्या तक के भयानक विचार जगाती रहती है । शरीर और मन को झकझोर देने वाली इन विषम स्थितियों में से गणिका को परावृत्त करके उसे व्यवसाय की प्रवृत्तियों में रमाये रखने के अनेकविध उपचार इन रक्षकों को करने पड़ते हैं । गणिकाओं को बहलाने की, समझाने की, धमकाने की, और सबसे कठिन तो उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने की विविध चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं । इस के अभाव में गणिकाओं की प्रक्षुब्ध भावनाएँ उनके धंधे के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं; और उन्हें और उनके संरक्षकों को, दोनों को बेकार रहना पड़े ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है । अत: रक्षकों को इन मानसिक उपचारों में अत्यंत दक्ष होना पड़ता है । जिद या भावुकता का असामयिक प्रदर्शन होने पर गणिका को बहला-फुसला कर, डरा-धमका कर, मार-पीट कर या उसके प्रति प्यार प्रदर्शित करके व्यवसाय के हितों को सुरक्षित रखना पड़ता है । गणिकावृत्ति के विचित्र व्यवसाय में गणिका की विकृत मनोवृत्तियों को संभालने का नाजुक कार्य करनेवाला यह व्यक्ति व्यवसाय की परम आवश्यक नियोजक शक्ति सिद्ध होता है । इनके अभाव में लंबे समय तक वेश्यावृत्ति के प्रति अभिमुख रहना, अनुभवी से अनुभवी गणिका के लिए भी संभव नहीं होता । ऐसे घनिष्ठ संबंध में से गणिका और उसके रक्षक के बीच एक प्रकार की गहरी समवेदना उत्पन्न होती है जिसकी परिणति गणिका के पक्ष मे प्राय: विशुद्ध प्रेम में होती है । गणिका को मारने-पीटने वाले, उसे कड़े नियंत्रण में रखने वाले, परंतु

आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की परवाह किए बिना उसकी रक्षा करके उसके हृदय में प्रेम का अंकुर जमाने वाले इन गुंडों को ही समय बीतने पर गणिकाएँ अपना अभिन्न मित्र और प्रेमी मानने लगती हैं । इसे स्त्री-हृदय की एक रहस्यमय विचित्रता या अनाकलनीय विशिष्टता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? प्रथम दृष्टि से देखने पर तो 'गणिका' और 'विशुद्ध प्रेम' ये दो शब्द एक दूसरे से इतने भिन्न दिखाई देते हैं कि उनका एक साथ उच्चारण करने को भी जी नहीं चाहता । एक ओर गणिका पैसा देने वाले चाहे जिस पुरुष को देह समर्पण करने वाली बाज़ारी नारी है, जो वर्षों तक यह काम करती रहती है । परंतु दूसरी ओर उसके स्त्री हृदय में अपने संरक्षक और प्रेमी के प्रति विशुद्ध प्रेम की ज्योति भी जलती रहती है । अनेक पुरुषों के समागम से दूषित इस नारी के हृदय में भी अपने प्रिय पुरुष के लिए सर्व समर्पण करने की स्त्री सहज भावना और किसी सती स्त्री की सी सच्ची एकनिष्ठा सदा सुरक्षित रहती है । इस तथ्य को जान कर स्वयं स्फूर्त प्रेम के प्रति हमारे मन में निस्सीम आदर उत्पन्न होता है और हम यह चाहने लगते हैं कि स्त्री-पुरुष के संबंध में से प्रेम के सिवा और सारे तत्व अविलंब नष्ट हो जायँ तो अच्छा हो । यह बात विचित्र लग सकती है पर है सत्य कि प्राय: सभी गणिकाएँ अपने स्त्रीत्व को संतुष्ट करने के लिए किसी न किसी प्रेमी से वैयक्तिक संबंध अवश्य रखती हैं । उनके सुख, संतोष और समाधान के लिए एवं उनका प्रेम संपादित करने के लिए वे अपना कलंकित व्यवसाय वर्षानुवर्ष करती रहती हैं । इतना ही नहीं उनके दुर्व्यवहार और मारपीट तक को हँसते हुए सहन कर लेती हैं और अंधी उदारता से अपनी कमाई की पाई पाई उन्हें दे देती हैं । उनके प्रेमप्रेरित सर्वसमर्पण में इतना स्वार्थत्याग मानो पर्याप्त न हो, ऐसा मान कर अपने प्रेमी के सच्चे या कल्पित सुख की खातिर खुद ईर्ष्या की अग्नि में जल कर भी उसे अन्य स्त्रियों के साथ मनमाना विलास करने देती हैं । इतना सब करने पर भी उनके हिस्से में प्राय : निराशा और भ्रम-निरास के सिवा और कुछ नहीं आता । इस हालत में धनहीन, सुरक्षाहीन, रोगपीड़ित, स्थान भ्रष्ट और प्रेमविहीन हो जाने वाली ये स्त्रियाँ, किसी सती स्त्री की तरह अपने प्रेमी का नाम जपती हुई, आत्महत्या भी कर लेती हैं ।

गणिकाओं को इस प्रकार के प्रेमी उनके संरक्षक, सहायक या दलालों में से ही चुनने पड़ते हैं । समूचे शिष्ट समाज द्वारा ठुकराई हुई यह अभागिनी नारी उनके लिए क्या क्या सहन करती हैं इसकी कहानी सुनें तो हमें यही मालूम देगा कि इन गणिकाओं के प्यार की उत्कटता लैला-मजनू या शीरीं फरहाद के प्रणय संबंध से तिल भर भी कम नहीं होती । इसके कुछ उदाहरण देख लेने से इस विचित्र तथ्य का स्पष्टीकरण हो सकेगा ।

५

कुछ प्रेमदीवानी गणिकाओं के उदाहरण

१. ब्राउनी नामक एक कुप्रसिद्ध गुंडा था । इरीन नामक गणिका का उसपर अत्यधिक प्रेम था । वह अपनी पूरी कमाई उसे दे देती थी । इरीन को जब मालूम पड़ा कि उसका प्रेमी अन्य स्त्रियों से भी संबंध रखता है, तब उसने इसका प्रबल विरोध किया । ब्राउनी ने इसकी कोई परवाह नहीं की । अपना प्रेमी अन्य स्त्री से संबंध रखे यह बात इरीन को इतनी नागवार लगी कि उसने जहर खा कर आत्महत्या कर ली । मरने से पहले उसने निम्नलिखित वक्तव्य लिखकर तकिये के नीचे छिपा दिया था: —"केवल ब्राउनी के प्रेम और उसके लिए धन कमाने की खातिर मैं वेश्या बनी । तीन साल तक उसने मेरे पेशे की कमाई से गुलछर्रे उड़ाये । परंतु उसका खर्च दिनों दिन बढ़ता ही गया । मैंने अपनी कमाई बढ़ाने के भरसक प्रयत्न किए, परंतु मेरी आमदनी उसके शाही खर्चों को पूरा नहीं कर सकी । अधिक धन कमाने की लालच में उसने और भी दो लड़कियों को फुसलाकर इस पेशे में डाला । परंतु वह उनसे प्रेम भी करने

लगा था, जो मुझसे देखा नहीं गया । इसीलिए मैं आत्महत्या कर रही हूं । मेरी मृत्यु के लिए और कोई तो नहीं, हाँ, ब्राउनी अवश्य जिम्मेदार है ।''

२. रँशेल नामक एक और गणिका का उदाहरण लें । इस युवती का जन्म किसी छोटे से गाँव में हुआ था । उसके माता-पिता अत्यंत धार्मिक वृत्ति के थे । पिता गाँव की पाठशाला में अध्यापक थे । हाईस्कूल तक की शिक्षा उसने वहीं पूरी की थी । गाँव में उसका जी नहीं लगा इसलिए वह शहर के बड़े अस्पताल में परिचारिका का काम सीखने गई और वहीं रहने लगी । यहाँ उसका किसी मरीज़ से प्रेम संबंध हो गया । परिणाम यह निकला कि मरीज़ का तो केवल थोड़ी-बहुत भर्त्सना से छुटकारा हो गया; परंतु रँशेल को अस्पताल के प्रतिष्ठित अधिकारियों ने निकाल दिया । इस कांड की सूचना उसके माता-पिता को दी गई । धर्म प्राण पिता ने पत्र लिखा कि वह उस कलंकिनी का मुँह भी देखना नहीं चाहते और अपना काला मुँह लेकर उनके दरवाज़े पर आने की कोशिश वह न करे । उनसे भी अधिक धर्मप्रवण माता ने लिखा कि ऐसी दुश्चरित्र संतान का कुकृत्य सुनने से पहले ही वह मर गई होती तो अच्छा होता ।बहादुर भाई ने लिखा, ''मेरी बहन को भ्रष्ट करने वाले बदमाश का पता मैं ज़रूर लगाऊंगा, और उसके प्राण लिए बिना नहीं छोड़ूंगा ।''

पवित्र माता ने अपने प्राण त्यागे या नहीं, और बहादुर भाइ ने किसी के प्राण लिये या नहीं, यह तो हम नहीं जानते । परंतु इतना हमें मालूम है कि प्रतिष्ठा और पवित्रता के ठेकेदारों द्वारा ठुकराई हुई रँशेल को जब ये पत्र मिले तब वह तीन दिन की भूखी थी । आजीविका की तलाश करते करते उसे एक साधारण दर्जे के उपाहार गृह में काम मिला । कुछ दिनों बाद उसे मालूम हुआ कि वह माँ बनने वाली है । अपने प्रेमी से मिलने के लिए वह कभी कभी अस्पताल जाया करती थी; परंतु वहाँ के कड़े नियमों के कारण मिलना मुश्किल हो जाता था । रोगी महाशय ने इस दरमियान किसी और परिचारिका से संबंध जोड़ लिया होगा; अतः वह उससे चोरी छिपे मिलने को भी उत्सुक नहीं था । निराश होकर वह गर्भपात करवाने वाले किसी शल्यचिकित्सक के पास गई; परंतु उसकी लंबी चौड़ी फीस चुकाने जितने रुपये उसके पास नहीं थे । अंत में उसने गलियों में भटकना शुरू किया और वेश्यावृत्ति करके थोड़ा बहुत रुपया कमाने लगी । इससे कुद ही दिनों में उसे उपदंश का संसर्ग हो गया । इन्हीं दिनों उसका हेरी नामक दलाल से परिचय हुआ जिसने बुरे दिनों में उसकी बहुत सहायता की । उसे अच्छा खाना और अच्छे कपड़े मिलते रहें ऐसी व्यवस्था की और उसके इलाज का खर्च भी उसीने किया । माता, पिता, भाई, प्रेमी, सभी द्वारा ठुकराई हुई, असाध्य रोग के आक्रमण से अक्रांत और कुछ ही दिनों में जन्म लेने वाले बालक की चिंता से उलझन में पड़ी हुई अबला के मन में ऐसे गाढ़े समय में सहायता पहुँचाने वाले पुरुष के प्रति निर्व्याज प्रेम उत्पन्न हो जाय तो आश्चर्य किस बात का ? बदले में वह हँरी की रखैल के रूप में रहने लगी और वेश्यावृत्ति करके उसके लिए धन कमाने लगी । इस पुरुष के प्रति रँशेल का प्रेम तो हार्दिक था, परंतु हँरी को इसकी न तो परवाह थी और न जरूरत । उसे तो धन कमाने वाली एक गणिका की आवश्यकता थी, जो पूरी हो गई । धीरे धीरे वह रँशेल के साथ निर्दयता का बर्ताव करने लगा । गालियाँ देना और मारना-पीटना रोज़मर्रा की मामूली बात हो गई । उसने किसी अन्य स्त्री से विवाह भी कर लिया । क्रमशः वह और भी अनेक स्त्रियों से संबंध रखने लगा ।

ऐसे पाजी पुरुष के प्रति रँशेल एकनिष्ठ क्यों रही, इसका उत्तर उसी के शब्दों में सुनें. ''हँरी के साथ खिलवाड़ करने वाली अन्य स्त्रियाँ प्रेम का अर्थ भी नहीं जानतीं । प्रेम एक बड़ी भारी बीमारी है, जिसकी कसक का शरीर के रोम रोम में अनुभव किया जा सकता है । प्रियतम के बिना इस बीमारी में चैन नहीं पड़ता और उसके अभाव में पूरी दुनिया ही मानो शून्य हो जाती है । मैं जानती हूं कि मेरे प्रियतम का अनेक स्त्रियों से संबंध है और उसके कई बच्चे भी हैं । परंतु इससे मुझे क्या वास्ता ? वह लफंगा है, तो हुआ करे; धोखेबाज है, तो भी क्या हर्ज है ? जीवन का सच्चा आनंद मुझे तभी मिलता है जब वह मेरे पास

होता है । अपनी कमाई की पाई पाई उसे दे देती हूं तभी मुझे पूर्ण संतोष होता है । गणिका के रूप में जब मैं अन्य लोगों को देह समर्पण करती हूं, तब मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं कोई पाप कर रही हूं । क्योंकि यह तो मैं अपने प्रेमी की खातिर, अपने प्रेमी के सुख के लिए करती हूं । मेरी कमाई के रुपयों से जब वह अपनी आवश्यकता की चीज़ें खरीदता है तब मुझे जीवन की कृतार्थता का अनुभव होता है । इतना ही नहीं, जब वह मेरी कमाई के रुपये अन्य स्त्रियों पर खर्च करता है, तब भी मुझे किसी तरह की जलन नहीं होती । मेरे प्रेमी को मैं रुपया दे सकती हूं, यही मेरे जीवन का सब से बड़ा सुख है । और इसके बदले में मैं क्या चाहती हूं ? महीने में सिर्फ एक रात वह मेरे साथ रह जाय, तो भी मुझे संतोष है । केवल इसीलिए मैं अपना हाड़मांस बेचती हूं । उसके लिए मैं कुछ भी करने को तैयार हूं । अन्य स्त्रियाँ यह भी नहीं जानतीं कि प्रेम किस चिड़िया का नाम है । परंतु मैं समझती हूं; क्योंकि मैं प्रेम के लिए दुख सहन करना जानती हूं; त्याग करना जानती हूं । अपने प्रेमी को सुख पहुँचाने से मुझे अकथनीय संतोष मिलता है; और यह संतोष ही मेरे जीवन की अनमोल निधि है ।"

प्रतिष्ठित समाज की कितनी गृहिणियाँ अपने विवाहित पति के प्रति ऐसे एकांतिक प्रेम का दावा कर सकती हैं ? विवाहित जीवन में ऐसा प्रेम नहीं होता, या नहीं हो सकता, यह कहने का आशय नहीं है । विवाहित-प्रेम के इससे भी बढ़ चढ़ कर उदाहरण मौजूद हैं । परंतु ऐसी कोई मिसाल देने से पहले यह याद रखना जरूरी है कि हम इस समय सभ्य और प्रतिष्ठित समाज की बात नहीं कर रहे । इन दलालों में से कई लोग विवाहित होते हैं । कई लोगों के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं । दलालों के संपर्क में आने वाली स्त्रियों का विवाहित जीवन इसी तरह का, अस्त-व्यस्त होता है । कई स्त्रियाँ एक से अधिक पुरुषों की पत्नी के रूप में रह चुकी होती है । अनीति के इस बाजार में विवाह को कोई खास महत्वपूर्ण संबंध या महत्वपूर्ण बंधन नहीं माना जाता । फिर भी कभी कभी यह देखा जाता है कि इन दलालों की पत्नियाँ अत्यंत सुशील होती हैं । कभी कभी स्त्रियों की दलाली करने वाले पुरुष अपनी कुलीन पत्नियों से अपना धंधा छिपाये रखते हैं । परंतु कभी न कभी उन्हें सत्य स्थिति का ज्ञान हो ही जाता है । अपनी पत्नियों की, बच्चों की, और कुटुंबीजनों की ये लोग कैसी दुर्दशा करते हैं, और नारी हृदय चुप रहकर क्या क्या सहन करता है, इसका भी एक उदाहरण यहाँ प्रासंगिक होगा ।

३. एक दलाल कई वर्षों तक जेल में रहा । उसकी पत्नी ने मेहनत-मज़दूरी और चौका बरतन करके जैसे तैसे अपना और बच्चों का पेट भरा । जेल से वापस आते ही इस आदमी ने शराब और वेश्याओं की दलाली का अपना पुराना काम फिर शुरू कर दिया । कुछ दिनों में ही उसका एक युवती से संबंध हुआ जिसे फुसलाकर वह उससे वेश्यावृत्ति करवाने लगा और रुपया कमाने लगा । इस लड़की को वह अपनी पत्नी और बच्चों के साथ घर में ही रखता था । धीरे धीरे उसकी लालच बढ़ती गई और उसने एक और युवती को फाँसा । कुछ दिनों बाद यह लड़की भी उसके साथ ही रहने लगी । पत्नी बेचारी सब के लिए खाना बनाती और स्थायी मेहमान के रूप में आ बसने वाली इन युवतियों की आवभगत भी करती । उसने कोई शिकायत नहीं की और सिर्फ पति को खुश रखने के हेतु से सबके साथ हिलमिल कर रही । परंतु अंत में इस आदमी ने किसी और स्त्री के साथ संबंध जोड़ा और वह उसके साथ अलग रहने लगा । इस निर्घृणता को पशुता कहना पशुओं का अपमान करना है । सुशील पत्नी ने तो पति के यौन अनाचारों को सहन कर लिया, और वह भी मुस्कराते हुए; परंतु बालकों पर इस गंदे वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना भी भयजनक है । उपरोक्त उदाहरण में निर्मम पुरुष परिवार को छोड़कर स्वेच्छाचार करता रहा । परंतु इन दलालों की पत्नियों को इससे भी अधिक अत्याचार सहन करने पड़ते हैं । इसके भी दो-एक उदाहरण देख लें: —

४. रोज़ नामक एक तीव्र वासना वाली युवती थी । उसका किसी दलाल के साथ प्रेम संबंध था । कुछ दिनों बाद उसने उससे विवाह कर लिया और घर गृहस्थी बसा कर रहने लगी । उसके पति का धंधा तो गणिकाओं की दलाली करना ही था । घर में कई कमरे थे । उसके पति ने ये कमरे वेश्यावृत्ति करने

वाली युवतियों को किराये पर देना शुरू किया । उनकी कमाई में भी उसका साझा था । धीरे धीरे उसके घर में ही, जहाँ उसकी विवाहिता पत्नी रहती थी, वेश्यावृत्ति का धंधा ज़ोर शोर से चलने लगा । एक दिन इनमें की कोई युवती कहीं बाहर गई थी, कि इतने में उसे ढूंढता हुआ कोई ग्राहक आ पहुँचा । उस समय और कोई लड़की भी घर में मौजूद नहीं थी । अतः गृहस्वामी ने अपनी पत्नी को समझाया कि वह अगर इस ग्राहक को संभाल ले, तो दो डॉलर की हाथ में आई हुई रकम गँवानी नहीं पड़ेगी । इस प्रकार पति की प्रेरणा से पत्नी को वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । दलालों की पत्नियों की दु:स्थिति का सही अंदाज़ लगाने के लिए एक और उदाहरण देख लें ।

५. ॲलिस नामक एक युवती का विवाह भी गणिकाओं की दलाली करने वाले पुरुष से हुआ था । उसके दो बच्चे भी हुए । उसका पति हमेशा उसे गणिकावृत्ति करने के लिए समझाया करता था । सुखमय गृहस्थी चलाने के लिए कभी कभी की वेश्यावृत्ति कितनी उपयोगी होती है, इसका पारायण वह अपनी पत्नी के सामने करता ही रहता था । इस पेशे से मिल सकने वाले सुखचैन के प्रलोभन भी उसने दिखाये, परंतु छ: वर्ष तक ॲलिस उनका मुकाबला करती रही । एक बार उसके पति के आश्रय में वेश्यावृत्ति करने वाली एक युवती, जो उसकी आमदनी का मुख्य स्रोत थी, बीमार पड़ गई । छ: साल तक प्रलोभनों का मुकाबला करने वाली पत्नी अब डगमगा गई, और पति के धंधे में खलल न पड़े, केवल इसी भाव से प्रेरित होकर उस बीमार युवती का स्थान ग्रहण करने को तैयार हो गई । इस बहाने उसके पति की इच्छा पूरी हुई । वेश्याओं के दलालों की नज़र में और उनके चारों ओर के वातावरण में विवाह कोई बंधन नहीं माना जाता, और यौन-पवित्रता या एक निष्ठा आदि भावों का तो इस दायरे में कोई अर्थ ही नहीं होता ।

६
प्रेम का अक्षय स्रोत

अनुत्तरदायित्व के कुछ भयानक उदाहरणों का निरीक्षण हमने किया । फिर भी गणिकाएँ दलालों और रक्षकों के प्रति आसक्त होती हैं । इसका कारण समझ में न आये, यह अलग बात है; परंतु इतना तो निश्चित है कि अपने प्रेमी, रक्षक या दलाल के लिए गणिका किसी सती स्त्री के समान कष्ट सहन करने को सदा तैयार रहती है । शिष्ट समाज की कुलीन स्त्रियों से एक कदम आगे बढ़ कर वह अपने प्रेमी की इच्छानुसार अपना शरीर भी बेचती है —जो कार्य सभ्य समाज की स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं । यह बात भी नहीं कि देह विक्रय के इस पतित कार्य से उन्हें वैयक्तिक रूप से कोई आनंद या सुख मिलता हो । अधिकांश गणिकाएँ तो सिर्फ अपने प्रेमी की कृपादृष्टि बनाये रखने के लिए ही यह धंधा करती रहती हैं ।

मनोविज्ञान के पंडित इसके अनेक कारण बता सकते हैं । दलालों की प्रसन्नता के लिए वेश्यावृत्ति करने वाली गणिकाओं की वैयक्तिक वासना का शमन इन्हीं पुरुषों द्वारा होता है । व्यवसाय के निमित्त करने पड़ने वाले अनेक पुरुषों के समागम से उन्हें यह संतोष नहीं मिलता । अतः यह स्वाभाविक है कि गणिकाएँ वासना शमन का सच्चा संतोष प्रदान करने वाले इन पुरुषों के वश में हो जायँ । नारी में मातृत्व का अंश जन्मजात और स्वाभाविक रूप से होता है । माता जिस प्रकार अपने बच्चों की अनेक जिदों और विचित्रताओं को सहन कर लेती है, इतना ही नहीं, उन विचित्रताओं में ही अपने बालक की विशिष्टता देखती हैं, उसी प्रकार पत्नी भी प्रेमावेश में पति की अनेक विचित्रताएँ सहन कर लेती हैं । उनमें उसे अपने प्रिय पुरुष के पौरुष और उसकी कार्यक्षमता के ही दर्शन होते हैं । अतः गणिका के स्त्री हृदय के ऐसे किसी मातृसुलभ भाव की तृप्ति इन दलालों के ऊटपटांग बर्ताव से होती हो, यह भी संभव है । गणिका को व्यवसाय के निमित्त चाहे जिस और चाहे जैसे पुरुष के साथ देह संबंध करना पड़ता है । इस यंत्रवत् संबंध में रस, आनंद या उत्तेजना का अनुभव हो ही नहीं सकता । अतः इन भावशून्य संबंधों से छूट कर वह आनंदोद्रेक का अनुभव कराने वाले किसी वैयक्तिक प्रेमी से जा लिपटे, यह स्वाभाविक ही माना जायगा ।

सुख दुख के साथी और गाढ़े समय में सहायता करने वाले किसी दलाल के प्रति गणिका के हृदय में निर्व्याज प्रेम और सच्ची एक निष्ठा उत्पन्न हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

इस प्रकार मनोविज्ञान इसके अनेक कारण गिना सकता है । ये सब कारण मिल कर इसी सत्य की स्थापना करते हैं कि पुरुषजाति की समष्टि के साथ संपर्क में आने वाली गणिका इस भीड़ में से और सब को छोड़कर, एक पुरुष को, उसके वैयक्तिक रूप में, केवल अपने निजी संबंध के लिए ढूंढ लेती है और उसके लिए सर्वार्पण करने को सदा तत्पर रहती है ।

आश्चर्यजनक होने पर भी इस सत्य को हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक पुरुषों के संपर्क में आने वाली गणिका का मनचाहा पुरुष केवल एक होता है जिसे वह किसी पतिव्रता की सी निष्ठा से चाहती है । यह विचित्रता यहीं समाप्त नहीं हो जाती । यह प्रिय पुरुष कोई नामी गुंडा हो सकता है; या उसके घर का पहरा देने वाला दरबान हो सकता है । उसका यह मनमोहन गणिकासुधार करने वाला कोई शरमीला, नौजवान कार्यकर्ता हो सकता है या पुलिस की नज़रों से छिपने वाला कोई फरार अपराधी या हत्यारा हो सकता है । वह ईमानदारी से व्यवसाय करनेवाला कोई प्रतिष्ठित नागरिक हो सकता है या दस-बीस लड़कियों की वेश्यावृत्ति से जीवनयापन करने वाला कोई हृदयहीन दलाल भी हो सकता है । विचित्रता की यह परंपरा और भी आगे बढ़ती है । गणिका का हृदय जीतने वाला यह पुरुष कामदेव के समान सुंदर और मोहक हो सकता है, या अष्टावक्र की याद दिला दे इतना बेढंगा और भौंडा हो सकता है । वह उच्च शिक्षित विद्वान हो सकता है या अशिक्षित गँवार भी हो सकता है । वह बाँस जैसा दुबला-पतला और लंबतड़ंग हो सकता है या फुटबॉल जैसा गोलमटोल हो सकता है । कभी वह सात बच्चों का पिता होता है तो कभी कॉलेज में पढ़ने वाला नवयुवक छात्र । रंग उसका काला, गोरा या गेहुँआ —कैसा भी हो सकता है । इतना ही नहीं, वह काना, कुबड़ा या लंगड़ा भी हो सकता है । परंतु फिर भी, होता है वह गणिका का मनमाना पुरुष ! अपने इस मनचाहे और उसकी नज़र में सर्वश्रेष्ठ पुरुष की खातिर, उसके सुख और उसकी प्रसन्नता के लिए, गणिका कुछ भी कर सकती है । कभी कभी वैयक्तिक आवश्यकता न होने पर भी, केवल इस प्रिय पुरुष की कृपादृष्टि बनाये रखने के लिए गणिकाएँ वर्षों तक पेशा करती रहती हैं । उनके नष्ट भ्रष्ट जीवन में यही एक मात्र आशा उनके हृदय के किसी कोने में छिपी रहती है कि एक न एक दिन ऐसा जरूर आयेगा कि जब वे इन सारे झंझटों से मुक्त होकर शांति से रह सकेंगी और तब उनका यह प्रेमी केवल उन्हीं का होकर सदा उनके पास रहेगा । धूर्त और निष्ठुर पुरुष इस स्त्री सहज भावना को खूब पहचानता है और स्त्री-हृदय की इस कमज़ोरी के साथ मनमाना खिलवाड़ करके एक नहीं बल्कि अनेक युवतियों को गणिकावृत्ति के पंक में डूबी हुई रखता है ।

एकनिष्ठ पतिव्रता को भी मात कर देने वाली किसी गणिका की मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति एक अंग्रेजी कविता में हुई है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है: —

''इसकी मुझे बड़ी महँगी कीमत चुकानी पड़ी है; पर इसमें से एक अमूल्य चीज़ मुझे मिली है । वह है मेरा प्रेमी ।

''वह अनेक युवतियों से संबंध रखता है । मेरे समान औरों को भी प्यार करता है । पर मजबूरी है कि फिर भी मुझे उससे प्रेम है ।

''वह बहुत सुंदर नहीं है; न हो । वह सीधा-सच्चा और नेक भी नहीं है । कभी कभी मुझे पीटता भी है । पर मैं विवश हूं; कुछ कर नहीं सकती ।

''मुझे उससे कितना प्यार है, इसका वह कभी अंदाज़ा नहीं लगा सकेगा ।

''वैसे तो मेरी पूरी ज़िंदगी वीरान है । पर जब मैं उसके बाहुपाश में होती हूं, कम से कम उतनी क्षणों के लिए मुझे पूरी दुनिया रंगीन और सुहावनी दिखाई देती है ।

"वह बड़ा निष्ठुर है । कभी कभी मैं यह कह बैठती हूं कि मैं उसे छोड़ कर चली जाऊंगी । पर नहीं; मैं जानती हूं कि मुझे किसी न किसी दिन घुटने टेक कर हाथ जोड़ते हुए उसी के पास वापस लौटना पड़ेगा ।

"वह जैसा भी है. मेरा है; और मैं उसकी हूं । सदा-सर्वदा वह मेरा रहेगा और मैं उसकी रहूंगी ।"

यह कवित्वमय मानस किसी गणिका का होने पर भी एक स्त्री का है: किसी एकनिष्ठ स्त्री का है । यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि अंत में गणिका भी स्त्री है; इतना ही नहीं; स्त्रीत्व की अनेक कसौटियों पर खरी उतरने वाली स्त्री है । गणिका और उसके रक्षक प्रिय पुरुष के घनिष्ठ संबंध से यह बात स्पष्ट हो जाती है । इसमें कोई शक नहीं कि गणिका अपना शरीर अनेक पुरुषों को अर्पण करती है; परंतु उसका हृदय और उसका प्रेम तो किसी एक ही पुरुष को समर्पित होता है फिर चाहे वह सुपात्र हो या कुपात्र, भला हो या बुरा । गणिका के इस उच्च भावों में दूसरा पक्ष अकसर सहभागी नहीं होता । दलाल या रक्षक तो स्त्री हृदय की इस कमज़ोरी से पूरा लाभ उठाते हैं और अपनी आश्रिता स्त्रियों से अधिकाधिक कुकर्म करवा कर धनवान बनने की योजनाएँ बनाने में ही लगे रहते हैं ।



दसवाँ परिच्छेद

दलाल : एक व्यक्तिचित्रण

१

दलाली की तालीम

कुछ लोगों में कवियों की तरह दलाली की प्रतिभा जन्मजात होती है । स्त्रियों को फुसलाने और उनकी कमाई से जीवन-निर्वाह करने में वे स्वभाव से ही पारंगत होते हैं । ऐसे महापुरुषों की बात तो न्यारी है; परंतु अधिकतर दलालों को तो अपना धंधा सीखना पड़ता है । समाज के प्रत्येक स्तर में किसी न किसी प्रकार की यौन समस्याएँ होती ही हैं । इन समस्याओं को समझ कर उनका अपने वैयक्तिक लाभ के लिए विनियोग करने में ही दलालों की योग्यता समाई हुई है ।

दलालों का बहुत बड़ा भाग गणिकाओं की दलाली के उपरांत और कोई प्रतिष्ठित व्यवसाय भी करता है । शुरू शुरू में ये लोग स्त्रियों की दलाली के अप्रतिष्ठित व्यवसाय को अपने अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय की आड़ में छिपाने का प्रयत्न करते हैं । कभी कभी स्त्री-पुरुषों के लिए सामूहिक रूप से चलने वाले संगीत या नृत्यमंडलों के संचालक भी दलाली करते पाये जाते हैं । शराब बेचने वाले तो अकसर यह धंधा करते हैं । इससे भी आगे बढ़ कर, बड़े बड़े राजनीतिक नेता और पुलिस के अफसर भी यह व्यवसाय करते हुए देखें गये हैं । एक बार तो खुफिया पुलिस का एक उच्च अधिकारी, जिसकी कर्तव्यपरायणता के लिए तीन बार प्रशंसा हुई थी, गणिकाओं की दलाली द्वारा जीवनयापन करता हुआ पाया गया था ।

इस प्रकार, प्रतिष्ठित माने जाने वाले व्यवसायों में गणिकाओं की दलाली करने वाले पुरुष बड़ी संख्या में मिल सकते हैं । ये लोग अकसर प्रतिष्ठित और रईसी मोहल्लों में ऐसी सभ्यता से रहते हैं कि उनके जीवन की अधिक जानकारी न होने वाले लोगों को आजीवन यह मालूम ही नहीं पड़ता कि उनका शान शौकत से रहने वाला शिष्ट पड़ौसी स्त्रियों की दलाली का पेशा करता है । मिलने जुलने वालों और पड़ौसियों के साथ इन दलालों का बर्ताव इतना उम्र और शिष्टाचारयुक्त होता है कि उन लोगों को इनकी असलियत बताई जाय, तो वे उस पर विश्वास ही नहीं करेंगे ।

यह हम देख ही चुके हैं कि वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री का एक दिन में दो, पाँच, दस, पचीस या इससे भी अधिक लोगों से संसर्ग होता है । समागम की इस अतिशयता के बाद इन स्त्रियों की कामवासना संतुष्ट या असंतुष्ट रहने का प्रश्न ही नहीं उठता । यांत्रिक रूप से दिनरात में कई बार देहोपभोग हो जाने पर उन्हें इस कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं रहती । अब उन्हें देह से परे किसी चीज की आवश्यकता रहती है । देह और मन से थकी हुई ये स्त्रियाँ प्रेम चाहती हैं, स्नेहमय वातावरण चाहती हैं, और दिन भर के सुख दुख की बातें सुननेवाला कोई साथी चाहती हैं । उनके प्रति स्नेहभरा बर्ताव करने वाला, उन्हें ढाढ़स बंधानेवाला और उनके प्रति हमदर्दी रखनेवाला दलाल उनकी दृष्टि में सच्चा प्रेमी बन जाता है ।

व्यवसाय के रूप में गणिकावृत्ति की बुनियाद यौन लालसा के शमन पर रची गई है, यह सही है; परंतु इसकी पूरी इमारत तो दंभ, असत्य और धोखेबाजी से ही बनी है । हो सकता है कि कुछ इनेगिने दलालों के मन में अपने आश्रय में रहनेवाली किसी गणिका के प्रति सच्चा प्रेम हो । कुछ उनके साथ विवाह करके सुख से रहते हों, यह भी संभव है । परंतु इन अपवादों को छोड़ दें, तो बाकी के बहुसंख्य दलाल तो

रक्षिता गणिकाओं के प्रति प्रेम का दिखावा भर करते हैं । सच्ची झूठी डींगें हाँक कर उन्हें खुश रखते हैं और अंत में उन्हें अपने मायावी प्रेम के पाश में जकड़ कर ऐसी असहाय और परवश बना देते हैं कि दलाल के बिना एक कदम भरने का मार्ग भी उन्हें नहीं सूझता । प्रेम का नाटक करने वाले दलाल के हृदय में सच्चे प्रेमी की कोमलता का लवलेश भी नहीं होता । अपने काबू में आई हुई गणिका को वह केवल मारपीट और धाक धमकी से ही वश में रखता है ।

२

दलाल: एक भयावह व्यक्ति

यह हम देख चुके हैं कि अधिकांश दलाल अपनी आश्रिता गणिकाओं को गालियाँ देते है, और इतना मारते-पीटते हैं कि उनके शरीर पर चोट के निशान रह जायें । परंतु यहाँ से स्त्री स्वभाव की एक विचित्रता शुरू होती है । स्त्री के लिए लड़ाई-झगड़े या मारपीट के बाद का प्रेम मिलन यौन आनंद का एक अतिरोमांचक अनुभव होता है । विवाहित जीवन में भी यह अनुभव संभव है; इतना ही नहीं, हम मानते हैं उससे कहीं अधिक व्यापक है । तो फिर गणिका के ऊबा देने वाले यंत्रवत् जीवन में इस प्रकार की मारपीट के बाद उसे मनाने वाले, उसके पाँवों पड़ने वाले और उसे खुश करने के लिए प्रेम की अन्य चेष्टाएँ करनेवाले प्रेमी को देखकर सुख की एक अवर्णनीय संवेदना उत्पन्न हो, तो आश्चर्य की बात नहीं । अनुभवी दलाल आवश्यकतानुसार ऐसे नाट्यमय प्रसंग खड़े करने में अत्यंत पटु होते हैं । प्रेम और भय के बीच दोलायमान होकर अपने प्रेमी दलाल के लिए देह विक्रय किए जाने वाली गणिकावृत्ति सचमुच ही एक विकट पहेली है ।

कई गणिकाएँ अपने रक्षक दलालों से सदा डरी हुई रहती हैं । अपने कहे अनुसार बर्ताव न करने वाली गणिका को जान से मार डालने की धमकी देने से भी ये लोग नहीं चूकते । अधिकतर तो यह धमकी केवल कहने-सुनने के लिए होती है; परंतु कभी कभी वह क्रियान्वित भी हो सकती है । इस संबंध में बेटी नामक गणिका का वृत्तांत उल्लेखनीय है । वह सदा दलाल से डरी हुई रहती थी । गणिकावृत्ति छोड़ कर विवाह करने की और नियमित जीवन व्यतीत करने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी । परंतु उसका दलाल इस कल्पना को भी नापसंद करता था; और उसने बेटी को धमकी दी थी कि उसने ऐसा कुछ किया, या इसका विचार भी किया, तो वह उसे जान से मार देगा । बेटी की किसी सहेली ने उसे राय दी कि दलाल से डरने की या उसकी धमकियों की परवाह करने की आवश्यकता नहीं । इस आश्वासन से बेटी का हौसला बढ़ा । उसने अपने कमरे में से अपने कपड़ेलत्ते और सामान इकट्ठा किया और दलाल से कहा कि वह उसकी माँ के पास जा रही है और अब कभी इस पेशे की ओर मुड़ कर देखना भी नहीं चाहती । यह सुनते ही दलाल आपे से बाहर हो गया और उसने बेटी को लात-घूंसों से पीटना शुरू किया । बेटी ने आत्मरक्षा में, पास ही रखा हुआ शीशे का मर्तबान उठा कर दलाल के सिर पर दे मारा । दलाल ने तुरंत तमंचा निकाल कर गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया । छ: गोलियाँ छूटीं जिनमें की दो बेटी की जाँघ में लगीं, दो वार खाली गये, और छीनाझपटी में दो गोलियाँ दलाल की छाती में लगीं जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई । सत्य घटना सब को मालूम थी, अत: कानून की दृष्टि में बेटी निर्दोष थी । उस पर कोई अभियोग भी नहीं लगाया गया, और छीनाझपटी में आकस्मिक रूप से दलाल की मृत्यु अपने ही हाथों हुई, यह सिद्ध होकर उसके शरीर की उत्तरक्रिया की अनुमति मिल गई । यहाँ बेटी के स्त्री-हृदय का सच्चा परिचय मिला । दलाल की दफनक्रिया के समय उसने विधवा के काले वस्त्र परिधान किये, और अपने प्रेमी की याद में महीनों तक रोती रही ।

मारपीट के भय के उपरांत एक प्रकार का मानसिक भय भी ये दलाल गणिकाओं के मन में उत्पन्न कर सकते हैं । इस हालत में उनका मानस भी भयग्रस्त हो जाता है मानो किसी जादूगर ने भय की सृष्टि उत्पन्न करके उन्हें हमेशा के लिए डरा दिया हो । इस अगम्य भय से प्रेरित गणिका पूर्णत: परवश होकर

दलाल की आज्ञा के अनुसार पेशा किये जाती है और इस पाश से छूटने का विचार करने की उसकी शक्ति ही नष्ट हो जाती है । स्त्रियों में कभी कभी परावलंबनप्रिय मानस पाया जाता है । जो आज्ञा मिले उसका आँख मीच कर पालन करने से ही उन्हें संतोष होता है । यह हीनता ग्रंथि थोड़े बहुत प्रमाण में सभी स्त्रियों में होती है । धूर्त दलाल स्त्रियों की इस कमज़ोरी को जानते हैं और उसका अपने लाभ के लिए अधिकाधिक उपयोग करते हैं ।

गणिकाओं का स्त्री सहज मातृत्वभाव भी दलालों को सहायक होता है । अपने उत्पाती या दुराचारी बालक के लिए भी अपना सर्वस्व अर्पण कर देने की, अपना खून-पसीना बहाकर उसका पोषण करने की, और अपने शरीर की ढाल बना कर उसकी रक्षा करने की वृत्ति सभी माताओं में पाई जाती है । दलालों की सफलता में गणिकाओं की इस मातृसुलभ भावना का योगदान भी बहुत अधिक होता है । स्त्रीत्व अपनी संपूर्ण शक्तियों और दुर्बलताओं के साथ गणिका में भी अभिव्यक्त होता है । स्त्रीत्व की कोमलतम अभिव्यक्ति प्रेम, स्वार्थत्याग, वात्सल्य और आत्मोत्सर्ग में होती है । ये भाव गणिका को दलाल, रक्षक या गुंडे की दासी बनाकर उसके शोषण में किस प्रकार सहायक होते हैं इसका रहस्य हम देख चुके हैं । रूढ़ि, व्यवहार और कानून को तुच्छ मानने वाली उन्मुक्तनारी गणिका का स्त्रीत्व उसे फिर से किसी पुरुष के बंधन में ला पटकता है । स्त्रियों की मुक्ति या उन्नति के लिए प्रयत्न करने वाले समाज-सुधारकों को स्त्री-स्वभाव के इस पहलू पर भी विचार करना होगा ।

परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि स्त्रियों में स्वाभाविक रूप से होनेवाले परावलंबन और स्वार्थत्याग के भावों को उन्हें बंधन में रखने का बहाना मान लिया जाय । स्त्री के सामाजिक बंधनों के लिए प्राय: पुरुष का स्वार्थ और अहंकार ही जिम्मेदार होता है । न्याय की बात तो यह है कि स्त्री के पुरुषावलंबन और स्वार्थत्याग का ऋण पुरुष अपने उत्तरदायित्व और कृतज्ञता से चुकाये । स्त्री की स्वाभाविक कोमलता का दुरुपयोग उसके बंधनों को और भी मजबूत बनाने में या उसका और भी अधिक शोषण करने में कदापि नहीं होना चाहिये । आजके समाज विधायकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसी समाजरचना और अर्थव्यवस्थां निर्माण करें कि जिसके अंतर्गत, गणिकाजीवन में या गृहस्थ जीवन में, पुरुष स्त्री की स्वाभाविक कमज़ोरियों से फायदा उठाकर उसका शोषण न कर सके । गणिका ही नहीं, पूरी स्त्री जाति का स्वाभाविक रूप से परावलंबनप्रिय या पुरुषाश्रयप्रिय मानस पुरुष को स्त्री का शोषण करनेवाला परभृत कीटाणु बनाने के बजाय, अपने अंतरतम में स्त्री के इन गुणों की कद्र करनेवाला, अपने पौरुष की ढाल से उसकी रक्षा करनेवाला, और अपने उत्तरदायित्व को हँसी खुशी पूरा करनेवाला मर्द बनायें, तो ही स्त्री-पुरुष का संबंध सार्थक और परस्पर पूरक हो सकता है ।

दलालों को अपने व्यवसाय की तालीम प्राय: इस प्रकार मिलती है: — कोई नवयुवक किसी मँजे हुए दलाल के संपर्क में आता है, और इस पेशे के आकर्षणों से प्रेरित होकर खुद भी दलाली करने लगता है । अन्य दलालों के संपर्क के अभाव में अपने आप दलाली करना वह शायद कभी न सीख पाता । जन्मजात योग्यता वाले इनेगिने दलालों को अपवाद रूप ही मानना होगा । सामान्यत: तो संगदोष ही दलालों की उत्पत्ति का मुख्य स्रोत होता है । किसी भी बुराई की बुनियाद तक पहुँचकर आमूल सुधार करना जिस प्रकार एक विकट समस्या है, उसी प्रकार बुराइयाँ उत्पन्न करने वाले वातावरण को सुधारना भी टेढ़ी खीर है । हमारे अधिकांश अपराधों और पापों की जड़ में कुसंग ही सबसे प्रधान कारण होता है । यही परिस्थिति गणिकावृत्ति के क्षेत्र में भी पायी जाती है । किसी कारणवश, कोई युवती किसी खानगी या साधारण गणिका के संपर्क में आ जाय, तो उसकी स्वाभाविक चंचलता शीघ्र ही उसे पहले कुतूहलजन्य साहस में, फिर आवश्यकताजन्य धनोपार्जन में और अंत में खुलेआम गणिकावृत्ति में धकेल सकती है । इस संबंध में भी यही कहा जा सकता है कि यदि उसका परिचय किसी अनुभवी गणिका से न हुआ होता, तो इस धंधे में उसका पदार्पण शायद ही हुआ होता ।

गणिकाओं की तलाश करनेवाला दलाल और दलाल को ढूंढती हुई गणिका एक दूसरे के पूरक हैं। इनके मिलन से ही देह विक्रय के व्यवसाय की विषम अनवस्था जन्म लेती है। इस क्षेत्र में पदार्पण करके दलाल भी थोड़ा बहुत साहस अवश्य करता है; परंतु गणिका के साहस की तुलना में वह कुछ भी नहीं। दलाल चाहे तब इस पेशे को छोड़ सकता है; और न छोड़े तो जीवन के अंतिम भाग में सुख, धन, स्थैर्य और प्रतिष्ठा प्राप्त कर के सभ्य समाज में फिर से प्रवेश कर सकता है। परंतु स्त्री के लिए इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग ही नहीं। उसके जीवन का अंत अत्यंत करुण होगा, यह भी प्राय: सुनिश्चित होता है। हम देख ही चुके हैं कि रोग, पराधीनता, दारिद्र्य, निराश्रयता और अनुचित मृत्यु ही गणिकाजीवन का अनिवार्य अंजाम है।

३

दलाल: एक वैयक्तिक परिचय

गणिकाओं के रक्षक कहलाने वाले ये दलाल किस ढंग से अपना काम करते हैं, और किस प्रकार जीवनयापन करते हैं, इसका एक उदाहरण यहाँ प्रासंगिक होगा। छ: फुट ऊँचा जॅक नामक दलाल अपनी जीवनकथा इन शब्दों में कहता है: ''मेरा जन्म सन् १८९९ में हुआ था। मेरे माता-पिता की आर्थिक स्थिति साधारण मध्यमवर्ग से भी नीची थी। दरिद्रता के कारण प्रारंभिक शिक्षा मुझे हमारे गाँव की सार्वजनिक पाठशाला में मिली। मेरे माता-पिता धार्मिक वृत्ति के थे और रविवार को गिरजे में जाना हमारे यहाँ अनिवार्य माना जाता था। पंद्रहवें वर्ष में मैं घर से भाग निकला और सेना में भरती हो गया। १९१४ से १८ तक, प्रथम विश्वयुद्ध के चार वर्ष मैंने फ्रान्स की रणभूमि पर गुज़ारे। युद्ध में जख़्मी होने के कारण मेरी दाहिनी आँख की रोशनी जाती रही, यद्यपि बाह्य रूप से कोई यह पहचान नहीं सकता था। सत्रह दिन के परिचय के बाद मैंने एक युवती से विवाह भी कर लिया।

''सन् १९२१ में मैं शिकागो गया और वहाँ के एक प्रतिष्ठित विद्यालय में चार साल तक अध्ययन करके 'मिकेनिकल इंजीनियर' की उपाधि प्राप्त की। कॉलेज के अंतिम दो वर्षों के दरमियान पूरे अमरीका में संपूर्ण शराब बंदी के कारण निषिद्ध मद्य बेचने के राष्ट्रव्यापी संघटनों ने जन्म लिया। मैंने भी इससे लाभ उठाना शुरू किया। मुझे उपाधि मिली तब तक तो निषिद्ध शराब के तस्कर व्यापार से मुझे इतना अधिक मुनाफा होने लगा था कि उसका उपयोग करने की आवश्यकता ही नहीं रही। शराब की अवैध आय ने किसी प्रतिष्ठित व्यवसाय में मेरी योग्यता का उपयोग नहीं होने दिया।

''सन् '२५ में मैं मेरी पत्नी के साथ फ्लोरीडा चला गया। मद्य विक्रय के धंधे में जिन लोगों के साथ मेरे संबंध स्थापित हो चुके थे उन्होंने यहाँ भी काम दिया। उस युग में प्रतिष्ठित माने जाने वाले अनेक लोग भी निषिद्ध शराब का व्यवसाय करके कुछ ही समय में बेशुमार धन कमा लेते थे। फ्लोरीडा इसका सबसे बड़ा केन्द्र था। शराब, सुंदरी और गीत नृत्य सब से कल्पनातीत धन कमा देने वाले व्यवसाय रहे हैं। मैं भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा। आठ मास में ही मैंने सब खर्च काट कर बीस हजार डॉलर कमा लिये। १९२६ में मैं शिकागो वापस आ गया। ज़िंदगी बड़े आराम से गुज़र रही थी। सन् '२७ में मैंने निषिद्ध शराब की एक गुप्त दुकान खोली। सरकार की बढ़ती हुई सख़्ती के कारण शराब का व्यापार दिनोंदिन खतरनाक होता जा रहा था। परंतु शराब की दूकान के ज़रिये वेश्यावृत्ति करने वाली अनेक युवतियों से मेरा परिचय हुआ। जीन नामक लड़की से मेरी मुलाकात यहीं हुई। यह युवती अप्रतिम सुंदरी थी। तरह तरह की सुंदर वेशभूषा की वह शौकीन थी और उसकी हर अदा में एक प्रकार की संमोहिनी शक्ति थी। यह लड़की वेश्यावृत्ति से इतना अधिक धन कमाती थी कि लोग उसे सोने की खान कहते थे। तब तक उसका कोई रक्षक या दलाल नहीं था। अत: पहले तो मैंने उसके साथ मित्रता स्थापित की; मैत्री की परिणति प्रेम में हुई, और कुछ समय बाद ही मैं उसका दलाल बन गया। शराब का

धंधा दिनों दिन जोखिमभरा होता जा रहा था; परंतु मुझे इस युवती के ज़रिये इतनी अधिक प्राप्ति होने लगी कि मुझे उसकी परवाह न रही । मैंने अपनी पहली पत्नी को तलाक दे दिया । जीन सचमुच ही सोने की खान थी । मेरे संरक्षण में आने के बाद तो उसे इतनी अधिक कमाई होने लगी कि शराब का धंधा छोड़ देने पर भी न तो मुझे कोई नुकसान हुआ और न उसे ।

''सन् १९२७ के अंत तक हम दोनों साथ रहे । इसी अरसे में मेरा पॉलाइन नामक गणिका से परिचय हुआ । पॉलाइन बीमार थी और उसका दलाल उसे इस हालत में छोड़ कर चला गया था । रुग्ण, एकाकिनी, निराश और थकी हुई पॉलाइन में मुझे बेशुमार धन कमा देने वाली एक और सोने की खान नज़र आई । योग्य इलाज करवाने से तीन सप्ताह में ही वह धंधे के काबिल हो गई । शीघ्र ही उसकी कमाई से मुझे प्रति सप्ताह डेढ़-दो सौ डॉलर की आय होने लगी ।

''दो-तीन महीनों तक तो जीन को मेरे पॉलाइन के साथ के संबंध की जानकारी ही नहीं हुई । परंतु यह ज्ञात होते ही उसने अपने प्रेम में हिस्सा बँटाने वाली स्त्री के साथ रहने से साफ इनकार कर दिया । सोने की एक खान बंद हो जाने से मुझे कोई नुकसान नहीं हुआ । दूसरी ओर, पॉलाइन इतनी मिलनसार सिद्ध हुई कि अन्य स्त्रियाँ मेरे साथ रहें इसमें उसे कोई एतराज़ नहीं था । अत: पॉलाइन के अलावा और भी कई युवतियों से मैं संपर्क रखने लगा जिससे मेरी आमदनी बहुत बढ़ गई । इसी समय ॲलिस नामक बीस वर्ष की सुंदरी मेरे हाथ लगी । उसके साथ मैंने गहरे प्रेम का ढोंग किया और उसके ऊपर खूब रुपया खर्च करके उसे अपने वश में कर लिया । दो तीन सप्ताह के बाद मैंने पैंतरा बदला और बदकिस्मती से व्यापार में घाटा होने के कारण मेरा बहुत सा धन नष्ट हो गया है, ऐसा दिखावा करके कुछ समय के लिए वेश्यावृत्ति करके गुज़ारा चलाने का प्रस्ताव उसके सामने रखा । उसने इसका बिलकुल विरोध नहीं किया और मेरे साथ किसी वेश्यालय में जाना राजीखुशी से कबूल कर लिया । शीघ्र ही उसके ज़रिये मुझे रोजाना, बीस डॉलर की आय होने लगी । इस अरसे में मेरा तीन अलग-अलग युवतियों से संबंध था जो मुझे अपना एकनिष्ठ प्रेमी मानती थीं । इनमें की कुछ तो विवाहित स्त्रियाँ थीं, जिन्हें वेश्यावृत्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । परंतु फिर भी वे अपनी कमाई का रुपया मुझे देती थीं; इतना ही नहीं, अपने पति से प्राप्त जेबखर्च की रकम भी मेरे लिए खर्च करने में ही उन्हें संतोष मिलता था । इस प्रकार, प्रेम का आभास उत्पन्न किया जाने के कारण कई गणिकाएँ और विवाहिताएँ मेरा आर्थिक पोषण करती रहीं ।

''सन् १९२९ में मैं अपने व्यवसाय के संबंध में किसी और शहर में गया । वहाँ के एक निशामंडल में मेरा बेटी नामक युवती से परिचय हुआ । प्रथम मिलन में ही हमारे बीच गहरा प्रेम स्थापित हो गया । बेटी की उम्र इक्कीस वर्ष की थी । तीन सप्ताह उसके साथ आनंद से बिता कर मैं शिकागो वापस आ गया । हमारा पत्र व्यवहार चलता रहा और महीने भर बाद ही उसने शिकागो आकर एक शानदार होटल से मुझे टेलीफोन किया । इसी समय ॲलिस किसी राजनीतिक नेता के साथ भाग गई । बाद में उन दोनों का विवाह भी हो गया । आज वह सुखी विवाहित जीवन व्यतीत कर रही है और एक सुंदर बालक की माँ बन चुकी है । ॲलिस, इस प्रकार, मेरे जीवन में से सदा के लिए लुप्त हो गई । दो सप्ताह तक बेटी और मैं शिकागो में खूब घूमे । फिर वह मेरे साथ रहने को आ गई । मेरे साथ रहनेवाली किसी भी स्त्री को यह मालूम हो जाना स्वाभाविक था कि मेरा व्यवसाय क्या है और किस जरिये से रुपया कमा कर मैं अपने साथ रहने वाली स्त्रियों को ऐशो-इशरत से रखता हूं । महीने भर बाद उसने खुद ही प्रस्ताव किया कि वह मेरे ऊपर बोझ रूप होकर रहने के बजाय वेश्यावृत्ति करके मेरी सहायता करना अधिक पसंद करेगी । बेटी की इस दरियादिली ने मुझे पूर्णत: वश में कर लिया; परंतु हमारे संबंध की घनिष्ठता देखकर अब पॉलाइन जैसी सहनशील युवती को भी ईर्ष्या होने लगी और वह मुझे छोड़ कर चली गई । १९३० की साल तक बेटी ही मेरी एकमात्र प्रियतमा रही और उसकी कमाई से हमारा गुज़ारा होता रहा । इस एक वर्ष में मुझे उससे आठ हजार डॉलर प्राप्त हुए । १९३० के अंत में हेज़ल नामक युवती से मेरी दोस्ती हुई और बेटी की तरह उसने भी मेरे लिए वेश्यावृत्ति करना शुरू कर दिया ।

''सन् १९३० में मैंने फिर निषिद्ध शराब बेचने का धंधा शुरु किया । लगभग तीन साल तक मैं इस व्यवसाय में रहा और मैंने काफी रुपया कमाया । अब बेटी या हॅज़ल किसी को गणिकावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं थी, परंतु उन्होंने पेशा छोड़ा नहीं । मैंने अपनी पूरी जमापूंजी गीत नृत्य, जुआ शराब और रागरंग में खतम कर दी । सही है; शराब और दलाली की कमाई नष्ट भी शीघ्रता से होती है । सन् १९३३ में सरकार की सख़्ती अत्यधिक बढ़ गई और गैरकानूनी शराब का व्यवसाय करने वाले बड़े व्यापारियों को कड़ी सज़ाएँ मिलीं । आश्चर्य की बात यह हुई कि ये सज़ाएँ निषिद्ध शराब बेचने के जुर्म में नहीं बल्कि आयकर न भरने के अपराध में दी गयी थीं ! कुछ ही दिनों में हमारा संघटन तितर-बितर हो गया । मैंने अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू किया; परंतु मैं पकड़ा गया और मुझे एक साल की सज़ा हुई । पढ़े लिखे और प्रतिनिष्ठत व्यवसाय कर सकने वाले मिकेनिकल इंजीनियर को कारागृह में जाना पड़ा ।

''जेल से बाहर निकला, तब मेरे पास एक पाई भी नहीं थी । परंतु बेटी नयी मोटर कार लिये जेल के दरवाज़े के बाहर ही मेरी प्रतीक्षा कर रही थी । इतना ही नहीं, मेरे लिए जोड़कर अलग रखे हुए चार सौ डॉलर उसने वहीं मेरे सुपुर्द कर दिये । इस दरमियान हॅज़ल किसी हब्शी गुंडे के साथ रह कर वेश्यावृत्ति करने लगी थी । परंतु कुछ ही समय बाद 'मे' नामक एक और लड़की मुझे मिल गई । अब हम तीनो साथ रहते हैं और बेटी और मे की वेश्यावृत्ति से हमारा काम बड़े मज़े से चल रहा है ।

''बेटी के संबंध में कुछ अधिक कहना चाहता हूं । इस समय वह अट्ठाइस वर्ष की है । वह फ्रान्सीसी माता-पिता की संतान है । दुबली-पतली, ऊँची, सुंदर और आकर्षक है । दो साल कॉलेज में पढ़ी है । कॉलेज की तैराकी की स्पर्धा में उसे कई पारितोषिक मिले थे । वह अत्यंत चतुर और वाचाल है । अन्य कोई स्त्री मेरे साथ रहे, यह उसे बिलकुल पसंद नहीं है । उसकी मान्यता है कि उसका प्रिय पुरुष पूर्णतः उसीका होना चाहिये । परंतु उसकी ईर्ष्या अधिक गहरी नहीं है । जब मैंने प्रेम से समझा कर उससे कहा कि सिर्फ उसी की कमाई से हमारा गुज़ारा चलना मुश्किल होगा और आय बढ़ाने के लिए अन्य किसी स्त्री की आवश्यकता पड़ेगी तो वह तुरंत इस बात के लिए राज़ी हो गई । मैंने अगर ज़बरदस्ती की होती, या उसे धोखा देकर किसी अन्य स्त्री से संबंध रखा होता, तो निश्चित रूप से वह मुझे छोड़ कर चली गई होती । उसके जैसी तेजस्विनी और स्वाभिमानी स्त्री को धमका कर या धोखा दे कर वश में रखना संभव नहीं ।

दोपहर को बारह बजे वह निश्चित किये हुए गणिकागृह में जाती है और रात को ग्यारह बजे तक वहाँ रहती है । आवश्यकता पड़ने पर रात को इससे भी देर तक वहाँ रहती है । हर तीसरी रात वह मुझसे जरूर मिलती है । उस दिन हम एक साथ खाना खाते हैं; कभी निशामंडलों में कुछ घंटे गुज़ारते हैं तो कभी मोटर में बहुत दूर तक घूमने निकल जाते हैं । रात को बड़ी देर से घर लौटते हैं और बाकी का समय एकसाथ गुज़ारते हैं । दूसरे दिन सुबह दस-साढ़े दस बजे तक वह सोती रहती है । जब कभी उसे गणिकागृह नहीं जाना होता, तब वह पढ़ती रहती है । प्रति सप्ताह वह डाक्टर से अपनी जाँच अवश्य करवा लेती है और रोग के मामूली लक्षण दिखाई देते ही पेशा बंद कर देती है । आज तक उस पर रोग का गंभीर आक्रमण नहीं हुआ । उस की एक ही इच्छा है कि किसी रोज वह मेरे साथ विवाह करके इस धंधे से निवृत्त हो सकेगी और सुखी गृहस्थ जीवन में गृहिणी होकर रह सकेगी ।

''अब 'मे' नामक मेरे साथ रहने वाली दूसरी स्त्री की बात भी बता दूं । उस की उम्र चौबीस वर्ष की है । वह स्वीडिश माता-पिता की संतान है । छरहरी और गज़ब की खूबसूरत है । हाईस्कूल तक पढ़ी

हुई है । मेरी उससे मुलाकात हुई उससे पहले ही वह गणिकावृत्ति करने लगी थी । उसे इस पेशे में लानेवाला दलाल उसे छोड़ कर चला गया था । हमारे परिचय के दो सप्ताह बाद ही वह मेरे वश में हो गई थी और अपनी कमाई के रुपये मुझे देने लगी थी । मैं किसी अन्य स्त्री के साथ रहता हूं, यह वह जानती थी, और मेरा व्यवसाय क्या है, इसकी जानकारी भी उसे थी । अन्य स्त्रियों से उसे कभी ईर्ष्या नहीं हुई । उसकी भी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मेरे साथ विवाह करके मेरी पत्नी बन कर रह सके । उसकी दिनचर्या भी लगभग बेटी के जीवनक्रम के समान है । वे दोनों एक-दूसरे को पहचानती हैं, परंतु उनमें बोलचाल नहीं है । आज तक, किसी भी बात को लेकर उनका आपस में झगड़ा नहीं हुआ ।

"मेरी ये दोनों प्रेयसियाँ एक ही वेश्यालय में जाती हैं । इस गृह का संचालक अत्यंत चतुर और अनुभवी व्यापारी है । वहाँ शराब नहीं बिकती । देहविक्रय का काम भी अत्यंत व्यवस्थापूर्वक और बाह्य सभ्यता का भंग किए बिना, समझदारी से किया जाता है । मेरी आय का हिसाब देखते हुए मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि इन दोनों स्त्रियों का काम बड़े ज़ोरों से चल रहा है । सौभाग्य से दोनों में से कोई शराब नहीं पीती और न उन्हें कोई और व्यसन है । यदि गणिकावृत्ति को एक व्यवसाय मानना है, तो अन्य धंधों की तरह उसमें भी व्यवसाय करने वाले को सतर्क, निर्व्यसनी, मेहनती और मिलनसार होना आवश्यक है । इससे व्यवसाय को लाभ ही होता है ।

"बेटी को एक बार पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया था । दोपहर को तीन बजे गणिकालय पर छापा मारा गया और बेटी पकड़ी गई । शिकागो में ऐसा कानून है कि वेश्यालय में से गिरफ्तार की हुई स्त्री की डाक्टरी जाँच न हो जाय, तब तक उसे जमानत पर रिहा नहीं किया जा सकता । डाक्टरी जाँच दूसरे दिन सुबह से पहले नहीं हो सकती थी । अतः रात भर उसे हवालात में रहना पड़ा । मुझे विश्वास था कि उस में रोग का कोई चिह्न नहीं पाया जायगा और रोगमुक्त प्रमाणित होने के बाद उसे छुड़वाने में मुझे विशेष कठिनाई नहीं होगी । यह काम मैंने किस प्रकार किया, इसका ब्योरा देने की आवश्यकता नहीं । सिर्फ इतना कहना ही पर्याप्त है कि मेरे डेढ़ सौ डॉलर खर्च अवश्य हुए, परंतु गणिकागृह की संचालिका स्त्री, बेटी, और उसके साथ पकड़ी जानेवाली एक अन्य युवती को कुशल वकीलों की सहायता से मैंने दूसरे दिन दोपहर से पहले ही छुड़वा लिया । दो बजे तो गणिकालय का दैनिक कार्यक्रम शुरू भी हो गया ।"

इस आत्मकथा में यूरोप-अमरीका के गणिका गृहों, वहाँ की गणिकाओं, और उनकी कमाई से निर्वाह करनेवाले गुंडों का निकट-परिचय मिल सकता है । साथ ही स्त्री-स्वभाव और उससे फायदा उठानेवाले पुरुष-स्वभाव का भी स्पष्ट दर्शन किया जा सकता है ।

४

दलाल और उनकी व्यापारी चतुराई

उपरोक्त कथन में गणिकावृत्ति करनेवाली युवतियाँ व्यसनमुक्त थीं ऐसा वर्णन हुआ है । परंतु इसे अपवादरूप मानना होगा । अधिकांश गणिकाएँ तो व्यसनों में आकंठ डूबी हुई, रोगिणी, नैसर्गिक सौंदर्यहीन और चुड़ैलों जैसी शकलसूरत वाली होती हैं । कुछ गुंडे तो चालीस-चालीस वर्ष तक स्त्रियों से पेशा करवाते हैं । खुले-आम पेशा करने वाली वेश्याओं के उपरांत शौकिया, या कुतूहलशमन के लिए वेश्यालयों का अनुभव चखने की वृत्ति से आने वाली युवतियों की कमाई का बहुत बड़ा भाग भी दलालों की जेब में ही पहुँचता है । रोज़ाना आठ-दस से लगाकर चालीस-पचास डॉलर तक कमानेवाली युवतियाँ इस वर्ग में आसानी से मिल सकती हैं । अधिकांश गणिकाएँ महीने में तीन सप्ताह और सप्ताह में केवल पाँच दिन पेशा करती हैं ।

गुंडों के बिना ये स्त्रियाँ क्यों नहीं रह सकतीं इसके कारणों का एक लेखक ने आनुपातिक विश्लेषण किया है । उसने दस प्रतिशत भाग दलालों के प्रति विशुद्ध प्रेम का माना है । पाँच प्रतिशत भाग भय और दस प्रतिशत अंश इस धंधे को छोड़ कर अन्य व्यवसाय करने की अनिच्छा या असंभावना का गिना है । परंतु बाकी बचा हुआ पचहत्तर प्रतिशत भाग दलालों और बड़े संघटनों की व्यापारी चतुराई के खाते में ही जमा हुआ है । यह हम पहले भी देख चुके हैं कि संगठित गणिकावृत्ति अधिकांश में इस संचालन-कौशल्य पर ही आधारित रहती है । गणिकावृत्ति में संघटित व्यापारी-योजना का प्रयोग बंद हो जाय, तो गणिकावृत्ति का प्रसार और प्रमाण अत्यंत कम हो जायगा इसमें कोई संदेह नहीं । इस व्यापारी चतुराई में तीन तत्व अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं: —

१. सबसे पहले तो बहकाई हुई युवती का प्रेम और विश्वास अर्जित करना ज़रूरी है । यह विश्वास इस हद तक होना चाहिये कि अपने प्रेमी के एक इशारे पर वह गणिकावृत्ति करने को भी तैयार हो जाय । इसके बाद पेशे को स्वीकार करके युवती धन कमाने लगे, तब किसी न किसी दिन वह विवाह करके प्रतिष्ठित गृहिणी बन सकेगी, यह आशा उसके हृदय में सदा जागृत रहनी चाहिये । गणिकावृत्ति से बेशुमार धन कमाया जा सकता है इसका प्रमाण भी शुरू शुरू में उसे मिलता रहना चाहिये । जितनी जल्दी वह पर्याप्त धन कमा लेगी उतनी ही शीघ्रता से उसका छुटकारा हो सकेगा यह सब्ज़बाग दिखा सकनेवाला और प्रेम का उत्तम अभिनय कर सकने वाला धूर्त दलाल ही इस भूमिका में सफल हो सकता है ।

२. फँसी हुई युवती अधिकाधिक कमाई कर सके इस लिए उसे स्वस्थ, आकर्षक और संतुष्ट रखना आवश्यक है । ग्राहकों के मन में उसके प्रति सदा मोह बना रहना चाहिये । कानून के पंजे से और वैयक्तिक संकटों से उसकी रक्षा करना भी अत्यंत ज़रूरी है । यह काम हम मानते हैं उतना सरल नहीं होता ।

३. एक बार इस पेशे को स्वीकार किए बाद गणिका इस धंधे से छूट ही न सके ऐसे आर्थिक, सामाजिक और नैतिक पाशों में उसे चारों ओर से जकड़ लेना सफल दलाल के लिए अत्यंत आवश्यक है । दलाल के बिना उसका काम एक क्षण के लिए भी न चले, उससे वह सदा डरती रहे, कर्ज़ में इस हद तक डूबी रहे कि दलाल की सहायता के बिना कर्ज़ चुका सकने की संभावना भी उसके मन में न आये, इस के सिवा वह और किसी की राय न माने और सर्वथा पराधीन हो कर उस के वश में रहे इत्यादि बातों की सावधानी भी रखनी पड़ती है ।

इसमें से पहली और तीसरी शर्त तो दलाल आसानी से पूरी कर सकते हैं । प्रेम के दुर्निवार्य आवेश से मत्त युवती पर्याप्त धन कमा कर गृहिणी बनने की आशा से गणिकावृत्ति को स्वीकार बिना किसी कठिनाई के कर लेती है । और तीसरी भूमिका पर पहुँचते पहुँचते तो वह गणिकावृत्ति में इतनी गहरी उतर जाती है और कर्ज़ या व्यसन के बोझ से इतनी दब जाती है कि पेशा छोड़ कर और कुछ करने का विचार ही उसके मन में नहीं आता । इस हालत में दलाल के लिए उसकी कमाई से जीवनयापन करना सरल हो जाती है । परंतु दूसरी शर्त पूरी करने में दलाल को कठिनाई पड़ सकती है । उसके चातुर्य और अनुभव की परीक्षा भी इसी भूमिका में होती है । गणिकाओं के मन में पेशा छोड़ देने की, दलाल से पिंड छुड़ाने की, असाध्य रोगों से त्रस्त हो उठने की और मानसिक या शारीरिक शैथिल्य में डूब जाने की वृत्तियाँ उत्पन्न होने की संभावना इसी अरसे में अधिक रहती हैं । अत: इस कालखंड में दलाल को व्यापारी चातुर्य के साथ प्रेम का स्वाँग, झूठे आश्वासन, धमकी, मारपीट, लाड़-प्यार मनुहार और दंभ आदि तत्वों का समावेश करना पड़ता है । यह पूरा आडंबर असत्य की बुनियाद पर ही रचा जाता है । वर्तमान युग की पूंजीवादी व्यवस्था के सभी व्यापार असत्य की बुनियाद पर ही खड़े हैं; फिर चाहे वह व्यापार किसी प्रतिष्ठित उद्योगपति का हो या पतित गणिका का; किसी मठाधीश महंत का हो या रोगनिवारक डाक्टर का । फर्क सिर्फ इतना ही है कि धर्म के ठेकेदार मुक्ति और परलोक का व्यापार करते हैं और पूंजी के ठेकेदार भुक्ति और इहलोक का ।

अश्रिता स्त्रियों की गणिकावृत्ति से ही निर्वाह करनेवाले गुंडों को गणिकाओं की पूर्ति निम्नलिखित वर्गों से होती रहती हैं: —

१. अपनी पत्नी या पत्नियाँ।
२. अपनी प्रेयसियाँ।
३. पति से असंतुष्ट रहने वाली, पति से तलाक चाहने वाली, या अन्य पुरुष की कामना करने वाली विवाहित स्त्रियाँ।
४. बेरोज़गारी के कारण इधर-उधर भटकने वाली अनुभवहीन युवतियाँ यां।
५. शौकिया, या कुतूहलशमन की इच्छा से गणिकावृत्ति का थोड़ा बहुत अनुभव चाहने वाली साहसी युवतियाँ।
६. किसी रक्षक या दलाल की सहायता के बिना गणिकावृत्ति करने वाली नवागंतुक गणिकाएँ।
७. घरेलू काम करने वाली नौकरानियाँ, होटलों में खाना परोसने वाली लड़कियाँ, सौंदर्य संवर्धनगृहों में काम करनेवाली स्त्रियाँ, नृत्यमंडलियों में नाचने वाली युवतियाँ, अस्पतालों में सेवा करने वाली परिचारिकाएँ, और टाइपिस्ट या टेलीफोन-ऑपरेटर का काम करने वाली लड़कियाँ। जीवन की एकतानता से ऊब कर, कम परिश्रम से अधिक धन कमाने की इच्छा रखने वाली स्त्रियों का पूरा वर्ग इस विभाग के अंतर्गत आ सकता है।

५
दलालों की आय

पश्चिम में गणिकाओं की दलाली करने वाले गुंडे अब यथासंभव स्त्रियों के दास-व्यापार के झंझट में नहीं पड़ते। इस प्रथा में गणिकाओं की दुर्दशा चाहे जितनी होती रही हो, उनके भरणपोषण की जिम्मेवारी पूर्णतः वेश्यालयों के संचालकों पर आ पड़ती है। किसी भी कारण से वेश्यालय की आमदनी बंद हो जाय, तो यह खर्च भारी पड़ जाता है। आज के युग में, काम के अभाव में, जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में हजारों लोग बेरोज़गार हो जाते हैं, उसी प्रकार गणिका व्यवसाय में भी बेकारी फैलने पर विकट समस्या खड़ी हो सकती है। दूसरी ओर, आजके युग में अन्य रोज़गार करके फुरसत के समय गणिकावृत्ति करने को उत्सुक युवतियों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। बाह्य रूप से प्रतिष्ठित और सभ्य होने का आडंबर करने वाली इन युवतियों में से गणिका गृहों के संचालकों या दलालों को चाहे जितनी पण्यांगनाएँ मिल सकती हैं। अतः पुराने ढर के वेश्यालय चला कर बीसियों स्त्रियों की संपूर्ण जिम्मेवारी उठाने के झंझट में अब कोई नहीं पड़ता। संचालकों का दावा है कि इस बदले हुए युग में छोटे मोटे प्रतिष्ठित व्यवसाय करने वाली सैकड़ों नहीं बल्कि हज़ारों युवतियाँ गणिकावृत्ति करके कुछ अतिरिक्त धन कमाने को उत्सुक रहती हैं और वे अपने आप दलालों को ढूंढती हुई आती हैं। इन्हीं लोगों का यह भी कहना है कि आजकल रुपया खर्च करने पर बड़े शहरों में प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित व्यवसाय करने वाली सुंदर से सुंदर युवतियाँ मिल सकती हैं। जितना गुड़ डालेंगे, उतना मीठा होगा। जितना अधिक रुपया खर्च किया जाय, उतना ही अधिक रूप-लावण्य मिल सकता है। लंदन, बर्लिन, पेरिस आदि बड़े शहरों के जानकारों का तो यहाँ तक कहना है कि आजकल देहोपभोग के लिए उपलब्ध हो सकने वाली युवतियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि पुराने ढर्रे से गणिकावृत्ति करने वाली बहुत सी सुंदर युवतियों को उदर-निर्वाह करने में भी कठिनाई पड़ती है। इन भूखी स्त्रियों को जब कोई ग्राहक मिल जाता है, तो उनकी सबसे पहली माँग पेट भर भोजन की होती है। ध्यान रहे कि यह स्थिति पश्चिम के धनाढ्य माने जाने वाले देशों की है।

यह हम देख चुके हैं कि गणिकावृत्ति के मार्ग पर पदार्पण करने वाली युवती तीन अवस्थाओं से गुज़र कर संपूर्ण वेश्या बनती है । आरंभ में वह वासनातृप्ति का आनंद प्राप्त करने के लिए शौकिया इस क्षेत्र में आती है । धीरे धीरे यह शौक बढ़ता जाता है . साथ ही अतिरिक्त आय का मोह भी बढ़ता जाता है और वह अधिकाधिक पुरुषों से संपर्क रखने लगती है । इसके बाद की अवस्था में उसके मन में अपने प्रति स्नेह रखनेवाले किसी एक पुरुष का प्रेम और आश्रय प्राप्त करने की वृत्ति जागृत होती है । गणिकावृत्ति करते हुए भी वह किसी एक पुरुष को अपने प्रेमी और संरक्षक के रूप में पसंद कर लेती है । तीसरी कक्षा पर पहुँच कर इन स्त्रियों के लिए गणिका व्यवसाय एक अनिवार्य पेशा बन जाता है; और अन्य सब मार्ग बंद हो जाते हैं । इस भूमिका पर पहुँचने के बाद अपना और अपने रक्षक दलाल का उदर निर्वाह करने के लिए इनका वेश्यावृत्ति किए बिना छुटकारा ही नहीं । इन तीनों अवस्थाओं में किसी भी समय दलाल इन युवतियों को अपने वश में कर सकते हैं ।

अपने आर्थिक लाभ के कारण ही ये गुंडे इन स्त्रियों का रक्षक होना स्वीकार करते हैं । सभी गुंडों की आय एक समान नहीं होती । फिर भी, औसत दलाल बढ़िया कपड़े पहन सकता है; अच्छे ढंग से रह सकता है; और मोटर गाड़ियों में घूम सकता है । अलबत्ता, दलालों की आय उनकी आश्रिता गणिकाओं के दर्जे पर निर्भर रहती है । परंतु गणिकाओं की श्रेणी चाहे जो हो, यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि और कोई व्यवसाय करनेवाली प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित स्त्री को एक सप्ताह में जितनी आय हो सकती है, उतनी आमदनी साधारण से साधारण गणिका को एक रात में हो जाती है । यद्यपि यह सही है कि गणिकाओं की आय पर कदम कदम पर कैंची चलती है और उनके हिस्से में आने वाली रकम मूल रकम से बहुत कम होती है; फिर भी, उनकी आमदनी की अन्य किसी व्यवसाय की स्त्रियों की आय से तुलना नहीं की जा सकती ।

गणिका की आय में हिस्सा बँटाने वाले अनेक होते हैं परंतु उसमें संचालकों और दलालों का भाग सबसे अधिक रहता है । एक गणिका को छः महीने में १९६२ डॉलर मिले, जिसमें से सब प्रकार का खर्च और सब का हिस्सा काट कर उसके हिस्से में केवल ९०८ डॉलर आये । परंतु इस रकम में से ८४४ डॉलर गृहमालिकों और दलालों ने किसी न किसी बहाने ऐंठ लिये । ९६ डॉलर का उस पर कर्ज़ था, वह भी काट लिया गया । इस प्रकार छः महीनों तक देह विक्रय करने के फलस्वरूप उसे कुछ प्राप्ति होने के बजाय ३२ डॉलर का कर्ज़ ही उसके सिर पर रहा । यह एक अपवादात्मक उदाहरण है । सभी गणिकाओं की स्थिति इतनी दयनीय नहीं होती । उनकी कमाई साधारण काम करने वाली महिलाओं से तो निस्संदेह कई गुनी अधिक होती है । गणिका में यदि साधारण व्यवहार बुद्धि हो, तो वह कुछ ही वर्षों में काफी रुपया जोड़ सकती है । परंतु असली परेशानी यहीं से आरंभ होती है । दलाल और रक्षक यदि अपना हिस्सा लेकर ही संतुष्ट हो जाते हों, तब तो गणिकाओं को शिकायत की कोई गुंजाइश न रहे । परंतु उनकी नज़र तो हमेशा गणिका के हिस्से पर और उसकी जोड़ी हुई पूंजी पर रहती है ।

अमरीका के एक सामान्य श्रेणी के दलाल का मासिक खर्च ४०० डॉलर के करीब कूता गया था । इसमें जुए की हारजीत का हिसाब शामिल नहीं है । प्रायः सभी गुंडे जुआरी होते हैं और जुए में अकसर हारते ही हैं । यदि उन्हें शराब या कोकेन का व्यसन हो, तब तो उनके खर्च की कोई सीमा ही नहीं रहती । मनपसंद खानपान, ऐशो इशरत भरा जीवन और जुआ-शराब आदि शौकों के कारण उनका खर्च इतना बढ़ जाता है कि उसे बड़े बड़े रईस भी शायद ही बर्दाश्त कर सकें । फिर भी ये लोग वर्षों तक ठाठबाट भरा विलासी जीवन व्यतीत कर सकते हैं । मानी हुई बात है कि इतनी अधिक आमदनी एक स्त्री की कमाई से तो हो नहीं सकती । अतः ये लोग तीन, चार या इससे भी अधिक युवतियों को अपने काबू में रखते हैं जिनकी एकत्रित कमाई से इनका खर्च चलता है । "दो लड़कियों की आमदनी से तो मेरे कपड़ों की धुलाई का खर्च चलता है" आदि गर्वोक्तियाँ इन लोगों के वार्तालाप में सुनी जा सकती हैं ।



एक आश्चर्य की बात यह देखी गई है कि देह विक्रय के धंधे में रातदिन डूबे रहने वाले ये दलाल यौन रोगों से अकसर बचे हुए रहते हैं । इस वर्ग के लोगों में पंद्रह प्रतिशत से अधिक पुरुष उपदंश या प्रमेह से पीड़ित नहीं पाये जाते । यौन रोगों का यह प्रमाण किसी भी देश की जनसंख्या के यौन रोगों के औसत प्रमाण से अधिक नहीं है । इसका कारण यही हो सकता है कि इन रोगों से उनका रात दिन का परिचय होने के कारण उनसे बचे रहने की आवश्यक सावधानी वे बरतते हों । इसके उपरांत, इन लोगों को यौन रोगों के इलाज की भी थोड़ी-बहुत जानकारी होती है । इसी के सहारे वे रोगग्रस्त गणिकाओं की सेवा-चाकरी कर सकते हैं और इसीके बल पर वे उनकी स्थायी प्रीति अर्जित करते हैं ।

६
अमरीका के कृष्णवर्णीय दलाल

अमरीका में हब्शियों की संख्या नगण्य नहीं है । गणिकाओं की दलाली के पेशे में हब्शी दलालों का अनुपात बहुत अधिक है । अमरीकी प्रजा आज प्रगति के सर्वोच्च सोपान पर पहुँची हुई मानी जाती है । इस प्रजा ने हमेशा लोकतंत्रीय शासन-पद्धति और सामान्य प्रजाजन के वैयक्तिक अधिकारों का ज़ोरदार समर्थन किया है । परंतु वर्णद्वेष से यह प्रजा भी नहीं बची । हब्शियों के प्रति गौरवर्णीय का दुर्व्यवहार जातिभेद और वर्णद्वेष की अक्षुण्ण परंपरा प्रस्तुत करता है । अफ्रीका से बड़ी संख्या में पकड़े हुए इन काले मनुष्यों से कमरतोड़ श्रम करवा कर उनके खूनपसीने से समृद्ध बनी हुई अमरीकन प्रजा को इन गुलामों की मुक्ति के लिए गृहयुद्ध करना पड़ा था । इस उज्ज्वल घटना ने पुराने पापों की कालिमा को कुछ हद तक धो डाला, इसमें कोई संदेह नहीं । उत्तर के प्रांतों ने अपने ही समवायतंत्र के दक्षिणी राज्यों से भीषण युद्ध करके हब्शियों को गुलामी से मुक्त किया । अमरीका के इतिहास में यह प्रसंग अत्यंत भव्य, उदात्त और रोमांचक है । परंतु अमरीका के कुछ भागों में वर्णद्वेष की दीवारें अब तक ढही नहीं हैं । इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । गौरवर्णीय पुरुष हब्शी स्त्री से यौन संबंध रख सकता है और भद्दे से भद्दा मज़ाक कर सकता है । परंतु किसी काले पुरुष ने किसी गौरांगी से अनुचित व्यवहार या अशिष्ट मज़ाक किया, या उससे छेड़छाड़ की, ऐसा झूठा सच्चा संदेह उत्पन्न होने पर भी अमरीका के सभ्य और प्रगतिशील गौरांग पुरुष उन्मत्त होकर हिंस्र भेड़ियों की तरह उस काले पुरुष पर टूट पड़ते हैं, और उसकी हत्या करके ही दम लेते हैं । ऐसी घटनाएँ आज भी अमरीका में होती रहती हैं । कृष्णवर्णीय पुरुष द्वारा कोई दुष्कृत्य होते ही उन्मत्त गोरों की भीड़ पत्थर मार मार कर, लकड़ियों से पीट पीट कर या किसी पेड़ की डाल से लटका कर उसका वध करती है । सामुदायिक हत्या के इस प्रकार को अंग्रेज़ी में 'लिन्चिंग' कहा जाता है । इस पद्धति से हब्शियों की हत्या अब भी होती है और अमरीका के दक्षिणी विभागों के गौरवणीर्य पुरुष इसे गोरों का परम पुनीत कर्तव्य मानते हैं ।

वर्णद्वेष की भावना इतनी तीव्र और इतनी गहरी होने पर भी अमरीका में गौरांग स्त्रियाँ काले हब्शी दलालों के वश में रहकर वेश्या व्यवसाय क्यों करती हैं, यह एक आश्चर्य की बात है । अनाचार के क्षेत्र में आकर गोरों का वर्णद्वेष कुछ सौम्य हो जाता हो, यह तो मुमकिन नहीं । हब्शियों को वहाँ की गोरी प्रजा आज तक असभ्य और जंगली मानती है । सत्य बात यह है कि काले हब्शी नरमी का बर्ताव करते हैं; और वे अधिक विश्वसनीय और अधिक अनुरक्त प्रेमी सिद्ध होते हैं । इसके उपरांत, वहाँ की स्त्रियों में यह मान्यता भी फैली हुई है कि गोरे पुरुष की अपेक्षा कृष्णवर्णीय पुरुष कामकला में अधिक प्रवीण होता है और उसका पौरुष स्त्रियों की कामवासना को अधिक पूर्णता से और स्त्रियों के मनचाहे ढंग से संतुष्ट कर सकता है । हब्शी लोग उत्तम गवैये और मुष्टि युद्ध में अजेय होते हैं । उन के उग्र पौरुष के उपरांत शायद इन गुणों के कारण भी वहाँ की वारांगनाएँ उनके प्रति अधिक आकर्षित होती हैं । कारण कुछ भी हो, यह सत्य

है कि गणिकाओं की दलाली के क्षेत्र में इन लोगों का स्थान दृढ़ता से जमा हुआ है । सुंदर गौरकाय स्त्रियाँ इन बदसूरत हब्शियों के संरक्षण में रहने को क्यों तैयार हो जाती हैं, इस पहेली का हल इन गणिकाओं के निवेदनों में ही ढूंढा जा सकता है । यहा इनमें से कुछ का उल्लेख प्रासंगिक होगा ।



पॉलाइन नामक गौरवर्णीय गणिका का रक्षक और प्रेमी सेम नामक हब्शी गुंडा था । वह उसके साथ क्यों रहती थी, इसकी कहानी उसी के शब्दों में सुनें: — ''मैं इस हब्शी के साथ क्यों रहती हूं, इस प्रश्न का कोई सरल सा, तैयार उत्तर मेरे पास नहीं है । मैं सिर्फ इतना कह सकती हूं कि सेम के प्रेम की खातिर वेश्यावृत्ति करके उसे अपनी कमाई अर्पण करनेवाली चार स्त्रियाँ हैं । मैं उनमें की एक हूं । हम चारों इस बात को जानती है । सेम मेरे साथ अत्यंत स्नेहभरा और सौजन्यपूर्ण बर्ताव करता है । बढ़िया मोटर में वह मुझे घुमाने ले जाता है और मेरे लिए सुंदर और कीमती कपड़े सिलवा देता है । आज तक जो भी चीज़ मैंने उससे मांगी, वह उसने अवश्य लाकर दी और कभी मेरा दिल नहीं तोड़ा । प्रेमी तो वह गज़ब का है । वह मुझे 'छोटी रानी' कह कर पुकारता है और उसका स्पर्श होते ही मैं यह भूल जाती हूं कि वह हब्शी है और उसका रंग स्याही जैसा काला है । माइक और दूसरे गोरे दलालों के साथ मैं रहती थी तब की अपेक्षा सेम के साथ रहकर मैं कहीं अधिक सुखी हूं । सेम मेरी हर फरमाइश पूरी करता है; इतना ही नहीं, उसके साथ रहने के बाद मारपीट की आफत से मैं बच गई हूं । उसने कभी मुझे फूल की छड़ी से भी नहीं छूआ; और न वह कभी मुझसे नाराज़ होता है । गौरांग गुंडों के साथ रहती थी तब की और अब की स्थिति में ज़मीन-आसमान का अंतर है । सेम के साथ रहने वाली अन्य स्त्रियाँ भी मेरे साथ अच्छा बर्ताव करती हैं । सेम और सब को छोड़ कर केवल मेरा ही होकर रहे, यह मैं चाहती हूं या नहीं —मुझे खुद नहीं मालूम । आपको आश्चर्य हो सकता है, परंतु हम चारों स्त्रियाँ इस काले पुरुष को समान रूप से चाहती हैं । अब रहा सुरक्षा का सवाल । इस विषय में यदि मुझसे पूछा जाय, तो मैं चार गोरे रक्षकों की अपेक्षा एक हब्शी रक्षक को अधिक पसंद करूँगी ।''

नेली नामक एक गणिका का निवेदन भी इससे मिलता-जुलता है । वह कहती है, ''मैं एक हब्शी गुंडे की प्रेमिका हूं । साथ ही मैं वेश्यावृत्ति भी करती हूं । वह कभी कभी मुझे पीटता भी है । मेरे जैसी एक और गौरांग स्त्री भी उसके साथ रहती है । हम दोनों के उपरांत वह कई हब्शी स्त्रियों से भी गणिकावृत्ति करवाता है । लोग उसे 'स्माइली' कहते हैं । वह जब खुश होता है तब मुझे बहुत प्रिय लगता है । अपनी मोटर में वह मुझे घुमाने ले जाता है । मुझे गाड़ी चलाना भी उसीने सिखाया है । कभी कभी हम शहर में

घूमने जाते हैं; और ऊँचे दर्जे के नृत्यगृहों और नाट्यगृहों में भी एक साथ जाते हैं । काला पुरुष और गौरांग स्त्री एक साथ घूमें फिरें, खायें-पिएँ, और नृत्य करें, इसमें यहाँ की जनता को कुछ भी विचित्र दिखाई नहीं देता । एक बार मैं गिरफ्तार हो गई और मुझे अदालत में न्यायाधीश के समक्ष पेश किया गया । गोरे न्यायाधीश ने मुझे राय दी कि मैं यदि स्माइली के खिलाफ गवाही दूं, तो वह मुझे रिहा करके मेरे संबंधियों के पास भेजने की व्यवस्था कर देंगे; और स्माइली को कड़ी सज़ा देकर जेल में बंद करवा देंगे । मैंने उत्तर दिया कि मुझे यदि जान से मार डाला जाय, या जिंदा जला दिया जाय, तो भी मैं अपने स्माइली के विरूद्ध एक शब्द भी नहीं बोलूँगी । लाचार और कुछ नाराज़ होकर न्यायाधीश महाशय ने मेरे ऊपर पचास डॉलर जुरमाना कर दिया । जुरमाने की रकम अदा करके जैसे ही मैं बाहर निकली कि स्माइली मोटर लिये मेरी राह देख रहा था ।''

पॅन्सी नामक एक और गणिका की कहानी भी सुन लें । ''मेरा प्रेमी एक हब्शी है । मैं उसी के साथ रहती हूं । उसे सिर्फ मेरा प्रेमी या दलाल मानना उचित नहीं होगा । मैं उसे अपने विवाहित पति से भी अधिक मानती हूं । देह विक्रय करके धन कमाने के लिए वह मुझे कभी मजबूर नहीं करता । मैं अपनी राजीखुशी से जितना रुपया उसे देती हूं, उसके अलावा एक पैसा भी वह कभी नहीं मांगता । गौरांग गुंडों के साथ रहकर मुझे अत्यंत कटु अनुभव हुआ । उसके बाद इस हब्शी से मेरा परिचय हुआ । वह कुशल



संगीतकार भी है । मेरे प्रति उसका भाव प्रेम के बजाय भक्ति का है, यह कहना अधिक योग्य होगा । वह बलवान पुरुष है, और मैं निर्बल स्त्री हूं, फिर भी वह मेरे साथ अत्यंत स्नेह और सम्मान भरा बर्ताव करता है । इस प्रकार का भक्तिमय प्रेम इन जंगली और असभ्य माने जाने वाले हब्शियों के सिवा और कोई नहीं कर सकता । मैं अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिए ही वेश्यावृत्ति करती हूं ताकि मैं भी नयी मोटरगाड़ी, सुंदर कपड़े और कीमती जवाहरात खरीद सकूं । उसने मुझे इस मार्ग पर प्रवृत्त करने की कोशिश भी नहीं की । उसके लिए जब मैं दो एक नेकटाई या रेशमी कमीज़ खरीदती हूं, तब मेरे हृदय में प्रेम और संतोष के जो मधुर भाव उठते हैं, उनका मैं वर्णन भी नहीं कर सकती । उसकी आँखों में आनंद की चमक देखकर मेरे सुख की सीमा नहीं रहती । अनेक वर्षों तक संगीत मंडलियों में काम करने के कारण मुझे गोरे और काले, दोनों प्रकार के पुरुषों का अनुभव है । इस अनुभव से मुझे इस सत्य की उपलब्धि हुई है कि काला पुरुष गौरांग पुरुष की अपेक्षा अधिक सच्चा और अधिक अनुरक्त प्रेमी एवं अधिक विश्वसनीय और अधिक निष्ठावान पति सिद्ध होता है । मेरे प्रेमी का संबंध अन्य कई गोरी और हब्शी स्त्रियों से है, यह मैं जानती हूं । आपको यह बात विचित्र या अनुचित लग सकती है, परंतु मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूं कि यह सब जानते हुए भी मैं उसे चाहती हूं । इतना अधिक चाहती हूं कि केवल उसी के सहचार से मुझे संतोष और आनंद मिलता है ।''

ग्यारहवाँ परिच्छेद
दलाली के भयावह परिणाम

१
दलाल या गुंडा: एक विलक्षण व्यक्ति

गुंडों का कुछ और निकट से परिचय प्राप्त किया जाय । दलाली करने वाले गुंडों की उम्र कितनी होनी चाहिये ? वैसे तो बीस से साठ वर्ष तक कुछ भी हो सकती है; परंतु अधिकांश गुंडे बीस से तीस तक की उम्र के ही पाये जाते हैं । उनका बाह्य रंगरूप कैसा होता है ? अधिकांश गुंडे दुबले-पतले और लंबे होते हैं । यह एक आश्चर्य की बात है कि गणिकाओं द्वारा प्रेमी के रूप में स्वीकृत होने वाले गुंडे अकसर स्थूल या नाटे नहीं होते । शराब या कोकेन का व्यसन इन लोगों में बहुतायत से पाया जाता है; हालाँकि उनका मुख्य उद्देश्य तो गणिकाओं और उनके ग्राहकों को इन मादक पदार्थों की आदत डालना ही होता है । कुछ गुंडे उच्च शिक्षित और विश्वविद्यालयों के स्नातक भी होते हैं । इनमें से अधिकांश छोटी-मोटी सज़ाएँ काटे हुए होते हैं । कुछ गुंडों का एकमात्र व्यवसाय अपनी आश्रिता गणिकाओं की निगरानी रखना होता है, जब कि कुछ अन्य व्यवसाय कर के फ़ुरसत के समय यह धंधा करते हैं । इनका हृदय सोने का हो या न हो, पर इनके दांत सोने के अवश्य होते हैं । कुछ वर्ष पहले तक इसे फैशन में शुमार किया जाता था और समृद्धि का लक्षण भी माना जाता था ।

कानून के चंगुल से बचने की अविरत सावधानी, स्त्रियों के चित्र विचित्र स्वभावों को संभालने की जिम्मेदारी, आर्थिक अस्थिरता, आश्रिता गणिकाओं के रोगग्रस्त हो जाने का खतरा, और जेल का भय, इस व्यवसाय के अभिन्न अंग हैं । रात दिन सिर पर लटकती हुई ये तलवारें बहुत कम पुरुषों को जीवन भर इस धंधे में रहने को प्रवृत्त करती हैं । दस-बारह वर्ष बीतते ही गणिकाओं की दलाली करने वाले गुंडे किसी और व्यवसाय की तलाश करने लगते हैं । परंतु यह दूसरा धंधा भी अकसर उतना ही अनैतिक और उतना ही जोखिमभरा होता है । निषिद्ध शराब बनाने का या बेचने का धंधा, बिना महसूल के विदेशों से आने वाले माल का तस्कर-व्यापार, या जीवनावश्यक वस्तुओं का काला बाज़ार करना कम अनैतिक या कम ख़तरनाक धंधे नहीं हैं । कभी कभी ये गुंडे जेब काटने का, दूकानों या गोदामों से माल चंपत करने का, जाली दस्तावेज बनाने का और झूठी गवाही देने का धंधा भी करते हैं । मौका लगने पर ये लोग सेंध लगा कर चोरियाँ कर सकते हैं, संस्थाओं का रुपया हड़प कर सकते हैं और साइकिल या मोटर चुराने का धंधा भी कर सकते हैं । चोरी का माल बेचने में तो ये लोग सिद्धहस्त होते हैं ।

इन अवैध धन्धों के उपरांत कभी कभी ये लोग होटलों में खाना परोसने का, मोटर-ड्राइवरी का, या दरज़ी-सुनार इत्यादि का मेहनत-मज़दूरी भरा काम भी करते हैं । परंतु इन कामों को भी वे अकसर अपने मुख्य व्यवसाय का पोषक बना लेते हैं । मानी हुई बात है कि मोटर-ड्राइवरों, होटलों में खाना परोसने वालों और जेवर-जवाहरात बनाने या बेचने वालों का रसिक पुरुषों और शौकीन स्त्रियों से ही अधिक संपर्क होता है, जो उनके दलाली के पेशे में अत्यंत सहायक सिद्ध होता है । इन धंधों में दलालों को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं, और तरह-तरह के लोगों से मिलकर उनमें एक प्रकार की धृष्टता और धूर्तता आ जाती है । इन लोगों की हाज़िरजवाबी और बातचीत की तहज़ीब भी देखने-सुनने के काबिल होती है ।

नाटक-सिनेमा देखने के ये लोग अत्यधिक शौकीन हों, इसमें तो कोई ताज्जुब नहीं, पर आश्चर्य की

बात यह है कि इनमें के कई पढ़ने के शौकीन भी होते हैं । कुछ लोग तो ग्रंथालयों में जाकर अध्ययन करते हुए पाये जाते हैं । भद्दे प्रकार के नाटक-नौटंकियों में इन्हीं लोगों की और उनकी आश्रिता गणिकाओं की ही भीड़ होती है । अश्लील संवाद या बीभत्स उछलकूद वाले नाटक-सिनेमा इसी वर्ग के सहारे पनपते हैं । इन लोगों को यहाँ अपने वर्ग के अन्य लोगों और नयी नयी गणिकाओं से मिलने का मौका मिलता है । उग्र प्रकार के खेलकूद और मारपीट के तो ये लोग खास शौकीन होते हैं । मुक्केबाजी, कुश्ती, घुड़दौड़ और जुए के किसी भी प्रकार के खेल में इनकी हाज़िरी अवश्य लगती है । कुछ दलाल अखाड़ेबाज उस्ताद या उनके शागिर्द होते हैं । ये लोग पराकाष्ठा के वहमी होते हैं । कुछ हद तक धार्मिकता भी इनमें पायी जाती है । नीतिमय जीवन वाँछनीय है, यह मानने की और कहने की ईमानदारी तो इनमें होती है, पर उसपर अमल करने की इच्छा नहीं होती । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गुंडों की बात जानें दें, पर सभ्य समाज में भी अपनी मान्यता और वाणी के अनुसार बर्ताव कितने लोग कर पाते हैं ?

विशेष तौर से अमरीका में और कुछ हद तक यूरोपीय देशों में ये गुंडे राजनीतिक दलबंदियों में बहुत अधिक दिलचस्पी लेते हैं । चुनाव के समय उम्मीदवारों को इनकी अच्छी खासी सहायता मिल जाती है । इन के नेतृत्व में चुनाव के जुलूस निकलते हैं और अन्य प्रकार से भी ये लोग अपने अपने पक्ष का प्रचार करते हैं । अमरीका के एक जुलूस में गणिका व्यवसाय से परिचित एक आदमी ने सौ से भी अधिक दलालों और गणिकाओं को नारे लगाते हुए देखा था । राजनीतिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करनेवाले अनेक नेताओं का नेतृत्व इन गुंडों के समर्थन पर आधारित रहता है । ये लोग नारे चाहे जैसे उदात्त और महान ध्येयों के लगायें, राजनीति से उन्हें विशेष सरोकार नहीं होता और अंत में ये भाड़े के टट्टू होते हैं गणिकाओं के दलाल ही । लोकतंत्र के चुनावों में इन लोगों की सहायता की आवश्यकता पड़े, यह प्रजातंत्रवादियों के लिए अभिमान या संतोष की बात नहीं है । हमारे देश में भी इस विषय में जागरूक रहने की आवश्यकता है ।

इन गुंडों के जीवन की एक और विशिष्टता भी उल्लेखनीय है । फौजदारी अदालतों में गणिकाओं की जमानत देने का काम ये लोग खुद नहीं करते । यह काम करने वाला एक अलग ही वर्ग होता है जो केवल यही व्यवसाय करता है । जमानत पर छूटी हुई गणिका को जमानत की मियाद तक इन लोगों को अपनी कमाई का कुछ भाग देना पड़ता है । इन साहूकारों को भी गणिकावृत्ति के साथ जुड़े हुए अनेकविध गुंडों का ही एक प्रकार कहा जा सकता है । पुलिस और न्यायाधीशों के साथ इन लोगों का बड़ा मेल जोल होता है और उनकी सिफारिश सभी क्षेत्रों में चलती है । बड़े पैमाने पर अनीति का धंधा करनेवाले गिरोहों का आर्थिक संचालन इन्हीं लोगों के हाथ में होता है । अत: संघटित रूप से चलने वाले वेश्यालयों मे गणिकाओं के देह विक्रय से होने वाली आमदनी का अच्छा खासा भाग इन्हीं लोगों की तिजोरियों में जाता है । पुलिस के सिपाही, थाने के छोटे मोटे कर्मचारी, अदालत के मुहर्रिर-पेशकार आदि लोगों को इनसे नियमित रूप से इनाम-इकराम मिलते रहते हैं । गणिकाओं की कमाई से, परोक्ष रूप से न मालूम कितने लोगों का पोषण होता है ।

इन गुंडों को सफर का भी बहुत शौक होता है । कुछ तो व्यर्थ भटकने की वृत्ति इनके स्वभाव में ही होती है, और कुछ अपनी आश्रिता स्त्रियों के लिए योग्य स्थानों की तलाश में भी इन्हें घूमना पड़ता है । एक बार रुपया कमा लेने पर इनका सफर का ठाठबाट भी देखने योग्य होता है ।

इन गुंडों को एक ही समय एक से अधिक स्त्रियाँ क्यों चाहती हैं, यह प्रश्न प्रथम दृष्टि से बड़ा उलझनभरा दिखाई देता है । परंतु इसका उत्तर इन लोगों से पूछने के बजाय शिष्ट समाज से ही पूछा जाना चाहिये । सभ्य समाज में क्या यह रात दिन देखा नहीं जाता कि अमुक पुरुष या अमुक स्त्री एक से अधिक प्रेमी या प्रेमिकाओं से संबंध रखते हुए भी शिष्ट समाज में प्रतिष्ठापूर्वक रह सकते हैं ? लोकनिंदा हमेशा ही कपोलकल्पित या असत्य पर आधारित नहीं होती । परंतु यह सब कह चुकने के बाद, इतना तो

स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अनेक स्त्रियों को वश में रख सकने वाले, और उनसे अनाचार के कृत्य करवा कर उनका और अपना गुज़ारा चलाने वाले इन शोहदों में ऐसी कोई विलक्षणता या ऐसी कोई संमोहनशक्ति अवश्य होती है कि जिसके कारण स्त्रियाँ इनकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करने में अपने आपको धन्य समझती हैं । यह विलक्षणता सामान्य मनुष्यों में नहीं होती । अत: सिद्ध हुआ कि गणिका का रक्षक गुंडा विलक्षण शक्ति वाला असाधारण मनुष्य होना चाहिये । उसके स्वभाव में, उसकी देह रचना में, उसकी आँखों में, उसके हावभाव में, और उसकी बातचीत में ऐसी कोई मोहिनी अवश्य होनी चाहिये जिससे हर स्त्री पहले उसके प्रति आकर्षित हो, फिर उस पर मोहित हो, और अंत में उससे भयभीत हो । उग्र पौरुष के इस संमोहन से स्त्रियाँ अपने आप खिंची चली आती हैं । इस वशीकरण के कारण, इन लोगों को देखते ही स्त्रियों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनंद की तरंग लहर जाती है । अनेक बार तो पहली मुलाकात में ही स्त्रियाँ पूर्णत: इनके वश में हो जाती हैं । इतना ही नहीं, वे चाहें तो भी इस प्रबल शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकतीं । और इसके बाद तो स्त्री के देह, मन और आत्मा पर ये लोग कुछ ऐसा जादू कर देते हैं कि स्त्री उनपर अपना सर्वस्व निछावर करने को सदा तत्पर रहती है । उनकी उपस्थिति में ही नहीं, उनकी गैर हाज़िरी में भी ये रक्षिता स्त्रियाँ केवल अपने-अपने विशिष्ट गुंडे के प्रति ही एकनिष्ठ रहती हैं । अपने रक्षक और प्रेमी को खुश रखना, उसके लिए भोगविलास के साधन जुटाना और उसका प्रेम संपादन करना ही इन स्त्रियों के जीवन का चरम ध्येय हो जाता है, जिसे पूरा करने के लिए वे अपने शरीर को गणिकावृत्ति में आकंठ डुबा देती हैं और आत्मोत्सर्ग की धधकती हुई चिता में अपने आप को हँसते-हँसते होम देती हैं । प्रेम का यह निर्व्याज और नैष्ठिक आवेग यदि विक्रय और छलकपट का शिकार न हुआ होता, तो उसकी ज्योति ने मनुष्य के अंत: करण को शुद्ध करके पूरी मानवजाति का उत्थान किया होता और उसे अधिक सुखी बनाया होता । परंतु दुर्भाग्य से पुरुष के पाप ने उसे अपनी स्वार्थसिद्धि के रास्ते पर मोड़ दिया है ।

२

अनीति का काला बाज़ार

दुर्गुण, दुष्टता, अपराधवृत्ति आदि विकार बाहर से दबाने से नहीं दबते । अमरीका में इस शताब्दी के तीसरे दशक में मद्य-निषेध का राष्ट्रव्यापी प्रयोग किया गया था । परंतु उसका परिणाम यह निकला कि निषिद्ध शराब बनाना या बेचना उस युग का सबसे अधिक लाभदायक व्यवसाय हो उठा । प्रसिद्ध डाक्टर, प्रतिष्ठित वैज्ञानिक, यहाँ तक कि कुलीन घरानों की महिलाएँ भी इस अवैध व्यापार के आकर्षण से नहीं बच सकीं । व्यवसाय-जगत में अत्यंत प्रतिष्ठित माने जाने वाले पूंजीपति और उद्योगपति इस निषिद्ध व्यापार का आर्थिक संचालन करते थे । सामान्यत: सीधे और सच्चे माने जाने वाले लोग भी गैरकानूनी शराब का व्यापार करने लगे थे, और इस कानून को कार्यान्वित करने की जिन पर जिम्मेदारी थी वे अफसर भी पेट भर कर रिश्वत लेने लगे थे ।

इधर कई वर्षों से भारत में जीवनावश्यक वस्तुओं का काला बाज़ार (ब्लॅक मार्केट) चल रहा है । इस क्षेत्र के सूत्रधार अकसर खादीधारी गाँधीवादी ही होते हैं जिन्हें देख कर अमरीका के मद्यनिषेध युग की याद आ जाती है । कानून ने जिस बात पर प्रतिबंध लगाया हो उसे अदबदा कर करना; अवैध कृत्य करते हुए पकड़े न जाना; इन व्यापारों के जरिये जनसाधारण के खून में भीगा हुआ रुपया बटोर बटोर कर अपनी तिजोरियों में भरना; रात दिन यह कुकृत्य करते रहने पर भी समाज की दृष्टि में प्रतिष्ठित बने रहना, इतना ही नहीं, समाज का नेतृत्व हथिया बैठना; और इस पाप की कमाई में से थोड़ा बहुत दान देकर लोगों

की नज़रों में दानशूर प्रमाणित होना आज के सफेदपोश नेताओं का स्वभावधर्म हो गया है । देश की इन कृत्यों से अधोगति हो रही है, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं । रक्षक ही जहाँ भक्षक हो उठे हों, वहाँ शिकायत भी किससे की जाय ? सत्य, अहिंसा और अस्तेय के व्रतधारी गांधी जी की नज़रों के सामने उनके अनुयायी खुलेआम इन व्रतों को भंग कर रहे हैं । इस हालत में देश की उन्नति कैसे हो सकती है ? अनाज, कपड़ा आदि रोज़मर्रा की उपयोगी चीजों के व्यापार में तो न मालूम कितनी विषमता भरी पड़ी होगी । की बुनियाद पर रचे हुए दुर्निवार्य काम वासना के व्यापार में तो न मालूम कितनी विषमता भरी पड़ी होगी । इसी कारण, यह कहे बिना छुटकारा नहीं कि स्त्रियों के देह विक्रय से जीवननिर्वाह करने वाले गुंडों का धंधा पराकाष्ठा का नीच, अपराधयुक्त और अनीतिमय साहस है । यह सही है कि देह विक्रय के पेशे में भी कभी कभी निश्छल प्रेम, निष्ठा और स्वार्थत्याग की सुनहरी प्रकाश रेखाएँ चमक जाती हैं; परंतु अधिक व्यापक सत्य यही है कि जिस किसी का भी देह विक्रय के पेशे से स्पर्श होता है, वह पतित और अपावन हो जाता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पतन और अपवित्रता का सबसे बड़ा भाग दलाली करने वाले गुंडों के हिस्से में जाता है ।

इस व्यवसाय के सही वातावरण का अनुभव न होने वाले लोगों के मन में गणिकालयों के संबंध में बड़ी अजीब-अजीब कल्पनाएँ होती हैं । उनके मन वेश्यालय विलास के सुंदर साधनों से सज्ज, जगमगाते प्रकाश और मधुर संगीत से भरा हुआ एक परिस्तान होता है जहाँ शराब और शरबत के जाम सदा ढलते-छलकते रहते हैं । इसमें कोई शक नहीं कि उच्च कोटि के गणिकालयों में यह कल्पना साकार हो उठती है; परंतु अधिकांश गणिकालय तो निम्न श्रेणी की चिचपिच बस्ती वाली सँकड़ी गलियों में और गंदे मकानों में होते हैं जहाँ अनगिनत वारांगनाएँ सीलन, दुर्गंध और अंधकार भरी छोटी छोटी कोठरियों में अपना धंधा करती हैं । खुले वेश्यालयों में एक ही मकान में सैंकड़ों स्त्रियाँ खुले आम पेशा करती हैं, जब कि गुप्त आवासों में केवल जानकार लोग ही प्रवेश कर सकते हैं । अनुभव हीन नये रंगरूटों का यहाँ काम नहीं । यह हम देख चुके हैं कि कुछ गणिकाएँ स्थायी रूप से गणिकालयों में रहती हैं, जब कि कुछ रात को या निश्चित किये हुए समय पर वहाँ आकर, दो चार घंटे अपना व्यवसाय करके अपने निवासस्थानों पर लौट जाती हैं । इस प्रकार इन तथाकथित परिस्तानों की दुनिया चमकीले और मटमैले, सभी प्रकार के रंगों से रंगी हुई होती है ।

३
दलाल और पुलिस

गणिकाओं के प्रसिद्ध मोहल्ले और बड़े बड़े गणिकालय तो पुलिस-अफसरों की नज़र में होते हैं । परंतु कुछ गणिकालय इतने गुप्त और ऐसी अनजान जगहों पर होते हैं, कि पुलिस को भी उनका पता लगना मुश्किल होता है । इन मोहल्लों में लंबे अरसे तक काम करने वाले पुलिस-अफसरों को ही इनकी जानकारी होती है । यह तो सभी जानते हैं कि पुलिस की सहायता के बिना गणिकाओं, उनके रक्षकों और गणिकालयों के मालिकों का काम एक दिन भी नहीं चल सकता । वेश्याएँ खुद या वेश्यालयों के संचालक पुलिस का निश्चित हिस्सा बांध देते हैं । धंधा ज़ोरों से चल रहा हो, तो पुलिस को इस ज़रिये से अच्छी खासी आमदनी होती रहती है; क्योंकि गणिकालयों के संचालक या दलाल पूरी आय का दस प्रतिशत भाग राजीखुशी से दे देते हैं । परंतु धंधा ठीक से न चल रहा हो, तो यह रकम अत्यंत कम हो जाती है । अमरीका जैसे देशों में पुलिस को मिलनेवाली रकम गणिका के वर्ण पर आधारित रहती है । हब्शी स्त्रियों से अत्यंत कम रकम मिलती है क्योंकि एक तो उनकी आय बहुत कम होती है और दूसरे उन्हें पुलिस की संरक्षण की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती । पुलिस को दी जाने वाली रकम संबंधित लोगों को पहुँचाने का काम कभी कभी गणिकाएँ खुद करती हैं और कभी उनके दलाल या गणिकालयों के संचालक भी करते

है । परंतु अधिकतर तो यह काम किसी मध्यस्थ के द्वारा करवाया जाता है । यह व्यक्ति गणिकालय और पुलिस, दोनों पक्षों का जाना-पहचाना होता है, अतः रुपया मारा जाने का डर नहीं रहता और रिश्वतखोरी का कोई सबूत ही पैदा नहीं होता । कभी कभी यह भी होता है कि पुलिस के नाम पर गणिकाओं से वसूल की हुई रकम पूरी की पूरी पुलिस को नहीं मिलती । रक्षक, गुंडे, या दलाल उसमें का कुछ भाग बीच में ही उड़ा लेते हैं ।

अमरीका के किसी शहर में व्यवस्थित रूप से चलने वाले एक गणिकालय से पुलिस को कितनी रकम मिलती थी, इसका हिसाब नीचे दिया जाता है । इस वेश्यालय में बारह युवतियाँ पेशा करती थीं । इनमें की पाँच दिन में आती थीं और सात रात को । शनिवार रविवार को ग्राहकों की भीड़ इतनी बढ़ जाती थी कि बारह में से दस-ग्यारह युवतियों को रातदिन हाज़िर रहना पड़ता था । धंधा अच्छा चल रहा था और प्रति सप्ताह करीब पाँच हजार डॉलर की आमदनी हो जाती थी । इस आय में से पूरा खर्च और दस प्रतिशत रकम पुलिस के हिस्से के रूप में काट कर बची हुई रकम गणिकाओं और संचालकों में आधी आधी बाँट दी जाती थी । उन दिनों वेश्यालयों पर पुलिस के छापे आये दिन पड़ते रहते थे । इस भय से त्राण पाने के लिए पुलिस को कुछ अधिक रकम दे-दिला कर खुश रखा जाता था । उपरोक्त गणिकालय द्वारा एक सप्ताह में निम्नलिखित रकमें चुकाई गईं: —

पुलिस के सबसे बड़े अफसर (शहर-कोतवाल) को	२००	डॉलर
कोतवाली से गणिकालयों की जाँच करने के लिए आने वाले दो निरीक्षकों को	१००	,,
स्थानीय पुलिस-थाने के दारोगा को	५०	,,
थाने में काम करने वाले तीन अन्य कर्मचारियों को	७५	,,
अलग अलग समय गस्त लगाने वाले छः सिपाहियों को	६०	,,
दिन में कभी कभी यूं ही चक्कर लगा जानेवाले सिपाहियों को	५०	,,
कुल जोड़	५३५	,,

इस हराम की कमाई को हाथ भी न लगानेवाले कुछ इनेगिने अफसर हो सकते हैं; परंतु अधिकतर तो पुलिस के ऊँचे से ऊँचे अफसरों से लगा कर मामूली सिपाही तक इस आय की नियमित रूप से अपेक्षा करते हैं और इसमें ज़रा भी चींचपड़ या विलंब होने पर वेश्यालयों का चलना मुश्किल कर देते हैं । कभी कभी दस प्रतिशत हिस्से से इन लोगों का पेट नहीं भरता और वे इससे अधिक हिस्सा माँगते हैं । देनेवालों को बेबस होकर, जितनी रकम वे माँगें, उतनी देनी पड़ती है । सप्ताह में २५०० डॉलर की आय वाले वेश्यालयों को ७०० डॉलर तक पुलिस को देने पड़े हों, यहाँ तक के उदाहरण देखे गये हैं । इसके विरुद्ध, कभी कभी अत्यंत कम रकम देकर भी काम चल जाता है । बारह सौ डॉलर की आय वाले एक गणिकालय का छुटकारा केवल सौ डॉलर देकर हो जाता था । फिर बड़े अफसरों को मालूम हुआ कि इस गृह से उन्हें उचित हिस्सा नहीं मिल रहा । तुरंत ही मानहत अफसरों और निरीक्षकों को योग्य कार्रवाई करने की सूचना मिली और कुछ ही दिनों में इस गणिकालय के मालिकों ने तीन सौ डॉलर प्रति सप्ताह देना राज़ीखुशी से कबूल कर लिया ।

दलालों का बादशाह माना जाने वाला जॅक नामक एक विख्यात गुंडा था । पुलिस के पूरे महकमें के साथ उसका घनिष्ठ संबंध था । यह हँसमुख और मिलनसार दलाल गणिकाओं की कमाई में से पुलिस अफसरों की पत्नियों या रखैलों के लिए कीमती रुँएदार कोट तक बनवा देता था । किसी छोटे-मोटे पुलिस-अफसर को कभी रुपये की आवश्यकता पड़े तो उसकी सहायता जॅक ही करता था । किसी अफसर की मोटर का पहिया निकम्मा हो गया हो, या और कोई पुरज़ा टूट गया हो, तो उसे तकलीफ करने की कोई ज़रूरत नहीं । जॅक से मिल कर ज़िक्र करते ही, दूसरे दिन पूरी मोटर दुरुस्त हो कर उसके दरवाज़े पर खड़ी हो जाती थी । किसे, कब, किस चीज़ की आवश्यकता पड़ेगी इसकी खबर उसे न मालूम कहाँ से लग जाती थी और अफसरों की हर ज़रूरत को पूरी करने के लिए वह सदा तत्पर रहता था । इसी प्रकार के लोगों के कारण पुलिस कभी कभी पैसा लिए बिना ही गणिकाओं या दलालों की सहायता कर देती है । पश्चिम के देशों में गणिकालयों के मालिक सरकार के उच्च पदाधिकारी भी हो सकते हैं । अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाली बातों में वे पुलिस की भरसक सहायता करते रहते हैं । अतः राजकीय या सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व करने वाले इन संचालकों या इनकी आश्रिता गणिकाओं को पुलिस तंग नहीं करती । नेताओं की नेतागीरी से सभी देशों के और सभी क्षेत्रों के लोग डर कर चलते हैं ।

गणिकागृहों के मालिक या संचालक कभी कभी पुलिस को धोखा भी देते हैं । पुलिस के किसी विशिष्ट दल के लोग उनसे अपना हिस्सा माँगने आते हैं तो ये लोग अत्यंत आश्चर्यचकित होकर जवाब देते हैं कि पुलिस के हिस्से की रकम तो दूसरे किसी दल के अमुक अफसर को कभी की दे दी गई है । यह सभी जानते हैं कि आखिर तो यह रकम रिश्वत ही होती है; और रिश्वत की रकम के संबंध में अधिक पूछताछ करना खतरे से खाली नहीं होता । यदि किसी बड़े अफसर का नाम दे दिया गया हो, तो उससे पूछने की हिम्मत भी कोई नहीं करता ; और संचालकों की तरकीब सफल हो जाती है । परंतु यह चालबाजी लंबे समय तक नहीं चल सकती । अंत में तो पुलिस को खुश रखने में ही गणिकागृहों की भलाई है ।

४
दलाल और न्यायालय

पुलिस के समान अदालत में भी इन गुंडों का विविध लोगों से मेलजोल होता है । इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । बस्टर नामक एक अड़तालीस वर्षीय कुप्रसिद्ध दलाल था । वंश से वह हब्शी था, परंतु हब्शीजाति का नैसर्गिक कृष्णवर्ण, कई पीढ़ियों के सांकर्य से, उस तक पहुँचते पहुँचते बेमालूम हो गया था और अब वह साफ गेहुएँ रंग का दिखाई देता था । शरीर उसका हृष्टपुष्ट और चेहरा मोहरा सुंदर था । कपड़ों का वह अत्यंत शौकीन था और हमेशा बड़े रोबीले ढंग से रहता था । वह कहा करता था कि उसका विवाह इस्टॅल नामक गौरांग युवती से हुआ है । यह इस्टॅल उसकी विवाहिता पत्नी थी या नहीं, यह तो नहीं मालूम, परंतु पुलिस के द्वारा वह कम से कम पचास बार गणिकावृत्ति करती हुई पकड़ी गई थी । इस्टॅल के उपरांत बस्टर की आश्रिता छः स्त्रियाँ और थीं, जिन सबको पुलिस, अदालत और शहर के लोग बाग अच्छी तरह से पहचानते थे । इन छहों की गणना सोना बरसाने वाली वारवनिताओं में होती थी । कुशल वकीलों के कानूनी दाँवपेंचों की सहायता से बस्टर लंबे समय तक जेल से बचा रह सका था, यद्यपि उसके कारनामों को देखते हुए तो आजीवन कारावास की सज़ा भी उसके लिए कम होती । दोनों हाथों से रुपया बखेर कर गवाहों को अपने पक्ष में कर लेने की युक्ति और निपुण वकीलों ने कानून को छानकर ढूंढे हुए बच निकलने के मार्गों की सहायता से वह हर बार निर्दोष सिद्ध होकर छूट जाता था ।

न्याय करने वाले न्यायालय और उनकी सहायता करनेवाले वकीलों के अन्याय उनके द्वारा वितारत न्याय से रत्ती भर भी कम नहीं होंगे ।

स्टॅला नामक पचास-वर्षीया गौरांग स्त्री बस्टर के लिए नयी नयी युवतियाँ ढूंढ कर लाने का काम करती थी । एक बार रुथ नामक छब्बीस वर्ष की युवती इसके जाल में फँसी । वह कामकाज की तलाश में शहर आई थी और किसी होटल में उसे खाना परोसने का काम मिल गया था । इसी बीच उसका स्टॅला से परिचय हुआ । स्टॅला तो अनुभवी कुट्टनी थी ही । उसने सहानुभूतिपूर्ण बातचीत और स्नेहभरे बर्ताव से रुथ को बहका लिया । किसी धनी परिवार में घर की देखभाल करनेवाली व्यवस्थापिका का काम दिलवाने के बहाने वह उसे अपने साथ ले आई । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिवार था छ:-सात गणिकाओं की कमाई से चलने वाला बस्टर का वेश्यालय । वहाँ पहुँचते ही बस्टर और स्टॅला. दोनों ने इस लड़की से साफ साफ कह दिया कि उसे वेश्यावृत्ति करनी पड़ेगी । यदि वह ग्राहकों को प्रसन्न करने का काम राजीखुशी से करती रही. तब तो बड़े आराम से रह सकेगी । परंतु यदि उसने विरोध किया तो उसके साथ सख्ती की जायगी । रुथ समझ गई कि यह धमकी केवल दिखावे भर की नहीं है । परंतु वह साधारण लड़की नहीं थी । उसने इसका कड़ा विरोध किया. और सचमुच ही उसपर पाशवी अत्याचार किए गये ।

पुलिस को कभी कभी नकली छापे भी मारने पड़ते हैं । सभी छापे केवल अपराधियों को पकड़ने के हेतु से नहीं मारे जाते । पुलिस अफसरों को यह दिखावा भी करना पड़ता है कि वे कितने कर्तव्यपरायण और सतर्क हैं । फिर. छापे में थोड़ी बहुत ग़ैरकानूनी बातें पकड़ी ही जाती हैं । इन छोटी मोटी बातों को दबा देने के लिए अपराध की गुरुता के अनुपात में पुलिस को अतिरिक्त रिश्वत भी मिल सकती है । अत: समय समय पर ऐसे दिखावे के छापे मारना जरूरी होता है । संयोग की बात कि उसी दिन बस्टर के वेश्यालय को पुलिस ने घेर लिया । थोड़ी-बहुत जाँच-पड़ताल करते ही मालूम हुआ कि अत्यंत त्रस्त दिखाई देने वाली एक युवती बिस्तर पर पड़ी हुई कराह रही है और उसे रह रह कर बेहोशी के दौरे आ रहे हैं । उससे पूछते ही उसने स्पष्ट कह दिया कि पिछले चार घंटों में आठ हब्शियों ने उस पर बलात्कार किया था । उसने यह भी कहा कि यह ज़बरदस्ती बस्टर के कहने से ही हुई थी और उसने उन हब्शी ग्राहकों से रुपये वसूल किये थे । इतने भयानक अत्याचार की उपेक्षा पुलिस भी न कर सकी । रुथ को लिखित शिकायत करने की सूचना दी गई ।

कह अनुसार रुथ ने शिकायत की अर्ज़ी लिख दी । इस आधार पर बस्टर को तुरंत गिरफ्तार कर लिया गया । अब तक वह किसी न किसी युक्ति से बच निकलता था । ऐसे रक्तशोषक और समाजकंटक गुंडे के पकड़े जाने से लोग बहुत खुश हुए । अदालत में बस्टर ने गुनाह कबूल नहीं किया । परंतु न्यायाधीश ने उसकी बात नहीं मानी । बहुत बड़ी रकम की जमानत पर उसे रिहा किया गया और एक सप्ताह के बाद उस पर मुकदमा दायर कर दिया गया । बस्टर की चालाकियाँ और उसके दूर दूर तक फैले हुए रूस्क से पुलिस अफसर अच्छी तरह परिचित थे । उन्हें डर था कि बस्टर या उसका कोई परिचित मध्यस्थ रुथ से मिलकर उसके बयानों को बदलवा न दे । अत: रुथ को बड़ी सावधानी से छिपा कर रखा गया । बस्टर ने नाम ही ऐसा कमाया था कि हर आदमी उससे सतर्क रहना चाहता था । दूसरी ओर बस्टर भी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठा था । रुथ को किस पुलिस थाने की हिरासत में रखा गया है, यह उसने मालूम कर लिया । फिर उसने अपनी आश्रिता छ: सात वेश्याओं से उस मोहल्ले में इतने निर्लज्ज प्रकार से वेश्यावृत्ति करवाना आरंभ किया कि उनका गिरफ्तार होना. और उसी थाने में पहुँचना अनिवार्य हो जाय । उसकी युक्ति सफल हुई । इन मे की कई वेश्याओं को उसी थाने में ले जाया गया ।

इस प्रकार, कुछ अपवाद रूप प्रसंगों पर ये गुंडे फँस भी जाते हैं, और उन्हें सज़ा भी मिलती है । परंतु उन्हें इन सज़ाओं का कोई डर नहीं होता । जुरमाने को तो वे सज़ा मानते ही नहीं । अकसर कानूनी दाँवपेंच लड़ाकर या रिश्वत-सिफारिश आदि करिश्मों के सहारे वे कानून की पकड़ से साफ बच निकलते हैं ।

५
दलाल और उनकी समाजविरोधी प्रवृत्तियाँ।

इन गुंडों के विरुद्ध और भी दो बुराइयाँ वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध हो चुकी हैं । ये लोग गणिकावृत्ति का पोषण करते हैं, उसे संगठित व्यवसाय का रूप देते हैं, वैयक्तिक रूप से अत्यंत पतित और समाजविरोधी जीवन व्यतीत करते हैं, अनीति के मार्ग में रुपया कमाते हैं और उस रुपये का और भी अनीतिमय कार्यों में उपयोग करते हैं । उनकी ये बुराइयाँ तो सर्वश्रुत हैं । परंतु समाजशास्त्रियों की दृष्टि से वे और भी दो अनर्थ उत्पन्न करते हैं: —

१. देश की संतानोत्पत्ति का प्रमाण घटाने में ये गुंडे कारणरूप होते हैं । अपने यहाँ की परिस्थिति भिन्न है, पर पश्चिम के देशों में इसे राष्ट्रीय संकट माना जाता है ।
२. न्याय और कानून के क्षेत्र को ये लोग भ्रष्ट कर देते हैं । इस क्षेत्र में पुलिस, न्यायालयों के कर्मचारी, स्वयं न्यायाधीश और राजकीय नेताओं का समावेश होता है ।

प्रजाजीवन की स्वस्थता की दृष्टि से तो यह कितना बड़ा वरदान है कि गणिकाएँ और उनके रक्षक गुंडे प्रायः निस्संतान होते हैं । इनकी प्रजननशक्ति निम्नलिखित कारणों से नष्ट हो जाती है: —

१. जननेंद्रियों का अति-उपयोग या दुरुपयोग उन्हें जननकार्य के लिए अक्षम बना देता है ।
२. यौन रोगों से बचने के और उनकी चिकित्सा के लिए किये जाने वाले उपाय-उपचार भी प्रजोत्पत्ति के पोषक नहीं होते ।
३. अधिकांश गणिकाएँ कभी न कभी उपदंश-प्रमेह आदि वंध्यत्व प्रेरक रोगों का शिकार हो चुकी होती हैं । किसे प्रजननक्षम रहने देना और किसे नहीं, इस विषय में प्रकृति शायद पूरा विचार करके योग्य न्याय करती है ।
४. इतनी सतर्कता के बावजूद भी गर्भ रह जाय, तो गुंडे और गणिका, दोनों की प्रवृत्ति गर्भपात करवा देने की ही होती है ।

यह स्थिति एक दृष्टि से तो अत्यंत वांछनीय है । पतित, कलुषित, दुराचारी और अंत में निश्चित रूप से दुखी जीवन व्यतीत करने वाला वर्ग संतानोत्पत्ति न करके इसी प्रकार का जीवन बिताने वालों की संख्या न बढ़ाये, इसी में मनुष्यजाति की भलाई है । यह सही है कि कई गणिकाओं के बच्चे होते हैं । परंतु अकसर वे गणिकावृत्ति को स्वीकार करने से पहले ही संतान होते हैं । वैसे इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता । गणिकाओं के बच्चे पहले के हों, या बाद के, उनके भाग्य में गणिकावृत्ति की कलंकरेखा ही अंकित रहती है ।

अपराध की तरह दुर्गुण और दुराचार भी स्त्री-पुरुष के भाव-जगत में अनिष्ट और अस्वाभाविक प्रभाव उत्पन्न करते हैं । मानवता के प्रकाश को वे धूमिल कर देते हैं और आत्मा की आवाज़ का गला घोंट देते हैं । इन अनिष्ट प्रभावों के फलस्वरूप बालकों के प्रति एक प्रकार की तीव्र अरुचि उत्पन्न होती है । बच्चों को प्यार न कर सकने वाले स्त्री-पुरुष प्राकृतिक दृष्टि से पूर्ण विकसित नहीं कहे जा सकते । गणिकाओं और गुंडों को बच्चों के प्रति तीव्र अरुचि होती है । उनके मार्ग में बाधाएँ डालने वाले या उनकी जिम्मेदारी बढ़ाने वाले किसी भी तत्त्व को वे पसंद नहीं करते । इस नियम के अपवाद हो सकते हैं, परंतु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि अव्वल तो गणिकाओं और उनके रक्षक गुंडों की प्रजननशक्ति ही नष्ट हो जाती है, और दूसरे, वे बच्चों को चाहते नहीं ।

६
दलाली का अंजाम

दलाली का अंतिम परिणाम क्या होता है ? परलोक की बात जाने दें, पर इस लोक में ही अंत में उन्हें क्या मिलता है ? दलाल के जीवन की रूपरेखा कुछ इस प्रकार होती है: — सबसे पहले तो उसे एक ऐसी स्त्री से प्रेम का स्वाँग रचना पड़ता है जो स्याह-सफेद, रोगी-निरोगी या अच्छे-बुरे का भेद किए बिना किसी भी पुरुष को देहार्पण करने का व्यवसाय करती है । इस थकी हुई, निराश, क्षुब्ध, दुखी और लगभग पागल सी स्त्री को सदा समझाबुझा कर या डरा-धमका कर धंधे से लगाना पड़ता है । इस स्त्री की आँखों से आँखें मिलाने पर उसे उन आँखों में सदा भय, वितृष्णा, तिरस्कार या घृणा के ही दर्शन होते हैं । सैंकड़ों, नहीं, हजारों कामांधों ने चचोड़ी हुई हड्डी के समान त्याज्य इस बाज़ारी स्त्री का उसे चुंबन-आलिंगन करना पड़ता है । प्रतिक्षण विषाक्त रोगों के संसर्ग का भय होने पर भी, रोगों की खान जैसी इस भ्रष्टनारी के निकट संपर्क में रातदिन रहना पड़ता है । इस अभिशप्त प्राणी को प्रकृति की अत्यंत मोहक, कमनीय और सुंदरतम रचना —नारी के उसके घृण्य और कलुषित रूप में ही दर्शन होते हैं ।

कानून के लंबे हाथों में फँस जाने का भय इसे कभी चैन नहीं लेने देता । इस पाप की कमाई का धन भी पूरा का पूरा उसके हाथों नहीं लगता । उसमें हिस्सा बँटाने वाले अनेक लोग पैदा हो जाते हैं । अकसर यही होता है कि पाप का भागी तो वह होता है, और माल किसी और के हाथों लगता है । उसे सदा स्थान बदलते रहना पड़ता है । स्थिरता से एक जगह रहने का सुख उसके भाग्य में नहीं होता । लोगों के आगे वह चाहे जितनी शेखी बघारे, मन में वह समझता है कि उसका धंधा पतित है और वह कभी सुखी नहीं हो सकता । माता-पिता और सुहृद्-संबंधियों की प्रतिष्ठा को वह कलंकित करता है और मित्रों के प्रेम से उसे वंचित होना पड़ता है । उसके बच्चे हों, तो शर्म के मारे वह उनसे आँखें नहीं मिला सकता । भाई-बहन हों, तो उन्हें इस धंधे से बचाने की चिंता उसे सदा लगी रहती है । यद्यपि ये गुंडे कभी कभी अपनी निकट की संबंधी युवतियों को भी गणिकावृत्ति में प्रेरित करते हैं, परंतु इसके लिए उन्हें पश्चाताप जरूर होता है । उनकी आश्रिता युवतियों को और कोई गुंडा बहका कर न ले जाय, इसकी निरंतर सावधानी रखनी पड़ती है । उसकी प्रेमिका होने का दावा करने वाली गणिका किस क्षण उसकी छाती में छुरा भोंक देगी, इसकी कोई निश्चिति नहीं । रिश्वत या हिस्से की रकम नियमित रूप से मिलने पर भी पुलिस उसे किस क्षण गिरफ्तार कर लेगी इसकी चिंता से वह कभी मुक्त नहीं रहता । उसका कोई प्रतिस्पर्धी कब उसे गोली मार देगा, इसका भी कोई भरोसा नहीं । स्पष्ट शब्दों में कहें, तो कुत्ते की मौत मरने के लिए उसे सदा तैयार रहना पड़ता है ।

इस प्रकार, स्त्री के देह विक्रय की दलाली करनेवाले गुंडे अपने जीवन के दिन अपवित्र, असभ्य और अधम वातावरण में गुज़ारते हैं । उनके चारों ओर की दुनिया पतित, धोखेबाज, कृत्रिम और मानवतारहित होती है । किसी भी उच्च उद्देश्य की पूर्ति इस वातावरण में नहीं हो सकती । कुछ समय के लिए कोई युवती उसके प्रति सच्चा प्रेम रखती हो, उसके लिए मर मिटने को तैयार हो और अपनी कमाई से उसका पोषण करती हो, यह संभव है । परंतु अकसर यह स्थिति लंबे समय तक नहीं चलती । दलाली का पेशा ही ऐसा है कि कुछ समय बाद उसकी प्रेमिका गणिका भी उससे नफरत करने लगती है । गणिकाओं के प्रति थोड़ी-बहुत सहानुभूति तो सभी व्यक्त कर देते हैं; परंतु गुंडों या दलालों के प्रति सद्भावना शायद ही किसी को होती है । घर में या बाज़ार में, गली-मोहल्ले में या जेल में, सभी जगह उसके प्रति तिरस्कार ही व्यक्त किया जाता है । अंत में उसके प्रति लोगों का बर्ताव इतना कठोर हो उठता है कि वह एक घृण्य प्राणी है, ऐसा वह खुद ही महसूस करने लगता है । गणिकाओं की दलाली करने वाला

गुंडा एक ऐसा प्रश्नचिह्न है, जिसका जवाब समाज के पास नहीं । सामाजिक दृष्टि से वह अस्पृश्य अंत्यज है । उसके पाप भारी होते हैं और उसे उनकी सज़ा भी उतनी ही भारी मिलती है । जो लोग यह मानते हैं कि मनुष्य के बहुत से पाप माफ हो जाते हैं, वे बड़ी भारी ग़लती करते हैं । जानबूझ कर किया हुआ पाप कभी क्षम्य नहीं होता । ईश्वर भी उसे क्षमा नहीं करता । उसकी क्षमा माँगने के लिए धर्म के नाम पर अनेक शताब्दियों से प्रयत्न होते रहे हैं । परंतु यदि वह ऐसा करने लगे, तो शीघ्र ही वह पाप-पुण्य का नियंता न रह कर एक रिश्वत खोर मुंसिफ बन जायगा ।

गुंडा चाहे लाखों रुपये कमाये, वह सदा दिवालिया ही बना रहता है । किस क्षण उसका धंघा अस्तव्यस्त हो जायगा, और किस दिन उसे रोटियों से मुहताज हो कर दर दर की ठोकरें खानी पड़ेंगी, इसका कोई भरोसा नहीं होता । शराब, अफीम, कोकेन, मॉरफीन आदि विष सदा उसके सामने मुँह फाड़े खड़े रहते हैं; और थकान उतारने के बहाने, ग़म ग़लत करने के बहाने, या लांछना और अपमान को भुलाने के बहाने कभी न कभी वह उनके विकराल जबड़ों में अवश्य जा फँसता है । एक बार इनके फंदे में फँसे बाद उसकी वाचालता और उसकी सारी चालाकी किसी काम की नहीं रहती । जुए के बिना तो वह जीवित ही नहीं रह सकता । जुए की जीत से कोई धनवान हो गया हो, या किसी का गुज़ारा चल गया हो, यह तो कभी सुनने में नहीं आया; उसकी हार से बरबाद होने वाले लोग बेशक देखे जाते हैं । फिर भी ये गुंडे जुआ खेलने का एक भी मौका नहीं गँवाते ।

उसे पिता कह कर संबोधन करने वाला कोई बालक नहीं होता । मुँह पर और पीठ पीछे, सभी उसपर लानत भेजते हैं । विदेशी वस्तुओं का तस्कर-व्यापार, निषिद्ध शराब का धंधा, नकली दस्तावेज, झूठी गवाहियाँ, रुपये का ग़बन इत्यादि अपराध करता हुआ वह शीघ्र ही ये सब धंधे एक साथ करने वाली किसी टोली का मालिक या संचालक बन बैठता है । परंतु यह महत्व भी क्षणजीवी होता है । अंत में वह पकड़ा जाता है, और पलक झपकते ही उसकी खड़ी की हुई रंगीन दुनिया मायावी सृष्टि की तरह अलोप हो जाती है । शीघ्र ही उसे कारावास के एकांत का अनुभव होता है, जहाँ के भयानक सन्नाटे में कोठरी के सींखचों को गिनते हुए थोड़ा बहुत समय बिता कर, अंत में किसी की आँखों में एक आँसू भी प्रेरित किए बिना, डरावनी मृत्यु का स्वागत करने के लिए उसे तैयार रहना पड़ता है । गणिकाओं की दलाली करने वालों का अकसर यही अंजाम होता है ।

७

इस व्यवसाय की व्यापकता

मनुष्य पूर्णतः ·.रिस्थितियों के आधीन प्राणी है । परिस्थितियाँ बदलते ही सब कुछ बदल जाता है । राज्य, धन-संपत्ति, आचारविचार, व्यवहार और व्यापार सभी परिवर्तनशील हैं । गणिकावृत्ति भी इस नियम का अपवाद नहीं है । देह विक्रय का व्यवसाय भी समयानुसार अलग अलग रूप धारण करता आया है । बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार गणिकाओं और दलालों को भी अपनी कार्यपद्धति में परिवर्तन करना पड़ता है । वर्तमान युग में व्यापार-उद्योग अत्यंत विस्तृत और केन्द्रोन्मुख हो गये हैं । माल का उत्पादन करने वाले कारखानों के इर्द गिर्द बड़े बड़े नगर और उपनगर बस गये हैं । माल विक्रय की शाखा-प्रशाखाएँ शहर के हर मोहल्ले में और गाँव-गाँव में फैल चुकी हैं । दलालों और गुंडों ने अपना और अपनी आश्रिता गणिकाओं का धंधा बढ़ाने के उद्देश्य से इन आर्थिक परिवर्तनों का पूरा पूरा उपयोग किया है ।

एक युग ऐसा था कि जब अनुभवी प्रौढ़ा गणिकाएँ युवती गणिकाओं की 'माँ' या 'अम्मा' बन कर छोटे मोटे गणिकालयों की स्थापना करती थीं और चार-छः युवतियों को अपने संरक्षण में रख कर पेशा चलाती थीं । इस हालत में इन गणिकाओं के खान-पान, वस्त्राभूषण आदि की संपूर्ण जिम्मेदारी इन कुट्टनियों पर ही रहती थी; परंतु एक बार इन गृहों में प्रवेश किए बाद किसी भी युवती का बाहर निकलना असंभव हो जाता था । उसके शरीर और मन पर कुट्टनी का संपूर्ण अधिकार रहता था और गणिकालय में रहने वाली प्रत्येक युवती उसकी कर्ज़दार होकर जीवन भर उसके अहसान से दबी रहती थी ।

पश्चिम में और पूर्व में भी अब तक इस प्रकार के गणिकालयों का अस्तित्व है । परंतु इस प्रथा में अब तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है । अब तो यह धंधा इतना व्यापक हो गया है कि अकसर मकान-मालिक एक, मकान किराये पर लेकर गणिकालय का संचालन करने वाला दूसरा, कमरों में गणिकाओं को लाकर उनसे वेश्यावृत्ति करवाने वाला तीसरा, और ग्राहकों को फँसा कर लाने वाला कोई चौथा व्यक्ति होता है । कई गृहों में मकानमालिक केवल कमरे किराये पर देते हैं । अन्य व्यवसाय करने वाली और अन्य स्थानों पर रहने वाली युवतियों को यहाँ लाकर पेशा करवाया जाता है । कहीं कहीं ये युवतियाँ खुद ही इस कार्य के लिए कमरे किराये पर ले रखती हैं, जहाँ वे शाम को कुछ घंटो के लिए ही आती हैं ।

बड़े संघटनों के संचालक इस प्रकार के कई स्थान अपने कब्ज़े में रखते हैं । इस धंधे में पुलिस का डर तो चौबीसों घंटे बना रहता है । अतः अमुक स्थान पर पुलिस छापा मारने वाली है, ऐसी सूचना मिलते ही वहाँ की गणिकाओं और ग्राहकों को दूसरे दरवाज़े से गायब कर दिया जाता है । ये लोग तुरंत किसी दूसरे स्थान पर जा कर अपना काम शुरू कर देते हैं । पुलिस का झंझट तो रातदिन का है । परंतु जो सौदा हो चुका है, और जिसके रुपयों का भुगतान हो चुका है, उसे तो पूरा करना ही पड़ता है । पुलिस के साथ रातदिन यह आँच-मिचौनी का खेल खेलने से इन लोगों में एक प्रकार की साहसवृत्ति सदा जागृत रहती है । एक ही मालिक के कई गणिकालय हों, तो अकसर वे अलग अलग मोहल्लों में होते हैं । किसी किसी गुंडे के तो पचीस-पचीस अड्डे देखे गये हैं । एक स्थान पर पुलिस की वक्र दृष्टि पड़े, तो कोई हर्ज़ नहीं । उस स्थान को कुछ दिनों के लिए बंद करके दूसरे स्थानों पर धंधा चलाया जा सकता है । इस प्रकार का स्थानांतर करते समय दलालों की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है । एक स्थान बंद होते ही दलाल अपने अपने गिरोह की गणिकाओं और ग्राहकों को इन नये आवासों का पता बता देते हैं और उन्हें दो एक बार वहाँ तक पहुँचा भी देते हैं । नया गणिकालय स्थापित होने में कुछ दिनों की देर हो, तो तब तक गणिकाओं के रहने की व्यवस्था होटलों में कर दी जाती है और ग्राहकों को भी वहीं ले जाया जाता है । एक ही गणिका को एक ही रात में तीन या चार अलग-अलग स्थानों पर जाना पड़ा हो, ऐसे उदाहरण भी मौजूद हैं । जहाँ ये अनाचार चलते हैं, वहाँ से भाग निकलने के मार्ग भी सदा सज्ज रखने पड़ते हैं । अकसर इन मकानों के दो दरवाज़े होते हैं । कहीं कहीं तो चार या पाँच अलग अलग दरवाज़ों से भाग निकलने की सुविधा होती है । कई आवासों में बाँस की नसेनियाँ भी रखी जाती हैं, ताकि पुलिस का छापा पड़ते ही वेश्याएँ और उनके ग्राहक छत पर से बगल वाले मकान की छत पर उतर कर भाग सकें । कई गणिकालयों के अंदर ही छिपने की पूरी व्यवस्था होती है । दीवारों और छतों में गुप्त सुरंगें और तहखाने होते हैं और चोर-दरवाज़ों वाली अलमारियाँ होती हैं, जिनमें एक बार घुस जाने पर ढूंढने वाले को कुछ पता नहीं लग सकता । चार-चार, छः छः गणिकाएँ एक साथ छिप सकें ऐसी तिलिस्मी करामातें भी कई वेश्यालयों में होती हैं ।

व्यापार की बड़ी कोठियों में जिस तरह मालिक के उपरांत, मुनीम, गुमाश्ते, परिस्थिति, और अन्य सहायक कर्मचारी होते हैं, कुछ उसी प्रकार की व्यवस्था देह विक्रय के स्थानों में भी होती है । और किसी योग्य शब्द के अभाव में हम इन बड़े संघटनों को 'पाप मंडली' के नाम से पहचानेंगे । इन पाप मंडलियों में आवश्यक पूंजी लगाने वाले इस पेशे के जानकार धनिक होते हैं, जो इससे अच्छा खासा मुनाफा कमाते

हैं। कुछ अन्य पूंजी पति गणिकालयों के लिए मकान खरीदने-बेचने का ही व्यवसाय करते हैं। कुछ लोग इन पूरे मकानों को किराये पर लेकर उनके अलग अलग कमरे अलग अलग वेश्याओं को किराये पर देने का धंधा करते हैं। कुछ लोग होटल के धंधे के विशेषज्ञ होते हैं। इन होटलों से एक तो देह विक्रय का व्यवसाय करने वालों को खानेपीने की सुविधा हो जाती है, और दूसरे, इनके वैरे, बावरची और नौकर-चाकर गणिकाओं और गणिकागामियों को योग्य स्थान पर मिला देने की कला में भी पारंगत होते हैं। कुछ अन्य गुंडों में युवतियों को फुसला कर इन अनीतिधामों में लाने की विशेष योग्यता होती है। इस तरह, अलग अलग प्रकार की विशिष्टता वाले कई लोग इस विस्तृत व्यापार के विभिन्न पहलुओं को संभालते रहते हैं। उसका विशिष्ट काम चाहे जो हो, इनमें का प्रत्येक आदमी इस पूरे संगठन के प्रत्येक विभाग की बारीकियों से परिचित होता है। पुलिस, वकीलों और डाक्टरों का भी इस व्यापक संगठन में नियत स्थान होता है। देह विक्रय का यह पेशा ऐसे व्यवस्थापूर्ण और योजनाबद्ध ढंग से चलाया जाता है कि बड़े बड़े उद्योगों के संचालक या अर्थशास्त्र के विद्वान भी उसमें कोई त्रुटि नहीं ढूंढ सकते।

किस प्रकार के मकानों और किन स्थानों का इस कार्य के लिए उपयोग होना है, यह हम देख चुके हैं। किसी गुप्त वेश्यालय के मालिक से किसी ने प्रश्न पूछा कि ग्राहकों को ऐसे अनजान स्थानों का पता कैसे लग जाता है। उसने बड़ा मार्मिक उत्तर दिया: "यह बात बिलकुल सरल है। शौकीनों को इस बात का सुराग भी लग जाय कि अमुक स्थान पर स्त्री देह का विक्रय होता है, तो तुरंत ग्राहकों के झुंड के झुंड वहाँ पहुँच जायेंगे। यह काम राजमहल जैसे आलीशान मकानों में होता हो, तो भी ग्राहक आयेंगे और सीलनभरे अँधेरे कमरों वाले जीर्ण शीर्ण मकानों में होता हो तो भी आयेंगे। किनारे से बीस-पचीस मील दूर बीच समुद्र में खड़े जहाज में यह धंधा चलता है, ऐसी खबर मिली, तो शौकीन लोग नावों में बैठकर भी वहाँ पहुँचने से नहीं चूकेंगे। स्त्री के पास ऐसा कुछ है जिसकी कामना पुरुष हर हालत में करता है। उसे प्राप्त करने के लिए वह सात समंदर पार करके, या धधकते हुए अग्निकुंडों को उलाँघ कर स्त्री के पास पहुँच जायगा।" एक आधुनिक लेखक ने भविष्य वाणी की है: "स्त्री देह के उपभोग के लिए पृथ्वी तल के सभी स्थानों का उपयोग होने लगा है। मोटरों, रेलगाड़ियों और जहाजों का उपयोग तो बहुत दिनों से हो रहा है। अब विमान-व्यवहार भी तेज़ी से प्रगति कर रहा है। अत: वह दिन दूर नहीं, जब हवाई जहाजों का उपयोग भी इस कार्य के लिए होने लगेगा।"

८
व्यापारीवृत्ति और वर्तमान युग

मनुष्य में व्यापार की वृत्ति नयी नहीं है। उसमें यह वृत्ति युग युग से चली आ रही है। अपने परिश्रम का योग्य बदला चाहना मनुष्य का स्वाभाविक और सामान्य व्यवहार है। किसी मनुष्य के पास एक प्रकार की उपयोगी वस्तु बहुतायत से हो, तो उसमें से कुछ दूसरों को देकर उनसे अन्य उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त कर लेने का विनिमय-व्यवहार मनुष्यजाति अनादि काल से करती आई है। यह बात सीधी सी है और आसानी से समझ में आ जाती है। परंतु दूसरे की आवश्यकताओं से अनुचित लाभ उठाना, मुनाफा बढ़ाने के लिए आवश्यकताओं को कृत्रिम रूप से व्यापक बनाना, आवश्यक वस्तुओं की कमी होने का आभास निर्माण करना, दूसरों से जितना लाभ हम उठाते हैं उसका शतांश भी समाज को न लौटाना, और मुनाफा कमाने को ही चरम ध्येय मान कर संपत्ति के ढेर लगाते जाना आदि रूपों में व्यापारवृत्ति की जैसी अभिव्यक्ति आज के युग में हुई है, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। प्राचीन युगों में भी व्यापारी थे, धनिक थे, सूदखोर थे, मुनाफाखोर थे, शोषक थे, गुलाम थे, दुराचारी थे, गुंडे थे, और गणिकाएँ भी थीं। परंतु सब कार्यों, सब वस्तुओं और सब परिस्थितियों में से मुनाफा कमाने की एकांगी वृत्ति नहीं थी। विश्व के इतिहास में मनुष्य जाति ने धनोपार्जन को ही परमेश्वर मान कर उसकी पूजा केवल वर्तमान युग में ही की

है । आज के मनुष्य को रातदिन, चौबीसों घंटे, केवल यही चिंता रहती है कि समाज की प्रत्येक आवश्यकता, प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक संकट से अधिकाधिक फायदा उठा कर अधिकाधिक रुपया किस प्रकार कमाया जाय । आज की इस सर्वव्यापिनी धन लालसा की टीका करते हुए एक लेखक कहता है, "पहले भी हम जानवरों को मार कर उनका मांस खाते थे । परंतु उस समय मारे हुए पशु का बहुत बड़ा भाग हम फेंक देते थे । उसकी हड्डियाँ, बाल, खून आदि चीज़ों का हम उपयोग नहीं करते थे । परंतु आज इनमें से एक भी चीज़ निकम्मी नहीं मानी जाती, और इन सब का कुछ न कुछ उपयोग हम करते हैं । अब केवल एक ही चीज़ ऐसी रह गई है कि जिसका हम उपयोग नहीं कर सकते; और वह है उस जानवर का मरते समय का आर्तनाद !"

इस प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापारवृत्ति, जिसका ही दूसरा नाम मुनाफाखोरी है, आज के युग का युगधर्म और आज के मनुष्य का मानवधर्म बन गई है । हवा, पानी, अन्न, वस्त्र, निवास आदि प्राथमिक आवश्यकताएँ भी इस वृत्ति से आक्रांत हो उठी हैं । बात यहीं नहीं रुकती । हमारे खेलकूद, हमारे शौक, हमारी साहसवृत्ति और हमारी चिरसंगिनी कामवृत्ति को भी आज के मनुष्य ने व्यापार का विषय बना दिया है । आज के उद्योगों में सर्वाधिकारों का एक जगह केन्द्रीकरण, श्रम का अलग अलग विशेषताओं में विभाजन, एक ही प्रकार का यंत्रवत् करते रहने का कौशल्य और निकम्मी मानी जाने वाली वस्तुओं का किसी न किसी रूप में उपयोग, इन चार बातों को सफलता की चतु:सूत्री माना जाता है । पहले जिस वस्तुओं को निकम्मी मानकर फेंक दिया जाता था, आज उनमें से अनेक उपयोगी चीज़ों का उत्पादन करने के आनुषंगिक उद्योग विकसित हो चुके हैं और उद्योगपतियों के लिए अतिरिक्त मुनाफा कमा रहे हैं । व्यापार-उद्योग की यह निपुणता और योजनाबद्धता देह-व्यापार के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुकी है और उसके सहारे अनीति के मार्गों से लाखों स्त्री-पुरुषों को मालामाल कर देने वाला एक विराट आयोजन आज की दुनिया में विकसित हो उठा है ।

शारीरिक परिश्रम और पसीने की कमाई का गुणगान हम चाहे जितना करें, आज के युग में सफल आदमी उसे ही माना जाता है जो हाथ पाँव हिलाये बिना ही धन के ढेर लगा सके । अनीति के मार्गों से धन कमा कर मौके बेमौके परिश्रम की महत्ता का उपदेशामृत लोगों को पिलाने वालों की भी कोई कमी नहीं है । आज की अर्थव्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि अधिक से अधिक धन उसे ही मिलता है, जो कम से कम परिश्रम करता हो ! उत्पादन के कच्चे माल पर एकाधिकार, दूसरों के परिश्रम का अधिक से अधिक शोषण, और पूंजी के एक केन्द्रीय शक्ति वर्तमान युग में धनोपार्जन के प्रमुख तत्व माने जाते हैं । अर्थसंचय को हम कितने ही सुंदर नामों से क्यों न पुकारें, उपरोक्त तत्वों के बिना धन का संचय हो ही नहीं सकता । प्रत्यक्ष उत्पादन करने वाला मज़दूर कभी धनी नहीं होता । भारी भारी बोरे उठानेवाले मज़दूर को दो बार पेटभर रोटी भी नहीं मिलती । धन तो मिलता है सुशोभित दफतरों में पंखे के नीचे बैठने वाले व्यवस्थापकों को, या बिला वजह शीतल पहाड़ों पर रहकर अनावश्यक भोजन से पेट का घेरा बढ़ाने वाले सेठों को । देह विक्रय जैसे अनीति के धंधे भी अन्य व्यवसायों के नियमों से ही संचालित होते हैं । इस व्यवसाय में परिश्रम करने वाली मज़दूरिन है गणिका । परंतु उसके श्रम की कमाई से लाभ उठाते हैं दलाल, गुंडे और गणिकालयों के संचालक । अंत में इस व्यवसाय के मुनाफे का बहुत बड़ा भाग धन की शक्ति से इसका संचालन करने वाले बड़े व्यापारियों की तिजोरियों में ही जाता है ।

शिकागो शहर में देह विक्रय के व्यवसाय का अत्यंत गहन और विश्वसनीय अध्ययन किया गया था । इसका एक निष्कर्ष यह निकला था कि इस शहर में विवाह बाह्य यौन संबंधों में कहें तो व्यभिचार और वेश्यावृत्ति में प्रतिवर्ष पाँच से दस करोड़ डॉलर की रकम का आदान-प्रदान होता है । इसमें की कम से कम आधी रकम दलालों, गुंडों और संचालकों की जेब में जाती है । इस थर्रा देने वाले अध्ययन का हम कुछ गहराई से विचार करें । इससे यह भी सिद्ध होता है कि शिकागो निवासी पुरुषों का बहुत बड़ा भाग विवाह बाह्य यौन संबंध रखता है । मोटे हिसाब से प्रति सप्ताह पाँच लाख अवैध संबंधों का अंदाजा

लगाया गया है । इस हिसाब से इनकी मासिक संख्या हुई बीस लाख और वार्षिक जोड़ हुआ ढाई करोड़ ! यहाँ एक सारिणी दी जाती है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि साप्ताहिक पाँच लाख अवैध संबंधों के लिए स्त्रियों की पूर्ति कहाँ से और कैसे होती है: और इससे कितने दलालों और गुंडों का पोषण होता है:

गणिकाओं का प्रकार	गणिकाओं की संख्या	प्रति गणिका साप्ताहिक यौन संबंध	सप्ताह के कुल संबंधों का जोड़	रक्षक गुंडों की संख्या
१. बाल-गणिकाएँ: — दस से पंद्रह वर्ष की उम्र की बालिकाएँ जिनका प्राय: इसी उम्र के विकृत मानस वाले लड़के उपभोग करते हैं । ये संख्याएँ बाल-अपराधियों की अदालत (Juvenile Court) में दर्ज संख्याओं पर आधारित हैं ।	१,०००	२	२,०००	१००
२. भावी-गणिकाएँ: — इन युवतियों की काम वासना अत्यंत तीव्र होती है और संयम का नितांत अभाव होता है । ये नाबालिग लड़कियाँ प्रेम के नाम पर, या साहसवृत्ति के शमन के लिए, या किसी का अहसान चुकाने के बहाने देहार्पण करती हैं; और मोलभाव किये बिना जो कुछ भी राज़ीखुशी से मिल जाय, वही स्वीकार कर लेती हैं ।	१०,०००	२	२०,०००	५,०००
३. नौसिखिया गणिकाएँ: — वे युवतियाँ जिन्हें अन्य व्यवसायों से पर्याप्त धनप्राप्ति न होने के कारण कभी कभी वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है; परंतु फिर भी जो अब तक पेशेवर गणिकाएँ नहीं बनी हैं । घरेलू काम करने वाली नौकरानियाँ, परिचारिकाएँ, टाइपिस्ट लड़कियाँ और दफतरों में छोटी मोटी नौकरी करने वाली युवतियों का समावेश इसी वर्ग में होता है ।	१०,०००	३	३०,०००	६,०००
४. कम उम्र में ही पेशेवर गणिका बनना चाहने वाली युवतियाँ: — इनका प्रवेश पेशे में नया नया हुआ होता है । परंतु अब तक ये गणिकालयों में स्थायी रूप से नहीं रहतीं, बल्कि आती जाती रहती हैं ।	१,०००	५०	५०,०००	७००

५. धंधे में स्थिर हो जाने वाली अनुभवी गणिकाएँ: — ये लंबे समय से वेश्यालयों में ही रहती हैं और पेशे की हर बारीकी से परिचित होती हैं।	८००	७५	६०,०००	७००
६. भटकने वाली गणिकाएँ: — इस वर्ग में गलियों में घूम कर ग्राहक ढूंढने वाली वेश्याओं (Street Walkers), और नृत्यगृहों या होटलों में शौकीनों का मनोरंजन करने वाली वेश्याओं का समावेश होता है।	५,०००	३०	१,५०,०००	४,०००
७. जर्जर चुड़ैलें: — बड़ी उम्र की, रोग ग्रस्त, और शराब, अफीम या कोकेन के व्यसन में आकंठ डूबी हुई, जीर्णशीर्ण शरीरवाली गणिकाएँ।	१,०००	५	५,०००	४००
८. सोने की चिड़ियाएँ: — प्रतिष्ठित मोहल्लों में सुन्दर और सुसज्जित मकानों में रहनेवाली, सुंदर वस्त्राभूषणों से सज्ज, रूप यौवन संपन्ना उच्च कोटि की गणिकाएँ।	१०,०००	५	५०,०००	५,०००
९. रखैलें: — विभिन्न वर्गों की स्त्रियाँ जिनका भरण-पोषण अकसर एक ही पुरुष करता है। परंतु मौका मिलने पर वेश्यावृत्ति करके अधिक धन कमाने से ये नहीं चूकतीं।	१०,०००	२	२०,०००	३,०००
१०. पूर्व-निश्चित संकेत के अनुसार नियत स्थान पर मिलने वाली युवतियाँ (Call girls): — दफतरों, दूकानों और उपाहारगृहों में काम करने वाली लड़कियाँ जो टेलीफोन से सूचना मिलने पर, निश्चित समय, निश्चित स्थान पर पहुँच कर धन कमाती हैं।	१,०००	६	६,०००	५००
११. शिथिल चारित्र्य की विवाहित स्त्रियाँ: — एकाकिनी विवाहित स्त्रियाँ जिनके पति लंबे समय तक विदेशों में रहते हों, विधवाएँ, त्यक्ताएँ, और विवाह-विच्छेदिता स्त्रियों का इस वर्ग में समावेश होता है। शिकागो शहर				

५,६०,००० विवाहित स्त्रियां थी जिनमें की ६ प्रतिशत ; १,१०,००० विधवाओं में से पंद्रह प्रतिशत और ९,००० विवाह-विच्छेदिताओं में से पंद्रह प्रतिशत स्त्रियों का इस संस्था में समावेश होता है । उपरोक्त अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों ने परिणीता स्त्रियों के व्यभिचार के इस अनुपात को अधिक नहीं माना है । देखा तो यहाँ तक गया है कि इनमें की कुछ स्त्रियाँ अपने पति से रुपये लेकर अपने प्रेमियों को देती रहती हैं । उनका समावेश भी इस संख्या में हो जाता है । ५०,०००   १   ५०,०००   ५००

कुल जोड़ ....९९,८००   -- ४,४३,०००२५,९००

ये संख्याएँ मन को सुन्न कर देती हैं । सप्ताह में करीब साढ़े चार लाख संबंधों का अर्थ होता है इतने पुरुषों का व्यभिचार या वेश्यागमन, और इन पुरुषों की वासनातृप्ति के लिए एक लाख स्त्रियों की व्यभिचार या वेश्यावृत्ति के लिए तैयारी । दूसरा भयंकर निष्कर्ष यह निकलता है कि औसतन चार स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखकर पचीस हजार से भी अधिक गुंडे इस व्यवसाय से धन कमाते हैं । और यह तो अमरीका के एक ही शहर का हिसाब है; जब कि संसार में ऐसे शहर अनेक हैं । इस हालत में इस व्यवसाय का पूरा लेखा जोखा कौन लगा सकता है ? मन को क्षुब्ध कर देने वाली दूसरी बात यह है कि इन अनाचारों के मूल में दारिद्र्य ही मुख्य कारण माना गया है । समाज में आर्थिक अव्यवस्था न हो, तो इनमें से अनेक वर्गों की स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति से बच सकती हैं । यौन अनाचार ही नहीं, वर्तमान समाज की लगभग सभी बुराइयों की जड़ आर्थिक असमानता में ही है ।



१

गणिकाएँ और गुंडे: क्या उनका सुधार संभव है?

वर्तमान युग में मनुष्यजाति विकास की अत्यंत संघर्षमय भूमिका पर आ पहुँची है । दूसरों को सुधारने का बीड़ा उठाये बैठे हुए मनुष्य अकसर अपने आपको उपहास का विषय बनाने में ही सफल होते हैं । दूसरी ओर पाप और पतन की गहराइयाँ भी अत्यंत भयावह हो उठी है ।

पश्चिम की प्रजाओं में शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक है । हम देख चुके हैं कि देह विक्रय के धंधे में डूबे हुए कई दलालों और गणिकाओं को माध्यमिक या उच्च शिक्षा मिली होती है । सामाजिक स्थैर्य और यौन विशुद्धि का प्रचार करनेवाला साहित्य भी वहाँ खूब लिखा जाता है और पढ़ा जाता है । वहाँ की नैतिक अधोगति किसी भी स्तर पर पहुँच चुकी हो, पश्चिम की प्रजाओं में बुद्धिमत्ता की कमी है, ऐसा आरोप कोई नहीं लगा सकता । कहा तो यहाँ तक जाता है कि अपने यहाँ के उच्चशिक्षित विद्वानों के जितना सामान्यज्ञान तो पश्चिम के जनसाधारण को भी होता है । यौन विज्ञान संबंधी जानकारी का भी वहाँ के देशों में बहुत अधिक प्रचार किया जाता है । पूर्व की भयानक दरिद्रता के मुकाबले में पश्चिम की गरीबी भी समृद्धि मानी जा सकती है । इन सब तथ्यों के बावजूद भी पश्चिम में यौन अनीति और देह विक्रय का प्रमाण इतना अधिक क्यों हैं ? अनाचार और वेश्यावृत्ति के इस व्यापक विकास का क्या कारण हो सकता है ?

सृष्टि के आरंभकाल से लगा कर आज तक के सभी युगों में पापी और पतित मनुष्य दिखाई दिये हैं । युग बदले, काल बदला, परिस्थितियाँ बदलीं, पर गणिका का धंधा इन परिवर्तनों के बीच भी सदा जीवित रहा है । राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में बड़ी बड़ी क्रांतियाँ हुई; अनेक राष्ट्रों और अनेक सभ्यताओं का जन्म, विकास और विनाश हुआ; प्रजाओं के बीच भीषण विनाशकारी युद्ध हुए; परंतु इन परिवर्तनों के बीच भी दो बुराइयाँ अछूती बची रहीं । एक वेश्यावृत्ति और दूसरी मनुष्य को गुलामों का सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य करनेवाली और उसके विकास का गला घोंट देने वाली दरिद्रता । एक और विचार रह रह कर मनमें आता है कि मनुष्यजाति की संपत्ति, उसके साधन, उसकी शक्ति और उसके उत्पादन का उपयोग युद्धों के बदले शान्ति साधना में हुआ होता तो मनु की संतान शायद इन दोनों अभिशापों से बच जाती । पृथ्वीतल के साधन इतने विपुल हैं कि मनुष्य ने उनका योग्य उपयोग किया होता, तो मनुष्यजाति को खाने-पीने की, पहनने-ओढ़ने की, और आनंद से जीवन व्यतीत करने के साधनों की कभी कमी न पड़ती ।

नूतन रूस में इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए गये हैं । इन प्रयोगों का अध्ययन हम अगले परिच्छेद में करेंगे ।

बारहवाँ परिच्छेद
नूतन रूस के प्रयोग

१
क्रान्ति-युग की परिस्थितियाँ

संसार के विभिन्न देशों में समय समय पर गणिकावृत्ति का अंत करने के प्रयत्न हुए हैं, यह हम देख चुके हैं । रूस ने —क्रान्ति के बाद के रूस ने जीवन के सभी क्षेत्रों में नये प्रयोग किये हैं । गणिकावृत्ति के उन्मूलन की दिशा में भी वहाँ अनेक नये विचारों को कार्यान्वित किया गया है । राज्य, धर्म और समाजरचना में आमूल परिवर्तन करके मनुष्यजाति के भविष्य को एक नया मोड़ देने वाली रूसी प्रजा के गणिकावृत्ति का नाश करने के उपायों का विचार किए बिना इस विषय का अध्ययन अधूरा ही रहेगा ।

रूस में नवयुग का प्रारंभ सन् १९१७ की अक्टूबर क्रांति से हुआ । आज उस क्रांति के बाद तीस साल बीत चुके हैं । क्रांति को विर्जायनी बना कर रूस में सुव्यवस्थित राज्यशासन की नींव डालने वाले दो अधिनायकों में से एक —लेनिन —आज नहीं हैं । उसका स्थान फौलादी पुरुष माने जाने वाले स्टॅलिन ने लिया है, जिसके मार्गदर्शन में रूसी प्रजा ने सैनिक शक्ति की साकार प्रतिमा जैसी प्रबल जर्मन सेनाओं के आक्रमणों का मुकाबला करके देश को विनाश और पराधीनता के गर्त से बचाया । इतना ही नहीं, जर्मनी की राक्षसी सैनिक शक्ति का संपूर्ण पराजय करके, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया में अमरीका और इंग्लैंड जैसे संसार के अग्रणी राष्ट्रों की श्रेणी में स्थान प्राप्त किया ।

लेनिन ने एक बार कहा था, "स्त्रियों को चौका-चूल्हा संभालने के उपरांत राज्य-शासन चलाना भी सीखना चाहिये । जनता को क्रांति-अभिमुख करना हो, तो उसके आधे भाग को घरों में बंद करके काम नहीं चलेगा । स्त्रियों को क्रांति में भाग लेना ही चाहिये । लोक कल्याण का कोई भी आंदोलन स्त्रियों के बिना सफल नहीं हो सकता ।" इन मान्यताओं से संचालित क्रांति में स्वाभाविक रूप से स्त्री को पुरुष की रावबरी का स्थान मिला । समान अधिकार समान उत्तरदायित्व का ही पर्याय है । अत: स्त्री केवल पुरुष की वासनातृप्ति का साधन ही नहीं रही । नयी समाजरचना में स्त्री-पुरुष दोनों को बराबरी का स्थान, समान अधिकार, समान कर्तव्य, समान उत्तरदायित्व और समान सुविधाएँ मिलीं ।

परंतु इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले रूसी प्रजा को विविध अनुभव हो चुके थे । रूसियों का यौन-जीवन यूरोप की अन्य प्रजाओं के समान ही अस्तव्यस्त था । ज़ार युग में तो शायद अन्य प्रजाओं से भी अधिक अव्यवस्थित रहा । गणिकालयों, कुट्टनियों, वेश्याओं और दलालों की सुपरिचित परंपरा रूस में भी थी । 'यामा दि पिट' नामक उपन्यास में उस युग के गणिकाजीवन का वास्तविक और प्रातिनिधिक वर्णन हुआ है ।

क्रांति के आरंभिक वर्षों में स्वातंत्र्य की सर्वतोमुखी भावना न जावन क सब क्षेत्रों को पूणत: व्याप्त कर लिया । इस सर्वस्पर्शी स्वातंत्र्य ने यौन संबंधों को भी सब प्रकार के बंधनों और मर्यादाओं से मुक्त मान लिया । इस नयी विचारधारा के अनुसार स्त्री-पुरुष को विशुद्ध देह व्यापार और भूख-प्यास के जैसा स्वाभाविक शरीर धर्म माना गया जिसकी तृप्ति भूख-प्यास के शमन की तरह मनचाहे प्रकार से हो सकती है । इस की जड़ में रही हुई कामवासना को भी मनुष्य के भाव-जगत का विषय नहीं, बल्कि देह की एक

अनिवार्य आवश्यकता मान कर स्त्री-पुरुष के संबंध को केवल उन दोनो के बीच का वैयक्तिक विषय माना गया, जिसमें दखल देने का या जिसके संबंध में पूछताछ करने का किसी को अधिकार नहीं; और आवश्यकता भी नहीं । हर पुरुष और हर स्त्री का संबंध बदल-बदल कर होता रहे, तो भी कोई हर्ज़ नहीं ।

इस विचारधारा को व्यक्त करने वाली, श्रीमती कॉलोन्टे की 'तीन पीढ़ियों का प्रेम' नामक एक कहानी है । इस कहानी की नायिका 'शेन्या' ने क्रांतियुग की प्रेमभावना का निरुपण इन शब्दों में किया है: "यौन-संबंध शरीर के एक आनंदप्रद आवेग के सिवा और कुछ नहीं है । मैं उसे इससे अधिक महत्व नहीं देती । मैं अपने प्रेमियों को अपनी इच्छानुसार बदलती रहती हूं । इस समय में गर्भवती हूं । परंतु मेरे बालक का पिता कौन है यह मैं नहीं जानती । जानने की गरज़ भी नहीं । जिस क्षण जो पुरुष मुझे आकर्षक लगता है, उसी को मैं देहसमर्पण कर देती हूं । प्रेम करने की और प्रेम नामक ढकोसले के निरर्थक उपचारों में पड़ने की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझती । प्रेमोपचार के लिए जीवन में समय और शांति चाहिये; और समय मुझे बिलकुल नहीं मिलता । हम एक जिम्मेदारी भरे युग में जी रहे हैं । जब हमें कोई काम नहीं होता, तभी हमारा ध्यान किसी पुरुष की ओर आकर्षित होता है । उस समय दो-चार घंटे उसके साथ गुज़ार कर आनंद प्राप्त किया जा सकता है । परंतु उसका महत्व वहीं तक है । शारीरिक भूख का शमन हो जाता है और कुछ समय सुख से बीत जाता है । परंतु इसके लिए प्रेम की आवश्यकता कहाँ है ? और प्रेम के लिए समय भी किस के पास है ? आज के युग में यह नितांत संभव है कि किसी पुरुष के प्रति हमें सच्चा स्नेह उत्पन्न हो, उससे पहले ही उसे युद्ध के मोरचे पर जाना पड़े, और हमारे जीवन में से वह सदा के लिए अदृश्य हो जाय । फिर स्थायी प्रेम की आवश्यकता ही कहाँ रही ? वर्तमान युग में तो बंधनहीन देह संबंध ही मुमकिन है और वही वांछनीय है ।"

इस मनोवृत्ति से एक कदम आगे बढ़ते ही प्रेम को केवल एक अनावश्यकता ही नहीं, बल्कि एक कमजोरी मानने की भूमिका पर पहुँचा जा सकता है । रोमानोव के 'विदाउट चेरी ब्लॉसम्स' नामक उपन्यास की विद्यार्थिनी नायिका अपने प्रथम पुरुष-समागम का वर्णन इन शब्दों में करती है: — "हमारे बीच प्रेम नाम की कोई चीज़ नहीं है । है केवल देह संबंध । हमारे साथी समूह में हम प्रेम का तिरस्कार करते हैं । प्रेम केवल भावक मनुष्यों के भाव-जगत की कल्पना है । मन नामक किसी चीज का अस्तित्व भी हम नहीं मानते । जो कुछ है, वह देह है: और केवल देह को ही जीवित रहने का और सुखोपभोग करने का अधिकार है । हम सभी लड़कियाँ अपने पुरुष साथियों के साथ कुछ महीनों तक, कुछ सप्ताहों तक, या कभी केवल कुछ दिनों तक देह संबंध रखती हैं और मनमाना सुख भोगती हैं । आप चाहें तो इसे प्रेम कह सकते हैं । परंतु प्रेम में शरीर-संबंध से अधिक उदात्त कोई भूमिका हो सकती है, यह मान्यता हास्यास्पद, दयनीय और मानसिक दुर्बलता की सूचक है ।"

क्रांति के आरंभकाल में इसी प्रकार के सिद्धान्तों और सूत्रों की आड़ में अमर्याद काम व्यापार का व्यापकता से प्रसार हुआ । राज्यसत्ता और साम्यवादी पक्ष के सिद्धान्त-निर्माताओं ने भी इसी विचार-सरणी का अनुमोदन किया जिसकी अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई: —

"यौन संबंध पूर्णत: वैयक्तिक संबंध है जिसमें राज्य, समाज, परिवार, या अन्य किसी को दखल देने का अधिकार नहीं ।"

"स्त्री की संतानोत्पत्ति की विशिष्टता उसे एक क्षेत्र (खेत) का रूप देती है । मानव प्राणियों का उत्पादन इस विशिष्टता का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिये । इससे अधिक उसका कोई महत्व नहीं ।"

"श्रम करने वाली सामान्य जनता के यौन संबंधों का स्वरूप मधुमक्खियों के छत्ते में पायी जाने वाली व्यवस्था से मिलता-जुलता होना चाहिये ।

"प्यास लगने पर पानी पी लेने से जितनी सरलता से प्यास बुझ जाती है; उतनी ही सरलता से काम वासना का भी शमन होना चाहिये। वासनातृप्ति का इससे अधिक महत्व नहीं।"

इन अमर्याद सिद्धान्तों और उनके अनुसरण के महाभयानक परिणाम निकलने लगे। स्त्रियों का स्वास्थ्य खतरे में पड़ गया और उनका भावजगत् डगमगा गया। परिणाम स्वरूप, सन् १९२० में लेनिन को इन सिद्धान्तों का स्पष्ट खंडन करना पड़ा। उसने ऐलान किया कि ये मान्यताएँ मार्क्सवाद के विरुद्ध हैं; और उन्हें समाजविरोधी विचारधारा मान कर उनका अविलंब त्याग कर देना चाहिये। उसने यह भी घोषित किया कि प्रेम को केवल देह व्यापार मानना, वासनातृप्ति को भूखप्यास के शमन से अधिक महत्व न देना, और युग युग से चले आने वाले मनुष्यजाति के बुद्धिजन्य या भावजन्य व्यापारों को कूड़ा-करकट मान कर फेंक देना, मार्क्सवाद को मान्य नहीं है। प्रेम और देह संबंध वैयक्तिक विषय हो सकते हैं; परंतु उन्हें व्यक्ति की इकाई के दायरे में सीमित कर देना योग्य नहीं। देह संबंध एक नहीं बल्कि दो व्यक्तियों के जीवन का प्रश्न होने के कारण, और उसमें से एक तीसरी नयी जिंदगी के उद्भव की संभावना होने के कारण वह एक सामाजिक प्रश्न बन जाता है और समाज को उसमें दिलचस्पी लेने का स्पष्ट अधिकार है। मुक्तप्रेम की विचारधारा का विरोध कर के लेनिन ने यह सिद्ध कर दिया कि इस सिद्धान्त में न तो कोई नावीन्य है, और न वह साम्यवाद की विचारधारा के अनुकूल है।

लेनिन यहीं नहीं रुका। उसने यह तो मान लिया कि शक्ति और स्वास्थ्य से उत्पन्न स्फूर्ति, एव यौनतृप्ति का उल्लासभरा आनंद यौवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। परंतु अमर्याद विलास, स्त्री पुरुष के अनियंत्रित यौन संबंध, और प्रेम को केवल देह व्यापार मानने की प्रवृत्ति से ही आनंद, स्वास्थ्य, तृप्ति या उल्लास उत्पन्न होते हैं, यह उसने नहीं माना। उसने कहा कि केवल अनिर्बंध यौन संबंध ही नहीं, बल्कि खेलकूद, व्यायाम, तैरना, घूमना, कवायद, घुड़सवारी आदि शौक भी शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक आनंद के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। अंत में लेनिन और उसके साथियों ने भोगविलास को एक नशा और अमर्याद यौन जीवन को गणिकावृत्ति का ही एक प्रकार घोषित करके मर्यादाहीन और उन्मुक्त यौन संबंधों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया।

साथ ही विवाह संस्था में भी आमूल परिवर्तन किया गया। स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का स्वीकार तो क्रांति के आरंभ में ही हो गया था। परंतु अमर्याद देह संबंध प्रजा के शरीर और मन एवं क्रांति की पूरी भावना का घातक सिद्ध हुआ। विवाह की पुरानी प्रथा के अनुसार स्त्री को पुरुष की संपत्ति और उसकी ताबेदार माना जाता था। धर्म की संमति मिलनेवाले विवाहों को ही वैध माना जाता था एवं भिन्न धर्मीयों के विवाह अवैध माने जाते थे। क्रांति के बाद के पहले दशक में यौन संबंधों के विषय में अनिर्बंधता के उपरोक्त अनेक विध प्रयोग हो चुकने के बाद सोवियत राज्य व्यवस्था का विवाह संबंधी मत स्थिर हुआ। इस के अनुसार, पुरुष और स्त्री का संबंध केवल देह संबंध तक ही सीमित रहे, वहाँ तक तो उसे व्यक्ति की निजी जिम्मेदारी मान कर राज्यशासन ने उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा। परंतु विवाह कर लेने के बाद के संबंधों और उनके परिणामों को कानून के नियंत्रण में रखा गया। पारिवारिक जीवन, मातृत्व के विशेषाधिकार, बच्चों के हित संबंध, उनकी परवरिश और शिक्षा की व्यवस्था, पति-पत्नी के सांपत्तिक अधिकार आदि विवाह जन्य प्रश्नों को कानून के नियमों से नियंत्रित किये बिना छुटकारा नहीं था। इस प्रकार रूस के नये समाजजीवन ने अमर्याद देह संबंधों पर अंकुश लगाकर विवाह को उसका उचित स्थान प्रदान किया। यह हो चुकने के बाद, उसकी नज़र गणिकावृत्ति की ओर गई और उसे नष्ट करने की उपाय-योजना की गई। हम इसका संक्षेप में अध्ययन कर लें।



समाजवाद और साम्यवाद का स्वीकार हुए बाद रूस में इस प्रश्न का गहरा अध्ययन किया गया, और सुधार की दिशा में अनेक प्रयत्न हुए । पतिताओं के सुधार की दिशा में पूंजीवादी देशों में किए जाने वाले उपायों की संपूर्ण जानकारी क्रान्ति के नेताओं को थी । परंतु यौन संबंध के लिए संमति दे सकने की युवतियों की वैध वयोमर्यादा को बढ़ाना, विवाह-बाहय मातृत्व प्राप्त करने वाली स्त्रियों को आश्रय देना, अवैध बालकों के मार्ग में आने वाले भयस्थानों का निवारण करके उनके भरणपोषण और शिक्षा की व्यवस्था करना, और गणिकाओं की गणना कर के उनकी प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखना आदि पुराने और प्रचलित उपायों से क्रान्तिवादियों का समाधान होना संभव नहीं था । अत: पतितावस्था को दूषित समाज-व्यवस्था का एक परिणाम मान कर समाजरचना के आमूल सुधार में ही इस समस्या का हल ढूंढा जाने लगा । सारे अध्ययनों का एक ही निष्कर्ष निकला कि दरिद्रता ही पतितावस्था का मुख्य कारण है । अन्य देशों की तरह जार-युगीन रूस में भी इसके विरुद्ध थोड़ी बहुत उपाय योजना हुई थी; परंतु उसे सफलता नहीं मिली ।

गणिकावृत्ति के विरुद्ध सामाजिक जिहाद की घोषणा तो यूरोपीय प्रजाओं द्वारा वर्षों पहले हो चुकी थी, और इस दिशा में रचनात्मक और व्यवस्थित प्रयत्न भी किये जा रहे थे । परंतु पूंजी को समाजरचना की बुनियाद मानने वाले इन देशों की ढीली ढाली योजनाओं में रूसी साम्यवादियों को कोई दिलचस्पी नहीं थी । रूस की क्रांति के जब क्षितिज पर भी दर्शन नहीं हुए थे तब —सन् १९१३ में —लंदन में स्त्री-व्यापार विरोधी अंतर्राष्ट्रीय संस्था का पाँचवां अधिवेशन हुआ था । लेनिन ने अखबारों में लेख लिख कर इस प्रकार के 'बूर्ज़ुआ' प्रयत्नों की निरर्थकता और निरुपयोगिता की कड़ी आलोचना की थी । उसी के शब्दों में कहें तो, ''इस परिषद में अमीरों, अमीरजादियों, महंतों, धर्मगुरुओं और अधिकारियों की मानों एक नुमाइश जुड़ी है । दावतों और सत्कार-समारंभों में ही उनका अधिकतर समय बीता है । आडंबर और शब्दजालपूर्ण व्याख्यानों के सिवा और कोई काम नहीं हुआ । इस आडंबरयुक्त समारंभ में पतिताओं की स्थिति में सुधार करने के केवल दो उपायों की चर्चा हुई । पहला उपाय धर्म की दुहाई, और दूसरा पुलिस का नियंत्रण । गणिकावृत्ति के आद्य कारणों के रूप में एक प्रतिनिधि ने जब दारिद्रय और श्रमिक परिवारों के रहन-सहन एवं जीवन निर्वाह की असहय परिस्थितियों का उल्लेख किया तो लोगों ने उसे बोलने नहीं दिया । सरदारों और सरमायेदारों की इस सभा में तिरस्करणीय दंभ के सिवा और किसी चीज़ के दर्शन नहीं हुए । एक तरफ दया, दान और धर्म के शताब्दियों पुराने नारे दोहराये गये, और दूसरी ओर सख़्ती और नियंत्रण रूपी उतने ही पराने हथियार खनखनाये गये । पतितावस्था की उत्पत्ति के मूल कारण श्रमिकों के दारिद्रय और कष्टमय जीवन की ओर, या उसे जीवित रखने वाले प्रधान कारण धनिकों की ऐयाशी की ओर किसी की दृष्टि भी नहीं गई ।''



२
प्रयत्नों की प्रयोगावस्था

सोवियत सरकार के हाथ में सत्ता आते ही सब से पहले श्रमजीवियों और शोषितों के अधिकारों की घोषणा की गई, जिसके अनुसार एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के किसी भी प्रकार के शोषण को गंभीर अपराध करार दिया गया । पतितावस्था भी स्त्रियों के आर्थिक शोषण का ही एक प्रकार है अतः उसका समावेश इस व्यापक व्याख्या के अंतर्गत हो गया । स्त्री को रोज़गार न मिले, आजीविका का कोई साधन न मिले, और उसकी देखभाल करने वाला कोई न हो, यही वे परिस्थितियाँ हैं जो उसे देह विक्रय के लिए मजबूर करती हैं । क्रान्तिकारियों को यह समझने में देर नहीं लगी कि आर्थिक असहायता ही पतितावस्था का आद्य कारण है । कारण का निदान हो जाने पर उसके परिणामों को दूर करने का मार्ग ढूंढने में सोवियत सत्ताधीशों को अधिक कठिनाई नहीं पड़ी । काम करने की शक्तिवाले हर स्त्री-पुरुष को काम मिलने का मूलभूत अधिकार है यह मान लिया गया । साथ ही काम करने को शक्तिमान हर स्त्री-पुरुष पर श्रम करने की अनिवार्य जिम्मेदारी है, यह भी निश्चित हुआ । नूतन रूस का कोई भी स्वस्थ और वयस्क नागरिक श्रम करने के अनिवार्य कर्तव्य या उत्तरदायित्व से नहीं बच सकता ।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद के कुछ वर्षों में तो गृहयुद्ध के कारण और प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष पर अनिवार्य रूप से आ पड़ने वाले काम के बोझ के कारण गणिकावृत्ति लगभग नष्ट हो गई और पण्यांगनाओं की मांग बिलकुल कम हो गई थी । अलबत्ता, यह काम संपूर्ण निर्विघ्नता से पूरा नहीं हुआ । जिन गणिकाओं को पराश्रयी, विलासमय और श्रमविहीन जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ गई थी, उन्हें यह अनिवार्य परिश्रम पहाड़ सा दिखाई देने लगा । स्वाभाविक रूप से उन्हें यह स्थिति पसंद नहीं थी और परिश्रम से बचने की अनेक विध युक्तियाँ वे आज़माती थीं । परंतु इस तरह की कामचोर गणिकाओं की रवानगी तुरंत अनिवार्य श्रम-शिविरों में कर दी जाती थी जहाँ उन्हें और भी कठिन परिश्रम करना पड़ता था और न करने पर कड़ी सज़ा मिलती थी । इसके उपरांत, शासन व्यवस्था ने वेश्यालयों के मालिकों, संचालकों, दलालों, और गुंडों के विरुद्ध तो ऐसी कठोर उपाय योजना की कि कुछ ही समय में इस वर्ग का अस्तित्व ही मिट गया और गणिकावृत्ति लगभग शून्यवत् हो गई । साथ ही, गणिकावृत्ति से संबंधित अन्य समस्याओं का मुकाबला करने के लिए स्वास्थ्य मंत्रालय के अंतर्गत एक अलग विभाग की स्थापना की गई । सन् १९१९ और १९२२ में इस विभाग की कार्यपद्धति में परिवर्तन किए गये । इस योजना से अधिक लाभ नहीं हुआ, पर उपरोक्त अन्य कारणों से गणिकावृत्ति का प्रसार अत्यंत कम हो गया इसमें कोई संदेह नहीं ।

इसके बाद अंतर्विग्रह समाप्त हो गया और नयी अर्थव्यवस्था प्रचलित की गई । इस के अंतर्गत गणिकावृत्ति संबंधी तमाम प्रश्नों पर नये सिरे से विचार करने का मौका मिला । स्त्रियों को समान राजनैतिक अधिकार तो मिल चुके थे, परंतु कुछ दिनों के अनुभव से यह मालूम हुआ कि इससे उनका आर्थिक प्रश्न हल नहीं हुआ । स्त्रियों को पुरुषों के समान मजदूरी दी जाय यह नियम भी बन चुका था; परंतु अधिकांश स्त्रियाँ अनुभवहीन और अक्षम होने के कारण मेहनत-मज़दूरी के कामों में उनका स्वागत नहीं हुआ । परिणाम स्वरूप स्त्रियों में बेरोज़गारी फैल गई और उनकी आर्थिक समस्या हल नहीं हुई । स्पष्ट शब्दों में कहें तो स्त्री-पुरुष के समान अधिकार कागज पर तो मान लिए गये, परंतु अधिकार के अनुसार काम मिलना मुश्किल हो गया । इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्रियों की कुछ शारीरिक और स्वाभाविक कमियों के कारण ही ऐसा हुआ, परंत इसका जो परिणाम निकला उसने कोरे सिद्धान्तों का

खोखलापन ही सिद्ध किया । स्त्रियों को रोज़ी न मिलने से स्त्री-पुरुष की आर्थिक असमानता बनी रही और आर्थिक दृष्टि से स्त्री उतनी ही असहाय और पराधीन रही । स्त्रियों का आर्थिक दृष्टि से निराधार होना. गणिकावृत्ति का सबसे बड़ा कारण है, यह फिर से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं । अत: क्रान्ति के बाद के रूस में भी फिर से एक बार यौन अनाचार के पोषक मद्यालय और नृत्यालय दिखाई देने लगे जहाँ मदिरा के साथ मदिराक्षी भी आसानी से प्राप्त हो सकती थीं । आश्चर्य की बात है कि क्रान्तिकारी रूस में पहले तो इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए नीति सेनाएँ स्थापित करने के प्रस्तावों पर विचार होने लगा । परंतु इसका कड़ा विरोध हुआ, क्यों कि केवल नैतिक उपदेश के बल पर इस प्रश्न का निराकरण करने की योजनाएँ इससे पहले अनेक बार निष्फल सिद्ध हो चुकी थीं ।

इन आरम्भिक कठिनाइयों के बावजूद शासकों ने प्रयत्न जारी रखे । स्वास्थ्य मंत्रालय की ओर से एक नयी योजना गढ़ी गई । जिसके अंतर्गत इस समस्या का दो मोरचों पर मुकाबला करने का निश्चय किया गया । गणिकावृत्ति के निर्मूलन के प्रयत्न और गणिकावृत्ति में से जन्म लेने वाले रोगों का उन्मूलन इस योजना के दो प्रधान अंग थे । इस संबंध में निम्नलिखित घोषणा की गई: —''अक्टूबर की क्रान्ति के बाद हमारे देश की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुए और हमारे समाज में से गणिकावृत्ति अदृश्य होने लगी । इसके प्रधान कारण ये थे कि श्रमजीवियों को आर्थिक मुक्ति मिली, स्त्रियों को सामाजिक स्वातंत्र्य और समानाधिकार मिले, विवाह को न्यायसंगत रूप दिया गया, जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में स्त्रियों को समान हिस्सा दिया गया, शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ और प्रचार के शस्त्र का समुचित उपयोग किया गया । परंतु नष्ट होती हुई गणिकावृत्ति फिर एक बार अनपेक्षित रूप से जीवित हो उठी है । अनेक स्थानों से समाचार मिले हैं कि देह विक्रय का धंधा फिर से प्रचलित हो रहा है और छिपे वेश्यालयों की जगह-जगह स्थापना होने लगी है । दलाली भी फिर ज़ोरों से चलने लगी है । सामाजिक जीवन को छिन्न भिन्न कर देने वाली यह अनिष्ट बाढ़ फिर से फैलती जा रही है । इसके साथ साथ यौन रोगों का प्रमाण भी बढ़ गया है । राज्य के प्रत्येक विभाग का ध्यान इस संकट की ओर आकर्षित किया गया है, और उसका मुकाबला करने के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन अनिवार्य कर दिया गया है: —

१. किसी भी कारखाने या रोज़गार में से मज़दूरों की छँटनी करने का मौका आये, तो स्त्रियों को निकालने से पहले पूरी सावधानी बरती जाय । अधिकांश स्त्रियाँ बेरोज़गारी का सामना नहीं कर सकतीं । उनके निकट के सुहृद-संबंधी नहीं होते, रहने का स्थान नहीं होता, और आश्रय देने वाला कोई सहायक नहीं होता । कुछ स्त्रियाँ गर्भवती हो सकती हैं, और कई स्त्रियों के छोटे छोटे बच्चे भी होते हैं । उनकी देखभाल न की गई, तो ये निराधार स्त्रियाँ फिर से गणिकावृत्ति करने लगेंगी । अत: इन सब प्रकारों की स्त्रियों के हितों को अग्राधिकार देकर सुरक्षित रखा जाय ।
२. अशिक्षित और अनुभवहीन स्त्रियों की नियुक्ति मुख्यत: खेतीबारी या भारी उद्योगधंधों में होनी चाहिये ।
३. व्यापार-उद्योग या कला कारीगरी की शिक्षा देने वाली नि:शुल्क संस्थाओं में अधिकाधिक स्त्रियाँ काम सीख सकें और उनकी योग्यता बढ़े, ऐसी उपाययोजना होनी चाहिये ।
४. बेरोज़गार स्त्रियों के लिए अधिक से अधिक संख्या में उद्योग-आश्रमों की स्थापना की जाय ।
५. परित्यक्त और अनाथ बालकों की परवरिश की व्यवस्था की जाय ।
६. गणिकावृत्ति के सही स्वरूप का प्रचार करके उसके विरुद्ध शर्म और तिरस्कार की भावना जागृत की जाय । यौन रोगों की भयानकता पर अधिकाधिक ज़ोर दिया जाय ।
७. उपरोक्त प्रतिबंधक उपायों के उपरांत वेश्यावृत्ति को जड़मूल से नष्ट करने के अन्य प्रभावी उपायों की योजना भी की जाय । परंतु यह काम पुलिस का नियंत्रण या गणिकाओं को परवाने देने की पद्धति आदि पुराने उपायों से नहीं होना चाहिये । इस पद्धति में गणिकाओं पर अत्याचार होता है और उनकी आदतें भी नहीं सुधरतीं । याद रहे कि हमने गणिकावृत्ति के विरुद्ध युद्ध घोषित किया

है; गणिकाओं के खिलाफ नहीं । गणिकावृत्ति की विभीषिका में गणिका तो कठपुतली के समान है जिसका सूत्रसंचालन कोई और ही करता है ।

८. दलालों, वेश्यालयों के संचालकों, गणिका गृहों के मालिकों और कुट्टनियों के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कारवाई की जाय । ये लोग किसी भी रूप में या किसी भी बहाने धंधा चलाते हों, हर हालत में उन्हें निर्दयता से कुचल दिया जाय ।

९. यौन रोगों से पीड़ित रोगियों की पूरी चिकित्सा और देखभाल निःशुल्क होनी चाहिये । इसके लिए अधिकाधिक रुग्णालय खोले जायें ।

१०. राज्य की इस नीति को सफल बनाने के लिए स्थानीय अधिकारियों को अपने प्रदेश की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार उचित उपाय योजना करनी चाहिये ।''

गणिकालयों और अनाचार के अड्डों के विरुद्ध घोषित किए गये इस युद्ध के संचालकों और कार्यवाही को केन्द्रीय सरकार ने स्पष्ट सूचना दी कि, ''सामूहिक रूप से तो इन आदेशों का पालन सख्ती से किया जाय, पर वैयक्तिक रूप से किसी गणिका पर अत्याचार नहीं होना चाहिये । गवाह के रूप में अनेक बयान दर्ज करने का और उन्हें समझाने बुझाने का काम अत्यंत नरमी और सहानुभूति से होना चाहिये । प्रत्येक अधिकारी और प्रत्येक कार्यकर्ता को यह हमेशा याद रखना चाहिये कि वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री किसी अनिवार्य मजबूरी या कठिन परिस्थिति के कारण ही यह घृणित कार्य करती है । अतः कार्यकर्ताओं को उनके प्रति सौजन्यपूर्ण बर्ताव करना चाहिये और किसी भी हालत में सख्ती, तिरस्कार या कटुता का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।''





३

प्रयत्नों की सफलता

यह योजना सफल होने लगी । वेश्यालयों की संख्या घटने लगी और रुग्णालय तो अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए । यौन रोगों का प्रसार मुख्यत: गणिकावृत्ति से ही होता है । अत: वेश्यावृत्ति का नियंत्रण होते ही रोगों का प्रमाण भी घट गया । अस्पतालों के साथ आरोग्य-समितियों की स्थापना हुई जो अपने अपने प्रदेश की जनता को स्वास्थ्य संबंधी सूचनाएँ देने लगीं और रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था भी करने लगीं । यौन जीवन का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन हुआ और यौन-आरोग्य संबंधी ज्ञान का व्यापकता से प्रचार किया गया । वेश्यावृत्ति और वेश्यागमन के विरुद्ध भी ज़ोरों से प्रचार होने लगा । रोगनिदान और चिकित्सा संबंधी वैज्ञानिक अनुसंधानों की जानकारी भी लोगों को दी जाने लगी ।

समाचार पत्रों में इसमें जी-जान से सहायता की । गणिकावृत्ति संबंधी कानूनों और मुकदमों को योग्य प्रसिद्धि दी जाने लगी । इस विषय में पाठकों की राय जानने के लिए अखबारों ने विचारगोष्ठियों का आयोजन किया और पाठकों के पत्र छापना शुरू किया । 'राबॉश्या गॅज़ेटा' नामक प्रतिष्ठित पत्र ने इस विषय के ऊहापोह के लिए अलग स्तंभ शुरू किया । कई महीनों की चर्चा को समेटते हुए इस पत्र के संपादक ने अग्रलेख लिखा जिसमें 'यॉडॉकीमोवा' नामक वेश्या के मुकदमे और उसके फैसले की टीका इन शब्दों में की गई: ''न्यायालय ने तीन व्यक्तियों को सज़ा दी है । गणिका को, उसका उपभोग करने वाले मज़दूर को और मध्यस्थ कुट्टनी को । कुट्टनी को जो कठोर दंड मिला, उससे हमारे सभी पाठक सहमत हैं । लोकमत का विकास इसी दिशा में होना योग्य है । दलालों और कुट्टनियों का नाश होना ही चाहिये । हमारे दंड विधान में भी गणिकाएँ उपलब्ध करने वालों के लिए भारी जुरमाना, सश्रम कारावास तथा संपत्ति की ज़ब्ती का कठोर दंड नियत किया गया है । अत: इस संबंध में हमें कुछ नहीं कहना है, और हमारे पाठकों में भी मतैक्य है । परंतु गणिका और गणिकागामी मज़दूर को दी गई सज़ा के विषय में मतभेद है । गणिका यॉडॉकीमोवा को दी गई सज़ा कम है, या योग्य है, ऐसी किसी की राय नहीं है । सब का यही मत है कि उसे बहुत कठोर सज़ा दी गई है; और हम भी इससे सहमत हैं । गणिकावृत्ति का हम सख्त विरोध करते हैं । यह प्रवृत्ति नष्ट होनी ही चाहिये । परंतु जब तक समाज में से बेकारी दूर नहीं होती, तब तक गणिका के देह विक्रय को दंडनीय मानना योग्य नहीं होगा । गणिका के देह संबंध से यदि किसी को रोग का संसर्ग हो, तो उसे उस हद तक जिम्मेदार अवश्य मानना चाहिये । परंतु गणिका की इस जिम्मेदारी को सामान्य नागरिकों की जिम्मेदारी से अधिक गंभीर मानना न्यायसंगत नहीं होगा । रोगों का प्रसार रोकने के लिए जितना उत्तरदायित्व अन्य नागरिकों का है, उतना ही गणिका का भी मानना चाहिये । इसके उपरांत, उसे दंड देने से पहले यह निश्चित होना भी आवश्यक था कि उसका उपभोग करनेवाले पुरुष को उसके रोग की जानकारी थी या नहीं ।

''बेचारी यॉडॉकीमोवा ! यह कोई बहुत समझदार स्त्री दिखाई नहीं देती । मज़दूरों और श्रमजीवियों के दायरे से वह अब तक बाहर रही है । वह किसी व्यवसायिक संगठन (Trade Union) की सदस्या भी नहीं है । यौन रोगों की जानकारी भी उसे अधिक नहीं है क्योंकि उसे इसकी शिक्षा ही नहीं मिली । ये रोग संसर्गजन्य हैं, और अपने संसर्ग से वह किसी और को दूषित कर सकती है, इसकी कल्पना भी उसने नहीं की होगी । इन सब बातों को देखते हुए यॉडॉकीमोवा को दी गई सज़ा बहुत अधिक और बहुत कठोर प्रतीत होती है । वास्तव में उसे चेतावनी देकर छोड़ देना चाहिये था । इतना ही नहीं, किसी अच्छे रुग्णालय में उसका इलाज होना चाहिये था । यौन रोगों संबंधी जानकारी, गणिकावृत्ति से होनेवाला रोगप्रसार, और उसकी दंडनीयता का ज्ञान भी उसे मिलना आवश्यक था ।

"अब प्रश्न रहा गणिका का उपभोग करनेवाले मज़दूर का । इसे दी गई सज़ा के संबंध में हमारे पाठकों में मतभेद है । अदालत ने उसके बर्ताव की भर्त्सना मात्र की है और उसे चेतावनी देकर छोड़ दिया गया है । हमारे कुछ पाठकों के मतानुसार तो इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं थी । उनका कहना है कि जब तक गणिकावृत्ति जीवित रहेगी तब तक उसका उपभोग करने वाले भी मिलते ही रहेंगे । कुछ लोगों ने सज़ा का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'मांग होने पर ही पूर्ति होती है । गणिका को ढूंढने वाले ग्राहक के अभाव में गणिकावृत्ति अपने आप नष्ट हो जायगी ।' इसका उत्तर देते हुए एक महाशय का कहना है कि, 'मज़दूर का शरीर स्त्री-समागम चाहता हो, और सभ्य समाज की स्त्री के अभाव में वह गणिकागमन करे, तो इसमें क्या बुराई है ? कामवासना दुर्निवार्य है, और उसका शमन भूख-प्यास के शमन की तरह ही आवश्यक है ।' परंतु हमारे अधिकांश पाठकों की राय है कि, 'यह युक्ति तर्क संगत नहीं । देहोपभोग की इच्छा जिस प्रकार पुरुष को होती है उसी प्रकार स्त्री को भी होती है । क्रय-विक्रय का तत्व प्रविष्ट किए बिना स्त्री-पुरुष एक दूसरे की संमति से इस आवेग का शमन कर लेते हों, तो वह उनका वैयक्तिक प्रश्न हो सकता है; और शासन के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं । परंतु इस प्रसंग पर तो देह विक्रय हुआ है और रोग संसर्ग हुआ है, जो दोनों ही निषिद्ध हैं ।'





"काम वासना की अनिवार्यता और उपभोग की आवश्यकता आदि भावनाओं का शीघ्र ही निराकरण हो जाना ज़रूरी है । यौन वासना की तृप्ति होनी ही चाहिये, इस मान्यता को अब स्वीकार नहीं किया जा सकता । आरोग्यशास्त्र के अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि संयम से शरीर बिगड़ता नहीं, बल्कि सुदृढ होता है । वीर्य ही शक्ति है । स्वेच्छाचारी देहोपभोग में उसे नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं । शक्ति का अन्य अनेक प्रकारों से सदुपयोग हो सकता है । उसका व्यय अन्य अनेक सत्प्रवृत्तियों में हो सकता है । उसका स्खलन आवश्यक है और वही उसका एकमात्र उपयोग है, यह मान्यता अब ग्राह्य नहीं रही । क्रांति को सफल बनाने के लिए शारीरिक शक्ति की अनेक क्षेत्रों में आवश्यकता है । स्त्रियों और गणिकाओं के पीछे लोलुपता से दौड़ना हम गवारा नहीं कर सकते । इसके लिए हमारे पास समय ही कहाँ है ? इससे कई गुने महत्वपूर्ण काम हमारा समय और हमारी शक्ति चाहते हैं ।

"इस पूरी चर्चा का साधक बाधक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भूखी यॉडॉकीमोवा की

देह खरीदने वाले मज़दूर ने समझबूझ कर और अपने होशोहवास कायम रखते हुए यह कार्य किया है । इस हालत में गणिका की अपेक्षा इस गणिकागामी को अधिक सज़ा मिलनी चाहिये थी । यह सही है कि श्रमजीवियों के स्वराज्य में गणिकावृत्ति का अस्तित्व ही नहीं होना चाहिये । परंतु इसके लिए एक ओर तो बेरोज़गारी का नाश करने के प्रयत्न होने चाहिये, और दूसरी ओर गणिकागमन के दुष्परिणामों की प्रजा को जानकारी हो सके ऐसा प्रभावशाली प्रचार होना चाहिये । ये दोनों काम एक साथ हों, तो ही यह समस्या हल हो सकेगी । स्त्री देह के क्रय-विक्रय में समाई हुई शर्म और अधमता का प्रजा को ज्ञान होने पर यह प्रश्न अपने आप हल हो जायगा । अतः इस मुकदमे के संबंध में हम इन तीन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं: —

१. न्यायाधीश महाशय की कुट्टनी को दी हुई सज़ा योग्य है ।
२. गणिका को दी हुई सज़ा उसके दोष की तुलना में बहुत अधिक है ।
३. गणिका की देह खरीदने वाले मज़दूर को मिली हुई सज़ा अत्यंत कम और सौम्य है ।"

संपूर्ण विचार-स्वातंत्र्य का दावा करनेवाले देशों को भी आश्चर्य हो ऐसी स्पष्टता और घृष्टता से गणिकावृत्ति संबंधी प्रश्नों की सोवियत रूस में चर्चा हो सकी । न्यायाधीश के फैसले पर लोगों ने खुले दिल से टीका-टिप्पणी की, और पत्रकारों ने भी अपनी राय निर्भयता से प्रकट की ।

४
चर्चा के अन्य विषय

रूसी प्रजा की स्पष्टवादिता के नमूने के तौर पर एक और पत्रव्यवहार भी उल्लेखनीय है । तान्या नामक गणिका ने समाचार पत्रों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध आंदोलन खड़ा किया था । उसने गणिकावृत्ति का समर्थन करते हुए लिखाः "सोवियत सरकार ने इस लोकप्रिय नारे की आड़ में मुँह छिपा लिया है कि 'गणिकावृत्ति विरोधी उपाय योजना गणिका विरोधी नहीं है ।' परंतु यह केवल शब्दछल है । इससे फायदा क्या हुआ ? पूर्व परिस्थिति ज्यों की त्यों बनी रही है । गणिकावृत्ति करनेवाली स्त्री यदि अन्य कोई रोज़गार करना चाहती है, तो अव्वल तो उसे काम ही नहीं मिलता, और मिलता है तो उतनी मज़दूरी से गुज़ारा नहीं चलता । गणिकावृत्ति-विरोधी नियमों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि गणिकाओं का जीवित रहना भी मुश्किल हो गया है । स्त्रियों को जब रहने को मकान ही नहीं मिलता, तो गणिकावृत्ति का

सवाल ही कहाँ खड़ा होता है ? मकान यदि मिलता है तो किराया इतना अधिक होता है कि पूरी कमाई किराया चुकाने में ही खत्म हो जाय । सरकार ने इन स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा कर दी है कि वे गणिकावृत्ति करें या न करें, दोनों हालतों में भूखी मरेंगी ।''

केन्द्रीय सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों को एक गणिका की आलोचना का जवाब देना पड़ा । उनका कहना हुआ: ''आपने मांग की है कि गणिकाओं के उद्धार या गणिकावृत्ति के उन्मूलन की चिंता किये बिना सरकार को उन्हें शांतिपूर्वक रहने देना चाहिये । आपने यह दलील भी की है कि गणिकाएँ चोरी नहीं करतीं, डाके नहीं डालतीं, या किसी की हत्या नहीं करतीं । यहाँ तक आपका कहना सही है । परंतु यह बात भी विचारणीय है कि गणिकावृत्ति यौन रोगों की जड़ है । ये रोग एक बड़े राष्ट्रीय संकट के समान हैं । और कुछ नहीं, तो इस संकट से प्रजा की रक्षा करने के लिए ही गणिका संस्था का नाश करना सरकार का कर्तव्य हो जाता है । सरकारी उपाययोजना के कारण गणिकाओं को निवासस्थान मिलने में कठिनाई होती है, उनके ग्राहकों की संख्या घट गई है और उनकी कमाई प्राय: बंद हो गई है इत्यादि आपकी की हुई शिकायतें ही सरकारी नीति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण उपस्थित करती हैं । गणिकाओं को आश्रय देने वाले स्थानों की संख्या कम हो जाय और गणिकावृत्ति से होने वाली कमाई बंद हो जाय, तो इन्हें गणिकावृत्ति नष्ट होने के शुभ चिह्न ही मानना होगा ।

''गणिकावृत्ति हमारे सामाजिक जीवन का महारोग है; पूंजीवादी समाजव्यवस्था से हमें मिली हुई विरासत है । हमें विश्वास है कि देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ नयी बुनियाद पर स्थापित होते ही गणिकावृत्ति और अन्य सामाजिक बुराइयों से हमें हमेशा के लिए मुक्ति मिल सकेगी । हम यह जानते हैं कि कोई स्त्री केवल शौक पूरा करने के लिए गणिका नहीं बनती । भयानक गरीबी और निराश्रयता ही स्त्रियों को इस व्यवसाय में प्रेरित करती हैं, और किसी अनिवार्य मजबूरी के अभाव में कोई स्त्री अपनी देह का दुरुपयोग नहीं होने देती । गणिकावृत्ति का निर्मूलन करने के सरकारी प्रयत्नों के कारण गणिकाओं की कमाई अत्यंत कम हो गई है, यह बात भी हमारी जानकारी से बाहर नहीं है । परंतु यह जिहाद तो चलती ही रहेगी । पूरे समाज के हित के लिए यह ज़रूरी है कि यह युद्ध चलता ही रहे । इस व्यापक हित के सामने व्यक्ति या वर्ग के हित गौण माने जाने चाहिये ।''

उपरोक्त दोनों चर्चाएँ सोवियत प्रजा के विचार-स्वातंत्र्य, समाचारपत्रों की निर्भीकता और शासन और प्रजा के बीच के स्पष्ट एवं अनौपचारिक विचार-विनिमय पर प्रकाश डालती हैं । इन चर्चाओं से गणिकावृत्ति के संबंध में राज्यशासन और गणिकावृत्ति विरोधी उपाय योजना की गति अवरुद्ध नहीं हुई, बल्कि इस दिशा में और भी अधिक विधायक और ठोस कदम उठाये गये । युवतियों को गणिकावृत्ति करने की आवश्यकता ही न पड़े इस उद्देश्य से उन्हें कारखानों और पाठशालाओं में अधिकाधिक काम दिया जाने लगा । श्रमिक महिलाओं के लिए मकानों की समुचित व्यवस्था की गई । इसके उपरांत देश की फौजदारी दंडसंहिता में निम्नलिखित नियम जोड़ दिये गये । रूस के साम्यवादी शासन की कानूनी भूमिका समझने के लिए इन नियमों की जानकारी आवश्यक है: —

धारा १५५ —जो व्यक्ति यौन समागम के ज़रीये अन्य किसी व्यक्ति को यौन रोगों से संसर्गित करेगा उसे तीन वर्ष तक के कारावास की सज़ा दी जा सकती है ।

धारा १५५ (अ) : —यौन रोगों का संसर्ग समागम के अलावा अन्य किसी ज़रिये से हो ऐसी परिस्थिति जानबूझ कर उत्पन्न करने वाले को छ: मास तक का कारावास या सख़्त मज़दूरी की सज़ा दी जा सकती है ।

धारा १६९ — किसी स्त्री की शारीरिक या मानसिक दुर्बलता से या लाचार स्थिति से लाभ उठा कर, या जबरदस्ती से संभोग करने का जो कोई प्रयत्न करेगा, उसे तीन वर्ष तक के सश्रम कारावास की सज़ा होगी ।



धारा १६९ (अ) : — अपने यहाँ नौकरी करनेवाली या अन्य किसी प्रकार से अपनी आश्रिता होने वाली स्त्री को कोई पुरुष जबरदस्ती से संभोग के लिए प्रेरित करेगा, तो उसे उपरोक्त दफा के अनुसार सज़ा होगी ।

धारा १७० — वैयक्तिक लाभ का प्रलोभन दिखाकर, या किसी भी प्रकार का शारीरिक या मानसिक दबाव डाल कर जो कोई व्यक्ति किसी स्त्री को गणिकावृत्ति में प्रवृत्त करेगा उसे कारागृह में तीन वर्ष तक के एकांतवास की सज़ा दी जायगी ।

धारा १७१ — गणिकावृत्ति के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध करना, वेश्यालय चलाना या वेश्यावृत्ति के लिए किसी भी स्थान पर स्त्रियों को एकत्रित करना इत्यादि अपराध सिद्ध होने पर अपराधी को कम से कम तीन वर्ष के सश्रम कारावास की सज़ा दी जायगी और उसकी पूरी संपत्ति कुर्क कर ली जायगी । वेश्यालय में भेजी जाने वाली स्त्री यदि अपराधी की आश्रिता हो, तो कारावास की सज़ा पाँच वर्ष तक की हो सकती है ।

उपरोक्त कठोर दंडविधान की रचना द्वारा और उसे निर्ममता से कार्यान्वित करने के कारण सोवियत शासन को गणिकावृत्ति का निर्मूलन करने में बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई ।

५
आरोग्यधामों की योजना

रूस की एक योजना विशेष तौर से ध्यान आकर्षित करती है । वह है गणिकाओं के लिए आरोग्यधामों (प्रॉफिलॅक्टोरिया) की योजना । ये एक प्रकार के अस्पताल ही होते हैं; परंतु यहाँ रोगिणियों की चिकित्सा के उपरांत उन्हें स्वास्थ्य रक्षा संबंधी शिक्षा भी दी जाती है । इन आरोग्य धामों में यौन रोगों का अनुसंधानात्मक अध्ययन होता है, रुग्णाओं की शुश्रूषा होती है, और उचित शिक्षा द्वारा उनका शारीरिक और मानसिक पुनर्वासन कर के उन्हें समाजोपयोगी नागरिक बनाने के प्रयत्न किये जाते हैं । रोगिणी के स्वस्थ होते ही कुछ समय के लिए उसके काम धंधे की व्यवस्था भी यहीं कर दी जाती है । इस प्रकार के आरोग्यधाम समाजजीवन का एक उपयोगी विभाग सिद्ध हुए हैं । रूस के सभी बड़े शहरों में इनकी स्थापना हुई है । इनकी सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि यहाँ पर रोग की चिकित्सा और शारीरिक पुनर्गठन के उपरांत रोगी के मानसिक विकास और आत्मा की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है । आरोग्यधाम में प्रवेश करने वाली रोगिणी स्त्री को उसी दिन से काम में लगा दिया जाता है । यहाँ पर शुल्क आदि का तो सवाल ही नहीं उठता, परंतु रोगी के आत्मसम्मान की खातिर उसकी मेहनत से ही उसके इलाज और निवास-भोजन आदि की व्यवस्था हो, ऐसी योजना की जाती है । देह विक्रय करके जीवनयापन करने वाली गणिकाओं को श्रम के महत्व और सच्ची नागरिकता का बोधपाठ पहले दिन से ही मिलने लगता है ।

यहाँ यह समझने की ग़लती कोई न कर बैठे कि आरोग्यधामों में रोगियों से कड़ा परिश्रम करवाया जाता है । सभी मरीज़ों की हालत इतनी खराब नहीं होती कि उन्हें बिस्तर पर ही पड़ा रहना पड़े । जिनकी हालत इतनी खराब होती है, या जिन्हें संपूर्ण विश्रांति की आवश्यकता होती है, उन्हें कामकाज से सर्वथा मुक्त रखा जाता है । चल फिर सकने वाली रुग्णाओं को भी आरंभ में अत्यंत सौम्य परिश्रम के और विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता न पड़ने वाले काम सौंपे जाते हैं । क्रमशः उन्हें इन कामों में रुचि उत्पन्न होने लगती है । ज्यों ज्यों उनकी योग्यता बढ़ती जाती है त्यों त्यों अधिक जिम्मेदारी का काम उन्हें दिया जाता है । शारीरिक श्रम और सुशिक्षा के इस वातावरण में रोगिणी गणिकाओं को अपने पूर्वजीवन की निरर्थकता और अस्थिरता का ज्ञान होने लगता है । रोगमुक्त होकर आरोग्यधाम छोड़ने के दिन तक तो वे

किसी कारखाने में काम कर के सम्मानित जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त कर लेती हैं; और उन्हें रोज़गार मिल भी जाता है । इन आरोग्य धामों में गणिकाओं को नये जीवन के प्रति उत्साह हो, ऐसा वातावरण निर्मित किया जाता है । रोगिणी स्त्री यदि निरक्षर हो तो उसे पढ़ाया जाता है और उसके कुतूहल, उसकी बुद्धि और उसकी ज्ञानपिपासा का विकास हो ऐसी योजना की जाती है । इन स्त्रियों को अपना गतकाल भूलने में सहायता पहुँचाने के लिए आरोग्यधामों में 'गणिका', 'वेश्यालय', 'गणिकावृत्ति' आदि शब्दों के उच्चारण पर भी पाबंदी लगा दी जाती है । आरोग्यधाम के डाक्टर, परिचारिकाएँ और अन्य कर्मचारी इन स्त्रियों के आत्मसम्मान को ज़रा भी ठेस न लगे ऐसा सौजन्यपूर्ण व्यवहार करते हैं । अशिक्षित स्त्रियों के लिए प्राथमिक शिक्षा की और शिक्षित स्त्रियों के लिए ज्ञानवृद्धि की अलग अलग कक्षाएँ होती हैं । सब मिला कर दिन के सात घंटे इन प्रवृत्तियों में गुज़ारे जाते हैं । परिणामस्वरूप दिन के अधिकांश भाग में रोगिणी स्त्री या तो शिक्षाप्राप्ति में या काम धंधे में लगी रहती है । सभी स्त्रियों के लिए चिकित्सा, शिक्षा और श्रम, तीनों अनिवार्य होते हैं । इस त्रिवेणी संगम में से उनका शरीर और मन, दोनों शुद्ध होकर बाहर निकलते हैं ।

इन आरोग्यधामों में पढ़ाये जाने वाले विषयों की विविधता भी आश्चर्यजनक होती है । भाषा, गणित, भूगोल, राजनीति, रसायन और भौतिकशास्त्र आदि विषय नियमित रूप से पढ़ाये जाते हैं । आवश्यकता पड़ने पर इन स्त्रियों को संग्रहालयों, कारखानों या खेतों में ले जाकर उनके व्यवहार ज्ञान की वृद्धि की जाती है । आश्चर्य की बात यह है कि कुछ समय बाद इन स्त्रियों की कुतूहलवृत्ति अपने आप जागृत हो जाती है; और ज्ञानप्राप्ति की इच्छा एक बार जागृत हो उठने पर किसी ज़माने की ये पतित स्त्रियाँ पूरे मनोयोग से और अत्यंत उत्साहपूर्वक ज्ञानार्जन के काम में लग जाती हैं ।

कला-साहित्य आदि के अध्ययन द्वारा उनके भाव-जगत को विकसित करने की समुचित व्यवस्था भी इन आरोग्यधामों में होती है । नाट्यमंडलियों की स्थापना करके रंगभूमि पर नाटक खेले जाते हैं । नाटकों की कथावस्तु प्राय: आरोग्यधाम में रहने वाली स्त्रियाँ ही सूचित करती हैं । संगीत और नृत्य की शिक्षा की व्यवस्था भी यहाँ होती है । और संगीत भी हल्का-फुलका नहीं बल्कि पक्का और शास्त्रोक्त । तरह तरह के वाद्य हर आरोग्य धाम में उपलब्ध होते हैं । हर तीसरे महीने संगीत-नाटक-नृत्य और खेलकूद के आनंदोत्सवों का आयोजन किया जाता है । प्रत्येक आरोग्यधाम में इन कलाओं के विशेषज्ञों की नियुक्ति आवश्यक रूप से होती ही है; परंतु कभी कभी बाहर के प्रसिद्ध कलाकारों को भी आमंत्रित किया जाता है । इन स्त्रियों को सिनेमा दिखाये जाते हैं, तरह तरह के खेल सिखाये जाते हैं और उनमें दिलचस्पी लेने को उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है । किसी किसी आरोग्यधाम में हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं और कहीं कहीं कपड़ों की कटाई, सिलाई वगैरह की शिक्षा भी दी जाती है ।

गणिकाओं के लिए आरोग्यधामों में दाखिल होना अनिवार्य नहीं है । परंतु एक बार प्रवेश किए बाद वहाँ के सब नियमों का पालन आवश्यक होता है । प्रवेश करने वाली प्रत्येक स्त्री की निष्णात डाक्टरों द्वारा जाँच की जाती है । रोग के पूर्व-इतिहास और रोगिणी के पूर्वजीवन की बारीकी से पूछताछ की जाती है । इससे एक ओर रोग का निदान और चिकित्सा की पद्धति निश्चित हो जाती है और दूसरी ओर रोगिणी की स्वभावगत विशिष्टताएँ क्या हैं, और उसका मानसिक झुकाव किस ओर है, यह निश्चित हो कर उसे उपयुक्त कामधंधा या कला-कारीगरी सिखाने की व्यवस्था की जाती है । आरोग्यधामों में दाखिल होने वाली स्त्री और उसके रोग का साद्यंत इतिहास, और उसके मानसिक सुधार और बौद्धिक विकास की ब्योरेवार जानकारी आरोग्यधाम के दफतर में दर्ज रहती है । इस जानकारी के आधार पर ही भविष्य में इन स्त्रियों का मार्गदर्शन किया जाता है । इन आरोग्यधामों का मुख्य उद्देश्य ही यह होता है कि चिकित्सा के लिए आनेवाली स्त्रियों की रोग से मुक्ति होने के साथ साथ उनका सोचने का ढंग, उनके मनोभाव और उनकी आदतें आमूल बदल जायँ, और एक नये, स्वस्थ, सम्माननीय और उपयोगी जीवन में वे आशा और उल्लास से पदार्पण कर सकें ।



अप्सरा



केवल तीन या चार प्रतिशत गणिकाएँ ही इस कल्याणकारी योजना से लाभ नहीं उठातीं । उनका अध:पतन और मानसशैथिल्य असाध्य कक्षा पर पहुँचा हुआ होता है । सौभाग्य से इनकी संख्या अत्यंत कम होती है । आरंभ में तो साधारण गणिकाओं को भी इन आरोग्यधामों में आकर्षित करने में कार्यकर्ताओं को कठिनाई पड़ती है । आराम और विलासभरे जीवन की आदी गणिका शिक्षा, व्याख्यान, अध्ययन आदि के नाम से भी बिदकती है । अत: आरोग्यधामों के संचालकों और कार्यकर्ताओं को आरंभ में बहुत सावधानी रखनी पड़ती है । शुरू शुरू में शिक्षा को कुछ सरस कहानियों तक ही सीमित रखना पड़ता है । धीरे-धीरे उनकी दिलचस्पी बढ़ने लगती है । एक बार रसवृत्ति और ज्ञानेच्छा जागृह हो जाने पर तो वे प्रागैतिहासिक युग, नृवंशशास्त्र, पूंजी और संपत्ति का वितरण, आदि भारी विषयों के व्याख्यान भी ध्यान से सुनती हैं । केवल सुनती ही नहीं, समझती भी हैं । ज्ञानपिपासा को जागृत करना, और एक बार जागे बाद उसका सतत पोषण करना आरोग्यधामों का एक प्रधान उद्देश्य होता है । केवल रोगों की चिकित्सा करना ही उनकी स्थापना का एकमात्र हेतु नहीं है । आगे चलकर इनमें की कई गणिकाएँ सफल अभिनेत्रियाँ, नर्तकियाँ या कवयित्रियाँ सिद्ध होती हैं । ऐसी ही एक कवयित्री की रचना यहाँ दी जाती है: —

''शांत चाँदनी भरी ग्रीष्म की एक रात्रि में
मैं मेरे गणिकालय में सो रही थी, कि
छापामार कर मुझे कैद कर लिया गया ।
सामने आया, वही शीत से ठिठुरता कारागृह,
वे ही प्रश्न, वे ही गवाह और वही अदालतें;
गणिका को न्यायासन के समक्ष खड़ी करके,
पूछे जाने वाले वे ही नीचता और पशुता भरे प्रश्न ।
निर्दय पुरुषों ने मेरी जवानी के
पाँच वर्ष चुरा कर कारागृह को सौंप दिये!
दारुण अभिशापरूप ये वर्ष,
नरकयातना में बिताये; आज भी भूले नहीं जाते ।
परंतु बीत गया वह भयानक स्वप्न ।
अब मैं देश की गौरवशालिनी दुहिता हूं ।
जहाँ प्रजा-संकल्प श्रेष्ठ है,
जहाँ प्रजासत्ता सर्वोपरि है,
जहाँ स्वातंत्र्य का निवास है,
जहाँ धनिकों के अत्याचार नष्ट हो चुके हैं
जहाँ मेरे जैसी देश की दुहिता
श्रमजीवियों की विजयगाथा सुना रही है ।
ऐसी और कोई धरती नहीं ।
गतकाल अस्त हो गया है,
उसकी झलक भी कहीं दिखाई नहीं देती ।
श्रमजीवन की मैं पुत्री, कृषकों की मैं पुत्री,
जीवन का संदेश सुना रही हूं:
संसार के श्रम जीवियो, संगठित बनो ।
लाल झंडा ही विजय की पताका है ।



आश्चर्य की बात है कि यह किसी गणिका की लिखी हुई कविता है । किसी समय देह विक्रय से उदरपूर्ति करने वाली, बार बार जेल की हवा खाने वाली, पुरानी दुनिया और पुरानी समाजरचना द्वारा बहिष्कृत वारांगना आज अपने कलंकित भूतक को भूलकर लालझंडे की महत्ता के गीत गा रही है ।

मानव-उद्धार की इस कहानी को पूर्णत: साम्यवाद का ही करिश्मा न मानें, तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह एक वांछनीय, अनुकरणीय और प्रशंसनीय घटना है । गणिका का संपूर्ण सुधार और उद्धार हो सकता है ऐसा विश्वास यह घटना दिलाती है । रोग दूर हो जाय, हीनता की भावना से मुक्ति मिले, अपनी शक्ति में श्रद्धा उत्पन्न हो, उत्तरदायित्व की भावना जगे, ज्ञान की ज्योत अंतर से जले, और एक उपयोगी इकाई के रूप में समाजरचना में स्थान मिले, तो पतित से पतित व्यक्ति का भी आत्मसम्मान जागृत होकर उसका सुधार हो सकता है । ये सब सिद्धियाँ प्राप्त करके रूस की आरोग्यधाम नामक संस्था पतितावस्था के निवारण का अद्भुत काम कर रही है ।

इन आरोग्यधामों का पोषण करने वाली या इनकी पूरक होने वाली अन्य संस्थाएँ भी रूस में हैं । साथ ही इन धामों में सिखाये जाने वाले व्यवसायों की और वहाँ की जीवनचर्या की अक्षुण्णता बनाये रखने के लिए इनका सकलन किसी बड़े उद्योग के साथ कर दिया जाता है । उदाहरणार्थ, मॉस्को का आरोग्यधाम वहाँ के एक विशाल सामुदायिक कृषिक्षेत्र से संकलित है । इस योजना के कारण आरोग्यधाम समाज की अनय प्रवृत्तियों से बिलकुल अलग नहीं पड़ जाते और गणिकाओं को यह महसूस नहीं होता कि आरोग्यधाम में रह कर भी आखिर वे समाज के अन्य क्षेत्रों से बहिष्कृत ही रही हैं । पापी और पुण्यात्मा को अलग करने वाले कृत्रिम आवरण यहाँ नष्ट हो जाते हैं और पापी को भी पुण्यमय जीवन में प्रवेश करने का मार्ग मिलता है ।

६
गणिका परिषद्

आश्चर्यजनक लगने पर भी यह सत्य है कि रूस में गणिका-परिषद् के कई अधिवेशन हुए थे । रूसी राज्यकर्ताओं ने पतितावस्था के विरुद्ध जिस धर्मयुद्ध की घोषणा की थी, उसका परिणाम इन सम्मेलनों में स्पष्ट रूप से सामने आया । गणिका जीवन का कलंक धोने के लिए सृजनात्मक शक्तियों का प्रयोग किये जाने पर गणिकाओं की मानवता का किस हद तक विकास हुआ, और उनकी सुषुप्त शक्तियों को नया मोड़ मिलने पर उनकी परिणति व्यवस्थित और कल्याणकारी प्रवृत्तियों में किस तरह हुई, इसका उत्तम उदाहरण इन परिषदों में मिला । गणिकाओं की पतितावस्था नष्ट हुई, यह उनके लिए तो एक महान प्रसंग था ही, पर इससे भी महान बात यह हुई कि इस सफलता से पूरी मानवजाति की प्रगति की आशा और उसके भविष्य के प्रति श्रद्धा जागृत हुई ।

इस प्रकार की परिषद् का प्रथम अधिवेशन सन् १९३१ में मॉस्को में हुआ । उस समय तक रूस की अधिकांश गणिकाएँ पतिता न रह कर स्वाभिमानी और श्रमजीवी नागरिक स्त्रियाँ बन गई थीं । रूस के आरोग्यधामों में रोगमुक्त होकर एवं वहां की बौद्धिक और मानसिक विकास की तालीम पाकर ये स्त्रियाँ स्वाश्रयी बन चुकी थीं और समाजजीवन में अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो रही थीं । पूर्वाश्रम की इन गणिकाओं को एकत्रित करने की योजना मॉस्को-आरोग्यधाम के संचालकों ने बनायी । लज्जास्पद गणिकाजीवन छोड़कर राष्ट्रोपयोगी श्रमजीवन को स्वीकार करनेवाली स्त्रियों को एकत्रित करके उनके विचारों और अनुभवों का विश्लेषण करना; उनकी कुछ कठिनाइयाँ हों, तो उन्हें दूर करना; सुख सुविधा के अधिकाधिक साधन उनके लिए उपलब्ध करना; और विचार-विनिमय द्वारा इस योजना की तब तक की फलनिष्पत्ति और भविष्य के लिए मार्गदर्शन की चर्चा करना संचालकों के मुख्य उद्देश्य थे । आरोग्यधामों की सूचियाँ यह बता रही थीं कि पूर्वाश्रम की असंख्य गणिकाएँ गणिकावृत्ति छोड़ कर समाजोपयोगी काम धंधों में लग गई थीं ।

इन तमाम युवतियों को वैयक्तिक निमंत्रणपत्र भेजे गये आर जिन कारखानों में वे काम करती थीं, उनके व्यवस्थापकों से इन स्त्रियों को परिषद में भाग लेने के लिए कुछ दिनों की छुट्टी देने की प्रार्थना की गई । ३१ अक्टूबर सन् १९३१ को, दोपहर बाद का समय परिषद् के लिए निश्चित हुआ । उस दिन भीषण आँधी चल रही थी और प्रलयंकारी मेघ मानो आज ही बरस कर रहेंगे ऐसी बारिश हो रही थी । कार्यवाहों को चिंता हुई कि इस हालत में शायद ही कोई स्त्री उपस्थिति रहेगी । परंतु उनकी आशंका गलत सिद्ध हुई । कार्यारंभ होने से पहले ही सब कुरसियाँ भर गईं और अनेक स्त्रियों को मंडप के दोनों ओर और बीच के मार्ग में खड़ा रहना पड़ा । प्रवेश प्राप्त करने के लिए उत्सुक स्त्रियों के झुंड के झुंड सभामंडप के बाहर भी आतुरता से राह देख रहे थे । इक्कादुक्का पुरुष भी उपस्थित थे । पूर्वाश्रम की गणिकाओं से विवाह करने वाले पुरुषों को भी उनकी पत्नियों के साथ आमंत्रित किया गया था ।

परिषद् के आरंभ में इन्हीं युवतियों में से कुछ ने वाद्यसंगीत का मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत किया । उपस्थित युवतियों के मुख उत्साह, आनंद और आत्मसम्मान की दीप्ति से चमक रहे थे । पूरा सभागार लाल रंग की झंडियों से सजाया गया था । पतितावस्था-विरोधी सूत्र चारों ओर लिखे हुए थे । लेनिन और स्टॅलिन के बड़े बड़े चित्र अनेक जगह लगे हुए थे और हँसिया-हथौड़ा से अंकित राष्ट्रध्वज जगह-जगह फहरा रहे थे । पूरे वातावरण से नवजीवन का आनंद और उत्साह टपक रहा था । परिषद् में बच्चों की उपस्थिति बिलकुल नहीं थी । अन्य देशों में अत्यंत घृण्य, तिरस्करणीय और भयावह मानी जाने वाली स्त्रियों का यह सम्मेलन था । सभी जानते थे कि इनमें की प्रत्येक स्त्री पूर्वाश्रम में गणिकावृत्ति कर चुकी है; परंतु किसी को किसी के प्रति तिरस्कार नहीं था । अब तो वे राष्ट्र की उपयोगी नागरिक थीं और समाज के श्रमजीवन में उनका निश्चित स्थान था । पुनर्वासन के पिछले कुछ वर्षों में ही इनमें की कई युवतियों ने श्लाघनीय प्रगति की थी और स्पृहणीय यश-संपादन किया था ।

घंटी बजते ही सर्वत्र शांति फैल गई । स्वागताध्यक्ष का भाषण हो चुकने पर मॉस्को आरोग्यधाम के संचालक डाक्टर डॅनी शॅस्की ने परिषद् का अध्यक्षस्थान ग्रहण किया । इनके प्रति उपस्थित समुदाय की प्रत्येक स्त्री के मन में गहरी श्रद्धा और विश्वास था । अध्यक्ष महोदय ने वैयक्तिक रूप से किसी का नाम लिए बिना, आरोग्यधाम से निकलकर समाज में स्थिर हो चुकनेवाली गणिकाओं की स्थिति की समालोचना की । आरोग्यधाम के सुधार विभाग के विशेषज्ञों ने समाज में स्थिर होने वाली प्रत्येक स्त्री की गतिविधि का सूक्ष्म अवलोकन कर के उसका ब्योरा दर्ज कर रखा था । अध्यक्ष महोदय ने इसी आधार पर इन स्त्रियों के दो विभाग किये । एक को 'पूर्णतः संतोष प्रद' और दूसरे को 'कम संतोषप्रद' नाम दिया । इन नामों से ही उनका आशय स्पष्ट हो जाता है । अन्य संबंधित बातों का भी उल्लेख हुआ । सब से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह स्थापित हुआ कि पूर्ण सफलता से पुनर्वासन हो सकने वाले 'संतोषप्रद' विभाग की ७५ प्रतिशत से भी अधिक गणिकाएँ उस समय २५ वर्ष या इससे कम उम्र की थीं ! आरोग्यधामों से बाहर निकलने वाली स्त्रियों में से केवल दस प्रतिशत स्त्रियाँ जीवन में स्थिर नहीं हो सकी थीं । बाकी सब किसी न किसी उद्योग धंधे में लग गई थीं और अच्छी रोज़ी कमाने लगी थीं और सिर्फ चार को चोरी करने के जुर्म में कारखानों से निकाल दिया गया था ।

एक और निराशाजनक बात यह दिखाई दी कि कारखानों में अत्यंत संतोषप्रद काम करनेवाली इन युवतियों में से अधिकांश का घरेलू जीवन उतना अच्छा नहीं था । वे मद्यालयों में जाती थीं और पुरुषों से संपर्क भी रखती थीं । अध्यक्ष महोदय ने वैयक्तिक रूप से किसी का नाम नहीं लिया और इस परिस्थिति के लिए पूर्णतः इन युवतियों को ही दोषी मानने के बजाय उन्होंने उनके गंदे, संकीर्ण, सुविधाहीन और दोषपूर्ण रचना वाले आवासस्थानों को भी अंशतः जिम्मेदार माना । साथ ही उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि सरकार की भवन निर्माण की योजना ज्यों ज्यों कार्यान्वित होती जायगी त्यों त्यों अधिकाधिक स्त्रियों को

सुख सुविधा युक्त आवासस्थान मिलने लगेंगे और यह शिकायत दूर हो जायगी । गंदे, सीलभरे, अँधेरे, सुविधाहीन और पर्याप्त आराम या एकांत न दे सकनेवाले निवास-स्थान जीवन को कितना कटु बना देते हैं, इसका अनुभव तो उन्हीं को होता है जिन्हें इस प्रकार के स्थानों में रहना पड़ता है । यह कटुता जीवन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर सकती हैं । श्रमजीवियों के लिए झोंपड़ियाँ या कैदियों की कोठरियों जैसी बस्तियाँ बनवाकर अपने लिए राजप्रासाद जैसे विशाल बंगले बनवाने वाले पूंजीपति पूंजीवादी देशों में फैली हुई अनेक विकृतियों के लिए जिम्मेदार हैं, इसमें कोई संदेह नहीं ।

इसके बाद अध्यक्ष महाशय ने इन स्त्रियों-के सुकृत्यों और यशसंपादन के प्रसंगों का वर्णन आरंभ किया । यह चित्र इतना लुभावना रहा कि पूरी सभा में जीवन साफल्य और कृतज्ञता का उत्साहपूर्ण वातावरण छा गया और इन स्त्रियों की आरोग्यधाम के प्रति ममता और भी बढ़ गई । अध्यक्ष का व्याख्यान समाप्त होने के बाद सामान्य चर्चा हुई जिसमें कई युवतियों ने भाग लिया । चोरी करनेवाली स्त्रियों के प्रति तीव्र घृणा प्रदर्शित की गई और उनके नाम प्रकट करके उन्हें लज्जित करने का प्रस्ताव किया गया । घर में दुर्व्यवहार करने वाली युवतियों को एक बार चेतावनी देने की, दोबारा अपराध करने पर उनकी भर्त्सना करने की और इसके बाद भी अपना चाल चलन न सुधारने पर उन्हें सज़ा देने की सूचना भी मंजूर हुई । परंतु मुख्य चर्चा तो दो विषयों पर हुई । (१) निवास स्थानों की कठिनाई और (२) आरोग्यधामों में रहने से लगने वाली कलंक की छाप ।

इनमें से निवास की समस्या का हल विशेष कठिन नहीं था । ज्यों ज्यों नये आवासस्थान बनते जायँ, त्यों त्यों यह कठिनाई कम होने वाली थी । परंतु दूसरा प्रश्न विकट था । कारखानों में, समाज में, पाठशालाओं में और गली-मोहल्लों में इन स्त्रियों की ओर उंगलियाँ उठती थीं जिससे उनकी प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती थी । दूसरों के जितना और संतोषप्रद काम करने वाली किसी युवती की ओर इशारा करके बार बार यह कहा जाय कि किसी ज़माने में वह गणिकावृत्ति कर चुकी है, और यौन रोगों के उपचार के लिए उसे अस्पताल में रहना पड़ा था, तो इससे उसका आत्मसम्मान आहत हो, यह स्वाभाविक है । इसका हल भी इन्हीं में की कुछ युवतियों ने सुझाया । उनका कहना था: "हमें आरोग्यधाम में रहना पड़ा है, इस बात को छिपाने की क्या आवश्यकता है ? इस में शर्म की क्या बात है ? लोगों का ध्यान हमारी ओर आकर्षित होता है तो हुआ करे । नये समाज में तो इससे हमें सहानुभूति ही मिलेगी । अपमान या मानभंग की भावना भी शुरू शुरू में थोड़ दिन ही रहती है । हमें हमारे गत जीवन से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं । यह सही है कि हमें गलियों में भटक कर वेश्यावृत्ति करनी पड़ी थी; और इसके लिए जिस हद तक हम जिम्मेदार रही हों, उस हद तक हमारा दोष भी हमें मंजूर है । परंतु उस जीवन में हमने जो कष्ट उठाये हैं, उन्हें भी कोई नहीं भूलेगा । हम स्वस्थ होकर आरोग्यधाम से बाहर निकलीं, उसी दिन गणिकाजीवन के साथ हमारा हिसाब चुकता हो गया । उसका आज भी बारबार उल्लेख होता हो, तो हुआ करे । इससे तो सुननेवालों की सहानुभूति ही आकर्षित होगी, और समाज के हाथों हमने क्या क्या सहन किया है इसकी उन्हें जानकारी होगी । अतः इससे लज्जित होने की कोई आवश्यकता नहीं ।"

अधिकांश युवतियों की यही राय थी । जिन युवतियों के पति उपस्थित थे, उन्होंने स्पष्ट रूप से यही घोषणा की कि उन्होंने इन स्त्रियों का भूतकाल जानते-बूझते हुए उनसे विवाह किये हैं । उनके मतानुसार गतकाल की भयानक परिस्थितियों के लिए इन स्त्रियों को जिम्मेदार नहीं माना जा सकता । गणिकावृत्ति पुरानी ज़ारशाही और सामंतशाही की विरासत थी जिसके निवारण की जिम्मेदारी नये समाज पर है । इस के बाद सभा में कई स्त्रियों के वैयक्तिक अनुभवों का वर्णन, और विचारों का आदान प्रदान हुआ । महत्वपूर्ण प्रस्ताव पहले ही संमत हो चुके थे । अतः संगीत, नाटक आदि कार्यक्रम के बाद परिषद् का कार्य समाप्त हुआ । इसके बाद इस परिषद् के कई अधिवेशन रूस के विभिन्न शहरों में हो चुके हैं ।

७

फलनिष्पत्ति

नूतन रूस के इन प्रयोगों से क्या गणिकावृत्ति का निर्मूलन संभव है ? अन्य देशों की परिस्थितियाँ रूस से भिन्न हैं, अतः यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है । वर्तमान रूस में गणिकाओं पर निगरानी रखने की, उनकी गणना करने की, या उन्हें परवानें देने की पद्धति प्रचलित नहीं है । अब तो केवल सामाजिक या आरोग्यधाम जैसी संस्थाओं के अधिकारी ही रोग-प्रतिबंध और उपचार की मर्यादित दृष्टि से गणिकाओं का लेखाजोखा रखते हैं । इन स्रोतों से पूरे देश की सही स्थिति का अंदाज़ा लगना मुश्किल है । रूस में अब भी कितनी स्त्रियाँ गणिकावृत्ति मे गुज़र करती हैं, यह कहना मुश्किल है । निश्चित रूप से केवल एक बात कही जा सकता है कि क्रांतिपूर्व रूस में गणिकाओं की जितनी संख्या थी उसकी तुलना में वर्तमान संख्या नगण्य है ।

यौन रोगों की चिकित्सा करने वाले डाक्टरों और समाजसेवकों ने मिल कर वैयक्तिक तौर पर मॉस्को और लेनिनग्रॉड की गणिकाओं की गणना करवाई थी । इससे मालूम हुआ कि इन दोनों शहरों की वर्तमान गणिकासंख्या तीन हजार से अधिक नहीं है; जबकि ज़ार-युग में —सन् १९१३ के आसपास —अकेले सेंटपींटर्सबर्ग (लेनिनग्रॅड) में चालीस हजार और मॉस्को में बीस हजार स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती थीं । अन्य वैयक्तिक जाँचें भी इसी बात की पुष्टि करती हैं । सन् १९१४ में यौन रोगों से पीड़ित नागरिकों में से साठ प्रतिशत लोगों को रोगों का संसर्ग वेश्यागमन से होता था जब कि क्रांति के कुछ वर्ष बाद यह प्रमाण आधा (लगभग ३१ प्रतिशत) हो गया था । सन् १९२४ तक आते आते वेश्यागमन से यौन रोगों का संसर्ग प्राप्त करनेवालों की संख्या १९ प्रतिशत और सन् १९३० में केवल नौ प्रतिशत रह गई थी । ये संख्याएँ मॉस्को के यौन रोग चिकित्सालय की हैं । छोटे शहरों में गणिका समागमजन्य रोग संसर्ग इस से भी कम पाया जाता है । सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार मॉस्को में ४०० स्त्रियाँ उस समय तक वेश्यावृत्ति से गुज़ारा करती थीं, जबकि सन् १९२८ में इनकी संख्या तीन हजार थी । ट्यूला नामक शहर में इन्हीं वर्षों के दरमियान गणिकाओं की संख्या ५०० से घट कर सिफ २४ रह गई थी । उपचार के लिए आने वाले रोगियों की संख्या कम हो जाना वेश्यावृत्ति कम होने का स्पष्ट और विश्वसनीय प्रमाण है । रूस में सन् १९३० के बाद के वर्षों में रोगियों के अभाव में कई यौन रोग-चिकित्सालय बंद कर देने पड़े थे ।

गणिकावृत्ति के मूल कारणों में साम्यवादी विचारधारा भी दारिद्र्य और बेरोज़गारी को ही अग्रस्थान देती है । स्त्री को उदर निर्वाह का अन्य साधन न मिलने पर ही वह गणिकावृत्ति में प्रवृत्त होती है । बेरोज़गारी का जड़मूल से नाश करना आसान बात नहीं है । रूस में श्रमिकों के हाथ में शासन की बागडोर आने पर भी प्रजा के हर स्त्री-पुरुष के लिए अनुकूल और योग्य काम धंधा तुरंत उपलब्ध करना बड़ा मुश्किल और जटिल काम था । इस विषय में प्रगति क्रमशः ही होती है और पूरी अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन-व्यवस्था को योजनाबद्ध करने के बाद भी ईप्सित परिणाम निकलने में वर्षों का समय लग जाता है । रूस ने राष्ट्र के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का श्रम करने का और काम मांगने का अधिकार मान्य किया और इस ध्येय को प्राप्त करने की दिशा में उपाय योजना भी तुरंत हुई । इससे अधिकाधिक स्त्रियों को रोज़ी मिलने लगी और गणिकावृत्ति का मूल कारण ही कमज़ोर हो गया । परंतु बेकारी पूर्णतः नष्ट नहीं हुई । क्रांति होने पर, दूसरे दिन ही देश में सुव्यवस्था स्थापित हो जाती हो और तीसरे दिन से कारखाने शुरू हो कर सब को रोज़ी-रोटी मिल जाती हो, ऐसा नहीं होता । यह होना संभव भी नहीं । क्रांति के बाद कुछ समय तक तो क्रांतिविरोधी शक्तियाँ उसके मार्ग में रोड़े अटकाने का सुकार्य भी करती रहती हैं । अतः श्रमिकों का काम करने का अधिकार मान्य हो जाने पर भी अनेक लोग कुछ समय तक बेरोज़गार रहें, यह संभव है । स्त्रियों के संबंध में इसकी संभावना और भी अधिक होती है ।

परंतु कभी कभी बेरोज़गारी बनी रहने पर भी गणिकावृत्ति का प्रचलन कम होता देखा गया है । ऐसे मौकों पर दारिद्र्य या बेकारी को ही गणिकावृत्ति का एकमात्र कारण मान लेने से पहले कई बार विचार करना पड़ता है । बेरोज़गारी और गणिकावृत्ति के बीच का संबंध अधिक स्पष्टता से समझने के लिए रूस में एक हजार बेरोज़गार स्त्रियों से केवल दो प्रश्न पूछे गये । (१) वह कब से बेरोज़गार है और (२) इस हालत में उसे गणिकावृत्ति करनी पड़ती है या नहीं । इनमें से पहले प्रश्न के उत्तरों से तो यह मालूम हुआ कि अधिकांश स्त्रियाँ छः मास से लगाकर दो वर्ष तक बेरोज़गार रही हैं । परंतु दूसरे प्रश्न के उत्तर विचारणीय हैं । अधिकांश स्त्रियों ने स्पष्ट रूप से यह लिखा था कि बेरोज़गार होने पर भी उन्हें देह विक्रय करने की जरूरत नहीं पड़ी । तीस स्त्रियों को अभी नहीं, परंतु भविष्य में गणिकावृत्ति करनी पड़ेगी ऐसी आशंका थी । पंद्रह स्त्रियों के उत्तरों से मालूम हुआ कि वे वेश्यावृत्ति के दरवाज़े पर खड़ी हैं; और केवल एक स्त्री ने क़बूल किया कि उसे गणिकावृत्ति करनी पड़ रही है । परंतु सब से अधिक दिलचस्प उत्तर तो उन छब्बीस स्त्रियों के थे जो इस प्रश्न से ही झल्ला उठी थीं । इनमें की एक ने लिखा था कि, "गणिकावृत्ति करने का मौका आयें, उससे पहले ही मैं कनपटी पर गोली मार कर मरना पसंद करूँगी ।" दूसरी ने लिखा कि, "देह विक्रय करने की अपेक्षा मैं भूखी मर जाना अधिक पसंद करूँगी ।" तीसरी ने क्रोधित होकर लिखा, "श्रमजीवी स्त्रियों के शरीर अब क्रय-विक्रय की चीज़ नहीं रहे ।" और चौथी ने विश्वास दिलाया कि, "स्वतंत्र देश में गणिकावृत्ति का कोई स्थान नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार की प्रश्नावलियाँ अलग अलग समय अलग-अलग प्रदेशों में प्रसृत की गईं; परंतु उनके उत्तर भी गणिकावृत्ति विरोधी प्रवृत्ति का समर्थन करने वाले ही थे । यह तो हुई शहरों की बात । ग्राम्य विभागों का चित्र भी इससे अधिक भिन्न नहीं है । स्त्रियों को देह विक्रय करने की आवश्यकता ही न रहे ऐसी योजनाएँ ग्रामीण विभागों में भी गढ़ी गई हैं । सरकारी कृषिक्षेत्रों में और सामुदायिक या सहकारी कृषि योजना के खेतों में स्त्रियों को अधिकाधिक स्थान दिया जाता है । श्रमजीवन का सक्रिय संपर्क होते ही स्त्रियाँ उसमें घुलमिल जाती हैं, और पतितावस्था के विचार भी उनके मन में से निकल जाते हैं ।

इसके उपरांत, रूस के नये कानूनों की रचना भी इस प्रकार से की गई है कि गणिकाजीवन की जड़ ही कट जाती है । श्रमजीवन में स्त्रियों को संपूर्ण संरक्षण दिया जाता है । बाल बच्चों वाली निराधार स्त्री को किसी भी हालत में नौकरी से नहीं हटाया जा सकता। औरस और अनौरस, दोनों प्रकार के बालकों को एक समान सुविधाएँ मिलती हैं । अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर गर्भपात को वैध मानने का कानून भी स्वीकृत हो चुका है । माताओं और बालकों को सहायता पहुँचाने वाली अनेक संस्थाएँ लगन से काम कर रही हैं । त्यक्ता या एकाकिनी स्त्रियों के लिए आश्रयस्थानों की स्थापना की गई है । स्त्रियों के जीवन की किसी भी कठिनाई में उनका मार्गदर्शन करने वाले और उन्हें सहायता पहुँचाने वाले अनेक केन्द्रों की स्थापना भी की गई है । पाठशालाओं में लड़के-लड़कियों की सहशिक्षा का प्रबंध होता है । इससे युवक-युवतियों में एक दूसरे के प्रति होने वाली स्वाभाविक कुतूहलवृत्ति का शमन हो कर रहस्यप्रेरित वासना जागृत ही नहीं होती । श्रम करने की शिक्षा स्त्री-पुरुष को समान रूप से दी जाती है । शिक्षा की सर्वतोपरि आवश्यकता स्वीकृत हो चुकी है और प्रत्येक युवक-युवती को किसी न किसी जीवनोपयोगी काम धंधे की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है । कारखानों में, पाठशालाओं में, समाज में, सब जगह स्त्रियों का समान अधिकार और समान उत्तरदायित्व मान लिया गया है । बड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ स्त्रियों पर सौंपी जाती हैं ताकि उन्हें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हो । स्त्रियाँ इन जिम्मेदारियों को बड़ी लगन और मेहनत से पूरी करती हैं ।

स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों के विषय में भी नये विचारों का प्रवर्तन होने के कारण विकार या विलास को प्रोत्साहन नहीं मिलता । स्त्री-पुरुष का यौन संबंध एक अतिसाधारण, स्वस्थ और विकाररहित शारीरिक क्रिया होने की मान्यता ने इन संबंधों के प्रति एक प्रकार की लापरवाही की भावना उत्पन्न कर दी

है । स्त्री देह से लिपटे हुए रहस्य के आवरण तो पहले ही दूर हो चुके थे; अत: केवल भोग विलास के लिए स्त्री की मांग अत्यंत कम हो गई है । केवल विषयवासना पर आधारित संबंधों के प्रति तिरस्कार और अरुचि ही व्यक्त की जाती है ।

शिक्षा का व्यापक प्रचार, बौद्धिक विकास और सांस्कृतिक वातावरण ने भी गणिकावृत्ति विरोधी आंदोलन को महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाई है । व्याख्यान, वाद विवाद, नृत्य और नाटक के माध्यम से भी गणिकाजीवन की हीनता प्रजा मानस पर अंकित की जाती है । इससे स्त्रियों के विचार परिष्कृत होते जाते हैं और श्रमजीवियों के राज्य में गणिकावृत्ति को निंद्य, लज्जास्पद और असह्य मानने की भावना का विकास होता जाता है । समाजकल्याणकारी संस्थाएँ अनुभवहीन, अनजान और भूली भटकी स्त्रियों का विशेष ध्यान रखती हैं । ऐसी स्त्रियों को तुरंत सुरक्षित आश्रयस्थानों पर पहुँचा दिया जाता है और आवश्यकतानुसार या तो उन्हें उनके गाँव वापस भेज दिया जाता है, या किसी काम धंधे की तालीम देकर रोज़गार से लगा दिया जाता है । इस योजना के अंतर्गत 'महिला रक्षक दल' नामक स्वयं सेविकाओं के दस्ते काम करने लगे हैं । ये स्वयं सेविकाएँ किसी भी शंकास्पद स्थान की तलाशी ले सकती हैं । गणिकावृत्ति का पोषण करने वाले अड्डे, अँधेरी गलियाँ, एकांत निर्जन स्थान और मोटरगाड़ियों पर इनकी कड़ी निगरानी रहती है । विषयतृप्ति के लिए इस प्रकार के स्थान ही अधिक अनुकूल होते हैं । इन्हीं स्थानों में वेश्यावृत्ति पनपती है और यहीं से रोगों का प्रसार होता है । अत: गणिकावृत्ति के निर्मूलन में ये रक्षक दल अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं । यह हम देख चुके हैं कि गणिकावृत्ति दो प्रकार की स्त्रियों से अधिक व्यापक होती है । एक तो भोगविलास भरा जीवन चाहने वाली और काम से जी चुरानेवाली आरामपसंद स्त्रियों में, और दूसरे, दूषित भावरचनां वाली अतिकामुक स्त्रियों में । इस प्रकार की स्त्रियाँ प्राय: विदेशी धनिकों की चहलपहल वाले होटलों, नृत्यागारों या मद्यालयों के चक्कर काटती रहती हैं । कुछ इन्हीं स्थानों में नौकरी कर लेती हैं । अत: इन स्थानों पर भी रक्षादल की स्वयंसेविकाओं की नज़र अधिक रहती हैं ।

प्रकट रूप से भर्त्सना करने की प्रथा का भी रूस में उपयोग किया गया है । यौन अपराधों के लिए न्यायालय से सज़ा पाने वालों का नाम ठाम के साथ खूब विज्ञापन किया जाता है । गणिकागमन करने वाले पुरुष की शर्मोहया जिस प्रमाण में जाग्रत हो, उसी प्रमाण में इस उपाय का प्रभाव पड़ सकता है । कुछ पुरुषों की धृष्टता और निपट निर्लज्जता इस प्रकार की भर्त्सना को घोल कर पी जाय, इसकी हमेशा संभावना रहती है । अत: केवल इसी उपाय पर आधारित न रह कर वेश्यागामी पुरुषों के लिए कारावास और जुरमाने की सज़ाएँ भी इसके साथ जोड़ दी गई हैं ।

सोवियत समाज ने कुछ सूत्रों को अपने व्यवहार की बुनियाद बना लिया है । "स्त्री देह की मांग जब तक नष्ट नहीं होगी, तब तक गणिकावृत्ति का अंत नहीं होगा ।" "गणिकावृत्ति स्त्री का पतन करती है और गणिकागमन पुरुष का अध:पात करता है ।" "गणिकागमन करनेवाले पुरुष का हमारे समाज में कोई स्थान नहीं ।" आदि नारों ने वेश्यागामी पुरुष का रूसी समाज में रहना मुश्किल कर दिया है । यह उपाय अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है ।

एक ओर गणिकालय सरकारी और सामाजिक प्रयत्नों द्वारा बंद हो रहे हैं, तो दूसरी ओर मकानों की तंगी ने भी उनका अस्तित्व असंभव कर दिया है । क्रांतिपूर्व रूस में 'टर्किश बाथ' नामक स्नानागार वेश्यावृत्ति के माने हुए अड्डे थे । सोवियत सरकार ने उन्हें भी बंद करवा दिया है । गणिकाओं के दलालों के विरुद्ध तो रूसी कानून ने अत्यंत कठोर नियम बनाये हैं । हम देख चुके हैं कि दलाली करनेवाले पुरुष या कुट्टनी को तीन वर्ष के कारावास और संपत्ति की ज़ब्ती का दंड दिया जाता है । परंतु अपराध का स्वरूप अधिक भयावह हो, तो विशिष्ट प्रसंगों पर इस अपराध के लिए देश निकाले तक की सज़ा देने की व्यवस्था कानून में है ।

इस प्रकार नूतन रूस में गणिकावृत्ति को चारों ओर से घेर कर नष्ट करने की कठोर उपाय योजना हो रही है । यह बात नहीं कि यह काम सरल है, या इसमें कठिनाइयाँ नहीं आई होंगी । परंतु इन कठिनाइयों का स्वीकार खुले दिल से कर लिया जाता है और उनसे बचने के मार्ग ढूंढे जाते हैं । निम्नलिखित कठिनाइयों का मुकाबला तो अकसर करना पड़ता है: —

१. नयी समाजरचना में स्त्री पुरुष का संपर्क अत्यंत सरल, सहज, और बंधनमुक्त हो गया है । इस अतिसहचार की परिणति गणिकावृत्ति में होने की संभावना रहती है ।
२. काम धंधा तलाश करनेवाले पुरुष काम न मिलने तक बेकार रहते हैं और व्यर्थ इधर-उधर घूमते रहते हैं । ये पुरुष यदि साम्यवाद के रंग में पूर्णतः रंगे न हों, तो इनकी स्त्री सहवास की इच्छा गणिकावृत्ति को जन्म दे सकती है ।
३. विदेशी राजदूत, उनके दफतरों में काम करनेवाले विदेशी कर्मचारी, विदेशी पत्रकार, विद्यार्थी, व्यापारी और पर्यटक सोवियत विचार ारा से प्रभावित हों, यह ज़रूरी नहीं है । अन्य प्रकार की समाजरचना वाले देशों से आने वाले ये लोग स्त्री की मांग को सदा जीवित रखते हैं । अतः इनके सहारे गणिकावृत्ति के पनपने की संभावना रहती है ।
४. किसी अन्य व्यवसाय के साथ आनु ंगिक रूप से की जाने वाली गणिकावृत्ति का नियंत्रण सभी जगह कठिन होता है । फिर, ये युवतियाँ देहोपभोग की कीमत सदा नक़दी के रूप में ही नहीं लेतीं । इनका मेहनताना अकसर भेंट-सौगात का रूप धारण करता है । स्त्री की मरज़ी नाटक का टिकट, मोजे की जोड़ी या इत्र की शीशी देकर भी खरीदी जा सकती है । धन के आदान प्रदान के बिना किया जाने वाला यौन संबंध अपराध की कक्षा में नहीं आता और इन दायरे की सीमारेखा खींचना टेढ़ी खीर है । अतः कारखानों में श्रम करने वाली स्त्रियों को फुरसत के समय गणिकावृत्ति का उपव्यवसाय करने की मरज़ी हो, तो उन्हें कैसे रोका जा सकता है ?
५. रूस में शराब बंदी नहीं है । मद्य का शौक रूसियों में अत्यंत व्यापकता से पाया जाता है । शराब कामोत्तेजक नशा है । शराब के नशे में चूर पुरुष की स्त्री-सहवास की कामना अत्यंत उत्कट होती है । ऐसे व्यसनी पुरुष स्त्री की मांग उत्पन्न करके गणिकावृत्ति को सदा जीवित रखते हैं ।
६. मकानों की तंगी भी गणिकावस्था की पोषक है । आवास स्थानों की कमी के कारण अनेक स्त्री-पुरुषों के तंग जगहों में एकसाथ रहना पड़ता है । स्त्री-पुरुष का शारीरिक सान्निध्य कामवासना को भड़काने का अत्यंत प्रभावी साधन है । नीतिज्ञों ने जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के एकांत मिलन को कामवासना का उद्दीपक माना है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष का अति-सामीप्य भी विचार प्रेरक है । स्वातंत्र्य और समानता के कारण संकोच का परंपरागत परदा स्त्री-पुरुष के बीच रहा ही नहीं है । इस हालत में मानवसुलभ दुर्बलता की परिणति वासनातृप्ति में हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

इन सब कठिनाइयों की ओर रूस के समाज-विधायकों का पूरा ध्यान है । किसी भी समाज को कई कठिनाइयाँ गतकाल की विरासत के [illegible] में मिलती हैं और शताब्दियों के पूर्वेतिहास को पोंछ डालना एकाध वर्ष या एकाध दशाब्दी का काम नहीं है । फिर, अपने समाजविधान में चाहे जैसी क्रांति कर लेने पर भी बाहर के देशों और प्रजाओं का संपर्क पूर्ण रूप से टाल सकना किसी भी देश के लिए संभव नहीं । यह और फैलने में कुछ समय अवश्य लगता है । क्रान्ति ने उत्पन्न की हुई आशा-आकांक्षाएँ और क्रान्ति के तुरंत बाद के युग में उपलब्ध सुविधाओं के बीच की खाई भी बहुत चौड़ी होती है । इन दोनों का मेल बैठने में दशाब्दियों का समय और प्रजा की दो एक पीढ़ियों का परिश्रम खर्च होता है ; और संक्रमणकाल मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । रूस भी न नियमों का अपवाद नहीं है । अत : क्रांतिपूर्व युग की विरासत

के रूप में गणिकावृत्ति अंशत : जीवित रह गई है क्रांतियुग की अव्यवस्थाओं ने भी कुछ हद तक गणिकावृत्ति का पोषण किया है । अन्य देशों के संसर्ग में रूस पूर्णत : मुक्त नहीं रह सका है । यह संगदोष भी किसी न किसी रूप में प्रकट होता ही है । इसके उपरांत स्त्री-पुरुष के समान अधिकार, दोनों का एक साथ काम करना, एक दूसरे से मिलने-जुलने के अवसर, यौन संबंध के प्रति उदार दृष्टिकोण, विवाह-बंधन का शिथिल स्वरूप आदि तत्व भी स्त्री-पुरुष के संबंध को घनिष्ठ होने का मौका देकर गणिकावृत्ति को जीवित रखने में सहायक होते हैं ।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने पूरी मानव संस्कृति की बुनियाद को हिला दिया है । रूस को जर्मन सैनिक शक्ति के राक्षसी आक्रमण का मुकाबला सबसे अधिक करना पड़ा । यह सही है कि रूस के करारे प्रतिकार ने ही जर्मन सेनाओं की कमर तोड़ दी । परंतु युद्ध के लंबे वर्षों ने रूसी नवरचना के कार्यक्रम को छिन्न विच्छिन्न कर दिया और सामाजिक पुनर्विधान को कुछ वर्षों के लिए स्थगित कर दिया । रूस के गाँव, शहर, खेत कारखाने, सभा युद्ध की ज्वाला में जल कर राख हो गये । युद्धकाल में रूसी प्रजा की पूरी शक्ति विजयप्राप्ति में ही केन्द्रित हो गई थी । अनेक पराजयों और अनेक असफलताओं के बाद रूस ने जर्मनी पर विजय प्राप्त करने का शुभ दिन देखा । रूसी क्रांति की यह सबसे बड़ी सफलता और सबसे शानदार विजय थी । इन, परिस्थितियों में क्रांति की कुछ योजनाएँ अधूरी रह जायँ, या अनिश्चित काल के लिए ठेल दी जायँ तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये ।

युद्ध और गणिकावृत्ति का घनिष्ठ संबंध सिद्ध हो चुका है । हम देख चुके हैं कि युद्ध और अनेक दृष्टियों से हानिकारक होने के उपरांत गणिकावृत्ति का प्रसार करने में भी सहायक होता है । युद्ध में सत्य और नीति की बलि सब से पहले चढ़ती है । मनुष्यजाति को गणिकावृत्ति में निमग्न करने वाले कारणों में युद्ध से अधिक कारगर और कोई कारण नहीं । वर्तमान युद्ध समाप्त तो हो चुका है, परंतु उसका खुमार अभी बाकी है और संसार अभी तक उसके परिणामों से मुक्त नहीं हुआ है । युद्ध के कारण रूस में गणिकावृत्ति का पुनर्जन्म किस हद तक हुआ, इसका ब्योरा अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है । परंतु जो थोड़ी बहुत खबरें मिली हैं, उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि युद्ध ने रूस की नष्ट होती हुई गणिकावृत्ति में फिर से प्राण संचार किया है ।

अत: गणिकावृत्ति के विरुद्ध रूस के प्रयत्नों को पूरी सफलता मिली हैं, यह आज की तारीख तक तो नहीं कहा जा सकता । फिर भी क्रांति के बाद के परिवर्तन और प्रगति निश्चित रूप से सराहनीय हैं और संसार के अन्य देशों का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं । स्त्रियों की बेरोज़गारी और आश्रयहीनता गणिकावृत्ति का सबसे बड़ा कारण है यह सत्य क्रांति के नेताओं ने समझ लिया है । अन्य सामाजिक बुराइयों के साथ गणिकावृत्ति जैसी व्यापक विभीषिका का नाश करने का राजमार्ग उन्हें मिल गया है । स्त्रियों के समानाधिकार की स्वीकृति उनकी असहायता और निर्बलता की भावना को दूर करके उनमें आत्म श्रद्धा जगाती है । आर्थिक क्षेत्र में उनकी स्वाधीनतां ने गणिकावृत्ति की जड़ को ही काट दिया है । रोग का निदान हो चुका है, और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उसकी चिकित्सा हो कर उसका नाश होने में अब अधिक देर नहीं है ।

रूस के इन प्रयोगों से अन्य देशों को भी प्रेरणा मिल सकती है । परंतु इसके लिए सब से पहले पुराने दृष्टिकोण में परिवर्तन होना ज़रूरी है । पतिताओं को पापिनी नहीं बल्कि पतितावस्था को महापाप मानना चाहिये । यह भी समझ लेना चाहिये कि शताब्दियों पुरानी पाप ज्वालाओं में कभी कभी निर्दोष की बलि भी चढ़ जाती है । गणिकाओं को पूर्णत: परिस्थितियों का शिकार मान कर उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति होनी चाहिये । यौन रोगों के प्रति भी नया दृष्टिकोण अपनाना हितावह होगा । वेश्यावृत्ति यौन रोगों का प्रसार कर के पूरे समाज को रोगग्रस्त कर देती है । अत: और किसी कारण से नहीं, तो केवल समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से ही रोगियों की चिकित्सा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले कर गणिकावृत्ति का नाश करने के लिए पूरे समाज को कमर कस कर तैयार हो जाना चाहिये ।

रूस के प्रयोगों से यह भी सिद्ध होता है कि समाज में यौन अनाचार न फैलने देने का सबसे आसान और उत्तम उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को किसी न किसी काम में लगा देना चाहिये । उग्र काम वासना और उसकी बारंबार तृप्ति रोगी और असंतुलित मानस के लक्षण हैं । खेलकूद, व्यायाम,पर्यटन, कवायद, गिर्यारोहण, संगीत, नाटक, वैज्ञानिक अनुसंधान, आदि अनेक स्वस्थ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनमें दिलचस्पी लेकर फुरसत का समय व्यतीत करने से, बार बार जागृत होने वाली विषय वासना की ओर से ध्यान बँट जाता है, और समय जाते उसकी तीव्रता अपने आप कम हो जाती है । ब्रहमचर्य का पालन धार्मिक दृष्टि से आवश्यक हो या न हो, शारीरिक दृष्टि से तो अत्यंत हितकारी है ।

तीसरी ध्यान खींचने वाली बात कानून के क्षेत्र की है । वेश्यावृत्ति के लिए गणिकाओं के साथ साथ गणिकाओं की मांग पैदा करने वाले पुरुष को भी जिम्मेदार मानना अत्यंत जरूरी है । स्त्री देह खरीदने वाला पुरुष समाज में गुलामी को जीवित रखने का समाजद्रोही काम करता है । अतः उसे गणिका के जितना ही, या उससे अधिक दोषी मानना चाहिये ।

आराम, अवकाश और धन की बहुतायत वाला निठल्ला वर्ग भी समाज में से नष्ट हो जाना चाहिये । अत्यधिक आराम, निष्प्रयोजन अवकाश और बिना परिश्रम के प्राप्त की हुई संपत्ति इस वर्ग को समाज का नासूर बना देती है जिससे कल्पनातीत अनर्थों की परंपरा जन्म लेती है । धन के बल से अधिक धन कमानेवाले पूरे वर्ग को समाजोपयोगी और कल्याणकारी कार्यों में अनिवार्य रूप से लगा देना चाहिये ।

रूस का नव विधान ऐसे अनेक विचारों को जन्म देता है । रूस में भी गणिकावृत्ति का अब तक संपूर्ण निर्मूलन नहीं हुआ है । परंतु इसका मार्ग उसे मिल चुका है, और उस मार्ग पर यह देश विश्वासपूर्वक जुटा हुआ है । मानव-संस्कृति के साथ साथ जन्म लेने वाली देह विक्रय की प्रथा संस्कृति के विकास के साथ अधिकाधिक निष्ठुर और हृदयहीन होती गई है । वर्तमान युग में तो उसने अपनी विजय पताका बड़े गर्व से फहराई है । देह विक्रय एक भयानक अनर्थ है, यह तो मनुष्यजाति ने बहुत पहले ही मान्य कर लिया था; परंतु क्रांतिवादी विचारधारा पर आधारित प्रयत्न करने का साहस रूस ने ही किया; और इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है ।

जो प्रथा अनिष्ट है, उसका नाश होना ही चाहिये । पुरानी विचारधारा भी यही कहती है और क्रांतिवादी विचारसरणी भी इसी की घोषणा करती है । दोनों की उपाय योजना कुछ हद तक समान रही है और कहीं कहीं उसमें भिन्नता आ गई है । पूंजीवादी और साम्यवादी विचार धाराओं में इतना अधिक अंतर है कि गणिका-समस्या के हल संबंधी उनके उपायों में भिन्नता होना स्वाभाविक है । पूंजीवाद ने महत्त्वहीन माने हुए उपायों पर साम्यवाद में बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता हो, या पुरानी विचारधारा ने की ही चीच रहेगी, इस विषय में भी पुरानी दुनिया की श्रद्धा कुछ डगमगा गई थी । नूतन रूस ने इस श्रद्धा की फिर से ठोस बुनियाद पर स्थापना की है । क्रांतिवादी विचार धारा के गणिकावृत्ति संबंधी प्रयोग और उनके परिणाम इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं ।

कुछ डगमगा गई थी । नूतन रूस ने इस श्रद्धा की फिर से ठोस बुनियाद पर स्थापना की है । क्रांतिवादी विचारधारा के गणिकावृत्ति संबंधी प्रयोग और उनके परिणाम इस दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है ।







खण्ड ४

realpatidar.com

प्रथम परिच्छेद
सिंधुतट संस्कृति में गणिकावृत्ति
१
इस युग के अध्ययन की कठिनाइयाँ

प्राचीन भारत की गणिकावृत्ति का शास्त्रीय विवेचन करना कठिन काम है । कश्मीर से कन्याकुमारी और कराची सेकामरूप तक फैले हुए इस विशाल भूखंड के लिए एक देश की नहीं बल्कि एक महाद्वीप की संज्ञा अधिक उपयुक्त होगी । भौगोलिक दृष्टि से यह विशाल प्रदेश अनेक विभागों में बटा हुआ है । गिलगिट और हिमालय की हड्डियों को गला देने वाली सर्दी से लगाकर दक्षिण भारत की विषुववृत्तीय प्रदेशों के जैसी गरमी इस देश में पड़ती है । संसार के किसी देश में न होती हो इतनी बारिश असम के चेरापूंजी नामक स्थान में पड़ती है ; जब कि सिंध-राजस्थान के रेगिस्तान में या दक्षिण महाराष्ट्र के बीजापुर-शोलापुर प्रदेश में वर्षा के अभाव में अकाल का डर सदा बना रहता है । कस्तूरीमृग कश्मीर में ही मिलते हैं और बबर शेर केवल सौराष्ट्र के गिरनार जंगल में ही पाये जाते हैं । पर अशोक स्तंभ पर अंकित मुद्रा से लगाकर राजपूतों और सिखों के नामों द्वारा सिंह की लोकप्रियता पूरे भारत में आजतक अक्षुण्ण चली आ रही है । सुंदरबन के बंगाली बाघ डाँगवन के चीतों से बिलकुल भिन्न होते हैं । क्वेटा जैसे अंगूर नासिक-पूना में नहीं होते ओर दार्जिलिंग या नीलगिरि जैसी चाय गुजरात के समतल प्रदेश में नहीं उगती । इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न विभागों में बंटे हुए इस विशाल भूप्रदेश को किसी विशिष्ट प्रथा के अध्ययन के लिए प्रादेशिक विशिष्टताओं से ऊपर उठाकर एक इकाई बाँधना सरल काम नहीं ।

वाणी की विभिन्नता तो और भी स्पष्ट है । भाषाविज्ञान की दृष्टि से विंध्य से उत्तर के प्रदेश की भाषाएँ आर्य-भाषा परिवार की हैं जबकि महाराष्ट्र से दक्षिण के प्रदेश की भाषाएँ दविड़ समूह की आर्य-भाषाओं में भी बंगाल के निवासी गुजराती नहीं जानते और महाराष्ट्र में पंजाबी का समझा जाना मुश्किल है । दक्षिण भारत की भी यही स्थिति है । वहाँ की चार प्रमुख भाषाएँ तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम एक ही परिवार की होने पर भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं । अलबत्ता, यह सही है कि उत्तर के पूरे प्रदेश में हिंदी व्यापकता से बोली-समझी जाती है और उत्तर की प्राय: सभी भाषाओं का उद्गम संस्कृत और विभिन्न प्राकृतों से होने के कारण उनमें संस्कृत के तत्सम शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और तद्भव शब्दों में भी साम्य पाया जाता है । द्रविड़-परिवार की भाषाओं ने भी अपने भंडार को संस्कृत के शब्दों से समृद्ध बनाया है । अत: कुछ गहराई से अध्ययन करनेपर भाषाओं की अनेकता में भी एकात्मता के दर्शन हो सकते हैं । परंतु नित्य-व्यवहार की बोलचाल की भाषा, उच्चारण-पद्धति और लिपियों की विभिन्नता के कारण भेद बना ही रहता है ।

रहनसहन और वेशभूषा की विविधता भी उतनी ही व्यापक है । बंगाली बाबू को नंगे सिर घूमने में कोई आपत्ति नहीं, पर सौराष्ट्र-राजस्थान में फेंटा या साफा बाँधे बिना बाहर निकलना अशिष्टता का लक्षण माना जाता है । लखनऊ में माशे भर वजन की दुपल्ली टोपी मौजू लगती है, पर पूना के सभ्यसमाज में अंग्रेजों के हॅट से भी अधिक चौड़े मोहरे वाली भारी भरकम पगड़ी कुछ वर्ष पहले तक आवश्यक मानी जाती थी । जातिप्रथा के कारण उत्पन्न होनेवाले वैभिन्य का तो जिक्र न करना ही उचित है । प्राचीन युग के चारवर्ण तो आज लुप्तप्राय : हो गये हैं और उनका स्थान एक-एक वर्ण की सैकड़ों-हजारों जाति-उपजातियों ने ले लिया है ।



इसके उपरांत, भारतवर्ष और आर्यसंस्कृति का इतिहास इतने प्राचीन और इतने विस्तृत कालखंड में बिखरा हुआ है कि किसी युगविशेष की विशिष्टताओं का निर्धारण करने में मार्गदर्शक हो सकने वाली सामग्री कठिनाई से मिलती है । अधिक पुराने युगों की बात जाने दें, पर ईसवी सन् की पहली दो-तीन शताब्दियों की सांस्कृतिक या राजनीतिक परिस्थितियों का श्रृंखलाबद्ध इतिहास भी आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है । आर्य-संस्कृति की पुरानी कहानी को व्यवस्थत करने के अनेक प्रयत्न हो चुकने पर भी उस युग के इतिहास पर अनिश्चितता और संदिग्धता का कोहरा छाया रहा है । पुरातत्त्व की शोधों ने आर्य-इतिहास की अनेक रसमय संभावनाओं की झलक तो दिखाई, पर सुस्पष्टता की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई । ऋग्वेद का कालनिर्णय जैसे महत्त्वपूर्ण विषय में विद्वानों का मतभेद शताब्दियों का नहीं बल्कि सहस्राब्दियों का है और ऋग्वेद-काल को ईसवी सन् से १५०० वर्ष पूर्व से लगाकर ५००० वर्ष पूर्व तक कालखंड में कहीं भी रखा जा सकता है । भारतवर्ष में आर्यों का आगमन मध्य एशिया से हुआ या उत्तरी ध्रुवप्रदेश से, इस विषय में भी भारी मतभेद है । वे शायद विदेश से आये ही नहीं थे, बल्कि सप्तसिंधु के ही मूलनिवासी थे, ऐसी संभावना भी अब स्वीकृत होने लगी है ।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई ने किसी आर्यपूर्व सभ्यता की संभावना भी खड़ी की है । सिंधुतट की इस संस्कृति में और उसी युग की सुमेरिया-असीरिया-मॅसोपोटेमिया की सभ्यताओं में



अत्यधिक साम्य पाया गया है । सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ फादर हॅरास न मोहनजोदड़ों की लिपि कोपढ़ने का प्रयत्न किया है । इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली, पर भारत और रूमसागर के इर्दगिर्द के प्रदेशों की सभ्यताओं की समानता और इन प्रदेशों के बीच अति प्राचीन काल से चलने वाले संबंधों की संभावना कई विद्वानों द्वारा स्वीकृत हो चुकी है । पर सिंधुतट-सभ्यता युग और वैदिक युग के बीच कितना समय बीता, और इन दोनों संस्कृतियों का आपस में कितना और किस प्रकार का संबंध था, यह अबतक निश्चित नहीं हो सका है । अवेस्ता के 'अहुर' और वैदिक संस्कृति के 'असुर' का सबध असीरिया निवासियों से था, या ऋग्वेद में वर्णित असुरों की संस्कृति मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की ही संस्कृति थी इस विषय में भी कोई निर्णय नहीं हो सका है । सिंधुतट संस्कृति की उपलब्ध सामग्री एक ओर उसका संबंध वैदिक आर्यों के साथ जोड़ती है, तो दूसरी ओर, उससे ठीक विपरीत दिशा में, उसका सुमेरिया के अवशेषों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करती दिखाई देती है । शिवलिंग, नंदी, त्रिशूल, पृथ्वीमाता आदि अवशेष सिंधु-संस्कृति

को आर्य-संस्कृति के साथ ही अधिक स्पष्टता से जोड़ते हैं, और यह संभव है कि आर्य-संस्कृति ने ये सारे प्रतीक सिंधु-संस्कृति से ही लिये हों । वेदों में वर्णित असुरों की नगररचना मोहन जोदड़ों के स्थापत्य से मेल खाती है यद्यपि असुर-नगरों की सुप्रसिद्ध किलेबंदी के चिह्न सिंधु-संस्कृति के नगरों में अधिक नहीं मिलते । इन सारे विवादास्पद प्रश्नों की गहराई में न उतरते हुए अधिकांश विद्वानों की राय से सहमत होकर सिंधुतट-संस्कृति को अतिप्राचीन और वैदिक संस्कृति को उसके बाद की और बिलकुल भिन्न सभ्यता मान लें, तो भी न तो इनके कालविस्तार की व्याप्ति कम होती है, और न इनका स्वरूप ही स्पष्ट होता है । केवल मोहनजोदड़ों का ही उदाहरण लें, तो वहाँ के अवशेष एक के ऊपर एक, सात विभिन्न स्तरों पर मनुष्य-बस्ती का प्रमाण उपस्थित करते हैं । इन स्तरों को एक-एक करके बसने में और एक के बाद एक सिंधु की बाढ़ में निमग्न होकर मिट्टी में गड़ जाने में न मालूम कितनी शताब्दियों का समय लगा होगा ।

वैदिक संस्कृति में भी ऋक्, साम, यजुर, और अर्थवण के बीच में इतना अधिक समय बीता है कि प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उस समूचे युग के इतिहास का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन काम है । यद्यपि इसमें तो कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल से वर्तमान युग तक चले आने वाले वेदों के पठन-पाठन, उच्चारण की विशुद्धता और निरुक्त एवं सायण द्वारा स्थापित अर्थनिर्णय की असंदिग्धता के कारण वेदकाल से लगाकर आज तक आर्य संस्कृति की एक अक्षुण्ण परंपरा स्थापित की जा सकती है और वर्तमान हिंदू-संस्कृति एवं धर्म का संबंध वैदिक युग से जोड़ा जा सकता है; तथापि श्रुति और स्मृतियों के बीच का काल, स्मृतियों और पुराणों के बीच का समय, पुराणों और नाटक-महाकाव्यों के बीच का युग, बौद्ध, जैन और वैदिक हिंदुत्व के पुनरोत्थान के कालखंड, आर्यों और बौद्धों के दिगंतव्यापी धर्मप्रवर्तन और उपनिवेश-स्थापन के युग और यवन, शक, हूण आदि जातियों के आक्रमण एवं इन आक्रमणों के आर्यत्व के विशाल दायरे में समा लेने की प्रक्रिया की लंबी शताब्दियों का इतिहास इतना धूमिल, संदिग्ध और विवादास्पद रहा है कि उसके सहारे विकास या पतन की निश्चित रेखाएँ आँकना प्राय: संभव नहीं होता ।

और यह तो हुई भारतवर्ष की समग्र प्रजा के सामासिक इतिहास की बात । परंतु वेदों की पृष्ठभूमि पर भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों में भाषा और संस्कृति, कला और आचार विचार, एवं धर्म और दर्शन की इतनी विभिन्न प्रणालियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं, कि वर्तमान युग के भारत को समग्रता से समझने के लिए प्रांतों या प्रदेशों का अलग अलग विचार करने की आवश्यता महसूस होती है । प्रत्येक प्रदेश में वेदकाल से लगाकर अब तक संस्कृति और आचारविचार की इतनी विभिन्न परतें जम चुकी हैं कि उनका सही रूप निर्धारण करना आसान काम नहीं । प्रादेशिक या प्रांतीय विभिन्नताओं के साथ पूरे देश के इतिहास की अस्पष्टता का योग होने पर एक ऐसी उलझनभरी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि उसमें से किसी विशिष्ट संस्था का सही चित्रण या स्पष्ट इतिहास प्रस्तुत करना मुश्किल काम है । उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ सभाव्य अनुमान लगाये जा सकते हैं; पर शृंखलाबद्ध और असंदिग्ध इतिहास प्रस्तुत करने के साधन अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं । इस अस्पष्ट और अनिश्चित पृष्ठिभूमि पर गणिकासंस्था जैसी विचित्र, मोहक, और चमक-दमक भरी, परंतु उतनी ही कलंकित और तिरस्कृत संस्था का सिलसिलेवार चित्रण करना एक विकट कार्य है जिसे कोई अध्ययनशील विद्वान ही पूरा कर सकता है । ओछी पूंजी वाले शौकिया खोजियों का यह काम नहीं । 'अप्सरा' की यह पूरी ग्रंथमाला किसी उद्भट विद्वान का अनुसंधान नहीं बल्कि एक जिज्ञासु का अल्प सा प्रयत्न है । युगयुग से चली आने वाली और समाज को अप्रिय लगने पर भी अनिवार्य रूप से आवश्यक मानी जाने वाली इस संस्था का सच्चा स्वरूप क्या है; इसके पीछे किन वैयक्तिक और सामाजिक बलों की प्रेरणा है; और यदि यह संस्था अनिष्ट है, तो उसे नष्ट करने के उपाय क्या हैं आदि मर्यादित उद्देश्यों से प्रेरित होकर इसकी रचना हुई है । समाज-सुधारकों और अनुसंधित्सुओं की दृष्टि इस ओर आकर्षित हो, और इस पूरी समस्या का शास्त्रीय अध्ययन होकर उसके निर्मूलन के विधायक प्रयत्न हों, तो प्रस्तुत लेखक के उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी ।

२
युग विभाजन के संबंध में मतभेद

विद्वानों के मतमतांतरों का अधिक गहराई से विचार करने लगें, तो हम हमारे मुख्य विषय से दूर हटकर किसी और ही दुनिया में भटक जायें इसकी संभावना रहती है । अत : ऐतिहासिक युग-विभाजन की दो तीन प्रमुख प्रणालियों में से किसी एक का स्वीकार कर लेना उचित होगा । आर्यावर्त का प्राचीन इतिहास प्राय : निम्नलिखित युगों में बाँटा जाता है :—

१. प्रागैतिहासिक युग :— साधारणत : ईसवी सन पूर्व ५००० वर्ष से पहले का युग । इस युग की अधिक अध्ययन-सामग्री या अवशेष उलब्ध नहीं हैं । अत : इसके ढांचे का केवल स्थूलमान से अनुमान लगाया जा सकता है ।
२. मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की सिंधुतट-संस्कृति का युग । ईसवी सन पूर्व ५००० से ई.स.पू. ३००० वर्ष तक ।
३. वेदकाल :— ईसवी सन पूर्व ३००० से ई.स.पू. १५०० वर्ष तक ।
४. स्मृतियुग :— ईसवी सन पूर्व १५०० से ई.स.पू. ५०० तक ।
५. जैन-बोद्ध और पौराणिक युग :— ईसवी सन पूर्व ५०० से ईसवा सन् १२०० (इस्लाम के आगमन) तक ।

इस प्रकार का कोई भी युग-विभाजन स्वाभाविक रूप से विवादास्पद होता है क्यों कि एक तो इनकी विभाजक रेखाएँ अत्यंत स्थूल होती हैं ओर दूसरे इनमें के कई विभागों के अनेक उपविभाग किए जा सकतें हैं जिनमें का प्रत्येक अपने-अपने युग में भारतीय संस्कृति को विश्वविख्यात करने के कारण पर्याप्त महत्त्व रखता है । अतीत में अधिक दूर तक न जातें हुए श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इतिहास के ज्ञात युगों का एक अलग प्रकार से विभाजन किया है । इस विभाजन में भारतीय प्रजा की राजकीय परंपरा को प्राधान्य दिया गया है । कार्यकारण की शृंखलाबद्ध परंपरा उपस्थित करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह विभाजन महत्वपूर्ण है । मतभेद के कारण समझने के लिए और राजनैतिक एवं ऐतिहासिक वैविध्य का आकलन करने के उद्येश्य से इस विभाजन को भी हम सरसरी निगाह से देख लें ।

१. प्रथम युग :— आर्य संस्कृति के जन्म और आर्यों की प्रारंभिक विजयों का युग । दूसरे शब्दों में कहें तो वेदों में उल्लिखित राजा दिवोदास से लगा कर राजा शिशुनाग तक का कालखंड । शिशुनाग का समय ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में माना जाता है । अत : इस युग की व्याप्ति ईसवी सन पूर्व २००० से लगाकर ई.स.पू. सातवीं शताब्दी तक मानी जा सकती है ।

२. द्वितीय युग :— साम्राज्यों के प्रथम उत्थान का युग । भारत म आरंभिक साम्राज्यों की स्थापना इस युग में हुई । इस युग की व्याप्ति ईसापूर्व सातवीं शताब्दी से लगाकर ईसवा सन् पूव १५० तक मानी जाती है । शिशुनाग से आरंभ कर के पुष्यमित्र तक का लगभग आठ सौ वर्ष का कालखंड इस युग में आता है । बिंबिसार, चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि सम्राटों ने इस युग में व्यापक साम्राज्यों की स्थापना की । गृह्य सूत्रों, स्मृतियों और आरंभिक पुराणों की रचना इसी युग में हुई । यूनान के सिकंदर का आक्रमण भी इसी युग में हुआ ।

३. तृतीय युग :— उपनिवेशों की स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय विस्तार का युग । इस युग में आर्य संस्कृति का व्यापक प्रसार हुआ और दूर दूर के देशों में आर्य संस्कारों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । शुंगवंश के अंत

विस्तार माना जाता है। जैनधर्म का प्रभाव, बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार एवं शैव और भागवत धर्मों का विकास इसी युग में हुआ। भारत के विभिन्न प्रदेशों में शक्तिशाली राज्यों की स्थापना हुई और सार्वभौमत्व के लिए उनमें आपसी संघर्ष भी खूब हुए। कलिंग के खारवेल, आन्ध्र के सातकरणी और अन्य प्रदेशों के नाग, भारशैव, पल्लव, वाकाटक आदि राजवंशों के उदयास्त इसी युग में हुए। दूसरी ओर सीथियन, शक आदि विदेशी जातियों ने भारत के दरवाजे खटखटाना इसी युग में आरंभ किया: और कडफीसिस, कनिष्क आदि सम्राटों एवं पश्चिम के क्षत्रपों का भारतीयकरण होने का आरंभ इसी युग के अंतिम भाग में हुआ।

४. चतुर्थ युग :— साम्राज्यों के द्वितीय उत्थान का युग। श्री. मुंशीजी और अन्य अनेक इतिहासकार इस युग को भारतवर्ष का स्वर्ण युग मानते हैं। चंद्रगुप्त, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे महान सम्राटों के दिग्विजय और प्रबल साम्राज्यों की स्थापना इस युग में हुई; और भारतवर्ष सुख-समृद्धि एवं कला-साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा। विदेशी आक्रमणों की प्रखरता बढ़ी, और तोरमाण एवं मिहिरकुल जैसे प्रबल शक-हूण शासकों की प्रतिभा का विकास इसी युग में हुआ। परंतु दूसरी ओर इन जातियों का संपूर्ण भारतीयकरण होकर देश की समाज व्यवस्था के साथ उनका संपूर्ण समन्वय भी इसी युगमें हुआ। उपरोक्त दोनों शासकों ने बाद में बौद्धधर्म का स्वीकार किया था, यह इतिहास प्रसिद्ध बात है। हर्षवर्धन इस युग का अंतिम सम्राट हुआ। उत्तर और दक्षिण के बीच का संघर्ष इस युग की एक और विशिष्टता रही। उत्तर के हर्षवर्धन और दक्षिण के पुलकेशिन् की सेनाएँ लंबे समय तक नर्मदा के आमने-सामने के किनारों पर पड़ाव डाले पड़ी रहीं थीं। इस युग का विस्तार ईसवी सन ३२० से ६५० तक माना जाता है। संसार के इतिहास में उथलपुथल मचा देने वाली और पूर्वी दुनिया का नकशा बदल देने वाली एक महत्त्वपूर्ण घटना भी इस युग में हुई। वह थी अरब में पयगंबर मुहम्मद का जन्म। भारतीय समाजरचना में भी इस युग में व्यापक परिवर्तन हुए। चातुर्वर्ण्य की प्रथा जड़ीभूत हो कर हिंदू समाज अनेक जाति-उपजातियों में बिखर गया।

५. पाँचवा युग :— ईसवी सन ६५० से ११७५ तक। भारतवर्ष के पतन की प्रक्रिया का सूत्रपात्र इस युग में हुआ और छोटे मोटे राज्यों केबीच अंतर्कलह आरंभ हुए। यद्यपि गुर्जर, प्रतिहार, राष्ट्रकुट, चौहान, पाल, चालुक्य, कोल, चोला, पांड्य, कदंब, कलपुरी, चंदेला, इत्यादि प्रतापी राजवंशों का उद्‌भव इसी युग में हुआ; परंतु उनकी शक्ति बिखरी हुई रही। प्रांतीयता की भावना ने राष्ट्र की प्रगति में और ईर्ष्या की भावना ने कला-साहित्य के प्रवाह में रोक लगा दी। भारत की प्रतिभा इस युग में कुंठित हो चली और वैयक्तिक स्तर पर इने गिने अपवादों को छोड़कर स्वतंत्र विचार की उन्मुक्त धारा सूखती गई। मुहम्मद बिन कासिम, महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के हमले इसी युग में हुए और अंत में दिल्ला पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ। बौद्धधर्म लुप्तप्राय: हो गया और हिंदुओं के मंदिरों विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक केन्द्रों पर मुस्लिम आक्रामकों के विनाशक हमले शुरू हुए।

६. छठा युग :— सन् ११७५ से १४०० तक। मुस्लिम युग के श्री. मुंशी ने दो विभाग किए हैं। मुहम्मद गौरी के प्रथम आक्रमण और दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापना से लगाकर सन १३९९ में तैमूरलंग के आक्रमण तक का समय इस युग में आता है।

७. सातवाँ युग :— इस युग का विस्तार ईसवी सन् १४०० से १७०० तक माना गया है। इन तीन शताब्दियों में से बीच की (सोलहवीं) शताब्दी को मुगल सल्तनत को वैभव का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। अंतिम शताब्दी में दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता से स्वतन्त्र होकर अनेक सूबेदार और नवाब अपने-अपने प्रदेश के सर्वसत्ताधीश बन बैठे। सांस्कृतिक दृष्टि से इन शताब्दियों को भारतीय साहित्य का भक्तियुग

कहा जा सकता है । इस युग में प्राय : सभी क्षेत्रों में प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों का जन्म हुआ । अपने-अपने ढंग से इतिहास पर अपनी छाप छोड़ जाने वाले अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब जैसे शासक इसी युग में हुए और मुगल सल्तनत पर प्रचंड प्रहार करके उसकी नींवें डगमगा देने वाले शिवाजी महाराज का प्रादुर्भाव भी इसी युग में हुआ । नानक और कबीर की ज्ञानगंगा एवं सूर-तुलसी-मीरा की भक्ति यमुना इसी युग में बहीं, जिनके संगम से उत्तरी भारत में हिंदी भाषा का विकास और प्रसार हुआ । हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय के आरंभिक प्रयोग भी इसी युग में हुए जिसके फलस्वरूप धर्म के क्षेत्र में न सही, पर सामाजिक क्षेत्र में एक सामाजिक संस्कृति का सूत्रपात हुआ ।

८. आठवाँ युग :— ई. स. १७०० से १८५७ तक (अस्त होती हुई मुस्लिम सत्ता और मराठों की उदयोन्मुख प्रचंड सत्ता से अंग्रेजों की मुठभेड़ इस युग का विशिष्ट लक्षण रहा, जिसमें अंतिम विजय अंग्रेजों की हुई ।

९. नवाँ युग :— ईसवी सन १८५७ से १९४७ तक भारत को राजी या नाराजी से ब्रिटिश-साम्राज्य की छत्रछाया में रहना पड़ा । उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से राष्ट्रीय भावना प्रबल होती गई जिसकी परिणति १९४७ के खंडित स्वराज्य में हुई ।

डाक्टर आल्तेकर प्राचीन और मध्यकालीन भारत के इतिहास को केवल चार मोटे विभागों में बाँटते हैं:—

१. वेदकाल :— ईसवी सन् पूर्व २५०० से ई. स. पू. १५०० तक । तक ।

२. बाद की संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों का युग :— ई. स. पू. १५०० से ई. स. पू. ५०० तक ।

३. विभिन्न सूत्रों रामायण-महाभारत, आरंभ की स्मृतियों, जैन धर्म के विकास और बौद्ध धर्म के उदयास्त का युग । ईसवी सन् पूर्व ५०० से ईसवी सन ५०० तक ।

४. बाद की स्मृतियों, टीकाओं, निर्णयों, पुराणों और नाटक-महाकाव्यों का युग :— ईसवी सन ५०० से ई. स. १८०० तक ।

यहाँ केवल उदाहरण के तौर पर दो-तीन प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा किए गये युग-विभाजन का उल्लेख किया गया है । दृष्टिभेद के कारण इस प्रकार के विभाजनों में कितनी विभिन्नता आ जाती है, यहाँ केवल इसी का निर्देश करने का उद्देश्य है । उदाहरणार्थ, उपरोक्त दोनों विद्वानों के विभाजन में सिंधुतट-सभ्यता का उल्लेख नहीं है । इसका कारण यही हो सकता है कि प्राग्वैदिक युग के संबंध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि इस विषय में प्रामाणिक अनुसंधान और निष्पक्ष मूल्यांकन की कितनी अधिक आवश्यकता है । भारत का प्राचीन इतिहास अत्यंत गौरवपूर्ण और रसप्रद है । अध्ययन की जो थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध है,उसके सहारे उस युग की भव्यता की एक झलक मात्र मिल जाती है । उसे पूर्णत : प्रकाश में लाना विद्वानों का पुनीत कर्तव्य है । इसके उपरांत, भारतीय आर्य-संस्कृति में बिल्वपत्र की तरह वैदिक, जैन और बौद्ध, इन तीन धर्मों में किस हद तक समानता है, और कहाँ पहुँच कर, किन कारणों से, और किस हद तक ये एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं, इसका ऐतिहासिक विश्लेषण भी अध्ययन की रोचक सामग्री प्रस्तुत करता है । ये तीनों एक साथ क्यों कर पनप सके, किसका, किस युग में, किन कारणों से प्राधान्य रहा, और एक दूसरे के बीच किन तत्वों का आदान-प्रदान हुआ, इसका भी तटस्थता से विचार होना आवश्यक है । समाज की पूरी इकाई के जीवन का भिन्न भिन्न युगों में क्या स्वरूप रहा है, इसका ब्योरेवार विवरण जब तक उपलब्ध नहीं होता, तब तक मुस्लिम युग से पूर्व के किसी भी कालखंड का वस्तुनिष्ठ विवेचन हो सकता है । युग विभाजन के उपरोक्त प्रणालियों में से किसी

का भी पूर्णत : अवलंबन करना हमारे अध्ययन में संभव नहीं होगा । यहाँ केवल अतीत की पृष्ठभूमि का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करने के हेतु से इन विभाजनों का असंकलित ढंग से उल्लेखमात्र कर दिया गया है ।

३
सिंधुतट संस्कृति

विद्वानों के विवादग्रस्त सिद्धान्तों के झमेले में न पड़ते हुए हम अधिकांश विचारकों द्वारा स्वीकृत युग विभाजन को मान्य रखकर आगे बढ़ें । इस दृष्टि से मोहन जोदड़ो और हराप्पा की सिंधुतट-संस्कृति भारत की सबसे पुरानी संस्कृति सिद्ध होती हैं । कहा जाता है कि फादर हॅरास सिंधु-संस्कृति की भाषा और लिपि को सुलझाने में कुछ हद तक सफल हुए हैं । उनकी शोधों की निष्पत्तियों प्रकाशित होने पर इस युग के इतिहास पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा । अब तक तो इस संस्कृति के संबंध में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मोहनजोदड़ो और हराप्पा, दोनों स्थानों की संस्कृति नागर-संस्कृति थी, और नगररचना एवं समाजरचना के क्षेत्र में काफी प्रगतिशील थी । इन दोनों स्थानों के अवशेषों में शहरों की चहारदीवारी या किलेबंदी नहीं पायी जाती । मकानों की रचना में सुनियोजित पद्धति के लक्षण पाये जाते हैं । सार्वजनीन स्नानागारों और पानी के निकास के लिए पाटी हुई नालियों का अस्तित्व एक अत्यंत सुनियोजित नगररचना की गवाही देता है । आभूषणों और खिलौनों के तो इतने अधिक अवशेष पाये गये हैं कि इस संस्कृति के सामाजिक जीवन को अत्यंत समृद्ध और कुछ हद तक शौकीन माना जा सकता है । इस सभ्यता का विनाश सिंधुनदी की बाढ़ों ने किया या आर्यों के आक्रमण ने, यह पहेली अब तक सुलझ नहीं सकी है । इन शहरों में इसी देश के निवासियों की बस्ती थी, या ये विदेशियों के उपनिवेश थे, इस संबध में भी विभिन्न तर्क-वितर्क किए गये हैं । कनिष्क, हविष्क, कड़फीसिस और वासुदेव नामक शासकों की मुद्राएं और बौद्ध स्तूपों के अवशेष भी इन स्थानों से प्राप्त हुए हैं । अपेक्षाकृत बाद के युगों के इन चिन्हों ने इस युग की प्राचीनता को संदिग्ध बनाकर इस उलझी हुई गुत्थी को और भी अधिक उलझा दिया है ।

परंतु इसका स्पष्टीकरण भी आसानी से किया जा सकता है । सिंधु-संस्कृति की अवनति के बाद ये नगर आर्यों और बौद्धो के नियंत्रण में आ गये हों, और इन बाद की संस्कृतियों का प्रभाव उन पर पड़ा हो, यह संभव है । अनेक देवी-देवताओं की इतनी विविध प्रतिमाएँ और नित्योपयोगी वस्तुओं के इतने विविध अवशेष इन स्थानों से प्राप्त हुए हैं कि इस संस्कृति के धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रिवाजों के संबंध में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे अत्यंत जटिल और उलझे हुए रहे होंगे । धार्मिक विश्वासों की जटिलता और नागर संस्कृति की प्रधानता के सहारे यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि इस संस्कृति में गणिकासंस्था का किसी न किसी रूप में अस्तित्व अवश्य रहा होगा । मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक नर्तकी की प्रतिमा और हराप्पा से प्राप्त एक पुरुष नर्तक की मूर्ति नृत्य के अस्तित्व की निश्चित रूप से स्थापना करती है । दन दोनों मूर्तियों में नृत्य की अत्यंत भावपूर्ण मुद्राओं का बड़ा सजीव अभिनय प्रदर्शित हुआ है । पुरातत्व के अधिकांश विद्वानों की राय है कि मानव-संस्कृति के विकास की सबसे पहली अभिव्यक्ति नृत्य द्वारा ही होती है । परंतु हराप्पा और मोहनजोदड़ों की नर्तक-नर्तकी की मूर्तियाँ नृत्यकला के प्राथमिक नहीं बल्कि अत्यंत विकसित रूप का प्रमाण उपस्थित करती हैं ।



कुछ विद्वान इन मूर्तियों को नर्तक-नर्तकी की प्रतिमाएँ मानने के विषय में शंकाशील ह, यह अलग बात है । परंतु ये मूर्तियाँ यदि वास्तव में नर्तक-नर्तकी की ही हों, तो इतनी प्रगत नृत्यकला अत्यंत कुशल नृत्यकारों के वर्ग के अस्तित्व की निश्चित रूप से गवाही देती है ।

स्त्री-पुरुषों की कई नग्न मूर्तियाँ भी इन दोनों स्थानों से प्राप्त हुई हैं । इन मूर्तियों में व्यक्त मानवदेह के अंगोपांग का सौष्ठव देखनेवाले को आश्चर्यचकित कर देता है । कई मूर्तियों की रचना तो इतनी सुंदर और प्रमाणबद्ध हुई है कि उन्हें देखने पर यूनानी और आर्य शिल्पकलाओं के मिश्रण से जन्म लेने वाली गांधारशैली का आभास होता है । इसको उपरांत, लिंगपूजा के स्पष्ट चिन्ह इस संस्कृति में पाये जाते हैं जो बाद के युगों की शिवपूजा में दिखाई देनेवाले संबंध वेदकालीन आर्यसंस्कृति के साथ तो जोड़ा नहीं जा सकता । अत : कई विद्वान आज के शिवपूजन को सिंधु-संस्कृति की सीधी विरासत मानने को



प्रेरित होते ह । आर्य आर द्रविड़ संस्कृतियों के समन्वय के युग तक आते आते तो लिंगरूप में शिव का पूजन समूची संस्कृति का ऐसा अविच्छेद्य अंग बन गया कि आज शिवपूजा से रहित हिंदू-संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती । यौनपूजा में नंदी का स्थान भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है । विभिन्न देशों की लिंगपूजा का इतिहास देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । प्रजनन के अंगों का सृजनशक्ति के प्रतीक के रूप में पूजन केवल भारतवर्ष की ही विशिष्टता नहीं है । प्राचीन काल में संसार के अनेक प्रदेशों में इस का प्रचलन था, यह हम देख चुके हैं । अतुल शक्तिशाली और सुंदर आकृतिवाला प्रचंड वृषभ मोहनजोदड़ो से प्राप्त सैकड़ों मुद्राओं पर अंकित है । हम यह भी देख चुके हैं कि प्राचीनयुग में फलवृद्धि और प्रजावृद्धि के उद्देश्य से पृथ्वी की देवीरूप में पूजा अनेक देशों में की जाती थी । सिंधु-संस्कृति में इसके चिन्ह भी स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

इन बिखरी हुई कड़ियों को जोड़कर यह कहा जा सकता है कि पूर्णत : नागर संस्कृति के रूप में विकसित मोहनजोदड़ो और हराप्पा का सामाजिक जीवन धार्मिक विधियों में आस्था रखने वाला, लिंगपूजा का आग्रही, नृत्यकला में निपुण, नगररचना में प्रवीण और खिलौनें, आभूषणों आदि का शौकीन था । ये सारे तत्त्व एक साथ मिलकर एक अत्यंत प्रगत और सुसभ्य समाज का चित्र उपस्थित करते हैं । सभ्यता के सोपान पर इस हद तक आगे बढ़ हुए समाज की रसवृत्ति को तृप्त करने के लिए उसमें गणिकासंस्था का किसी न किसी रूप में विकास हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं । परंतु यह संभावना केवल अनुमान पर ही आधारित है ; क्योंकि उपरोक्त परोक्ष प्रमाणों के अलावा गणिकावृत्ति के अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण सिंधु-संस्कृति के अवशेषों से अब तक प्राप्त नहीं हुआ है । इनमें से सबसे प्रबल प्रमाण नृत्यकला का है । यह सही है कि नृत्य एक उदात्त कला है ; धर्म के साथ उसका अनेक संस्कृतियों में घनिष्ठ संबंध रहा है एवं उसमें कौशल प्राप्त करने के लिए वर्षों की साधना आवश्यक होती है । परंतु यह सब स्वीकार कर लेने के बाद भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि नृत्य कला के साथसाथ पेशेवर नर्तकियों की संस्था का भी विकास होता है और अंत में इसका रूपांतर गणिकासंस्थां में हो जाता है ।

सिंधुघाटी की संस्कृति केवल हराप्पा और मोहनजोदड़ो तक ही सीमित नहीं थी । ये दोनों स्थान तो उस विकसित संस्कृति की शृंखला की दो बिखरी हुई कड़ियाँ मात्र हैं । इस संस्कृति के अवशेष सब से पहले हराप्पा में सन् १८७५ में प्राप्त हुए थे । उस समय के उत्खनन से विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त हुई थी जिन पर महाबलवान वृषभ की छाप और किसी अज्ञात लिपि में कुछ शब्द अंकित पाये गये थे । इसके बाद करीब पचास वर्षों तक यहाँ थोड़ी बहुत खुदाई होती रही जिसके फलस्वरूप और भी अनेक प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हुईं । परंतु इस संस्कृति पर अधिक प्रकाश तो सन १९२१ में मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से पड़ा । यह स्थान हराप्पा के दक्षिण-पश्चिम में करीब चार सौ मील दूर है । सिंध प्रांत के उत्तरी हिस्से में सिंधु नदी के वर्तमान प्रवाह से केवल तीन मील की दूरी पर कई टीले थे जिनमें से इर्दगिर्द के गाँवों के लोग ईंटें निकाल कर ले जाया करते थे । इन ईंटों के कारण ही पुरातत्त्व के विद्वानों का ध्यान इन टीलों की ओर आकर्षित हुआ । इन दोनों स्थानों के उपरांत चन्नूड़ेरा, नाल, नंदारा और बलोचिस्तान आदि स्थानों में भी किसी प्राग्वैदिक युग की संस्कृति के अवशेष मिले हैं, जिनमें बहुत अधिक साम्य पाया जाता है । कुछ विद्वान इस संस्कृति का विस्तार सिंध-पंजाब की नदियों की घाटियों के प्रदेश से आगे बढ़कर गुजरात तक फैला हुआ मानते हैं ।

मिलतीजुलती समाजरचना से संचालित इन बिखरे हुए स्थानों की संस्कृति नागर, व्यापारप्रधान और अत्यंत विकसित थी, इसकी निस्संदेह गवाही इनके अवशेषों से मिलती है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सुमेरियन संस्कृति से इसकी समानता के कारण आरंभ में विद्वानों ने इसे हिंद-सुमेरियन संस्कृति नाम दिया था । परंतु बाद के पुरातत्त्वज्ञों ने इसे सिंधुघाटी की संस्कृति नाम दिया और इसे पूर्णत : भारतीय मानने की ओर उनका झुकाव अधिक रहा । हराप्पा रावी नदी के तट पर बसा हुआ था । वेदकाल में इस पूरे प्रदेश का समावेश सप्तसिंधु-प्रदेश के अंतर्गत होता था । ऋग्वेद के एक मंत्र में रावी तट पर बसे हुए हारियूप नामक नगर के पास होने वाले किसी युद्ध का वर्णन है । यह 'हरियूप' शब्द आज के हराप्पा से बहुत मिलताजुलता दिखाई देता है । प्रश्न उठता है, क्या वैदिक युग के लोग इस संस्कृति से परिचित थे ? प्रमाणिक सामग्री के अभाव में, आज तो इस प्रश्न का उत्तर देना मुश्किल है ।

मोहनजोदड़ो की नगररचना की तुलना आधुनिक युग के किसी सुनियोजित नगर की रचना से की जा सकती है । शहर के बीच से उत्तर-दक्षिण जाने वाले राजमार्ग एक दूसरे से समांतर हैं । इन्हें जोड़ने वाली छोटी सडकें इनसे समकोण पर मिलती हैं जिससे बीचके मकानों के समूह की आकृति अपने आप समचाकोन हो जाती है । प्रत्येक गली में सार्वजनीन कुआँ निरपवाद रूप से पाया जाता है । बड़े मकानों के आँगनों में पक्के कुएँ और जगह-जगह पर सार्वजनिक स्नानागर पाये जाते हैं । गंदा पानी बहा ले जाने

वाली पाटी हुइ नालियों की योजना तो इतनी दोषरहित पाई गयी है कि प्रागैतिहासिक काल की यह सभ्यता अन्य किसी भी प्राचीन सभ्यता की अपेक्षा अधिक सफाईपसंद रही होगी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है ।

परंतु प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से इन सब बातों की अपेक्षा यहाँ से प्राप्त नर्तकियों की और नग्न स्त्रियों की मूर्तियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । ये नग्न प्रतिमाएँ देवियों की हो सकती हैं । कई विद्वान इन्हें प्राचीनकाल में पूजित मातृत्वशक्ति का प्रतीक मानते हैं । पृथ्वी की उत्पादनशक्ति और जीवसृष्टि की प्रजननशक्ति की पूजा किसी न किसी स्तर पर पहुँचकर लिंगपूजा का रूप धारण कर लेती है जिसमें



से वाममार्गी पंथों का और देवदासी जैसी प्रथाओं का जन्म होता है । मानव प्रजोत्पत्ति और पृथ्वी की उर्वराशक्ति को एक चमत्कार मानकर उनकी पूजा और बाद में इस शक्ति के प्रतीक रूप में योनिलिंग की पूजा का प्राचीन काल में कितना महत्त्व था, और इस में से धर्म पर आधारित गणिकासंस्था का विकास किस तरह हुआ, यह हम देख ही चुके हैं । मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की धातु प्रतिमा में दोनों हाथ अत्यंत कलात्मक ढंग से कमर पर रखे हुए हैं और प्रतिमा की भावभंगिमा एक आत्मविश्वासपूर्ण लापरवाही की व्यंजना करती है । कमर और पाँवों की मुद्रा में किसी वाद्य केसाथ ताल मिलाने की ठसक है । पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान श्री ब्रेल्सफोर्ड का कहना है : ''वस्त्रहीन नर्तकी की इस छोटी सी मूर्ति की भावभंगिमा और गतिलावण्य ने मेरे मन को जितना प्रभावित किया, उतना प्राचीनजगत की और किसी मानव प्रतिमा ने नहीं किया ।'' हराप्पा से प्राप्त नृत्यकार की प्रतिमा में दाहिने पाँव पर खड़े होकर बायें पाँव को नृत्य के ताल पर घुमाने की मुद्रा है । हाथों का अभिनय भी नृत्यसूचक है । शरीर की आकृति और चेहरे के हावभाव नृत्य की तालबद्धता से परिपूर्ण दिखाई देते हैं और बाद के युगों में विकसित नटराज शिव की प्रतिमाा की भावमुद्राओं की याद दिलाते हैं ।

इस बिखरी हुई और अपूर्ण सामग्री के आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकालना तो मुश्किल है ; पर कुछ अनुमान अवश्य लगाये जा सकते हैं । यथा :— (१) व्यापार द्वारा समृद्ध बनी हुई सिंधुतट की यह संस्कृति नृत्य, वाद्य, आदि कलाओं में प्रवीण थी । (२) नृत्यकार और नर्तकियाँ प्रजाजनों और देवी देवताओं को अपनी कला से खुश करते थे । (३) नग्नता को अशिष्टता का लक्षण नहीं माना जाता था । (४) प्रजोत्पत्ति के प्रतीक के रूप में प्रजनन के अंगों की पूजा प्रचलित थी और (५) लिंगरूप में शिवपूजा का आरंभ भी शायद इसी रूप में हुआ था । ये सारे के सारे तत्त्व गणिकावृत्ति के पोषक हैं । अन्य संस्कृतियों के इतिहास से यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुकी है । सिंधुतट संस्कृति की भाषा अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है । जब यह पहेली सुलझ जायेगी, तब अधिक विश्वसनीय जानकारी प्राप्त हो सकेगी । परंतु इसके अभाव में भी यह मानने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती कि सिंधुघाटी की संस्कृति के अवशेष जिस वातावरण का प्रमाण उपस्थित करते हैं उस वातावरण में गणिकासंस्था का अस्तित्व अवश्य होना चाहिये । प्राचीन युग की अन्य ज्ञात संस्कृतियों की तुलना में इस युग का वातावरण गणिकासंस्था का कहीं अधिक पोषक दिखाई देता है । प्राचीन युग की और कोई संस्कृति न तो गणिकावृत्ति से अछूती रही थी और न उससे लज्जित हुई थी । तो फिर सिंधुघाटी की संस्कृति ही इससे अछूती रही होगी या लज्जित हुई होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं ।

अप्सरा

दूसरा परिच्छेद

वेदकाल

१

वेदकाल के अध्ययन की कठिनाइयाँ

सिंधु-संस्कृति के बाद, वेदकालीन आर्यों का इतिहास सिलसिलेवार निश्चित किया जा सके ऐसे साधन भी उपलब्ध नहीं हैं । इस प्राचीन युग का थोड़ा-बहुत अध्ययन हो चुका है ; परंतु उस युग का स्पष्ट चित्रण करने के लिए वह पर्याप्त नहीं है । गणिकासंस्था संबंधी सामग्री तो इतनी कम है कि नृत्यकला को छोड़कर और किसी प्रमाण के सहारे आगे नहीं बढ़ा जा सकता । संसार के कई प्रदेशों में गुफाओं में अंकित प्रागैतिहासिक युग के चित्रों में नृत्य का आलेखन बहुतायत से पाया गया है । भारत में सिंघनपूर की गुफाओं में आज तक सुरक्षित रहे हुए भित्तिचित्र भी किसी अतिप्राचीन युग की नृत्यकला की स्पष्ट गवाही देते हैं । परंतु अधिकांश विद्वान प्राचीन युग की अर्धविकसित संस्कृतियों में पायी जाने वाली नृत्यकला का गणिकासंस्था के साथ संबंध जोड़ना आवश्यक नहीं मानते । संभव है कि उस युग की नृत्यकला पतिताचार से सर्वथा अछूती, शिष्टसमाज के मनोरंजन की एक निर्दोष कला हो ।

हम देख चुके हैं कि भारतीय इतिहास का व्यवस्थित युगविभाजन अब तक नहीं हो पाया है । स्वतंत्र भारत में इस विषय की अधिक छानबीन होकर हमारे प्राचीन इतिहास का चित्र स्पष्ट हो जाना चाहिये । अब तक हमारे इतिहास का विभाजन वेदकाल, स्मृति-पुराण काल, मध्ययुग, राजपूतयुग, इस्लामयग, मराठा युग और अंग्रेजी युग आदि विभागों में किया जाता है, जो प्रधानत : शासन-व्यवस्था से हुआ है । हमारी आजकी जानकारी के आधार पर इससे भिन्न और कोई विभाजन हो भी नहीं सकता । परंतु सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से यह विभाजन शास्त्रीय नहीं है । विभाजन की वर्तमान प्रणाली कम से कम प्राचीन युग के सबंध में तो अत्यंत स्पष्ट, प्राथमिक और स्थूल प्रमाणित हुई है जो उस युग का स्पष्टीकरण करने के बजाय उसे और भी उलझा देती है । उदाहरण के तौर पर सिंधुघाटी की सभ्यता को लिया जा सकता है । यह संस्कृति वैदिक युग से पहले की है या उसकी समकालीन, इसका निर्णय अब तक नहीं हो पाया है यद्यपि विद्वानों का झुकाव उसे प्राग्वैदिक मानने की ओर अधिक है । वैदिक युग को सामान्यत : इसके बाद का युग माना जाता है, परंतु उसका भी निश्चित कालनिर्धारण अब तक नहीं हो पाया है । निश्चित रूप से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक युग की व्याप्ति आर्यों के प्रथम आगमन से लगा कर सप्तसिंधु (पंजाब) और गंगा-यमुना के दोआब तक उनका फैलाव होने तक मानी जा सकती है ; और उसकी समाप्ति आर्यों के विंध्य पर्वत और नर्मदातट पर पहुंचने पर हो जाती है । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना निश्चित रूप से इसी काल में हुई थी । वेदों में वर्णित आर्यों और दस्यूओं के बीच का संघर्ष भी इसी काल में हुआ । वसिष्ठ-विश्वामित्र के शास्त्रार्थ और भृगुवंशी परशुराम के साथ माहिष्मती के सहस्रार्जुन का सुप्रसिद्ध संघर्ष भी इसी युग की घटनाएँ मानी जा सकती हैं ; जिनसे यह सिद्ध होता है कि आर्यों का अनार्यों के साथ ही नहीं ; बल्कि आपस में भी काफी झगडा हुआ था । आपस में झगड़ने की हमारी राष्ट्रीय खासियत कम से कम वेदकाल के जितनी पुरानी है इस विचार से आज के युग में हमें शायद थोड़ा बहुत संतोष मिल सकता है ! परंतु इस युग का विस्तार एक हजार वर्ष का माना जाय, या दो हजार वर्षों का, या इससे भी अधिक, इस संबध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । इसे कितना पुराना मानना, इस विषय में भी विद्वानों में कितना मतभेद है इसका उल्लेख पहले हो चुका है । परंतु कालानणय के संबंध में कितनी ही अनिश्चितता क्यों न हो, यह तो निस्संदेह बात है



कि आर्य संस्कृति के नाम से बाद के युगों में पहचानी जाने वाली, और किसी न किसी रूप में हिंदूधर्म की अंतधारा बनकर आज तक चली जाने वाली महान संस्कृति का जन्म और विकास इसी युग में हुआ था । वैदिक युग का क्रमबद्ध इतिहास चाहे उपलब्ध न हो, पर उस यूग में रची हुई आर्य-संस्कृति की परंपरा अब तक चली आ रही है और उसने निर्माण की हुई समाज रचना, अनेक परिवर्तनों के बावजूद, वर्णाश्रम धर्म के नाम से आज तक जीवित है । केवल समाजरचना ही नहीं, उस युग की कथाएं और किंवदंतियाँ भी आजतक हमारे जीवन को समृद्ध करती रही हैं । तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में तो उपनिषदों के दर्शन को आज भी हमारी विचारधारा का प्रमुख पथ-प्रदर्शक माना जाता है । आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से किसी अनिश्चित युग में रचा हुआ यह दर्शन संसार की अत्यंत उत्तुंग और भव्य विचारधाराओं में स्थान पाकर दुनियाभर के मनीषियों की श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन चुका है । हिंदू धर्म और आर्य संस्कृति की यह उपलब्धि निस्संदेह रूप से आर्यावर्त के इतिहास की सबसे गौरवमयी विरासत सिद्ध हुई है ।

कई विद्वानों ने भारत के प्राचीन युग का केवल साहित्यिक दृष्टि से विभाजन किया है और संस्कृत साहित्य के विस्तृत युग को तीन मोटे-मोटे कालखंडों में बाँट दिया है :—

१. वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का युग । ईसवी सन पूर्व ४००० से लगाकर ई.स.पू. ८०० वर्ष तक । इस युग को श्रुति-युग कहा जा सकता है ।

२. अभिजात साहित्य का युग । ई. स. पूर्व ८०० से ईसवी सन८०० तक । इसे स्मृतियुग या काव्य-नाटकों का युग कहा जा सकता है ।

३. आधुनिक युग :— ईसवी सन् ८०० से १५०० तक । इसे भाष्ययुग कहा जा सकता है ।

इस प्रकार केवल संस्कृत साहित्य की दृष्टि से देखने पर भी हमारी संस्कृति का विस्तार कम से कम छ : हजार वर्षों में फैला हुआ दिखाई देता है । इस लंबे काल को विभागों ओर उपविभागों में बाँटना एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो सकता है । प्रथम युग में चारो वेद (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि की रचना एवं यास्क और पाणिनी के भाषा और व्याकरण संबंधी ग्रंथों का निर्माण हुआ । परंतु भव्य विस्तार और वैविध्य भरे इस लंबे युग को विभाजन के एक ही प्रकार में समेटने से उसका स्पष्ट निरूपण नहीं हो सकता । दूसरे युग में स्मृतियों और सूत्रग्रंथों के साथ साथ रामायण-महाभारत जैसे जगन्मान्य और हमारी संस्कृति के मूलाधार रूप काव्यों की और सांख्य-न्याय आदि षड्दर्शनों के विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना हुई । गुप्तकालीन स्वर्णयुग के आरंभिक नाटकों और महाकाव्यों की रचना भी इसी युग में हुई । इतनी विविधता भरे इस संपूर्ण युग का कालविभाजन के एक ही खंड में समग्रता से दर्शन करने का प्रयत्न करने से दृष्टि थक जाती है और बुद्धि उसका आकलन नहीं कर पाती । तीसरे युग में रसालंकार का शास्त्रीय निरूपण करनेवाले विविध साहित्यग्रंथों, बाद के नाटक-महाकाव्यों और पुराणों की रचना हुई । द्वितीय युग में विकसित संस्कृत भाषा के सौंदर्य का इस युग में और भी अधिक निखार हुआ । मौलिक विचारों के क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हुई, पर मानवहृदय के कोमल से कोमल भावों को उतनी ही कोमलकान्त पदावलि में गूंथने के प्रयत्न हुए ।

२

देवार्पण और अतिथिसत्कार की भावना

हम देख चुके हैं कि इस युग का समग्रता से आकलन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं ।इस युग में दिखाई देने वाले विरोधाभास मौलिक विरोध नहीं हैं बल्कि उस समय की विकसनशील संस्कृति के अलग अलग स्तरों का परिचय दन वाल सोपान मात्र हैं । हमारे अध्ययन की दृष्टि से केवल यह देखना आवश्यक है कि उस युग में गणिकासंस्था का विकास किस रूप में और किस हद तक हुआ था । गणिकासंस्था के आरंभिक रूपों की विशिष्टताएँ और धार्मिक रीतिरिवाजों के साथ उसका संबंध हम पहले

के परिच्छेदों में देख चुके हैं । वैदिक युग की यज्ञ और होम की प्रथा के मूल में अपनी प्रिय वस्तुएँ देवताओं को अर्पण करने की भावना थी । इस दृष्टि से स्त्री को देवार्पण करना भी यज्ञ का ही एक प्रकार माना जा सकता है । बाद के युगों की देवदासी-प्रथा इसी भावना का कुछ अपरिष्कृत या विकृत रूप हो, यह संभव है ।

गणिकावृत्ति का दूसरा प्राचीनतम प्रकार अतिथिसत्कार की भावना से उत्पन्न हुआ है । 'अतिथि देवो भव' की भावना कम अधिक प्रमाण में सभी संस्कृतियों में पायी जाती है । समाजविकास की अत्यंत प्राथमिक भूमिका पर परिवार की स्त्रियों को अतिथि के उपभोगार्थ अर्पण करने में अतिथिसत्कार की पूर्णता मानी जाती थी । इस में किसी प्रकार की बुराई या पाप नहीं माना जाता था ; इतना ही नहीं, अतिथिसत्कार के इस प्रकार को उच्चकोटि का पुण्यकार्य माना जाता था । संसार की कुछ पिछड़ी हुई जातियों में अतिथि सेवा का यह प्रकार अब तक प्रचलित है । परंतु देवार्पण या अतिथि सत्कार में होने वाले स्त्री के उपभोग की गणिकावृत्ति की श्रेणी में शायद ही रखा जा सके । गणिकावृत्ति की व्याख्या किसी भी दृष्टि से क्यों न की जाय, उसमें धन का आदान-प्रदान अनिवार्य होता है । मनुष्य के किसी भी व्यवहार में आर्थिक लेनदेन के तत्त्व का प्रवेश होते ही मोलभाव, नफा-नुकसान, क्रय-विक्रय आदि आनुषंगिक बातें उसके साथ अपने आप जुड़ जाती हैं । परंतु देवार्पण या अतिथि सत्तकार की भावना से स्त्री का देहोपभोग होने में विक्रय का तत्त्व प्रवेश नहीं करता । उसमें तो केवल समर्पण की ही भावना रहती है । अत : इन प्राचीन प्रथाओं को कोरी गणिकावृत्ति के प्रकार मानने में विद्वानों को संकोच होता है । यहाँ उनका उल्लेख केवल इस दृष्टि से किया गया है कि इन प्रथाओं की परिणति गणिकावृत्ति में होने की संभावना बहुत अधिक रहती है ।

३
आर्यों के विवाह-प्रकार

वैदिक युग की गणिकासंस्था का विचार करने से पहले आर्यों की विवाह-प्रथाओं से परिचित होना आवश्यक है । हिंदू धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत विवाह के विविध प्रकार उस युग के यौन संबंधों पर प्रकाश डालते हैं और विवाह संस्था के नियमबद्ध वर्तुल में प्रवेश कर जाने वाली विचित्रताओं के उद्‌गम स्थानों का दर्शन कराते हैं । वेदकाल तक आते-आते विवाहसंस्था स्थिर और नियमबद्ध हो चुकी थी । परंतु इस संस्था की स्थिरता किन मार्गों से स्थापित हुई, आर्यों ने विशुद्धि की विविध कक्षाओं वाले अनेक प्रकार के विवाहों को सामजिक और धार्मिक मान्यता क्यो प्रदान की, और इन विवाहों से उत्पन्न संतति को धर्मशास्त्रों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकार क्यों दिये, आदि प्रश्नों के उत्तर उस युग की क्रमश : विकसित होने वाली समाजरचना में ढूंढे जा सकते हैं । यौन आवेग की दुर्निवार्यता और मनुष्यप्राणी की स्वाभाविक संतानेच्छा निरपवाद रूप से इन नियमों की सब से प्रबल प्रेरकशक्ति सिद्ध होती है । आरंभ में केवल शारीरिक स्तर पर महसूस होने वाली कामेच्छा का संस्कार होकर उसका विवाहप्रथा में रूपांतर होने तक उसे विकास के अनेक सोपानों से गुजरना पड़ा था । स्त्री-पुरुष के वैयक्तिक संबंध के इस क्रमिक विकास में समाज-जीवन का पूरा इतिहास समाया रहता है । विवाहसंस्था का मूलभूत तत्त्व तो केवल स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों की सीमित और नियमित करके विशिष्ट पुरुष के साथ विशिष्ट स्त्री के सहवास की शिष्ट और समाजमान्य सुविधा उपलब्ध कर देना ही होता है । उस पर जन्म जन्मांतर तक न छूटने वाली संबंधग्रंथि का आरोपण धर्म द्वारा होता है । कुछ विकसित हो जाने पर इस प्रथा के दो रूप दिखाई देने लगते हैं । एक रूप में उसे देवीदेवताओं की साक्षी में और उनके आशीर्वाद के साथ संपन्न किया हुआ धार्मिक संस्कार माना जाता है ; और दूसरे रूप में उसे कानून के नियमों से संचालित दो व्यक्तियों के बीच का इकरार मात्र माना जाता है ।



विवाहप्रथा ने मनुष्यजाति को पारिवारिक व्यवस्था की सुदृढ बुनियाद पर खड़ा करके उसके संस्कारों को उच्च कक्षा पर ले जाने में बहुत अधिक सहायता पहुँचाई है । केवल देह संबंध पर आधारित यौन व्यापार के अन्य प्रकारों को इस संस्था के मुकाबले में सदा गौण ही माना गया है । प्रजोत्पत्ति और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावनाओं का विवाह संस्कार के साथ संयोग हो जाने पर उसे केवल शरीरसुख का एक बहाना नहीं माना जा सकता । यह सही है कि विवाहप्रथा में देहसंबंध की उपेक्षा नहीं की जाती । परंतु उसके साथ शिष्टता और सामाजिकता का तत्त्व जुड़ जाने से वह अत्यंत परिष्कृत हो उठती है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

आर्यों में विवाह के निम्नलिखित आठ प्रकार प्रचलित थे :—

(१) प्राजापत्य, (२) ब्राहम, (३) आर्ष, (४) गांधर्व, (५) दैव, (६) आसुर, (७) पैशाच (८) राक्षस

विवाहों के इन नामों से ही उनका अर्थ व्यंजित हो जाता है । वर्तमान युग के उच्चवर्णीय हिंदू समाज में अधिकांश विवाह प्राजापत्य प्रकार के होते हैं । यह प्रकार विवाह के अन्य सब प्रकारों से अधिक परिष्कृत और संबंधित व्यक्तियों में से करीब करीब सब की संमति पर आधारित होता है । विवाह संस्था की स्थापना और उसे स्थिरता प्राप्त होने से पहले की परिस्थिति की विचित्रताओं का विचार बाद में किया जायगा । उससे पहले यहाँ उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों का उलटे क्रम से विचारकर लें ताकि प्रत्येक प्रकार की विशिष्टताओं का स्पष्टीकरण हो सके ।

राक्षस विवाह का मुख्य लक्षण यह था कि कन्या का जबरदस्ती से हरण करके, उसकी मरजी या नामरजी की चिंता किए बिना उससे विवाह कर लिया जाता था । मानी हुई बात है कि तरह तरह के षडयंत्र, युद्ध, और पीढ़ी दर पीढ़ी चलनेवाला वैरभाव इस प्रकार के विवाह के आवश्यक परिणाम हों । अलबत्ता इस प्रकार के विवाह को भी बाद में शिष्टसंमत घोषित करके उसकी गणना विवाह के अन्य साधारण प्रकारों में कर ली जाती थी । परंतु स्त्री की राजी-नाराजी की परवाह किए बिना उसका हरण करा इस विवाह का व्यवच्छेदक लक्षण था । एक और बात भी ध्यान आकर्षित करती है कि इस विवाह से उत्पन्न संतति को औरस माना जाता था और उसे उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जाता था । महाभारत में कथा है कि भीम ने अपने भाइयों के विवाह के लिए अंबा, अंबिका और अंबालिका का हरण किया था । इसके बाद, ईश्वर का अवतार माने जाने वाले श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण ; उन्हीं की सहायता से अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण, और उषाहरण से लगाकर भारत के अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज द्वारा किए जाने वाले संयुक्ताहरण तक यह परंपरा चलती रही और तब तक इसे प्रतिष्ठा भी मिलती रही । उपरोक्त सभी उदाहरणों मों हरण की जाने वाली कन्याओं की संमति थी ; परंतु इससे इस प्रकार में समाया हुआ राक्षस-विवाह का तत्त्व दूर नहीं होता । बाद में यह प्रथा राजा-महाराजाओं और धनिक कामुकों के षडयंत्रों के रूप में ही जीवित रही । हरण की जाने वाली कन्या की संमति का तत्त्व दिनोंदिन कम होता गया, और सामाजिक मान्यता से वह उत्तरोत्तर वंचित होती गई ।

विवाह का दूसरा प्रकार है पैशाच-विवाह । धोखेबाजी से या झूठे प्रलोभन देकर किए जाने वाले विवाहों का और किसी मंत्रतंत्र या मादक द्रव्य के प्रभाव से स्त्री को बेहोश करके किए जाने वाले नाममात्र के विवाहों का समावेश इस प्रकार मे होता है । इस नामका संबंध पिशाचयोनि के साथ है, या पैशाची भाषा बोलने वाली, निम्नश्रेणी की किसी आर्येत्तर जाति के साथ, इस विषय में विद्वानों के मतभेद है । हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात तो केवल इतनी है कि हरण करके या छलकपट से किए जाने वाले विवाह-संबंध भी हमारे धर्मशास्त्रों में स्थान प्राप्त कर सके थे और विवाह की पवित्र संज्ञा के अधिकारी हो सके थे । इस प्रथा के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा यहाँ निरर्थक होगी । परंतु यह माने बिना छुटकारा नहीं कि आर्यप्रजा के जीवन में इस प्रकार की घटनाएँ होती थीं और उन्हें समाज की स्वीकृति भी मिल जाती थी ।

तीसरा प्रकार आसुर-विवाह है जिसमें कन्या के पिता या अभिभावक को कन्या की कीमत चुका कर

विवाह किया जाता था । कुछ विचारकों का कहना है कि इस प्रथा के कारण ही बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व जैसी सामाजिक अनवस्थाओं का जन्म होता है । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस की संभावना सामाजिक जीवन की अत्यंत गिरी हुई कक्षा पर ही हो सकती है । स्त्री का क्रय-विक्रय स्त्रीजीवन की और पर्याय से समाजजीवन की निम्नतम अवस्था सूचित करता है । विवाह के इस प्रकार की स्वीकृति द्वारा यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि इस तरह की गिरावट वाला समाज आर्यों में मौजूद था । इस प्रथा की सबसे बड़ी बुराई यह है कि सत्ताधीश और धनवान वर्ग के लोग अपनी सत्ता या संपत्ति के बल पर चाहे जितनी स्त्रियों की अपने अंत :पुर में भरती कर सकते थे जिसके परिणाम-स्वरूप शक्तिहीन या धनहीन मनुष्य के लिए स्त्री का मिलना दुर्लभ हो जाता होगा । समाज के साधनहीन वर्गों में कई भाइयों के बीच में एक या निकट के कई संबंधियों के बीच साझेदारी में एक स्त्री खरीदने की घृणित प्रथा के मूल भी इसी अवस्था में ढूंढे जा सकते हैं । यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि आर्थिक कारणों से जन्म लेने वाली बहु-पतित्व की प्रथा में और मातृसत्तात्मक समाजरचना के कारण उत्पन्न होने वाले बहुपतित्व के रिवाज में आकाश-पाताल का अंतर है । अपने देश में हिमाचल-प्रदेश, भूटान, कुर्ग, त्रावनकोर और नीलगिरि की पहाड़ियों में रहनेवाले टोडा आदिवासियों में बहुपतित्व की प्रथा न्यूनाधिक अंश में आज तक प्रचलित है, यद्यपि उसके कारण प्रत्येक प्रदेश में भिन्न हैं । आसुर-विवाह के इस अप्रिय परिणाम के कारण आर्यों के शिष्ट समाज में से इसका क्रमश : लोप होता गया । विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर राक्षस, पिशाच और असुर, इन तीनों जातियों को आर्यजातियाँ नहीं माना जा सकता । पूरे आर्य साहित्य में इन प्रजाओं का उल्लेख आर्यों से नीची कक्षा की और आर्यविरोधी जातियों के रूप में हुआ है । परंपरा से चली आनेवाली कथाओं में भी इन जातियों का परिचय इसी रूप में मिलता है । परंतु आर्य और आर्येतर जातियों के बीच संमिश्रण की प्रक्रिया बहत अधिक हुई थी । विरोधी या बहिष्कृत समूहों के साथ के विवाह संबंधों की शास्त्रसंमत स्वीकृति एक ओर यदि आर्यों की उदारता की गवाही देती है तो दूसरी ओर वह उस युग की परिस्थितियों और अनिवार्य आवश्यकताओं का निरूपण करती है । उपरोक्त तीनो विवाह-प्रकारों को आर्य संस्कृति ने स्वीकृत अवश्य किया, परंतु आरंभिक युग के बाद उन्हें शिष्ट मानने की वृत्ति उत्तरोत्तर कम होती गई । अपनी श्रेष्ठता के विषय में अत्यधिक जागरूक रहने वाले आर्यों को अनार्यता-सूचक नामोंवाले विवाहों को मान्य करना पड़ा, यह इस बात का उत्तम उदाहरण है कि परिस्थितियाँ मानवजीवन में कैसी-कैसी विचित्रताएँ उत्पन्न कर सकती हैं ।

इसके बाद के विवाह-प्रकारों में शिष्टता का अंश बढ़ता जाता है । चौथा प्रकार दैव-विवाह कहा जाता है । यज्ञयागादि में यजमान प्रधान अध्वर्यु के साथ प्राय : अपनी पुत्री का विवाह कर देता था । विद्वानों की विद्वत्ता पर मोहित होकर उन्हें अपनी कन्या दान के रूप में दे देने का रिवाज उस युग की सामाजिक विशिष्टता का परिचायक है ।

विवाह का पाँचवाँ प्रकार गांधर्व-विवाह कहा जाता था । इसे उस युग में भी काफी प्रगत और रोमानी माना जाता था । इसमें माता-पिता की संमति की आवश्यकता नहीं रहती । विवाह की कोई खास धार्मिक विधि नहीं की जाती और समाज में उसकी घोषण करना भी आवश्यक नहीं होता । इसका मुख्य तत्त्व था स्त्री-पुरुष की परस्पर संमति । एक दूसरे को फूलों की माल पहना देने से और परस्पर एकनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा कर लेने से ही गांधर्व-विवाह संपन्न हो जाता है ऐसा माना जाता था । इसकी तुलना आजकल के प्रेमविवाहों से की जा सकती है । कभी-कभी तो प्रथम मिलन के आवेशमय उत्साह में ही गांधर्व-विवाह कर लिया जाता था । दुष्यंत-शंकुतला का गांधर्व-विवाह हमारे प्राचीन साहित्य की अत्यंत प्रसिद्ध घटना है । उषा-अनिरुद्ध का विवाह भी इसी श्रेणी में आता है । पुराणों में भी इस प्रकार के विवाहों का वर्णन है ; यद्यपि पौराणिक कथाओं में यह देखा जाता है कि वर-वधू को आशीर्वाद देकर गांधर्व-विवाह को कुछ अधिक शिष्टता प्रदान करने के लिए ऐन मौके पर कोई न कोई ऋषि या ब्राह्मण बिना निमंत्रण के अवश्य प्रकट हो जाता है ।

छठा प्रकार है आर्ष-विवाह । इसमें विवाह संस्कार लंबी-चौड़ी धार्मिक विधि के बाद संपन्न हुआ माना जाता है और पूरा अनुष्ठान विवाह करवानेवाले पुरोहित की उपस्थिति में होता है । इसकी विशिष्टता केवल इतनी ही है कि सवत्स गायों की एक जोड़ी वर की ओर से कन्या के पिता या अभिभावक को देनी पड़ती थी । इससे इस विवाह में क्रय-विक्रय का तत्त्व प्रवेश कर जाता है यह तो नहीं कहा जा सकता ; पर केवल इसी कारण से कुछ विद्वान इसे आसुर-विवाह का ही कुछ परिष्कृत रूप मानने को प्रवृत्त होते हैं ।

सातवां प्रकार है ब्राहम-विवाह । इसमें वर-वधू का चुनाव प्राय : मध्यस्थ ब्राहमणों द्वारा किया जाता है और दोनों के मातापिता की संमति अनिवार्य होती है । इसमें देनलेन का तत्त्व बिलकुल नहीं होता । अत : इसे विवाह का एक अत्यंत विशुद्ध प्रकार मानकर ब्राहमविवाह के नामसे पहचाना जाता है ।

विवाह का ब्राहम-विवाह से भी अधिक परिष्कृत और सुसंस्कृत रूप है प्राजापत्य विवाह । इसमें विवाह-संबंध का निश्चय वरवधू के मातापिता करते हैं और वर-कन्या को एक दूसरे को पसंद करने का अधिकार रहता है । कन्या के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी हो, तो कन्यादान के समय कन्या को वस्त्राभूषण ओर धनसंपत्ति दी जाती है । गोद भरने के समय अपनी हैसियत के अनुसार वरपक्ष की ओर से भी कन्या को आभूषण और धनसंपत्ति दी जाती है जिस पर उसके सिवा और किसी का अधिकार नहीं माना जाता । कन्यादान में वस्त्रालंकार के उपरांत बर्तन, सौंदर्य-प्रसाधन की मांगल्यसूचक वस्तुएँ और घर-गृहस्थी में काम आने वाली अनेक प्रकार की वस्तुएँ दी जाती हैं । विवाह-संस्कार अग्नि और अन्य देवताओं की साक्षी में संपन्न होता है । सप्तपदी के बाद एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ रहने की और जीवन के हरक्षेत्र के उत्तरदायित्व मिलजुल कर पूरे करने की प्रतिज्ञाएँ करवाई जाती हैं । आज के उच्चवर्णीय हिंदू समाज में थोड़े बहुत स्थानिक परिवर्तनों के साथ प्राजापत्य विवाह ही प्रचलित है ।

इन आठ शास्त्रोक्त प्रकारों के उपरांत स्वयंवर की प्रथा भी प्राचीन युग में और मध्ययुग के राजपूतों में प्रचलित थी । निमंत्रित किये हुए राजाओं और राजपुत्रों के समुदाय में से राजकन्या अपनी पसंद के अनुसार किसी के गले में वरमाला डाल कर उसका वरण करती थी । सीता, द्रौपदी, दमयंती और संयुक्ता के स्वयंवर इस प्रथा के प्रसिद्ध उदाहरण हैं । अकसर इन स्वयंवरों में राजकुमारी को अपनी इच्छानुसार किसी भी राजपुत्र का वरण करने का स्वातंत्र्य होता था ; परंतु कभी-कभी शक्ति की किसी विशिष्ट स्पर्धा में सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित होने वाले पुरुष के साथ उसका विवाह कर दिया जाता था । सीता स्वयंवर में शिव धनुष्य को उठाकर उसका संधान करने की कसौटी थी जबकि द्रौपदी-स्वयंवर में मत्स्यवेध की कठिन परीक्षा रखी गई थी । मत्स्यवेध में किसी क्षत्रिय को सफलता न मिलने पर द्रुपद को उपस्थित ब्राहमणों के समुदाय में से मत्स्यवेध कर सकने वाले वीर का आवाहन करना पड़ा था । इसके विरुद्ध, दमयंती और संयुक्ता के स्वयंवरों में इस प्रकार की कोई कसौटी नहीं रखी गई थी । संयुक्ता ने तो पृथ्वीराज की अनुपस्थिति में द्वारपाल के स्थान पर रखी हुई उसकी प्रतिमा को वरमाला पहनाकर स्वयंवर की एक नयी और शायद अधिक सच्ची प्रथा का परिचय दिया था ।

आर्य विवाहप्रथा के इन विविध प्रकारों का समग्रता से विचार करने पर एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि न्यूनाधिक अंश में धार्मिक संस्कार इन सभी प्रकारों में आवश्यक माना जाता था । कम-अधिक प्रमाण में सामाजिक स्वीकृति भी इनमें के प्रत्येक प्रकार को मिल जाती थी । ध्यान खींचने वाली एक और बात यह दिखाई देती है कि विवाह की विभिन्न विधियाँ और धार्मिक कर्मकांड तो निश्चित हो चुके थे ; परंतु हमारी आज की नीतिभावना की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाने वाली एक पतित्व और एकपत्नीत्व की भावना उस युग में पूर्णत : स्वीकृत नहीं हुई थी ।

इन विभिन्न प्रकार के विवाहों का और स्मृतियों द्वारा स्वीकृत बारह-चौदह प्रकार के पुत्रों का विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि उस युग की विवाहसंस्था हम मानते हैं या मानना चाहते हैं उतनी विशुद्ध नहीं थी । अनियमित यौन संबंधों को किसी न किसी स्तर पर किसी न किसी रूप में मान्य कर लिया जाता था और विवाह संस्कार के मूल में पवित्रता या विशुद्धता की भावना की अपेक्षा संतान की, और विशेष रूप से पुत्रप्राप्ति की कामना कहीं अधिक बलवती थी । इस संदर्भ में यह प्रश्न यहाँ फिर एक बार उपस्थित होता है कि यौन स्खलनों को भयानक पाप माना जाय, या मनुष्यप्राणी की एक क्षम्य और सह्य दुर्बलतामात्र माना जाय ? इसे यदि भयानक पाप माना जाय, तो एक बार पथभ्रष्ट हुई स्त्री सदा के लिए गणिकावृत्ति के अपेक्षाकृत अधिक पापमय वर्तुल में धकेल दी जाय ऐसी संभावना रहती है । इसके विपरीत, इन स्खलनों को क्षम्य और मानवसुलभ दुर्बलता मानकर इनकी उपेक्षा की जाय, तो काम व्यवहार अत्यंत सरल होकर उसकी परिणति भी गणिकावृत्ति में हों सकती है । इस प्रकार यह प्रश्न एक ऐसी शृंगापत्ति उपस्थित करता है जिससे बचने का कोई मार्ग नहीं । भारत ने पहला मार्ग ग्रहण करके गणिकावृत्ति को जन्म दिया, तो पश्चिम के देशों ने दूसरा रुख अख्तियार कर के वेश्यावृत्ति का प्रसार किया ।

इस प्रश्न को फिलहाल यहीं छोड़ कर हम धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत विभिन्न प्रकार के पुत्रों का विचार कर लें । अधिकांश स्मृतिकार निम्नलिखित बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख करते हैं :—

१. स्वयंजात या औरस :— विधिपूर्वक विवाहित पति-पत्नी के समागम से उत्पन्न पुत्र ।

२. क्षेत्रज या प्रणीत :— पति की संमति से किसी सुपात्र निकटसंबंधी के समागम से धर्मपत्नी द्वारा उत्पन्न पुत्र इसी को नियोग प्रथा कहा जाता था ।

३. परिक्रीत:— आर्थिक या अन्य किसी प्रकार के लाभ की लालच से अपनी पत्नी का अन्य पुरुष द्वारा उपभोग किया जाने पर उत्पन्न पुत्र ।

४. पौनर्भव :— विधवा, परित्यक्ता या विवाह-विच्छेदिता स्त्री द्वारा पुनर्विवाह किया जाने पर दूसरे पति से उत्लन्न पुत्र ।

५. कानीन :— कौमार्यावस्था में उत्पन्न पुत्र । इस पुत्र का पिता कौन है, यह निश्चित न हो सके तों उसे उसके मातामह का पुत्र मान लिया जाता था । कौमार्यावस्था में मातृत्व प्राप्त करने वाली युवती का शास्त्रसंमत विवाह केवल उसका उपभोग करने वाले पुरुष के साथ ही हो सकता था ।

६. स्वैरिणीज :— स्वैरिणी (व्यभिचारिणी) पत्नी से उत्पन्न पुत्र ।

७. दत्तक :— अपुत्र पति-पत्नी द्वारा किसी निकट-संबंधी के पुत्र को उसके मातापिता की संमति से गोद लेकर अपना माना हूआ पुत्र ।

८. कृत्रिम :— निकट के संबंधी का पुत्र उपलब्ध न होने पर, किसी सगोत्री से दत्तक लिया हुआ पुत्र । कभी-कभी इसमें गोत्र का बंधन भी शिथिल कर दिया जाता था और किसी भी बालक को गोद लेकर उसे अपना पुत्र मान लिया जाता था । यह प्रथा और दत्तकविधि से गोद लेने की प्रथा अब तक प्रचलित है ।

९. क्रीतिः— बालक के माता-पिता को धन देकर खरीदा हुआ पुत्र ।

१०. स्वयं उपगत या स्वयंदत्तः— जिसे अपने माता-पिता का कोई पता नहीं, ऐसा बालक स्वयं उपस्थित होकर पुत्र के रूप में स्वीकृत होने की याचना करे तो वह स्वयउपगत पुत्र कहलाता है ।

११. सहोढजः— विवाह के समय स्त्री गर्भिणी हो, तो उसका पुत्र सहोढज कहलाता है ।

१२. हीनयोनिधृतः— नीची जाति की स्त्रियों या घर की दासियों का गृहस्वामी या परिवार के अन्य किसी

पुरुष द्वारा उपभोग होने पर उत्पन्न पुत्र ।

अधिकांश स्मृतियों में इन बारह प्रकारों का ही उल्लेख हैं । परंतु कुछ स्मृतिकार और भी दो प्रकार के पुत्रों को मान्यता देते हैं :—

१३. गूढज :— घर में, गृहस्वामी के गुप्त व्यभिचार से घर की आश्रिता या संबंधी स्त्रियों (जो दासी न हों) द्वारा उत्पन्न पुत्र ।

१४. अपविद्ध या परित्यक्त :— जन्म होते ही माता-पिता द्वारा त्याग दिया जाने वाला पुत्र । किसी को ऐसा बालक कहीं मिल जाय, और उसका पुत्र रूप में पालन-पोषण हो, तो वह अपविद्ध पुत्र कहलाता है ।

स्मृतिकारों ने इन बारह-चौदह प्रकार के पुत्रों को मान्य अवश्य रखा है, परंतु उनमें से अधिकांश को वाँछनीय नहीं माना । परिक्रीत, कानीन, स्वैरिणीज, सहोढज और गूढज पुत्रों को तो स्पष्ट रूप से निंद्य घोषित किया गया है । बाद की स्मृतियों के अनुसार इन निंद्य प्रकार के पुत्रों को पिंडदान का अधिकार भी नहीं होता । शायद उन्हें इस अधिकार की विशेष आवश्यकता भी नहीं होती ; और यह अधिकार उन्हें दिया जाय, तो वे इसका किस हद तक निर्वाह करेंगे, यह भी नहीं कहा जा सकता । परंतु संपत्ति के उत्तराधिकार का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है; और इस संबंध में स्मृतियों में स्पष्ट निर्णय दिए गये हैं । आश्चर्य की बात यह है कि जिन स्मृतिकारों को हम उनकी संकीर्णता और पक्षपात के कारण गालियाँ देने का एक भी अवसर नहीं चूकते, उन्होंने इन सब पुत्रों को, परिक्रीत और गूढज जैसे अतिनिंद्य प्रकारों को भी, न्यूनाधिक अंश में जन्मदाता पिता की संपत्ति का अधिकारी माना है । और तो और, ब्राह्मण के समागम से शूद्र स्त्री को पुत्र उत्पन्न हो, (जिसे निषाद कहा जाता था) तो उसे भी पिता की संपत्ति के तीसरे भाग का अधिकारी माना गया है । इसी प्रकार की उदार व्यवस्था व्यभिचार से उत्पन्न संतति के संबंध में दी गई है । विधवा स्त्री यदि यौवन के आवेग में आकर दुराचारिणी हो जाय, तो उसकी संतति को उत्तराधिकार तो नहीं दिया गया, पर उसका पालन-पोषण उसके पतिगृह में ही हो, ऐसा स्पष्ट निर्णय स्मृतिकारों ने दिया है ।

विवाह और पुत्रों के उपरोक्त विविध प्रकार, और व्यभिचारिणी पत्नी के पुत्र तक को दिये जाने वाले सांपत्तिक अधिकार एक विकसनशील समाज व्यवस्था की सूचना देते हैं । प्राजापत्य पद्धति द्वारा विवाहित पति-पत्नी के पवित्र संबंध से लगाकर नियोग, व्यभिचार और विवाहपूर्व मातृत्व तक की स्वीकृति में स्त्री-पुरुष के यौन संबंध के प्राय: सभी संभाव्य प्रकारों का समावेश हो जाता है । आठ प्रकार के विवाह और बारह-चौदह प्रकार के पुत्रों को मान्य रखने वाले युग में वेश्यावृत्ति का अस्तित्व असंभव नहीं माना जा सकता । बाद के स्मृतिकारों ने तो अपने विधि निषेधात्मक निर्णयों में वेश्याओं का स्पष्ट रूप से स्थान-निर्धारण किया है । वेदकालीन विवाह-प्रकारों से लगाकर आज के युग में प्रचलित विवाहप्रथाओं का अध्ययन करने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि पिछले पाँच हजार वर्षों में आर्यों ने विवाहसंस्था के क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोग किये हैं ।

४

वेदों में गणिकावृत्ति का उल्लेख

वेदकाल से लगा कर स्मृतियों के युग तक आते-आते हम बहुत लंबे कालखंड का विचार कर चुके । स्मृतियुग में आकर धर्मशास्त्रों की व्यवस्थाएँ अधिकाधिक स्पष्ट और निर्णयात्मक होती गईं । परंतु भारतीय आर्यसंस्कृति के आरंभिक युग में इतने स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते । वैदिक युग की समाजव्यवस्था की कुछ धुंधली सी कल्पना वेदों की ऋचाओं में उल्लिखित प्रसंगों या घटनाओं के सहारे

की जा सकती है । यहाँ हम आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में वर्णित स्थिति पर विचार करेंगे, जो वेदों के प्रति अत्यधिक पूज्यभाव रखनेवालों को आश्चर्यजनक तो नहीं, पर कुछ विचित्र अवश्य लग सकती हैं । ऋग्वेद संहिता के मंडल, सूक्त और ऋचा की संख्या साथ-साथ दी जा रही है :—

"सुंदर गतिवाला महाबलवान बृषभ जिस प्रकार गायों के झुंड में घुस जाता है, उसी प्रकार सर्व कामनाएँ पूरी करने वाले इंद्रदेव स्त्रियों के समूह में घुसकर मनुष्यों पर अनुग्रह करते हैं ।" (ऋ. १।७।८)

"अग्निदेव सब विवाहिता स्त्रियों का पति और समस्त कुमारिकाओं का जार है ।" (ऋ. ५।६६।४)

"एकांतवास करने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने असाधारण पति की सेवा करती हैं, उसी प्रकार होता की अंगुलियाँ पूजनीय अग्नि की सेवा करती हैं ।" (ऋ. ५।७१।१) । 'एकांतवास करने वाली स्त्रियाँ' और 'असाधारण पति' आदि शब्दोल्लेख गणिकावृत्ति की ओर ही संकेत करते हैं ।'

"अनेक पुरुष जिस प्रकार एक ही सुंदरी की कामना करते हैं उसी प्रकार देवगण सोमरसपूर्ण यमश का सेवन करते हैं ।" (ऋ. ६।८३।२)

"नापित की तरह उषा अंधकार का छेदन करती है । नहीं-नहीं, उषा सुंदरी के लिए इससे अधिक सुंदर रुपकविधान होना चाहिए । कुशल नटी की तरह वह अपने गाय के थनों जैसे भारक्त स्तनों को आवरणहीन करती है ।" (ऋ. ५।९२।४)। नटी की उपमा और उरोजप्रदर्शन के अभिनय का उल्लेख निस्संदेह रूप से पेशेवर नर्तकियों और देहविक्रय करनेवाली स्त्रियों के अस्तित्व की सूचना देते हैं । इसके बाद की कुछ ऋचाओं में और भी स्पष्ट उल्लेख हैं :—

"क्रमश : प्रकाशित होने वाली उषा, संपत्ति देने वाले पुरुष को खुश करने वाली स्त्री की तरह मुसकराती है ।" (ऋ. ६।९२।६)। संपत्ति की लालच से लजाने-मुसकराने वाली स्त्रियाँ किस वर्ग की होती हैं, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं ।

"कोई स्वेच्छाचारी विषयलंपट पुरुष अपने धन का जिस प्रकार से अस्थान पर दुरुपयोग करता है, वैसा बर्ताव तुम कभी मत करना ।" (ऋ. ७।१०४।५।) । यह सामाजिक चित्र भी अत्यंत स्पष्ट है । लंपट पुरुषों के लिए धन का दुरुपयोग करने का निंदित स्थान कौनसा हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं । स्वेच्छाचार, लंपटता और धन के परित्याग का एक साथ उल्लेख होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब से, और इनके योग से उत्पन्न होने वाली अनवस्थाओं से वह युग परिचित था । इतना ही नहीं, आज के युग में प्रार्थना के पवित्र सूक्तों में इन बातों का उल्लेख करने में हमें जो झिझक हो सकती है, वह उस युग में नहीं थी ।

"कामी युवापुरुष जिस प्रकार अपना पूरा धन परस्त्री को दे देता है, उसी प्रकार ऋमृष्व ने सौ भेड़ें काट कर दे दीं ।" (ऋ. ८।११७।३।) । इस ऋचा में सौ भेड़ों को काट देने का उल्लेख जिस सरसरे ढंग से हुआ है, उससे वेदकाल में जीवहिंसा का प्रचलन किस हद तक था, यह तो प्रमाणित होता ही है, पर साथ-साथ कामी पुरुष का द्रव्य परस्त्री को अर्पित होता था, यह भी स्थापित होता है । किसी न किसी प्रकार के साधारण धर्म के बिना विभिन्न वस्तुओं या व्यापारों की तुलना हो ही नहीं सकती ।

"इसके बाद जुए में जीती हुई सूर्या ने आपका पति के रूप में वरण करके आपसे सहचार किया ।" (ऋ. ८।११९।५।) इस में जुए की हारजीत में स्त्रियों को दाँव पर लगाने का स्पष्ट उल्लेख है । यह प्रथा बाद में भी लंबे समय तक चलती रही थी । महाभारत युग का द्रौपदी का उदाहरण तो अत्यंत प्रसिद्ध है ही, पर बीसवीं शताब्दी के आरंभकाल तक कर्ज चुकाने के लिए स्त्रियों का आदान प्रदान कई जातियों में प्रचलित था, यह हम पहले देख चुके हैं । इससे एक और तथ्य स्थापित होता है कि वेदकालीन आर्य सोमपान के साथ साथ द्यूत के भी अत्यधिक शौकीन थे ।

"हे इंद्रदेव, श्रेष्ठ कक्षिवान को आपने प्रसन्न होकर रचयानामक युवती प्रदान की ।" (ऋ. ३'९१'१३) । इससे यह प्रमाणित होता है कि उस युग में भेंट सौगात के रूप में सुंदर स्त्रियाँ देने की प्रथा भी थी । ऋग्वेद ३।५६ की पहली ऋचा में अश्व-अश्विनी के समागम का अत्यंत खुला वर्णन है । पवित्र और

अपौरुषेय माने जाने वाले वेदों में मवेपन की सीमा तक पहुंचनेवाली इतनी स्पष्टता उपेक्षणीय नहीं मानी जा सकती ।

''इंद्र ने उससे कहा कि स्त्री का मन रोका नहीं रुकता । स्त्रियों की बुद्धि अल्प होती है । फिर भी मनुष्य स्त्री के पीछे दौड़ता है । सूर्यदेव भी अपनी प्रिया उषादेवी के पीछे-पीछे भागते हैं । (ऋ. ८।३३।१७) इससेपहले के मंडल की एक ऋचा में उस युग की एक अन्य सामाजिक व्यवस्था या अव्यवस्था का वर्णन इन शब्दों में हुआ है :—

''इधर-उधर भटकती हुई उषा जार से मिलने जाने वाली स्त्री के समान दिखाई देती है ।'' (ऋ. ७।७६।३) । दुनिया की नजरें बचा कर प्रेमी या जार से मिलने जाने वाली अभिसारिका का वर्णन सभी युगों के काव्य में पाया जाता है । अभिसारिका की पूरी कल्पना ही अत्यंत रमणीय और काव्य सौंदर्यमय मानी गई है । वेदकाल में भी इसका उल्लेख हुआ है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । आश्चर्य केवल इस बात का है कि पूज्यभाव से उषादेवी की प्रार्थना करने वाले सूक्तों में इस प्रकार की तुलना की गई है ।

उपरोक्त उदाहरणों की अधिकांश ऋचाओं में वेश्यावृत्ति की अपेक्षा व्यभिचार और उन्मुक्त कामव्यवहार की ही गवाही अधिक मिलती है । परंतु ऋग्वेद मंडल १।१६७ की चौथी ऋचा में गणिकावृत्ति के अस्तित्व का स्पष्ट और प्रबल प्रमाण मिलता है । ''जिस प्रकार मनचले नवयुवक साधारण्या स्त्रियों के साथ मनमाना बर्ताव करते हैं, उसी प्रकार श्वेत आयुधों वाले मरुत्गण जहाँ चाहें वहाँ संचार करते हैं ।'' यह 'साधारण्या' किस श्रेणी की स्त्री हो सकती है ? वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने इस शब्द का विशद विवेचन किया है और उसे अलंकारशास्त्रों की 'सामान्य नायिका' का पुरोगामी रूप मानने की संभावना व्यक्त की है । अलंकार ग्रंथों में वर्णित 'सामान्या नायिका' गणिका के सिवा और कुछ नहीं । सायण जैसे प्रकांड पंडित ने इस संभावना का स्वीकार कर के इस विषय के सारे अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है । इस एक शब्द के आधार पर व्यापक या संगठित गणिकावृत्ति की कल्पना चाहे न की जा सके, पर इसके सहारे उसके अस्तित्व की संभावना अवश्य मानी जा सकती है और उसके स्वरूप की धुंधली सी रूपरेखा भी खींची जा सकती है ।

'साधारण्या' शब्द की व्याख्या भाष्यकार ने तो की है, पर वेदों में इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता उस सुदूर अतीत में श्वेतकेतु जैसे दृष्टाओं के प्रयत्न से विवाह संस्था अधिकाधिक स्थायी और नियमबद्ध तो होने लगी थी ; परंतु उसकी स्थापना से पहले की उन्मुक्त अवस्था के कुछ संस्कार जनमानस में रह गये हों, ऐसा दिखाई देता है । वैदिक युग में भी मनुष्य का सामान्य स्वभाव और सहज प्रवृत्तियाँ आज की वास्तविकता से अधिक भिन्न नहीं रही होंगी यह मान लें, तो प्राचीन संस्कारों से प्रेरित यौन अनियमितता के सभी प्रकार उस युग में अप्रिय रहे हों, यह मानने का कोई कारण नहीं । उत्सवों के दिनों में, यज्ञयागादि सामुदायिक धर्मकार्यों में और खेलकूद के सामूहिक प्रसंगों पर मुक्त कामव्यवहार की अविस्मृत भावनाएँ उफन उठती हों, तो आश्चर्य नहीं । विवाह के कठोर बंधन इन प्रसंगों पर शिथिल हो जातें हो, यह भी संभव है । वर्तमान युग में होली के त्यौहार पर इसी प्रकार के स्वैराचार का प्रदर्शन होता है, जिसके पीछे की भावना हम मानते हैं उतनी विशुद्ध नहीं होती । मर्यादाभंग के ये सारे प्रकार उत्सव के उत्साह में सिमट जाते हैं । फिर, वेदकाल में तो सोम और आसवपान इतना अधिक प्रचलित था कि इन प्रसंगों पर मर्यादा का पालन करना अत्यंत कठिन हो जाता होगा ।

परंतु उत्सव के प्रसंगों पर दिखाई देने वाली मर्यादाहीनता दिनोंदिन स्थिर होने वाली सामाजिकता को पसंद न आये, और शिष्ट समाज के स्त्री पुरुषों द्वारा उसका अधिकाधिक विरोध होनें लगे, यह स्वाभाविक है ।यह विरोध कठोर हो उठने पर कुछ भावप्रवण और कलाप्रिय युवतियाँ उसकी उपेक्षा करते हुए सामान्य स्त्री-समूह से अलग होकर अपने रूप-लावण्य और नृत्य-संगीत से अपना और दूसरों का मनोरंजन करने का प्रयत्न करें यह भी स्वाभाविक है । नृत्य-संगीत में निपुण सभी स्त्रियों को वेश्या नहीं

कहा जा सकता । परंतु एक ओर नृत्य-संगीत जैसी रसात्मक कलाओं से जन्म लेने वाली उन्मादक स्वातंत्र्य भावाना से बल पाकर इन कलावती युवतियों की कामेच्छा उन्हें उनके मनपसंद पुरुषों की ओर आकृष्ट करें ; और दूसरी ओर उत्सवों और यज्ञयागादि सार्वजनिक प्रसंगों पर मिलने वाली छूट से संतुष्ट न रहते हुए कुछ वैविध्यप्रेमी रंगीले पुरुष इन मर्यादित अवसरों के उपरांत सामान्य समाजजीवन मेंभी उसी प्रकार का स्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिए लालायित हों, यह अत्यंत स्वाभाविक है । इन दोनों का योग एक-दूसरे का पूरक होकर जिस वातावरण की उत्पत्ति करता होगा, उसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्री-पुरुष के निकट संपर्क के अवसर और समागम का स्वातंत्र्य प्राचीन युग की अनेक सस्कृतियों में दिखाई देते हैं । ऐसी ही कुछ प्रक्रिया वैदिक युग में भी हुई, तो आश्चर्य नहीं । इन कलावतियों को पेशेवर वेश्याएं नहीं माना जा सकता । धर्म के सहारे उन्मुक्त कामाचार में प्रवृत्त होने वाली ये चंचलाएँ धर्मकार्य पूरा होने पर किसी पुरुष के आवाहन का स्वीकार करती हों, इसकी संभावना भी कम दिखाई देती है । धर्मकार्य के दरमियान भी कर्मकांड-प्रेरित काम व्यवहार पूर्णत : स्त्रियों की स्वेच्छा पर निर्भर रहता था धर्म की आड़ में मनमोन पुरुष के साथ मनमाना स्वेच्छाचार सभव था पर धन के आदान-प्रदान द्वारा या अन्य किसी प्रकार से उपभोग की कीमत चुकाने का तत्व इन संबंधों में प्रविष्ट नहीं हुआ था । उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समाजविकास की उस आरंभिक कक्षा पर स्त्रियाँ धर्म या रूढ़ि की आज्ञानुसार ही उन्मुक्त कामव्यापार में प्रवृत्त होकर अपने चारों ओर मोह, आकर्षण, रहस्य और धार्मिकता का वातावरण निर्माण करती थी परंतु इस स्थिति से वेश्यावृत्ति बहुत दूर नहीं रह जाती और स्वेच्छाचार के इस सूक्ष्म से बीज में से ही गणिकासंस्था के विस्तृत विषवृक्ष की जड़ें फैलती हैं । 'साधारण्या' का स्पष्ट रूपनिर्धारण न होने पर भी ऋग्वेद में उसका उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है । देवदासी-प्रथा का मूल भी इसी में देखा जा सकता है ; यद्यपि बाद के युगों में इस प्रथा का विकास आर्यों के उत्तरीय प्रदेशों की अपेक्षा दक्षिण के द्रविड़ प्रदेशों में ही अधिक हुआ ।

संहितायुग के बाद के ब्राह्मणयुग में इन साधारण्याओं की स्थिति उत्तरोत्तर गिरती गई, और कुछ समय बाद इस शब्द का प्रयोग करीब-करीब पेशेवर वेश्या के अर्थ में होने लगा । पुराणों में 'पुंश्चली' 'गणिका', 'वेश्या' आदि शब्द प्रचलित हो जाने पर 'साधारण्या' शब्द की आवश्यकता नहीं रही, पर 'साधारण स्त्री' या 'सर्वसुलभ स्त्री' जैसे शब्दप्रयोगों में वेदकाल की 'साधारण्या' की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद की ऋचाओं के स्वरों में गणिकावृत्ति की गूंज सुनाई देने लगी थी । यह सही है कि ऋग्वेद में इस संस्था का वर्णन नहीं हुआ है और इसके लक्षण भी स्पष्ट नहीं हुए हैं । परंतु वैदिक युग की और भी अनेक बातें स्पष्ट नहीं हो सकी हैं । इस हालत में, यह विषय अगर संदिग्ध रह जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये ।

५

वेदकाल का विहंगावलोकन

ऋग्वेदकालीन गणिकावृत्ति का अध्ययन यहीं तक सीमित रखकर हम कुछ अन्य बातों का विचार कर लें । इनमें की एक उल्लेखनीय बात यह है कि वेदों में अप्सराओं और उनके साथ देवताओं या मनुष्यों के विहार का वर्णन कई जगह हुआ है । उर्वशी नामक अप्सरा तो अत्यंत प्राचीनकाल से आर्यकल्पना द्वारा मान्य हो चुकी थी । एक कथा के अनुसार उर्वशी अपनी चार सहेलियों के साथ पुरुरवा के पास जाती है और आर्यप्रजा का यह महान पूर्वज इन पाँचों अप्सराओं के साथ एक साथ विहार करता है । ऋग्वेद के अठारह मंत्रों में इसका अत्यंत स्पष्ट वर्णन किया गया है । उर्वशी की इन वेदकालीन

सखियों के नाम भी रसिकों को पसंद आये ऐसे हैं : सुजूर्णी, श्रेणी, शुनअपी और हृदयचक्षु ।

वैदिकयुग अनेक शताब्दियों में फैला हुआ विस्तृत कालखंड है । ऋग्वेद से लगाकर अथर्ववेद की रचना तक कितना समय व्यतीत हुआ, इसका निश्चित्त निर्णय नहीं हो पाया है । फिर भी, कम से कम एक हजार वर्ष का समय इन दोनों रचनाओं के बीच अवश्य बीता होगा । बाकी तीनों वेदों में ऋग्वेद के मंत्रों का पुनरावर्तन अनेक जगह पाया जाता है । थोड़े-बहुत परिवर्तन और कुछ नयी घटनाओं के साथ ऋग्वेद की कई कथाएँ भी बाकी तीनों वेदों में दोहराई गई हैं । इस अपूर्ण सामग्री के आधार पर उस युग के समाज का रेखांकन करना और विशेषतौर पर गणिकावृत्ति जैसी उलझी हुई सामाजिक समस्या का रूपनिर्धारण करना अत्यंत कठिन काम है । ऊपर उद्धृत की हुई ऋचाओं के आधार पर उस युग के सामान्य यौनसंबंधों का चित्र कुछ स्पष्ट अवश्य हो जाता है । अप्सराओं की कामक्रीड़ा के उपरांत नटी का उल्लेख और नटी द्वारा उरोजप्रदर्शन जैसी कामुक चेष्टाओं का वर्णन हो, तो इसमें से कोई रहस्यमय, प्रतीकात्मक या आध्यात्मिक अर्थ खोजने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उसे उस समय के साधारण काम व्यवहार का चित्रण मानना ही अधिक तर्कसंगत होगा । स्त्री-पुरुष के अमर्याद कामव्यवहार का सीधा उल्लेख भी बहुतायत से हुआ है । व्यभिचार, नृत्य-संगीत जैसी कलाओं और 'साधारण्या' शब्द द्वारा व्यंजित अवस्था का स्पष्ट स्वीकार करनेवाली समाजव्यवस्था में स्त्रियों का यह वर्ग गणिकावृत्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती स्थिति का निर्माण कर सकता है । यह सही है कि विवाहबंधन की शिथिलता गणिकावृत्ति के विकास में सहायक नहीं होती । यह भी सत्य है कि गणिकावस्था का स्पष्ट उल्लेख वेदें में नहीं मिलता । परंतु उस युग के सामान्य यौनव्यवहारों का दर्शन कराने वाले वर्णन उस समय की नैतिक परिस्थिति का अंदाज लगाने में हमारी बहुत अधिक सहायता करते हैं और उनके सहारे तत्कालीन सामाजिक स्थिति की स्थूल सी रूपरेखा भी निश्चित की जा सकती है ।

परंतु उन्मुक्त कामव्यवहार के इन उल्लेखों से यह अनुमान कदापि नहीं लगाया जा सकता कि विवाहसंबंध की पवित्रता या यौनव्यवहार की विशुद्धता से वह युग परिचित ही नहीं था । एकनिष्ठ और शीलवती गृहिणियों के ऐसे हृदयस्पर्शी वर्णन वेदों में मिलते हैं कि उनके प्रति सम्मान और पूज्यभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता । परंतु आज जिसे अतिशुद्धि का दुराग्रह कहा जाता है ; जिसके अनुसार यौनसंबंध का उल्लेख करना भी निषिद्ध होता है ; जिसके अंतर्गत अनियमित यौनसंबंध चलते तो रहते हैं परंतु उन्हें बाह्य आडंबर के पीछे छिपा दिया जाता है ; और स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक संबंध को महापातक मानकर समाज की नीतिभावना को एक असाध्य ऊँचाई पर आसीन करने का प्रयत्न किया जाता है ; ऐसा कोई पाखंडपूर्ण आग्रह उस युग में दिखाई नहीं देता । इस प्रकार का दुराग्रह मनुष्य समाज के लिए किसी भी युग में संभव नहीं है । उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड के विक्टोरियन युग में और बीसवीं शताब्दी में भारत के गाँधीयुग में इसके प्रचार के लिए जोरदार प्रयत्न हुए, परंतु इनमें से किसी को सफलता नहीं मिली ।

वेदकाल में पारिवारिक वर्तुल के अंतर्गत यौन व्यवहार की क्या स्थिति थी इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के दसवे मंडल की एक ऋचा के अंत में हुआ है । घोषा नामक विदुषी स्त्री कहती है : "जिस तरह विधवा स्त्री अपने देवर को अपनी शय्या की ओर खींचती है,और जिस प्रकार विवाहिता स्त्री अपने प्रिय-पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करती है, उसी प्रकार तुझे अपने घर की ओर कौन खींच रहा है ?" (ऋ. १० । ४० । २९ ।) । यह हम पहले भी कह चुके हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में अधिकतर इसी प्रकार के तुलनात्मक उल्लेख पाये जाते हैं । इससे अधिक स्पष्ट वर्णन प्राय : नहीं मिलता ; और इनके आधार पर ही हम उस युग की परिस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं । इस सामग्री के सहारे कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गणिकावृत्ति का अस्तित्व उस युग में निश्चित रूप से था ; स्त्री-पुरुष के यौन-संबंधों की मर्यादा और विवाह के बंधन पत्थर की लकीर नहीं बन पाये थे; और इस क्षेत्र के सभी स्खलनों का प्रायश्चित्त द्वारा निवारण हो सकता था । आज यह बात हमें विचित्र दिखाई दे सकती है, परंतु उस युग में यज्ञकार्य

यज्ञ में सहभागी हो सकने जितनी विशुद्ध रह सकी है या नहीं । एकनिष्ठ न रह पाने वाली पत्नी यदि सत्य निष्ठ हो, यज्ञयागादि पर उसकी श्रद्धा हो, देवताओं के कोप से डरती हो, और अपनी भूल का स्वीकार करने की उसमें हिंमत हो, तो वह स्पष्ट कह देती थी कि यज्ञकार्य के लिए वह योग्य नहीं । स्खलन की इस स्वीकृति के बाद उसका किसी प्रकार से तिरस्कार या बहिष्कार होता हो, यह बात भी नहीं । अशुद्धि का स्वीकार करने वाली स्त्री को कुछ मंत्रों का उच्चारण करते हुए पवित्र जल के छींटे मारकर शुद्ध कर लिया जाता था और उसके बाद वह पवित्र से पवित्र यज्ञकार्य में पति की सहभागिनी हो सकती थी । यज्ञ करने वाले पुरुष की विशुद्धि के संबंध में यही प्रश्न पूछने का अधिकार स्त्री को था या नहीं, यह संदिग्ध है । परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री के प्रति इससे अधिक सहिष्णुता या उदारता शायद ही किसी युग में बरती गई हो ।

इस संबंध में चारों वेदों का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं । आरंभ में वेद तीन ही थे : ऋक्, साम और यजुर् । अथर्ववेद की रचना बहुत बात में हुई थी । ऋग्वेद इनमें सबसे अधिक पुराना है और उसके अनेक मंत्रों और ऋचाओं की पुनरुक्ति बाद के वेदों में पायी जाती है । कहीं कहीं तो पूरे के पूरे सूक्तों का पुनरावर्तन हुआ है ; यद्यपि उनका संदर्भ और उद्देश्य कुछ भिन्न पाया जाता है । ऋग्वेद आर्यों के प्राचीनतम मंत्रों और प्रार्थनाओं का संग्रह है । सामवेद को ऋग्वेद की ही संगीतमय पुनरावृत्ति माना जा सकता है । ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि उच्चारणशुद्धि के निकषों की सहायता से नियमबद्ध करके संहिता की कविता को संगीत में प्रवाहित करने का प्राचीनतम, समर्थ और सफल प्रयत्न सामवेद में पाया जाता है । हमारे अध्ययन की दृष्टि से ऋक् और साम में इतना ही भेद करना पर्याप्त होगा । यजुर्वेद कर्मकांड का भंडार है । यज्ञयाग करने की शास्त्रोक्त प्रणालियाँ, तत्संबंधी विधिनिषेधों की सकारण मीमांसा और यज्ञ संबंधी बारीक से बारीक क्रियाओं का विस्तृत वर्णन यजुर्वेद में पाया जाता है । यजुर्वेद के दो विभाग हैं : कृष्ण और शुक्ल । इस ब्योरे में गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं ; परंतु हमारे अध्ययन से संबंध रखने वाली नरमेध की प्रथा का विचार यहाँ आवश्यक है । हमारी आधुनिक विचारधार को पसंद हो या न हो, पर पशुमेध और नरमेध के विविध प्रकारों का वर्णन यजुर्वेद में मिलता है । इनमें से अश्वमेध नामक यज्ञ तो बाद के युगों के सम्राटों के लिए महत्ता और प्रतिष्ठा का मानदंड एवं चक्रवर्तित्व का सूचक बन गया था । आश्चर्य की बात यह है कि ऋग्वेद के पुरुषसूक्त जैसे भव्य और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत काव्य का उच्चारण यजुर्वेद के नरमेध में आवश्यक माना जाता था । वेदों में उल्लिखित हर बात को अपौरुषेय और तर्क की सीमा से पर स्वत : सिद्ध प्रमाण न मानते हुए केवल व्यवहारिक संभावना की दृष्टि से विचार करें तो पुरुषमेध की प्रथा संभव दिखाई नहीं देती । नरमेध में विविध प्रकार के गुणों से युक्त, चित्र-विचित्र रंगरूपवाले, और विभिन्न प्रकार के गुणों से युक्त, चित्रविचित्र रंगरूप वाले, और विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करने वाले १८४ स्त्री-पुरुषों की सामूहिक रूप से बलि देना आवश्यक होता था । मर्यादित लोकसंख्यावाले उस युग में यज्ञ में होमने के लिए इतने अधिक आदमी एक साथ मिल जाते होंगे, यह संभव दिखाई नहीं देता । परंतु इस लंबीचौड़ी विधि के वर्णन से हमें यह जानकारी अवश्य मिलती है कि उस प्राचीन युग में भी चार वर्णों के उपरांत विविध प्रकार के कामधंधे करने वाले लोगों के वर्ग अलग इकाई के रूप में विकसित हो चुके थे । इन वर्गों का और अधिक विभागीकरण होने पर उनमें से ही बाद की पेशे पर आधारित सैकड़ों जाति-उपजातियों का जन्म हुआ होगा । ध्यान आकर्षित करने वाली एक और बात यह है कि पुरुषमेध में विविध प्रकार के पुरुषों के साथ विविध प्रकार की स्त्रियों को होमना भी आवश्यक माना जाता था । स्त्रियों के इन प्रकारों में पुंश्चली गणिका और व्यभिचारिणी का भी समावेश होता था । इस से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद की 'साधारण्या' का यजुर्वेद-युग तक आते आते उपरोक्त प्रकारों में विभाजन हो चुका था ।

अथर्ववेद में मंत्रतंत्र, जादूटोने, औषधियों के गुणधर्म और सप्तसिंधु के आर्यों के साथ ईरानी आर्यों

के संबंध का स्पष्ट करने वाली बातों का संग्रह है । इस में किसी भी स्त्री या पुरुष को मंत्रशक्ति से वश में करने के प्रयोगों का वर्णन भी पाया जाता है जिससे वैदिक युग के अंतिम चरण के सामाजिक प्रवाहों का स्पष्टीकरण हो जाता है । इस युग तक आते आते वैदिक आर्य बाल्हीक (बल्ख) और गंधार (अफगानिस्तान) से लगाकर सप्तसिंधु और गंगा-यमुना के मैदानों से होते हुए सरयूपार के मगध (बिहार) और अंग प्रदेश (उड़ीसा) तक फैल चुके थे । चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था स्थिर हो चुकी थी ; परंतु शूद्रों के सामाजिक बहिष्कार का आरंभ शायद नहीं हुआ था । अथर्ववेद में शूद्रों पर भी देवताओं का आशीर्वाद बरसाने की प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं । चारों वेदों में उपलब्ध प्रमाणों का समग्रता से अध्ययन करने पर इस बात की स्थापना तो निस्संदेह रूप से हो जाती है कि पण्यांगनाओं के विशिष्ट वर्ग का उस युग में अस्तित्व था । प्राचीनता के अभिमानी लोग यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग की विश्लेषक वृत्ति सुदूर अतीत के युगों में वर्तमानकाल की अनेक बातों का भ्रामक आरोपण कर लेती है । यह अभियोग बिलकुल ही निराधार है यह तो नहीं कहा जा सकता ; परंतु वर्तमान युग की वैज्ञानिक दृष्टि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यदि कुछ निष्कर्ष उपस्थित करे, तो वे चाहे कितने ही अप्रिय क्यों न हो, उन्हे मान्य रखे बिना छुटकारा नहीं । अपौरुषेय माने जाने वाले भेद भी विज्ञानयुग की इस संशोधक दृष्टि से अछूते नहीं बच सकते । यह हम पहले ही देख चुके हैं कि उस युग की गणिकासंस्था की अस्पष्ट सी झलक तो हमें मिलती है, पर उसका स्पष्ट रूपनिर्देश नहीं मिलता । रामायण-महाभारत काल तक आते आते इस संस्था का रूप अधिक स्पष्ट हो गया था । अत : आगे के कुछ परिच्छेदों में हम इन युगों की स्थिति का संक्षेप में विवेचन करेंगे ।



किसी भी पक्ष को किसी प्रकार का कलंक नहीं लगता था । महाभारत के उपरांत पुराणों में भी नियोग के कई उदाहरण मिलते हैं ।

संतानहीन कुंती को नियोग का शास्त्रोक्त आदेश समझाते हुए पांडु वेदकालीन विवाहप्रथा का इतिहास दोहराते हैं । अन्य पुरुष के समागम से संतानोत्पत्ति करने के उनके प्रस्ताव को पहले तो कुंती ने नहीं माना । समागम में से संतानोत्पत्ति करने के उनके प्रस्तार को पहले तो कुंती ने नहीं माना । पति के सिवा और पति के सिवा और किसी पुरुष के शरीर का स्पर्श करना वह नहीं चाहती थी । कुंती का आग्रह था कि नियोग की अपेक्षा तपस्या द्वारा आर्जित आध्यात्मिक शक्ति के बल पर पांडुको संतानोत्पत्ति का प्रयत्न करना चाहिये तपोबल से संतानोत्पत्ति हो सकती है यह सिद्ध करने के लिए उसने व्युशिनाश्व नामक राजा का उदाहरण दिया है । इस सोमवंशी राजा का दैत्यवंशी कक्षिवान की भद्रा नामक पुत्री के साथ विवाह हुआ था । पतिपत्नी दोनों अत्यंत सुंदर और युवा थे । अत : विवाह होते ही एक दूसरे के सौंदर्य पर आसक्त होकर वे अमर्याद विलास में डूब गये जिसके परिणाम स्वरूप व्युशिनाश्व राजयक्ष्मा से पीड़ित हुआ और छोटी उम्र



में ही उसकी मृत्यु हो गई । इस अकालमृत्यु से सबको अत्यंत शोक हुआ । संतान प्राप्ति से पहले ही मर जाने वाले पति के शव से लिपट कर भद्रा ने ऐसा विलाप किया कि देवताओं के हृदय द्रवित हो उठे और उन्होंने उसे वरदान दिया कि शुक्लपक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी के दिन वह मृतदेह के पास जायेगी, तो वह जीवित हो उठेगा और उसकी मनोकामना पूर्ण होगी । इन दो तिथियों को जीवित हो उठने वाले मृत पति के समागम से भद्रा ने दो शल्य और चार मद्र पुत्रों को जन्म दिया । कुंती के इस उदाहरण को पांडु ने इस तर्क से काट दिया कि यह युक्ति मृतदेह के लिए उपयुक्त हो सकती है ; परंतु वह खुद तो अभी जीवित है ; अत : उन्हें और किसी उपाय की सहायता लेनी पड़ेगी । इसके बाद, पांडु ने कुंती को नियोग के लिए प्रेरित करने के लिए जो कथाएँ सुनाई, और जिन प्राचीन प्रथाओं का उल्लेख किया, उन्हें उन्हीं के शब्दों में उद्‌धृत किया जाता है :—

तीसरा परिच्छेद
प्राचीन विवाह-व्यवस्था

१
पांडवों की उत्पत्ति और नियोग

वेदकालीन विवाहसंस्था का आभास और कुछ शताब्दियों तक चलने वाले उसके प्रभाव की झलक हमें महाभारत की आरंभिक कथाओं में अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है । महाभारत के आदिपर्व में पांडु अपनी पत्नी कुंती को संतानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करने के लिए इन पुरानी प्रथाओं का प्रमाणस्वरूप में उल्लेख करते हैं । शाप के कारण कहिए या शारीरिक निर्बलता के कारण कहिए, पांडु में संतानोत्पत्ति की क्षमता नहीं थी । आर्य-संस्कृति में प्रजावृद्धि की भावना आरंभ से ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है । उसमें भी, पुत्रजन्म को तो इहलोक और परलोक, दोनों दृष्टियों से अत्यधिक प्राधान्य दिया गया है । हिंदू संस्कारों में आज भी पुत्रजन्म का महत्त्व रत्तीभर भी कम नहीं हुआ है । आर्य-संस्कृति से भिन्न दिखाई देने वाली और मौके बेमौके उस पर प्रहार करनेवाली अन्य संस्कृतियों में भी जबानी जमाखर्च को छोड़कर लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता — पर्याय से पुत्र और पुत्री की समानता — का अधिक प्रचलन नहीं हो पाया है ।

संतानप्राप्ति — और विशेषरूप से पुत्रप्राप्ति का — महत्त्व उन दिनों इतना अधिक था कि शास्त्रों ने नियोग द्वारा पुत्रप्राप्ति की अनुमति दी थी और उसका प्रचलन भी प्रचुर मात्रा में था । पाँचों पांडव, पांडु खुद, उनके भाई धृतराष्ट्र और महाभारत के ख्यातनाम भक्त विदुर का जन्म नियोगप्रथा द्वारा ही हुआ था । संतान की कामना से और पति की अनुमति से, किसी उच्च श्रेणी के महानपुरुष द्वारा पत्नी का



गर्भाधान कराने की प्रथा को नियोग कहा जाता था । इस व्यवहार के पीछे एकमात्र उद्देश्य संतानप्राप्ति का ही होता था । सामान्यत : एक से तीन पुत्रों की प्राप्ति तक ही यह संबंध सीमित रहता था और इसके द्वारा

पांडु बोले, ''हे सुंदरी, अब में तुझे धर्म के ज्ञाता तपोनिष्ठ ऋषियों द्वारा शास्त्रों मे वर्णित लोकधर्म के कुछ तत्त्व समझाता हूँ । प्राचीनकाल में स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद नहीं रखा जाता था । उस युग की स्वतंत्र स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार विचरण करती थीं, और मनमाना देहोपभोग करती थीं । हे सुस्मिते, उस समय की स्त्रियाँ विवाह से पहले भी यथेच्छ संभोगसुख का अनुभव करती थी और विवाह के बाद पति के प्रति एकनिष्ठ रहने का आचार भी उस युग में प्रचलित नहीं था । हे चारुहासिनी, अनेक पुरुषों के साथ संभोग करना उस युग में अधर्म का लक्षण नहीं बल्कि सामान्य लोकव्यवहार माना जाता था । स्त्री-पुरुष के समागम पर किसी भी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिये, ऐसी उस युग की सर्वसंमत मान्यता थी । पशुपक्षी आज भी इसी प्राकृतिक धर्म का पालन करते हैं । वेदों में इसे गोधर्म कहा गया है । इस धर्म का सबसे बड़ा लाभ यह है कि विभिन्न स्त्री-पुरुषों से समागत करके भी मनुष्यप्राणी पशुपक्षियों के जोड़ों की तरह रागद्वेष से मुक्त रहता है । वे वरानने, अनेक दृष्टातों से प्रमाणित इस प्रणालिका की हमारे दृष्टा महर्षियों ने सराहना की है । उत्तर कुरु में बसने वाली प्रजाओं में यह प्रथा आज भी प्रचलित है । हे शुचिस्मिते, यह सनातन प्रणाली स्त्रियों के लिए अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुई थी और उस युग में सर्वाधिक प्रचलित थी । आज की मर्यादाबद्ध विवाहप्रथा बहुत पुरानी नहीं है । इस प्रथा का किसने, कब, किन कारणों से विकास किया, इसकी कथा भी मैं तुझे सुनाता हूँ । उद्दालक ऋषि का नाम हम सबने सुना है । वे एक महान तपस्वी थे । उनके पुत्र का नाम था श्वेतकेतु । हे कमलाक्षि, आजकी नीतिमान मानी जाने वाली विवाहप्रथा का प्रचार इसी श्वेतकेतु ने ईर्ष्या और क्रोध के आवेग में आकर किया था । उसके क्रोध का कारण भी मैं तुझे बताता हूँ । एक दिन उसके पिता की उपस्थिति में एक ब्राह्मण उनके आश्रम में आया और श्वेतकेतु की आँखों के सामने उसकी माता का हाथ पकड़ कर उसे अपने साथ ले जाने लगा । ब्राह्मण



जर्जर गात्रोंवाला, मंदचक्षु और लकड़ी के सहारे चलनेवाला अनाकर्षक पुरुष था । उद्दालक ऋषि तो इस दृश्य को देखकर फिर ध्यानमग्न हो गये, पर अपनी माता को जबरन् अपने साथ ले जाने वाले ब्राह्मण पर श्वेतकेतु को बड़ा क्रोध आया । इससे उसे अत्यधिक शोक भी हुआ । अपने पुत्र को क्रुद्ध होते देखकर महर्षि उद्दालक ने उसे समझाया कि, 'हे वत्स, इसमें क्रोध की कोई बात नहीं । यह तो सनातन काल से चला आनेवाल रिवाज है । पृथ्वीतल की पूरी जीवसृष्टि में तुझे यह नियम दिखाई देगा । पशुपक्षी से लगाकर मनुष्यप्राणी तक सभी जीवों में स्त्री पूर्णत : बंधनहीन है और यथेच्छ देहसुख भोग सकती है । हे सौम्य, स्त्री-पुरुष के यौनसंबंध के क्षेत्र में मनुष्यप्राणी भी गाय और वृषभ के समान बर्ताव करने को स्वतंत्र है ।' परंतु पिता के उपदेश से श्वेतकेतु का समाधान नहीं हुआ । उसे यह रिवाज किसी भी हालत में पसंद नहीं आया और स्त्री-पुरुष के यौनसंबंध को मर्यादाबद्ध और व्यवस्थित बनाने के लिए उसने विवाहप्रथा की स्थापना की । हे महाराज्ञि, तब से ही मनुष्यजाति में इस प्रथा का प्रचलन हुआ और स्त्री-पुरुष के यौनसंबंध नियमबद्ध हुए ; यद्यपि पशुपक्षियों में इस मर्यादा का पालन आज भी नहीं होता । श्वेतकेतु ने विवाहसंस्था को स्थिरता प्रदान करने के हेतु से घोषणा की कि, 'इसके बाद जो स्त्री पतिनिष्ठ नहीं रहेगी उसे गर्भहत्या का महापातक लगेगा । जो पुरुष अपनी पवित्र, एकनिष्ठ और सेवापरायण पत्नी को छोड़कर अन्य किसी स्त्री से संबध रखेगा वह भी इसी पाप का भागी होगा । जो स्त्री पति की संतानोत्पत्ति की आज्ञा का उल्लंघन करेगी उसे भी यही पातक लगेगा ।' हे भीरु, उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु द्वारा स्थापित पवित्र विवाहप्रथा की यह कहानी है । हे रम्भोरु, मदयन्ती की कथा सभी जानते हैं । उसके कोई संतान नहीं थी ; अत : उसके पति ने आज्ञा दी कि उसे वसिष्ठ की सेवा करके उनके समागम द्वारा संतानोत्पति करनी चाहिये । वसिष्ठ के समागम से उसे अश्मक नामक पुत्र प्राप्त हुआ । हे सुमुखि, पति की आज्ञानुसार नियोग द्वारा उत्पन्न की हुई संतति पति की ही संतति मानी जाती है । स्त्री को इससे पति की आज्ञा का पालन करने और संतानप्राप्ति का दोहरा पुण्य मिलता है । मदयन्ती ने पति की आज्ञा का पालन भी किया और संतानोत्पत्ति द्वारा अपना और अपने पति का हित भी किया । हे कमलाक्षि, हम तीनों भाइयों के जन्म की कथा भी तू जानती है । कुरुवंश की वृद्धि के लिए कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा हमारी उत्पत्ति हुई थी । हे सुंदरी, इन सब उदाहरणों को देखते हुए तुझे मेरी आज्ञा का अनुसरण करना चाहिये । मेरी संमति से होनेवाली प्रजोत्पत्ति से तुझे रंचमात्र भी पाप नहीं लगेगा । और यदि इस कार्य में पाप का कुछ अंश हो, तो भी पति की आज्ञा का पालन करना ही स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है, यह समझकर तुझे मेरी बात माननी चाहिये । हे वरानने, तू जानती ही है कि संतानोत्पत्ति की शक्ति से मैं सर्वथावंचित हूँ । फिर भी, पुत्र का मुख देखने की मेरी इच्छा अब काबू से बाहर हो गई है । मेरी यह इच्छा तुझे पूरी करनी ही होगी । तेरे मस्तक पर हाथ रखकर मैं आदेश देता हूँ कि किसी तपस्वी ब्राह्मण, महाशक्तिशाली क्षत्रिय या देवताओं की सहायता लेकर तू महाबलवान पुत्रों को जन्म दे । पुत्रजन्म होने पर ही मैं स्वर्ग का अधिकारी हो सकूँगा ।''

पांडु के उपरोक्त कथन से वेदकाली के संस्कारों की स्मृतिरूप में चली आने वाली महाभारत-युग के आरंभकाली की विवाह-व्यवस्था और उस समय के यौनसंबंधों का स्पष्टीकरण हो जाता है । कई विद्वान महाभारत की इस कथा को प्रामाणिक नहीं मानते । उनका कहना है कि आर्यों के आगमन से पहले की स्थिति का वर्णन करनेवाली किसी लोककथा के साथ श्वेतकेतु का नाम जोड़ दिया गया होगा ; अत : महाभारत में उसका उल्लेख क्षेपक रूप में माना जाना चाहिये । वैदिक युग में यौनसंबंधों की स्थिति चाहे जो रही हो, विवाहसंस्था के बद्धमूल होने से पहले की उपरोक्त भूमिका का भारतीय प्रजा ने कभी न कभी अनुभव किया है, इसमें कोई संदेह नहीं । पांडु के इस लंबे अनुनय की प्रामाणिकता संदिग्ध हो, तो भी यह तो मानना ही होगा कि नियोग की प्रथा उस युग में प्रचलित थी और धर्म, मरुत् और इंद्र के समागम से कुंती ने युधिष्ठिर, भीम और अर्जन को, एवं अश्विनीकुमारों द्वारा माद्री ने नकुल-सहदेव को जन्म दिया था । इस विषय में विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है । नियोगविधि से जन्म लेनेवाले पांडवों पर कहीं, कोई कलंक नहीं लगा ; बल्कि महाभारतकार ने उन्हें अपने काव्य के नायक मान कर ही उस महत्-इतिहास की

रचना की है । श्वेतकेतु की व्यवस्था से पहले के युग में विवाह बंधन का अस्तित्व नहीं था, इसका उल्लेख महाभारत जैसे प्रतिष्ठाप्राप्त ग्रंथ में होने के कारण इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी सुदूर अतीत में आर्यों के यौनसंबंध किसी भी प्रकार की मर्यादा या नियमों से संचालित नहीं रहे होंगे । श्वेतकेतु की व्यवस्था के बाद भी उन मर्यादाओं का सर्वदा सख्ती से पालन किया जाता होगा, यह मानना भी मुश्किल है । संतानोत्पत्ति के लिए नियोगविधि की सहायता लेना ही विवाहसंस्था की पवित्रता और मर्यादा की जड़ पर प्रहार करने वाला एक प्रबल अपवाद सिद्ध होता है । यद्यपि इस प्रथा में स्वेच्छाचार की अपेक्षा पति की संमति, पुत्रप्राप्ति की उत्कट अभिलाषा और समागम को किसी तपस्वी या महान पुरुष तक सीमित रखने की मर्यादा इत्यादि तत्त्व ही प्रधान दिखाई देते हैं ; तथापि स्वेच्छाचार और उन्मुक्त काम्‌व्यवहार की संभावना भी इसमें कम नहीं, यह आसानी से समझा जा सकता है ।

२

दीर्घतमा द्वारा स्त्री में ही केन्द्रित की गयी विशुद्धिभावना

यौनव्यवहार को नियंत्रित करने के लिए श्वेतकेतु द्वारा निष्पक्षभाव से रचे हुए नियमों को पुरुष के पक्ष में अत्यंत शिथिल और स्त्री के लिए अत्यत कठोर बना देने वाले दीर्घतमा नामक ऋषि की कथा भी यहाँ उल्लेखनीय है । दीर्घतमा से पहले के युग में यौन-समागम की मर्यादाओं का बंधन स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान था । परंतु दीर्घतमा ने पुरुष को इस उत्तरदायित्व से लगभग मुक्त रखकर विवाह की पवित्रता के निर्वाह का पूरा बोझ स्त्री के सिर पर लाद दिया और विवाहबंधन को अत्यंत कठोर बना दिया । दीर्घतमा वेदकाल के एक सुप्रसिद्ध ऋषि थे । ऋग्वेद में उनके द्वारा रचे हुए २४ सूक्त पाये जाते हैं । परंतु पुराणों में उल्लिखित दीर्घतमा की कथा का संबंध वेदकालीन दीर्घतमा ऋषि से है, या उनकेवंश में जन्म लेने वाले बाद के एक या अनेक पुरुषों से है, यह निश्चित करना मुश्किल है । वेदकालीन ऋषियों का रामायण-महाभारत और पुराणों जैसे एक दूसरे से शताब्दियों के अंतर पर बिखरे हुए ग्रंथों में अलग-अलग संदर्भों में उल्लेख मिलता है । अतिपरिचित नामवाले और विभिन्न युगों में बिखरे हुए इन व्यक्तियों के काल का जब तक निश्चित रूप से निर्णय नहीं हो जाता, तब तक किसी प्रसिद्ध नाम के साथ अनेक कथाएँ जोड़ देने की पुराणकारों की प्रवृत्ति को मान्य रखने के सिवा और कोई मार्ग नहीं । अत : मत्स्यपुराण के ४८ वें अध्याय में वर्णित वेदकालीन दीर्घतमा ऋषि की विचित्र कथा यहाँ उद्धृत की जाती है :—

दीर्घतमा ऋषि का जन्म, उनका जीवन, और स्त्रियों के लिए उनके द्वारा स्थापित किये हुए नियम, सभी हमारे अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण और हमारे आज के नैतिक मूल्यों को झंकझोर देने वाले हैं । एक वेदकालीन ऋषि का नाम इनके साथ जुड़ा हुआ है और अन्य कई पूजनीय व्यक्तियों का उल्लेख इस कथा में हुआ है । फिर भी, आज की शिष्टता का तकाजा है कि इस कथा के आदर्शों का अनुकरण करने की कोशिश कोई न करे । अनेक प्रकार की अत्युक्तियों से पूर्ण ऐसी कथाओं में वर्तमान दृष्टि से उपयोगी तत्त्व केवल इतना ही होता है कि किसी भी युग में स्त्री-पुरुष का यौन व्यवहार आज हम मानते हैं उतना विशुद्ध नहीं था । इस संबंध में अनुकरणीय आदर्श स्थापित करने के प्रयत्न शताब्दियों से हो रहे हैं, परंतु सब दृष्टियों से संतोषप्रद आदर्श मनुष्यजाति को अब तक नहीं मिल सका है । आज तक की कहानी तो यही रही है कि एक ओर विवाहबंधन को अधिकाधिक कठोर बनाकर यौन आचार को उसमें जकड़ लेने के प्रयत्न होते रहे हैं ; तो दूसरी ओर उन मर्यादाओं को तोड़कर, या उनका उल्लंघन करके बच निकलने के अनेक मार्ग भी स्वीकृत हुए हैं । नियोगप्रथा ऐसा ही एक अपवाद है ; और गणिकासंस्था को भी यदि हम इसी श्रेणी का दूसरा अपवाद मान लें, तो उसके प्रति हमारी अरुचि बहुत अंश में कम हो सकती है । यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ, और वांछनीय भी नहीं माना गया, यह अलग बात है । विवाहसंस्था और

चौथा परिच्छेद

रामायण-महाभारत

१

रामायण में गणिका का उल्लेख

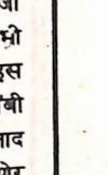
वैदिक युग के बाद के रामायण-महाभारत काल और स्मृति-पुराण काल में वारवनिता, गणिका वेश्या, आदि के उल्लेख विपुल प्रमाण में मिलते हैं । इस पूरे युग का सिलसिलेवार विचार करना योग्य होगा ।

रामायण में रामजन्म से पहले गणिका का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है । दशरथ के परममित्र, अंगदेश के राजा लोमपाद के समय में अनावृष्टि के कारण उस प्रदेश में भयानक अकाल पड़ा था । लोमपाद ने ब्राह्मणों का असत्यकथन द्वारा अपमान किया था अत : विद्वान ब्राह्मण उसके प्रदेश से बाहर चले गये थे । अकाल के समय पर्जन्याधिपति इंद्रदेव को संतुष्ट करने के लिए यज्ञ करना आवश्यक था ; पर याज्ञिक ब्राह्मण न मिल सकने के कारण अकाल और भी भयानक हो उठा । ब्राह्मण लोमपाद से इस कदर नाराज थे कि उससे प्रायश्चित्त करवाने को भी कोई तैयार नहीं होता था । अंत में एक वृद्ध ऋषि ने राजा को राय दी कि विभांडक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग को वह किसी प्रकार अपने राज्य में ला सके, तो तुरंत वर्षा होगी । ऋष्यशृंग का जन्म से ही स्त्री जाति से परिचय नहीं था और स्त्री के किसी भी प्रकार के संसर्ग से अछूता रहकर वह अपने पिता के आश्रम में तपोमय जीवन व्यतीत कर रहा था । वृद्ध ऋषि का सुझाव राजा को बहुत पसंद आया, पर समस्या यह थी कि संसार के प्रलोभनों से पर इस तपस्वी को आकर्षित कैसे किया जाय । किस्से-कहानियों के नियमानुसार राजा ने इस कार्य की जिम्मेदारी अपने चतुर प्रधान को सौंपी । प्रधान ने नगर की सुंदरी गणिकाओं को राजदरबार में बुलाकर आज्ञा दी कि किसी भी प्रकार से ऋष्यशृंग को आकर्षित करके अंगदेश में लाना चाहिये । गर्भज्ञानी ऋषि के साथ इस तरह का खिलवाड़ करने की किसी गणिका की हिंमत नहीं हुई । ऋषिमुनियों के कोप से उस युग में सभी भयभीत रहते थे । अत : उन्होंने इस कार्य को असंभव घोषित किया । परंतु प्रधान जी के प्रयत्न से अंत में एक अत्यंत अनुभवी और प्रौढा गणिका ने यह कार्य पूरा करने का बीड़ा उठाया । उसने एक बहुत बड़ी नाव तैयार करवाई और तरह-तरह के लता-पत्र और फूलों से उसे इस प्रकार सजवाया कि उसे देखने से जल पर तैरने वाले किसी आश्रम का आभास हो । पंचसायक के अमोघ अस्त्र जैसी दस-बीस मदनमंजरियों को उसने नाव में बैठाया और अपनी अप्रतिम सुंदरी पुत्री को अपने साथ लिया । विभांडक ऋषि के आश्रम से कुछ दूर, नदी के किसी निर्जन घाट पर नौका बाँध दी गई ।

चतुर गणिका ने अपने दूत भेजकर यह पता लगवाया कि विभांडक ऋषि आश्रम से बाहर कब जाते हैं ; और एक दिन उनकी अनुपस्थिति में, अपनी कलानिपुण और रूपयौवनसंपन्ना पुत्री को उसने ऋष्यशृंग के पास भेजा । गणिकापुत्री ने अपनी ठसक और मधुर वार्तालाप से ऋष्यशृंग को बहुत अधिक प्रभावित किया । ऋषि को अपने आश्रम, अध्ययन और यज्ञयाग को सिवा और कोई बात मालूम ही नहीं थी । अत : चतुर वारांगना ने मधुर वाणी में बातचीत करते हुए वार्तालाप को आश्रम और आश्रमवासियों की जीवनचर्या तक ही सीमित रखा । दुनिया से बेखबर, एक मार्गी ऋष्यशृंग को स्त्री और पुरुष के बीच का भेद भी मालूम नहीं था । गणिकापुत्री के रूप लावण्य से आँखें तो उनकी चौंधिया गईं ; पर उसे कोई तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी मानकर उन्होंने उसका आदर-सत्कार किया और वह किस आश्रम से आया है, वेद की किस प्रशाखा के अनुसार यज्ञयाग करता है, और वेद को किस अंग का विशेषाध्ययन कर रहा है आदि शास्त्रीय प्रश्न बड़ी

मिल जाता है । शूद्री का पुत्र कक्षिवान अपने तपोबल से ब्राह्मण माना गया था । इस कथा में ब्राह्मण-शूद्री के समागम से जन्म लेने वाली संतान की सामाजिक स्थिति और वर्ण-परिवर्तन द्वारा शूद्र से ब्राह्मण बन सकने की संभावना पर भी प्रकाश पड़ता है ।

अविवाहिता स्त्रियों के संबंध में दी हुई दीर्घतमा की अंतिम आज्ञा में गणिकासंस्था की अस्पष्ट सी झनकार सुनाई देती है । प्रद्वेशी द्वारा किया गया दीर्घतमा का तिरस्कार और त्याग अन्याय के प्रति तत्कालीन स्त्री के प्रबल विद्रोह की सूचना देता है । विवाहित जीवन की पवित्रता का पूरा भार स्त्री के सिर पर लाद देने की दीर्घतमा की व्यवस्था एक ओर यदि स्त्री के विद्रोह की प्रबलता प्रमाणित करती है, तो दूसरी ओर उसे कुचल देने के पुरुष के दृढ़ निश्चय की घोषणा करती है । विवाहित जीवन का ढांचा इतना कठोर होते ही गणिकावृत्ति परछाईं की तरह उसके साथ जुड़ जाती है । समाजशास्त्र के विद्वानों की इस मान्यता का उपरोक्त कथा द्वारा परोक्षरूप से समर्थन ही होता है । दीर्घतमा की आज्ञाओं का थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी उच्चवर्णीय हिंदू समाज में पालन किया जाता है । हिंदू-समाज की उच्च जातियों में आज भी स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता ; जबकि अधिकांश जातियों मेंपुरुष को एक पत्नी जीवित होने पर भी फिर से विवाह करने की छूट होती है । सामाजिक सुविधाओं पर पुरुष के एकाधिकार एवं आर्थिक क्षेत्र में उसके एकछत्र नियंत्रण के कारण, और विवाहित-जीवन की मर्यादाओं की रक्षा का पूरा भार स्त्री के सिर मढ़ दिया जाने के कारण सामाजिक संतुलन का अस्थिर हो उठना स्वाभाविक है । गणिकावृत्ति के बीज इस बिगड़े हुए संतुलन में ही निहित रहते हैं, यह हम पहले अनेक बार देख चुके हैं । वेदकाल के आरंभ के बंधनहीन यौनव्यवहार में व्यवस्थित गणिकावृत्ति की संभावना नहीं थी । वैदिकयुग के उत्तरकाल में विवाहसंस्था विकसित हुई ; परंतु विवाह के बंधन उतने कठोर नहीं थे, विधवा-विवाह हो सकता था, नियोग की प्रथा प्रचलित थी, विवाहित स्त्री-पुरुषों के कामव्यवहार में पर्याप्त उनुमक्तता थी और इस स्वातंत्र्य को लज्जास्पद नहीं माना जाता था । इसके बाद के युग में (ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ब्राह्मण-उपनिषदों के युग में और दीर्घतमा की कथा को प्रमाण मान कर चले तो पौराणिक युग के आरंभकाल में) पुरुष को बंधनमुक्त रखकर स्त्री को ही विवाहबंधन की शृंखला से बाँधने की प्रथा प्रचलित हुई । कामतृप्ति में वैविध्य चाहनेवाले पुरुषों की तो किसी भी युग में कमी नहीं रही, पर सुदूर अतीत के उस युग में पुरुषों की एक छत्र सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वाली स्त्रियाँ भी मिल जाती थी । अत : वैविध्य चाहने वाली पुरुष की वासना और बंधनों का विरोध करने वाली स्त्री की उन्मुक्त कामेच्छा के संयोग से आरंभ में व्यभिचार और बाद में गणिकावृत्ति से मिलते जुलते मुक्त कामाचार का जन्म हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । इस स्थिति में से धन के बदले में देहार्पण करने वाली स्त्रियों का एक ऐसावर्ग विकसित होना भी स्वाभाविक है जो आरंभ में छिपकर और बाद में पकड़े जाने पर या निंदा होने के कारण निर्लज्ज होकर खुलेआम छज्जों पर बैठकर पुरुषों को आकर्षित करने का व्यवसाय करने लगे । सभ्य-समाज को यह पसंद न हो, तो भी कोई हर्ज नहीं । क्रमश : इन स्त्रियों को नगर के किसी विशिष्ट मोहल्ले में बसा दिया जाता हो, तो इस कार्यकारण परंपरा में गणिकावृत्ति के विकास के सभी सोपानों का समावेश देखा जा सकता है । इन लंबी कथाओं और विस्तृत विवेचनों का सारांश यही निकलता है कि पवित्रता का पूरा बोझ स्त्री के कंधों पर लाद देने पर यह संभावना सदा बनी रहेगी कि वह इस बोझ को फेंक कर गणिकावृत्ति की मुक्तावस्था की ओर आकर्षित हो । महर्षि दीर्घतमा, उनका अनुसरण करने वाले स्मृतिकार, मध्ययुग के समाजधुरीण और आधुनिक युग के समाजविधायक, सभी इस सत्य को शायद भूल जाते हैं कि पुरुष को सर्वथा स्वतंत्र रखकर नीतिनियमों के निर्वाह का भार अकेली स्त्री के सिर लाद देने पर इन नियमों का पालन कभी नहीं हो सकेगा । जो बर्ताव स्त्री के लिए पवित्र एवं अनुकरणीय है, वही पुरुष के लिए भी अनिवार्य होना चाहिये । यह नहीं होगा, तो गणिकासंस्था जैसी विद्रोहसूचक शक्तियाँ इस एकपक्षीय न्याय का विरोध करने के लिए जन्म लेती ही रहेंगी । वेदकाल से लगाकर आजतक का इतिहास इसी तथ्य की पुष्टि करता है ।



क उस चटपट पातालतोक के सुप्रसिद्ध शासक दैत्यराज बलि के साथ जोड़ दिया जाता है । महर्षि दीर्घतमा के गोधर्म के प्रचार के लिए यहाँ की भूमि अत्यंत उपयुक्त सिद्ध हुई । मालूम हुआ कि अपने पूर्वज सुतपा नामक राजा का वंश क्षीण न हो जाय, इस एकमात्र सदाशय से प्रेरित होकर बलि राजा ने इस दैत्यवंश में जन्म लिया था । दीर्घतमा को नदी से निकाला गया ; सुप्रसिद्ध विद्वान होने के नाते उन्हें राजमहल में ही रखा गया और उचित सम्मान के साथ उनके भोजन, निवास आदि की उत्तम व्यवस्था कर दी गई । राजमहल के विलासपूर्ण वातावरण में गोधर्मी ऋषिकी वासना और भी तीव्र हो उठी । बलिराज के आतिथ्य से प्रसन्न होकर ऋषि ने उससे मनचाहा वरदान मांगने को कहा । दैत्यवंश की वृद्धि के एकमात्र उद्देश्य से जन्म लेने वाले बलिराज को अपनी संतानहीनता के सिवा और कोई दुख नहीं था । अत : उन्होंने अपनी पटरानी सुदेष्णा को महर्षि की सेवा में भेजकर संतानोत्पत्ति का वर मांगा !

अंधा मांगे एक आँख और दाता देवे दोय । दीर्घतमा को भला इसमें क्या एतराज हो सकता था । उन्होंने तुरंत 'तथास्तु' कहकर भक्त राजा को विदा किया और बलि ने अपनी पटरानी सुदेष्णा को ऋषि की सेवा में भेज दिया । परंतु रानी ने इस अंधे और अति विलास के कारण जर्जर हो जाने वाले विषयलंपट मुनि की सूरत देखना भी पसंद नहीं किया । उसने अपनी एक दासी का बनाव-सिंगार करके उसे ऋषि की सेवा में भेज दिया । दीर्घतमा के आँखें तो थी नहीं ; अत : रूप-कुरूप, द्विज-शूद्र आदि क्षुद्र भेदों से वे ऊपर उठ चुके थे । अपने तपोबल से उन्होंने रानी की यह चालाकी जान तो ली, पर कुछ समय के लिए शूद्रीगमन का अनुभव भी वे चखना चाहते थे । अत : वे बड़े मनोयोग से कर्तव्य पालन में लग गये और अल्प समय में ही उन्होंने दासी के गर्भ से कक्षिवान और अन्य कई पुत्र उत्पन्न किये । वंशवृद्धि की इस रफतार से बलिराजा बहुत खुश हुए और धर्माचार में प्रवीण कक्षिवान आदि सुंदर राजपुत्रों को सुदेष्णा के गर्भ से उत्पन्न अपने ही पुत्र मानकर, एक दिन वे महामुनि दीर्घतमा को धन्यवाद देने के लिए गये । तपस्या का प्रभाव कितने वर्षों तक काम देता है, इसकी कोई निश्चित काल मर्यादा पुराणकारों द्वारा नहीं बाँधी जाने के कारण हमें यही मानना पड़ेगा कि अब तक उनका तपोबल क्षीण नहीं हुआ था और उनकी वासना भी दिनोंदिन वृद्धिगत हो रही थी । परंतु दासी-सहवास सेअब शायद उनका भी जी भर गया था । अत : उन्होंने राजा से शिकायत की कि, "हे राजा, तू मानता है कि ये पुत्र पटरानी की कोख से उत्पन्न राजपुत्र हैं । परंतु मुझे अंधा और वृद्ध समझ कर तेरी रानी ने चाल चली है, और खुद मेरे पास न आते हुए शूद्रवर्ण की दासी को भेज दिया है । फिर भी मैंने उच्चनीच या द्विजशूद्र का कोई भेदभाव किए बिना अपना कर्तव्य पूरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी ।" यह सुनकर राजा ने ऋषि से क्षमा मांगी और सुदेष्णा को डाँट-फटकार कर, वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करके ऋषि की सेवा में भेज दिया । इस विषय में अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए महामुनि सदा तत्पर थे ही । अत : अबकी बार उन्होंने सुदेष्णा के गर्भ से अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म नामक पाँच पुत्र उत्पन्न किए । ये पुत्र इतने प्रतापी सिद्ध हुए कि भरतखंड के विस्तृत भूभाग इनके नामसे पहचाने जाने लगे ; जो प्रथा आज तक चली आ रही है ।

भाग्य के बली इस ऋषि की सौभाग्य-परंपरा यहीं समाप्त नहीं हो जाती । कुछ दिनों बाद, उन्हें गोधर्म का उपदेश देनेवाले वृषभ की माता कामधेनु उनके पास आई और कहने लगी, "हे ऋषिश्रेष्ठ, आपने अत्यंत मनोयोग से पृथ्वीतल पर गोधर्म का प्रचार करके पशुधर्म के प्रति अनन्य निष्ठा प्रदर्शित की है । आपके इस नि :स्वार्थ और निष्पाप व्यवहार से मैं बहुत प्रसन्न हुई हूँ, और आपको वरदान दे कर आपका अंधत्व और साथ साथ आपका वृद्धत्व भी दूर करती हूँ ।" इसमें कोई संदेह नहीं कि इस वरदान के बाद तो दीर्घतमा ने और भी अधिक निष्ठा से पशुधर्म का प्रचार किया होगा । परंतु इस कथा में और गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं । गोधर्म का पालन करने वाले ऋषि की इस महाविचित्र कथा में हमें आर्य-संस्कृति को आरंभिक युग के स्त्री-पुरुषों के अमर्याद काम व्यवहार, स्त्रियों केलिए निश्चित किए गये संकीर्ण और एकांगी पतिव्रता-धर्म, नियोग की प्रथा, और पति के सिवा अन्य किसी पुरुष का संग करनेवाली स्त्री के ललाट पर लगने वाली कलंक की छाप, इत्यादि अनेक तत्त्वों का परंपरित इतिहास

आश्रय दे सकते हैं, और न मेरा और बच्चों का पोषण कर सकते हैं । हे महातपस्वी, आप ही सोचिये कि मेरी दृष्टि में आप क्यों अप्रिय हो गये हो । जबसे मेरा आपके साथ विवाह हुआ है, मैंने आप जैसे निष्क्रिय, अंध और कामीं पुरुष का पोषण किया है । बच्चों के सिवा और किसी चीज की प्राप्ति मुझे आपसे नहीं हुई, और उनका पोषण भी मुझे ही करना पड़ा है । परंतु अब आपका निर्वाह करने की शक्ति मुझमें नहीं है ।'' निखट्टू पति के पाले पड़ी हुई हजारों वर्ष पहले की असहाय स्त्री के यह उद्‌गार समान परिस्थिति से गुजरने वाली आज की किसी दुखी स्त्री की जली-कटी बातों से अधिक भिन्न नहीं हैं । इस स्पष्टोक्ति के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं । इन तिलमिला देने वाले शब्दों द्वारा प्रद्वेशी ने या तो अपने अतिकामी पति से छुटकारा पाकर और किसी के साथ घर बसाने की इच्छा प्रकट की, या निष्क्रिय और विलासरत पर विद्वान पति को कुछ द्रव्योपार्जन करके बच्चों का पोषण करने की प्रेरणा दी । प्रद्वेशी का आशय कुछ भी हो, पर महामानी और तपस्वी ऋषि पराश्रित होने पर भी इतनी तीखी बात सुनकर चुप कैसे रह सकते थे । पुराणकालीन ऋषिमुनियों की ख्याति शांति से किसी समस्या का निराकरण करने की अपेक्षा क्रोधायमान होकर झटपट कुछ भारी भारी शाप देने के लिए ही अधिक रही है । दीर्घतमा ऋषि भी पत्नी की कड़ी बातें सुनकर अत्यंत क्रुद्ध हो उठे । दुर्वचन तो उन्होंने अनेक सुनाये, पर गनीमत यह हुई कि शाप देने से पहले उन्होंने प्रद्वेशी और अपने पुत्रों से कहा कि वे उन्हें किसी राजा के दरबार में पहुँचा दें, तो वे अपनी विद्या के बल से चाहे जितना धन कमा सकते हैं ।

परंतु प्रद्वेशी शायद उनकी नसनस को पहचान गई थी । अत : वह बोली, ''हे ब्रह्मर्षि, आप मुझे क्षमा करें ; पर मुझे विश्वास है कि आपकी दी हुई समृद्धि भी मेरे लिए दुखदायी ही सिद्ध होगी । मुझे यह नहीं चाहिये । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आज तक मैंने आपको पाला, पर अब मुझसे यह नहीं हो सकेगा । अब तो आप मेरे ऊपर एक ही कृपा करें कि जहाँ आपका जी चाहे, चले जायँ । मेरे घर में अब आपका गुजारा नहीं हो सकता ।'' इतनी धृष्टता तो साधारण से साधारण ऋषि की क्रोधाग्नि को भड़का कर उन्हें शाप देने को प्रेरित करने के लिए काफी थी । फिर दीर्घतमा तो ठहरे महान तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि ! अत : क्रोध से काँपते हुए उन्होंने शापवाणी की घोषणा की : ''आज से मैं इस संसार में एक नये धर्मचक्र का प्रवर्तन करता हूँ । इससे आगे स्त्री जब तक जीवित रहेगी तब तक पति ही उसका एकमात्र आश्रयस्थान माना जायगा । पति जीवित हो चाहे मृत, इस नियम में कोई फर्क नहीं पड़ेगा । किसी भी हालत में स्त्री दूसरा पति नहीं कर सकेगी । इस नियम का भंग करके जो स्त्री परपुरुष का संग करेगी उसे घोरतम नरक में जाना पड़ेगा । अविवाहिता अवस्था में पुरुष का संग करने वाली स्त्री को घोर पाप लगेगा । स्त्री के लिए इससे बढ़कर और कोई पातक नहीं माना जायगा और यह दुष्कृत्य करने वाली स्त्री को किसी भी वर्ण में स्थान नहीं मिलेगा । ऐसी वर्णविहीन और पतिहीन स्त्रियों के पास कुछ धनसंपत्ति हो, तो उसका उपभोग भी वे नहीं कर सकेंगी । इस स्थिति में कोई स्त्री अपने आप को सुखी मानेगी, तो उसकी भयानक अपकीर्ति होगी, और इस कलंक का दाग सदा-सर्वदा के लिए उसके ललाट पर अंकित होगा ।'' इस भीषण शापवाणी को सुनकर तेजस्विनी प्रद्वेशी भी क्रोधित हो उठी और उसने अपने गौतम आदि पुत्रों को आज्ञा दी कि अंधे खूसट को गंगा मैया की भेंट चढ़ा दिया जाय ।

कठोर हृदय कर के पुत्रों ने माता की आज्ञा का पालन किया और दीर्घतमा को एक वृक्ष के तने से बाँधकर गंगा के प्रवाह में छोड़ दिया ।.पत्नी को प्रतिवर्ष प्रसूति की पीड़ा देकर संतानों की फौज खड़ी करने के अलावा और कुछ न करने वाला अंधा और निखट्टू पति अपनी अकर्मण्यता से लज्जित होने के बजाय पत्नी को सामाजिक बंधनों में और भी कस कर जकड़ने की धमकी दे, तो उसे गंगा में नहीं बल्कि सब से पास के किसी भी नदी-नाले या कुएँ में लकड़ी के तने से बाँध कर नहीं बल्कि बड़ा सा पत्थर बाँध कर धकेल देने की पत्नी की आज्ञा आज के युग में भी न्यायसंगत ही मानी जायगी ! परंतु आँखों के अंधे यह ऋषि भाग्य के अत्यंत बली हों, ऐसा दिखाई देता है । उनका चलाया हुआ गोधर्म शायद इतनी आसानी से नष्ट होना नहीं चाहता था । अत : बहते बहते वे बलिराजा के राज्य में जा पहुँचे । पुराणों में बलि का नाम आया

किया । वृषभ के चले जाने के बाद वे उसके द्वारा उपदेशित गोधर्म का मनन करने लगे । ज्यों ज्यों वे चिंतन करते गये त्यों त्यों गोधर्म के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती गई । गोधर्म था ही इतना आकर्षक और सुविधायुक्त कि किसी भी पुरुष का उसके प्रति आसक्त होना स्वाभाविक था । कुछ ही समय में दीर्घतमा का मन पूर्णत: उस रंग में रंग गया ।

ऋषि अंधे थे, पर उनका हृदय अंधा नहीं था । मानवसुलभ विकारों की भी उनमें कमी नहीं थी । वेदशास्त्रों के अभ्यास ने उन्हें जड़ बनाने के बजाय रसिक और रंगीन-मिजाज बना दिया हो, यह भी संभव है । आज भी बहुत से कथावाचक और शास्त्री बड़े रंगीले पाये जाते हैं । उनके गर्भावस्था के संस्कार वेदाभ्यास के थे यह सही है, पर महा बलवती कामवासना से उनका परिचय भी उतना ही पुराना था । उनके चाचा बृहस्पति और माता ममता के काम व्यवहार ने उनके संस्कारों को बिलकुल अछूता नहीं छोड़ा होगा । परिणामस्वरूप दीर्घतमा महाकामी और विषयलंपट पुरुष सिद्ध हुए । वृषभ ने उत्तेजित की हुई उनकी गोधर्म के प्रति आस्था दिनोंदिन बढ़ती गई और उन्होंने किसी भी प्रकार की मर्यादा के बिना कामवासना को तृप्त करना आरंभ किया । राजाओं और श्रेष्ठियों के अंत :पुर तक किसी भी स्थान में, किसी भी प्रकार की रोकटोक के बिना उनका प्रवेश कराने में उनकी विद्वत्ता सहायक हुई और दृष्टि के अभाव ने उन्हें रूप-कुरूप, स्थान-अस्थान, पात्र-अपात्र और समय-असमय के झंझट से मुक्त कर दिया ।

धीरे धीरे अंधे दीर्घतमा मुनि ने किसी भी प्रकार की मर्यादा से रहित उन्मुक्त कामव्यवहार पर आधारित पशुधर्म का प्रचार करना आरंभ किया । विद्वान होने के कारण उन्हें शिष्यों की कमी नहीं रही होगी, बल्कि इतने आकर्षक गोधर्म का उपदेश देने वाले गुरु के द्वार पर तो शिष्यों और अनुयायियों की भीड़ लगी रहती होगी । ऐसे परम विद्वान गुरु और उनके सुयोग्य शिष्यों ने मिल कर गोधर्म का किस हद तक प्रचार किया होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । परंतु इस प्रकार का प्रत्यक्ष स्वेच्छाचार किसी भी युग के किसी भी समाज में लंबे समय तक नहीं चल सकता । महामुनि दीर्घतमा की उग्र कामवासना ने उनके परिवार की स्त्रियों को भी अपनी लपेट में लेना शुरू किया । यहाँ से यह कथा दो रूपों में आगे बढ़ती है । वायुपुराण के अनुसार दीर्घतमा ने अपने जन्म के समय की एक पीढ़ी पुरानी परंपरा को अक्षुण्ण रखने को लिए अपने भाई औतथ्य की पत्नी से कामेच्छा की तृप्ति करनी चाही जिसके परिणाम-स्वरूप उसने उन्हें एक पेड़ के तने से बँधवा कर गंगा के प्रवाह में फिंकवा दिया । देवर के प्रति भौजाई का दुर्व्यवहार अनेक लोककथाओं का विषय बन चुका है । पर इस मौके पर भौजाई का यह कृत्य आज भी अनुचित नहीं माना जायगा ।

दूसरी कथा इस तरह आगे बढ़ती है कि दीर्घतमा का प्रद्वेशी नामक एक सुंदर ब्राह्मणकन्या के साथ विवाह कर दिया गया था । पति अंध होने के कारण वह मेहनत-मजदूरी करके दोनों का भरण-पोषण करती थी । यहाँ तक उसे.कोई शिकायत नहीं थी । परंतु अतिकामी पति से सातीसाध्वी स्त्रियाँ भी ऊब जाती हैं यह सर्वकालिक अनुभव है । पत्नी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व पूरा न कर सकने पर भी सदा विषयभोग में ही डूबे रहना चाहने वाले इस विकलांग और गोधर्मी पति से प्रद्वेशी इस हद तक ऊब गई कि पतिव्रता होने पर भी उसे इस विषयलंपट ऋषि का मुँह देखना भी अच्छा नहीं लगता था । वासनातृप्ति के क्षेत्र में अतिचार करने वाले पुरुषों को यह कथा आज भी कुछ सीख दे सकती है । क्रमश : प्रद्वेशी की अरुचि उपेक्षा और अनादर का रूप धारण करके व्यक्त होने लगी । जन्माध होने पर भी दीर्घतमा से यह तिरस्कार और उपेक्षा लंबे समय तक छिपे नहीं रह सके । एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा कि वह उनका इतना तिरस्कार क्यों करती है । प्रद्वेशी का उत्तर पुराणकार की भाषा-शैली में इस प्रकार व्यक्त हुआ है : ''हे विद्वद्वर, आप बड़े शास्त्रज्ञ और ज्ञानी हो । अत : यह तो आप जानते ही होगे कि पति को 'भर्ता' किसलिए कहा जाता है । पत्नी और परिवार का भरण-पोषण करने के कारण ही पति को 'भर्ता' कहा जाता है । 'पति' शब्द के अर्थ से भी आप अपरिचित नहीं होंगे । पत्नी को आश्रय देकर उसकी रक्षा करने वाला पुरुष ही 'पति' संज्ञा का अधिकारी होता है । यह नियम परंपरा से चलता आया है । आप न तो मुझे

में रखिये भविष्य में आप अपनी इच्छानुसार बर्ताव कर सकते हैं ।'' इस कथन द्वारा ममता ने भविष्य के लिए स्पष्ट निमंत्रण नहीं दिया, यह नहीं कहा जा सकता । दूसरी विचारणीय बात यह है कि उत्तम कोटि की मानी जाने वाली उस विदुषी आर्यस्त्री को व्यभिचार से कोई परहेज नहीं था । उसका विरोध तो अन्य कारणों पर आधारित था ।

परंतु बृहस्पति मन को काबू में नहीं रख सके, और ममता की इच्छा के विरुद्ध उन्होंने बलात्-संभोग किया । आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्रों और पुराणों को ऊँचे से ऊँचे व्यक्तियों के संबंध में इस प्रकार की स्पष्ट बात कहने में कोई संकोच नहीं होता । इतना ही नहीं, आज की दृष्टि से अत्यंत घृणित प्रकार का दुष्कर्म करने वाले इन महाभागों के प्रति उनकी श्रद्धा और आदर-भावना वैसी ही बनी रहती है । बलात्कार होते ही ममता का गर्भ चिल्ला उठा, ''हे बृहस्पते, इस उदर में मैंने पहले प्रवेश किया है, अत: इस पर मेरा अग्राधिकार है । आप अमोघवीर्य हो, अत : आपके समागम से संतानोत्पत्ति अवश्य होगी । दो जीवों का यहाँ गुजारा नहीं । इससे मेरे अध्ययन में बाधा पड़ेगी ।'' गर्भावस्था में भी भविष्य के इस महामुनि के मन में अध्ययन में विघ्न पड़ने की काफी चिंता दिखाई पड़ती है । अपनी माता से जबरन संभोग करने वाले बृहस्पति के खिलाफ उसे और कोई शिकायत हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । अपने आनंद में खलल डालने वाले इस गर्भस्थ महामुनि पर बृहस्पति को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे शाप दिया कि वह जन्म लेते ही अंधा हो जाएगा । योग्य समय पर ममता ने दो पुत्रों को जन्म दिया । इनमें से जन्मांध पुत्र का नाम था दीर्घतमा और अमोघवीर्य बृहस्पति के अनधिकार-प्रवेश करने वाले पुत्र का नाम था औतथ्य !

जन्मांध दीर्घतमा और उनकी माता के उदर से जन्म लेने के कारण उनका सहोदर माना जाने वाला भाई औतथ्य आश्रम में एक साथ रहने लगे । अंधे होने के कारण दीर्घतमा आरंभ से ही परावलंबी रहे ; परंतु शुकदेव की तरह गर्भज्ञानी होने के कारण उनकी गणना विद्वानों में होने लगी । एक दिन दैवेच्छा से कामधेनु का पुत्र वृषभ आश्रम में आ पहुँचा और यज्ञ के लिए लाकर रखा हुआ दर्भ खाने लगा । अंधे दीर्घतमा की श्रवणेंद्रिय स्वाभाविक रूप में अत्यंत तीव्र थी । उन्होंने अंदाज से टटोल कर वृषभ के दोनों सींग पकड़ लिये । बैल ने छूटने की भरसक कोशिश की, पर बलवान दीर्घतमा की पकड से वह छूट न सका । थककर उसने दीर्घतमा से बिनती की : ''हे पुरुषश्रेष्ठ महाबलवान दीर्घतमा, तू मुझे छोड़ दे । आज तक मैं यह मानता था कि शारीरिक बल में मेरा मुकाबला कोई नहीं कर सकता । परंतु तूने मेरा गर्व चूरचूर कर दिया है । तेरे जैसा बलवान पुरुष मैंने और कोई नहीं देखा । तू मुझे छोड़ दे । मैं कामधेनु का पुत्र हूँ और तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ । इसके बदले में तू मांगे वह वरदान देने को मैं तैयार हूँ ।'' परंतु दीर्घतया ने उसकी बात नहीं मानी । वह बोले, ''तू चाहे जिस तरह मुझे समझा, पर उसे शास्त्र के अनुसार दंड अवश्य मिलना चाहिये । मैं तुझे उचित दंड दिये बिना नहीं छोड़ूंगा ।'' वृषभ को मारने के लिए शास्त्र का आधार ढूंढने वाला व्यक्ति पौराणिक युग में से सबसे अधिक जघन्य माने जाने वाले गोहत्या के पातक से कैसे छूट सकता होगा, यह कहना मुश्किल है । परंतु शास्त्रोक्त विविध निषेधों को सुविधानुसार मनमाने ढंग से मोड़ लेने की प्रथा हमारे देश में शायद उस प्राचीन युग से चली आ रही है ।

वृषभ भी आसानी से हारने वाला नहीं था । उसने तर्क किया, ''हे महाबली, आपकी बात सही है । पर मनुष्य के और पशुओं के धर्म में भेद है । हमें चोरी आदि का पातक नहीं लगता । इच्छानुसार खाना-पीना और मनचाही मादा से संभोग करना हमारी गो जाति का स्वाभाविक धर्म है । पहले मनुष्यजाति भी इसी धर्म का पालन करती थी । मेरी तो राय है कि तुम भी यदि इस धर्म का पालन करने लगो, तो अधिक सुखी रहोगे ।'' बैल ने अपना धर्म और अपना शास्त्र अलग बताया वहाँ तक तो गनीमत थी । परंतु उसने अपने धर्म का अनुसरण करने के लिए इस महामुनि को भी ललचाया । यह प्रलोभन इतना प्रबल सिद्ध हुआ कि दीर्घतमा दुविधा में पड़ गये । उन्होंने वृषभ को छोड़ दिया, और उसे खिलापिला कर संतुष्ट





गणिकासंस्था के बीच की अनेक भूमिकाओं पर चलनेवाले कामव्यवहार को पहचानने के लिए और इस सारी उलझन में से औचित्य का मानदंड ढूंढ निकालने के लिए विवाहसंस्था के प्राचीनतम-वैदिक आर्यों के समय के — इतिहास का आलोडन आवश्यक है । स्त्रीपुरुष के यौन व्यवहार की एक महान प्रवाह के रूप में कल्पना करें, तो विवाह और गणिकासंस्था की तुलना उसके दो किनारों से की जा सकती है । विचित्र बात यह है कि इन दोनों तटों की सीमारेखाएँ स्थायी रूप से निश्चित नहीं हो पायी हैं । बीच का संबंधप्रवाह इतना टेढ़ामेढ़ा, इतना घुमावदार, कहीं इतना संकीर्ण और कहीं इतना विस्तृत रहा है कि दोनों किनारे कहीं एक-दूसरे से सटे हुए कहीं दृष्टिपथ में भी न आ सकें इतने दूर, और कहीं प्रवाह की विपरीत दिशा के कारण एक-दूसरे से अदल-बदल किये हुए दिखाई देते हैं । कहीं विवाह के किनारे पर गणिकावृत्ति का दलदल और कहीं गणिकासंस्था के किनारे पर विवाह की शुष्क बालू दिखाई दे जाती है । एक ओर विवाह के बंधनों की जकड़ी जाकर कष्ट भुगत चुकने वाली स्त्री गणिकावृत्ति के स्वातंत्र्य की कामना करती है, तो दूसरी ओर गणिकावृत्ति की अमर्याद यातनाएँ सहन करने वाली वेश्या भविष्य में कभी अपने प्रियजार के साथ विवाह करके गृहिणी बनने के स्वप्न देखती है । वेद की अपौरुषेय ऋचाओं का उच्चारण करनेवाले दीर्घतमा ऋषि की कथा हमारे शताब्दियों से स्थापित नैतिक मूल्यों को डाँवाडोल कर देती है । परिणाम यह निकलता है कि किसी भी युग में प्रजा के अनुभव द्वारा सिद्ध, लोकाचार के रूप में रूढ, और शिष्टसमाज द्वारा मान्य रिवाज ही इस जंगल से निकलने का सही मार्ग है यह कहना और मानना आवश्यक हो जाता है । इन विचित्र कथाओं को पढ़कर आज के लगभग स्थिरता प्राप्त कर चुकनेवाले नियमों को डगमगा देने की आवश्यकता नहीं । आज हमारी तटस्थविचारधारा यही होनी चाहिये कि ये कथाएँ कामवासना के प्राबल्य का, तत्कालीन रिवाजों और सामाजिक विचित्रताओं का, एवं किसी युगविशेष के अस्थिर और रोगग्रस्त मानस का निरूपण करती हैं । किसी भी युग में स्थिर और स्वस्थ दृष्टिकोण वही हो सकता है जिसे उस समयकी सामान्य जनता नीतिमय जीवन के रूप में स्वीकृत करती हो ।

दीर्घतमा खुद भी एक ऋषिपुत्र थे । उनके पिता का नाम था उषिज् मुनि और माता का नाम था ममता । बृहस्पति उषिज् मुनि के छोटे भाई थे । मत्स्यपुराण में ही नहीं बल्कि हमारे पूरे पौराणिक साहित्य में बृहस्पति का उल्लेख एक अत्यंत तेजस्वी और मेघावी पुरुष एवं देवताओं के गुरु के रूप में हुआ है । एक बार संयोग से ममता और बृहस्पति एकांत में मिल गये और सुंदरी ममता के प्रति बृहस्पति के मन में प्रबल मोह उत्पन्न हुआ । विकारवश होकर देवताओं के गुरु ने किसी भी प्रकार की भूमिका बाँधे बिना ममता से अपनी वासना तृप्त करने की बिनती की । मत्स्यपुराण में अनेक प्रसंगों पर जिसका 'उत्तम स्त्री' के रूपमें अत्यंत गौरवमय उल्लेख हुआ है ऐसी ममता बृहस्पति के इस प्रस्ताव से क्रुद्ध नहीं होती ; पर कुछ अन्य कारणों से तात्कालिक कामव्यवहार के लिए तैयार नहीं होती । ममता के शब्द उसी की (या पुराणकार की) भाषा में देना योग्य नही । वह कहती है, 'हे देवरजी, मैं इस समय गर्भवती हूँ । यह गर्भ आपके बड़े भाई का है, जो गर्भावस्था में ही अंग-उपांगों सहित वेदाध्ययन कर रहा है । आपके कार्य से वह कोपायमान हो उठेगा । हे महाभाग बृहस्पते, आपका वीर्य अमोघ है ; अत : वह कभी निष्फल नहीं होगा । इस समय मैं आपकी इच्छा पूरी करने के योग्य नहीं हूँ । अत : इस समय तो आप अपनी वासना को काबू

निष्ठा से पूछे । चौसठ कलाओं में प्रवीण गणिकापुत्री इन प्रश्नों के उत्तर भी बिना किसी कठिनाई के देती रही । उचित अवसर पर उसने यह भी बता दिया कि सामने के पर्वत की दूसरी ओर, तीन योजन दूर, नदी के किनारे पर उसका आश्रम है । इस तेजस्वी और रूपवान अभ्यागत से ऋष्यशृंग अधिकाधिक प्रभावित होते गये और तत्कालीन अतिथिसत्कार के नियमानुसार उन्होंने उसके पाँव धोना आरंभ किया । चरण प्रक्षालन करवाने से चतुर वारांगना ने इनकार कर दिया और अपना पूज्याभाव प्रदर्शित करने के बहाने ऋषि का कसकर आलिंगन किया । स्त्रीजाति से अपरिचित होने पर भी ऋष्यशृंग आखिर तो पुरुष थे अत: प्रकृति अपना काम करने से नहीं चूकी । उन्होंने इस आकर्षक अतिथि के लिए कुछ फल मंगवाये, पर ब्रहमचारी के रूप में परिचित गणिकापुत्री ने फलों का स्वीकार करने के बदले अपने साथ लाये हुए विविध प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन और उत्तेजक आसव ऋषिपुत्र को खिलाये-पिलाये । उस निश्छल जीव के लिए ये सारे अनुभव नये थे और अत्यंत सात्विक जीवन व्यतीत करने के कारण उन पर इन मादक द्रव्यों का प्रभाव भी तुरंत पड़ा । यह मौका देखकर गणिकापुत्री ने उनके साथ फूलों की गेंद से खेलना आरंभ किया । खेल में खींचातानी और देहस्पर्श तो होता ही है । आँखों में गुलाबी डोरे पड़ चुकेने वाले ऋषिपुत्र को यह खेल बहुत पसंद आया । रूपवती नवयौवना के शरीर से उनका अधिकाधिक स्पर्श होने लगा और एक उत्तेजक क्षण में मौका देखकर गणिकापुत्री ने उन्हें फिर एक बार आलिंगनपाश में कस लिया । आँखों की कोर से वह यह भी देखती जाती थी कि ऋषिपुत्र पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है । अब की बार वे सचमुच ही विचलित हो उठे थे, पर समझ में कुछ नहीं आ रहा था । पहले दिन के लिए गणिकापुत्री ने इतना ही पर्याप्त माना और होम हवन का समय हो जाने का बहाना करके वह चली गई । जाते-जाते उसने यह देख लिया कि ऋष्यशृंग की वासना जाग्रत हो चुकी थी ; उसका मन विचलित हो उठा था ; मदोन्मत्त वारांगना की मूर्ति उसके हृदय में बस चुकी थी और विरह की कल्पना से यह निष्पाप ऋषिपुत्र लंबी साँसें भी भरने लगा था !

कुछ समय बाद कश्यपपुत्र विभांडक आश्रम में आ पहुँचे । हर समय तप और यज्ञादि धर्मकार्य में ही लगे रहने वाले अपने पुत्र की विहवल दशा देखकर वे बोले, "हे वत्स, तूने अभी तक यज्ञ के लिए समिधा इकट्ठी नहीं की । अग्निहोत्र तो शायद तूने कर लिया होगा । पर आज तेरा मन ठिकाने पर दिखाई नहीं देता । तुझे क्या दुख है ? आज तुझसे मिलने को कौन आया था ?" निष्पाप ऋषिपुत्र ने पूरी घटना पिता को कह सुनाई । आगंतुक का उसने एक तेजस्वी ब्रहमचारी के रूप में वर्णन किया और बोला, "हे पूज्यपाद, ये फूल उसीने यहाँ बिखेरे हैं । उसके जाने के बाद मेरा मन उदास हो गया है और किसी अगम्य अग्नि की ज्वाला देह को दग्ध कर रही है । मैं उसी के पास जाना चाहता हूँ और जिस प्रणालिका से वह यज्ञयाग करता है उसीका मैं अनुसरण करना चाहता हूँ । मेरा मन इतना चंचल हो उठा है कि उसकी अनुपस्थिति में एक क्षण भी बिताना मेरे लिए संभव नहीं ।" दुनिया देखे हुए विभांडक ऋषि तुरंत बात को समझ गये और बोले, "हे सौम्य, यह तो किसी राक्षस की माया दिखाई देती है । सुंदर रूप धारण करके ऋषिमुनियों को उनकी तपस्या से विचलित करना राक्षसों की पुरानी आदत रही है । तूने जो पानीय पिया है, वह सुरा या मदिरा कहलाता है । तपोनिष्ठ ब्रहमचारियों को इसका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये । भविष्य में तुझे सावधान रहना होगा और राक्षसों के मायामय प्रलोभनों से बचकर चलना होगा ।"

पिता ने तो उचित उपदेश दे दिया पर दूसरी ओर गणिकाएँ भी निष्क्रिय नहीं बैठी थीं । विभांडक ऋषि कब आश्रम से बाहर जायँ और कब ऋष्यशृंग अकेले मिलें इस की वे राह देख रही थी । एक दिन फिर विभांडक ऋषि को किसी काम से कहीं दूर जाना पड़ा और मौका देखकर गणिकापुत्री फिर आश्रम में आ पहुँची । ऋष्यशृंग तो आँखें बिछाये उसकी राह देख रहे थे । उसे देखते ही वे भागकर उससे जा लिपटे और पिता के वापस लौटने से पहले ही उसके साथ उसके आश्रम में जाने की इच्छा प्रकट की । गणिकापुत्री तो यही चाहती थी ।वह उन्हें नदी किनारे ले गई और सजी हुई नौका में उन्हें बैठाया । यहाँ तो उनकी सेवा में एक नहीं बल्कि कई यौवनाएँ प्रस्तुत थी । उन्होंने गीत, नृत्य और वाद्य से ऋषिपुत्र का ऐसा मनोरंजन

किया और देहसुख का उन्हे ऐसा चस्का लगाया कि जड़भरत और निष्पाप ब्रहमचानी की आँखे चौंधिया गई और मति कुंठित हो गई । पिता के आश्रम में वापस जाने का उसने नाम भी नहीं लिया और नौका धीरे-धीरे अंगदेश में जा पहुँची । ऋष्यशृंग को बड़े सम्मान से राजमहल में ले जाया गया । महल में उनका प्रवेश होते ही घनघोर वर्षा की झड़ी लग गई । विभांडक को ऋष्यशृंग के हरण की खबर लगते ही, नियमानुसार वे लोमपाद को शाप देने के लिए तैयार हुए । परंतु लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता का ऋष्यशृंग से विवाह करकेउनके कोप का निवारण किया । एक पुत्र के जन्म के बाद ऋष्यशृंग अपने आश्रम में वापस लौट आये । कुछ पुराणों के अनुसार ऋष्यशृंग को प्रलोभन में डालकर उनका हरण करने का कार्य लोमपाद की पुत्री शान्ता ने ही किया था ; जब कि कुछ ग्रंथों में गणिकापुत्री द्वारा उनका हरण किया जाने की उपरोक्त कथा का वर्णन मिलता है । इस मतवैभिन्न्य से हमारे विषय का कोई संबंध नहीं । हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात तो केवल इतनी है कि राजनीति और देशकार्य में गणिकाओं का उपयोग होना तभी संभव है कि जब गणिकासंस्था समाज द्वारा स्वीकृत होकर उसकी जड़ें काफी गहरी जम चुकी हों ।

२

रामायण कालीन गणिका: नगर का शृंगार

उपरोक्त कथा में हमें रामायणकाल तक आते आते गणिकावृत्ति का एक सुविकसित और सुस्थापित संस्था के रूप में परिचय मिलता है । संगीत, नृत्य आदि कलाओं के साथ उसका घनिष्ठ संबंध, उसे प्राप्त सामाजिक मान्यता, और कूटनीति में उसके उपयोग का प्रमाण भी स्पष्ट रूप से मिलता है । राम के पिता दशरथ लोमपाद के समकालीन थे । रामायण में गणिकाओं का इससे भी स्पष्ट उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है । राम के लिए सुसज्ज सेना संगठित करने का आदेश देते समय दशरथ कहते हैं : ''युवराज के सैन्य की शोभा बढ़ाने के लिए अपने रूपयौवन के बल पर जीवन यापन करनेवाली मृदुभाषिणी, सुंदर युवतियों की योजना की जाय ।'' सेना के साथ रूपाजीवाओं का इतना निकट संबंध भी अत्यंत संगठित गणिकासंस्था की सूचना देता है । राम को युवराज पद पर आसीन करने के समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया था और अयोध्या नगरी को सुंदर ढंग से सजाया गया था । उस समय रघुवंशियों के कुलगुरु वसिष्ठ मुनि ने आज्ञा दी थी कि राजमहल की चहारदीवारी का एक हिस्सा गणिकाओं के लिए सुरक्षित रखा जाय । इस समारंभ को पूरी तौर से सफल बनाने के लिए जिन आवश्यक वस्तुओं की सूची महर्षि वसिष्ठ ने दशरथ को दी थी, उसमें भी शृंगार-प्रसाधन से सजी हुई गणिकाओं का उल्लेख करना वे नहीं भूले थे । ये सारे उल्लेख इसी तथ्य की स्थापना करते हैं कि गणिकासंस्था उस युग में अत्यंत विकसित हो चुकी थी और उत्सव के किसी भी प्रसंग पर वारांगनाओं को नगरसौंदर्य का आवश्यक अंग माना जाता था । ब्रह्मर्षि वसिष्ठ भी एक अप्सरा के पुत्र थे, यह भी नहीं भूलना चाहिये ।

इस के बाद लंबा समय बीत जाता है । चौदह वर्ष के वनंवास के बाद राम अयोध्या लौट रहे हैं, यह शुभ-समाचार लेकर आने वाले हनुमान जी को उच्च कुल में जन्म लेने वाली सोलह सुंदरियाँ भेंट देने की आज्ञा भरत देते हैं । वाल्मीकि रामायण में इन सुंदरियों के रूपरंग का ही नहीं बल्कि अंगप्रत्यंग का वर्णन भी आदिकवि ने भरत के मुख से करवाया है । बालब्रहमचारी हनुमान जी को ये सुंदरियाँ क्या काम आई होंगी, यह समझ में नहीं आता । राम की अगवानी के लिए भरत ने नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि, ''इस मंगल अवसर पर शहर के सब लोग देवालयों में जाकर देवताओं को पुष्पमालाएँ अर्पण करें और उनकी प्रार्थना करें । संगीत, वाद्य, नृत्य आदि के निष्णात कलाकार, रघुकुल की यशोगाथा गाने वाले भाट-चारण, नगर के श्रेष्ठी-महाजन, साधारण सैनिकों से लगाकर सेनापति तक के सैनाधिकारी, सुंदर वस्त्राभूषणों से

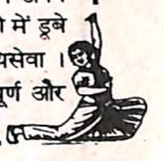
सजी हुई गणिकाएँ एवं नगर की सम्माननीय पुरंध्रियाँ बड़ी संख्या में राम की अगवानी के लिए उपस्थित रहें ।'' इस प्रकार के भव्य स्वागत की तैयारी के साथ राम की अगवानी के लिए भरत नगर से कई योजन दूर भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचे । तपस्वी भरद्वाज ऋषि ने भी अपने तपोबल से राम के स्वागत की राजसी व्यवस्था की थी । इस व्यवस्था में ब्रह्मा, इंद्र और कुबेर की भेजी हुई हजारों अप्सराओं का समावेश तो हुआ ही था, पर तपोवन ऋषि ने अपने तपोबल से आश्रम की लताओं को भी सुंदर नवयौवनाओं में परिणत कर दिया था । इस सब व्यवस्था के परिणामस्वरूप वहाँ सुंदर स्त्रियों की इतनी इफरात रही कि प्रत्येक पुरुष को स्नान-भोजन करवाने के लिए और नृत्य, संगीत आदि से उसका मनोरंजन करने के लिए सात-सात सुंदरियाँ दी जा सकी थीं । हँसती, नाचती, गाती और आनंद से झूमती हुई इन सुंदरियों ने समारोह के बाद स्वर्ग में वापस जाने से या फिर से बेल या लता बनने से स्पष्ट इनकार कर दिया । उन्होंने भरत से बिनती की कि स्वर्ग में इससे अधिक कुछ नहीं मिल सकता ; अत : वे वहीं रहना चाहती हैं । आनंद के आवेश में भरत ने उनकी मनोकामना पूर्ण की और अयोध्या नगरी इन सुंदरियों से भर गई ।

एकपत्नीव्रत का महान आदर्श स्थापित करने वाले भगवान राम के स्वागतोत्सव में गणिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह बात आज हमें कुछ अटपटी लग सकती है, पर उस युग की समाजव्यवस्था का रूप इससे स्पष्ट हो जाता है । आद्यकवि ने जब रामायण की रचना की, कम से कम उस युग में तो बरातों और जुलूसों में एवं स्वागत या अगवानी के समारंभों में रूपाजीवाओं को निमंत्रित करने की प्रथा थी ही । इतना ही नहीं, यह प्रथा उस युग में इतनी स्वाभाविक मानी जा चुकी थी कि इससे किसी को रत्तीभर भी आश्चर्य हुआ हो, ऐसा कोई प्रमाण उस युग के साहित्य में नहीं मिलता । आद्यकवि के कथनानुसार जो हजारों सुंदरियाँ राम के पुनरागमन के उत्सव में बाहर से आई थीं, वे भी तपस्वी भरत की आज्ञा और एकपत्नीव्रती राम की अनुमति से अयोध्या में ही बस गईं और वापस जाने का उन्होंने नाम भी नहीं लिया । अयोध्या के नागरिक जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि रामायणकाल में एकपति या एकपत्नीव्रत सम्माननीय आदर्श के रूप में अवश्य स्वीकृत था, परंतु उसका पालन अनिवार्य नहीं था और उसका प्रचलन भी हम मानते हैं उतना व्यापक नहीं था । उस युग की नागर-संस्कृति की जो झाँकियां हमें मिलती हैं, उन सब में वारांगना का स्थान अत्यंत स्पष्ट और सुस्थापित दिखाई देता है ।

३

महाभारत में दासी-संस्था

अब हम फिर से एकबार महाभारत की ओर दृष्टिक्षेप करके उस युग की दासीसंस्था का अवलोकन कर लें । अभी कुछ वर्ष पहले तक हमारे देश के छोटेमोटे रजवाड़ों में विवाह के समय राजकुमारी के साथ दासियाँ भेंट देने की प्रथा प्रचलित थी । विवाह मर्यादा को शिथिल करने में और गणिकावृत्ति को प्रोत्साहित करने में इस वर्ग की स्त्रियों का योगदान बहुत अधिक रहा है । ययाति, देवयानी और शर्मिष्ठा की कथा में इस रिवाज का सबसे पुराना उल्लेख मिलता है जो राजपरिवारों में और उनके आसपास के सरदार-जागीरदारों के वर्ग में आज तक किसी न किसी रूप में चला आ रहा है । कौरव-पांडवों के अंत :पुर में अलग-अलग प्रकार की असंख्य दासियाँ थीं जिनमें राजनर्तकियों का भी समावेश होता था । द्रौपदी और सुभद्रा के दासियों से भरे हुए यमुनाकिनारे के ग्रीष्मावासों का विस्तृत वर्णन महाभारत में मिलता है । अपने स्वामी-स्वामिनी के सेवा के उपरांत हँसना-खेलना, आनंदोपभोग करना और मदिरापान करके मस्ती में डूबे रहना ही इन दासियों का प्रधान कार्य हो ऐसा दिखाई देता है । उनका दूसरा मुख्य कार्य था अतिथिसेवा । रूपयौवन संपन्ना लावण्यवती दासियों का नियोजन उस समय के अतिथिसत्कार का एक महत्त्वपूर्ण और



अनिवार्य अंग माना जाता था । आताथ का चरण-प्रक्षालन करना, उसे स्नान-भोजन कराना, उसके सोने-बैठने की व्यवस्था करना और नृत्य-संगीत से उसका मनोरंजन करना दासियों का प्रधान कर्तव्य माना जाता था । मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को देखते हुए, इतने घनिष्ठ संसर्ग के बाद आनंद के बाकी बचे हुए साधन भी ये सेविकाएँ प्रस्तुत नहीं करती होंगी, यह नहीं माना जा सकता । दासीवर्ग की स्त्रियाँ औसतन सुंदर, वस्त्रालंकार से सज्ज और नृत्य-संगीत आदि कलाओं में प्रवीण होती थी । शृंगार-प्रसाधन, चतुर वार्तालाप, चौसर आदि घरेलू खेल, उपवन-विहार और जलक्रीड़ा एवं पाकशास्त्र में भी वे अत्यंत निपुण होती थीं । ध्यान खींचने वाली बात यह है कि उपरोक्त सभी निपुणताओं का समावेश कामशास्त्र में वर्णित चौसठ कलाओं के अंतर्गत होता है । रनिवास के षडयंत्रों में भी इन दासियों का पर्याप्त हिस्सा रहता था और गुप्त संदेश लाने-लेजाने में तो वे अत्यंत निपुणहोती थीं । इन सब गुणों से युक्त कुछ पुरानी दासियाँ रानियों की सखी होने का दावा भी कर सकती थीं ; और कहीं कहीं तो रानियों को अपने नियंत्रण में रखने तक उनकी प्रगति हो जाती थी । एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि इन दासियों को भोजन-वस्त्र, और जीवन की साधारण सुविधाओं की कमी कभी नहीं पड़ती थी और उन्हें इस हद तक सुखी और संतुष्ट रखा जाता था कि वे अपना चाहे जब, चाहे जिस प्रकार का उपयोग किया जाने के लिए सदा तत्पर रहती थीं ।

इस दासीवर्ग की सामाजिक कक्षा का निर्णय करना भी आवश्यक है । हमारे दैनंदिन व्यवहार का नियमन करने वाले सुप्रसिद्ध ग्रंथ मिताक्षरा में पाँच प्रकार के दास गिनाये गये हैं :— (१) शिष्य (२) अंतेवासी (३) भृतक (४) किंकर और (५) दास । इनमें से पहले चार प्रकार के दासों का उपयोग शुभकार्यों में ही होता था । वास्तव में इन चारो प्रकार के सेवकों के लिए स्वामी की आज्ञा का पालन करना किसी आनुषंगिक कारण से ही आवश्यक होता था । उदाहरणार्थ पहले प्रकार में शिष्य द्वारा गुरु की आज्ञा पालन गुरु के किसी विशेषधिकार के कारण नहीं बल्कि पूज्यभाव से प्रेरित होकर किया जाता था । इसी प्रकार भृतक या किंकर वेतन के बदले में सेवा करते थे । इन चारों प्रकारों का दासों की श्रेणी में समावेश इस मर्यादित आशय से ही हुआ है । अन्यथा, इनपर स्वामी का कोई विशेषाधिकार नहीं होता था । उनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता था और उन्हें सौंपे जानेवाले कार्य भी प्राय : उच्च कोटि के होते थे ।

परंतु अंतिम प्रकार विशुद्ध दासों का है और हमारे अध्ययन की दृष्टि से वही अधिक महत्त्वपूर्ण है । अत : अन्य प्रकारों के विवेचन में न पड़ते हुए, मिताक्षरा में दी हुई इन अंतिम श्रेणी के दासों की व्याख्या को हम जरा स्पष्टता से समझ लें । उस युग की दासीसंस्था का निरूपण करने में और दास श्रेणी के लोगों का सामाजिक स्तर निश्चित करने में भी इससे हमें सहायता मिलेगी । यह हम पहले कई बार देख चुके हैं कि क्रीत दासदासियों की प्रथा, फिर चाहे वह प्राचीन युग में हो, चाहे आधुनिककाल में, गणिकावृत्ति के विकास में अत्यधिक सहायक होती है । मिताक्षरा में अंतिम प्रकार के दासों के निम्नलिखित पंद्रह उपभेद माने गये है :—

१. गृहजात :— घर की किसी दासी के गर्भ से उत्पन्न होने वाली संतान, जिसे जन्म से ही दास माना जाता था । इसे गर्भदास भी कहा जाता है । इसकी उत्पत्ति का कारण और जन्म की परिस्थिति आसानी से समझी जा सकती है ।
२. क्रीत :— धन देकर खरीदा हुआ दास ।
३. लब्ध :— दान या उपहार के रूप में मिला हुआ दास ।

४. दुर्भिक्षरक्षित :— भयानक अकाल के समय पालन-पोषण करके जीवित रखा हुआ व्यक्ति शेष आयु भर आश्रयदाता का दास बन कर रहता था ।

५. दाय :— पैतृक उत्तराधिकार में मिला हुआ दास ।

६. स्वाम्याहित :— अपने स्वामी द्वारा किसी अन्य के यहाँ गिरवी रखा हुआ दास ।

७. ऋणदास :— कर्ज न चुका सकने वाले व्यक्ति को साहूकार का दास बनकर रहना पड़ता था ।

८. युद्धप्राप्त :— युद्ध में विजेताओं द्वारा कैद पकड़े हुए सैनिकों को दास माना जाता था और पराजित प्रजा की असंख्य स्त्रियों को पकड़कर उन्हें भी दासी बना लिया जाता था ।

९. पणजित :— जुए में जीता हुआ दास । द्यूत में अपने आपको हार जानेवाल मनुष्य या किसी वादविवाद में हार जाने वाला व्यक्ति पूर्वप्रतिज्ञानुसार विजेता का दास बन कर रहे, तो उसका समावेश भी इसी श्रेणी में होता था ।

१०. स्वयंदास :— स्वेच्छा से किसी का दास बन कर रहने वाल सेवक ।

११. संन्यासभ्रष्ट :— संन्यास से भ्रष्ट होने वालों को भी अकसर दासता का स्वीकार करना पड़ता था ।

१२. कृतदास :— निश्चित समय के लिए दासता का स्वीकार करने वाला निर्धन मनुष्य ।

१३. वडवाभृत :— घर की किसी दासी पर मोहित होकर उससे विवाह करनेवाले पुरुष को दासत्व का स्वीकार करके घर में ही रहना पड़ता था ।

१४. भुक्तदास :— नीच जाति की स्त्री के गर्भ से उत्पन्न अनौरस पुत्र । और किसी वर्णन में स्थान न मिलने पर इसके लिए दासत्व के सिवा और कोई चारा नहीं रहता था ।

१५. आत्मविक्रयी :— अपने आपको दास के रूप में बेचने वाला व्यक्ति ।

इन पंद्रहों प्रकारों में समानतत्व यह है कि इन पर स्वामी का अनिर्बंध अधिकार होता था, और स्वामी की इच्छानुसार उनका क्रयविक्रय या आदान-प्रदान हो सकता था । उपरोक्त व्याख्याओं में सारे उल्लेख पुल्लिंग में हुए हैं । इन में से प्रत्येक उपविभाग के लक्षणों से युक्त स्त्री उसी प्रकार की दासी मानी जाती थी । दासियों का जन्म घर की दासियों के गर्भ से हो सकता था ; उन्हें खरीद-बेचा जा सकता था ; वे दान, उपहार, या उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकती थीं ; अकाल के समय निर्धन माता-पिता अपनी पुत्रियों को, दासी के रूपमें पालनपोषण होने के लिए धनिक श्रेष्ठियों के घर छोड़ जाते थे ; उन्हें गिरवी रखा जा सकता था ; युद्ध में पकड़ी हुई स्त्रियों को तो अनिवार्य रूप से विजेताओं की दासी बन कर रहना पड़ता था ; और उन्हें जुए में हारा या जीता जा सकता था । जुए में अपनी पत्नी को हार जाने वाले ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर का कथा तो इस देश का बच्चा बच्चा जानता है । जीती हुई राजवधू को विजेतापक्ष ने अपनी क्रीतदासी के सिवा और कुछ नहीं माना और भरी सभा में उसका अपमान होने पर भी जुए की हारजीत के नियमों से बद्ध महापराक्रमी पांडव निषेध का एक शब्द भी नहीं बोल सके थे । साध्वी बन जाने वाली स्त्रियाँ भ्रष्ट होने पर इसी वर्ग की संख्या बढ़ाती थीं । विवाह की मर्यादाओं को तोड़ने में और गणिकावृत्ति का प्रसार करने में इन भ्रष्ट साध्वियों का योगदन सभी देशों में बहुत अधिक रहा है । वैदिक हिंदूधर्म ने स्त्रियों को साध्वी बनने के लिए विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया ; पर ईसाई, बौद्ध और जैन साध्वियों के पतन के किस्से उन समाजों के अश्लील साहित्य का कंठस्थ विभाग बन चुके हैं ।

वर्तमान युग उपरोक्त प्रकारों की दासता और गुलामी में कोई भेद नहीं मानता और उसके निर्मूलन के प्रयत्न करता है । मानवदेह जबरदस्ती से ही नहीं, स्वेच्छा से भी यदि क्रयविक्रय की वस्तु बने, तो इससे मानव समाजरचना की एक अक्षम्य त्रुटि मानना पड़ेगा । दासियों को चाहे जितना सुख मिले और चाहे जितनी सुविधाएँ प्राप्त हों, इस अवस्था को किसी भी हालत में प्रतिष्ठित या वांछनीय नहीं माना जा सकता । स्त्रीदेह किसी जड़ वस्तु की तरह व्यापार का विषय बने इससे बढ़कर कलंक की बात मानवता के

लिए शायद और कोई नहीं हो सकती । केवल खिलवाड़, आनंद, मनोरंजन या वासनातृप्ति के लिए किया जाने वाला स्त्रीदेह का उपयोग गणिकावृत्ति का अक्षय स्रोत प्रमाणित हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

दासियों के उपरोक्त साधारण प्रकारों के उपरांत, परिवार में उनकी स्थिति के आधार पर दो विभाग और किए जाते हैं :—

१. अवरुद्धा दासी : —जिसका परिवार के पुरुषों के सिवा और किसी द्वारा उपभोग न हो सके ।
२. भुजिष्या दासी :— जो परिवार के किसी विशिष्ट पुरुष के ही उपभोग के लिए नियत की गई हो ।

दासियों का इन दो प्रकारों में विभाजन तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर कुछ अधिक प्रकाश डालता है ; और घर की दासियों के प्रति परिवार के पुरुषों का मोह या किसी विशिष्ट दासी के प्रति परिवार के किसी विशिष्ट पुरुष का लगाव किस हद तक पहुँच सकता था, इसका निर्देश करता है । दासियों के उपभोग को परिवार के पुरुषों तक, या उनमें से किसी विशिष्ट व्यक्ति तक सीमित रखने का अधिकार इन स्त्रियों पर गृहस्वामी के एकछत्र स्वामित्व की पराकाष्ठा सूचित करता है । एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य का इससे अधिक अधिकार होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । स्मृतिकारों ने उपरोक्त सभी वर्गों को स्वीकृत किया है और उनके साथ के व्यवहार के कानून की परिधि में बाँधने का प्रयत्न किया है । उदाहरणार्थ, बलात्कार से दासी का उपभोग करने वाला पुरुष दस पण के दंड का पात्र माना जाता था । गृहस्वामी खुद यदि दासी की मरजी के विरुद्ध उससे संभोग करे, तो उसका अपराध अधिक गंभीर माना जाकर उसे बीस पण के दंड का पात्र माना गया है । परंतु प्रश्न यह है कि इस प्रकार के यौन-अपराधों का इतिवृत्त न्यायालय में कैसे बयान किया जाता होगा ? उस युग में इस अपराध को प्रमाणित करना तो मुश्किल ही नहीं, असंभव रहा होगा । अत : इन नियमों के संबंध में यही कहना उचित होगा कि वे पोथियों की शोभा बढ़ाने के सिवा और किसी काम के नहीं रहे होंगे और वर्तमान युग की तरह उस युग में भी यौन-अपराधों के अधिकांश प्रसंग अंधकार में उत्पन्न होकर अंधकार में ही विलीन हो जाते होंगे ।

महाभारत की कुछ और घटनाओं का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक होगा । सुभद्रा के साथ अर्जुन के विवाह को बलराम की स्वीकृत मिल जाने पर यादवों ने एक हजार दासियाँ भेंट-स्वरूप दी थी । अरब सागर में रत्नद्वीप नामक टापू पर यादवों की सत्ता थी । यह स्थान मुख्यत : रत्नों और रमणियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था । द्वीपों और बंदरगाहों का उल्लेख प्राचीनकाल में भी गणिकावृत्ति और स्त्री-व्यापार के संदर्भ में अधिक हुआ है । वर्तमान युग में तो संसार के बड़े बड़े बंदरगाह गणिका व्यापार के कुप्रसिद्ध अड्डे बन चुके हैं, यह हम पहले अनेक बार देख चुके हैं । द्रौपदी के विवाह में द्रुपद राजा ने भी दहेज के साथ एक सौ सुंदरी दासियाँ भेंट दी थी । मागधी और कैरालिकी दासियाँ अपने सौंदर्य और चातुर्य के कारण अधिक प्रसिद्ध थीं । उत्तरा-अभिमन्यु के विवाह के समय अभिमन्यु की ननिहाल (यादवकुल) की ओर से सुंदर और शृंगारसज्ज एक हजार मागधी ललनाएँ भेंट-स्वरूप दी गई थी । राजसूय-यज्ञ के बाद युधिष्ठिर ने कई राजाओं की ओर से उन्हें भी इसी प्रकार की भेंट मिली थी । कौरवों के साथ के कपटद्यूत में युधिष्ठिर अपना राज्य और अपनी पत्नी तो अंत में हारे, परंतु रत्नों के असंख्य भंडार और हजारों सुंदर दासियाँ वे उससे पहले ही हार चुके थे ।

जुए की शर्तों के अनुसार, हारे हुए पांडवों को बारह वर्ष के वनवास के बाद एक वर्ष का अज्ञातवास करना आवश्यक था । विराट राजा के राज्य में पांडवों के गुप्तनिवास की कथा की गणना महाभारत की अत्यंत प्रसिद्ध कथाओं में की जाती है । इस अज्ञातवास के दरमियान तत्कालीन दासीप्रथा के स्वरूप का सर्वाधिक स्पष्टीकरण हुआ है । द्रौपदी विराट की पटरानी सुदेष्णा की दासी के रूप में सैरन्ध्री नाम धारण करके रही थी । राजमहल में उसके साथ पर्याप्त सम्मान का बर्ताव किया जाता था ; परउसका दासी होना ही उसके प्रति कीचक की वासना का प्रधान कारण मालूम देता है । दासियों का मनमाना उपभोग करने का परिवार के प्रत्येक पुरुष को अधिकार है, यह भावना उस युग में इस हद तक रूढ हो चुकी थी कि खुद



महारानी सुदेष्णा को इस षडयंत्र में अपने भाई की सहायता करने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई और द्रौपदी की मरजी के विरुद्ध उन्होंने उसे सुवर्णकलश लेकर कीचक के पास भेजा । अंत में भीम ने कीचक का वध किया, यह अलग बात है । परंतु सभी दासियाँ सैरन्ध्री नहीं होतीं, और ऐन मौके पर सहायता करने वाले भीम जैसे उनके पति भी नहीं होते । इस हालत में दासियों की शीलरक्षा का प्रश्न परिवार के पुरुषों की औचित्यभावना पर ही आधारित रहता होगा । उस युग की साधारण प्रवृत्तियों और राजपरिवार के पुरुषों की विषयलोलुपता को देखते हुए कोई भी दासी अपने शील की रक्षा कर सकती होगी, यह संभव दिखाई नहीं देता । राजघरानों में आज भी इस प्रथा में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा है । कीचकवध की पूरी कथा में और भी अनेक विलक्षणताएँ दिखाई देती हैं । सुदेष्णा का आसव लाने के लिए भंडारघर में जाने वाली सैरन्ध्री से कीचक अत्यंत अश्लील प्रकार की छेड़छाड़ और खींचातानी करता है । इस खींचातानी में वह गिर जाता है, और सैरन्ध्री, भागती हुई, शिकायत करने के लिए राजसभा में पहुँचती है, जहाँ राजा विराट कंक (युधिष्ठिर) के साथ विचारविमर्श कर रहे थे । कीचक इन सब की उपस्थिति में, सैरन्ध्री के बाल पकड़कर, भरी सभा में उसे लातों से पीटता है । उसके इस कार्य की निंदा या विरोध करना तो दूर रहा, कोई उसके खिलाफ एक शब्द भी नहीं बोलता और महाभारतकार को इस मौके पर भी दैवी सहायता का आवाहन करना पड़ा है । उपस्थितों की कापुरुषता की यह सफाई दी गई है कि सूर्यदेव से यह पापकर्म सहन नहीं हुआ ; उन्होंने कीचक को कुछ देर के लिए स्तब्ध कर दिया । सूर्यदेव की सहायता से सैरन्ध्री राजसभा में से तो सहीसलामत छूट निकलती है, पर यह सुरक्षा लंबे समय तक नहीं चलती । दूसरे दिन कीचक फिर सैरन्ध्री का अपमान करता है ; परंतु अबकी बार जबरदस्ती के बजाय प्रलोभन देकर उसे फुसलाने की कोशिश करता है । अपने कहे अनुसार बर्ताव करने के बदले में वह उसे सौ सुवर्णमुद्राएँ, सौ दास, सौ दासियाँ, सोने का रथ और चार-छ : सुंदर अश्व देने की लालच देता है । दासी को भी सौ-दो सौ दास-दासियों की और रत्नजड़ित की भेंट दी जा सकती थी, यह बात अपने आप में काफी आश्चर्यजनक है । परंतु दूसरे की दासी के रूप में पराधीन जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री को ये वस्तुएँ क्या काम आती होंगी, यह कहना तो और भी मुश्किल है । इस प्रस्ताव से सैरन्ध्री धर्मसंकट में पड़ गई । अंत में वह इस विपत्ति से बच तो जाती है पर इसके लिए उसे अधिकार की अपेक्षा युक्ति की सहायता ही अधिक लेनी पड़ती है । संकेत स्थान पर वह अपनी जगह भीम को सुला देती है और वह कीचक का वध करता है । प्रश्न उठता है कि द्रौपदी जैसी तेजस्विनी स्त्री न हो, और वृकोदर भीम जैसा सहायक न हो, तो इन राजमहलों में किस दासी का शील सुरक्षित रह सकता है ? द्यूत में हारी जाते ही धृतराष्ट्र के भरे दरबार में उसे विवस्त्र करने का प्रयत्न हुआ और विराट के महल में उसकी रक्षा केवल युक्ति और शारीरिक शक्ति के बल पर हो सकी । और यह सब उस युग के सर्वश्रेष्ठ माने जाने विद्वानों, पंडितों, नीतिज्ञों, राजाओं, योद्धाओं और वीरों की उपस्थिति में हुआ । नक्कारखाने में तूती की आवाज जैसा विरोध का एकाकी सूर केवल विदुर ने उठाया जो खुद दासीपुत्र थे । पर उनकी आवाज किसी ने नहीं सुनी । महाभारतयुग की दासी प्रथा का स्पष्टीकरण द्रौपदी से संबंधित इन प्रसंगों से बढ़कर और कहीं शायद ही हुआ हो ।

इस प्रथा का एक और स्पष्ट निरूपण कर्ण से संबंधित कथाओं में मिलता है। कुंती की कौमार्यावस्था में उत्पन्न (कानीन) पुत्र कर्ण का पालनपोषण रथ चलाने वाले सूत-परिवार में हुआ था। इन सूतों की उत्पत्ति गृहस्थ घरानों की दासियों के गर्भ से मानी जाती थी। दुर्योधन की मैत्री संपादन करके कर्ण राजा बन सका, पर हीनकुल में जन्म लेने का कलंक सिर से कभी नहीं छूटा। स्वयंवर की भरीसभा में मत्स्यवेध करने के लिए उठने वाले कर्ण को द्रौपदी ने "मैं दासीपुत्र के साथ विवाह नहीं करूँगी।" कहकर लज्जित कर दिया था। मानभंग और तेजोवध के ऐसे अनेक प्रसंगों के बावजूद भी कर्ण महाभारत का एक अत्यंत तेजस्वी और आकर्षक पात्र सिद्ध होता है। धनुर्विद्या में उसका कौशल्य अर्जुन से तिलभर भी कम नहीं था। उसकी दानशूरता तो आज तक अतुलनीय रही है और भारत की प्राय: सभी भाषाओं में औदार्य के सर्वोच्च उपमान का स्थान प्राप्त कर चुकी है। उसकी निष्ठा भी उतनी ही अचल थी। कुंती को माता के रूप में पहचानने पर भी वह दुर्योधन का पक्ष छोड़ने को राजी नहीं होता। अपने सर्वस्व का दान करने को सदा तत्पर रहने वाला यह उदारचेता अतुलदानी अपनी माता को अर्जुन के सिवा और किसी पांडव का वध न करने का अभयदान देकर ही विदा करता है। पांडवों के पक्ष में आनेपर, पांडवों का सबसे बड़ा भाई होने के नाते भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट बनाया जाने का प्रलोभन श्रीकृष्ण जब उसे देते हैं, तब वह उनकी जिन शब्दों में खबर लेता है, वह हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। महाभारत के युद्ध में भीष्म और द्रोण के बाद कौरवसेना के सेनापति-पद पर उसी की नियुक्ति हुई थी। परंतु यहाँ भी उसका भाग्य उसे धोखा दे गया। धनुर्धर पार्थ के जहाँ योगेश्वर कृष्ण जैसे सारथि मिले, वहाँ कर्ण के सारथि के रूप में नकुल-सहदेव के मामा मद्रराजशल्य की नियुक्ति हुई, जिनसे उसकी एक क्षण के लिए भी नहीं पटती थी। महाभारत के कर्णपर्व में शल्य और कर्ण के बीच के उपालंभ और कलह का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस लंबे उपालंभ (वास्तव में इसे गाली गलौज कहना ही अधिक उपयुक्त होगा) में उस युग की कई सामाजिक प्रथाओं पर प्रकाश पड़ा है। गालियों से भरे ये निंदासूचक वाक्य उस युग की परिस्थिति का अत्यंत खुला वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

प्रसंग इस प्रकार है :— रणांगण में अर्जुन को ढूंढता हुआ कर्ण सैनिकों से कहता है कि धनंजय का पता बतानेवाले को वह मुँहमांगा इनाम देगा। इनामों की लंबी सूची में सैकड़ों मागधी सुंदरियों का भी समावेश हुआ है। उस युग में मागध पुरुष अपनी संगीत-निपुणता के लिए और मागधी ललनाएँ अपने रूप लावण्य के लिए प्रसिद्ध थीं। वाक्‌चातुर्य और अत्यंत सरलता से देहविक्रय के लिए तैयार हो जाने के कारण भी वे उतनी ही प्रसिद्ध थीं। मागधी रमणियों की ख्याति यहाँ तक बढ़ी कि उनके बिना किसी भी राजा या श्रेष्ठी का अंत:पुर अपूर्ण माना जाता था। कर्ण की इस उदारता का खंडन करते हुए शल्य अर्जुन के पराक्रम और यश का वर्णन करता है; और धनंजय की तुलना में कर्ण को बिलकुल ही नगण्य सिद्ध करके उसे नीचा दिखाता है। इससे क्रोधित होकर कर्ण शल्य के प्रदेश की निंदा आरंभ करता है। कुंजडिनों जैसी यह गालीगलौच कर्ण जैसे उदारचित योद्धा के मुख में शोभा तो नहीं देती; पर उससे तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। बल्कि (बल्ख) और गंधार (अफगानिस्तान) से लगाकर पश्चिमी पंजाब तक के प्रदेश पर शल्य का राज्य था। बाल्हिक और मद्र नामक दो प्रजाएँ इस प्रदेश में बसी हुई थीं। मद्रजाति की स्त्रियों के लिए अत्यंत कठोर अपशब्दों का प्रयोग करते हुए कर्ण कहता है कि मद्र स्त्रियाँ चाहे जिस पुरुष के साथ संभोग करने को सदा तैयार रहती हैं। वे मछली और गोमांस जैसी निषिद्ध वस्तुएँ खाती हैं, बेहिसाब सुरापान करती हैं और नशे से उन्मत्त हो कर अत्यंत निर्लज्जता से हँसती हैं, गाती हैं, और अनर्गल बकवास करती हैं। मदिरा की मस्ती में वे वस्त्रहीन होकर नाचने भी लगती हैं। बाल्हिक स्त्रियों के विषय में भी कर्ण का यही मत है कि वे अत्यंत बेहया होती हैं और शराब की मदहोशी में नग्न होकर शहर के बाजारों में नाचती फिरती हैं। इन प्रदेशों में जाने से ब्राह्मण अपवित्र और योद्धा भ्रष्ट हो जाते हैं। वहाँ की पूरी प्रजा अशुद्ध और सांकर्यजनित है। पितृगण उनके हाथ का तर्पण या पिंडदान स्वीकार नहीं करते। इसका कारण बताते हुए कर्ण कहता है कि कुछ बाल्हिक डाकुओं द्वारा किसी सती स्त्री का शीलभंग किया

जाने पर उसने शाप दिया था कि उस प्रदेश की सारी स्त्रियाँ वेश्याओं से.भी बदतर हो जायेंगी । तब से मद्र और बाल्हिक प्रदेश की स्त्रियों का नैतिक पतन होता आया है जो उस युग तक आते आते निर्लज्जता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है — इत्यादि । कर्ण द्वारा लगाये गये अभियोगों की इस लंबी सूची से और कोई लाभ चाहे न हो, पर स्त्रियों की यौन नैतिकता के इस गिरे हुए स्तर ने तत्कालीन दासीप्रथा के साथ मिलकर गणिकावृत्ति का किस हद तक प्रसार किया होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है ।

दासीप्रथा और गणिकावृत्ति की व्यापकता का एक और उदाहरण यादवों के इतिहास में मिलता है । मथुरा से द्वारका आने के बाद कृष्ण-बलराम ने एक नये राज्य की स्थापना की थी । पवित्र माने जाने वाले **हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस बात का स्पष्ट आदेश मिलता है कि नगरों की स्थापना करते समय उनमें** व्यापारी, कारीगर, सैनिक, पुरोहित, आदि के साथ साथ पर्याप्त संख्या में नर्तकियों और गणिकाओं को भी बसाया जाय । द्वारका की स्थापना के समय कृष्ण-बलराम ने इन सब बातों की पूरी सावधानी रखी थी । पुरुषों के उपभोगार्थ पर्याप्त संख्या में स्त्रियाँ न मिलें, तो उनमें झगड़ा होने की संभावना बहुत अधिक रहती है, यह सत्य उस युग में पूर्णत : स्वीकृत हो चुका था । यादवों के शासन में रत्नद्वीप का नारीव्यापार जोरों से चलता था, इसका उल्लेख पहले हो चुका था । प्राग्ज्योतिषपुर के असुर राजा नरकासुर ने सोलह हजार सुंदरियों को कैद कर रखा था । इन बंदिनी रमणियों की प्रार्थना से श्रीकृष्ण ने नरकासुर का वध करके उन्हें अपनी रानियों के रूप में द्वारिका लाकर बसाया थी। श्रीकृष्ण के जीवन के साथ यह कथा अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है । आज की दृष्टि से इन सोलह हजार सुंदरीबंदनियों की गणना दासीप्रथा के ही किसी उपभेद के अंतर्गत की जा सकती है ।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत युग में दासी-प्रथा अत्यंत व्यापक थी । मगध और केरल जैसे प्रदेश तो वहाँ की दासियों के सौंदर्य के कारण ही प्रसिद्ध थे । राजा-महाराजा और श्रेष्ठी-सरदार आदि वरिष्ठ वर्गों में उपहार के रूप में सैकड़ों दासियों का आदान-प्रदान होता रहता था । युद्धविजय दासियाँ प्राप्त करने का सबसे प्रधान माना जाता था । दासियाँ उच्च परिवारों में सम्मान का स्थान प्राप्त कर सकती थीं पर अवरुद्धा और भुजिष्या के सिवा और किसी प्रकार की दासियों का कोई वाली-वारिस नहीं था । दासी की इच्छा के विरुद्ध उसका उपभोग नहीं किया जा सकता ऐसी व्यवस्था धर्मशास्त्रों में थी । उस युग के विधान में ऐसी व्यवस्था होना कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है । परंतु समाज की जिस चौखट में और जिस वातावरण में दासियों को रहना पड़ता था, जिस प्रकार के कार्यों में उनकी नियुक्ति होती थी, और जिस प्रकार की शिक्षादीक्षा के संस्कार बचपन से उन्हें मिलते थे, उन्हें देखते हुए इन नियमों का कभी पालन होता हो, यह संभव दिखाई नहीं देता । उस युग की यौन-व्यवहार संबंधी मान्यताओं और स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण को देखते हुए भी, दासियाँ गणिकावृत्ति से अधिक दूर रह सकती हों इसकी संभावना कम दिखाई देती है । बड़े नगरों की गणिकाओं की संख्यावृद्धि करने में इन दासियों का **योगदान निस्संदेह बहुत अधिक रहता होगा ।**

गणिकाओं का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में और भी कई प्रसंगों पर अलग अलग संदर्भों में मिलता है । सेना के साथ गणिकाओं का रहना अनिवार्य माना जाता था । युद्ध और वेश्यावृत्ति का निकट संबंध वर्तमान युग की ही ईजाद नहीं है । भारत के प्राचीन इतिहास में भी इसके अनेक उदाहरण देखे जाते हैं । बारह वर्ष के वनवास के दरमियान पांडव जब द्वैतवन में रह रहे थे, तब अपनी सत्ता और समृद्धि का प्रदर्शन करके उन्हें जलाने के हेतु से दुर्योधन ने सदलबल वहाँ पड़ाव डाला था । महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि इस अभियान में सैनिकों के उपभोगार्थ पर्याप्त संख्यामें गणिकाएँ उपलब्ध न होने पर उनकी कमी इर्दगिर्द के गाँवों की दूध बेचने वाली ग्वालनों से पूरी कर ली जाती थी । एक और प्रसंग इस प्रकार है : महाभारत का युद्ध रोकने का आखिरी प्रयत्न करने के लिए श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में गये थे । उनकी अगवानी के लिए धृतराष्ट्र ने एक विशाल समारंभ का आयोजन किया । उस समय और अनेक आज्ञाओं के

साथ यह आदेश भी स्पष्ट रूप से दिया गया था कि नगर की गणिकाएँ अपने सुंदरतम वस्त्राभूषणों से सज्ज होकर श्रीकृष्ण की अगवानी के लिए उपस्थित रहें । इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण के निवासस्थान में उनकी सेवा के लिए सौ कुमारिकाओं की नियुक्ति की गई थी । हमारे पुराणेतिहासों की संख्याएँ अक्सर अतिशयोक्तिपूर्ण होती हैं । हो सकता है कि यहाँ भी अतिशयोक्ति हुई हो । परंतु मूल प्रश्न यह है कि सौ न सही, एक भी कुमारिका दासी की किसी पुरुष की सेवा के लिए नियुक्ति हुई हो तो वह कहाँ तक उचित है । दूसरी खटकने वाली बात यह है कि इन घटनाओं का यथासंभव संक्षिप्त या सरसरा उल्लेख होने के बजाय उस युग के साहित्य में उनका हमेशा रसपूर्ण भाषा में ब्योरेवार वर्णन होता है, मानो यह कोई बड़े गौरव की बात हो ।

महाभारत का युद्ध आरंभ होने के बाद का एक प्रसंग भी अत्यंत सूचक है । धर्मराज युधिष्ठिर एक संदेशवाहक को पूरी सेना में घूमकर योद्धाओं के साथ साथ गणिकाओं के भी कुशल-समाचार पूछने की आज्ञा देते हैं । उन्हीं के शब्दों में कहें तो, "सुंदर वस्त्राभूषणों से सज्ज, सुगंधित द्रव्यों के आलेपन से सुवासित, और वाणी के माधुर्य एवं हावभाव और कटाक्षों के चापल्य के कारण मोहक लगनेवाली नयनाभिराम वेशस्त्रियों के आराम और स्वास्थ्य के समाचार भी मेरी ओर से पूछे जायँ ।" स्पष्ट है कि उस समय के सैन्यों में केवल चतुरंगबल, अस्त्रशस्त्र, हाथी घोड़े, जासूस, रसद, और घायलों की सेवाशुश्रूषा करने वाले वैद्यकदलों से ही काम नहीं चल जाता था, बल्कि गणिकाओं की उपस्थिति भी उतनी ही अनिवार्य मानी जाती थी । दुर्योधन की सेना की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं थी । सैनिकों को गणिकाओं की कमी महसूस न हो, इसकी चिंता उसे हमेशा रहती थी, जिसका कई स्थानों पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है । एक और प्रसंग लें :— कौरवों की अजेय मानी जाने वाली सेना को बृहन्नला (अर्जुन) की सहायता से हराकर विराट राजा का पुत्र उत्तर जब वापस लौटता है, तब राजा अपने मंत्रियों को अन्य आज्ञाओं के साथ यह आदेश भी देता है कि नगर की तमाम युवती वेश्याओं को आज्ञा दी जाय कि वे सुंदर वस्त्राभूषण से सज्ज होकर नृत्यवाद्यसंगी से सैनिकों का स्वागत करने के लिए तैयार रहें । इन सारे उल्लेखों से भी यही सिद्ध होता है कि उस युग में सैन्यों में, जुलूसों में, उत्सवों में, विवाहों में, और मेले तमाशों में वारांगनाओं की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी । विजेता सेनापतियों और अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों की अगवानी के प्रसंगों पर नगर की कुलस्त्रियों के साथ वारांगनाओं को भी अक्षत, कुंकुम और पुष्पवृष्टि से उनका स्वागत करने के लिए सदा तैयार रहना पड़ता था । एक ओर उस युग के स्मृतिकार और पवित्रता के उपासक ऋषिमुनि गणिकागमन को त्याज्य मानने का उपदश दते थे, तो दूसरी ओर विविधता के शौकीन विलासी लोग उस उपदेश को निष्प्रभ बना देते थे । वारांगनाएँ कभी कभी ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि उच्चवर्णों के लोगों के साथ विवाह करके सामाजिक मान्यता प्राप्त कर लेती थीं । कलाप्रवीण गणिकाएँ राजाओं, सामंतों और श्रेष्ठियों की रखैलके रूप में रहती थी । सब मिलाकर यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि महाभारतयुग के समाज में उनका स्थान सुनिश्चित, सुस्थापित और सर्वमान्य था । आश्चर्य की एक और बात यह है कि उस युग में गणिकाओं के संघों की स्थापना भी की जाती थी । गणिकाजीवन संबंधी किसी भी प्रश्न का विचार करते समय इन संघों की राय ली जाती थी । उनकी नेत्री को महोत्तरिका कहा जाता था और उसे कई प्रकार के विशेषधिकार प्राप्त होते थे ।

४

द्वापरयुग का उत्तरकाल

श्रीकृष्ण के महाप्रस्थान के बाद यादव स्त्रियों की जो दुर्दशा हुई, इस विषय में भागवत पुराण मौन रहता है, पर महाभारत में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है । यह कथा तो अत्यंत प्रसिद्ध है कि प्रभास

के समुद्रतट पर यदुवंशी लोग आपस में लड़कट कर नष्ट हो गये । श्रीकृष्ण ने इसके बाद शीघ्र ही इहलीला का संवरण कर लिया । उनकी कुछ पत्नियाँ तो उनके साथ सती हो गईं । कृष्ण की बाकी बची हुई पत्नियों और यदुवंश की कुछ अन्य स्त्रियों को साथ लेकर अर्जुन हस्तिनापुर जा रहा था कि रास्ते में काबा (आभीर) जाति के डाकुओं ने उन्हें घेर कर उनकी धन संपत्ति लूट ली और स्त्रियों का हरण किया ।

समय समय बलवान है, नहीं मनुष बलवान
काबा अर्जुन लूटिया, वही धनुष वही बाण ।

इस लोकोक्ति में भी यह कथा सुरक्षित रही है । हरण की हुई स्त्रियों में से अनेक, जिनमें श्रीकृष्ण की कई पत्नियों का भी समावेश था, बाद में वेश्याएँ बन गईं । हमारी श्रद्धा की नींव तक को हिला देने वाली यह घटना चाहे जितनी अप्रिय हो, पर हमारे ही ग्रंथों में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है । यद्यपि अपनी पुरानी आदत के अनुसार, इस घटना पर भी सफेदी पोतने का प्रयत्न करने से पुराणकार चूके नहीं हैं । मत्स्यपुराण के ७० वें अध्याय में वारांगनाओं के धर्म का निरूपण करने वाले अनंगव्रत का उपदेश श्रीकृष्ण की इन भाग्यहीन पत्नियों को दिया गया है, और उनके दुख की कारणमीमांसा भी की गई है । महादेवजी ब्रह्माजी से इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं :— द्वापरयुग में श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियाँ वसंतऋतु में किसी सरोवर के किनारे की पुष्पवाटिका में मधुपान करती हुई बैठी थीं । जांबवती का रसिक शिरोमणि पुत्र सांब वहाँ से जा रहा था । इस गठीले-सजीले नवयुवक को देखकर कृष्ण की पत्नियों के मन में उसके प्रति प्रबल वासना जाग्रत हुई । यह जानने पर श्रीकृष्ण ने उन्हें शाप दिया कि अपने ही पुत्र की ओर कामलुब्ध दृष्टि से देखने वाली उन स्त्रियों का डाकू हरण करेंगे और उन्हें वेश्यावृत्ति करनी पड़ेगी । कृष्णपत्नियों ने क्षमायाचना की । दिया हुआ शाप तो मिथ्या हो नहीं सकता था ; पर शाप का अन्य किसी प्रकार से निवारण करने के उपायों की अपने पुराणों में कोई कमी नहीं है । अत : श्रीकृष्ण ने कहा कि यह घटना उनके महानिर्वाण के बाद होगी, और उस समय वे यदि महर्षि दाल्भ्य के पास जायँ, तो वे उन्हें शाप निवारण का मार्ग बतायेंगे । इसके बाद यथा समय श्रीकृष्ण का महाप्रस्थान हुआ, यादवों का नाश हुआ, और बची हुई यादव स्त्रियों को हस्तिनापुर ले जाते समय अर्जुन को डाकुओं ने लूटा और उसके साथ की स्त्रियों का हरण किया । इन स्त्रियों में श्रीकृष्ण की अनेक पत्नियाँ भी थीं । शाप की परिपूर्ति स्वरूप डाकुओं ने इन स्त्रियों को बलात्कार से भ्रष्ट किया और बाद में उन्हें वेश्या बनना पड़ा । बलात्कार से भ्रष्ट हो चुकने वाली कृष्ण पत्नियों ने दाल्भ्य ऋषि के पास जाकर अपने दुख का निवेदन किया और श्रीकृष्ण के शाप और शाप निवारण की बात भी कही । साथ में उन्होंने यह प्रश्न भी पूछा कि भ्रष्ट तो वे हो चुकी हैं, पर अब वारांगनाओं के रूप में उनका कर्तव्य क्या है । जहाँ कहीं भी मनुष्य के इहलौकिक सुखदुख का कोई कारण हमें नहीं मिलता वहाँ हमारी दृष्टि कर्मफल के सिद्धान्त का सहारा लेकर अकसर पूर्वजन्म की ओर जाती है । महर्षि दाल्भ्य ने भी पुराणप्रचलित प्रथा के अनुसार यह उत्तर दिया कि पूर्वजन्म में वे सारी स्त्रियाँ अग्निपुत्री अप्सराएँ थीं । मानसरोवर में वे एक बार जलक्रीड़ा कर रही थी कि देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे । देवर्षि को देखते ही इन अप्सराओं ने उन्हें नमस्कार किए बिना वर मांगा कि "भगवान नारायण हमारे पति हों, ऐसा वरदान दीजिये ।" देवर्षि ने उन्हें मनोवांछित वर तो दिया पर साथ ही शाप भी दिया कि रूप-यौवन के गर्व से मत्त होकर पूजनीय पुरुष को नमस्कार किये बिना ही उससे वरदान मांगने के कारण उन्हें भ्रष्ट होकर वारांगना बनना पड़ेगा । इस दूसरी शापवार्ता से महर्षि दाल्भ्य ने कृष्णपत्नियों के दुख की कारणमीमांसा तो कर दी, पर वे तो उनके पास इसके निवारण का उपाय जानने के लिए आई थीं । अत : महर्षि ने इन्द्र द्वारा युद्ध में जीती हुई असुर पत्नियों को किसी समय जिस अनंगव्रत का उपदेश दिया था, उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने कृष्णपत्नियों के समक्ष कर दी । इस व्रत का पूरा विधान इस प्रकार है :—

महर्शि दाल्भ्य बोले, "हे सुंदरियो, आरंभ में तुम किसी राजमंदिर या देवालय में गणिकाधर्म का पालन करते हुए निवास करो । जो कोई धन लेकर तुम्हारे द्वार पर आये, उसकी किसी भी प्रकार के

भक्तिभाव के बिना तनमन से सेवा करना ही गणिकाधर्म का प्रधान लक्षण है । धन देने वाले पुरुष, राजा, और पति को तुम्हें एक समान मानना चाहिये । पर्वकाल में ब्राह्मणों को भूमि, स्वर्ण, अन्न और गायों का दान देना । रविवार को हस्त, पुष्य या पुनर्वसु नक्षत्र हो, तो स्नानादि से विशुद्ध होकर मदन स्वरूप विष्णु की पूजा करना । इसके बाद किसी वेदशास्त्र-पारंगत, धर्मज्ञाता और अव्यंग ब्राह्मण को निमंत्रित करके उसकी भक्तिभाव से पूजा करना, उसे यथेच्छ भोजन कराना और उसे साक्षात् कामदेव मानकर, वह रतिविलास की जो इच्छा प्रकट करे, उसे प्रसन्नचित्त से पूर्ण करना । इस प्रकार तेरह मास तक यह व्रत अखंड रूप से करना और उसकी पूर्णाहुति के रूप में किसी सुपात्र ब्राह्मण को कामदेव की स्वर्णप्रतिमा और गायों का दान देना । तेरह मास की समाप्ति के बाद भी, रविवार को यदि कोई ब्राह्मण रतिसुख की कामना से आये, तो धन की याचना किए बिना उसे पूर्ण रूप से संतुष्ट करना ; और उसकी इच्छा तृप्त होने के बाद ही अन्य पुरुष का संग करना । इस प्रकार पचास वर्ष की उम्र होने तक तुम इस अनंगव्रत का पालन करोगी, तो तुम्हें वेश्यावृत्ति का दोष नहीं लगेगा और पुण्य की प्राप्ति होगी ।"

वेश्या बन चुकने वाली कृष्णपत्नियों के लिए इस घोर व्रत का विधान व्रतों के भंडार जैसे मत्स्यपुराण में हुआ है ; अत : इससे विशेष आश्चर्य नहीं होता । पचास वर्ष की उम्र तक इस कठोर नियमावली का पालन करते हुए वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री तो शायद वैसे ही पाप-पुण्य के झमेले से परे हो जाती होगी ! उसे शास्त्राधार की क्या आवश्यकता पड़ती होगी ? परंतु हमारे पुराणों के संबंध में इस प्रकार के प्रश्न करना व्यर्थ है । वेदशास्त्रपारंगत और धर्मज्ञाता ब्राह्मण रतिसुख के लिए वेश्यागमन कैसे कर सकता है, इस प्रश्न का उत्तर भी हम नहीं जानते । गणिका का शायद इससे कुछ कल्याण होता हो ; क्यों कि वह तो धर्मभावना से प्रेरित होकर अपने आपको ब्रह्मार्पण — नहीं, ब्राह्मणार्पण — करती होगी । परंतु इस सुकृत्य में भाग लेने वाले ब्राह्मण को किस स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख पुराणकार ने नहीं किया । गणिकाओं के पाप नष्ट करने के बहाने उनका मुफ्त में उपभोग करके ऊपर से यथेच्छ भोजन, सुवर्ण, और गायों का दान प्राप्त करने की योजना बनाने वाले ब्राह्मणों के जैसा पुरोहितवर्ग अन्य किसी प्रजा या संस्कृति में शायद ही विकसित हुआ हो । यह परम सौभाग्य तो शायद हमारे ही देश के हिस्से में आया है । अपने पुराणों में धर्म का इससे भी अधिक विकृत निरूपण मिलता है । यहाँ यह लंबी कथा उद्धृत करने का हेतु केवल यह स्थापित करना है कि हमारे पूज्यतम व्यक्ति भी उस युग की उलझी हुई समाजरचना के परिणामों से नहीं छूट सके थे । श्रीकृष्ण की पत्नियों को कृष्ण के पुत्र सांब के प्रति मोह उत्पन्न हुआ ; जिसके प्रायश्चित रूप उन्हें वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । यह घटना उस युग के सामाजिक जीवन की ऐसी स्पष्ट व्याख्या करती है कि टीका-टिप्पणी की विशेष आवश्यकता ही नहीं रहती ।

द्वापरयुग की इन कथाओं से उस समय की कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं । यथा :— उस युग में विवाह के विभिन्न प्रकार प्रचलित थे । श्रीकृष्ण की हजारों पत्नियों के उल्लेख में बहुपत्नीत्व की और द्रौपदी के पाँच पतियों की कथा में बहुपतित्व की प्रथा स्पष्ट दिखाई देती है । इनमें से बहुपतित्व की कथा किसी अनिवार्य विवशता की हालत में ही स्वीकृत होती थी ; अन्यथा वह दिनोदिन नामशेष होती जा रही थी । इसके विरुद्ध, बहुपत्नीत्व का रिवाज अधिकाधिक प्रचलित होता जा रहा था और समाज के किसी भी स्तर पर उसका विरोध हुआ हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । वंशवृद्धि के आग्रह के कारण नियोग की प्रथा का पर्याप्त प्रचलन था । दासीसंस्था का बहुत अधिक विस्तार हो चुका था । दासियाँ युद्ध में पकड़ी जा सकती थीं, उनका क्रयविक्रय हो सकता था और उन्हें भेंट सौगात के रूप में दिया जा सकता था । अतिथिसेवा उनका प्रधान कार्य माना जाता था ; और भोजन बनाने, स्नान की व्यवस्था करने फूलमाला पिरोने, और मदिराचषक या तांबूल-करंडक लाने लेजाने जैसे दैनंदिन घरेलू कामों में भी उनका उपयोग होता था । कभी कभी असाधारण सौंदर्य, कार्यक्षमता या बुद्धिमत्ता के सहारे वे परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती थीं । परंतु ऐसे प्रसंग अपवादात्मक ही होते थे और अधिकांश में परिवार के पुरुषों और अभ्यागतों की वासनातृप्ति करना ही उनका प्रधान कार्य माना जाता था । अवरुद्धा और भुजिष्या वर्ग

की दासियों का तो स्पष्ट रूप से यही कार्य माना गया है । दासियों का क्रयविक्रय एक संघटित व्यापार का रूपधारण कर चुका था । मागधी, कैराली और रत्नद्वीपनिवासी दासियों की उनके सौंदर्य के कारण अधिक मांग रहती थी । इन प्रदेशों में उनका व्यापार भी बड़े पैमाने पर चलता था । कानून के क्षेत्र में स्मृतिकारों ने दी हुई व्यवस्थाओं का स्वीकार हो चुका था ।

इस उलझी हुई समाज व्यवस्था से गणिकावृत्ति अधिक दूर नहीं रह जाती । हम देख चुके हैं कि उस युग में गणिकावृत्ति एक संगठित और सुस्थापित संस्था के रूप में विकसित हो चुकी थी । अधिकांश स्मृतियों में गणिकाओं का स्वीकार ही नहीं, बल्कि उनके नियमन और अंशत : उनकी रक्षा की व्यवस्था भी पायी जाती है । युद्ध के समय सैनिकों के उपभोगार्थ गणिकाओं के दल सेना के साथ साथ चलते थे। जुलूसों में उन्हें शोभारूप माना जाता था और विवाहादि मंगल प्रसंगों पर या आनंदोत्सव के किसी भी अवसर पर उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी । गणिकाओं के लिए विशिष्ट प्रकार के व्रतों का विधान करने से भी कुछ पुराणकार नहीं चूके । इसका एकमात्र कारण यही है कि ब्राह्मणों की सब प्रकार से तृप्ति किए बिना कोई भी व्रत संपन्न हो ही नहीं सकता । आज के युग मेंयह सब पाखंड हास्यास्पद दिखाई देता है ; पर उसके पीछे की एक भावना भुलाने योग्य नहीं कि गणिका समाज से बहिष्कृत होने पर भी समाज की आवश्यकता और उत्सवों की शोभा मानी जाती थी और उसे परलोक में मिलने वाले सुखों या मोक्ष के अधिकार से वंचित नहीं रखा गया था । आर्य-संस्कृति में पाप के परिणामों की अत्यंत भयावह कल्पना की गई है और उसके निवारण के लिए आज के युग में विचित्र और कठोर दिखाई देने वाले प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है । परंतु भयानक से भयानक दुष्कृत्य करने वाले पापी को भी पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त द्वारा मोक्ष का अधिकारी माना गया है । लोगों को पाप से परावृत्त करने के लिए पाप और उसके परिणामों की कठोरतम कल्पना करके भी पापी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखना आर्य-संस्कृति का विशिष्ट- लक्षण माना जा सकता है ।

हमारे देश की एक और विशिष्टता यह रही है कि ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के साथ-साथ भक्ति का प्रवाह भी आर्य-संस्कृति में प्राचीनकाल से बहता आ रहा है। पापियों के लिए, पापमय व्यवसाय करने वालों के लिए, और जाने-अनजाने पाप के मार्ग से गुजरने वालों के लिए भक्तिमार्ग अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुआ है । कठोर प्रायचित्तो द्वारा पाप से मुक्ति पाने का कर्ममार्ग तो अति प्राचीन युग में भी उपलब्ध था ; परंतु ब्राह्मणों की स्वार्थ परायणता ने उसे पतन के मार्ग पर ला पटका । पाप-पुण्य से पर ले जाने वाला ज्ञानमार्ग भी उतना ही प्राचीन है, जो अपनी ज्ञानाग्नि में सब पापों को जलाकर भस्म कर देता है । परंतु भक्तिमार्ग की बात कुछ निराली ही है । इसके अंतर्गत पापियों के प्रति जितनी सहृदयता संभव है, उतनी अन्य किसी मार्ग में नहीं । आर्यसंस्कृति को गढ़ने वालों की पंक्ति में प्राचीन ऋषिमुनियों और ब्रह्मज्ञानियों के साथ साथ संतों और भक्तों का भी बहुत ऊँचा स्थान है । ज्ञान की गंगा के साथ भक्ति की यमुना का जहाँ भी संगम हुआ, वहाँ हमारा मस्तक श्रद्धा से नत हुए बिना नहीं रहा । इन विभिन्न मार्गों ने मिलकर पाप-पुण्य को परखने के इतने विविध निकष उपस्थित किए हैं कि उन्हें समझने में आर्यमानस को विशेष कठिनाई नहीं हुई । सब कुछ समझते हुए भी पुण्यमार्ग का सर्वदा अनुसरण नहीं हुआ, यह अलग बात है ।

तोते को रामनाम रटाने वाली गणिका के उद्धार का दृष्टांत काव्य का उत्तम विषय हो सकता है । श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में पिंगला वेश्या की कथा वर्णित हुई है जो यह स्थापित करती है कि देहविक्रय करने वाली गणिका को भी भगवत्स्मरण और वैराग्य द्वारा मोक्ष का अधिकार था । मिथिला नगरी की यह सुप्रसिद्ध पण्यांगना एक दिन आधी रात तक राह देखते बैठी रही, पर कोई ग्राहक नहीं आया । धन की लालसा निराशा में परिणत होते ही उसे अपने रूप-लावण्य, अपने यौवन, अपने शरीर, और पेशे के प्रति तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसी समय उसने निश्चय किया कि, ''अब कोई पुरुष मेरी ओर नजर नहीं उठा सकेगा । अब तो मेरा विहार मेरे हृदयेश्वर, मेरे अंतर्यामी और मेरे आत्मस्वरूप, परमतत्त्व के साथ ही होगा ।''



पांचवाँ परिच्छेद
पुराणों में गणिकावृत्ति

१
पुराणों की रचना

पौराणिक साहित्य हमारे धर्मग्रंथों का और कुछ हद तक हमारे इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण विभाग है। आज के युग में ऊलजलूल दिखाई देने वाली और अत्यंत संदिग्ध प्रामाणिकतावाली कथावार्ताओं से भरा हुआ यह विलक्षण ग्रंथसमूह अपनी सारी विचित्रताओं के बावजूद, प्राचीन युग से चलीं आने वाली हमारी संस्कारसरणि का एक महत्त्वपूर्ण सोपान रहा है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। हमारी संस्कृति के कोशरूप संस्कृत साहित्य का स्पष्टता से आकलन करने के लिए उसका अकसर निम्नलिखित वर्गों में विभाजन किया जाता है:—

१. वैदिक साहित्य :— चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वैदिक संस्कृत के व्याकरणग्रंथों का इस विभाग में समावेश होता है।
२. धर्मशास्त्र :— मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विविध नीतिग्रंथों और धर्मशास्त्र की विविध टीकाओं एवं निर्णयों का समावेश इस विभाग में होता है।
३. इतिहास :— रामायण और महाभारत।
४. साहित्यग्रंथ :— महाकाव्यों, नाटकों और कथा-साहित्य के विविध ग्रंथों के उपरांत काव्यशास्त्र का निरूपण और रस-अलंकार आदि की मीमांसा करने वाले ग्रंथों का समावेश इस वर्ग में होता है। संस्कृत साहित्य का यह अंग अत्यंत विकसित और समृद्ध है।
५. पौराणिक साहित्य :— अठारह पुराण (ब्रह्म, पद्म, वायु, विष्णु, नारदीय, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड और भागवत)। कुछ विद्वान देवी भागवत और शिवपुराण का समावेश भी इसी वर्ग में करते हैं।

पौराणिक साहित्य का समर्थन करना या पुराणों की चित्र-विचित्र कथाओं की सफाई देना हमारा उद्देश्य नहीं है। पर भला-बुरा जैसा भी हो, यह ग्रंथसमूह आर्यसंस्कृति के एक विशिष्ट कालखंड का प्रतिबिंब उपस्थित करता है यह मान कर चलें, तो हमारे अध्ययन में सुविधा रहेगी। वेदकाल की अनेक कथाएँ पुराणों में सुरक्षित रही हैं यद्यपि उनके पौराणिक स्वरूप में आमूल परिवर्तन पाया जाता है। अनेक पुराने राजवंशों की वंशावलियाँ और असंख्य पुरानी लोककथाओं का संग्रह भी पुराणों में सुरक्षित रहा है। सभी पुराणों की रचना वेदव्यास के नाम से हुई है, परंतु उनका कथन प्राय: सूतों द्वारा हुआ है। इन सूतों की उत्पत्ति वेनपुत्र पृथु के अश्वमेध यज्ञ के समय मानी जाती है। कहीं कहीं इन्हें ब्राह्मण माता और क्षत्रिय पिता की संतति माना जाता है। इनकी उत्पत्ति चाहे जिस प्रकार से हुई हो, इन्होंने कथाकार, लोकगीतकार

और राजकवियों का विशिष्ट व्यवसाय स्वीकार किया और एक अलग जाति के रूप में इनका विकास हुआ । समयोचित परिवर्तनों के साथ ऐतिहासिक कथा वार्ताओं का प्रसार करने में इनका योगदान बहुत अधिक रहा । धीरे धीरे मगध संगीतकारों की सहायता से ये अपनी कथाओं और प्रवचनों को संगीतमय और अधिकाधिक रसमय बनाते गये । बाद के युगों के भाट-चारणों की उत्पत्ति भी इसी वर्ग में से हुई हो, तो आश्चर्य नहीं ।

कहा जाता है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत की रचना करने से पहले अनेक कथावार्ताएँ एकत्रित की थी । इस कार्यमें उन्होंने लोमहर्षण नामक सूतजाति के शिष्य की सहायता ली थी । बादमें लोकहर्षण ने इनमें की अनेक कथाओं का समावेश करके पुराणसंहिता का संपादन किया और उनके पुत्र उग्रश्रवा सौती और छ : शिष्यों ने मिलकर इस साहित्य का विस्तार किया । इनमें के पाँच शिष्य ब्राह्मण थे और एक ब्राह्मणेतर । इस तथ्य का आधार लेकर पार्जीटर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वान पौराणिक साहित्य में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच के वर्णसंघर्ष के बीज ढूंढने का और यह स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि पुराणों का एक विभाग ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और दूसरा उनका विरोध करने के लिए रचा गया था । परंतु हम जानते हैं कि बौद्धधर्म के प्रबल प्रहारों के बावजूद पौराणिक युग के जनमानस पर ब्राह्मणों की पकड़ बिलकुल ढीली नहीं पड़ी थी । और धार्मिक क्षेत्र में उनका प्रभुत्व रंचमात्र भी कम नहीं हुआ था । अत: पौराणिक युग पर आजकी मान्यताओं का आरोपण करके ऋषि-मुनि, देव-यज्ञ, राजा-पुरोहित और संत-भक्तों की इन कथाओं में या व्रत-प्रायश्चित्त आदि के विधिनिषेधों में ब्राह्मण-अब्राह्मण के झगड़े ढूंढने का प्रयत्न करना वास्तविक नहीं होगा । हमारे अध्ययन की दृष्टि से तो पौराणिक साहित्य के विकास के निम्नलिखित तीन सोपानों को मान्य रखकर आगे बढ़ना ही उचित होगा :—

१. गाथाओं, कथाओं, लोकगीतों और राजाओं की प्रशस्तियों के रूप में प्रचलित लोकसाहित्य जिसे उस युग की सूत-मागध आदि पेशेवर कथाकार जातियों ने देशभर में फैलाया । इसे पौराणिक साहित्य का सबसे प्राचीन रूप माना जा सकता है । गुजरात में अभी कुछ वर्ष पहले तक माणभट्ट नामक व्यवसायी कथाकार रामायण-महाभारत और पुराणो की कथाओं को मूलरूप में या थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ गा-बजा कर गाँव-गाँव में उनका प्रचार करते देखे जाते थे ।

२. लोमहर्षण और उसके पुत्र उग्रश्रवाने कुछ शिष्यों की सहायता से इन कथानकों का संपादन करके पौराणिक साहित्य की व्यवस्थित रचना की । इसे पुराणों के विकास का दूसरा सोपान माना जा सकता है ।

४. तीसरे और अंतिम सोपान पर अठारह पुराण उनके वर्तमान रूप में उपलब्ध होते हैं । इस रूप में अधिकांश पुराणों की रचना बहुत बाद के और भिन्न भिन्न युगों में हुई है । परंतु उनके मूल कथानक वेदकाल से लगाकर ईसवी सन की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक के लंबे कालखंड में फैले हुए हैं और कुछ कथाओं की तो थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ प्राय : सभी युगों में पुनरावृत्ति हुई है ।

यह हम देख चुके हैं कि रामायण-महाभारत काल तक आते आते गणिकावृत्ति समाज में स्वीकृत और स्थापित हो चुकी थी और गणिकाओं का सामाजिक स्थान भी निश्चित हो चुका था । परंतु फिर भी, वैदिकयुग से गुप्तकाल तक फैले हुए पौराणिक साहित्य के विस्तृत कालखंड में वेश्यासंस्था के स्वरूप में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हों, और कभी कभी उसका आमूल रूपांतर हुआ हो, यह अत्यंत स्वाभाविक है । पुराणों की अधिकांश कथाओं में तो गणिकासंस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है मानो इसका जन्म मनुष्यजाति की उत्पत्ति के साथ-साथ ही हुआ हो । उदाहरण के तौर पर चंद्रवंश की उत्पत्ति की कथा ली जा सकती है जिसमें स्वर्ग की सामान्या — उर्वशी नामक अप्सरा — का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है । सूर्यवंश की स्थापना करने वाले सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु के पुत्र का नाम ईल था । एकबार वह रास्ता

भूलकर शंकर-पार्वती के क्रीडावन में जा निकला । महादेव-पार्वती के इस आरक्षित प्रदेश में प्रवेश करनेवाले नरप्राणी भी लिंगपरिवर्तन होकर नारी जाति के हो जाते थे । महादेवजी की इस व्यवस्था के अनुसार ईल को भी नारी-स्वरूप प्राप्त हुआ, और ईल से इला बनकर वह जंगल में भटकने लगा (या लगी) । इसी दौरान में चंद्र का पुत्र बुध भी इस वन में पहुँचा और लिंग परिवर्तन से परेशान होनेवाली इला पर उसकी दृष्टि पड़ी । बुध का जन्म चन्द्र और उनके गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के अवैध संबंध से हुआ था । इला को देखते ही चंद्रवंशी बुध इस सूर्यवंशी नारी पर मोहित हो गया । वेदों और पुराणों में ही नहीं बल्कि हमारे समूचे प्राचीन में अत्यंत प्रसिद्ध, आर्यजाति के प्रतापी पूर्वज पुरूरवा का जन्म इन दोनों के संबंध से हुआ था । पुरूरवा का स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के साथ का संबंध हमारे प्राचीन साहित्य की एक अत्यंत प्रसिद्ध घटना रही है । उर्वशी के गर्भ से जन्म लेने वाली पुरूरवा की संतान से चंद्रवंश का आरंभ हुआ जिसका बाद में कौरव, पांडव, यादव आदि वंशों में विभाजन हुआ ।

२

पौराणिक अप्सरा

पौराणिक युगका अध्ययन करने से पहले कुछ बातों को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है । हमारे कथानकों में अत्यंत प्राचीनकाल से अनेक मनुष्येतर जातियों का उल्लेख पाया जाता है । प्राचीन साहित्य में और विशेष तौर से पौराणिक साहित्य में, असुर, दैत्य, दानव, दस्यु, अप्सरा, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, गण, गुह्यक, सिद्ध, विद्याधर, नाग, राक्षस, पिशाच, भूत, वैताल, कुष्मांड, कुम्भांड, यातुधान आदि अनेक जातियों, प्रजाओं और मनुष्येतर योनियों का उल्लेख कदम कदम पर हुआ है । इस विषय में अधिक गहरे न उतरते हुए, हम इनका सरसरे ढंग से रूपनिर्धारण कर लें :—

१. इनमें से पहले चार, असुर, दैत्य, दानव और दस्यु, देवताओं के शत्रु होने के कारण आर्यों के भी शत्रु थे । इनका उल्लेख ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रंथ में भी पाया जाता है । आरंभिक आर्यों को इन जातयों से तीव्र संघर्ष करना पड़ा था । अत : इन्हें उस युग की आर्येतर मनुष्य जातियाँ माना जा सकता है ।

२. अप्सरा, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, गण और गुह्य, इन्हें मनुष्य और देवयोनि के बीच की जातियाँ माना जा सकता है । इन जातियों का उल्लेख देवताओं के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करने के संदर्भ में ही अधिक हुआ है और मनुष्य-जाति के साथ उनका संबंध प्राय : मैत्रीपूर्ण ही पाया जाता है ।

३. सिद्ध और विद्याधर स्वतंत्र मनुष्येतर योनियाँ थीं जो अकसर मनुष्य का कल्याण चाहती थीं । नागजाति का चित्रण कहीं मानवविरोधी और कहीं मनुष्यजाति की मित्र के रूप में हुआ है । इनके साथ आर्यों के विवाह संबंध भी होते थे । उदाहरण के तौर पर अर्जुन के साथ नागकन्या उलूपी के विवाह की कथा ली जा सकती है ।

४. बाकी बची हुई भूत, पिशाच, राक्षसादि योनियों का स्पष्टता से रूपनिर्धारण करना मुश्किल है । इनका उल्लेख मनुष्यजाति से हीन कक्षा के, असभ्य और मनुष्यविरोधी समूहों के रूप में हुआ है ।

इनमें से प्रथम समूह की जातियाँ आर्यजाति की शत्रु मानी जाने के कारण उनकी प्राय : निंदा की गई है ।बाद के दो वर्गों की जातियों में मनुष्य की अपेक्षा कुछऊँचे दर्जे की दैवी शक्तियों की कल्पना की गई है ; और अंतिम प्रकार (भूत, पिशाच राक्षसादि) को मनुष्यजाति की तुलना में अत्यंत नीची कक्षा का मानने पर भी उनमें किसी प्रकार की मैली विद्या या अनिष्टकारी शक्ति होने की संभावना मानी गई है । मनुष्य से श्रेष्ठ, मनुष्य के समकक्ष या मनुष्य से नीची मानी जाने वाली ये सब जातियाँ आर्यों के आगमन के समय की

भारतवर्ष की मूलनिवासी जातियाँ थीं, या पड़ौस के प्रदेशों की प्रजाएँ थीं, या काल्पनिक योनियाँ थीं, इस विषय में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है और अनेक प्रकार के मतमतांतर स्थापित हुए हैं । परंतु इनमें से अधिकांश का सही रूपनिर्धारण करने के साधन उपलब्ध नहीं हैं । उदाहरण के रूप में 'अप्सरा' को ही लें, जिसका हमारे अध्ययन से विशष संबंध है । अप्सराओं का उल्लेख अलग-अलग संदभों में हुआ औ और प्रसंगानुसार देवताओं, यक्ष-किन्नर-गंधर्वों, या मनुष्यों के साथ उनके विहार और कामक्रीड़ा का वर्णन हुआ है । प्रश्न उठता है कि अप्सराओं को किस श्रेणी में रखा जाय ? विष्णुपुराण की कथा के अनुसार अप्सराओं की उत्पत्ति देवी देवताओं और दानवों ने मिलकर किए हुए है, पुराणप्रसिद्ध समुद्रमंथन में से हुई थी । समुद्रमंथन से प्राप्त अनेक रत्नों में अप्सरा भी एक रत्न था । और सब रत्नों का स्वीकार तो हुआ ; यहाँ तक की हलाहल गरल तक को, जिसका स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं था, महादेव शंकर ने अपने कंठ में स्थान दिया । अमृत के विभाजन को लेकर तो दोनों पक्षों में लड़ने-मरने तक की नौबत आई । परंतु अप्सरा का स्वीकार किसी ने नहीं किया । जिसका स्वीकार करने को कोई राजी न हो, ऐसी स्त्री स्वेच्छाचारिणी बनकर देवताओं या मनुष्यों का मनोरंजन करती फिरे, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । पंरतु यह तो हुई पौराणिक कथा, जिससे आजके बुद्धिवाद का समाधान नही हो सकता । 'अप्सरा' का शब्दार्थ होता है 'पानी ने सरकने वाली' । बेमालूम सरक जाने का गुण अप्सरा जैसी स्वतंत्र वारवनिता में योग्य ही माना जायगा ; और पानी से भीगी रहने के कारण उसका सौंदर्य भी रसशास्त्रियों की दृष्टि में बहुत अधिक बढ़ जाता होगा । परंतु इस शब्दार्थ से भी उसके रूप का स्पष्टीकरण नहीं होता । अप्सराओं का वर्णन प्राय : नदी-तालाबों में जलक्रीड़ा करते हुए ही अधिक हुआ है । पश्चिम के देशों की कथाओ में वर्णित जलकन्या (Nymph) के साथ इस जलक्रीड़ा का मेल अवश्य बैठता है । परंतु कभी देवताओं, कभी मनुष्यों और कभी गंधर्व-किन्नरों के साथ विहार करने वाली और मनुष्य संतति को जन्म दे सकने वाली अप्सरा का मेल अर्धमानुषी जलकन्या के साथ कैसे बैठाया जा सकता है ?

आज हमारी समझ में न आने वाली, और अधिकांश में काल्पनिक दिखाई देने वाली ये सब जातियाँ पर्वतों या वनों में बसने वाली, और सभ्यता के विभिन्न स्तरों पर स्थित आदिम मनुष्यजातियाँ ही हों, यह भी संभव है । आर्यों के साथ इसके संबंध कभी मित्रता के पाये जाते हैं और कभी शत्रुता के । हिमालय की विस्तृत तराई में, गंधार-कश्मीर की उत्तुंग पर्वतराजियों में, और सप्तसिंधु एवं गंगा-यमुना के घने जंगलों में इन जातियों का निवास हो ; मैदानों में कभी वे प्रकट होती हों और कभी अलोप हो जाती हों, और सुसभ्य आर्यों को कभी उनके सुंदर और संस्कृत स्वरूप के तो कभी उनके जंगली ओर असभ्य रूप के दर्शन होते हों ; तो उनके साथ का यह झुटपुटा संपर्क उस युग की कल्पना को उत्तेजित कर के तरह-तरह की किंवदन्तियों को जन्म दे, यह नित्तांत संभव है । इस प्रकार की कथाएँ और किंवदन्तियाँ हमेशा ही बेबुनियाद होती हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं । आज के बुद्धिवाद को यह शायद मान्य न हो, पर इन जातियों के अस्तित्व की और कोई व्याख्या करना मुश्किल है ।

आज भी पहाड़ी, गढ़वाली, कश्मीरी और अफगान युवतियाँ स्वस्थ सौंदर्य के आदर्शरूप मानी जाती हैं । बहुपतित्व की प्रथा पहाड़ी प्रदेशों में आजतक प्रचलित है । अभी कुछ समय पहले तक इन प्रदेशों में स्त्रियों की पैंठ लगती थी जहाँ उन्हें सरलता से खरीदा-बेचा जा सकता था । गणिकाओं की सबसे अधिक पूर्ति आज भी इन्हीं प्रदेशों से होती है । कुबेर की अलकापुरी और इन्द्रपुरी की कल्पना सदा से इन्हीं प्रदेशों में की जाती है । इस हालत में इन सुदूर और रमणीय प्रदेशों में खेलती, दौड़ती, उछलती, कूदती, नाचती, गती सुंदरियों पर ही कभी प्रकट होने वाली और कभी अलोप हो जाने वाली अप्सराओं की कल्पना का आरोपण हो गया हो, यह अत्यधिक संभव है । एक प्रकार की रहस्यमयता से घिरा होने के कारण किन्नरों और गंधर्वों का यह प्रदेश वास्तविक होने पर भी काल्पनिक दिखाई देने लगा हो, और क्रमश : वहाँ के संगीतज्ञ पुरुष और नृत्यप्रवीण स्त्रियाँ कल्पना के रंग में रंगे जाकर दिव्य गंधर्वों और सुंदरी अप्सराओं में

परिणत हो गये हों, इसे भी स्वाभाविक माना जा सकता है । ठोस वास्तविकता की अपेक्षा रम्य कल्पना की दुनिया ही मनुष्य के हृदय को सदा से अधिक आकर्षित करती आई है । सत्य को कल्पना के रंग में रंग कर प्रस्तुत करने की मानवसुलभ मानसिक प्रक्रिया को मान्य कर लें तो मागधी सुंदरियों की तरह अन गंधर्वकन्याओं का भी अनेक प्रकार से उपयोग होने की बात आसानी से समझ में आ सकती है । पराक्रमी राजाओं और प्रतिष्ठित विद्वानों को प्रलोभन में डालकर उनके पराक्रम-प्रतिष्ठा को व्यर्थ बना देने के लिए राजीखुशी से देह समर्पण करने वाली सुंदरियों की उस युग में कदम कदम पर आवश्यकता पड़ती थी । ऋषिमुनियों की तपस्या भंग करके इंद्र के इंद्रासन को स्थिर रखना तो शायद पौराणिक साहित्य की अप्सराओं का सबसे प्रधानकार्य बन गया था । बचपन से ही नृत्य-संगीत की शिक्षा और नैतिक बंधनों की शिथिलता के साथ साथ सहवास-वैविध्य की तालीम पाने वाली ये अप्सराएँ और उनके संरक्षक गंधर्व धीरे धीरे अपने कार्यक्षेत्र-आर्यप्रदेश में ही बस गये होंगे । आज भी उत्तर गुजरात, राजस्थन और उत्तरप्रदेश में गंधर्व नामक जाति का अस्तित्व है, जो मुख्यत: गाने-बजाने का ही पेशा करती है ।

अपने सौंदर्य, नृत्यकौशल और बुद्धिचातुर्य का उपयोग किसी नैष्ठिक तपस्वी की तपस्या का भंग करने के लिए करते समय इन सुंदरियों के मन में किसी प्राचीन या प्रसिद्ध अप्सरा का नाम धारण करने की, या अपने आपको उनकी वंशजा बताने की वृत्ति होती हो, यह स्वाभाविक है । अपने यहाँ यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रचलित रही है । पूरे महाभारत के उपरांत अठारहों पुराणों की रचना वेदव्यास के नाम चढ़ा दी गई है और बाद के युगों में भी 'कहत कबीर सुनो भई साधो' या 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' जोड़कर किसी भी रचना को टकसाली बना देने की प्रवृत्ति खूब पाई जाती है । अत : उपरोक्त पर्वतीय प्रदेशों से आने वाली कोई रूपाजीवा उर्वशी, मेनका, रंभा, या तिलोत्तमा का नाम धारण करके मैदानों के नगरों में या किसी राजमहल या देवालय में आ बसे, कुछ वर्षों तक गणिकावृत्ति और नृत्यसंगीत-विशारदा का मिलाजुला पेशा करे, इस दौरान में किसी राजनीतिक षडयंत्र में शामिल होकर दो-एक ऋषि-मुनि या विद्वानों को तपोभ्रष्ट करने का सुयश प्राप्त करे,और ढलती उम्र में अपनी पुत्री को अपने प्रसिद्ध नाम और अपनी कलानिपुणता की विरासत देकर पहाड़ों की शांति में वापस लौट जाय, तो इसे मनुष्य स्वभाव की सहजप्रवृत्तिही मानना होगा । इस संभावना का स्वीकार करने पर ही वेदकाल में मित्रावरुण को लुभानेवाली उर्वशी पुराणकाल में पुरूरवा के साथ विहार कैसे कर सकी होगी, और नाट्ययुग में भरतमुनि की शाप की भाजन कैसे बनी होगी, इत्यादि प्रश्नों की संगति लगाई जा सकती है ; यद्यपि पुराणकारों ने इन तीनों घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया है मानो स्वर्ग की अमर अप्सरा होने के नाते एक ही उर्वशी अलग-अलग युगों में पृथ्वीतल पर उतरकर इन महान कार्यों को पूरा कर गई थी । पौराणिक साहित्य में अधिक समय तक डूबा रहने वाला या उसपर श्रद्धा रखनेवाला सामान्य मनुष्य धीरे धीरे इसी मान्यता को मानने लगता है । उपरोक्त विवेचन में उदाहरण के तौरपर अप्सराओं के अस्तित्व के संबंध में जो मान्यताएँ स्वीकृत की गई हैं, उन्हीं के सहारे अन्य दिव्य या आसुरी योनियों का स्पष्टीकरण भी किया जा सकता है ।

बौद्धयुग में ये पहाड़ी गंधर्वकन्याएँ गणिकाओं के रूपमें वैशाली और श्रावस्ती आदि नगरों में और विदेह एवं कोशल प्रदेश की अन्य नगरियों में बड़ी संख्या में आ बसी थीं । उस युग का इतिहास कहता है कि भगवान बुद्ध के धर्मोपदेश से इनमें की अनेक पण्यांगनाएँ भिक्खुणी भी बनी थीं । बाद में, मुगल युग की अधिकांश नायिकाएँ और कंचनियाँ भी कुमाऊँ-गढ़वाल के प्रदेश से ही आती थीं । इस प्रकार प्राचीन युग में स्वर्ग की अप्सराओं के रूप में कल्पित की जाने वाली रूपाजीवाओं से लगाकर मुगल युग की कंचनी तक एक संबंध-परंपरा स्थापित हो जाती है । आधुनिक युग की गणिकाएँ इससे सिर्फ एक कदम दूर रह जाती हैं ।

३

पुराणों में गणिकावृत्ति के विकास की रूपरेखा

पुराणों में बहुतायत से होने वाले स्वर्गीय अप्सराओ के उल्लेख की कुछ बुद्धिगम्य व्याख्या पिछले परिच्छेद में हो चुकी है । परंतु इसके उपरांत, विभिन्न नगरों और तीर्थक्षेत्रों में बसने वाली सामान्य रमणियों का वर्णन भी पुराणों में उतनी ही प्रचुरता से मिलता है । इन पण्यांगनाओं के नाम भी प्राय: मेनका, घृताची, प्रम्लोचा आदि अप्सराओं के ही नाम होते हैं । पुराणों में जहाँ भी उनका वर्णन हुआ है, वहाँ उनके रूपलावण्य और वस्त्रालंकार की साजसज्जा के साथ-साथ उनके मधुर स्वभाव, वाक्चातुर्य हाव-भाव कटाक्ष आदि की चंचलता का उल्लेख भी अवश्य हुआ है ।

देवालयों के साथ गणिकावृत्ति के घनिष्ठ संबंध का विचार करने से पहले एक और प्रश्न का निराकरण करनाआवश्यक है । मूर्तिनिर्माण और मूर्तिपूजा के संस्कार भारत में कहाँ से आये ? आरंभिक आर्यों की धार्मिक विधियों में प्रतिमापूजन का कोई विधान नहीं था, यह हम देख चुके हैं । तो फिर इसे यूनान का प्रभाव माना जाय । यूनान में मूर्ति निर्माण और प्रतिमापूजन अत्यंत प्रचलित था, यह सही है । भारत में मूर्तिपूजा के आरंभिक स्वरूप को यूनान के प्रभाव ने कुछ गति प्रदान की हो, यह भी संभव है । परंतु भारत के शताब्दियों तक फैले हुए मूर्तिभूजा के इतिहास को यूनान का सीधा प्रभाव मानना योग्य दिखाई नहीं देता । मोहनजोदड़ों का मूर्ति-विधान उसी युग में रुक गया हो, और कई शताब्दियों के बाद यूनान के प्रभाव से फिर जीवित हो उठा हो, यह भी संभव मालूम नहीं देता । फिर भी विद्वानों के एक वर्ग की यही राय है कि हिंदू और बौद्ध मूर्तिनिर्माण पर यूनान का सीधा प्रभाव है । मूर्तिपूजा के आरंभ के विषय में इससे अधिक स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती । पुराणकाल में मूर्तिपूजा का बड़ी तेजी से प्रसार हुआ । नये नये मंदिरों का निर्माण हुआ, तीर्थधामों काविकास हुआ और प्रत्येक तीर्थक्षेत्र के साथ उसके माहात्म्य की कथा भी जुड़ी । तीर्थक्षेत्रों, मंदिरों और मूर्तियों के आसपास यात्रियों के दल उमडने लगे और मनुष्यो की भीड़ के साथ-साथ व्यापार, बाजार-पेंठ, और कला-कारीगरी भी अनिवार्य रूप से इन तीर्थक्षेत्रों में प्रविष्ट हुए । यहाँ तक तो गनीमत थी । परंतु धीरे धीरे यात्रियों और आंगतुक व्यापारियों का मनोरंजन करने के लिए नृत्यसंगीत में निपुण गणिकाओं के दल भी इन स्थानों की ओर आकर्षित होने लगे । एक बार आरंभ हो चुकने के बाद यह बाढ़ इस हद तक बढ़ी कि लावण्यवती पण्यांगनाओं के लिए जिस प्रकार वैशाली, पाटलिपुत्र आदि कुछ बड़े नगर प्रसिद्ध थे, उसी प्रकार कई तीर्थक्षेत्रों की प्रसिद्धि भी वहाँ की गणिकाओं के कारण होने लगी । काशी, मथुरा आदि तीर्थस्थानों में आज भी गणिकाओं की संख्या अन्य नगरों की अपेक्षा बहुत अधिक पाई जाती है । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही देवताओं की सेवा के लिए भी गणिकाओं का उपयोग होने लगा । धर्म के साथ जुड़ी हुई गणिकावृत्ति का यहीं से आरंभ होता है । जिस प्रकार राजाओ, श्रेष्ठियो, सरदारों, सामंतों और सेनापतियों को दासियों की आवश्यकता पड़ती थी, उसी प्रकार देवताओं को भी दासियों की — पर्याय से गणिकाओं की — सेवा की आवश्यकता पड़ती है, यह माना जाने लगा । धीरे धीरे देवताओं की पूजा, आरती आदि में भी गणिकाओं की नियुक्ति होने लगी और श्रद्धालु लोग देवताओं और देवालयों को देवदासियाँ अर्पण करने में पुण्य की पराकाष्ठा समझने लगे ।

श्रीकृष्ण की पत्नियों को अपने पुत्र सांब की ओर विकारदृष्टि से देखने के प्रायश्चित्तरूप गणिकावृत्ति करनी पड़ी थी और उसके दोषनिवारणार्थ उन्हें अनंगव्रत का उपदेश दिया गया था, इसका विस्तृत वर्णन पिछले परिच्छेद में हो चुका है । अनंगव्रत का पूरा विधान ब्राह्मणों के लिए गणिकाओं का मुफ्त में देहोपभोग और साथ ही कुछ दानदक्षिणा प्राप्त कर देने का बहाना मात्र था, यह भी हम देख चुके हैं । इन

विचित्र विधानों से जिस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पापनिवारणार्थ किए जाने वाले व्रत-प्रायश्चित्तादि वास्तव में ब्राह्मणों की उदरपूर्ति के साधन के सिवा और कुछ नहीं थे ; उसी प्रकार यह भी स्थापित होता है कि हरण की हुई, बलात्कार का शिकार बनी हुई या अन्य किसी प्रकार से पथ भ्रष्ट हो चुकने वाली स्त्रियों के लिए समाज ने उस युग में भी वेश्यावृत्ति के सिवा और कोई मार्ग खुला नहीं छोड़ा था । कम से कम द्वापरयुग के अंत में तो यही परिस्थिति थी । जहाँ श्रीकृष्ण की पत्नियों की यह दशा हुई, वहाँ साधारण स्त्रियों की क्या हालत होती होगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । परंतु प्राचीनयुग की हर बुराई के पीछे ब्राह्मणों का षडयंत्र ढूंढने की वृत्ति कभी कभी बेतुकी कल्पनाएँ करने लगती है । उदाहरणार्थ, आज के युग का प्रखर बुद्धिवाद यह तर्क कर सकता है कि दाल्भ्य ऋषि कोई ऐसा धूर्त ब्राह्मण होगा जो इन स्त्रियों की वेश्यावृत्ति से अपना गुजारा करना चाहता हो । परंतु हम देख चुके हैं कि आधुनिक विचारधाराओं का प्राचीन युग की घटनाओं पर बिना सोचे समझे आरोपण करना योग्य नहीं । आधुनिकता के इस तर्क को यदि मान लिया जाय, तो साधारण पण्यांगनाओं में स्वर्गीय अप्सराओं की कल्पना करने वाले प्राचीन मानस और ब्राह्मणों को राक्षस या पिशाच से भी हीन कोटि का जीव प्रमाणित करने की कोशिश करने वाले आधुनिक मानस में कोई अंतर नहीं रहेगा । धर्म के स्वरूप को विकृत और मानवता को कलंकित करने वाली इन पौराणिक कथाओं का समर्थन करना हमारा उद्देश्य नहीं है । परंतु किसी युगविशेष की रुचिअरुचि या योग्यायोग्य की मान्यताओं को उनके संदर्भ से उखाड़ कर अन्य किसी युग के मानदंडों से नापना कभी न्याय्य नहीं होता । वर्तमान युग विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आग्रह रखने पर भी पुराणोचित कल्पनाओं से नितांत अछूता रहा है, यह भी नहीं कहा जा सकता । जर्मनी जैसे विज्ञानप्रिय देश की मेधावी प्रजा ने हिटलर को दैवांशयुक्त महामानव मानकर जर्मन आर्यों को श्रेष्ठतम मनुष्य घोषित किया और उनकी तुलना में यहूदियों को निकृष्टतम जीव मानकर उन्हें जीवित रहने के अधिकार से भी वंचित करने की कोशिश की, इस घटना को अभी कुछ ही वर्ष बीते हैं । प्राचीन आर्यों और ब्राह्मणों की दस्युओं या राक्षसों की ओर देखने की दृष्टि इससे विशेष भिन्न या अधिक निंद्य नहीं रही होगी । अत : अनंगव्रत जैसे कुछ नितांत एकांगी उदाहरणों को छोड़ दें, तो बाकी व्रत-प्रायश्चित्तों की पूरी परंपरा ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थसाधन केएकमात्र उद्देश्य से खड़ी की होगी, या इसके मूलमें पापियों को पापनिवारण का मार्ग बताकर उन्हें फिर से एकबार मानवताभरा जीवन व्यतीत करने का मौका देने की भावना भी रही होगी, इसका निर्णय आजका युग कैसे कर सकता है ? ब्राह्मणों की आत्यंतिक स्वार्थपरायणता के बावजूद, उनके प्रत्येक कार्य में केवल अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने का हेत्वारोपण करके उन्हें पापी या दुराचारी मानने की आवश्यकता नहीं । उस युग की प्रजा भी शायद इतनी मूर्ख नहीं रही होगी कि ब्राह्मणों के हथकंडों को इतनी शताब्दियों तक पहचान न सके । ब्राह्मणों का आत्यंतिक विरोध आज की समानता की भावना ने उत्पन्न की हुई एक ऐसी बीमारी है, जिसके सामने ब्राह्मणों की स्वार्थपरायणता भी फीकी पड़ जाती है ।

हम देख चुके हैं कि स्मृति-पुराणों के युग तक आते आते गणिकासंस्था समाज का एक स्वीकृत विभाग बन चुकी थी ।उसका सामाजिक स्थान निश्चित हो चुका था,उसके अधिकार मान्य हो चुके थे, और धर्मकृत्यों या मोक्षप्राप्ति से उसे बहिष्कृत नहीं रखा गया था । स्कंदपुराण में नर्मदा के किनारे माहिष्मती नगरी में बसने वाली मोहिनी नामक गणिका की कथा है । उसने जीवन में अनेक जघन्य अपराध किये थे । सात ब्राह्मणों और अनेक दासियों की उसने हत्या करवाई थी । वृद्धावस्था की छाया पड़ते ही उसके प्रेमियों ने उसे त्याग दिया । परंतु उसके पास अतुल संपत्ति थी । धीरे धीरे उसका हृदय-परिवर्तन हुआ । अपने पापकृत्यों के लिए उसे पश्चात्ताप होने लगा और कुमार्ग से प्राप्त किए हुए धन का उसने सत्कार्यों में व्यय करना आरंभ किया । उसने अनेक धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब और मंदिर बनवाये और बची हुई संपत्ति अपनी दासियों और निराश्रित स्त्रियों के हितार्थ दान कर दी । स्वेच्छा से अकिंचनता का स्वीकार करते ही उसके मित्र, आश्रित, दास-दासियाँ, सब उसे छोड़कर चले गये । केवल एक दासी निष्ठा से उसके पास रही और वृद्धावस्था में उसकी सेवा शुश्रूषा करती रही । मोहिनी का वैराग्य दिनोंदिन बढ़ता गया और अंतमें

उसने नगरनिवास छोड़कर वन में रहना आरंभ किया । एक दिन डाकुओं के दल ने धन की लालच से उसे बेदर्दी से पीटा । डाकुओं को तो कुछ नहीं मिला, पर मोहिनी की अंतिम घडी पास आ गई । मृत्यु के द्वार पर आ खड़ी होने वाली मोहिनी को किसी साधु ने गंगाजल पिलाया और अंतसमय में सारे दोषों से मुक्ति पाकर, दूसरे जन्म में वह किसी राजा की पटरानी बनी । कथा अत्यंत साधारण है और पुराणकारों की अतिपरिचित शैली में लिखी गई है । गणिकाकी मुक्ति गंगाजल के प्रभाव से हुई या दानधर्म के कारण, यह गौण बात है । प्रत्येक युग मुक्ति के साधनों की भिन्न-भिन्न कल्पना कर सकता है । महत्त्वपूर्ण बात उस युग की यह मान्यता है कि नीच से नीच कोटि के पापी को भी मुक्ति मिल सकती है । इस भावना में मनुष्यता के जिस भव्य पहलू के दर्शन होते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है । गणिका या एकबार पापकर चुकनेवाला कोई भी पापी मुक्ति का अधिकारी ही नहीं ; इस जन्म में नहीं, और जन्मातर में नहीं ; ऐसी जड़ मान्यता की अपेक्षा पतित से पतित मनुष्य का भी उद्धार हो सकता है ऐसा उदार विश्वास निश्चित रूप से मानव-संस्कृति के अधिक प्रगत और अधिक परिष्कृत रूप का परिचय देता है । प्रायश्चित्त और दंडविधान के जो प्रकार पुराणों ने निश्चित किये हैं, वे आज के युग में विचित्र दिखाई दे सकते हैं ; पर जाने-अनजाने या मजबूरी से एक बार पतित हो जाने वाले मनुष्य को, फिर वह चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सर्वदा पतित ही मानना चाहिये, और उसमें से छूटने का कोई मार्ग ही नहीं, इस विचारधारा का पुराणों में स्वीकार नहीं हुआ ।

पायश्चित्त की तीव्र भावना में से ही स्वर्ग-नरक की पूरी सृष्टि का निर्माण होता है । गरुड पुराण में पापियों की मृतात्मा को ऐसी भयानक यातनाओं से डराया गया है कि कर्मसिद्धांत पर अणुमात्र भी श्रद्धा होने वाला मनुष्य पाप से अत्यंत भयभीत होकर ही चलेगा । परंतु पाप की इतनी भयावह और कठोर सजाओं की कल्पना करनेवाले गरुडपुराणकार के हृदय में भी पापियों और दुखियों के प्रति सहानुभूति का अभाव नहीं है ।गरुडपुराण के पूर्वखंड में गणिकाजीवन का जो सहृदयतापूर्ण उल्लेख हुआ है उससे आज के समाज सुधारकों का भी मार्गदर्शन हो सकता है । पुराणकार कहता है, "गणिका की निद्रा भी दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहती है । अजनबी पुरुषों का मन बहलाने की नीरस मजबूरी में उसका पूरा जीवन व्यतीत होता है । हृदय में शोक हो, तो भी होठों पर उस मुस्कराहट लानी पड़ती है । जो धन देता है, उसे बिना शिकायत के देह समर्पण करना पड़ता है । जीवनभर की व्यथाओं को हृदय के किसी कोने में छिपा कर रखना पड़ता है । कभी कभी किसी दुष्ट ग्राहक के हाथों गला घोटा जाने की आशंका भी रहती है । परंतु ऐसी या इससे भी अधिक भयानक प्रकार की मृत्यु का गणिका स्वागत ही करती है, क्योंकि इस जीवन के कष्टों से छुटकारा पाने का उसके लिए प्राय: यह एकमात्र मार्ग रह जाता है ।"

स्त्रियों के व्यभिचार की पुराणकारों ने जो श्रेणियाँ निश्चित की हैं, वे आश्चर्यजनक होने पर भी उल्लेखनीय है :—

"एक ही पति को मनसा, वाचा, कर्मणा चाहने वाली पत्नी पतिव्रता कहलाती है ।" इस व्याख्या में आज भी कोई फर्क नहीं पड़ा है । परंतु "दो पुरुषों को देह समर्पण करने वाली स्त्री को कुलटा कहा जाता है ।" "तीन पुरुषों से रमण करने वाली स्त्री को धर्षणी कहलाती है ।" "चार पुरुषों से समागम करने वाली स्त्री पुंश्चली कहलाती है ।" "पाँच पुरुषों से संबंध करने वाली स्त्री को वेश्या और इससे आगे बढ़ने वाली को महावेश्या कहा जाता हैं ।" इत्यादि बाद की श्रेणियाँ आज की दृष्टि से नितांत अनावश्यक हैं एक और विचारणीय बात यह है कि उपरोक्त विभिन्न प्रकारों की व्यभिचारिणी स्त्रियों के लिए तो पुराणकारों ने मृत्यु के बाद कठोरतम दंड की व्यवस्था की है । परंत व्यवसाय के रूप में वेश्यावृत्ति का खुला परिस्थित में भी अत्यंत वास्तविक और न्याय माना जायगा । उपरोक्त दोनों कारणों से वेश्यावृत्ती करने वाली स्त्री परिस्थितियों से विवश होकर पापकर्म करने वाले को अक्षम्य अपराधी मानना उचित नहीं । पुराणों में



उनकेपाप को, अधिक से अधिक, प्रायश्चित का पात्र और व्रत-प्रायश्चित्तादि द्वारा नष्ट हो सकने योग्य माना है। इससे बढ़कर परिष्कृत दृष्टि और क्या हो सकती है ?
स्वीकार करने वाली, या वंशपरंपरा से चली आने वाली वेश्यावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाली स्त्री के मृत्यु के बाद क्या सजा मिलती है, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता । यह दृष्टि आजकी

रामायण-महाभारत काल की अपेक्षा पौराणिक युग में गणिकासंस्था समाज का अधिक आवश्यक और अभिन्न अंग मानी जाने लगी थी । नागरिक और सैनिक जीवन के साथ वह अविच्छेद्य रूप से जुड़ गई थी । इसकी स्वीकृति तो इस हद तक बद्धमूल हो चुकी थी कि समाज के अन्य विभागों की तरह इस अंग को भी अपने विकास और वृद्धि का अधिकार है, यह मान लिया गया था । देवताओं के विहार के लिए अप्सराएँ उपलब्ध हों, तो मनुष्य के विलास के लिए गणिकाओं की आवश्यकता को अनैतिक क्यों माना जाय ? इतना ही नहीं, पृथ्वी की गणिकाओं को स्वर्गीय अप्सराओं की ही प्रतिकृति मानकर उनके नाम भी स्वर्गीय अप्सराओं के समान रखे जाते थे और प्रत्येक अप्सरा के नाम से चलने वाले वंशों की स्थापना भी होने लगी थी । कामदेव और रति की पूजा भी इस युग में खूब प्रचलित थी । यह मान्यता दृढ़रूप से स्थापित हो चुकी थी कि पुरुष की दुर्निवार्य कामवासना के शमन का गणिका एकमात्र सहय साधन है । इस संस्था को जड़मूल से नष्ट नहीं किया जा सकता, परंतु इस पर योग्य प्रतिबंध लगाकर इसका नियमन करना संभव है, ऐसी वास्तववादी भूमिका समाज और राज्यशासन दोनों ने मान्य कर ली थी । गणिका भी अंततोगत्वा स्त्री है, — मनुष्य है, — और इस नाते मोक्ष की अधिकारिणी है, यत तत्व भी स्वीकृत हो चुका था । राजमहलों में और राजदरबारों में नर्तकियों और दासियों के रूप में इसी संस्था की एक शाखा विद्यमान थी । दासी और गणिका के रूप में युवतियों का क्रय-विक्रय खुलेआम और कभी कभी नीलाम की बोली लगाकर भी हो सकता था । गणिकापुत्र विद्वान होकर काव्यग्रंथों की रचना करे, शास्त्रचर्चा करे, या तत्वज्ञान की बारीकियों को लेकर वादविवाद करे, इसमें समाज को कोई आपत्ति नहीं थी, रक्तरंजित कुरुक्षेत्र का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास ने उसकी तुलना लालरंग का वस्त्र परिधान की हुई गणिका के साथ की है । महाभारत के महासंहार के बाद दुखी धृतराष्ट्र अपने मृतपुत्रों की अंत्येष्टि के लिए कुरुक्षेत्र में आये, तब उनके साथ की अंतःपुर की महिलाओं को आश्वासन देने के लिए अनेक गणिकाएँ भी आई थीं ऐसा उल्लेख मिलता है । इस घटना से इसी तथ्य का निर्देश होता है कि राजघरानों के आनंद-उत्सव के अवसरों पर ही नहीं बल्कि दुख के प्रसंगों पर भी गणिकाएँ उनके जीवन के साथ एकरूप हो गई थीं ।

पौराणिक युग और बौद्धधर्म के प्रभुत्व का युग शताब्दियों तक साथ साथ चलते रहे थे । प्राचीन युग के हर भलेबुरे रिवाज के पीछे ब्राह्मणों का षडयंत्र देखने की आदत पड़ जाने वाले कुछ विचारकों का मत है कि पतिताओं के प्रति बौद्धधर्म का उदार दृष्टिकोण देख कर, उसके प्रभाव को नष्ट या सीमित करने के लिए ही बाद के स्मृतिकारों और पुराणकारों ने गणिकाओं के प्रति इतनी उदारता का रुख धारण किया होगा । ये विद्वान यह भूल जाते हैं कि जिस युग और जिस वातावरण ने करुणा की साकार मूर्ति जैसे भगवान बुद्ध को जन्म दिया, वह युग और वही वातावरण यदि स्मृतिकारों और वैदिक परंपरा को आगे बढ़ाने वाले पुराणकारों के हृदय में भी करुणा दया, ममता आदि भावों की उत्पत्ति करे, तो इससे इतना आश्चर्य क्यों होना चाहिये ? भगवान बुद्ध न अपने उपदेशों द्वारा जिस विचारधारा का प्रसार किया, वह एक भिन्न मार्ग के रूप में ही किया था । आर्य धर्म का विरोध करने की भावना उनके मन में बिलकुल नहीं थी । बौद्धधर्म को वैदिक आर्य धर्म के विरोधी या संहारक के रूप में देखने की प्रवृत्ति तो शताब्दियों बाद आरंभ हुई जब प्रकांड बौद्ध दार्शनिकों ने ब्राह्मणधर्म के हर पहलू पर प्रहार करना आरंभ किया । अशोक के शिलालेखों में भी ब्राह्मणों का आदर करने का उपदेश किया गया है । यदि इन दोनों धर्मों के बीच ये विद्वाना मानते हैं उतना विरोध होता, तो भगवान बुद्ध से कई पीढ़ियों बाद जन्म लेने वाले भारत के एक छत्र सम्राट को इतना सर्व संग्राहक रुखधारण करने की आवश्यकता नहीं थी । जैन और बौद्ध मतों के संबंध में

विचार करते समय पाश्चात्य दृष्टि यह अकसर भूल जाती है कि भिन्न भिन्न होने पर भी ये मार्ग आर्य संस्कृति की ही देन हैं और इनकी उत्पत्ति और विकास इसी भूमि की मिट्टी से हुआ है । गणिकाओं के प्रति आर्य संस्कृति की किसी भी प्रशाखां ने, फिर वह वैदिक हो या पौराणिक, बौद्ध हो या जैन असहिष्णुता और क्रूरता का बर्ताव नहीं किया । इतना ही नहीं, कई पुराणों ने और प्राय : सभी सामुद्रिक ग्रंथों ने गणिकादर्शन को शुभ शकुन माना है । राजमहलों और राजदरबारों में ; उत्सवों, जुलूसों और बारातों में, देवालयों में और सैन्यों म, सभी स्थानों पर पौराणिक युग मे कलावर्ती गणिकाओं का स्थान सुनिश्चित था । देवमंदिरों और धार्मिक विधियों में उनका उपयोग होना आरंभ हो चुका था । गणिका ऊँचे से ऊँचा अनुष्ठान या धार्मिक कार्य करना चाहे, तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं थी । गणिका के बनवाये हुए कुएँ से पानी नहीं पीना चाहिये, या गणिकाओं द्वारा निर्मित पान्थशांलाओं में नहीं ठहरना चाहिये, ऐसी संकीर्ण धर्मांधता पौराणिक युग में दिखाई नहीं देती । उसके हाथ का भोजन या उसका छुआ पानी अवश्य निषिद्ध माना जाता था । परंतु यह निषेध तो, भिन्न कारणों से क्यों न सही, आज के युग में भी योग्य माना जाता है ।





छठा परिच्छेद
बौद्ध युग

१
आरंभिक परिस्थितियाँ

ईसवी सन से पहले के पाँच सौ वर्षों से लगाकर बाद के पाँच सौ वर्षों तक की सहस्राब्दि को बौद्ध धर्म के उदय, विकास और अस्त का युग कहा जा सकता है । यद्यपि इसके बाद भी कई शताब्दियों तक बौद्धधर्म किसी न किसी रूप में चलता अवश्य रहा, परंतु भारत में उसका प्रभुत्व और प्राबल्य इन्हीं एक हजार वर्षों तक रहा था । 'हिंदू' शब्द तो उस युग में परिचित नहीं था, पर परंपरा से चला आने वाला वैदिक धर्म जिसे बाद की शताब्दियों में ब्राह्मणधर्म के नामसे पहचानने की प्रथा पश्चिम के विद्वानों ने रूढ़ की है, इस पूरे युग में नष्ट या नष्टप्राय : कभी नहीं हुआ । उसका प्रभुत्व कम-अधिक अवश्य होता रहा, पर वह पूर्णत : लुप्त नहीं हुआ और उपरोक्त सहस्राब्दि में जैन, बौद्ध एवं वैदिक धर्मों की धाराएँ एक साथ बहती रहीं । भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रभाव सर्वव्यापी न होने पर भी एशिया के अन्य देशों में उसका जो प्रचार हुआ, उसे संसार के इतिहास की एक महान आश्चर्यकारक घटना माना जा सकता है । चीन, जापान, ब्रह्मा, लंका, स्याम, हिंद चीन, तिब्बत आदि विस्तृत प्रदेशों में बौद्धधर्म का इस हद तक प्रसार हुआ कि वहाँ की प्राय : पूरी जनता, जिसकी संख्या भारत की बौद्ध धर्मानुयायी प्रजा से कई गुनी अधिक थी, बौद्ध हो गई । आज इतनी शताब्दियों के बाद, और भारत में बौद्ध धर्म नामशेष हो जाने पर भी इन देशों में उसका प्रभाव कम नहीं हुआ है ।



परंतु आर्य या वैदिक धर्म ने स्त्रियों और शूद्रों को कुचल डाला था ; ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए भयानक अन्याय किया था ; जातिप्रथा की जटिल उलझन वैदिक धर्मानुयायी समाज ने

जानबूझ कर उत्पन्न की थी ; कर्मकांडियों ने यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों की निर्दयता से बलि चढ़ाकर रक्त की नदियाँ बहा दी थीं : और इन सब अन्यायों की प्रतिक्रिया रूप और इनका विरोध करने के लिए ही बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ था, ऐसी जो मान्यता प्रचलित की जा रही है, वह पूर्णांश में सत्य नहीं है । यह सही है कि भगवान बुद्ध की विचारधारा से एक नया मार्ग प्रचलित हुआ और असंख्य लोगों ने उसका अनुसरण किया । परंतु कोई नया धर्म स्थापित करने का दावा उन्होंने कभी नहीं किया था । बुद्ध की विचार श्रेणी उपनिषदों और सांख्य दर्शन के विचारों से मिलती-जुलती है । दार्शनिक उलझनों और ईश्वर के अस्तित्व के झगड़े में पड़ने की अपेक्षा मनसा, वाचा और कर्मणा विशुद्ध जीवन व्यतीत करने पर ही उन्होंने अधिक बल दिया है । आचार और विचार की विशुद्धि को वैदिक विचारधारा ने भी कभी उपेक्षणीय नहीं माना । भाषा की, विचार की, या आचार की, किसी भी दृष्टि से देखें, बौद्धधर्म आर्यसंस्कृति का ही एक अतिभव्य विस्तार दिखाई देता है । शंकराचार्य पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप इसी लिए लगाया गया था कि उनके मायावाद में बौद्धों का निरीश्वरवाद समा जाता था और शून्यवाद से उसका मेल खाता था । बौद्धधर्म को वैदिकधर्म से नितांत भिन्न या उसका विरोधी मानने की प्रवृत्ति तो बहुत बाद में शुरू हुई थी, जब नागार्जुन आदि शून्यवादी तत्त्वज्ञों ने अपनी प्रकांड विद्वत्ता और प्रखर तार्किकता के सहारे वैदिक विचारधारा का दार्शनिक धरातल पर विरोध किया । अपने अंतिम स्वरूप में बौद्धधर्म में भी हीनयान और महायान जैसे पंथ पड़ गये ; अनेक प्रकार की तांत्रिक साधनाओं में उसका रूपांतर हो गया ; और तारा, अविलोकितेश्वर आदि नये-नये देवी-देवताओं की कल्पना होकर उनकी प्रतिमाओं की धूमधाम से पूजा होने लगी । महायान तो हिंदुत्व के इतने निकट आ गया कि बुद्ध द्वारा स्वीकृत कर्मफल सिद्धान्त और पुनर्जन्म की भावना का उसके साथ मेल कर देने पर हिंदूधर्म से उसका विरोध कहाँ था, यह निर्णय करना मुश्किल हो गया । बाद की शाक्तसाधना और वाममार्गों का विकास भी अवनति की ओर बढ़ने वाले इन दोनों धर्मों का मिला-जुला परिणाम ही दिखाई देता है । सत्य स्थिति यह होने पर भी बौद्ध धर्म का सही स्वरूप समझने में विचारकों की गलतियाँ होती आई हैं जो वर्तमान युग में डा. आंबेडकर तक चली आ रही हैं ।

इस चर्चा को यहीं समाप्त करके हम यह देख लें कि गणिकाओं के प्रति बौद्धधर्म का क्या दृष्टिकोण था । बौद्धधर्म के प्रचार में गणिकाओं और गणिकापुत्रों का योगदान इतना अधिक रहा है कि उनके आपसी संबंध को कुछ गहराई से समझना आवश्यक है । भगवान बुद्ध के पूर्वाश्रम की कथा अत्यंत प्रसिद्ध है । कपिलवस्तु के शाक्यवंशी राजा शुद्धोधन के यहाँ ईसापूर्व छठी शताब्दी में उनका जन्म हुआ था । बचपन से ही कुमार सिद्धार्थ का मन वैराग्य की ओर झुका हुआ था । उस युग के किसी राजपुत्र को शोभा दे उससे कहीं अधिक विचारशीलता, विनम्रता और विषाद उनके जीवन में पाये जाते हैं । उनको संसार के मायामोह में फँसाने के प्रयत्न भी कम नहीं हुए । बौद्धों के ही वर्णन के अनुसार रूपयौवन संपन्ना गणिकाओं के झुंड के झुंड इस विरागी राजपुत्र को विषयाभिमुख करने के लिए नियुक्त किये गये थे । इन गणिकाओं का वर्णन भी सुनने योग्य है । ये सुंदरियाँ अत्यंत झीने और पारदर्शक वस्त्र पहनती थीं, जो उनके अंगों को ढकने के बजाय प्रत्येक अंग के सौष्ठव को और भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त करते थे । उनकी बातचीत रसभरी, हावभाव मोहक, अभिनय उद्दीपक और नृत्यसंगीत मुनियों के मन विचलित कर देने वाले थे । परंतु इस चिंतनशील राजकुमार पर यह प्रयोग सफल नहीं हुआ । इससे युवावस्था में भी सिद्धार्थ कितने संयमी रहे होंगे इसका प्रमाण मिलता है । सामान्यत: राजा-महाराजाओं और सरदार-सामंतों के संबंध में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । खैर, यह नुसखा कारगर होता दिखाई न देने पर अप्रतिम सुंदरी यशोधरा से उनका विवाह कर दिया गया । उनके यहाँ पुत्रजन्म भी हुआ ; परंतु इसके बाद शीघ्र ही सिद्धार्थ घर छोड़कर चरम और परम सुख की तलाश में निकल पड़े । बुद्धगया में अश्वत्थ के नीचे उन्हें ज्ञान का बोध हुआ और वे बुद्ध कहलाने के अधिकारी हुए । काशी के पास सारनाथ में आकर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का उपदेश देना आरंभ किया ।

शिशुनाग वंश के राजा बिंबिसार के साथ भगवान बुद्ध का अत्यंत घनिष्ठ संबंध था । बिंबिसार से

संबंधित कथाओं में उसकी और किसी योग्यता की अपेक्षा विविध प्रदेशों की वारांगनाओं के साथ उसके विलास का वर्णन ही अधिक हुआ है । वैशाली, राजगृह और उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिकाएँ इस शौकीन सम्राट के अंत :पुर की शोभा बढ़ाती थीं । बिंबिसार के समागम से वैशाली की आम्रपाली और उज्जयनी की पद्मावती नामक अद्वितीय सुंदरी गणिकाओं ने आनंद और अभय नामक पुत्रों को जन्म दिया था, जो बुद्ध के पट्टशिष्यों के रूप में प्रसिद्ध हुए और बुद्ध के आरंभिक उपदेशों के प्रचार में उनका योगदान बहुत अधिक रहा । उनके प्रभाव से उनकी सुविख्यात माताओं ने भी बौद्धधर्म का स्वीकार किया और स्त्री से बचकर रहने का उपदेश देने वाले महात्मा बुद्ध की सबसे आरंभिक शिष्याओं में स्थान पाने का सौभाग्य प्राप्त किया । राजगृह की शालवती नामक गणिकाने अपने पुत्र का जन्म होते ही त्याग कर दिया था । अभय की नजर उस नवजात शिशु पर पड़ी और उसने उसे पालपोस कर बड़ा किया । आगे चलकर यही बालक जीवक कुमार भक्क नामक विख्यात वैद्य हुआ जिसने भगवान बुद्ध की सेवा और रोगियों की शुश्रूषा में ही पूरा जीवन व्यतीत किया । 'अर्धकाशी' के नाम से परिचित काशी की प्रसिद्ध वेश्या भी बुद्ध की शिष्या बनी । इस प्रकार बुद्ध के जीवनकाल में ही सैकड़ों वेश्याएँ अपने पतित जीवन का परित्याग करके विशुद्धि भरे धम्ममार्ग की शरण में आ गई थीं । पापमय भोगजीवन के बदले शांतिमय धार्मिक जीवन का अनुभव होते ही इन पतिताओं की आत्मज्योति जागृत हुई, और बुद्ध के बताये हुए निर्वाण मार्ग पर वे विश्वासपूर्वक आगे बढ़ सकीं ।

परंतु आरंभ में भगवान बुद्धने और बाद में आनंद को छोड़कर उनके कई अनुयायियों ने स्त्री निंदा करने में कोई कसर नहीं रखी थी । बुद्ध के जीवन का एक अतिप्रसिद्ध प्रसंग इस प्रकार है :— विख्यात



गणिका आम्रपाली भगवान् के दर्शन को आ रही थी । उसके साथ उसकी अनेक दासियाँ भी थीं । दूर से ही, ऐसे दिव्य रूपवाली स्त्री को आती देख कर बुद्ध ने सामने बैठे हुए भिक्खुओं को सावधान रहने की चेतावनी दी । भगवान तथागत बोले, ''हे भिक्खुओं, इस तरफ आने वाली यह सुंदरी अत्यंत रूपवती है । धर्मनिष्ठ पुरुषों के मन को भी विचलित कर देने की उसमें शक्ति है । अत : तुम अत्यंत सावधान रहना और अपने मन पर विवेक का अंकुश रखना । नारी के रूपयौवन से मुग्ध होकर उसके पाश में फँसने की अपेक्षा विकराल व्याघ्र के मुँह में जा पड़ना या जल्लाद की कुल्हाड़ी के नीचे मस्तक रखना अधिक श्रेयस्कर है । नारी के अश्रु और हास्य को छिपे हुए शत्रु मानना और उसके केशपाश को पुरुषों को फाँसने का जाल मानना ।'' इतने में ही आम्रपाली आ पहुँची और नमस्कार करके तथागत के चरणों के पास बैठ गई । उसने बुद्ध को भोजन का निमंत्रण दिया । लिच्छवियों के राजनेता के आमंत्रण का अस्वीकार करके भगवान बुद्ध ने इस वारांगना का निमंत्रण स्वीकृत किया । इसके बाद शीघ्र ही आम्रपाली के मन में अपने व्यवसाय

के प्रति तीव्र अरुचि उत्पन्न हुई, और अंत में अपने ही पुत्र का धर्मव्याख्यान सुनकर उसने बौद्धधर्म की दीक्षा ली और भिक्खुणी संघ में प्रवेश किया । भिक्खुओं को दिया हुआ भगवान बुद्ध का उपदेश बिलकुल ही निरर्थक नहीं था । केशमुंडन करके भिक्खुणी का रूप धारण करने वाली आम्रपाली के सौंदर्य में इस ढलती उम्र में भी कुछ ऐसा आकर्षण था कि उसे देखते ही कई भिक्खुओं के मन विचलित हो उठे, और आनंद को उन्हें कड़ी डाँट-फटकार सुनानी पड़ी एवं मारनिग्रह का लंबा बोधव्याख्यान देना पड़ा । भगवान बुद्ध का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण एक और घटना से भी स्पष्ट होता है । राजगृह की शालवती नामक गणिका की युवती पुत्री सिरीमा की बौद्ध धर्म पर अत्यंत श्रद्धा थी । परंतु उसकी अकाल मृत्यु हो गई । बुद्ध ने सम्राट बिंबिसार से बिनती की कि सिरीमा के शव का अग्निसंस्कार न करते हुए उसे कुछ दिनों तक वैसे ही रहने दिया जाय ताकि गृहस्थ और भिक्खु दोनों प्रकार के लोग यह देख सकें कि रूपयौवन कितना नश्वर होता है और कंचन जैसी काया की अंत में क्या दशा होती है । बिंबिसार ने बुद्ध के आज्ञा का पालन जरूरत से ज्यादा उत्साहपूर्वक किया । उसने नगर के तमाम भिक्खुओं को इस मृतदेह का दर्शन अनिवार्य रूप से करने का आदेश दिया और इस नियम का भंग करने वाले को कठोर दंड का पात्र घोषित किया ।

आजके बुद्धिवाद को यह कुछ विचित्र दिखाई दे सकता है कि एक ओर तो बुद्ध और उनके अनुयायी स्त्री और स्त्रीदेह के आकर्षण के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे, और दूसरी ओर, गणिकाओं से मिलने-जुलने में, उनके निमंत्रण का स्वीकार करने में और उनके प्रासादों में निवास करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी । गणिकाओं के दान का स्वीकार करने में, उन्हें उपदेश देने में, और बाद में उन्हें दीक्षा देकर धम्मसंघ में दाखिल कर लेने में भी कोई बुराई नहीं समझी गई । आज के युग में यह परस्पर विरोधी बर्ताव असंगत दिखाई दे सकता है, परंतु इसका मूल कारण यह ह कि करुणा की साकार मूर्ति जैसे भगवान बुद्ध के मन में, उस युग के शास्त्रीय उपदेशों और धार्मिक प्रवचनों में रूढ़ स्त्रीनिंदा के बावजूद, स्त्रीजाति के प्रति घृणा या तिरस्कार की भावना नहीं थी । बाद के बौद्ध प्रचारकों द्वारा गणिकाओं को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने के संबंध में भी एक विचारधारा ऐसी है कि इस रुख का स्वीकार हेतु पुरस्सर किया गया था । इस युग में वारांगनाओं क का राजाओं और सामंतों पर बहुत अधिक प्रभाव था । सामान्य जनता भी गणिकावर्ग के जादू से अछूती नहीं थी । सैकड़ों दास-दासियों से सज्ज, भव्य प्रासादों में राजसी ठाठ से रहने वाली और राजामहाराजाओं एवं श्रेष्ठी-सामंतों को अपने इशारे पर नचाने वाली इन रूपाजीवाओं का स्वधर्म में प्रवेश हो सके, तो धर्मप्रचार में और सामान्य जनता के धर्मपरिवर्तन में उनसे बहुत अधिक सहायता मिल सकती थी ; और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर गणिकाओं के हृदयपरिवर्तन को बौद्ध धर्मप्रचारकों ने इतना अधिक महत्त्व दिया होगा । यह मत आंशिक रूप में सही हो सकता है । परंतु हम देख चुके हैं कि आज की विचारधाराओं के निकष पर प्राचीन युग का परीक्षण करना या उस युग के प्रत्येक कार्य पर स्वार्थ साधन का हेत्वारोपण करना योग्य नहीं । किसी भी धर्म या मत का इस प्रकार की युक्ति-प्रयुक्ति या हथकंडेबाजी से प्रचार शायद ही हो सकता है ।

२

भिक्खुणी-संघों की स्थापना

बचपन में कुमार सिद्धार्थ का लालन-पालन करने वाली धात्री गोतमी के संसार त्याग कर भिक्खुसंघ में प्रवेश करना था । तीन बार उसने यह इच्छा प्रकट की, और तीनों बार बुद्ध ने उसे मान्य नहीं किया । एक बार बुद्ध का महावन में प्रस्थान होने पर गोतमी केशवपन करवाकर और कषाय वस्त्र धारण करके, कई योजनों तक पैदल चलती हुई बुद्ध के पास पहुँची । उसके पाँव सूज गये थे और शरीर मार्ग की धूलमिट्टी से मैला हो गया था । उसकी आँखों में आँसू थे और मुख म्लान हो रहा था । उसे इस अवस्था में देखकर



पट्टशिष्य-आनंद ने उसके आने का कारण पूछा । धात्रीमाता ने बताया कि वह संघ में प्रवेश करना चाहती है पर भगवान अमिताभ मानते नहीं हैं । आनंद के मनमें स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आदरभाव था, अतः उसने फिर एक बार बुद्ध से विनती की, पर वे नहीं माने । अंत में आनंद ने अत्यंत आर्तभाव से दुहाई दी कि क्या भगवान बुद्ध स्त्रियों को निर्वाण की किसी भी भूमिका के योग्य नहीं मानते ? समता का उपदेश देने वाले बुद्ध इस युक्ति का खंडन नहीं कर सके : और कुछ नीची कक्षा पर क्यों न सही, पर निर्वाण के लिए स्त्रियों की पात्रता उन्हें मान्य करनी पड़ी । सिद्धान्त मान्य हो जानेपर आनंद ने फिर गोतमी के प्रवेश के लिए जोर दिया ; और बुद्ध ने आठ विशिष्ट नियमों का पालन करने की शर्त पर गोतमी को भिक्खुसंघ में प्रवेश करने की अनुमति दे दी । गोतमी बौद्ध भिक्खुसंघ में प्रवेश करने वाली पहली स्त्री थी । उसके बाद आम्रपाली, पद्मावती, आदि प्रसिद्ध गणिकाओं और पाँच सौ अन्य शाक्यवंशी स्त्रियों ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और स्त्रियों के भिक्खुणी संघों को बौद्धधर्म में स्थान मिला । इतना होने पर भी, पुरुष भिक्खुओं से उनका स्थान कुछ नीचा ही रखा गया । आनंद के कहने के संघ में स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति तो बुद्ध ने दे दी, पर उन्हें इस बात का सदा पश्चाताप रहा । एक बार उनकी व्यथा इन शब्दों में व्यक्त हुई थी : "हे आनंद, उचित तो यही था कि स्त्रियाँ घर में ही रहतीं । स्त्रियों को घर छोड़कर, गृहहीन भिक्षुओं की श्रेणी में प्रवेश करने की अनुमति देने से धर्म की बड़ी हानि हुई है । हे आनंद, जिस पवित्र धर्मचक्र की मैंने स्थापना की थी, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था । परंतु भिक्खुणी-संघों की स्थापना हो जाने के कारण अब वह केवल पाँच सौ वर्ष ही चलेगा ।"

बाद का बौद्ध इतिहास इस बात की गवाही देता है कि तथागत की आशंका निर्मूल नहीं थी । उनकी भविष्यवाणी तत्वत : सच्ची प्रमाणित हुई । संघ में भिक्खु-भिक्खुणियों के मिलन से अनेक प्रकार के अनिष्ट उत्पन्न हुए ; और बौद्ध धर्म की अवनति का यह एकमात्र कारण न होने पर भी धर्म के ह्रास में उसका योगदान बहुत अधिक रहा । मठों में साधु-साध्वियों को एकसाथ रहने की अनुमति देने वाले ईसाई आदि अन्य धर्मों का भी यही अनुभव रहा है । जातपाँत का विरोध और समता का स्वीकार करने के कारण बौद्धधर्म में अनेक उदार तत्वों का विकास हुआ । परंतु स्त्री को पुरुष के समकक्ष इस धर्म में भी नहीं माना गया । यह सही है कि बौद्धधर्म के विकास में स्त्रियों का हिस्सा बहुत अधिक रहा, और बौद्धमत का स्वीकार करने से स्त्रियों की प्रतिष्ठा बढ़ी । परंतु यह प्रगति अधिकांश में इन स्त्रियों की वैयक्तिक सिद्धि थी । समाज या पुरुषजाति का योगदान इसमें बहुत कम था । बौद्ध इतिहास के एक प्रसिद्ध विद्वान का कहना है कि "पूरे बौद्ध युग में स्त्रियों को अपने संग्राम खुद लड़ने पड़े और स्वप्रयत्नों से सिद्धि हासिल करनी पड़ी । स्त्रियों के त्राता होने का ढोंग करने वाले पुरुषों ने प्राय : कुछ नहीं किया ; बल्कि कभी कभी तो अपने अधिकारों के लिए स्त्रियों को इन लोगों से भी झगड़ना पड़ा ।"

बौद्धयुग में विवाह प्राय : दोनों पक्षों के माता-पिता द्वारा, एक दूसरे की संमति से तय किये जाते थे । क्वचित् स्वयंवर और गांधर्व-विवाह भी होते थे । चचेरे भाई-बहनों और मामा-फूफी की संतानों में विवाह संबंध हो सकता था । बौद्धधर्म को सामान्यत : जातिप्रथा का विरोधी माना जाता है । बौद्ध प्रभाव से जातिप्रथा की कठोरता थोड़ी-बहुत कम अवश्य हो गई थी ; परंतु अधिकांश विवाह संबंध जाति के वर्तुल में ही होते थे । जातिप्रथा को शिथिल करने में हिंदू एवं बौद्ध, दोनों संस्कृतियों में, धर्म की अपेक्षा गणिकासंस्था का हिस्सा ही अधिक था । गणिका के घर बिलानागा जाने की आदत पड़ जाने वाले पुरुष गणिका की जाति पूछने का बखेड़ा कब तक पाल सकते हैं, और उसके हाथ का अन्नजल ग्रहण नहीं करने के नियम का पालन कितने दिनों तक कर सकते हैं ? कन्या का हरण करके या फुसला कर भगा ले जाकर, उससे विवाह करने के उदाहरण भी बौद्ध युग में मिलते हैं । कुणाल जातक में कन्हा नामक युवती ने स्वयंवर द्वारा द्रौपदी की तरह पाँच पतियों से विवाह किया था, ऐसा उल्लेख भी मिलता है । बौद्ध विचारधारा की समता और उदारता के बावजूद स्त्रियों के लिए एक से अधिक बार विवाह करना योग्य नहीं माना जाता था ; अत : विधवा विवाह का अधिक प्रचलन नहीं था । इसके विरुद्ध, पुरुषों पर ऐसा कोई

बंधन नहीं था, और पत्नी की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह का प्रश्न तो छोड़िये, वे एकसाथ भी चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह कर सकते थे । जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर राजाओं के हजारों रानियाँ होने का उल्लेख इतने सरसरे ढंग से हुआ है मानों इसमें आश्चर्य की कोई बात ही न हो । बुद्ध के परममित्र बिंबिसार की पाँच सौ से अधिक तो विवाहित पत्नियाँ थीं । विभिन्न प्रदेशों की विख्यात वारांगनाओं और देशविदेश की प्रसिद्ध लावण्यवतियों से उसका अंत:पुर भरा हुआ था, सो अलग । विवाह-विच्छेद के भी इक्का-दुक्का उदाहरण मिल्ते हैं । विधवा विवाह आमतौर से प्रचलित नहीं था ; पर उच्छंगजातक की एक कथा बहुत सूचक है : एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई को किसी राजा ने कैद कर लिया था । स्त्री के करुण विलाप से राजा के हृदय में कुछ दया आ गई, और उसने उन तीनों में से किसी एक को छोड़ देने की आज्ञा दी । स्त्री से कहा गया कि वह पसंद कर ले कि किसे छोड़ा जाय । उसने उत्तर दिया, "मैं जीवित रही, तो पति तो मुझे दूसरा मिल सकता है । पुत्र भी मुझे एक नहीं, अनेक मिल सकते हैं । परंतु मेरे माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण सहोदर भाई मुझे नहीं मिल सकेगा ।" इसमें विधवा-विवाह का संकेत स्पष्ट है । स्त्रियों को — विवाहिता पत्नी को भी — भेंट-सौगात के रूप में देने के कई उल्लेख भी जातक कथाओं में मिलते हैं । दासी संस्था बौद्ध समाज में अत्यधिक प्रचलित थी ही । दासियाँ घर-गृहस्थी के सभी छोटे-मोटे काम करती थीं और बाजार-हाट से सामान भी खरीद लाती थीं । परंतु उनका मुख्य उपयोग वासनातृप्ति के लिए ही होता था । जातक की एक कथा है कि पुण्या नामक दासीपुत्री ने शास्त्रार्थ में किसी ब्राह्मण को हराया था ; जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे दासता से मुक्त कर दिया था ।

बौद्ध युग में गणिकाओं का महत्त्व और उसके कारणों का विवेचन ऊपर हो चुका है । उनके लिए कुछ नये नामों का प्रयोग भी इस युग में किया जाता था । उदाहरणार्थ नृत्य, संगीत, अभिनय आदि और कलाओं में निपुण कलावती गणिकाओं को जातक कथाओं में प्राय: 'नाटकी' कहा गया है । राजमहलों में आनंद प्रमोद के लिए और अभ्यागतों को मनोरंजन के लिए नियुक्त गणिकाओं के 'नर्तकी' संज्ञा दी गई है । किसी मित्र को, दुश्मन को, या बड़े घराने के किसी राजपुत्र या श्रेष्ठीपुत्र को विषयाभिमुख करने के लिए गणिकाओं का उपयोग सरेआम होता था । सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से गणिकाओं का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी बौद्ध साहित्य में उनके लिए अकसर जिन विशेषणो का प्रयोग किया गया है, वे आदरसूचक तो क्या, सहानुभूतिव्यंजक भी नहीं है । बौद्ध साहित्य में जहाँ हजारों पत्नियों और सैकड़ों रखैलों को जीवन की सामान्य बात मान कर स्वीकार कर लिया गया है, वहाँ गणिकाओं के लिए विभिन्न स्थानों पर, विषभरी मदिरा, आत्मविज्ञापन करने वाली बाजारी नारी, बारहसींगे के सींग के समान कुटिल, सर्प जैसी विषाक्त जीभवाली, सीमाहीन नरक, यमराज जैसी सर्वभक्षिणी, अग्नि जैसी दाहक, झंझावात जैसी विक्षोभक, समाजवृक्ष की विषवल्लरी, पापमय पाश, हत्या से भी न चूकने वाली रक्तप्यासी नारी, आदि चुनी हुई प्रशस्तियों और उपमाओं का प्रयोग किया गया है । भाषा के इन नमूनों से गणिका के संबंध में सामान्य जनता के अभिप्राय का अंदाजा लगाया जा सकता है । परंतु गणिकाओं के लिए ये सब और इनसे भी अनुदार शब्दों का प्रयोग करने के बावजूद बौद्धयुग के समाज ने उन्हें किसी अमूल्य थाती की तरह सुरक्षित रखा था ; उनका पोषण किया था ; और जीवन के साथ उन्हें अविच्छेद्य रूप से जड़ दिया था । स्त्री के बिना पुरुष का काम कभी चल नहीं सका है । आज भी, गणिका एक अनिष्ट है, यह मान लेने और समझ लेने पर भी हम उसे समाज से दूर नहीं कर सके हैं ।

गणिकाओं के प्रति इतनी अनुदार दृष्टि के बावजूद, इस वर्ग की स्त्रियों की बदकिस्मती से वह युग अपरिचित नहीं था । अत : उपरोक्त गालियों के साथ साथ बौद्ध साहित्य में यह सुर भी पाया जाता है :— "गणिका एक अत्यंत हतभागिनी नारी है । उसे प्रतिष्ठित गृहिणी का स्थान नहीं मिलता । पुरुषों की वासनातृप्ति के लिए उसे समाज के एक अलग घेरे में कैद कर दिया गया है । दूसरों की प्रसन्नता के लिए ही वह बनाव-सिंगार करती है ; सुहासिनी होने का स्वाँग भरती है और वाक्चातुर्य में निपुणता एवं कामकला में सिद्धि हासिल करती है । उसके विरुद्ध जितना प्रचार किया जाता है, वैयक्तिक स्तर पर उतनी

बुरी वह कभी नहीं होती । उसकेपतन में परिस्थितियों का हिस्सा बहुतं अधिक होता है ।" ये विचार यदि व्यापकता से स्वीकृत न होते, तो बौद्ध धर्म के प्रचार और विस्तार में गणिकाओं का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, वह कभी संभव न होता । बुद्ध के धम्ममार्ग से प्रभावित होकर, गणिकावृत्ति द्वारा प्राप्त किये हुए अपार धनवैभव का त्याग करके स्वेच्छा से भिक्खुणी की कठिन चर्या स्वीकार करने वाली गणिकाओं की संख्या कम नहीं है । गणिकाएँ यदि सचमुच ही मानवतारहित और हृदयहीन होतीं, तो थेरीगाथा नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ की रचना ही न हुई होती । यह ग्रंथ स्त्री-भिक्खुणियों द्वारा रचा गया है, जिनमें की कई पूर्वाश्रम में गणिकाएँ थीं । आम्रपाली ने अपने जीवन को अनुलक्षित करके लिखी हुई गाथा आज भी उच्च कोटि का काव्य मानी जायगी । आम्रपाली और अर्धकाशी जैसी गणिकाएँ 'अर्हत' जैसे महापद की प्राप्ति भी कर सकी थीं ।

बौद्धयुग में नारीजीवन के उज्ज्वल और धूमिल, दोनों पहलुओं का निरूपण हुआ है । स्थूलमान से यह भी कहा जा सकता है कि आरंभ में भगवान तथागत और उनके पट्टशिष्य आनंद के जीवनकाल में स्त्रियों का उल्लेख प्राय: आदर और सद्‌भावना के साथ हुआ है । संयुत्त निकाय में बुद्ध कहते हैं कि, "बुद्धिमान, सद्‌गुणी, पतिव्रता और श्वशुरपक्ष की मर्यादा की रक्षा करने वाली पुत्री, पुत्र की अपेक्षा अधिक वरेण्य हो सकती है । ऐसी पुत्री राज्य भी कर सकती है ।" 'महावंश' में उल्लिखित महारानी अनुला और आमन्दपुत्री शिवाली के नाम सफलता से राज्यशासन चलाने वाली स्त्रियों के रूप में सुप्रसिद्ध हैं । परंतु बाद के साहित्य में स्त्रियों के प्रति यह आदरभाव कम होता जाता है, और अकसर उनकी दुर्बलताओं और पतन के उदाहरण ही अधिक मिलते हैं । भिक्खुणी-संस्था के पतन के साथ साथ स्त्रियों के प्रति लोगों की आदरभावना कम होती गई हो यह स्वाभाविक है ; परंतु यौन पतन के उदाहरणों में — जिसके लिए पुरुष स्त्री से रत्तीभर भी कम जिम्मेदार नहीं होता — सारा दोष स्त्री के सिर ही क्यों मढ़ा गया है, यह समझ में नहीं आता । 'अवदान कल्पलता' नामक ग्रंथ में उज्जयनी के श्रेष्ठी चंदनदत्त की पत्नी कामलता के अपने ही पुत्र के साथ के व्यभिचार का वर्णन हुआ है जिसके लिए पूर्ण रूप से उसे ही दोषी माना गया है । अशोक की एक रानी तिष्यरक्षा का अपने सौतेले पुत्र कुणाल के प्रति मोह और उसके परिणामों की कथा साहित्यकारों का प्रिय विषय बन चुकी है । परंतु इस कथानक में कुणाल सच्चा मर्द प्रमाणित होता है । वह अपने ही हाथों अपनी आँखें फोड़ लेता है और अशोक के प्रचंड कोप से सौतेली माता की रक्षा भी वही करता है ।

भगवान् तथागत ने खुद एक स्थान पर पत्नियों का वर्णन करते हुए कहा है कि, "पत्नी माता के समान ममतामयी और बहन के जैसी स्नेहमयी हो सकती है । पत्नी उत्तम मित्र का स्थान ले सकती है और सेवापरायणता में उसका मुकाबला संसार की कोई दासी नहीं कर सकती । परंतु कभी कभी वह पति पर सोंटे से प्रहार कर सकती है, और कभी-कभी वह चोरी और हत्या भी कर सकती है ।" इनमें से आरंभिक चार गुणों में तो संस्कृत के सुप्रसिद्ध सुभाषित "कार्येषु दासी, करणेषु मंत्री, भोज्येषु माता, शयनेषु रंभा" की प्रतिध्वनि सुनाई देती है । कभी कभी पति की डंडे से मरम्मत करने तक और मौका देखकर उसकी जेब साफ कर देने तक भी गनीमत है । परंतु करुणा के सागर बुद्ध ने पत्नी की हत्यारिन के रूप में कल्पना क्यों की होगी, यह समझ में नहीं आता ।

बौद्धयुग में स्त्रीशिक्षा का पर्याप्त प्रचार था । हम देख चुके हैं कि थेरीगाथा नामक सुंदर ग्रंथ भिक्खुणियों की रचना है, जिनमें की कई पूर्वाश्रम में गणिकाएँ थीं । इसके उपरांत भी बौद्ध साहित्य में अनेक सुशिक्षित स्त्रियों का उल्लेख हुआ है । शुक्रा नामक पंडिता की वाणी से अमृत झरता था । क्षेमा नामक विदुषी राजा-महाराजाओं की शंकाओं का समाधान करती थी । धर्मरक्षा नामक स्त्री ने अपने पति के दार्शनिक कूटप्रश्नों का निराकरण किया था । लता नामक सभानेत्री 'वक्ता दशसहस्रेषु' की उक्ति चरितार्थ करती थी । और लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाली संघमित्रा का नाम तो बौद्ध साहित्य से परिचित लोगों में सर्वश्रुत है ।

३
स्त्रियों का उन्नयन

आर्य संस्कृति में वैदिक युग से लगाकर पुराणकाल तक यशस्वी पंडिताओं और विदुषियों की एक अक्षुण्ण परंपरा चलती रही थी । परंतु औपचारिक रूप से स्त्रीनिंदा करने पर भी, बौद्धधर्म के अंतर्गत स्त्रीजीवन का जो विकास हुआ उसे अद्‌भुत और अभूतपूर्व ही मानना पड़ेगा । बुद्ध के जीवनकाल में ही असंख्य स्त्रियाँ उनके धर्म के प्रति आकर्षित हुई थीं । इनमें राजाओं की रानियाँ थी, धनिक श्रेष्ठियों की कुलवधुएँ थीं, सामान्य गृहिणियाँ थीं, और गणिकाएँ भी थीं । विवाहित और अविवाहित, कुलीन और अकुलीन, धनिक और निर्धन, सभी वर्गों की स्त्रियों पर इस धर्म का जादू चला था । अनगिनत दुखी माताओं, संतानहीन विधवाओं, और पश्चात्तापदग्ध गणिकाओं को बौद्धधर्म ने सांत्वना प्रदान की । अनचाहे पुरुष के साथ विवाह होने के या किसी के हाथों बेच दी जाने के संकट से नये धम्ममार्ग ने न मालूम कितनी कुमारिकाओं की रक्षा की और बुद्धिविकास का अवसर चाहने वाली असंख्य स्त्रियों को भिक्खुणी संघों में स्थान देकर अपनी विद्या का विकास करने का मौका दिया । विलास और भोगमय जीवन की झूठी चमकदमक और निष्क्रिय बड़प्पन से ऊब जाने वाली अनेक धनिक स्त्रियों के लिए त्याग और सेवा का महान कार्यक्षेत्र खुल गया । दरिद्रता के जंजाल और पारिवारिक चिंताओं से दब जाने वाली असंख्य स्त्रियाँ भिक्खुणी संघों के स्थान पाकर बंधनमुक्त हो सकीं । इन सब कारणों से, इस जन्म में ही नहीं बल्कि जन्मांतर में भी सुख शांति और आशा की किरण चमकने वाले बौद्धधर्म की ओर स्त्रियों के झुंड के झुंड आकर्षित हो चले ।

स्त्री-पुरुष का भेदभाव किये बिना मनुष्य के तप्त हृदय को सांत्वना देकर दु:खशोक का त्याग और सेवा में उदात्तीकरण करने पर बौद्धधर्म ने आरंभ से ही बल दिया था एवं धनिक, सत्ताधीश और अभिमानी जीवन की तुच्छता का स्वीकार करके नम्रता, अपरिग्रह और तपस्या को अत्यंत उच्च स्थान पर आसीन किया था । सामान्य मनुष्य के हृदय को स्पर्श कर सकने वाला उपदेश उसी की प्राकृत भाषा में देना बौद्धधर्म का दूसरा प्रधान लक्षण रहा । ब्राह्मणधर्म के जटिल कर्मकांड और बढ़ते हुए आडंबर से ऊबे हुए लोगों के मन पर इस धर्म का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा । पापिनी गणिकाओं और दरिद्र जनता ने इस धर्म का स्वीकार सबसे पहले किया । आरंभ में घमंडी ब्राह्मणों ने इसकी विशेष परवाह नहीं की, पर शीघ्र ही ऐसा समय आया कि बौद्धमत की करुणा का झरना एक विशाल प्रवाह में परिणत हो गया और घमंडियों की बात पूछने वाला भी कोई न रहा । बौद्धधर्म का स्वीकार करने वाली अधिकांश गणिकाएँ सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सहृदय और कलावती थी ; बौद्ध युग की गणिका आर्ययुगीन या प्राचीन यूनान की गणिकाओं के समान ही सुसंस्कृत और कलाप्रवीण थी ; परंतु भोगविलास की अतिशयता से उसका हृदय जड नहीं हुआ था । यही कारण था कि उसके हृदय में बुद्ध के उपदेशों की प्रतिध्वनि बहुत स्पष्टता से गूंजी और धर्म के प्रवाह में वह सरलता से बह चली ।

उस युग की एक विचित्र बात यह रही कि भिक्खु-भिक्खुणी संघों में दाखिल होने वाले स्त्री-पुरुष राज्यशासन और दंड की सीमा से पर हो जाते थे । कुछ अपराधिनी स्त्रियों और गणिकाओं को यह सुविधा अत्यंत अनुकूल दिखाई दी हो, तो आश्चर्य नहीं । भिक्खु-भिक्खुणियों के संघ अनेकबार अपराधियों के आश्रयस्थान बन जाते थे । उनके अपराध प्राय : सांपत्तिक या व्यभिचार-विषयक होते थे । यह तो मानी हुई बात है कि किसी भी नये धर्म में प्रवेश करने वाले सभी स्त्री-पुरुष केवल धार्मिक उद्देश्य से ही प्रेरित नहीं होते । इस हालत में इस गड़बड़ी ने संघ के अध :पतन का बीजारोपण कर दिया हो, तो आश्चर्य की

कोई बात नहीं । एक बार लिच्छवी जाति की एक स्त्री व्यभिचार करते हुए पकड़ी गई । क्रोध के आवेश में उसका पति उसकी हत्या करने के तत्पर हुआ । स्त्री प्राण बचाने के लिए भागी और उसका पति उसे पकड़ सके इससे पहले ही श्रावस्ती के भिक्खुणीसंघ में घुस गई । शीघ्रता से केशवपन करवा के उसने दीक्षा भी ले ली । पति ने राजदरबार में शिकायत की कि केवल दंड से बचने के लिए ही उसकी पत्नी भिक्खुणी हो गई है । परंतु राजाने अपनी विवशता प्रकट करते हुए यही निर्णय दिया कि संघ में प्रविष्ट हो जाने वाली स्त्री को दंड देने का उसे अधिकार नहीं । किसी युग में इसी प्रकार की सुरक्षा ईसाई मठों के साधु-साध्वियों को भी मिलती थी । ईसाई धर्म की 'अपराध-स्वीकार (Confession) से पापमुक्ति की भावना से मिलता-जुलता प्रयोग भी बौद्ध धर्म में हुआ । ये दोनों, और इनके अलावा भी कई तत्त्व ऐसे हैं जो बौद्धमत के ईसाईधर्म पर पड़ने वाले प्रभाव की स्पष्टता से स्थापना करते हैं ।

वैविध्यप्रेमी और शिथिल चरित्रवाली स्त्रियों के लिये संघ की यह सुरक्षा बहुत अनुकूल सिद्ध हुई और दिनोदिन उसका दुरुपयोग बढ़ता गया । परिणाम यह हुआ कि गोतमी को दीक्षा देते समय भिक्खुणियों पर बुद्ध द्वारा लगाये गये आठ अंकुशों की संख्या बहुत बढ़ गई और भिक्खु-भिक्खुणियों के परस्पर मिलन के नियम उत्तरोत्तर कठोर होते गये । नृत्य, संगीत और वाद्य की शिक्षा भिक्खुणियों के लिए निषिद्ध घोषित की गई । उनके अकेले रहने पर, पुरुष का स्पर्श करने पर और राजमहलों या बाग-बगीचों में प्रवेश करने पर प्रतिबंध लगाया गया । परंतु देहधर्म ने इन प्रतिबंधों के विशेष परवाह किसी भी युग में नहीं की । ज्यों ज्यों प्रतिबंध बढ़ते गये त्यों त्यों देहतृप्ति के मार्गों की विविधता भी बढ़ती गई । पुरुष भिक्खुओं से अलग कर दी जाने पर भिक्खुणियों में नग्नस्नान, समलिंगी संभोग, प्रेमसंदेशों का आदान-प्रदान और व्यभिचार का प्रमाण और भी बढ़ गया । इसके लिए केवल भिक्खुणियाँ ही जिम्मेदार थीं, यह कहने का आशय नहीं है । भिक्खुओं का भी इस अनाचार में बराबरी का हिस्सा था और संघों के प्रबंधक भी इसके लिए कुछ हद तक जिम्मेदार थे । श्रावस्ती के किसी व्यापारी की उपलवणा नामक नवयौवना पुत्री बौद्ध धर्म को स्वीकार करके ध्यान-साधना के लिए एकांतवन में जाकर रहने लगी थी । उस पर आसक्त उसके किसी प्रेमी ने एकांत का फायदा उठाकर उस पर बलात्कार किया । संघ के समक्ष शिकायत करने पर यह निर्णय दिया गया कि भिक्खुणियों को यथासंभव अकेले या एकांत में नहीं रहना चाहिये ; और कभी ऐसा मौका आ जाय, तो स्वरक्षणार्थ शस्त्र धारण करना चाहिये । राय बड़ी बहादुरी की है ; पर बौद्धधर्म की अहिंसा का पालन करने वाली साध्वी शस्त्रधारण कैसे कर सकती है, और छोटा-मोटा शस्त्र हाथ में हो भी, तो अबला नारी कामांध पुरुष को परावृत्त करने में कहाँ तक सफल हो सकती है, इन प्रश्नों का निराकरण इससे नहीं होता ।

परंतु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि बौद्ध युग अधिकांश में इसी प्रकार की घटनाओं से भरा हुआ था । पतन की प्रक्रिया एकबार शुरू हो जाने के बाद, बौद्धयुग के अंतिम चरण में इससे भी अधिक भयानक घटनाएँ हुई थीं, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु निवार्णधम्म के आरंभकाल में मनुष्य के हृदय और आत्मा के उन्नयन के अत्यंत प्रभावशाली उदाहरण भी मिलते हैं । मथुरा की अप्रतिम रूपवती गणिका वासवदत्ता के हृदय में बुद्ध के शिष्य उपगुप्त के प्रति प्रबल मोह उत्पन्न हुआ । उसने उसे अपने यहाँ निमंत्रित किया ; परंतु प्रेमासक्त गणिका के मन का भाव समझ जाने वाले समर्थ भिक्खु ने उत्तर भिजवाया कि, "बुद्धशिष्य उपगुप्त गणिका वासवदत्ता से मिलने जाय, ऐसा समय अभी नहीं आया है ।" वासवदत्ता के निमंत्रण का अस्वीकार करने वाला पुरुष उस युग में दुर्लभ था । चतुर वारांगना को लगा कि उपगुप्त के पास धन नहीं है, इसलिए वह शायद झिझक रहा है । अत : उसने दूसरा संदेश भेजा कि उसे स्वर्ण की या हीरेमोतियों की कमी नहीं है ; वह तो सिर्फ प्रेम चाहती है । परंतु इसबार भी उसे वही उत्तर मिला । वासवदत्ता मथुरा के महास्थपति की प्रेमपात्र थी । परंतु इसी दौरान में उससे कई गुना धनवान कोई विदेशी सौदागर शहर में आ बसा । उपगुप्त की ओर से निराश होने पर वासवदत्ता के मन में तीव्र प्रतिक्रिया हुई होगी । अत:

अबकी बार वह उस नवागंतुक व्यापारी पर मोहित हुई और बात यहाँ तक बढ़ी कि उसने अपने पुराने प्रेमी महास्यपति की हत्या करवा दी और उसके शव को कहीं गड़वा दिया। परंतु बात छिपी नहीं रही और न्यायालय में वासवदत्ता अपराधिनी प्रमाणित हुई। दंडस्वरूप उसके हाथपाँव और नाककान काट दिये गये, और मृतप्राय : हालत में उसके शरीर को स्मशान में फेंक दिया गया। इस हालत में भी न जाने कैसे कुछ समय तक उसके प्राण अटके रहे। इस समय तथागत के प्रिय शिष्य उपगुप्त उसके पास पहुँचे। मरते मरते वासवदत्ता ने शिकायत की : "मेरा शरीर जब भोगने योग्य था, तब तो तुम नहीं आये। अब क्यों आये हो?" उपगुप्त ने उत्तर दिया, "भद्रे, मेरे आने का योग्य समय यही था। इसी वक्त तुम्हें मेरी सबसे अधिक आवश्यकता है। मैं जो कुछ कहने आया हूँ, उसे शांति से सुनो।" यह कहते हुए उपगुप्त ने बुद्ध का उपदेशामृत मृत्यु के द्वार पर खड़ी हुई इस हतभागिनी नारी के कानों में टपकाया और वासवदत्ता की आत्मा ने शांति से देह छोड़ दिया।

बौद्ध धर्म के इतिहास में पाटलिपुत्र नगर का महत्त्व अनन्यसाधारण रहा है। गणिकाओं को नगरशृंगार मानने की प्रथा हमारे देश में बड़े प्राचीनकाल से चलती आई है। पाटलिपुत्र की स्थापना होते ही वैशाली की अनेक प्रसिद्ध गणिकाएँ नये नगर में आकर बस गईं। परंतु इससे पहले लिच्छवियों की वैशाली नगरी ही सुंदरी गणिकाओं का केन्द्र मानी जाती थी। आम्रपाली उस नगरी की प्रसिद्धि का प्रधान कारण थी। वैशाली की इस गणिका के जीवन के आसपास उस युग की एक अत्यंत विचित्र प्रथा गुंथी हुई है। इस प्रथा के अनुसार नगर की अनुपम लावण्यवती सुंदरी विवाह नहीं कर सकती थी। विवाह एक ही पुरुष को किसी स्त्री के रूपयौवन के उपभोग का अधिकारी बनाता है, जिससे अन्य सौंदर्यप्रेमी पुरुषों के अधिकार का अतिक्रमण होता है, और उनमें लड़ाई-झगड़े और मार-काट होने की संभावना खड़ी होती है। इस परिस्थिति को टालने के लिए उस युग के ज्ञानी गणनेताओं ने यह नियम बनाया कि लोगों के मन विचलित कर दे ऐसे अप्रतिम रूप-लावण्य वाली सुंदरी को गणस्त्री — दूसरे शब्दों में कहें तो गणिका-माना जांय और उसे विवाह का अधिकार न दिया जाय। जब किसी अनुपम सुंदरी के रूपयौवन की चर्चा नगर में जोरों से होने लगती थी, तब गणसभा में इस विषय का निर्णय करके उसे सार्वजनीन स्त्री घोषित कर दिया जाता था। संबधित स्त्री की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता था। आम्रपाली को उसकी इच्छा के विरुद्ध इस नियम का पालन करना पड़ा था, यह बौद्धयुग की अत्यंत प्रसिद्ध घटना है। आज के युग में अत्यंत विचित्र और अन्याय दिखाई देने वाली इस प्रकार की योजनाएँ किसी युगविशेष में समाजजीवन की सुविधा के कारण सर्वमान्य रिवाज का रूप धारण कर सकती हैं; और एक बार प्रथा के रूप में स्वीकृत होते ही वे गौरवमय लोकाचार का रूप धारण कर लेती हैं जिनका भंग करना सामाजिक अपराध या पाप माना जाने लगता है।

परंतु ये सारी योजनाएँ अकसर पुरुष की सुविधा के लिए होती हैं। स्त्री की सुविधा-असुविधा का विचार तो क्या, उसकी संमति भी आवश्यक नहीं मानी जाती। पुरुष की सुविधा को नजर में रखकर ही समाज ने अत्यंत प्राचीन काल से स्त्री जाति के दो विभाग कर दिये हैं जिनमें से एक को उसकी वंशवृद्धि का और दूसरे को उसकी अतिरिक्त कामवासना एवं वैविध्यप्रेम को संतुष्ट करने का कार्य सौंपा गया है। इन सारी योजनाओं में स्त्री का पुरुष की वासनातृप्ति के साधन से अधिक महत्त्व किसी भी युग में नहीं माना गया। ऐसी एकांगी और पक्षपाती व्यवस्था के कारण मनुष्यजाति का स्त्रीविभाग कभी कभी विद्रोह कर उठे या पुरुष से भयानक प्रतिशोध लेने का प्रयत्न करे, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। अनादिकाल से लगातार आज तक करीब-करीब यही व्यवस्था चली आ रही है। इसके पीछे पुरुष का आर्थिक प्रभुत्व और शारीरिकबल कारण रूप है, या स्त्रीजाति की शारीरिक और मानसिक रचना में ही प्रकृति ने कुछ ऐसे तत्व मिला दिये हैं कि जिनके कारण पुरुष के सुख के लिए अपना उपयोग या दुरुपयोग होने देने में ही उसे

कृतार्थता का अनुभव होता है, इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर अब तक नहीं मिला है । आधुनिक युग की स्त्री का मानस इससे कुछ भिन्न है, ऐसा प्रचार वर्षों से सुनते आ रहे हैं । परंतु पुरुष जाति के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करने वाली आज की नारी को जो जब चुपचाप और राजीखुशी से सपत्नीपद स्वीकार करती देखते हैं, तो यह संदेह होने लगता है कि दासता की भावना शायद स्त्री जाति के संस्कारों में ही मिली हुई है । इस हालत में पुरुष के ही नहीं, बल्कि समाज के भी सब तरह के बंधनों से मुक्त गणिकावस्था का स्वीकार ही इस शंका के निवारण का एकमात्र मार्ग स्त्री जाति के लिए खुला रह जाता है । अतिकामी और वैविध्यप्रेमी पुरुष इस सत्य को जितना जल्द समझ लें, उतना ही अच्छा है ।

हम देख चुके हैं कि बौद्धधर्म के प्रभाव से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ था ; परंतु पुरुष की श्रेष्ठता और स्त्री की दासता की मूलभूत भावना में बौद्धयुग में भी कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा था । गणिकाजीवन अत्यंत समृद्ध और अत्यधिक प्रभावशाली बन चुका था । परंतु तत्कालीन गणिकाओं की बौद्धधर्म का स्वीकार करके भिक्खुणी हो जाने की प्रवृत्ति से यह जाहिर होता है कि भोगविलास में आकंठ डूबे रहने पर भी उनकी आत्मा जड़ या कुंठित नहीं हुई थी । बौद्धयुग की आरंभिक शताब्दियाँ वैदिक और बौद्ध संस्कृतियों एवं आचार विचारों के बीच दोलायमान हो रही थी । एक ही धरती से जन्म लेने के कारण आरंभ में दोनों पक्षों में विद्वत्ता, संस्कार और विचारधारा के क्षेत्रों में इतना अधिक साम्य रहा कि समाज कभी वैदिक आचारों की ओर झुकता था, तो कभी बौद्ध विचारों की ओर । इसका प्रभाव स्त्री जीवन और गणिकाजीवन पर भी पड़ा ।

बौद्धयुग की तीसी शताब्दी में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई । इससे कुछ वर्ष पहले ही भारत पर यूनानी विजेता सिकंदर का आक्रमण हो चुका था, जिसके कारण यूनानी प्रजा के साथ भारतीय प्रजा निकट संपर्कमें-आई । चंद्रगुप्त ने सिकंदर के सामंत सेल्यूकस को हराकर उसकी पुत्री से विवाह किया था । इतिहास का यह कालखंड यूनान के विश्व-विख्यात विद्वानों और सुंदरी वारांगनाओं का युग था, जिसका वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम खंड में हो चुका है । इतने घनिष्ठ संपर्क में आने पर यह स्वाभाविक है कि दोनों संस्कृतियों में विचारों और आचारों का पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ हो । मुरा नामक दासी के प्रतापी पुत्र चंद्रगुप्त के वंश को मौर्यवंश नाम देकर आर्यसंस्कृति ने मातृत्व के साथ स्त्रीत्व का और कुछ हद तक शूद्रत्व का भी सम्मान किया था । उस युग में स्थापित होने वाले साम्राज्यों की सीमाएँ भारत से बाहर दूर दूर तक फैलीं । आर्य संस्कृति का दिग्दिगंतर में प्रसार हुआ और बौद्ध धर्म जागतिक धर्म की भूमिका पर पहुँचा ।

बौद्ध धर्म के त्याग-तपस्यामय जीवन के बावजूद वह युग शुष्क या नीरस नहीं था । साधारण जनसमाज आनंदी और कुछ हद तक रंगीला भी था । चौबीसों घंटे रागरंग में डूबे रहकर कर्तव्य की उपेक्षा करने वाला नहीं बल्कि उत्सवों, समारंभों, सभाओं और नृत्यसंगीत के जलसों में उत्साह से भाग लेने वाला था । गणिकावृत्ति का विकास इस हद तक हो चुका था कि उसका शास्त्रीय अध्ययन होकर उस पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे जाने लगे थे, और उसे काम शास्त्र के व्यापक विषय का एक महत्त्वपूर्ण अंग मान लिया गया था । समाजरचना में ही नहीं नगर रचना में भी वेश्याओं का स्थान निश्चित हो चुका था । वेश्याओं के मुहल्ले नगर के दक्षिण भाग में बसाने की सूचना और उनके लिए बनाये जाने वाले मकानों और कमरों के आकार-प्रकार तक का विवेचन अग्निपुराण और मत्स्यपुराण में पाया जाता है । वात्स्यायन के कामसूत्र में कामशास्त्र संबंधी सारे विषयों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है । कामसूत्र से पहले, और उसके बाद भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई थी । वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र का विस्तृत अध्ययन करने से पहले, अगले परिच्छेद में हम इन अन्य ग्रंथों का संक्षेप में विचार करेंगे ।

सातवाँ परिच्छेद

कामशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

१

वात्स्यायन से पहले की रचनाएँ

कुछ लोगों की यह मान्यता होती है कि प्राचीन भारत के विद्वान सिर्फ आत्मा और परमात्मा संबंधी उदात्त कल्पनाएँ, धर्म और ईश्वर विषयक विभिन्न मत, दर्शनशास्त्र की दुर्गम उलझनें और कर्मकांड के कोरे पाखंडों की रचना करके ही संतुष्ट हो गये थे । परंतु यह धारणा सही नहीं है । आर्य विचारकों ने कल्पना के गगन में चाहे जितनी ऊँची उड़ाने भरी हों, पाँव उनके सदा धरती पर ही टिके रहे । पृथ्वी को वे भूले नहीं और पार्थिव समस्याओं को उन्होंने कभी क्षुद्र या उपेक्षणीय नहीं माना । आर्य दृष्टि किसी वस्तु के बाह्य-दर्शन मात्र से कभी संतुष्ट नहीं हुई । उसने हमेशा गहरे पानी पेंठ कर किसी भी विषय के अंतरंग को पूरी तौर से समझने का प्रयत्न किया है, आश्चर्यजनक वर्गीकरण किये हैं, व्यापक लक्षण-निर्धारण के सहारे सम्यक् व्याख्याएँ की हैं, पूर्वसूरियों के मत की परीक्षा एवं आलोचना की है, और इन सब के निष्कर्ष रूप ही अपने मत का प्रतिपादन किया है ।

आर्य संस्कृति ने मानवजीवन के चार पुरुषार्थ या प्राप्तव्य मान्य किये : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । मनुष्य के अस्तित्व का अंतिम ध्येय मोक्ष निश्चित किया गया और उसकी प्राप्ति में अवरोध न हो, इस ढंग से बाकी के पुरुषार्थों — धर्म, अर्थ और काम — की सिद्धि के मार्गों का निरूपण किया गया । इस प्रकार, अत्यंत प्राचीन काल से काम को धर्म और अर्थ के जितना ही महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ मानकर हमारे मनीषियों ने जीवन के प्रति अत्यंत यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दिया है । मनुष्य की अधिकांश प्रवृत्तियों की प्रेरणा देने वाला, जीवन के बहुत बड़े भाग को व्याप्त करने वाला, देह और मन को अतुलनीय सुख पहुँचाने वाला, और प्रजोत्पत्ति जैसी आवश्यक निष्पत्ति में परिणत होने वाला काम हास्यास्पद तिरस्करणीय, त्याज्य या अश्लील तत्त्व नहीं है इस सत्य को आर्य विचारकों ने बिना किसी हिचकिचाहट के मान्य कर लिया था । आधुनिक युग में पश्चिम के देशों में बड़े जोर शोर से प्रचारित किए जाने वाले कामविज्ञान संबंधी विचारों में किसी नये सत्य का आविष्कार नहीं, बल्कि भारत में शताब्दियों पहले स्वीकृत स्वस्थ विचारों का पुनर्प्रतिपादन मात्र हुआ है ।

इन चारों ईप्सितों को लेकर हमारे यहाँ प्रचुर ग्रंथ रचना हुई है । धर्मसूत्रों और स्मृतियों में धर्म का रूपनिर्धारण किया गया है । मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर जैसे समर्थ विद्वानों ने मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यों की, एवं उसके अधिकारों और उत्तरदायित्वों की उस युग की विचारधारा के अनुसार उत्तम व्याख्या की है । 'अर्थ' शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ कुछ व्यापक अर्थ में हुआ है और उसके अंतर्गत आज के अर्थशास्त्र का ही नहीं, बल्कि राजनीति, नागरिकशास्त्र, शासनव्यवस्था आदि संबंधित विषयों का भी निरूपण हुआ है । बृहस्पति, शुक्र, कामन्दक और कौटिल्य अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के उद्‌भट विद्वान थे । इनमें से अंतिम आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का जब यूरोपीय भाषाओं में प्रकाशन हुआ, तब पश्चिम के विद्वान इस ग्रंथ की विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओं और उच्च कोटि की व्यवस्थाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे । अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष के विषय में तो अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं । उपनिषदों के चिंतन से लगाकर भगवद्‌गीता तक और रामायण-महाभारत से लगाकर पुराणों के मोक्षप्रेरक दृष्टांतों तक इस विषय का चिंतन आर्य संस्कृति में बिखरा पड़ा है ।



हमारे विषय का संबंध मुख्यत : काम-पुरुषार्थ से है । इस विषय पर भी आर्य विचारकों ने विपुल साहित्य की रचना की है । आरोग्य और प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से स्वस्थ कामभावना मनुष्य जीवन का इतन महत्वपूर्ण अंग है कि उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखने से, या उसे त्याज्य समझ कर उसका विवेचन त क्या उसके उल्लेख से भी बचकर रहने की वृत्ति से शरीर और मन की ऐसी अनेक उलझनें उत्पन्न हो सकती हैं जो मानवजीवन को छिन्नभिन्न कर सकती हैं । वर्तमान युग में पश्चिम के मनोविज्ञान औ वैद्यकशास्त्र ने इस सत्य का स्वीकार कर लिया है । हमारे यहाँ तो आरंभ से ही यह मान्यता रही है कि जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ अंततोगत्वा मोक्षमार्ग पर ही ले जाने वाली होनी चाहिये । अत : काम का भी उदात्तीकरण करके उसे मोक्षप्राप्ति का साधन बनाया जा सकता है, ऐसी विचारधारा हमारे शास्त्रों में पायी जाती है । शंकराचार्य जैसे बालब्रह्मचारी संन्यासी को भी मंडनमिश्र पर विजय प्राप्त करने से पहले सरस्वती के साथ के विवाद के कारण कामशास्त्र का सक्रिय ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगसिद्धि से कायापलट करके किसी राजा के देह में प्रवेश करना पड़ा था । कामविज्ञान के इस प्रत्यक्षानुभव के सहारे ही वे शास्त्रार्थ में सफल हो सके थे ।

हमारे सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल हम वेदों में ढूंढने की कोशिश करते हैं । वेदों में विवाह गृहस्थधर्म, संतानोत्पत्ति, व्यभिचार और गणिकावृत्ति आदि काम से संबंधित विविध विषयों के बिखरे हुए उल्लेख मिलते हैं । कामकला के कवित्वमय उल्लेख भी पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ:— ''लता वृक्ष से जिस प्रकार लिपटी रहती है, उसी प्रकार तू अपने पति से लिपट कर जीवनभर झूलती रह । अपने हावभाव और नयनकटाक्ष से तू उसे प्रसन्न कर और अपने मन को भी सुख पहुँचा ।'' या ''मैं ब्रह्मचारिणी हूँ । परंतु अब मेरे मन में ऐसी कामना उत्पन्न हुई है कि मैं किसी ब्रह्मचारी से विवाह करके उसके साथ शयन करूं, और अपनी फूलों जैसी काया उसे अर्पण करूं ।''

महर्षि वात्स्यायन कामशास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं । परंतु उन्होंने, भारतीय परंपरा अनुसार, अपने पहले के कई आचार्यों का उल्लेख करके उनके विचारों की आलोचना की है । इससे य सिद्ध होता है कि वात्स्यायन से पहले भी कामशास्त्र के अनेक ग्रंथों की रचना हो चुकी थी । कौटिल्य- अर्थशास्त्र में भी वेश्याओं संबंधी व्यवस्थाएँ दी गई हैं, जो उस युग की समाजरचना को समझने में सहा सिद्ध होती हैं । वात्स्यायन ने कौटिल्य का उल्लेख नहीं किया है । परंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र वात्स्यायन के कामसूत्र की भाषाशैली में इतना अधिक साम्य पाया जाता है कि कुछ विद्वान दोनों आचार्यों को एक ही व्यक्ति मानने को प्रवृत्त होते हैं । हमारे अध्ययन में हम वात्स्यायन के ग्रं लाख अध्यायों का ग्रंथ लिखकर इन पुरुषार्थों का निरूपण किया था । इस एकत्रित संग्रह में से ब्रह पुत्र मनु ने धर्म प्रकरण को अलग करके धर्मशास्त्रों की रचना की ; बृहस्पति ने अर्थ विभाग को अलग अर्थ और नीति के ग्रंथ प्रस्तुत किये, और महादेवजी के प्रिय गण नंदी ने काम विषयक परिच्छेदों को करके एक हजार अध्यायों वाले बृहत् कामशास्त्र का निर्माण किया । नंदीरचित कामशास्त्र को उद्दालक ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया । श्वेतकेतु के संग्रह में से पांचाल-निवासी बाभ्रव्य सौ अध्याय चुनकर उनका निम्नलिखित सात खंडों में विभाजन किया :— (१) साधार साम्प्रयोगिक (३) कन्यासंप्रयुक्त (४) भार्याधिकारिक (५) पारदारिक (६) वैशिक और (७) औ पाटलिपुत्र की गणिकाओं द्वारा प्रार्थना की जाने पर दत्तक नामक आचार्य ने बाभ्रव्य के वैशिक अधि आधार पर वेश्याओं का मार्ग दर्शन करने वाले बृहत् ग्रंथ की रचना की । इसके उपरांत च 'साधारण' अध्याय का विस्तार किया, सुवर्णनाभ ने 'साम्प्रयोगिक' का विवेचन किया, आचार्य ने 'कन्या-संप्रयुक्त' अध्याय की व्याख्या की, गोनर्दीय ने 'भार्याधिकारिक' प्रकरण को विस्तृत गोणिकापुत्र ने 'पारदारिक' एवं कुचमार ने 'औपनिषद' प्रकरणों पर पृथक् ग्रंथ लिखे । वात्स्यायन के ग्रंथ में उनसे पहले के कम से कम दस-ग्यारह आचार्यों का उल्लेख मिलता है । आचार्यों का — विशेष तौर से बाभ्रव्य का — उल्लेख वात्स्यायन के बाद के कई विद्वानों ने

परंतु एक तो ये ग्रंथ अप्राप्य हैं, और दूसरे प्रजापति से लगाकर अंतिम आचार्य तक का कार्यविभाजन और अध्यायों की संख्या का उल्लेख इतनी साँचे में ढली पौराणिक पद्धति से हुआ है कि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो उठती है ।

वात्स्यायन ने बाभ्रव्य रचित प्रकरणों को फिर से एकत्रित किया और उनमें अपनी विचारधारा के अनुसार परिवर्तन करके, अपने युग के अनुकूल कामशास्त्र की रचना की, जो उस युग से लगाकर आजतक इस विषय का अत्यंत प्रामाणिक और आधारभूत ग्रंथ माना जाता है । हॅवलॉक ॲलिस जैसे वर्तमान युग के यौन विज्ञान के महान विचारक ने कामसूत्र की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है । प्राचीन युग के विभिन्न आचार्यों के अभिप्रायों का व्यवस्थित उल्लेख और आलोडन करके इस अद्‌भुत ग्रंथ की रचना करने वाले आचार्य वात्स्यायन के प्रगाढ पांडित्य और विस्तृत ज्ञान को देखकर श्रद्धा से सिर झुक जाता है । परंतु प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुसार उनके देशकाल आदि के संबंध में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती । इतना ही नहीं, उनके व्यक्तित्व के संबंध में भी मतभेद है । कुछ विद्वानों का कहना है कि नंदवंश का निकंदन करके चंद्रगुप्त को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाने वाले, अर्थशास्त्र के रचयिता भगवान कौटिल्य (चाणक्य) ने ही वात्स्यायन नाम धारण करके कामसूत्र की रचना की थी । दूसरे मतानुसार ये दोनों रचनाएँ भिन्न भिन्न लेखकों की हैं । हम देख चुके हैं कि इनमें से पहला मत इन दोनों ग्रंथों की भाषाशैली और रचनापद्धति में पाये जाने वाले साम्य पर आधारित है । इसे मान कर चलें, तो कामसूत्र के रचयिता के देश-काल का निर्णय भी हो जाता है, क्योंकि इतिहास में पाटलिपुत्र के तेजस्वी ब्राह्मण कौटिल्य (चाणक्य) का स्थान और काल सुनिश्चित है । परंतु कामसूत्र में कुंतल, सातकरणी और आमीर राजाओं के अंत :पुर की व्यवस्था एवं आंध्र राजपरिवार की वंशावली आदि बाद की बातों का उल्लेख होने के कारण इस मत को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । इन सारे राजकुलों का उदयास्त कौटिल्य के कई शताब्दियों बाद के कालखंड में हुआ था । इस दृष्टि से वात्स्यायन को इसवी सन की तीसरी शताब्दी से पहले के युग में नहीं रखा जा सकता । परंतु इस मत को मान्य कर लेने पर उनके स्थान या काल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । कुछ विद्वान उन्हें मालवा का निवासी मानते हैं, परंतु उनके ग्रंथ में मध्यभारत की अपेक्षा पश्चिमी भारत की अधिक जानकारी अभिव्यक्त हुई है । कुछ विद्वान उन्हें 'नागर' नामक नगर का निवासी मानते हैं । प्रामाणिक सामग्री के अभाव में ये सारी संभावनाएँ केवल अनुमान या अटकलबाजी ही सिद्ध होती हैं ।

२

वात्स्यायन-कामसूत्र के बाद के ग्रंथ

कामशास्त्र के आचार्यों में वात्स्यायन का स्थान अपूर्व और सर्वोपरि है । उनके बाद के युग में दंडी रचित दशकुमार चरित में गणिका जीवन का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है । शूद्रक रचित मृच्छकटिक नाटक में, तो वसंतसेना नामक गणिका नाटक की नायिका है । अतिशय उदारता के कारण दरिद्र हो जाने वाले चारुदत्त नामक धीरोदात्त ब्राह्मण युवक के प्रति गणिका वसंतसेना के निर्व्याज प्रेम की कहानी इस नाटक में इतने हृदयस्पर्शी ढंग से वर्णित की गई है कि उसकी गणना संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट नाटकों में होती है । आठवीं शताब्दी के दामोदरगुप्त नामक विद्वान का ग्रंथ 'कुट्टनीमतम्', क्षेमेन्द्र की रचना 'समयमातृका' और दसवीं शताब्दी के कल्याणमल्ल का ग्रंथ 'अनंगरंग' भी विद्वानों और रसिकों में समान रूप से लोकप्रिय रहे हैं । इनमें से अधिकांश का अनुवाद भारत की कई भाषाओं में हो चुका है । उपरोक्त आधारभूत ग्रंथों के अलावा, कामसूत्र के बाद के युग में और भी कई ग्रंथों की रचना हुई थी । अनंगतिलक, अनंगदीपिका, अनंगशेखर, मदनसंजीवनी, मदनोदय आदि कई ग्रंथ ऐसे हैं, जिनका उल्लेख तो अन्य ग्रंथों में मिलता है, परंतु आज वे प्राप्य नहीं हैं । फिर भी, संस्कृत का कामशास्त्र-विषयक साहित्य कितना

विपुल है, इसका कुछ अंदाजा निम्नलिखित सूची से लगाया जा सकता है जिसमें केवल अधिक प्रसिद्ध रचनाओं का ही समावेश किया गया है :—

	ग्रंथ	रचयिता
१.	रतिरहस्य	कोक पंडित
२.	नागर सर्वस्वम्	बौद्धभिक्षु पद्मश्री
३.	पंचसायक	ज्योतिरीश्वर कविशेखर
४.	शृंगार दीपिका	हरिहर
५.	रतिशास्त्र	नागार्जुन
६.	कलाशास्त्र	कोक पंडित
७.	कामप्रदीप	गुणाकर पंडित
८.	कामरत्न	नित्यनाथ
९.	कामशास्त्र	वामन पंडित
१०.	कामसार	कामदेव
११.	रतिमंजरी	जयदेव
१२.	रति रहस्य	कवि विद्याधर
१३.	रति रहस्य	हरिहर
१४.	रतिसर्वस्व	(अज्ञात)
१५.	वात्स्यायन सूत्रसार	क्षेमेन्द्र
१६.	शृंगारपद्धति	शार्ंगधर
१७.	स्त्री विलास	देवेश्वर
१८.	स्मरदीपिका	(अज्ञात)
१९.	रतिरत्न प्रदीपिका	देवराज
२०.	रति चंद्रिका	हरिहर

३
गणिकाजीवन का महत्त्व

उपरोक्त प्राय: सभी ग्रंथों में कामशास्त्र की चर्चा करते समय नायिका के स्वकीया और सामान्या, दोनों प्रकार का विचार हुआ है । हमारे अध्ययन की दृष्टि से सामान्या (गणिका) संबंधी वर्णन ही अधिक महत्त्वपूर्ण है । कामशास्त्र के इन ग्रंथों के उपरांत पुराणों में, काव्य-नाटकों में, और बाद के रासो, चंपू आदि साहित्य प्रकारों में गणिकाओं और गणिकाजीवन का उल्लेख इतनी विपुलता और इतनी घनिष्ठता से हुआ है कि उनमें से कुछ निष्कर्ष आसानी से निकाले जा सकते हैं । गणिकाओं के प्रति उस युग के समाज को सहानुभूति भी थी और सम्मान की भावना भी । गणिकाओं को नगर के कलंकरूप नहीं बल्कि शोभारूप माना जाता था । उनकी अनुपस्थिति में राजाओं के महल और दरबार, धनिकों के प्रासाद और रसिकों की सभाओं की शोभा फीकी पड़ जाती थी । नृत्यसंगीत के जलसों में और धार्मिक जुलूसों में उन्हें अग्रस्थान मिलता था । रथों या घोड़ों की दौड़ में और मुर्गे, तीतर-बटेर, या भेड़ों की लोकरंजक मुठभेड़ों में वे रसपूर्वक भाग लेती थीं । नाटकों में अभिनय या नृत्य करना तो उनके पेशे का मुख्य अंग माना जाता था । राजा-महाराजा उन्हें पर्याप्त सम्मान और पर्याप्त से अधिक धन देते रहते थे; उनसे विचार-विमर्श करते थे; और राज्य के षडयंत्रों में उनका मनमाना उपयोग भी करते थे । गणिकाओं से वादविवाद करके विद्वान अपनी बुद्धि की कसौटी करते थे; रसिक अपनी रसवृत्ति को सान पर चढ़ाते थे और साधारण नागरिक उनके

संपर्क से वाक्‌चातुर्य, व्यवहारज्ञान और कलाप्रियता सीखते थे । कामशास्त्र के विद्वानों ने शिष्टाचार और तहजीब का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गणिकालय से अधिक उपयुक्त स्थान कोई नहीं माना । हमारी वर्तमान शिष्टता के कुछ नियम भी गणिकाओं से आये हों, तो आश्चर्य नहीं ।

उस युग में गणिका का अर्थ था सर्वथा मुक्त स्त्री । विवाह के, परिवार के, या समाज के, किसी भी प्रकार के बंधन से वह पर थी । स्मृतिकारों ने, अपने से नीची जाति के पुरुष से समागम न करने की राय गणिकाओं को दी है ; और कभी कभी उसका पालन भी हुआ है । परंतु यह उनका खुद का लगाया हुआ बंधन था ; समाज का लगाया हुआ नहीं । समाज ने तो उनकी बंधनहीन स्थिति का पूर्णत : स्वीकार कर लिया था । इस बंधनहीनता के कारण ही गणिका का सहवास और समागम उस युग के पुरुषों के लिए एक रोमांचक अनुभव बन गया था । परंतु इस क्षेत्र में सिद्धि हासिल करना आसान बात थी, यह मानने की गलती कोई न करे । उस युग की गणिका केवल देहविक्रय करने वाली पण्यांगना नहीं, बल्कि काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, हाजिरजवाबी और संभाषणकला में पारंगत, बहुमुखी प्रतिभावाली सुशिक्षित और सुसंस्कृत नारी थी । नृत्य, संगीत और वाद्य की तो वह परमनिपुणा कलावती थी और इन कलाओं को उसने बड़ी साधना और तपस्या द्वारा हस्तगत किया था । उसकी कलासाधना चार-छ : महीने तक किसी अर्धज्ञानी नृत्य या संगीतशिक्षक से दो-चार तानबाजियाँ या जघनचालन सीख कर, उस ओछी पूंजी के बल पर अपने आपको नृत्य-संगीत की विशारदा मानने वाली आजकल की शिक्षित और अर्धशिक्षित युवतियों की रेडियो, सिनेमा या रंगभूमि पर दिखाई देने वाली अर्धदग्ध उछलकूद के जैसी निष्प्राण नहीं थी । लंबी तपस्या के बाद ही उन कलावतियों के कंठ से स्वर्गोपम संगीत की सुरावली फूटती थी । उनके हाथ, पाँव, कटि और नयनों के अद्‌भुत विन्यास से एक ऐसी सौंदर्यमयी सृष्टि जाग उठती थी जिसमें रसिकों की सौंदर्यभावना को अत्यंत ऊँचे स्तर पर ले जाने की शक्ति होती थी । उसकी बातचीत में असाधारण चातुर्य और माधुर्य का परिचय मिलता था । उसके शिष्टाचार में विनय, मार्दव और मोहकता का अत्यंत सुभग संयोग पाया जाता था । उसकी हर अदा में पुरुष के पुरुषत्व की गरिमा बढ़ाने वाले स्त्रीत्व के आत्मसमर्पण के दर्शन होते थे । स्त्री की देह, स्त्री की वाणी, और स्त्री के हावभाव में जितने अधिक से अधिक कौशल्य और कलामयता की कल्पना की जा सकती है, वे सब के सब उस युग की कलावती गणिका के देह, वाणी और अभिनय में मानों साकार रूप धारण कर लेते थे । मानी हुई बात है कि ऐसी प्रतिभाशालिनी नारी के सामने गँवार, नौसिखिये या असंस्कृत पुरुष का टिकाव होना मुश्किल था ।

गणिकाओं के अशिष्ट, अश्लील और असंस्कृत मानने की वृत्ति समाज में आमतौर से पायी जाती है । परंतु यह मान्यता भ्रामक और बेबुनियाद है । उस युग के गणिकाजीवन में शिष्टता, मर्यादा, लज्जाशीलता और सुघड़ता का मूल्य बहुत अधिक आँका जाता था जो उसकी आकर्षकता को और भी बढ़ा देता था । कलासाधना से भरे हुए सुसंस्कृत जीवन में किसी प्रकार की अश्लीलता को स्थान नहीं हो सकता । अश्लील मानस या अश्लील आचरण रंचमात्र भी मोहक नहीं होता ; वह तो बीभत्सता और अभद्रता का ही सूचक होता है । सौंदर्य, प्रेम और काम अपने अनाच्छादित रूप की अभिव्यक्ति अश्लीलता के माध्यम से नहीं, अपितु शृंगार की कोमलत्तम भावनाओं के सहारे अभिनय की नाजुक खराद पर चढ़कर संस्कार की कौमुदी में क्रमश : साकार होने वाली प्रतिमा द्वारा ही करते हैं । यह प्रतिमा आच्छादित है या निरावरण यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । चंद्र, सूर्य, तारे, पुष्प, लता और झरनों ने वस्त्र नहीं पहने ऐसी शिकायत कोई नहीं करता । सौंदर्य का दर्शन भी सूर्यचंद्र के अनावृत्त रूपदर्शन के समान भव्य और उन्नायक होता है । समुद्र की लहरें एक के बाद एक आ रही हों, किनारे से टकराकर अपनी शक्ति की सूचना देती हुई लौट जा रही हों कि इतने में इन सारी तरंगों के माथे पर सवार होकर आगे बढ़ने वाली कोई उदात्त लहर जिस प्रकार मार्ग के सब अवरोधों को पार करके, क्षुद्र सीमाओं को अपने प्रवाह में डुबाती हुई दूर दूर तक विकीर्ण हो जाती है, उसी प्रकार सात्विक सौंदर्य भी क्रमश : अपने आच्छादनों को

चीर फेंकता हुआ अंत में नैसर्गिक निरावरणता धारण करके आसमंत को अपने आलोक से भर देता है। अनाच्छादित सौंदर्य संस्कार और मर्यादा की सुरावली से भरी हुई एक लंबी तान है; रसहीन और अमर्याद अशिष्टता की कर्णकर्कश चीख नहीं।

परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उस युग की गणिका अश्लीलता, कुटिलता, ठगविद्या या छलकपट से परिचित ही नहीं थी। वास्तव में इनके सच्चे स्वरूप को गणिकाओं से अधिक और कोई नहीं जानता। चारों ओर से इनसे घिरे रहने पर भी दामन बचाकर आगे निकल जाने के लिए ही वह कला और शिष्टता का आश्रय लेती थी। यह कला और शिष्टता उसे बचपन से आरंभ की हुई कठिन साधना के बाद प्राप्त होती थीं। तपस्या के बिना कोई कला सिद्ध नहीं हो सकती, इसका गणिका से बढ़कर उदाहरण मिलना मुश्किल है। यह कलाप्रेम, सुशिक्षा और सौंदर्योपासना ही जीवन की बीभत्सताओं से उसकी रक्षा करते थे और इन्हीं के सहारे उसे विपुल धनसंपत्ति प्राप्त होती थी। यह बार बार कहा जाता है कि गणिका का धन अशुद्ध मार्गों से प्राप्त किया हुआ होता है। यह बात पूर्णत: असत्य नहीं है। परंतु अशुद्ध मार्गों से धनसंचय कौन नहीं करता, यह प्रश्न शिष्टसमाज के नेताओं से पूछने जैसा है। लाखों की कमाई करने वाले वकील या डाक्टर, शून्य में से सहस्रों की सृष्टि करने वाले सटोड़िये एवं शुभ्रवस्त्र धारण करके काला-बाजार या तस्कर व्यापार द्वारा करोड़ों की संपत्ति जमा करने वाले व्यापारियों की साधनशुचिता गणिका द्वारा प्रयुक्त मार्गों की अपेक्षा किस दृष्टि से ऊँची है, यह समझ में नहीं आता। गणिका का कृत्य समाजविरोधी माना जाता हो, तो उपरोक्त वर्गों के कुकृत्यों को तो उससे कई गुने भयानक अपराध मानना होगा। हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि गणिका के जीवन में खुली स्पष्टता है, जबकि उपरोक्त समाजद्रोही वर्ग अपने को पवित्रता, वैधता और समाजसेवा की नकाब से ढककर अपने पापों पर सामाजिकता का मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश करते हैं। गणिका धन के बदले में अपना सर्वस्व अर्पण करके मिली हुई संपत्ति की पूरी पूरी कीमत चुकाती है और खरीदार के धन का पूरापूरा, प्रतिफल अदा करती है; जबकि सभ्य समाज के ये सफेदपोश ठग उनकी तिजोरियाँ भरने वालों का आदर या स्वागत करने की सभ्यता भी नहीं दिखाते। एक पल्ले में गणिका और दूसरे पल्ले में शिष्टता का स्वाँग धारण करके समाज के दारिद्र्य को वज्रलेप बना देने वाले इन परभृत रक्तशोषकों को रखा जाय, तो इनमें से पाप का बोझ किस पलड़े में होगा, यह कहना मुश्किल नहीं है। पापियों का शिरोमणि चुनने के लिए यदि कोई स्पर्धा हो, तो हृदयहीन डाक्टरों, सिद्धसाधक वकीलों, रिश्वतखोर अफसरों, मुनाफाखोर व्यापारियों, और प्रजा के गाढ़े पसीने की कमाई का दुरुपयोग करने वाले तथाकथित नेताओं में से कोई भी गणिका से बाजी मार ले जायगा। गणिका के व्यवसाय में और चाहे जो बुराई हो, अन्य व्यापारों के जैसा छलकपट नहीं है।

इन सब लांछनों के बावजूद, गणिका अपार धनसंपत्ति प्राप्त कर सकती है। अपनी कला, अपने रूपयौवन और अपने चातुर्य की भारी से भारी कीमत गणिकाओं ने माँगी है और शौकीनों ने शौक से दी है। जातक कथाओं में एक रात्रि के समागमसुख के बदले में एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करनेवाली गणिकाओं का उल्लेख है। कथासरित्सागर में एक घड़ी के समागम के बदले में पांचसौ हाथी मांगने वाली और अपनी मांग को पूरी करवाने वाली गणिका का उल्लेख है मानो उसका प्रेमी हाथियों के झुंड साथ लेकर घूमता हो। इसी ग्रंथ में किसी पराजित राजा को, खोया हुआ राज्य फिर से जीतने के लिए, विशाल सैन्य संगठित कर सकने जितना धन देने वाली गणिका की कथा भी पाई जाती है। उज्जयनी की देवदत्ता नामक गणिका का प्रासाद किसी सम्राट के महल को भी लज्जित कर सकता था। आठवीं शताब्दी के एक चालुक्यकालीन शिलालेख में किसी गणिका ने नगर के मंदिर को दी हुई भारी जागीर का उल्लेख मिलता है।

हम देख चुके हैं कि अत्यंत प्राचीन काल से स्त्रीजाति को पुरुष ने, अपनी सुविधा और आनंद के लिए, दो विभागों में बाँट दिया है। एक विभाग में स्त्री को पत्नी रूप में और दूसरे विभाग में उसे कामिनी

या मन को आनंद देने वाली मैत्रिणी के रूप में देखा गया है । पारिवारिक व्यवस्था गृह और गृह को संभालने वाली गृहिणी की अपेक्षा करती है । अपनी कामप्रवृत्तियों का मनमाना विस्तार करने में रंचमात्र भी हिचकिचाहट महसूस न करने वाली पुरुष जाति ने स्त्री-पत्नी रूप में स्त्री की विशुद्धता का आत्यंतिक आग्रह रखा है । बीज की निर्मलता की अपेक्षा क्षेत्र की विशुद्धि को ही अत्यधिक महत्त्व देने की भावना भारत या पूर्व के देशों में ही नहीं, पूरे संसार में पाई जाती है । ईसाई धर्मयुद्धों में जाने वाले बहादुर मर्द अपनी पत्नियों की विशुद्धता सलामत रखने के लिए उनके गुह्यांगों को ताले लगाकर जाते थे । वंश की विशुद्धि के इस आग्रह की परिणति पत्नी को घर की चहारदीवारी में बंद रखने में हुई । वह सब बालकों की देखभाल में ही लगी रहे ऐसा वातावरण उसके चारों ओर रचा गया । गृहकार्य और बच्चों की परवरिश मिल कर एक स्त्री को चौबीसों घंटे व्यस्त रख सकते हं ; अत : विवाहिता स्त्रियों के लिए, अभी कुछ वर्ष पहले तक चौकाचूल्हा और संतानोंत्पत्ति के सिवा और किसी क्षेत्र में प्रगति करना संभव नहीं होता था । पति की फरमाइश के अनुसार नृत्यसंगीत से उसका मनोरंजन करने की योग्यता हर गृहिणी में नहीं होती । पति जब कला-साहित्य की विद्वत्तापूर्ण चर्चा करना चाहता हो, तब, हो सकता है कि पत्नी को रोते हुए बच्चों को चुप रखना अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई दे । बच्चों का जंजाल बढ़ जाने पर घर को सब कलात्मक ढंग से सजाये रखना आसान बात नहीं ; और दिन के काम से थकी हुई पत्नी के लिए पति की अपेक्षानुसार प्रफुल्लित और उत्साहपूर्ण सहचरी की भूमिका निबाहते हुए वैविध्ययुक्त कामकला का मेघधनुष्य बिखेरना भी संभव नहीं । घर के बोझ से गृहिणी की प्रफुल्लता प्राय : मुरझा जाती है और कभी कभी तो उसे इन बातों के लिए फुरसत ही नहीं मिलती । इस हालत में इस वर्ग के लिए गृहव्यवस्था और संतानपालन में व्यस्त रहकर घर की दीवारों में घुटा रहना ही स्वाभाविक हो जाता है ।

परंतु पुरुष की आनंदोपभोग की इच्छा स्त्री से थके हुए पत्नीत्व की अपेक्षा कुछ अधिक चाहती है । इसकी पूर्ति घर के झंझटों और संतानपालन के जंजाल से मुक्त रहने वाली गणिका ही कर सकती हैं । पत्नी को जिस चातुर्यपूर्ण संभाषण के लिए समय नहीं मिलता, उसे गणिका आसानी से प्रस्तुत कर सकती है । कलासंपादन की जो सुविधाएँ गृहिणी को नहीं मिलतीं, वे गणिका को, बचपन से ही, अनायास मिल जाती हैं ; इतना ही नहीं, कला उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है । बच्चो की उपस्थिति या अन्य पारिवारिक मर्यादाओं के कारण घर के शयनगृह में कामकला का जो वैविध्य और स्वातंत्र्य संभव नहीं होता, वह गणिकागृह में सरलता से मिल सकता है । गणिकागृहों का निर्माण ही इस उद्देश्य से होता है । स्त्री और पुरुष के बीच जिस बुद्धिजन्य और कलाजन्य एकात्मता की भूख होती है ; जिसके लिए पुरुष अकसर तरसता रहता है, उसका पति और पत्नी के मर्यादाबद्ध संबंध में शमन नहीं होता । अलबत्ता, इस प्रश्न का दूसरा पहलू भी है कि सुस्थापित गृह और व्यवस्थित वंशवृद्धि की सुविधा गणिका प्रस्तुत नहीं करती । गणिकागृह का रैनबसेरा स्थायी पारिवारिक जीवन का स्थान कभी नहीं ले सकता । इन दोनों पहलुओं का सम्मिलित परिणाम यह निकलता है कि पुरुष जो चाहता है उसकी संपूर्ण पूर्ति इन दोनों में से एक भी वर्ग नहीं कर सकता । अत : पुरुष के आर्थिक प्रभुत्व के कारण स्त्रीजाति को इन दो विभागों में बँटी रहकर पुरुष की आवश्यकतानुसार दोनों प्रकार की सुविधाएँ अलग-अलग प्रस्तुत करनी पड़ती हैं ।

इन सब तत्त्वों को एकत्रित करक हा हम यह समझ सकते हैं कि प्राचीन युग के सामाजिक जीवन में गणिकाओं ने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कैसे प्राप्त किया होगा कि उनकी दिनचर्या विद्वानों के विचार और विवेचन का विषय हो सकी । इतना ही नहीं, उस युग के विचारकों ने तो यह भी ईमानदारी से मान लिया था कि उपरोक्त परिस्थितियों के कारण स्त्रियों का एक वर्ग पुरुष का मनोरंजन करके उसे आनंद देने का कार्य करता रहे, और इस कार्य को अपना व्यवसाय बना ले, तो इसमें बुराई की कोई बात नहीं । इस स्वीकृति के साथ साथ यह भी मान लिया गया कि जिस प्रकार पुरुषकी दृष्टि से पूरा गणिकावर्ग आनंद का अनुभव कराने वाली पण्यस्त्रियों की एक संस्था मात्र है, जिसमें से वह अपनी इच्छानुसार चुनाव कर सकता है, उसी प्रकार गणिका की दृष्टि से पूरा पुरुषवर्ग उसकी आनंददायिनी शक्तियों को खरीदने वाला

ग्राहक मात्र है । खरीदार वर्ग को खुश रख कर अपनी वस्तु की अधिकाधिक मांग बनाये रखना विक्रेता का आद्य कर्तव्य होता है । अत : गणिका को भी अपने आसपास इस प्रकार के वातावरण की रचना करनी चाहिये कि जिससे ग्राहकवर्ग खुश रहे । कामशास्त्र के ग्रंथों के गणिकावृत्ति संबंधी प्रकरण खरीदार पुरुष को एक विक्रेता या दूकानदार की नजर से देखने की कला गणिकाओं को सिखाते हैं । इस तथ्य का इस रूप में स्वीकार करने में आज हमें संकोच हो सकता है और शर्म आ सकती है । परंतु हमारे पूर्वजों को ऐसा नहीं लगता था । अन्यथा कामसूत्र, अनंगरंग, कुट्टनीमतम् या समयमातृका जैसे ग्रंथों की रचना ही नहीं हो सकती थी । ये ग्रंथ गणिकावृत्ति को केवल एक व्यवसाय की दृष्टि से देखते हैं ; गणिका के लिए उचित आचरण का निर्धारण करते हैं ; उसकी दिनचर्या का विवेचन करते हैं, और अपने व्यवसाय की सीमा में रहकर वह सुखी और समृद्ध जीवन कैसे व्यतीत कर सकती है, इसका मार्गदर्शन करते हैं । ।

अर्थशास्त्र जिस प्रकार केवल कामशास्त्र का ही ग्रंथ नहीं है, उसी प्रकार वात्स्यायन-कामसूत्र में केवल गणिकावृत्ति का ही निरूपण नहीं हुआ है । वात्स्यायन ने चतुर्वर्ग में से एक पुरुषार्थ-काम-का विविध संदर्भों में विवेचन किया है जो समस्त पुरुषजाति और समस्त स्त्री जाति-विवाहित या अविवाहित, कुलीन या सार्वजनीन — सब के लिए उपादेय हो सकता है । वैशिक प्रकरण इस बृहत् ग्रंथ का एक अध्यायमात्र है । पूरे ग्रंथ में स्त्री के स्वकीया और सामान्या — पत्नी और गणिका — दोनों रूपों को उपयोगी हो सकने वाले सूत्रों की योजना की गई है । परंतु हमारे अध्ययन का विषय गणिकावृत्ति होने के कारण कामसूत्र में वर्णित, मनुष्य के समग्र कामजीवन को आनंदमय, कल्याणकारी और उन्नायक बनाने के व्यापक साधनों का विवेचन करना यहां आवश्यक नहीं है । कामशास्त्र का यह ग्रंथ अत्यंत तटस्थवृत्ति और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से संयमपूर्ण भाषा में लिखा गया है । परंतु कामविज्ञान का विषय अपने आपमें इतना उत्तेजक है कि कभी कभी इस ग्रंथ का पठन या उसके विषयों का निरूपण करना भी संयम की कसौटी सिद्ध हो सकता है । अगले परिच्छेद में वात्स्यायन-कामसूत्र के वैशिक प्रकरण का विस्तृत अध्ययन करने से पहले हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र के गणिकावृत्ति-संबंधी विधानों का विचार कर लें । कुट्टनीमतम् और समयमातृका का अध्ययन अंत में किया जायगा ।।

४
कौटिल्य का अर्थशास्त्र

हम देख चुके है कि अर्थशास्त्र केवल कामशास्त्र विषयक ग्रंथ नहीं है । राजनीति और राज्यानुशासन उसका प्रधान विषय है और वेश्या वृत्ति का उल्लेख राज्य की शासन व्यवस्था के एक विभाग के रूप में ही हुआ है । गणिकाओं का नियमन और राजनैतिक षडयंत्रों में उनका उपयोग इस ग्रंथ की कक्षा में आने वाले विषय हैं, जिनका विवेचन मुख्यत : प्रशासकीय दृष्टिकोण से किया गया है । विंष्णुगुप्त, चाणक्य और कौटिल्य,इन विभिन्न नामों से प्रसिद्ध महान प्रतिभाशाली ब्राह्मण ने नंदवंश का नाश करवा कर चंद्रगुप्त मौर्य को पाटिलपुत्र की राजगद्दी पर बिठाया । चंद्रगुप्त ने सिकंदर के सामंत सेल्यूकस को हरा कर सम्राटपद धारण किया । चंद्रगुप्त के दरबार में नियुक्त होने वाले यूनानी राजदूत मॅगॅस्थिनिस ने तत्कालीन भारत का सुंदर वर्णन किया है, जो आज भी प्रमाणरूप माना जाता है । मॅगॅस्थिनिस के वर्णनों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निरूपित समाजव्यवस्था के बीच अत्यधिक साम्य पाया जाता है । यह तथ्य कौटिल्य के ग्रंथ की विश्वसनीयता का सबसे प्रबल प्रमाण उपस्थित करता है । अर्थशास्त्र की रचना ईसवी सन पूर्व ३२० से ३०० के दरमियान हुई थी । भगवान् बुद्ध का जन्म इससे दो सौ वर्ष पहले हो चुका था, परंतु चाणक्य के समय तक उनका निर्वाणमार्ग व्यापकधर्म या राजधर्म नहीं हो पाया था । बौद्ध धर्म का देशव्यापी प्रभुत्व अशोक के कलिंगविजय के बाद ही स्थापित हुआ था । अत : ऐतिहासिक दृष्टि से कौटिल्य का अर्थशास्त्र

बुद्ध के बाद की रचना होनेपर भी उसे आर्य संस्कृति के अंतिम चरण का सबसे प्रभावशाली ग्रंथ माना जा सकता है ।

पूरे अर्थशास्त्र का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है । वह पुराना युग आजके युग से अनेक दृष्टियों से भिन्न था अत: उसके कुछ विधान आज हमें विचित्र दिखाई दे सकते हैं । आज ही नहीं, आज से तेरह-चौदह शताब्दियों पहले, कादंबरीकार बाणभट्ट को कौटिल्य की राजनीति भयावह और निर्दय दिखाई दी थी । एक स्थान पर वह कहते हैं, ''हृदयहीन और दयाहीन दंडविधानों से एवं क्रूर प्रकृति की सूचनाओं से भरे हुए अर्थशास्त्र को आधार मानकर चलने वालों से सत्कर्म की आशा कैसे की जा सकती है ? ऐसे वज्रहृदयी' पुरोहित जहाँ राजनीति और समाजनीति के पथ प्रदर्शक माने जाते हों, उस समाज से न्याय की आशा रखना व्यर्थ है ।'' कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विषय में आज के समाज का मत भी इससे मिलता जुलता हो सकता है । कुछ शताब्दियों बाद आज की व्यवस्थाएँ भी इतनी ही विचित्र या निर्दय दिखाई दे सकती हैं । परंतु वर्तमान युग में प्रचलित पश्चिम के युद्धतंत्र और जासूसतंत्र को देखते हुए तेईस शताब्दियों के बाद आज की राजनीति चाणक्य की नीति से रत्तीभर भी अधिक सौम्य हो पाई है, यह नहीं कहा जा सकता ।

अर्थशास्त्र के इस बृहत् ग्रंथ में गणिकाओं संबंधी उल्लेख अनेक स्थानों पर बिखरे हुए हैं । यहाँ हम उनमें से कुछ का अध्ययन करेंगे । गुप्तचर-प्रकरण में इक्कीसवें सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य चाणक्य कहते हैं : ''कोई संदेशवाहक सांकेतिक भाषा में संदेश लेकर आये, और जान-पहचान न होने के कारण उसका राजमहल में प्रवेश न हो सके, तो उसे अपना संदेश गणिकाओं द्वारा भेजने का प्रयत्न करना चाहिये ।'' राजमहल में गणिकाओं का मुक्त संचार होने के कारण इस युक्ति से तो हमें अधिक आश्चर्य नहीं होता, परंतु उस युग में सांकेतिक लिपि का प्रयोग होना वाकई आश्चर्यजनक है । पिछले विश्वयुद्ध में इसका व्यापकता से उपयोग हुआ था, और इसके कई कोश भी प्रकाशित हुए हैं । राजा की वैयक्तिक सुरक्षा के प्रकरण में ४३ वें सूत्र की व्याख्या करते हुए कौटिल्य लिखते हैं: ''राजा अपने शयनगृह से निकल कर प्रांगण में आ जाय, तब धनुष्य-बाणधारी स्त्री-सैनिकों का दस्ता उसे सलामी दे । राजमहल में स्नानागार और शयनागार की व्यवस्था देखने के लिए और फूलमालाएँ पिरोने के लिए गणिकाओं की नियुक्ति की जाय । राजा के जल, सुगंधित द्रव्य, वस्त्र, या फूलमालाएँ देने से पहले महल के सेवकों और गणिकाओं द्वारा उनकी चखकर, सूंघकर और टटोलकर कड़ी जाँच की जाय । बाहर से आनेवाला कोई भी आदमी राजा को भेंट-सौगात अर्पण करे, तो राजा के उपयोग से पहले इन चीजों की भी उपरोक्त प्रकार से परीक्षा की जानी चाहिये ।''

उस युग में रोजगार-व्यवसाय की स्थिति शायद आजसे कुछ बेहतर थी । बेकारी का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वस्त्रोद्योग में कताई-बुनाई के विभागों के अध्यक्ष अलग-अलग होते थे। सूत्र, वस्त्र, डोरियाँ, निवाड़ आदि की बुनाई के अलग-अलग प्रकार की योग्यता वाले कारीगरों की नियुक्ति की जाती थी । इन सब कामों में विधवाओं, अपंग स्त्रियों, परित्यक्ताओं, निराधार बालिकाओं, साध्वियों, दंडित अपराधियों, गणिकामाताओं, राजमहल की वृद्ध दासियों, और देवालय की सेवा से निवृत्त गणिकाओं को अग्रक्रम देने का विधान पाया जाता है । इस सूची में गणिकामाताओं और देवालय की सेवा से निवृत्त गणिकाओं का उल्लेख विशेष रूप से विचारणीय है । इस से यह प्रमाणित होता है कि वह युग हम मानते हैं उतना हृदयहीन और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त से संचालित नहीं था । कलंकिनी होने पर भी इन स्त्रियों की जीवनभर अवहेलना नहीं की जाती थी । योग्य काम देकर इन असहाय स्त्रियों के लिए जीवनयापन के पर्याप्त साधन जुटा देने का प्रयत्न किसी भी युग में सराहनीय माना जायगा । इन स्त्रियों में उनके विगत रूपयौवन की याद दिलाने वाले कुछ लक्षण बच जाते होंगे । अत : सत्ताधीश अधिकारी इससे फायदा न उठायें इस हेतु से प्रेरित होकर भगवान कौटिल्य ने उनकी ओर घूरकर देखने वाले अफसरों के लिए कठोर दंड का विधान किया है ।

गणिकाजीवन संबंधी अधिकांश बातों का स्पष्टीकरण अर्थशास्त्र के २७वें अध्याय में हुआ है। इनमें से कुछ व्यवस्थाओं का हम संक्षेप में विचार करेंगे। इस अध्याय में राज्य के गणिकाविभाग का और उस विभाग के अध्यक्ष के कर्तव्यों का विस्तृत विवेचन हुआ है। राज्यशासन के विभिन्न विभागों की रचना युगविशेष की सामयिक माँगों के अनुसार होती है। जिस युग में गणिकाओं के नियमन के लिए शासन को किसी सुयोग्य अधिकारी के मातहत एक अलग विभाग की स्थापना करनी पड़े, उस युग के सामाजिक जीवन में गणिकाओं का कितना महत्त्व रहा होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। आज के समाजविधायक कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन अवश्य करें। उसमें उन्हें बहुत सी ज्ञातव्य और अनुकरणीय बातें मिल सकती हैं। राजमहलों के अंत:पुर की व्यवस्था में गणिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। नहा-धोकर, सुंदर वस्त्राभूषणों से सजी हुई रूपाजीवाओं की अंत:पुर के अनेकविधि कार्यों में नियुक्ति करने की स्पष्ट अनुमति चाणक्य ने दी है। गणिकाविभाग के मुख्याधिकारी का एक काम यह भी माना गया है कि वह वार्षिक एक हजार पण के वेतन पर महल की प्रधान गणिका की नियुक्ति करे। वह गणिका वेश्यापुत्री हो या न हो, पर अपने रूपयौवन और कलाप्रावीण्य के लिए प्रसिद्ध होनी चाहिये। उससे स्पर्धा करने के लिए — पर्याय से उसे अपने कर्त्तव्य के प्रति सब जागरूक रखने के लिए — उससे आधे वेतन पर एक प्रतिगणिका की नियुक्ति भी की जाती थी। इन दोनों में से किसी गणिका की मृत्यु हो जाय, वह बीमार हो, या विदेश चली गई हो, तो उसका स्थान उसकी बहन को दिया जा सकता था, और इस हालत में वह पूरा वेतन प्राप्त कर सकती थी। यह न हो सके, तो उसका स्थान लेने के लिए उतनी ही योग्य और कलावती गणिका ढूंढ कर लाने की जिम्मेदारी उसकी माता पर डाली जाती थी इसमें की कोई व्यवस्था न हो सके, तो उसकी संपत्ति सरकार में जमा कर दी जाती थी। किसी भी हालत में उसके पुत्र, संबंधी, या अन्य किसी पुरुष को उसकी संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था। राजनियुक्त गणिका यदि स्वतंत्र होना चाहे, तो उसे निष्क्रिय मूल्य के रूप में चौबीस हजार पण राज्यकोष में जमा करवाने पड़ते थे; जबकि राजदरबार की सेवा छोड़ कर किसी अन्य व्यक्ति का आश्रय स्वीकार करने वाली गणिका को केवल सवापण का मासिक कर राज्य को देना पड़ता था। इन दोनों अवस्थाओं में इतना अधिक अंतर क्यों रखा गया होगा, यह समझ में नहीं आता।

राजा जिस समय दरबार में सिंहासन पर बैठा हो, रथ में बैठकर कहीं जा रहा हो, या न्यायदान के लिए राजमहल के झरोखे में बैठा हो, उस समय राजछत्र, पंखा, चँवर, सुवर्ण की झारी इत्यादि धारण करने के लिए महल की सर्वोत्कृष्ट रूपवती गणिकाओं की नियुक्ति की जाती थी। इससे राजा की प्रतिष्ठा और रौबदाब बढ़ता है, ऐसी मान्यता थी। महल की बाकी गणिकाओं को उनके रूपयौवन और चातुर्य के हिसाब से तीन वर्गों में बाँट दिया जाता था। रूपयौवन नष्ट हो चुकने वाली गणिकाओं की नियुक्ति परिचारिकाओं के रूप में की जाती थी और भोग के लिए नितांत अपात्र हो चुकने वाली वृद्धगणिकाओं की रवानगी राजमहल में रसोईघर या कोठार में कर दी जाती थी। नगर की अन्य गणिकाओं के संबंध में कौटिल्य से निम्नलिखित आदेश दिये हैं:— "प्रमुख गणिकाधिकारी को नगर की प्रत्येक गणिका के आय-व्यय का हिसाब रखना चाहिये और भविष्य में उनकी आय कितनी हो सकती है, इसका अंदाज लगाना चाहिये। यदि वे अपव्यय करती दिखाई दें, तो इसकी जानकारी भी रखनी चाहिये। अपनी माता के सिवा अन्य किसी व्यक्ति को धन या स्वर्णाभूषण देने वाली गणिका पर सवाचार पण और अपनी संपत्ति गिरवी रखनेवाली गणिका पर पचास पण का जुरमाना किया जाय। किसी की निंदा, अपमान या बदनामी करने वाली गणिका को २४ पण, किसी से मारपीट करने वाली को ४८ पण और किसी ग्राहक का कान काटने वाली गणिका को ५० पण के जुरमाने की सजा दी जाय। गणिका की इच्छा के विरुद्ध उसका उपभोग करने वाले को और नाबालिक गणिकापुत्री पर बलात्कार करने वाले को कठोर से कठोर दंड दिया जाय। (जो कौटिल्य के नियमानुसार संपत्ति की कुर्की और देशनिष्कासन तक हो सकता था)।

गणिका की इच्छा के विरुद्ध उसे बंधन में रखनेवाले, उसे व्यथा पहुँचाने वाले या उसके मुख या देह को विकृत करने वाले पुरुष को कम से कम एक हजार पण का अर्थदंड दिया जाय । विशिष्ट परिस्थितियों में, गणिका की कक्षा आदि का विचार करते हुए, दंड की रकम गणिका के निष्क्रय-मूल्य (२४,००० पण) से दुगुनी तक हो सकती है । इस प्रकार का दुर्व्यवहार राजमहल में नियुक्त गणिका के साथ करने वाले को निष्क्रय मूल्य से तिगुनी रकम तक का दंड दिया जा सकता है । गणिका की माता, दसकी नाबालिक पुत्री या बहिन, और रूपदासी (महलों में फूल-माला, इत्रफुलेल, चंद्रन, तांबूल आदि की व्यवस्था करने वाली गणिका) को व्यथा पहुँचाने वाले को भी उपरोक्त नियमानुसार दंड दिया जाय । प्रथम अपराध के लिए कुछ सौम्य, दूसरी बार कुछ कठोर, तीसरी बार अत्यंत कठोर, और चौथी बार अपराध करने वाले को राजा की इच्छानुसार अधिक से अधिक दंड दिया जाना चाहिये ।''

गणिकाओं और उनके उपभोक्ताओं के आपसी संबंधों का नियमन करने के लिए भी कौटिल्य ने व्यापक आदेश दिये हैं:— ''राजाज्ञा का उल्लंघन करके कोई गणिका किसी भी पुरुष को देहार्पण करने से इनकार करे, तो उसे एक हजार कोड़े और पाँच हजार पण के जुरमाने तक की सजा दी जाय । निश्चित की हुई रकम लेकर देहार्पण करने में आनाकानी करने वाली गणिका पर प्राप्त रकम से दुगुनी रकम का और ग्राहक को मनचाहा आनंद न देने वाली गणिका पर प्राप्त रकम से आठ गुनी रकम का जुरमाना किया जाय । परन्तु उपभोक्ता पुरुष यदि रोगी या विकलांग हो, तो गणिका को उसकी रकम लौटाकर देहार्पण से इनकार करने का अधिकार है । ग्राहक की हत्या करने या करवाने वाली गणिका को जीवित जलाकर, या पानी में डुबाकर, या दम घोंटकर मार डालना उचित है । उपभोग के बदले में निश्चित की हुई रकम गणिका को न देने वाले, उसके आभूषणों की चोरी करने वाले, या उसे किसी भी प्रकार से धोखा देने वाले पुरुष पर तय की हुई रकम से आठ गुनी रकम का जुरमाना किया जाय । प्रत्येक गणिका को अपनी दैनिक आय, भविष्य में अपेक्षित आय, और उसके साथ संबंध रखने वाले प्रेमियों के नाम आदि की सही और संपूर्ण जानकारी गणिकाधिकारी को अनिवार्य रूप से देते रहना चाहिये । हर महीने प्रत्येक गणिका को अपनी औसत दैनिक आय से दुगुनी रकम कर के रूप में सरकारी खजाने में जमा करवानी चाहिये । गणिका की मरजी के विरुद्ध उसका उपभोग करने वाले पुरुषों पर किये जाने वाले जुरमाने की रकम भी राज्यकोष में जमा की जाय ।''

कौटिल्य ने गणिकाजीवन से संबंधित या उससे मिलते जुलते व्यवसाय करने वालों के नियंत्रण के लिए भी कुछ नियम निश्चित किये हैं:— ''नाटकों में अभिनय करने वाले नट-नटी, नर्तक-नर्तकी, गवैये-बजवैे, वाग्जीवी भांड, नकल करने वाले नकलची, तार पर नाचनेवाले नट, हस्तलाघव के प्रयोग करने वाले जादूगर, भाट-चारण, गणिकाएँ उपलब्ध करने वाले दलाल, कुट्टनियाँ और व्यभिचारिणी स्त्रियों का विचार भी उपरोक्त नियमों के अनुसार करना चाहिये । इन वर्गों के लोग विदेश से आये हों, तो उन्हें प्रेक्षाकर के रूप में पाँच पण राज्यकोष में जमा करवाने चाहिये । गणिकाओं, दासियों और नटियों को नृत्य, संगीत, वाद्य, अभिनय, चित्रकारी आदि कलाएँ; पुष्पमाला गूँथने की, इत्र फुलेल बनाने की और मालिश करने की निपुणता; एवं पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए कुशल कलाकारों की नियुक्ति राज्य द्वारा होनी चाहिये । उनका वेतन राज्यकोष से चुकाया जाय । गणिकापुत्रों को भी इनमें से कोई उपयोगी कला या कारीगरी सिखा कर उनके लिए जीवनयापन का साधन उपलब्ध कर देने की जिम्मेदारी भी राज्यशासन की है । इन वर्गों की अन्य स्त्रियों को, और उपरोक्त कलाकारों की पत्नियों को विभिन्न भाषाएँ सिखानी चाहिये, और दुष्टों एवं जासूसों को कानून के पाश फँसाने के लिए उनका उपयोग करना चाहिये ।''

गणिकाओं और नटियों का राजनीतिक षडयंत्रों में अधिकाधिक प्रयोग करने पर कौटिल्य ने कदम-कदम पर बल दिया है । किसी की निंदास्तुति या अफवाएँ फैलाने के लिए नाट्यगृहों और मद्यालयों को

अत्यंत उपयुक्त स्थान माना है । पड़ौस के राज्यों में फूट डालकर उनमें झगड़ा करवाने के लिए तो कौटिल्य की स्पष्ट राय है कि गणिकाओं और नटियों के रूपयौवन का अधिक से अधिक उपयोग किया जाना चाहिये । इन स्त्रियों के समुचित प्रयोग द्वारा ऊँचे से ऊँचे पुरुष की बदनामी की जा सकती है और समाज में उसकी प्रतिष्ठा को नष्ट किया जा सकता है । राज्यद्रोही या विदेशी जासूसों को ढूंढ निकालने के लिए, कौटिल्य के मतानुसार, सुंदरी वारांगना से अधिक प्रभावशाली और कोई साधन नहीं । वासनाप्रेरित दुर्गुणों और अपराधों का भी कौटिल्य ने विस्तृत विवेचन किया है । शिकार, जुआ, मद्यपान और वेश्यागमन मनुष्य के चार प्रधान व्यसन माने गये हैं जिनका एक दूसरे से अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है । आज भी इस स्थिति में विशेष फर्क नहीं पड़ा है ।

'अर्थशास्त्र' का प्रधान विषय राजनीति और शासन व्यवस्था होने के कारण कामशास्त्र की सविस्तर चर्चा उसमें न हुई हो, यह स्वाभाविक है । सवा दो हजार वर्ष पहले रचे गये इस ग्रंथ की बहुत सी बातें आज हमारी समझ में नहीं आतीं । पुरुष का कान काटने वाली गणिका को दंड की पात्र माना गया है; पर नाक का कोई उल्लेख नहीं हुआ ! गणिकागामी पुरुष की नाक तो पहले ही कट जाती है, शायद यह मान कर ही उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया होगा । गणिका की इच्छा के विरुद्ध उससे संभोग करने वाले पुरुष के लिए कठोर से कठोर दंड का विधान करने वाले कौटिल्य राजाज्ञा का भंग करके देहार्पण से इनकार करने वाली गणिका के एक हजार कोड़े मारने की सजा का विधान करते हैं। एक हजार कोड़े खाकर गणिका तो क्या गैंडे के चमड़े वाला निर्लज्ज से निर्लज्ज गुंडा —फिर चाहे वह सतयुग का हो, चाहे कलियुग का — भी कैसे जीवित रह सकता होगा, यह समझ में नहीं आता । उपभोग की कीमत करके देहार्पण में आनाकानी करने वाली गणिका को प्राप्त रकम से आठ गुनी रकम के दंड की पात्र माना गया है । परंतु ऐसी शिकायत न्यायालय में करने की हिम्मत कौन सा पुरुष कर सकता होगा; और उसे प्रमाणित कैसे किया जाता होगा ? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर अर्थशास्त्र में नहीं मिलता । परंतु ऐसी तो अनेक विचित्रताएँ है जिनसे यह ग्रंथ भरा पड़ा है । उदाहरणार्थ, मध्यरात्रि के बाद अपने मकान के छप्पर पर चढ़ने वाले को भी अपराधी मानकर दंडपात्र घोषित किया गया है । आज के युग में उसे अपराधी मानने की अपेक्षा पागल मानने की वृत्ति ही अधिक पाई जायेगी । घर के छप्पर में ऐसा क्या होता होगा, जो आदमी आधी रात के बाद उस पर चढ़ने को प्रेरित करे ? अलबत्ता, दूसरे के घर के छप्पर पर चढ़ने वाले को तो रात में ही नहीं, दिन में भी अपराधी माना जा सकता है ।

परंतु इन सब विलक्षणताओं के बावजूद कौटिल्य के सूत्रों में इतने सनातन सत्यों, इतनी गहरी सूझबूझ, और इतने उच्च कोटि के तत्त्वज्ञान के दर्शन होते हैं कि उनके रचयिता के समक्ष आज भी हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है । कुलीन स्त्री से ही नहीं, बल्कि गणिका से भी बलात्कार-संभोग करने वाले पुरुष के लिए कठोरतम दंड का विधान करने वाले भगवान कौटिल्य के मन में स्त्रीजाति के प्रति अपार श्रद्धा रही होगी । उनके एक सूत्र में उनकी पूरी राजनीति का सार आ जाता है । प्राचीन युग के राजाओं और आज के युग में लोकतंत्र-पद्धति से चुने जानेवाले नेताओं, दोनों के लिए यह सूत्र सर्वकाल में उपयोगी सिद्ध हो सकता है । आचार्य चाणक्य कहते हैं : ''प्रजा के सुख में ही राजा का सुख समाया हुआ है । प्रजा की समृद्धि ही राजा की समृद्धि है । अपने मन को भाये वह नहीं, बल्कि प्रजा के मन को भाये वही इष्ट है, यह तथ्य किसी भी राज्यकर्ता को कभी नहीं भूलना चाहिये ।'' राजनीति में इससे गहन सत्य और इससे आदर्श और क्या हो सकता है ?



आठवाँ परिच्छेद

वात्स्यायन-कामसूत्र (वैशिक प्रकरण)

१

वैशिक विभाग का प्राथमिक विवेचन

वात्स्यायन ने सामान्या (गणिका) को तीन विभागों में वर्गीकृत किया है : (१) गणिका (२) रूपाजीवा और (३) कुंभदासी । गणिका को उत्तम, रूपाजीवा को मध्यम और कुंभदासी को अधम प्रकार की पण्यांगना माना गया है । आज के युग में भी, नाम चाहे बदल गये हों, पर मूलत : इस परिस्थिति में विशेष अंतर नहीं पड़ा है । वेश्याओं को इन तीन प्रकारों में विभाजित कर के वात्स्यायन ने केवल अपने समय की ही नहीं, बल्कि सभी युगों की पण्यांगनाओं का एक यथार्थवादी वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । इनमें से प्रत्येक विभाग का उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ में विभाजन करकेवात्स्यायन ने सब मिल कर नौ प्रकार की वारांगनाओं की चर्चा की है ।

गणिका, रूपाजीवा और कुंभदासी, तीनों का व्यवसाय तो एक ही था : देहविक्रय से धन प्राप्त करना । तीनों को जीवनयापन के लिए अपने रूप-यौवन का उपयोग करना पड़ता था । फिर भी गणिका को उत्तम क्यों माना गया है ? कारण स्पष्ट है : इस प्रकार की वारागना में कलानिपुणता, सौंदर्य और आक्चातुर्य का सर्वोत्कृष्ट विकास पाया जाता था । सर्वोच्च कोटि की वारांगनाएँ अपने रूपयौवन या देह का दुरुपयोग कभी नहीं होने देतीं । धन के लिए वे कलाविक्रय चाहे जहां कर सकती थीं, परंतु धन के बदले में चाहे जिस पुरुष को, चाहे जैसी परिस्थिति में देहविक्रय करने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती थी । नाममात्र का धन दे सकने वाला निर्धन रसिक यदि अधिक उदार, सुंदर और चतुर हो, तो उसके लिए वे बड़े-बड़े धनपतियों की मांग को ठुकरा सकती थी । देहसमर्पण भी वे इतन संयमित ढंग से करती थीं कि रूपयौवन अधिक से अधिक समय तक बना रहे । चौसठ कलाओं की वे जानकार होती थीं, और काव्य, साहित्य और शास्त्र चर्चा में प्रवीण होती थी । राजघराने के धनिक और सत्ताधीश पुरुष को ठुकरा कर दरिद्र चारुदत्त को चाहने वाली गणिका वसंतसेना का उदाहरण अत्यंत प्रसिद्ध है । धन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी वैयक्तिक भोगविलास की अपेक्षा धर्मकार्य की ओरं अधिक झुका रहता था । देवालय, कुएँ-तालाब, पुल और पांथशाला जैसे सार्वजनिक कल्याण के आयोजनों में धन खर्च करने को वे सदा तत्पर रहती थी । यज्ञशालाएँ बनवाने में, बनदक्षिणा देने में, एवं सार्वजनीन बागबगीचे या वृक्षकुंजों की स्थापना करने के लिए अपना सर्वस्वा अर्पण करने वाली गणिकाओं के उदाहरण प्राचीन साहित्य में बहुतायत से पाये जाते हैं । अपने प्रेमियों से मिलने वाले धन के अधिकांश का वे इन्हीं सत्कार्यों में व्यय करती थीं । अलबत्ता, इसके कारण अपने देहशृंगार, गृहशृंगार और कलासाधना के आवश्यक उपकरणों में वे किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ने देती थी । वेश्याजीवन की अशिष्टता और अमर्यादाओं से अच्छी तरह परिचित होने पर भी उनमें गृहिणी की सी मर्यादा पाई जाती थी । स्त्रीस्वभाव की सहज प्रवृत्ति के कारण अपने प्रेमी को पूरी तौर से खुश करने की इच्छा उनमें सतत जागृत रहती थी ; परंतु इसके लिए अश्लीलता या निर्लज्जता की सहायता लेने की आवश्यकता शायद उन्हें कभी नहीं पड़ती थी ।

रूपाजीवा की व्याख्या इस शब्द से ही स्पष्ट हो जाती है । मध्यम प्रकार की यह वेश्या अपने रूप और देह के सहारे ही जीवनयापन कर सकती थी । धर्म, परोपकार या श्रद्धा-भक्ति की अपेक्षा स्वार्थसाधन की चिंता ही उसे अधिक रहती थी । अपने लिए विविध प्रकार के सुवर्णालंकार बनवाना, घर को

विलासमय ढंग से सजाना, बड़े बड़े धनपतियों को भी नीचा दिखाने वाले शृंगार और विलास के उपस्करों के अंबार लगाना; एवं दास-दासी, रथ-घोड़े-पालकी इत्यादि आडंबरों से सुसज्ज रहना ही इस श्रेणी की गणिकाओं का मुख्य उद्देश्य होता था । मानी हुई बात है कि इसके लिए उन्हें अपने प्रेमियों से प्रचुर प्रमाण में धन मिलता रहना चाहिये । अत : उनकी शक्तियाँ कलासाधना या काव्यशास्त्रविनोद की अपेक्षा किसी भी कीमत पर अपने प्रेमियों को खुश रखने में ही अधिक खर्च होती थी । गणिका की अपेक्षा रूपाजीवा में संस्कारिता और सुघड़ता कम प्रमाण में पायी जाती थी, और अकसर इन दोनों की कमी रंगीनी और मादकता से पूरी की जाती थी । अपने प्रेमी पसंद करने में भी उन्हें रसिकता या संस्कारिता का विशेष आग्रह नहीं होता था । धन और रसिकता या धन और औदार्य के बीच चुनाव करने का मौका आये, तो धन के प्रति ही उनका झुकाव होने की संभावना अधिक रहती थी । कला से उनकापरिचय अवश्य होता था, पर उसके प्रति श्रद्धा होना आवश्यक नहीं था । धनप्राप्ति के एक साधन के रूप में ही उसे थोड़ा-बहुत महत्त्व दिया जाता था । प्रेमी क मनचाहे धरातल पर उतरकर उसका मनोरंजन करने को वे सदा तत्पर रहती थीं । उच्च कक्षा के सुसंस्कृत प्रेमी के साथ रसिकता और वाक्यचातुर्य का प्रयोग वे कर सकती थीं, परंतु नीची कक्षा के प्रेमियों को खुश करने के लिए मर्यादा का उल्लंघन करना पड़े, तो इसमें भी उन्हें कोई एतराज नहीं था ।

कनिष्ठ प्रकार की पण्यांगनाएँ कुंभदासी के नाम से पहचानी जाती थीं । इसे केवल देहविक्रय करने वाली वेश्या कहा जा सकता है जिसमें रसिकता या कलाप्रेम नाममात्र का ही होता था । रूपलावण्य के अभाव को तड़कमड़क सजधज से पूरा कर लिया जाता था । कामकेलि के निकृष्टतम प्रकारों के लिए ये सब तैयार रहती थीं, और स्पष्ट रूप से आवाहन करके ग्राहकों को आकर्षित करने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी । कला की साधना की अपेक्षा कला के विकृत भौंडे और अश्लील प्रयोग से कामोद्दीपन करना ही उनका मुख्य ध्येय होता था । उदाहरण स्वरूप, उनके नृत्य मे शास्त्रीय भावाभिनय और तालबद्ध पदविन्यास की अपेक्षा कामुद देह-प्रदर्शन अश्लील जघनसंचालन के दर्शन ही अधिक होते थे । यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि किसी भी प्रकार की शृंगारचेष्टा — फिर चाहे वह गणिका की हो, चाहे विवाहिता कुलस्त्री की — अंत में देहसंभोग में ही परिणत होती है । और देहसमागम का हम चाहे जितना उदात्तीकरण करें, अंततोगत्वा वह शारीरिक धरातल पर होने वाला अत्यंत स्थूल प्रकार का आनंदानुभव है । तो फिर देहसंभोग में परिणत होने वाले गणिका के कामुक से कामुक व्यवहार को निकृष्ट या निर्लज्ज क्यों माना जाय । इसका उत्तर स्पष्ट है : शृंगारचेष्टा क देहसंभोग में परिणत होने के बावजूद शृंगारिक उपचारों की या नारीसुलभ लज्जा और मर्यादा की कीमत कम नहीं आँकी जा सकती । रसिकों का तो यहाँ तक कहना है कि सच्ची रसिकता और सच्चे आनंद की अनुभूति प्रत्यक्ष संभोग की अपेक्षा इन उपचारों में ही अधिक होती है । स्थूल से स्थूल धरातल पर होने वाले शरीर संभोग को भी रसिकता और प्रेमोपचारों के सहारे अधिक आनंदप्रद बनाया जा सकता है । परंतु कुंभदासी का रसिकता से कोई स्वाभाविक लगाव नहीं होता था, और होता भी होगा, तो अत्यंत हीन कोटिका । उसकी बातचीत में भी चातुर्य, धर्मचर्चा या काव्यशास्त्र विनोद की अपेक्षा वस्त्राभूषण, खाद्यपदार्थ, मद्य-आसव और इत्रफुलेल आदि भोगविलास के साधनों की चर्चा ही अधिक होती थी । उसे केवल धन से सरोकार था; धन देने वाला कौन है, कैसा है, इत्यादि गौण बातों की उसे विशेष चिंता नहीं थी । इस हालत में प्रेमी को पसंद या नापसंद करने का सवाल ही नहीं उठता । जो धन दे सकता था, वह कुंभदासी का देहोपभोग कर सकता था ।

धनप्राप्ति की दृष्टि से भी कामविज्ञान के आचार्यों ने गणिका को सर्वश्रेष्ठ, रूपाजीवा को साधारण और कुंभदासी को कनिष्ठ माना है । प्रेम, देह और रूपयौवन को जितना सस्ता और सुगम बना दिया जाय उतना ही उनके प्रति मनुष्य का आकर्षण कम होता जाता है । हम देख चुके हैं कि जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान वेश्याजीवन भी इस सिद्धान्त से संचालित है । मांग, पूर्ति, खपत, और बाजारभाव संबंधी अर्थशास्त्र

के नियम मानवदेह, मानवप्रेम, और मानवसौंदर्य के संबंध में भी चरितार्थ होते हैं । कीमत बढ़ानी हो, तो प्राप्ति को अधिक से अधिक कष्टसाध्य बनाना आवश्यक है ।

गणिका और रूपाजीवा को उनके उच्च धरातल पर रहने देकर निम्न श्रेणी की वेश्याओं के वात्स्यायन ने सब मिलाकर सात प्रकार गिनाये हैं । इनमें से प्रथम प्रकार है कुंभदासी । इसके बाद के छहों प्रकार सस्वास्वरूप धारण करने वाली वेश्यावृत्ति के नहीं, अपितु सामाजिक या आर्थिक कारणों से, वेश्यावृत्ति के मुख्यतत्त्व देहविक्रय के दायरे में आ जाने वाली स्त्रियों के हैं । इन प्रकारों को वेश्याजीवन का विस्तार माना जा सकता है, जो देह के क्रय-विक्रय को अधिक व्यापक बना देते हैं । 'यत्र धूम तत्र अग्नि' के समान 'जहाँ देहविक्रय वहाँ वेश्यावृत्ति', इस व्याप्ति के आधार पर ही वात्स्यायन ने इन प्रकारो की गणना वेश्यावृत्ति के अंतर्गत की है । सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाने पर ये प्रकार बदल सकते हैं, और उनकी संख्या कम अधिक हो सकती है । यूरोप-अमरीका में प्रचलित वेश्यावृत्ति इनसे भी अधिक सूक्ष्म प्रकारों को जन्म देती है और इनसे मिलते-जुलते परिणाम उत्पन्न करती है, यह इस ग्रंथ के आरंभ के परिच्छेदों में हम देख चुके हैं । इस विषय में वर्तमान युग के पाश्चात्य विचारकों के निष्कर्ष वात्स्यायन के मत से अधिक भिन्न नहीं है । इन सात प्रकारों में से,

१. कुंभदासी का निरूपण हो चुका है ।

२. दासी :— गणिकावृत्ति के इस परोक्ष और घरेलू रूप से भी हम परिचित हैं । गृहकार्य और बच्चों की देखभाल के लिए खरीद कर या वार्षिक वेतन पर दासियों की नियुक्ति होती थी । इस प्रकार की जीवनभर की स्थायी सेवा उस युग की समाजरचना के अत्यधिक अनुकूल थी ; और अभी कुछ वर्ष पहले तक हमारे यहाँ प्रचलित थी । आधुनिक मानस को उसमें गुलामी के दर्शन होते हैं और स्वातंत्र्यप्रेमी वर्तमान युग इस प्रकार के आजीवन सेवक-सेविकाओं की संस्था को पसंद नहीं करता । हम देख चुके हैं कि प्राचीनयुग में दासियों की नियुक्ति या खरीद का कारण कुछ भी बताया जाता हो, उनका मुख्य कार्य घर के पुरुषों और अभ्यागतों की वासनातृप्ति करना ही होता था । रातदिन घर में रहने वाली ये क्रीतसेविकाएँ घरके पुरुषों की कामुकता से बच ही नहीं सकती थीं ; और इसमें से अवैध यौन-संबंधों और अनौरस संतति की एक न टूटने वाली परंपरा चलती थी । पश्चिम के देशों में भी गृहकार्य या घर की देखभाल करने वाली स्त्रियाँ प्रच्छन्न वेश्यावृत्ति का बहुत बड़ा घटक मानी जाती हैं ।

३. कुलटा :— जिस व्यभिचारिणी स्त्री को स्वगृह में ही नहीं, बल्कि घर से बाहर जाकर भी व्यभिचार करने की आदत पड़ जाय, उसे कुलटा कहा गया है । इस प्रकार के यौन-समागमों से धन की प्राप्ति होते ही व्यभिचार वेश्यावृत्ति में परिणत हो जाता है । आज के युग में स्नानगृह, सौंदर्यसंवर्धन गृह या केशविन्यासगृह के नामसे अखबारों में विज्ञापित किये जाने वाले स्थान इसी वर्ग की स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त कर देने वाले अनाचार के अड्डे मात्र होते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं ।

४. स्वैरिणी :— कुलटा से एक कदम आगे बढ़ चुकने वाली कामांध स्त्री को स्वैरिणी कहा जाता है ।उसे पति का भी भय नहीं होता ; अत : वह स्वगृह में भी व्यभिचार कर सकती है और परगृह में भी । वासनातृप्ति के उपरांत धनप्राप्ति का मौका भी वे कभी नहीं चूकतीं, अत : इस वर्ग की स्त्रियों को वेश्या का ही एक प्रकार माना जा सकता है । व्यभिचार के लिए कोई विशिष्ट स्थान ढूंढने की आवश्यकता भी उन्हें नहीं होती ।अपना या पराया, सार्वजनिक या एकांत, कोई स्थान उनके लिए अनुपयुक्त नहीं होता । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही स्वैरिणी स्त्री वैविध्यपूर्ण पुरुषसंसर्ग के बिना एकदिन भी न रह सकने वाली स्वेच्छाचारिणी बन जाती है ।

५. नटी:— नाटक-सिनेमाओं के बढ़ते हुए शौक ने आज सुशिक्षित और कुलीन युवतियों में भी अभिनेत्री बनने की तीव्र इच्छा उत्पन्न कर दी है । इसमें कोई संदेह नहीं कि विशुद्ध कलासाधना की दृष्टि से दृश्यकला के ये दोनों रूप अधिकाधिक विकास के योग्य हैं । परंतु इस क्षेत्र में युवक-युवतियों को सरलता से मिलने वाले मेल-जोल और निकट संपर्क के अवसर, मोहक वेशभूषा या उद्दीपक नृत्य-अभिनय के कारण एक दूसरे के प्रति उत्पन्न होने वाला आकर्षण, अभिनय के दरमियान भावप्रदर्शन, देहप्रदर्शन या देह स्पर्श की आवश्यकता, और शृंगारिक प्रसंगों के यथार्थनिरूपण से जन्म लेने वाली कामभावना इत्यादि उन्मादक तत्त्व एक साथ मिलकर इस क्षेत्र में एक ऐसा विकृत, कामुक और कृत्रिम वातावरण उत्पन्न कर देते हैं जिसकी परिणति व्यभिचार या वेश्यावृत्ति में होने की संभावना बहुत अधिक रहती हैं । अभिनेत्रियों के अभिनय या नृत्यसंगीत की प्रशंसा अवश्य होती है, और इससे उन्हें एक प्रकार की सस्ती लोकप्रियता भी प्राप्त हो जाती है, परंतु उनका वैयक्तिक जीवन प्राय: प्रतिष्ठित नहीं होता । नाटक-सिनेमा की अधिकांश अभिनेत्रियाँ रखैलों या गणिकाओं के वर्ग से आती हैं यह बात अनजानी नहीं है । यहाँ यह कहने का आशय नहीं है कि विशुद्ध व्यवसाय की दृष्टि से या शौकिया इस कला की साधना करने वाली सुशिक्षित और कलानिपुण युवतियाँ सर्वदा पतित ही होती हैं । अन्य नियमों के समान इस नियम के भी अपवाद — और यशस्वी अपवाद — अवश्य होंगे । परंतु इस क्षेत्र का वातावरण ही इतना दूषित होता है कि असावधान और अनुभवहीन युवतियों के पतन के मार्ग पर बढ़ जाने की संभावना बहुत अधिक रहती है । अत : नटी को वेश्या का ही एक प्रकार मानने की वात्स्यायन की व्याख्या, और कुछ नहीं तो चेतावनी देने का काम अवश्य करती है ।

६. सुवर्णकार, शिल्पकार आदि कलाकारों की स्त्रियों को भी वात्स्यायन ने गणिकाओं का एक प्रकार माना है । इस व्याख्या में उस युग की किसी विशिष्ट सामाजिक परिस्थति का प्रतिबिंब दिखाई देता है । अन्यथा, सुनार, शिल्पी, माली, तमोली आदि श्रमजीवी कारीगरों की स्त्रियों को वेश्यावृत्ति करने की आवश्यकता क्यों पड़ती होगी, यह आज के युग में समझपाना मुश्किल है । इन कारीगरों को व्यवसायार्थ वर्षोंतक दूरदेशों में रहना पड़ता होगा, और शायद इसी कारण से वात्स्यायन ने उनकी स्त्रियों की गणना गणिकाओं के अंतर्गत की होगी, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है । आज भी बड़े नगरों में विशिष्ट जातियों के और विशिष्ट व्यवसाय करने वाले लोगों के मोहल्ले प्रतिष्ठित नहीं माने जाते । इससे मिलती-जुलती स्थिति उस युग में भी हो सकती है ।

७. पति का त्याग करने वाली स्त्री :— कुलटा या स्वैरिणी दुराचार करनेपर भी अपना पत्नीपद बनाये रखती है । परंतु खुल्लमखुल्ला पति का त्याग करने वाली स्त्री पतन के मार्ग पर अधिक तेजी से बढ़ सकती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उपरोक्त वर्गों की स्त्रियों को केवल उसके आचरण के कारण वेश्या माना गया है । संस्थापित ढंग की वेश्यावृत्ति इन वर्गों में चाहे न रही हो, परंतु संस्थापित वेश्यावृत्ति करने वाली अधिकांश स्त्रियाँ इन्हीं वर्गों से आती होंगी । आज भी इस स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा है ।

वात्स्यायन ने कामशास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन किया है । प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से विवेचन करने वाले कामशास्त्रज्ञ कामव्यवहार के सभी पहलुओं की व्याख्या करें, यह स्वाभाविक है । परंतु आज के कामविज्ञान में काम की स्वाभाविक प्रवृतियों की अपेक्षा कामाचार की विचित्रताओं, विलक्षणताओं और विपरीतताओं का विवेचन ही अधिक होता है । फ्राइड और हॅवलॉक ॲलिस जैसे समर्थ विचारकों के ग्रंथ भी इसी बात की पुष्टि करते हैं । गणिकावृत्ति को उन्होंने कामाचार का एक विशिष्ट विभाग अवश्य माना है ; परंतु कामविज्ञान का सर्वांगण और शास्त्रशुद्ध विवेचन करने में वात्स्यायन और उनके ग्रंथ का

स्थान आज भी अग्रणी और अद्वितीय माना जायगा । इस दृष्टि से देखने पर कामसूत्र वर्तमान युग के विचारकों के लिए भी उपयोगी और निर्णायक सामग्री प्रस्तुत कर सकता है । आज के युग में चिकित्साविज्ञान, मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के अध्येताओं को भी कामविज्ञान और उसकी विचित्रताओं से परिचित होने की आवश्यकता पड़ती है । इन विषयों के मिलेजुले अध्ययन से अनेक वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का हल मिल सकता है ।

काम एक महत्त्वपूर्ण जीवनसत्य और मानवजीवन के चार पुरुषार्थों में से एक होने के कारण उसकी उपेक्षा की ही नहीं जा सकती । उसे उसके यथार्थ रूप में, आरोग्यशास्त्र की वस्तुनिष्ठ दृष्टि से और किसी भी प्रकार की उलझन से मुक्त विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से समझ लेना प्रजा के कल्याण में सहायक हो सकता है । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वात्स्यायन जैसे समर्थ विचारकों ने समग्र कामजीवन का इतना विशद विवेचन किया है । इस सही दृष्टि को आज के चिकित्साविज्ञान और मनोविज्ञान ने स्वीकृत कर लिया है और मनुष्य के अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों के मूल अतृप्त, असंतुष्ट या विकृत कामवासना में ढूंढे जाने लगे हैं । इन अतृप्तियों और विकृतियों की जड़ में कामशास्त्र का अज्ञान ही मुख्य कारण होता है, इस सत्य का स्वीकार करके यौनविज्ञान का शास्त्रीय ढंग से प्रचार करने की आवश्यकता भी आज के विचारकों और समाजविधायकों ने मान ली है । इस विषय के अध्ययन का ज्ञानप्रसार में शिष्टता के प्रश्न को अकसर छोड़ देना पड़ता है । वात्स्यायन ने पूरी काम-भावना और उसके विभिन्न कलामय पहलुओं का सूक्ष्म निरूपण इसी दृष्टि से किया है । कामभावना का इतना सूक्ष्म विवेचन हमें पसंद हो या न हो, शिष्ट से शिष्ट विवाहित जीवन में इसकी आवश्यकता पड़ती है, और कभी कभी तो वह अविवाहित जीवन का भी स्पर्श कर जाता है । विवाहित जीवन के दायरे से बाहर कामभावना अकसर वेश्यासंस्था का ही विकास करती है । यह इष्ट हो या अनिष्ट, एक वास्तविकता के रूप में शास्त्रज्ञों को इसका स्वीकार करना पड़ता है,और इसका विचार भी करना पड़ता है ।

गणिकासंस्था के रूप में अभिव्यक्त होने वाली उन्मुक्त कामवासना को वात्स्यायन ने कितनी गहराई से और कभी कभी हमें विचित्र दिखाई देने वाले कितने विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है, इसका परिचय कामसूत्र के वैशिक प्रकरण में मिलता है । गणिकासंस्था का विस्तृत निरूपण इसमें एक वैज्ञानिक की सी तटस्थता से किया गया है । अगले परिच्छेद में हम यथासंभव वात्स्यायन की ही भाषाशैली में, और उनके ही दृष्टिकोण से, गणिकाजीवन को स्पर्श करने वाले सूत्रों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे । इन सूत्रों के माध्यम से उस युग के गणिकाजीवन की अनेक विशिष्टताओं से हम परिचित हो सकेंगे । साथ ही, कहीं कहीं यह भी महसूस होगा कि वात्स्यायन-कामसूत्र का वैशिक प्रकरण आज के युग में भी आधारभूत माना जा सकता है और वर्तमानकालीन गणिकावृत्ति से संबंधित अनेक प्रश्नों का निराकरण कर सकता है ।

२
वैशिक (वेश्या-संबंधी) प्रकरण के सूत्र

१. गणिका के आवश्यक धर्म:

''क्षुधातृप्ति और वासनातृप्ति की इच्छा गणिका को भी सामान्य स्त्रियों के समान ही होती है । स्त्री सामान्यत : विवाहित-जीवन और वंशसंवर्धन में तृप्ति अनुभव करती है ; परंतु पारिवारिक झंझटों से दूर रहने वाली गणिका को कामसुख और धन, दोनों की प्राप्ति अपने प्रेमियों से करनी पड़ती है । वासनातृप्ति के लिए वह पुरुष को ढूंढे यह स्वाभाविक है । प्रतिष्ठित स्त्रियाँ भी कामसुख पुरुष से ही प्राप्त करती हैं । परंतु गणिका का प्रेमप्रदर्शन कृत्रिम होता है । उसके लिए वह केवल धनप्राप्ति का एक साधन होता है ।

गणिकाव्यवसाय भी एक कला है । इसमें और अन्य व्यवसायों में कोई मौलिक अंतर नहीं है । परंतु प्रेम का दिखावा करने का, और रंचमात्र भी लोभवृत्ति न होने का स्वाँग बारंबार धारण करने की आवश्यकता के कारण उसे एक कष्टसाध्य कला कहा जा सकता है । धन के बिना जीवन और वैभव टिक नहीं सकते ।

अतः युक्तिपुरः सर अपने प्रेमियों से अधिकाधिक धन ऐंठना उसका सर्वोपरि स्वभावधर्म बन जाता है ।

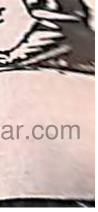
''इस कर्तव्य के उचित ढंग से पूरा करने के लिए गणिका को सुंदर वस्त्राभूषणों से सज्ज होकर मकान की राजमार्ग की ओर पड़ने वाली खिड़की या छज्जे में इस प्रकार बैठना या खड़े रहना चाहिये कि आने जानेवालों की दृष्टि उस पर आसानी से पड़ सके । शरीर की संपूर्ण आकृति दिखाई दे, ऐसे ढंग से बैठना या खड़े रहना उचित नहीं । प्रलोभन को अधिक दुर्दम्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देह को पूर्णरूप से प्रकट न किया जाय । गणिका के अंगोपांग बिकाऊ माल के समान होते हैं । ग्राहकों को वे दिखाई अवश्य देने चाहिये;, परंतु उनका प्रदर्शन रहस्यमय और आकर्षक ढंग से होना चाहिये । कला के आश्रय से जीवन यापन करने वाली गणिका और देहविक्रय से उदरपूर्ति करने वाली वेश्या में जमीन-आसमान का अंतर होता है । एक रहस्यमय झलक दिखाकर अस्पष्ट सा संकेतमात्र करती है, जबकि दूसरी खुलेआम देहप्रदर्शन करके स्पष्ट आमंत्रण देती है ।''

२. गणिका के मित्र और सहायक:—

''केवल रूपयौवन और देहसौष्ठव के बल पर गणिकावृत्ति नहीं की जा सकती । गणिका को अनेक मित्रों और सहायकों की आवश्यकता पड़ती है । गणिका को ऐसे मित्र चुनने चाहिये जो उसके लिए नये-नये प्रेमी प्राप्त कर सकें, ये प्रेमी किसी अन्य स्त्री या गणिका के जाल में न फँसे, ऐसी योजनाएँ बना सकें, सब प्रकार के संकटों से उसकी रक्षा कर सकें, अधिकाधिक धन कमाने की युक्तियाँ बता सके, सब प्रकार के प्रकार के संकटों से उसकी रक्षा कर सकें, अधिकाधिक धन कमाने की युक्तियाँ बता सके, और कोई गँवार या ईर्ष्यालु ग्राह उसे मारपीट कर या अन्य किसी प्रकार से हानि न पहुँचाये, इसकी सावधानी रख सकें । दृष्टि से निम्नलिखित गणिका की अधिक से अधिक सहायता कर सकते हैं : — (१) शहर कोतवाल और अन्य पुलिस अधिकारी (२) न्यायधीश और धर्माध्यक्ष (३) ज्योतिषी (४) साहसी पुरुष (५) वीर पुरुष (६) नृत्य-संगीत के कलाकार (७) गणिका के यहाँ व्यवहार ज्ञान और अदब-कायदा सीखने के लिए आने वाले नवयुवक (८) पीठमर्द (गणिका की वैयक्तिक वासनापूर्ति करने वाले पेशेवर लोग जो कथाकार के वेश में घूमते रहते हैं ।) (९) दलाल (१०) भांड (११) माली-मालिक (१२) अत्तार (१३) कलाल (१४) धोबी (१५) नाई (१६) साधु-भिक्षुक (१७) दूसरों के घरों में बिना आज्ञा के आ-जा सकने वाले लोग (खोमचे, चूड़ीवाले इत्यादि) (१८) चोर । उपरोक्त किसी भी वर्ग में से गणिका को सहायता पहुँचाने वाले मित्र मिल सकते हैं । प्रसंगानुसार गणिका को इनकी सहायता का समुचित उपयोग करना चाहिये ।''

३. गणिका को धन दे सकने वाले व्यक्ति: —

''मुँहमांगा धन देकर उसे समृद्ध रख सकें, ऐसे व्यत्तियों की भी गणिका को संपूर्ण जानकारी होनी चाहिये । इस दृष्टि से गणिकाओं को निम्नलिखित व्यक्तियों से अधिकाधिक संबंध रखने का प्रयत्न करना चाहिये :— (१) माता-पिता या गुरुजनों के अंकुश से पूर्णत : मुक्त नवयुवक (२) यौवनमद से माते नौजवान (३) पैतृक संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त करने वाले ऐयाश धनिक (४) नामी-गिरामी व्यापारी जिनकी आमदनी का सिलसिला निश्चित हो (५) उच्चवेतन भोगी सरकारी अफसर (६) अनायास विपुलधन प्राप्त कर सकनेवाले सटोड़िये (७) गणिका का प्रेम प्राप्त करने के लिए स्पर्धा करने वाले युवक (८) नियमित और स्थायी आयवाले प्रौढ विधुर (९) स्त्रियों को अपने प्रति आकर्षित कर सकने का घमंड रखने वाले बाँके (१०) नपुंसक (पुरुषत्वहीन होने पर भी अपने मित्रों पर अपने पुंसत्व का रोब जमाने के उद्देश्य से स्त्रीसहवास का दिखावा करने वाले क्षीणबल पुरुष) (११) चाहे जितनी स्त्रियों से समागम करने पर भी अपना पुरुषत्व संतुष्ट नहीं होता, ऐसा घमंड रखने वाले मिथ्याभिमानी । (१२) गुण और संपत्ति की दृष्टि



से तुल्यबल होने वाले ऐयाश धनिक जो और कोई काम न होने के कारण स्त्री-सहवास को स्पर्धा का विषय मानते हों । (१३) अत्यंत उदार स्वभाव वाले पुरुष (१४) राजा या राजमंत्रियों से मेलजोल रखने वाले पुरुष (१५) कोरे भाग्यवादी (जो यह मानते हों कि धन का आना-जाना उनके गुणावगुण या योग्यायोग्यता पर नहीं बल्कि भाग्य पर निर्भर करता है ।) (१६) धन का अपव्यय करने वाले शाहखर्च युवक (१७) कुलमर्यादा का ध्यान रखने वाले कपूत (१८) अपनी जाति में सम्मानपूर्ण स्थान रखने वाले मुखिया (१९) अपार धनसंपत्ति वाले श्रेष्ठी का इकलौता पुत्र (२०) ढोंगी साधु, महंत या धर्मगुरू (२१) वीरता का आडंबर करनेवाले कायर (२२) वैद्य ।''

महर्षि .वात्स्यायन की यह सूची वाकई विलक्षण है । इसके मूल में मनुष्य-स्वभाव की गहरी जानकारी दिखाई देती है । पुंसत्व का ढोंग करने वाले नपुंसकों को इस सूची में स्थान देकर तो वात्स्यायन ने आधुनिक मनोविज्ञान पर भी मात कर दी है । इसके विपरीत, कुछ बातों को आज के युग में समझ पाना मुश्किल है । उदाहरणार्थ, जाति के मुखिया का समावेश इस सूची में क्यों किया गया है, यहा समझ में नहीं आता । विभिन्न जातियों के चौधरी क्या उस युग में इतने शक्तिशाली रहे होंगे, कि खुल्लमखुल्ला गणिकागमन करके भी अपना चौधरीपन कायम रख सकते हों ?

४. गणिका को प्रेम और प्रसिद्धि दे सकने वाले व्यक्ति:

''(१) उच्च परिवारों में जन्म लेने वाले पुरुष (२) विद्वान (३) लोकप्रिय कलाओं के जानकार (४) कवि (५) वाक्चातुर्य की रसभरी बातें सफाई से कह सकनेवाले पुरुष (६) उत्तम वक्ता (७) हाज़िरजवाब पुरुष (८) गुरुजनों के अनुभव का मूल्य समझकर उससे लाभ उठानेवाले व्यवहारज्ञानी (९) उदारचेता पुरुष (१०) उत्साही पुरुष (११) सत्यप्रेमी पुरुष (१२) ईर्ष्याद्वेष आदि से मुक्त रसिक पुरुष (१३) मैत्री निभाने वाले पुरुष (१४) यात्रा, खेलकूद, मेले-तमाशे, रास-नाटक, नृत्य-संगीत के जलसे, इत्यादि का आयोजन करने वाले व्यवस्थापक (१५) स्वस्थ और बलवान पुरुष (१६) अव्यंग शरीर सौष्ठव वाले कसरती नवयुवक (१७) मदिराप्रेमी होने पर भी उसके आदी न होने वाले शौकीन (१९) किसी भी स्त्री को संतुष्ट कर सकने वाली असाधारण भोगशक्ति से युक्त पुरुष (१९) अपने व्यक्तित्व या उपदेश के प्रभाव से स्त्रियों की बुरी आदतें छुड़ा सकनेवाले विवेकी पुरुष (२०) स्त्री के या अपने स्वास्थ्य को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना रतिसुख का उत्कट आनंद अनुभव करा सकने वाले कामविज्ञान के जानकार पुरुष ।''

यह सूची पहली सूची के समान वैशिष्ट्यपूर्ण तो नहीं है, पर मानवजीवन की गहन जानकारी इसमें भी व्यक्त होती है । जो पुरुष व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर चुका हो, स्वतंत्र हो, किसी भी स्त्री को देखते ही फिसल पड़ने वाल कानलुब्ध न हो, ईर्ष्याद्वेष से मुक्त हो, मारपीट करनेवाला उजड्ड न हो, छोटी-मोटी बातों को नजरअंदाज कर सकता हो, औ स्वभाव से उदार हो, उसे ही प्रेमी के रूप में पसंद करने की राय गणिकाओं को दी गई है । यह सलाह गणिकाओा को ही नहीं, सुखी विवाहित जीवन की इच्छा रखने वाली युवतियों को भी दी जा सकती है । यदि बाजारी वारांगना को भी उपरोक्त गुणों वाला पुरुष ही अच्छा लगता हो, तो सुविद्य पत्नी के पति में तो इन गुणों का होना नितांत आवश्यक है । गणिकाजीवन में अर्थलोभ से मुक्त विशुद्ध प्रेम का स्थान समझने में भी उपरोक्त सूची सहायक हो सकती है । आश्चर्य के छोटे-मोटे धक्के भी इसमें मौजूद हैं । उदाहरणार्थ, आदर्श गणिकागामी में विद्वत्ता और सत्यप्रेम होना भी आवश्यक माना गया है ।

५. गणिकाओं के आवश्यक गुण:—

''रूप-लावण्य, यौवन, देहसौष्ठव, आकर्षक शृंगार, मधुर कंठ और मोहक हावभाव आदि अत्यावश्यक गुणों के अलावा गणिका में निम्नांकित गुण भी होने चाहिये:— प्रेमी के धन पर ही दृष्टि रखने के बजाय उसके गुणों के प्रति अनुराग रखने की वृत्ति गणिका में अवश्य होनी चाहिये । आदर्श गणिका के स्वभाव में माधुर्य और बर्ताव में मोहकता होनी चाहिये । वस्त्रालंकार का अत्यधिक मोह, मानसिक

दुर्बलताएँ, कर्कशवाणी, और स्वभावगत विचित्रताओं से गणिका को बच र रहना चाहिये । उचित-अनुचित का विवेक और नृत्यसंगीतादि कलाओं की उत्तम जानकारी उसे होनी चाहिये । धनप्राप्ति ही गणिकावृत्ति का एकमात्र उद्देश्य होने पर भी धन के आत्यंतिक लोभ और स्वार्थपरायणता का उसे त्याग करना चाहिये । समारंभों और जलसों में उत्साहपूर्वक भाग लेने का उसे शौक होना चाहिये ; और गणिकाजीवन के रंगीन और विलासमय वातावरण में रहते हुए भी, एक प्रकार की अनासक्त वृत्ति भी उसमें होनी चाहिये ।" सूची वाकई अत्यंत आकर्षक है । जलसों-समारंभों और मेले-तमाशों के आत्यंतिक शौक को छोड़कर बाकी सारे गुण तो गणिकाओं में ही नहीं, पत्नियों में भी होना आवश्यक है । पत्नी में उपरोक्त गुण हों, तो विवाहित जीवन कितना सुखी हो जाय ! और इस हालत में गणिकागमन करने की आवश्यकता भी किस पुरुष को पड़ सकती है ?

६. गणिका और उसके प्रेमियों की गुणसमानता:—

वात्स्यायन निम्नलिखित गुणों को गणिका और उसके प्रेमी, दोनों पक्षों में समान रूप से आवश्यक मानते हैं : — (१) बुद्धिमता (२) शील (३) देश कालानुसार बर्ताव (४) कृतज्ञता (५) दीर्घदृष्टि (६) मिलनसार स्वभाव (७) स्थान-काल की योग्यायोग्यता का विवेक (८) शिष्टाचार (९) चापलूसी, मिथ्याभिमान, क्रोध, लोभ, कृपणता, अमर्यादा, परनिंदा, ईर्ष्या, द्वेष, तुनकमिजाजी आदि अवगुणों से मुक्ति और (१०) कामशास्त्र और उससे संबंधित कलाओं का समुचित ज्ञान । गणिका और उसके प्रेमियों में आवश्यक माने जाने वाले इन गुणों में सदाचार और रसिकता का सारसर्वस्व आ जाता है । ये गुण यदि केवल गणिकाओं में ही नहीं बल्कि कुलीन स्त्रियों में भी हों, और सिर्फ गणिकागमियों में ही नहीं बल्कि साधारण सामाजिक पुरुषों में भी हों, तो यह संसार नंदनवन से किस दृष्टि से कम रह जायगा ? और समाज की कितनी समस्याएँ दूर हो जायेंगी

७. गणिका के लिए त्याज्य व्यक्ति:—

गणिकाओं को किसका सहवास नहीं करना चाहिये, इसकी भी एक लंबी सूची वात्स्यायन ने दी है यथा :— (१) तपेदिक का रोगी, (२) गलितकुष्ठ से पीड़ित, (३) जिसके समागम से शीघ्र गर्भाधान की संभावना हो, ऐसा पुरुष (४) भ्रष्टमुख पुरुष :— इसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं । (अ) जिसके मुख से दुर्गंध आती हो (आ) जिसकी वाणी गालीगलौच और अश्लील शब्दों से भरी हुई हो । (५) उचित-अनुचित का विचार किए बिना श्वानवृत्ति से चाहे जिस स्त्री से समागम करने को आतुर पुरुष । (६) पत्नी के कठोर अनुशासन में रहने वाला पुरुष (७) कटुभाषी पुरुष । (८) निर्दय पुरुष (९) गुरुजनों और संबंधियों द्वारा परित्यक्त पुरुष, (१०) कृपण पुरुष (११) वचनपालन न करने वाले का पुरुष (१२) घमंडी पुरुष (१३) अनिष्ट कार्यों के लिए जड़ी-बूटियाँ बेचनेवाले और जारण-मारण आदि का प्रयाग करने वाले पुरुष (१४) मानापमान की भावना स रहित जड़ पुरुष (१५) निर्लज्ज पुरुष (१६) धन के प्रलोभन से शत्रुओं से जा मिलने वाले का पुरुष !

उपरोक्त सूची के व्यक्ति तो गणिकाओं द्वारा ही नहीं, पूरे समाज द्वारा त्याग करने के योग्य हैं । इनमें से कई वर्गों के लोगों को और कुछ न हो सके तो, चिकित्सालयों में भरती करवा देना चाहिये । समाज से बहिष्कृत गणिका की दृष्टि में भी जो पुरुष त्याज्य हो, उसे समाज कैसे स्वीकृत कर सकता है ? परंतु दुख की बात यह है कि इनमें से कई वर्गों के पुरुष येनकेन प्रकारेण समाज में सम्मानयुक्त स्थान प्राप्त कर लेते हैं । जनमुरीदों की इस सूची में गणना करके तो वात्स्यायन ने विनोद और वास्तविकता का मणिकाचनयोग साधा है । इस सूची के द्वारा उन्होंने उच्च कोटि की गणिकाओं के लिए परिष्कृत रसवृत्ति का मानदंड भी प्रस्तुत किया है ।



८. उपभोक्ता को संतुष्ट करने के विविध हेतु:-

यह सूची गणिकाजीवन के एक अलग ही पहलू पर प्रकाश डालती है । इसमें गणिका का उसके विशुद्ध नारी रूप में और एक व्यवसायिक स्त्री के रूप में मिलाजुला निरूपण हुआ है । धनसंपत्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त क्या और भी कोई कारण हो सकता है, जो गणिका-को देहसमपण के लिए प्रेरित करे ? हमें शायद इसका उत्तर देने में भी कठिनाई हो, परंतु वात्स्यायन ने इन प्रेरक कारणों की अच्छी खासी सूची दी है :— (१) किसी पुरुष के प्रति विशुद्ध प्रेम, (२) किसी प्रकार के खतरे की संभावना (उदाहरणार्थ, किसी गुंडे को संतुष्ट करने से इनकार करने पर उत्पन्न हो सकने वाले संकट का भय), (३) किसी पुरुष को प्रभावित या अहसानमंद करने के लिए, (४) अन्य गणिकाओं की स्पर्धा का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए, (५) प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर (उदाहरणार्थ, किसी की पत्नी ने गणिका का अपमान किया हो, तो उसे और भी अधिक जलाने के लिए उस पुरुष का अधिकाधिक संग करना, या अपना पुराना प्रेमी किसी अन्य गणिका के पाश में फँस रहा हो, तो उसे चिढ़ाने के लिए उसके किसी मित्र के साथ घनिष्ठ संबंध बढ़ाना) । (६) किसी पुरुष के पुंसत्व की परीक्षा करने के लिए, (७) आश्रयदाता या संकट के समय सहायता करने वाले पुरुष को संतुष्ट करके उसका एहसान चुकाने के उद्देश्य से, (८) उदारता से प्रेरित होकर किसी सपात्र ब्राह्मण या विद्वान को संतुष्ट करने के लिए, (९) प्रसिद्धि प्राप्त करने के हेतु से, (१०) दया से विचलित होकर, किसी रूपलुब्ध पुरुष का सतुष्ट करने के लिए, (११) अपने किसी मित्र या आश्रयदाता की सूचना से किसी अन्य पुरुष को संतुष्ट करने के लिए, (१२) किसी का लिहाज करके (अनिच्छा होने पर भी, किसी से ना कहने की परिस्थिति या हिम्मत न होने के कारण), (१३) अपने प्रियपुरुष से मिलती-जुलती मुखमुद्रा या शरीराकृति वाले पुरुष के समागम से प्रियमिलन का आनंद प्राप्त करने के लिए (१४) किसी महापुरुष, धनिक, नेता, सेनानायक या महंत के संपर्क से लाभ या पुण्य प्राप्त करने की भावना से, (१५) अचानक जागृत हो उठने वाली कामवासना के शमन के लिए, (१६) अपने गाँव या अपनी जाति का कोई पूर्वपरिचित पुरुष मिल जाने पर, (१७) किसी पुरुष से बारबार मिलने-जुलने से उत्पन्न होने वाला परिचय की घनिष्ठता के कारण

९. प्रेमियों को सतत आकर्षित रखने की आवश्यकता:—

इस संबंध में वात्स्यायन का कहना है कि "गणिकाका अपने प्रेमियों का निर्वाचन सामान्यत : तीन उद्देश्यों को नजर में रखकर करना चाहिये । (१) धनप्राप्ति, (२) संकट-निवारण, और (३) सच्ची प्रेमानुरक्ति । परंतु इनमें भी तारतम्य रखना आवश्यक है । किसी भी दृष्टि से देखें, द्रव्यार्जन ही गणिका का सबसे प्रधान उद्देश्य सिद्ध होता है । अत : गणिका का कर्तव्य है कि किसी के प्रति हार्दिक प्रेम होने पर भी वह उसे धनप्राप्ति के मार्ग में बाधारूप न होने दे । कोई प्रेमी उसे पूछता हुआ आये, तो भी गणिका को जल्दबाजी से देहसमर्पण नहीं करना चाहिये । आसानी से वश में हो जाने वाली स्त्री के प्रति पुरुष का मोह दिनोंदिन कम होता जाता है । अत : किसी भी प्रेमी से परिचय बढ़ाने में अधिक से अधिक समय लगाना चाहिये ; और देहसमागम की ओर उसे क्रमश : ही बढ़ने देना चाहिये । सरलता से प्राप्त हो सकने वाली गणिका अपने हाथों अपना मूल्य कम करती है ।" इस संबंध में ॲरिस्टिमिस नामक यूनानी लेखक द्वारा उद्धृत प्राचीन यूनान की गणिकाओं के विचार भी उल्लेखनीय हैं जिनका वात्स्यायन के विचारों से मेल खाता है । यूनान के स्वर्णयुग की एक गणिका कहती है : "युवा प्रेमी के मार्ग में थोड़ी-बहुत कठिनाइयाँ डालना ही योग्य है । प्रेमी को सब कुछ माँगे बराबर ही मिल जाय, यह किसी हालत में वांछनीय नहीं । कठिनाइयाँ उपस्थित करनेसे, प्रेमी का मन पूर्णत : कभी नहीं भरता और अपनी प्रिय स्त्री का प्रेम प्राप्त करने की कामना उसके हृदय में सदा बनी रहती है । इससे गणिका का व्यवसाय लंबे अरसे तक चलता रहता है । प्रेमी की अनेक प्रार्थनाओं के बाद, और कुछ समय तक उसे तरसा कर, आनाकानी करते हुए जो आनंद गणिका उसे देती है,- वह उसकी नजरों में अत्यंत कीमती हो उठता है,और धन देते हुए भी वह उसे गणिकाकी कृपा समझने लगता है ।"

इसके बाद महर्षि वात्स्यायन गणिकाओं को और भी कई व्यवहार्य सूचनाएँ देते हैं। यथा:—"भविष्य के प्रेमियों के प्रेम और वफादारी के सान पर चढ़ाने के लिए गणिकाको अपने विश्वासपात्र नौकर-चाकर, माली-तमोली, केशशृंगारक, गवैये-साजिंदे, भांड-मसखरे, और अंत में पीठमर्द की सहायता भी लेनी चाहिये। अपने दूतों द्वारा प्रेमी की प्रवृत्तियों की पूरी जाँच-पड़ताल करानी चाहिये और उसके स्वभाव का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये। उसका चरित्र कैसा है, उसका प्रेम सच्चा है या दिखावे का, उसमें उदारता कितनी है, इत्यादि बातों की जानकारी उपरोक्त लोगों की सहायता से प्राप्त करनी चाहिये। अंत में वह अपने प्रेम का पात्र है, ऐसा विश्वास हो जाने पर किसी अनुभवी दलाल को उसके यहाँ भेजना चाहिये और उससे मिलने की इच्छा व्यक्त करता हुआ संदेश भेजना चाहिये। इसके बाद, ग्राहक जब गणिकालय में आये, तब उसके सतत-सहवास में रहना चाहिये और पान, सुपारी, पुष्प, चंदन, इत्र आदि सुगंधित द्रव्यों से उसका सत्कार करना चाहिये। उसके चारो ओर काव्य, संगीत, और कला का वातावरण उत्पन्न करके चतुर संभाषण और मोहक स्मित से उसके हृदय को आहत करना चाहिये। इसके बाद, क्रमश: जब वह अपने प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति करे, तब उसे कोई स्मरणचिन्ह अर्पित करना चाहिये, और वह भी यदि अंगूठी, रूमाल या स्वर्णमुद्रा की भेंट दे, तो उसका सधन्यवाद स्वीकार करके उसकी इच्छा के प्रति अपनी अनुकूलता व्यक्त करनी चाहिये। इस प्रकार जब उससे घनिष्ठता बढ़ जाय, तब पीठमर्द आदि अन्य पुरुषों के प्रेम की अपेक्षा करते हुए अपना मन उस दिन के विशिष्ट प्रेमी में ही रम गया है, 'ऐसा आभास करना चाहिये। इस तरह का व्यवहार कई दिनों तक लगातार करते रहने से प्रेमी गणिका के प्रति सदा आकर्षित रहेगा और उसके प्रेम का मतवाला बन जायगा।"

१०. प्रेमी को खुश करके उसे सदा के लिए अपना बनाये रखने के उपाय:—

"उपरोक्त प्रकार से प्रेमी को अपने पीछे पागल कर देने के बाद गणिकाको उसके प्रति विशुद्ध पत्नीधर्म का व्यवहार करना चाहिये, और वह केवल उसीके प्रति एकनिष्ठ है, ऐसा दिखावा करते हुए उसके मोह को बढ़ाते जाना चाहिये। यथार्थ में एकनिष्ठ रहना या नहीं, यह गणिका की मरजी पर निर्भर रहता है। यदि एक ही प्रेमी से उसे यथेच्छ आर्थिक लाभ और शारीरिक संतोष प्राप्त हो जाता हो, तो वह उसी में अनुरक्त रहे। अन्यथा, वह एकाधिक संबंध रख सकती है। परंतु दोनों हालतों में गणिका को यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि उसे किसी एक पुरुष पर ही अपना हृदय न्योछावर नहीं करना है, और किसी एक पुरुष के आधार पर ही नहीं जीना है। ऐसा दिखावा वह भले ही करे, परंतु उसे सदा याद रखना चाहिये कि इससे उसका व्यवसाय नहीं चल सकता। अमुक पुरुष के बिना उसका काम ही नहीं चलेगा, ऐसी भावना गणिका के हृदय में किसी भी हालत में उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। इस विषय में गणिका को अपनी माता या रक्षिका (कुट्टनी) से सर्वाधिक सहायता मिल सकती है। अत: गणिकाको अपनी माता के नियंत्रण में रहकर उसकी आज्ञा का पूर्णरूप से पालन करना चाहिये। गणिकामाता हृदय की कठोर और स्वभाव की लोभी हो, यह स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है। गणिकामाता को गणिकाप्रेमियों के साथ अधिक संबंध नहीं रखना चाहिये, बल्कि कभी कभी गणिका को उसके प्रियपुरुष के सान्निध्य से जबरदस्ती दूरकर के अपने आदेशानुसार किसी अन्य ग्राहक को संतुष्ट करने की आदत उसे डालनी चाहिये। इससे गणिका का किसी विशिष्ट प्रेमी के प्रति आकर्षण बद्धमूल नहीं होगा और प्रेमी के मन में भी अमर्ष, ईर्ष्या और निराशा का भाव उत्पन्न होकर गणिका के प्रति उसका मोह और भी बढ़ जायगा। माता की आज्ञा से मजबूर होकर दूसरे पुरुष से संबंध रखते हुए भी गणिका के मन में प्रथम प्रेमी के लिए आकर्षण बना रहे, तो भी कम से कम उस समय तो अस्वस्थता या सिरदर्द का बहाना करके उसे बिदा कर देना चाहिये। बाद में किसी दास के हाथों फूलों के गजरे या ताबूंल भिवजा कर अपने प्रेम के सातत्य का दिखावा वह कर सकती है। परंतु किसी भी हालत में माता या रक्षिकामाता की आज्ञा का उल्लंघन करना योग्य नहीं। इससे उसका अहित हो सकता है।

"प्रेमी की कामकला की गणिका को सदैव प्रशंसा करते रहना चाहिये । कामकला ही नहीं, अन्य कलाओं का ज्ञान भी उसे प्रेमी से ही प्राप्त होता है ऐसा दिखावा करना और उसे मिलकर जीवन के सभी सुख उसे मिल गये हैं ऐसा आभास निर्माण करना भी आवश्यक है । प्रेमी नाराज हो जाय, बुराभला कहे, या दुखी हो, तो गणिकाको कुछ समय के लिए पुष्प-चंदन, शृंगार प्रसाधन और आभूषणों का त्याग कर देना चाहिये, और रुदन एवं अनशन द्वारा यह प्रदर्शित करना चाहिये कि प्रेमी की नाराजी से या उसके दुख से वह उतनी ही दुखी है । इसके लिए अन्नत्याग करके, प्रेमी जब तक मनुहार न करे तब तक भोजन न करना सबसे अच्छा उपाया है । अश्रुपात भी उतना ही प्रभावी सिद्ध हो सकता है । गणिकामाता कभी प्रेमी का अपमान कर दे, तो गुप्त रूप से उसके साथ कहीं भाग जाने की इच्छा प्रदर्शित करना चाहिये, और भाग जाने के बाद उसकी माता की शिकायत से राज्य दंडाधिकारी उसे पकड़ने न आयें, इस उद्देश्य से कुछ रिश्वता या जमानत की रकम का इंतजाम करने के लिए प्रेमी से बिनती करते रहना चाहिये । परंतु ध्यान रहे कि इसका केवल स्वाँग भरा जाय ; वास्तव में उसकी दृष्टि केवल अपने भले पर ही होनी चाहिये । प्रेमी का स्नेह प्राप्त करके मानो उसे इहलोक और परलोक का संपूर्ण सुख मिल गया है और उसकी सबसे प्रबल कामना पूरी हो गई है, ऐसा दिखावा उसे सतत करते रहना चाहिये । प्रेमी को किसी व्यवसाय में लाभ हो, नौकरी में उसकी तरक्की हो, या वह किसी बीमारी या संकट से बचे, तो गणिका ने मानो इसके लिए मिन्नत मानी हो, ऐसा दिखावा करके धर्मार्थ संस्थाओं को कुछ दान देना चाहिये । अलबत्त, यह सब खर्च प्रेमी के ही धन से हो । इस दौरान में गणिकाको भोजन का प्रमाण कम कर देना चाहिये परंतु इस बात का ध्यान रहे कि कम मात्र में लिया जाने वाला यह भोजन अत्यंत पौष्टिक हो ।

"गणिका जब गीत गाये, तब उसे अपने प्रेमी या उसके वंश का नाम युक्ति से गीत में जड़ देना चाहिये । नृत्य करते हुए वह थक जाय, या थक जाने का दिखावा करे, तब प्रेमी का हाथ अपने ललाट या वक्ष पर लगाकर, इससे उसे शांति मिलती है ऐसा दिखावा करना चाहिये । प्रेमी के हस्तस्पर्श से उसे इतना सुख मिला है कि उसे नींद आने लगी है, ऐसा दिखावा कर के प्रेमी की गोद में ही कुछ समय के लिए लेट जाना चाहिये और जब वह घर जाने लगे, तब उसके बिना उसे एक क्षण के लिए भी चैन नहीं पड़ता, यह प्रदर्शित करते हुए उसके साथ जाने को तैयार हो जाना चाहिये । प्रेमी के समागम से उसे एक पुत्र की कामना है, इसका भी कभी कभी उल्लेख करते रहना चाहिये, और प्रेमी के जीते जी ही उसकी मृत्यु हो, इससे बढ़कर परम सौभाग्य की बात वह और कोई नहीं मानती यह भी उसके मन पर ठसाते रहना चाहिये । प्रेमी को जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका उल्लेख भूलकर भी नहीं करना चाहिये । उसे छोड़कर किसी महफिल या समारंभ में नहीं जाना चाहिये । उपाहार करते समय उसके पहने हुए गजरे या फूलमालाएँ खुद धारण करके उसके सामने बैठना चाहिये । उसके उच्चवर्ण, उदात्त चरित्र, अभिजात कुल, ऐश्वर्य, सौंदर्य, यौवन, वाक्चातुर्य आदि गुणों की और उसकी विद्वत्ता एवं कलानिपुणता की समय-समय पर प्रशंसा करते रहना चाहिये । उसके गुणों और उसके मित्रों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करके उसके देश और उसकी भाषा की भी सराहना करनी चाहिये । वह यदि संगीत का जानकार हो, तो उससे बारबार गाने का आग्रह करना चाहिये । कठिनाइयों की परवाह किये बिना गणिकाको कभी कभी उसके घर भी जाना चाहिये । सर्दी-गरमी और आंधी-वर्षा की परवाह किये बिना, आवश्यकता पड़ने पर अपनी माता की आज्ञा का उल्लंघन करके भी, और रास्ते में मिलने वाले कामुक गुंडों की फब्तियों की उपेक्षा करकेवह अपने घर आई है, यह मालूम होने पर प्रेमी के मनमें उसके प्रति आदर उत्पन्न होगा और उसका प्रेम और आकर्षण कई गुना बढ़ जायगा । प्रेमी ने उस पर कोई ऐसा जादू या वशीकरण कर दिया है कि वह उसके बिना जी ही नहीं सकती और उसके सिवा अन्य किसी पुरुष का विचार ही उसके मन में नहीं आता, यह प्रदर्शित करना भी आवश्यक है । परंतु अपने प्रियतम को वशमें करने के लिए मंत्र-तंत्र, जादू-टोने या वशीकरण का प्रयोग गणिका को कभी नहीं करना चाहिये । इससे कुछ लाभ होना तो दूर रहा ; प्रेमी के मन में शंका आ जाय, तो वहम के कारण वह उसे सदा के लिए त्याग दे, ऐसी आशंका रहती है ।

"प्रेमी से इतना अधिक लगाव रखने के कारण गणिकामाता बुरा-भला कहे, तो गणिकाको उससे झगड़ने का स्वाँग भरना चाहिये । कुट्टनी यदि उसे जबरदस्ती से खींच कर अन्य किसी ग्राहक के पास ले जाय, तो अत्यंतिक अनिच्छा, नाराजी, और असहायता का दिखावा करते हुए जहर खा कर मर जाने की इच्छा प्रदर्शित करनी चाहिये एवं बारबार अपने पेशे को कोसते रहना चाहिये जिसके कारण उसे अपने प्रेमी को छोड़कर जाने के लिए विवश होना पड़ता है और चाहे जिस पुरुष को उसके देहोपभोग का मौका मिलता है । किसी अनुभवी दलाल या विश्वासपात्र सेवक के जरिये उसे प्रेमी के मन पर यह भी ठसवाना चाहिये कि वह तो एकनिष्ठ से उसे ही चाहती है; परंतु अपनी माता की इच्छा के सामने वह लाचार है: और उसमें उसका नहीं बल्कि कुट्टनी का कसूर है । प्रेमी विदेशयात्रा को गया हो, तो गणिका को निम्नोक्त प्रकार से व्यवहार करना चाहिये:—

१. श्रृंगार का त्याग करना चाहिये, और वह भी इस. तरह कि प्रेमी के इष्टमित्र या संबंधी इसे जान सकें ।
२. अपने यहाँ किसी प्रकार के मंगलकार्य या समारंभ का आयोजन नहीं करना चाहिये ।
३. शंखवलय के सिवा और कोई आभूषण नहीं पहनना चाहिये ।
४. प्रेमी की पत्नी के जितना ही उसे भी वियोग का दुख है, यह प्रदर्शित करना चाहिये ।
५. समय समय पर खुद प्रेमी के घर जाकर, या किसी नौकर-चाकर को भेज कर उसके समाचार पूछते रहना चाहिये ।
६. प्रियतम के साथ स्वप्न-समागम होने की बात उसके मित्रों में फैलानी चाहिए ।
७. उसके अनिष्ट की आशंका से घबराकर दानपुण्य या धर्मकार्य करते रहना चाहिये ।
८. प्रेमी के आगमन का समाचार मिलते ही मदनोत्सव का आयोजन करना चाहिये ।
९. उत्सव के दिन पुष्प, फल आदि से भरे हुए थाल उसके घर भेजने चाहिये ।
१०. काकवाणी को शुभ शकुन और प्रियतम के आगमन की संदेशवाहक मान कर कौए की पूजा करनी चाहिये ।

"परंतु ध्यान रहे कि यह सब आयोजन ऐरे-गैरे या कभी-कभी आने वाले लोगों के लिए नहीं, बल्कि अपने अत्यंत अनुरक्त और धनवान प्रेमी के लिए होना चाहिये । ऐसा प्रेमी पसंद करने से पहले गणिका को ध्यान रखना चाहिये कि निम्नलिखित गुण उसमें आवश्यक रूप से हों:—

१. धन कमाने की और उसे खर्च करने की उसमें असीम शक्ति हो, इतना ही नहीं, बल्कि स्वभावगत उदारता के कारण, धन देने से उसे आनंद होता हो ।
२. उसमें प्रबल आत्मविश्वास हो ।
३. गणिका की सब इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए वह सदा तत्पर रहता हो ।
४. गणिका से संबंध रखने में उसे किसी प्रकार का भय या संकोच न हो ।
५. उसके सब काम किसी भी प्रकार के छलकपट के बिना खुलेआम होते हों ।"

११. प्रेमियों से अधिकाधिक धन प्राप्त करने की युक्तियाँ:—

"गणिका को अपने प्रेमियों से दो प्रकारों से धन प्राप्त होता है । एक तो सीधा और सरल मार्ग है जिसमें देहोपभोग का मूल्य निश्चित कर दिया जाता है । दूसरा मार्ग यह है कि मूल्य पहले से निश्चित नहीं किया जाता, अपितु प्रेमी से अधिकाधिक धन वसूल करने का प्रयत्न किया जाता है । कुछ युक्तियाँ ऐसी हैं, जिनकी सहायता से गणिका अतिलोभी होने के दोष से बचते हुए भी अधिकाधिक धन प्राप्त कर सकती है ।

१. गणिका अपने सुख के लिए जो भी चीजें, खरीदे, उनका मूल्य चुकाने के लिए ऐसा दिन और ऐसा

समय निश्चित करना चाहिये कि जब उसका प्रेमी उसके यहाँ मौजूद हो । गणिका की खरीदी हुई वस्तुओं में वस्त्राभूषण ; शृंगार-प्रसाधन ; फूल, पान, इत्र, चंदन आदि सुगंधित वस्तुएँ, मदिरा, सोने-चाँदी के चषक, मिठाइयाँ, इत्यादि विविध वस्तुएँ हो सकती हैं । गणिका को भरसक यही प्रयत्न करना चाहिये कि इन वस्तुओं के मूल्य का भुगतान होते समय उसका प्रेमी उपस्थित हो । यह अत्यधिक संभव है कि शिष्टता की खातिर या अपनी उदारता दिखाने के लिए इन रकमों का भुगतान वही कर दे । गणिका को प्राप्त होने वाले धन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, और वह कई प्रकार के खर्चों से बच जायगी । परंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि जब व्यापारियों का हिसाब चुक रहा हो, तब गणिका उनके समक्ष अपने प्रेमी की समृद्धि और उदारता की अभिमानपूर्वक, मुक्तकंठ से प्रशंसा करती रहे ।

२. धर्मकार्य या दानपुण्य करने का दिखावा करना चाहिये । उदाहरणार्थ, राजमार्ग के किनारों पर वृक्षारोपण करवाना : सार्वजनीन कुएँ, तालाब, पांथशालाएँ और बाग बगीचे बनवाना ; देवालयों की स्थापना करवाना ; ब्राहमणभोजन, दीनभोजन, सदाव्रत आदि का आयोजन करना और सुपात्र विद्वानों एवं धर्मादाय संस्थाओं को दान देना । युक्ति से काम लिया जाय, तो इन सब सत्कार्यों के बहाने गणिका इनमें खर्च होने वाले धन से कुछ अधिक ही अपने प्रेमियों से वसूल कर सकती है ।

३. अपने दुख की सच्ची झूठी बातें गढ़कर प्रेमी की सहानुभूति का अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये । उससे मिलने को आते समय रास्ते में डाकुओं ने उसके आभूषण छीन लिये ; घर में चोरी हो गई, गाँव के घर में आग लग गई और सर्वस्व भस्म हो गया, सारे वात्राभूषण और मूल्यवान वस्तुएँ बेचकर कुट्टनी गायब हो गई, जेवर और घर की कीमती सामान चुरा कर नौकर भाग गया, इत्यादि अनेक कहानियाँ गढ़ी जा सकती हैं, जिनके सहारे गणिका अपने देहोपभोग की उचित कीमत से कई गुना अधिक धन वसूल कर सकती है ।

४ किसी समय प्रेमी की आर्थिक कठिनाई के कारण उसे रुपया देना पड़े, तो वह रकम किसी से भारी ब्याज पर कर्ज लेकर दी है, ऐसा दिखावा करना चाहिये । प्रेमी की उपस्थिति में गणिका और उसकी माता के झगड़े का स्वाँग रचना चाहिये जिसमें माता तो बारबार यह कहती रहे कि इतनी रकम कैसे अदा होगी, और गणिका अत्यंत लापरवाही से यह व्यक्त करती रहे कि उसके प्रेमी के रहते हुए इस बात की क्या चिंता है । साथ साथ उसे अपनी शानशौकत कुछ कम कर डालनी चाहिये ताकि प्रेमी यह समझता रहे कि उसकी प्रिय गणिका सचमुच ही आर्थिक कठिनाई में है । इस युक्ति का निश्चितरूप से यह परिणाम होगा कि मूल रकम (जो वास्तव में गणिका की ही होती है) तो वापस आ ही जायेगी, पर साथ में ब्याज, और गणिका की उदारता के लिए कुछ अतिरिक्त रकम देने को भी प्रेमी प्रेरित होगा ।

५. इसके उपरांत छोटे-मोटे और कई बहाने बनाकर भी प्रेमी की जेब हलकी की जा सकती है । मकान की मरम्मत करवानी है ; किसी मित्र के यहाँ पुत्रजन्म होने के कारण सौगात भेजनी है, किसी गर्भिणी सखी की इच्छापूर्ति करनी है, किसी दुखीमित्र या विधवा स्त्री की सहायता करनी है, आदि अनेकविधि बहाने बनाए जा सकते हैं । परंतु इस हालत में यह जरूरी है कि प्रेमी से भूतकाल में मिले हुए उपहारों का वारंबार प्रशंसात्मक उल्लेख करते रहना चाहिये, और नौकरों से यह भी कहलवाते रहना चाहिये कि अन्य प्रेमियों से उसे कितने बहुमूल्य उपहार मिलते रहते हैं । प्रेमी की उपस्थिति में कोई अन्य गणिका या मित्र आ जाय, तो भूतकाल में मिले हुए, और भविष्य में मिलने वाले उपहारों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करना चाहिये, फिर चाहे उसमें सत्य का लवलेश भी न हो । पुराने और नये अनेक प्रेमी उसे अनेक प्रकार के मूल्यवान उपहार देते रहते हैं, फिर भी वह इस विशिष्ट प्रेमी को छोड़ना नहीं चाहती ऐसा आभास उसके मन में सतत उत्पन्न करते रहना चाहिये । इन युक्तियों की सहायता से गणिका अपने प्रेमी से सामान्यत : मिलने वाली, या

पहले से निश्चित कर लेने पर प्राप्त होने वाली रकम से कई गुना अधिक धन वसूल कर सकती है ।''

१२. विरक्त या लापरवाह प्रेमी के लक्षण:—

''गणिका को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि उसका प्रेमी उसके प्रति उपेक्षा या विरक्ति तो व्यक्त नहीं कर रहा है । प्रेमी के नित्य-व्यवहार और चेहरे के भावों से यह बात सरलता से समझी जा सकती है । फिर भी उपेक्षावृत्ति के कुछ लक्षण यहाँ दिये जाते हैं :—

१. निश्चित रकम से कम देने की प्रेमी की प्रवृत्ति हो, या गणिका जो वस्तु चाहे उससे भिन्न या घटिया चीज, कई तगादों के बाद वह लाकर दे, तो समझ लेना चाहिये कि उसका मन अब इस तरफ नहीं रहा ।
२. वह किसी प्रतिस्पर्धिनी गणिका से संबंध रखने लगे ।
३. गणिका जो कुछ कहे उसके ठीक विपरीत करने की उसकी वृत्ति हो ।
४. दैनिक खर्च के लिए छोटी-मोटी रकम, जो वह पहले नियमित रूप से देता हो, देना बंद कर दे ।
५. दिया हुआ वचन या कामकाज वह भूल जाय, या ऐसा कोई वादा उसने किया ही नहीं, यह कहने लगे ।
६. गणिका की उपस्थिति में मित्रों से कोई ऐसी बात कहे जो उसका मानभंग करने वाली हो, या जिसे वह समझ न सके ।
७. किसी काम के बहाने वह कई-कई दिनों तक आना बंद कर दे ।
८. किसी अन्य गणिका को मित्रों या नौकरों के साथ उसकी घनिष्ठता बढ़ रही हो ।

''उपरोक्त लक्षण दिखाई देते ही गणिका को यह समझ लेना चाहिये कि उसका प्रेमी विचलित हो गया है । परंतु पण्यस्त्री को इससे व्यग्र होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं । यह तो उसके पेशे का अनिवार्य अंग है । इस परिस्थिति में से छूटकर आगे बढ़ने का मार्ग उसे तुरंत ढूंढ लेना चाहिये ।''

१३. अवांछित प्रेमी को दूर रखने के उपाय :—

''विरक्त या लापरवाह हो चुकने वाला प्रेमी पण्यांगना के व्यवसाय की दृष्टि से बिलकुल निरुपयोगी है । अत: इससे दुखी हुए बिना, उसे अपने आवास से दूर रखने के लिए युक्तिपूर्ण कदम उठाने चाहिये । अलबत्ता, इससे पहले उसका स्थान ले सकने वाले किसी अन्य प्रेमी की व्यवस्था कर लेनी चाहिये । अवांछनीय प्रेमी को दूर रखने के लिए निम्नलिखित उपाययोजना प्रभावी सिद्ध हो सकती है :—

१. सीधे और स्पष्ट उपाय :— प्रेमी को पसंद न हों ऐसे पुरुषों से संबंध रखना ; उसे पसंद न आये ऐसा बर्ताव करना ; उसकी अप्रिय वस्तुओं का सेवन करना ; उसे चिढ़ाने के लिए, या उसका तिरस्कार करने के लिए अधरोष्ठ बिचकाना या नाक चढ़ाना ; मन की झल्लाहट व्यक्त करने के लिए बात-बात में जमीन पर पाँव पटकना, उसकी समझ में न आयें ऐसे विषयों की चर्चा करना, वह जिस विषय का विद्वान या निष्णात हो, उसे निरर्थक सिद्ध करना, उसके साहसों को उपहासास्पद प्रमाणित करना, अन्य प्रेमियों के साथ इस तरह घुले-मिले रहना कि उसे इच्छित एकांत ही न मिले, उसकी मानों अब आवश्यकता ही नहीं है, ऐसा बर्ताव करना, उसमें कोई व्यंग या त्रुटि हो, तो परोक्ष रूप से उनकी निंदा करना या खिल्ली उड़ाना, बात-बात में ताने कसना, विवाद में उसे नीचा दिखाना, और उसके आगमन के बाद भी कुछ देर तक अपने कमरे में बैठे रहकर उसे प्रतीक्षा करवाना इत्यादि उपाय अत्यंत प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं ।
२. वैयक्तिक उपाय :— उपरोक्त उपाययोजना के बावजूद यदि उसे एकांत मिल जाय, और अनिच्छा प्रदर्शित करने पर भी वह प्रणयाराधन आरंभ कर दे, तो निम्नोक्त प्रकार से बर्ताव करना चाहिये :— प्रेमोपचार के समय उसके हाथ से मद्य नहीं पीना चाहिये और चुंबन का तो उसे मौका ही नहीं देना चाहिये । कामक्रीड़ा में पूर्णरूप से निष्क्रिय और अलप्त रहना चाहिये । दीर्घकाल

तक कामकेलि न कर सकने की प्रेमी की कमजोरी पर ताना कसकर उसके पुंसत्व की अवहेलना करनी चाहिये ।, निद्रा का ढोंग करना चाहिये, और वह जो कुछ भी करे उसका किसी प्रकार की दिलचस्पी न लेते हुए उसकी प्रशंसा का एक शब्द भी उच्चारित नहीं करना चाहिये । इन उपालंभों और उपेक्षा से परेशान होकर वह अपने आप आना बंद कर देगा ।''

अप्रिय प्रेमी को दूर रखने के उपाय तो महर्षि वात्स्यायन ने बता दिये । परंतु पुराने नये प्रेमियों को आकर्षित किए बिना गणिका का पेशा चल नहीं सकता । अत : इसके बाद तुरंत ही गणिकाओं को कुछ पीछे मुड़कर देखने की राय दी गई है ।

१४. पुराने, पूर्वपरिचित प्रेमियों को फिर से आकर्षित करने के उपाय :—

''वर्तमान प्रेमी की धनसंपत्ति का सार निचोड़ लेने के बाद गणिका को उससे पिंड छुड़ाने की कोशिश करनी चाहिये । परंतु इससे पहले किसी पूर्वपरिचित प्रेमी को फिर से फाँसना आवश्यक है । इसके लिए गणिका को दो बातों की खातिरजमा कर लेनी चाहिये । एक तो यह कि पुराने प्रेमी ने फिर से धनसंपत्ति जोड़ ली है या नहीं ; और दूसरे यह कि उसके मन में अपने प्रति थोड़ा बहुत भी प्रेमावेश बचा है या नहीं । धनहीन और प्रेमहीन पूर्वपरिचित प्रेमी की ओर गणिका को नजर उठाकर देखने की भी आवश्कता नहीं । इसके उपरांत एक और महत्त्वपूर्ण बातकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये । अपने द्वारा त्याग दिया जाने के बाद, इस पुराने प्रेमी ने किसी और गणिका से तो संबंध नहीं बाँध लिया ? पुराने प्रेमियों की आर्थिक स्थिति की जाँच-पड़ताल करवा लेने के बाद, उनमें से किसी को पसंद करने से पहले गणिकाको निम्नलिखित छ: संभाव्य परिस्थितियों पर शांतिपूर्वक विचार करके सबसे अधिक समाधानकारक स्थिति का चुनाव करना चाहिये :—

१. पूर्व परिचित प्रेमी अपनी मरजी से गणिका को छोड़ गया था, या गणिकाने उसे त्याग दिया था ? इसके बाद, दूसरी गणिका से संबंध बाँधने के कुछ समय बाद उसने उसे भी स्वेच्छा से छोड़ दिया था, या वहाँ से उसे निकाला गया था ?
२. दोनों प्रसंगों पर अपनी इच्छा से गणिकाओं को छोड़ जाने के बजाय, दोनों स्थानों से निकाल बाहर किया जाने वाला व्यक्ति तो वह नहीं है ?
३. अपने यहाँ से वह स्वेच्छा से चला गया हो, परंतु दूसरे स्थान से उसे अपमानित होकर निकलना पड़ा हो, ऐसा तो नहीं है ?
४. अपनी मरजी से एक गणिका का परित्याग करने के बाद दूसरी के साथ उसने स्थिर संबंध रखा है या नहीं ?
५. अपने द्वारा त्याग दिया जाने पर शायद वह और कहीं गया ही न हो ; या कुछ दिन जाने के बाद सम्मानपूर्वक और स्वेच्छा से वहाँ जाना बंद कर दिया हो ।
६. अपने द्वारा त्याग दिया जाने के बाद, यह भी हो सकता है कि उसने अब तक किसी और गणिका से प्रेमभरा सबंध बनाये रखा हो ।

''इनमें से, अपनी इच्छा और सुविधानुसार चाहे जिसे चाहे जब छोड़ देने वाला प्रेमी अस्थिर मनोवृत्ति वाला और गणिकागमन के आनंद से अपरिचित माना जायगा । वह पुनर्मिलन की इच्छा व्यक्त करे, तो भी गणिकाको उससे बचकर रहना चाहिये । उसकी चालाकी और अविश्वसनीयता के कारण वह संबंध रखने योग्य नहीं । दोनों स्थानों से निकाला जाने वाल प्रेमी स्थिरता और वफादारी का परिचय देता है । हो सकता है कि दूसरे स्थान से उसे गणिका के अतिलोभ के कारण ही निकलना पड़ा हो । इस हालत में, यदि उसके पास पर्याप्त धनसंपत्ति हो, तो उसे फिर से प्राप्त करने के लिए गणिका को हर मुमकिन प्रयत्न करना चाहिये । अपनी मरजी से चला जाने वाला प्रेमी यदि दूसरे स्थान से अपमानपूर्वक निकाला गया हो, तो गणिका के सामने दो विकल्प रहते हैं । यदि वह पहले से अधिक धन दे सकने की स्थिति में हो, तो उसे फिर से आकर्षित करने में कोई हर्ज नहीं । परंतु यदि वह निर्माल्य और कृपण हो, और दूसरे

स्थान से उसे इसी कारण निकाला गया हो, तो उसका आदर करने की या उससे फिर से संबंध जोड़ने की आवश्यकता नहीं । अंत में, अपनी इच्छा से चला जाने वाल प्रेमी यदि दूसरी गणिका के साथ सुख से रह रहा हो, तो उसकी इच्छा होने पर भी उसे फिर से आमंत्रण के योग्य मानने से पहले गणिका को सब तरह से सोच-समझ लेना चाहिये ।

"पुराने प्रेमियों में से किसी को भी फिर से आकर्षित करने से पहले गणिका को उपरोक्त तथ्यों पर, केवल अपने कल्याण को दृष्टि में रखते हुए निम्नलिखित पद्धति से विचार करना चाहिये :—

१. 'अमुक प्रेमी को मैंने सिर्फ इस लिए त्याग दिया था कि वह अन्य किसी गणिका के यहाँ जाता था । अब वह किसी तीसरी स्त्री के साथ रह रहा है । अन्य सब दृष्टियों से वह बहुत अच्छा मनुष्य है । अतः उसे प्रयत्नपूर्वक फिर से आकर्षित करना होगा । इसके लिए सबसे पहले तो उसे उसकी वर्तमान प्रेयसी से विमुख करना चाहिये । उसके यहाँ से वह जितना जल्द छूट सके उतना ही अच्छा है । अन्यथा उसके पास का बचाखुचा धन भी वह छीन लेगी ।"

२. "मेरे द्वारा परित्यक्त प्रेमी अब भी पर्याप्त धन कमा रहा है । उसकी स्थावर और जंगम संपत्ति पहले से बहुत बढ़ गई है । राजदरबार में भी उसका सम्मान है । उसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी है । पिता, भाई, आदि से वह अब अलग रहने लगा है, और किसी पर आश्रित नहीं है । अतः उसे फिर एकबार, प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ।"

३. "मेरे साथ संबंध रखने के कारण, और मैंने उसे निकाल दिया इस कारण से अमुक प्रेमी की पत्नी उसे उपहासास्पद मान कर नीचा दिखाती है । अब यदि मैं उसे फिर से बुला लूँ, तो वह अपनी पत्नी से बदला ले सकेगा ।"

४. "अमुक प्रेमी से फिर से संबंध जोड़ने पर उसके घनिष्ठ मित्र से भी मेरा परिचय हो सकेगा । उसे भी मैं अपने प्रेमपाश में फँसा लूँगी जिससे मुझे एक और धनी ग्राहक मिल जायगा ।"

५. मेरे प्रेमी का मित्र एक ऐसी गणिका का पोषण कर रहा है जिसने आजन्म मेरे साथ स्पर्धा की है और जो आजकल मेरी दुश्मन बनी हुई है । अपने पुराने प्रेमी से मैं मेल कर लूं, तो उसके मित्र और मेरी प्रतिस्पर्धिनी गणिका के बीच वैमनस्य कराने का मुझे मौका मिलेगा । इससे दोहरा लाभ होगा । एक तो मुझे धनवान ग्राहक मिल जायगा, और दूसरे, मेरी वर्षों पुरानी प्रतिशोध-भावना संतुष्ट होगी ।"

६. "मुझे स्वेच्छा से छोड़ जाने वाले प्रेमी को यदि मैं फिर से आकर्षित कर सकूं, तो मुझे दुनिया के सामने यह प्रमाणित करने का मौका मिलेगा कि वह कितना चंचल, अस्थिर और अविश्वसनीय है, और मैं कितनी एकनिष्ठ हूँ ।"

ये, और इस प्रकार के और भी अनेक प्रश्न अपने हृदय से पूछ कर, और उनका संतोषप्रद हल ढूंढ कर, पूरे विचार के साथ गणिकाको कदम उठाना चाहिये, और उचित लगने पर, हर मुमकिन तरकीब से अपने पुराने प्रेमी से संबंध जोड़ लेना चाहिये ।" आचार्य वात्स्यायन यहीं नहीं रुक जाते । इस परिस्थिति में भी विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं । अतः वे और भी गहराई में उतरते हुए पूछते हैं कि पसंद करने का मौका मिले, तो :—

१५. अग्रक्रम किसे दिया जाय: नये प्रेमी को, या पूर्व-परिचित को ?

गणिका के ग्राहक तीन प्रकार के हो सकते हैं :— (१) उसके पूर्व-परिचित प्रेमी, (२) दूसरी गणिकाओं के यहाँ जाने वाले अनुभवी गणिकागामी, जो उसके यहाँ केवल उसके रूपयौवन से आकर्षित होकर कभी-कभी आते हों; और (३) बिलकुल नये रंगरूट । प्रश्न है कि धनसंपत्तिवान नया ग्राहक फँसने की संभावना हो, उस समय यदि कोई पुराना प्रेमी आ जाय, तो क्या करना चाहिये ? वात्स्यायन से पहले के दत्तक नामक आचार्य का मत है कि इस हालत में गणिका को पुराना प्रेमी ही पसंद करना चाहिये । उसका स्वभाव, उसका चरित्र, उसका प्रेम और उसकी संपत्ति इत्यादि सब बातों से गणिका परिचित होती

है और उसे खुश करने के उपायों की भी उसे जानकारी होती है । अत : नये प्रेमी की अनिश्चित मनोवृत्ति का खतरा मोल लेने के बजाय पुराना प्रेमी पसंद करना ही गणिका के लिए हितकर है । वात्स्यायन ने इस मत का उल्लेख किया है, परंतु आरंभ में वे इससे सहमत नहीं होते । उनका कहना है कि पुराने प्रेमी को त्याग देने का प्रधान कारका अकसर यही होता है कि उससे अधिक धनप्राप्ति की आशा नहीं रहती । एकबार धनसंपत्ति खो बैठने वाला, फिर से धनवान हो जाय, इसकी संभावना बहुत कम रहती है । दूसरे, गणिका द्वारा उसका एकबार उसका त्याग किया जाने के कारण, दूसरी बार उसका प्रेम और विश्वास संपादन करना मुश्किल हो जाता है । इसके विरुद्ध, नया प्रेमी गणिका के नावीन्यपूर्ण प्रेमोपचारों से मुग्ध होकर उसी में डूबा रहे इसकी संभावना बहुत अधिक रहती हैं । परंतु अपने मत का प्रतिपादन करने के बाद वात्स्यान यह भी कहते है कि इस सिद्धांत को त्रिकालाबाधित मानने की आवश्यकता नहीं । हर व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र में भिन्नभिन्न विशिष्टताएँ होती हैं । अत : इस विषय में प्रत्येक प्रसंग पर वैयक्तिक रूप से विचार करके परिस्थिति के अनुसार आचरण करना चाहिये । उन्हीं के शब्दों में कहें तो :—

''गणिका के प्रति पूर्ण रूप से आसक्त हो चुकने वाले नौसिखिये पुरुष के मन में यह भय सदा बना रहता है कि अन्य कोई पुरुष उसकी प्रेयसी को उससे छीन न ले । इस भय के कारण वह गणिका के दोषों को भूल जाता है और अनेक प्रकार के उपहार देकर उसे अपने प्रति आकृष्ट रखता है । परंतु पुराना प्रेमी यदि अन्य दृष्टियों से चाहने योग्य हो, तो पर्याप्त धन न मिलने पर भी गणिका का कर्तव्य है कि उसे खुश रखे, और केवल धन की कमी के कारण ही किसी धनिक पुरुष से संबंध रखने की आवश्यकता पड़े, तो भी पुराने प्रेमी से संबंध तोड़ न दे । यहाँ हार्दिक प्रेम, कुलीनता और सहृदयता का प्रश्न उपस्थित होता है, और गणिका को यह कभी प्रमाणित नहीं देना चाहिये कि मौका आपने पर यह प्रेम परायण और सहृदय कुलस्त्रियों जैसा बर्ताव नहीं कर सकती । अत : यह तो अनिवार्य है कि नये नये ग्राहकों की ओर से आकर्षक प्रस्ताव लेकर दलाल उसक पास आयें, तो वह सबसे अधिक धन देने वाले का प्रस्ताव मान्य कर ले, परंतु पुराना प्रेमी अन्य दृष्टियों से वांछनीय और प्रिय हो, तो धन की उपेक्षा करके भी उसके साथ संबंध बनाये रखना चाहिये । किसी भी हालत में उसे अपमानित करके निकाल बाहर करने की आवश्यकता नहीं । फुरसत के समय, जब अन्य धनिक ग्राहकों के आने की संभावना न हो, वह अपने पुराने प्रेमी का मनोरंजन कर सकती है । यह काम उतना सरल नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में गणिका को पुराने प्रेमी को खुश रखने की और मुँहमांगा धन देने वाले नये प्रेमी को नाराज न करने की परस्पर विरोधी भूमिकाएँ एकसाथ निभानी पड़ती हैं । इससे बचने का एक मार्ग यह भी हो सकता है कि धनवान प्रेमी को वह अपने गृह में बुलाये, और पुराने प्रेमी को खुश रखने के लिए उसके घर कभी-कभी आती जाती रहे ।''

१६. धनप्राप्ति के विविध प्रकारों का विचार:—

''गणिका, वेश्या, या वारांगना, किसी भी नामसे पुकारें, धनप्राप्ति के लिए देहविक्रय करना ही सामान्य नारी का प्रधान लक्षण होता है । परंतु विक्रय का तत्त्व अलग-अलग गणिकाओं में कम से कम तीन प्रकारों से व्यक्त होता है :—

१. एक ही पुरुष से संबंध रखकर धन प्राप्त करना ।
२. अनेक पुरुषों से संबंध रखकर प्रत्येक से अधिकाधिक धनप्राप्ति करना ।
३. किसी भी पुरुष से घनिष्ठ संबंध न रखते हुए, केवल कला के सहारे जीवनयापन करना ।

इनमें से पहला और तीसरा प्रकार अपवादरूप ही होता है, और कहीं ऐसी स्थिति देखी भी जाती हो, तो उसकी परिणति शीघ्र ही दूसरे प्रकार में हो जाती है । परंतु फिर भी, यह मानने का काई कारण नहीं कि इस प्रकार के अपवाद मिलना संभव ही नहीं । गणिका का व्यवसाय ही ऐसा विचित्र है कि उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक कामलुब्ध पुरुष उसके इर्दगिर्द चक्कर काटते रहें । एक बार गणिकावृत्ति का व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लेने पर, उसके लिए उचित भी यही है

कि किसी विशिष्ट पुरुष के प्रति एकनिष्ठ रहने की भावना को छोड़कर वह अधिकाधिक पुरुषों से संबंध रखने की कोशिश करे और कम से कम समय में अधिक से अधिक धनसंचय करने का प्रयत्न करे । इस दृष्टि से, यह अनिवार्य है कि रूपयौवन बना रहे तब तक गणिकाको प्रत्येक रात्रिका उपयोग करना चाहिये, और अपने देहोपभोग के लिए उचित रकम निश्चितकर देनी चाहिये । प्रेमी खुश होकर, स्वेच्छा से, इससे अधिक चाहे जितना धन दे जाय यह अलग बात है, पर गणिका को उपभोग की न्यूनतम रकम अवश्य निश्चित कर लेनी चाहिये । मूल्य निर्धारण करते समय निम्नलिखित परिस्थितियाँ ध्यान में रखनी चाहिये :—

१. देश की आर्थिक स्थिति :— जिस प्रदेश या नगर में वह निवास करती हो, वहाँ के लोगों की सामान्य सांपत्तिक स्थिति कैसी है, और लोग अधिक से अधिक कितना धन दे सकते हैं इसका विचार आवश्यक है ।

२. समय और ऋतुविशेष का विचार :— किसान, जमींदार, व्यापारी, सार्थवाह आदि विभिन्न श्रेणियों के लोग किस समय कितना धन कमाते हैं, इसका विचार भी मूल्य निर्धारण के समय अवश्य करना चाहिये ।

३. लोगों के स्वभाव की जानकारी :— अमुक प्रदेश के लोग सामान्यत : मौजी हैं या मूजी, इसका अंदाज लगा लेना चाहिये ।

४. अन्य स्थानीय गणिकाओं की तुलना में अपनी योग्यता, कला, रूपयौवन और वैभव किस कक्षा के हैं, इसका विचार करके ही मूल्य निर्धारण किया जाय ।

''अपने आप आने वाले ग्राहकों की संख्या कम होती दिखाई दे, तो गणिका को कुशल और अनुभवी दूतों (दलालों) की सहायता अवश्य लेनी चाहिये । उन्हें उनकी योग्यता के प्रमाण में धन देते रहना चाहिये ताकि वे नये नये ग्राहक लाते रहें । यदि किसी धनिक या रसिक प्रेमी की तबीयत अत्यंत खुश हो जाय, और वह साधारण मूल्य से कई गुना अधिक धन गणिका को दे, तो मिले हुए धन के अनुसार दो, तीन, या चार रात्रियाँ केवल उसी के लिए सुरक्षित रखनी चाहिये । ऐसे समय अन्य प्रेमियों को कुछ दिन, प्रतीक्षा करनी पड़े, तो भी कोई हर्ज नहीं । इससे उनका मोह बढ़ेगा ही । समान रकम देने वाले एकाधिक ग्राहक एकसाथ उपस्थित हो जायँ, तो गणिकाको उन्हें निम्नलिखित क्रम से पसंद करना चाहिये :—

१. अपने किसी मित्र या पूर्वपरिचित प्रेमी की सिफारिश लेकर आने वाला पुरुष ।

२. भविष्य में जिसके कई बार आने की संभावना हो, ऐसा पुरुष ।

३. सामाजिक या राजकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुरुष ।

४. गणिका के हृदय में प्रबल काम भावना जागृत कर सके ऐसा सुंदर और आकर्षक पुरुष ।''

दत्तक आदि पूर्वाचार्यों का मत है कि ''तीव्र भावुकता वाले पुरुष की अपेक्षा उदार स्वभाव के धीरोदात्त पुरुष को अग्रक्रम देना उचित है । भावुक पुरुष भावप्रदर्शन अधिक करेगा जबकि धन जेब में जितने रुपये होंगे, उस हिसाब से देगा । इसके विपरीत उदार स्वभाववाला पुरुष चाहे जब, चाहे जिस परिस्थितिमें, मुँहमांगा धन फेंक देने को तैयार रहेगा । कृपण पुरुष यदि सचमुच ही गणिका के प्रति अनुरक्त हो, तो उसकी थैली का मुँह भी खुल सकता है, परंतु स्वभाव से ही उदार पुरुष का कोई मुकाबला नहीं । उसके मन में गणिका के प्रति अधिक प्रेमभाव हो या न हो, वह तो अपनी आदत से मजबूर होता है और छोटी मोटी बातों से खुश होकर कुछ न कुछ देता ही रहता है । इन कारणों से, हर परिस्थिति में उदारपुरुष को ही पहला क्रम देना योग्य है । ''वात्स्यायन इस विचार से सहमत हैं और कई स्थानों पर उन्होंने उदार पुरुषों के प्रति पक्षपात व्यक्त किया है । परंतु साथ ही एक चेतावनी भी दी है कि कोरी उदारता गणिका के किसी काम की नहीं । जबानी जमाखर्च करने वाले उदारपुरुष तो चाहे जितने मिल सकते हैं । परंतु उदारता को मूर्त स्वरूप देने की जिनकी जेब में ताकत नहीं, उनसे गणिका को क्या लाभ ? अत : वात्स्यायन की राय है कि प्रेमी की उदारता के साथ धनसंपत्ति का योग होने पर ही गणिका

को उसे पसंद करना चाहिये । इससे आगे बढ़ कर वे यह भी कहते हैं कि उदार और धनिक प्रेमी की अपेक्षा, जिसने संकट के समय गणिका की सहायता की हो, उसे ही प्रथम स्थान देना चाहिये ।

कुछ ग्राहक ऐसे होते हैं जो सदा गणिका के एहसान से दबे रहते हैं । पूर्वाचार्यों का मत है कि उदार और एहसानमंद प्रेमी के बीच चुनाव का मौका आये, तो गणिका को उदार प्रेमी ही पसंद करना चाहिये । परंतु वात्स्यायन का मत इससे भिन्न है । उनका कहना है कि ''उदारता के साथ कभी कभी ऐसे तत्व उत्पन्न हो जाते हैं जो दीर्घदृष्टि से विचार करने पर गणिका के व्यवसाय को हानि पहुँचा सकते हैं । उदाहरणार्थ, किसी उदारपुरुष ने लंबे समय तक गणिका का पोषण किया हो, तो उस पर वह अपना विशेषाधिकार मानने लगेगा और उसकी छोटी-मोटी गलतियों पर नाराज हो जायगा । इस मनस्थिति में यदि कोई प्रतिस्पर्धिनी गणिका झूठे इलजाम लगाकर उसके कान भर दे, तो वह और भी क्रुद्ध हो सकता है । गणिका ने अब तक उसका मन रखने के लिए क्या-क्या किया है, इसे भूलकर, अपनी उदारता का ही उसे वारंवार ध्यान आता रहे,अ ौर उसकी दृष्टि से अकृतज्ञ गणिका के प्रति उसे अरुचि हो जाय, यह भी संभव है । उदार पुरुष प्राय : स्पष्टवक्ता, तुनकमिजाज, कटुभाषी और स्वभाव से भोले होते हैं और दूसरे की छोटीमोटी त्रुटि को भी वे अकसर सहन नहीं कर सकते । उनकी दूसरी कमजोरी यह होती है कि वे कान के कच्चे होते हैं और किसी के पक्ष या विपक्ष में कोई कुछ कहे,.तो उनकी स्वाभाविक वृत्ति उसे तुरंत मान लेने की होती है । इसके विपरीत, कृतज्ञ प्रेमी गणिका के उपकार को कभी नहीं भूलता और उसकी छोटी-मोटी गलतियों से या उसके विचित्र व्यवसाय के कारण उत्पन्न होने वाली त्रुटियों से तिनक कर उपेक्षा या असहिष्णुता प्रदर्शित नहीं करता । एहसानमंद होने के कारण वह हमेशा गणिका के पक्ष की ही बात सोचता है, और कोई उसके कान भरे, या गणिकापर झूठे-सच्चे आरोप लगाये, तो वह विश्वास नहीं करता । अत : केवल ढीली मुट्ठी वाले उदार प्रेमी की अपेक्षा इस प्रकार का प्रेमी कहीं अधिक विश्वासपात्र होता है । उपकार मानने वाले प्रेमियों में भी जिसके पास संपत्ति अधिक हो, और जो लंबे समय तक नियमित रूप से धन दे सके उसे ही अग्रक्रम देना चाहिये । गणिका का मुख्य उद्देश्य धन कमाना ही है, इस सत्य को उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिये ।''

वेश्यावृत्ति और उसके विभिन्न पहलुओं की इतनी गहन चर्चा, और तत्संबंधी अभिप्रायों और मतमतातरों का इतना सूक्ष्म विवेचन आज के युग में हमें विचित्र लग सकता है, और कभी कभी हमें इससे झल्लाहट भी हो सकती है । परंतु प्राचीन आचार्यों ने इससे भी अधिक ब्योरे बार वर्णन किये हैं । अपने किसी पुराने प्रेमी और अचानक आ पहुँचने वाले किसी धनिक अजनबी के बीच चुनाव करने का सवाल आये, तो कोई भी दुनियादार आदमी गणिका को यही राय देगा कि रोजमर्रा के प्रेमी को छोड़ कर, दो एक रात्रियों तक नवागंतुक का मनोरंजन करके अधिक से अधिक धन वसूल कर लेना चाहिये । कामशास्त्र के पुराने आचार्यों का भी यही मत है । परंतु वात्स्यायन अत्यंत ठंडे दिमाग से राय देते हैं कि यह मत भ्रामक है । उनका कहना है कि अजनबी आदमी को तो दूसरे दिन या फिर कभी आमंत्रित करके रुपये खरे किये जा सकते हैं । परंतु रोज आने वाले प्रेमी से ना कहने पर वह सदा के लिए खिसक जाय ऐसी आशंका रहती है । बहुत सा दूध एक बार प्राप्त करने की अपेक्षा रोज थोड़ा-थोड़ा दूध देने वाली गाय हर हालत में वरेण्य है । अत : वात्स्यायन का स्पष्ट मत है कि पुराने मित्र को किसी भी हालत में नाराज नहीं करना चाहिये । इस नियम में वे एक ही अपवाद मानते हैं : — ''गणिका को यदि धन की तात्कालिक आवश्यकता हो, और दूसरे दिन पर टालने से धनवान अजनबी के चले जाने की संभावना हो, तो गणिका उसे अग्रक्रम दे सकती है । परंतु इस हालत में उसे अपने मित्र के सामने सब बातों का स्पष्टीकरण करके बिनती करनी चाहिये और उसे समझाना चाहिये कि वह नहीं मानेगा तो आगंतुक चला जायगा और उसे उतनी रकम का नुकसान होगा । अपनी हानि और प्रेमी की हानि को वह भिन्न भिन्न नहीं मानती ; अत : वह यदि अनुमति दे, तो दो एक रात्रियों के लिए आंगतुक को संतुष्ट करके वह अच्छी खासी रकम बना सकती है और उसके जाने के बाद तो वह सदा-सर्वदा के लिए उसकी है ही'''''' इत्यादि । इस प्रकार मीठे शब्दों से की हुई बिनती से

प्रेमी जरूर पसीज जायग और गणिका को दो एक रात्रियों के लिए मुक्त करके आगंतुक शौकीन से अधिक से अधिक धन वसूल करने का मौका राजीखुशी से देगा ।''

धनसंपत्ति और संकटनिवारण के बीच निर्वाचन का प्रश्न हो, तो पूर्वाचार्यों के मतानुसार धन को ही प्राधान्य देना चाहिये क्यों कि धन की शक्ति से प्राय : सभी प्रकार के संकट टल सकते हैं । परंतु वात्स्यायन का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है :— ''धन का — रुपये पैसे का — तो एक निश्चत मूल्य होता है ; और उसे गणिका चाहे जब प्राप्त कर सकती है । परंतु जीवन में कई प्रसंग ऐसे आते हैं जिनका धन द्वारा मूल्यांकन नहीं हो सकता । कोई संकट, आपत्ति का भय यदि एक बार शुरू हो जाय, तो वह कहाँ जाकर रुकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं, और एकबार इस दुष्टचक्र में फँस जाने पर, कितना धन खर्च करने पर उसका निवारण होगा इसका भी कोई अंदाज नहीं । आज हजार मुद्राएँ छोड़ देने से भविष्य में दस हजार का खर्च टलता हो, तो किसी भी दृष्टि से आज का त्याग हितकर ही माना जायगा । अत : जीवन के अन्य व्यवहारों की तरह गणिकाव्यवहार में भी, भविष्य की हानि या अनर्थ को टालने के लिए वर्तमान प्राप्ति का मोह छोड़ देना ही उचित है । इसमें केवल एक अपवाद है । भविष्य की कठिनाई मामूली हो, और तुरंत प्राप्त होने वाले धन का प्रमाण बहुत अधिक हो, तो धनप्राप्ति को ही प्राधान्य देना चाहिये । छोटे मोटे विघ्न और संकट तो कभी कभी अपने आप हल हो जाते हैं ।''

इसके बाद एक नये विषय का आरंभ होता है । आचार्य वात्स्यायन कुछ ऐसे प्रसंग गिनाते हैं जब अपने साधारण प्राप्य से कुछ कम रकम लेकर भी ग्राहक को संतुष्ट करने से गणिका का हित हो सकता है :—

१. ग्राहक को अन्य किसी गणिका के यहाँ जाने से रोकने के लिए ।
२. अन्य किसी स्त्री के प्रेमपाश से मुक्त करके अपने प्रति उसकी सद्भावना बढाने के लिए ।
३. प्रतिस्पर्धिनी गणिका को मिलने वाले धन पर रोक लगाने के लिए ।
४. किसी महत्त्वपूर्ण पुरुष के साथ संबंध होने पर अपना स्थान, वैभव, महत्त्व, मूल्य या आकर्षण बढ़ने की संभावना हो तब ।
५. सिर पर मंडरान वाले किसी संकट से त्राण पाने के लिए किसी शक्तिशाली या सत्ताधीश पुरुष की सहायता की आवश्यकता हो, तब ।
६. वर्तमान प्रेमी की आर्थिक स्थिति कमजोर, होने पर, उसकी पहले की उदारता को ध्यान में रखते हुए उसे निभा लेने के लिए ।
७. किसी पुरुष के प्रति प्रबल आकर्षण या दुर्निवार्य मोह उत्पन्न होने पर ।

जिस पुरुष के साथ संबंध रखने पर गणिका की कक्षा या प्रतिष्ठा बढ़ने का विश्वास हो, या उसकी मित्रता से किसी आपत्ति के टल जाने की संभावना हो, तो उसे संतुष्ट करके, बदले में गणिका कुछ भी न ले, तो भी कोई बुराई नहीं मानी गई । पंरतु, इसके विपरीत, कुछ परिस्थितियों में महर्षि वात्स्यायन गणिकाको निश्चित की हुई रकम उधार न रखते हुए तुरंत वसूल करने की सलाह देते हैं । इनमें के कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं :—

१. गणिका को मालूम पड़े कि उसका प्रेमी उसे चकमा देकर किसी अन्य गणिका से संबंध बाँधने का विचार कर रहा है तब ।
२. प्रेमी की पत्नी पतिगृह में आने वाली है, या निकट भविष्य में उसका विवाह होने वाला है, ऐसे समाचार मिलने पर ।
३. प्रेमी गणिकागमन की आदत छोड़ देने वाला है, यह ज्ञात होने पर ।
४. प्रेमी का पिता या अन्य कोई गुरुजन गणिकागमन के लिए उसकी भर्त्सना करनेवाला है, यह समाचार मिले तब ।

५. प्रेमी को उसके व्यवसाय में घाटा हुआ है, या निकट भविष्य में उसे नौकरी से निकाल दिया जायगा ऐसी आशंका होने पर ।
६. प्रेमी अस्थिर मनोवृत्ति और दुर्बल निश्चय वाला है, ऐसा विश्वास हो जाने पर ।

१७. गणिकावृत्ति से द्रव्योपार्जन के हानि-लाभ और अर्थानर्थ:—

"गणिका की अर्थप्राप्ति के साथ अनेक अच्छे-बुरे परिणाम, आकस्मिक लाभ या हानि की आशंका, और एक प्रकार का भय एवं चिंता का वातावरण अनिवार्य रूप से जुड़े रहते हैं । निम्नलिखित तत्त्वों का गणिका की अर्थप्राप्ति पर बुरा असर पड़ता है, और अंत में वे उसके हित के विरुद्ध जा सकते हैं :—

१. विवेकबुद्धि (अच्छे और बुरे का भेद समझने की शक्ति) का अभाव ।
२. किसी विशिष्ट पुरुष के प्रति अंध प्रेम ।
३. अत्यंत सरल और किसी पर भी विश्वास कर लेने का स्वभाव ।
४. रूपयौवन का गरूर और योग्यता का मिथ्याभिमान ।
५. तुनकमिजाजी ।
६. लापरवाही और प्रमाद
७. तड़क-भड़क का अत्यधिक शौक, और शानशौकत का झूठा आडंबर ।
८. मूर्खताभरे दुस्साहस करते रहने की वृत्ति······ इत्यादि ।"

वात्स्यायन की यह सूची बहुत लंबी चलती है । हमें उस की गहराई में उतरने की आवश्यकता नहीं । गणितशास्त्र के जैसी निश्चयात्मक पद्धति से गिनायी जानेवाली ये बारीकियाँ मन को ऊबा देती हैं । अत : यहाँ उनमें से कुछ का ही उल्लेख किया गया है । इसके बाद वात्स्यायन इस बात की चर्चा करते हैं कि उपरोक्त कमजोरियों का अंजाम क्या हो सकता है । उनके गिनाये हुए कुछ दुष्परिणाम इस प्रकार हैं : —

१. परिश्रम से प्राप्त किया हुआ धन निरर्थक बातों में खर्च हो जाता है ।
२. प्रतिष्ठा को हानि पहुँचती है ।
३. आय-व्यय का कुछ निश्चित अंदाज नहीं लगाया जा सकता ।
४. अनैतिक मार्गों से की हुई कमाई कभी कभी अन्य धनसंपत्ति को भी अपने साथ ले जाती है ।
५. सामाजिक कलंक और ताने सहने पडते हैं ।
६. अस्थिर मनोवृत्ति वाली गणिकाओं के साथ राज्यशासन कठोर बर्ताव कर सकता है और बंधन, केशवपन, अंगच्छेदन आदि दंड गणिकाको सहन करने पड़ते हैं ।

अत : कामसूत्रकार की राय है कि गणिकाको आरंभ से ही स्वभाव की इन त्रुटियों से बचकर रहना चाहिये, और थोड़ी बहुत आर्थिक हानि सहन करके भी इन दुर्गुणों को जड़मूल से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इससे आगे महर्षि वात्स्यायन गणिकाजीवन में हो सकने वाले विभिन्न प्रकार के अनुबंधों की चर्चा करते हैं । किसी सुलक्षण पुरुष के साथ संबंध होने पर गणिकाको यथेच्छ धन और प्रतिष्ठा प्राप्त हो, अनेक स्थानों से उसकी मांग आये, और वह अपने नगर की शोभा और आकर्षण बन जाय, तो ऐसे संबंध को अर्थानुबंध कहा गया है । किसी सामान्य आदमी के साथ संबंध होने पर गणिकाको निश्चित धनप्राप्ति तो होती रहे परंतु प्रतिष्ठा, अतिरिक्त धन या अन्य किसी प्रकार का लाभ न हो, तो इस संबध को निरनुबंध कहा गया है । कोई निर्धन वेश्यागामी भीख मांगकर, उधार लेकर या चोरी करके गणिका को धन दे, तो इस कलंक की छाया गणिका पर भी पड़ती है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रकार का दूषित धन गणिका की अपनी पूंजी को भी नष्ट कर सकता है । इसी प्रकार, किसी नीची जाति या हीनकुल में जन्म लेने वाले पुरुष के साथ या किसी चोर, ठग, या अपराधी के साथ संबध रखने पर भी उसका कार्य और उसका धन, दोनों कलंकित हो उठते हैं । इस प्रकार के संबंध को अनर्थानुबंध कहा गया है, जिसकी

परिणति प्राय : गणिका के अनिष्ट में होती है । कभी कभी गणिका को किसी प्रसिद्ध नेता, सेनानायक, राजमंत्री, या सत्ताधीश का, उसकी कृपणता के कारण, बिना मूल्य या अपनी गांठ से थोड़ा-बहुत खर्च करके मनोरंजन करना पड़े, ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो सकती है । इससे गणिका को कोई प्रत्यक्ष या तात्कालिक लाभ नहीं होता । परंतु इससे यदि किसी संकट से उसकी रक्षा होती हो, तो या भविष्य में होने वाली भारी धनहानि से वह बच जाती हो, तो आरंभ का थोड़ा बहुत नुकसान या खर्च निरर्थक नहीं माना जा सकता । इस प्रकार का संबंध, जिसमें आरंभिक अर्थहानि अंत में लाभदायक सिद्ध होती हो, अनर्थार्थानुबंध कहा जाता है । परंतु किसी दुष्ट, हृदयहीन, कृतघ्न और फरेबी पुरुष को खुश करने के लिए गणिका को अपने समय, शक्ति और धन का अपव्यय करना पड़े, तो उसका कोई अच्छा परिणाम हो ही नहीं सकता । अत : वात्स्यायन इस प्रकार के संबंध को किसी भी प्रकार का अनुबंध न कहते हुए उसे स्पष्ट रूप से अनर्थ घोषित करते हैं ।

आचार्य बाभ्रव्यने गणिकाजीवन में उत्पन्न हो सकने वाले विभिन्न संबंधों का कुछ अलग दृष्टि से विचार किया है । उन्होंने इनकी चर्चा 'अनुबंध' के बजाय 'उभयतोयोग' संज्ञा के अंतर्गत इस प्रकार की है :—

१. एक प्रेमी गणिका को पर्याप्त धन देकर उसका निर्वाह कर रहा हो, ऐसे समय यदि दूसरा कोई प्रेमी गणिका के जाल में फँस जाय, और उसे दोनों से धनप्राप्ति होती रहे, तो इस स्थिति को 'उभयतो अर्थ योग' कहा गया है । इस स्थिति में, दोनों प्रेमियों को एक दूसरे की उपस्थिति की जानकारी हो, तो भी कोई हर्ज नहीं । उनकी स्पर्धा के कारण गणिकाको इससे लाभ ही होता है ।

२. किसी सत्ताधीश या राजनेता को खुश करने के लिए गणिकाको अपने नियमित प्रेमी का त्याग करना पड़े और अपनी गांठ से थोड़ा-बहुत खर्च करना पड़े, फिर भी यदि इच्छित परिणाम की निष्पत्ति न हो, तो इस स्थिति को 'उभयतो अनर्थयोग' कहा गया है क्योंकि इसमें दोनों प्रकार से गणिका की हानि होती है ।

३. नये प्रेमी का स्वीकार करने से पर्याप्त धन की प्राप्ति होगी, या नहीं इसकी शंका हो, और पुराना प्रेमी गतकाल को याद करके धन देता रहेगा या नहीं, यह भी अनिश्चित हो, तो इस स्थिति को 'उभयतोअर्थसंशय' कहा गया है ।

इन सब बारीकियों के विवेचन से यही सिद्ध होता है कि गणिका का व्यवसाय अत्यंत अस्थिर और अनिश्चित है, जिसमें कदम कदम पर विषमताओं का सामना करना पड़ता है । इस हालत में प्रत्येक प्रसंग पर परिस्थिति का पूरा विचार कर के, पक्ष-विपक्ष के तर्कों की तुलना करके, और मित्रों एवं साथियों से सलाह करके ही कदम उठाना चाहिये । जहाँ धनप्राप्ति या संकटनिवारण की आशा हो, उस मार्ग पर बेधड़क आगे बढ़ा जा सकता है, परंतु जहाँ किसी प्रकार की शंका की गुंजाइश हो, वहाँ रुक जाना ही श्रेयस्कर होता है ।

इसके बाद वात्स्यायन ने गणिकाओं के इर्द गिर्द मंडराने वाले रसिक छैलाओं की चर्चा की है । "ये लोग अकसर गणिकाओं के दलाल होते हैं, और किसी हद तक उनसे मैत्री का दावा भी रखते हैं । साथ ही, किसी विशिष्ट गणिका के साथ उनकी घनिष्ठता भी होती है जिसके उपभोग के वे सदा इच्छुक रहते हैं । विलासी ग्राहकों का अभाव हो, तो गणिका की वासना का शमन यही लोग करते हैं, और मौका पड़ने पर थोड़ा-बहुत धन भी उसे देते रहते हैं । धनवान ग्राहकों का नितांत अभाव होने पर ये लोग बारीबारी से गणिकाओं के उपभोग के दिन आपस में निश्चत कर लेते हैं । इस परिस्थिति को 'गोष्ठी परिग्रह' कहा जाता है । ऐसे समय गणिका का कर्तव्य है कि वह कभी एक के और कभी दूसरे के प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शित करके बाकी लोगों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न करती रहे । ईर्ष्या से जन्म लेने वाली स्पर्धा के कारण ये लोग गणिका को अधिकाधिक धन देने को प्रेरित होंगे, जिससे गाढ़े समय में भी उसका काम चलता रहेगा । वसंतोत्सव जैसे सार्वजनीन उत्सव-

प्रसंगों पर तो गणिकामाता को इन लोगों से स्पष्ट कह देना चाहिये कि जो अधिक से अधिक धन या सबसे अधिक मूल्यवान उपहार देगा, उसे ही गणिका का देहोपभोग प्राप्त हो सकेगा । किसी गणिका का एकनिष्ठ प्रेम जीतने की स्पर्धा इन छैलाओं में उत्पन्न हो जाय, तो गणिका को बहुत सोच-समझ कर कदम उठाना चाहिये । उसे विचार करना चाहिये कि उसका सर्वाधिक लाभ इनमें से किसी एक का स्वीकार करने से होगा, या दो-चार का, या सब का ? एक यदि मुँहमांगा धन देने लगे, तो दूसरों से धन की आशा किस हद तक की जा सकती है ? इस प्रकार ठंडे दिमाग से पूरी परिस्थिति का तारतम्य से विचार करके ही गणिका को अपना बर्ताव निश्चित करना चाहिये ।'' इस स्थिति को वात्स्यायन ने 'समन्ततोयोग' कहा है, जिसमें सब प्रकार से अच्छा, या सब तरह से बुरा परिणाम निकलने की समान संभावना रहती है ।

३

कामसूत्र में कुट्टनीसंस्था

इन सब बारीकियों से, और आज के युग में निरर्थक दिखाई देने वाले विवेचनों से पाठक ऊब सकता है । परंतु आचार्य वात्स्यायन किसी स्थितप्रज्ञ की सी तटस्थता से अपनी बात कहते जाते हैं । इसके बाद उन्होंने उस युग में, और वर्तमान युग में भी, गणिकासंस्था में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली गणिकामाता (कुट्टनी) का विवेचन आरंभ किया है । हम देख चुके हैं कि वेश्यागृहों का नियमन और संचालन करने वाली इन अनुभवी प्रौढास्त्रियों को लेकर संस्कृत में 'कुट्टनीमतम्' और 'समयमातृका' जैसे केवल इसी विषय का निरूपण करने वाले ग्रंथों की रचना हुई है । उनका विचार आगेके परिच्छेदों में किया जायगा । यहाँ तो इन गतयौवन गणिकामाताओं के संबंध में वात्स्यायन के मत का संक्षेप में उल्लेख किया जाएगा । इनका विचार करने से पहले महर्षि वात्स्यायन नारी के कामिनी रूप को दो मोटे विभागों में बांट देते हैं : —

१. रागपरा :— केवल प्रेम, अनुराग या काम के वश होकर व्यवहार करने वाली स्त्रियाँ जिनका एकमात्र ध्येय देहसुख प्राप्त करना होता है । इस वर्ग में गणिकाएँ भी हो सकती हैं ।
२. अर्थपरा : केवल धनप्राप्ति ही जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य हो, ऐसी स्त्रियाँ । कुछ अपवादों को छोड़कर गणिकाओं के पूरे वर्ग का समावेश इसी विभाग में होता है ।

परंतु जिस प्रकार अनुरागप्रेरित वर्ग में कुछ गणिकाएँ भी हो सकती हैं; उसी प्रकार अर्थप्रेरित वर्ग में कुछ कुलीन स्त्रियाँ भी हो सकती है । शिष्टसमाज की स्त्रियाँ धनलोभी नहीं होतीं, यह मानने का कोई कारण नहीं । कुट्टनी-संस्था की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए वात्स्यायन कहते हैं: ''गणिकाव्यवसाय मुख्यत : अर्थपरा वर्ग की स्त्रियाँ ही करती हैं । उनके अनुराग या वासना को संतुष्ट करने के साधन गणिकाजीवन में उन्हें आनुषंगिक रूप में मिल जाते हों तो भी अर्थप्राप्ति ही उनके जीवन का प्रधान ध्येय होता है । वासनातृप्ति और अर्थोपार्जन, दोनों प्राप्तव्यों की मनसोक्त पूर्ति होती रहने पर भी एक समय ऐसा जरूर आता है, जब उनका रूपयौवन ढलने लगता है, और इसके बाद, बड़ी तेजी से, उनके देहोपभोग की कोई कीमत नहीं रह जाती । इस हालत में अपनी पुत्री या पोष्यपुत्री को अपना स्थान देकर गणिका निवृत्त होता रहता है और कुछ वर्ष पहले की वांछिता वारांगना 'कुट्टनी' के नाम से पहचानी जाने लगती है । उसमें योग्यता हो, तो अपने वेश्यालय में अनेक युवतियों की भरती करकेवह उसकी अधिष्ठात्री बन सकती है ।'' इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उस युग में भी, निवृत्त होने से पहले ये भग्नभोगा गणिकाएँ, अपनी पुत्री या पुत्रियाँ हो, तो उन्हें, या फिर किसी लड़की को खरीद कर या छल-कपट से बहकाकर उसे गणिकावृत्ति की तालीम देती रहती थी । ये युवतियाँ गणिका की खुद की कन्याएँ हों, आश्रिताएँ हों, या खरीदी हुई हों, आज के समान उस युग में भी गणिकापुत्रियों के लिए वेश्यावृत्ति करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं था और प्रौढा गणिकाओं के लिए जीवन के उत्तरकाल में कुट्टनी बनने के सिवा और कोई चारा

नहीं था ।

कुशल और सफल गणिका बनाने के लिए इन लड़कियों को बचपन से ही विशिष्ट प्रकार की शिक्षा दी जाती थी । संगीत, नृत्य, अभिनय, वाक्चातुर्य, देहशृंगार और गणिकोचित शिष्टाचार में उन्हें उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी । उस युग में इन कलाओं की शिक्षा के लिए गंधर्वशालाओं की स्थापना की जाती थी जिनमें गणिकापुत्रियों के उपरांत धनिक परिवारों की कन्याएँ और कलासक्त नवयुवक भी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे । परंतु गणिकापुत्रियों की उपस्थिति के कारण इन शालाओं को बहुत प्रतिष्ठित नहीं माना जाता था । गणिकाओं को तालीम देने वाले कत्थक नृत्यकारों का वर्ग आज भी उत्तर भारत में मौजूद है और दक्षिण भारत में तो विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय नृत्यों की तालीम देने वाले कलाविद गुरुओं की परंपरा कभी नहीं टूटी । आज के युग में शिष्ट समाज में फिर से एकबार नृत्यकला का शौक बढ़ रहा है । इससे इन कलाविदों की साधना-परंपरा अक्षुण्ण रह सकेगी ऐसी आशा की जा सकती है । नृत्य, संगीत या वाद्यकला में सिद्धि प्राप्त करना आसान बात नहीं है । इसके लिए वर्षों की तपस्या आवश्यक होती है । साथ ही इन विषयों के शास्त्रों का और रसालंकार का निरूपण करने वाले ग्रंथों का अध्ययन भी आवश्यक होता है । यह तो हुई केवल शौकिया सीखने वालों की बात । इन कलाओं में व्यवसायिक स्तर पर सिद्धि प्राप्त करने के लिए तो और भी उच्च कक्षा की योग्यता, कठोर परिश्रम और नैष्ठिक लगन की अपेक्षा रहती होगी ; और गणिकावृत्ति में रसिकरंजन के साथ देहविक्रय का तत्त्व भी जुड़ा होने के कारण उस युग की कलावती गणिकाओं के लिए तो और भी अनेक प्रकार की योग्यताएँ अनिवार्य हो उठती होंगी । उच्चकोटि की कलाप्रवीण गणिका निर्माण करने की प्रक्रिया हम मानते हैं उतनी आसान न तो थी और न है ।

शिक्षा के दौरान में ही इन नवयौवना कन्याओं को गणिकाएँ अपने साथ संगीत गोष्ठियों और जलसों में ले जाना आरंभ कर देती थीं । सरस्वतीमंदिर, राजदरबार या यात्रा में भी वे उन्हें अपने साथ रखती थीं ताकि भविष्य के गणिकाजीवन के लिए आवश्यक कौशल और दुनियादारी का अनुभव उन्हें मिलता रहे । गंधर्वशालाओं में सरदार-सामंतों और धनिक श्रेष्ठियों के नवयुवक पुत्रों के साथ का घनिष्ठ परिचय और यदाकदा इन जलसों में रसिकों की नजर के सामने से गुजरने का अवसर उन्हें भविष्य में ग्राहकों की कमी नहीं पड़ने देते थे । ज्यों ज्यों गणिकापुत्री की उम्र बढ़ती जाती थी त्यों त्यों उसके परिचय का दायरा विस्तृत होता जाता था । मुग्धावस्था के मध्यकाल में ही गणिकापुत्री को रूपविक्रय और पुरुष समागम के योग्य मान लिया जाता था । इसके बाद उसकी माता का कर्तव्य उच्चकोटि की व्यवहारकुशलता की अपेक्षा रखता था । रूप, गुण और धन से संपन विलासी युवकों को महफिल में आमंत्रित करके समागमपात्र नवयौवना गणिकापुत्री का मोहक प्रदर्शन करना और युवकों की कामवृत्ति को उत्तेजित करना गणिकामाता और उसके सहायकों का प्रधान कर्तव्य हो जाता था । यह काम भी हम मानते हैं उतना सरल नहीं । रहस्य और मोहक मादक और उत्तेजक वातावरण उत्पन्न करके, उस वातावरण की अधिष्ठात्री नवयौवना को लोलुप पुरुषों के स्पर्श से भी बचाये रखना निश्चित ही आसान काम नहीं रहा होगा । यहीं से गणिकापुत्री के प्रथम समागम के लिए अन्य बिकाऊ वस्तुओं की तरह खरीदारों में होड़ लग जाती थी । ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों-त्यों उत्सुकता बढ़ती जाती थी और प्रथम समागम का संभाव्य मूल्य भी बढ़ता जाता था । इस दरमियान गणिकामाता हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं रहती थी । विलासी पुरुषों और शौकीन तरुणों के साथ अपनी पुत्री की मैत्री और संपर्क बढ़ाने का एक भी अवसर वह चूकने नहीं देती थी । इसमें उसकी संमति ही नहीं बल्कि सक्रिय प्रोत्साहन रहता था । परंतु इनमें का कोई व्यवहार उसकी अनुपस्थिति में या उसकी आँखों से ओझल नहीं हो सकता था । गणिकामाता अपनी पुत्री पर अत्यंत कड़ी निगरानी रखती थी और उसके मार्गदर्शन के बिना एक भी कदम उठाना या एक भी क्षण बिताना गणिकापुत्री के लिए संभव नहीं होता था । गणिकामाता अपने भविष्य की निश्चिंतता के लिए अपनी पुत्री के प्रथम-समागम की अधिक से अधिक कीमत वसूल करना चाहे, यह स्वाभाविक है । आज के युग के समान उस

युग में भी इसकी कीमत सामान्यत : हमारी कल्पना में भी न आ सके इतनी ऊँची रखी जाती थी । मानी हुई बात है कि साधारण स्थिति के लोग यह कीमत नहीं दे सकते होंगे और इसके लिए श्रेष्ठी-सामंतों को टटोलना ही आवश्यक माना जाता होगा । अधिक से अधिक समय तक बात को टाल कर और लोगों की उत्कंठा को परमोच्च बिंदु पर पहुँचा कर ही गणिकामाता अधिक से अधिक धन देने वाले पुरुष को अपनी पुत्री के कौमारभंग की अनुमति देती थी । वात्स्यायन-युग में इस प्रथम समागम को एक प्रकार का अस्थायी विवाह माना जाता था और एक वर्ष तक गणिकापुत्री केवल उसी पुरुष से संबंध रखती थी । यह अवधि बीत जाने पर उसे गणिकाव्यवसाय के बंधनहीन कामसंबंधों की छुट मिल जाती थी ।

परंतु प्रथम समागम से पहले ही गणिका को कोई निपुण दासी या गणिकापुत्री की कोई समवयस्का सखी उसे कामशास्त्र का सक्रिय ज्ञान देती रहती थी । कामशास्त्र की पांचालिकी कला (संभोग कला) में कन्या को पारंगत कर दिया जाता था और प्रथम समागम से पहले ही वह रतिक्रीड़ा के विविध अंगों से सुपरिचित कामशास्त्र प्रवीणा बन चुकी होती थी । आज के पाश्चात्य कामविज्ञान में खलबली मचा देने वाले सजातीय सहवास (समलिंगी संभोग) का प्रयोग भी इस शिक्षाकाल में किया जाता हो, तो आश्चर्य नहीं । यह जो कुछ भी रहा हो, गणिकामाता तो निश्चयपूर्वक यही घोषित करती थी कि उसकी कन्या अक्षतयोनि है और अब तक कौमार्यधर्म का संपूर्ण पालन करती रही है । यह अक्षतयोनि वाला मूर्खतापूर्ण भ्रम शायद जगद्व्यापी है ; और इस मान्यता में आज के युग में भी, उस प्राचीन युग से अधिक अंतर नहीं पड़ा है ।

वात्स्यायन सहित कामशास्त्र के सभी प्राचीन आचार्यों का मत है कि निश्चित रकम की अदायगी के बाद प्रथम समागम का अधिकार प्राप्त करने वाले पुरुष के साथ गणिकापुत्री को कम से कम एक वर्ष तक विवाहिता पत्नी का सा व्यवहार रखना चाहिये । एक वर्ष की अवधि के बाद उसे मुक्त गणिका मान लिया जाता था और अन्य पुरुषों के साथ कामव्यवहार कर सकती थी । परंतु इसकेबाद भी, प्रथम समागम के कारण पतितुल्य माने जाने वाले पुरुष की जब भी इच्छा हो, तब गणिका को अन्य पुरुषों से मिलने वाले बहुमूल्य उपहारों और धनसंपत्ति की लालच छोड़कर, सबसे पहले उसे संतुष्ट करना पड़ता था और कम से कम एक रात्रि उसके साथ बितानी पड़ती थी । प्रथम-समागम करने वाले पुरुष को उस युग में गणिका के





सौमाग्य और वैमव का प्रतीक माना जाता था । चोर, डाकू, और गिरहकटों में जिस तरह एक प्रकार का आपसी समझौता होता है और अपने अनैतिक व्यवहार को मी वे जिस तरह कुछ नैतिक नियमों से संचालित मानते हैं, उसी प्रकार उस युग के गणिकाजीवन में मी योग्यायोग्यता के कुछ नीतिसिद्धांत अवश्य थे । उनका पूर्ण रूप से पालन होता था या नहीं, यह कहना मुश्किल है । इस दृष्टि से देखा जाय, तो गणिकामाता द्वारा प्रथम कहा जाने वाले समागम मी शायद प्रथम नहीं होता होगा और अक्षतयोनि की छाक से लाम उठाकर एकाधिक 'प्रथम' समागमों का स्वाँग मरना असंमव नहीं रहा होगा । एक वर्ष तक उस पुरुष के विशेषाधिकारों की रक्षा तो शायद असंमव ही रही होगी । वास्तविकता कुछ मी रही हो, व्यवसाय की अनुकरणीय नीति के रूप में वात्स्यायन ने इन बातों का उल्लेख अवश्य किया है ।

हम देख चुके हैं कि पण्यांगना के हीनतम रूप कुंमदासी से आरंभ कर के वात्स्यायन ने वेश्याओं के जो सात प्रकार गिनाये हैं, उनमें 'नटी' का समावेश मी हुआ है । केवल नाटकों में काम करने वाले लोग ही नहीं, बल्कि 'नट' उस युग की कोई जातिविशेष रही हो, इसकी संभावाना बहुत अधिक है । इस दृष्टि से 'नटी' को केवल नाटकों में अभिनय करने वाली स्त्री नहीं, बल्कि नटकन्या मान लिया जाय, तो उसके कौमारमंग का आयोजन मी गणिका के 'प्रथम-समागम' से मिलता-जुलता ही रहा होगा । नटकन्याओं का विवाह मी प्राय: उन्हीं पुरुषों के साथ होता था जिनका पेशा नृत्य-संगीत-अभिनय या उनकी शिक्षा देना होता था । हम यह भी देख चुके हैं कि इस व्यवसाय में स्वेच्छाचार की समावना सबसे अधिक रहती है अत: आरंभ में इस जाति की स्थिति गणिकाजीवन से विशेष ऊँची नहीं रही होगी । परंतु बाद में अपनी पुत्रियों से गणिकावृत्ति करवाने के बजाय उन्हें अपनी ही जाति के, समाज व्यवसाय करने वाले युवकों से ब्याह देने की प्रथा बढ़ती गई होगी । इस प्रथा ने नटों को एक अलग जाति की इकाई प्रदान की हो, और क्रमश: वे अपने आपको गणिकाव्यवसाय करने वालों की अपेक्षा उच्चकोटि की जाति मानने लगे हों, यह भी संभव है ।





नवाँ परिच्छेद

वात्स्यायन युग

१

सामान्य परिस्थिति

भारतीय कामविज्ञान के विवेचन में वात्स्यायन का योगदान सबसे अधिक रहा है । वैसे तो अत्यंत प्राचीनकाल से आर्य विचारकों का ध्यान काम विज्ञान की ओर आकर्षित होता रहा है और शतपथ ब्राह्मण तक में कामशास्त्र की शिक्षा की सूचनाएँ मिलती हैं । बाद में भी अनेक विद्वानों ने इस विषय पर ग्रंथ लिखे ; परंतु कामशास्त्र का समग्रता से विचार करके, शताब्दियों तक अद्वितीय माने जाने वाले कामसूत्र जैसे अद्‌भुत ग्रंथ की रचना करने का श्रेय वात्स्यायन को ही मिला । इस ग्रंथ में केवल कामविज्ञान का विवेचन ही नहीं बल्कि उस युग के भारतकी सौस्कृतिक और सामाजिक स्थिति की रूपरेखा भी मिलती है । किसी भी युग के कामसंबंधी आचार और मान्यताएँ उस युग की सौस्कृतिक परिस्थिति का अत्यंत वास्तविक चित्र उपस्थिति करते हैं ।

कामविज्ञान की प्राचीनता की चर्चा करते हुए वात्स्यायन ने प्रजापति के एक लाख अध्यायों वाले बृहत ग्रंथ से लगाकर बाभ्रव्य और दत्तक के वेश्याव्यवहार संबंधी ग्रंथों तक की एक अक्षुण्ण परंपरा गिनायी है जिसका विचार पिछले परिच्छेद में हो चुका है । बाभ्रव्य और दत्तक के वेश्याव्यवहार संबंधी ग्रंथों तक की एक अक्षुण्ण परंपरा गिनायी है जिसका विचार पिछले परिच्छेद में हो चुका है । बाभ्रव्य का ग्रंथ एक तो बहुत विशाल था, और दूसरे, वात्स्यायन-युग तक आते आते सामाजिक परिस्थितियों में इतना अधिक अंतर पड़ चुका था कि वात्स्यायन को इस ग्रंथ का आधार लेकर अपने युग के अनुकूल स्वतंत्र ग्रंथ की रचना करनी पड़ी । वात्स्यायन के ग्रंथ में बाभ्रव्य का उल्लेख इतनी अधिक बार हुआ है कि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि न सिर्फ यह ग्रंथ वात्स्यायन को समग्रता से उपलब्ध था, बल्कि उसके प्रति उनके मन में एक प्रामाणिक शास्त्र के जैसा आदरभाव भी था । वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित अन्य आचार्यों में से दत्तक का उल्लेख आठवीं शताब्दी के दामोदर गुप्त रचित 'कुट्टनीमतम्' नामक ग्रंथ में हुआ है । मल्लिनाथ ने गोनारदीय और काव्यमीमांसाकार राजेश्वर ने स्वर्णनाभ और कुचुमार का उल्लेख किया ह । इसी प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चारायण और घोटकमुख का उल्लेख मिलता है ओर पंतजलि न ओर गोणिकापुत्र का उल्लेख किया है । इससे यही प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित कामशास्त्र के अन्य आचार्य उस युग में परिचित थे और उनके ग्रंथ भी उपलब्ध थे ।

वात्स्यायन को अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य से अभिन्न मानने के मत का विचार हो चुका है । हम यह भी देख चुके हैं कि कामसूत्र में कुंतल सातकर्णी और आभीर राजाओं के अंत :पुर का वर्णन मिलने के कारण वात्स्यायन का काल ईसवी सन से पहले की तीसरी शताब्दी में नहीं बल्कि बाद की तीसरी शताब्दी में मानना ही अधिक उपयुक्त होगा । परंतु 'वात्स्यायन-युग' की चर्चा करते समय उसे पचीस-पचास वष तक का सीमित काल मानने की अपेक्षा ईसवी सन के आरंभ से लगा कर बाद की चौथी शताब्दी तक के लंबे पर सास्कृतिक दृष्टि से एकात्म कालखंड को इसी युग के अंतर्गत मानना उचित होगा ।

कालनिर्णय के समान वात्स्यायन का स्थाननिर्णय करना भी मुश्किल काम है । उनके ग्रंथ में भारत के अन्य किसी हिस्से की अपेक्षा उत्तर-पश्चिमी विभाग का वर्णन अधिक पाया जाता है । परंतु उस युग में भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा बहुत विस्तृत थी, और आज भारत से बाहर माने जाने वाले बल्ख और गांधार (अफगनिस्तान) उस समय भारत के ही प्रांत माने जाते थे । इन प्रदेशों से भी आगे, ऑक्सस नदी की घाटी तक आर्य और बौद्ध संस्कृति व्याप्त थी इसके प्रमाण उस युग के चीनी यात्रियों के यात्रावर्णनों में पाये जाते हैं । पश्चिमीभारत की व्याप्ति इतने विशाल भूभाग तक होने के कारण वात्स्यायन का सही स्थान निश्चित करना कठिन हो जाता है । दूसरे, इस मान्यता को अस्वीकार्य सिद्ध करने वाले प्रमाण भी कामसूत्र में मिलते हैं । उदाहरणार्थ वात्स्यायन द्वारा त्रियाराज्य का उल्लेख । त्रियाराज्य की कल्पना परंपरा से कामरूप (आज के असम) और ब्रह्मा के प्रदेशों में की जाती है । बहुपति की संस्था भी हिमालय के उत्तरी और उत्तर-पूर्वीय प्रदेशों में ही अधिक प्रचलित रही है । कुलू, बशहर, नहान, मंडी, सुकेत, रामपुर आदि प्रदेशों में बहुपतित्व की प्रथा इस शताब्दी के आरंभकाल तक प्रचलित थी और कुमाऊं-गढ़वाल में तो ब्राह्मण एवं राजपूत जैसी उच्च जातियों में भी यह प्रथा अभी कुछ वर्ष पहले तक पायी जाती थी । ये सारे प्रदेश उत्तर-पश्चिम के बल्ख-गांधार आदि प्रदेशों से बहुत दूर और नितांत भिन्न हैं । परंतु इन विसंगतियों के बावजूद वात्स्यायन को उत्तर-पश्चिमी भारत का निवासी मानने की ओर ही विद्वानों का अधिक झुकाव पाया जाता है ।



कामसूत्र के अध्ययन से दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं । एक तो यह कि उस युग में वर्णाश्रमधर्म का पालन व्यापकता से होता था और दूसरे यह कि समाजशास्त्रीय या साहित्यिक ग्रंथों की रचना करते समय विद्वानों का ध्यान नागर संस्कृति की ओर ही अधिक रहता था । कामसूत्र में वर्णित जीवन पूर्ण रूप से नागरिक जीवन है और उसकी स्थापनाओं में नगरनिवासियों के गृहों, बाग-बगीचों, उत्सवों, खेलकूदों और रागद्वेषों का ही चित्रण पाया जाता है । नागर पुरुषों की दिनचर्या, उनकी कलाप्रियता, उनकी विद्वत्ता, एवं उनके कामजीवन — जिसमें गणिकाओं का स्थान सुनिश्चित और अनिवार्य था — का ही वर्णन कामसूत्र में हुआ है । जानपद या ग्रामीण जीवन की तो कहीं झलक भी नहीं मिलती । जिन गणिकाओं की विद्याबुद्धि, कलानिपुणता एवं पूरे नागरिक जीवन पर उनके व्यापक प्रभाव के दर्शन कामसूत्र में कदम कदम पर होते हैं वे भी नगरनिवासिनी ही दिखाई देती हैं । यद्यपि यह तो निर्विवाद है कि यह चित्र उस युग के समाज-जीवन का समग्रता से निरूपण न करते हुए नागरिकों के कामजीवन

संबंधी पहलू को ही चित्रित करता है, तथापि इन तीन-चार शताब्दियों के नागर जीवन का जो प्रतिरूप कामसूत्र में प्रतिबिंबित हुआ है, वह अधिकांश नागरिकों के लिए आदर्श रूप रहा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । वह अच्छा था या बुरा, योग्य था या अयोग्य, इसका विवेचन करने का यह स्थान नहीं । आज हमारी नैतिक मान्यताएँ चाहे जितनी भिन्न हों, वात्स्यायन युग के हमारे नगरनिवासी पूर्वज अत्यंत रसिक और शौकीन थे, एवं गणिकासंस्था उनके जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी, यह माने बिना छुटकारा नहीं । यदि पूर्वजन्म में हमारा विश्वास हो, तो यह भी कहा जा सकता है कि हम भी उस युग के नागरिक रहे होंगे और युगधर्म का पालन करते हुए उन्हीं के चरणचिन्हों पर चले होंगे ।।



वह युग हमारी प्राचीनयुग की कल्पना के पूर्णत: अनुरूप था । ब्राह्मण यज्ञयाग करवाते थे और पठन पाठन में मग्न रहते थे । क्षत्रिय देशरक्षा और राज्यशासन में लगे रहते थे, वैश्य व्यापार, कृषि और गोसंवर्धन करते थे एवं शूद्र सेवाकार्य संभालते थे । नागरिक समाज में अनेक प्रकार के व्यवसाय करने वाले कुशल कारीगरों का वर्ग विकसित हो चुका था । मालाकार, गांधिक, रजक, नीलकुसुम्भरंजक (रंगरेज) नापित, शौण्डिक (कलाल), ताम्बूलिक, सुवर्णकार, मणिकार, रत्नपारखी, कुशीलव (नट), गायक, वादक, दैवज्ञ (ज्योतिषी), वैद्य इत्यादि व्यवसायियोंका उल्लेख कामसूत्र में प्रचुरता से हुआ है । स्त्री-कलाकारों में नटी, नर्तकी और कलाविदग्धा को प्राधान्य दिया गया है । इन व्यवसायियों में भी उच्चनीच के भेद थे । उदाहरणार्थ कुशल वैद्य का स्थान बहुत ऊँचा और नापित, रजक आदि का स्थान नीचा माना

जाता था । वैद्यों, राजमंत्रियों और महामात्रों से घनिष्ठ संबंध रखने की सलाह गणिकाओं को दी गई है यह हम देख ही चुके हैं ।

राज्य के अधिकारियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं । प्रदेश के राज्यपाल को 'राष्ट्रिय' और बड़े अफसरों को 'महामात्र' कहा जाता था । मन्त्री परिषद् आज के मन्त्रीमंडलों की पुरोगामी संस्था थी । न्यायाधीश 'धर्मस्य' के नाम से परिचित थे । राज्यशासन के प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष और एक उत्तराध्यक्ष (उपाध्यक्ष) होता था । उदाहरणार्थ गायों और गोशालाओं की देखभाल करने वाले विभाग की मुख्याधिकारी को गवाध्यक्ष और कताई विभाग के अध्यक्ष को सूत्राध्यक्ष कहा जाता था । पण्याध्यक्ष के मार्गदर्शन में नगर का व्यापार-रोजगार चलता था और नगर की सुरक्षा-व्यवस्था नगराध्यक्ष (शहर-कोतवाल) के आदेशानुसार की जाती थी । ग्रामीण विभागों का प्रशासन 'आयुक्त' पदधारी अधिकारियों द्वारा होता था । राजमहलों में रनिवास की व्यवस्था के लिए कंचुकी और महोत्तरिका की नियुक्ति की जाती थी । कंचुकी प्राय : बड़ी उम्र के अनुभवी पुरुष होते थे और महोत्तरिका का पद प्राय : निवृत्त हो चुकने वाली गणिकाओं को दिया जाता था ।

वात्स्यायन ने साध्वियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है और उनके प्रव्रजिता, श्रमणा, क्षपणिका, तापसी, भिक्षुकी, मुंडा इत्यादि प्रभेद मान्य किये हैं । इनमें से 'प्रव्रजिता' शब्द किसी भी साध्वी के लिए, 'श्रमणा' बौद्ध भिक्खुणियों के लिए, 'क्षपणिका' जैन तपस्विनियों के लिए, 'तापसी' प्राचीन वेदानुयायी संन्यासिनियों के लिए और 'मुंडा' शब्द केशवपन की हुई किसी भी साध्वी के लिए (कुछ तिरस्कार-व्यंजक अर्थ में) प्रयुक्त हुआ है । साधु-साध्वियों को चतुर्थाश्रमी और सांसारिक मायामोह से पर माना जाता है । परंतु आज के युग के समान उस युग में भी सभी साधु-साध्वी पूर्णत : निर्मानमोह और विरक्त नहीं होते होंगे । संन्यस्त की वयोमर्यादा का भी कठोरता से पालन नहीं होता था । कामक्रोध की चिनगारियाँ सुलगती रहने पर भी लोग अन्य कारणों से संन्यास की ओर आकर्षित हो जाते थे । गेरुए या सफेद वस्त्रों के सम्मान्य आवरण की आड़ में उन्हें किसी भी स्थान में बेरोकटोक प्रवेश करने का अधिकार अनायास ही मिल जाता था । इस हालत में उनका प्रेमी-प्रेमिकाओं के संदेशवाहक के रूप में दुरुपयोग होने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं । वात्स्यायन युग में नगरों के अनेकविध कामाचारों में इनका इस प्रकार से दुरुपयोग होने के अकाट्य प्रमाण कामसूत्र में मिलते हैं । राजाओं के अंत :पुरों में और गणिकालयों में इन साधु-साध्वियों के षडयंत्र रातदिन चलते रहते थे । शायद इसी कारण से कुलीन स्त्रियों के लिए साध्वियों का संसर्ग अनिष्ट और वर्ज्य माना जाता था । संदेशवाहक के रूप में तो उनका नाम बदनाम था ही ; परंतु कभी कभी उनेक मठ प्रेमियों के गुप्त मिलनस्थान और दुराचार के अड्डे बन जाते थे । भवभूति के 'मालती-माधव' नाटक में कामन्दकी नामक परिव्राजिका नायक-नायिका के मिलन की महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होती है । यह मिलन किसी प्रकार का दुराचार नहीं बल्कि सुसभ्य प्रेमी-प्रेयसी का सुसंस्कृत मिलन था, यह अलग बात है ।

वानप्रस्थ का स्वीकार उस युग में अधिक होता हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । ब्रहमचर्य, गार्हस्थ्य, और संन्यस्त ही प्रजा जीवन के अधिक अनुकूल थे । वैदिक, बौद्ध और जैन मत एक साथ प्रचलित होने के कारण विभिन्न प्रकारों और विविध संप्रदायों के साधु-साध्वियों के मठों की कमी नहीं थी । लिंगी संप्रदायों के साधुओं को देहसमर्पण करने की आवश्यकता गणिकाओं को कभी-कभी पड़ सकती थी ऐसी संभावना तो वात्स्यायन ने खुल्लमखुल्ला स्वीकृत की है ।

किसी युगविशेष की सामाजिक व्यवस्था या यौनजीवन को समग्रता से समझने के लिए उस युग की विवाह व्यवस्था और गणिकाजीवन का एकसाथ अध्ययन करना आवश्यक होता है । मनुष्य के कामजीवन के स्थायी और अस्थायी रूपों का निरूपण करने वाली ये दोनों संस्थाएँ प्राय : सभी युगों में एक दूसरे से निकट संबंध स्थापित करके गलबहियाँ डाले चलती हैं । आज की तरह उस युग में भी विवाह के ब्राहम और आर्ष प्रकार ही अधिक प्रचलित थे ।क्वचित् गंधर्व-विवाह भी होते थे । गणिकासंस्था का समाजजीवन

में निश्चित स्थान था और उसे एक अनिवार्य आवश्यकता माना जाता था । परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि समाज के संपूर्ण कामजीवन का समावेश उसी में हो जाता था । गणिकावृत्ति का अध्ययन करते समय यह सत्य हमेशा याद रखना चाहिये कि विवाहसंस्था की स्थापना से पहले के अस्थिर युग से गुजर जाने के बाद मानव-सभ्यता के किसी भी युग में विवाहित-जीवन गणिकाजीवन से कहीं अधिक व्यापक रहा है । तुलनात्मक दृष्टि से विवाहसंस्था उतनी उन्मुक्त और रसपूर्ण अवस्था चाहे न रही हो, पर गणिकासंस्था से वह हमेशा ही अधिक स्थायी और अधिक ग्राह्य रही है । धर्मकार्यों की सिद्धि के लिए पितृओं की तृप्ति के लिए और संतान की प्राप्ति के लिए विवाह-संस्था सदैव आवश्यक मानी गयी है । वात्स्यायन भी स्त्री पुरुष के कामसंबंधों में विवाहजन्य संबंध को ही श्रेष्ठ और श्रेयस्कर मानते हैं और परकीया या सामान्या के प्रेम को अपवादरूप ही माना गया है । उस युग के धर्मसूत्रों ने भी विवाह संबंध को ही शिष्ट और इष्ट माना है और विवाहबाह्य सबंधों को प्राय : निषिद्ध घोषित किया है । जातिप्रथा के बंधन उस युग तक आते-आते बद्धमूल हो चुके थे, अत : विवाह-संबंध अकसर अपनी ही जाति में होते थे । इन कठोर नीति नियमों के बावजूद उन्मुक्त प्रेम के लिए उस युग में जिस हद तक छूट मिलती थी, वह आजके तथाकथित स्वतंत्र युग में भी हमें आश्चर्यचकित कर सकती है । इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात से होता है कि विवाह और मुक्तप्रेम, दोनों को एक दूसरे से स्वतंत्र मानकर दोनों के एक साथ अस्तित्व की वास्तववादी संभावना उस प्राचीन काल में बिना हीलो-हुज्जत के स्वीकृत कर ली गयी थी ।

धर्मशास्त्रों के विवाह संबधी नियम कठोर ही नहीं कुछ विचित्र भी थे । अपने से ऊँची जाति की स्त्री के साथ कोई पुरुष विवाह कर ही नहीं सकता था । उच्चवर्गीय स्त्री से प्रेमसंबंध भी तभी रखा जा सकता था कि जब वह स्वैरिणी हो, अन्यथा नहीं । स्वैरिणी या कुलटा का अर्थ होता है एकाधिक पुरुषों से अवैध संबंध रखने वाली व्यभिचारिणी स्त्री । केवल उच्चवर्णीया होने के बल पर इन स्त्रियों के व्यभिचार को वात्स्यायन ने धर्म और कानून दोनों के बंधनों से पर क्यों माना होगा, यह समझ में नहीं आता । इस विषम परिस्थिति की सफाई देने के लिए कुछ विद्वान इस पलायनमार्ग की शरण लेते हैं कि यह शायद आर्यप्रथा नहीं रही होगी । परंतु इतनी शताब्दियों के बाद, इस देश की सामासिक संस्कृति में आर्य प्रभाव कौनसे हैं और अनार्य प्रभाव कौन से, यह निश्चित करना मुश्किल है । साथ ही, प्राचीनकाल की हर अप्रिय बात को अनार्य संस्कारों के मत्थे मढ़ना भी योग्य नहीं । इसके विपरीत, अपने से नीची जाति की स्त्री, संयम-पालन न कर सकने वाली विधवा, प्रेमियों की तलाश में घर छोड़कर निकल पड़ने वाली व्यभिचारिणी स्त्री और वारांगनाओं के साथ के यौनसंबंधों को शिष्ट तो नहीं, पर क्षम्य माना जाता था । परंतु इन मर्यादाओं से बाँधकर भी इन संबंधों को केवल आनंदप्राप्ति और वैविध्यपूर्ति के साधनमात्र माना जाता था । इनसे उत्पन्न संतति को वैध नहीं माना गया और धर्मकार्य की सिद्धि तो इनके द्वारा हो ही नहीं सकती थी । विवाहबाह्य संबंधों से उत्पन्न संतान द्वारा अर्पित पिंड-तर्पण का देवता और पितृगण स्वीकार नहीं करते । अत : धर्मकार्य और पितृऋण की अदायगी के लिए विवाह, और आनंदप्राप्ति के लिए नीची जाति की स्त्री, विधवा, स्वैरिणी या वेश्या के साथ यौनसंबंधों की सुविधा प्राचीनयुग के सर्वसत्ताधीश पुरुषवर्ग ने उत्पन्न की हो, और धार्मिक अनुमति एवं सामाजिक स्वीकृति ने उस पर शिष्टता की मुहर लगा दी हो यह स्पष्ट दिखाई देता है । नीची जाति की सित्रयों के साथ के अनुलोम विवाह आरंभिक स्मृतिकारों द्वारा स्वीकृत थे परंतु बाद में उनका विरोध बढ़ता गया और शूद्रजाति की स्त्री के साथ के विवाह को तो स्पष्ट रूप से निषद्ध घोषित कर दिया गया । मनु से याज्ञवल्क्य तक आते आते ये नियम और भी कठोर हो गये और अपनी जाति को छोड़कर अन्य जाति में विवाह करना उत्तरोत्तर अप्रचलित होता गया ।

वात्स्यायन कामसूत्र मेंआपस्तम्ब-गृह्यसूत्र को आधाररूप मानकर कैसी कन्या को वधू रूप में पसंद नहीं करना चाहिये, इसकी एक लंबी सूची दी है जिसमें निम्नलिखित सोलह प्रकार की कन्याओं का समावेश होता है :— (१) जिसका नाम अशुभ हो, (२) जिसे छिपाकर रखा गया हो, (३) अन्य किसी पुरुष से जिसका संबंध निश्चित हो चुका हो (४) जिसके केश रक्तवर्ण हों, (५) जिसके शरीर पर धब्बे हों, (६)

जिसकी मुखाकृति या शरीराकृति पुरुषों से मिलती-जुलती हो, (७) जिसका सिर बहुत बड़ा हो, (८) जिसके पाँव मुड़े हुए हों, (९) जिसका ललाट बहुत चौड़ा हो, (१०) जिसके कर्म दूषित हों, (११) जिसका जन्म अयोग्य विवाहसंबंध से हुआ हो, (१२)जो ऋतुमती हो चुकी हो,(१३) जो गर्भ धारण कर चुकी हो, (१४) जिससे पूर्व-परिचय के कारण घनिष्ठ मित्रता हो, (१५) जिसकी छोटी बहिन उससे अधिक रूपवती हो, (१६) जिसके हाथ गीले रहते हों । वात्स्यायन यहीं नहीं रुकते । निर्णयसिंधु से मनु का मत उद्धृत करते हुए वे राय देते हैं कि पशु, पक्षी, सर्प, वृक्ष, पुष्प नक्षत्र, पर्वत, नदी, म्लेच्छ और दासी के नामवाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये । बरात के साथ वर का आगमन हो जाने पर भी जो कन्या सो रही हो, रो रही हो, या घर में उपस्थिति न हो, उसके साथ भी विवाह न करने की राय दी गई है ।

आज इसमें की कुछ बातें विचित्र लग सकती हैं और कुछ मनोरंजक । कुछ बातें समझ में आ सकती हैं और कुछ नहीं । कुछ का पालन हो सकता है पर अधिकांश का अनुकरण आज के युग में न तो संभव है, न आवश्यक । बारात द्वार पर आ जाने पर भी सोती रहने वाली या घर से गायब रहने वाली लापरवाह लड़की से विवाह न करने की राय समझ में आती है, पर नैहर छूटने की आशंका से रोने वाली कन्या को अग्राह्य क्यों माना गया है, यह समझ में नहीं आता । इस आग्रह में केवल औचित्यभंग ही नहीं, रसवृत्ति का भी अभाव दिखाई देता है । पितृगृह छोड़कर जाने वाली कन्या के अश्रुओं को अवांछनीय मान लेने पर हम जीवन के एक अत्यंत करुणमधुर प्रसंग के काव्य सौंदर्य से वंचित रह जायेंगे । अशुभ नाम की व्याख्या देशकाल के अनुसार बदल सकती है । घोषा नामक स्त्री में यथा नाम तथा गुण हों, तो आज के युग में उसे अतिवाचाल मानकर त्याज्य माना जा सकता है, परंतु वेदकाल में इस नाम की स्त्री वेदमंत्रों का घोष करने वाली विदुषी मानी जाती होगी । अयोग्य प्रकार के विवाह से जन्म लेने वाली कन्या को आज के युग में दोषी कैसे माना जा सकता है ? गर्भ धारण कर चुकने वाली युवती से विवाह न करने की बात समझ में आ सकती है; परंतु बालविवाह का विरोध करने वाले इस युग में ऋतुप्राप्त कन्या को त्याज्य कैसे माना जा सकता है ? पत्नी की अपेक्षा साली अधिक सुंदर हो, तो बात कुछ परेशानी की हो सकती है, पर आज के युग में विवाह की अनिवार्य शर्त माने जाने वाले पूर्वपरिचय या मित्रता को अपात्रता का लक्षण कैसे मानें ? अतिपरिचय से अवज्ञा की आशंका हो तो बात अलग है । नदी, नक्षत्र या पुष्प के नामों का निषेध मान्य कर लें तो न जाने कितनी गंगा, यमुना और गोदावरी, कितनी चंपा, चमेली और मालती, और कितनी चित्रा, रोहिणी और अनुराधा क्वाँरी ही रह जायेंगी । वात्स्यायन युग में भी इन अमूल्य रायों पर अधिक अमल होता हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । फिर, सब जगह एक से ही मत नहीं मिलते । उदाहरणार्थ कुछ स्मृतिकारों की राय है कि विवाह के समय वर की उम्र वधू की उम्र से कम से कम तीन वर्ष अधिक होनी चाहिये, जबकि कुछ का कहना है कि वर से कन्या की उम्र एक तिहाई होनी चाहिये । इनमें से पहला मत आज भी स्वीकार्य हो सकता है, परंतु दूसरे मतानुसार तो बीस वर्ष की युवती से विवाह करना चाहने वाले पुरुष को साठ वर्ष की पुख्ता उम्र तक राह देखनी पड़ेगी और पचीस साल की विवाहेच्छु युवती के भाग्य में पचहत्तर वर्ष के बाबा ही आयेंगे ।

कामसूत्र के अंतिम सूत्रों में वात्स्यायन विवाह के संबंध में अत्यंत उदार मत प्रकट करते हैं । वे राय देते हैं कि इन सब झझटों में पड़ने की अपेक्षा तो यही बेहतर है कि जिस युवती को देखकर पुरुष की दृष्टि को आनंद और हृदय को सुख मिलता हो, उसी से वह विवाह करे । एक सूत्र में तो वे यहाँ तक कह देते हैं कि सारे रस्मों-रिवाज, नियम-विधान, और विधिनिषेधों को ताक पर रखकर एक दूसरे के प्रति आकर्षण पर आधारित गंधर्व-विवाह ही सुखी होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है । वरकन्या का विवाहपूर्व परिचय और प्रेम एक दूसरे के निर्वाचन का स्वातंत्र्य, अपनेअपने उत्तरदायित्व को पूरा करने की समझदारी, और एक दूसरे की त्रुटियों को निभा लेने की उदारता ही सुखी विवाहित जीवन के आधारस्तंभ हैं । आज से सोलह-सत्रह शताब्दियों पहले इतनी उदारतापूर्ण योजना की हिमायत करने वाले वात्स्यायन सचमुच ही हमारे आदर के पात्र हो उठते हैं ।

२

वात्स्यायन-युग का आदर्श नागरिक

विवाह के संबंध में इतने उदार विचार मान्य करने वाले वात्स्यायनयुग में गणिकासंस्था इतना महत्त्व-पूर्ण स्थान कैसे प्राप्त कर सकी . इस पहेली को समझ पाने के लिए कामसूत्र के 'नागरकवृत्तम्' नामक परिच्छेद का अध्ययन आवश्यक है । हम देख चुके हैं कि कामसूत्र की रचना मुख्यत : नागर संस्कृति के दृष्टिकोण से की गई है । नगरसंस्कृति के संस्कार आत्मसात करने वाले नागरिकों के नित्यव्यवहार में सफेदपोशी, नफासत, हाजिरजवाबी और शौकीनमिजाजी के साथ साथ कुछ हद तक बाहय आडंबर का भी संमिश्रण रहता है और तहजीब या तकल्लुफ की आड़ में अनेक दुर्गुण भी छिपे रहते हैं । नगर जितना बड़ा हो, उतनी ही उसकी तड़क-भड़क भी अधिक रहती है । आजकल जैसे बंबई-कलकत्ते के निवासी अपने आपको कुछ उच्चकोटि के नागरिक समझते हैं और छोटे मोटे कस्बों में रहनेवालों के प्रति एक प्रकार का तिरस्कार व्यक्त करते हैं उसी प्रकार उस युग में भी प्रसिद्ध नगरों के निवासी अपने आपको श्रेष्ठ समझते थे और सभ्य समाज का केन्द्रबिन्दु नगरों में ही माना जाता था ।

वात्स्यायन ने अपनी रचना को मुख्य रूप से राजा महाराजाओं, सामंत-श्रेष्ठियों, महामात्रों और उच्च कोटि के नागरिकों के लिए उपयोगी घोषित किया है । बात काफी हद तक ठीक है । राजाओं, अधिकारियों, विद्वानों, कलाकारों और धनिक श्रेष्ठियों का निवासन गरों में ही अधिक होता है और धन या यश की कामना से ग्रामीण विभागों के प्रतिभाशाली लोग भी नगरों की ओर ही आकर्षित होते हैं । गणिकासंस्था का सर्वांगीण विकास भी नगरसंस्कृति में ही संभव है । भारत में अति प्राचीन युग से ही बड़े-बड़े नगरों का विकास होता गया था जो अलग-अलग युगों में नगर, पट्टन, खर्वट आदि नामों से परिचित थे । राज्यसत्ता, विद्वत्ता और धनसंपत्ति का त्रिवेणीसंगम भी नगरों में ही संभव होने के कारण आँखों को चकाचौंध कर देने वाली नागर संस्कृति नगरनिवासी रसिकों को ग्राम्य संस्कृति में पले हुए सीधे-साधे किसानों से बिलकुल भिन्न प्रकार के जीव प्रमाणित करती थी । नगरनिवासियों के रहनसहन में पाये जाने वाले लालित्य और सौष्ठव से ग्राम्यजनों को भी परिचित कराने के हेतु से वात्स्यायन ने उन्हें समय समय पर नगरों में आकर रहने की राय दी है और नगर-संस्कृति की अधिकाधिक विशिष्टताओं को ग्रामीण जीवन में उतारने की हिमायत की है । आज भी ग्रामीण विभागों का झुकाव सामान्यत : शहरी जीवन की नकल करने की ओर ही पाया जाता है ।

प्राचीन युग में नगरों और ग्राम्यविभागों की संस्कृतियों में आज के जितना अंतर शायद नहीं था ; परंतु शहरों का पोषण आज की तरह उस युग में भी गाँवों से ही होता था । वेदों में ग्राम, महाग्राम और पुर, तीनों का उल्लेख है । सूत्रयुग में नगरों और निगमों के उल्लेख अधिक मिलते हैं । बोधायन ने नगर निवास की स्पष्ट रूप से निंदा की है क्योंकि नागरिक संस्कृति आत्मज्ञान और मोक्षप्राप्ति की पोषक नहीं होती । पाणिनी और कौटिल्य के ग्रंथ नगरों और नगरसंस्कृति से सुपरिचित दिखाई देते हैं । मॅगॅस्थिनिस के यात्रावर्णन और जातक कथाएँ नगरों के वर्णनों से भरी पड़ी हैं । छोटे मोटे अनेक राज्यों में विभाजित आर्यावर्त में राज्यशासन, व्यापार-उद्योग और तीर्थयात्रा के क्षेत्रों के आसपास ही नगरों का विकास हुआ था । पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम तक के प्रदेशों से व्यापार-संबंध रखने वाले भारत की सीमा उस युग में हिमालय पर ही न रुक कर उत्तर-पश्चिम में बल्ख और अफगानिस्तान और उत्तर-पूर्व में तिब्बत तक फैली हुई थी । सम्राट कनिष्क को ''महाराजाधिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क'' कहा जाता था । इससे तत्कालीन भारत के ऐश्वर्य और गौरव की ही नहीं, बल्कि 'कैसर' शब्द द्वारा विदेशी उपनिवेशों पर भारत के प्रभुत्व की सूचना भी मिलती है । वैभव और ऐश्वर्य जब प्रजाजीवन के सामान्य स्तर तक उतरकर जनसाधारण में भी व्यापक हों, तभी सार्थक माने जाते हैं । इसी कारण से वात्स्यायन से पहले की दो और

बाद की तीन शताब्दियों को मिलाकर लगभग पाँच सो वर्ष के कालखंड को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है ।

किसी भी युग का वैभव नगरों और नागरिक जीवन में ही अधिक व्यक्त होता है । इस दृष्टि से उस युग की नागर संस्कृति का कुछ गहराई से अध्ययन आवश्यक है । हम सबसे पहले तत्कालीन नागरिकों के निवासस्थानों का विचार करेंगे । उस युग के नागरिक की गृहरचना में कदम कदम पर उसकी सौंदर्यदृष्टि और कलाप्रियता के दर्शन होते थे । कमरों की सजावट और विलास के विविध उपस्कर उसकी समृद्धि की सूचना देते थे और निवासस्थान की छोटी से छोटी बात उसकी परिष्कृत रुचि का परिचय देती थी । धनिकों के आवासों के सामान्यत: दो मुख्य विभाग होते थे । एक परिवार के पुरुषवर्ग के उठने-बैठने और कामकाज करने का विभाग और दूसरा परिवार की स्त्रियों के लिए अंत:पुर विभाग । अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग कमरे नियत होते थे । अधिकांश आवास पानी की पुष्करिणी या तालाब के किनारे होते थे और प्रत्येक मकान के आंगन में कुएँ का होना अनिवार्य था । मकान के पिछले प्रांगण में विशाल वृक्षवाटिका होती थी । जिसमें वृक्षों के झुरमुट और पुष्पकुंजों के अलावा थोड़ी बहुत सागभाजी और घरेलू औषधियाँ उगाने की क्यारियाँ भी होती थीं । बाग के मध्य में कमलपुष्करिणी या छोटा मोटा हौज आवश्यक रूप से होता था । स्थान स्थान पर चबूतरे, विश्रामस्थल, झूले-हिंडोले, और लताकुंजों की योजना की जाती थी । बड़े प्रासादों की पुष्पवाटिकाओं में ग्रीष्म की ऊष्मा के निवारणार्थ तालाब के बीचों बीच शीतगृहों की रचना की जाती थी । घनी छाया वाले लतामंडप और कृत्रिम पहाड़ियों के नीचे तहखानेनुमा गुप्तगृहों की योजना भी की जाती थी । भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक में चारों ओर जल से घिरे हुए 'समुद्रगृह' का उल्लेख पाया जाता है । आनंदप्राप्ति के इन सब उपस्करों से परिपूर्ण वृक्षवाटिका की रचना इस प्रकार की जाती थी कि अंत:पुर की स्त्रियों को भी उसमें सीधा प्रवेश मिल सके ।

रसोईघर की व्यवस्था आवास के मुख्य कमरों से कुछ अलग एक ओर की जाती थी । रसोईघर को अत्यंत साफसुथरा रखा जाता था । रसोईघर, पुष्पवाटिका और गृह के अन्य सब विभागों की व्यवस्था गृहिणी के कुशल मार्गदर्शन में होती थी ; अलबत्ता, उसकी सहायता के लिए दास-दासियों की एक छोटी-मोटी फौज उपलब्ध रहती थी । विशाल आवासों को हर्म्य या प्रासाद कहा जाता था । बहुमंजिले मकानों पर विस्तृत छत की योजना आवश्यक रूप से होती थी जिसका उपयोग मुख्यत : चांदनी रातों में गृहस्वामी की कामक्रीड़ा के लिए होता था । गृहस्वामी की अभिरुचि वैज्ञानिक हो, तो छतों का उपयोग ग्रहनक्षत्रों की गति का अध्ययन करने के लिए भी हो सकता था; पर ग्रहनक्षत्रों की यह नीरस जाँच-पड़ताल अकसर कामिनीदेह के अंगप्रत्यंगों की सुरस जाँच-पड़ताल में ही परिणत हो जाती होगी । चंद्र के धोखे से राहु कहीं चंद्रमुख का ही ग्रास न कर ले इस आशंका से चंद्रमुखी प्रियतमा को छत पर या आंगन में न सोने की सलाह देने वाले रसिक मानस की उस युग में कोई कमी नहीं थी । संस्कृत के काव्य साहित्य में इस प्रकार की कल्पना के दर्शन कदम कदम पर होते हैं ।

सोने-बैठने के कमरों की दीवारें और स्फटिक के फर्श झाड़पोंछ कर इतने चमकदार रखे जाते थे कि चंद्रमुखी रमणियाँ उनमें अपने मुख देख सकती थीं । स्थान स्थान पर झरोखों और स्तंभों की योजना होती थी । भारतीय वास्तुकला में स्तंभरचना का विशिष्ट स्थान रहा है । । 'बुद्धचरित' में उल्लिखित लोहे के स्तंभों से लगाकर 'सौन्दरानन्द' के रत्नजड़ित स्वर्णस्तंभों तक का वर्णन प्राचीन साहित्य में पाया जाता है । राजप्रासादों में और धनिक श्रेष्ठियों के हर्म्यों में शयनगृह या बैठक के कमरों के फर्श बहुमूल्य मणियों और रत्नों से जड़े हो सकते थे । बैठक के मुख्य कमरे में सुंदर आसनों के उपरांत तांबूल-करंडक (पानदान), पानी की सुराही और चंदन, अंगराग आदि सुवासित द्रव्यों के करंडक सजे रहते थे । दीवारों पर हाथी दांत की खूंटियों पर कलात्मक चित्र और वीणा आदि वाद्य टंगे रहते थे । आलों में काव्य-साहित्य के ग्रंथ और जगह-जगह सुवासित पुष्पों के गुलदस्ते सजे रहते थे । बैठक के मध्य में गलीचों पर गाव-तकिये करीने से लगे रहते थे और चौसर, चतुरंग आदि खेलों के साधन पास ही मौजूद रहते थे । बाहर के बरामदे में

तरह तरह के पक्षियों के पिंजर लटक रहते थे । वात्स्यायनयुग के सुसंस्कृत नागरिक को पशुपक्षियों सेअपनी संतान के जितना प्रेम हो सकता था । अत : गोशाला और अश्वशाला के गायघोड़ों की देखभाल बड़ी आस्था से की जाती थी । आज के हमारे यंत्रचालित नागरिक जीवन में ये सारी बातें सपना होती जा रही हैं ।

इस जाज्वल्यमान नगरसंस्कृति के केन्द्रबिंदु 'नागरक' के वैयक्तिक जीवन की एक झलक भी हम देख लें । उसके गृह के वर्णन से यह तो हम देख ही चुके हैं कि वह अत्यंत परिष्कृत रुचि वाला रसिक और शौकीन पुरुष था । परंतु रसिक होने पर भी वह आलसी नहीं था । प्रात : वह अकसर जल्दी उठ जाता था और स्नान-संध्या से निवृत्त होकर अगरु-धूप से सुवासित किये हुए वस्त्र धारण करता था । वस्त्रों में प्राय : अधोवस्त्र (धोती), अँगरखा और उत्तरीय (दुपट्टा), ये तीन ही कपड़े होते थे । फिर ललाट पर हलका सा चंदन का लेप और आँखो में अंजन करता था । सुवासित तेल डालकर बालों को सँवारता था और गले में फूलमालाएँ धारण करता था । तांबूल के सतत सेवन से उसके होंठ सदा लाल रहते थे । पुष्प, चंदन और पान उसके जीवन के अभिन्न अंग थे और मित्रों एवं आगंतुकों की अभ्यर्थना इन्हीं वस्तुओं से की जाती थी । इस प्रकार की सजधज के बाद, दर्पण में मुख देख कर वह अपने नित्य के काम में लग जाता था । हर तीसरे दिन वह स्नान से पहले तेलमालिश करवाता था और सुंगधित उबटन लगाकर स्नान करता था । सप्ताह में दो बार वह क्षौरकर्म करवाता था । आजकल की 'क्लीनशेव' फैशन उस युगमें रूढ नहीं थी । मूछों का रखना आवश्यक था । नित्यक्षौर के आदी आज के नागरिक की दृष्टि में चौथे दिन ठोड़ी बनवाने वाला वात्स्यायन युग का रसिक नागरिक इस एक ही क्षेत्र में कुछ गँवार दिखाई दे सकता है । दाँत और नाखूनों को अत्यंत स्वच्छ रखा जाता था । नाखूनों को मोम और अलक्तक (महावर) के मिश्रण से चमकाकर उन्हें अर्धवर्तुल या कंगूरेदार ढंग से काटा जाता था ।

प्राचीनयुग के रसिक नागरिक के दाँतों और नाखूनों का जिक्र होते ही उस युग की एक विशिष्टता का उल्लेख आवश्यक हो जाता है । दंतव्रण और नखक्षत तत्कालीन प्रेमोपचार के अतिमहत्त्वपूर्ण अंग थे । प्रेमी-प्रेयसी के अंगोपांगों पर किये जाने वाले नखक्षत और दंतव्रणों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन उनके सूत्रों में किया गया है और उस युग का पूरा शृंगारिक साहित्य इन वर्णनों से भरा पड़ा है । यह शौक केवल पण्यांगनाओं के शरीर तक ही मर्यादित रखा जाता हो, यह बात भी नहीं । विवाहिता पत्नी के संबंध में भी इनकी सिफारिश की गई है और इन्हें कामोद्दीपन का अचूक साधन माना गया है । वात्स्यायन सहित कामशास्त्र के सभी आचार्यों ने दंतनख की इन पीडादायिनी प्रक्रियाओं को केवल पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्री के पक्ष में भी कामोत्तेजक और आनंददायक माना है । आज का यौन विज्ञान आनंदप्राप्ति के इन प्रकारों की गणना परपीडनवृत्ति (sadism) और आत्मपीडनवृत्ति (masochism) नामक कामविकृतियों के अंतर्गत करता है । इनके अतिरेक या दुरुपयोग के दुष्परिणामों की चर्चा वात्स्यायन ने भी की है ; पर इन व्यथाप्रेरक और बर्बर शौकों को आर्य कामविज्ञानियों ने रुचिर कला का रूप क्यों दिया होगा, यह समझ में नहीं आता ।

भोजन उस युग में भी दिन में दो बार ही किया जाता था ; दोपहर को और रातको । मासाहार अत्यधिक प्रचलित था पर मत्स्याहार का उल्लेख कामसूत्र में नहीं मिलता । दूध, मधु और तरह-तरह के शरबतों के उपरांत, सुरा, आसव आदि तीव्र मद्यों का सेवन भी खुलेआम होता था । दोपहर के भोजन के बाद रसिक नागरिक के लिए वामकुक्षि करना अत्यंत आवश्यक था । तीसरे पहर उठने पर उसके मित्रों और विदूषक, नट, पीठमर्द आदि मनोरंजनकारों की मंडली जम जाती थी । एक ओर गपशप और हँसी-दिल्लगी के दौर चलते थे तो दूसरी ओर मुर्गे, तीतर-बटेर या भेड़ों की मुठभेड़ चलती रहती थी । तोता-मैना के पिंजरे बरामदों में ही टंगे रहते थे । खेलकूद से उकता जाने पर इनसे बातचीत करके या पालतू बंदरों को छेड़कर उनकी मर्कटचेष्टाओं से मनोरंजन किया जा सकता था । राज-महाराजा और धनी-मानी लोगों की वाटिकाओं में शेर, चीते, बाघ भालू आदि वन्य पशुओं के पिंजड़े भी होते थे । मनोरंजन के इतने

विविधि साधन उपलब्ध होने के कारण बच्चों का समय भी बड़े मजे से कटता था।

सूर्यास्त होते ही नागरिक सुंदर, वस्त्रधारण करके घर से बाहर निकलता था। अकसर वह किसी 'गोष्ठी' में हाजिर रहता था। सायंगोष्ठी उस युग के सुसभ्य और साधनसंपन्न पुरुषों का मिलनस्थान था। मित्रों की मंडली जम जाने पर काव्यशास्त्रविनोद, चौसर-चतुरंग आदि खेल : लतीफेबाजी और हाजिरजवाबी की नोकझोंक, नृत्य, संगीत, चित्रकारी आदि कलाओं की चर्चा और कभी कभी उनका प्रदर्शन,एवं राजनीतिक और व्यवसायिक प्रश्नों पर विचार विनिमय इत्यादि विविध प्रकार की बातें यहाँ होती रहती थीं। परंतु पूरा वातावरण हास्यविनोद और चुहलबाजी से भरा रहता था। मन पर किसी प्रकार का बोझ रखकर गंभीरता से चर्चा करने का यह स्थान नहीं था। दिनभर के काम की थकान उतारने के लिए उन्मुक्त वातावरण और ज्ञान के साथ मनोरंजन का मणिकांचनयोग प्रस्तुत करना ही गोष्ठियों का प्रधान उद्देश्य रहता था। शहरों के धनिक और बुद्धिमान रईसों में इस प्रकार की मित्र-मंडलियाँ जमाने की प्रथा आज भी पाई जाती है। वर्तमान युग के क्लबों से यह संस्था अत्यंत मिलती-जुलती थी ; यद्यपि चौबीस-चौबीस घंटों तक चलनेवाली रमी या ब्रिज पार्टियों की ऊबा देने वाली एकतानता से ये सर्वथा मुक्त थीं।

रात का समय उस युगका रसिक नागरिक नृत्य, संगीत और वाद्य के आस्वादन में व्यतीत करता था। नृत्य संगीत की इन महफिलों का आयोजन कभी उसके घर पर तो कभी उसके मित्रों के घर पर होता था। इसके अलावा नगर की प्रसिद्ध वारांगनाओं के गणिकालय तो थे ही। हर गणिका उत्तम नर्तकी या गानेवाली हो, यह तो उस युग में भी संभव नहीं था, पर उच्च कोटि की गणिकाओं में थोड़ा-बहुत कलाप्रेम अवश्य पाया जाता था। इस क्षेत्र की परिस्थितियाँ उस युग में भी आजसे विशेष भिन्न नहीं थी और नृत्य-संगीत का व्यवसाय करनेवाली कलावतियों को देहविक्रय करनेवाली गणिकाओं से विशेष भिन्न नहीं माना जाता था। वेदकाल के सोम-उत्सवों में नाचनेवाली 'साधारण्या' से लगाकर आजके नाटक-सिनेमाओं में काम करनेवाली अभिनेत्रियों तक कलावती नारी की विशेष प्रगति नहीं हुई है। नृत्यसंगीत का दौर पूरा होते ही नागरिक अपने घर लौट जाता था जहाँ शयनगृह में उसकी पत्नी राह देखती रहती थी। इसके विपरीत, कभी कभी वह गणिका के कोठे पर ही रात बिता सकता था और इससे पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य में उसे कोई त्रुटि महसूस नहीं होती थी। शयनगृह में राह देखनेवाली विवाहिता प्रियतमा को भुलाकर किसी वेश्यालय के एकांत कमरे में राह देखनेवाली पण्य प्रियतमा से कामक्रीड़ा करने में उस युग के रसिक नागरिक को कोई परहेज नहीं था।

यह तो हुई नागरिक की सामान्य दिनचर्या। पर उत्सवों के प्रसंगों पर तो इससे कई गुना अधिक आनंद प्राप्त हो सकता था। आनंदप्राप्ति के लिए समवयस्क और समानशील मित्रों की उपस्थिति शायद अनादिकाल से आवश्यक मानी गयी है। मित्रमंडली के साथ सामूहिक रूप से आनंद प्राप्त करने की क्रीड़ाओं के निम्नोक्त पाँच प्रकार अधिक प्रचलित थे :— (१) देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना के उपलक्ष्य में आयोजित किये जाने वाले उत्सव। इन्हें 'समाज' या 'यात्रा' के नाम से पहचाना जाता था, और इनकी परिणति अकसर विशाल जुलूसोंमें होती थी। (२) गोष्ठी :— मित्रमंडलियों के ऊपर वर्णित हो चुकने वाले रोजाना सायंसम्मेलनों की अपेक्षा अधिक विस्तृत महफिलें जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं। (३) आपानक :— सुरा, आसवादि मद्यों के खुलेआम सामूहिक पान के लिए आयोजित महफिलें। (४) उद्यानविनोद :— बाग-बगीचों में आयोजित किये जाने वाले वनभोज (५) समस्यक्रीड़ा :— खेलकूद, नृत्य-संगीत और आनंद-प्रमोद के लिए सम्मिलित स्त्री-पुरुषों का समुदाय।

वात्स्यायन-युग का निकट-परिचय प्राप्त करने के लिए सामूहिक आनंदप्राप्ति के इन प्रकारों का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है। साथ ही, ये सम्मेलन प्रेमियों के मिलनस्थल किस प्रकार सिद्ध होते थे, इसका भी कुछ विचार कर लिया जाय।

(१) समाज :— आर्य संस्कृति में बड़े प्राचीनकाल से सरस्वती को विद्या और कला की देवी माना

जाता है । वात्स्यायनयुग में प्रतिमास पूर्णमासी के दिन शहर के नागरिक सरस्वतीपूजन के निमित्त मंदिर में एकत्रित होते थे । इस सम्मेलन को 'समाज' कहा जाता था । इन कला समारंभों का आयोजन सरस्वतीमंदिर के रंगमंडप में होता था और आवश्यक खर्च की व्यवस्था नागरिकों से चंदा वसूल करके की जाती थी । गवैये, नृत्यकार और अन्य अनेक प्रकार के कलाकार एकत्रित होकर उपस्थित समुदाय का मनोरंजन करते थे । इनमें से कुछ कलाकार स्थानिक होते थे । और कुछ नगर में आ पहुँचनेवाली नट, कत्थक इत्यादि कलाकारों की घुमक्कड़ मंडलियों के सदस्य होते थे । 'समाज' का प्रत्येक कार्यक्रम कलाकी अधिष्ठात्री देवी के प्रति पूज्य-भाव प्रकट करने के हेतु से अत्यंत श्रद्धापूर्वक प्रस्तुत किया जाता था । अधिक सफलता प्राप्त करने वाले कलाकारों को नगर के श्रेष्ठी-सामंत अपने निवासस्थानों पर आमंत्रित करते थे । इस प्रकार वैयक्तिक स्तर पर आयोजित जलसों में निमंत्रित मेहमानों की संख्या सीमित होती थी । कभी-कभी नगर के महाजनसंघ की ओर से भी इन कलाकारों का सत्कार किया जाता था । ऐसे प्रसगों पर होने वाले जलसे सार्वजनीन होते थे । सरस्वतीमंदिर के रंगमंडप और विशाल चौक आजकल की संस्थाओं के सभागारों से कई गुने विशाल होते थे । सरस्वती के उपरांत अन्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए भी 'समाज' का आयोजन हो सकता था । रंगमंडप में किये जाने वाले विविध कार्यक्रमों के बाद उपस्थित समुदाय देवी-देवताओं के जुलूस भी निकाले जाते थे । इन जुलूसों को 'यात्रा' कहा जाता था । चीनी यात्री फाहियान ने मध्यएशिया के खोतान जैसे सुदूर प्रदेश में निकलने वाली सामूहिक 'यात्राओं' का उल्लेख किया है । इन यात्राओं में स्त्री-पुरुष मिलजुलकर भाग लेते थे । वात्स्यायन ने इन उत्सवों को प्रेमियों के मिलन के अत्यंत सुविधाजनक अवसर माना है ।

(२) गोष्ठी :— 'गोष्ठी' उस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक मिलन था । इसी परिच्छेद में रोजाना होने वाली जिस सायंगोष्ठी का वर्णन हो चुका है, उससे यह गोष्ठी कुछ भिन्न होती थी । सायंगोष्ठी की सदस्य-संख्या घनिष्ठ मित्रों तक ही सीमित रहती थी । प्रस्तुत 'गोष्ठी' का स्वरूप उससे अधिक विस्तृत और अधिक सार्वजनीन होता था । 'गोष्ठी' के लिए धर्मशाला, किसी मंदिर का चौक, किसी धनिक नागरिक की हवेली का प्रांगण या किसी प्रसिद्ध गणिका का आवास — कोई भी स्थान उपयुक्त हो सकता था । गोष्ठियों का आयोजन प्राय : तीसरे पहर किया जाता था । विशिष्ट अवसरों पर या त्यौहारों के दिन आयोजित गोष्ठियाँ साधारण गोष्ठी से कई गुने विशाल समारोह का रूप धारण करती थीं । 'गोष्ठी' में अकसर संपन्न, विद्वान और कलारसिक नागरिक ही सम्मिलित होते थे । बुद्धि, चातुर्य, विद्वत्ता और कलाप्रियता की अभिव्यक्ति करने वाला संभाषण इन गोष्ठियों का प्राण होता था । तरह तरह के खेलकूदों का आयोजन और तत्त्वज्ञान की बारीकियों से लगाकर दुनियाभर की अजीबोगरीब बातों की चर्चा यहाँ हो सकती थी और नागरिकों को अपनी बुद्धि, संभाषण कौशल, कलानिपुणता और रसिकता प्रदर्शित करके उपस्थित समाज को प्रभावित करने का मौका मिलता था । शीघ्रकाव्य, समस्यापूर्ति, कविसम्मेलन और अनेकार्थी वाक्यों का स्पष्टीकरण मनोरंजन के विविध प्रकार प्रस्तुत करते थे । देश-विदेश की भाषाओं और विभिन्न प्रदेशों की बोलियों का ज्ञान एवं शब्दार्थकोष, विशिष्टार्थकोष, रस, अलंकार, छंद, काव्य, नाटक, कथा, और विभिन्न कलाओं की जानकारी इन गोष्ठियों में भाग लेने वाले नागरिकों के लिए अत्यावश्यक थी । चित्रकारी, पुष्परचना और केशसज्जा के विभिन्न प्रकारों का ज्ञान भी आकर्षण का विषय बन सकता था ।

इस प्रकार के गोष्ठी-सम्मेलनों में गणिकाओं और नृत्यसंगीत के कलाकारों की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी । गणिकाएँ नागरिकों के संभाषणों और चर्चाओं में भाग ले सकती थीं । संभाषणचातुर्य, कलासिद्धि, रसिकता और ज्ञानविज्ञान के सभी क्षेत्रों में उनकी योग्यता इतनी उच्च कोटि की होती थी कि उनसे वार्तालाप या विवाद करने में ऊँची से ऊँची श्रेणी के सुसंस्कृत नागरिकों को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था । यह चर्चा कोरी चुहलबाजी या असंयत हँसी-मजाक नहीं बल्कि राजनीति, साहित्य और दर्शन के कूट प्रश्नों का निराकरण करनेवाली विद्वत्तापूर्ण ज्ञानचर्चा हो सकती थी । सुविद्य गणिका से विवाद छिड़ जाने पर गणिका के नहीं बल्कि विद्वान नागरिकों के ज्ञान की कसौटी होने की ही अधिक संभावना

रहती थी । इतना होने पर भी, गोष्ठियों का वातावरण निरर्थक गंभीरता या दंभ से घुटा हुआ नहीं बल्कि उन्मुक्त हास्यविनोद और जीवन के प्रति आनंदवादी दृष्टिकोण से ओतप्रोत रहता था ।

वात्स्यायन-युग में परिष्कृत रुचि के सुसंस्कृत नागरिक के लिए दो-चार नहीं चौसठ कलाओं की जानकारी आवश्यक मानी जाती थी । इन कलाओं की जानकारी से रहित व्यक्ति अन्य विषयों का चाहे जितना ज्ञानी और वेदशास्त्रों में पारंगत क्यों न हो, सभ्य समाज में वह निष्प्रभ सिद्ध होता था । चौसठ कलाओं की जो सूची कामसूत्र में दी गई है, वह इतनी वैशिष्ट्यपूर्ण है कि उनमें उच्चकोटि की सिद्धि हासिल करने के लिए अत्यंत ऊँची कक्षा के बुद्धिविकास और कठिन परिश्रम की अपेक्षा रहती होगी । चौसठ कलाओं की जानकारी उच्च कोटि की गणिकाओं के लिए तो नितांत आवश्यक थी । इससे उस युग की कलावती गणिकाओं की रसवृत्ति कितने ऊँचे दर्जे की रही होगी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है और 'गोष्ठी' जैसे सांस्कृतिक आयोजनों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य क्यों मानी जाती थी, यह भी समझा जा सकता है ।

गोष्ठियों में प्रयुक्त भाषा संस्कृत और प्राकृत की मिलीजुली और लोक प्रचलित बोली होती थी । क्लिष्ट शब्दों से युक्त अति संस्कृतमयी भाषा आज के समान उस युग में पंडिताऊ और अव्यवहार्य मानी जाती थी । इसके विरुद्ध प्राकृत के अतिउपयोग को अशिष्टता उपहास का विषय सिद्ध होता था जबकि विद्वद्गण और जनसाधारण, दोनों की समझ में आ सकने वाली, संस्कृत और प्राकृत के उचित संमिश्रणयुक्त भाषा अस्खलित रूप से बोल सकने वाला वक्ता गोष्ठी-सम्मेलनों में अत्यंत लोकप्रिय हो उठता था । जो व्यक्ति 'गोष्ठी' में लोकप्रिय हो, वह पूरे नगर का लाड़ला हो जाता था । सूक्ष्म और बुद्धिगम्य विनोद द्वारा सम्मेलनों में उन्मुक्त हास्य की तरंगें उत्पन्न कर सकनेवाली संभाषणपटु तो लोगों के गले का हार बन जाता था और ऐसे लोगों की अनुपस्थिति में 'गोष्ठी' के नीरस और असफल होने की आशंका रहती थी ।

गोष्ठियों में उदारतापूर्वक खर्च करके उनका बारंबार आयोजन करने वाले धनिक नागरिक नगरनिवासियों के आदर और श्रद्धा के पात्र बन जाते थे । गोष्ठियों में प्रेमियों को स्वतंत्रता से मिलने का और रसिकों को गणिकाओं से खुलेआम मिल सकने का मौका मिलता था । कभी कभी इनका आयोजन गणिकागृहों में ही होता था । ऐसे अवसरों पर शहर के प्रतिष्ठित नागरिकों, विद्वानों और कलाविदों को आमंत्रित किया जाता था । गणिकाओं के आमंत्रण का स्वीकार करने में सुसंस्कृत और विद्वान नागरिकों को तिलमात्र भी संकोच नहीं होता था और इसमें किसी प्रकार की प्रतिष्ठाहानि नहीं मानी जाती थी । अन्य स्थानों पर आयोजित गोष्ठियों में भी गणिकाओं को आमंत्रित किया जाता था । साथ ही कुलीन परिवारों की विवाहिता स्त्रियाँ भी उपस्थित रहती थीं । पण्यांगनाओं और कुलांगनाओं की एकसाथ उपस्थिति शायद दोनों के लिए असुविधाजनक रहती होगी । अत : कभी कभी कुलीन स्त्रियों के लिए अलग गोष्ठियों का आयोजन भी किया जाता था । पुरुषों की उपस्थिति से रहित ये स्त्री-गोष्ठियाँ कभी कभी पुरुषों की गोष्ठियों के जितनी ही आनंदप्रद और रसपूर्ण सिद्ध होती थीं । इनमें अविवाहिता युवतियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं । इन अवसरों पर उच्च प्रकार की कलासाधना का परिचय देने वाली युवती की वैवाहिक पात्रता बहुत अधिक बढ़ जाती थी । यह सब होने पर भी स्त्रियों की गोष्ठियों को अधिक पसंद नहीं किया जाता था, और इनमें बारंबार शरीक होने वाली कुल स्त्री को उच्छृंखल या मर्यादाहीन कहा जाने का भय रहता था ।

अपवादात्मक प्रसंगों पर गोष्ठियों में सभ्यता, संयम और शिष्टता का निर्वाह नहीं हो पाता था । इस हालत में मर्यादा का भंग होना स्वाभाविक था और उनकी परिणति बेलगाम स्वैराचार में होने की संभावना रहती थी । कभी-कभी ये मिलनप्रसंग राजनीतिक षडयंत्रों के केन्द्र बन जाते थे । वात्स्यायन ने कुलीन नागरिकों को इस प्रकार की अखाड़ेबाजी से दूर ही रहने की राय दी है । गोष्ठियों का एकमात्र उद्देश्य विशुद्ध आनंद प्राप्त करना होता था, और बौद्धिक या कलासक्त दृष्टिकोण के अभाव में विशुद्ध

आनंदकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती । अत ; निरंकुशता के इनेगिने अपवादों को छोड़ दें, तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि संयम और शिष्टता की मर्यादाओं का पालन करने वाले गोष्ठी-सम्मेलन उस युग के संस्कारों और अभिरुचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले महत्त्वपूर्ण सामूहिक मिलन थे ।

(३) आपानक :— ये घनिष्ठ मित्रों और अंतरंग संबंधियों के मिलन के अतिवैयक्तिक प्रसंग थे । समानशील मित्र एक-दूसरे के घर पर एकत्रित होकर खानपान का आयोजन करते थे, परंतु जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इन मौकों पर खाने की अपेक्षा पीना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता था । सुरा-आसव आदि का निस्संकोच सेवन इन सम्मेलनों का प्रधान लक्षण माना जाता था । इस दृष्टि से इनकी तुलना वर्तमान युग की कॉकटेल-पार्टियों से की जा सकती है ।

(४) उद्यानविनोद :— वात्स्यायन-युग के रसिक नागरिकों को उद्यानगोष्ठी का अत्यधिक शौक था । आजकल नष्टप्राय : हो चुकनेवाली 'गोट' का यह प्राचीन रूप था, और आधुनिक युग की पिकनिक पार्टियों से भी इसनी तुलना की जा सकती है । शहर के इर्दगिर्द छोटेमोटे बगीचों की उस युग में कमी नहीं थी । नागरिक रथों में बैठकर या घोड़ों पर सवार होकर यहाँ आते थे । नाचगाने के लिए गणिकाओं की और सेवा टहल के लिए दासदासियों की उपस्थिति अत्यावश्यक मानी जाती थी । दोपहर को कुछ देर से भोजन की व्यवस्था होती थी और बाद में मुर्गे, तीतर-बटेर या भेड़ों की भिड़त होती थी । शाम को स्मृतिचिन्ह के रूप में फूलमालाएँ या गजरे धारण करके नागरिक वापस लौटते थे । बाग के तालाब में तैरना और जलक्रीड़ा करना उद्यानविनोद का आवश्यक अंग था । कभी कभी बाग में ही नाटक भी खेले जाते थे । अनेक रानियों से विवाह करने वाले राजाओं को तो वात्स्यायन ने विशेष रूप से सूचना दी है कि रानियों को खुश रखने के लिए प्रत्येक रानी के सम्मान में उद्यानयात्रा का आयोजन अवश्य किया जाना चाहिये । उद्यानविनोद में विवाहिता स्त्रियाँ और अविवाहिता युवतियाँ भी शरीक हो सकती थीं । 'गोष्ठी' की तरह कभी कभी सिर्फ स्त्रियों के लिए उद्यान विनोद का आयोजन किया जाता था । एक सूत्र में वात्स्यायन यह भी कहते हैं कि रसिकों के लिए स्त्रियों से मिलने का और उनसे प्रेम करने का 'उद्यानगोष्ठी' से बढ़कर और कोई मौका नहीं । उद्यान विनोद स्त्रियों को — विशेष तौर से रखैलों को — खुश करनेका एक प्रभावी साधन माना जाता था । उस युग के शौकीन नागरिक इस आयोजन के पीछे दिल खोलकर खर्च करते थे और उससे अधिक से अधिक आनंद प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे ।

(५) समस्य क्रीड़ा या संभूयक्रीड़ा :— विशिष्ट त्यौहारों पर आयोजित अलग-अलग प्रकार के उत्सवों और खेलकूद के आयोजनों को इस नाम से पहचाना जाता था । भारत के विविध प्रांतों में यह प्रथा आज भी विभिन्न रूपों में जीवित रही है । गुजरात-सौराष्ट्र का नवरात्रि का गरबानृत्य, बंगाल की दुर्गापूजा, महाराष्ट्र का गौरीपूजन और कोजागिरी (शरदपूर्णिमा का रात्रि-उत्सव) एवं उत्तर भारत के होली, फाग, हिंडोले, रास और वसंतोत्सव इसी प्राचीन प्रथा के आधुनिक रूप हैं । इनमें प्रधान योगदान स्त्रियों का रहता था । यहाँ तक कि कभी-कभी राजघरानों की स्त्रियाँ भी नागरिक स्त्रियों को महलों में आमंत्रित करके मनोरंजक खेलों और नृत्यों का आयोजन करती थीं । पुरुष इन खेलों में सम्मिलित हों या न हों, प्रेक्षक के रूप में वे अवश्य उपस्थित रहते थे । वात्स्यायन ने इसकी विशेष तौर से सिफारिश की है । स्त्रियों के खेल विभिन्न रूप धारण करते थे । घरौंदे बनाना ; गुड्डा-गुड़िया का ब्याह रचाना ; पासे, कौड़ियाँ या गुटके खेलना, रस्सीकूद, आंधासाथी इत्यादि खेल अधिक लोकप्रिय थे । स्त्री-पुरुष एक साथ इन खेलों में भाग लें, या अल्हड़ युवतियों के खेल को पुरुष प्रेक्षक की हैसियत से देखे, तो इसकी परिणति शृंगारभावना में होना स्वाभाविक है । अत : इनमें से अनेक प्रकार के प्रेमसंबंध और स्वैराचार जन्म लेते हों, तो आश्चर्य नहीं, कामशास्त्र के परमपंडित वात्स्यायन की नजर से यह बात छिपी नहीं रह सकती थी ।

३
वात्स्यायन युग की नारी

उस युग की स्त्रियों क संबंध में साधारणतया यह कहा जा सकता है कि वे थोड़ी-बहुत शिक्षित अवश्य होती थीं। बड़े परिवारों की कुलस्त्रियाँ गृहकार्य की कितनी अधिक जिम्मेदारी संभालती थीं, यह हम देख ही चुके हैं। शिक्षा के संपूर्ण अभाव में घर खर्च का हिसाब रखना, और संयुक्त परिवार का कुशलता से संचालन करना संभव नहीं होता। अकसर उनका बौद्धिक विकास थोड़ी बहुत कविता, समस्यापूर्ति या श्लेष आदि वाक्चातुर्य के मर्म को समझ लेने और पत्रों का आदान-प्रदान कर सकने जितने अक्षरज्ञान तक ही सीमित रहता था। पत्नी सिर्फ गृहिणी ही नहीं, सच्चे अर्थों में गृहराज्ञी थी ; अत : स्त्रियों के लिए पढ़ने की अपेक्षा गुनने को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। घर का पूरा कामकाज, पुष्पवाटिका की देखभाल, और संयुक्त परिवार के अनेक उलझन भरे उत्तरदायित्व उसी के जिम्मे थे,और इस सीमित शिक्षा के बल पर वह उन्हें बड़ी खूबी से निभाती थी। साधन-संपन्न श्रेष्ठी-सामंतों की कन्याओं, राजपुत्रियों, और उच्चकोटि की गणिकाओं को छोड़कर उच्च स्तर की शास्त्रीय शिक्षा या नृत्यसंगीतादि की सम्यक् शिक्षा साधारण स्त्रियों के हिस्से में क्वचित् ही आती थी। कोई पुत्रहीन विद्वान ब्राह्मण पुत्र के अभाव में पुत्री को ही अपनी विद्या की विरासत दे जाय, यह अलग बात थी। अन्यथा थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना, थोड़ा सा हिसाबकिताब और बाकी का श्रुतज्ञान ही स्त्रियों के लिए पर्याप्त माना जाता था। परंतु कामशास्त्र का संपूर्ण ज्ञान और चौसठ कलाओं की जानकारी कुलस्त्रियों के लिए भी आवश्यक और गणिकाओं के लिए तो अनिवार्य मानी जाती थी। 'ललित विस्तार' नामक ग्रंथ में सिद्धार्थ के लिए योग्य वधू की चर्चा करते हुए सिद्धार्थ के पिता कहते हैं कि कन्या पंडितों के समान शास्त्रों की जानकार और गणिका के समान कलाप्रवीण होनी चाहिये।''

राजाओं, सामंतों और धनिक श्रेष्ठियों में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी परंतु सामान्य प्रजा में एकपत्नीव्रत का ही अधिक प्रचलन था। निराधार स्त्रियों, विधवाओं और त्यक्ताओं को राज्य के कताई-बुनाई विभाग में अग्राधिकार से काम दिया जाता था। यह प्रथा चाणक्य-युग से चली आ रही थी। अत : अनाथ स्त्रियों की आर्थिक समस्या उतनी भयावह नहीं हो पाई थी। फिर भी, विधवाओं के संबंध में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। विधवा का पुनर्विवाह उतना प्रचलित नहीं था, पर यदि वह संयम से न रह सके, तो किसी पुरुष से संबंध रखने की उसे छूट थी। परपुरुष से संबंध रखने वाली विधवा को पुनर्भू कहा जाता था। इस संबंध में विवाहित अवस्था जैसी घनिष्ठता उत्पन्न नहीं हो पाती थी। किसी प्रकार की धार्मिक विधि के लिए इसे मान्य नहीं किया जाता था और इससे उत्पन्न संतति को औरस नहीं माना जाता था। फिर भी, व्यभिचार के इस खुल्लमखुल्ला प्रकार को बहुत अधिक निंद्य या त्याज्य नहीं माना जाता था और पुनर्भू स्त्रियों को रखैलों का ही एक प्रकार मानकर समाज उनकी ओर से निश्चिंत हो जाता था। उस युग के राजमहल तो अनेक प्रकार की स्त्रियों के संग्रहालय थे ही। अत : पुनर्भू विधवाओं को महलों में भी स्थान मिल सकता था जहाँ उनकी स्थिति रानियों और गणिकाओं के बीच की मानी जाती थी। विधवा के लिए शास्त्रोक्त पुनर्विवाह का विधान न होने पर भी गणिकागमन के समान पुनर्भू-संबंध की भी अधिक आलोचना नहीं की जाती थी। विवाह के साथ-साथ रखैल और गणिका, इन दोनों संस्थाओं का भी आदरपूर्वक न सही, पर एक सहय दुर्बलता के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इस उन्मुक्त वातावरण के बावजूद सहगमन (सतीप्रथा) के प्रसंग भी यदाकदा दिखाई दे जाते थे।

वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना स्त्री-पुरुष के विवाहित और विवाहबाह्य, सभी प्रकार के संबंधों को अनुलक्षित करके की थी। गणिकाओं का व्यवसायिक कामोपचार भी उस युग के कामजीवन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग होने के कारण सामान्या की भी उन्होंने अवगणना नहीं की। कामसूत्र के एक अलग

प्रकरण में गणिकाजीवन का तटस्थ और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से विचार करके उन्होंने इस वर्ग की स्त्रियों के प्रति सद्भावना का ही परिचय दिया है । यह हम देख चुके हैं कि सुशिक्षित और कलाप्रवीण गणिकाओं का उस युग की नगर-संस्कृति में निश्चित और महत्त्वपूर्ण स्थान था । उनकी गणना देह विक्रय करने वाली पण्यांगनाओं के अंतर्गत होने पर भी समाज का उनके प्रति दृष्टिकोण तिरस्कार या घृणापूर्ण नहीं बल्कि कुतूहल, सम्मान और सहानुभूति से पूर्ण था । कलावती गणिकाओं के प्रति प्रतिष्ठित नागरिकों के हृदय में ही नहीं, कुलीन स्त्रियों के मन में भी आदर और सम्मान की भावना पायी जाती थी । परंतु यह आदरसम्मान देह विक्रय करने वाली हर ऐरी गैरी वेश्या के प्रति व्यक्त नहीं होता था । सिर्फ उच्चकोटि की कलावती गणिकाएँ ही इसकी पात्र मानी जाती थीं ।

४

कलावती गणिका' की व्याख्या

प्रश्न उठता है कि 'कलावती गणिका' का अभिधान किस श्रेणी की गणिकाओं के लिए योग्य माना जाय ? केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें तो उच्च से उच्च प्रकार की गणिकाको भी सर्वसाध्य — धन के बदले में सर्वप्राप्य — माना जा सकता है । इसी नियमानुसार उस युग में गणिकामात्र की गणना धन के बदले में देह विक्रय करने वाली पण्यांगनाओं के अंतर्गत ही होती थी । उच्च से उच्च कोटि की गणिका भी विवाहिता नहीं होती थी, उसका कोई पति नहीं होता था, उसकी संतति औरस नहीं मानी जाती थी और पुरुष अर्धांगिनी के रूप में किसी भी प्रकार का धर्मकार्य करने का अधिकार उसे नहीं था । परंतु यह सब होने पर भी वह सर्वसाध्य या सहजसाध्य नहीं थी और केवल धन की शक्ति से प्राप्य नहीं थी । उसके प्रेमनिर्वाचन में विवेक, संयम, शिष्टता और सुघड़ता का संमिश्रण पाया जाता था । धनोपार्जन उसके जीवन का एकमात्र ध्येय होने पर भी कलावती गणिका में एक प्रकार की अवर्ण्य अलिप्तता और उच्चकोटि की अभिरुचि के दर्शन होते थे । वात्स्यायन युग की कलावती गणिका कुशाग्र बुद्धिमत्ता वाली कलाप्रवीण नारी थी । काव्य, अलंकार आदि शास्त्रों और चौसठ कलाओं की वह जानकार थी । स्वभाव से वह दयालु और ममतामयी थी । इस प्रसन्नवदना स्त्री के सौंदर्य में एक प्रकार का अवर्णनीय आकर्षण था । उसके गुण और उसकी तहजीब उसे सभाओं की शोभा सिद्ध करते थे और उसके नैपुण्य एवं सहज माधुर्य के कारण शिष्ट समाज के हर स्तर में उसका स्वागत होता था । राजा-महाराजा उसके गुणों का आदर करते थे और विद्वानों की मंडली में भी उसकी योग्यता की अवहेलना नहीं होती थी । उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए बड़े बड़े धनिक और विद्वान उत्सुक रहते थे ; उसका सहचार अभिमान का विषय माना जाता था और उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए रसिक नागरिकों में होड़ लगी रहती थी । उसका सौंदर्य स्त्रीमात्र के लिए आदर्शरूप और उसकी कलानिपुणता अनुकरणीय मानी जाती थी ।

नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य भरतमुनि ने कलावती गणिका में निम्नलिखित गुण आवश्यक माने हैं :—शास्त्रों [illegible], [illegible] कलाओं की जानकारी, [illegible] योग्यता, नृत्य-संगीत में उच्चकोटि की निपुणता, [illegible] ललित और मोहक भावभंगिमा मधुर स्वभाव, मृदु और आकर्षक होने पर भी स्पष्ट संभाषण, मर्यादाशीलता, दृढ मनोबल, [illegible] कार्यकुशलता, और किसी भी काम को बिना उकताये पूरा करने का उत्साह । इतने असामान्य गुणों और योग्यताओं से युक्त वारांगना को ही 'गणिका' कहा जा सकता था । नाटकों में अन्य स्त्रियों को (रानी-महारानियों तक को) प्राकृत बोलने की छूट देने वाले भरतमुनि कलावती गणिका के लिए संस्कृत बोलना अनिवार्य मानते हैं । नाट्याचार्य का यह एक नियम ही गणिकाओं की सांस्कृतिक और बौद्धिक उच्चता प्रस्थापित करने के लिए पर्याप्त है । गणिका को अपने धन का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय में भरतमुनि और वात्स्यायन सहमत हैं । दोनों की राय है कि 'गणिका को अपने धन का उपयोग

देवालय बनवाने में, कुएँ-तालाब खुदवाने में, सड़कों की दोनों ओर वृक्षों का आरोपण एवं बाग-बगीचों की रचना करवाने में, पुल, पांथशालाएँ, रुग्णालय इत्यादि का निर्माण करवाने में और विद्वान ब्राह्मणों को दानदक्षिणा देने में ही करना चाहिये । सार्वजनीन कल्याण के इन कार्यों द्वारा ही गणिका के धन का सदुपयोग हो सकता है ।'' इतनी मर्यादाओं और सुविचारों से नियंत्रित गणिकाजीवन निश्चित ही छिछला, धनलोभी, और कामुक पुरुषों द्वारा चचोड़ा हुआ निर्माल्य जीवन नहीं रहा होगा । भरत और वात्स्यायन के विचारों को प्रमाणभूत मानकर चलें, तो उस युग के गणिकाजीवन में इतनी तपस्या और विशुद्धि दिखाई देती है कि जो बाद के युगों में विवाहित जीवन में भी दुर्लभ हो गई थी ।

प्राचीन आचार्यों द्वारा 'गणिका' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :— ''राजकीय दृष्टि से एकरूप किसी विशिष्ट गण के पुरुषों को अपना रूप यौवन अर्पण करने वाली और अपने शरीरपर गण के सब सदस्यों का स्वामित्व स्वीकार करने वाली पण्यांगना को गणिका कहा जा सकता है ।'' मनुस्मृति में गण और गणिका का दिया हुआ अन्न ब्राह्मण के लिए निषिद्ध माना गया है । स्मृतिकारों के हर आदेश का पालन तो कभी नहीं हुआ, पर 'गण' और 'गणिका' के संबंध की इससे स्थापना होती है । 'गण' किसी प्रदेश विशेष या नगरविशेष के नागरिकों का किसी विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्त, समान विचारधारा, व व्यापारिक सुविधा के सहारे एकत्रित होने वाला समुदाय था । वात्स्यायन ने इसे 'नागरिक जनसमवाय' नाम दिया है । आज की 'बिरादरी', 'पंचायत' या 'महाजन' को इसी प्राचीन प्रथा के अवशेष माना जा सकता है । तत्कालीन जनसमवायों में वैशाली का लिच्छवीगण अत्यंत समृद्ध और बलाढ्य था । आम्रपाली लिच्छवी गण की शोभारूप गणिका थी । भरतमुनि और वात्स्यायन द्वारा आवश्यक माने गये सभी गुण आम्रपाली में साकार हो उठे थे । अत: इन दोनों आचार्यों की व्याख्याओं को केवल आदर्शरूप या कपोलकल्पित नहीं माना जा सकता । गुणी, कलानिपुण और रूपयौवन' संपन्न गणिकाओं की उस युग में कोई कमी नहीं थी । पालि के 'महावग्ग' नामक ग्रंथ वैशाली की गणिकाओं का जो वर्णन पाया जाता है, वह भी उपरोक्त वस्तुस्थिति की पुष्टि करता है । 'महावग्ग' के अनुसार उत्तमकोटि की गणिका के लिए रूपवती, लावण्यमयी प्रसन्नवदना, उदार और कलाप्रवीण होना आवश्यक था । ये सारे गुण तत्कालीन गणिकासंस्था के महत्त्व की ही सूचना देते हैं । सांपत्तिक दृष्टि से लिच्छवीगण की श्रेष्ठ गणिकाओं की धनसंपत्ति वैशाली के धनिक श्रेष्ठियों से रत्ती भर भी कम नहीं थी और प्रतिष्ठा की दृष्टि से उनका पद गण के ऊँचे से ऊँचे अधिकारियों से तिल भर भी नीचा नहीं था ।उनके नौकर-चाकर राजमहलों के दास दासियों का मुकाबला कर सकते थे । भड़कीली वर्दियों से लैस सेवकों की छोटी-मोटी फौज हर कलावती गणिका के आँख के इशारे पर नाचती रहती थी । उनके रथ नगर के किसी भी श्रेष्ठी-सामंत के वाहनों से कम सजीले नहीं होते थे । राजा के सिवा और किसी के रथ को मार्ग देना उनके लिए आवश्यक नहीं था । वे प्रतिष्ठित नागरिकों के रथों के साथ चल सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर सारथि उन्हें आगे भी ले जा सकते थे । संस्था के रूप में गणिका लिच्छवीगण के अभिमान का विषय और वैशाली नगरी की शोभा थी । वैशाली की गणिकाओं के रूप, गुण, वैभव और कलानैपुण्य को देखकर राजगृह के श्रेष्ठियों को इतनी ईर्ष्या हुई कि सम्राट बिंबिसार से कहकर उन्होंने अपने नगर में भी वैशाली के समकक्ष गणिकासंस्था की स्थापना करवाई थी ।

गणिकासंस्था का इतना अद्भुत और महत्त्वपूर्ण विकास किस प्रकार हुआ इसका शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता । व्यवस्थित संस्था के रूप में सबसे पहले कात्यायन के वार्तिक सूत्रों में गणिकाओं का उल्लेख मिलता है । बौद्धयुग तक आते आते तो गणिकासंस्था बद्धमूल हो चुकी थी । बुद्धने जनखों के संघप्रवेश पर तो प्रतिबंध लगाया था, परंतु स्त्रियों का संघप्रवेश स्वीकृत होते ही गणिकाओं के प्रवेश को आपत्तिजनक नहीं माना । गणिकाको असाध्य कोटि की पापिनी मानने की दृष्टि उस युग के समाज ने कभी नहीं रखी । बुद्ध द्वारा गणिका आम्रपाली का शिष्या के रूप में स्वीकार किया जाने पर तत्कालीन समाज को कोई आश्चर्यजनक या अनहोनी घटना हो गई हो, ऐसा महसूस नहीं हुआ । आम्रपाली या अन्य किसी

गणिका के संघ प्रवेश का निषेध करने वाली कोई विरोध सूचक आलोचना बौद्धग्रंथों में नहीं मिलती । सामान्य व्यक्ति के संघ प्रवेश से जन साधारण में जो प्रतिक्रिया होती हो, उससे रत्तीभर भी अधिक खलबली गणिकाओं के संघ प्रवेश का निषेध करने वाली कोई विरोधसूचक आलोचना बौद्धग्रंथों में नहीं मिलती । सामान्य व्यक्ति के संघ प्रवेश से जन साधारण में जो प्रतिक्रिया होती हो, उससे रत्तीभर भी खलबली गणिकाओं के संघ प्रवेश से नहीं होती थी । आम्रपाली के विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण उसके संघ प्रवेश को कुछ अधिक महत्त्व या गौरव मिल गया हो, यह अलग बात है, पर केवल गणिका होने के नाते वह लोगों के कुतूहल का विषय नहीं बनी थी । अपने धर्मसंघ के प्रति जनसाधारण का विरोध न जगे इसके लिए भगवान बुद्ध बहुत अधिक सतर्क रहते थे और प्रचलित लोकमत को धक्का न पहुँचाते हुए अपने संघ की प्रतिष्ठा और शिष्टता बनाये रखने के लिए भी वे सदा प्रयत्नशील रहते थे । मातृहंता या पितृहंता जैसे पापियों के लिए बुद्ध के धर्मसंघ में स्थान नहीं था, पर आनंद के प्रयत्नों से स्त्रियों का संघप्रवेश मान्य हो जाने पर दीक्षा लेकर संघ में प्रवेश चाहने वाली गणिकाओं को अनुमति देने में बुद्ध को कोई आपत्ति नहीं थी और तत्कालीन समाज को भी इसमें किसी प्रकार का अनौचित्य दिखाई नहीं दिया था ।

'थेरीगाथा' नामक ग्रंथ मुख्यत : बौद्ध भिक्खुणी संघ में प्रवेश करने वाली गणिकाओं द्वारा रचा हुआ काव्य संग्रह है । बौद्ध संघ में गणिका का पूर्वाश्रम का जीवन आपत्ति के पात्र कभी नहीं माना गया । संघ में प्रवेश करने वाली अधिकांश गणिकाओं ने अपने उदात्तजीवन और विशुद्ध आचरण द्वारा संघ की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही की थी । स्पष्ट, खुलेआम और दंभरहित तरीके से कलाविक्रय करने वाली स्त्रियों के पूर्वाश्रम के पेशे को इतना पतित कभी नहीं माना गया कि उसकी वजह से उनके संघ प्रवेश पर पाबंदी लगायी जाय और निर्वाण का मार्ग उनके लिए बंदकर दिया जाय । देहविक्रय करने वाली स्त्रियाँ नैतिकता के क्षेत्र में कुछ उलझनभरे प्रश्न अवश्य उपस्थिति करती थीं, परंतु उन्हें अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएँ बेचने वाले व्यापारियों से भिन्न नहीं माना जाता था । इसके उपरांत,उस युगमें स्त्रीदेह इतना सस्ता नहीं बना दिया गया था कि किसी को भी उसका उपभोग आसानी से प्राप्त हो सके । देहोपभोग का जो मूल्य उस समय साधारणतया लिया जाता था, वह उस युग की समृद्धि को देखते हुए भी काफी ऊँचा दिखाई देता है । आजकल पश्चिम के देशों में दिखाई देने वाली और भारत के नगरों में भी प्रचलित हो चुकनेवाली अशिष्ट और बीभत्स वेश्यावृत्ति से उस युग की कलाप्रधान गणिकावृत्ति निश्चित ही भिन्न प्रकार की थी । केवल सामाजिक या नैतिक अपराध की दृष्टि से देखें तो भी यही मालूम देगा कि अपराध की व्याख्या और नैतिकता के मानदंडों में देशकाल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है । वर्तमान युग में भी नैतिकता के क्षेत्र में हमने कितनी प्रगति की है ? आवश्यक वस्तुओं का कालाबाजार करने वाला आधुनिक भारत का मुनाफाखोर व्यापारी अपने युग की समस्त गणिकाओं से कहीं अधिक पापी है, फिर चाहे वह राष्ट्रीय कांग्रेस का माना हुआ नेता हो, चाहे महात्माजी का निकटवर्ती सहकारी । यह बात नहीं कि वह अपने पाप की कालिमा से परिचित नहीं होता । परंतु या तो अपनी चालाकी के बल पर वह अपने आलोचकों, पुलिस, और न्यायाधीशों की उपेक्षा कर सकता है, या अपनी थैली के बल पर उनकी जबान बंद कर सकता है ।

वात्स्यायन-युग में समग्र भारत धनवैभव और संस्कृति की दृष्टि से अत्यंत ऊँची कक्षा पर पहुँच चुका था । समाज में कलाप्रियता, संस्कारिता और ऐश्वर्यशाली जीवन की दुर्दम्य कामना उत्पन्न हो चुकी थी । इस शौक को पूरा करने के लिए कलानिपुणता को ही जीवन का ध्येय मानने वाली स्त्रियों का एक वर्ग विकसित हुआ जिन्होंने कलासिद्धि को अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया और उसी को जीवन यापन का साधन बनाया । इस प्रकार की नैष्ठिक कलासाधना समाज के आदर और सम्मान की पात्र मानी जाय तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । वैभवशाली समाज के विद्वान, कलारसिक और आनंदप्रेमी नागरिक इस प्रकार की सुशिक्षित, शास्त्रज्ञ और कलानिपुण स्त्रियों का सहवास प्राप्त करने को सदा उत्सुक रहें, यह भी स्वाभाविक है । गणिका के प्रति व्यक्त किया जाने वाला आदर सम्मान उसके रूपयौवन की अपेक्षा उसके

कलानैपुण्य के प्रति ही अधिक अभिव्यक्त होता था । परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तत्कालीन गणिका अपने रूपयौवन की उपेक्षा करती थी या कर सकती थी । कलानैपुण्य को उचित पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए रूप सौंदर्य और देहसौष्ठव की भी उतनी ही देखभाल की जाती थी । थोड़ा-बहुत प्रयत्न करने पर तो बदसूरत स्त्री भी कुछ दर्शनीय हो जाती है, जबकि उस युग की गणिका तो सौंदर्य की साक्षात् मूर्ति थी । देहसौंदर्य की उचित उपासना के बाद उसका आकर्षण कितना मादक हो उठता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है । उस युग में सौंदर्य की देखभाल भी कलानिपुणता की तरह साधना का विषय मानी जाती थी । इतनी निष्ठा से निखारा हुआ सौंदर्य दुर्जेय हो उठे, तो आश्चर्य किस बात का ? ?

इस प्रकार अपने अनुपम सौंदर्य से आँखों को आकर्षित करनेवाली, अपनी कलासाधना से हृदय के तारों को झनझना देने वाली, अपने शास्त्रज्ञान से बुद्धि को चुनौती देने वाली, और अपने मोहक बर्ताव और मादक हावभाव से मन को आकर्षणपाश में बाँध लेने वाली कलावती गणिका उस युग की समाज रचनामें अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी । मानी हुई बात है कि इस विदुषी और कलावती नारी के रूपयौवन का उपभोग सरलता से उपलब्ध हो जाने वाली बाजारी या बिकाऊ चीज नहीं थी । उसके देहोपभोग की कीमत आज हमारी कल्पना में भी न आ सके इतनी ऊँची रखी जाती थी । परंतु केवल धन से ही उसे संतोष नहीं होता था । अपना सहवास चाहने वाले पुरुष से वह अपने ही जितनी उच्च कक्षा की बुद्धिमता और संस्कारिता की अपेक्षा रखती थी । अत : जिस प्रकार किसी निर्धन या साधारण स्थितिवाले पुरुष के लिए उच्चकोटि की गणिका का देहोपभोग संभव नहीं था, उसी प्रकार अरसिक, गँवार या असभ्य पुरुष को भी वह प्राप्त नहीं हो सकता था । अशिक्षित, बेवकूफ, गँवार या अशिष्ट पुरुष से तो कलावती गणिकाएँ बात करना भी पसंद नहीं करती थीं । जिस नागरिक के पास विपुल धन संपत्ति हो, जो ललित कलाओं का जानकार हो, जो काव्य-संगीत के मर्म को समझने वाला हो, जिसकी उदारता स्वभावजन्य हो, जो अपने संभाषण-चातुर्य के बल पर सभा-समितियों और गष्ठियों में रंग जमा सकता हो, एवं जो गणिका के मन पर अपनी विद्याबुद्धि का प्रभाव डाल सकता हो, उसे ही गणिका की कला के आस्वादन के उपरांत उसके देह का उपभोग करने का मौका मिल सकता था । किसी भी हालत में कलावती गणिका सस्ती कीमत पर आसानी से प्राप्त हो जाने वाली सर्वसाध्य नारी नहीं थी ।

हम देख चुके हैं कि स्त्री शिक्षा का उस युग में पर्याप्त प्रचलन था । परंतु किसी भी युग में, विवाहिता स्त्रियों को, शौक होने पर भी, उच्चकोटि की कलाप्रवीणता साध्य कर सकने का समय शायद ही मिलता है । राजकुमारियों, सत्ताधीश सामंतों की पुत्रियों और अतुल संपत्तिशाली श्रेष्ठियों की कन्याओं को छोड़कर सामान्य घरानों की लड़कियों को शास्त्र एवं कला की सांगोपांग शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा उस युग में भी नहीं मिलती थी । और सुविधा हो भी, तो इतनी उच्चकोटि का कौशल्य प्राप्त करने की न तो उन्हें आवश्यकता होती थी, न इच्छा । गृहस्थघरों की कन्याओं का ध्येय साधारणतया विवाह करके पति और संतति के घरेलू वातावरण में अपने आपको डुबा देना ही होता है । घर की देखभाल और संतानपालन इतनी व्यापक जिम्मेदारी है कि जो कलासाधना के लिए विशेष समय नहीं छोड़ती । इसके उपरांत, गृहस्थ घरों की लड़कियों को गंधर्वशालाओं में भेजना भी अधिक शिष्ट नहीं माना जाता था । संगीत, नृत्य और वाद्य की शिक्षा देने वाली इन शालाओं में अधिकतर गणिकापुत्रियाँ ही भरती होती थीं । शिक्षा प्राप्त करने के बहाने धनवानवर्गों के निठल्ले नवयुवक भी इनमें दाखिल हो जाते थे; परंतु उनका उद्देश्य गणिकापुत्रियों की मैत्री संपादन करना ही होता था । फिर, कला की साधना प्राय : मनुष्य को व्यवहारकुशल बनाने के बजाय कुछ सनकी और स्वेच्छाचारी बना देती है । अत : आदर्श पत्नी बनने का ध्येय रखने वाली गृहस्थ घरों की कन्याओं को इन शालाओं में भेजने से उनके मातापिता को संकोच होता हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । कला की मुक्त साधना करते हुए भी स्त्री पत्नीत्व की चौखट के अनुकूल रह सकती है या नहीं, यह प्रश्न सभी युगों में विवादास्पद रहा है ।

मातृत्व की विशुद्धता को सदा से आर्य संस्कृति का आधारस्तंभ माना गया है । उस युग की स्त्रियों

पर लगाये हुए अंकुश आज आप्रिय और अन्याय दिखाई दे सकते हैं ; और आज के युग में शायद उनकी जरूरत भी नहीं है । परंतु इन अंकुशों के मूल मातृत्व की पवित्रता को सुरक्षित रखने की भावना में ही ढूंढे जाने चाहिये । स्त्री को पददलित स्थिति में रखकर उसे सदा के लिए पुरुष की ताबेदार और पुरुष से नीची कक्षा की बना देने का कोई दुष्ट षडयंत्र पुरुष स्मृतिकारों ने शायद नहीं रचा था । आर्य-संस्कृति में अत्यंत प्राचीन काल से माता, मातृत्व, पूर्वजपूजा, वंशवृद्धि और वंशजविशुद्धि को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि इनके संबंध में अशुद्धि की छाया को भी परिवार, कुल और जाति के लिए भयावह संकट या अनिष्ट माना जाने लगा । इस भावना क कारण स्त्रियों के प्रति अन्याय नहीं हुआ, यह कहने का आशय नहीं है । अच्छे उद्देश्यों से किये हुए कार्यों के परिणाम सदैव ही कल्याणकारी नहीं होते ऐसा अनुभव आज की विचित्र दुनिया में कदम कदम पर होता है । अन्यथा, ''अहिंसा व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को कायर कैसे बना सकती है ?'', ''हिटलर का दुर्दम्य राष्ट्रवाद घृणित नाज़ीवाद में परिणत कैसे हो गया ?'' या ''उदार लोकतंत्रवाद की प्रगति कूर्मगति से क्यों होती है ?'' इत्यादि प्रश्नों का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता ।

इस प्रकार कुलस्त्रियों की यौन विशुद्धता के अत्याग्रह के कारण विवाहिता स्त्रियां सुसंतति को जन्म देनेवाली पवित्र, पतिव्रता और गृहकार्य दक्ष गृहिणियाँ बन गई और इसी में उनकी प्रतिष्ठा मानी जाने लगी । 'वारांगना', 'वेश्या' या 'गणिका' शब्द सभ्य परिवारों की स्त्रियों के लिए गाली के पर्याय बन गये । कलासक्त पत्नी को कला की शिक्षा प्राप्त करनी हो, तो पति से ही उसे प्राप्त करने की राय वात्स्यायन ने इसी सिद्धान्त के अनुसार दी हो ऐसा दिखाई देता है । परंतु संयुक्त परिवार की अनेक विध जिम्मेदारियों को पूरा करने वाली गृहिणी को पति से कला की शिक्षा प्राप्त करने का समय कब और कितना मिल सकता है ? दूसरी ओर, रंगीन मिजाज पुरुष को, हुक्म छोड़ते ही हाजिर हो जाने वाली परिपूर्ण कलामयी गणिका के नृत्य-संगीत को छोड़कर, थकी हुई पत्नी को यह सब सिखाने का उत्साह कब तक हो सकता है ? इस प्रकार की मजबूरी भरी सामाजिक परिस्थितियों में गृहिणी की अपेक्षा वारांगना अधिक शिक्षित, अधिक कला प्रवीण और अधिक आकर्षक हो जाय, यह स्वाभाविक है ।

गणिकाकी उच्च कोटि की कलासाधना उसे अधिकाधिक दुर्लभ और बढ़ती हुई धनसंपत्ति उसे कुछ हद तक लापरवाह बना देती थी । इस कारण, सामान्य नागरिकों के मन में उसके इनकार का भय सदा बना रहता था । हम देख चुके हैं कि उसका वाक्चातुर्य विद्वानों के छक्के छुड़ा सकता था और उसका शास्त्रज्ञान शास्त्रज्ञों से भी सवाया सिद्ध हो सकता था । राजा, राजपुत्र, सरदार, सामंत, अधिकारी, श्रेष्ठी, और रसिक नागरिकों से लगाकर वेदाध्ययनरत ब्राह्मणों तक सभी गणिका की मैत्री में अपना सम्मान समझते थे । सामान्य जनता तो गणिका के वैभव, रूपलावण्य और प्रभाव से मंत्रमुग्ध सी रहती थी । सब मिलाकर कलावती गणिका के इर्दगिर्द मोह, आकर्षण, विद्वता और रसिकता का एक ऐसा तेजस्वी वर्तुल निर्माण हो जाता था कि साधारण नागरिक तोउसे एक रहस्यमय और दुर्लभ्य स्वप्नसृष्टि मानने लगता था । उसके साथ बैठ सकने के, उससे बातचीत कर सकने के या उसकी कला के आंशिक दर्शन कर सकने के हर प्रसंग को कलारसिक नागरिक नियति की महती कृपा मानता था । इस हालत में, उसके सर्वांग संभोग के अवसर को वह सौभाग्य की परमावधि मानता हो, तो आश्चर्य किस बात का ? गणिका के दानपुण्य, धर्मकार्य, व्रत-उद्यापन, और उसकी ईश्वर-परायणता उसके वैयक्तिक जीवन की अशुद्धि को या तो पूर्ण रूप से भुला देते थे, या बहुत अधिक अंश में निर्मल कर देते थे । इन सब तत्त्वों के मेल से आर्यावर्त की कलावती गणिका एक ऐसी समर्थ सामाजिक संस्था बन गई थी कि पुरुष की रसिकता उसके चारों ओर चक्कर ही काटती रहती थी और उसकी योग्यता, निपुणता और मोहकता उसे प्रजा के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के साथ सदा संलग्न रखती थीं ।

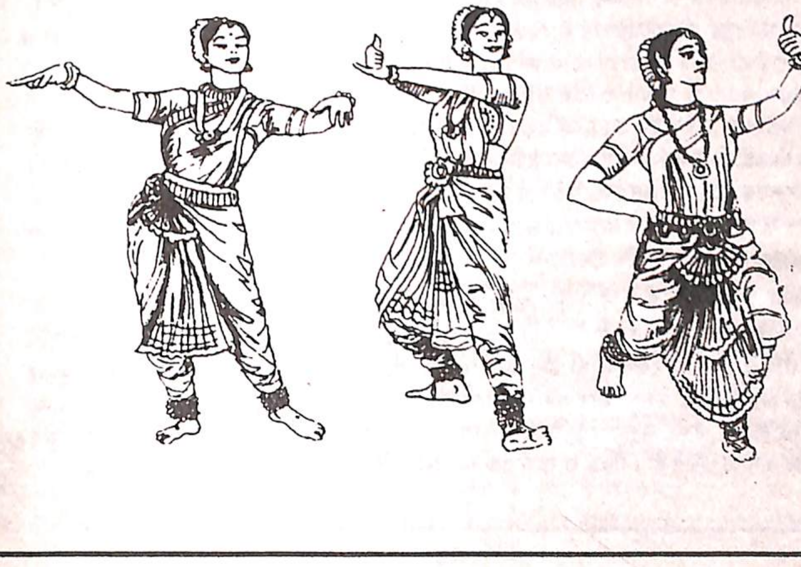
उस युग के रसिकों का गणिकागमन पत्नी से नाराज या असंतुष्ट होने के कारण होता था, यह मानने का कोई कारण नहीं । उस युग की गृहिणी पति और परिवार को संतुष्ट रखने का कर्तव्य पूरी तौर से

निभाती थी और अपने धर्म पालन करते हुए पति का प्रेम और आदर प्राप्त कर लेती थी । पति को उससे असंतुष्ट रहने का कोई बहाना वह नहीं देती थी । परन्तु फिर भी, कलावती गणिका का अद्‌भुत आकर्षण क्षम्य माना जाता था । गृहिणियाँ उदारतापूर्वक इस बौद्धिक और कलासक्त सहवास को सहन कर लेती थीं और कभी कभी तो नगर की प्रसिद्ध गणिका की मैत्री को अपने पति के कौशल का प्रमाण मानकर मन ही मन खुश भी होती थी । पति के चाल चलन पर पत्नी अंकुश रखना चाहे, यह किसी भी युग में स्वाभाविक ही माना जायगा । परंतु माता जिस प्रकार अपने नटखट बालक की सारी शरारतों को चुपचाप सहन कर लेती है, उसी प्रकार वात्स्यायन-युग की अर्धांगिनी अपने पति की रसिकता और वैविध्यप्रेम को कुछ उदारता, कुछ हँसी, कुछ वात्सल्य, और कुछ उपेक्षा के संमिश्रण से सहन कर लेती थी । साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि सामान्य गृहिणियों को गोष्ठियों में, उद्यानविहारों में, और यात्रा-समाज आदि सामूहिक मिलन के प्रसंगों पर गणिकाओं की कला और अदा के दर्शन होते रहते थे । लावण्य और माधुर्य, शोखी और नजाकत एवं कौशल्य और चातुर्य के योग से गढ़ी हुई कलावती गणिका की प्रतिमा को वे ज्यों ज्यों नजदीक से निरखती थी और ज्यों ज्यों उनके समाजोपयोगी और समाजरंजक रूप के उन्हें दर्शन होते जाते थे, त्यों त्यों उनके मन में गणिकाजीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती जाती थी और गणिका के वैयक्तिक जीवन की अनियमितता और अशिष्टता के प्रति सुनी-सुनाई बातों पर आधारित उनकी घृणा, कौतुक, अनुकंपा और सद्‌भावना में बदल जाती थी ।

प्राचीन यूनान की नगरसंस्कृति से उत्पन्न गणिकासंस्था का यहाँ स्मरण हो आता है । यूनान में भी यौन विशुद्धि नारी के पुत्र, पत्नी और माता रूपों के लिए ही आवश्यक मानी जाती थी । भारत में भी इसी व्यवस्था का प्रतिबिंब दिखाई दिया । विशुद्ध मातृत्व की पवित्रता में से जन्म लेने पुत्र को ही इहलोक की संपत्ति का उत्तराधिकारी और परलोक में पिंड पहुँचाने का पात्र मानकर भारतीय मनीषा ने मातृत्व का गौरव ही किया है । आश्चर्य या अन्याय की बात केवल इतनी दिखाई देती है कि पुरुष के लिए भी इसी प्रकार की विशुद्धि का आग्रह नहीं रखा गया । पत्नी या पुत्री के मामूली से मामूली स्खलन को भयानक व्यभिचार करार देने वाले समाज ने गणिकासंस्था का खुला स्वीकार कर लिया था । आज भी इस अन्याय के अवशेष पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । हो सकता है कि गुजरात-महाराष्ट्र आदि भारत के पश्चिमी प्रदेशों को गणिकावृत्ति का अनुभव कुछ कम हुआ हो । परंतु उत्तर-प्रदेश, दक्षिण-भारत और बंगाल में गणिकासंस्था ने जो भयावह रूप धारण किया था, उसके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं ।



उस युग की कुलवधू और गणिका से परिचित होने के साथ साथ हमने तत्कालीन रसिक नागरिक का परिचय भी प्राप्त किया । उसमें रसिकता, बुद्धि और धनसंपत्ति की कोई कमी नहीं थी, परंतु यौनसंबंधों में उसका पौरुष कुछ छूट की अपेक्षा करता था । ऐश्वर्य की दृष्टि से उस युग का भारत इतनी उच्च कक्षा पर पहुँच चुका था कि सुखवैभवजन्य निश्चिंतता और विलासजन्य पार्थिवता उसके पूरे जीवन पर छा गई थी । स्वर्ग, पुनर्जन्म और कर्मफल की वह हँसी उड़ा सकता था । उस युग का नागरिक सुशिक्षित, धनवान, उदार और परम रसिक था । थोड़ा-बहुत कामकाज करके दिन का अधिकांश समय जी भर कर आनंदप्राप्ति और कलासाधना में बिताने की उसे फुरसत रहती थी । नगर की शोभा मानी जाने वाली गणिका नगरसंस्कृति की ही उपज थी । ग्रामीणजीवन में गणिकासंस्था को स्थान नहीं था क्योंकि आज की तरह उस युग में भी ग्रामनिवासियों का जीवन खेती-बारी और मेहनत-मजदूरी में ही व्यतीत होता था, जिसमें रागरंग के लिए न तो अवकाश मिलता है, और न पर्याप्त धन । बौद्धधर्म के प्रचार के साथ गणिकाओं का संघप्रवेश भी देशव्यापी हो उठा था । इसके और अच्छे-बुरे परिणाम जो भी हुए हों, एक बात वाकई संतोषजनक है कि पूर्वाश्रम की गणिकावृत्ति को निर्वाणधम्म के मार्ग में बाधारूप नहीं माना गया । जैन साहित्य में गणिकाओं का इसी प्रकार का स्पष्ट स्वीकार पाया जाता है । परंतु स्वीकार का अर्थ पूर्ण अंगीकार कभी नहीं होता । इससे केवल इतना ही स्थापित होता है कि गणिका नगरसंस्कृति का एक स्वीकृत और आवश्यक अंग थी । संस्कृति का इससे भिन्न या अन्य कोई पहलू था ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता । कामसूत्र के वैशिक प्रकरण में गणिकाओं का जो विभागीकरण और गणिकावृत्ति का जो विवेचन हुआ है, उससे मिलती-जुलती व्याख्याएँ कामशास्त्र के अन्य ग्रंथों में भी मिलती हैं । परंतु उनका विचार करने से पहले हम प्राचीन आर्यसाहित्य में उल्लिखित कुछ प्रसिद्ध अप्सराओं का — जो पण्यांगनाओं के स्वर्गीय या उदात्तीकृत रूप के सिवा और कुछ नहीं हैं — विचार कर लें और कुछ अतिप्रसिद्ध पार्थिव गणिकाओं से उनकी तुलना कर लें ।



दसवाँ परिच्छेद

आर्यग्रंथों की कुछ प्रसिद्ध अप्सराएँ और गणिकाएँ

१

स्वर्गीय अप्सराएँ

देवराज इंद्र के दरबार के वैभव को ऐश्वर्य की पराकाष्ठा माना जाता है । इस वैभव में इंद्रपुरी की अप्सराएँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं । अप्सराओं के गीतनृत्य से सुरपति का दरबार सदा झनकता रहता है और इस झनक की गूंज पृथ्वी के राजा महाराजाओं के दरबारों में भी सुनाई देती रहती है । जिस प्रकार मध्ययुगीन रजवाड़ों में गणिकाओं के आसपास षडयंत्र, जासूसी, विलास और स्वेच्छाचार के जाल फैले रहते थे, उसी प्रकार देवताओं का लोक, स्वर्ग भी, अप्सराओं के इर्द गिर्द छाये रहने वाले स्वैराचार से भरापूरा दिखाई देता है । मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ वासना का रूप धारण करके स्वप्न, किंवदन्ती, या कल्पनाविहार में परिणत हो जाती हैं । आज के यौन-मनोविश्लेषण की भाषा में कहें तो परिपूर्ण सौंदर्य से युक्त अनिंद्य स्त्रीत्व की कल्पना करने वाले विलासी मानस ने पार्थिव अपूर्णताओं से हारकर स्वर्गीय अप्सराओं की कल्पना सृष्टि खड़ी की हो, यह संभव है । समय जाते ये किंवदन्तियाँ, कल्पनाएँ और स्वप्नविहार रूढ़ होकर वास्तविक सृष्टि में प्रविष्ट हो जाते हैं और कभी कभी तो ऐतिहासिकता का स्वाँग धारण करके प्रजाजीवन की प्रेरक शक्ति बन जाते हैं ।

देवताओं की तरह स्वर्ग की अप्सराएँ भी अमर मानी जाती हैं । मजबूरी यह है कि स्वर्ग में अमृत के सिवा और कोई पीने योग्य चीज नहीं होती । असुरों के आक्रमण या किसी तपस्वी की उग्र तपस्या के कारण इंद्रासन के डोलायमान हो उठने के सिवा देवताओं को और किसी प्रकार के संकट की आशंका नहीं होती । इसी प्रकार किसी राक्षस के उपद्रव या किसी तपस्वी की तपस्या भंग करने पर मिलनेवाले शाप के अलावा अप्सराओं को भी और कोई चिंता नहीं होती । इन दो आफतों को छोड़ दें, तो उनका जीवन पूर्णत सुखमय, आनंदपूर्ण और भोगविलास से ओतप्रोत दिखाई देता है । रूपलावण्यकी तो वे अक्षय्य खान होती हैं । लावण्यवती स्त्री के रूपसौंदर्य की सराहना करते समय आज भी हम उसकी तुलना अप्सरा से ही करते हैं । कुलीन घराने की अत्यंत रूपवती स्त्री को भी 'अप्सरा जैसी सुंदर' करार देने में हमें रंचमात्र भी संकोच नहीं होता, और इस उपमा के प्रयोग से किसी प्रकार का औचित्यभंग होता है, इसकी तो हमें कल्पना भी नहीं होती । नृत्य-संगीत द्वारा देवताओं का मनोरंजन करना और उनके साथ मनमाना विलास करना अप्सराओं का नित्यक्रम दिखाई देता है । कभी कभी अपनी उग्र तपस्या या अतुल दानपुण्य के बल पर भूतल के ऋषिमुनि या राजा-महाराजा सदेह स्वर्ग में पहुँच जाते थ, तो उनका मनोरंजन भी उन्हीं को करना पड़ता था ।

हमारे प्राचीन साहित्य के न मालूम कितने अविस्मरणीय प्रसंग अप्सराओं के भूतल-निवासियों के साथ के प्रेम संबंधों से उत्पन्न हुए हैं । अत : यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वैविध्य की खातिर मनुष्य प्राणियों से संबंध रखने में भी उन्हें कोई एतराज नहीं था । महाभारत की एक कथा के अनुसार अधिकांश अप्सराओं को कश्यप ऋषि और उनकी पत्नी प्रधा की संतान माना जाता है । परंतु इस सिद्धान्त के अनुसार तो देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी — सभी काश्यपी सृष्टि के सदस्य होने के नाते कश्यप ऋषि की संतान माने जा सकते हैं । भारत में आज तक यह प्रथा चली आ रही है कि अपने गोत्र की जानकारी न

होनेवाला कोई भी मनुष्य अपने आपको कश्यप-गोत्री कह सकता है । अत : अप्सराओं की उत्पत्ति कश्यप ऋषि से मान लें, तो सृष्टि की उत्पत्ति की पौराणिक कथाओं से इसका मेल खा सकता है, परंतु मूल समस्या का इससे निराकरण नहीं होता । स्वर्ग की अप्सराओं में अरुणा, रक्षिता, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुवृत्ता, प्रम्लोचा, अलंबूषा, मिश्रकेशी, विद्युतपर्णा आदि नाम प्रसिद्ध हैं, परंतु पृथ्वीतल के मनुष्यों के साथ संबधित अधिकांश पौराणिक प्रेमगाथाओं की नायिका होने के नाते उर्वशी, मेनका, रंभा, तिलोत्तमा और घृताची के नाम ही अधिक परिचित हैं ।



अप्सराओं की उत्पत्ति के संबंध में कुछ विचार-पहले के एक परिच्छेद में भी हो चुका है । पौराणिक कथाओं में उनकी उत्पत्ति संबंधी अलग-अलग मत पाये जाते हैं । कुछ पुराणकारों के मतानुसार अप्सराओं की उत्पत्ति अमृतमंथन से हुई थी । अमृत की आशा से देवताओं और दानवों ने मिलकर किये हुए क्षीरसागर के मंथन से चौदह रत्न प्राप्त हुए, उनमें का एक रत्न अप्सरा थी । वारुणी (सुरा) को भी समुद्रमंथन से प्राप्त एक रत्न माना गया है । अमृतमंथन की कथा बहुत अधिक अंश में प्रतीकात्मक है । अमृत की आशा से मथे गये समुद्र में से अमृत के बजाय हलाहल विष निकलता है । अमृत की प्राप्ति के बाद दोनों प्रधान पक्षों में उसके विभाजन को लेकर झगड़ा होता है और स्वयं भगवान को मोहिनी रूप धारण करना पड़ता है । मोहिनी रूपधारी नारायण खुल्लमखुला चालबाजी करके देवताओं को अमृत और दानवों को समुद्रमंथन से ही प्राप्त एक दूसरे रत्न-वारुणि का पान कराते हैं । पूरी कथा आज की कई परिस्थितियों के लिए उपयुक्त लाक्षणिक दृष्टांत सिद्ध हो सकती है । यह जो कुछ भी हो, कथा आगे बढ़ती है, और अन्य सब रत्नों का विभाजन तो हो जाता है, पर अप्सरा का स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं होता । कालकूट विष तक को शंकर ने धारण कर लिया, पर यह शायद उससे भी भयंकर दिखाई दी हो, ऐसा मालूम देता है । इस हालत में उसके सामने सामान्या बनने के सिवा और कोई चारा नहीं था । असाधारण रूप-लावण्यवती सुंदरी के विवाह से उत्पन्न होने वाली सामाजिक उलझनों को टालने के लिए उसे गणिका बना देने की बुद्धकालीन प्रथा के मूल भी समुद्रमंथन की इस कथा में ढूंढे जा सकते हैं । साथ ही, विश्वघटना की विचित्रताओं का जो प्रतिबिंब इस कथा में दिखाई देता है उससे अधिक प्रभावशाली दर्शन शायद ही कहीं हुआ हो । एक तरफ जिस समुद्र में से, अमृत, धन्वंतरी और लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई, तो दूसरी ओर विष, वारुणि और अप्सरा का प्रादुर्भाव भी उसी में से हुआ ।

हम हमारी संस्कृति के प्रत्येक विभाग के मूल वेदों में ढूंढने की कोशिश करते हैं । अप्सराओं के संबंध में भी इस प्रथा का प्रयोग किया जा सकता है । वेदकाल के अनेक प्रसंग लोककथा का रूप धारण करके और देशकाल के अनुरूप परिवर्तनों का जामा पहन कर बाद के युगों में भी अभिव्यक्त होते रहे थे । उदाहरणार्थ, वेदों में उल्लिखित उर्वशी को रामायण-महाभारत और पुराणों में भी स्थान मिला है । इतना ही नहीं प्राचीनता की मोहिनी ने हमारे मन को इतना अधिक प्रभावित किया है कि वर्तमान युग के अग्रणी विचारक योगी अरविंद ने भी उर्वशी की कथा पर आधारित सुंदर काव्य की रचना की है । महाभारत में सोमा, अनावद्या, अमविका, आद्रिका, गुणवरा, सुप्रिया, काम्या या ऋतुस्थला, असिता, धात्री, सुरसा, प्रमथिनी, कर्णिका, विश्वची, अंगसु, वोगा, मरीचि, जानपदी, सुगंधा, इत्यादि बयालीस अप्सराओं का उल्लेख हुआ है । इनमें की कई वेदकाल से आरंभ करके रामायण-महाभारत के माध्यम से बाद के पुराणों और नाटक-महाकाव्यों में नायिकापद तक पहुँच गई हैं । इनमें से कुछ अधिक प्रसिद्ध अप्सराओं का वृत्तांत हम संक्षेप में देख लें । अप्सराओं के अध्ययन का आरंभ उर्वशी से करना कई दृष्टियों से सुविधाजनक रहेगा । उर्वशी की उत्पत्ति के सबंध में कई कथाएँ मिलती हैं । उसे महर्षि कश्यप और प्रधा की पुत्री मानने के एक मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है । श्रीमद् भागवत के एकादश स्कंध में उसकी उत्पत्ति भगवान नारायण के ऊरु (जांघ) से मानी गई है । यह कथा इस प्रकार आरंभ होती है कि प्राचीन काल में निमि नामक किसी सम्राट ने एक महान यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ के दर्शनार्थ स्वैरविहारी नौ योगेश्वर वहाँ आ पहुँचे । प्रत्येक योगी के उपदेश से राजा ने ज्ञान प्राप्त किया । इनमें के सातवें योगीश्वर द्रुमिल से सम्राटनिमि ने अवतारलीला का वर्णन करने की प्रार्थना की । महामुनि द्रुमिल ने भगवान नारायण के चौबीस अवतारों में से आद्यावतार नरनारायण की आख्यायिका का वर्णन इस प्रकार किया :—

दक्ष प्रजापति की मूर्ति नामक कन्या ने भगवान नारायण का पति रूप में वरण किया । उसके गर्भ से भगवान ने खुद नर और नारायण युग्म के रूप में जन्म लिया । भगवान के आशीर्वाद से नर-नारायण को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ और यह अवतारी ऋषियुगल सदा ध्यान और तपस्या में मग्न रहने लगे । तपस्वी के रूप में उनकी प्रसिद्धि दिग्दिगंतर में फैल गई और बड़े-बड़े ऋषिमुनि उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगे । बढ़ते-बढ़ते यह खबर स्वर्ग तक पहुँची । स्वर्गाधिपति इंद्र को दो ही संकटों का भय रहता था । एक असुर-दानवों के आक्रमण का और दूसरा ऋषिमुनियों की तपस्या का । उग्र तपस्या करने वाले ऋषि अपने तपोबल से कहीं उसका इंद्रासन न छीन लें, इस भय से पौराणिक इंद्र ने न मालूम कितना अत्याचार किया है, और अनगिनत ऋषियों का तपोभंग करवाया है । नर-नारायण के घोर तप की बात सुन कर भी इंद्र के मन में यही शंका आई कि हो न हो, ये ऋषियुगल उसका इंद्रासन छीनने के लिए ही तपस्या कर रहे हैं । तपस्या को विचलित करने का सबसे प्रभावी साधन थीं इंद्र की अप्सराएँ । अत : नर-नारायण की तपस्या भंग करने के लिए उसने यही नुसखा आजमाया । कामदेव के नेतृत्व में अनेक अप्सराओं को बदरिकाश्रम भेज दिया गया, जहाँ नर-नारायण तपस्या कर रहे थे ।

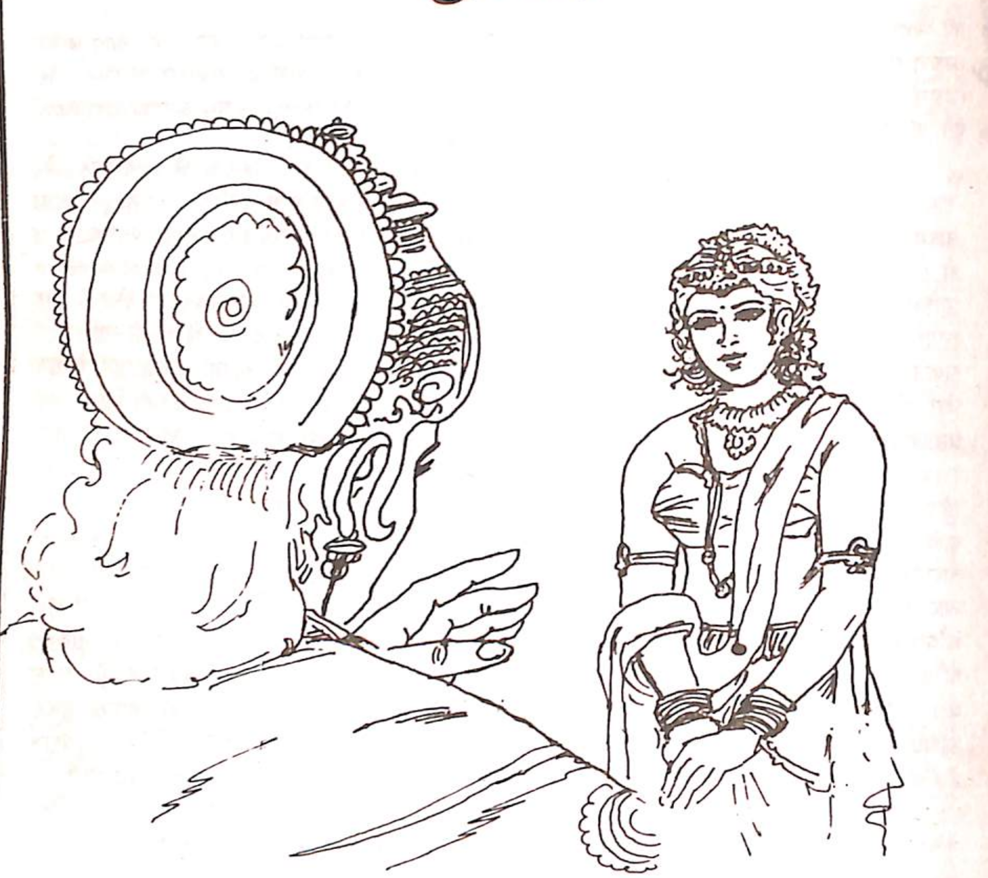
कामदेव ने तुरंत अपने पंचसायकों का प्रयोग आरंभ कर दिया । देखते-देखते वन में वसंतऋतु छा गई मंद सुगंधित समीर बहने लगा और चिरयौवना अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । इस प्राथमिक तैयारी के बाद कामदेव ने अपना पुष्पबाण नर-नारायण पर चलाया । ब्रह्मस्त्र की तरह मकरध्वज का कामास्त्र भी अमोघ माना जाता है । परंतु इस बार कुछ चमत्कार हुआ और आत्मनिष्ठ ऋषियुगल पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । गीत, नृत्य, रूप और उत्तेजक वातावरण, कुछ भी ऋषियों के तप को चलायमान नहीं कर सके । अपना ऐसा पराभव देखकर अप्सराएँ और कामदेव भय से थरथर काँपने लगे । तपस्या से विचलित हो जाने वाले ऋषि भी जब बचेखुचे तपोबल के बूते पर भयानक शाप दे सकते थे, तो तपस्या को अक्षुण्ण रख सकने वाले ऋषि तो न मालूम क्या सज़ा दें । उन्हें विश्वास हो गया कि इन ऋषियों के शाप से बचना मुश्किल है । परंतु एक और चमत्कार हुआ । योगनिष्ठ नर-नारायण कामदेव और अप्सराओं के मन



की व्यथा समझ गये, और ध्यानमुक्त होकर मुस्कराते हुए बोले, ''हे कामदेव और देवांगनाओं, आप हमारे आश्रम में अतिथिरूप में पधारे हो । आपका स्वागत है । आप हमारे आतिथ्य का स्वीकार कीजिये और आश्रम में ही बस जाइये । आपके स्वर्ग में भी इससे अधिक सुख नहीं हो सकता । हम आपको अभयदान देते हैं कि हमारे आश्रम में आपका किसी प्रकार से अहित नहीं होगा ।''

आश्चर्य की परमावधि ! शाप के बजाय स्वागत ! ऋषियों की इस उदारता से अप्सराएँ और कामदेव लज्जित हो गये । भगवान नर-नारायण को नमस्कार करके उन्होंनें प्रार्थना की : ''हे महामुने, आप मोहमाया से पर और पूर्णरूप से निर्विकार हो । अपराधियों पर क्रोध करने के बजाय उनपर अनुग्रह करते हो । अत : किसी प्रकार का विघ्न आपकी तपस्या में खलल नहीं डाल सकता । हमने आजतक अनेक ऋषिमुनि देखे जो घोर तपस्या करके भूख-प्यास, सर्दी-गरमी, और आँधी-वर्षा को सहन कर लेते हैं एवं अपार देहकष्ट झेलते हुए रसना और वासना को वश में कर लेते हैं । परंतु क्रोध को वे भी नहीं जीत सकते । क्रोधवश होकर तपस्या को निरर्थक बना देने वाले ऋषिमुनि सातसमुद्रों को पार करके गाय के खुर जैसे गढ़े में डूब जाने वाले तैराक के समान उपहासास्पद सिद्ध होते हैं । आपने हम पर क्रोध नहीं किया, यह प्रमाणित करता है कि आप सच्चे अर्थ में तपस्वी, आत्मज्ञानी और योगनिष्ठ हो । हमारे अपराधों को क्षमा करके आप हम पर अनुग्रह कीजिये ।'' कामदेव और अप्सराओं द्वारा इस प्रकार स्तुति की जाने पर एक और चमत्कार हुआ और हजारों सुंदरियाँ नरनारायण के चारों ओर प्रकट हुई जो स्वर्ग की अप्सराओं से कहीं अधिक रूपवती और अधिक सुंदर वस्त्रालंकारों से सज्ज थीं । ये सुंदरियाँ योगी रूपधारी नारायणावतार ऋषियों की सेवा करने लगीं । स्वर्गीय सौंदर्य से भी अधिक मनोहारी सौंदर्य ऋषियों के चारों ओर बिखरा हुआ देखकर अप्सराएँ और कामदेव हतप्रभ हो गये और ऐसी अनुपम लावण्यवती स्त्रियों द्वारा सेवित होने पर भी अविचल रहने वाले ऋषियों को चलायमान करने के अपने प्रयत्न से वे अत्यंत लज्जित हो उठे । उनके मन की ग्लानि को तपोनिष्ठ महर्षि तुरंत समझ गये । उन्होंने उदारता का एक और कदम बढ़ाया और मुस्कराते हुए, कामदेव से बोले, ''हे महाभाग, इन सब सुंदरियों में से जो आपको सबसे अधिक पसंद हो, उसे आप अपने साथ स्वर्ग में ले जायें, और भूतल के मर्त्य प्राणियों की ओर से देवराज इंद्र को भेंट देने की कृपा करें । जिसका आप स्वीकार करेंगे, वह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा सिद्ध होगी ।'' इंद्र के सहायकों को ऋषियों की आज्ञा का पालन करना पड़ा । सुंदरियों के उस समुदाय में से सर्वश्रेष्ठ लावण्यवती पसंद करना आसान काम नहीं था, अत ; अधिक देखभाल न करते हुए उन्होंने नरनारायण के ऊरु (जांघ) के पास बैठी हुई सुंदरी को पसंद कर लिया । कुछ समय के तक आश्रम के आदरातिथ्य का स्वीकार करके, एक अतिरिक्त अप्सरा के साथ वे स्वर्ग में पहुँचे । उस समय इंद्र का दरबार लगा हुआ था । देवताओं की भरी सभा में कामदेव ने नरनारायण की सिद्धियों का श्रद्धापूर्वक वर्णन किया और उन्होंने भेंट दी हुई सुंदरी को इन्द्र के समक्ष उपस्थित किया । नारायण के ऊरु के पास से मिलने के कारका यह अनुपम सुंदरी उर्वशी के नाम से प्रसिद्ध हुई, और ऋषियों के आशीर्वादानुसार स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा सिद्ध हुई ! नर-नारायण को इंद्रासन की तलब न तो पहले थी और न अब, अत : इंद्र को इस पूरे अभियान से सब मिला कर लाभ ही हुआ ।

स्वर्ग में पहुँच जाने के बाद का उर्वशी का इतिहास अत्यंत रोमांचक है । चंद्रवंश के स्थापक महाराजा पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम की कहानी को कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक द्वारा अमर कर दिया है । वैसे तो पुरुरवा और उर्वशी की कथा के बीज ऋग्वेद में भी मिलते हैं और शतपथ ब्राह्मण में इसका कुछ विस्तृत वर्णन हुआ है । बाद में विष्णुपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण और श्रीमद्भागवत में यह कथा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मिलती है और हरिवंश एवं कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख हुआ है । विभिन्न युगों में रचे गये ग्रंथों में पायी जाने वाली इस कथा में प्रत्येक बार थोड़ा-बहुत रूपांतर अवश्य हुआ है, पर पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम की उत्कटता और उनके वियोग का हृदयद्रावक वर्णन सबमें समान रूप से पाया जाता है । संक्षेप में यह अतिप्रसिद्ध कथा इस प्रकार है :— उर्वशी को देखकर कामातुर हो उठने



वाले मित्र (सूर्य) ने उसके प्रति प्रेमनिवेदन करके संभोगेच्छा प्रकट की । स्वर्ग की सामान्या होने पर भी उर्वशी ने इसका स्वीकार नहीं किया ; अत : क्रुद्ध होकर मित्र ने उसे शाप दिया कि उसका भूतल पर पतन होगा और मर्त्य मनुष्य से उसका प्रेम होगा । चंद्रवंश के संस्थापक महाप्रतापी राजा पुरूरवा की इंद्र से मैत्री थी : अत ; स्वर्ग में उनका आना जाना लगा ही रहता था । एक बार पुरूरवा ने देखा कि केशी नामक दैत्य उर्वशी और चित्रलेखा का हरण करके भाग रहा है । केशी से इंद्र को सदा खतरा बना रहता था । पुरूरवा ने इस महाबली दैत्य का वध करके दोनों अप्सराओं को उसके पाश से छुड़ाया । तब से ही पुरूरवा के प्रति उर्वशी के मन में प्रेम का बीजारोपण हुआ । इंद्र को यह समाचार मिलते ही उसने पुरूरवा के सम्मान में एक उत्सव का आयोजन किया जिसमें भरतमुनि रचित 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक खेला गया । भरतमुनि के मार्गदर्शन में मेनका, रंभा, उर्वशी आदि स्वर्ग की सर्वोत्तम अप्सराओं ने इसमें भूमिका की । उर्वशी को लक्ष्मी की भूमिका दी गई । देवताओं की सभा में नाटक का प्रारंभ हुआ । नाटक के संवाद में एक जगह लक्ष्मी से उसके प्रियतम का नाम पूछा जाने पर उसे 'विष्णु' या 'नारायण' उत्तर देना था । परंतु लक्ष्मी की भूमिका करने वाली उर्वशी के मन में अपने प्रियतम का नाम इस हद तक रम चुका था कि वह गलती से 'नारायण' के बदले पुरूरवा कह बैठी । इस गंभीर अपराध से नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य भरतमुनि क्रोधायमान हो उठे और उन्होंने शाप दिया कि पार्थिव मनुष्य के प्रेम से पागल हो उठने वाली उर्वशी जड़

वल्लरी बन जायगी और अपने प्रियतम से सदा वियुक्त रहेगी । पुरूरवा और उर्वशी के गिड़गिड़ाने पर महर्षि भरत ने शापनिवारण की एक अवधि बाँध दी जिसके बीतने पर दोनों प्रेमियों का पुनर्मिलन हुआ और वे पति-पत्नी के रूप में रहने लगे । उनके संबंध से आयु, श्रुतायु, सत्यायु, जय और विजय नामक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए । बाद में उर्वशी को स्वर्ग में क्यों लौट जाना पड़ा इस कथाका हमारे विषय से संबंध नहीं है । हमारे अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात केवल यह है कि स्वर्ग की सामान्या उर्वशी परमप्रतापी चंद्रवंश की माता बन सकी थी और वेदकाल से लगाकर पौराणिक युग तक आर्यमानस पर छायी रही थी ।

उर्वशी के अर्जुन के साथ के प्रेम की कथा महाभारत में मिलती है । पुराणकारों के मतानुसार स्वर्ग की अप्सराएँ अमर थीं, अत : एक ही अप्सरा विभिन्न युगों के मर्त्य मानवों के साथ प्रेम कर सकती थी । आज के वैज्ञानिक मानस को यह पौराणिक तर्क मान्य नहीं हो सकता । इसका वैकल्पिक स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि उर्वशी, मेनका, रंभा इत्यादि नाम व्यक्तिविशेष के नाम न होकर इन अप्सराओं के वंश या गोत्र के नाम रहे होंगे और अलग-अलग युगों में जन्म लेने वाली विभिन्न अप्सराएँ इन गोत्रनामों से पहचानी जाती होंगी । एक और संभावना यह दिखाई देती है कि आधुनिक युग में जिस प्रकार किसी विशिष्ट गायन-पद्धति के कारण गवैयों के अलग-अलग घराने हो गये हैं उसी प्रकार किसी नृत्य या संगीत की किसी विशिष्ट प्रणालिका के कारण अप्सराओं के घरानों के विभिन्न नाम पड़ गये होंगे और प्रत्येक घराने की हर अप्सरा अपने घराने के विशिष्ट नाम से ही परिचित होना पसंद करती होंगी । इस दृष्टि से विचार करने पर अलग-अलग युगों में जन्म लेने वाली अनेक मेनकाओं, अनेकरंभाओं और अनेक उर्वशियों की कल्पना की जा सकती है । उर्वशी के दृष्टांत से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अप्सराओं की संतति को आर्यप्रजा में प्रतिष्ठित स्थान मिल सकता था । नर्तकी या वारांगना की संतान होने के कारण उनके सामाजिक स्थान या उनकी प्रतिष्ठा में कोई अंतर नहीं पड़ता था । अप्सराओं की संतति ने आर्य संस्कृति में अनेक बार उच्चतम और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है और आर्य इतिहास के कई श्रेष्ठ योद्धा और मनीषी तथाकथित सामान्याओं की संतान थे ।

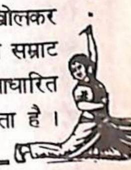
सुविख्यात अप्सरा मेनका की पुत्री प्रमद्वरा पुराण काल की एक और प्रसिद्ध अप्सरा है । विश्वावसु क गंधर्व के सहवास से मेनका ने इसे जन्म दिया था । अवैध संबंध से जन्म लेने वाली संतति को त्याग देने की आदत मेनका को आरंभ से ही हो, ऐसा दिखाई देता है । अत : उसने इस कन्याको जन्मते ही नदी किनारे के झुरमुट में भगवान के भरोसे छोड़ दिया । दूसरे दिन प्रात : पासके किसी आश्रम में रहने वाले स्थूलकेश नामक ऋषि नदी में स्नान करने आये । तुरंत की जन्मी हुई बालिका को अरक्षित और असहाय दशामें रोते हुए देखकर उनके मनमें दया आ गई और उन्होंने अपने आश्रममें उसका पालन-पोषण किया । इस कन्या का नाम प्रमद्वरा रखा गया, और शुक्लपक्ष के चंद्रमा की तरह उसका सौंदर्य दिनोंदिन बढ़ता गया । एक बार रुरु नामक परम विद्वान और तपस्वी मुनि स्थूलकेश के आश्रम में आये और सुंदरी प्रमद्वरा पर मोहित हो गये । रुरु महर्षि भृगु के पौत्र और प्रमति ऋषि के पुत्र थे । उनका खुदका जन्मभी प्रमति ऋषि और घृताजी नामक अप्सरा के संबंध से हुआ था । अत : जन्म के संस्कार इस नवयुवक ऋषि में जागृत हो उठे हों, और पिता की परंपरा बनाये रखने के लिए वे भी किसी अप्सरा पर मोहित हो उठे हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । रुरु के पिता प्रमति और प्रमद्वरा के पालक पिता स्थूलकेशने सलाह-मशवरा करके दोनों का विवाह कर दिया, परंतु कुछ दिनों बाद ही साँप काटनेसे प्रमद्वराकी मृत्यु होगई । रुरु को इससे अकथनीय शोक हुआ । उन्होंने प्रमद्वरा के शव के समक्ष अनशन आरंभ किया और अपने तपोबल से देवताओं को प्रसन्न करके अपनी प्रियतमा को पुनर्जीवित कर देने की याचना की । उनकी प्रार्थना से स्वर्ग के देवता प्रकट हुए और रुरु से बोले, "हे सौम्य, तुम असंभव वस्तु मांग रहे हो । मर्त्य मनुष्य मृत्यु की बाद सजीवन नहीं हो सकता । अपना समय बीत जाने के बाद कोई प्राणी एक क्षण के लिए भी जीवित नहीं रह सकता । परंतु तेरी सच्ची लगन से प्रभावित होकर हम तुझे एक सुविधा दे सकते हैं । तू यदि अपनी आयु का का आधा भाग अपनी पत्नी को दे दे, तो उतने समय के लिए हम उसे जीवित कर

सकते हैं ।'' रुरुने तुरंत इस शर्त को मान लिया और आधी आयु देने का संकल्प करते ही प्रमद्वरा मानो गहरी नींद से जागी हो, इस प्रकार उठकर बैठ गई । इसके बाद दोनों ने लंबे समय तक सुखोपभोग किया ।

प्रमद्वरा की कथा अन्य कथाओं से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमें अप्सरासंबंध लगातार दो पीढ़ियों तक चलता है । हम देख चुके हैं कि रुरु का जन्म घृताची नामक अप्सरा के गर्भ से हुआ था । एक अप्सरा का पुत्र दूसरी अप्सरा की पुत्री पर मोहित हुआ और संदिग्ध वैधता वाली यह संबंध-परंपरा तपोनिष्ठ ऋषियों की दो पीढ़ियों तक चलती रही । समाज ने इन संबंधों को बिना किसी आपत्ति के मान्य कर लिया, इतना ही नहीं, इनके कारण प्रमति या रुरु की महत्ता और विद्वता को रंचमात्र भी दूषित या संशयास्पद नहीं माना गया, और अप्सरा की संतान ऋषिपद ही नहीं, महर्षिपद भी प्राप्त कर सकी । विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखें, तो रुरु और प्रमद्वरा की कथा की गणना संसार की श्रेष्ठ प्रेमकहानियों में हो सकती है । त्याग और आत्मोत्सर्ग का इससे बढ़कर उदाहरण मिलना मुश्किल है । दधीचि ऋषिने आर्यों के दुश्मनों का विनाश कर सकने वाले अस्त्र की निर्मिति के लिए प्राणों का बलिदान दिया, ययाति के पुत्र पुरु ने पिता को अपना यौवन प्रदान किया और रुरु ने अपनी अर्धांगिनी को अपनी आधी आयु प्रदान की । विशुद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखें तो त्याग के ये तीनों प्रकार एक ही कोटि के सिद्ध होते हैं, और आर्य विचारधारा ने इनमें से अंतिम को केवल अप्सरा संबंध के कारण दूषित न मानकर अपनी निष्पक्ष वृत्ति, उदार मानस, और स्वस्थ दृष्टिकोण का ही परिचय दिया है .

संस्कृत-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटक की घटनाएँ मेनका नामक सुविख्यात अप्सरा और उसकी पुत्री शकुंतला से संबंध रखती हैं । राजर्षि विश्वामित्र ने घोर तपस्या करके अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । इन सिद्धियों के बल पर उन्होंने स्वर्ग के अनधिकारी लोगों को भी स्वर्ग में भेजना आरंभ किया । इन्द्र ने उन्हें स्वर्ग में स्थान देने से इनकार कर दिया, अत : विश्वामित्र ने एक नयी सृष्टि और नया स्वर्ग रचने की घोषणा की । ऐसे हठी ऋषियों का तपोबल क्षीण करने का इन्द्र के पास एक ही साधन था । महर्षि विश्वामित्र को तपस्या से विचलित करने के लिए इन्द्र ने इस काममें सबसे अधिक प्रवीण अप्सरा मेनका की नियुक्ति की । हमेशा की सजधज के साथ कामदेव के नेतृत्व में यह दल रवाना हुआ । साथ में मलयानिल, वसंत आदि छोटे-मोटे सहायक थे ही । विश्वामित्र के तपोवन में पहुँचकर सबने अपना-अपना कार्य शुरू किया । मेनका ने अपना सर्वांगसुंदर रूप सजाकर मोहक नृत्य आरंभ किया । आरंभ में तो विश्वामित्रने इस ओर ध्यान नहीं दिया, पर इतने में ही मलयानिल ने उसकी सहायता की और मेनका के वस्त्रों को अपनी मंद लहरियों से उड़ा कर ऋषि को उसके विवस्त्र देह का स्पष्टदर्शन कराया । इसी समय कामदेव ने मौका देखकर कर अपना पुष्पबाण छोड़ा जो आँखें खोलते ही विश्वामित्र के हृदय में जा चुभा । महर्षि के रोमरोम में दुर्दम्य कामवासना प्रकट हुई और हजारों वर्ष की तपस्या और साधना को ताक पर रखकर उन्होंने मेनका से समागम की इच्छा प्रकट की । चतुर अप्सरा तो इसी नीयत से भूतल पर आई थी । उसे भला क्या एतराज हो सकता था ? उसने दिल खोल कर महर्षि को अपने रूपयौवन का आस्वादन कराया जिसके फलस्वरूप शकुंतला का जन्म हुआ । विश्वामित्र ने इस बालिका की जिम्मेदारी उठाने से इनकार कर दिया, और अपनी पुरानी आदत के अनुसार उसे वनमें असहाय छोड़कर मेनकाने स्वर्ग की राह ली ।

इसके बाद की कथा सुपरिचित है । कण्वऋषि के आश्रम में शकुंतला का लालन-पालन हुआ और सूर्यवंश के प्रतापी राजा दुष्यंत से उसका गंधर्व-विवाह हुआ । दुर्वासा के शाप से दुष्यंत को इस विवाह की और अपनी विवाहिता स्त्री की याद ही नहीं रही और भरे दरबार में अपमानित होकर शकुंतला को आश्रम लौट जाना पड़ा । यहाँ उसने सर्वदमन नामक पुत्र को जन्म दिया । बचपन में शेर का मुँह खोलकर उसके दाँत गिनने की कोशिश करने वाला यह तेजस्वी बालक आगे जाकर भरत नामक महाप्रतापी सम्राट हुआ जिसके नामसे आज भी यह देश भारतवर्ष या भरतखंड कहलाता है । इन घटनाओं पर आधारित कविकुलगुरु कालिदास का अभिज्ञान शाकुंतल नाटक विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृति माना जाता है ।





कालिदास के तीन नाटकों में से दो (विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुंतल) की नायिकाएँ अप्सरा (उर्वशी) या अप्सरापुत्री (शकुंतला) हैं। परंतु इस बात को लेकर आज तक किसी ने इन नाटकों की अवगणना नहीं कि बल्कि उन्हें संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ माना जाता है। पुरूरवा और उर्वशी की संतान से सोमवंश का विस्तार हुआ और दुष्यंत-शकुंतला का पुत्र भरत इस समूचे देश को अपना नाम देकर अमर हो गया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन युग के दोनों महान राजवंशों (चंद्रवंश और सूर्यवंश) की आद्यजननी अप्सराएँ थीं। इन वंशों के समर्थ और कुलीन राजाओं ने इस घटना को कलंकरूप माना हो, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। जाति या कुल का मिथ्याभिमान रखने वालों को प्राचीन इतिहास की यह उदारता कुछ सबक सिखा सकती है।

काम, क्रोध, लोभ और मोह सब से ही तपस्या को खंडित करनेवाले दुर्गुण माने गये हैं। कामवश होकर विश्वामित्र से एक बार गलती हो गई। पर इधर तो शकुंतला को असहाय छोड़कर मेनका ने पीठ मोड़ी, और उधर विश्वामित्र ने फिर से तपस्या आरंभ कर दी। एक बार कलुषित हो चुकने पर भी उनका तपोबल फिर इतना बढ़ा कि इंद्रासन फिर से डाँवाडोल हो उठा। विश्वामित्र की कमजोरी पहचान जानेवाले इंद्र ने इस बार रंभा पर यह जिम्मेदारी डाली और किसी तरह की कमी न रह जाय इस हेतु से कामदेव के बदले खुद उसके साथ गये। तपोवन में पहुँचते ही रंभा ने नियमानुसार नृत्य आरंभ कर दिया और इंद्र ने कोयल का रूपधारण करके अपनी मधुरा कूक से ऋषिका ध्यान आकर्षित किया। समाधि खुलते ही ऋषिको रंभा के उन्मादक रूपयौवन के दर्शन हुए। क्षणभर के लिए तो उनका मन विचलित हुआ, पर अबकी बार, पुराने अनुभव से चौकन्ने हो जाने के कारण वे समझ गये कि यह तो उनकी तपस्या खंडित करने का षडयंत्र हैं। तुरंत ही शाप देकर उन्होंने रंभा को जड़ पाषाण प्रतिमा बना दिया, और ऋषि का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो, इससे पहले ही कोयल रूपधारी देवराज जान बचा कर ऐसे भागे कि सीधे इन्द्रपुरी पहुँच कर ही दम लिया।

अप्सराओं और पार्थिव मनुष्यों के देहसंबंध की कथाएँ प्राचीन साहित्य में भरी पड़ी हैं। कहीं कहीं तो देहसंबंध के बिना भी संतानोत्पत्ति संभव मानी गयी है। इस संबंध में महर्षि गौतम के पुत्र शरद्वान की कथा उल्लेखनीय है। शरद्वान वेदवेदान्त में जितना पारंगत था उतना ही धनुर्विद्या में भी निपुण था। उसकी कठोर तपस्या से इन्द्र भयभीत हो उठा और उसने ऋषि को विचलित करने के लिए जानपदी नामक अप्सरा को भेजा। अप्सरा का रूप देखकर नियमानुसार शरद्वान कामविह्वल हो उठे पर उन्होंने मन पर संयम रखने की कोशिश की। देह संबध को तो वे टाल गये, पर देह धर्म को नहीं टाल सके और उनका वीर्य स्खलित हो गया। इस स्खलित शुक्र से कृप और कृपी नामक जुड़वाँ भाई-बहन की उत्पत्ति हुई। हस्तिनापुर के राजा शंतनु ने वन में इन अनाथ बालकों को देखा और अपनी राजधानी में लाकर उनका पालन-पोषण किया। आगे चल कर ये बालक महाभारत के सुप्रसिद्ध धनुर्विद कृपाचार्य और उनकी बहिन कृपी के नाम से प्रसिद्ध हुए। कृपाचार्य की कुरुकुल के राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखाने वाले आचार्य के पद पर नियुक्ति हुई और कृपी का उस युग के प्रसिद्ध धनुर्विद द्रोणाचार्य से विवाह कर दिया गया। द्रोणाचार्य के जन्म की कथा भी उपरोक्त कथा से मिलती-जुलती है। एक बार महामुनि भरद्वाज ने घृताची नामक अप्सराको नदी में नहाते देखा। घृताची जैसी अद्वितीय सुंदरी के विवस्त्र देह को देखकर भरद्वाज का मन इस हद तक विचलित हुआ कि उनका वीर्य स्खलित हो गया। इस स्खलित शुक्र को एक द्रोण (दोने) में रख दिया गया जिसमें से द्रोणाचार्य का जन्म हुआ।

देह संबंध रहित संतानोत्पत्ति की एक और कथा शुकदेवजी के जन्म से संबंध रखती है। घृताची इस विषय की विशेषज्ञा हो ऐसा दिखाई देता है। एक बार महर्षि व्यासने घृताची को विवस्त्र अवस्था में नहाते देखा। महर्षि उस समय अरणि के टुकड़ों को रगड़ कर यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर रहे थे। घृताची को देखते ही वे यज्ञाग्नि को तो भूल गये ओर कामाग्निसे दग्ध हो उठे। कामलुब्ध ऋषिमुनियों के आचरण से और बाद में शाप देने की उनकी आदत से सुपरिचित अप्सरा ने शुकी का रूपधारण करके भागने का प्रयत्न

किया ताकि उसकी जान और महर्षि की तपस्या, दोनों की रक्षा हो सके । परंतु मुनिवर इस हद तक कामविह्वल हो चुके थे कि शुकी रूपधारी अप्सरा को देखकर भी उनका शुक्र स्खलित हो गया । हाथ अरणि घिस कर अग्नि प्रकट करने का काम कर रहे थे, पर अरणि पर व्यासका अमोघ वीर्य गिरते ही उसमें से अग्नि के बदले शुकदेवजी की उत्पत्ति हुई । जितेंद्रिय और वीतराग तपस्वी के रूपमें शुकदेवजी का स्थान पूरे पौराणिक साहित्य में अद्वितीय रहा है । अपने जन्म की परिस्थिति और तज्जन्य संस्कारों से वे सर्वथा अलिप्त रह सके थे । ऐसे परम विरागी और कामविजयी स्थितप्रज्ञ का जन्म काम के ऐसे दुर्दम्य आवेग के कारण हुआ, इससे बढ़कर देवदुर्विलास और क्या हो सकता है ? महर्षि व्यासने उन्हें ब्रहमज्ञान की प्राप्ति के लिए जनक विदेही के पास भेज दिया । यहाँ उनकी परीक्षा लेने के लिए उन्हें सुंदरियों के समुदाय में घेर दिया गया परंतु उनका हृदय विचलित नहीं हुआ । इस विजितेंद्रिय बालयोगी की प्रसिद्धि यहाँ तक बढ़ी कि नदी में नहाने वाली स्त्रियाँ उन्हें आते देखकर भी अपने अंगों को ढकने का प्रयत्न नहीं करती थीं । पुरुष के तप और संयम की परीक्षा करने के लिए नारीदेह से अधिक प्रभावशाली और कोई साधन नहीं । स्त्री सौंदर्य के निकष पर की जाने वाली पुरुष-मानस की यह अग्नि परीक्षा अन्य किसी भी प्रकार की कसौटी से अधिक कठिन सिद्ध होती है ।

इस प्रकार की कथाएँ आज के युग में शायद शिष्ट न मानी जायें । तथाकथित यौनविज्ञान की सस्ती किताबों में विज्ञान की आड़ में इससे भी अधिक अश्लील बातें होती हैं और यौन विकृतियों के नाम पर गंदे से गंदा साहित्य खप जाता है, यह अलग बात है । परंतु हमारे पवित्र शास्त्र माने जाने वाले ग्रंथों में इन बातों का जिस स्पष्टता से वर्णन हुआ है, उसे उस युग के विद्वानों ने आपत्तिजनक नहीं माना । श्रद्धालु पाठक भी पूज्य एवं श्रद्धेय ऋषिमुनियों के अप्सराओं के साथ के यौनसंबंधों की कथाओं को कुछ निर्विकार बुद्धि से पढ़ता जाता है और इन स्खलनों से उसके मनमें उनके प्रति विशेष अरुचि उत्पन्न होती हो ऐसा दिखाई नहीं देता । समाज ने भी इन अवैध संबंधों और उनसे उत्पन्न जारज संतति को तिरस्कारपात्र नहीं माना । अवैध संबंधों से उत्पन्न अनेक अनौरस बालक आगे चलकर ज्ञान, इतिहास या साहित्य के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त करके हमारी श्रद्धा के पात्र बन सके हैं । यौन आवेग की दुर्दम्यता का उल्लेख हमारे इतिहास के पूज्य से पूज्य पुरुषों के संबंध में हुआ है और उसे अपरिहार्य मानकर उसकी विशेष आलोचना नहीं की गई । हर व्यक्ति को अपने स्खलनों की सजा भुगतनी पड़ती है, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु इस आवेग को न तो रोके बनता है और न इसके परिणामों से मुक्ति मिलती है । अत : उन्हें क्षम्य मानकर उनके प्रति उदारता बरतने के दृष्टिकोण को अस्वस्थ्य या असामाजिक नहीं माना जा सकता ।

तिलोत्तमा नामक अप्सराकी कथा सौंदर्य के विनाशक प्रभाव का उत्तम दृष्टांत प्रस्तुत करती है । देवर्षि नारद ने खांडववन में पांडवों को यह कथा सुनाई थी । हिरयाक्ष वंश के निकुंभ नामक दानव के सुंद और उपसुंद नामक जुड़वाँ पुत्र थे । दोनों में इतना घनिष्ठ प्रेम था कि दोनों एक ही थाली में भोजन करते, एक ही शय्या में सोते और सब एक साथ रहते थे । सुंद-उपसुंद ने ब्रहमाजी से वरदान प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या की । वे चाहते थे कि त्रिभुवन में कोई भी व्यक्ति किसी भी शस्त्र से उनका वध न कर सके । उनकी मांग बहुत ऊँची थी, पर कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रहमा को उनके समक्ष प्रकट होना पड़ा और उन्हें मनोवांछित वरदान भी देना पड़ा । परंतु दानवों को वरदान देने के कठिन प्रसंगों पर वरदान देने वाले देवता बच निकलने का कोई न कोई मार्ग जरूर रखते थे । अत : ब्रहमाजी ने भी एक शर्त रखी कि वैसे तो वे अज्ञेय रहेंगे, पर दोनों भाई यदि एक दूसरे से लड़ेंगे तो उनका वरदान कारगर नहीं होगा । दोनों भाइयों को अपने भ्रातृप्रेम पर इतना अधिक विश्वास था कि इस शर्त द्वारा सीमित वरदान का स्वीकार करने में उन्हें कोई बुराई दिखाई नहीं दी । इसके बाद तो इन असुरों ने तीनों लोक में हाहाकार मचा दिया । देव, गंधर्व, यक्ष, मनुष्य, नाग — सभी योनियों के राजाओं को जीतकर उनके धनभंडार छीन लिये । पूरे विश्व में उनका मुकाबला करने वाला कोई न होने के कारण वे निश्शंक होकर स्वैराचार करने लगे । संपत्ति और सामर्थ्य का अतिरेक अनिवार्य रूप से भोग विलास का पोषक होता है । ये दोनों भाई भी मदिरापान और

विषयसेवन में दिनरात डूबे रहने लगे । सुंदोपसुंद के इस स्वेच्छाचार से प्रजा पर महान संकट आन पड़ा । नगर, ग्राम और ऋषिमुनियों के आश्रम उजड़ गये और किसी भी स्त्री का शील सुरक्षित न रहा । अंत में ऋषिमुनियों के नेतृत्व में तीनों भुवनों के प्राणियों ने ब्रह्माजी से शिकायत की । उन्होंने इस आपत्ति से बचने का मार्ग पहले से ही सोच रखा था । अत : विश्वकर्मा को बुलाकर, तीनों लोक में जिसकी जोड़ी न मिले ऐसे अतुलनीय सौंदर्य से युक्त नारीदेह का निर्माण करने की आज्ञा दी गई । विश्वकर्मा ने प्रजापति की आज्ञा को शिरोधार्य करके तीनो भुवनों में से सौंदर्य के उत्तमोत्म कण (तिल-तिल) एकत्रित करके एक मनोहारी नारी की रचना की और सुंदर वस्त्रालंकारों से सज्ज करके उसे ब्रह्माजी की सेवा में उपस्थित किया । सौंदर्य की इस साकार प्रतिमा को देखकर प्रजापति बहुत प्रसन्न हुए और रूप-लावण्य के संबध में शंका नहीं रही ।

सुंद-उपसुंद ने इस समय विंध्य के पर्वतीय प्रदेश को अपनी क्रीड़ाभूमि बना रखा था । गगनचुंबी शाल वृक्षों के झुरमुट मेंउनके खेमे गड़े हुए थे और देशविदेश की सुंदरियाँ उनके उपभोग के लिए हाजिर थीं । विलास के अन्य साधनों की भी कोई कमी नहीं थी । परंतु वासना संतुष्ट होना नहीं जानती । ज्यों ज्यों उसे परितृप्त किया जाय, त्यों त्यों उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है । सुंदोपसुंद ने सौंदर्य का आकंठ पान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी और इस समय भी वे अनुपम लावण्यवती सुंदरियों से घिरे बैठे थे । जो नृत्य-संगीत से उनका मनोरंजन कर रही थीं । परंतु इस एकतानता से वे शायद कुछ ऊब चुके थे, और वैविध्य की तलाश में थे । इसी समय पारदर्शक वस्त्रों के आच्छादन से अपने देहसौष्ठव को और भी अधिक उन्मादक बनाती हुई तिलोत्तमा पास की पहाड़ी से फूल चुनती हुई उतरी और मोहक हावभाव प्रदर्शित करती हुई दोनों भाइयों के सामने से गुजरी । सुंदोपसुंद मदिरा के नशे में चूर बैठे थे । मद्यपों की कामवृत्ति स्त्री की छाया मात्र से जागृत हो उठती है, जबकि यहाँ तो उनके सामने सौंदर्य की सर्वोत्तम कलाकृति साकार रूप धारण किये खड़ी थी । तिलोत्तमा को देखते ही वे उसके रूपयौवन पर मुग्ध हो उठे और चारों ओर की सुंदरियों को छोड़कर एकसाथ उस पर झपट पड़े । दोनों जुड़वाँ भाई, दोनों को सब काम एक साथ करने की आदत, दोनों समान रूप से बलवान और दोनों नशे में चूर । एक ने तिलोत्तमा का दाहिना हाथ पकड़ा और दूसरे ने बाँया और उससे कामतृप्ति की मांग करने लगे । परंतु दोनों में से पहला मौका किसे मिले, इस का फेसला नहीं हो सका । जीवन में पहली बार दोनों के मन में स्पर्धा जगी जिसको दुर्दम्य कामवासना ने शीघ्र ही द्वेष में परिणत कर दिया । इस काम के लिए इतनी मेहनत से गढ़ी गयी अप्सरा अपनी भूमिका बखूबी निभा रही थी और हावभाव कटाक्ष से कभी एक को और कभी दूसरे को प्रोत्साहित कर रही थी । आजन्म एक दूसरे को प्राण से भी अधिक चाहने वाले युग्मज भाई, इस बदली हुई परिस्थिति में शीघ्र ही एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो उठे । दोनों ने अपनी-अपनी गदा संभाली और प्राणपण से लड़ने लगे । तिलोत्तमा दोनों में से एक को भी नहीं मिली, पर ब्रह्माजी के वरदान के अनुसार शीघ्र ही दोनों जख्मी होकर भूमि पर गिर पड़े, और कुछ ही देर में दोनों की मृत्यु हो गई । आदेशानुसार देवताओं का कार्य पुरा करने के कारण प्रजापति तिलोत्तमा पर बहुत प्रसन्न हुए और उसे वरदान दिया कि वह चिरकाल तक सूर्यमंडल में विहार कर सकेगी और उसकी अलौकिक दीप्ति के कारण कोई उसके सामने आँख उठाकर नहीं देख सकेगा ।

यहाँ से आगे पुराणों की अप्सरा विषयक कल्पना ज्योतिष मान्यताओं के साथ उलझ जाती है, और विभिन्न मासों के विभिन्न सूर्यों और नक्षत्रों के साथ उनका विचित्र रूप से मेल बैठाया गया है । विद्वानों का कहना है कि वैदिक मित्र (सूर्य) से ही पौराणिक विष्णु का विकास हुआ और वेदकालीन सूर्यपूजा पुराणकालीन विष्णुपूजा में परिणत हो गई । पृथ्वीतल की सचराचर सृष्टि का आधार सूर्य ही है, यह तथ्य आधुनिक विज्ञान द्वारा भी स्वीकृत हो चुका है । पुराणों में वर्ष के बारह महीनों में सूर्य की विभिन्न स्थिति के आधार पर उसके बारह स्वरूपों की कल्पना की गई हैं और इस लंबे सफर में एकाकी भ्रमण करने के बजाय सूर्य का साथ देने वाले सूर्यमंडल की कल्पना की गई है । प्रत्येक सूर्य के गणमंडल में एक राक्षस,

एक सर्प, एक यक्ष, एक मुनि और एक गंधर्व तो साथ रहते ही हैं, पर इस यात्रा को कुछ सुरस बनाने के लिए प्रत्येक गण के साथ एक-एक अप्सरा की नियुक्ति भी की गई है । इस दृष्टि से देखें, तो बारहों महीने हमारे चारों ओर केवल सूर्य ही नहीं अप्सराएँ,मुनि, यक्ष, गंधर्व, राक्षस और नाग भी चक्कर काटते रहते हैं । सूर्य की जीवनदायिनी किरणों में सूर्य के साथ-साथ इन सब तत्त्वों के अस्तित्व की कल्पना विश्व की निर्मिति में विभिन्न तत्त्वों के योगदान का कवित्वमय स्वीकार हो, और यक्ष, गंधर्व आदि के रूप में प्राकृतिक तत्त्वों को सजीव मान लिया गया हो, ऐसा दिखाई देता है । एक और संभावना यह भी हो सकती है कि आर्यों के अतिप्रभावशाली देवता सूर्य के साथियों के रूप में ये गणमंडल आर्यकाल की जातियों और मनुष्येतर योनियों के प्रतिनिधि रहे हों ।

वर्ष के बारहों सूर्यों का गणमंडल सहित विभाजन इस प्रकार हुआ है :—

मास	सूर्य	अप्सरा	राक्षस	नाग-सर्प	यक्ष	मुनि	गंधर्व
चैत्र	धाता	कृतस्थली	हेति	वासुकि	रथकृत	पुलस्त्य	तुंबरु
वैशाख	अर्यमा	पुंजीकस्थली	प्रहेति	कच्छनीर	अथौजि	पुलह	नारद
ज्येष्ठ	मित्र	मेनका	पौरुषेय	तक्षक	रथस्वन	अत्रि	हाहा
आषाढ़	वरुण	रंभा	चित्रस्वन	शुक्र	सहजन्य	वसिष्ठ	हुहु
श्रावण	इन्द्र	प्रम्लोचा	वर्य	एलापत्र	श्रोता	अंगिरा	विश्वावसु
भाद्रपद	विवस्वान	अनुम्लोचा	व्याघ्र	शंखपाल	असारण	भृगु	उग्रसेन
आश्विन	त्वष्टा	तिलोत्तमा	ब्रह्मापेत	कम्बल	शतजित	जमदग्नि	धृतराष्ट्र
कार्तिक	विष्णु	विश्वची	मखापेत	अश्वतर	सत्यजित	विश्वामित्र	सूर्यवर्चा
मार्गशीर्ष	अंशु	उर्वशी	विद्युच्छत्रु	महाशंख	तार्क्ष्य	कश्यप	ऋतसेन
पौष	भग	पूर्वचित्ति	स्फूर्ज	कर्कोटक	ऊर्ण	आयु	अरिष्टनेमि
माघ	पूषा	घृताची	वात	धनंजय	सुरुचि	गौतम	सुषेण
फाल्गुन	पर्जन्य	सेनजित्	वर्चा	ऐरावत	क्रतु	भरद्वाज	विश्व

वैदिक युग में उल्लिखित ऋषिमुनि और अप्सराएँ पौराणिक युग में भी जीवित रहे हों, यह आज की वैज्ञानिक दृष्टि से असंभव दिखाई देता है । इस असंगति का कुछ बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण पहले भी हो चुका है । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक ही वंश में जन्म लेने वाले विभिन्न स्त्री-पुरुषों को समान नाम से पहचानने की वृत्ति ही इस प्रथा का एकमात्र कारण हो सकती है । नर-नारायण से उत्पन्न की हुई उर्वशी, पुरुरवा की प्रेयसी उर्वशी, और अर्जुन से संबंधित उर्वशी स्वर्ग की अमर अप्सरा होने के नाते एक ही स्त्री रही होगी, यह मानने को जी नहीं चाहता । अत : विभिन्न युगों की इन रूपसियों को एक ही घराने की भिन्न-भिन्न स्त्रियाँ मानना और उर्वशी, मेनका, रंभा घृताची आदि नामों को विशिष्ट स्त्रियों के वैयक्तिक नाम मानने की अपेक्षा परिवारों या घरानों के सामान्य नाम मानना ही योग्य होगा । अन्यथा पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी और अर्जुन की प्रियतमा उर्वशी में मेल बैठाना आज के युग में मुश्किल दिखाई देगा । बड़े परिवारों का अत्यधिक विस्तार हो जाने पर परिवार के सदस्य जिस प्रकार अलग-अलग नगरों में बिखर जाते हैं, और चार-पांच पीढ़ियों के बाद, समान वंशनाम होने के बावजूद परिवार के लोग एक-दूसरे को पहचानते भी नहीं है, ऐसी ही कुछ प्रक्रिया इस घटना के मूल में रही होगी ।



२
पार्थिव गणिकाएँ

पुराणों में वर्णित स्वर्ग की अप्सराओं की अपेक्षा पृथ्वीतल की वारागनाओं का चित्र अधिक रेखाबद्ध है, जो बौद्धयुग तक आते आते तो अत्यंत स्पष्ट हो जाता है । आम्रपाली को उस युग की प्रतिनिधि गणिका कहा जा सकता है । जन्म लेते ही उसे उसकी माता आम्रवृक्ष के नीचे छोड़ गई थी । इसी कारण से उसका नाम आम्रपाली पड़ा, परंतु उसके मातापिता कौन थे, यह कुछ मालूम नहीं । नगर के गणनायक के घर में उसका पालन-पोषण हुआ । जिस प्रकार उसका सौंदर्य अद्वितीय था, उसी प्रकार नृत्य, संगीत, साहित्य और वाक्चातुर्य में उसकी योग्यता भी अतुलनीय थी । वैशाली के नवयुवक उसके पीछे पागल हो उठे । गणसंघ के नायकों ने देखा कि इस अनुपम लावण्यवती को लेकर लिच्छवीगण के नौजवानों में भयंकर संघर्ष खड़े होने की संभावना है । गण की सर्वश्रेष्ठ सौंदर्यवती युवती को सार्वजनीन कलावती बना देने की प्रथा लिच्छवी गण में प्रचलित थी ही । इस रिवाज के सहारे आम्रपाली को सामान्या घोषित करके लिच्छवी युवकों का झगड़ा तो मिटा दिया गया, परंतु इसमें उसकी सम्मति जानने-पूछने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई । यह प्रसिद्ध बात है कि आम्रपाली को इस स्थिति का स्वीकार उसकी मरजी के विरुद्ध करना पड़ा था । बाद में इस अनुपमेय लावण्यवती के कारण लिच्छवीगण और वैशाली नगर को बहुत अधिक प्रसिद्धि मिली । राजा-महाराजा, धनिक, श्रेष्ठी, विद्वान और योद्धा, सभी उसकी कृपा की आकांक्षा करने लगे ।उसके नृत्य-संगीत और संस्कारिता ने जनमानस पर एक अजीब मोहिनी डाली और लोग उसके रूपयौवन के प्रशंसक होने से भी अधिक उसकी कला के उपासक हो उठे । उसका देहोपभोग तो राजा-महाराजा और श्रेष्ठी-सामंतों के लिए भी दुर्लभ माना जाता था । मगधसम्राट बिंबिसार के रनिवास में एक लिच्छवी रानी भी थी । अत : उसका वैशाली में आना-जाना था । वह भी आम्रपाली के आकर्षण से नहीं बच सका. और उनके संयोग से अभय नामक पुत्र का जन्म हुआ, जो आगे चल कर बुद्ध के परम प्रिय शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ । इस पुत्रके प्रभाव से ही आम्रपाली बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुई, और अपना सर्वस्व त्याग कर भिक्खुणी-संघ में दाखिल हुई । थेरीगाथा नामक काव्यसंग्रह में उसकी स्वानुभाव पर आधारित कविताएँ मिलती हैं । उसकी जीवनगाथा ने अनेक साहित्यकारों की कलमों और अनेक चित्रकारों की तूलिकाओं को प्रेरणा दी है । अंत में वह बौद्धमत के परमपद 'अर्हत' अवस्था तक पहुँची, और निर्वाण की अधिकारिणी मानी गयी ।

पद्मावती उस युग की दूसरी प्रसिद्ध गणिका थी । वह उज्जयनि की निवासी थी । कलावती गणिका के रूप में उसकी प्रसिद्धि आम्रपाली से कुछ ही कम थी । बिंबिसार की नजर उस पर भी पड़े बिना नहीं रही । मध्ययुग के राजा-महाराजाओं की तरह उस युग का यह सम्राट भी अत्यंत विलासी था । अमर्याद सत्ता और अपरिमित संपत्ति के संयोग से उसने इस वारांगना को भी वश में किया और उनके संयोग से एक पुत्र का जन्म हुआ । राजगृह लौटते समय बिंबिसार अपना राजचिन्ह पद्मावती को दे गया था । पुत्र सात वर्ष का होते ही पद्मावती ने उसे राजचिन्ह के साथ सम्राट के दरबार में भेजा और राजा ने ईमानदारी से उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया । एक पत्नीव्रत का आग्रह उस युग में था ही नहीं, अत : इससे राजा की निंदा होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था । पद्मावती के पुत्र ने बौद्ध धर्म का स्वीकार करके धर्मप्रचार आरंभ किया । उसका प्रवचन सुनकर पद्मावती के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने संघप्रवेश किया । अंतमें आम्रपाली की तरह वह भी अर्हतपद प्राप्त कर सकी । पतिताओं के उत्थान के इतने हृदयस्पर्शी उदाहरण बौद्ध इतिहास के बाहर शायद ही कहीं मिलें ।

राजगृह की प्रसिद्ध गणिका सालवती का परित्यक्त पुत्र जीवक कुमारभक्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बौद्धयुग का सर्वश्रेष्ठ वैद्य माना गया । सालवती की पुत्री सिरीमा भी उस युग की प्रसिद्ध वारांगना हुई । किसी राज्याधिकारी की उत्तरा नामक पुत्रवधू ने अपनी धर्मसाधना में विघ्न न पड़ने देने के हेतु से, दैनिक एक हजार मुद्रा के वेतन पर सिरीमा की अपने पति के मनोरंजनार्थ नियुक्ति की थी । परंतु सिरीमा इस उत्तरदायित्व का निर्वाह न कर सकी और उसने उत्तरासे क्षमा मांगी । उत्तरा ने जवाब दिया कि उसके पापों को भगवान बुद्ध ही क्षमा कर सकते हैं । एक दिन भगवान बुद्ध उत्तरा के घर पधारे तब सिरीमा ने उनसे अपने पातकों के लिए क्षमायाचना की । बुद्ध के धर्मप्रवचन का उसके मन पर इतना गंभीर प्रभाव पड़ा कि उसने उसी समय धम्म मार्ग का स्वीकार कर लिया । उसकी अकालमृत्यु हो जाने पर, रूपयौवन की नश्वरता और मानवदेह की क्षणभंगुरता सिद्ध करने के लिए बुद्ध ने उसके मृतदेह का प्रदर्शन करने की आज्ञा दी थी, यह हम पहले देख चुके हैं ।

विमला, श्यामा और सुलसा बौद्ध युग की अन्य प्रसिद्ध गणिकाएँ थीं जिनका बौद्ध साहित्य में अनेक बार उल्लेख हुआ है । विमला वैशाली की निवासी थी । धन प्राप्त करने की और उसे सत्कार्यों में खर्च करने की कला उसे अच्छी तरह अवगत थी । वह मन की इतनी उदार थी कि धनिक प्रेमियों को ठुकराकर निर्धन प्रेमियों को आनंद देने में उसे कोई संकोच नहीं होता था । सीधे-साधे पुरुषों और तपोनिष्ठ भिक्षुओं को विचलित करने में उसे अपनी कला की चरम सिद्धि दिखाई देती थी । बुद्ध के प्रिय शिष्य, सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक महामोग्गलायन एक बार वैशाली की गलियों में भिक्षा मांग रहे थे । विमला की नजर इस महान तेजस्वी साधक पर पड़ी, और उसके मन में उन्हें अपने वशमें करने की साहसवृत्ति जागृत हुई । दूसरे दिन वह उनकी कुटिया में पहुँची और उन्हें विचलित करने की एक भी युक्ति उसने बचा नहीं छोड़ी । परंतु ज्यों ज्यों वह अपने कामास्त्रों का प्रयोग करती गई त्यों त्यों उसे उस निष्ठावान साधु के संयम का परिचय होता गया । लाख प्रयत्न करने पर भी वह इस तपस्वी की साधना को विचलित नहीं कर सकी और निपुण वारांगना को जीवन में पहली बार पराजय का अनुभव हुआ । परंतु किसी खिलाड़ी की सी अलिप्तता से उसने अपनी हार कबूल कर ली और इसके प्रायश्चित्त रूप बौद्धधर्म का स्वीकार करके, यथासमय अर्हत पदकी अधिकारिणी हुई । श्यामा और सुलसा की गणना भी उस युग की श्रेष्ठ गणिकाओं में होती थी । अपराधियों से पाला पड़ जाने पर असहाय अबला अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकती है, इसका एक सुंदर दृष्टांत इनकी कथा में मिलता है । कोई दुष्ट प्रेमी श्यामा की धनसंपत्ति चुराकर और उसकी हत्या करके भाग गया था । परंतु यही प्रयोग उसकी सहेली सुलसा पर करते समय उसके हाथों मारा गया ।

अर्धकाशी वाराणसी के एक प्रसिद्ध सराफ की पुत्री थी । पिता ने उसे खूब पढ़ाया-लिखाया था और नृत्य-संगीत में पारंगत कर दिया था । धन की उसे आवश्यकता नहीं थी, पर विवाहित जीवन की घुटन उसे पसंद नहीं आयी और उसने गणिकावृत्ति का स्वीकार किया । उसका रूप यौवन और कलानैपुण्य इतनी उच्चकोटि का था कि अपने एक रात के देहोपभोग के लिए उसने काशिराज की एक दिन की आय के जितना मूल्य निर्धारित किया था । यह कीमत इतनी ऊँची थी कि शायद ही कोई पुरुष उसके कोठे पर चढ़ने की हिम्मत कर सकता होगा । अत : कुछ दिनों बाद उसने इस मूल्य को घटा कर आधा कर दिया । इसी कारण से उसका नाम अर्धकाशी पड़ गया था । उस पर भी बौद्धधर्म का जादू चला और अपनी पूरी संपत्ति का दान करके वह तथागत के दर्शनार्थ श्रावस्ती जाने के लिए निकली । परंतु यात्रा से पहले ही उसे समाचार मिला कि उसके ऐश्वर्य की प्रसिद्धि सुनकर डाकुओं के दल उसे लूटने के लिए मार्ग में तत्पर बैठे हैं । अत : यात्रा का विचार तो उसने स्थगित कर दिया और एक दूत के जरिये भगवान बुद्ध के समक्ष अपना मनोगत व्यक्त किया । बुद्धने अपने एक महाविद्वान और तपस्वी शिष्य को भेजकर उसे धम्ममार्ग की दीक्षा





दिलवाई । अपनी विद्याबुद्धि के सहारे उसने धर्मज्ञान में इतनी अधिक प्रगति की कि शीघ्र ही उसे अर्हत पद की प्राप्ति हुई । आम्रपाली की तरह अर्धकाशी भी उच्चकोटि की कवयित्री थी । थेरीगाथा में उसकी कुछ कविताएँ आज भी उपलब्ध हैं जो नारीहृदय की भव्यता की सुंदर झाँकी प्रस्तुत करती हैं । उपरोक्त सभी उदाहरण ऐसी गणिकाओं के हैं जिन्हें बौद्धधर्म के कारण प्रसिद्धि मिली थी और जो साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकी थीं । परंतु बौद्धयुग की सभी गणिकाएँ अपना पेशा छोड़कर निर्वाणधर्म की शरण लेती थीं, यह मानने का कोई कारण नहीं । धर्मप्रभाव से सर्वथा मुक्त रह कर उस युग की न मालूम कितनी गणिकाएँ अपना व्यवसाय करती रही होंगी इसका अंदाजा धर्ममार्ग का स्वीकार करने वाली पतिताओं की संख्या से लगाया जा सकता है । निश्चित ही, उनकी संख्या पेशा छोड़ देने वाली गणिकाओं से कई गुनी अधिक रही होगी ।

जैन साहित्य में भी गणिकाओं का उल्लेख हम मानते हैं उससे कहीं अधिक प्रमाण में मिलता है । आर्य संस्कृति के तीनों मार्ग — वैदिक, बौद्ध और जैन — विचारधारा की दृष्टि से चाहे जितने भिन्न रहे हों ; आचार, रहन-सहन और समाजजीवन की दृष्टि से वे एक-दूसरे से इतने भिन्न कभी नहीं रहे कि उनके बीच कोई लंबी चौड़ी खाइ पायी जाय । शताब्दियों तक ये तीनों मार्ग एक साथ चलते रहे थे और उनकी जीवनचर्या इतनी अधिक एकरूप थी कि बिना किसी संघर्ष या कोलाहल के, परिवारों में इन तीनों का एकसाथ स्वीकार हो सकता था । कुटुंब का कर्त्ता पुरुष वैदिक धर्मानुयायी होने पर भी उसकी पत्नी बौद्ध और उन दोनों की संतान जैन हो, ऐसे दृश्य उस युग के भारत में आसानी से दिखाई दे सकते थे ।

गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा की रचना पैशाची भाषा में हुई थी । ईसवी सन की चौथी शताब्दी में इसका जैन रूपांतर 'वसुदेव हिंडी' के नाम से अर्धमागधी में प्रसिद्ध हुआ जिसकी गणना प्राकृत के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथों में की जाती है । इस ग्रंथ में जैन धर्म के स्वीकार द्वारा अक्षय सुख प्राप्त करने वाले स्त्री-पुरुषों की कथाओं का संग्रह है । उस युग के अन्य साहित्य की तरह इस ग्रंथ में भी गणिकाओं का उल्लेख कदम-कदम पर हुआ है, और वह भी इस तरह कि समाज में उनका स्थान वात्स्यायन-युग से रत्ती भर भी कम महत्त्वपूर्ण या कम विस्तृत दिखाई नहीं देता । ग्रंथ के उपोद्घात में संपादक का कहना है कि मृच्छकटिक की नायिका वसंतसेना की तरह उस युग की गणिकाएँ भी कुलवधू का स्थान प्राप्त कर सकती थीं । राजा अपनी इच्छानुसार गणिकाओं को दान या भेंट के रूप में दे सकता था, और राजा के अधिकार से मुक्त होने के लिए गणिकाको निष्क्रय मूल्य चुकाना पड़ता था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित गणिका-व्यवस्था से यह स्थिति किसी भी तरह भिन्न नहीं है । गणिका के घर पर, सभाओं में, या उपवन-विहार में एकत्रित होने वाले नागरिकों की मंडली को 'गोष्ठी' या 'ललितगोष्ठी' के नाम से पहचाना जाता था । गोष्ठी में एकत्रित होने वाले रसिकों का अधिकांश समय काव्यशास्त्र विनोद में व्यतीत होता था । उद्यानगोष्ठियों में उनकी पत्नियाँ भी शरीक होती थीं । इन गोष्ठियों में संभाषणपटु पुरुष अत्यंत लोकप्रिय हो कर नेता का स्थान प्राप्त कर सकता था । कभी कभी इन गोष्ठियों का आयोजन राजपुत्रों द्वारा किया जाता था और राजा खुद उपस्थितों का आदर-सत्कार करता था । गणिकाओं के यहाँ मुर्गे या बटेरों की लड़ाई का आयोजन होता था और नगर के प्रतिष्ठित लाग प्रेक्षक या पंच के रूप में उपस्थित रहते थे । गणिकाओं की बर्बरी और किराती दासियाँ सेवाटहल के उपरांत नृत्य-संगीत में भी पारंगत होती थीं . . . . . . इत्यादि । ध्यान रहे कि यह सारा वर्णन जैन ग्रंथों से लिया गया है । इससे यही प्रमाणित होता है कि जैन समाज में भी गणिका का स्थान वैदिक या बौद्ध समाज से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था । वसुदेव हिंडी में उल्लिखित कुछ प्रसिद्ध गणिकाओं का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

इभ्यपुत्र की कथा में एक अत्यंत रूपवती और कलाप्रवीण गणिका का वर्णन है, जो अपने गुणों के कारण इतनी लोकप्रिय हो उठी थी कि उसके चारों ओर राजपुत्रों और सामंतपुत्रों की भीड़ लगी रहती थी । क्षीणवित्त हो जाने पर उसका कोई प्रेमी जब उसे छोड़कर जाने लगता था तब वह अत्यंत आग्रहपूर्वक उससे

कोई स्मरणचिन्ह मांगने को कहती थी । औसत प्रेमी हार, बाजूबंद या कड़े लेकर संतुष्ट हो जाते थे, परंतु एक महाभाग ने उसके बैठने की स्वर्ण की रत्नजड़ित चौकी मांग ली, जो उसने एक क्षण की भी हिचकिचाहट के बिना उसे दे दी । यह पुरुष रत्न पारखी था और चौकी के रत्नों का मूल्य जानता था । इन रत्नों की पूंजी से उसने जवाहरात का धंधा आरंभ किया और कुछ ही समय में विपुल संपत्ति अर्जित करके सुख से रहने लगा ।

कुबेरसेना नामक गणिका ने एक बार जुड़वाँ पुत्र-पुत्री को जन्म दिया । उसकी माता ने तो उसे गर्भपात करवा देने की व्यवहार्य सलाह दी थी, परंतु गणिका के मातृत्व ने उसकी व्यवहार कुशलता पर विजय पायी । बालकों का जन्म होने के दस रोज बाद उसने उन्हें रत्नों से भरी दो नावों में लिटा कर यमुना के प्रवाह में बहा दिया । बालकों की उंगली में 'कुबेरदत्त' और 'कुबेरदत्ता' नाम खुदी हुई अंगूठियाँ पहना दी गई थीं । दो धनिक व्यापारियों को ये नावें मिलीं और उन्होंने एक-एक नाव के रत्न और एक-एक बालक आपस में बाँट लिये । समय बीतते इन दोनों का विवाह कर दिया गया और वे पति-पत्नी के रूप में सुख से रहने लगे । एक बार जुआ खेलते समय बचपन की यादगार रूप ये अंगूठियाँ दाँव पर लगाई गईं । उन पर खुदे नामों से उनकी जिज्ञासा जागृत हुई और पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि पति-पत्नी के रूप में रहने वाले वे दोनों सहोदर ही नहीं बल्कि युग्मज भाई-बहन थे । इसकेबाद वे अपनी माता से मिले । विधि के विधान की ऐसी विचित्रता निहार कर तीनों को जीवन के प्रति ऐसा तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ कि उन्होंने जैन धर्म की दीक्षा ले ली ।

एक और कथा में वर्णन हुआ है कि एक बार डाकुओं ने ग्वालों के किसी गाँव पर छापा मारकर उनकी संपत्ति के साथ-साथ उनकी रूपवती स्त्रियों का भी हरण किया और उन्हें चंपानगरी के गणिकाहाट में बेच दिया । इनमें की एक विवाहित नवयौवना (जिसका एक पुत्र भी था, जो लूट-मार के समय गाँव में बिछड़ गया था) नृत्य-संगीत और कामकला में पारंगत होकर वेश्यावृत्ति करने लगी । गाँव में छूटा हुआ उसका पुत्र बड़ा होकर घी का व्यवसाय करने लगा । एक बार वह व्यापार के निमित्त चंपानगरी गया और दिनभर का काम पूरा करके वेश्यागमन की इच्छा से अपनी माता के कोठे पर जा पहुँचा । किसी देवी ने गाय का रूप धारण करके इस भयानक प्रसंग से उन्हें बचाया ; परंतु इस घटना ने उनके मन में ऐसी विरक्ति उत्पन्न की कि बेनों ने तत्काल जैन धर्म की दीक्षा ले ली ।

जैन साहित्य में सबसे प्रसिद्ध कथा वसंततिलका नामक शीलवती गणिका की है जो गणिका जीवन का अत्यंत उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती है । किसी धनवान श्रेष्ठी का धम्मिल नामक इकलौता पुत्र था । बचपन से ही वह कुशाग्रबुद्धि था और सदा विद्याध्ययन में डूबा रहता था । यथासमय उसका यशोमती नामक सुशील कन्या से विवाह हुआ ; परंतु विषयभोग से परांगमुख और रातदिन शास्त्राभ्यास में ही डूबा रहने वाल धम्मिल पत्नी की ओर ध्यान न दे सका । एक बार यशोमती की माता उससे मिलने आई और पुत्री से कुशल-समाचार पूछे । ऐश्वर्य की कोई कमी न होने पर भी पुत्री सुखी दिखाई नहीं दे रही थी । नारी सुलभ लज्जा को त्याग कर यशोमती ने माता के समक्ष अपनी वेदना इन शब्दों में व्यक्त की :—

"पासिं कप्पिा चडहंसिय रेवापय पुण्णियं
सेइयंच गेण्हेप्पि ससिप्पहवण्णियं
मइ सुयं पिएक्कलियं सयणि निवण्णियं
सहरत्तिं घोसेई समाणसवण्णियं ।"

"माता, तुम्हारा दामाद रेवा के जल से पवित्र की हुई पट्टी पर चंद्रकिरणों के समान उज्जवल खड़िया से रातदिन कुछ लिखता रहता है । शयनमंदिर में शय्या पर मैं अकेली पड़ी रहती हूँ, और वह व्याकरण के 'समाने, 'सवर्ण' आदि नियम रटता रहता है ।"

. पुरानी अपभ्रंशका यह दोहा लापरवाह पति की पत्नी के मन की व्यथा अत्यंत प्रभावकारी ढंग से

व्यक्त करता है । यशोमती की माता ने समधिन से अपनी पुत्री के दुख का वर्णन किया जिसके परिणाम स्वरूप धम्मिल के पिता ने उसे ललितकलाओं के जानकर रसिकों की मंडली में सम्मिलित होने को मजबूर किया । शीघ्र ही वह काव्यसभाओं और उद्यान-गोष्ठियों में भाग लेने लगा और काव्य-साहित्य की रसपूर्ण चर्चा में दूसरों से एक कदम आगे रहने लगा । इतने में ही वसन्तसेना नामक सुप्रसिद्ध गणिका की पुत्री वसन्ततिलका के प्रथम नृत्य का आयोजन हुआ और राजा शत्रुदमन ने रसिकसभा से एक चतुर परीक्षक की मांग की । सबने एकमत से धम्मिल का नाम प्रस्तावित कियाऔर उसकी परीक्षक के रूप में नियुक्ति हुई । वसन्ततिलका के नृत्य का वर्णन वसुदेव हिंडी में इस प्रकार हुआ है :— ''नृत्य देखने के लिए राजा ने नगर के प्रतिष्ठित लोगों को आमंत्रित किया और राजा खुद सिंहासन पर बिराजे । शीघ्र ही वसन्ततिलका का दर्शनीय और मनोहारी नृत्य शुरू हुआ । लावण्यवती नवयौवना ने मोहक हावभाव और मादक शृंगार चेष्टाओं से प्रेक्षकों के मन जीत लिये । लास्य, विलास, आवेश, नयनकटाक्ष और हस्तमुद्राओं के संयोग से नृत्य का स्वर्गीय प्रवाह बहने लगा । वीणा, मृदंग और ताल-सुर के लयबद्ध संयोग से वसन्ततिलका ने नृत्य कला के ऐसे गहन ज्ञान का परिचय दिया कि दर्शक ही नहीं, नृत्यकला के पारखी विद्वानों के मन भी मुग्ध हो उठे । प्रधान परीक्षक धम्मिल ने नृत्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और वसन्ततिलका के उचित सम्मान-सत्कार के बाद मंडली विसर्जित हुई ।''

राजमहल के द्वार पर वसन्ततिलका ने धम्मिल से अपने रथ में बैठने का आग्रह किया और उसे अपने घर ले गई । धम्मिल पर उसके रूपयौवन का ऐसा जादू चला कि इसके बाद वह वहीं रहने लगा और शयनगृह में व्याकरण रटने वाले पति को कामकला से परिचित कराने की आशा से उसे विलास का चसका लगाने वाली पत्नी उसकी परछाईं से भी वंचित हो गयी । कुछ दिन तक तो सबको उम्मीद रही कि स्त्रीमुख से परिचित धम्मिल शीघ्र ही घर लौटा आयेगा । इसी आशा में उसके माता-पिता रोजाना पाँच सौ मुद्राएँ वसन्ततिलका की माता को देने लगे । वेश्यागमन के पीछे रोजाना पाँच सौ रुपये खर्च करने पर तो कुबेर का भी दिवाला निकल सकता है । शीघ्र ही धम्मिल के माता पिता की संपत्ति समाप्त हो गयी पर पुत्र का रतिविलास समाप्त नहीं हुआ । कुछ दिनों बाद दोनों की मृत्यु हो गई और पत्नी यशोमती पुरखों का मकान बेचकर अपने पिताके घर चली गयी ।

ये समाचार गणिकागृह में पहुँचते देर नहीं लगी । क्षीणवैभव पुरुषका गणिकालय में क्या काम ? अत : गणिकामाता ने अपनी पुत्री को धम्मिल का त्याग करने की सलाह दी । वसन्ततिलका ने यह बात नहीं मानी और कुट्टनी की अनेक युक्तियों के बावजूद उसने अपने प्रेमी का साथ नहीं छोड़ा । अंत में क्रोधित होकर कुट्टनी ने धम्मिल को खूब मद्यपान कराया और किसी सुदूर निर्जन प्रदेश में भिजवा दिया । होशमें आते ही उसे गणिकाप्रेम की नि :सारता और विलासी जीवन की निरर्थकता का अनुभव हुआ और श्मशान-वैराग्य के क्षणिक आवेश में वह आत्महत्या करने को तैयार हो गया । कथा कहानियों के नायक धीरोदात्त होने के उपरांत भाग्य के भी बली होते हैं । अत : अग्निप्रवेश, शस्त्रछेदन या विषप्राशन से भी उसकी मृत्यु नहीं हुई और बिना पतवार की नाव के समान वह इधर-उधर भटकने लगा । अंत में अगड़दत्त नामक जैनमुनि के उपदेश से उसने छ : मास तक अति कठोर आयंबिल व्रत का पालन किया । उसकी इस कृच्छ्र साधना से देवता उस पर प्रसन्न हुए और उसे वरदान मिला कि राजाओं, श्रेष्ठियों और विद्याधरों की बत्तीस कन्याएँ उसका वरण करेंगी । दूसरी ओर वसंततिलका को अपनी माता के षडयंत्र की जानकारी होते ही उसने अपने प्रियतम को फिर से प्राप्त करने की कठोर प्रतिज्ञा की । तीसरी ओर धम्मिल की पत्नी यशोमती भी पति को फिर से प्राप्त करने के लिए कठोर कायाकष्ट की कृच्छ्रसाधना कर रही थी । इन सबका मिला जुला परिणाम यह हुआ कि धम्मिल को अपनी पत्नी, प्रियतमा गणिका, और देवताओं के आशीर्वाद से मिली हुई बत्तीस कन्याएँ, यों सब मिला कर चौंतीस सुंदरियाँ प्राप्त हुईं और वह सुख से रहने लगा ।

कथा-कहानियाँ जनजीवन का बहुत अधिक हद तक प्रतिनिधित्व करती हैं । देहदमन और वैराग्य

पर आधारित जैन धर्म की कथाओं में भी बत्तीस-चौंतीस स्त्रियों के जंजाल को सहन करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाले महाभागों का उल्लेख पढ़ कर आश्चर्य होता है । इस प्रकार मांगे-बिनमांगे स्त्रियाँ गले पड़ने लगें, तो बेचारा पुरुष — फिर चाहे वह जैन हो, या बौद्ध — कर भी क्या सकता है ! वसुदेव हिंडी में गणिका-जीवन पर आधारित और भी अनेक कहानियाँ हैं । एक कथा में रंगपताका और रतिसेनिका नामक प्रतिस्पर्धिनी गणिकाओं के मुरगों की लड़ाई और उनकी हारजीत को लेकर खेले जाने वाले द्यूत का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे यही प्रमाणित होता है कि बटेरबाजी केवल नवाबी लखनऊ की ही देन नहीं है । इस जुए में गंगरक्षित नामक श्रेष्ठीपुत्र ने अपना सर्वस्व गँवा दिया था । एक अन्य कथा में अनंगसेना नामक गणिका की कामपताका, चित्रसेना और कलिंगसेना नामक पुत्रियों की नृत्यस्पर्धा का वर्णन और सूई की नोक पर नृत्य करने वाली कामपताका के श्रावकधर्म-स्वीकार का उल्लेख हुआ है । इन्दुसेन नामक धनिक श्रेष्ठी की पत्नी श्रीकान्ता केसाथ देहज में दासी के रूप में आने वाली अनंतमीत नामक गणिका को लेकर इन्दुसेन और उसके सहोदर भाई बिन्दुसेन के संघर्ष और द्वंद्वयुद्ध की कथा सुंदोपसुंद की पौराणिक कहानी की याद दिलाती है । जैन धर्म की महत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से लिखे गये इस ग्रंथ में गणिकाओं की कोई कमी नहीं है ।

सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रंथ की रचना बारहवीं शताब्दी में हुई थी । हेमाचार्य नामक प्रभावशाली जैन साधु द्वारा कुमारपाल जैसे विलासी राजा को दिये गये उपदेश का इस ग्रंथ में संग्रह है जो गणिकाजीवन के उल्लेखों से ठसाठस भरा हुआ है । स्थूलीभद्र नामक श्रेष्ठीपुत्र के कोशा नामक गणिका के साथ बारह वर्ष तक चलने वाले प्रणयसंबंध की कथा जैन साहित्य में अत्यंत प्रसिद्ध है । इस कथा में उस युग के वेश्यालयों और वेश्याजीवन का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसे हम ग्रंथकार के शब्दों में ही देखें :— "वसंत का आगमन होते ही सुंदर रमणियाँ रास करने लगीं ; जगह-जगह मदनोत्सव होने लगे और लोग मदिरापान करके मस्त होने लगे । ऐसे समय विषयसुख की प्रशंसा करने वाले कुछ मित्र स्थूलीभद्र को कोशा नामक वेश्या के घर ले गये । चतुर गणिका ने उनकी आवभगत की और बैठने के लिए आसन दिया । स्थूलीभद्र का रूप देखते ही कोशा का सौंदर्यमद उतर गया और उसे खुश करने के हेतु से वह वीणा बजाने लगी । परंतु कुछ देर बाद जब स्थूलीभद्र ने वीणा बजाई, तब उसका कौशल देखकर गणिका का कलासिद्धि का गर्व भी चकनाचूर हो गया । उसने स्थूलीभद्र के स्नान-भोजन की व्यवस्था की और काव्यबंध, शृंगार-प्रश्नोत्तरी, वात्स्यायन और भरत विरचित ग्रथों की चर्चा, मदिरापान और द्यूत में दिन का शेष भाग व्यतीत हो गया । रात होते ही स्थूलीभद्र ने पेशेवर गणिका को कामकला के अनेक नये पहलुओं का परिचय कराया, इस प्रकार भोगविलास में आकंठ डूबे रहकर उसने कोशा के साथ बारह वर्ष व्यतीत किये । परंतु इसके बाद किसी कारण से स्थूलीभद्र के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने घोर तपस्या की । जैन धर्म की दीक्षा ले लेने के बाद महातपस्वी स्थूलीभद्र चातुर्मास में कभी-कभी कोशा के घर निवास करते थे ; परंतु पूर्वाश्रम में अपनी प्रियतमा रह चुकने वाली इस गणिका के रूपयौवन से वे फिर कभी विचलित नहीं हुए । उनके ऐसे संयम को देखकर अंत में गणिका के मन में भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने मोहमाया का त्याग किया ।"

उपरोक्त पूरी कथा में मोह और त्याग के संघर्ष का सुंदर निरूपण हुआ है । इस ग्रंथ में ऐसी और भी अनेक कथाएँ भरी पड़ी हैं । राजपुत्र मूलदेव के देवदत्ता नामक गणिका से प्रणयसंबंध की कहानी, अशोक नामक श्रेष्ठीपुत्र के चंडा नामक कुट्टनी की चार पुत्रियों — गौरी, ललिता, रंभा और मदना — केसाथ कामसंबंधों और उसे इन चारों से अलग करके छलने वाली कामलता नामक गणिका की कथा, कुलबालक साधु और मागधिका वारांगना का दृष्टांत, एवं श्रेष्ठी कृतपुण्य और गणिका कामवल्लरी, वणिकपुत्र सिद्ध और वेश्यापुत्री, सामंत नाग और गणिकामदनलता इत्यादि के उदाहरण संयम और त्याग की महिमा स्थापित करने के लिए दिये गये हैं । परोक्ष रूप से ये सारी कथाएँ उस युग की गणिकावृत्ति और उसके सामाजिक स्थान का अत्यंत वास्तविक वर्णन उपस्थित करती हैं । जैनमत को राजधर्म मान कर उसे सब

प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने वाला कुमारपाल खुद एक नर्तकी का पुत्र था । भीमदेव सोलंकी और बकुलादेवी नामक नर्तकी के संबंध से क्षेमराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था । जिसके वंशकी तीसरी पीढ़ी में कुमारपाल का जन्म हुआ । इस दृष्टि से देखें तो यह भी कहा जा सकता है कि अप्सराओं से संबंध रखने वाले या उनके गर्भ से जन्म लेने वाले वेद-पुराणकालीन ऋषिमुनियों और राजाओं की परंपरा जैन-बौद्धयुग में भी चली आ रही थी ।

वैदिक, बौद्ध और जैन — इन तीनों मतों का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों को ऐहिक आकर्षण और उसकी निस्सारता का निरूपण करने के लिए गणिका से बेहतर उदाहरण शायद और कोई नहीं मिला । अत : इन तीनों मार्गों के ग्रंथों में वर्णित कुछ प्रसिद्ध गणिकाओं के उदाहरण यहाँ दिये गये हैं । इन कथाओं से तत्कालीन समाज-जीवन के साथ गणिकाओं के घनिष्ठ संबंध की ही स्थापना होती है, फिर चाहे एक गणिका काउद्धार नाम स्मरण से हुआ हो, दूसरी का धम्मसंघ में प्रवेश करके अर्हतपद प्राप्त करने से, और तीसरी का श्रावक धर्म के देहदमन से । इन तीनों सांस्कृतिक प्रवाहों में गणिका का रूप लगभग समान दिखाई पड़ता है । गीत, नृत्य और वाद्य में प्रवीण, संभाषण और देहशृंगार में कुशल, कुट्टनी के मार्गदर्शन में धनवानों का धन हरने में पटु, वज्र जैसे कठोर हृदयवाली ठगनी, देह विक्रय के लिए सदा तत्पर रहने वाली प्रलोभन की साकार प्रतिमा, और मौका पड़ने पर कुलांगनाओं को भी लजा देने वाली त्याग और एकनिष्ठा की झलक दिखाने वाली शीलवती नारी इत्यादि विभिन्न पहलुओं के पीछे छिपी हुई एक ऐसी नारी के दर्शन होते हैं जो बाद के युगों में भी इतिहास निर्माण करती रही है ।

दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट पृथुराज चौहान का कर्नाटकी नर्तकी के साथ का प्रेमसंबंध इस महापराक्रमी और महाविलासी राजा के जीवन का एक साहसी प्रकरण माना जाता है । पृथुराज के पतन के साथ भारत का भी पतन हुआ यह अलग बात है, पर कामकला-निष्णात कर्नाटकी को पृथुराज में पूर्णपुरुष के दर्शन हुए थे इसमें कोई संदेह नहीं । पल्ले से सिर ढकने या हाथों से मुँह छिपा लेने का स्त्रीसुलभ अभिनय उसने पृथुराज के सिवा और किसी पुरुष के समक्ष नहीं किया । राजा-महाराजाओं और श्रेष्ठी-सामंतों के साथ घनिष्ठ संबंध रखने वाली गणिकाओं की कहानियों की हमारे साहित्य या इतिहास में कोई कमी नहीं है । पेशवा बाजीराव और मस्तानी का प्रणयसंबंध इतिहास प्रसिद्ध घटना है । हिंदू पद पादशाही के स्वप्न को पूर्णता के अत्यंत निकट पहुँचा देने वाले ब्राह्मण पेशवा और मुसलमान नर्तकी मस्तानी के देह संबंध से संतानोत्पति भी हुई थी । मस्तानी का पुत्र शमशेर बहादुर अपने हिंदू भाई-भतीजों के पक्ष में खड़ा रहकर पानीपत के मैदान में स्वधर्मियों के हाथों मारा गया था । इस्लामी नर्तकी के निकट सहवास में रहकर भी बाजीराव कर्मठ ब्राह्मण रह सका था और मस्तानी और उसके बच्चों को मुसलमान बने रहने में कोई कठिनाई नहीं हुई । दक्षिण भारत की महानंदा और कान्होपात्रा के कथानक गणिकाजीवन को परम धार्मिक जीवन में परिणत कर देने वाली वेश्याओं के उत्तम दृष्टांत हैं । भक्त सूरदास को पूर्वाश्रम में भगवद्भक्ति की प्रेरणा देने वाली स्त्री भी गणिका ही थी । बिल्वमंगल-चिंतामणी की कथा अनेक कहानियों, नाटकों और काव्यों की मूल प्रेरणा रही है । वैदिक ऋषिमुनियों के संबंध से प्रतापी राजवंशों को जन्म देने वाली अप्सराओं से लगा कर आम्रपाली जैसी अर्हतज्ञानी थेरी, स्थूलीभद्र को ज्ञान प्रकाश दिखाने वाली कोशा और वर्तमान युग में वैष्णव महाप्रभु दामोदरलालजी की प्रसिद्धि — या बदनामी — का कारण बनने वाली नर्तकी हंसा तक गणिकाओं की एक अक्षुण्ण परंपरा चली आ रही है । इस संस्था की प्रबल जिजीविषा की प्रशंसा हम करें या न करें, ईमानदारी के नाते, उसका अस्तित्व स्वीकृत किये बिना छुटकारा नहीं । दामोदरलालजी और हंसा का प्रसंग इस प्रकार की आखिरी घटना है, यह मानने की गलती भी कोई न करे । हमारे इतिहास के स्मृति-मंदिर में सुप्रसिद्ध गणिकाओं की अनेक तस्वीरें चिरस्थायी स्थान प्राप्त कर चुकी हैं । हमारी नीतिभावना या संस्कारों से गणिकावृत्ति का मेल नहीं खाता, यह सही है । परंतु इतिहास की अनेक आकर्षक, कलावती, और कुलांगनाओं के लिए भी अत्यंत ऊँचा आदर्श प्रस्थापित करनेवाली गणिकाओं के वर्णन हम पढ़ते हैं, तो उनके प्रति कुतूहल मिश्रित सम्मान की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

आर्यग्रंथों में कुट्टनी

१

कुट्टनीमतम्

कुट्टनीमतम् के रचयिता दामोदरगुप्त के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है । ग्रंथ की भाषाशैली और आंतरिक ऐतिहासिक साक्ष्य को देखते हुए वह आठवीं शताब्दी की रचना दिखाई देती है । इसी शताब्दी में बगदाद के खलीफा के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर विजय प्राप्त की थी । उसके बाद भारतीय इतिहास ने इस तेजी से करवट बदली, कि यह शताब्दी कई दृष्टियों से स्मरणीय हो उठी है । भारतीय संस्कति के पतन की प्रक्रिया इसी युग में आरंभ हुई थी ।

रूपयौवन और कला का विक्रय करने वाली गणिका को एक कुशल-व्यापारी की भूमिका निभानी पड़ती है । मुनाफा कमाने के किसी भी व्यवसाय में आजतक ऐसे समाजोपकारी तत्त्वों का विकास नहीं हो पाया कि जिनकी वजह से उन्हें समाजसेवा या उनके संचालकों को समाजसेवक माना जाय । शिक्षक या डाक्टरों के पेशे को सेवा घोषित करना भी केवल जबानी जमाखर्च है । हर व्यापारी का आद्य कर्तव्य यही माना जाता है कि वह अपने मूलधन को सुरक्षित रखते हुए अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की कोशिश करे । गणिका का मूलधन है उसका रूप और यौवन । अत : इस पूंजी को सुरक्षित रखते हुए अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की वृत्ति उसमें स्वाभाविक रूप से पायी जाय, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये । अर्थप्राप्ति का कोई भी व्यापार अंत में धन कमाने का यंत्र मात्र बन जाता है, परंतु इस हालत में भी व्यापारी एक सजीव मनुष्य रहता है, यह नहीं भूलना चाहिये । मनुष्य होने के नाते उसका हृदय, उसकी भावनाएँ और उसके आदर्श कभी-कभी व्यापारयंत्र की गति में दखल देने वाली बाधाएँ प्रमाणित होते हैं । इसी कारण से नये-खिलाड़ी व्यापारियों को भावनाओं को घिसघिसाकर हृदय को पाषाण बना लेने वाले अनुभवी पर आदर्शहीन व्यापारियों, मुनीमों और दलालों के मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती है । गणिका-व्यवसाय में भी यही नियम चरितार्थ होता है । इस व्यवसाय में अनुभवी व्यापारी, मुनीम और दलाल, तीनों की भूमिका कुट्टनी अदा करती है, जो गणिकागृह की अधिष्ठात्री और संचालिका होने के नाते 'माँ', 'अम्मा' या 'बाईजी' के नाम से पहचानी जाती है । गणिकालयों का पूरा सूत्रसंचालन इन कुट्टनियों के ही हाथों होता है । अनुभवहीन, नयी गणिकाओं की देखभाल करना, उनका मार्गदर्शन करना, समय-समय पर उन्हें उपदेश देना, और आवश्यकता पड़ने पर डाँटने या सजा देने का कुट्टनी को अधिकार होता है । कुछ समय पहले कुट्टनी खुद भी आकर्षक गणिका की भूमिका से गुजर चुकी होती है और गणिका के रूप में उसे अनेक प्रकार के भले-बुरे अनुभव भी हो चुके होते हैं । लोकमानस और लोकव्यवहार से वह भली भाँति परिचित होती है । गतयौवना, रूपहीना, और देह विक्रय के लिए नितांत निरूपयोगी हो जाने पर ही वह अपनी रूपयौवनसंपन्ना और कलावती पुत्री या पोष्यपुत्री को अपना स्थान देता है । उसके कुशल मार्गदर्शन में अनुभवहीन और अल्हड़ नवयौवनाएँ भी शीघ्र ही चतुर और दुनियादार गणिकाएँ बन जाती हैं ।

व्यवसाय आरंभ करने वाली अनुभवहीन नवयुवती गणिकाकी भी भावनाएँ कोमल और संवेदनक्षम हों, तो बात-बात पर उनके भावुक, आदर्शवादी, साहसिक या प्रेमांध हो उठने की संभावना बहुत अधिक रहती है । व्यवसाय की दृष्टि से भावजगत् की ये विवशताएँ कमजोरियाँ सिद्ध होकर गणिका के लिए संकट

या खतरे का कारण बन सकती हैं । कमसिन गणिकाओं की इन खतरों से रक्षा करके और वेश्याव्यवसाय की टेढ़ीमेढ़ी राहों से गुजार कर उन्हें हृदयहीन और स्वार्थपरायण पण्यांगना बनाने का घृणित पर आवश्यक कार्य कुट्टनी को ही करना पड़ता है । कुछ इनगिने अपवादों को छोड़कर, कुट्टनियों को इसमें पूरी सफलता भी मिलती है । यह निस्संदिग्ध बात है कि गणिका का व्यवसाय आसान नहीं होता । सब से बड़ी कठिनाई यह होती है कि पण्यस्त्री के रूप में उसकी देह का उपभोग करनेवाले तो सैकड़ों मिल जाते हैं, पर नारी के रूप में उसे चाहने वाला कोई नहीं मिलता । गणिका को भी प्रेम करने के बजाय प्रेम का स्वाँग ही अधिक भरना पड़ता है । उसके प्रेम का धनसंपत्ति से कोई संबंध नहीं. ऐसा आडंबर रचते हुए अधिकाधिक धन कमाने की तरकीबें उसे जीवनभर लड़ानी पड़ती हैं । साधारण युवती के लिए यह काम आसान नहीं । इसके उपरांत कला की नैष्ठिक साधना उसे विशुद्ध कलासेविका न बना दे, या किसी आकर्षक और वाचाल नवयुवक को हृदयसमर्पण करके वह उसकी प्रेमिका न बन बैठे, इसकी भी सावधानी रखनी पड़ती है । इन भयस्थानों से कुट्टनी ही उसकी रक्षा करती है । बाह्यरूप से दखलंदाजी न करते हुए व्यवसाय के सूत्रों को अपने हाथ में रखने का कौशल उसमें हो, तो गणिकाकी विगतयौवना माता के रूप में वह ग्राहकों से आदर-सम्मान प्राप्त कर सकती है । परंतु इसके लिए उसे योग्य समय पर समझाना-बुझाना आना चाहिये, मौका देख कर हँसी-मजाक या नरमी से काम निकाल लेना आना चाहिये, और आवश्यकता पड़ने पर डाँटना-धमकाना भी आना चाहिये । शर्मोहया और आँखों के लिहाज से उसे कोसों दूर रहना चाहिये । भूतकाल की गणिका के रूप में प्राप्त तहजीब और सौहार्द का प्रयोग वह कभी-कभी कर सकती है, पर अधिकांश में तो उसे कठोर हृदय से स्वार्थ-साधना ही करनी पड़ती है ।

'कुट्टनीमतम्' में दामोदरगुप्त ने गणिका और कुट्टनी के संवाद द्वारा एक ऐसी सृष्टि खड़ी की है जिसमें गणिकाजीवन के भले-बुरे, सभी पहलुओं का समावेश हो जाता है । इन सब प्रसंगों की कल्पना वाराणसी, आबू आदि तीर्थक्षेत्रों में की गई है, यह तथ्य भी अत्यंत सूचक है । इससे यही मालूम देता है कि हमारे प्रसिद्ध तीर्थधाम बहुत पुराने काल से पापधाम बने हुए हैं । बनारस का वर्णन करते हुए दामोदरगुप्त कहते हैं :— ''यहाँ अकसर मोक्ष की इच्छा वाले लोग बसते हैं, परंतु देहसुख की कामना से आने वालों की भी यहाँ कोई कमी नहीं है । मुक्ति और भुक्ति, दोनों के लिए वाराणसी से बढ़कर कोई स्थान नहीं ।'' मुख्य विषय का आरंभ इस प्रकार होता है कि मालती नामक नवयुवती गणिका ने वेश्याजीवन का आरंभ हाल ही में किया था । खुद कामदेव ने उसके देह की रचना की थी और रूपयौवन की दृष्टि से वह रमणियों में रत्न के समान थी । चतुर संभाषण और विविध कलाओं में यह पारंगत थी । शृंगार पूर्ण द्विअर्थी वाक्यरचना में तो उसका जवाब नहीं था । उसके हास्य से मोती झरते थे और अपने मोहक हावभाव कटाक्ष से वह किसी के भी हृदय को विचलित कर सकती थी । उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े विद्वान और धनिक भी आतुर रहते थे । एक रोज वह अपने प्रासाद की छत पर टहल रही थी कि उसने एक गीत सुना । गीत में उपदेश दिया गया था कि किशोरावस्था से यौवनावस्था में पदार्पण करने वाली युवतियों को चढ़ती जवानी के जोश में देहभान भूल जाने की अपेक्षा रूपयौवन का ऐसा कलामय उपयोग करना चाहिये कि वह अधिक से अधिक समय तक टिका रहे व अधिकाधिक हृदय उसके प्रलोभनपाश से बँध सकें । मालती को ऐसा लगा मानो यह उपदेश उसी को दिया गया हो । तुरंत वह विकराला नामक सुप्रसिद्ध कुट्टनी से मश्वरा करने गयी । यह कुट्टनी अपने फन में इतनी कुशल मानी जाती थी कि उसकी राय लेने के लिए आनेवाली अल्हड़ गणिकाओं की उसके यहाँ सदा भीड़ लगी रहती थी । विकराला का वर्णन हम दामोदरगुप्त के शब्दों में ही सुनें :— ''विकराला का रूपरंग उसके नाम के समान ही विकराल और डरावना था । ऊपर के दाँत मुख से बाहर झाँक रहे थ । गरदन मानो थी ही नहीं और नाक अत्यंत पिचकी हुई थी । गहरे गढ़ों में धँसी हुई छोटी-छोटी रक्तवर्ण आँखों में बिल्ली की सी चालाकी और साँप की सी निर्ममता झलकती थी । कानों में कोई भी आभूषण न होने के बावजूद कानों के छिद्र बड़े होकर लौ नीचे लटक गई थीं । गले की नसें तनी हुई थीं और कँधों पर मटमैले बाल लहरा रहे थे । सिकुड़न-भरे मांस के पिंड जैसी छातियाँ लटक कर पेट

तक पहुँच गई थीं । उसने सफेद वस्त्र धारण कर रखे थे । गले में मोटा सा कठला और उंगली में अंगूठी पहन रखी थी जिस पर किसी सुंदरी की आकृति खुदी हुई थी । अनेक नवयुवती गणिकाएँ उसे घेर कर बैठी थीं और उसे भेंट मिली हुई वस्तुओं को उलट-पलट कर देख रही थीं ।''

मालती ने विकराला को नमस्कार करके कहा, ''हे विकराला, तेरे प्रताप से फटेहाल होकर भिक्षुकों के साथ अन्नछत्रा में भोजन करने वाले पुरुष भी तेरी अद्भुत बुद्धि की प्रशंसा करते हैं । तेरी राय मान कर समृद्ध बनी हुई गणिकाएँ तो तेरे गुणगान करते नहीं अघातीं । आज तक मैंने कुलीन-अकुलीन, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र या सुंदर-असुंदर का भेदभाव किये विना सब पुरुषों से एक समान बर्ताव किया है । परंतु इससे मेरा मन प्रसन्न नहीं होता । नारी की सबसे मूल्यवान संपत्ति जैसे शील और सर्वांगसुंदर देह का विक्रय करने पर भी मनमाना धन नहीं मिलता, यह देखकर मैं क्षुब्ध हो उठी हूँ । इसलिए, हे माता, मुझे ऐसा मार्ग बता कि जिससे मैं योग्य पुरुष को आकर्षित करके उचित संपत्ति प्राप्त कर सकूं ।'' इस प्रार्थना से प्रसन्न होकर विकराला उसे उपदेश देने को तैयार हो गयी । परंतु इससे पहले उसने मालती के देहसौंदर्य का किसी रसिक कवि की कल्पना को शोभा दे ऐसा वर्णन किया है । नमूने के तौर पर एक ही वाक्य पर्याप्त होगा : ''हे सुंदरी, तेरी लचकती चाल ऐरावत को शरमिंदा कर सकती है, राजहंस को लज्जित कर सकती है और मुनियों के मन विचलित कर सकती है । फिर भी, हे कृशांगी, अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए मेरी बातों को ध्यान से सुन और मेरे अनुभव से लाभ उठा ।''

इसके बाद नौ विस्तृत प्रकरणों में कुट्टनी विकराला मालती को गणिकावृत्ति में सफल होने के गुर बताती है । वात्स्यायन ने सूत्ररूप में दिये हुए उपायों को यहाँ कथानकों और दृष्टांतों द्वारा अधिक रसमय, अधिक बोधप्रद, और अधिक प्रभावी शैली में प्रस्तुत कियागया है । इन प्रकरणों में गणिकाजीवन के प्राय: सभी पहलुओं का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन और उस युग के संपूर्ण समाजजीवन का वास्तववादी चित्रण मिलता है । इस पूरे ग्रंथ को उद्धृत करना न तो संभव है, न आवश्यक ; अत : यहाँ उसका सारांश मात्र दिया जाता है । विकराला ने जिन नौ प्रकरणों में इन विषयों का विवेचन किया है, उनके शीर्षक ही काफी बोधप्रद हैं । यथा :— (१) प्रमा का निवार्चन, (२) प्रेमदूत या दूती, (३) प्रेमारंभ और प्रेम के उपस्कर, (४) हारलता और सुंदरसेन का प्रेम वृत्तांत, (५) प्रेमी का विश्वास संपादन करने की कला, (६) प्रेमियों की मूर्खता, (७) प्रेम प्रज्वलित करने के मार्ग, (८) रूठने की और देहसंबंध टाल जाने की कला, और (९) प्रेमी को मनांने की कला ।

पहले प्रकरण में प्रेमी के निर्वाचन का विवचन किया गया ह । जो गणिकाास से प्रेम करने वालों की मूर्खता पर एक करारा व्यंग सिद्ध होता है । विकराला कहती है : ''सबसे पहले बड़ी सावधानी से, प्रेमी का चुनाव करना चाहिये . . . . . यथासंभव वह राजा का या किसी श्रेष्ठी-सामंत का पुत्र होना चाहिये . . . . . तू चाहे, तो एक धनिक जमींदार का पुत्र मेरी नजर में है . . . . उसका पिता सेना के साथ दूर देश में लड़ने गया है . . . . उसकी जुल्फें पाँच अंगुल लंबी हैं . . . . वह कानों में हीरे के कुंडल और पाँचों अंगुलियों में अंगूठियाँ पहनता है . . . . गले में रत्नजड़ित स्वर्णहार और हाथों में फूलों के गजरे धारण करता है . . . . पाँच-छ: शस्त्रसज्ज अंगरक्षक सदा उसके साथ चलते हैं . . . . पानदान लेकर साथ चलने वाला एक नौकर बार बार उसे पान देता रहता है . . . . उसकी मूर्खतापूर्ण बातों पर हँसने वाले चापलूसों का दल उसे सदा घेरे रहता है . . . . अपने पिता के रसूक की और राजा के साथ अपनी मित्रता की लंबी-चौड़ी डींगे वह हाँकता ही रहता है और काव्य, साहित्य, नाटक, दर्शन, युद्धशास्त्र, राजनीति आदि सभी विषयों का जानकार होने का आडंबर करता है . . . . दरअसल वह कुछ नहीं जानता . . . . उसकी काव्यशास्त्रप्रवीणता यहीं तक है कि वह रंगभूमि पर नृत्य करने वाली नटियों को पान खिला सकताहै, उनसे अश्लील छेड़छाड़ कर सकता है, उनपर पुष्पों की वर्षा कर सकता है, नाटक देखते समय जहाँ न हँसना हो, वहाँ हँस सकता है, और जहाँ न बजानी हों, वहाँ तालियाँ बजा सकता है . . . . ।'' गणिकाओं से प्रेम करके बदले में

प्रेम की इच्छा रखने वाले बेवकूफ धनिकों के घरों में उनके संबंध में विकराला का यह मर्मस्पर्शी अभिप्राय मोटे अक्षरों में छाप कर जगह-जगह लगाया जाना चाहिये ।

इस प्रकार का सुयोग्य प्रेमी निश्चित हो जाने पर प्रेमसंवर्धन के लिए उतनी ही सुयोग्य दूती की आवश्यकता पड़ती है । अत : दूसरे परिच्छेद में इस महत्त्वपूर्ण काम को पूरा करने वाली संदेशवाहिका सखी या दूती का वर्णन किया गया है । विकराला के मतानुसार दूती मानवहृदय की पारखी और मृदुभाषिणी होनी चाहिये । अवसर देखकर उसे उपरोक्त प्रेमी के पास भेजना चाहिये । इसके बाद दूती को प्रेमाभिव्यक्ति का पाठ बड़ी गहराई में उतर कर पढ़ाया गया है । चतुर दूती को प्रेमी के पास किस तरह जाना चाहिये, किस तरह अपनी सखी के रूपगुण की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करनी चाहिये, विरह विकला नायिका की भयानक दुर्दशा का हृदयस्पर्शी वर्णन किस तरह करना चाहिये, और उस आसन्नमरणाविरहिणी की प्राणरक्षा के शुभ हेतु से प्रेरित हो कर नायक को उससे मिलाने की उपाययोजना किस तरह करनी चाहिये, इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन इस प्रकरण में हुआ है । दूती को बात किस प्रकार से करनी चाहिये, इसके उदाहरण के तौर पर एक ही परिच्छेद पर्याप्त होगा । विकराला के मतानुसार मालती को दूती द्वारा निम्नलिखित संदेशा भिजवाना चाहिये :— ''हे भट्टपुत्र, रागमयी गणिका और वीतराग तपस्वी, दोनों समान रूप से समदर्शी होते हैं । यौवनमद से माता नवयुवक और कमर झुका हुआ गलितकाय वृद्ध, कुलीन और अकुलीन, हृष्टपुष्ट स्वस्थ पुरुष और क्षीणकाय रोगी, सब को गणिका समान मानती है । परंतु जब से मेरी सखी की दृष्टि आप पर पड़ी है, तब से उसे रोमांच हो रहा है, उसके रोमरोम में कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी है, कंप से उसका शरीर थरथरा रहा है और प्रस्वेद से उसका सर्वांग गीला हो रहा है । यह सही है कि मालती एक गणिका है, पर हे भट्टारक, हर किसी पुरुष की छाती पर मस्तक ढालने वाली बाजारी नारी वह नहीं है । चाहे जिस पुरुष के सामने रूपयौवन का प्रदर्शन करने वाली मर्यादाहीन स्त्री भी वह नहीं है । ऐसी रूपगुणसंपन्न सुंदरी तो बड़े भाग्य से मिलती है ; और आपका परम सौभाग्य है कि वह आपके समागम के लिए तरस रही है । अब आप कृपा करके मेरे साथ चलें, और उसके प्राणों की रक्षा करें ।''

दूती के इस अनुनय से भट्टपुत्र का मन पसीजे, और वह मालती के आवास पर पधारने की कृपा करें, तो उसे किस प्रकार का बर्ताव करना चाहिये, इसकी विस्तृत जानकारी इसके बाद के प्रकरण में दी गयी है । प्रेमी के आगमन पर उसका झुककर स्वागत किस प्रकार करना चाहिये ; लज्जा का ढोंग करते हुए भी अंगों का प्रदर्शन किस तरह हो सकता है ; गणिकामाता को आगंतुकों का सत्कार किस प्रकार करना चाहिये, गणिकाको अर्धस्पष्ट पर मधुर वाणी में किस प्रकार चहकना चाहिये, किस हद तक लजाना चाहिये और किस हद तक मर्यादा का स्वाँग भरते हुए भी मर्यादा की लगाम को ढीली छोड़ देना चाहिये, निपट निर्लज्ज होकर कामकेलि का स्पष्ट निमंत्रण कब और किस प्रकार देना चाहिये, और प्रेमी को हर हालत में अपने प्रति आकर्षित रखकर उसका अधिक से अधिक मनोरंजन किस प्रकार हो सकता है इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातों की विस्तृत जानकारी गणिका को दी गयी है ।

एकनिष्ठ प्रेम के उदाहरण स्वरूप हारलता और सुंदरसेन की लंबी कहानी चौथे परिच्छेद में दी गयी है । पाटलिपुत्र के पुरंदर नामक धनिक श्रेष्ठी का सुंदरसेन नामक पुत्र था । गुणपालित नामक अपने मित्र के साथ वह किसी को भी बताये बिना लंबी यात्रा पर निकल पड़ता है । पाटलिपुत्र में जो कुछ भी प्राप्त करने योग्य था, वह उसे प्राप्त हो चुका था ।इस प्राप्तव्य की कल्पना भी आसानी से की जा सकती है, क्योंकि पाटलिपुत्र की प्रधान उपलब्धि और अनन्य शोभा के रूप में वहाँ की गणिकाओं का ही उल्लेख हुआ है । पाटलिपुत्र की सुस्तनी और पृथुल-नितंबिनी गणिकाओं के नयनशर से घायल होकर वहाँ के पुरुष अपनी पत्नियों की उपेक्षा करते थे । इन कलावती गणिकाओं के संभाषण-माधुर्य की तुलना उनके देहमार्दव से ही की जा सकती थी । इस हालत में भी पाटलिपुत्र से ऊब उठने वाले युवक की रसिकता और अभिरुचि की दाद देनी पड़ेगी । खैर, ज्ञानप्राप्ति के हेतु से दोनों मित्र निकल पड़े । विकराला के मतानुसार इस 'ज्ञानप्राप्ति' की जो व्याख्या हुई है, वह भी विचारणीय है । वीरपुरुषों की वीरता, दुष्टों की दुष्टता, और विभिन्न प्रदेशों के

निवासियों की खासीयतों के दर्शन, सुसंस्कृत पुरुषों का सत्संग और रसिकों से ज्ञानगोष्ठी, बेहया स्त्रियों के मर्यादाहीन संभाषण, पाखंडी पुजारियों के षडयंत्र और ठगों की ठगविद्या की जानकारी, गणिकाओं का जीवन और विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों की कामकला संबंधी चित्रविचित्र रुचि आदि अनेक विषयों का समावेश 'ज्ञानार्जन' के अंतर्गत ही हुआ है ।

ऐसे उदात्त और विशुद्ध हेतु से प्रेरित होकर दोनों मित्र देश-विदेश में घूमे, विद्वानों से मिले, अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके अनेक प्रकार की विद्याएँ सीखे, देशदेशांतर के महान पुरुषों के दर्शन से पावन हुए, चित्र, स्थापत्य, संगीत, नृत्य आदि कलाओं में पारंगत हुए ठगों, और लफंगों की रीतिरस्मों से अवगत हुए और विभिन्न स्थानों की गणिकाओं के कामव्यवहार से भी परिचित हुए । ऐसी निष्पक्ष दृष्टि से संसार का दर्शन करने वाले महाभागों को स्थितप्रज्ञ ही कहना पड़ेगा । वापस लौटते हुए दोनों मित्र अर्बुदाचल पर्वत पर पहुँचे । इस एकांत पर्वतीय प्रदेश में पारलौकिक साधना करनेवाले अनेक साधुसंत बसते थे । उनके मन की समस्त वासनाएँ शांत हो चुकी थीं और समभाव के कारणउन्हें सांप, बिच्छू, शेर जैसे प्राणियों से भी डर नहीं लगता था । इन सिद्ध पुरुषों के दर्शन करते हुए दोनों मित्र और भी ऊपर चढ़ते गये । आगे के एक शिखर पर कई प्रसिद्ध गणिकाओं के आवास थे जिनमें हारलता नामक गणिका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी । इस अनुपम लावण्यवती सुंदरी को अपनी सखियों के साथ विहार करती देखकर सुंदरसेन उस पर मोहित हो उठा । दूसरी ओर सुंदरसेन पर दृष्टि पड़ते ही हारलता भी मदनशरों से विद्ध होकर लंबी साँसें भरने लगी । उसकी विह्वलता को देखकर शशिप्रभा नामक उसकी सहेली ने चेतावनी दी, "सखी हारलता, सावधान हो जा । हम तो सबका मनोरंजन करने वाली सार्वजनीन स्त्रियाँ हैं । हमारे मन में किसी के प्रति विशुद्ध प्रेम जगना अनिष्ट का सूचक है । देहविक्रय करने वाली रूपजीवी स्त्रियों के लिए विशुद्ध प्रेम वर्ज्य माना गया है । हमारा सौंदर्य हमारे लिए धनप्राप्ति का एकमात्र साधन होता है । प्रकृति की इस देन का हमें अनियत उपयोग नहीं करना चाहिये ।" परंतु हारलता पर इस उपदेश का कोई असर नहीं पड़ा और अंत में शशिप्रभा को खुद ही उसका प्रेमसंदेश लेकर सुंदरसेन के पास जाना पड़ा ।

इस तरफ सुंदरसेन का मित्र गुणपालित भी उसे प्रेम का झंझट मोल न लेने की राय दे रहा था । उसका कहना था कि "हे मित्र, रूपाजीवाओं का प्रेम कृत्रिम और अस्थिर होता है, और हमारी रुपयों की थैली के अनुपात में कम-अधिक होता रहता है । गणिकाओं की वृत्ति आर्या छंद जैसी गंभीर और लयबद्ध नहीं बल्कि जघनचपला वृत्त जैसी गौरवहीन और उच्छृंखल होती है । कंकालभक्षी गिद्ध और धनलोभी गणिका में विशेष अंतर नहीं होता ।".....इत्यादि । परंतु चतुर दूती के संदेश से प्रभावित सुंदरसेन यही मानता रहा कि हारलता उसके बिना जीवित नहीं रह सकेगी, और वह गणिकालय में जाने को तैयार हो गया । हारलता के कमरे तक पहुँचते-पहुँचते उसे अनेक गणिकाओं के कमरों के सामने से गुजरना पड़ा और निम्नकोटि की वेश्याओं के विभिन्न रूपों के उसे दर्शन हुए । साधुसंतों से बसे हुए अर्बुदाचल के पवित्र शिखर पर अत्यंत हीन प्रकार की वेश्याओं का यह काठबजार किस हेतु से बसा होगा, यह समझ में नहीं आता, पर उनके आवासों में दिखाई देने वाले दृश्य और सुनाई देने वाले संवाद अत्यंत सूचक हैं । एक गणिका किसी ग्राहक का सर्वस्व छीनकर ऊपर से उसे धमका रही थी और कमरे से जबरन बाहर निकाल रही थी । दूसरी अपने प्रेमी से शिकायत कर रही थी कि उसका दिया हुआ वस्त्र अत्यंत घटिया किस्म का है । तीसरी बड़बड़ा रही थी कि बिना कुछ दिये ही देहोपभोग चाहने वाले मुफ्तखोरे न मालूम कहाँ से चले आते हैं । चौथी किसी ग्राहक से दो रोज पहले के पैसों का तगादा कर रही थी । पाँचवीं ने पिछली रात किसी राजपुत्र को फाँसा था ; सो उसके दंतव्रण और नखक्षत अपनी पड़ौसिन को बता कर खुश हो रही थी ।

इस प्रकार वेश्यालयों के निकृष्टतम पहलू के दर्शन करता-करता सुंदरसेन आगे बढ़ता गया । साधारण स्थिति में उप.क्त वर्णन किसी भी संस्कारी पुरुष के मन को जुगुप्सा से भर सकता है परंतु आँखों ार कामांधता का परदा पड़ा होने के कारण वह सुनी-अनसुनी करके हारलता के कमरे तक पहुँच गया और

दोनों प्रेमियों ने आनंदपूर्वक रात बितायी । सुंदरी नवयौवना के बाहुपाश में लिपटे हुएभी सुंदरसेन को ... के बरामदों में होने वाली बातें सुनाई दे रही थीं । वेश्यावृत्ति के नग्नतम पहलू का परिचय कराने वाला ... संभाषण अश्लीलता और बीभत्सता में प्रसिद्ध रूसी उपन्यास 'यामा' के वर्णनों को भी मात कर सकता है । एक गणिका कह रही थी, ''कल वाला ब्राह्मण तो बिलकुल उजड्ड था । मानो जीवन में कभी औरत देखी न हो, इस तरह पिल पड़ा ।'' दूसरी कह रही थी ; शरीर जर्जर हो जाने पर भी वासना तृप्त नहीं होती । कल रात वाला बूढ़ा रातभर अपनी विचित्रताओं से मुझे बेजार करता रहा ।'' तीसरी बोली, ''मेरा ग्राहक तो शराब के नशे में इस कदर धुत्त था कि शय्या पर लेटते ही खर्राटे भरने लगा और मैं भी करवट बदल कर आराम से सो गयी ।'' चौथी विद्रूपभरी हँसी हँस कर बोली, ''मेरा पाला तो ऐसे गँवार से पड़ा कि किसी के देख लेने के डर से रातभर उसने मुझे हाथ भी नहीं लगाया, और भोर होने की राह देखता रहा ।'' पाँचवी ने डींग हाँकी : ''कोतवाल साहब चोरी के माल के लिए रातभर मेरे कमरे की तलाशी लेते रहे, पर कुछ भी हाथ नहीं लगा ।'' किसी ने प्रश्न किया, ''क्या रात को किसी दाक्षिणात्य उजबक से पाला पड़ गया था ?'' और किसी ने व्यवहारज्ञान बघारा : ''मैंने तो साफ कह दिया कि कंचन के बिना कामिनी नहीं मिलती । पहले रुपये निकालो, फिर दूसरी बात ।''

इस वातावरण में सुंदरसेन ने हारलता के साथ कई दिन बिताये । इसके लिए उसकी तितिक्षा की प्रशंसा की जाय या उसके प्रबल मोह की, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें । एक रोज सुंदरसेन के पिता का अनुचर उसकी तलाश करता हुआ वहाँ आ पहुँचा और उसके पिता का डाँट-फटकार भरा पत्र उसे दिया । पढ़कर सुंदरसेन के मन में प्रबल ग्लानि उत्पन्न हुई । गुणपालित के उपदेश ने इस ग्लानि को और भी दृढ किया और अपनी वारांगना प्रेयसी को छोड़कर वह अपने पिता के पास लौट जाने को तैयार हो गया । गहरी अनिच्छा और दुखी हृदय से हारलता ने उसे जाने की इजाजत दी, पर अपने प्रेमी के आँखों से ओझल होते ही उसके प्राण पंखेरू उड़ गये । सुंदरसेन को किसी यात्री से यह समाचार मार्ग में ही मिल गया और वापस लौटकर अपने हाथों उसने हारलता का अग्निसंस्कार किया । जिस वटवृक्ष के नीचे उसने प्राण छोड़े थे, वहाँ बैठकर उसने घोषणा की कि ''पूरा संसार गणिका को झूठी और मक्कार मानता है; परंतु हारलता ने अपनी मृत्यु से इस मान्यता को ही झूठी प्रमाणित कर दिया है ।'' अंत में अपनी प्रियतमा का वियोग सहन न कर सकने के कारण वह संन्यासी हो गया ।

आगे चलकर विकराला कहती है कि ''हो सकता है कि उपरोक्त पूरी कहानी कपोल-कल्पित हो । परंतु अपने प्रेमी को प्रभावित करने के लिए चतुर गणिका को वारांगनाओं के एकनिष्ठ प्रेम की मनगढंत कहानियाँ सुनाते रहना चाहिये ।'' प्रेमी को वश में करन के अनेकविध प्रेमोपचारों का विवेचन पाँचवें परिच्छेद में करके मूर्ख प्रेमी गणिका के पाश में किस तरह फँस जाता है, इसका वर्णन छठे परिच्छेद में किया गया है । विकराला का कहना है कि ''उपरोक्त बातों से प्रभावित होकर अल्पमति प्रेमी भी निर्व्याज प्रेम करने वाली और प्रेमी की खातिर अपरंपार कष्ट सहन करक उसके वियोग में प्राण त्याग देने वाली गणिकाओं के किस्से सुना सकता है । कभी कभी यह बातें सच्ची भी हो सकती हैं ; परंतु अकसर तो वह उन्हें कल्पना के रंगों में रंग कर ही पेश करता है । गणिकाओं के प्रेम के झूठेसच्चे उदाहरण देकर निर्बुद्ध प्रेमी अकसर अपने मन को मनाता है और अपने आप को ही धोखा देता है । परंतु उसकी इस मानसिक स्थिति का लाभ उठाकर चतुर गणिका को उसके मन में यह विचार अवश्य उत्पन्न कर देना चाहिये कि नृत्य-अभिनय तो सभी गणिकाएँ करती हैं, पर कामकला में उसके समान प्रवीण और कोई नहीं है । उसके मार्मिक संभाषण के लिए विद्वान नागरिक भी लालायित रहते हैं । उजड्ड गँवारों का तो उसके यहाँ काम नहीं । उसका प्रेम निरपेक्ष और निर्व्याज है, और किसी प्रकार का अतिरेक न करते हुए भी वह नित नया आनंद दे सकती है . . . . इत्यादि । इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते ही मूर्ख प्रेमी गणिका को मुँहमांगा धन देकर उसका सदा के लिए गुलाम हो जायगा ।''

इसके बाद के परिच्छेद में एक बार फँसे हुए प्रेमी को हमेशा के लिए फँसा रखने के और उस अधिक से अधिक धन वसूल करने के उपाय बताये गये हैं । विपत्ति की झूठी-सच्ची कहानियाँ गढ़कर धन ऐंठने के उपाय वात्स्यायन की ग्यारहवीं सूची में गिनाये गये उपायों से मिलते-जुलते हैं । डाकुओं ने अलंकार छीन लिये, कोतवाल को रिश्वत देनी पड़ी, इत्यादि पुरानी तरकीबों के उपरांत एक नयी युक्ति यह सुझाई गयी है कि प्रेमी की उपस्थिति में किसी नकली महाजन को बुलाकर, अपने ऊपर भारी कर्ज हो गयाहै ऐसा दिखावा करना चाहिये । प्रेमी के अनिष्ट-निवारण की खातिर उसने व्रत-उपवास या दानपुण्य किया है, या देवताओं की पूजा की मनौती मानी है, इत्यादि घिसीपिटी युक्तियों से भी अधिकाधिक धन ऐंठने की सलाह दी गई है ।

आठवें परिच्छेद में धनहीन प्रेमी को दुत्कारने की तरकीबों का वर्णन है । विकराला उपदेश देती है : ''गणिकाको जैसे ही मालूम दे कि प्रेमी की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई है, या वह सूदखोर महाजनों के चक्कर में फँस गया है, या पर्याप्त धन और मुँहमांगी भेंट सौगात नहीं देता ; उससे स्पष्ट कह देना चाहिये कि इस हालत में वह देहसुख का अधिकारी नहीं । उसे यह बात जता देने के अनेक तरीके हैं । उसे अपने पास बैठने न देना, उसके आते ही उपेक्षा से मुँहफेर कर खड़े हो जाना, बात-बात में उसकी कटु आलोचना करना, उसे पसंद न आने वाले भद्दे मजाक करना, उसके विरोधियों की प्रशंसा करना, उसकी हर बात का विरोध करते हुए उसे उपहासास्पद सिद्ध करना, उसकी उपस्थिति में अन्य प्रेमियों की उदारता का बखान करना, और उसके प्रणय-व्यापार की ओर से उदासीन रहना इत्यादि कई उपाय ऐसे हैं कि वह खुद ही परेशान होकर चला जायगा । अपने प्रति उदासीन और कामक्रीड़ा से विरक्त मादा के समागम से पशु भी आनंद का अनुभव नहीं करते । इस प्रकार के बर्ताव से गणिका के नौकर-चाकर भी उसकी हँसी उड़ाने लगेंगे जिससे शरमिंदा होकर वह गणिकालय में सूरत दिखाना भी पसंद नहीं करेगा । गणिका की दृष्टि में वे ही पुरुष वरेण्य होने चाहिये : धनिक और सत्ताधीश । व्यास मुनि भी इन्हीं दोनों की सिफारिश करते हैं । धनिकों को आकर्षित करना और धनहीनों को दुत्कार देना गणिका का स्वभावधर्म होना चाहिये । उपरोक्त उपायों से भी निर्धन प्रेमी आना-जाना बंद न करे तो उसे स्पष्ट सुना देना चाहिये कि वेश्यालय कोई धर्मशाला नहीं है और महत्त्वपूर्ण प्रेमियों को छोड़कर मुफ्तखोरों को पालना गणिका के लिए संभव नहीं । इन उपायों से निर्धन प्रेमी अपने आप आना बंद कर देगा । परंतु धनिक प्रेमियों के बिना गणिका का निर्वाह होना मुश्किल है । अत : उसे या तो नया प्रेमी ढूंढ लेना चाहिये, जिसकी तरकीबें पहले बतायी जा चुकी हैं, या किसी पुराने प्रेमी को फिर से रिझा लेना चाहिये ।''

एक बार त्यागे हुए प्रेमी को फिर से मनाने के उपायों का वर्णन अंतिम परिच्छेद में हुआ है । परंतु इसकी सब से पहली शर्त यह रखी गई है कि इस दौरान में उसने फिर से पर्याप्त धनसंपत्ति प्राप्त कर ली हो । इस शर्त की पूर्ति हो जाने पर विकराला की राय है कि ''फिर से धनाढ्य हो जाने वाले प्रेमी के पास गणिकाको संदेशा भिजवाना चाहिये कि वह उसे पहले से भी अधिक चाहती है । दरअसल उसके प्रेम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, सिर्फ कुछ गलतफहमियों के कारण ही यह विरह उसे सहना पड़ा है । साथ-साथ प्रेमी को पुराने प्रेमप्रसंगों की याद दिलाते रहना चाहिये और दोनों में वैमनस्य उत्पन्न करा देने वाले कुछ काल्पनिक दुष्ट व्यक्तियों को दिल खोलकर गालियाँ देते रहना चाहिये । प्रेमी से कहना चाहिये कि अविच्छेद्य हृदयों को विभक्त कर देने की कुछ दुष्ट लोगों में शक्ति होती है जिससे उन्हें एक प्रकार का आसुरी आनंद प्राप्त होता है । प्रेमी के मन पर यह भी ठसाना चाहिये कि दर असल तो गणिकाएँ प्रेम की सौदागरनी होती हैं और धन देने वाले किसी भी पुरुष का मनोरंजन करना उनका स्वभावधर्म होता है । हजारों में एक भी पुरुष ऐसा नहीं मिलता जिसे गणिका सच्चे हृदय से प्यार कर सके । परंतु सौभाग्य में ऐसा बिरला प्रेमी उसे मिल गया है, जिसने उसका हृदय वश में कर लियाहै । इस प्रकार के झूठे भावों का प्रदर्शन करने से कठोर से कठोर पुरुष भी गणिका के वश में हो जायगा । पुराने प्रेमी को फिर से आकर्षित करना बिलकुल मुश्किल नहीं है । परंतु उसका अपने स्वार्थ के लिए ही उपयोग करना चाहिये । आम की

तरह उसका सार सर्वस्व चूस लेने के बाद उसे गुठली और छिलकों की तरह निर्माल्य समझ कर फेंका जा सकता है । जब तक उसमें मांस हो, तब तक जी भरकर भक्षण करना चाहियें, पर मांस खतम होते ही हाड़चाम को निर्ममता से फेंक देना चाहिये . . . . नही, नहीं . . . . हाड्डियाँ फेंकने से पहले उन्हें भी जाँच लेना चाहिये कि सत्त्व का एक कण भी कहीं चिपका हुआ तो नहीं रह गया । उस अंतिम सार को चूस-चाट कर ही हड्डियों को फेंकना चाहिये । प्रेमी का त्याग करने से पहले उसे इस हद तक सत्वहीन और निकम्मा कर देना चाहिये कि फिर वह किसी काम का ही न रहे ।''

विकराला का यह उपदेश हृदयहीन और भयावह लग सकता है, पर ईमानदारी की उसमें कमी नहीं है । दामोदरगुप्त के ग्रंथ में गणिका व्यवहार के सभी पहलुओं का इसी तटस्थता और निरपेक्षता से विचार किया गया है । 'कुट्टनीमतम्' नाम होने पर भी उसमें कुट्टनी की अपेक्षा गणिका के दृष्टिकोण से गणिका व्यवहार की ही अधिक चर्चा पायी जाती है । सभ्य देशों का गणिकावर्ग आज भी इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे जीवित रह रहा है । वही रूप का बाजार, वही प्रेम का प्रदर्शन, वही धनप्राप्ति का एकमात्र उद्देश्य और वही झूठ सच की चिंता से मुक्त स्वार्थपरायण व्यापारी वृत्ति । वेश्यावृत्ति के बाह्यांग में देशकाल के अनुसार मामूली परिवर्तन भले ही हुए हों, देहविक्रय, स्वार्थपरायणता और प्रेम के झूठे आडंबर रूपी मूलभूत तत्त्वों में कोई अंतर नहीं पड़ा है ।

२

समयमातृका

क्षेमेन्द्र रचित समयमातृका नामक ग्रंथ आठ परिच्छेदों में विभाजित हैं । परिच्छेदों के शीर्षक ही विषय की पूरी सूचना दे देते हैं । यथा :— (१) कुट्टनी के धर्म, (२) गणिका का कर्तव्य, (३) प्रेम की हाट में एक रात, (४) कामविज्ञान, (५) कामकला का एक प्रायोगिक पाठ, (६) आदर्श प्रेमी, (७) प्रेमी को अनुरक्त रखने के उपाय, और (८) अप्रिय या अवांछनीय प्रेमी से संबंध तोड़ने की युक्तियाँ । ग्रंथ के अंत में रचयिता ने एक छोटा सा उपसंहार भी दिया है जिसमें कहा गया है कि महाराजा अनंतराज के शासनकाल में सज्जनों के उपयोग के लिए क्षेमेन्द्र नामक कवि ने इस ग्रंथ की रचना की । पूरा ग्रंथ रसमय संस्कृत काव्य का अत्यंत सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

क्षेमेन्द्र के कथनानुसार गणिका एक जादूगरनी है, जो इंद्रजाल से लोगों को वश में करती है । देह सौष्ठव, शृंगारसज्जा, हावभाव और अभिनय-कटाक्ष उसके सम्मोहन के प्रधान अस्त्र हैं । उचित देखभाल से सुरक्षित रखा हुआ रूपयौवन, नाजनखरे और नाजुक मिजाजी, एवं विद्याबुद्धि का समन्वय उसके तरकश के सबसे प्रभावी तीर हैं । चमत्कृतिपूर्ण संभाषण, आँखें चौंधिया देने वाले रूपरंग और आडंबरपूर्ण ऐश्वर्य की सहायता से वह उच्च से उच्च कोटि के पुरुष को आँखों के इशारे पर नचा सकती है । कलासाधना में वह अकसर इतनी ऊँची कक्षा पर पहुँची हुई होती है कि उसके व्यक्तित्व की रही-सही कसर पूरी हो जाती है और उसमें परिपूर्ण नारीत्व के कलामय विकास के दर्शन होते हैं । सुखी जीवन का आनंद और संतोष का प्रकाश उसके मुख पर सदा झलकता रहता है । प्राकृतिक आकर्षण के साथ कृत्रिम प्रेम का आडंबर जाल फैलाना भी वह अच्छी तरह जानती है जिसके परिणाम बड़े-बड़े सत्ताधीश और विद्वान नागरिक भी उसकी ओर आकर्षित होते हैं और उसका उचित आदर-सम्मान करते हैं । फिर भी अनुभवहीन किशोरी गणिकाओं को ग्रंथकार ने ग्रंथ के आरंभ में ही किसी अनुभवी कुट्टनी के मुख से यह चेतावनी दिलाई है कि ''आनंदगृहों की कुंजों में कुछ ऐसे अंधियारे कोने होते हैं जहाँ नवयुवतियों को ढूंढने वाले काले साँपों की बस्ती होती है । जहाँ मदोन्मत्त हाथी घूमते रहते हैं और हिंसक शेर-भेड़िये छिपे रहते हैं ।'' कामांध पुरुषों के इसवर्णन को अत्यंत वास्तविक मानना पड़ेगा । इस प्रकार कुट्टनी के संरक्षण से वंचित नवयुवती

गणिका के मार्ग में आ सकने वाले अनेक विघ खतरों की उचित भूमिका बाँघ कर क्षेमेन्द्र अपने ग्रंथ के विभिन्न परिच्छेदों में विविध विषयों की चर्चा करते हैं

पहले परिच्छेद में ग्रंथकार ने कुट्टनी के धर्मों का विवेचन किया है । विषय का आरंभ कामदेव और कालिका की स्तुति से किया गया है । कामदेव और कालिका का एक साथ उल्लेख अभिनव होने पर भी कुछ विचित्र दिखाई देता है । ग्रंथ रचना का हेतु देहविक्रय के लिए खरीदी-बेची जाने वाली सुंदरियों का मार्गदर्शन करना माना गया है, जिसकी घोषणा लेखक ने आरंभ में ही अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कर दी है । कथानक का आरंभ इस प्रकार होता है कि कश्मीर के प्रबलपुर नामक नगर में कलावती नामक सहृदय गणिका रहती थी । कलावती के कुचकटिनितंब का वर्णन संस्कृत कवियों के प्रचलित ढर्रे से किया गया है । कलावती नगर के सबसे भव्य प्रासाद में रहती थी । एक दिन छत पर टहलते हुए उसकी नजर नीचे की ओर गयी तो उसने समस्त गणिकाकुल के गुरु जैसे कंक नामक नापित को अपने द्वार पर खड़ा हुआ देखा । गणिकाजीवन में ही नहीं, बल्कि प्राचीन युग के समूचे प्रेमजीवन में नाई का महत्त्वपूर्ण स्थान इस उल्लेख से और भी दृढ हो जाता है । कलावती ने गुरु को ऊपर बुलाकर नमस्कार किया । नगर की सबसे प्रसिद्ध गणिका के मुख पर रोज की प्रफुल्लता के बदले गंभीर चिंता का भाव देखकर उसने इसका कारण पूछा । यह प्रश्नावली भी संस्कृत की शृंगारी कविता के परंपरगत ढंग से पूछी गयी है । नाई पूछता है, "हे सुंदरी, आज तेरा मुख पति के वियोग से दुखी होने वाली पत्नी के जैसा क्यों हो रहा है ? तेरी कटिमेखला कहाँ है ? कपूर और चंदन की सुगंध तेरे अंगों से क्यों नहीं आ रही ? क्या तुझे तेरी राजसी कमाई से संतोष नहीं है ? किसी गँवार ने तेरा दिल दुखाया है, या किसी अमूल्य रत्न को प्राप्त करने की इच्छा तेरे मन में जगी है ? कोई धनिक और प्रतिष्ठित प्रेमी तुझे छोड़ कर चला गया है या तेरा त्याग करके विवाह कर बैठा है ? तेरी कमाई से निर्वाह करने वाले किसी गुंडे के हाथों तो तू नहीं पड़ गई । दुत्कार कर निकाल दिया जाने वाला कोई जुआरी प्रेमी फिर से तेरे प्रेम की याचना कर रहा है, या अपमानित करके निकाला हुआ कोई निर्धन प्रेमी फिर से तुझे परेशान कर रहा है ? तेरे प्रियपुरुष को किसी प्रतिस्पर्धिनी गणिका ने छीन लिया है क्या ? धन देने वाले वृद्ध और प्रेम देने वाले युवा प्रेमियों की तुझे कमी पड़नेलगी है, या तेरे मन में मोहमायां के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया है ? तुझे क्या दुख है, मुझे समझा कर कह ।" इस लंबी प्रश्नावली में उस युग की गणिकाओं के शायद सभी संभाव्य दुखों का समावेश हो जाता है ।

थोड़ी देर तक तो कलावती लंबीं साँसे भरती रही, पर फिर गुरु, मित्र और मार्गदर्शक की भूमिकाएँ एक साथ निभाहने वाले नापित से बोली, "हे कंक, उष्ट्रस्कंधा नामक मेरी दादी की मृत्यु हो गई है । अब तक उसने बड़ी बुद्धिमानी से मेरे व्यवसाय का संचालन किया । उसकी चतुराई के सामने आजतक किसी ग्राहक की दाल नहीं गली । ग्राहकों के चिकनी-चुपड़ी बातों से वह कभी विचलित नहीं हुई, और सदा अपना ध्यान इसी बात पर केन्द्रित रखा कि गुल्लक में कितनी रकम आती है । वृद्ध होने पर भी युवा होने का दिखावा करने वाले एक वैद्य ने ईर्ष्यावश होकर उसे जहर की पुड़िया देकर मार डाला । मरते-मरते भी उसे मेरी भलाई का ही ध्यान रहा, और सारे स्वर्णालंकार मुझे सँभला गई । उसकी मृत्यु के बाद इस घर में अव्यवस्था फैल गई है और जिसका जो जी चाहे वह करता है । प्रतिष्ठित लोगों का मेरे यहाँ आना बंद हो गया है और मुझे गुंडों के नियंत्रण में रहना पड़ रहा है ।" यह कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू आ गये । कुछ देर तक विचार करके कंक ने कहा, "हे कल्याणी, इसमें तेरा ही दोष है । ऐसे दुष्ट, लालची और विषयलोलुप वैद्यको घर में आने देकर तूने बड़ी भूल की है । पर अब शोक करने से कोई फायदा नहीं । शीघ्र ही प्रयत्न करके कोई नयी मातृका ढूंढ ले । कुट्टनी की अनुपस्थिति में गणिकालय में प्रवेश करने वाला प्रत्येक पुरुष भेड़िया साबित होता है । बिना कुट्टनी की गणिका को न तो सुरक्षा मिलती है, न शांति । खूंटे बिना की गाय, बिना प्रधान कें राजा, और बिना कुट्टनी की गणिका के चहुंओर निर्लज्ज मुफ्तखोरों की भीड़ लग जाती है । अब भी समय है । शीघ्र ही किसी ऐसी कुट्टनी की तलाश कर कि जो हवा में महल बना सकती हो । मेरी पहचान की एक कुट्टनी है । उसके कारनामों की गाथा मैं तुझे सुनाता हूँ । तुझे इससे दुनियादारी की बहुत कुछ जानकारी मिलेगी ।



चतुर कुट्टनी की कहानी सुनने को कलावती आतुर हो उठी । कंक ने कहानी शुरू की.– ''परिहासपुर नगर के सदाव्रत को देखभाल करन वाली भूमिका नामक स्त्री की पुत्री का नाम अर्धघरघाटिका था । लड़की अत्यंत सुंदर और वाचाल थी, अत : पास पड़ौस के लोग उसे अकसर खाने-खेलने के लिए अपने घर ले जाते थे । उसकी आदत थी कि जहाँ भी वह जाती, वहाँ से कुछ न कुछ चुरा कर ले आती । छ : वर्षकी होते होते तो वह इतनी बड़ी दिखाई देने लगी कि उसकी माता उसे बेचने के लिए मेले में ले गयी । कर्पूर श्रेष्ठी का धनाढ्य पुत्र पूर्णक मेले में घूम रहा था । उसकी नजर इस लड़की पर पड़ी और उसने उसे खरीदने का निश्चय किया । मोल-भाव तय करने के बहाने भूमिका ने उसे रातको किसी सराय में बुलाया और उसे खूब शराब पिलायी । उसके बेहोश होते ही घाटिका ने उसकी जेब साफ कर दी । इसकेबाद माँ-बेटी मिलकर 'चोर-चोर' चिल्ला उठीं, जिससे डर कर पूर्णक वहाँ से भाग गया । इस धन से घाटिका के लिए नये कपड़े, आभूषण इत्यादि बनवाये गये । रूप यौवन तो उसमें बचपन से ही विकसित हो गया था ; अत : कुछ दिनों बाद ही उसने नाम बदल कर शंकरपुर नगर में खुलेआम वेश्यावृत्ति आरंभ कर दी । नगर में जितने कुत्ते थे उनसे भी अधिक संख्या में ग्राहकों की भीड़ उसके दरवाजे पर जमने लगी । कभी-कभी तो इतने ग्राहकों से जान बचाने के लिए वह घर छोड़ कर और कहीं जा छिपती थी ; परंतु ऐसे मौकों पर भी वह धनिक श्रेष्ठियों के घरों में ही रात गुजारने की सावधानी रखती थी । एक बार रात को वह किसी मंदिर में जा पहुँची । मंदिरों को अनाचार के अड्डे बना देने का पुण्यकार्य उस युग में भी शुरू हो चुका था; अत: पुजारीजी महाराज को उसे आश्रय देने में कोई संकोच नहीं हुआ । रातभर विलास करके पुजारीजी तो लंबी तान कर सो गये और चोट्टी गणिका ने मूर्ति के आभूषण चुरा कर रास्ता नापा । इसके बाद फिर उसने अपना नाम बदला और प्रतापपुर के किसी जमींदार की रखैल के रूप में रहने लगी । कुछ दिनों बाद घर मेंउसका स्थान दृढ़ होते ही उसने जमींदार का काम तमाम करने का निश्चय किया ।

''कुछ ही दिनों में जमींदार यमलोक सिधारा, और उसके वृद्ध पिता ने पुत्र की रखैल को अपनी रखैल बना लिया । अब घाटिका की जिम्मेदारी कुछ बढ़ गई, क्योंकि वृद्ध को पौष्टिक औषधियाँ और वाजीकरण की मात्राएँ खिलाकर उसकी वासना को सतत जागृत रखना पड़ता था । प्राचीन कामशास्त्र में इन औषधियों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है और इनका प्रयोग करवाने वाले नीमहकीमों की भी उस युग में कोई कमी नहीं थी । परंतु कुछ समय बाद ही वृद्ध पर राजा का कोप हुआ और उसे आत्महत्या करनी पड़ी । घाटिका को मानो मनचाहा वरदान मिल गया । वृद्ध की धनसंपत्ति लेकर वह अन्य किसी शहर में जा बसी । इस नगर में उसने मृगावती नाम धारण करके एक धनाढ्य विधवा होने का स्वाँग रचा । धर्मपरायण और शोकाकुल विधवा के रूप में वह सफेद वस्त्र धारण करने लगी, प्रात : नदी में स्नान करने जाने लगी, घंटों तक काली की पूजाअर्चना करने लगी और इस बहाने अपने सौंदर्य का अधिकाधिक प्रदर्शन करने लगी । शीघ्र ही वह नागरिकों के आकर्षण का विषय बन गयी और बंधुसार नामक सामंत की नजर उस पर पड़ी । बंधुसार असीम धनसंपत्ति का स्वामी था । मृगावती उसके साथ रहने लगी और एक महीने के अंदर ही उसकी मृत्यु हो गई । विषयभोग की अतिशयता ने अकाल मृत्यु को निमंत्रण दिया होगा, यह सही है, पर मृगावती का उसमें हाथ नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता । लोकनिंदा से बचने के लिए उसने अपने प्रेमी की चिता में कूदकर जल मरने का इतना अधिक आग्रह किया कि लोग उसे बड़ी मुश्किल से रोक सके । इस हालत में किसी को उस पर संदेह होने की संभावना ही नहीं रही । इस सामंत की संपत्ति हजम करके उसने राजा की अश्वशाला के अधिकारी को वश में किया । रूपलुब्ध अश्वाधिकारी ने अपनी पूरी संपत्ति उसके नाम कर दी । उसकी पत्नी और पुत्रों ने शिकायत की, पर न्यायाधीश को रिश्वत देकर चतुर वारांगना ने संपत्ति पर अपना अधिकार जमाये रखा । शीघ्र ही अचल संपत्ति को रोकड़ रकम में परिवर्तित करके वह किसी बौद्ध मठ में दाखिल हो गई ।

''अब उसकी उम्र हो चुकी थी । परंतु फिर भी बालों में खिजाब लगाकर और मिस्सीकंघी से लैस

रहकर मठ में ही वेश्यावृत्ति करने में उसे विशेष कठिनाई नहीं पड़ी । इसी दौरान में पुरानी चोरियों का माल उसके पास पकड़ा गया और उसे कारागृह जाना पड़ा । वहाँ के रक्षक पर भी उसने अपना जादू चलाया और एक दिन उसकी जीभ काटकर उसीके कपड़े पहना कर वह जेलखाने से भाग निकली । इसके बाद वह अनुपमा नाम धारण करके विजयेश्वर नगर में रहने लगी । यहाँ उसे भोगमित्र नामक प्रेमी मिल गया । प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकनेपर भी कुशल शृंगार-प्रसाधन से वह अपने आपको अप्सरा जैसी आकर्षक बना लेती थी । परंतु ढलती जवानी को ज्यादा दिनों तक छिपाना संभव नहीं होता । दोपहर के दीपक, कुम्हलाये हुए फूलों के गजरे और जाड़े के पंखे की तरह विगत यौवना स्त्री कामी पुरुषों की नजर में निकम्मी होती है । रसिक नागरिकों द्वारा त्याग दी जाने पर वह शिखा नाम धारण करके साध्वी के रूप में भैरव नामक तांत्रिक के साथ रहने लगी । मौका मिलते ही मठ की मूर्ति के अलंकार चुरा कर वह भाग निकली और कृत्याश्रम नामक बौद्ध मठ में रहने लगी । यहाँ उसने अपना नाम वज्रघण्टा रखा और भिक्षापात्र लेकर भीख माँगना शुरू किया । साथ ही वशीकरण के तावीज और वाजीकरण की जड़ी बूटियाँ बेचने का धधा भी शुरू किया । इस रूप में उसे घरों में बेरोकटोक प्रवेश करने की छूट मिल गयी और उसने खुलेआम अनाचार आरंभ किया । इस दौरान में किसी पुरुष के संसर्ग से वह गर्भवती हो गई, पर यह घटना उसके लिए कोई भारी बाधा सिद्ध नहीं हुई । नवजात बालक को जंगल में फेंककर उसने दूसरे किसी शहर की राह पकड़ी । सद्य :प्राप्त मातृत्व का भी उसने अधिक से अधिक उपयोग किया और उसके बल पर मित्रसेन नामक राजमंत्री के पुत्र की धाय के रूप में उसकी नियुक्ति हुई । यहाँ उसने कामकाज की लगन से सबके मन जीत लिये ; पर मन ही मन वह मंत्री के घर से अधिक से अधिक लाभ उठाने के मौके की फिराक में रहने लगी । एक बार बालक बीमार पड़ गया । बालक की धाय होने के कारण वैद्य ने उसे गरिष्ठ भोजन न करने की सलाह दी । परंतु बालक की तो कोई परवाह उसे थी नहीं, अत : वह खापीकर मस्त रहने लगी और उसकी बीमारी बढ़ती देखकर एक रात को, जो कुछ भी मिला उसे लेकर चंपत हो गयी ।

"अबकी बार उसे ग्रामीण जीवन का शौक लगा, अत : नागरिक बस्ती से दूर की किसी चरागाह में वह भेड़-बकरियाँ चराने का काम करने लगी । एक बार भयानक आँधी के कारण उसके सब पशु मारे गये और उसके पास एक कम्बल के सिवा और कुछ नहीं बचा । अवन्ती नगरी में आकर उसने कम्बल बेच दिया और उन पैसों से मठियारिन का धंधा करने लगी । परंतु यहाँ भी अपनी स्वभावगत चालबाजी से वह नहीं चूकी और मंदिरों में प्रसाद बँटने के बाद बची हुई बासी सामग्री को खरीद कर उसे फिर से गरम करके बेचने लगी । गृहिणियों से आटा उधार लेकर उसकी रोटियाँ बनाकर बेचने में भी उसे कोई संकोच नहीं था और धोखेधड़ी के किसी भी प्रकार से धन कमाने में उसे कोई आपत्ति नहीं थी । पर यह चालबाजी ज्यादा समय तक नहीं चल सकी । उधार लिया हुआ अनाज वापस न कर सकने के कारण उसे फिर से भेस बदलना पड़ा । अब की बार उसने कुशलिका नाम धारण करके गाँवों में घी बेचना शुरू किया । साथ ही और भी कई व्यवसाय आरंभ किये और प्रत्येक व्यवसाय के लिए अलग-अलग नाम रखे । पंजिका नाम से वह द्यूतालयों में भटकने लगी और जुआरियों को नकली मुद्राएँ और कपटद्यूत खेलने के बनावटी पासे बेचने लगी । कलिका नाम से मालिन का व्यवसाय शुरू किया और देवालयों को फूलमालाओं की पूर्ति करने का ठेका लेकर पेशगी मिली हुई रकम लेकर गायब हो गई । हिमा नाम धारण करके मेलों में ठंडा पानी बेचने लगी और मौका देखकर नर्तकियों के गहने पार करने लगी । वर्णा नाम से त्रिकालदर्शी ज्योतिषी होने का ढोंग रचा और कई विवाह जोड़े-तोड़े । भावसिद्धि नाम धारण करके उसने पास के किसी देवालय में कुटनखाना स्थापित किया और अनुभवहीन वेश्याओं को शिक्षा देने का काम आरंभ किया । इसके बाद अपने शरीर में देवी-देवता प्रकट होने का पाखंड खड़ा किया, और मंत्र-तंत्र-तावीज आदि देकर भोले ग्रामीणों को जी भर कर ठगा । धार्मिक मेलों में वह कला नाम धारण करके मद्यालय खोलती थी और मदिरा के नशे से बेहोश हो जाने वाले ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुएँ चुरा लेती थी ।

''यहाँ से वह पंचालधारा के मठ में पहुँची और बिंबादेवी नाम से कुलस्त्री का स्वाँग धारण करके कुछ दिनों तक रही । इसके बाद सत्यवती नामक विदुषी ब्राहमणी के रूप में उसने विदेशों की यात्रा की, और अनेक समुद्रों एवं अनेक द्वीपों का अनुभव प्राप्त किया । कहीं योगविद्या की जानकार के रूप में, कहीं व्रत-उपवास करने वाली साध्वी के रूप में, कहीं पृथ्वीप्रदिक्षणा करने वाली संन्यासिनी के रूप में और कहीं जादूगरनी या ज्योतिषी के रूप में उसने लोगों को ठगा । राजमहल भी उसके संचार से मुक्त नहीं थे । एक बार उसने किसी राजा के सामने डींग हाँकी कि मंत्रबल से वह शत्रु के सैनिकों को पाषाण-प्रतिमा बना सकती है । इसके बदले में राजा से मुँहमांगा इनाम वसूल करके वह सेना के आगे आगे चली पर युद्ध आरंभ होते ही कौन जीता और कौन हारा इसकी चिंता किये बिना रणभूमि से गायब हो गयी । इसके बाद उसने एक हजार वर्ष की उम्र की साध्वी होने का पाखंड रचा और सीधे साधे ग्रामीणों को जी भर कर लूटा । आजकल वह इस नगर में ही रह रही है और तू चाहे तो मैं उससे तेरी मुलाकात करवा सकता हूँ ।''

चतुर नापित ने यहाँ अपनी कहानी समाप्त कर दी । पढ़ने वाला आश्चर्यचकित हो जाता है कि मर्त्य मनुष्य की छोटी सी जिंदगी में, अबला कहलाने वाली स्त्री इतने विविध अनुभव कैसे प्राप्त कर सकती है । इसके दसवें भाग के अनुभवों से युक्त किसी भी स्त्री या पुरुष को गणिकाओं का ही नहीं, चोर-डाकुओं और ठगों का गुरु स्थान भी बिना किसी स्पर्धा के मिल सकता है । अनुभवों की खान जैसी इस स्त्री को कुट्टनी के रूप में प्राप्त कर सकने की आशा से कलावती के मुँह में पानी आ गया और उसने नाई से उसे बुला लाने की बिनती की । नाई ने, जैसा कि उचित था, शुरू में तो हीला-हवाला किया और कहने लगा कि इतने बहुरूपी और बहुरंगी जीवन के बाद उसे पहचान सकना आसान बात नहीं थी । परंतु जन्मभूमि का मोह उसे इस नगर में खींच लाया है, और उसक ललाट पर गोदे हुए नाम से उसने उसे पहचान लिया है । ऐसी परम अनुभवी स्त्री कुट्टनी के रूप में मिले तो किसी भी गणिका के भाग्य की दिशा बदल सकती है ऐसा एहसान कलावती पर लादते हुए चतुर नापित इस परम विदुषी स्त्री की तलाश में निकला ।

इसके बाद, तीसरे प्रकरण में क्षेमेन्द्र ने वेश्याओं के मोहल्ले का अत्यंत वास्तविक दर्शन कराया है । कुट्टनी की तलाश में कंक को इसी रास्ते से गुजरना पड़ा था । आकाश में अष्टमी का अर्धचन्द्र शोभायमान हो रहा था । आरंभ में ही, उसकी तुलना मारपीट के दौरान में जमीन पर गिर पड़ने वाले किसी गणिका के कर्णफूल से करके कवि ने आगामी विषय की सूचना दे दी है । रात्रि में इन मोहल्लों में शौकीनों की भीड़ लग जाना स्वाभाविक बात थी । मद्यालयों में भी लोगों के झुंड के झुंड दिखाई दे रहे थे । कुट्टनियाँ ग्राहकों की तलाश में इधर-उधर भटक रही थीं । गणिकाएँ अपने कोठों के खिड़की बरामदों में खड़ी दिन में आने वाले प्रेमियों से प्राप्त थकान को अंगड़ाइयों से झाड़-झटक कर रात को आने वाले प्रेमियों के स्वागत की तैयारी कर रही थीं । चारों ओर सुंदर वस्त्रों की तड़क-भड़क, मणिमालाओं की चमक-दमक और नूपुरों की झनक-झनक से कामदेव की अगवानी की तैयारियाँ हो रही थी । रास्ते से गुजरते हुए कंक के कानों में गणिकाओं के वार्तालाप के कुछ बिखरे हुए वाक्यों की भनक पड़ रही थी । एक गणिका दूसरी से कह रही थी : ''तूने उस सेठ से रातभर के पैसे वसूल किये थे ; फिर उसके चले जाने पर दूसरे आदमी को बुलाकर दोबारा रकम क्यों वसूल की ?'' कहीं दो पुरुषों के बीच किसी विशिष्ट गणिका के उपभोग को लेकर झगड़ा हो रहा था और इस बात का निश्चय नहीं हो पा रहा था कि गणिकालय में पहले प्रवेश किसने किया । कहीं किसी गणिका ने एक ग्राहक से सौदा तय कर लिया था और उसकी माता दूसरे ग्राहक को फाँसने की कोशिश कर रही थी । कहीं पर गणिकाओं में पुराने प्रेमियों की चर्चा हो रही थी और उनमें से जिन्होंने फिर से धन कमा लिया था उन्हें फँसाने की योजनाएँ बन रही थीं । कहीं कोई प्रेमदीवाना अपनी जीवनभर की कमाई गणिका के चरणों पर रखकर उसकी खुशामद कर रहा था । कहीं अपमान करके निकाल दिये जाने वाले ग्राहक युक्ति से गणिकालय में घुस गये थे और कुट्टनी चिल्ला-चिल्ला कर गालियाँ

देकर उन्हें बाहर निकाल रही थी । धन के लोभ से किसी का लिहाज न करने वाली स्त्री की आवाज कितनी कर्कश हो सकती है, इसका इससे बढ़कर उदाहरण मिलना मुश्किल है । किसी वेश्यालय में मद्यपान करके मतवाले हो उठने वाले पियक्कड़ों की भीड़ इतनी बढ़ गई थी कि होश में रहने वाले ग्राहकों को संतुष्ट करने के लिए वेश्या को किसी सहेली के कमरे में जाना पड़ रहा था । कहीं कोई गणिका कुट्टनी से शिकायत कर रही थी कि ''एक पुरुष को गये देर नहीं हुई कि तूने दूसरे को बुला लिया, और बिलकुल जंगली दिखाई देने वाले तीसरे को पटाने की तू कोशिश कर रही है । यह कैसे सहन किया जा सकता है ?'' कहीं किसी गणिका के यहां एक भी ग्राहक दिखाई नहीं दे रहा था, और वह थप्पड़ मार कर मुंह लाल रख रही थी कि ''चाहे जैसे ऐरे गैरे या गंवार आदमी को देहार्पण करने की अपेक्षा तो खाली बैठे रहना अच्छा है ।'' किसी स्थान पर ग्राहक से कुछ अधिक पैसे पाने की लालच में कुट्टनी उदार पुरुषों की प्रशंसा के पुल बांध रही थी और गणिका के देहप्रदर्शन से ग्राहक की इच्छा को तीव्रतर बनाने की कोशिश कर रही थी । कहीं कोई कुट्टनी आगंतुक को एक तरफ ले जाकर उसके कान में राज की बात फुसफुसा रही थी कि ''मेरी पुत्री का तो राज्य के महामात्र से रोज का संबंध है । तेरे साथ कुछ क्षणों के लिए रहने में भी खतरा है । परंतु तीन-चार गुने दाम मिलें, तो यह खतरा उठाने को वह शायद तैयार हो सकती है ।'' कहीं तीन-चार ग्राहक एक साथ आ जाने पर गणिका डींग हांक रही थी कि ''मैं तो सिर्फ-संगीत से गुजारा करती हूं । इससे आगे मैं किसी को बढ़ने नहीं देती । जिन्हें गाना सुनना हो वे बैठें, और बाकी लोग चले जायें ।'' राह चलते कंक को इसी प्रकार के वाक्य सुनाई दे रहे थे । बौद्धयुग की कलात्मक गणिकावृत्ति से इस युग की देह विक्रय-प्रधान वेश्यावृत्ति बिलकुल भिन्न दिखाई देती है । इस पूरे वर्णन से और कुछ न सही, पर यह स्थापित अवश्य होता है कि उस युग में भी सस्ती किस्म की वेश्याओं के मुहल्लों का वातावरण आज की स्थिति से विशेष भिन्न नहीं था ।

चौथे प्रकरण में कंक उस अनुभवी कुट्टनी को ढूंढकर कलावती के घर ले आता है । मातृका के बाह्य रूपरंगका जो भयावह वर्णन कविने किया है उसके ब्योरे में उतरने की आवश्यकता नहीं । क्षेमेन्द्र ने उसे'अमर्यादा की अग्नि से उत्पन्न 'धूम्रवलय' कहा है । कलावती ने उसे सम्मानपूर्वक बिठाया और चापलूसी की बातों से उसे रिझाकर उसकी पुत्री हो सकने के सौभाग्य की याचना की । इधर इस मनुष्यभक्षिणी पिशाचिनी ने कलावती के सहवास में अपनी वृद्धावस्था की सुरक्षा देखी और कुछ अहसान जताते हुए उसका मातृकापद स्वीकार कर लिया । अपनी नियुक्ति के बाद के पहले बोधपाठ के रूप में उसने गणिकाजीवन के विविध पहलुओं पर लंबा व्याख्यान दिया । संक्षेप में उसका उपदेश इस प्रकार है :—

''हे पुत्री, केवल उच्चकुल में जन्म देह सौंदर्य, या ज्ञान क बल पर धन प्राप्त नहीं होता । धन केवल बुद्धि से प्राप्त किया जा सकता है । दुनिया में मूर्ख लोगों की कमी नहीं है, और अर्धदग्ध लोग त मूर्खों से भी ज्यादा खतरनाक होते हैं । वे ब्रह्मा की सृजनशक्ति विष्णु की योग्यता, शिव की संहारशक्ति और सरस्वती की बुद्धि पर भी संदेह कर सकते हैं । परंतु स्त्री के लिए, और विशेष तौर से गणिका के लिए तो पुरुष की मूर्खता प्रकृति की सबसे बड़ी देन है । दुनिया में मूर्ख पुरुष न हों, तो स्त्री की मोहिनी और चतुराई किसी काम की नहीं । मूर्खों की मूर्खता की बुनियाद पर ही गणिका-व्यवसाय की सफलता की इमारत खड़ी की जा सकती है । मैं तुझे अपने ही जीवन की एक घटना सुनाती हूँ । युवावस्थामें एक ब्राह्मणपुत्र मुझसे प्रेम करता था । एक रात को मैंने उसे बुलाया, और साधारण मूल्य स चार गुना धन उससे पेशगी वसूल कर लिया । इसके बाद सारी रात उसे बातों में ही फँसाये रखा और भोर होते ही, प्राप्त धन के बदले में केवल एक चुंबन देकर बिदा कर दिया । हे सुभगे, मूर्ख पुरुषों का धन उनकी जेब से निकाल अपनी जेब में डालने, में ही गणिकाजीवन का सारसर्वस्व समाया हुआ है । छल, कपट और झूठ के बिना गणिका एक दिन भी जीवित नहीं रह सकती । उसके धंधे के साथ सत्य का मेल ही नहीं खाता । जीवन के अन्य व्यवहारों में जिस तरह असत्य निष्फल सिद्ध होता है, उसी तरह गणिका-व्यवसाय में सत्य निष्प्रभ प्रमाणित होता है । परंतु झूठ को भी बुद्धि के सहारे खड़ा करना चाहिये । सूझबूझ और समझदारी

का नाम ही दुनियादारी है । दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि देह व्यापार कुछ वर्षों तक सीमित मौसमी धंधा है । इसमें हो सके उतनी जल्दी से जीवनभर के लिए धन कमाना पड़ता है । गणिका के लिए यौवन और सौंदर्य ही धनप्राप्ति के साधन हैं और ये दोनों अनश्वर तो क्या चिरस्थायी भी नहीं । बसंत की बहार की तरह रूपयौवन पलक झपकते ही लुप्त हो जाते हैं, और रह जाती है केवल देह की ठठरी जिसमें पेट सब से प्रधान हो उठता है । चार दिनों की चाँदनी बेमालूम बीत जाती है और बाद की लंबी अँधेरी रात काटे नहीं कटती । अत : नश्वर सौंदर्य और क्षणिक यौवन को हो सके वहाँ तक बनाये रखना चाहिये और उसके रहते अधिक से अधिक धनसंग्रह कर लेना चाहिये ।''

इस खरे-खरे उपदेश का कलावती पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और उसने वृद्धा से त्वरित धनप्राप्ति के उपायों का वर्णन करने की प्रार्थना की । यह शिक्षा पाँचवें परिच्छेद में दी गयी है । कुट्टनी के मतानुसार ''गणिकाको सबसे पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि प्रेमी का उसके प्रति लगाव किस कोटि का है । उसके मोह की तीव्रता पर ही उसे आमंत्रित करने या दुत्कार देने की बात निर्भर करती है । प्रेमी की आर्थिक कक्षा और उसके प्रेम की उत्कटता का निश्चय हो जाने के बाद ही उसे फाँसने का जाल फैलाया जा सकता है । इसमें अनेक मित्रों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है । सहायकों के अभाव में प्रेमी की संपत्ति, आय, प्रतिष्ठा और उसके गुणावगुणों की सही-सही जानकारी मिलना मुश्किल है । यह सहायक प्रेमी के मित्रों में से भी चुने जा सकते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें खुश करने के लिए देहार्पण करना पड़े, तो भी कोई हर्ज नहीं । गणिकाओं को यथासंभव निम्नोक्त वर्गों के प्रेमी ही पसंद करने चाहिये :—

१. धनवान नागरिकों के इकलौते पुत्र ।
२. पिता का घर छोड़कर चले जाने वाले नवयुवक ।
३. बुद्धिहीन राजा के निकटवर्ती परामर्शदाता और अधिकारी ।
४. स्त्रियों का प्रेम अर्जित करने के लिए मित्रों से स्पर्धा करने वाले धनिक ।
५. सदा बीमार रहनेवाले रईसों की चिकित्सा करने वाले वैद्य ।
६. किसी प्रसिद्ध विद्वान या शूर सेनापति का पुत्र ।
७. छिपकर कामाचार करने वाले महंत ।
८. हमेशा चापलूसों से घिरे रहने वाले मूर्ख राजपुत्र ।
९. किसी ब्राहमण का विद्वान पुत्र, जो पढ़ा तो हो पर गुना न हो ।
१०. विवाहिता स्त्री से प्रेम करने वाले व्याभिचारी ।
११. निश्चित आमदनी वाले गवैये, वाद्यकार और कलाकार ।
१२. धनिक सार्थवाह ।
१३. ज्ञानी होने का आडंबर करने वाले मूर्ख रईस ।
१४. दूसरों का अनुकरण करने वाले बुद्धिहीन धनिक ।
१५. ज्ञान-विज्ञान की किसी भी शाखा में पारंगत विद्वान ।
१६. मद्यप ।



फहरिश्त कुछ बेतरतीब दिखाई देती है, पर है वास्तविक । बीमार रईसों की चिकित्सा करने वाले वैद्यों का समावेश करके लेखक ने दुनियादारी के गहन ज्ञान का परिचय दिया है । आज भी गणिका-व्यवसाय को फलाफूला रखने वाले लोग अधिकतर इन्हीं वर्गों से आते हैं ।

इसके बाद वांछित प्रेमियों को आकर्षित करने के और निर्धन होते ही अवांछनीय हो उठने वाले ग्राहकों को टालने के उपायों का वर्णन हुआ है जो वात्स्यायन द्वारा सूचित योजनाओं से अत्यंत मिलता-जुलता है । घन समाप्त होते ही प्रेमी को चूसी हुई गँडेरी की तरह फेंक देने की राय दी गई है । साँप जिस तरह केंचुली उतार कर फेंक देता है, उसी प्रकार गणिका को धनहीन प्रेमी का बिना किसी ममत्व के त्याग कर देना चाहिये और हर हालत में स्वार्थ को ही प्राधान्य देना चाहिये इत्यादि बेशकीमत सलाहें दी गई हैं । इसकेबाद कुछ विषयांतर का खतरा मोल लेकर क्षेमेन्द्र ने अपने कवित्व का परिचय देने के लिए प्रकृतिवर्णन किया है । परंतु इस वर्णन की प्रत्येक उपमा-उत्प्रेक्षा विषय के अनुकूल पायी जाती है । उदाहरण के लिए दो-तीन वाक्य ही पर्याप्त होंगे :— ''थके हुए धनहीन प्रेमी को गणिका जिस तरह बाहर निकाल देती है उसी प्रकार रजनीरमणी निस्तेज चंद्र को आकाशप्रांगण से बाहर निकाल रही थी ।'' जिस प्रकार फिर से संपत्ति प्राप्त कर लेने वाले प्रेमी का गणिका आदर-सत्कार करती है, उसी प्रकार नवोदित सूर्य के स्वागत में ऊषा बाँहें पसारे खड़ी थी ।'' ''भोर होते ही गणिकागामी लोग गणिकालयों से इस प्रकार विदा हो रहे थे मानो हारा हुआ जुआरी द्यूतालय से भाग रहा हो ।'' . . . . इत्यादि ।

कलावती को दिये गये उपदेश के समय चतुर नापित वहीं उपस्थित था । अत : भोर होते ही वह कलावती के लिए ग्राहकों की तलाश में निकल पड़ा । इस अभियान का और गणिकालयों से निकलने वाले गणिकागामियों का अत्यंत वास्तविक वर्णन इसके बाद के परिच्छेद में हुआ है । यथा : ''नलिनी के कोठे से उतरने वाले उस लीलाशिव को देखो । पश्चात्ताप से सिर नीचा करके, कोई देख न सके ऐसी गलियों से भाग रहा है ।'' ''भद्रा के घर से निकलने वाले उस वकील को देखिये । मुवक्किलों की अमानत लुटाकर भागा जा रहा है ।'' ''उस निकम्मे अनंतसार को देखिये । बचा खुश हो रहे हैं कि रातभर वसंतसेना के साथ विहार किया । जब कि सच यह है कि शराब के नशे में रातभर औंधे मुँह पड़ा रहा और गणिका के शरीर को स्पर्श करने की भी सुध नहीं रहीं ।'' ''उस शोहदे मातंग को देखिये । तीन-चार रोज पहले बेचारी रामा के कंगन इसी ने चुराये थे । आज उन्हीं रुपयों से रामा को खुश कर रहा है और वह उन्हें कुट्टनी से छिपाने की कोशिश कर रही है ।'' ''अनंगलेखा और माधव का फिर से मेलजोल हो गया दिखाई देता है । और माधव का रौब तो देखिये । झूमते हुए आगे बढ़ रहा है और शराब की सुराही लिये नौकर पीछे-पीछे चल रहा है ।'' ''कल रात को मल्लिका और अर्जुन का झगड़ा समाप्त हो गया लगता है । अब बेटा अर्जुन का रेशमी साड़ी दिये बिना छुटकारा नहीं ।'' ''उस मूर्ख गवैये को देखिये । काननबाला के पैरों पड़ रहा है । मालूम देता है कि शराब पीकर रात को कुछ तोड़-पछाड़ की है, और अब उसकी कीमत चुकाकर बाला को खुश करने की कोशिश कर रहा है ।'' ''नंदा के दरवाजे पर खड़े हुए उस बेवकूफ शंभु सेठ को देखिये । कल रात कहाँ गायब रही इसकी सफाई देकर नंदा उसे उल्लू बना रही है ।'' ''पिता की तिजोरी तोड़कर जेवरात चुराने वाला मदन रात को मृणालिनी के कोठे पर रहा था । चोर और चोरी का माल ढूंढने के लिए दंडाधिकारी आये हैं, पर दोनों में से एक भी चीज मिलने की नहीं ।'' ''उस तरफ देखिये ; रमणी और मलय का झगड़ा हो रहा है । अब रत्नहार दिये बिना मलय का छुटकारा नहीं ।'' ''उस तरफ उस बगुला-भगत शंबरसार को देखिये । महात्मा होने का ढोंग करता है और सींग कटाकर बछड़ों में मिल रहा है । उसके बाल काले दिखाई दे रहे हैं, पर धोखा मत खाइये, खिजाब लगाया हुआ है । चेहरे की झुर्रियाँ बता रही हैं कि खूसट की उम्र क्या होगी । योगा गणिका के कोठे पर महात्माजी शायद योगसमाधि लगाने गये थे ।'' ''उस स्वर्ण कंकणधारी राजपुरुष को देखा ? उसकी पिचकी नाक उसके महाकामी होने की सूचना दे रही है । सुना है कि वह मालवराज का प्रतिनिधि है ।'' ''उस तरफ उस बदमाश श्रीगुप्त को देखिये । पक्का मक्कार है । कुट्टनी को क्या झुक-झुक कर नमस्कार कर रहा है ।''

इस बहुरंगी मेले में से एक युवक की ओर कंक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ । कलावती को अपने साथ लाकर उसे दिखाया और बोला, ''उस शंखसुत पंक को ध्यान से देख । उसके पिता ने बेशुमार संपत्ति संचित की है । बूढ़ा पक्का मक्खीचूस है ; पर कंजूस के लड़के शाहखर्च हों, यह शायद प्रकृति का नियम है । और यह लड़का तो परले सिरे का मूर्ख भी है । तू बड़ी भाग्यवती है । सोने के अलंकारों से उसकी देह चमचमा रही है और शरीर पर सोने की ऊन धारण करने वाले अजापुत्र की तरह वह तेरे हाथों बलि होने के लिए आया है । तेरा शिकार बनने के लिए इस भीड़ में वही सबसे योग्य है ।'' कलावती ने उसे ध्यान से देखा और बोली, ''बौखलाहट के कारण और भी अधिक मूर्ख दिखाई देने वाला यह सोने का थैला ही ठीक रहेगा । उसे फाँसना भी आसान होगा और फाँसे बाद चूसना भी सरल होगा ।" कुदरत ने शायद उसे मेरे लिए ही चुनकर भेजा है ।'' इसके बाद वृद्ध मातृका ने कंक से कहा, ''अरे कंक, जल्दी जा और उसे फाँस कर ला । देख रहा है न कि उसके चारों ओर कितने विट, दलाल और साजिंदे घूम रहे हैं । और कोई उसे भरमाये उससे पहले तू वहाँ पहुँच जा और जैसे भी हो सके, उसे फुसला कर ला ।'' कंक तरंत ही इस शुभकार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाकर चल दिया ।

सातवें प्रकरण में पंक को वश में करने के प्रयोग आरंभ होते हैं । अलंकारों से लदा हुआ पंक रात को हाजिर होता है । उसके साथ उसके सात चापलूस मित्र भी आते हैं । ऐयाश रईसों के इर्द गिर्द इस प्रकार के मुफ्तखोरों की भीड़ लगी ही रहती है । परंतु इन सातों के विभिन्न व्यवसायों का वर्णन करने में कवि ने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है । कंकाली नाम धारण करके मातृका पहले तो इन साथियों



की प्रशंसा करती है पर बाद में उन्हें टरकाने की कोशिश करती है । उन्हें दिल खोलकर शराब पिलायी जाती है और शीघ्र ही वे बहकने लगते हैं । उनमें से एक सेनाधिकारी था । वह डींग हाँकता है : ''युद्ध में मैं राजा का दाहिना हाथ हूँ ।'' दूसरा लेखनिक था । वह कहता है : 'पूरा राज्य मेरी कलम के इशारे पर चलता है ।'' तीसरा नट था । उसे भी अपनी योग्यता का कम अभिमान नहीं । वह कहता है : ''रंगभूमि पर मेरा प्रवेश होते ही नाट्यकला मेरे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती है ।'' चौथा व्यापारी था । वह भी किसी से कम नहीं क्योंकि उसके यहाँ सोने की ईटें गुड़ की भेलियों की तरह तोली जाती थीं । पाँचवाँ ज्योतिषी था । उसके मतानुसार स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल, तीनो लोकों का संचालन उसीके गणित के आधार पर होता था । छठा वैद्य था जिसने भोज से लगाकर न मालूम कितने राजा-महाराजाओं की जाने बचायी थीं । सातवाँ कवि था । उसे तो कल्पना लोक में मुक्त विहार करने का जन्मसिद्ध अधिकार था । उसका दावा था कि उसकी कविता की बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सराहना करते हैं और उसकी अनुपस्थिति में काव्य साहित्य की गोष्ठियों में रंग जम ही नहीं सकता ।

इस प्रकार शराब के नशे से बहका कर और पानसुपारी से खातिर करने के बाद, एक-एक करके इन सातों निकम्मों को खिसका दिया गया और कलावती के साथ पंक की रतिक्रीड़ा शुरू हुई । परंतु उसे यह मालूम नहीं था कि एक रात्रि का सुख उसे भिखारी बना कर छोड़ेगा । शनै : शनै : कंकाली ने पंक को उसके मित्रों से अलग कर दिया । फिर उसे पिता के घर से बहुत सा धन और स्वर्णालंकार चुराने को प्रेरित किया । इस संपत्ति को अपने काबू में कर लेने के बाद उसने आगे की योजना बनायी । हम देख ही चुके हैं कि पंक का पिता शंख दूर-दूर तक मशहूर नामी कंजूस था । कंकाली ने उससे मिलकर लखपती विधवा होने का स्वाँग भरा । कलावती उसकी इकलौती कन्या होने के नाते और पंक के साथ उसका प्रेम होने के कारण उसने अपनी पूरी संपत्ति इन दोनों के नाम करके तीर्थयात्रा को जाने का निश्चय किया है, ऐसा दिखावा किया । मुफ्त का माल मिलने की संभावना से कंजूस बूढ़े के मुँह में पानी आ गया । इतनी पूर्व तैयारी हो जाने के बाद कुट्टनी ने यात्राखर्च के लिए रुपये की आवश्यकता होने के बहाने अपने अलंकार गिरवी रखने का प्रस्ताव किया और ऐन मौके पर आभूषणों के डब्बे में गहनों के बदले पत्थर भर कर बूढ़े से क़ाफी रुपय वसूल कर लिया । दूसरी ओर पंक को कलावती के रूपयौवन से वश में करके उसकी पूरी संपत्ति अपनी पुत्री के नाम लिखवा ली और अंत में, किसी हत्यारे की तलाश करने के लिए राज्य के दंडाधिकारी उसके घर आने वाले हैं और पंक मौजूद रहा तो संदेह में उसके पकड़े जाने की संभावना है ऐसा डर दिखाकर उस मूर्ख को अकिंचन भिखारी बनाकर गणिकालय से निकाल दिया । इस प्रकार मातृका के अभाव में निराधार हो जाने वाली गणिका कुशल कुट्टनी की सहायता से अल्प समय में ही अत्यंत समृद्ध और नगर की शोभारूप बन गयी ।

'कुट्टनीमतम्' की तरह क्षेमेन्द्र के इस ग्रंथ में भी गणिकाजीवन के अनिवार्य अंग जैसी कुट्टनी का अत्यंत बारीकी से विवेचन हुआ है । 'कुट्टनीमतम्' की अपेक्षा 'समयमातृका' में कुट्टनी को अधिक प्राधान्य दिया गया है । पूरा ग्रंथ कवित्वमय है, परंतु ग्रंथकार की प्रतिभा कविता के सारे उपादान गणिकाजीवन में से ही एकत्रित करती है । उस युग में गणिकाजीवन का इतना अधिक महत्त्व और उससे संबंधित कई विचित्र बातें आज हमारी समझ में शायद न आयें, परंतु उस युग का इन ग्रंथों में बड़ा प्रामाणिक चित्रण हुआ है, इसमें कई संदेह नहीं । देह विक्रय को विशुद्ध व्यवसाय मानना चाहिये और उसमें भावकुता या नैतिकता को स्थान नहीं देना चाहिये इन दो तत्त्वों के आधार पर ही पूरे विषय का प्रतिपादन हुआ है । इस संबंध में कंकाली का एक तीखा वाक्य सदा ध्यान में रखना चाहिये कि ''जो नवयुवती गणिका भावुकता के वश होकर धनप्राप्ति की ओर दुर्लक्ष करती है उसे शीघ्र ही या तो भभूत मल कर साध्वी बनना पड़ता है, या सिर मुँडा कर भिक्खुणी ।'' क्षेमेन्द्र ने 'समय मातका' के उपरांत 'वात्स्यायनसूत्रसार' नामक ग्रंथ भी लिखा था । भारत पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय (ईसवी सन १०२९ से १०६४ के दरमियान) कश्मीर का हिंदू राज्य अत्यंत प्रबल था और उस पर चंद्रवंशी लोहार राजपूत कुल के विख्यात राजा अनंतराज का शासन था । अनंतराज और उसकी रानी सूर्यमती अत्यंत न्यायी और प्रजावत्सल शासक थे । धर्म पर उनकी प्रबल श्रद्धा थी और कश्मीर पर होने वाले मुसलमानों के कई आक्रमणों को उन्होंने सफलतापूर्वक मार हटाया था । क्षेमेन्द्र इसी राजा का दरबारी कवि था जिसने अभिनवगुप्त से काव्य और अलंकारशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था । क्षेमेन्द्र की रचनाओं में शैव और वैष्णव, दोनों मार्गों के प्रभाव दिखाइ दंत हैं । उसक बत्तीस ग्रथ हं जिनमें से उपरोक्त दो यौनविज्ञान संबंधी हैं । 'समयमातका' को तो कुट्टनियों की मार्गदर्शिका कहा जा सकता है ।

३
इस युग के अन्य ग्रंथ

इसी अरसे में पद्मश्री नामक बौद्ध भिक्खु ने 'नागरसर्वस्वम्' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें 'कुट्टनीमतम्' का उल्लेख मिलता है । इसके बाद की अधिकांश रचनाओं में केवल गणिकाजीवन का ही नहीं बल्कि समग्र कामशास्त्र का विवेचन मिलता है । इसमें से 'रतिरहस्य' और 'अनंगरंग' उल्लेखनीय हैं । 'रतिरहस्य' बाद के युगों में 'कोकशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और भारत की अनेक भाषाओं में अनुवादित होकर कामशास्त्र का प्रधान ग्रंथ माना गया । इसकी प्रसिद्धि इस हद तक बढ़ी कि आज इस नाम के अंतर्गत यौनविज्ञान की कोई भी अच्छी-बुरी रचना खप सकती है । उत्तर और पश्चिम भारत की कई भाषाओं में तो 'कामशास्त्र और 'कोकशास्त्र' पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं । इसके रचयिता कोक पंडित की जीवनी उल्लेखनीय है । शांतिदेव राजा का पुत्र शंभुसिंह और उनके प्रधान दीनानाथ का पुत्र कामनाथ परम मित्र थे । शंभुसिंह के गद्दी पर बैठने पर कामनाथ प्रधान हुआ । कामनाथ का कंठ कोकिला की तरह सुरीला था, अत : उसे कोक पंडित भी कहते थे । उसके संबंध में कई किवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनमें की एक कोकशास्त्र की रचना से संबंधित है । कोकपंडित विदेशयात्रा के अत्यंत शौकीन थे और यात्रा में विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के भी कायल थे । इन अनुभवों के सहारे उन्हें देशविदेश की सुंदरयों और उनकी यौन विशिष्टताओं की गहन जानकारी प्राप्त हुई थी । एक बार सिंहलद्वीप की कुछ सुंदरियाँ कश्मीर नरेश को भेंट मिलीं । इन सुंदरियों को लेकर बचपन के साथी राजा और प्रधान में कुछ वैमनस्य उत्पन्न हो गया जिसके परिणाम स्वरूप कोक पंडित को जेल की हवा खानी पड़ी । एक बार इन सुंदरियों में से एक अत्यंत लावण्यवती नवयौवना विवस्त्र होकर राजसभा में जा खड़ी हुई । स्वाभाविक रूप से सबको इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसकी लानत-मलामत की गई कि पुरुषों की सभा में उसका इस प्रकार आना योग्य नहीं हुआ । परंतु उस सुंदरी ने जवाब दिया कि ''इस सभा में मुझे तो एक भी पुरुष दिखाई नहीं देता, और जब तक पूर्णपुरुष के दर्शन न हों, मैं देह ढँकने का प्रयत्न किस लिए करूँ ?''

सारी सभा सन्नाटे में आ गई पर पूरी पुरुषजाति को चुनौती देने वाली इस निर्लज्ज कामातुरा का मुकाबला करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई । राजा को अपने रसिकशिरोमणि और सकलशास्त्र प्रवीण मित्र कोक पंडित की याद आयी और उन्हें तुरंत कारागृह से मुक्त किया गया । कामोन्मादभरी इस युवती को अपने पुरुषत्व का परचा देने का बीड़ा उठा कर ही वे दरबार में आये । युवती ने भी इस चुनौती का स्वीकार किया और कोकपंडित के साथ रहकर उनके पौरुष की परीक्षा आरंभ की । चतुरंग के खेल से आरंभ करके चतुर संभाषण के सहारे दोनों वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित कामोपचार की एक-एक श्रेणी चढ़ते गये । हर सोपान पर कोकपंडित का प्रावीण्य अधिकाधिक स्पष्ट होता गया, पर केवल पूर्णपुरुष के ही वश में होने का दृढ निश्चय कर बैठने वाली इस कामनिपुणा को परास्त करना आसान नहीं था । धीरे-धीरे वाक्पटुता, धृष्टता और कामशास्त्रोक्त आक्रमण-प्रत्याक्रमण और व्यूहरचना के सहारे वे एक ऐसी भूमिका पर पहुँचे कि अभिमानिनी स्त्री कोकपंडित के पौरुष के सामने निरुपाय हो गयी । पूर्णतया पराजित होकर आत्मसमर्पण के चिह्न उसके मुख पर प्रकट होते ही रतिशास्त्र-विशारद कोकपंडित ने उसे और भी कामविह्वल करने के हेतु से उसके उत्तुंग उरोजों में सुई चुभा दी । इस सूक्ष्म पीड़ा ने मदमाती कामिनी के कामावेश को दुर्दम्य बना दिया और उसने लजाकर देह ढँकने की कोशिश की । राजा के समक्ष भी उसने अपनी पराजय कबूल की और कोक पंडित में पूर्णपुरुषत्व का अस्तित्व मान्य किया । इससे प्रसन्न होकर राजा ने अपने मित्र को सिंहलद्वीप की सभी सुंदरियाँ भेंट कर दीं और उन्हें उनके पुराने पद पर बहाल किया । बाद में, कामशास्त्र के इस प्रकांड पंडित ने 'रतिरहस्य' नामक कामविज्ञान के अद्भुत ग्रंथ की रचना की ।

यह कहानी सच्ची हो या कपोलकल्पित, आज के यौन-मनोविश्लेषण के कई सिद्धांतों की इससे

इस प्रकार शराब के नशे से बहका कर और पानसुपारी से खातिर करने के वाद, एक-एक करके इन सातों निकम्मों को खिसका दिया गया और कलावती के साथ पंक की रतिक्रीड़ा शुरू हुई । परंतु उसे यह मालूम नहीं था कि एक रात्रि का सुख उसे भिखारी बना कर छोड़ेगा । शनै : शनै : कंकाली ने पंक को उसके मित्रों से अलग कर दिया । फिर उसे पिता के घर से बहुत सा धन और स्वर्णालंकार चुराने को प्रेरित किया । इस संपत्ति को अपने काबू में कर लेने के बाद उसने आगे की योजना बनायी । हम देख ही चुके है कि पंक का पिता शंख दूर-दूर तक मशहूर नामी कंजूस था । कंकाली ने उससे मिलकर लखपती विधवा होने का स्वाँग भरा । कलावती उसकी इकलौती कन्या होने के नाते और पंक के साथ उसका प्रेम होने के कारण उसने अपनी पूरी संपत्ति इन दोनों के नाम करके तीर्थयात्रा को जाने का निश्चय किया है, ऐसा दिखावा किया । मुफ्त का माल मिलने की संभावना से कंजूस बूढ़े के मुँह में पानी आ गया । इतनी पूर्व तैयारी हो जाने के बाद कुट्टनी ने यात्राखर्च के लिए रुपये की आवश्यकता होने के बहाने अपने अलंकार गिरवी रखने का प्रस्ताव किया और ऐन मौके पर आभूषणों के डब्बे में गहनों के बदले पत्थर भर कर बूढ़े से काफी रुपय वसूल कर लिया । दूसरी ओर पंक को कलावती के रूपयौवन से वश में करके उसकी पूरी संपत्ति अपनी पुत्री के नाम लिखवा ली और अंत में, किसी हत्यारे की तलाश करने के लिए राज्य के दंडाधिकारी उसके घर आने वाले हैं और पंक मौजूद रहा तो संदेह में उसके पकड़े जाने की संभावना है ऐसा डर दिखाकर उस मूर्ख को अकिंचन भिखारी बनाकर गणिकालय से निकाल दिया । इस प्रकार मातृका के अभाव में निराधार हो जाने वाली गणिका कुशल कुट्टनी की सहायता से अल्प समय में ही अत्यंत समृद्ध और नगर की शोभारूप बन गयी ।

'कुट्टनीमतम्' की तरह क्षेमेन्द्र के इस ग्रंथ में भी गणिकाजीवन के अनिवार्य अंग जैसी कुट्टनी का अत्यंत बारीकी से विवेचन हुआ है । 'कुट्टनीमतम्' की अपेक्षा 'समयमातृका' में कुट्टनी को अधिक प्राधान्य दिया गया है । पूरा ग्रंथ कवित्वमय है, परंतु ग्रंथकार की प्रतिभा कविता के सारे उपादान गणिकाजीवन में से ही एकत्रित करती है । उस युग में गणिकाजीवन का इतना अधिक महत्त्व और उसमे संबंधित कई विचित्र बातें आज हमारी समझ में शायद न आयें, परंतु उस युग का इन ग्रंथों में बड़ा प्रामाणिक चित्रण हुआ है, इसमें कई संदेह नहीं । देह विक्रय को विशुद्ध व्यवसाय मानना चाहिये और उसमें भावकुता या नैतिकता को स्थान नहीं देना चाहिये इन दो तत्त्वों के आधार पर ही पूरे विषय का प्रतिपादन हुआ है । इस संबंध में कंकाली का एक तीखा वाक्य सदा ध्यान में रखना चाहिये कि ''जो नवयुवती गणिका भावुकता के वश होकर धनप्राप्ति की ओर दुर्लक्ष करती है उसे शीघ्र ही या तो भभूत मल कर साध्वी बनना पड़ता है, या सिर मुँडा कर भिक्खुणी ।'' क्षेमेन्द्र ने 'समय मातृका' के उपरांत 'वात्स्यायनसूत्रसार' नामक ग्रंथ भी लिखा था । भारत पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय (ईसवी सन १०२९ से १०६४ के दरमियान) कश्मीर का हिंदू राज्य अत्यंत प्रबल था और उस पर चंद्रवंशी लोहार राजपूत कुल के विख्यात राजा अनंतराज का शासन था । अनंतराज और उसकी रानी सूर्यमती अत्यंत न्यायी और प्रजावत्सल शासक थे । धर्म पर उनकी प्रबल श्रद्धा थी और कश्मीर पर होने वाले मुसलमानों के कई आक्रमणों को उन्होंने सफलतापूर्वक मार हटाया था । क्षेमेन्द्र इसी राजा का दरबारी कवि था जिसने अभिनवगुप्त से काव्य और अलंकारशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था । क्षेमेन्द्र की रचनाओं में शैव और वैष्णव, दोनों मार्गों के प्रभाव दिखाइ देत हैं । उसक बत्तीस ग्रथ हैं जिनमें से उपरोक्त दो यौनविज्ञान संबंधी हैं । 'समयमातृका' को तो कुट्टनियों की मार्गदर्शिका कहा जा सकता है ।



३
इस युग के अन्य ग्रंथ

इसी अरसे में पद्मश्री नामक बौद्ध भिक्खु ने 'नागरसर्वस्वम्' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें 'कुट्टनीमतम्' का उल्लेख मिलता है । इसके बाद की अधिकांश रचनाओं में केवल गणिकाजीवन का ही नहीं बल्कि समग्र कामशास्त्र का विवेचन मिलता है । इसमें से 'रतिरहस्य' और 'अनंगरंग' उल्लेखनीय हैं । 'रतिरहस्य' बाद के युगों में 'कोकशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और भारत की अनेक भाषाओं में अनुवादित होकर कामशास्त्र का प्रधान ग्रंथ माना गया । इसकी प्रसिद्धि इस हद तक बढ़ी कि आज इस नाम के अंतर्गत यौनविज्ञान की कोई भी अच्छी-बुरी रचना खप सकती है । उत्तर और पश्चिम भारत की कई भाषाओं में तो 'कामशास्त्र और 'कोकशास्त्र' पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं । इसके रचयिता कोक पंडित की जीवनी उल्लेखनीय है । शांतिदेव राजा का पुत्र शंभुसिंह और उनके प्रधान दीनानाथ का पुत्र कामनाथ परम मित्र थे । शंभुसिंह के गद्दी पर बैठने पर कामनाथ प्रधान हुआ । कामनाथ का कंठ कोकिला की तरह सुरीला था, अत : उसे कोक पंडित भी कहते थे । उसके संबंध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनमें की एक कोकशास्त्र की रचना से संबंधित है । कोकपंडित विदेशयात्रा के अत्यंत शौकीन थे और यात्रा में विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के भी कायल थे । इन अनुभवों के सहारे उन्हें देशविदेश की सुंदरयों और उनकी यौन विशिष्टताओं की गहन जानकारी प्राप्त हुई थी । एक बार सिंहलद्वीप की कुछ सुंदरियाँ कश्मीर नरेश को भेंट मिलीं । इन सुंदरियों को लेकर बचपन के साथी राजा और प्रधान में कुछ वैमनस्य उत्पन्न हो गया जिसके परिणाम स्वरूप कोक पंडित को जेल की हवा खानी पड़ी । एक बार इन सुंदरियों में से एक अत्यंत लावण्यवती नवयौवना विवस्त्र होकर राजसभा में जा खड़ी हुई । स्वाभाविक रूप से सबको इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसकी लानत-मलामत की गई कि पुरुषों की सभा में उसका इस प्रकार आना योग्य नहीं हुआ । परंतु उस सुंदरी ने जवाब दिया कि ''इस सभा में मुझे तो एक भी पुरुष दिखाई नहीं देता, और जब तक पूर्णपुरुष के दर्शन न हों, मैं देह ढंकने का प्रयत्न किस लिए करूँ ?''

सारी सभा सन्नाटे में आ गई पर पूरी पुरुषजाति को चुनौती देने वाली इस निर्लज्ज कामातुरा का मुकाबला करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई । राजा को अपने रसिकशिरोमणि और सकलशास्त्र प्रवीण मित्र कोक पंडित की याद आयी और उन्हें तुरंत कारागृह से मुक्त किया गया । कामोन्मादभरी इस युवती को अपने पुरुषत्व का परचा देने का बीड़ा उठा कर ही वे दरबार में आये । युवती ने भी इस चुनौती का स्वीकार किया और कोकपंडित के साथ रहकर उनके पौरुष की परीक्षा आरंभ की । चतुरंग के खेल से आरंभ करके चतुर संभाषण के सहारे दोनों वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित कामोपचार की एक-एक श्रेणी चढ़ते गये । हर सोपान पर कोकपंडित का प्रावीण्य अधिकाधिक स्पष्ट होता गया, पर केवल पूर्णपुरुष के ही वश में होने का दृढ निश्चय कर बैठने वाली इस कामनिपुणा को परास्त करना आसान नहीं था । धीरे-धीरे वाक्पटुता, धृष्टता और कामशास्त्रोक्त आक्रमण-प्रत्याक्रमण और व्यूहरचना के सहारे वे एक ऐसी भूमिका पर पहुँचे कि अभिमानिनी स्त्री कोकपंडित के पौरुष के सामने निरुपाय हो गयी । पूर्णतया पराजित होकर आत्मसमर्पण के चिह्न उसके मुख पर प्रकट होते ही रतिशास्त्र-विशारद कोकपंडित ने उसे और भी कामविह्वल करने के हेतु से उसके उत्तुंग उरोजों में सुई चुभा दी । इस सूक्ष्म पीड़ा ने मदमाती कामिनी के कामावेश को दुर्दम्य बना दिया और उसने लजाकर देह ढंकने की कोशिश की । राजा के समक्ष भी उसने अपनी पराजय कबूल की और कोक पंडित में पूर्णपुरुषत्व का अस्तित्व मान्य किया । इससे प्रसन्न होकर राजा ने अपने मित्र को सिंहलद्वीप की सभी सुंदरियाँ भेंट कर दीं और उन्हें उनके पुराने पद पर बहाल किया । बाद में, कामशास्त्र के इस प्रकांड पंडित ने 'रतिरहस्य' नामक कामविज्ञान के अद्भुत ग्रंथ की रचना की ।

यह कहानी सच्ची हो या कपोलकल्पित, आज के यौन-मनोविश्लेषण के कई सिद्धांतों की इससे

पुष्टि होती है । सिंहली सुंदरी के प्रबल कामोन्माद में स्त्री की सतत अतृप्त रहने वाली कामवासना के ही नहीं बल्कि पूर्णपुरुष की तलाश में रहनेवाले चिरतृषित स्त्रीत्व के भी दर्शन होते हैं । इस स्तर पर पहुँच कर वासना लज्जा और मर्यादा की सभी सीमाओं को तोड़ देती है । हॅवलॉक ॲलिस द्वारा प्रतिपादित 'लज्जा द्वारा कामप्राकट्य' के सिद्धान्त का और स्वपीडन एवं परपीडन से मिलने वाले कामसुख का भी इस दृष्टांत से समर्थन होता है । एक और ध्यान खींचने वाली बात यह है कि कोकशास्त्र की रचना शिवपार्वती के संवाद के रूप में हुई है । प्राचीन भारतीय विचारधारा में कामशास्त्र को ज्ञान की कितनी पवित्र शाखा माना जाता था, इसका इससे स्पष्ट निर्देश होता है ।

'अनंगरंग' की रचना कल्याणमल्ल नामक कवि ने अपने आश्रयदाता अहमदखाँ लोदी के पुत्र लाडखाँ के लिए की थी । अहमदखाँ लोदी कौन था, यह निश्चित करना मुश्किल है । कुछ विद्वान उसे गुजरात का सूबेदार और कुछ उसे लोदी वंश के किसी शासक का रिश्तेदार मानते हैं । इतिहास में केवल एक ही उल्लेख मिलता है कि सिकंदर लोदी के सूबेदार सारंगखान का अहमदखान लोदी नामक पुत्र था । 'लोदी' वंशनाम पठानों में अत्यंत प्रचलित रहा है, अत : इस संबंध में निश्चत रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है । कवि चरित्र नामक ग्रंथ में कल्याणमल्ल को ब्राह्मण माना गया है जबकि 'अनंगरंग' की पुरानीहस्तलिखित पोथियों में उसे गजमल्ल नामक राजपूत सरदार का पुत्र कहा गया है । कल्याणमल्ल के संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने यहूदी बाइबिल (Old Testament) में उल्लिखित डॅविड के पुत्र सॉलॉमन की कथा का संस्कृत में 'सुलोमन चरितम्' के नामसे अनुवाद किया था । अनंगरंग का आरंभ भी शिव-पार्वती की स्तुति से हुआ है परंतु गणिकाजीवन का विवेचन उसमें नाममात्र को ही पाया जाता है । विभिन्न ऋतुओं से कामभावना का संबंध ; कामशास्त्र की दृष्टि से स्त्री-पुरुषों का वर्गीकरण, विभिन्न देशों की स्त्रियों के लक्षण, सामुद्रिक चिह्न और मंत्रतंत्र, कामोद्दीपन के उपस्कर और रतिक्रीड़ा के आसन, पौष्टिक औषधियों के नुसखे इत्यादि कामशास्त्रीय ग्रंथों के अतिपरिचित विषयों का ही ऊहापोह इस ग्रंथ में पाया जाता है । अन्य ग्रंथों की तरह इस ग्रंथ में भी गणिकाको नायिका का ही एक प्रकार (सामान्या या नायिका) मानकर चर्चा की गयी है । गणिका से अत्यंत घनिष्ठ संबंध रखने वाली कुट्टनी का उल्लेख नहीं के बराबर हुआ है । कामशास्त्र का समग्रता से विवेचन करने वाले ग्रंथों में गणिका और कुट्टनी के इससे अधिक विवेचन की अपेक्षा भी नहीं की जाती ।

उपरोक्त ग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में कामशास्त्र को ज्ञानविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा माना जाता था । पूजनीय देवी-देवताओं की प्रार्थना से इन ग्रंथों का आरंभ होता था और विषयों का प्रतिपादन निष्पक्ष तटस्थता, शास्त्रीय निर्लेपता और वस्तुनिष्ठ स्पष्टता से किया जाता था । वासना को भड़काने के हेतु से नहीं, बल्कि उसे संयमित, संस्कारी और नियमबद्ध बनाकर उसकी सहायता से देह, मन और आत्मा का उन्नयन करने की दृष्टि से ही विषय का प्रतिपादन किया जाता था । कामवासना और उसकी तृप्ति को मनुष्यजीवन का एक अत्यंत आनंदप्रद विभाग मानकर उस आनंद की अनुभूति को अधिक से अधिक तीव्र करने का प्रयत्न अवश्य किया जाता था, पर इसके लिए वासना को भड़काने वाली अश्लीलता, ग्राम्यता या बीभत्सता का सहारा शायद ही कभी लिया गया हो । हमारे रसशास्त्र और अलंकार शास्त्र के ग्रंथों में स्वकीया और परकीया के साथ सामान्या (गणिका) को भी नायिका का ही तीसरा प्रकार मान लिया गयाहै । वर्तमान युग में समाजशास्त्रियों की वृत्ति इस संस्था का निर्मूलन करने की ओर ही अधिक पायी जाती है, और आज की परिस्थितियों में यही योग्य और वांछनीय है । परंतु इस देश के प्राचीन मनीषियों ने इस संस्था का निर्मूलन करने की कभी कल्पना भी नहीं की । प्राचीन भारत में उसे नियंत्रित, मर्यादाबद्ध और व्यवहार्य बनाकर उसका शास्त्रीय पद्धति से पुनर्घटन करने की आवश्यकता का स्वीकार अवश्य हुआ था, पर उसके समूल नाश की दिशा में प्रयत्न नहीं हुआ । पुराण-इतिहास और यौनविज्ञान के ग्रंथों में पाये जाने वाले गणिका के उल्लेखों का अध्ययन हम कर चुके । परंतु हमारे विशुद्ध ललित-साहित्य के ग्रंथों में भी गणिका का स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण रहा है । इसका विचार आगामी परिच्छेदों में किया जायगा ।



खण्ड ५

प्रथम परिच्छेद
साहित्य में गणिका का स्थान

१
रस-अलंकार और नायिकाभेद के ग्रंथ

उत्तर और पश्चिम भारत की भाषाओं में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में नवजागरण का आरंभ होने से पहले संस्कृत और ब्रजभाषा के रसालंकार ग्रंथ ही प्रमाणभूत माने जाते थे । उनके द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार ही साहित्य की रचना होती थी और आलोचना के क्षेत्र में भी उन्हीं मानदंडों से मूल्यांकन होता था । छंदशास्त्र का अध्ययन पिंगल के अंतर्गत होता था परंतु साहित्य का मर्म समझने के लिए प्राचीन आचार्यों के रसालंकार संबंधी सिद्धान्तों का ही ऊहापोह किया जाता था । रस और अलंकार के सारे सिद्धान्त नायिकारूपी केन्द्र बिंदु के चारों ओर रचे जाते थे । इसी कारण से संस्कृत और ब्रजभाषा के साहित्य ग्रंथों में नायिकाभेद को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सका ।

रसशास्त्र के संस्कृत ग्रंथों में नाट्यशास्त्र, दशरूपक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण और रसगंगाधर अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहे हैं । इनके उपरांत और भी अनेक ग्रंथों और व्याख्या-दीपिकाओं की रचना हुई थी । ब्रजभाषा में तो रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने आचार्यत्व प्राप्त करने की धुन में रसालंकार का निरूपक करनेवाले ग्रंथों की रचना की जिनमें के अधिकांश में नायिकाभेद ही विवेचन का प्रधान दृष्टिकोण पाया जाता है । इन ग्रंथों का विस्तृत अवलोकन यहाँ अभिप्रेत नहीं है । उनका उल्लेख भी केवल यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि हमारी अधिकांश प्राचीन साहित्यरचना में नायक-नायिका का स्थान कितना महत्वपूर्ण रहा था और उनका कितने सूक्ष्म विभागों में वर्गीकरण किया जाता था । नायिका के विभिन्न प्रकारों की तो हमारे यहाँ इतनी बारीकी से चर्चा हुई कि ब्रजभाषा के कतिपय ग्रंथों की रचना केवल नायिकाभेद को लेकर ही हुई है ।

हमारे विषय का संबंध नायिका के अन्य सूक्ष्म उपभेदों की अपेक्षा उसके तीन प्रधान भेदों के साथ अधिक है । प्राय: सभी साहित्य-ग्रंथों में नायिका के निम्नोक्त तीन भेद माने गये हैं: —

१. स्वकीया: — अपनी ही पत्नी ।
२. परकीया: — इसके दो प्रकार संभव हैं: (अ) अविवाहिता कन्या, जो आगे चलकर स्वकीया बन सके, और (आ) किसी अन्य की विवाहिता स्त्री ।
३. सामान्या: — जिसका उपभोग सर्वसाध्य हो ।

साहित्य की यह सामान्या नायिका गणिका के सिवा और कुछ नहीं । साहित्य को जीवन का प्रतिबिंब मान लिया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि स्वकीया और परकीया के साथ गणिका को भी रस निष्पत्ति का आलंबन मान कर उस युग के आचार्यों ने उसके सामाजिक महत्त्व को ही स्वीकार किया है ।

रसनिष्पत्ति में नायिका का प्राधान्य स्वीकार कर लेने पर नायिकाभेद एक विस्तृत शास्त्र बन जाता है । उम्र भाव और अवस्था की विविधता के सहारे यह शास्त्र एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण करता है । इस विशाल वृक्ष में गणिकारूपी एक शाखा का स्वीकार अवश्य हुआ है, परंतु अधिकतर उसका

उल्लेख कुछ अनिच्छा से हो हुआ हो ऐसा दिखाई देता है । कारण स्पष्ट है । वैविध्यप्रेमी पुरुष के हृदय में गणिका काम की उत्पत्ति कर सकती है; परंतु उसमें स्वकीया या परकीया की तरह विशुद्ध रसनिष्पत्ति करने की शक्ति है या नहीं, इस विषय में साहित्य के आचार्य साशंक हैं । कामव्यापार आर्थिक लेनदेन पर आधारित खुल्लमखुल्ला व्यापार है और धनोपार्जन ही उसका एकमात्र उद्देश्य होता है । पुरुष का मनोरंजन उसका पेशा होने के कारण नायिकाभेद के सभी हावभाव और आचरण वह व्यक्त कर सकती है; परंतु यह अभिव्यंजना वास्तविक अनुभूति का प्रतिबिंब न होते हुए कुशल अभिनेत्री की अभिनयपटुता मात्र होती है । इसी कारण से मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा जैसे वयोभेद या स्वाधीनपतिका और विरहोत्कंठिता जैसे अवस्था भेदों का आरोपण उसमें नहीं हो सकता । लज्जा और संकोच मुग्धा नायिका के प्रधान लक्षण हैं । मध्या में भी इसकी थोड़ी बहुत मात्रा आवश्यक होती है; जबकि प्रौढ़ा या प्रगल्भा लज्जारहित उन्मुक्त कामोपचार में प्रवीण होती है । इस दृष्टि से देखें तो किसी भी गणिका का समावेश इस अंतिम वर्ग में ही हो सकता है । देह-विक्रय का पेशा लेकर बैठने वाली युवती उम्र के हिसाब से मुग्धा हो, तो भी उसमें मुग्धा कुलस्त्री के जैसी लाजशरम की कल्पना करना मुश्किल है । और कहीं उसके दर्शन होते भी हों, तो उसे चतुर नटी के अभिनय-कौशल्य से अधिक कुछ नहीं माना जा सकता । यही बात अवस्थाभेद के संबंध में भी कही जा सकती है । सामान्या नायिका स्वाधीनपतिका हो ही नहीं सकती क्योंकि कोई पुरुष उसका पति नहीं होता । इतना ही नहीं, गणिकासंस्था के साथ पतित्व या पत्नीत्व की भावना का मेल ही नहीं खाता । अवस्था की दृष्टि से गणिका केवल वासक सज्जा की भूमिका निभा सकती है । कभी-कभी लड़ाई-झगड़ा करके वह कलहांतरिता का अभिनय कर सकती है, और संकेत स्थान पर मिलने जाते समय उसे अभिसारिका भी कहा जा सकता है । परंतु इनमें की एक भी अवस्था रतिभाव से प्रेरित नहीं होती । बाहरी दिखावा वह कुछ भी करे, अंत में तो उसे जलकमलवत् निर्लेपभाव से ही इन स्थितियों से पार होना पड़ता है । इस व्यवसायिक निर्विकारता के कारण गणिका के प्रेम-प्रदर्शन में नाजुक भावाभिव्यक्ति की अधिक गुंजाइश नहीं रहती ।

इतना होने पर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि चाहने पर नायिकाभेद की किसी भी अवस्था का शास्त्रोक्त अभिनय नृत्य-संगीत-विशारदा गणिका कुलस्त्रियों की अपेक्षा अधिक आसानी से कर सकती है और अपनी कला के बल पर इस अभिनय द्वारा सूक्ष्म भावव्यंजना करने में भी वह सफल हो सकती है । सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का इतना त्वरित और इतना वास्तविक प्रदर्शन गणिका से अधिक निपुणता से शायद ही कोई कुलस्त्री कर सके । भावाभिनय उसके व्यवसाय का एक आवश्यक अंग होने के कारण मुग्धा से लगाकर प्रौढ़ा तक और स्वाधीनपतिका से लगाकर कलहांतरिता तक के सभी अवस्थाभेदों का वास्तविक निरूपण करना उसके लिए असंभव नहीं । विवाहिता स्त्री-सुलभ भाव प्रदर्शन भी जितनी सरलता से वह कर सकती है उतनी स्वाभाविकता से शायद स्वकीया भी न कर सके । विवाहिता स्त्रियाँ उसकी इस विशेषता को समझने का प्रयत्न करें, तो संभव है कि दिना दिन स्थूल और रसहीन होता जाने वाला विवाहित जीवन शायद अधिक रसमय और आनंद प्रद बनकर गणिका की मांग को कम कर दे । साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि आखिर गणिका भी एक नारी है और नारीसुलभ भाव उसके हृदय में भी उत्पन्न हो सकते हैं । इस भावावेश के क्षणों में गणिका पेशेवर पण्यांगना न रह कर मानवीय धरातल पर नारी के कामिनी या प्रमदा रूप का प्रदर्शन करे, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । रसनिष्पत्ति की दृष्टि से देखें तो मुग्धा के लजाने-शरमाने से लगा कर प्रौढा के निरंकुश कामव्यवहार तक की सारी अवस्थाएँ गणिका के लिए संभव हैं । व्यवसाय के कारण देह का निर्ममता से दुरुपयोग होने देने वाली गणिका अपने स्त्री हृदय का एक नाजुक कोना विवाह के अभाव में भी किसी प्रेमी के लिए सुरक्षित रख सकती है, यह हम अनेकबार देख चुके हैं । पूर्व की भावुकता में ही नहीं, पश्चिम की अर्थप्रधान निष्ठुरता में भी यह बात असंभव नहीं इसके चाहे जितने उदाहरण देखे जा सकते हैं । सच्चे हृदय से किसी को चाहनेवाली गणिका स्वकीया में कल्पित प्रत्येक भाव और प्रत्येक अवस्था का अनुभव कर सकती है और उत्कट स्त्रीत्व का परिचय दे

सकती है । इन्हीं सब विचारों से प्रेरित होकर हमारे रसशास्त्रियों ने सामान्या को स्वकीया और परकीया के समकक्ष स्थान दिया होगा ।

स्त्री होने के नाते सामान्या भी कामभावना के सारे सूक्ष्म संवेदनों का अनुभव कर सकती है, यह सत्य अप्सराओं और गणिकाओं, दोनों के उदाहरणों से स्थापित हो सकता है । जहाँ यह अनुभूति हृदयगत न होकर केवल अभिनय या दिखावे तक ही सीमित रहती है, वहाँ भी उसकी आकर्षकता में कोई कमी नहीं रहती । पवित्रता का घमंड रखनेवालों को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि पाप और पापी भी मानवसमाज द्वारा निर्मित इकाइयाँ हैं । वे विकृत हो सकती हैं, पर उनकी तड़क-भड़क और प्रलोभनशक्ति नैतिकता या धार्मिकता से कहीं बढ़ी-चढ़ी होती है । इसके अलावा, पुण्य और पाप की भावनाएँ अन्योन्याश्रित हैं और उनकी व्याख्या प्रत्येक युग में बदलती रहती हैं । पुण्य के अस्तित्व की तरह पाप का उद्‌भव भी मानव समाज का ही सृजन है । किसी विद्वान या तपस्वी की सराहना करने का और उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने का अधिकार हमें अवश्य है; पर किसी पतित की भर्त्सना करते समय, या उसे दंड देते समय, यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि समाज की अच्छाई का एक सिरा यदि विद्वान और तपस्वी के रूप में विकसित हुआ है, तो उसकी कमज़ोरियों का दूसरा सिरा चोर-डाकू या पतिताओं के रूप में व्यक्त हुआ है । समाज को इकाई में बांधने वाला मध्यवर्ती सूत्र प्राय: एक ही होता है । पापी और पुण्यात्मा इस सूत्र में गुंफित अलग-अलग मनके मात्र हैं । राम को जन्म देने वाले समाज ने ही रावण की उत्पत्ति की थी । अत: गणिकावृत्ति का अध्ययन करते समय यह बात सतत ध्यान में रखनी चाहिये कि पेशे के नाते वह कुछ भी हो, व्यक्ति के रूप में गणिका भी मनुष्य है —स्त्री है । इस प्रकार का विचारमंथन अंत में एक ही निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि व्यक्ति के रूप में गणिका के सुधार की संभावना कभी समाप्त नहीं होती । कुछ व्यापक दृष्टि से देखने पर यह सुधार कुछ इनीगिनी गणिकाओं का ही उन्नयन नहीं, पूरे समाज का शुद्धिकरण सिद्ध हो सकता है क्योंकि अंत में तो समाज की आर्थिक, सामाजिक वैधानिक और मानसिक अव्यवस्थाएँ ही गणिका की उत्पत्ति का मूलकारण होती हैं । इन विषमताओं के दूर होते ही गणिकावृत्ति के साथ समाज की और भी अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं ।

२
कुछ शब्दों का इतिहास

गणिकासंस्था का विकास सामाजिक अव्यवस्था और अन्यायी या दूषित परिस्थितियों के कारण ही होने पर भी, सभी युगों में उसे इतना अधिक महत्त्व क्यों प्राप्त हुआ, यह समझ पाने के लिए गणिकाओं के लिए प्रयुक्त शब्द, उनके पर्याय, उनका व्यंग्यार्थ और उनके द्वारा ध्वनित भावों का अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा । समय-समय कानून की दृष्टि में गणिकाओं का स्थान, उनके संबंध में प्रचलित सुभाषित और कहावतें एवं साहित्य में उनके चित्रण का अध्ययन भी कई दृष्टियों से सहायक सिद्ध हो सकता है । एक विद्वान ने तो गिनती करके यहाँ तक बताया है कि संस्कृत में गणिका के लिए २३५ पर्यायवाची शब्द उपलब्ध हैं, और उसके संबंध में सुभाषित तो इतने अधिक मिलते हैं कि उनके सहारे अनेक 'गणिकाशतकों' का संकलन किया जा सकता है । डाक्टर ल्युडविग का कहना है कि गणिका के लिए जितने पर्यायवाची शब्द और सुभाषित संस्कृत में उपलब्ध हैं, उतने संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं ।

इन शब्दों के व्यंग्यार्थ और व्युत्पत्ति में शताब्दियों का सामाजिक इतिहास समाया हुआ है । सामान्य व्यवहार में गणिका, वेश्या, पतुरिया, रामजनी, नायका, वारांगना, तवायफ, कसबिन, रंडी, इत्यादि शब्द ही अधिक प्रचलित हैं । इनमें से 'गणिका' शब्द की व्याख्या पहले हो चुकी है । 'वेश्या' शब्द व्यापार या

विक्रय सूचक है । वेश्यालयों को संस्कृत में 'वेश' कहा जाता था, और उनमें निवास करने वाली स्त्रियों को वेश्या । इस शब्द द्वारा धन के बदले में देह विक्रय का भाव स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है । कला से विशेष संबंध न रखनेवाली पण्यांगनाओं के लिए यही शब्द सबसे अधिक रूढ़ है । उत्तरभारत में 'पतुरिया' या 'पातुर' शब्द भी वेश्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो नाटकों में नृत्याभिनय करनेवाली नटियों के लिए प्रयुक्त 'पात्रे' शब्द का अपभ्रंश मालूम देता है । पश्चिमी भारत में 'रामजनी' शब्द काफी प्रचलित है । एक पत्नीव्रतधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम की कल्पना भी नहीं होगी कि वारांगनाओं का पितृत्व उनके सिर मढ़ा जायगा । इसके पीछे की मानसिक प्रक्रिया बिलकुल स्पष्ट है । अनिश्चित या अनाँकलनीय बातों का कर्तव्य राम के जिम्मे कर देने की हमारी पुरानी आदत है । 'रामभरोसे' और 'राम जाने' जैसे शब्द प्रयोग इसी भावना के सूचक हैं । जिसके कुल-गोत्र, माता-पिता या जन्म के संबंध में निश्चित जानकारी न हो ऐसी स्त्री को 'रामजनी' घोषित कर देने की प्रवृत्ति इसी भावना से उत्पन्न हुई होगी ।

'नायका' (मूल मराठी में 'नायकीण') शब्द जातिवाचक है जो दाक्षिणात्य स्त्रियों के संबंध में प्रयुक्त होकर भौगोलिक विशिष्टता का सूचक बन गया है । कामशास्त्र के आचार्यों ने भौगोलिक वैशिष्ट्य को अत्यधिक महत्व दिया है । लाट, गौड, पंचाल, गंधार, बाल्हिक, द्रविड, अंग, वंग, कामरूप इत्यादि प्रदेशों की स्त्रियों की यौन विशिष्टताओं का वर्णन कामसूत्र से लगाकर कामशास्त्र के अन्य सभी ग्रंथों में मिलता है । अत : किसी विशिष्ट प्रदेश की गणिकाओं की खासियतों के कारण उनके प्रादेशिक नाम का गणिकामात्र के लिए उपयोग होने लगे, यह स्वाभाविक है । 'वारांगना' शब्द की व्युत्पत्ति बिलकुल स्पष्ट है । विभिन्न प्रेमियों को अलग-अलग दिन या बारी-बारी से उपलब्ध होने वाली पण्यस्त्री के लिए 'वारांगना' 'वारवनिता' या 'वारवधू' शब्द का प्रयोग किसी भी युग में समुचित माना जायगा ।

'तवायफ' शब्द 'गणिका' की तरह सामूहिक उपभोग की व्यंजना करता है । अरबी भाषा का यह शब्द इस्लामी संस्कृति के साथ इस देश में आया और प्रचलित हो गया । वैसे यह 'तायफा' का बहुवचन है, पर हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में एकवचन में प्रयुक्त होता है । 'कसबिन' शब्द भी अरबी से आया है और स्पष्टतः व्यवसाय-सूचक है । 'कसब' का अर्थ पेशा या व्यवसाय होता है । अंतिम शब्द 'रंडी' शिष्टसम्मत न होने पर भी उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचलित है । इसका संबंध स्पष्ट रूप से संस्कृत के 'रंडा' (विधवा) के साथ है । वेश्याओं का बहुत बड़ा भाग विधवा स्त्रियों में से आने की स्पष्ट सूचना तो इस शब्द से मिलती ही है, परंतु इसका प्रयोग एक अन्य कारण से भी प्रभावित हुआ होगा । मज़ाक में या तिरस्कार से गणिका को जिस प्रकार 'सदा-सुहागिन' कहा जाता है, उसी प्रकार उसकी पतिविहीन अवस्था को चिरवैधव्य भी माना जा सकता है । किसी एक पुरुष की पत्नी न होने पर भी वेश्या को अनेक पुरुषों की पत्नी की भूमिका निबाहनी पड़ती है । इस तथ्य के सहारे उसके सुहाग को अखंड घोषित करने का मज़ाक जिस प्रकार स्वाभाविक माना जाता है उसी प्रकार किसी भी पुरुष की पत्नी न होने के कारण उसे चिर विधवा और सदारंडा करार देकर उसका तिरस्कार भी लोकप्रिय और लोकसम्मत हो सकता है ।

अब तक तो केवल परिचित और प्रचलित शब्दों की बात हुई । परंतु प्राचीन युग की अनेक सामाजिक प्रथाओं को सुरक्षित रखने वाली और भी अनेक संज्ञाएँ गणिका के लिए प्रयुक्त होती रही हैं, जो आज प्रचलित न होने पर भी उस युग के विशिष्ट वातावरण का चित्र उपस्थित करती हैं । नृत्य, नाटक और रंगभूमि के साथ गणिकाओं का संबंध अत्यंत प्राचीन काल से रहा है । अत: प्राचीन साहित्य में गणिका के लिए 'नटी' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है । 'भांड हासिनी' शब्द विदूषकवृत्ति से जीवनयापन करने वाले भांडों के साथ उसका संबंध स्थापित करता है । 'रंगोप जीवा' नाम तो स्पष्ट रूप से रंगभूमि द्वारा उपजीविका चलाने वाली स्त्री का अर्थबोध कराता है । 'वासिका' शब्द उसके वस्त्राभूषणों

की चमक-दमक व्यंजित करता है और 'मुक्ता' संज्ञा उसकी बंधन -हीनता का परिचय देती है । यह ठीक भी है: अर्थप्रधान समाजरचना में दुनिया की जिम्मेदारियों से मुक्त होने का दावा या तो वीतराग आत्मज्ञानी कर सकता है, या समाज के सब प्रकार के बंधनों से मुक्त गणिका ही कर सकती है । इसी प्रकार 'प्रकाशविनष्टा' शब्द उसकी लज्जाहीनता पर बल देता है ।

समाज एक ओर तो गणिका को बहिष्कृत और त्याज्य पतिता मानता है, और दूसरी ओर उसके नगरशृंगार और नगरशोभा होने की घोषणा करता है । वास्तव में, उसे समाज की गंदगी मानना या समाज की शोभा, यह देखने वाले की नज़र पर निर्भर करता है । प्राचीन युग के समाज की दृष्टि गणिका की ओर से पूर्वग्रह दूषित नहीं थी । अत: उसके लोकरंजक और नगरशृंगारक रूप को भी मान्यता मिलती रही, जो उसके 'नगरमंडना', 'नगरभूषणी', 'नगर विभूषणा' इत्यादि अभिधानों द्वारा व्यक्त होती आयी है । इसी प्रकार 'उर्वशी' 'कुमारी' 'ऊषा' इत्यादि संज्ञाएँ भी उसके प्रति समाज की कृपादृष्टि की ही परिचायक है ।

धर्म के साथ गणिका के घनिष्ठ संबंध की सूचना 'देवदासी', 'देवपरिचारिका', 'देवगणिका', 'देववेश्या' आदि नामों से मिलती है । 'तीर्थगा', 'तीर्थ वेश्या' आदि शब्द इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर तीर्थस्थानों के साथ उसका निकट संबंध स्थापित करते है । 'गुप्तवेश्या' चोरी-छिपे पेशा करने वाली कसबिनों की प्रतिनिधि है । 'मंजिका' या 'गंधकारिका' नाम धारण करके गणिका फूलों के साथ संबंध स्थापित करती है जबकि 'पण्यांगना', 'पण्य विलासिनी', 'रूप जीवा', 'अर्थ वृत्तिका' इत्यादि नामों द्वारा अपने अर्थपरायण पेशे का इमानदारी से इकरार करती हैं । 'चेटिका', 'चेटी', 'दासी', 'रूप दासी', 'परिचारिका', 'भुजिष्या' इत्यादि नाम सेवाटहल करने वाली दासियों का गणिकावृत्ति से घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं । 'विषकन्या' और 'विषांगना' शब्द उसके खतरनाक पहलू की व्यंजना करते हुए शत्रुविनाश के लिए उसके उपयोग की सूचना देते हैं जबकि 'नग्निका', 'नग्ना', 'महानग्ना', 'विवस्त्रा', 'शूला', 'घर्षणी', 'त्रिलोचना', 'रंडा', 'तृप्तरंडा' इत्यादि शब्द स्पष्ट रूप से गालियाँ होने के कारण उसके प्रति समाज के तिरस्कार की घोषणा करते हैं ।

इस प्रकार यह लंबी शब्दावली गणिकावृत्ति की व्यापकता और महत्ता एवं उसके सामाजिक स्वीकार और तिरस्कार की विभिन्न भमिकाओं के दर्शन कराती है । पाप कभी-कभी अत्यंत लुभावना रूप धारण कर लेता है । पाप की व्याख्या करना भी आसान काम नहीं । पुण्य और पाप, शौक और लत, सस्कार और रुढ़ि एवं रिवाज और आदत के बीच का भेद अत्यंत सूक्ष्म होता है । आज हमें अनुचित दिखाई देने वाली रूढ़ियाँ किसी समय पुण्यकार्य मानी जाती थीं और आज सत्कृत्य माने जाने वाले रिवाज कुछ शताब्दियों बाद भयानक पाप माने जा सकते हैं । विश्वबंधुत्व की भावना के जगन्मान्य हो जाने पर देशभक्ति को संकीर्णता का लक्षण और देशाभिमानी को वसुधैवकुटुंबकम् के मार्ग में रोड़े अटकाने वाला महाभयानक अपराधी माना जाने लगे, यह असंभव नहीं है । आज भी राष्ट्रप्रेम के व्यापक सद्गुण की तुलना में प्रादेशिकता का अभिमान दोषपात्र माना जाता है । बहुपत्नीत्व का सर्वकालीन उच्चांक स्थापित करने वाले श्रीकृष्ण आज के एकाधिक पत्नियों वाले पुरुष को अपराधी करार देने वाले युग में भी श्रद्धेय और पूज्य रह सके हैं । कृष्ण को बहुपत्नीत्व की सज़ा देते-देते तो शायद देश भर के न्यायालय थक जायेंगे और सुभद्राहरण के लिए अर्जुन के विरुद्ध तो निश्चित रूप से फौजदारी दावा दायर किया जा सकता है । अतीत में इतनी दूर न भी जायें, तो अभी कुछ शताब्दियों पूर्व के प्रात: स्मरणीय शिवाजी महाराज को भी सात विवाह करने के अपराध में वर्तमान काल की कोई भी अदालत दोषी ही करार देगी ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाप और पुण्य एवं सदाचार और अपराध की भावनाएँ देशकाल से अछूती नहीं रह सकतीं । गणिका-परिचय या गणिकागमन प्राचीन काल में आज के जितना अक्षम्य या दोषपात्र न माना जाता हो, तो नैतिकता का मिथ्याडंबर करने वाले आज के युग को नाक-भौं सिकोड़ने की

विशेष आवश्यकता नहीं । ॲटम-बम के प्रयोग से लाखों निरपराध नागरिकों का निर्दयता से संहार करने वाले देश आज विजेता होने के नाते मानवकल्याण और विश्वशांति के ढोल पीट रहे हैं और उनके नेताओं का प्रतिमापूजन होने में कुछ ही कसर बाकी रही है । अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की बेहूदगी वे चाहे जितनी करें, आज के संसार को यह मालूम हो चुका है कि वेश्या व्यवसाय की अपेक्षा युद्ध व्यवसाय रत्ती भर भी ऊँचा नहीं है । आज के युद्धों में सत्य, शौर्य या न्याय का लवलेश भी नहीं । उनमें केवल यांत्रिक कवायद और सामूहिक संहार बाकी बचे हैं जो सिद्धांतवाद और समाजकल्याण के नारों की आड़ में निर्घृण हत्यारेपन को ही आश्रय दे रहे हैं ।

३

कुछ संस्थावाचक शब्द

गणिकासंस्था के पर्यायवाची शब्दों को भी साथ-साथ देख लेना ठीक रहेगा । वेश्यागृह की सूचना देने वाले संस्कृत शब्दों में गणिकासंस्था के विभिन्न अंगों का समावेश तो हो जाता है; पर अंग्रेज़ी के 'ब्रॉथॅल' (Brothel) शब्द में जो तिरस्कार की व्यंजना है, वह संस्कृत शब्दों में प्राय: नहीं पायी जाती । वेश्यालय को प्राय: 'वेश' कहा जाता था और गणिका की सहायता के लिए गणिकालय में ही रहने वाले विभिन्न लोगों का समावेश 'गणिकाकुटुंब' के अंतर्गत होता था । गणिकालय के लिए प्रयुक्त 'रतिगृह', 'रतिभवन', 'लीलागृह', 'लीलागेह', 'लीलावेश्मन', 'विलास भवन', 'विलास मंदिर', 'विलासशय्या' इत्यादि शब्द रसिकता की विभिन्न श्रेणियों के सूचक थे । इनका उपयोग गृहस्थ परिवारों के शयनगृहों के लिए भी किया जाय, तो कोई बुराई नहीं । वेश्याओं के मोहल्लों को 'वेश्याजनसमाश्रय' या 'वेश्यावीथि' कहा जाता था । रोग, पाप, या अपराध का उल्लेख करते समय बोलनेवाले को संकोच न हो, ऐसे नाम उन्हें देने में भी एक प्रकार की संस्कारिता समायी हुई है । 'वेशागण', 'वेश्याजन', 'वेश्यावार' इत्यादि शब्दों से यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि कुछ हद तक गणिकाओं के मंडल या समुदाय जैसी संस्थाएँ भी मान्य की जाती थीं । इसी प्रकार, गणिकाओं की देखभाल करने की कुछ व्यवस्था भी प्राचीन युग में रही होगी । इसकी सूचना 'असतीपोषक', 'बंधकी पोषक', 'योनिपोषक' आदि शब्दों से मिलती है ।

गणिका-व्यवसाय में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली कुट्टनी के लिए भी अनेक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं उसके लिए 'अर्ज्जुनी' शब्द का प्रयोग पाया जाता है । 'अर्जन' का अर्थ कमाना या संग्रह करना होता है । अत: धनुर्धर पार्थ को अपने नाम के इस दुरुपयोग के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं हो सकती । संस्कृत-साहित्य में कुट्टनी के लिए 'मातृ', 'मातृका', 'रंगमातृका', 'गणिकामाता' आदि शब्द ही अधिक प्रचलित रहे हैं जो गणिकालय में उसके प्रभाव की स्पष्ट घोषणा करते हैं । कुट्टनी को 'चंडी' कह कर उसके हृदय की कठोरता और 'माध्वी' कह कर उसके व्यवहार की मृदुलता पर बल दिया गया है । 'वारमुख्या' और 'वेशवंत' जैसे शब्दों में उसके अधिकार की स्वीकृति पायी जाती है जबकि 'दूती' या 'दूतिका' जैसे शब्द उसकी संदेशों के आदान-प्रदान द्वारा वेश्या-व्यवसाय को सफल बनाने की शक्ति का परिचय देते हैं । यह शब्द कुट्टनी के काइयाँपन और झगड़ालूपन का भी द्योतक है । आज भी, अच्छे परिवारों के बच्चों में भी, झगड़ा हो जाने पर चुगली खाने वाली लड़की को 'दूती' कह कर चिढ़ाया जाता है । 'रतिताली', 'शंभली', 'संचारिका', 'संघटिका' आदि शब्द उसके संघटन-कौशल्य का अर्थ बोध कराते हैं, जबकि सब से अधिक प्रचलित शब्द 'कुट्टनी' आज तक उसी रूप में व्यवहृत होता आया है ।

गणिका को मिलने वाले धन के लिए भी संयत और सभ्य शब्दों का प्रयोग पाया जाता है । गणिका के पारिश्रमिक के लिए प्राय: 'गणिकाभृति', 'वेश्याभृति', 'भोग', 'लाभ', 'लाभातिशय' और 'वेतन' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है । गणिका को अपने व्यवसाय की खातिर ग्राहकों के अलावा और भी अनेक प्रकार

के पुरुषों से संबंध रखना पड़ता है । ये सब के सब उसे पसंद हों, यह जरूरी नहीं है । परंतु पुरुष को प्रसन्न रखना उसका पेशा होने के कारण वह सबसे निभा कर चलती है और अनेक प्रकार के चित्रविचित्र स्वभाव वाले व्यक्तियों को उसके घर में साजिंदे, रक्षक, कुटुंबीजन, नौकर-चाकर आदि के रूप में आश्रय मिलता है । प्राचीन साहित्य में इन लोगों के लिए आदर की भावना तो नहीं पायी जाती; परंतु उनके लिए प्रयुक्त संज्ञाएँ तिरस्कार-व्यंजक नहीं हैं । विट, चेट, कुंभ, कुंभक, भुजंग, बंधुल, वैशिक, गणिकापति, वेश्यापति आदि शब्दों में गणिका के नौकर-चाकर और उसके लिए ग्राहक फँसा कर लाने वाले दलालों से लगाकर उसके वैयक्तिक प्रेमी तक सब का समावेश हो जाता है ।

किसी भी सामाजिक संस्था का विस्तृत विकास होने पर उसके चारों ओर संस्था को उपयोगी होने वाले मानवसमूह खड़े हो जाते हैं जो कालक्रम में विशिष्ट नाम धारण कर लेते हैं । भारत में गणिकाजीवन का अत्यंत प्राचीन काल में ही विस्तृत विकास हो चुका था और बाद में शताब्दियों तक उसका समाजजीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान रहा कि शासकों, समाज विधायकों, रसिकों और कवियों को समान रूप से उसे मान्यता प्रदान करनी पड़ी थी । एक बार इतनी व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर किसी भी संस्था के विभिन्न अंगों और व्यापारों के लिए निश्चित शब्दावलि तैयार हो जाय, यह स्वाभाविक है ।

४
साहित्यग्रंथों में गणिका : मृच्छकटिक

प्राचीन युग के कथा, कविता और नाटक साहित्य में गणिकाओं को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सका था । हम देख चुके हैं कि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीय' की रचना देवगणिका उर्वशी को लेकर हुई है और संस्कृत साहित्य की सवोत्तम उपलब्धि 'शाकुंतल' की नायिका शकुंतला स्वर्ग की सामान्या मेनका की पुत्री थी । परंतु नायिका के रूप में पार्थिव गणिका की योजना करने वाले समस्त साहित्य में 'मृच्छकटिक' का स्थान बेजोड़ है । इस नाटक की नायिका वसंतसेना का चित्रण जिस आत्मीयता और आदर की भावना से हुआ है, वह गणिकासंस्था के प्रति तत्कालीन समाज की सद्भावना का ही द्योतक है । वसंतसेना का चरित्र-चित्रण इतनी सहृदयता से हुआ है कि वह किसी कुलवधू से भी अधिक स्नेहमयी, दृढ़व्रती, सुविद्य और उच्च संस्कारयुक्त कलावती नारी दिखाई देती है । अंत में सामान्या नायिका के साथ धीरोदात्त नायक का विवाह करवा कर और उसका कुलीन गृहिणी के रूप में स्वीकार करवा कर नाटककार ने सभ्य समाज को एक हलका सा धक्का अवश्य दिया है, पर इसमें भी इतनी कुशलता और सौहार्द से काम लिया गया है कि पाठक या प्रेक्षक की संपूर्ण सहानुभूति कवि और उसके पात्रों के साथ ही रहती है ।

दस अंकों में फैला हुआ यह नाटक वसंतसेना नामक गणिका और धनहीन हो जाने पर भी स्वभाव की उदारता, चरित्र की विशुद्धि और जन्म के संस्कारों को न भुला देने वाले धीरोदात्त ब्राह्मण नायक चारुदत्त की प्रेम कहानी का वर्णन करता है । अतिशय उदारता के कारण चारुदत्त अकिंचन हो गया, पर उज्जयनी नगरी में उसके सौजन्य और यश की गरिमा कम नहीं हुई । नगर के शासक 'पालक' नामक राजा के साले शकार का वसंतसेना पर पहले से ही बुरी नज़र था । एक बार, पीछा करने वाले शकार से पिंड छुड़ाने के लिए वसंतसेना को संयोग से चारुदत्त के घर में आश्रय लेना पड़ता है । दोनों की प्रथम मुलाकात यहीं होती है, और चारुदत्त की सुकीर्ति से परिचित वसंतसेना प्रथम दर्शन से ही उसके प्रति आकर्षित हो जाती है । निर्धन पुरुष से संबंध न रखने की कामशास्त्र के तमाम आचार्यों की राय के विरुद्ध गणिका वसंतसेना इस हृदय के रईस युवक के प्रेम में मतवाली हो उठती है । संबंध कुछ घनिष्ठ हो जाने पर वह अपने आभूषणों

का डब्बा सुरक्षित रखने के लिए चारुदत्त को देती है और वह उसे अपने मित्र मैत्रेय के हाथों सौंप कर निश्चिंत हो जाता है।

इसके बाद वसंतसेना अपनी दासी मदनिका के समक्ष अपना प्रेम प्रकट करती है। एक रोज़ संवाहक नामक जुआरी लेनदानों से जान छुड़ाने के लिए वसंतसेना के घर में आ घुसता है। वह उसका कर्ज़ चुका कर उसे आश्रय देती है। परंतु संवाहक को अपने जुआरी जीवन के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। और वह बौद्ध-भिक्खु बन कर संघ में दाखिल हो जाता है। इस हालत में भी उसके पुराने लेनदार उसे नहीं छोड़ते और एक दिन उसे घेर लेते हैं। रास्ते से गुजरता हुआ वसंतसेना का नौकर उसकी रक्षा करता है। इसी समय चारुदत्त भी वहाँ आ पहुँचता है और नौकर की बहादुरी से खुश होकर बीते दिनों की एकमात्र और अंतिम यादगार रूप अपनी कीमती शाल उसे इनाम दे देता है। नौकर घर आकर सारी घटना का वर्णन करता है। प्रेमविह्वल वसंतसेना उस शाल को ओढ़ कर अकथनीय सुख और शांति का अनुभव करती है।

इसके बाद की घटनाएं बड़ी तेजी से होती हैं और कहानी का रस बढ़ता जाता है। वसंतसेना की दासी मदनिका का शर्विलक नामक निर्धन ब्राह्मण से प्रेम था। मदनिका खरीदी हुई दासी थी; पर निष्क्रय मूल्य चुका कर उसे मुक्त करा सकने जितना धन शर्विलक के पास नहीं था। अतः वह चोरी करने को प्रवृत्त होता है और संयोग से चारुदत्त के घर में ही सेंध लगा कर वसंतसेना के आभूषण चुरा लाता है। अमानत रखे हुए ज़ेवरों की चोरी से चारुदत्त जैसे सत्पुरुष को दुख होना स्वाभाविक था। परंतु उदारता का गुण शायद उसके परिवार में सर्वव्यापी था। अतः पति को दुखी देखकर उसकी पत्नी धूता विगत ऐश्वर्य की अंतिम निशानी रूप अपनी मोतियों की माला उसे दे देती है। अमानत का माल चोरी चला गया ऐसी सफाई देना चारुदत्त की नीतिभावना को पसंद नहीं आता, अतः चोरी की बात वह छिपाये रखता है। वसंतसेना को संदेश भेजता है कि उसके आभूषण उसने प्रमादवश जुए में हार दिये हैं जिनके बदले में वह मोतियों की माला भेज रहा है। दूसरी ओर चोरी के गहने मदनिका को दिखा कर शर्विलक खुश होता है। पर मदनिका अपनी स्वामिनी के आभूषणों को पहचान लेती है। चारुदत्त जैसे सज्जन के घर से चोरी करने का शर्विलक को पश्चाताप होता है, और गहने लौटा देने को भी वह राज़ी हो जाता है, पर चोर के रूप में चारुदत्त के सामने जाने में उसे शर्म महसूस होती है। चतुर मदनिका इस कठिनाई में से मार्ग निकालती है और अपना घर सुरक्षित न होने के कारण चारुदत्त ने ही आभूषणों का डब्बा शर्विलक के हाथों लौटा दिया है यह कहकर गहने वसंतसेना को सौंप देती है। वसंतसेना ने छिप कर इन दोनों की बातें पहले ही सुन ली थीं; अतः वह उदारतापूर्वक मदनिका को मुक्त करके शर्विलक के हाथों सौंप देती है। मदनिका की गहने संबंधी कहानी मनगढंत होने का प्रमाण तो उसे मिल चुका था, पर चारुदत्त इस चोरी का स्पष्टीकरण किस तरह करता है, यह जानने की उत्कंठा उसके मन में बनी रहती है। इतने में ही मोती की माला लेकर मैत्रेय हाज़िर होता है, और आभूषणों के जुए में हारे जाने की बात कहता है। विगत वैभव चारुदत्त की इस उदारता से वसंतसेना का हृदय द्रवित हो जाता है; और उसी रात को वह उससे मिलने आयेगी ऐसा संदेश वह मैत्रेय के ज़रीये भेजती है।

रात को आँधी, तूफान, बिजली और भयानक वर्षा की परवाह किये बिना अभिसारिका वसंतसेना चारुदत्त के घर जाती है। मानिनी नायिका का स्वाँग भरती हुई वह आभूषणों का डिब्बा फिर से चारुदत्त के सुपुर्द करती है; पर अबकी बार धरोहर के रूप में नहीं, बल्कि उसकी भेजी हुई माला के बदले में प्रति उपहार के रूप में। इस तरह सारी बात स्पष्ट हो जाने पर दोनों प्रेमियों के बीच में कोई परदा नहीं रहता और वसंतसेना पूरी रात चारुदत्त के घर में उसकी प्रेयसी के रूप में बिताती है। चारुदत्त आभूषण लेने से इनकार कर देता है और भोर होते ही कार्यवश घर से निकल जाता है। वापस लौटते समय वसंतसेना ने देखा कि चारुदत्त का पुत्र रोहसेन सोने की गाड़ी से खेलने की जिद करके रो रहा था और दासी उसे मिट्टी

का छकड़ा (मृद शकटिक) ले कर बहला रही थी । वसंतसेना तुरंत अपने गहनों का डब्बा मैत्रेय को देती है और उन्हें गलवाकर बालक के लिए सुवर्ण-शकटिक बनवा देने की विनती करती है । इतने में चारुदत्त की आज्ञानुसार वसंतसेना को पुष्पोद्यान में ले जाने के लिए सारथि रथ जोत कर लाता है । वसंतसेना शृंगार करके बाहर आती है; परंतु सारथि उस समय घर में तकिये लाने को गया होने के कारण वह गलती से, चारुदत्त के रथ में बैठने के बजाय, रास्ते से गुज़रने वाले शकार के रथ में बैठ जाती है । चारुदत्त का सारथि रथ में गद्दी-तकिये लगाकर परदे डाल देता है, और अपने स्थान पर बैठ कर वसंतसेना के आगमन की राह देखता है ।

इसके बाद कहानी अत्यंत नाट्यमय हो उठती है । राजा पालक का विरोध करनेवाला आर्यक नामक विद्रोही युवक बंदीगृह से भाग निकला था । जेल के सिपाही उसका पीछा कर रहे थे कि चारुदत्त के घर के सामने परदे गिरा हुआ रथ खड़ा देख कर वह उसमें जा छिपता है । रथ के हिलने-डुलने के कारण सारथि समझता है कि वसंतसेना बैठ गयी; अतः वह रथ को पुष्पोद्यान की ओर ले जाता है जहाँ चारुदत्त अपनी प्रियतमा की राह देख रहा था । यहाँ पर लेखक ने यह दिखाया है कि प्रजा के अधिकांश लोग पालक के विरोधी और आर्यक के प्रशंसक थे । राजा अपनी सत्ता के बल पर जमा बैठा था पर लोकमत आर्यक के पक्ष में था । रास्ते में दो नगर रक्षक सिपाही चारुदत्त के रथ की तलाशी लेते हैं । आर्यक पहचान लिया जाता है; पर एक रक्षक चंदनक (जो आर्यक के पक्ष में था) दूसरे को धमका कर भगा देता है और आर्यक को भाग निकलने का मौका मिल जाता है । रथ उद्यान में पहुँचता है । उसमें से वसंतसेना के बदले आर्यक को उतरते देख कर पहले तो चारुदत्त को आश्चर्य होता है; पर सच्चे विशालहृदय पुरुष की उदारता से वह उसे फिर से रथ में बैठा कर आगे बढ़ा देता है । आर्यक के प्रति साधारण सिपाहियों से लगा कर चारुदत्त जैसे सत्पुरुष तक की सदभावना का वर्णन करके कवि हमारी सहानुभूति भी उसके पक्ष में प्राप्त कर लेते हैं । वसंतसेना के न आने से निराश होकर चारुदत्त घर लौट जाता है ।

दूसरी ओर, पुष्पोद्यान के किसी अन्य कोने में शकार अपने रथ की राह देख रहा था । और कुछ काम धंधा न होने के कारण वह जुआरी से भिक्खु बने हुए संवाहक को अनेक प्रकार से परेशान करके समय काट रहा था । शीघ्र ही उसका रथ आ पहुंचता है । रथ में से वसंतसेना को उतरते देखकर इस लंपट मूर्ख के आनंद का पारावार नहीं रहता । तुरंत वह अपने अशिष्ट और गँवारु ढंग से प्रियाराधन शुरू कर देता है, पर वसंतसेना उसका तिरस्कार करती जाती है । इससे क्रोधित होकर वह अपने साथी विट और चेट को उसकी हत्या करने की आज्ञा देता है । राजा के साले के खुशामदखोर आश्रित होने पर भी वे हत्या का अपराध करने से इनकार कर देते हैं जिससे भभक कर शकार खुद ही वसंतसेना का गला दबाता है और उसके मर जाने का विश्वास होने पर ही उसे छोडता है । वसंतसेना दरअसल मरी नहीं थी, सिर्फ बेहोश हो गयी थी । शकार खुश होता हुआ वापस लौट जाता है । ऐसे मूर्ख स्वामी से परेशान होकर विट आर्यक के पक्ष में जा मिलता है पर हत्या का गवाह होने के कारण चेट को बंदी बना कर शकार अपने महल में रखता है । उसकी दुष्टता यही समाप्त नहीं होती । पुष्पोद्यान के दूसरे फाटक से निराश होकर लौटने वाले चारुदत्त पर वह वसंतसेना की हत्या का अभियोग लगाता है और उसे गिरफ्तार करवा देता है । दूसरी ओर, उद्यान की पुष्करिणी में कपडे धोकर सुखाने के लिए झुरमुट में जाने वाले भिक्खु संवाहक को बेहोश वसंतसेना दिखाई दे जाती है । वह उसकी शुश्रूषा करता है, और होश में आने पर उसे अपने मठ में ले जाता है ।

वसंतसेना की हत्या के लिए चारुदत्त पर मुकदमा चलता है । दारिद्रय के कारण वसंतसेना के आभूषण चुराकर उसने उसकी हत्या कर दी ऐसा अभियोग उस पर लगाया जाता है । परिस्थितिजन्य प्रमाण सारे के सारे उसके विरुद्ध थे ही । वसंतसेना की माता चारुदत्त के साथ अपनी पुत्री का संबंध होने की गवाही देती है । वसंतसेना ने पिछली रात चारुदत्त नहीं दे सकी । चंदनक नामक होता होने की गवाही देती है । वसंतसना ने पिछली रात चारुदत्त के घर गुज़ारी थी, यह भी सिद्ध होता

है । उसके बाद वह कहाँ गयी ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर चारुदत्त नहीं दे सका । चंदनक नामक कर्मचारियों को भेजते हैं । वहाँ उन्हें पेड़ से गिरकर मर गये, गला किसी अन्य स्त्री का शव मिलता है जिसे वसंतसेना का मृतदेह मान लिया जाता है । यह सारे प्रमाण-पत्र चारुदत्त को ही अपराधी घोषित करती हैं और इस व्यर्थ के संकट के कारण जीवन के प्रति वीतराग हो उठने वाला चारुदत्त भी सफाई देने की अधिक कोशिश नहीं करता । इसके बावजूद भी न्यायाधीश की सहानुभूति चारुदत्त के ही पक्ष में रहती है । परंतु इतने में ही स्वर्णशकटिक बनवाने के लिए दिये हुए वसंतसेना के आभूषणों का डिब्बा लेकर चारुदत्त का परममित्र मैत्रेय न्यायालय में उपस्थित होता है। यह अंतिम सबूत चारुदत्त के अपराध की निस्संदेह रूप से स्थापना कर देता है और उसीने गहना की लालच से वसंतसेना की हत्या की, यह अभियोग सिद्ध होकर उसे देहांत दंड दिया जाता है । कुछ समय बाद ही उसका शिरच्छेद करने के लिए चांडाल उसे स्मशान के पास वाले वध स्थान पर ले जाते हैं ।

देहांतदंड देने से पहले, उस समय की प्रथा के अनुसार चारुदत्त के अपराध का ढिंढोरा पीटते हुए उसे पूरे शहर में घुमाया जाता है । चारुदत्त जैसे उदारचेता पुरुष का वध करने में पेशेवर जल्लादों को भी हिचकिचाहट होती है । मैत्रेय उनके मन में दया उत्पन्न करके चारुदत्त को भागने का मौका देने का अंतिम प्रयत्न कर देखता है; परंतु चारुदत्त के समर्थक होने पर भी चांडाल इसके लिए राज़ी नहीं होते । जब चारुदत्त के बचने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता, तब शकार द्वारा महल में बंदी बना कर रखे हुए चेट के कानों में उसके मृत्युदंड की घोषणा के कुछ शब्द पड़ जाते हैं और वह बेड़ियों सहित तिमंज़िले से कूद कर सबके सामने सत्य घटना का बयान करता है । पर शकार उसे चोर प्रमाणित करके भगा देता है और चांडाल चारुदत्त को वध स्थान पर ले जाते हैं । गहरी अनिच्छा के बावजूद उन्हें कृपाण उठानी पड़ती है, और दूसरे ही क्षण काम तमाम हो जाता, पर इतने में वसंतसेना को साथ लेकर भिक्खु संवाहक वहाँ आ पहुँचता है । चारुदत्त की निर्दोषिता का इससे अधिक शक्तिशाली प्रमाण हो ही नहीं सकता था । शीघ्र ही बाजी बदल जाती है और शकार का अपराध स्पष्ट हो उठता है । उसी समय दुष्ट राजा पालक को मारकर उज्जयनी की गद्दी पर बैठने वाला चारुदत्त का मित्र आर्यक भी वहाँ आ पहुँचता है । चारुदत्त ने की हुई सहायता के बदले में वह उसे कुशावती नगरी का राज्य भेंट देता है और वसंतसेना को उसकी दूसरी पत्नी के रूप में मान्यता देता है । उस तरफ चारुदत्त के देहांतदंड का समाचार सुन कर उसकी पत्नी धूता सती होने की तैयारी कर रही थी, पर अंतिम क्षण में उसे बचा लिया जाता है । रही सही कसर शर्विलक के आने से पूरी हो जाती है । वह सब के समक्ष चारुदत्त के घर से वसंतसेना के आभूषण चुराने की बात कबूल करता है । अपराधी शकार पर राजा और प्रजा, सबका कोप बरसता है, और उसे कठोरतम दंड मिलने की संभावना थी, परंतु उदार चारुदत्त उसकी रक्षा करता है और उसे मुक्त करा देता है । नाटक का इस प्रकार अत्यंत सुखमय अंत होता है और वसंतसेना राज्यासन-प्राप्त चारुदत्त की दूसरी पत्नी के रूप में समाज द्वारा स्वीकृत हो जाती है ।

मृच्छकटिक का संस्कृत नाट्य-साहित्य में अत्यंत ऊँचा स्थान है । डा. राइडर का कहना है कि "प्रहसन से लगा कर करुणा, और व्यंग से लगा कर वेदना तक, किसी भी दृष्टि से देखें, नाटक की कथावस्तु में शेक्सपीयर की सी दृष्टि विशालता दिखाई देती है ।" इसके उपरांत, उस समय की समाजव्यवस्था का जैसा यथातथ्य वर्णन इस नाटक में हुआ है, जैसा अन्यत्र दुर्लभ है । वर्ण-व्यवस्था उस समय दृढ़ता से स्थापित हो चुकी थी, फिर भी ब्राह्मण व्यापार कर सकते थे और राज्य भी करते थे । चारुदत्त की पैतृक संपत्ति कई पीढ़ियों के व्यापार द्वारा ही अर्जित हुई थी और अंत में उसे किसी प्रदेश का राजा भी बनाया गया था । कायस्थ जाति का समाज में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था । बौद्धधर्म प्रचलित था, परंतु उसका प्रभाव कम होता जा रहा था । साहसिक व्यापारी लंबी समुद्रयात्रा करके विदेशों के साथ व्यापार करते थे । धनवानों का धन प्राय: विहार, देवालय, उद्यान, तालाब और कुँए बनवाने में खर्च होता था यद्यपि वेश्यालय, मद्यालय और द्यूतालयों में भी उनकी आय का काफी हिस्सा खर्च होता था । वसंतसेना

के आभूषण जुए में हार जाने की बात कहने में चारुदत्त को कोई संकोच नहीं होता, जबकि चोरी की बात को वह अपनी उदारता पर लांछन स्वरूप मानता है । वसंतसेना के प्रासाद का वर्णन कुबेर के महल को भी लजा देने वाला है । किसी भी युग का इतिहास देखें, यह बात निरपवाद रूप से दिखाई देती है कि ऐश्वर्य की वृद्धि के साथ जुआ, मद्यपान और गणिकागमन का रिवाज भी बढ़ता जाता है और कुछ आगे चल कर वह प्रचलित संस्कार का रूप धारण कर लेता है । चारुदत्त ब्राह्मण था, विद्वान था, धनाढ्य था और अत्यधिक उदार था । परंतु साथ ही वह गणिका से प्रेम कर सका और उससे विवाह भी कर सका । दूसरा ब्राह्मण शर्विलक गणिका की क्रीतदासी से प्रेम करता था, जिसे मुक्त कराने के लिए उसे चोरी करने में भी कोई आपत्ति नहीं हुई । गणिका के साथ विवाह करने के कारण चारुदत्त का, या गणिका की दासी से प्रेम करने के कारण शर्विलक का किसी ने हुक्कापानी बंद कर दिया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । मदनिका के प्रसंग से यह भी स्थापित होता है कि दास-दासियाँ खरीदने की प्रथा आमतौर से प्रचलित थी । संगीत मंडलियों और नाटक के प्रेक्षागृहों की सूचना भी इस नाटक में मिलती है । सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह स्थापित होती है कि तत्कालीन समाज को गणिका की कोई छुआछूत नहीं थी और उसके विशुद्ध प्रेम की कद्र की जाती थी । वसंतसेना का चरित्र-चित्रण सर्वभक्षी वारांगना के रूप में नहीं, सर्वसमर्पक कुलांगना के रूप में हुआ है । पूर्वाश्रम में गणिकावृत्ति करनेवाली पण्यांगना भी विशुद्ध प्रेम के बल पर गृहिणीपद प्राप्त कर सकी, इसे उस युग के समाज की उदारता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? उस युग की अधिकांश गणिकाएँ पत्नीत्व प्राप्त करने के लिए तरसती रहती थीं, इस मान्यता का भी मृच्छकटिक की कई घटनाओं से समर्थन होता है । गणिकावृत्ति करने वाली स्त्री किसी युग के सर्वश्रेष्ठ नाटक की नायिका बन सके, तो इसे उस युग के गणिका जीवन और समाज जीवन की एक विशिष्टता ही मानना होगा; फिर चाहे वह घटना काल्पनिक साहित्य में घटी हो, चाहे वास्तविक जीवन में।

वसंतसेना पर आसक्त हो उठने वाला शकार एक श्लोक में उसे दस नामों से संबोधित करता है । वैसे तो शकार के पात्र में लेखक ने शठता और मूर्खता का विचित्र संयोग दिखाया है । सब प्रकार के खल पुरुषों में मूर्ख और कायर होने वाला खल शायद सबसे अधिक भयावह होता है । उक्त श्लोक को हम चाहें तो शकार की बेवकूफी का ही एक नमूना मान सकते हैं; परंतु उसमें उस युग द्वारा स्वीकृत गणिका के अनिष्ट पहलुओं के भी दर्शन होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं । श्लोक इस प्रकार है :—

''ऐसा नाणक मोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका ।
निर्नासा कुलनाशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका ।
एषा वेशवधू: सुवेशनिलया वेशांगना वेशिका ।
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मां नेच्छति ।।''

''धन का हरण करने वाली, हृदय को वासना की चाबुक मार कर उत्तेजित करने वाली, नाक बिना की निर्लज्ज, कुल-नाशिनी, अंकुशहीना, काम की पिटारी जैसी वेशवधू, सुंदर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित वेशांगना और वेश्या, इन दस नामों से संबोधित करके मैं तुझे मना रहा हूं । परंतु फिर भी तू मुझे नहीं चाहती ।'' ये संबोधन अवश्य ही गणिकावृत्ति के उन अप्रिय पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिनसे उस युग का समाज अपरिचित नहीं था ।

अधिकांश विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक नाटक की रचना शूद्रक नामक राजा द्वारा ईसवी सन् से २०० वर्ष पूर्व हुई थी । दंडी ने शूद्रक को उज्जयनी का राजा कहा है । आंध्रभृत्य राजवंश का संस्थापक शूद्रक नामक राजा इससे कई शताब्दियों बाद हुआ था । उसे मृच्छकटिक का रचयिता मान कर चलें तो नाटक का रचनाकाल ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में पड़ता है । कुछ विद्वानों की यह भी राय है कि शूद्रक किसी भी प्रदेश का राजा नहीं था । इन विभिन्न मतों के कारण हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रंथों की तरह इस नाटक के रचयिता का भी स्थान-काल निश्चित करना मुश्किल है ।

द्वितीय परिच्छेद

अन्य साहित्य-ग्रंथ

१

दशकुमारचरित

शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक की तरह महाकवि दंडी के दशकुमारचरित नामक ग्रंथ में भी गणिकाओं को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । इस ग्रंथ की कथावस्तु के मूल कथासरित्सागर में ढूंढे जा सकते हैं । गुणाढ्य कृत बृहत्कथा के संकलन के बाद लोककथाएँ और ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ एकत्र करने की एक प्रथा चल गयी थी और बाद के ग्रंथ इन कथाओं का साहित्य की खराद पर चढ़ा कर निखारा हुआ रूप प्रस्तुत करते हैं । दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका के द्वितीय उच्छ्वास में गणिका के चातुर्य की एक प्रभावोत्पादक कथा दी गयी है । यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है ।

अंग देश में चंपानगरी नामक शहर था । नगर के बाहर कुछ दूर मरीचि नामक मुनि का आश्रम था । दंडी के कथनानुसार अंग देश की शोभारूप काममंजरी नामक गणिका एक दिन अपने सर्वस्व का त्याग करके आश्रम में आ पहुँची । बिखरे हुए केश जमीन पर लहरा कर उसने महर्षि को प्रणाम किया । उसके पीछे-पीछे ही उसकी मातृका और अन्य संबंधी भागते हुए आये । मुनि ने सबसे उनके आगमन का कारण पूछा । पहले गणिका ने उत्तर दिया कि वह इहलोक के भोगों से ऊब गयी है और पारमार्थिक कल्याण की प्राप्ति के लिए उनकी शरण में आयी है । उसका कथन पूरा होते ही श्वेत बालों वाली उसकी मातृका ने शिकायत की कि स्वयं प्रजापति द्वारा निश्चित किये हुए गणिका के समस्त धर्मों का उल्लंघन करके उसकी पुत्री किसी निर्धन पर विद्वान और रूपवान ब्राह्मण युवक के पीछे महीनों से पागल हो उठी है और धनाढ्य रसिकों का तिरस्कार कर रही है । समझाने-बुझाने का प्रयत्न करने पर उसे गुस्सा आ जाता है, और आज वह रूठ कर वनवास का निश्चय करके आश्रम में भाग आयी है । इसके बाद मातृका ने महामुनि से प्रार्थना की कि वे उसे समझायें और अपने धर्म का पालन करने का उपदेश दें । वरना वह और उसके सारे आश्रित भूख मर जायेंगे ।

महर्षि के उपदेश से पहले मातृका कुट्टनी के धर्मों का विस्तृत वर्णन करती है और कहती है कि उसने अपने कर्तव्य का पालन करने में कोई ढील नहीं की । इसे उसी के शब्दों में देख जाना ठीक रहेगा । मंजरी के विरुद्ध शिकायत पूरी हो जाने पर मातृका कहती है, ''हे महामुने, गणिकामाता का धर्म है कि कन्या का जन्म होते ही उसके सौंदर्य को निखारने का प्रयत्न करे । बचपन से ही तैलादि के मर्दन और चंदन, अंगराग आदि के प्रयोग से उसकी कांति को निखारे और बलबुद्धि बढ़ाने वाले आहार से उसका पोषण करे । उसके जन्मदिन पर और त्यौहारों के दिन उत्सवों का आयोजन करे । किशोरावस्था प्राप्त होते ही उसे नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, चित्रकला, पाकशास्त्र, पुष्पमालाओं की कलामय रचना, वाक्चातुर्य आदि कलाओं का एवं काव्य, व्याकरण, तर्क, दर्शन आदि शास्त्रों का ज्ञान कराये । साथ-साथ काम-शास्त्र की सर्वांगीण जानकारी देना भी अत्यंत आवश्यक है । गणिकामाता का फर्ज है कि यौवन में पदार्पण करने से पहले ही अपनी पुत्री को द्यूत, चतुरंग, समस्याविनोद और हाजिरजवाबी में प्रवीण कर दे, और विश्वासपात्र व्यक्तियों द्वारा रतिकला के विविध पहलुओं में दक्ष बना दे । यात्रा और उत्सवों में सजधज के साथ उसका प्रदर्शन करती रहे ताकि रसिकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता रहे । नृत्य-संगीत की शिक्षा इन कलाओं के उच्च कोटि के जानकारों द्वारा ही दिलवानी चाहिये ।

''इसके उपरांत ज्योतिषी, विट-चेट और विदूषकों द्वारा एवं आर्य, बौद्ध और जैन साध्वियों की सहायता से कन्या के रूप-रंग, यौवन, कलाप्रावीण्य और स्वभावमाधुर्य का प्रचार करवाती रहे । यौवनावस्था प्राप्त करने से पहले उसके आकर्षण क्षेत्र को अधिक से अधिक विस्तृत करने की, और अधिक से अधिक युवकों को उसके संपर्क में लाने की कोशिश करती रहे । इसके बाद, बदले में अधिक से अधिक धन वसूल करके किसी कुलवान, रूपवान, विद्वान, धनवान, उदार, कलाप्रिय सुसंस्कृत और सौम्य स्वभाव वाले पुरुष को उसे पहली बार अर्पण करे । यदि कोई गुणवान और विद्वान पुरुष और सब दृष्टियों से योग्य हो, पर पर्याप्त धन उसके पास न हो, तो गणिकामाता का कर्तव्य है कि कुछ कम धन लेकर भी प्रथम समागम के लिए कन्या को ऐसे ही पुरुष को अर्पण करे । इस हालत में बाह्य रूप से यह दिखावा बनाये रखना चाहिये कि प्रथम समागम के लिए प्रचुर धन मिलने की बात तय हो चुकी है । एक बार यह हो जाने पर उस पुरुष के गुरुजनों पर अनेक प्रकार से दबाव डाल कर मुँहमांगा धन वसूल किया जा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर अदालत में शिकायत करके भी मनमानी रकम प्राप्त की जा सकती है । इसके बाद नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की उपाय-योजना करके कामी जनों का धन-हरण करना चाहिये । कृपण प्रेमी का तिरस्कार करके उसे शरमिंदा करना, लोभी प्रेमी में उदारता जागृत करना, धनहीन प्रेमी को धिक्कार कर उकसाना और मुफ्तखोरों को अपमानित करके निकाल बाहर करना इत्यादि व्यवसायिक युक्तियों का चतुराई से प्रयोग करना चाहिये । हर बात का विचार केवल स्वार्थ की दृष्टि से करके, मित्रों की सहायता से योग्य पुरुषों के साथ पुत्री का संपर्क बढ़वाना चाहिये । कामी पुरुषों की कामवासना को सदैव उद्दीप्त रखते हुए भी प्रत्यक्ष संभोग का मौका बन सके वहाँ तक कम से कम देना चाहिये । किसी पुरुष के प्रति उसके मन में प्रेमभाव न जगे इसकी सावधानी शुरू से रखनी चाहिये और मातृका से पूछे बिना वह किसी भी पुरुष से संबंध न रखे ऐसी आदत आरंभ से ही डालनी चाहिये । हे महामुने, उपरोक्त नियमों के अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करने में मैंने कोई कसर नहीं रखी । परंतु यह लड़की सब कुछ चौपट करने पर तुली हुई है । अब कृपा करके आप ही इसे समझाइये ।''

मातृका की ऐसी कर्त्तव्यपरायणता से प्रभावित होकर महर्षि मरीचि ने काममंजरी को अपने धर्म, कुलाचार और मातृका के आदेश का पालन करने की राय दी । परंतु घंटों के उपदेश के बाद भी वह अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई और बोली कि अब या तो वह महर्षि के चरणों में ही रहेगी या प्राण त्याग देगी । जिद पर चढ़ी हुई नवयौवना को समझाना आसान नहीं होता । अतः हार कर मुनि ने कुट्टनी को समझाया कि वनवास के कष्टों से परेशान होकर कुछ दिनों में वह स्वयं ही वापस लौट जायेगी; अतः इस समय वह उसे आश्रम में ही छोड़ जाय । इस प्रकार काममंजरी आश्रम में रहने लगी और आश्रम के वृक्षों को जल सींचना; पुष्प-मालाएँ बनाना; और चंदन, धूप, दीप इत्यादि पूजा द्रव्य तैयार करने का काम बड़े भक्तिभाव से करने लगी । साथ ही नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं का अनासक्त भाव से शिव प्रतिमा के समक्ष निवेदन करने लगी और ऋषि मुनियों से धर्माचरण और आत्मज्ञान का उपदेश सुन कर मनन-चिंतन करने लगी ।

धीरे-धीरे वह आश्रम में अत्यंत लोकप्रिय हो उठी । खुद मरीचि ऋषि भी उसकी राय के बिना कोई काम नहीं करते थे । क्रमशः वे दुनिया को उसी की आँखों से देखने लगे । इस घनिष्ठता के फलस्वरूप शीघ्र ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि मुनि के मन में उसके प्रति तीव्र आसक्ति जागृत हुई । ज्ञानी पुरुष जब कामविह्वल हो उठते हैं, तब उन्हें अन्य महापुरुषों के उदाहरणों की कोई कमी नहीं पड़ती । श्रीकृष्ण और गोपियाँ, इंद्र और अहल्या, चंद्र और तारा, पराशर और सत्यवती आदि के दृष्टांत उनकी नज़र के सामने नाचने लगते हैं और कठोर तपस्या के बल पर वे क्षणिक स्खलनों के पाप को आसानी से नष्ट कर के आत्मोद्धार कर लेंगे ऐसी आशा से वे मन को मना लेते हैं । कामाचार भी मनुष्य के चार पुरुषार्थों में से एक प्राप्तव्य आचार है, यह तर्क भी उनकी सहायता करता है और वे बड़े वेग से विलास में डूब जाते हैं । मरीचि मुनि भी इस नियम के अपवाद नहीं थे । धर्म और मोक्ष की तो उन्हें पूरी जानकारी

थी पर अर्थ और काम की राहें उनके लिए नयी थीं । सर्वज्ञ होना चाहने वाले को ज्ञान के इस प्रकार की जानकारी होना भी आवश्यक है । अत: महर्षि ने मंजरी की सहायता से काम की अटपटी राहों का ज्ञान प्राप्त करना शुरु किया । ज्ञान की इस शाखा में सक्रिय और प्रत्यक्ष बोध के बिना ज़्यादा देर तक काम नहीं चलता । अत: मंजरी के रूप-यौवन से लुब्ध महर्षि उसका प्रात्यक्षिक ज्ञान बड़े मनोयोग से प्राप्त करने लगे और शीघ्र ही महामुनि से महाकामी बन बैठे । संसार का त्याग करके तपोवन में प्रवेश क़रने वाली और इस कार्य में गुरु की भूमिका निबाहने वाली शिष्या को इसमें कोई एतराज हुआ हो, ऐसा दिखाई नहीं देता ।

शीघ्र ही बात यहाँ तक बढ़ी कि चंपानगरी के मदनोत्सव में काममंजरी और महर्षि मरीचि रथ में बैठ कर एक साथ गये । महामुनि को इसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ । उपवन में कामोत्सव शुरू हुआ । सुंदरियों से घिरे हुए चंपानगरी के महाराज मध्यस्थान में बिराजमान थे । चारों ओर घुमा कर महर्षि को काममंजरी राजा के पास ले गयी । राजा ने दोनों का स्वागत किया और महर्षि को आदरपूर्वक बैठाया । मंजरी भी पास ही बैठ गयी । यह देखते ही राजा के इर्दगिर्द की सुंदरियों में से एक नव यौवना खड़ी हो गयी और हाथ जोड़ कर कहने लगी, ''महाराज, काममंजरी ने मेरा संपूर्ण पराभव किया है । मैं सबके सामने अपनी हार कबूल करती हूं और उसका दासत्व स्वीकार करती हूं ।'' उसकी इस अनर्गल बात का मतलब किसी की समझ में नहीं आया और सबको अत्यंत आश्चर्य हुआ । परंतु राजा ने खुश होकर काममंजरी को बहुत से रत्नाभूषण पुरस्कार में दिये । उत्सव समाप्त होते ही मंजरी ने हाथ जोड़ कर महर्षि से कहा, ''भगवन् अब आप आश्रम में प्रधारिये और अपनी तपस्या फिर से शुरू कर दीजिये। जाने से पहले मेरा अंतिम प्रणाम स्वीकार हो ।''

महर्षि पर मानो वज्रपात हुआ । इधर कुछ दिनों से मंजरी उनके जीवन का आधार बन गयी थी । उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि एकाएक यह क्या जादू हुआ । अंत में भेद खुला कि मंजरी ने नगर की किसी अन्य गणिका से शर्त बदी थी । दूसरी गणिका का कहना था कि मरीचि जैसे महातपस्वी पर किसी स्त्री का वशीकरण नहीं चल सकता । मंजरी का खयाल इससे विरुद्ध था । उसने यह काम कर दिखाने का बीड़ा उठाया और शर्त बदी कि जो हारेगा उसे जीतने वाली का आजीवन दासत्व स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार महामुनि को मालूम पड़ा कि वे दो गणिकाओं की अहमहमिका के शिकार हो गये थे, और गणिकाओं द्वारा उल्लू बनाये जाने वाले तपस्वियों की श्रेणी में उन्होंने एक और की वृद्धि की थी ।

दंडी एक समर्थ कवि और प्रतिष्ठित पंडित थे । 'काव्यादर्श' नामक काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रंथ उन्हीं की रचना है । उनके लोकप्रिय ग्रंथ दशकुमारचरित में गणिकाजीवन के महत्त्व की यह स्वीकृति समाज में उनके स्थान की निस्संदेह रूप से स्थापना करती है । इस ग्रंथ में दस कुमारों के साहसिक अनुभवों का वर्णन हुआ है । राजाओं और रानियों; विषयांध पुरुषों और कामातुर स्त्रियों, विटों और विदूषकों, जुआरियों और बटेरबाजों, बौद्ध भिक्खुओं और साध्वियों एवं विभिन्न कोटि की गणिकाओं का इसमें बड़ी यथार्थता से वर्णन हुआ है । काममंजरी की बहन रागमंजरी से संबंधित एक विचित्र घटना का वर्णन भी इस ग्रंथ में पाया जाता है । आज के किसी उपन्यास या नाटक में दशकुमार चरित में वर्णित काम प्रसंगों या श्रृंगारवर्णनों के सौवें हिस्से का भी उल्लेख हो, तो उसे अश्लील घोषित करके उसके ज़ब्त होने की संभावना रहेगी । मुक्त श्रृंगार के अलावा इस ग्रंथ में और भी ऐसी अनेक बातों का वर्णन हुआ है, जो आज हमारी समझ में न आयें या हमारी नैतिक भावना को पसंद न आयें । इस से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव-आचारों की योग्यायोग्यता की व्याख्या युग-युग में बदलती रहती है ।

२

माधवानल — कामकंदला

मृच्छकटिक और दशकुमारचरित जैसे संस्कृत के साहित्यग्रंथ देख लेने के बाद कथासरित्सागर, बृहत्कथा, बृहत्कथामंजरी आदि गणिका का महत्व स्थापित करने वाले अन्य ग्रंथों के अध्ययन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती । वसुदेवहिंडी नामक प्राकृत ग्रंथ का अवलोकन हम कर चुके हैं । अतः यहाँ पंद्रहवी शताब्दी के प्रथम चरण में गणपति कायस्थ नामक कवि द्वारा महाकावय शैली में रचित 'माधवानाल कामकंदला प्रबध' नामक अपभ्रंश के ग्रंथ का कुछ विस्तृत अध्ययन कर लेना उचित रहेगा । माधव नामक अत्यंत रूपवान ब्राहमण युवक और कामकंदला नामक वेश्यापुत्री की यह प्रेमकहानी मुगलिया सल्तनत के स्थापन-काल मे अत्यंत लोकप्रिय रही थी । हिंदी साहित्य के श्रृंगारकाल में आलम नामक मुसलमान कवि ने इसका ब्रजभाषा में अनुवाद किया था । वैसे यह कहानी विक्रम-वैताल संबंधी विस्तृत कथासाहित्य में भी पायी जाती है ।

इस काव्य में कहानी की अपेक्षा तत्कालीन गणिकाजीवन की विशिष्टताओं का वर्णन ही हमारे अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयोगी है । कथा इस प्रकार चलती है: —माधव के रूपगुण की स्त्रियों पर कुछ ऐसी मोहिनी पडती थी कि वह जहाँ भी जाता, युवा स्त्रियों में अत्यंत प्रिय हो उठता था, और शीघ्र ही उस स्थान को छोडे बिना उसका छुटकारा नहीं होता था । स्त्रियों के समुदाय में प्रिय हो उठने वाले रूप-गुण-संपन्न पुरुष उन स्त्रियों के गुरुजनों की नज़र में उतने ही अप्रिय हो उठते हैं । अभिशाप सिद्ध होने वाली इस प्राकृतिक देन के कारण माधव को अनेक स्थान छोड़ने पड़े और घूमता-घूमता वह अमरावती के राजा के यहाँ जा पहुँचा । यहाँ भी वही स्थिति उत्पन्न हो गयी । जिस दिन वह दरबार में पहुँचा उसी दिन गणिकापुत्री कामकंदला का राजा के समक्ष पहली बार नृत्य हुआ । उसका यह प्रथम नृत्य ही इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि निमंत्रित मेहमान के रूप में उपस्थित रहने वाले माधव ने राजा द्वारा सम्मानपूर्वक दिया हुआ पान का बीड़ा मंत्रमुग्ध होकर कामकंदला को खिला दिया । राजाओं को किस समय कौनसी बात पसंद आयेगी और कौनसी नहीं, यह आज की तरह उस युग में भी एक न सुलझने वाली पहेली थी । राजनर्तकी के गुणों की कद्र करने का एकाधिकार सिर्फ राजाओं को ही होता है यह मान कर, अपने अधिकार के इस अतिक्रमण से राजा साहब नाराज़ हो गये और उन्होंने माधव को दूसरे दिन भोर होने से पहले ही नगर छोड़ कर चले जाने की आज्ञा दी । नृत्यसंगीत का मर्मज्ञ होने के बावजूद हर जगह से बेआबरू होकर निकलने को मजबूर होने वाले माधव को अबकी बार कुछ घंटों की मोहलत मिली, और कामकंदला ने उसे एक रात के लिए अपने घर रोक लिया । दोनों में शायद प्रथम दर्शन से ही प्रेम की उत्पत्ति हो गई थी, जो एक रात के निकट-संपर्क से और भी घनिष्ठ हो गयी । कुछ समय तक समस्याविनोद और प्रहेलिकाओं द्वारा दोनों मनोरंजन करते रहे और बची हुई रात सुख से बिता कर, भोर होते ही, राजा की आज्ञानुसार दोनों को खिन्न हृदय से अलग होना पड़ा ।

इसके बाद माधव उज्जयनी जा पहुँचता है और श्रृंगाररस में डूबे हुए विरह-व्यंजक दोहे महाकाल के मंदिर की दीवारों पर लिख कर मन की व्यथा को भूलने का प्रयत्न करता है । रात को नगर चर्चा देखने को निकलने वाले विक्रम की नज़र उन दोहों पर पड़ती है और उनके रचयिता को ढूंढ कर दरबार में उपस्थित करने की जिम्मेदारी गोग्गा नामक गणिका को सौंपी जाती है । दूसरे ही दिन वह माधव को विक्रम के दरबार में ले पहुँचती है । मनुष्य हृदय के पारखी विक्रम को उसके दुख का कारण समझने में देर नहीं लगती । शीघ्र ही वह अमरावती के राजा के पास संदेशा भेजता है कि कामकंदला को माधव के सुपुर्द कर दिया जाय । राजा के इनकार कर देने पर विक्रम सदलबल अमरावती पर आक्रमण कर देता है । परंतु उससे पहले वह उनके प्रेम की परीक्षा लेता है । कामकंदला को माधव की मृत्यु का झूठा समाचार भेजा



जाता है जिसे सुनते ही वह मूर्च्छित हो जाती है और होश में आने पर भी मृतप्राय: होकर पड़ी रहती है। कामकंदला की मृत्यु का झूठा समाचार सुनकर माधव की भी यही दशा होती है। विकट प्रसंगों पर सहायता करने वाले वैताल को बुलाकर दोनों को होश में लाया जाता है। अमरावती का छोटा सा राज्य वीर विक्रम का अधिक समय तक मुकाबला नहीं कर सकता और शीघ्र ही दोनों प्रेमियों का मिलन होता है। शीघ्र ही उनका धूमधाम से विवाह कर दिया जाता है और समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करके वे सुख से रहते हैं।

किसी भी दृष्टि से देखने पर यह कथा प्रेम की एक अत्यंत साधारण कहानी मालूम देती है। इस रूप में हमें उसका उपयोग भी नहीं। परंतु उस युग की समाज व्यवस्था का जो विशद वर्णन इस प्रबंध में हुआ है वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रबंध की नायिका एक वेश्यापुत्री है। अंत में भेद खुलता है कि वह वेश्या के गर्भ से उत्पन्न नहीं थी बल्कि वींफू नामक वेश्या ने उसे किसी प्रतिष्ठित श्रेष्ठी के घर से चुरा लिया था। इस प्रकार उड़ाई जाने वाली सुंदर लड़कियों को गणिका व्यवसाय के लिए तैयार करने से पहले उन्हें किस प्रकार की तालीम देनी पड़ती थी इसका वर्णन हम कवि के शब्दों में उन्हीं की भाषा में सुनें: —

पाटी-लेइ अक्षर पढइ, अनइ अनुभवइ अंक।
श्लोक समस्या पेहली कहाणी कहिइ निशंक।।
सहिजइं सारस्वत पढइ काव्यकथा रस केलि।
नष्टोद्दिष्ट विधोगतइ, आणइ अक्षर मेलि।।

[अनई – और; सहिजइं – सरलता से; सारस्वत – पाणिनीय व्याकरण पढ़ने की आरंभिक बालपोथी। नष्टोद्दिष्ट – पादपूर्ति का एक प्रकार जिसमें छंद का एक चरण खाली छोड़ कर कवियों से उसकी पूर्ति करने को कहा जाता है। विधोगतइ –विधिवशात् —संयोग से। आणइ अक्षर मेलि —अक्षरों (शब्दों) का मेल बैठा देनी है।]

इस प्रकार शिक्षा का आरंभ हो जाने पर कामकंदला ने किन विभिन्न कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया, यह निम्नोक्त दोहों से स्पष्ट होता है: —

नाना नाटयकला लहइ, अन्योक्ति अधिकार।
चौरासी रूपक चवइ, पणी ते पिंगल सार।।
गुरु लघु प्लुत पढि प्रस्तरी, भरह मणी बहु भत्ति।
संगीतयि संशय नहीं, सप्त स्वरमय मत्ति।।
वाद्यकला सघली लही, तन्ती सुशीर घन सास।
सुणवा ने सुरपति जिसा, अमर करंता आस।।

[चवई – चर्चा; पणी ते – उपरांत; प्लुत – तीन मात्राओं वाला ताल; प्रस्तरी – ताल, लय आदि का ज्ञान; भरह – भरत – भरत रचित नाट्यशास्त्र; सघली – सारी; तन्ती – तन्तुवाद्य; घन – झाँझ मजीरे आदि वाद्य। सुशीर — फूंक मार कर बजाये जाने वाले वाद्य। सास — साँस रोक कर मानी जाने वाली तान। अमर – देवता।]

कामशास्त्र केतां कहुँ, कोकाकेलि भणंति।
सुवदनी सुस्वर आलवइ, जाणे मधुप भणंति।।
नृत्यकला नहि को तुला, स्वर्ग मृत्यु पाताल।
रूपइ रवि थंभइ रहइ, कोडी निशाकर भाल।।
चिंतइ चौरासी कला, लक्षण चुसठी अंग।
धर्मशास्त्र धुरीथी लहइ, भ्रान्ति सवेनी भंग।।

[कोकाकेलि – कोक पंडित रचित कामशास्त्र । आलवइ – आलाप लेना; थंभई रहइ – स्तंभित हो जाता है; कोडी – कोटि (करोड़) चुसठी – चौसठ;धुरीथी – आमूल; सवेनी – सब की]

न्यायशास्त्र नवविध पढ़इ, स्वर चउवीसे तंति ।
ज्योतिष वैद्यकला अनइ, राजनीति राजंति ।।
चतुरपणी तिणी चिंतव्याँ, एम पुराण अराढ ।
चित्रलेह जाणे चवइ, चौदइ विद्या चारि ।।
अष्टविधानी पुरवई, पोढ़ पंडित पासि ।
कामकंदला पासि रहि, अपसर दीसे दासि ।।

[तंति – तत्व सहित – गहराई से; तिणी – उसने; अराढ – अठारह चवई – संपूर्ण; अष्ट विधानी – अष्टावधान – आठों प्रकार से मन को एकाग्र करने का ध्यानयोग । पोढ – प्रौढ – दृढ; पोढ पंडित पास – पंडितो के समुदाय में भी दृढ रहने वाली । पासि रहि – पास रहने पर – सामने । अपसर दीसे दासि – अप्सराएँ दासी के समान लगती हैं ।]

कामकंदला को ऐसी सर्वांगीण शिक्षा मिली थी । इस-पर से उसके ज्ञान की विविधता और इतनी उच्च कोटि का कलानैपुण्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधना का अंदाज़ा लगाया जा सकता है । परंतु यह निपुणता इकतरफा नहीं थी । कामकंदला के प्रथम नृत्य के समय माधव दरबार में उपस्थित था । नृत्य के शास्त्रशुद्ध आयोजन के बीच भी उसे कुछ त्रुटियाँ दिखाई दी थीं । प्रतिहार का उसने इस ओर ध्यान भी खींचा था । उसके मतानुसार,

नृत्यसभा नवनव नटी, बाजइ बार मृदंग ।
सुणताँ को सांगइ नहीं, तेह तणा श्रुतभंग ।।
दक्षिण दिशि वीणा रहइ, हीण अंगुट्ठउँ हथ्थि ।
वेणुकार वादइ सुसर, तास दंत दुइ नत्थि ।।

[बार मृदंग – सात तबले और पाँच डग्गे या बारह मृदंग एक साथ बजा कर रचा जाने वाला वाद्य तरंग । को सांगइ नहीं – कोई कुछ बोलता नहीं है (किसी का ध्यान नहीं जाता है) । श्रुतभंग – बेसुरा या बेताल ।]

दक्षिण दिशा में बैठ कर वीणा बजानेवाले के हाथ में अंगूठा नहीं है और वेणुवादक के मुख में दो दांत नहीं हैं आदि सूक्ष्म त्रुटियों को भी उस कोलाहल के बीच पहचान जाने वाले माधव का संगीत ज्ञान निस्संदेह उच्च कोटि का रहा होगा । ऐसे मर्मज्ञ को रसिकों की किसी भी सभा में सम्मानपूर्ण स्थान मिल सकता है ।

इसके बाद कामकंदला के नृत्य का वर्णन हुआ है जो नृत्यकला के गहन ज्ञान का परिचय देता है । नृत्य की मुद्राओं द्वारा चतुर कलावती भ्रमरदंश का ऐसा वास्तविक अभिनय करती है कि पूरी सभा वाह-वाह पुकार उठती है । इस अतुलनीय उपलब्धि की भी राजा द्वारा विशेष सराहना न होने के कारण कलासक्त माधव ने अपना बीणा कामकंदला को खिला तो दिया । गुण की कद्र न कर सकने वाला राजा और कुछ न सही पर क्रोध तो कर ही सकता था । दरबार में किसी का सम्मान या अपमान करना सिर्फ राजा का एकाधिकार माना जाता था । अत: माधव को निष्कासन दंड दिया गया और कामकंदला का दरबार में आना बंद कर दिया गया । माधव को एक रात रहने का भी नगर में कोई स्थान नहीं था; अत: कामकंदला ने उससे अपने घर चलने की विनती की । वह उस पर मोहित हो ही चुकी थी । ब्रह्मचारी माधव को वेश्यालय में रात बिताने में पहले तो संकोच हुआ । परंतु अग्नि के संमक्ष देवताओं की शपथ खाकर कामकंदला ने उसे विश्वास दिलाया कि आज तक उसके रूप यौवन का किसी पुरुष ने उपभोग नहीं किया । गणिका के शास्त्रोक्त धर्म के अनुसार माधव जैसे गुणी और रूपवान ब्राह्मण का उसका कौमार्य

अर्पित हो, यह योग्य ही था। कामकंदला स्नान मज्जन आदि से उसका सत्कार करती है और भोजन, मुखवास इत्यादि करवा कर उसे अपने रतिमंदिर में ले जाती है। रतिमंदिर के इर्दगिर्द नृत्यशाला और चित्रशाला के कमरे थे। शयनगृह में पहुँच कर दोनों चौसर खेलते हैं और फूलमालाओं से एक दूसरे पर आघात करते हुए, स्पर्श, चुंबन, आलिंगन आदि सोपानों से गुज़र कर क्रमश: रति-क्रीड़ा में प्रेरित होते हैं। रतिविलास के इन सारे शास्त्रोक्त उपस्करों का प्रबंध में विस्तृत वर्णन हुआ है। आश्चर्य की एक बात यह दिखाई देती है कि गणिकागमन में विशेष हर्ज न मानने वाले माधव ने भोजन में सिर्फ फल और मिष्टान्न को ही स्वीकार किया। कच्ची रसोई खाने से शायद उसका वर्ण भ्रष्ट हो जाता। अत: रूपवती गणिका का देहोपभोग करने में छूत न मानने वाले विद्वान ब्राह्मण ने फलाहार करके अपने ब्राह्मणत्व की रक्षा की। रतिक्रीडा के बाद दोनों में जो समस्यापूर्ति और प्रश्नोत्तरी होती है, वह भी विचारणीय है। मनोरंजन का यह प्रकार हमारे यहाँ कितना पुराना है, यह जानने के लिए एक उदाहरण देख लेना योग्य रहेगा। माधव पूछता है: —

सरोवर पालइ हंसलु, वेली वलि-वलि खाइ।
पंख पसारइ पार विण, सर सूकइ मर जाइ ।।

[हंसलु — हंस; पालइ — पाला हुआ; वलि-वलि — मुड़-मुड़ कर; पार — किनारा]

बिजली-बत्ती के इस युग में इस पहेली का अर्थ बूझना कठिन है; पर कामकंदला को इसे दीपक के रूप में पहचान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह उत्तर देती है: —

सुण माधव ते हंसलु, कोइला केरु बाप।
दीसइ नह दीठउ गमइ, रयणीं चढइ प्रताप ।।

[कोइला केरु — कोयले का; दीसइ — दिन में; नह दीठउ गमइ — देखा भी अच्छा नहीं लगता। रयणीं — रात में।]

इसके बाद राजा की आज्ञानुसार दोनों का वियोग हो जाता है। कामकंदला अपना व्यवसाय छोड़-छाड़कर माधव के नाम का अलख जगा कर बैठ जाती है। पुत्री की ऐसी विरक्ति देख कर उसकी माता की शोक से मृत्यु हो जाती है। नगर की अन्य गणिकाएँ उसे समझाने का प्रयत्न करती हैं, पर सब व्यर्थ। इनमें की कई गणिकाएँ वेश्या-व्यवसाय का गुणगान करके उसे फिर से धंधे की ओर मोड़ने की कोशिश करती हैं। यह गौरवगाथा श्रवणीय है। वेश्याओं को अपने वेश्या का कितना अभिमान और अपने ग्राहकों के प्रति कितना तिरस्कार होता है, इसकी इस वर्णन से प्रतीति होती है। गर्व करने योग्य कुछ बातें इस प्रकार गिनायी गई हैं: —

सहस पुरुष साथिं रमउं, साचउं संभलि रंभ।
इम को रडे अभागिणी, कह वाणीअ कह बंभ ।।

[संभलि — सुन; रडे — रोती है; बंभ — ब्राह्मण। "हे रंभा, सच्ची बात सुन। हम हजारों पुरुषों के साथ रति-क्रीडा करती हैं। अमुक ग्राहक वैश्य है, और अमुक ब्राह्मण, इसकी चिंता करके कौन अभागिनी रोती होगी?"]

उत्तम कुल महिं ऊपनउ, मयण तणउ अवतार।
वली विचक्षण पणि घणा, भरिया धनभंडार ।।
आवइ आवासि आपणइ, पगि लुहंता केश।
पुण्य हुईतु पामिई, वेश्या केरूं वेश ।।

[ऊपनउ — उत्पन्न; मयण — मदन — कामदेव; वली — और; आवासि — घर में; लुहंता — पोंछते हुए; पामिई — प्राप्त होता है। पगि लुहंता केश — हमारे चरणों पर केश (मस्तक) पोंछते

(झुकाते) हुए । वश – अवतार ।]

भावार्थ यह कि पूर्व का पुण्य संचित होने पर ही वेश्या का जन्म मिलता है जिसमें हजारों कुलवान, रूपवान और धनवान पुरुष कदमों पर नाक रगड़ते हुए आते हैं । ऐसा प्रखर आत्म-विश्वास होने वाली स्त्री गणिका होने पर भी ध्यान आकर्षित कर सकती है । इसके उपरांत: —

आयइ को अगन्योतरी, कदी वेदिया व्यास ।
माइ मीटी आपणी, मुनि मूकइ मठ वास ।।
जोग तजइ जोगीसरा, ग्रहि तेम महिला माय ।
धनभण्डारी धन तजइ, भजइ आपणा पाय ।।

[अगन्योतरी – अग्निहोत्री; वेदिया – वेदज्ञ; व्यास – कथाकार । मीटी – दृष्टि: मूकइ – छोड़ देते हैं; भजइ – सेवा करते हैं । ग्रहि तेम महिला माय – सुंदरियों की माया (प्रलोभन) में पड़ कर ।]

इत्यादि विविध प्रकारों से गणिकाएँ अपने पेशे के गौरव और स्वातंत्र्य का गुणगान करती हैं । इस लंबे उपदेश के अंत में एक वाक्यांश 'दाम सरीसुं काम' (गणिका को दाम से ही काम होता है) का ध्रुवपद के समान बार-बार प्रयोग करके गणिका की समदृष्टि की प्रशंसा की गयी है ।

सिउ कोढी, सिउ दूबलु, सिउ सफेद, सिउ स्याम ।
एक कथा सी आपणइ ? दाम सरीसुं काम ।।
जर जुरण जोव्वण कीसिउ, सिउ गोरु, सिउ स्याम ।
एइ कार्था सी आपणइ ? दाम सरीसुं काम ।।
सुखो दुखो नव पूछइ, किणि परि लयावियुं दाम ।
एइ कथा सी आपणइ ? दाम सरीसुं काम ।।

[सिउ – चाहे; दूबलु – दुर्बल; जर-जुरण – जरा जीर्ण एइ कथा सी आपणइ ? – इस से हमें क्या मतलब ? किणि परि – किस प्रकार; लयावियुं – लाया – कमाया;दाम – धन ।]

सच है; गणिका के यहाँ आने वाला ग्राहक ब्राह्मण है या चांडाल, राजा है या रंक, कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा, धन कहाँ से लाया, इत्यादि बातों से गणिका को क्या मतलब ? उसे तो सिर्फ दाम से काम है । इसके बाद कुछ गाणकाएँ अपने-अपने कारनामों का वर्णन करती हैं । इनमें से भी कुछ नमूने देख लें:—

एक कहइ मइं एकनी, खाधी सोविन कोड़ी ।
देस गयउ थइ दरसणी, रोम न दीधुं त्रोडि ।।

[एकनी – अकेली; सोविन – सुवर्ण; दरसणी – भिखारी; न दीधुं त्रोडि – तोड़ कर नहीं दिया । भावार्थ: — एक पुरुष का करोड़ रुपये का सोना मैं अकेली खा गयी । आखिर अकिंचन होकर वह अपने देश लौट गया; पर जाते समय मैंने एक रोम भी तोड़ कर नहीं दिया ।]

एक कहइ मइं कारणिं, लड़इ मुआ बे वीर ।
हुं सूती सांथलि भरी, त्रीजा तणउ शरीर ।।
सात पुरुष मइं सामटा, राख्या मंदिर मांहि ।
हुं अवलूंधी आठमइ, तरुअर केरी छांहि ।।
एक उसीसइ तड़फड़इ, पांगति पडिया एक ।
सिज्या हे ठलि साथरइ, सूता रहइ अनेक ।।

[बे – दो; सांथलि भरी – बगल में लिपट कर । सामटा – एक साथ; अवलूंधी – जाकर लिपट गयी । उसी सइ – तकिये की ओर; पांगति – पैताने की ओर । सिज्या – शय्या; हेठलि – नीचे; साथरइ – दरी पर ।]

इस प्रकार उनके पराक्रमों की गाथा चलती रहती है । वर्णन कुछ अश्लील हो गया है; पर दो पुरुषों को लड़ा कर तीसरे की बगल में लिपटने वाली, सात पुरुषों को घर पर राह देखते छोड़ कर आठवें के साथ वृक्षों के झुरमुट में विहार करने वाली, और अपनी शय्या के सिरहाने, पैताने और नीचे ग्राहकों की कतार लगा सकने वाली वेश्या उसकी खुदकी और दुनिया की दृष्टि में काफी सफल मानी जायगी । पुरुष का कौनसा रूप अंतिम दोहे में वर्णित स्थिति में चूहों की तरह वेश्यालयों में पड़े रहनेवाले कापुरुषों से अधिक घृणास्पद और तिरस्कार-व्यंजक हो सकता है ?

कामकंदला का प्रेमी माधव ब्राह्मण था । अत: इसके बाद गणिकाएँ ब्राह्मणों और ऋषिमुनियों की कामुकता के पौराणिक और समसामयिक उदाहरण दे कर उनका निंदा-व्यंजक मज़ाक उड़ाती हैं । ब्राह्मणों की यह तीखी आलोचना आज के ब्राह्मण-अब्राह्मण विवाद के युग में ब्राह्मणेतरों को बहुत उपयोगी हो सकती है । ब्राह्मणों की सिद्धसाधकता, स्वार्थपरायणता और कृपणता पर पाँच सौ वर्ष पहले के इस प्रबंध में बड़ी निर्दयता से प्रहार हुए हैं । उनकी अभ्यासजड़, व्यवहारशून्यता और विद्याध्ययन के निमित्त लंबे समय तक की अनुपस्थिति उनकी रसिक स्त्रियों के लिए कितनी असहनीय और अंत में अनर्थकारी हो सकती है, इस पर भी काफी बल दिया गया है । ब्राह्मण से प्रेम करने वाली कामकंदला को ताने सुनाती हुई गणिकाओं के कुछ दोहे उद्धरणीय हैं :—

नीशत भणवा नीसरइ, न्हानी मूकि घरि नारि ।
जोव्वण जाइ जुरंता, तेह तणउ संसारि ।।

[नीक्षत — निश्चय करके; न्हानी — छोटी; जुरंता — रिस-रिस कर । अधिकांश, ब्राह्मण छोटी उम्र की स्त्री को घर पर छोड़ कर विद्या पढ़ने के लिए निकल जाते हैं और उस बेचारी का यौवन अकसर राह देखने में ही बीत जाता है ।]

तिथिवारि नक्षत्रनां, नितु नव-नवा विचार ।
खट मासे खाटे चढ़इ, एह सूई एक वार ।।

[तिथि, वार और नक्षत्रों की गणना में ही उसकी बुद्धि डूबी रहती है । खाट पर चढ़ कर (स्त्री के साथ) वह शायद छ: महीने में एक बार ही सो पाता है ।]

पुढिउ थिउ निशि पाछली, उठी अलगु थाइ ।
दर्भ माटी लइ सामटी, नीसत नदीइ जाइ ।।

[पुढिउ — प्रभात; निशि पाछली — रात का अंतिम प्रहर; सामटी — साथ । पहर रात रहे, भोर होने से पहले ही वह उठ कर अलग हो जाता है; और इसके बाद उसका समय दर्भ और मिट्टी इकट्ठी कर के स्नान-संध्या के लिए नदी पर जाने में बीतता है ।]

कलकलता, क्रूरा, कृपण, कूडा कोइ प्रतीत ।
क्षामोदरी किम खेलवइ, खिण खिण करता छीत ।।

[कलकलता — बड़बड़ाने वाला; कूडा — झूठा; छीत — छुत-छात । बात-बात में बड़बड़ाने वाला, क्रूर, कृपण और झूठी प्रीति करनेवाला एवं क्षण-क्षण में छुआछूत का विचार करनेवाला ब्राह्मण क्षामोदरी (कृशकटि) युवती नारी को कैसे खुश कर सकता है ?]

स्नान करे नित सूवरां, रहइ निरंतर नेमि ।
पेटि न खायइ पापीया, ते प्रज्जालइ प्रेमि ।।

[सूवरां — सौ बार — अनेक बार । दिन में अनेक बार वह स्नान करता है और निरंतर नियमों के पालन में लगा रहता है । (कृपणता के कारण) पेट भर भोजन भी न करनेवाले पापी ब्राह्मण प्रेम की तो मानो चिता जला देते हैं ।]

ग्रंथ के कायस्थ लेखक गणपति ने इस प्रकार की उग्र आलोचना द्वारा ब्राह्मणों की जी भर कर खबर ली है । लोभी, फटेहाल, भिखारी, दमड़ी तोड़ इत्यादि विशेषणों का कदम-कदम पर प्रयोग करके कुशल लेखक ने प्रेम-व्यापार के लिए ब्राह्मणों की निपट अयोग्यता सिद्ध की है । इस प्रकार ब्राह्मणों की निपट निखट्टूपन की विदारक टीका करने के बाद गणिकाएँ कामकंदला को युग्म सृष्टि का महत्व समझाती हैं जिसमें पुरुष के बिना स्त्री की गाड़ी चल ही नहीं सकती । यथा:—

विण तरुवर जिम वेलडी, कंठ विणा जिम माल ।
पुरुष विहूणी पद्मणी, किणि परि ठेलिसि काल ।।
पाणी पाखइ पय पियइ, अन्न विणा फल खाइ ।
प्रमदाइ पण पुरुष विण, रति न रहिणउं जाइ ।।

[ठेलिसि काल — समय व्यतीत करना । पाखइ — के अभाव में; रति — रत्ती भर भी — क्षण भर भी; न रहिणउं जाइ — रह नहीं सकती ।]

स्त्री-मात्र के लिए, और विशेष तौर से गणिकाओं के लिए पुरुष की अनिवार्यता सिद्ध करके गणिकाएँ अपने भाग्य की सराहना करती हैं । विवाहिता स्त्री को तो एक ही पुरुष से संतोष मानना पड़ता है; जबकि गणिका को नित नये पुरुष की प्राप्ति हो सकती है । इस नित्य-वैविध्य की प्रशस्ति इस प्रकार गायी गई है: —

निशि जातइ निर्माल्य ज्यां, कुसुम न धरिइ तेह ।
वासी पुरुष न विलसइ, वेशी बड़ाई एह ।।
दीहे-दीहे नव-नवे, भोगविये बहु भत्ति ।
क्षणि क्षणि छैयल्ल पलट्टइ, वेशी तणी ए गत्ति ।
दिन-दिन अन्न जीमइ नवां, नवां ज पीजइ नीर ।
सुणि सुंदरी तिम सेवइ, नर नव-नवां शरीर ।।

[निर्माल्य — कुम्हलाये हुए; वासी — बासी — पुराने; वेशी — वेश्या की; दीहे-दीहे — प्रतिदिन; छैयल्ल — छैला — प्रेमी; पलट्टइ — बदल देती है; जीमइ — खाना; सेवइ — उपभोग करना ।]

रीति इशी छे आपणइ, जिम बेड़ी जलमांहि ।
तेडी कोय न आणिइ, जातां न धरइ बांहि ।।

[इशी — ऐसी; बेड़ी — नाव; तेड़ी — बुला कर ।
हमारी वृत्ति जल में तैरने वाली नाव के समान निर्लेप होती है । आने वाले को हम बुलाती नहीं हैं, और जाने वाले की बाँह नहीं पकड़तीं ।]

इसके बाद गणिकाजीवन के उन्मुक्त स्वातंत्र्य का अत्यंत वास्तविक वर्णन हुआ है: —

नहि पडलु नहि परणवी, नहि कोइ जोवी न्याति ।
वेश्या विशनी नइ विषइ, धरती आवइ घात ।

[पडलु — सगाई की रस्म; परणवी — विवाह; न्याति — जाति; विशनी — व्यसनी — वेश्यागामी; नइ विषइ — के संबंध में; धरती आवइ — निभाती आई है; घात — प्रघात — परंपरा ।
गणिकावृत्ति में विवाह-सगाई का झंझट और जातपांत का बखेड़ा नहीं होता । प्रेमियों के निर्वाचन में वह (उन्मुक्तता की) पुरानी परंपरा का पालन करती है ।]

चिंता किशी न संपजइ, मांदई मुई न शोक ।
एहवी वेश्या अवगणइ, का घर मांडइ लोक ।।



वशी मुई विशनी तणउ, नहि किहांइ घरभंग ।
विशनी मरतइ वेशी पण, न करइ अडुउ अंग ।।
इम जाणिअ अति धीट था, निर्गुण नारी सुरग ।
उत्तम-उत्तम आवशइ, जो अजरामर अंग ।।

[किशी – किसी प्रकार की; न संपजइ – उत्पन्न नहीं होती । मांदइ – बीमार; मुई – मृत्यु होने पर; कां – किस लिए; मांडइ – बसाना; न करइ अडुउ अंग – शोक से शरीर नहीं गलाती; धीट – धृष्ट; निर्गुण – जिस पर कोई रंग नहीं चढ़ता; सुरंग – सुंदर; आवशंइ – आते रहेंगे ।]

इससे बढ़कर उपयोगितावादी दृष्टिकोण और क्या हो सकता है ? न वेश्या के मरने से वेश्यागामी को दुख; न व्यसनी के मरने का वेश्या को रंज । वेश्या के मरने से किसी की गृहस्थी नहीं उजड़ती और प्रेमी के मरने पर वेश्या भूखी नहीं मरती । फिर, न मालूम, लोग क्यों घर बसाने का झंझट मोल लेते हैं ! रूप-यौवन सलामत रहा, तो उत्तम से उत्तम पुरुष अपने आप खिंचे चले आते हैं । अतः वेश्या को तो लापरवाह होकर मस्त रहना चाहिये । परंतु वेश्याधर्म के ऐसे प्रभावशाली उपदेश का भी कामकंदला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और वह स्पष्ट कह देती है कि उसका शरीर या तो माधव को अर्पित होगा, या अग्नि को । हार कर वेश्याएँ चली जाती हैं । शीघ्र ही माधव का वियोग दुःसह हो उठता है और मुखसे उसके नाम की रट लग जाती है । इसके बाद विप्रलंभ श्रृंगार का संस्कृत के श्रेष्ठ महाकाव्यों की श्रेणी में रखा जाने योग्य वर्णन हुआ है और क्षण भर के लिए पाठक यह भूल जाता है कि विरहताप से दग्ध ये उक्तियाँ किसी पण्यांगना की हैं । भावना की ऐसी उत्कटता का अनुभव स्वकीया को भी शायद ही होता हो । इसके बाद परंपरागत बारहमासा और नायिका की ऋतुपरिवर्तन के साथ होने वाली दुर्दशा का विस्तृत वर्णन हुआ है । बारहमासा और विरही जनों की ऋतुचर्या बड़े प्राचीन काल से हमारे काव्यसाहित्य के अभिन्न अंग रहे हैं ।

दूसरी ओर निरतिशय सौंदर्य के अभिशाप से पीड़ित माधव की दशा भी उतनी ही दयनीय हो उठती है । घूमता-घामता वह कीर्तिमान विक्रम की उज्जयनी नगरी में जा पहुँचता है । नगर के बाहर ही वेश्यावृंद दिखाई दे जाने के कारण शुभ शकुन होता है; परंतु उस निराश मनोवृत्ति में आशा की किरण भी दिखाई नहीं देती । महाकाल के मंदिर की दीवार पर वह अपनी मनोव्यथा इन शब्दों में लिखता है:—

'भांजइ दुःख पीयारडुं सो अवनीतलि नत्थि ।'

(प्यार के दुःख का भंजन करनेवाला पृथ्वीतल पर कोई नहीं है ।) रात को नगर का हालचाल देखने के लिए निकलने वाले विक्रम की नज़र इस अर्धाली पर पड़ जाती है । उसके नीचे दूसरी अर्धाली लिख कर वह दुःखभंजन का आश्वासन तो देता है, पर मूल दोहा लिखने वाले संतप्तहृदय प्रेमी को वह नहीं ढूंढ सकता । आखिर गोग्गा नामक वेश्या पर यह जिम्मेदारी सौंपी जाती है । चतुर वारांगना शीघ्र ही माधव का पता लगा लेती है । माधव अपनी व्यथा कह सुनाता है । उसके प्रेम की परीक्षा करने के लिए, खुद वेश्या होने पर भी गोग्गा पहले तो वेश्याओं की निंदा करती है और उनके प्रेम का बनावटीपन सिद्ध करते हुए बाज़ारी नारी की खातिर जिंदगी बरबाद न करने की राय माधव को देती है । परंतु प्रेमी-प्रेमिका इस प्रकार की सलाहों को मानने लगें, तो प्रेम कहानियाँ आगे कैसे बढ़ें ? गोग्गा फिर भी प्रयत्न नहीं छोड़ती, और वेश्याजीवन की निंदा निम्नोक्त शब्दों में करती है: —

वेश्या विषनी वेलडी, कामी कुंकुम वृक्ष ।
बाली बाउलिउ करिय, लघुवय माहिं लक्ष ।।
वेश्या पावक पूतली कामी काठ शरीर ।
तन-धन-यौवन सिउं दहइ, रहि न नाम्यांनीर ।।

[बाली – जला कर; बाउलिउ – बबूल; सिउं – सब; रहि न नाम्यां नीर – फिर कितना भी पानी छिड़किये, कोई फायदा नहीं ।]

विक्रम राजा खुद भी माधव को समझाते हैं; परंतु वह टस से मस नहीं होता, और कंदला की तरह वह भी घोषणा करता है कि "या तो मैं अपनी प्रियतमा को प्राप्त करूँगा, या अग्निप्रवेश करूँगा।" इस प्रकार उसके प्रेम की उत्कटता सिद्ध हो जाने पर विक्रम उसकी सब प्रकार से सहायता करता है। युद्ध करके कंदला को प्राप्त किया जाता है और उनका विवाह कर दिया जाता है। इसके बाद के रतिविलास का वर्णन संभोग श्रृंगार की परंपरागत प्रणाली से हुआ है। मालूम देता है कि 'कुमारसंभव' से लगा कर तब तक यह परंपरा अक्षुण्ण चली आ रही थी। परंतु वर्तमान युग की शिष्टता इस वर्णन को उद्धृत करने की इजाज़त नहीं देती।

इस लंबे प्रबंध-काव्य में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं:—

१. आज से सिर्फ पाँच सौ वर्ष पहले तक महाकाव्य की नायिका का महत्वपूर्ण स्थान गणिका को दिया जा सकता था। समाज द्वारा गणिका के निर्विवाद स्वीकार का इससे बढ़ कर कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

२. ब्राह्मण और गणिका का विवाह उस युग की नीतिभावना को असंभव या अशिष्ट दिखाई नहीं दिया।

३. गणिका सती नारी के जैसी एक निष्ठा और प्रीति व्यक्त कर सकती थी, और कुलस्त्री की तरह विरहव्यथा से पीड़ित हो सकती थी।

संस्कृत के 'मृच्छकटिक' नाटक और अपभ्रंश के 'माधवानल कामकंदला' प्रबंध में गणिका के मनुष्य के रूप में स्वीकार का और उसके सामाजिक महत्व की स्थापना का बड़ी ईमानदारी से आलेखन हुआ है। उपरोक्त प्रबंध का लंबा विवेचन केवल एक लोकप्रिय उदाहरण देने की दृष्टि से हुआ है। वैसे हिंदू और जैन साहित्य के रासो, प्रबंध, चंपू आदि प्रकारों में इस प्रकार के अनेक दृष्टांत मिलते हैं और गणिकाओं के उल्लेख तो हमारे पूरे साहित्य में प्रचुरता से बिखरे हुए हैं। बीते हुए युगों की सामाजिक व्यवस्था समझ पाने में इन ग्रंथों की सहायता अनमोल सिद्ध होती है।

३
अन्य साहित्यिक उल्लेख

अपभ्रंश में से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास होने के संक्रमणकालीन साहित्य में गणिकाओं का उल्लेख कदम-कदम पर मिलता है। भारतीय भाषाओं के आधुनिक रूपों का आरंभ हो जाने पर भी यह प्रवृत्ति पूर्णतः नष्ट नहीं हुई थी। गुजराती के प्रेमानंद जैसे संयमी कवि ने भी गणिकाजीवन का उल्लेख किया है। नल राजा के सुराज्य का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि उसके राज्य में घरों के दरवाज़े रात-दिन खुले रहते थे फिर भी कोई चोरी नहीं करता था; शिकारियों और पारधियों तक ने हिंसा का त्याग कर दिया था और गणिकाओं ने कुल स्त्रियों जैसा मर्यादाबद्ध आचरण स्वेच्छा से स्वीकार किया था। इसी प्रकार नृत्यसंगीत का व्यवसाय के रूप में स्वीकार करने वाली गंधर्व, किन्नर, भोजक, कत्थक, नट आदि जातियों का और उनके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई नटी, नर्तकी आदि पेशेवर स्त्रियों का उल्लेख भी बहुतायत से हुआ है। गणिकाजीवन ने प्राचीन युग के कवियों की तरह आधुनिक युग के कवियों की कल्पना को भी प्रभावित किया है। गुजराती में शामल भट्ट की कविता में इसका विस्तार अधिक पाया जाता है। उदाहरणार्थ उनके 'विद्याविलासिनी' नामक कथाकाव्य में मणिमंजरी नामक गणिका का चरित्र-चित्रण देखा जा सकता है। पूरी कथा की रचना इस सूत्र के आसपास हुई है कि सामान्या गणिका भी किसी राजकुमार का पत्नीपद प्राप्त कर सकती थी। इस कथा का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

किसी राजा के प्रधान का सबसे छोटा पुत्र विमलदंत बिलकुल मूर्ख और निकम्मा सिद्ध होता है।



किस्से-कहानियों में अक्सर सब से बड़े भाई को मूर्ख और सबसे छोटे को बुद्धिमान माना जाता है । सात-समंदर पार की राजकुमारियाँ अक्सर छोटे भाइयों को ही पसंद करती देखी जाती हैं । परंतु यहाँ बात कुछ उलटी थी । सरस्वती के शाप के कारण विमलदंत कई जन्मों से विद्याबुद्धि से बंचित रहा था । लोग उसे तिरस्कार से मूर्खचट् या विनेचट भी कहते थे । एक बार पिता ने पाँचों पुत्रों से उनकी भविष्य की योजनाओं के संबंध में पूछा । विनेचट वैसे तो मूर्ख था, पर कल्पना में राज्य और राजकुमारियों के स्वप्न देखा करता था । उसकी योजना संक्षेप में यह थी कि वर्तमान राजा को मार कर राज्य प्राप्त किया जाय और राजकुमारी से विवाह किया जाय । पिता ने शेखचिल्ली पुत्र को खूब फटकारा । बुद्धि न होने पर भी आदमी हवा में महल बना सकता है और सीख की बात कहने पर नाराज़ भी हो सकता है । विनेचट भी रूठ कर पिता के घर से भाग गया ।

छः महीनों तक वह बनजारों की टोली के साथ भटकता रहा और घूमता-घामता शीतलपुर नगर में पहुँचा । यहाँ देवकृष्ण नामक एक वयोवृद्ध ब्राह्मण की पाठशाला थी । मूर्खचट उनकी शरण में जा पहुँचा । वृद्ध विद्वान ने उस मूर्ख के पीछे काफी मेहनत की, पर विद्या की देवी उस पर प्रसन्न नहीं हुई । गुरुजी राजगुरु भी थे । राजकुमारी विद्याविलासिनी और प्रधानपुत्र चंद्रबुद्ध भी उन्हीं की पाठशाला में पढ़ते थे । सहशिक्षा से प्रेम उत्पन्न होने की सुविधा उस प्राचीन युग में भी, हम मानते हैं उससे कहीं अधिक उपलब्ध थी । विद्या और चंद्रबुद्ध भी इस नियम के अपवाद नहीं थे । दोनों ने बचपन में ही एक दूसरे से एकनिष्ठ रहने की कसमें खायीं थी और एक दिन नगर से चार योजन दूर आदितेश्वर के मंदिर में मध्यरात्रि के बाद मिल कर भाग जाने की योजना बनायी । प्राचीन युग की राजकुमारियाँ इस मामले में राजकुमारों से एक कदम भी पीछे हों, ऐसा दिखाई नहीं देता; फिर लोग नये ज़माने की लड़कियों को ही क्यों दोष देते हैं, यह समझ में नहीं आता । राजकुमारी से विवाह करने की महत्वाकांक्षा किसे नहीं होती ? साथ पढ़ने वाले प्रधानपुत्र के लिए तो वह और भी स्वाभाविक और क्षम्य मानी जायेगी । परंतु राजा की मरज़ी के खिलाफ गुप्त रूप से यह साहस करने में दूरदर्शी प्रधान पुत्र को कुछ हिचकिचाहट हुई और ऐन मौके पर उसने राजकुमारी को समझाने की कोशिश की । परंतु जनमान्यता के अनुसार पुरुष की अपेक्षा आठ गुने कामावेश का अनुभव करने वाली युवती नारी को यह क्योंकर पसंद आ सकता था ? उसने उसे धमकी दी कि उसकी इच्छा के अनुसार वह नहीं चलेगा, तो वह उस पर झूठे-सच्चे अभियोग लगा कर उसे कठिनाई में डाल देगी ।

उच्च परिवारों की स्त्रियों से गुप्त संबंध रखने वालों को यह भय सदा बना ही रहता है । अतः प्रधानपुत्र को नामरज़ी से सही, पर सम्मति देनी पड़ी । संकेतानुसार मध्यरात्रि के बाद राजकुमारी आदितेश्वर के मंदिर में पहुँच गयी । परंतु रात-दिन राजनीतिक षडयंत्रों के वातावरण में रहने के कारण प्रधानपुत्र भी युक्ति-प्रयुक्तियों से परिचित था । राजकुमारी को भगा ले जाने की हिम्मत उसे आखीर तक नहीं हुई । सोचते-सोचते उसका ध्यान पाठशाला के महामूर्ख विनेचट की ओर गया और उसने उसे समझा-बुझा कर अपना स्थान लेने के लिए तैयार कर लिया । मूर्ख विनेचट को इस साहस के परिणामों की कल्पना भी नहीं थी । उसे तो इसमें अपनी बचपन की इच्छा पूरी होती दिखाई दी । निर्भयता सदा वीरता से ही प्रेरित नहीं होती । प्रायः वह अज्ञान से भी जन्म लेती है । अतः विनेचट प्रधानपुत्र के कपड़े पहन कर और उसके घोड़े पर बैठ कर संकेतस्थान पर जाने को राज़ी हो गया ।

परंतु ऐन वक्त पर उस महामूर्ख को भी कुछ सुबुद्धि सूझी । जाने से पहले गुरुजी के पाँव छूकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की उसे इच्छा हुई । गुरुजी के लंबे जीवन में, उनके प्रयत्नों के बावजूद कुछ भी न पढ़ पाने वाला ऐसा मूर्ख शिष्य उन्हें पहली बार ही मिला था । परंतु फिर भी उनके मन में उसके प्रति वात्सल्य था । नींद से जगाकर पाँव छूने को आने वाले इस मूर्ख पर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने सरस्वती का आवाहन किया । परमविद्वान गुरुजी के याद करते ही देवी सरस्वती प्रकट हुईं । इस मूर्ख शिष्य पर कृपा नहीं हुई, तो वे अपना शीर्ष समर्पित करके देवी को प्रसन्न करेंगे ऐसी आत्यंतिक भूमिका

ली जाने पर भगवती विवश हो गयीं, और भक्त की इच्छानुसार मूर्खचट की जिह्वा पर प्रकट हुईं। पलक झपकते ही महामूर्ख विनेचट सकल शास्त्र प्रवीण, सर्वतंत्र स्वतंत्र, परम विद्वान बन गया। मूर्ख शिष्य के लिए शीर्षपूजा करने को तत्पर होने वाले गुरु आज के युग में कितने होंगे? अपने आपको शिक्षाशास्त्र के विशेषज्ञ मानने वाले विद्वान अपना हृदय टटोल कर यह प्रश्न अवश्य पूछें।

सरस्वती का वरदान और गुरु का आशीर्वाद लेकर विनेचट आगे बढ़ा। राजपुत्री अपनी धात्री के साथ मिलनस्थान पर राह देख ही रही थी। प्रधानपुत्र की पोशाक पहनने और उसी के अश्व पर बैठने के कारण अंधेरे में पहचाने जाने का विशेष भय नहीं था। परंतु बातचीत होने की संभावना थी ही। चोरी से भागनेवालों को वैसे भी कदम-कदम पर खटका रहता है। परंतु इतनी बाधाओं को पार करके विद्याबुद्धि पा सकने वाला विनेचट भाग्य का बली था इसमें कोई संदेह नहीं। अतः राजकुमारी ने अंधकार में ही देवता की साक्षी में उसे वरमाला पहनाई, और घोड़ों पर सवार होकर वे आगे बढ़ गये। भोर होते-होते तो वे काफी दूर निकल गये। ऊषा के प्रथम प्रकाश में राजकुमारी को अपने प्रियतम का मुख देखने की इच्छा हुई। परंतु मुख देखते ही उस पर मानो वज्रपात हुआ। अपने प्रियतम चंद्रबुद्ध के बदले उसे महामूर्ख विनेचट के दर्शन हुए।

चंद्रबुद्ध के साथ मिल कर वह इस वज्रमूर्ख सहपाठी की अनेक बार खिल्ली उड़ा चुकी थी। परंतु अब क्या हो सकता था। देवता की साक्षी में वरमाला पहनायी जा चुकी थी। आज का युग होता तो धोखा देने का दावा किया जा सकता था। विद्याविनोदिनी कितनी ही धृष्ट हो, आखिर वह नारी थी। अपने प्रेमी के साथ भागने का दुस्साहस करने पर भी वह आर्य स्त्री थी। पिता के राज्य से वह काफी दूर पहुँच गयी थी; और यह कदम उठाने के बाद शायद उनके स्नेह पर भी उसका कोई अधिकार नहीं रहा था। दुनियादार और अनुभवी धात्री ने राय दी कि अब तो जो कुछ हुआ उसको स्वीकार करने में ही भलाई है। पर बचपन से ही स्वतंत्र स्वभाव की और ज़िद्दी होने के कारण विद्या ने इतनी आसानी से हथियार नहीं डाले, और जीवन भर विनेचट का मुँह न देखने की प्रतिज्ञा की। इसमें उसका दोष भी क्या था? उसकी नज़र में तो वह अब भी मूर्ख और निर्बुद्धि था।

इस प्रकार ठगी जाने के कारण खिन्न होकर विद्या विलासिनी मनमानी दिशा में आगे बढ़ने लगी। वफादार धात्री उसके पीछे-पीछे चली और तिरस्कृत विनेचट सब से पीछे। राजकन्या से विवाह करने की साध तो उसे बचपन से ही थी; और अब वरमाला द्वारा जन्मजन्मांतर के लिए पति के अधिकार प्राप्त कर चुकने पर अपनी विवाहिता पत्नी को इतनी आसानी से छोड़ देने को वह तैयार नहीं था। चलते-चलते तीनों हेमपुरी नगरी में जा पहुँचे। यहाँ एक तिमंजिला मकान लिया गया; और नीचे की मंज़िल पर विनेचट, बीच में धात्री, और तिमंजिले पर विद्याविलासिनी, इस तरह रहने की व्यवस्था हुई। धीरे धीरे, नगर में विनेचट की विद्वान के रूप में प्रसिद्धि होने लगी और राजा एवं प्रजा, दोनों का प्रेम उसे प्राप्त हुआ। धात्री बहुत समझाती थी पर मानिनी राजकन्या टस से मस नहीं हुई। इस प्रकार एक ही मकान में रहने पर भी सात वर्ष तक दोनों ने एक दूसरे से बात भी नहीं की।

इसके बाद एक विशेष घटना हुई। राजाज्ञा से नगर के बाहर एक तालाब खोदा जा रहा था। खुदाई में से अठारह गज लंबा और नौ गज चौड़ा एक ताम्रपट मिला। खुदाई बंद हो गयी, और सब लोग ताम्रपठ के लेख का अर्थ लगाने में मशगूल हो गये। बहुत कोशिश करने पर भी किसी से लेख की लिपि नहीं पढ़ी गयी। राजा भी हठपर चढ़ गया और उसने ताम्रलेख पढ़ सकने वाले को आधा राज्य और राजकुमारी इनाम देने का ढंढोरा पिटवा दिया। प्राचीन युग के राजा लोग किसी भी कठिन काम का इनाम शायद इसी रूप में देते थे। परंतु प्राचीन लेखों को पढ़ना आसान काम नहीं। अशोक के शिला लेखों का अर्थ अभी कुछ वर्ष पहले ही लगाया जा सका है। मोहनजोदड़ो की लिपि आजतक नहीं पढ़ी गयी और मिस्र की चित्रलिपि का सही आशय आज भी विवादास्पद है। आधा राज्य या राजकुमारी प्राप्त करने का मोह रखने जैसी रसिकता और साहसिकता भी आज के विद्वानों में नहीं रही! परंतु सरस्वती की सीधी कृपा के कारण विनेचट ने यह



काम कर दिखाने का बीड़ा उठाया । लेख सही तौर से पढ़ा गया और उसमें दी हुई सूचनाओं के अनुसार खुदाई करने पर स्वर्ण और रत्नों का बेशुमार संचय प्राप्त हुआ । विनेचट की विद्वत्ता और उसके लगाये हुए अर्थ की यथार्थता प्रमाणित करने का इससे बढ़ कर प्रमाण क्या हो सकता था ? राजा की घोषणानुसार वह आधे राज्य और राजकुमारी के हाथ का अधिकारी बना ।

परंतु राजा को जब यह मालूम पड़ा कि उसके घर में एक सुस्वरूप स्त्री पहले से ही मौजूद है, वह वचनपालन में आगापीछा करने लगा । सौत के रहते अपनी पुत्री का इस अजनबी से विवाह करने की उसकी बिलकुल इच्छा नहीं थी; अत: उसने अपने कुलाचार का बहाना बनाया कि ऐसी हालत में राजकन्या का भावी पति कुलदेवी के समक्ष वीणा बजाये, और उसकी प्रथम पत्नी नृत्य करे, तो ही यह विवाह हो सकता है । उसने सोचा होगा कि यह शर्त पूरी करना विनेचट के लिए असंभव होगा । परंतु वह तो सरस्वती के वरदान से सकल शास्त्रों में ही नहीं, सकल कलाओं में भी पारंगत हो चुका था; अत: उसने यह शर्त मंजूर कर ली । विद्याविलासिनी को पिछले दिनों की इन घटनाओं के समाचार मिलते रहे थे; परंतु अपने पति की योग्यता पर उसे अब भी विश्वास नहीं हो रहा था । वीणावादन वाली शर्त सुनकर तो उसे विश्वास हो गया कि वह इसे कभी पूरी नहीं कर सकेगा । परंतु शहर भर की चर्चा का विषय बनी हुई विनेचट की योग्यता की लंबे समय तक उपेक्षा करना मुश्किल था; अत: इतने वर्षों के बाद उसने उसकी परीक्षा लेने का निश्चय किया और उससे वीणा सुनी । विनेचट का वादन-कौशल्य देख कर उसका सारा अभिमान चूर हो गया, और वह शर्त के दूसरे भाग के अनुसार नृत्य करने को तैयार हो गयी । नगर के बाहर चंडी-मंदिर में नृत्य-वाद्य का समारोह हुआ, और दोनों की कलानिपुणता का ऐसा गंगा जमुनी प्रवाह बहा कि दोनों देह-भान भूल कर कला के सात्विक आनंद से विभोर हो गये और एक दूसरे के साथ मानो एकाकार हो गये । जीवन में पहली बार पुरुष के श्रेष्ठत्व का अनुभव होते ही विद्याविलासिनी इधर-उधर की सब बातें भूलकर पति के समक्ष आत्मसमर्पण करने को उतावली हो उठी । परंतु इतने वर्षों के मिथ्याभिमान और विचित्र व्यवहार ने उसके प्रेम पर लज्जा और आत्मग्लानि का मोटा आवरण डाल दिया । पति की क्या प्रतिक्रिया होगी, इसका भरोसा न होने के कारण उसने उसके प्रेम की एक बार और परीक्षा करने का निश्चय किया । नृत्य के समय चंडी-मंदिर में उसका एक नूपुर गिर गया है इस बहाने उसने विनेचट को वापस भेजा; और नूपुर लेकर भोर होने से पहले ही लौट आने की विनती की । उसे मालूम था कि नगर के दरवाज़े मध्यरात्रि के बाद बंद हो जाते हैं, अत: इस बहाने उसने पति के प्रेम की उत्कटता और उसकी बुद्धिमत्ता को परखना चाहा ।

कहानी में मानो अब तक उत्कंठा का अंश कम हो, यह मान कर कवि ने और भी अनेक नाट्यमय घटनाओं का आयोजन किया है । वापस लौटते समय नगर के दरवाज़े बंद हो गये, अत: विनेचट ने परनाले के मार्ग से प्रवेश करने की कोशिश की । परंतु परनाले में घुसते ही उसे साँप काटा और बेहोश हो कर वह नगर के परकोटे के पास गिर गया । नगर की सबसे प्रसिद्ध गणिका मणिमंजरी वहाँ से गुज़र रही थी । इस गणिका के प्रवेश से कहानी की नाट्यमयता की रही सही कसर पूरी हो जाती है । विनेचट अब तक नगर में काफी प्रसिद्ध हो चुका था अत: मशाल के प्रकाश में वह उसे पहचान लेती है और अपने घर ले जाती है । मंत्रबल से उसका जहर उतार दिया जाता है । होश में आते ही वह मणिमंजरी से पुरस्कार मांगने की प्रार्थना करता है और मुँहमांगी चीज़ देने का वचन देता है ।

मणिमंजरी का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है: — "मणिमंजरी शहर के सबसे भव्य प्रासाद में रहती थी । गणिका होने पर भी वह शुद्ध आचार का पालन करती थी और कभी असत्य नहीं बोलती थी । ज्ञान-विद्या और रूपलावण्य में उसकी जोड़ी मिलना मुश्किल था । रूपगुण सम्पन्न सात सौ षोडशवर्षीया सहेलियाँ उसकी सेवा करती थीं । उम्र उसकी कुल में बीस साल की थी; परंतु अपने रूपयौवन और काम कौशल्य के बल पर उसने बड़े-बड़े राजाओं को वश में कर रखा था । कामरूप देश की निवासिनी होने के कारण मंत्रतंत्र और वशीकरण में भी वह प्रवीण थी । नृत्य संगीत का ज्ञान और संभाषण-चातुर्य

भी उसमें उच्च प्रकार के थे।'' ऐसी उच्च कोटि की गणिका ने विनेचट से एक ही अनुग्रह चाहा कि वह उसको पत्नी रूप में स्वीकार करे। मणिमंजरी जैसी ऐश्वर्यवान गणिका को भी विवाह की इच्छुक चित्रित करके कवि ने उसे वसंतसेना और कामकंदला की श्रेणी में ला बैठाया है। इसे केवल केवल कावकल्पना ही मानना योग्य नहा होगा। आरंभ के परिच्छेदों में हम देख चुके हैं कि स्त्री होने के नाते विवाह की कामना अधिकांश गणिकाओं के हृदय में सदा बनी रहती है। किसी भी देश और किसी भी युग के साहित्य में इसके चाहे जितने उदाहरण मिल सकते हैं।

यह एक नयी मुश्किल खड़ी हुई। दो स्त्रियों के जंजाल से बचने का प्रयत्न करने वाले विनेचट के गले में तीसरी स्त्री आ पड़ने की संभावना उत्पन्न हुई। प्राचीन कथानकों में यह घटना बहुतायत से पायी जाती है। एक से चार और चार से चौबीस पत्नियों का भार उठाने को मजबूर होने वाले असहाय महापुरुषों का वर्णन हम पहले भी पढ़ चुके हैं। पुरुष लेखकों का उन्मुक्त मनोविहार इससे अधिक रसमय स्थिति की कल्पना ही नहीं कर सकता। अत: वचनबद्ध हो चुकने वाला विनेचट मणिमंजरी के साथ रहने को विवश होता है। विद्वान कहे जाने वाले और अन्य स्त्री से प्रेम होने का इकरार करने वाले इस दुर्लभ्य पुरुष पर मंजरी को विश्वास नहीं होता। अत: अपने देश की प्रथानुसार, वह कामाक्षरी मंत्र से सिद्ध किया हुआ धागा उसके पाँव में बेमालूम बाँध देती है, जिसके प्रभाव से वह दिन में तोता बन जाता है और रात को मनुष्य का रूप धारण करके उसके साथ विलास करता है। इस स्थिति का राज़ीखुशी से स्वीकार करने को आज भी अधिकांश पुरुष तैयार हो सकते हैं; और बाहर से चाहे जैसा दिखावा करने पर भी अधिकांश पतियों की स्थिति इससे विशेष भिन्न शायद होती भी नहीं!

इस तरफ विनेचट की तो यह दशा हुई, और दूसरी ओर विद्याविलासिनी, राजकन्या लीलावती, राजा और प्रधान उसके गायब हो जाने के कारण व्यथित हो उठे। छ: मास में उसका पता न मिले, तो चारों ने प्राणत्याग करने का निश्चय किया। समय बीतते देर नहीं लगी और इस अवधि में केवल तीन दिन शेष रहे। इसी समय मंजरी से एक ग़लती हो गयी। एक दिन भोर होने पर उसने विनेचट को तोता तो बना दिया, पर पिंजरे का द्वार बंद करना वह भूल गयी। मौका मिलते ही शुकरूपधारी विनेचट उड़ निकला और सीधा विद्या के महल में पहुँचा। परंतु वहाँ के सारे खिड़की-दरवाज़े बंद थे; अत: वह लीलावती के यहाँ पहुँचा। विरहोत्कंठिता राजकन्या छत पर टहल रही थी। विनेचट ने उसका ध्यान आकर्षित किया और पाँव में बंधा हुआ धागा खुलवाकर मनुष्यरूप प्राप्त किया। इसके बाद पूरी घटना उसने संक्षेप में कह सुनायी। वचनबद्ध होने के कारण, इस तरह भाग आना उसे मंजूर नहीं था। अत: उसने लीलावती से बिनती की कि राजा से कह कर किसी युक्ति से गणिका के यहाँ से तोते का पिंजरा मंगवा लिया जाय। इतनी बात कह कर उसने धागा बँधवाया और तोता बन कर पिंजरे में जा बैठा।

प्राणत्याग की तैयारी में लगे हुए राजा से राजकुमारी ने सब बातें कहीं। राजा तुरंत ही मंजरी के आवास में पहुँचा और प्रासाद में घूमते-घूमते, तोते का पिंजरा देखकर उसकी मांग की। मंजरी ने बहुत आनाकानी की। पर राजाज्ञा वेदवाक्य के समान होती है, अत: अंत में उसे उसका पालन करना पड़ा। इतना वह अवश्य समझ गयी कि यह उसके प्रेमी को उससे छीनने का षडयंत्र था। अत: पिंजरा देने से पहले उसने राजा से वचन ले लिया कि विद्या और लीलावती के साथ-साथ उसको भी विनेचट की तीसरी पत्नी के रूप में स्वीकार किया जाय। राजा इस बात से इनकार नहीं कर सका और मूर्ख माना जाने वाला विनेचट तीन स्त्रियों का स्वामी बना। यद्यपि अब वह विद्वान और ज्ञानी हो गया था, पर इस नयी परिस्थिति में उसकी विद्वता और समझदारी अधिक समय तक टिक सकी हो, यह संदिग्ध मालूम देता है। इन तीन पत्नियों में से एक गणिका थी। परंतु इस बात में न तो उसे कोई आपत्ति हुई थी, न उसकी दो सुविद्य और राजवंशीय पत्नियों को। कम से कम कहानी में इसका कोई, उल्लेख नहीं मिलता।

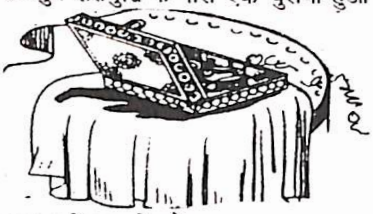
शामलभट्ट के अन्य कथानकों में भी गणिकाओं का उल्लेख हुआ है और कहीं-कहीं उन्हें सम्मानित स्थान दिया गया है। सिंहासन बत्तीसी में त्रियाचरित्र के अनेक उदाहरण आते हैं। स्त्री के प्रवंचक रूप का



चित्रण करने वाली कथाओं में गणिका का उल्लेख अनिवार्य होता है । 'पान की कहानी' नामक कथा में सिंहासन की बत्तीस पुतलियों में से एक विक्रम से पूछती है: ''हे राजा, दो युवतियों का एक ही दिन विवाह हुआ । उनमें से एक का केवल एक रात के लिए पति से संयोग हुआ, और दूसरी का बिलकुल नहीं । दूसरे दिन दोनों के पति परदेश चले गये । इनमें से कौनसी स्त्री पुरुष-संयुक्त है, और कौनसी नहीं, यह कैसे पहचाना जा सकता है ?'' उत्तर में विक्रम यह कहानी सुनाता है: — ''एक ब्राह्मण विद्याभ्यास के लिए लंबे समय तक विदेश में रहा । वापस लौटा तो उसने देखा कि उसकी पत्नी, जिसे वह बाल्यावस्था में छोड़ गया था, राज्य की प्रधान बन गयी है और राज्य का कुशलता से शासन करती है । ब्राह्मण के मन में शंका आयी कि इतनी स्वतंत्रता और इतनी सत्ता प्राप्त करने पर भी उसकी पत्नी पवित्र रही हो, यह मुश्किल है । हर पुरुष की यही नीयत रहती है कि खुद तो चाहे जहाँ घूमे और चाहे जो करे, पर उसकी पत्नी को विशुद्ध रहना चाहिये । पत्नी की परीक्षा करने का निश्चय करके उसने एक योजना बनायी । एक रात के लिए वह किसी वेश्या के घर रहा, पर भोर होने पर, निश्चित की हुई रकम से आधी रकम देने लगा । गणिका ने स्वाभाविक रूप से इसका विरोध किया और बात-बात में झगड़ा बढ़ गया । गणिका ने स्त्री-प्रधान से शिकायत की । प्रधान की हैसियत से ब्राह्मणपत्नी ने पति को आज्ञा दी कि निश्चित की हुई रकम वह चुका दें । ब्राह्मण ने पत्नी की परीक्षा लेने के लिए एक विचित्र तर्क किया जो निर्लज्ज होने पर भी स्त्री-पुरुष के भोक्तृत्व का प्रश्न उपस्थित करने के कारण महत्वपूर्ण माना जायगा । उसने दलील की कि ''समागमसुख में से आधा सुख मुझे मिला और आधा गणिका को । अत: निश्चित रकम में से आधी मैंने रख ली और आधी इसे दे दी ।'' प्रधानपद विभूषित करनेवाली ब्राह्मणकन्या इस पहेली को हल न कर सकी । उसने ईमानदारी से स्वीकार किया कि जिस चीज़ का स्वाद उसे मालूम नहीं, उसके संबंध में वह निर्णय नहीं दे सकती । यह सुनते ही ब्राह्मण को विश्वास हो गया कि उसकी पत्नी पवित्र रही है । उसने तुरंत पूरी रकम चुका कर गणिका को विदा कर दिया ।

पत्नी की पवित्रता की परीक्षा लेने वाले पुरुष ने अगली रात किये हुए गणिकागमन का कोई विधि निषेध नहीं माना । परापूर्व से शायद यही चलता आया है कि पुरुष तो देवता क्या, मनुष्य भी न बन सके तो कोई हर्ज़ नहीं, पर स्त्री को हर हालत में देवी होना ही चाहिये और चाहे जैसे निकम्मे पति को भी देवता मानना ही चाहिये । इस विचित्र परीक्षा की कथा द्वारा एक और महत्वपूर्ण बात यह स्थापित होती है कि पण्य स्त्री का पुरुष की सुविधानुसार कैसा-कैसा उपयोग या दुरुपयोग हो सकता है । गणिका के सिवा यौनसुख की कीमत कौन मांग सकता है ? कीमत न मिलने पर अदालत में भी गणिका के सिवा कौन जा सकता है ? उस युग के स्मृतिकारों और कामशास्त्र के ग्रंथकारों ने गणिका के उपभोग का सर्वसाधारण मूल्य निश्चित कर दिया था; और उसके न मिलने पर अदालत में शिकायत करने की सुविधा भी उन्हें दी गयी थी । आज की दृष्टि से यह बात कुछ विचित्र दिखाई दे सकती है; पर जरा गहराई से सोचकर देखें, तो जिस व्यवहार को अनिवार्य मान लिया गया हो, उसके संबंध में असंदिग्ध नियम बनाना वास्तविकता का ही लक्षण कहा जायगा ।

लक्षबुद्धि की कहानी में शामल भट्ट ने गणिका की सहायता से किसी रत्नचोर के पकड़े जाने का वर्णन किया है । राजपुत्र शतबुद्धि के पास एक चुराया हुआ अमूल्य रत्न था । उसे उससे छीनने का काम किसी



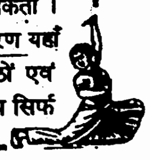
'चतुर-सुजान' गणिका को सौंपा गया । दूती द्वारा संदेश भेजकर और अपने रूपयौवन का उन्मादक वर्णन करवा कर राजकुमार को गणिकालय में निमंत्रित किया गया । राजकुमार अनायास लाभ का ऐसा मौका

छोड़ दे इतना मूर्ख नहीं था । गणिकालय में पहुंचने के बाद, कामाचार के आरंभिक उपचार पूरे होते ही पूर्वयोजना के अनुसार सारे दीपक बुझ जाते हैं और अंधेरे में किसी अजनबी को देह समर्पण करने से गणिका इनकार कर देती है । कामोद्दीपन के सर्वोच्च बिंदु पर रोका जाने वाला राजपुत्र भले बुरे का विचार भूल जाता है और अपनी कमर से महामूल्य रत्न निकाल कर पलंग के पाये पर रख लेता है । रत्न के प्रकाश से अंधेरे की समस्या हल हो जाती है । चतुर गणिका थोड़ी देर तक उसे रतिक्रीडा में उलझाये रखती है और फिर एकाएक रत्न को मुट्ठी में छिपाकर भागती है । राजकुमार उसे पकड़ नहीं पाता, और इस प्रकार रत्न वापस मिल जाता है ।

शामल के यथार्थवादी साहित्य में गणिकाओं की चातुरी के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं । उनकी अधिकांश कहानियाँ प्रचलित लोकसाहित्य से ली गई हैं । शामल की इन कहानियों में गणिकाओं के वैभव का बारीकी से वर्णन हुआ है । किसी गणिका के आवास का वर्णन इस प्रकार हुआ है: — "शीघ्र ही प्रमदा अपने प्रेमी को पाँचवीं मंज़िल पर ले गयी । कमरा प्रकाश से इस प्रकार जगमगा रहा था मानो सूरज की ज्योति कहीं छिप रही हो, या सैंकड़ों दीपमालिकाएँ एक साथ प्रज्वलित हो उठी हों । दीवारों पर सुंदर चित्र लगे हुए थे । सुवासित द्रव्यों के फव्वारे चारों ओर छूट रहे थे और वातावरण इत्र, चंदन, बरास आदि की सुगंध से महक रहा था । गणिका की रत्नजड़ित शय्या सवालाख कीमत की थी ।" इसमें से अतिशयोक्ति का अंश निकाल दें, तो भी यह वर्णन अत्यंत उच्च कोटि के वैभव और ऐश्वर्य की सूचना देता है । गणिकाओं की सामान्य दिनचर्या का वर्णन भी उतने ही ठाठबाट से हुआ है । किसी नवागंतुका गणिका को व्यवसाय में प्रेरित करने के लिए उसकी सहेलियाँ कहती हैं, "हे सखी, अब शृंगार करके तैयार हो जा और मनचाहे पुरुष के साथ विलास कर । अपने पेशे की सबसे बड़ी खूबी यह है कि भोग के नित नये साधन अनायास ही प्राप्त होते रहते हैं । हमारे लिए हर रोज दिवाली है और हर दिन नया साज शृंगार है । नित नये वस्त्राभूषण हम धारण करती हैं और नित नये पुरुष से रतिक्रीडा कर सकती हैं ।" यह वर्णन गणिकावृत्ति की किसी उच्च कक्षा की या गणिकाओं की उच्च अभिरुचि या कलासक्ति की सूचना नहीं देता; परंतु वास्तविकता की उसमें कमी नहीं है ।

राज्यशासन और सांसारिक व्यवहार की उलझनों में भी गणिकाओं का कदम-कदम पर उपयोग होता था । किसी के संकट का निवारण करना हो, या किसी को संकट में डालना हो; किसी को जाल में उलझाना हो, या किसी को उलझन से सुलझाना हो, हर कदम पर गणिकाओं की आवश्यकता पड़ती थी । गणिका अपने आश्रयदाताओं के मित्र, साथी और सहायक की भूमिकाएँ भी निभा सकती थी । शामल ने एक स्थान पर गणिका को 'गुणभंडार' कहा है, यह शायद उसकी इन अनेकविध योग्यताओं को ध्यान में रख कर ही कहा होगा । साथ ही उसे हृदयहीन, धोखेबाज, और परधन का हरण करने वाली कुलटा कहने से भी वे नहीं चूके हैं । इस प्रकार एक ओर सौंदर्यसंपन्न, कलावती, और पत्नीत्व की कामना करनेवाली सुविद्य गणिकाओं के उदाहरण हमारे साहित्य में मिलते हैं, तो दूसरी ओर, देह-विक्रय को कोरा पेशा मान कर अनेक पुरुषों से अमर्याद संबंध रखने वाली सामान्या वेश्याओं की भी कोई कमी नहीं ।

अन्य प्रांतों की तुलना में पश्चिमी भारत के प्रदेश और विशेष रूप से-गुजरात कुछ संतोष का अनुभव कर सकता है कि इस प्रदेश में गणिकाजीवन और उसके साहित्यिक उल्लेखों में मर्यादा और शिष्टता का एक न्यूनतम स्तर ज़रूर निभाया गया है । इस विचार से मिथ्या अभिमान करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि राजा-रजवाड़े, औद्योगिक शहरों का घिचपिच जीवन, और धनसंपत्ति की प्रचुरता से गुजरात अपरिचित नहीं है । सत्ता, समृद्धि और नागरिक सभ्यता सदा से गणिकावृत्ति के पोषक रहे हैं । अतः वेश्या व्यवसाय से यह प्रदेश अछूता रहा है, यह दावा किसी भी हालत में नहीं किया जा सकता । अज्ञान, कुतूहल, साहसवृत्ति और निरंकुश काम-भावना के मिश्रण से एवं आर्थिक मजबूरियों के कारण यहाँ भी गणिकावृत्ति की बेल काफी फली-फूली रही है । राजाओं और राजकुमारों, सैनिकों और सेठों एवं मठाधीशों और नेताओं ने यहाँ भी गणिका-संस्था का जी भर कर उपयोग किया है । कहने का आशय सिर्फ



इतना है कि इस प्रदेश के वेश्या जीवन ने भारत के अन्य भागों के जैसा नग्न और घिनौना रूप शायद कभी धारण नहीं किया ।

मध्ययुगीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चातुर्य, व्यवहार और कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए राजकुमारों, सामंतपुत्रों और श्रेष्ठी-पुत्रों को अभी तीन-चार सौ वर्ष पहले तक गणिकालयों में भेजा जाता था । गणिका-परिचय और गणिकालयों का शिष्टाचार, व्यवहार ज्ञान का एक आवश्यक अंग माना जाता था । विरागी युवकों की उदासीनता तोड़ने के लिए, किसी के पुंसत्व की परीक्षा करने के लिए और शिथिलगात्र सत्ताधीशों के कामोद्दीपन के लिए गणिकाओं का व्यापकता से उपयोग होता था । इन सामान्य कामों के उपरांत गणिकासंस्था ने समाज की एक और महत्वपूर्ण सेवा भी की है जिसके लिए उसका एहसान मानना चाहिये । नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय आदि ललित-कलाओं को शताब्दियों की उपेक्षा के बावजूद जीवित रखने का श्रेय पेशेवर गणिकाओं को ही देना पड़ेगा । हमारे परंपरागत नृत्य-संगीत की नाजुकख़याली और शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को सुरक्षित रखने का श्रेय भी इसी अपमानित और तिरस्कृत वर्ग के हिस्से में जाता है, इस बात से विशुद्धता के परम आग्रही समाजसुधारक भी इनकार नहीं कर सकते । देह-विक्रय एक घृणित व्यवसाय है इसमें कोई शक नहीं; परंतु इसके आसपास चतुर गणिकाओं ने जिस रसिकता, कलानिष्ठा और व्यवहार कुशलता की सृष्टि खड़ी की है उसकी सराहना अवश्य करनी पड़ेगी । इन मानवीय तत्वों के कारण ही, तिरस्कृत होने पर भी यह संस्था समय-समय पर विचारकों के मनोमंथन का विषय बनती रही है । प्राचीन भारत की कलाप्रधान गणिकासंस्था और वर्तमान युग की निर्लज्ज वेश्यावृत्ति के बीच के सबसे बड़े भेद का उल्लेख यहाँ फिर से एक बार करना पुनरावर्तन का खतरा मोल लेकर भी योग्य दिखाई देता है । पुरुषजाति की अतृप्त भोगेच्छा को संतुष्ट करने का अशिष्ट काम सभी युगों में इस संस्था का प्रधान व्यवसाय और धनप्राप्ति उसका एकमात्र उद्देश्य रहा है, यह सही है । परंतु प्राचीन यूनानी और प्राचीन आर्यभावना के अनुसार गणिका में जिस उच्च कोटि की कलानिपुणता और विद्वत्ता आवश्यक मानी जाती थी उसकी तुलना में आज की वासनापोषक और रोगविस्तारक वेश्यावृत्ति अत्यंत हीन प्रकार का देह-विक्रय मात्र दिखाई देती है । गणिकासंस्था को किसी भी युग में मनुष्य के पतन के सुनिश्चित मार्ग के सिवा और कुछ शायद ही माना जा सके, परंतु कई युगों में यह संस्था उत्क्रांति के तत्वों से युक्त और उन्नयन की प्रेरणाओं से संचालित रही थी, इसमें कोई संदेह नहीं । समाज की एक स्वीकृत, अनिवार्य, और अंशतः उपयोगी संस्था के रूप में भी इसका जैसा विकास प्राचीन युग में हो सका, वैसा आधुनिक युग में नहीं हो पाया ।

हमारे समकालीन गांधीयुग की बात करें, तो गणिका का साहित्यिक उल्लेख समाज सुधारकों और आलोचकों को अधिक पसंद नहीं है । फिर भी वर्तमान साहित्य उसे पूरे तौर से भूल नहीं सका है । आज भी नाटकों और फिल्मों में गणिकाजीवन के विशिष्ट पहलुओं का चित्रण होता है । वर्तमान युग की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि पचास-साठ वर्ष पहले गणिका के नामोल्लेख में भी जो छूत मानी जाती थी उससे हम बहुत आगे निकल गये हैं । आज के युग की दृष्टि पापी के प्रति तिरस्कार और पुण्यात्मा होने के मिथ्याडंबर को ही सबसे बड़ा पाप मानती है । पापी के बजाय पाप की प्रेरक शक्तियों का निर्मूलन करके पापी को सुधार का मौका देना ही आज मानवता का लक्षण माना जाता है । व्यक्ति के रूप में, संस्था के रूप में, और सामाजिक अव्यवस्था का शिकार बन जाने वाली असहाय नारी की प्रतिनिधि के रूप में गणिका अब भी साहित्य के विविध प्रकारों में स्थान पाती आ रही है । जिस प्रश्न का मनुष्य और मानवता से इतना घनिष्ठ संबंध हो, वह चाहे जितना अप्रिय क्यों न हो, साहित्य में उसका स्वीकार अनिवार्य होता है । जीवन और साहित्य का घनिष्ठ संबंध मान्य कर लेने पर इससे भिन्न दृष्टि रखना संभव ही नहीं है । साहित्य से गणिका को निर्वासित करना हो, तो पहले उसे ज़ीवन से निष्कासित करना पड़ेगा । और समाज में से गणिका को दूर करने का अर्थ है समाज व्यवस्था में, और विशेष तौर से समाज की आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना । जब तक यह नहीं होता, तब तक, वास्तविकता का स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं ।

तीसरा परिच्छेद

कानून में गणिका का स्थान

१

स्मृतिकारों की दृष्टि में गणिका

विवाहिता स्त्री की विशुद्धि पर हिंदू धर्मशास्त्रों ने अत्यधिक बल दिया है । व्यभिचारिणी पत्नी की संतान को उत्तराधिकार से वंचित रखा गया है और विधवा भी मृतपति के प्रति एकनिष्ठ रह कर वैधव्य का पालन करे तो ही संयुक्त परिवार से भरण-पोषण प्राप्त करने की अधिकारिणी मानी गयी है । इन सख्तियों के बावजूद हिंदू धर्मशास्त्र अन्य प्राचीन व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक प्रगत होने का दावा कर सकता है क्योंकि रखैल, नर्तकी और गणिका जैसी समाज की दृष्टि में पतित मानी जाने वाली स्त्रियों को भी उसमें कुछ हद तक स्थान मिला है और कहीं-कहीं तो उनके प्रति बड़ी नरमी का रुख धारण किया गया है । उदाहरणार्थ, नारद-स्मृति का स्पष्ट विधान है कि मृत गृहस्वामी की संपत्ति में से उसकी रखैलों को भी भरण-पोषण चल सकने जितना भाग मिलना चाहिये । अलबत्ता, इन स्त्रियों को यह अधिकार मृत व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठ रहने पर ही प्राप्त हो सकता है, यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है । रोमन कानून की तरह हिंदू धर्मशास्त्र ने भी रखैलों का संस्था के रूप में स्वीकार कर लिया था । इन स्त्रियों का स्थान विवाहिता पत्नी की प्रतिष्ठित कक्षा से कुछ नीचा, पर गणिका की कलंकित स्थिति से काफी ऊँचा माना जाता था । दोनों कानूनों के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर भी पाया जाता है । रोमन कानून एक ही रखैल को स्वीकृति देता था, जबकि हिंदू कानून में उनकी संख्या परिमित नहीं की गयी । बाद के विधायकों में तो रखैल-संबंध को विवाह का ही एक हीन प्रकार मानने की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

हिंदू कानून ने रखैल और गणिका के बीच का भेद स्पष्ट रूप से मान्य किया है । मनु ने एक ऐसी स्थिति की संभावना भी मानी है कि जिसमें पुरुष अपनी पत्नी की गणिकावृत्ति से निर्वाह करता हो । इस संबंध में मनु का कहना है कि ''नटों और गाने-बजाने वालों की पत्नियाँ इसी वर्ग में आती हैं । समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बाह्य रूप से अन्य प्रतिष्ठित रोज़गार करने पर भी अपनी पत्नियों के देह-विक्रय से जीवन यापन करते हैं । इनमें के कुछ तो स्पष्ट रूप से अपनी पत्नियों का दूसरे के उपभोगार्थ उपयोग करते हैं, और कुछ इसकी जानकारी होने पर भी अनजान होने का ढोंग करके इन अनैतिक संबंधों को चलने देते हैं ।'' गणिका समाज-बहिष्कृत स्त्री होने के कारण आर्यों के लिए, और विशेष तौर पर ब्राह्मणों के लिए उसका अन्न निषिद्ध माना गया था । मनु की आज्ञा है: ''गणान्नं गणिकान्नश्च विद्वषान् जुगुप्सितम् ।'' गणिका के अन्न के साथ-साथ गण के अन्न को भी क्यों त्याज्य माना गया है, यह समझ में नहीं आता । गणिका पूरे गण के आनंद के लिए नियत सर्वभोग्या स्त्री थी । गणों ने उसकी इस स्थिति को स्वीकार किया था । शायद इसी कारण से उनके अन्न को भी दूषित मान कर निषिद्ध घोषित किया गया होगा ।

गणिका के व्यवसाय-संबंधी नियमों का नारदस्मृति में अधिक स्पष्टता से उल्लेख हुआ है । स्मृतिकार की आज्ञा है: ''निश्चित किया हुआ शुल्क लेकर भी जो गणिका देह-समर्पण से इनकार करे उस पर नियत शुल्क से दुगुना दंड करना चाहिये । परंतु एक बार शुल्क देने के बाद, किसी कारण से ग्राहक ही उपभोग से इनकार कर दे, तो रकम वापस करने के लिए गणिका बाध्य नहीं है ।'' कुछ आगे बढ़ कर महर्षि नारद आदेश देते हैं: ''पातिव्रत्य से गिर चुकने वाली स्त्री, स्पष्ट रूप से पेशा करने वाली गणिका,

और अपने आश्रयदाता के परिवार को छोड़ कर देह-विक्रय करने वाली दासी अपने वर्ण के या अपने से ऊँचे वर्ण के पुरुष के साथ ही देह-संबंध कर सकती है । नीचे वर्ण के पुरुष के साथ कदापि नहीं । अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ देह संबंध करने वाले पुरुष को दंड का भागी माना जाय । उपरोक्त वर्गों की स्त्री किसी की रखैल होकर रहे, तो उसका विचार भी इसी नियमानुसार होना चाहिये । इस नियम का भंग करके यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को रखैल के रूप में रखे, तो उस संबंध को व्यभिचार मान कर उसे दंड का भागी माना जाय ।'' स्मृतिकारों के इन विधि निषेधों में गणिकासंस्था की अत्यंत स्पष्ट और निस्संदिग्ध स्वीकृति है । छोटे-मोटे अपराधों के लिए दंड की रकम भी निश्चित कर दी गयी है । अधिकांश अपराधों के लिए पचास पण दंड की व्यवस्था दी गयी है ।

नादरस्मृति में गणिका के वर्ण को इतना अधिक महत्व दिया गया है जब कि याज्ञवल्क्य-स्मृति की व्याख्या मिताक्षरा में स्मृतिकार के मत का स्पष्टीकरण करते हुए गणिका को सब वर्णों से अलग पाँचवां वर्ण मानने की दीपिका दी गयी है । इस कथन के समर्थन में स्कंदपुराण का शास्त्राधार दिया गया है । परंतु स्कंदपुराण में इसका विरोधी दिखाई देनेवाला एक कथन ऐसा भी है कि ''वेश्याएँ पंचचूड़ा नामक अप्सरा की संतान हैं । किसी एक पुरुष के साथ विवाह करके घर बसाने की उन्हें शास्त्राज्ञा नहीं है । अतः समान वर्ण या उच्च वर्ण के पुरुष से समागम करने में उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं लगता; और दोषी न होने के कारण उनके इस कृत्य के लिए राजदंड का विधान भी नहीं है ।'' गणिकागमन राजदंड के योग्य दोष न माना जाने पर भी नैतिक दृष्टि से दूषित माना गया है और उसके निवारण के लिए प्राजापत्य होम का विधान किया गया है । (वेश्यागमने प्राजापत्यम् ।) परंतु किसी भी युग में लोग वेश्यागमन का दोषनिवारण करने के लिए इस होम-हवन के झंझट में अधिक पड़े हों, ऐसा दिखाई नहीं देता ।

वेश्याओं के अधिकारों की चर्चा करते हुए नीलकंठ शास्त्री नादरस्मृति का सूत्र उद्धृत करते हैं कि ''गणिका के आभूषण किसी भी हालत में कुर्क नहीं किये जा सकते । वैसे जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जब राजा को किसी का सर्वस्व हरण कर लेने का अधिकार होता है । परंतु इस नियम में भी गणिका के अलंकारों को अपवाद रूप मानना चाहिये ।'' यह संरक्षण अत्यंत महत्वपूर्ण है । ऐसे निस्संदिग्ध संरक्षण के पीछे गणिका के साधारण वैयक्तिक अधिकारों के उपरांत उसकी सामाजिक निराधारता का भी ध्यान रखा गया हो, ऐसा मालूम देता है । वेश्याओं को सुरक्षा प्रदान करनेवाले कुछ विधान बृहस्पति ने भी किये हैं । उनकी आज्ञा है कि ''रोगग्रस्त, श्रमित, व्यग्र या राजकार्य में लगी हुई गणिका देह-विक्रय से इनकार करे, तो उसे दोषी नहीं मानना चाहिये । वेश्या की इच्छा के विरुद्ध बलात्-संभोग करने वाले पुरुष से नियत शुल्क से आठ गुनी रकम वेश्या को दिलवानी चाहिये और उतनी ही रकम दंड के रूप में राज्यकोष में जमा करवानी चाहिये ।'' इसके विरुद्ध, मत्स्यपुराण में गणिका की चालाकियों से गणिकागामियों की रक्षा करने वाले नियम पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ: ''शुल्क स्वीकार किये बाद गणिका देह-संबंध से इनकार करे, तो लिया हुआ शुल्क उसे वापस कर देना चाहिये और उतनी ही रकम राजदंड के रूप में देनी चाहिये । एक पुरुष के साथ संबंध निश्चित कर लेने के बाद अधिक धन देने वाले अन्य पुरुष से बात तय करने वाली गणिका से उपरोक्त दंड के उपरांत एक माशा स्वर्ण भी दंड के रूप में वसूल किया जाय ।''

गणिकाओं के साथ व्यर्थ खिलवाड़ करने वाले नपुंसक भी स्मृतिकारों की नज़र से नहीं छूटे । उनके संबंध में आज्ञा है कि ''गणिका के साथ संबंध निश्चित किये बाद उसका उपभोग न कर सकने वाले निर्माल्य पुरुषों से नियत शुल्क से दुगुनी रकम गणिका को दिलवानी चाहिये और उतनी ही रकम राजदंड के रूप में वसूल करनी चाहिये ।'' गौतम ने एक विचित्र विधान भी किया है कि गंजे पुरुष के साथ यौन-संबंध करने से गणिका इनकार कर सकती है । इस विधान के पीछे अप्रिय वृद्धावस्था के अस्वीकार के सिवा और कोई कारण दिखाई नहीं देता । निकट संबंधियों के बीच के यौन-संबंधों पर पाबंदी लगायी जाय, यह तो समझ में आता है; पर बेचारे खल्वाटों को उस युग में रसिकता की चरमसीमा माने जाने वाले गणिका व्यवहार से वंचित रख कर गौतम ने कुछ अन्याय किया हो ऐसा दिखाई देता है । यह तो माना कि

बालों को उस युग में अत्यधिक महत्व दिया जाता था और सुंदर केश विन्यास को स्त्रियों के लिए ही नहीं, पुरुषों के लिए भी सौंदर्य का आवश्यक अंग माना जाता था । परंतु इस मान्यता के कारण गंजे पुरुषों को यौन-आनंद के इतने महत्वपूर्ण विभाग से निष्कासित कर देना निर्दयता का हा लक्षण माना जायगा ! इस हालत में गलित केश पुरुषों को ''खल्वाट: निर्धन: क्वचित्'' जैसी उक्तियों से संतोष मान कर जेब की गरमी के सुख में इन छोटे-मोटे दुखों को भूल जाना चाहिये । और फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि शास्त्रों की अनेक आज्ञाएँ केवल पोथियों की शोभा बढ़ाने के लिए ही होती हैं । अत: उस युग के केशविहीन लोगों ने इस शास्त्रवाक्य की उपेक्षा की हो, यह भी संभव है ।

आश्चर्य की दो-एक बातें और भी देखी जा सकती हैं । उदाहरणार्थ, किसी की गुप्त रूप से हत्या कर दी गयी हो, तो हत्यारे का पता लगाने के लिए उनके संबंधियों से पूछताछ करके निम्नलिखित बातों की जानकारी प्राप्त करने की राय स्मृतिकारों ने दंडाधिकारियों को दी है: —

१. मृत व्यक्ति का किसी के साथ झगड़ा तो नहीं था ?
२. मृत व्यक्ति की पत्नी का चाल-चलन शंकास्पद तो नहीं था ?
३. वह खुले आम या छिप कर गणिकागमन तो नहीं करता था ?

अपराधी को पकड़ने के लिए वर्तमान युग की शास्त्रीय छानबीन में भी यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

मृत व्यक्ति के ऋणशोधन की जिम्मेदारी उसके उत्तराधिकारियों पर डालते समय भी स्मृतिकारों ने कुछ अत्यंत मौलिक अपवाद मान्य किये हैं, जा आज के युग में भा विचारणीय हैं । मृत व्यक्ति ने यदि निम्नोक्त कारणों से कर्ज़ लिया हो, तो उसके भुगतान की जिम्मेदारी उसके वारिसों पर नहीं डाली जा सकती: —

१. मद्यपान के लिए,
२. व्यभिचार या अन्य किसी प्रकार से स्त्री-उपभोग करने के लिए,
३. जुआ खेलने के लिए,
४. महफिलें जमाने के लिए,
५. गाने-बजाने का शौक पूरा करने के लिए, और
६. नर्तकियों या गणिकाओं पर खर्च करने के लिए ।

इससे बढ़ कर वास्तववादी और न्याय व्यवस्था और क्या हो सकती है ?

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो गणिकावृत्ति को संस्था रूप में विकसित करने वाली शक्तियाँ महाभारत-काल में ही क्रियान्वित हो गयी थीं, जो आज तक वैसी ही चली आ रही हैं । धीरे-धीरे इन शक्तियों ने समाज-व्यवस्था के प्रत्येक पहलू पर आतंक जमा लिया । शीघ्र ही उनकी परिणति एक आकर्षक और शक्तिशाली संस्था में हो गयी और संस्थापित विकारपोषण ने एक मोहक कला का रूप धारण कर लिया । इसके बाद प्रत्येक युग के विचारकों और समाज-विधायकों का ध्यान आकर्षित कर सकने वाला एक व्यवस्थित व्यवसाय उसमें से विकसित हुआ । इस दृष्टि से देखने पर गणिकावृत्ति के कानूनी स्वीकार के कुछ सोपान इस प्रकार निश्चित किये जा सकते हैं: —

१. गणिकाओं ने स्मृतिकारों की मान्यता प्राप्त की ।
२. व्यक्ति के रूप में और संस्था के रूप में उनके अधिकार मान्य हुए ।
३. समाज और समाज द्वारा स्थापित अदालतों ने इन अधिकारों को क्रियान्वित किया ।
४. उन्हें कुछ हद तक कानून का संरक्षण प्राप्त हुआ ।

परंतु गणिका व्यवहार संबंधी स्मृतिकारों की उपरोक्त व्यवस्थाओं के कारण ऐसी धारणा नहीं होनी चाहिये कि हिंदू धर्मशास्त्रों ने अमर्याद यौन-व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया था । सत्य इससे

ठीक विपरीत है । धर्मशास्त्रों में संयम, ब्रह्मचर्य और नियमित यौन-संबंधों पर अत्यधिक बल दिया गया है और अनियमित यौन-जीवन का उल्लेख प्राप्त परिस्थिति के वास्तववादी स्वीकार के अलावा और कुछ नहीं है । विवाह बाह्य यौन-संबंधों को स्वीकृति देकर हिंदू धर्मशास्त्रों ने केवल इतना ही किया है कि साधारण नैतिक जीवन की चौखट से बाहर जाकर अनीतिमय जीवन व्यतीत करने वाले स्त्री-पुरुषों और उनकी संतति को संपत्ति धारण करने के, अपने वंशजों के लिए उसे छोड़ जाने के, और उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करने के ऐहिक अधिकारों से वंचित नहीं रखा । वाचस्पति मिश्र जैसे उद्‌भट विद्वान ने भी गणिकाओं का एक अलग वर्ग के रूप में स्वीकार किया है; परंतु अमर्यादित संभोग को स्पष्ट रूप से अवांछनीय और अनिष्ट माना है और पतिताओं से संबंध रखने वाले पुरुषों के लिए दंड और प्रायश्चित्त का विधान किया है । अत: गणिकागमन और गणिकागामी, दोनों को दूषित मानते हुए भी स्मृतिकारों ने गणिका और गणिकासंस्था को जो स्वीकृति दी है, उसे अनाचार का प्रोत्साहन न मान कर गणिका को भी मनुष्यप्राणी मानने के मानवतावादी दृष्टिकोण का स्वीकार ही मानना चाहिये ।

२

वर्तमान कानून और गणिका

भारत में अंग्रेजों के शासनकाल में नयी राज्यव्यवस्था के साथ नयी न्यायव्यवस्था भी स्थापित हुई । न्यायशासन का स्वरूप और उसे कार्यान्वित करने की प्रणाली के आमूल बदल जाने पर भी हिंदुओं और मुसलमानों के दत्तक, संपत्ति, और उत्तराधिकार संबंधी कानूनों को उनके धर्मशास्त्रों पर आधारित करने की ओर ही अदालतों का रुख अधिक रहा । हिंदू कानून का विचार करें, तो शताब्दियों पहले रची गयी स्मृतियों में आधुनिक युग की सभी समस्याओं का निराकरण मिलना मुश्किल था । फिर भी वैयक्तिक अधिकारों को बन सके वहाँ तक धर्मशास्त्रों पर ही आधारित रखा गया और किसी विशिष्ट झगड़े का एक बार निराकरण हो जाने पर उसकी मिसाल कायम करके उसी प्रकार के अन्य झगड़ों का उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार फैसला किया जाने लगा । कौम या जाति के रूप में स्वीकृति प्राप्त कर चुकने वाली गणिकाओं (उदाहरणार्थ देवदासियाँ और नर्तकियाँ) के जातिगत रिवाजों को भी कानून की स्वीकृति मिल सकी । समाज द्वारा बहिष्कृत वर्गों को भी अपनी संपत्ति के उपभोग का और उसे अपनी इच्छानुसार उत्तराधिकार में दे जाने का स्वातंत्र्य देना एक परिष्कृत और न्याय समाज-व्यवस्था की सूचना देता है । इस संबंधी अधिकांश कानून मिसालों (Case–Law) के रूप में ही विकसित हुआ है । अत: अंग्रेजी अदालतों के कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों का संक्षिप्त अध्ययन कर लेना ठीक रहेगा ।

गणिकाओं के अधिकारों का स्वीकार आसानी से नहीं हुआ । आरंभ में इसके प्रति नीतिवादी दृष्टिकोण ही अपनाया जाता था जो उनकी समस्याओं का निराकरण करने में विशेष सहायक नहीं हुआ । आनंदराव गणपत बनाम बापू के एक पुराने मुकदमे में बम्बई हाइकोर्ट के वरिष्ठ न्यायाधीश ने फैसला देते हुए कहा था कि ''नायिका जैसी अनीति का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों के सांपत्तिक अधिकारों को कभी भी कानून की स्वीकृति मिल सकेगी, इस संबंध में मुझे शंका है ।'' हम देख चुके है कि नायिका (मूल मराठी में 'नायकीण') गीत-नृत्य और देह-विक्रय का मिला जुला पेशा करनेवाली गणिकाओं का एक प्रकार है जिसका महाराष्ट्र में अधिक विकास हुआ है । उनकी कला और देह, दोनों सरलता से प्राप्त हो सकने के कारण पश्चिमी भारत के शौकीनों में ये स्त्रियाँ काफी लोकप्रिय रही हैं । परंतु प्रधान न्यायाधीश के उपरोक्त मंतव्य के बावजूद, समय बीतने के साथ अधिकाधिक मुकदमों में न्यायालयों को गणिकाओं के सांपत्तिक अधिकार मान्य करने पड़े । सन् १८६४ में बम्बई हाइकोर्ट के समक्ष तारा नामक नायिका की दत्तक

पुत्री का अल्लारखा के विरुद्ध मुकदमा चला । तारा ने वसीयत करके अपनी पूरी संपत्ति अपनी दत्तक पुत्री के नाम कर दी थी । अल्लारखा उसकी तथाकथित दूसरी पुत्री का पुत्र होने का दावा करता था और इस नाते संपत्ति में हिस्सा चाहता था । उसका दावा नामंजूर करते हुए विद्वान न्यायधीश ने फैसला दिया : ''अनीतिमय व्यवसाय से जीवनयापन करनेवाली नर्तकियों और गणिकाओं के भी विशिष्ट जातिगत कानून होते हैं यह मान्य करके उन्हें कानून का संरक्षण देना पड़े ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी है । इसके लिए मुझे अफसोस है और नीचे की अदालत के खेद में मैं सहभागी हूं । परंतु अफसोस के बावजूद, न्याय की दृष्टि से मुझे यह मान्य करना पड़ रहा है कि दत्तक विधान का जो सामान्य कानून अन्य जातियों में प्रचलित है उसका इस जाति ने भी स्वीकार किया है । अत: दत्तक पुत्री को माता की संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त करने का पूरा अधिकार है; फिर चाहे वह गणिका की पुत्री हो, और चाहे खुद भी वेश्यावृत्ति करती हो ।''

मद्रास हाइकोर्ट ने चलकोंडा के प्रसिद्ध मुकदमे में निम्नोक्त मिसाल स्थापित की:'' हिंदू कानून ने गणिकावृत्ति को स्पष्ट स्वीकृति दी है; अत: अदालत गणिकाओं के सांपत्तिक अधिकार संबंधी झगड़ों का फैसला करने से इनकार नहीं कर सकती । यह संपत्ति अनैतिक मार्गों से कमाई गयी थी, इस बात से अदालत का कोई वास्ता नहीं ।'' इतने स्पष्ट निर्णयों के बावजूद गणिकाओं के सांपत्तिक अधिकारों के झगडों को चुकाते समय वर्तमान अदालतों का रुख कुछ अनिश्चित हो उठता है, और एक सूबे की अदालत का दूसरे सूबे की अदालत से प्राय: मतभेद पाया जाता है । इस अनिश्चितता के उदाहरण स्वरूप मद्रास हाइकोर्ट का एक मुकदमा उल्लेखनीय है । विवाद का विषय यह था कि किसी नयी देवदासी को मंदिर की सेवा में स्वीकृत करने का अधिकार मंदिर के कार्यवाहों को है, या मंदिर में अर्पित हो चुकने वाली नर्तकियों के संघ को ? प्रचलित रिवाज नर्तकियों के संघ के पक्ष में था । परंतु हाइकोर्ट ने इस अधिकार को मान्य नहीं रखा और फैसला दिया कि ''जिस रिवाज के अनुसार गणिकावृत्ति से प्राप्त संपत्ति का एकाधिकार किसी संस्थापित समुदाय को मिलता हो, वह रिवाज ही अनैतिक है; और कोई भी न्यायालय अनैतिक अधिकार को स्वीकृति नहीं दे सकता ।'' यह फैसला कितना ही नीति के अनुकूल हो, इसका परिणाम अच्छा नहीं निकला । फर्क सिर्फ इतना ही पड़ा कि न्यायालय ने अनैतिक कमाई का अधिकार गणिकासमूह के हाथ से छीन कर मंदिर के कार्यवाहों के समूह के हाथों सौंप दिया । मंदिर में नर्तकियाँ और देवदासियाँ अर्पण की जिस अनैतिक प्रथा के विरुद्ध न्यायाधीश महाशय का तिरस्कार था, वह प्रथा बंद नहीं हुई । विशुद्ध नैतिक दृष्टि से और वर्तमान युग की न्यायभावना की दृष्टि से देखें, तो भी, देह-विक्रय की कमाई से लाभ उठाने का अधिकार प्रत्यक्ष देह-विक्रय करने वाली स्त्रियों के हाथ से छीन कर उसे अनैतिकता के ठेकेदार जैसे मंदिरों के संचालकों के हाथों सौंप देना मूल बुराई से कई गुनी भयानक बुराई सिद्ध होती है । आज का कानून वेश्यावृत्ति से जीवननिर्वाह चलाने वाली स्त्रियों को क्षम्य मान सकता है, परंतु किसी की वेश्यावृत्ति से लाभ उठाने वाले व्यक्तियों या संघटनों को जघन्य अपराधी मानता है । अत: न्यायालय के उपरोक्त नैतिक उपदेश को पूर्णत: निरर्थक ही मानना होगा ।

बम्बइ हाइकोर्ट में चला हुआ मथुरा नायका और उसकी पुत्री ईसु नायका का मुकदमा भी विचारणीय है । मथुरा ईसु की जन्मदात्री माता नहीं थी बल्कि गणिकाओं में प्रचलित रिवाज के अनुसार ईसु को उसने अपनी पोष्यपुत्री मान लिया था और बाद में उसे दत्तक लेकर उससे पेशा करवाती थी । मथुरा के पास काफी संपत्ति थी और ईसु उसके जीवनकाल में ही हिस्सा चाहती थी । बम्बई हाइकोट के प्रधान न्यायाधीश वेस्ट महोदय ने पुत्री का अधिकार मान्य नहीं किया । उन्होंने इस प्रश्न को एक अलग ही दृष्टिकोण से देखा । उनकी राय थी कि समग्र समाज की नीतिभावना को जो कृत्य अनुचित दिखाई दे, उसे रिवाज होने पर भी प्रगतिशील शासन की अदालतों को मान्य नहीं करना चाहिये । अत: फैसला देते हुए उन्होंने कहा : 'प्रगतिशील मानस को ज्यों-ज्यों संस्कृति का प्रकाश मिलता जाता है त्यों-त्यों उसकी नैतिक और वैधानिक भावनाओं में परिवर्तन होता जाता है । यह परिवर्तन समाज के सामान्य कानूनों में प्रतिबिंबित हुए बिना

नहीं रहता; अतः अदालतों को भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिये । सर्वमान्य मत या मान्यता के सामने व्यक्ति या छोटे-मोटे समुदायों का किसी रिवाज के प्रति आग्रह टिक नहीं सकता । अदालतों को सदा नैतिक और प्रगतिशील मान्यताओं का प्रचार करने में सहायक होना चाहिये ।''

सिद्धान्त के रूप में यह कथन निर्विवाद है । केवल रिवाज की दुहाई देकर समाज के बहुमत द्वारा अनिष्ट माने जाने वाले अनैतिक आचारों को कानूनी मान्यता नहीं दी जा सकती । परंतु मद्रास हाइकोर्ट के न्यायाधीश मुथुस्वामी अय्यर ने इस फैसले की धज्जियाँ उड़ा दीं और जस्टिस वेस्ट द्वारा स्थापित मिसाल को मान्य न रखते हुए उससे ठीक विपरीत मतप्रदर्शन किया । उनका कहना था; ''हो सकता है कि थोड़े से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों ने नृत्य और नर्तकियों को अनीति के प्रतीक मान लिया हो । परंतु इससे समाज के बहुमत ने इस मान्यता को स्वीकार किया है, यह कैसे सिद्ध होता है ? समाज में से नर्तकियों की संस्था नष्ट हो जाय या देश की विधानसभा कानून बना कर उसे नष्ट कर दे, तब तो अलग बात है । परंतु जब तक यह नहीं होता, तब तक किसी अप्रिय तथ्य को अनैतिक या समाज के बहुमत द्वारा अस्वीकृत घोषित कर के उसकी जिम्मेदारी को टाल जाना न्याय की दृष्टि से उचित नहीं । इसके अलावा, कोई रिवाज समाज के सभी वर्गों द्वारा मान्य हुआ है या नहीं, यह देखना अदालत का काम नहीं । किसी विशिष्ट समुदाय का न्यायनिर्णय उसी समुदाय में प्रचलित रिवाजों के अनुसार किया जाना चाहिये, इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर गणिकाओं या देवदासियों को उसका अपवाद रूप नहीं माना जा सकता । नर्तकियों और देवदासियों के पेशे को या इन संस्थाओं को मान्यता देना एक बात है, और व्यक्ति के रूप में उनके सांपत्तिक अधिकारों को सुरक्षित रखना दूसरी बात है । ये दोनों अलग-अलग और स्वतंत्र प्रश्न हैं । उनके सांपत्तिक अधिकारों की स्वीकृति को उनके पेशे का समर्थन नहीं माना जा सकता ।'' विद्वान न्यायाधीश ने यह भी कहा कि ''नर्तकियों के लिए गणिकावृत्ति अनिवार्य या आवश्यक है यह मान्यता भ्रामक है । नर्तकी या देवदासी बनने के लिए गणिका होना बिलकुल आवश्यक नहीं । इन दोनों का एक साथ विचार करना भी उचित नहीं । कुछ सामाजिक विवशताओं के कारण दोनों की उपस्थिति अकसर एक साथ पायी जाती है, यह अलग बात है ।''

मद्रास हाइकोर्ट के इस फैसले के बाद जस्टिस वेस्ट की मिसाल को अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ । तारा नायका बनाम नामा लक्ष्मण के मुकदमे में सर चार्ल्स सार्जण्ट ने भी इसका विरोध करते हुए कहा कि ''समाज का पढ़ा-लिखा और कानूनप्रिय वर्ग नर्तकियों के देवालय के साथ के संबंध को स्वीकार नहीं करता, केवल इसीलिए उसे अनैतिक मान कर चलना अदालत के लिए उचित नहीं । नर्तकियों का देवालयों के साथ का संबंध इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से चला आया है । अदालत इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती ।'' कामाक्षी विरुद्ध नागरत्नम् के मुकदमे में भी प्रचलित रिवाज को मान्य करके नर्तकी के पुत्रों के बजाय पुत्रियों को ही उसकी उत्तराधिकारिणी माना गया था । एक अन्य मुकदमे का फैसला देते हुए जस्टिस मुथुस्वामी अय्यर ने स्पष्टीकरण किया था कि ''हिंदू कानून के अंतर्गत नर्तकियों का एक वर्ग के रूप में स्वीकार होकर उनका कानूनन स्थान निश्चित हो चुका है । अतः जब तक विधानसभा द्वारा इस संबंध में कोई नया कानून नहीं बनाया जाता तब तक उत्तराधिकार, दत्तक विधान आदि विषयों का स्थान विशेष और जातिविशेष के रिवाजों के अनुसार ही निर्णय होना चाहिये ।''

इन सब फैसलों का निचोड़ निकालें, तो कानून की दृष्टि से गणिका की स्थिति इस प्रकार निश्चित होती है :—नायिका और नर्तकी कहाने वाली स्त्रियाँ नृत्य-संगीत का व्यवसाय करती हैं, परंतु अधिकतर इसके साथ वेश्यावृत्ति भी जुड़ी रहती है । फिर भी, वेश्यावृत्ति इनके जीवन में अनिवार्य रूप से पायी जाती है, यह नहीं कहा जा सकता । जो स्त्रियाँ इन कलाओं के साथ-साथ वेश्यावृत्ति भी करती हैं, उनमें के अधिकांश को केवल परिस्थिति की मजबूरी के कारण ही ऐसा करना पड़ता है । मंदिरों से संबंधित देवदासियों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है । किसी नर्तकी के पिता ने लड़की को नृत्य व

शिक्षा देने के लिए जायदाद गिरवी रख कर कर्ज़ लिया । बम्बई हाइकोर्ट ने इस व्यवहार को मान्य रखा और कर्ज का उपयोग अनैतिक व्यवसाय के लिए हुआ इस कारण से रेहननामे को ग़ैरकानूनी अतएव अग्राहय मानने की दलील को स्वीकार नहीं किया ।

कानून की दृष्टि से गणिकावृत्ति के संबंध में और भी कई महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं । वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री जिस परिवार से आती है, उसके साथ के संबंधों पर वेश्यावृत्ति के कारण क्या प्रभाव पड़ता है ? मूल परिवार और वेश्या के बीच कानून की दृष्टि से किसी प्रकार का संबंध बाकी बचता है या नहीं ? व्यभिचारिणी स्त्री का कानून में क्या स्थान है, और उसके सांपत्तिक अधिकारों पर व्यभिचार का क्या असर पड़ता है, यह प्रश्न भी विचारणीय है । प्रत्येक व्यभिचारिणी स्त्री वेश्या नहीं होती । कभी-कभी किये जाने वाले स्वैराचार की तुलना गणिकावृत्ति से नहीं की जा सकती । दोनों के कारण और परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं । हम देख चुके हैं कि हिंदू धर्मशास्त्र ने भ्रष्टता की भी विविध कक्षाएँ मान्य की हैं । पराशर का मत है कि व्यभिचारिणी स्त्री ऋतुस्राव के बाद पवित्र हो जाती है । अन्य स्मृतिकारों के मतानुसार फिर से व्यभिचार न करने की शपथ लेने वाली व्यभिचारिणी स्त्री की प्राजापत्य होम द्वारा शुद्धि हो सकती है । याज्ञवल्क्य का मत भी इससे मिलता-जुलता है । परंतु बाद के हिंदू समाज में व्यभिचारिणी स्त्री को जाति और समाज से निष्कासित करने योग्य अपराधिनी माना जाने लगा । अपनी जाति से नीचे वर्ण के पुरुष के साथ संबंध रखने वाली, गर्भपात करने वाली, और पति की हत्या में सहायक होने वाली व्यभिचारिणियों को तो अत्यंत हीन और दुष्ट करार दिया गया । भ्रष्ट या बहिष्कृत घोषित होते ही ऐसी स्त्रियों का परिवार और जाति के साथ का संबंध समाप्त हो जाता है, यह मान्यता उत्तरोत्तर प्रचलित होती गयी । धन के लोभ से, ऊँच-नीच की परवाह किये बिना चाहे जिस पुरुष को देहार्पण करने वाली गणिका तो निश्चित रूप से इन से भी हीन कोटि की होती है । अतः उसकी गणना भी इसी प्रतिबंध के अंतर्गत हुई है ।

परंतु परिवार और जाति से बहिष्कृत हो जाने पर, और जन्मदाता या पति के परिवार के साथ के अन्य सब संबंध समाप्त हो जाने पर इनके सांपत्तिक अधिकार भी समाप्त हो जाते हैं या नहीं, इस जटिल प्रश्न का इससे स्पष्टीकरण नहीं होता । सामान्यतः समाज का रुख इन अधिकारों की संपूर्ण समाप्ति की और परिवार या जाति से बाहर निकाल दिये जाने वाले व्यक्ति को कानून की दृष्टि से मृतवत् मान लेने के पक्ष में है । ऐसे स्त्री-पुरुषों के जीवित रहते हुए भी उनका मृतक संस्कार, अशौच-स्नान और श्राद्ध आदि कर डालने की आज्ञा भी धर्मशास्त्रों में पायी जाती है । मृत्यु की स्वीकृति के बाद परिवार के साथ किसी प्रकार का संबंध या अधिकार बाकी बचने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । व्यभिचारिणी स्त्रियों के संबंध में इतनी सख़्ती हो, तो वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री के पारिवारिक अधिकारों की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । पतिता जीवित रहने पर भी कुटुंब की इकाई के रूप में उसका अस्तित्व नहीं रहता ।

परंतु कुटुंबीजनों का पतिता स्त्री की संपत्ति पर अधिकार माना जाय या नहीं यह प्रश्न अधिक जटिल है । इस संबंध में कलकत्ता हाइकोर्ट के एक पुराने मुकदमे की मिसाल अब तक दी जाती है । तारामणि दासी विरुद्ध मोती के नाम से यह मुकदमा प्रसिद्ध है । वेश्यावृत्ति धारण करने से पहले उक्त तारामणिदासी के एक पुत्री हुई थी । वेश्यावृत्ति के स्वीकार के बाद दो लड़कियाँ और हुईं । दूसरे शब्दों में कहें तो पहली पुत्री का जन्म पत्नीत्व के अधिकार के दरमियान हुआ था और दूसरी दो का इस अधिकार की समाप्ति के बाद । पत्नी के रूप में तो तारामणि को संपत्ति क्या मिली होगी, पर वेश्यावृत्ति करके उसने काफी धन कमाया । इस धन की लालच से पहली पुत्री के पुत्रों ने वेश्या बनी हुई नानी की संपत्ति पर अपने अधिकार का दावा किया । अदालत ने यह दावा मान्य नहीं किया । न्यायाधीश का कहना था कि वेश्यावृत्ति धारण करते ही उपरोक्त स्त्री जाति और परिवार से बाहर हो गयी और औरस पुत्री के साथ उसका संबंध समाप्त हो गया । उसकी मिल्कियत वेश्यावृत्ति से कमाई गयी थी, अतः उस पर वेश्यावस्था में जन्म लेने

वाली पुत्रियों का ही अधिकार था । वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर होने वाली मातामही की संपत्ति में हिस्सा मांगने वाले दौहित्रों की हिम्मत की सराहना की जाय, या उनकी निर्लज्जता की भर्त्सना, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें ।

एक और मुकदमे का इतिवृत्त इस प्रकार है: —''कामिनीमणि नामक स्त्री ने वेश्यावृत्ति करके काफी संपत्ति प्राप्त की थी । उसके भान्जे ने मामी की संपत्ति पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए मुकदमा दायर किया । परंतु उपरोक्त कारण से ही पतितावृत्ति का स्वीकार करते ही कामिनीमणि के सारे पारिवारिक संबंध समाप्त हो गये, दावा खारिज हो गया । इस विषय में एक और उलझन भी खड़ी हो सकती है । पतिता को उसके कुटुंबीजन त्याग दें, तब तो फिर भी स्थिति कुछ स्पष्ट हो जाती है; परंतु पतितावस्था के बाद भी परिवार ने उसके साथ संबंध बनाये रखा हो, तो क्या करना चाहिये ? कानून इस संबंध में विशेष सहायता नहीं करता । अत: यहाँ न्यायसंगत औचित्य (equity) की दृष्टि से विचार करना पड़ता है, और अधिकांश अदालतों की राय है कि इस हालत में परिवार के प्रति उसके उत्तरदायित्व और अधिकार बने रहते हैं, और अन्य कोई वारिस न हो, तो परिवार के सदस्यों को ही उनके रिश्ते की निकटता के अनुसार उत्तरधिकारी माना जाना चाहिये । लावारिस संपत्ति सरकार के खाते में जमा होती है । अत: पतिता स्त्री से संबंध बनाये रखने वाले कुटुंबीजन कानून के लिए एक नयी समस्या खड़ी करते हैं । अधिकांश मिसालों में उनके अधिकार की स्वीकृति पायी जाती है ।

गणिकावृत्ति का धर्म के साथ क्या संबंध है ? कानून इस विषय में क्या कहता है ? अदालतों ने इस प्रश्न का भी विचार किया है । शरणमयी नामक गणिका के मुकदमे में कलकत्ता हाईकोर्ट ने फैसला दिया था कि परिवार और जाति से बहिष्कृत होते ही पतिता स्त्री को मृतवत् मान लिया जाता है । परिवार के साथ उसके अन्य संबंधों का तभी से विच्छेद हो जाता है; परंतु उसका धार्मिक अस्तित्व इसके बाद भी बना रहता है । अत: गणिकावृत्ति के स्वीकार के बाद भी पतिता हिंदू रही हो, तो अन्य किसी परंपरा या कानून के अभाव में उसकी संपत्ति का विभाजन हिंदू कानून के अनुसार ही होना चाहिये । परंतु गणिकावृत्ति का स्वीकार करने के बाद धर्मपरिवर्तन करने वाली गणिकाओं की संपत्ति के उत्तराधिकार के विषय में अदालतों में मतैक्य नहीं है । मद्रास और इलाहाबाद हाईकोर्टों के निर्णय पूर्वाश्रम के धर्म को मान्य रखने के पक्ष में हैं, जबकि अन्य अदालतों का रुख धर्म-परिवर्तन के साथ पुराने सब संबंधों की समाप्ति मानकर नये धर्म को मान्यता देने की ओर अधिक पाया जाता है ।

अलिखित करार (Implied Contract) का गणिकावृत्ति में क्या स्थान है, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है । परंतु इस विषय में कानून की राय स्पष्ट है । बम्बई हाईकोर्ट का संतोष कसबिन बनाम हरिराम का मुकदमा मिसाल के रूप में अकसर उद्धृत किया जाता है । मुबई संतोष हरिराम की रखैल थीं । हरिराम के पूर्व निश्चित रकम देने से इनकार कर देने के कारण यह दावा दायर किया गया था । न्यायाधीश ने हिंदू धर्म के विद्वान शास्त्रियों से राय ली । शास्त्र का आधार था कि इस हालत में प्रतिवादी को रकम चुका देनी चाहिये और वह न दे, तो अदालत को उसे मजबूर करना चाहिये । परंतु न्यायाधीश ने इस राय को मान्य नहीं किया और दावा खारिज कर दिया । करार का विषय इतना अनीतिमय था कि हिंदू कानून के स्पष्ट विधान के बावजूद, अदालत ने उस पर विचार करने से इनकार कर दिया । वर्षों तक रखैल स्त्री का देहोपभोग करने के बाद निश्चित रकम न देकर अदालत में विजयी होने वाले वीर हरिराम का उस जमाने के शौकीनों ने खुली सभा में सत्कार किया या नहीं, यह मालूम नहीं । इसके तुरंत बाद भारतीय अनुबंध कानून (Contract Act) मान्य हुआ । विशिष्ट परिस्थितियों में गणिका और उसके ग्राहकों के बीच के आर्थिक व्यवहारों का नियंत्रण यह कानून किस तरह करता है, इसकी गहराई में उतरने की आवश्यकता नहीं; परंतु सामान्य तौर से अनैतिक कृत्यों पर आधारित करारों को यह कानून मान्य नहीं करता ।

सब मिला कर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन युग के स्मृतिकारों ने और अंग्रेजी शासनकाल के हिंदू कानून ने गणिकाओं के अस्तित्व को स्वीकार किया था और उनके अधिकारों को सुरक्षित रखा था ।

आधुनिक युग में स्मृतिकारों की निंदा करना प्रगतिशीलता का लक्षण माना जाता है । प्रमाण के रूप में स्त्रियों को संपूर्ण स्वातंत्र्य देने का निषेध करने वाले स्मृतिवचन उद्धृत किये जाते हैं । परंतु यह नहीं भूलना चाहिये कि स्मृतियाँ युगविशेष में प्रचलित सामाजिक रिवाजों की तालिका मात्र हैं । उनके विधि निषेधों का संपूर्ण पालन शायद किसी भी युग में नहीं हुआ । आज भी कानून का सर्वांगीण पालन शायद ही कोई करता हो । यह संभव भी नहीं है । न्यायाधीश और वकील भी इसके अपवाद नहीं होते । किसी भी युग के कायदे-कानून केवल उस युग के मानस का प्रतिबिंब उपस्थित करते हैं । वे त्रिकालाबाधित सत्य नहीं होते । ऐसा उनका दावा भी नहीं है । अत: देशकाल के संदर्भों से उखाड़ कर उनकी आलोचना करना योग्य नहीं । दूसरे, स्मृतिकारों की निंदा करते समय उनके स्त्रियों का सम्मान करने वाले विधानों को सुविधापूर्वक भुला नहीं देना चाहिये । ''न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति'' कहने वाले मनु ने ही ''यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'' जैसा उदात्त विधान भी किया है । कुछ स्मृतिकारों ने स्त्री को किसी भी हालत में अपवित्र या भ्रष्ट नहीं माना । स्मृतियों की ही उक्ति है कि: —

''सोम: शौच: ददौ स्त्रीणाम् गंधर्वश्च शुभांगिरम ;
पावक: सर्वमेघत्वं, मेध्या वै योषितोरत: ।।''

(''चंद्र ने स्त्रियों को शुचिता दी है और गंधर्वों ने उन्हें मधुर वाणी दी है । अग्नि ने उन्हें बुद्धि प्रदान की है; अत: स्त्रियाँ तो सदा पवित्र ही रहती हैं ।'')

नारी के लिए इससे अधिक उदात्त भावना या उदारता का परिचय अन्य देशों के कानून या साहित्य में शायद ही मिले । ऋतुस्नान के बाद व्यभिचारदोष तक की समाप्ति मान लेने की स्मृतिकारों की उदारता को उपेक्षणीय कैसे माना जा सकता है ?

३
देवदासी संस्था का नियमन

कानून द्वारा प्रतिबंधित होने से पहले देवदासी नामक गणिकासंस्था भिन्न-भिन्न नामों से परिचित होकर दक्षिण भारत में एक अलग जाति के रूप में विकसित हो गयी थी जिसमें सदस्याओं के प्रवेश से लगा कर उनकी अंत्येष्टि तक के सारे कर्म स्पष्टता से निर्धारित हो चुके थे और जिसके रीतिरिवाजों को व्यवहार और शास्त्र, दोनों को आधार प्राप्त था । अधिकांश में रुढि द्वारा नियंत्रित उनकी जीवनचर्या एक अलग इकाई के रूप में समाज की मान्यता प्राप्त कर चुकी थी । प्रादेशिक विभिन्नताओं के अनुसार उनके वैयक्तिक और सामुदायिक आचारों में थोड़ा बहुत अंतर अवश्य पाया जाता था, पर समग्रता से विचार करने पर हिंदू समाज के पाँचवें वर्ण के रूप में उनका अलग अस्तित्व निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुका था । देवदासी-संस्था गणिकावृत्ति का ही एक प्रकार होने के बावजूद और इस नाते वर्णबाहय और धर्मबाहय मानी जाने पर भी एक अलग जाति मान ली गयी थी जो हिंदू धर्म का पालन करती थी, जिसका विधिपूर्वक विवाह होता था, यह विवाह देवता के साथ होने के कारण जो कभी विधवा नहीं होती थी, जिसकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था, जिसके उत्तराधिकार और दत्तक विधान की रुढियाँ निश्चित थीं, और नित्यजीवन के नियमों और आचारों का जिसे सख्ती से पालन करना पड़ता था । देवदासियों की बिरादरी की पंचायतें उनके आचार और व्यवहार का नियंत्रण करती थीं, उनपर निगरानी रखती थीं, और नियमभंग की दोषी आचारभ्रष्टाओं को दंड भी दे सकती थीं । दंड मामूली जुरमाने से लगाकर जाति-निष्कासन तक हो सकता था । आज के बदले हुए युग में हमें जाति-निष्कासन का बिलकुल डर नहीं लगता और इसी कारण हम उसे सज़ा मानने को भी तैयार नहीं; परंतु आज से चालीस-पचास वर्ष पहले हिंदू समाज में जाति-निष्कासन को सबसे कठोर दंड माना जाता था और जाति से निकाल दिये जाने वाले लोगों को पारावार अपमान और कष्ट सहन करने पड़ते थे ।



अप्सरा



इन देवार्पित नर्तकियों के लिए गणिकावृत्ति करना आवश्यक नहीं था । आरंभ में गौण व्यवसाय के रूप में स्वीकृत देह-विक्रय कभी-कभी उनका प्रधान व्यवसाय बन जाता था, यह अलग बात है; परंतु वह उनके लिए अनिवार्य नहीं था । इसके विरुद्ध, विवाह उनके लिए नितांत आवश्यक था । यह विवाह देवप्रतिमा के साथ, तलवार-कटार के साथ या नौबत-नगाड़े के साथ हो सकता था, पर इसके बिना मंदिर-प्रवेश का अधिकार किसी भी हालत में नहीं मिल सकता था । विवाह के प्रतीक के रूप में मंगलसूत्र आजीवन उनके गले में रहता था । देवदासी के सुहाग को इतना मंगलसूचक और चिरंतन माना जाता था कि उसके हाथ से मंगलसूत्र बँधवाने में प्रतिष्ठित परिवारों की विवाहिताएँ भी धन्यता का अनुभव करती थीं । देवता के साथ उनका विवाह पत्थर की लकीर बन कर उनके जीवन में इस कदर ओतप्रोत हो जाता था कि जनगणना के समय भी वे अपने आपको विवाहित गिनवा कर गणनाधिकारियों को उलझन में डाल देती थीं और सामाजिक समारंभों में प्रतिष्ठित कुलस्त्रियों के समकक्ष होने का दावा करती थीं ।

इस संस्था के इतिहास के समान उसकी रूढ़ियाँ भी विचित्र थीं । हिंदू धर्मशास्त्र पुत्र को अधिक महत्व देते हैं, परंतु देवदासी संस्था की रूढ़ि उत्तराधिकार की दृष्टि से पुत्र और पुत्रियों को समान मानती है । स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों का प्रचार करनेवाले नेताओं को इस रिवाज से कुछ बल मिल सकता है और कोई वाचाल प्रचारक आवेश में आकर यह भी कह सकता है कि इस मामले में हिंदू जाति गणिकाओं से भी पिछड़ी हुई है । देवदासियों की पुत्रियाँ तो मंदिरों में समर्पित होकर देवदासियाँ ही बन जाती थीं, पर पत्र कुछ समस्या खड़ी करते थे । अकसर वे जाति में रहकर नर्तकियों को नृत्य-संगीत की शिक्षा देने का या समारंभों में उनके साथ वाद्य बजाने का काम करते थे । कुछ जाति से बाहर जाकर साधारण स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, पर इस हालत में उन्हें फिर से जातिप्रवेश करने का अधिकार रहता था । दक्षिण भारतीय नृत्य-संगीत को आजतक सुरक्षित रखने की और उसकी परंपरा बनाये रखने की अनमोल सेवा अधिकांश में इसी जाति ने की है ।

मंदिर में समर्पित देवदासियों के कार्यों को उनके अधिकार भी माना जा सकता है और उत्तरदायित्व भी । मंदिरों में पूजा की कई विधियाँ केवल वे ही कर सकती थीं । संगीत-नृत्य से देवता को प्रसन्न करना तो उनका प्रधान कर्तव्य था ही । विशिष्ट अवसरों पर राजमहलों और श्रेष्ठी-सामंतों के प्रासादों में भी उनका नृत्य होता था । धार्मिक जलसों में उन्हें अकसर अग्रस्थान मिलता था । मंदिर विशेष की प्रथा के





अनुसार कइ व्रत-उपवास भी उन्हें करने पड़ते थे । जिनका वे बड़ी सख्ती से पालन करती थीं । इन धार्मिक व्रतविधानों से वे इनकार नहीं कर सकती थीं । मंदिर के अधिष्ठाता देवता की ही क्यों न सही, पर विवाहिता स्त्री होने के नाते उसका कर्तव्य था कि पूर्णिमा और अमावास्या को वह उपवास करे । इसके उपरांत ओनम, शिवरात्री, पोंगल, दीपावली इत्यादि पर्वों का भी शास्त्रोक्त प्रकार से पालन करना और उस दिन उपवास करके गणिकावृत्ति न करना उसका फर्ज़ माना जाता था । पति माने हुए देवता के उपरांत

शिव, गणेश, भद्रकाली, यक्षी आदि स्थानिक देवताओं को भी वह मानती थी। शिव, विष्णु या गणेश की प्रतिमा तो उसके मंगलसूत्र के लटकन पर भी खुदी रहती थी। ब्राह्मणों का वह अत्यधिक सम्मान करती थी और ब्राह्मण-भोजन उसकी दृष्टि में अत्यंत पुण्यदायक धर्मकार्य था। उसका गणिकावृत्ति में प्रवेश एक उलझी हुई धार्मिक विधि थी, और उसके कौमार्यभंग का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था। उसकी मृत्यु हो जाने पर, पति होने के नाते देवता को अशौच लगता था जिसकी शुद्धि नौ दिन के स्नान के बाद ही होती थी।

देवदासियों की नृत्यशिक्षा विधिपुरःसर निष्णात गुरुओं की निगरानी में होती थी। आठ वर्ष की उम्र से ही अत्यंत कठोर साधना का आरंभ हो जाता था। नृत्य की विविध मुद्राओं के लिए आवश्यक लोच उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार के कठिन व्यायाम भी करने पड़ते थे। फिर भी, गुरु की कृपा के बिना ज्ञान की प्राप्ति किसी हालत में नहीं हो सकती थी। शिक्षा पूरी होते ही कला का प्रथम-समर्पण देवता के चरणों में किया जाता था। शुभ दिन निश्चित करके मंदिर में देवता के समक्ष और गुरुजनों एवं नगर के प्रतिष्ठित लोगों की उपस्थिति में उसकी योग्यता का प्रदर्शन होता था। देवता की सेवा में कलानिवेदन करने से पहले, वह और कहीं नृत्य नहीं कर सकती थी। इसके बाद कलानैपुण्य और देह-विक्रय के सहारे धन कमाने की उसे छूट मिल जाती थी। देवदासियाँ कुछ ही समय में पर्याप्त धन कमा लेती थीं, परंतु उनकी संपत्ति का उपयोग अधिकांश में सार्वजनीन, धार्मिक और जनसेवा के कार्यों में ही होता था। दक्षिण भारत के अनगिनत राजमार्ग, पुल, देवालय, पाठशालाएँ, वृक्षवाटिकाएँ और तालाब देवदासियों के बनवाये हुए हैं। जनकल्याण के कार्यों में अपने धन का सदुपयोग करने की उनकी तत्परता का मोनियर विलियम्स जैसे समर्थ विद्वान ने उदारतापूर्वक उल्लेख किया है। जन्म से लगा कर मृत्यु तक रूढ़ियों के बंधन को स्वीकार करके प्रचुर धनसंपत्ति अर्जित करनेवाली देवदासियों ने विगत शताब्दी के अंतिम चरण से लगाकर लगभग पचास वर्षों तक अंग्रेजी न्यायव्यवस्था के सामने अनेक कठिन समस्याएँ खड़ी की थीं, जिनका यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा।

किसी भी जनसमुदाय का जाति के रूप में विकास दो-चार महीने या दो-चार वर्षों में नहीं हाता। इसी प्रकार आचारों के रूढ़ि में परिणत होने की प्रक्रिया भी अल्पकाल में पूरी नहीं होती। रिवाजों को कानून की बंधनशक्ति प्राप्त करने में वर्षों का नहीं बल्कि पीढ़ियों का समय लगता है। रूढ़ि या आचार को कानून के रूप में मान्य करने से पहले उसके पक्ष में समाज के बहुमत की सम्मति स्थापित करनी पड़ती है। कानून का रूप धारण करने से पहले किसी भी रूढ़ि का समाज के बहुत बड़े भाग द्वारा शिष्ट और ग्राह्य माना जाना एवं उसका भंग करने वालों का दंडनीय अपराधी माना जाना आवश्यक होता है। इसके उपरांत रिवाजों में एकवाक्यता और व्याप्ति-विस्तार होना भी आवश्यक है। इतनी कठिन परीक्षाओं से गुज़र कर, और शताब्दियों की मान्यता के आधार पर ही रूढ़ि का कानून के रूप में स्वीकार होता है। अंग्रेज़ शासकों द्वारा स्थापित अदालतों ने इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे किसी समाजविशेष की प्रथाओं का उस समाज के न्यायनिर्णय में उपयोग किया था। इन सामान्य नियमों के उपरांत देवदासी-संस्था ने न्यायालयों के सामने और भी कई जटिल प्रश्न उपस्थिति किये थे, जिनमें के कुछ इस प्रकार हैं: —

१. देवदासी जैसी अनैतिक व्यवसाय का खुल्लमखुल्ला स्वीकार करने वाली संस्था का अदालत विचार कर सकती है या नहीं ? उसके अस्तित्व की स्वीकृति को उसका शासकीय समर्थन माना जाने का भय तो नहीं रहता ?

अनेक वाद-विवाद और तर्क-वितर्क की उलझनों से गुज़रने के बाद कानून ने इतना तो स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि उनका व्यवसाय अनैतिकता पर आधारित होने पर भी नर्तकियों, देवदासियों और गणिकाओं को [illegible] का दरवाज़ा खटखटाने का अधिकार है। झगड़ा लेकर वादी-प्रतिवादी न्याय मांगने न आयें तब तक [illegible] की सहायता मांगनेवालों के झगड़े अकसर संपत्ति-विषयक ही होते हैं। गणिका या देवदासी का स्वार्जित धन उसकी निजी संपत्ति होती है। हम देख चुके हैं कि गणिका के

अलंकारों को सर्वस्वहरण के दंड से भी स्मृतिकारों ने मुक्त रखा है । परंतु गणिकाओं से संबंधित सांपत्तिक झगड़े स्वामित्व के निर्णय पर ही समाप्त नहीं हो जाते । अकसर और भी अनेक पेचीदा प्रश्न उनके साथ जुड़े रहते हैं । गणिकाओं की संपत्ति दो प्रकार से अर्जित होती है: नृत्यसंगीत से, या देह-विक्रय से । देवदासियाँ भी इन्हीं दो मार्गों से द्रव्यार्जन करती हैं । गणिकावृत्ति उनके लिए अनिवार्य न होने पर भी देह-विक्रय न करने वाली नर्तकी मिलना मुश्किल है । इससे उसे धन भी मिलता है, और मनुष्यप्राणी के लिए आवश्यक कामतृप्ति भी उसे इसी में से मिलती है । गौण सही, पर यह उसका व्यवसाय होने के कारण प्रतिष्ठा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । परंतु प्राप्त संपत्ति में से कितना भाग नृत्य-संगीत द्वारा, और कितना देह-विक्रय द्वारा प्राप्त हुआ, इसका हिसाब मिलना मुश्किल है । संपत्ति-विषयक झगड़ा खड़ा होने पर नृत्यार्जित और देह-विक्रयार्जित संपत्ति का अलग-अलग विचार करने की आवश्यकता पड़ सकती है । परन्तु यह मुमकिन नहीं; अत: कानून को यातो दोनों प्रकार की मिल्कियत का एक साथ विचार करना पड़ता है या अनुमान की सहायता लेनी पड़ती है । इन कठिनाइयों के बावजूद, इसमें कोई संदेह नहीं कि राज़ी से या नाराज़ी से न्यायालयों को गणिकाओं के सांपत्तिक झगड़ों का विचार करना ही पड़ता है । परंपरा की इसमें कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हिंदु धर्मशास्त्रों ने गणिका को, अन्य सामान्य नागरिकों की तरह, कानून के संरक्षण और दंड, दोनों की अधिकारिणी माना है ।

२. देवदासी की संपत्ति के स्रोतों का निश्चय करने के साथ-साथ एक दूसरी समस्या यह खड़ी होती है कि उसका वारिस किसे माना जाय ?

देवदासी हिंदू धर्मीय होने के नाते हिंदू धर्मशास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार उसकी कानूनी समस्याओं का निराकरण आसानी से किया जा सकता है । परंतु रूढ़ि की विभिन्नता के कारण और देवदासियों में पुत्र और पुत्रियों के सांपत्तिक अधिकार समान माने जाने के कारण अनेकविध उलझनें उत्पन्न हो सकती हैं ।

३. उसकी ख़ुद की संतति न हो, तो उसकी संपत्ति की क्या व्यवस्था की जाय ?

हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार वह पुत्र गोद ले सकती है । परंतु इस वर्ग में कन्याएँ गोद लेने का युगों पुराना रिवाज है जिसे स्मृतियों की मान्यता प्राप्त नहीं है । इस परिस्थिति में प्रचलित रूढ़ि को ही कानून मान कर पुत्री गोद लेने के देवदासियों के अधिकार को आधुनिक अदालतों ने मान्य किया है । पुत्री का दत्तक विधान कानून द्वारा सम्मत हो जाने पर उत्तराधिकार का प्रश्न अपने आप हल हो जाता है ।

४. अदालतों के सामने चौथा यक्षप्रश्न, यह है कि दत्तक किसे लिया जा सकता है ?

दत्तक विधान के सामान्य कानून में गोद लिये जानेवाले बालक की उम्र की बाधा उपस्थित नहीं होती । परंतु देवदासी जब किसी लड़की को गोद लेती है, तो यह मानी हुई बात है कि भविष्य में उसे अनीतिमय जीवन गुज़ार कर गणिकावृत्ति ही करनी पड़ेगी । नाबालिग कन्या को अनैतिक कामों के लिए गोद देने का अधिकार उसके जन्मदाता माता-पिता को भी नहीं होता । उसकी अपनी रज़ामंदी का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि फौजदारी कानून का स्पष्ट विधान है कि बालिग होने से पहले किसी को सम्मति देने का अधिकार नहीं । विवाहिता पत्नी के साथ का समागम भी कानून की दृष्टि में बालिग होने के बाद ही वैध माना जाता है । बालिग होने की उम्र भी देशकाल के अनुसार बदलती रहती है । इस हालत में, ख़ुद सम्मति देने में असमर्थ कन्या को भावी वेश्यावृत्ति के लिए गोद दिया गया हो, तो उस व्यवहार का समर्थन कानून कैसे कर सकता है ? इन सब कठिनाइयों के बावजूद, व्यवहार के क्षेत्र में, युक्ति-प्रयुक्ति से इन प्रतिबंधों को तोड़ कर क्रय-विक्रय के खुल्लम-खुल्ला व्यवहारों को दत्तक-विधि से शिष्ट और वैध बना ही लिया जाता है; और देवदासियों की मंदिर में रहकर की हुई वेश्यावृत्ति से प्राप्त संपत्ति पर हक जमाने वाली दत्तक पुत्रियाँ कहीं न कहीं से निकल ही आती हैं । उस समय किसी को उनके अधिकारों में आपत्ति हो, तो कानून की अनंत उलझनें खड़ी होती हैं ।

५. देवदासियों के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जिसने न्यायाधीशों का सबसे अधिक दिमाग

खपाया है, यह है कि देवदासी के रूप में देवार्पण किसे किया जा सकता है, और इसका अधिकार किसे है ?

इस संबंध में धार्मिक प्रथा को ही एकमात्र आधार के रूप में आगे किया जाता है । धार्मिक रूढ़ि होने के कारण इसे बालिग-नाबालिग के नियम से परे मान लिया जाता है यद्यपि सारा समाज जानता है कि देवदासी के रूप में अर्पित लड़कियों का भविष्य में क्या उपयोग होता है । देवार्पण धार्मिक और जातिसम्मत रिवाज होने के कारण कन्या की सम्मति का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता और देवता के साथ विवाह इस प्रथा का आवश्यक अंग होने के कारण प्रथम दृष्टि से यह व्यवहार अनाचार भी दिखाई नहीं देता ।

उपरोक्त जटिल प्रश्नों के बावजूद कानून को देवदासी प्रथा को स्वीकार करना पड़ा था और दसवीं शताब्दी से लगाकर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक के हज़ार वर्षों में देवता न मालूम कितनी दासियों से वैध विवाह कर चुके थे ! परंतु इस प्रथा की मूलभूत अनैतिकता ने न्यायशास्त्रियों को सोचने को मजबूर किया और अंग्रेजी न्याय व्यवस्था के प्रगतिशील न्यायाधीशों ने इसका कभी समर्थन नहीं किया । न्याय और युगधर्म, दोनों का यही तकाज़ा था । बाल्यावस्था में या युवावस्था में, बालिग होकर या नाबालिग हालत में, राज़ी से या नाराज़ी से, किसी भी स्त्री को अनैतिकता को स्वीकार करके देह-विक्रय के सहारे गुज़ारा करने की आवश्यकता पड़े, इसे हर हालत में सामाजिक अनारोग्य का लक्षण मानना होगा । अतः मनोमंथन का आरंभिक काल गुज़रते ही इस कुप्रथा का कानून की सहायता से दूर करने के प्रयत्न होने लगे ।

सन् १९२७ में सारड़ा बिल की चर्चा के समय देवदासियों का प्रश्न भी केन्द्रीय विधानसभा में उपस्थित हुआ था । परंतु उस समय के विधिमंत्री ने यह तर्क किया कि देवार्पण की प्रथा में देवदासी को वेश्यावृत्ति करनी पड़े ऐसी कोई शर्त नहीं होती । अतः इस धार्मिक प्रथा में हस्तक्षेप करना सरकार के लिए उचित नहीं । इसी साल मद्रास राज्य की विधानसभा ने देवार्पण की प्रथा पर प्रतिबंध लगाने की सिफारिश की । सरकार ने उनका पूरा प्रस्ताव तो नहीं माना, पर जागीर धारण करने वाली देवदासियों को उनके उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया । सन् १९३० में डा. मुथुलक्ष्मी रेड्डी ने देवार्पण की प्रथा पर प्रतिबंध लगा कर देवदासियों को विवाह का अधिकार देने का प्रस्ताव मद्रास विधानसभा में पेश किया । इसी साल केन्द्रीय विधान सभा में डा. जयकर ने पूरे भारत के लिए इसी प्रकार के कानून की आवश्यकता प्रतिपादित की । माइसोर और त्रावनकोर की रियासतें इस दृष्टि से काफी प्रगतिशील रहीं क्योंकि माइसोर में सन् १९०९ में ही इस प्रथा पर संपूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया था और त्रवनकोर में वहाँ की रानी के प्रयत्नों से सन् १९३० में सरकारी सहायता से चलने वाले मंदिरों में देवदासी की प्रथा बंद कर दी गयी । सन् १९४५ में पुदुकोटा रियासत में भी इस प्रथा पर संपूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया और सावंतवाड़ी रियासत में देवार्पण के समय देवदासी की कम से कम उम्र अठारह वर्ष निश्चित की गयी । इस प्रकार देवदासी की प्रथा क्रमशः लुप्त हो गयी । यह उचित ही हुआ; क्योंकि आज के युग की परिस्थितियों के वह अनुकूल नहीं और आज की स्त्री समानता की भावना से भी उसका मेल नहीं खाता ।

देह-विक्रय करने वाली स्त्रियों में देवदासी जैसी धर्म और देवालयों के साथ संबंध रखने वाली संस्था का अस्तित्व और इतना अधिक विकास कैसे हो सका, यह पहेली आश्चर्यजनक होने पर भी, प्रयत्न करने पर समझ में आ सकती है । धर्म के साथ गणिकावृत्ति या पतितावस्था का किसी प्रकार का संबंध हो सकता है, यह विचार भी आज के युग में असह्य और जुगुप्साजनक लगता है । फिर भी, धार्मिक गणिकावृत्ति जैसी घृणित संस्था से मनुष्यजाति युगों से परिचित है, यह सत्य समाजशास्त्र के अध्येताओं द्वारा भुलाया नहीं जा सकता । परंपरा और प्रथा का पालन करने के मोह में मनुष्यजाति ने क्या-क्या नहीं किया, और आज भी वह क्या-क्या नहीं कर रही, इसका लेखाजोखा हमें आश्चर्यचकित कर सकता है । रूढ़ि के प्रवाहों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, किसलिए; वे किसी विशिष्ट दिशा में ही बहते हैं, और

किन कारणों से मनुष्य असहाय होकर उनके वेग में बहता जाता है, इसका अध्ययन मनुष्यजाति के इतिहास का अत्यंत रोमांचक पहलू प्रस्तुत करता है । रिवाजों को बल प्रदान करनेवाली मान्यताएँ किस प्रकार विकसित होती हैं, और वे समाज की रचना में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, यह भी समाजशास्त्र के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण अंग हो सकता है ।

आज हम अपने आप को अत्यंत बुद्धिमान, विचारशील और न्यायी मानते हैं । हमारे पूर्वज भी यही मानते थे । आज हमें हमारे पूर्वजों की अनेक बातें जिस प्रकार विचित्र और अनाकलनीय दिखाई देती हैं, उसी प्रकार कुछ शताब्दियों या युगों बाद हमारी बुद्धिमत्ता, विचारशीलता और न्यायपरायणता भविष्य के विचारकों की दृष्टि में संदिग्ध हो उठें यह संभव है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । अपूर्ण मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने के लिए कैसी-कैसी विचित्र उलझनों से गुज़रता है ! धार्मिक गणिकावृत्ति का संक्षिप्त अवलोकन हमें मनुष्यजाति की इन उलझनों और विचित्रताओं की झलक दिखाने में और हमारी संस्कृति की विकृतियों का दर्शन कराने में सहायक होगा । इससे यदि आज का हमारा अभिमानी मानस कुछ नम्र और उदार हो सके, तो यह उपलब्धि भी कम नहीं होगी । धर्म की नकाब पहन कर गणिकावृत्ति ने कैसे-कैसे विचित्र रूप धारण किये थे, इसका अध्ययन अगले परिच्छेदों में किया जायगा ।



चौथा परिच्छेद
धार्मिक गणिकावृत्ति

१
देवार्पण की भावना का विकास

धर्म और नीति की भावनाएँ समयानुसार बदलती रहती हैं। किसी विशिष्ट युग के विचार त्रिकालाबाधित सत्य या सर्वकालीन नीतिमत्ता के प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकते। ईश्वर नामक शक्ति को प्रसन्न रखना और तत्कालीन मान्यता के अनुसार सदाचार माने जाने वाले कृत्य करना किसी भी युग की धर्मभावना की साधारण प्रवृत्ति होती है। ईश्वर को प्रसन्न करने के उपाय विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। उसकी प्रसन्नता के लिए यज्ञयाग किये जाते हैं; स्तोत्रों से उसकी प्रार्थना की जाती है; मंदिरों का निर्माण किया जाता है और भोग-नैवेद्य अर्पण किये जाते हैं। इससे एक कदम आगे बढ़ कर नृत्य, गीत और वादन-कलाएँ भी उसकी प्रसन्नता का साधन मानी जाने लगती हैं और शीघ्र ही संगीतकारों, कीर्तनकारों, नृत्यकारों और नर्तकियों की कला देवता की सेवा में प्रस्तुत होने लगती है। नृत्य-संगीत को देवता की प्रसन्नता प्राप्त करने का एक मार्ग मानते ही इन कलाओं के निष्णात पेशेवर कलाकार मंदिर-व्यवस्था के आवश्यक अंग हो उठते हैं और भक्तजनों के धर्मप्रवाह के साथ-साथ कलाकारों और कलावतियों का कलाप्रवाह भी समांतर रूप से बहने लगता है। प्राचीन धर्मों में देवता, संगीत, और नृत्य का घनिष्ठ संबंध ऐसी ही किसी प्रक्रिया के सहारे विकसित हुआ होगा। यहूदी, यूनानी, रोमन और मिस्री प्रदेशो के धर्मों का गणिकावृत्ति के साथ कितना निकट संबंध था, यह हम आरंभ के परिच्छेदों में देख चुके हैं।

पूजा-अर्चा और स्तोत्र-प्रार्थना के बाद, देवता को प्रसन्न करने का दूसरा सोपान है देवार्पण की भावना। युगविशेष में मनुष्य को अत्यंत प्रिय लगने वाली वस्तु देवता को अर्पण करना और उस वस्तु का उपभोग करके देवता प्रसन्न होते हैं, यह मानना देवार्पण के पीछे की मूल भावना है। देवार्पण की हुई वस्तु पवित्र हो जाती है। अत: अपर्ण के बाद उस सामग्री का प्रसाद के रूप में भक्तगण उपयोग कर सकते हैं। नैवेद्य और प्रसाद की यह भावना आज भी हमारे यहाँ प्रचलित है। अर्पण की जाने वाली वस्तु का चयन अत्यंत सरल होता है। जो वस्तु मनुष्य को प्रिय हो, वही देवता को भी पसंद होनी चाहिये। इस नियमानुसार भोजन, वस्त्र, पुष्प, सुगंधित द्रव्य, श्रृंगार के साधन और स्वर्ण-रत्न तक सारी लोकप्रिय वस्तुएँ देवार्पण हो सकती हैं। कभी-कभी अपनी पूरी संपत्ति और पूरे राज्य भी देवता के चरणों में अर्पित करने की भावना पायी जाती है। मेवाड़ के सिसोदिया राजपूत अपने आपको एकलिंगजी के प्रतिनिधि मान कर उनके प्रधान की हैसियत से राज्य करते थे। शिवाजी महाराज भी राज्य को माता भवानी का प्रसाद मान कर उनके अनुचर के रूप में राज्य करते थे। उनका भगवा झंडा भी समर्पण और अनासक्ति का सूचक है। आरंभ में यज्ञयागों में जौ, तिल, तंडुल, घी इत्यादि द्रव्यों का ही होम होता था, जो सबके सब मनुष्य को अत्यंत प्रिय थे। अर्पण की भावना अधिक उग्र बनने पर, समाज की बदलती हुई रुचि के अनुसार इन द्रव्यों के स्थान पर पशुओं और मनुष्यों का उपयोग भी होने लगा। पशुमेध के विभिन्न प्रकारों में भेड़-बकरे, भैंसे, अश्व इत्यादि का और नरमेध में कुमारिकाओं और बत्तीस लक्षण-युक्त पुरुषों का प्रयोग होने लगा। आज हमें पसंद हो या न हो, यजुर्वेद के पुरुषसूक्त के उच्चारण के साथ होने वाले नरमेध की

महाभयानक और घृणित प्रथा का अध्ययन हम कर चुके हैं । धीरे-धीरे बलि दिये जाने योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गयी, और अंत में भिन्न-भिन्न १८४ प्रकार के स्त्री-पुरुषों को इसके योग्य माना जाने लगा ।

इन बलियों में पशुओं और मनुष्यों का प्रत्यक्ष वध होता था इसके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होने के बावजूद, यह भी संभव दिखाई देता है कि अधिकांश प्रसंगों पर वध्य पशु या मनुष्य को देवता या अग्नि के समक्ष खड़ा करके और खड्ग से उसका स्पर्श करके जीवित छोड़ दिया जाता होगा और इसी से प्रत्यक्ष बलिदान का फल मिलने का संतोष कर लिया जाता होगा । क्रमशः पशु या मनुष्य के स्थान पर नारियल, पेठा, कुम्हड़ा, कद्दू, बिल्वफल, केला या अन्य किसी प्रतीकात्मक वस्तु का होम करके ही प्रथा की परिपूर्ति मान ली जाती होगी । परंतु इस हालत में यह संभावना बहुत अधिक रहती है कि वध के लिए नियत स्त्री या पुरुष को छोड़ देने पर भी, देवार्पण हो चुकने के कारण उस पर देवता और उनके पुरोहितों का कुछ विशेषाधिकार स्थापित हो जाता होगा । इसी प्रकार बलि के लिए नियत होकर भी जीवित छोड़ दिये जाने वाले स्त्री पुरुषों को देवार्पित अतएव पवित्र मानने की भावना भी समाज में उत्पन्न हो सकती है । देवता को अर्पित भोग या बलि का अवशिष्ट अंश प्रसाद कहला कर सार्वजनीन पवित्र पदार्थ हो जाता है जिसका अनादर करने से पाप लगता है । सत्यनारायण व्रतकथा की रचना ही शायद देवता का प्रसाद ग्रहण करने से इनकार करने वालों की दुर्दशा का वर्णन करने के लिए हुई है । मंदिरों में बंटने वाले प्रसाद के लिए आज भी छीनाझपटी होती है और श्रीनाथजी या जगन्नाथजी का प्रसाद लोग सहेज कर हजारों मील दूर ले जाते हैं । देवार्पण किए हुए वृषभ को आज भी, किसी भी प्रकार के बंधन से रहित, स्वतंत्र घूमने दिया जाता है । शीतला, कालीमाता या भैरव को अर्पित भेड़-बकरे और मुरगे भी अकसर मुक्त छोड़ दिये जाते हैं । ये सब प्रथाएँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं कि उस युग में भी देवार्पित पशुपक्षी सामाजिक मालिकी के हो जाते थे: उनकी विशेष रूप से देखभाल की जाती थी; और उनका उपयोग भी सार्वजनीन हो जाता था । मुक्त वृषभ को तो सदा से उत्तम गोधन के विकास का मुख्य साधन माना जाता है । इससे एक कदम आगे बढ़ते ही, यह मान लेने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती कि युगविशेष में देवार्पित मनुष्य प्राणी भी फिर वे चाहें पुरुष हों या स्त्री —सार्वजनीन स्वामित्व और सार्वजनिक उपयोग की वस्तुएँ मान लिये जाते होंगे ।

इस वस्तुस्थिति को स्वीकार कर लेने पर अर्पण के दो प्रकार संभव हो सकते हैं । देवता को सशरीर मनुष्य भी अर्पित हो सकते हैं; और उनकी कला भी । देवता की प्रसन्नता स्त्री-पुरुष की बलि देकर भी प्राप्त की जा सकती है: और उनके नृत्य-संगीत के समर्पण से भी । बलि के लिए नियत स्त्री-पुरुष का वध न हो, तो वे आजीवन दिव्य प्रभायुक्त प्राणी बन कर विशिष्ट स्थान के अधिकारी बन जाते होंगे । इस हालत में, देवता की सेवा-पूजा में या उसकी प्रसन्नता के लिए विशिष्ट प्रकार की कलासाधना में लगा रहनेवाला यह वर्ग, उसे मिलने वाले महत्व के कारण क्रमशः अपने आप को देवता की इच्छा या आज्ञा प्रदर्शित करने का अधिकारी मानने लगे यह स्वाभाविक है । इस परिस्थिति में से स्त्री-पुरुषों का एक ऐसा वर्ग विकसित होते देर नहीं लगती जो अपने आपको देवता की प्रसन्नता और नाराज़ी, उसके वरदान और शाप, उसकी इच्छा और उसके संदेश साधारण मनुष्यों तक पहुँचाने वाला देवदूत या मसीहा मानता हो । इसमें वास्तविकता का अंश जितना होता है, इसका आज के बुद्धिवाद की कसौटी पर मूल्यांकन करना योग्य नहीं । अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन युग का बहुत बड़ा मनुष्य-समुदाय इस प्रकार की शक्ति में बिना किसी शंका-संकोच के विश्वास करता था । प्राचीन यूनान में भविष्य कथन करने वाले डेल्फी के ऑरेकल्स की संस्था सर्वमान्य थी । प्रत्येक प्राचीन संस्कृति में दैवेच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरोहितों और मठाधीशों को कम-अधिक प्रमाण में जनसाधारण की मान्यता मिलती रही है और इस विशेषाधिकारयुक्त वर्ग में स्त्रियों का समावेश भी होता रहा है ।

उपरोक्त नियमों को मानकर चलें, तो इस वर्ग की स्त्रियों का विवाह और सामान्य व्यवहार के बंधनों से मुक्त रहकर देवसेवा और धार्मिक विधियों में ही लगा रहना स्वाभाविक ही कहा जायगा । यहाँ से हमारे विषय से संबंध रखनेवाले तथ्यों का आरंभ होता है । बलि के रूप में देवार्पित हो चुकने वाली इन

पवित्र स्त्रियों को भी, देहधारी होने के नाते, शरीर के सब धर्मों की तृप्ति करने की आवश्यकता पड़ती है। इस हालत में इस वर्ग की स्त्रियाँ अपने महत्व और पार्थक्य को सलामत रखते हुए देहतृप्ति के साधन अपने इर्दगिर्द के वर्तुलों में से ढूंढने को प्रवृत्त हों, यह अत्यंत स्वाभाविक है। विवाह और परिवार-संस्था को केन्द्र मानकर रची जाने वाली समाजव्यवस्था के दायरे से बाहर रहने वाली ये स्त्रियाँ उन्हें प्राप्त होने वाले अतिरिक्त स्वातंत्र्य के सहारे आरंभ में धर्माधिष्ठित स्वेच्छाचार और बाद में धार्मिक गणिकावृत्ति में फिसल पड़ती हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

ईश्वर नामक सत्ता की अगम्य मालूम देने वाली कल्पना और धार्मिक विधि-विधानों की अनाकलनीय दिखाई देने वाली कार्यप्रणाली साधारण लोगों की समझ में पूरी तरह से कभी नहीं आती। अत: धर्ममान्यता के आरंभिक रूपों में मन्नत-मनौती की भावना बहुत अधिक पायी जाती है। ईश्वर की पूजा-प्रार्थना करके और उसे भोजन, सुगंधी द्रव्य आदि प्रिय वस्तुएँ यथाशक्ति अर्पण करके, बदले में आरोग्य-ऐश्वर्य आदि ऐहिक सुखों की कामना करने की वृत्ति आज के वैज्ञानिक युग के सुशिक्षित कहे जाने वाले लोगों में भी पायी जाती है। किसी संकट का निवारण करने के लिए या किसी महान ईप्सित को प्राप्त करने के लिए अपनी सबसे प्रिय, सबसे उत्तम, और सबसे मूल्यवान वस्तु इष्टदेवता को अर्पण करने की भावना मन्नत-मनौती के मूल में अनिवार्य रूप से पायी जाती है। प्राचीन युग के यज्ञ-याग और होम-हवन इसी मान्यता के परिणाम हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए पश्चिम के प्रगत देशों में इस बीसवीं शताब्दी में भी प्रार्थनाएँ होती हैं।

मन्नत-मनौती का स्वरूप मनुष्य के प्राप्तव्य के ही अनुरूप होता है। मनुष्य को सौ रुपये की आवश्यकता हो, तो मन्नत की मद में पाँच रुपये खर्च करने को वह खुशी से तैयार हो जायगा। परंतु किसी प्रजा को प्रबलशत्रु पर विजय प्राप्त करनी हो, तो वह इससे अनेक गुना विशाल आयोजन करने को तैयार हो सकती है। मनुष्य के ईप्सित अकसर धन-संपत्ति, संतति, यश और शत्रुविनाश ही होते हैं। इन ईप्सितों की प्राप्ति के मार्ग भी प्राय: सभी धर्मों में निश्चित होते हैं जो अकसर मंत्र-तंत्र, यज्ञ-होम, स्तुति-प्रार्थना या दान-देवार्पण का ही रूप धारण करते हैं। किसी असाध्य रोग से बालक बच जाय, तो अच्छा होने पर देवता के चरणों में उसका माथा टेकने की मन्नत अत्यंत स्वाभाविक मानी जायगी। संतान न होने पर माता-पिता के (विशेष तौर से माता के) मन में उसकी प्रबल इच्छा जगे, यह भी उतना ही स्वाभाविक है। यह कामना छोटी-मोटी मनौतियों से पूरी न होती हो, तो प्रथम संतान ही देवता को अर्पण करने की मन्नत आतुर माता-पिता मान सकते हैं। प्रचलित समाजव्यवस्था में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का स्थान अधिक महत्वपूर्ण हो, तो साधारण मनुष्यों के मन में सिर्फ पुत्रियों को ही देवार्पित करने की लालच उत्पन्न हो सकती है। समय बीतते ये मन्नतें धार्मिक प्रथा का रूप धारण कर लेती हैं और शीघ्र ही देवार्पित की हुई लड़कियों की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि उनकी गणना एक अलग वर्ग के रूप में होने लगती है। इस वर्ग को विवाह की सुविधा नहीं मिलती और देवार्पण के कारण उत्पन्न होने वाली विशिष्ट परिस्थितियाँ उसके सर्वभोग्या होने की मान्यता को ही प्रोत्साहित करती हैं। इस हालत में, मनुष्यसुलभ कामतृप्ति के लिए ये स्त्रियाँ स्वेच्छाचार या संस्थापित गणिकावृत्ति का मार्ग ग्रहण कर लें, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

देवता की प्रसन्नता के लिए संपूर्ण मनुष्य अर्पण करने के बजाय अर्पण के संकेतरूप उसका कोई अंग या अन्य प्रतीकात्मक वस्तु देवार्पित करने की प्रथा भी अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। देवीभक्त पुरुषों का लिंगविच्छेद और युद्धदेव को अर्पित प्राचीन युग की अॅमेझोन नामक कुमारिकाओं के स्तनविच्छेद जैसे देवार्पण के उग्र और अतिरेकी प्रकारों से मनुष्यजाति परिचित है। इतनी उग्रता का सार्वत्रिक स्वीकार होना संभव नहीं। अत: धीरे-धीरे इन आत्यंतिक प्रकारों का रूपांतर भी प्रतीकात्मक अर्पणों में हो जाता है। प्रतीक के रूप में देवार्पित की जानेवाली वस्तु जितनी सुलभ और जितनी अनुपयोगी हो, उतनी ही सुविधा रहती है। देवी के मंदिर में बच्चों के बाल उतरवाने की प्रथा देवार्पण के सुगम तरीके

का सर्वोत्तम उदाहरण है । स्त्री का कौमार्य देवता को अर्पण करके जीवन भर के लिए स्वेच्छित देहसंबंध की दैवाज्ञा प्राप्त कर लेने की प्रथा को भी सुविधात्मक देवार्पण का एक प्रकार माना जा सकता है । अनेक धर्मों की प्राथमिक अवस्था में यह प्रथा प्रचलित रही थी । स्पष्ट है कि देवता की प्रतिमा तो यह कार्य कर नहीं सकती । अत: देवता के प्रतिनिधि के रूप में पंडे-पुजारी, धर्मगुरु, पुरोहित, मठाधीश या महंत और कभी-कभी राजा-महाराजा या सरदार-सामंत ही कौमारभंग की विधि करते थे । प्रथम समागम द्वारा देवार्पित स्त्रियों के उपभोग को जीवन भर के लिए पवित्र बना देने के उपरांत उनके गर्भ से संतति उत्पन्न करने का अधिकार भी इन्हीं लोगों को होता था । यह स्थिति उत्पन्न होते ही धार्मिक गणिकावृत्ति अधिक दूर नहीं रह जाती । परंतु संस्थारूप प्राप्त करने से पहले इसे गुप्त व्यभिचार की अवस्था में से गुज़रना पड़ता है । रोम की देव कुमारिकाओं (Vestal Virgins) से लगा कर हिंदू, जैन और बौद्ध साध्वियों तक के यौन-अनाचारों से हम परिचित हैं । जीवनभर के लिए देवार्पित हो चुकने वाली इन युवतियों के भी हाड़मांस का शरीर होता है और उसके सारे धर्मों का भी वे अनुभव करती हैं । देहोपभोग के लिए पहले तो वे शिष्ट सम्मत मार्गों को अपनाने का प्रयत्न करती हैं । परंतु यह संभव न हो, तो या तो अशिष्ट मार्गों को शिष्ट स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाता है या शिष्टाशिष्ट की चिंता ही छोड़ दी जाती है । इस स्थिति के उत्पन्न होते ही देवार्पित ब्रह्मचारिणियों की संस्था धार्मिक गणिकावृत्ति में परिणत हो जाती है । सदा सर्वदा के लिए देहदमन करना असाध्य नहीं तो कष्ट साध्य अवश्य है । किसी भी परिस्थिति में देह-धर्म की तृप्ति के मार्ग मनुष्य ढूंढ ही लेता है । उसकी इस सहज प्रवृत्ति को नियमों के बंधन से बांधना न तो कभी संभव हुआ है, और न होगा ।

धार्मिक मान्यताओं को जीवन में प्रतिबिंबित करने के मनुष्य के आग्रह से जन्म लेने वाले इन विभिन्न प्रवाहों ने मिलकर ही आज आश्चर्यजनक लगने वाली धार्मिक गणिकावृत्ति को जन्म दिया था । इसकी सराहना या भर्त्सना करने से कोई लाभ नहीं । किसी प्रथा या किसी मान्यता की निंदा या स्तुति करने की अपेक्षा उसे समझने की सहानुभूतिपूर्ण, वस्तुनिष्ठ, और ऐतिहासिक दृष्टि विकसित करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है । वस्तुनिष्ठ विश्लेषण की सहायता से ही किसी सामाजिक घटना का सोपपत्तिक विवेचन किया जा सकता है औरउसी के सहारे भविष्य के लिए मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है । इस दृष्टि से देखने पर धार्मिक गणिकावृत्ति के पीछे विभिन्न प्रकार की प्रेरक शक्तियाँ दिखाई देती हैं । धार्मिक गणिकावृत्ति का विकास प्राय: निम्नोक्त वर्गों की स्त्रियों से ही होता है:

१. देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिए नृत्य-गीत या सेवापूजा में नियोजित युवतियाँ ।
२. देवी-देवता को बलि रूप में अर्पण करके जीवित छोड़ दी जाने वाली स्त्रियाँ ।
३. देवी-देवता की पूजा-अर्चा के लिए पवित्रता की भावना से आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने को बाध्य पुजारिनें या सेविकाएँ ।
४. फल की इच्छा से, मन्नत मान कर देवी-देवता को अर्पण की हुई कन्याएँ ।
५. देवी-देवता को, सर्वार्पण के प्रतीक रूप, कौमार्य अर्पण करनेवाली स्त्रियाँ ।

कई बार इनमें से एकाधिक कारण एकत्र हो जाते हैं । इन कारणों के परिणामस्वरूप ही धर्म जैसी परम पवित्र मानी जाने वाली संस्था में नितांत अपवित्र मानी जाने वाली गणिका संस्था को स्थान मिलता है । हम देख चुके हैं कि धार्मिक गणिकावृत्ति के मूल में कहीं न कहीं देवार्पण की उदात्त भावना अवश्य होती है । परंतु अन्य उदात्त भावों की तरह इसमें भी विकृति आते देर नहीं लगती और अंत में इसकी परिणति निरंकुश विषय सेवन और घृणित अनाचार में ही होती है । धीरे-धीरे यह रिवाज संस्थापित होकर प्रतिष्ठित परंपरा का रूप धारण कर लेता है और शीघ्र ही इसमें से वेश्यावृत्ति को खानदानी पेशा मानने वाली जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । देवार्पण जैसी धार्मिक भावना के साथ संबंधित होने के कारण आरंभ में इस वर्ग की ओर अस्पष्ट सी आशंका और कुतूहल से देखा जाता है । कुछ समय तक इसके प्रति थोड़ा-बहुत पूज्यभाव भी व्यक्त किया जाता है । परंतु ज्यों-ज्यों इन स्त्रियों का झुकाव अमर्याद विषय सेवन और

निर्लज्ज अर्थ संपादन की ओर होता जाता है त्यों-त्यों समाज की आदरभावना भी कम होती जाती है। इन स्त्रियों की दृष्टि से देखें, तो उन्हें अपनी द्रव्यार्जन-शक्ति देह-विक्रय में ही सीमित दिखाई देने लगती है। इस हालत में धर्म की मुहर लगा कर, या बिना लगाये भी, देहोपभोग को वे अपना पेशा बना लेती हैं। शीघ्र ही सभ्य समाज उनकी ओर घृणा और तिरस्कार से देखने लगता है। धर्मभावना का ऐसा दुरुपयोग होता देख कर वेश्यावृत्ति के इस प्रकार की ओर उसकी घृणा और भी तीव्र हो उठती है।

परंतु इसका दूसरा पहलू भी विचारणीय है। देवता को प्रसन्न करने के लिए आवश्यक नृत्य-संगीतादि कलाओं की जानकारी इन स्त्रियों के आकर्षण को बेहद बढ़ा देती है। देवमंदिरों में रहने के कारण वे धर्मगुरुओं, पंडितों, शास्त्रज्ञों और साधु-महात्माओं के संसर्ग में आती रहती हैं जो उन्हें विदुषी नहीं तो बहुश्रुत अवश्य बना देता है। इसके परिणाम स्वरूप उनके संभाषण और आचार-व्यवहार में एक प्रकार का माधुर्य और आकर्षकता उत्पन्न हो जाती है। इनमें की कुछ उच्चशिक्षित भी हो सकती हैं। कलाप्रावीण्य के बल पर उन्हें समाज का आदर-सम्मान पर्याप्त मात्रा में मिलता रहता है। धन की तो उन्हें कमी कभी नहीं पड़ती। विलासी राजा-महाराजा और धनिक श्रेष्ठियों से लगा कर सत्तालोलुप सामंतवर्ग और कुटिल राजनीतिज्ञों तक सभी उनके रूप, यौवन और उनकी कला का अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार उपयोग करने को सदा तत्पर रहते हैं। राजकाज के षडयंत्रों और संधि-विग्रहों में भी उनका मनमाना उपयोग किया जाता है। ये सारे तत्व मिलकर इस वर्ग की स्त्रियों को अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बना देते हैं। समाज की घृणा जागृत करने के साथ-साथ उसका सम्मान अर्जित करने के अवसर भी उन्हें कम नहीं मिलते। इनका यथोचित उपयोग करके वे प्रतिष्ठित समाज की नज़रों में उत्तरोत्तर ऊँची उठ सकती हैं। वात्स्यायन-युग की कलावती गणिकाओं को अन्य प्रतिष्ठित नागरिकों से रत्ती भर भी नीचा नहीं माना जाता था, यह हम देख चुके हैं।

२

प्राचीन संस्कृतियों में धार्मिक गणिकावृत्ति

प्राचीन संस्कृतियों की धार्मिक गणिकावृत्ति के विषय में हम प्रथम खंड में कुछ विचार कर चुके हैं। परंतु भारत की विशिष्ट प्रकार की धार्मिक गणिकावृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यहाँ अन्य प्राचीन संस्कृतियों की धर्माधिष्ठित गणिकावृत्ति पर फिर से एक सरसरी निगाह डाल देना सुविधाजनक रहेगा। मुख्यतः हम बेबिलोन और सीरिया की संस्कृति का विचार करेंगे।

बेबिलोन की धार्मिक गणिकावृत्ति के मूलाधार दो थे: —(१) हम्मुराबी की संहिता, और (२) गिलगमेश का महाकाव्य। बेबिलोन के मर्डुक नामक देवता का मंदिर अत्यंत प्राचीन काल से वहाँ की प्रजा के कानूनों का नियंत्रण करता था। वह न्याय-व्यवस्था ईश्वर के नाम पर चलती थी। अतः कानूनों का नियंत्रण करने वाला मर्डुक-मंदिर प्रजाजीवन का महत्वपूर्ण विभाग बन गया था। अगोचर होने पर भी मर्डुक देवता सूक्ष्म रूप से लोगों के विवाहों, उत्सवों और भोजन-समारंभों में सम्मिलित होता था और संकटकाल में उन्हें सलाह-मशवरा भी दे सकता था। ऐसे प्रभावशाली देवता का निवासस्थान होने के नाते मंदिर में प्रचुर प्रमाण में धन संचित हुआ था और वह बेबिलोन-निवासियों के लिए बैंक का काम भी करता था। अन्य छोटे-मोटे नगरों और गाँवों में भी इसी मंदिर के कानून चलते थे। बेबिलोन के स्वर्णयुग में इर्दगिर्द के विस्तृत प्रदेश का शासन इन्हीं नियमों के अनुसार होता था। हम्मराबी नामक कुशल शासक ने इन बेतरतीब नियमों को एकत्रित करके एक संहिता तैयार की थी जो उसीके नाम से प्रचलित हुई।

हम्मुराबी की संहिता के नियमानुसार मंदिरों में देवता की सेवा-पूजा के लिए नियत स्त्रियों को

देवपत्नियाँ या देवगणिका माना जाता था । इनके दो प्रकार थे: एण्टु और नटीटु । देवता की पत्नियों के रूप में वैसे तो इन दोनों प्रकार की देवदासियों को यथेष्ट आदर-सम्मान मिलता था और सांपत्तिक दृष्टि से भी दोनों अत्यंत समृद्ध होती थीं; परंतु फिर भी एण्टु का स्थान श्रेष्ठ था । इस वर्ग की देवपत्नियाँ मनुष्यजाति के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं रख सकती थीं । नटीटु अधिक पार्थिव मानी जाती थीं और वे देवता के उपरांत किसी मनुष्य से भी विवाह कर सकती थीं । शर्त सिर्फ एक रहती थी कि मर्त्यप्राणी के संसर्ग से संतानोत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । मालूम देता है कि प्राचीन युग की यह प्रजा संततिनियमन ही नहीं, संपूर्ण संतान निरोध के उपायों से भी परिचित थी । दोनों प्रकार की देवपत्नियाँ या तो मंदिरों में ही रहती थीं या मंदिर के इर्दगिर्द अपने स्वतंत्र मकानों में । देवपत्नी यदि गलती से भी मद्यालय में प्रवेश करे, तो उसे जिंदा जला दिया जाता था। परंतु इस नियम की कठोरता के कारण ऐसे मौके क्वचित् ही आते थे । उस युग के सामान्य नागरिक जिस प्रकार एक मुख्य पत्नी और हीन प्रकार के विवाहों से परिणीत अनेक उपपत्नियों के अलावा कुछ रखैलें भी रख सकते थे, उसी प्रकार देवता के मनोरंजनार्थ उपरोक्त दो प्रकार की पत्नियों के उपरात 'ज़ाक्रू' नामक रखैलें भी होती थीं । इन्हें सबसे अधिक स्वातंत्र्य प्राप्त था ।वे मनुष्यों से विवाह कर सकती थीं और उनके संसर्ग से संतानोत्पत्ति भी कर सकती थीं ।

मडुक देवता की नारीशक्ति की ईश्वर नामक देवी के रूप में पूजा होती थी । इस देवी की प्रसन्नता के लिए बेबिलोन की प्रत्येक स्त्री का कौमार्यार्पण आवश्यक माना जाता था । इसकी विधि इस प्रकार थी: — विवाह से पहले प्रत्येक स्त्री को मंदिर के प्रांगण में बैठना पड़ता था और जो कोई विदेशी उसके सामने चांदी का सिक्का फेंक कर उपभोग की इच्छा प्रकट करे, उसे देहसमर्पण करना पड़ता था । इस प्रकार क समर्पण के बिना किसी स्त्री का विवाह नहीं हो सकता था । कुरूप स्त्रियों को तो कभी-कभी वर्षों तक रोज आस लगाये बैठना पड़ता था, तब कहीं जा कर उनकी विवाहेच्छा पूर्ण हो पाती थी । बेबिलोन के इस रिवाज को विवाह से पहले देवता को कौमार्य अर्पण करने की प्रथा का शायद सबसे पुराना उदाहरण माना जा सकता है ।

'गिलगमेश' बेबिलोन की प्रजा का महाकाव्य था, जिसमें अनेक प्रकार की दैवी कथाओं का संग्रह पाया जाता है । एक कथा इस प्रकार है कि महादेवी ईश्तर गिलगमेश से प्रेम करती थी; पर उसने देवी के प्रेम को स्वीकार नहीं किया । उदासीन प्रेमी को ढूंढ कर प्रसन्न करने के लिए देवी ईश्तर प्रतिवर्ष किसी विशिष्ट ऋतु में उसकी खोज करने को निकलती थी । उसकी अनुपस्थिति में उसका स्थान लेने के लिए मंदिरों के व्यवस्थापक अस्थायी रूप से कुछ स्त्रियों को नियुक्त कर देते थे । कुछ दिनों के लिए देवी का स्थान ग्रहण करने के बाद, मंदिर के वातावरण में धीरे-धीरे ये स्त्रियाँ भी देवगणिका बन जाती थीं ।

सीरिया की संस्कृति में आकर बेबिलोन की देवी ईश्तर 'अथर' बन गयी । इस संस्कृति में शिश्नपूजा आरंभ से ही प्रचलित थी और मंदिरों में नंदी-देवता और सिहंनी-देवी की संभोग-मूर्तियों की पूजा की जाती थी । विशिष्ट धार्मिक प्रसंगों पर स्त्री-पुरुषों को अपने केश देवार्पित करने पड़ते थे । केशार्पण के लिए तैयार न होने वाली स्त्री को एक रात के लिए किसी अजनबी से देहसंबंध करना पड़ता था । कौमार्यार्पण द्वारा केशों की रक्षा करना या केशार्पण द्वारा कौमार्य की रक्षा करना वैकल्पिक और व्यक्ति की इच्छा पर आधारित माना जाय यह कल्पना भी आज के युग में कुछ अटपटी दिखाई देती है । कुछ विद्वानों की राय है कि आरंभ में कौमार्यार्पण ही अनिवार्य रहा होगा, और बाद में उसकी उग्रता कम करने के हेतु से उसे केशार्पण का रूप दिया गया होगा । स्त्री के कौमार्यार्पण की या जीवन भर के लिए उसे देवार्पित करने की धार्मिक प्रथा सीरिया के उपरांत पश्चिमी एशिया और पूर्वीय यूरोप के कई देशों में भी प्रचलित थी । बाद के युगों में फिनीशिया, कोरवान, साइप्रस, यूनान, सिसिली, मिस्र और अरब तक के सुदूर प्रदेशों में प्रचलित होने वाली धार्मिक गणिकावृत्ति का उद्‌भव इसी प्रथा में से हुआ हो, यह संभव है । गणिकावृत्ति का धर्म के साथ संबंध जोड़ने वाली इस प्रथा के मूल में मुख्यत: तीन परिस्थितियाँ पायी जाती हैं:—

१. मनुष्य की तरह देवता को भी एकाधिक स्त्रियों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें की कुछ विवाहित, कुछ रखैल और कुछ गणिकाएँ हो सकती हैं। देवता तो शायद इससे संतुष्ट हो जाते हों; पर इस सूक्ष्मसबंध में हाडमांस की स्त्रियों की तृप्ति नहीं हो सकती; और उन्हें हाडचाम के मनुष्यों को ही देवता का प्रतिनिधि मानकर कामतृप्ति करनी पड़ती है। इस परिस्थिति को धार्मिक गणिकाप्रवृत्ति के उद्गम का प्रधान स्रोत माना जा सकता है।

२. हम देख चुके हैं कि प्राचीन काल में नारी को जीवनीशक्ति का, उर्वरता का, और वंश-परंपरा को आगे बढ़ाने का प्रधान प्रतीक माना जाता था। ऐसे शक्तिशाली प्रतीक को दैवी स्वरूप देना मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही माना जायगा। क्रमशः सृष्टि के अन्य पहलुओं में भी मनुष्य को नारी की उत्पादक शक्ति के दर्शन होने लगते हैं और पशु संवर्धन एवं धरती की उर्वरता को भी वह नारीशक्ति के अलौकिक रूप की कृपा मानने लगता है। कृषि-उत्पादन की फलदायिनी ऋतु (वसंत) के आगमन पर पृथ्वीदेवी की कृपा प्राप्त करने के लिए उसे उसकी प्रिय वस्तु समर्पित करनी चाहिये। इसके लिए स्त्री के कौमार्य से अधिक उपयुक्त वस्तु क्या हो सकती है? इस भावना में से शीघ्र ही स्त्रियों को देवार्पित करने की प्रथा जन्म लेती है जो कुछ आगे चलकर धार्मिक गणिकावृत्ति में परिणत हो जाती है।

३. देवता की प्रसन्नता के लिए अपनी सबसे प्रिय वस्तु की बलि देनी चाहिये। स्त्री के लिए स्त्रीत्व और पुरुष के लिए पुरुषत्व से बढ़ कर बहुमूल्य वस्तु और क्या हो सकती है। मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर वैयक्तिक त्याग संभव नहीं। इस हालत में रूप यौवनयुक्त नारी किसी सामान्य पुरुष के बजाय देवता को अपना तनमन समर्पित करे, तो निश्चित ही देवता अत्यंत प्रसन्न होंगे। इससे व्यक्ति का ही नहीं, पूरी प्रजा का भी हित हो सकता है।

अगम्य शक्ति को पहचानने की और उसे यथासंभव प्रसन्न रखने की कामना से प्रेरित मनुष्य-समाज धार्मिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के विधिनिषेध खड़े करता है। ये विधिनिषेध कभी कठोर संयम के पक्ष में हो सकते हैं और कभी नियमों की उग्रता को कुछ हलका करने का प्रयत्न कर सकते हैं। संयम के अतिरेक के समान छूटछाट के प्रयत्नों की परिणति भी अक्सर विचित्र और घृणित विकृतियों में होती है और धर्माचार निरंकुश अनाचार का रूप धारण कर लेता है। पूजा-अर्चा और अन्य धार्मिक विधियों का अर्थ प्राय: देशकाल की मांग के अनुरूप और पुजारी-पुरोहितों की वृत्ति के अनुसार लगाया जाता है। केवल पंडे-पुरोहितों की इच्छा ही नहीं, भक्तों और देवसेविकाओं की वैयक्तिक मान्यताएँ, उनके विभिन्न स्वभाव, उनके रागद्वेष और उनकी उचित-अनुचित की धारणाएँ भी धार्मिक विधियों की व्याख्या को प्रभावित करती हैं। भौगोलिक स्थिति, समाजरचना की विशिष्टताएँ और आर्थिक व्यवस्था की विभिन्नता भी अपना-अपना प्रभाव डालती है। अनेकविध और भिन्न प्रकृति प्रभावों के कारण कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है और पवित्रता की परिसीमा मानी जाने वाली धर्मभावना में से पतन की चरमसीमा जैसी वेश्यावृत्ति का विकास होता है।

इन परिस्थितियों और प्रेरक बलों की खिल्ली उड़ाना, या उनके परिणामों की आलोचना करना सरल होने पर भी निष्प्रयोजन होता है। किसी प्रथा या किसी संस्था का तिरस्कार करने में अधिक मेहनत नहीं पड़ती। अमुक रूढ़ि या अमुक संस्था नष्ट होनी चाहिये ऐसे नारे लगाने में भी विशेष कठिनाई नहीं होती। नारे लोकप्रिय भी जल्दी हो जाते हैं। परंतु फिर भी इस विषय में कुछ संयम से काम लेना चाहिये। इन प्रथाओं की आज के युग में आवश्यकता नहीं, इससे तो कोई इनकार नहीं कर सकता। उनमें अन्याय का अंश बहुत अधिक पाया जाता है, इसमें भी कोई संदेह नहीं। परंतु इससे यह सत्य मिटाया नहीं जा सकता कि किसी युग में ये प्रथाएँ अत्यंत व्यापक थीं और शताब्दियों तक मनुष्यजाति ने श्रद्धापूर्वक इनको स्वीकार किया था। इन प्रथाओं के पीछे के परिस्थितिजन्य बलों को समझ पाने के लिए लोकप्रिय नारेबाजी की अपेक्षा उनका सहानुभूतिपूर्ण विचार एवं तटस्थ अध्ययन अधिक आवश्यक है।

३
असंस्कृत प्रजाओं की स्थिति

ज्यों-ज्यों विभिन्न मानव-समूहों की समाजशास्त्रीय अध्ययनों की संख्या बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों धार्मिक गणिकावृत्ति की व्यापकता के अधिकाधिक प्रमाण उपलब्ध होते जा रहे हैं । पश्चिमी अफ्रीका के कबीलों में धार्मिक गणिकावृत्ति अब तक प्रचलित है । इसके उपरांत पेरू, मेक्सिको, बोर्नियो, आदि दूर-दूर बिखरे हुए प्रदेशों में भी इसके अवशेष देखे जा सकते हैं । पश्चिमी अफ्रीका के स्लेव-कोस्ट और गोल्ड-कोस्ट नामक प्रदेशों की असभ्य जातियों में प्रचलित प्रथाओं के दो-एक उदाहरण देख लेने से उनकी व्यापकता का कुछ अंदाज़ लग सकेगा । अफ्रीकी जातियों के विशेषज्ञ एलिस नामक समाजशास्त्री ने धार्मिक गणिकावृत्ति के एक प्रकार का वर्णन इस तरह किया है: —

''इस जाति में देवार्पण किये हुए बालक 'कोसियो' के नाम से पहचाने जाते हैं । इस शब्द का अर्थ 'निष्फल' या 'व्यर्थ' होता है । देवार्पित होने वाले बालक उनके माता-पिता के किसी काम नहीं आते और माता-पिता उनके जन्म को ही निरर्थक मान कर चलते हैं । अत: यह शब्द-योजना योग्य ही मानी जायगी । देवार्पित लड़कियों को देवपत्नी माना जाता है । अकसर ये देवपत्नियाँ गणिकावृत्ति के सिवा और कुछ काम नहीं करतीं । कामतृप्ति का और कोई मार्ग उनके लिए खुला नहीं रहता । प्रत्येक गाँव में एक धर्मसंस्था होती है जहाँ इन देवपत्नियों को एकत्रित रखा जाता है । दस-बारह वर्ष की आकर्षक बालिकाओं को ही इस संस्था में प्रवेश मिल सकता है । तीन साल तक उन्हें मंत्र-तंत्र और देवता को पसंद आनेवाले नृत्यों की तालीम दी जाती है । इस दरमियान संस्था के संचालकों के साथ उनका यौन-व्यवहार चलता रहता है । इसके बाद वे गणिकावृत्ति करने को स्वतंत्र हो जाती हैं ।

''इससे उन्हें किसी प्रकार का कलंक नहीं लगता बल्कि उनके कामाचार को देवप्रेरित मान कर उनके प्रति एक प्रकार का आदरभाव व्यक्त किया जाता है । वह किसी मनुष्य से विवाह नहीं कर सकती । देवता को अर्पित स्त्री से मर्त्य मनुष्य का विवाह हो भी कैसे सकता है ! 'कोसियो' युवतियाँ देवपत्नी, देवपुजारिन और देवगणिका की भूमिका एक साथ निबाहती हैं । यदि वे अजगर देव को समर्पित हों, तो अपनी अलग संस्था बना कर रह सकती हैं । वृक्षों के झुरमुट के बीच की कुछ ज़मीन साफ करके छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ बना ली जाती हैं, ताकि वे एक समूह में रह सकें । नवागंतुकाओं की शिक्षा भी यहीं होती है । अकसर तो ऊपर कहे अनुसार दस-बारह वर्ष की अपेक्षाकृत सुंदर लड़कियों को ही पसंद किया जाता है । परन्तु शरीर में देवता का संचार हुआ हो, तो अधिक उम्र की और विवाहित स्त्रियों को भी प्रवेश मिल जाता है । स्वतंत्र और गुलाम, दोनों प्रकार की स्त्रियाँ 'कोसियो' बन सकती हैं । देवता के देह प्रवेश के लिए विशेष कुछ नहीं करना पड़ता । सिर्फ विशिष्ट प्रकार के डरावने ढंग से चीखना ही आवश्यक होता है ताकि इर्दगिर्द के लोगों को तसल्ली हो जाय कि अमुक के शरीर में देवसंचार हुआ । देवसंचार हो चुकने वाली स्त्री का उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता । तीन साल के शिक्षाक्रम के दरमियान उसे अपने माता-पिता के घर, और यदि वह विवाहित हो तो पति के घर जाने की भी इज़ाज़त नहीं मिलती ।''

एलिस इस देहप्रवेश को कोरा पाखंड मानते हैं । इसकी कड़ी आलोचना करते हुए उनका कहना है कि ''यह ढोंग अत्यंत सरलता से खड़ा किया जा सकता है । विशिष्ट प्रकार से चीखने की कला दो-चार दिनों में ही सीखी जा सकती है और इसके सिवा और कुछ आवश्यक ही नहीं होता । अत: संस्था में प्रवेश पाने में बिलकुल कठिनाई नहीं होती । इससे स्त्री को लाभ ही लाभ होता है । यदि वह गुलाम हो तो

मालेक की; स्वतंत्र हो तो पिता की; और विवाहिता हो तो पति की क्रूरता से बच जाती है। दूसरा बड़ा फायदा यह होता है कि 'कोसियो' के रूप में उसे मनमाना कामाचार करने की छूट मिल जाती है।" असभ्य प्रजाओं की यह प्रथा हमें घृणित दिखाई दे सकती है। परंतु पति की निर्दयता या सास-ससुर के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए हमारे देश में भी कितनी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है, इसका लेखा-जोखा कौन लगा सकता है ?

संस्कृत और असंस्कृत, दोनों प्रकार की प्रजाओं में धार्मिक गणिकावृत्ति किन रूपों में प्रकट होती है, और कौन सी सामाजिक परिस्थितियाँ उसका पोषण करती हैं, इसका संक्षिप्त अध्ययन हम कर चुके। धार्मिक गणिकावृत्ति की व्यापकता का अंदाज़ा लगाने के लिए प्राचीन युगों का इतना विचार पर्याप्त है। अब हम भारत की धार्मिक गणिकावृत्ति का विचार करेंगे जिसके तुलनात्मक अध्ययन में उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्य बहुत अधिक सहायक होंगे।





पाँचवां परिच्छेद
प्राचीन भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति

१
प्राचीन भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ

भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति का आरंभ कब से हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है । वेदकालीन संस्कृति के विद्वान वैदिक युग में भी गणिकावृत्ति का अस्तित्व मान्य करते है ; परंतु उसका संबंध धर्म के साथ नहीं जोड़ा जाता । वेदों में यह उल्लेख भी मिलता है कि भाई के बिना की लड़कियाँ गणिकावृत्ति द्वारा जीवन-यापन करने को विवश होती थीं । इस हालत में उत्पन्न संतति को माता की पतितावस्था से बचाने के लिए या तो किसी प्रतिष्ठित परिवार में दे दिया जाता था या जंगल में भगवान-भरोसे छोड़ दिया जाता था । वेदों में प्रयुक्त 'कुमारीपुत्र' और 'अग्रु' जैसे शब्द अनौरस संतति की और 'पुश्चली', 'महानग्नी' और रांमा जैसे शंब्द कुछ हीन कोटि की गणिकावृत्ति की सूचना देते हैं । वाजसनेयी संहिता में गणिकावृत्ति का स्पष्ट स्वीकार पाया जाता है । विधवाओं को देवर से विवाह करने की छूट दी जाती थी । परंतु इनमें से एक भी परिस्थिति गणिकावृत्ति का धर्मकार्यों के साथ संबंध नहीं जोड़ती । यद्यपि धार्मिक उत्सवों में सोमपान या सुरापान के परिणाम-स्वरूप अमर्याद विषयभोग के कई उदाहरण मिलते हैं; परंतु इसे केवल उन्मुक्त स्वैराचार ही कहा जा सकता है । धार्मिक प्रसंगों पर होने वाले इस स्वेच्छाचार में धन या वस्तु के आदान-प्रदान रूपी गणिकावृत्ति के मूलतत्व के दर्शन नहीं होते ।

स्मृतियुग तक आते-आते तो गणिकावृत्ति ही नहीं, गणिकासंस्था को भी स्पष्ट स्वीकार हो चुका था । परंतु कुछ इनेगिने संकेतों को छोड़कर गणिकावृत्ति का धर्म के साथ संबंध होने के प्रमाण इस युग में भी नहीं मिलते । बौदयुग में आकर परिस्थिति कुछ तेज़ी से बदलती हुई दिखाई देती है । जैन धर्म को हम अकसर कठोर तपस्या और देहदमन के साथ जोड़ कर देखने के आदी हैं । परंतु इन दोनों धर्मों के चरमोत्कर्ष काल में धार्मिक जीवन में गणिकाओं का जैसा व्यापक स्वीकार हुआ, वैसा और कभी या और कहीं नहीं हुआ । जातक-कथाएँ तो गणिकाओं के उल्लेखों से भरी पड़ी हैं । बौद्ध युगीन समाज में राजमहाराजाओं से लगा कर सामान्य नागरिकों तक के जीवन के साथ गणिका मानो समरस हो गयी थी । स्त्रियों के इस पतित विभाग को अपनी करुणा का आश्रय देकर भगवान तथागत ने उनके उन्नयन का मार्ग खोल दिया था । परंतु यह स्थिति लंबे समय तक नहीं टिकी । भिक्खुणी बनी हुई सभी गणिकाएँ पूर्वाश्रम के कलासक्त और विलासमय जीवन को पूर्णत: भुला कर आत्मोन्नति के मार्ग में लग गयी हों, यह संभव दिखाई नहीं देता । बुद्ध के सीधे-साधे उपदेशों की महायान मार्ग के मंत्र-तंत्र, मूर्तिपूजा, और कर्मकांड के जंजाल में फँस कर क्या दशा हुई थी इससे हम परिचित हैं । भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति का आरंभ इसी युग में हुआ था । ज्यों-ज्यों तांत्रिकों के वामाचार बढ़ते गये, त्यों-त्यों धर्म की आड़ में होने वाले यौन-अनाचारों की कक्षा भी दिन से हीनतर होती गयी ।

बौद्धधर्म के साथ गणिकाओं का संपर्क होने के आरंभकाल में एक अच्छाई यह हुई थी कि नृत्य-संगीत आदि कलाओं का अत्यधिक विकास हुआ और लोगों की अभिरुचि परिष्कृत होकर अत्यंत उच्च कक्षा में पहुँची । बौद्ध विहारों और चैत्यों का शिल्प, उनकी नक्काशी, उनका मूर्तिविधान और उनकी चित्रकारी में उच्च कोटि की कला के दर्शन होते हैं । नर्तकियों की पाषाणप्रतिमाओं की देह-भंगिमा और मुद्राविन्यास अत्यंत विकसित नृत्यकला की सूचना देते हैं । उस युग के सामाजिक समारंभों में एवं

वैयक्तिक मनोरंजन में कला का स्थान इतना महत्वपूर्ण था कि नृत्य, शिल्प, चित्रकारी आदि कलाएँ विकास की चरमसीमा पर पहुँची । इस कलाविलास का गणिकावृत्ति पर भी प्रभाव पड़ा । उस युग की अनेक गणिकाएँ न सिर्फ उच्च कोटि की कलावती थीं, बल्कि उच्चशिक्षित विदुषियाँ भी थीं । धनसंपत्ति के तो उनके यहाँ अंबार लगे; और ऐश्वर्य का विनियोग अकसर उन्होंने धार्मिक और सार्वजनीन हित के कार्यों में ही किया । विश्व के इतिहास में यूनान की सुसंस्कृत गणिका और बुद्धकालीन भारत की कलावती एवं ऐश्वर्यशालिनी गणिका की जोड़ी मिलना मुश्किल है । परंतु धीरे-धीरे इस कलासक्ति ने ही अपकर्ष के बीज बोये । जहाँ नृत्यसंगीतादि कलाओं का प्रवेश हुआ, वहाँ युवती नारी का संसर्ग भी आवश्यक रूप से हुआ, जो अंत में साधकों की साधना का भंजक सिद्ध हुआ ।

गणिकाएँ बुद्ध के जीवनकाल में उनका, और उनके निर्वाण के बाद उनके समर्थ शिष्यों का पूजन करने लगी थीं । आम्रपाली की बुद्धपूजा का चित्र आज भी लोकप्रिय है । ब्राह्मणों, धर्म-गुरुओं, विद्वानों और साधु-संन्यासियों के प्रति गणिकाओं के मन में श्रद्धा हो, और वे उनका आदर-सम्मान करें, इसमें अनुचित कुछ भी नहीं । परंतु वात्स्यायन ने महापुरुषों की वासनातृप्ति करना भी गणिकाओं का धर्म माना है । इस वैचारिक पार्श्वभूमि में हिंदू, बौद्ध और जैन मार्गों के तांत्रिकों द्वारा शक्तिपूजा एवं वामाचार का गूढ धर्ममार्ग अपनाया जाने पर और निरंकुश कामाचार को साधना का आवश्यक अंग मान लिया जाने पर यौन-अनाचार किस कक्षा पर पहुँचा होगा, इस की कल्पना आसानी से की जा सकती है । इन विविध मार्गों की उलझी हुई साधनाविधियों की वामाचार के क्षेत्र में मानो एक दूसरे से होड़ लगी हुई थी । इस स्पर्धा ने धार्मिक गणिकावृत्ति के विकास को अत्यंत सरल बना दिया । इसके बाद के युगों में तो धर्म और उपासना के क्षेत्र में ऐसी अव्यवस्था फैली कि उसका स्पष्ट निरूपण भी अब तक नहीं हो पाया । बौद्धधर्म के साथ समांतर रूप से आगे बढ़ते हुए और उत्थान-पतन की विविधरंगी धूपछाँव से गुज़रते हुए हिंदू धर्म ने अंत में बुद्ध को अवतार घोषित करके उनके धर्म को अपने विशाल उदर में समा लिया । महायान के तंत्रमंत्र और शाक्ति-साधना के बीच का भेद पहले ही इतना कम हो चुका था कि उन्हें अलग-अलग करके पहचानना साधारण लोगों के लिए मुश्किल था । इस हालत में, बौद्ध धर्म के विलय के समय या उससे कुछ पहले ही बौद्ध-मंदिरों की व्यवस्था शाक्त मठाधीशों ने हथिया ली हो, और नर्तकियों के मंदिरों के साथ के संबंध और भी घनिष्ठ हो गये हों, यह संभव है । इस अनुमान को विद्वानों का समर्थन प्राप्त नहीं है । तथापि यह संभव दिखाई देता है कि बौद्ध-धर्म के पतितोद्धार, गणिकाओं का हृदय-परिवर्तन, भिक्खुणियों का संघप्रवेश, गणिकाओं के प्रति सामाजिक सद्‌भाव, धार्मिक वर्तुलों में उनका सत्कार, इत्यादि प्रगतिशील तत्वों का पुनरुत्थान के सोपानों से गुज़रते हुए हिंदू धर्म ने स्वीकार कर लिया हो । धर्म से संबंधित होने के बाद गणिकाओं के कलानैपुण्य की संपूर्ण उपेक्षा हुई हो, यह आवश्यक नहीं । अतः, मंदिरों में उनकी कला का यथोचित्त उपयोग होता रहा होगा, यह मानने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती ।

बौद्ध धर्म के वज्रयान संप्रदाय, तंत्र, शाक्त-उपासना, और वाममार्गी साधना में स्त्री-पूजा और धर्म साधना के नाम पर निरंकुश स्त्री-उपभोग की प्रथा का प्रचलन होते ही धार्मिक गणिकावृत्ति को बड़ी उपजाऊ ज़मीन मिल गयी । वामाचार का आर्य संस्कृति के हिंदू, जैन, और बौद्ध, तीनों मार्गों में पर्याप्त विकास हो चुका था । इस हालत में, गणिकाओं के संघप्रवेश, के रूप में बौद्ध धर्म ने स्पष्ट रूप से अंगीकृत की हुई गणिकावृत्ति ने कुछ शताब्दियों बाद मंदिरप्रवेश करके देवदासी-संस्था के रूप में पुनर्जन्म लिया हो, और हिंदू धर्म ने पुनरुत्थान के आवेश में उसका विकास होने दिया हो, यह संभावना अत्यंत स्वाभाविक अतएव अन्वेषणपात्र दिखाई देती है । गणिकाओं के प्रति सम्मानवृत्ति के अवशेष हमारी कई मान्यताओं में आज भी झलक जाते हैं । यात्रा-प्रयाण के आरंभ में गणिका का सामने आना शुभ शकुन माना जाता है । गणिका को सदा-सुहागन अतएव मांगल्यसूचक मानना भी इसी प्रकार की भावना है । गणिकाओं के मातंगी नामक वर्ग के प्रति गाँव के लोगों में आज भी बहुत अधिक आदरभाव पाया जाता है ।



उत्तर भारत को धार्मिक गणिकावृत्ति का परिचय अधिक नहीं हुआ । दक्षिण भारत के समान उसके विकसित रूप के दर्शन तो उत्तर भारत को कभी नहीं हुए । धर्म या धर्म-संस्था के साथ जुड़ी हुई गणिकावृत्ति का उल्लेख आधुनिक या प्राचीन किसी भी युग में उत्तर भारत में अपवाद के रूप में ही हुआ है । परंतु ऐसे उदाहरण बिलकुल नहीं मिलते यह नहीं कहा जा सकता । दक्षिण भारत की दृढ संस्थापित धार्मिक गणिकावृत्ति (देवदासीसंस्था) का विचार करने से पहले हम उत्तर भारत के कुछ उदाहरण देख लें । इसके लिए इस्लाम के आगमन के समय (देवदासी-संस्था के आरंभकाल) की सामाजिक स्थिति और समाजजीवन में स्त्रियों के स्थान का विचार आवश्यक है । इस्लाम के पहले धक्के के साथ ही हिंदू-समाज तितर-बितर क्यों कर हो गया, और इस अनावस्था में धार्मिक गणिकावृत्ति की ओर उसका झुकाव कैसे हुआ यह समझ पाने के लिए भी तत्कालीन सामाजिक स्थिति का अध्ययन आवश्यक है ।

२

तत्कालीन नागरिक-जीवन में स्त्रियों का स्थान

प्राचीन युग में नागरिक जीवन के साथ स्त्रियों का संपर्क निम्नोक्त तीन-चार प्रकारों से ही होता था: —

१. स्त्रियाँ शिक्षिका बन सकती थीं और धर्मोपदेश कर सकती थीं । उन्हें आचार्या के अभिधान से पहचाना जाता था । अध्यात्म, दर्शन, काव्य, व्याकरण इत्यादि विषयों का अध्ययन-अध्यापन वे कुशलता से करती थीं । कभी-कभी इनमें की कोई विदुषी अत्यंत लोकप्रिय हो उठती थी और उसे समाज का आदर-सम्मान प्राप्त होकर उसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल जाती थी । बौद्ध और जैन मार्गों ने भी भिक्खुणी के रूप में स्त्रियों को स्वीकार करके उन्हें धर्मोपदेश करने का अधिकार दिया था ।

२. चिकित्सा और रुग्ण-परिचर्या के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं । आठवीं शताब्दी में वैद्यक के कतिपय संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ था । इनमें का प्रसूति संबंधी एक ग्रंथ 'रूषा' नामक विदुषी का रचा हुआ है । वैद्यक की इस शाखा में स्त्रियाँ अधिक दक्षता प्राप्त करें, यह स्वाभाविक है । आज भी यह विज्ञान अधिकांश में स्त्रियों के ही हाथों में है । दो पीढ़ी पहले हमारी माताएँ और दादियाँ प्रसूति ही नहीं, बच्चों के छोटे-मोटे रोगों का उपचार भी घरेलू वैद्यक से कर लेती थीं । उनका चिकित्सा और औषधि विषयक ज्ञान हम मानते हैं उससे कहीं अधिक प्रभावशाली और शास्त्रसिद्ध होता था । गाँवों में और छोटे-मोटे कस्बों में प्रसूति का काम अब भी दाइयों के हाथ में है; यद्यपि उनका गँवारुपन और शिक्षा का अभाव अब उनके प्रति अविश्वास उत्पन्न कर रहा है ।

३. कभी-कभी स्त्रियाँ व्यवसाय के क्षेत्र में भी देखी जाती थीं । यद्यपि इसके अधिक उदाहरण नहीं मिलते; तथापि वाणिज्य-व्यवसाय करने का स्त्रियों को अधिकार नहीं था, ऐसा कोई विधान धर्मसूत्रों में कहीं नहीं मिलता । कृषि और कला-कारीगरी से जीवनयापन करने वाले वर्गों में आज की तरह उस युग में भी स्त्रियाँ पति का हाथ बँटाती थीं और परिवार के व्यवसाय में सक्रिय योगदान देती थीं । कुछ भी काम न करनेवाला केवल एक ही वर्ग था: रानी-महारानियाँ और धनिक श्रेष्ठियों की स्त्रियाँ । इस विषय में उस युग की परिस्थिति आज से विशेष भिन्न नहीं थी । समाजसेवा के अनेकविध स्वाँग रचने के बावजूद धनवानों की बहूबेटियों जैसा अनुत्पादक और समाज पर भाररूप वर्ग न तो उस युग में कोई था न आज है ।

४. परंतु समाजजीवन के साथ अत्यंत घनिष्ठ और व्यापक संपर्क नृत्य, संगीत आदि कलाओं से संबंध रखनेवाली स्त्रियों का ही होता था । इसका यह अर्थ नहीं कि इन कलाओं का संबंध केवल पेशेवर स्त्रियों से ही था । आरंभ में अत्यंत प्रतिष्ठित, धनी और उच्च परिवारों की एवं राजघरानों की सुशिक्षित स्त्रियाँ भी इन कलाओं में रुचि रखती थीं और उनमें उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त करती थीं । कामशास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने सुविज्ञ गृहिणियों के लिए इन कलाओं की जानकारी आवश्यक मानी है । इससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती थी । परंतु समय बीतते गृहस्थ परिवारों में से ये कलाएँ लुप्त होती गयीं और पेशेवर स्त्रियों का उनपर मानो एकाधिकार हो गया ।

इस परिवर्तन के अनेक कारण थे । हम देख चुके हैं कि पारिवारिक जिम्मेदारियों के बढ़ने के साथ विवाहित स्त्रियों पर घरेलू काम का बोझ इतना अधिक बढ़ जाता है कि उन्हें समय मिलना दूभर हो जाता है । दूसरे संगीत-नृत्य जैसी कलाओं की साधना में पर पुरुषों की नज़र पर चढ़ने के प्रसंग सबसे अधिक आते हैं जिसके परिणाम अकसर दुखदायी और अनर्थकारी होते हैं । वंश की विशुद्धि स्त्रियों पर ही निर्भर करती है और उस युग में इसे कितना अधिक महत्व दिया जाता था, इससे हम परिचित हैं । इन सब कारणों से प्रतिष्ठित घरानों की बहूबेटियों के लिए नृत्य-संगीत में दक्षता प्राप्त करना उत्तरोत्तर कठिन होता गया; और बचपन से ही विशिष्ट प्रकार की साधना चाहने वाली ये कलाएँ क्रमशः विशिष्ट दिनचर्या वाले एक ऐसे वर्ग का एकाधिकार हो गयीं जो गृहस्थी के झंझटों से सर्वथा मुक्त था । संगीत-नृत्यादि कलाएँ जीवनभर की एकनिष्ठ साधना चाहती हैं । विवाह के बाद इन कलाओं में उच्च कोटि की सिद्धि प्राप्त करने का या बचपन में प्राप्त की हुई सिद्धि को सँवारे रखने का मौका शायद ही किसी स्त्री को मिलता हो । कुछ इनेगिने अपवादों को छोड़ कर आज भी इस स्थिति में विशेष फर्क नहीं पड़ा है ।

संगीत या नृत्य को जीवन अर्पण करने वाली स्त्रियों को भी देह-धर्म तो पूरे करने ही पड़ते हैं । गृहस्थी का झंझट हो या न हो, भूख-प्यास की तरह वासना भी समय-समय पर तृप्ति चाहती है । दूसरी ओर, अशिक्षित, गँवार या झगड़ालू गृहिणियों से दूर भाग कर उत्तेजक वातावरण में आनंद प्राप्त करने को उत्सुक पुरुषों की किसी भी युग में कमी नहीं होती । इस हालत में ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं और धन के बदले में सुंदरी कलावतियों की कला के उपरांत उनके रूप-यौवन का खरीदार वर्ग शीघ्र ही विकसित हो जाता है । उपरोक्त परिस्थितियों के कारण अत्यंत प्राचीन काल से नृत्य-संगीत की कला पर पेशेवर स्त्रियों का ही एकाधिकार रहा है और कला के साथ मादक एवं उत्तेजक सौंदर्य-विक्रय की संस्था जुड़ कर समाज में इन स्त्रियों का एक दुर्दमनीय वर्ग विकसित होता आया है । ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यही मालूम देता है कि अन्य क्षेत्रों में तो नागरिक जीवन के साथ स्त्रियों का संपर्क क्रमशः कम होता गया है और इस क्षेत्र में बढ़ता गया है । भारत में राजा-रजवाड़ों, श्रेष्ठी-सामंतों और अमीर-उमरा की तो कोई कमी थी नहीं; और ये सब नृत्य-संगीत के शौकीन भी थे । अभी कुछ वर्ष पहले तक रजवाड़ों में नर्तकियों को उच्च वेतन और अन्य अनेक प्रकारों से राज्याश्रय मिलता था । इसके उपरांत रसिक नागरिकों और धनिक श्रेष्ठियों का आश्रय भी उन्हें सदा से प्राप्त होता रहा है । प्राचीन शिल्प में राजाओं पर चँवर डुलाने का और उन्हें तांबूल, मदिरा आदि देने का काम नर्तकियाँ ही करती दिखाई देती हैं । गीत-नृत्य और नाटकों में अभिनय करना तो उनका प्रधान व्यवसाय था ही । इन सब का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में भी प्रचुर प्रमाण में हुआ है ।

जो गणिका राजाओं और सामंतों, धनिकों और कलाविदों को खुश कर सकती है, उसका उपयोग देवता की प्रसन्नता के लिए क्यों नहीं हो सकता ? हम देख चुके हैं कि स्वर्गीय सुखभोग की कल्पना मनुष्य की अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं है । और देवताओं के सुखदुख मनुष्य के सुखदुख से विशेष भिन्न नहीं हैं । देवताओं को अपनी सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रिय वस्तु अर्पण करने की धार्मिक भावना के सहारे ही गणिकाओं का नृत्य-संगीत देवार्पण करने की प्रथा जन्म लेती है और उन्हें शास्त्रशुद्ध

संगीत-नृत्य से रिझाने के लिए देवार्पित नर्तकियों की संस्था मंदिर के साथ ही जोड़ दी जाती है । यह कलासमर्पण देह-समर्पण में किस तरह परिणत हो जाता है, और निराकार देवताओं के स्थान पर साकार मनुष्य उसका उपभोग किस बहाने करने लगते हैं, इसकी पूरी प्रक्रिया का विचार हम कर चुके हैं । ज्यों-ज्यों अधिकाधिक भव्य और विशाल मंदिरों का निर्माण करने की भावना जोर पकड़ती जाती है त्यों-त्यों मंदिर संबंधी सारे आयोजन उसी विशाल पैमाने पर करने की वृत्ति भी बलवती होती जाती है । मंदिरों की अन्य शोभा-सजावट के साथ-साथ उनसे संबंधित नर्तकियों की संख्या, उनके वस्त्राभूषणों का ठाठबाट और उनके आडंबर की कक्षा भी ऊँची उठती जाती है । राजा-महाराजा और श्रेष्ठी-सामंत मंदिरों को धन और अन्य अनेक प्रकार की वस्तुओं के साथ नर्तकियाँ भी भेंट करने लगते हैं; उनके वेतन, वस्त्राभूषण इत्यादि का प्रबंध उनके खजानों से होने लगता है; और उन्हें आजीवन सुरक्षा प्रदान करने के हेतु से उन्हें ज़मीन-जागीर भी दी जाने लगती हैं जिसके परिणाम स्वरूप शीघ्र ही यह संस्था एक शक्तिशाली और समृद्ध इकाई के रूप में विकसित हो जाती है ।

भक्तिभाव से देवार्पित की हुई नर्तकियों के नृत्य-संगीत के समान उनका रूप-यौवन भी मनोहारी होता है और श्रद्धाभक्ति से आकर्षित भक्तों की दृष्टि देवता की मूर्ति के सौंदर्य से हट कर इस लावण्य की ओर भी जाती रहती है । आज भी, मंदिरों में दर्शनार्थ जाने वाले पुरुषों की दृष्टि देवदर्शन के उपरांत देवता के ही बनाये हुए नारीदेह के सौंदर्य की ओर नहीं जाती यह नहीं कहा जा सकता । नर्तकियों का कलानैपुण्य,
उनका श्रृंगार-प्रसाधन, उनका उन्मुक्त स्वभाव और उनके मोहक हावभाव मिल कर उन्हें
उनका श्रृंगार-प्रसाधन उनका उन्मुक्त स्वभाव और उनके मोहक हावभाव मिल कर उन्हें पुरुष को नचाने की अत्यंत प्रबल शक्ति प्रदान करते हैं जिसका व्यवसायिक उपयोग करके अपना हित साधने का एक भी मौका वे नहीं चूकतीं । क्या देश में और क्या विदेश में, धार्मिक गणिकावृत्ति का आरंभ और विकास इन्हीं सोपानों से होता है ।

हम देख चुके हैं कि धर्म के साथ संबंधित गणिकावृत्ति का प्रचलन उत्तरी भारत में नाममात्र को ही हुआ था । बौद्धधर्म में गणिकाओं को सम्मानित स्थान मिला था और उनका संघप्रवेश भी मान्य हो चुका था । परंतु देवता को अर्पित गणिकाओं का उल्लेख जातक कथाओं में या बौद्ध साहित्य में और कहीं नहीं मिलता । स्त्रियों के संघ-प्रवेश के कारण बौद्धमठों का रूपांतर अनाचार के अड्डों में हो गया था । साधकों की तपस्या को विचलित करने का प्रयत्न करनेवाली कलावती गणिकाओं की भी बौद्धयुग में कोई कमी नहीं रही और जैन एवं बौद्ध भिक्खुणियों ने प्रेमियों की दूती की भूमिका भी जी भर कर निभाई थी । परंतु कामाचार के ये सारे प्रकार देवदासी जैसी संस्थापित गणिकावृत्ति से नितांत भिन्न थे और उनकी गणना धार्मिक गणिकावृत्ति के अंतर्गत नहीं की जा सकती । कौटिल्य के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन-कामसूत्र में गणिकाजीवन की बारीक से बारीक बातों का विवेचन पाया जाता है; परंतु उनमें भी देवार्पित नर्तकियों या मंदिरों से संबंधित गणिकावृत्ति का उल्लेख नहीं है । ये दोनों ग्रंथ ब्राह्मणों की रचना होने पर भी बौद्धयुग में लिखे गये थे । अर्थशास्त्र उसके उत्कर्षकाल की और कामसूत्र वैदिक धर्म के पुनरुत्थान-काल की रचना है । इन दोनों आचार्यों को वैदिक और बौद्ध, दोनों मतों की प्रथाओं की संपूर्ण जानकारी थी जिसका प्रमाण उनके ग्रंथों में कदम-कदम पर मिलता है । इस हालत में, देवार्पित गणिकावृत्ति जैसा महत्वपूर्ण विषय इन दोनों की नज़र से छूट गया हो, यह संभव दिखाई नहीं देता । धर्म के साथ उस युग की गणिकाओं का कोई संबंध ही नहीं था । यह कहने का आशय नहीं है । देव प्रतिमा के समक्ष नृत्य करने की प्रथा उत्तर भारत में भी परापूर्व से चली आ रही है । परंतु मंदिर या देवता को समर्पित होने वाली और मंदिरों में रह कर वेश्यावृत्ति करनेवाली नर्तकियों का या ऐसी किसी संस्था का उल्लेख उत्तरी भारत के इस युग के इतिहास में नहीं मिलता ।

कालिदास के कालनिर्माण के संबंध में विद्वानों में भारी मतभेद है । ईसवी सन् से पहले की एक शताब्दी से लगा कर बाद की तीन शताब्दियों तक के विभिन्न कालखंड़ों को उनके साथ जोड़ा जाता है ।

इनमें से सब से बाद का (गुप्तकालीन) मत प्रामाणिक मान कर चलें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कम से कम गुप्तकालीन भारत धार्मिक गणिकावृत्ति से परिचित था। 'मेघदूत' में उज्जयनी के महाकाल-मंदिर की सायं-आरती का वर्णन करते हुए यक्ष सदेशवाहक मेघ से कहता है:—

'पादन्यास क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचित वलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान्प्राप्य वर्षाग्रविन्दु
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ।।

[हे मित्र, नृत्य के ताल के साथ किये गये पदविन्यास से कटि पर झूलती हुई मेखलाएँ झनकाने वाली और शिथिल हाथों से रत्नजड़ित मूठ वाले चँवरढुलाती हुई नर्तकियों के हाथ श्रम से क्लान्त हो उठे होंगे। तुम अपनी झीनी फुहारों से उनकी क्लान्ति दूर कर देना। इसके बदले में वे अपने मधुकर श्रेणी जैसे दीर्घ और चंचल कटाक्षों से तुम्हारा स्वागत करेंगी।]

इस वर्णन में वेश्याओं के देवालयों के साथ के घनिष्ठ संबंध की स्पष्ट सूचना है। महाकाल की सायं आरती के समय नूपुर और कटिमेखलाएँ झनकाती हुई, रत्नखचित आभूषणों से सुसज्जित वेश्याएँ चँवरढुलाते हुए दैशिक नृत्य करती थीं और आगन्तुकों को नयनकटाक्ष से मोहित करती थीं यह वर्णन मंदिर का माहात्म्य बढ़ाने की अपेक्षा तत्कालीन रसिक मानस की स्थापना अधिक प्रभावी ढंग से करता है। कालिदास की और उनके युग की रसिकता देवालयों में भी सौंदर्य के दर्शन करने को उत्सुक रहती थी यह तथ्य अपने आप में इतना सूचक है कि टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

इसके बाद रचे गये पुराणों में तो देवार्पित नर्तकियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। नर्तकियों की सेवाएँ देवार्पण करने से पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसा पुराणकारों का स्पष्ट मत है। पद्मपुराण के सृष्टि खंड में राय दी गयी है:—

'क्रीता देवाय दातव्या धीरेणा क्लिष्ट कर्मणा।
कल्पकालं भवेत्स्वर्गो नृपो वासो महाधनी ।।'

[राजा लोग और धनवान लोग दासियाँ खरीद कर उन्हें देवार्पण करें, तो कल्प काल तक स्वर्ग-सुख भोग सकते हैं।]

क्रीत दासियाँ गणिकाओं का ही एक प्रकार होती थीं। इसी प्रकार भविष्यपुराण का कथन है कि:—

''वेश्या कदम्बकं यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः।
सगच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुमान् ।।''

[सूर्य को (सूर्य मंदिर में) भक्तिपूर्वक वेश्याएँ समर्पित करने वाले लोग परमधाम सूर्यलोक की प्राप्ति करते हैं।]

पुराणकारों का आशय बिलकुल स्पष्ट है। विद्वानों की राय है कि अधिकांश पुराणों की रचना ईसवी सन् की छठी शताब्दी तक पूर्ण हो गयी थी। अतः यह कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी तक आते-आते देवार्पित गणिकाओं की संस्था सर्वमान्य और सुस्थापित प्रथा का रूप धारण कर चुकी थी। कालिदास से कुछ पहले, तीसरी शताब्दी में इसका आरंभ मानें, तो तीन शताब्दियों में की हुई इतनी प्रगति को उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। इसके बाद देवार्पित गणिकाओं के उल्लेख उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्स्वाँग ने मुलतान के सूर्यमंदिर में नृत्य करने वाली नर्तकियों का उल्लेख किया है। आठवीं शताब्दी के 'राजतरंगिणी' नामक ग्रंथ में उल्लेख मिलता है कि देवार्पित गणिकाओं की प्रथा उस समय कश्मीर में प्रचलित थी। श्री. कन्हैयालाल मुन्शी के 'जय सोमनाथ' नामक ऐतिहासिक उपन्यास में वर्णन है कि सोमनाथ के इतिहास प्रसिद्ध देवालय में देवता के समक्ष अहोरात्र अखंड नृत्य करने के लिए पाँच सौ नर्तकियाँ नियुक्त थीं। कथा सरित्सागर में रूपणिका नामक गणिका की कथा है। देह-विक्रय के उपरांत देवप्रतिमा के समक्ष नृत्य करना उसके व्यवसाय का प्रधान अंग माना



गया है । मूर्ति को स्नान कराना, पंखा-चँवर डुलाना इत्यादि सेवाएँ भी वही करती थी और पूजा आरती के समय भी उसे मंदिर में उपस्थित रहना पड़ता था । यह प्रसिद्ध गणिका श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की निवासिनी थी ।

मंदिरों से संबंधित गणिकावृत्ति के उल्लेख अनेक जगह बिखरे हुए हैं । इनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर में भी देवार्पित गणिकाओं की प्रथा थी तो सही; पर एक तो उसका दक्षिण भारत के जैसा विकास नहीं हुआ था, और दूसरे, मुस्लिम आक्रमणों के बाद वह पूर्णतः लुप्त हो गयी । विद्वानों के एक वर्ग का मत ऐसा भी है कि मंदिरों के साथ नर्तकियों के संबंध की प्रथा दक्षिण भारत के सिवा और कहीं प्रचलित नहीं थी । परंतु उदयपुर, जयपुर, कोटा, बूंदी आदि रियासतों में अभी कुछ वर्ष पहले तक राजनर्तकियाँ देवालयों में नृत्य-कीर्तन करती थीं । यह प्रथा किसी पुराने रिवाज की स्मृति के रूप में ही सुरक्षित रही होगी । अतः इस प्रथा से उत्तर-भारत नितांत अछूता रहा है, यह मानना योग्य दिखाई नहीं देता । अलबत्ता दक्षिण भारत जैसी उग्रता उत्तर में इसने कभी धारण नहीं की । कानून द्वारा प्रतिबंधित हो जाने पर भी दक्षिण में यह प्रथा किसी न किसी रूप में अब तक जीवित है । दक्षिण में आज भी देवालयों में जाकर नृत्य-कीर्तन करने के निमंत्रण का अस्वीकार अधिकांश गणिकाएँ नहीं करतीं ।

राजस्थान में 'भगतिन' या 'भक्तिन' के नाम से परिचित स्त्रियों का एक वर्ग भी कुछ समय पहले तक पाया जाता था । इस शब्द के वाच्यार्थ से दो प्रकार का अर्थबोध होता है । या तो भक्त की पत्नी को भक्तिन कह सकते हैं या भक्तिभाव में डूबी रहने वाली स्त्री को । परन्तु कटाक्ष में दिये हुए नाम कभी-कभी ठीक विपरीत अर्थ की व्यंजना करते हैं । वेश्या को सदा-सुहागन कहना या रसोइये को महाराज कहना इसी वृत्ति का सूचक है । इसी प्रकार यह 'भक्तिन' शब्द भी गणिकाओं के एक प्रकार का ही परिचायक है । हम देख चुके हैं कि अनेक जातियों में गणिकावृत्ति का स्वीकार करने से पहले भावी गणिका का विवाह करना अनिवार्य माना जाता है । सब जानते हैं कि यह विवाह नाममात्र को ही होता है; परंतु फिर भी इसके अभाव में की जानेवाली वेश्यावृत्ति को पाप माना जाता है । 'भक्तिनों' के लिए भी गणिकावृत्ति की सनद प्राप्त करने के लिए विवाह आवश्यक माना जाता था । इसकी विधि अत्यंत सरल थी । 'साधु' वर्ग के किसी भी लंगोटीधारी के साथ विवाह करके 'भक्तिन' नाम को सार्थक करने का प्रयत्न किया जाता था । विवाह होते ही समाप्त भी हो जाता था । सिर्फ कामचलाऊ पति बने हुए साधु महाराज को अपने वैवाहिक अधिकारों का त्याग करके अपनी 'पत्नी' को वेश्यावृत्ति की अनुमति देने के बदले में मुबलिग डेढ़ रुपया फीस दी जाती थी । एकाध बार का भोजन और ऊपर से डेढ रुपया दक्षिणा प्राप्त करने को लालायित साधुओं की इस देश में कभी कमी नहीं रही; परंतु किसी कारण से साधु-बैरागी न मिले, तो भी 'भक्तिन' का काम नहीं रुकता था । गणेशजी की मूर्ति या तस्वीर के साथ उसके फेरे फेर दिये जाते थे । इस प्रकार साधु या गणेशजी से विवाह करके एवं डेढ़ रुपये में तत्काल मुक्ति प्राप्त करके 'भक्तिन' गणिकाधर्म का आरंभ कर देती थी ।

उत्तर भारत की धार्मिक गणिकावृत्ति में इससे अधिक गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं । नवीं शताब्दी से दक्षिण भारत में धर्म-संबंधित गणिकावृत्ति की जो प्रचंड बाढ़ आयी, उसके सामने ये बिखरे हुए प्रसंग नगण्य बूंदों के समान लगते हैं । 'धार्मिक गणिकावृत्ति' शब्द प्रयोग से दो प्रकार का अर्थबोध होता है । एक तो यह कि गणिकावृत्ति स्वीकार करने से पहले विवाह या और कोई धार्मिक विधि आवश्यक हो । यद्यपि परिणाम की दृष्टि से इस विधि के कारण कोई फर्क नहीं पड़ता; तथापि उसकी अनिवार्यता उसे धर्म संबंध विरहित गणिकावृत्ति से भिन्न प्रमाणित करती है । इस दृष्टि से देखने पर तो भारत के प्रायः सभी प्रदेशों की गणिकाओं का समावेश इसी वर्ग के अंतर्गत करना पड़ेगा । परंतु हमारे अध्ययन में इसका यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है । अतः हम इसका दूसरा अर्थ लेकर चलेंगे जिसके अनुसार इस शब्दप्रयोग से देवार्पित या मंदिरों से संबंधित गणिकाओं का बोध होता है । मंदिर विशेष के किसी विशिष्ट देवता के साथ विवाहविधि द्वारा संयुक्त होकर, और देवता एवं मंदिर के अधिकारों को अग्रक्रम देकर गणिकावृत्ति

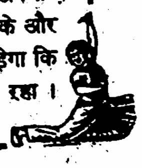
करने वाली स्त्रियाँ ही हमारे अध्ययन का विषय हैं। दक्षिण भारत में शताब्दियों से प्रचलित इस शक्तिशाली संस्था का विस्तृत विवेचन करने से पहले हमें उसके आरंभकाल की परिस्थितियों का विचार करना होगा। दक्षिण भारत की धार्मिक गणिकावृत्ति का आरंभ दसवीं शताब्दी से माना जाता है। भारत के इतिहास में यह काल और भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। हमारे इतिहास की दिशा बदल देनेवाली प्रमुख घटना —इस्लाम का आगमन और विस्तार —इसी युग में हुई थी। यद्यपिं दक्षिण भारत पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा; तथापि पूरे देश के भविष्य की दृष्टि से यह घटना इतनी महत्वपूर्ण है कि इसका कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। उत्तर भारत की गणिकासंस्था पर इस घटना का सीधा प्रभाव यह पड़ा कि धर्म या संस्कृति के साथ उसके रहे सहे संबंध समाप्त होकर वह पूर्ण रूप से पेशेवर बन गयी।

३

मध्ययुग : इस्लाम का प्रभाव

भारतीय परिस्थितियों पर इस्लाम के प्रभाव का विचार करने से पहले इस्लाम की एक मूलभूत विशिष्टता को समझ लेना आवश्यक है। इस्लाम एकेश्वरवादी धर्म है। परंतु उसका एकेश्वरवाद अद्वैत वेदांत के एकेश्वरवाद से नितांत भिन्न है। सृष्टि का रचयिता होने के बावजूद ईश्वर एक और अमूर्त है; वह विविध रूप धारण नहीं करता; उसकी मूर्ति तो बन ही नहीं सकती; उसकी प्रतिमा या प्रतीक बनाना उसका निरादर करने के समान है; परंतु फिर भी वह सातवें आसमान पर बसता है और उसके हृदय में भक्तों के लिए प्रेम और दुष्टों के लिए घृणा होती है इत्यादि एकांतिक धारणाओं पर यह एकेश्वरवाद आधारित है। मूर्तिपूजा का तो इस्लाम में समझ में न आने जैसा विरोध पाया जाता है। इस्लाम के प्रार्थनास्थान मूर्तिरहित-ईश्वर के किसी भी प्रकार के प्रतीक से रहित —होते हैं। हमारी दृष्टि से विचार करें, तो प्रतीक की सहायता के बिना ईश्वर की कल्पना करना या उसके प्रति मानवभावों की अभिव्यक्ति करना सामान्य लोगों के लिए संभव नहीं। ईश्वर के प्रतीक का भी जहाँ अस्वीकार हो, वहाँ अनेक प्रकार के देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा-अर्चा और शृंगार, भोग, अर्पण इत्यादि उपासना के प्रकारों की संभावना ही नहीं रहती। प्रतिमापूजन, और ईश्वर के संबंध में साधारण मनुष्यों के जैसे आहार-विहार की भावना स्वीकृत न होने के कारण देवार्पित गणिकावृत्ति या मंदिरों से संबंधित नर्तकियों की इस्लाम में कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कुछ मुस्लिम देशों में प्रचलित सूफीवाद में पहली नज़र से देखने पर शराब, साकी, मयखाना, बुतपरस्ती आदि की हिमायत दिखाई दे सकती है और शृंगार-भावना से भी यह विचारधारा ओतप्रोत है। परंतु सूफीवाद की ये सारी कल्पनाएँ आध्यामिक संकेत मात्र हैं और उसकी प्रत्येक रम्य भावना का संबंध 'इश्के मजाज़ी' के साथ नहीं बल्कि 'इश्के हकीकी' के साथ जोड़ा जा सकता है। ये सारे संकेत प्रतीकों से अधिक कुछ नहीं हैं और उन्हें धर्मप्रणीत आचार मानने की विशेष कोशिश नहीं हुई। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अमर्याद यौन-व्यवहार से मुस्लिम प्रजाएँ अछूती रही हैं। सत्य इससे ठीक विपरीत पाया जाता है और मानव संस्कृति की शृंगारभावना में मुस्लिम प्रजाओं का योगदान उनके वाजिब हिस्से से कुछ अधिक ही रहा है। वेश्यावृत्ति का भी इस्लामी प्रजाओं में प्रमाण से अधिक प्रचलन रहा है। परंतु अमर्याद कामाचार या गणिकावृत्ति एक चीज़ है और धार्मिक गणिकावृत्ति बिलकुल दूसरी। यौन-अनाचार के और सब प्रकारों से यह अंतिम प्रकार नितांत भिन्न है। इस दृष्टि से देखने पर यह कबूल करना ही पड़ेगा कि एकेश्वरवादी इस्लाम का धार्मिक गणिकावृत्ति की उत्पत्ति में दूरान्वय से भी कोई योगदान नहीं रहा।



इस्लामी संस्कृति ने बाद के युगों में भोगविलास की मर्यादाहीन रंगरलियाँ बहायीं और वेश्यावृत्ति का भी उसमें अतिरेक हुआ इसमें कोई शक नहीं; परंतु धार्मिक गणिकावृत्ति के साथ उसका कभी कोई संबंध नहीं रहा ।

इस्लाम मूर्तिभंजक है और हिंदू, बौद्ध एवं जैन धर्म अधिकांश में मूर्तिपूजक हैं । मुस्लिम आक्रमकों के भारतीयों के साथ के संघर्ष में राजकीय कारणों के साथ इस धार्मिक विरोध की प्रेरणा भी बहुत अधिक रही और हर प्रकार के नृशंस अत्याचार एवं बर्बर विनाश के लिए यह बहाना बड़ा मौजूं रहा । इस्लाम का प्रथम धक्का सिंध को लगा और शीघ्र ही पंजाब से होता हुआ वह बंगाल से लगाकर गुजरात-महाराष्ट्र तक के समूचे उत्तरी भारत पर फैल गया । इसके राजनीतिक परिणामों की चर्चा हमारे अध्ययन का विषय नहीं है । अतः यहाँ उसके विनाशक आक्रमणों से इस देश के सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली भयानक अनवस्थाओं का ही विचार किया जायगा । इसके बिना उत्तर और दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थितियों में इतना अधिक अंतर क्यों पड़ गया, यह समझना मुश्किल होगा । धार्मिक गणिकावृत्ति के क्षेत्र में भी उत्तर और दक्षिण भारत की स्थिति इतनी भिन्न क्यों रही, इसका संतोषजनक स्पष्टीकरण भी उस युग की सामाजिक विशिष्टताओं की पृष्ठभूमि में तत्कालीन इतिहास का सूक्ष्म अवलोकन करने से ही हो सकता है ।

इस्लाम के धर्मावेश की उग्रता का आरंभिक परिचय भारत के उत्तरी विभागों को ही हुआ और मूर्तिभंजन एवं मंदिर विध्वंस के जुनून ने शीघ्र ही विंध्य से उत्तर के समूचे प्रदेश के स्थापत्य और शिल्प को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । मिट्टी के टीलों के नीचे गड़ जाने से सुरक्षित रहने वाले कुछ बौद्ध चैत्यों को छोड़ कर इस्लाम-पूर्व-युग के हिंदू स्थापत्य के अवशेष भी उत्तरी भारत में अधिक नहीं बचे । मंदिर-निर्माण और मूर्तिकला के कुछ अवशेष छिन्न-विच्छिन्न हालत में ही मिलते हैं । मुहम्मद गज़नवी के आक्रमण से पहले उत्तरी भारत के नगरों और राज्यों की हिंदू या बौद्ध मतानुयायी प्रजाओं ने अपने नगरों और देवालयों को सुंदर ढंग से सजाया था । यह उस युग की सार्वत्रिक समृद्धि का परिणाम था और इस भव्य सामुदायिक ऐश्वर्य के प्रति राजा और प्रजा दोनों को ममता थी । देवालयों की संपत्ति और समृद्धि अकसर राजमहलों के ऐश्वर्य को भी फीका कर देती थी । परंतु भारत के दुर्भाग्य से कहो; भारतीय समाज-व्यवस्था की किसी भयानक कमज़ोरी के कारण कहो; या भारतीय मानस के किसी अक्षम्य दोष के कारण कहो; मध्य एशिया से लगा कर दक्षिण-पूर्व एशिया के जावा-सुमात्रा आदि देशों तक फैली हुई आर्य संस्कृति और हिंदू विचारधारा का उत्तरोत्तर संकोच ही होता गया । इतिहास की अनेकविध उथल-पुथलों से गुज़रता हुआ यह संकोच सन् १९४७ की पंद्रहवीं अगस्त तक चलता आया है । धर्म वैभिन्य के बहाने खून की नदियाँ बहाकर मुसलमानों ने सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, आधा पंजाब और आधे से अधिक बंगाल करीब-करीब जबरदस्ती से छीन लिया है । इस देश के निवासी इसे महमूद गज़नवी से आरंभ होने वाली आक्रमण-परंपरा का ही एक अध्याय मानें, तो इसमें किसी को एतराज नहीं होना चाहिये । यह अध्याय अधःपतन और लज्जा की इस लंबी कहानी का अंतिम परिच्छेद सिद्ध होगा, या अभी और कुछ देखना बाकी है, यह ईश्वर जानें । ''राजनीति के साथ धर्म का कोई संबंध नहीं होना चाहिये'', ''हमारा धर्म में विश्वास नहीं है'', ''हमारा राज्य धर्म-निरपेक्ष है'' इत्यादि 'आत्मघात के नारों के मोह में फँसे हुए हमारे नेताओं ने अपने लिए तो धर्म को वर्जित माना; परंतु उसी धर्म के बहाने मुसलमानों को देश की दोनों सीमाओं के विस्तृत भूभाग तोड़ लेने दिये हैं । इस अक्षम्य अपराध के लिए हम पर्याप्त दंड भुगत चुके हैं; परंतु रक्त सिंचन से पनपा हुआ यह विषवृक्ष कहाँ जाकर रुकेगा, यह आज ही कहना मुश्किल है । इसके विरोध में हिंदू संस्कृति (जो भारतीय संस्कृति की बुनियाद है) का क्षोभ इस हद तक बढ़ा कि महात्मा गाँधी जैसे युगपुरुष का बलिदान भी उसे शांत नहीं कर सका । परंतु अफसोस की बात यह है कि सत्ताधीश वर्ग इस क्षुब्ध राष्ट्रमानस को कुछ इनेगिने महासभाइयों का षडयंत्र मानने की गलती कर रहा है । इन मुट्ठी भर लोगों को कठोरतम दंड देकर शासन के संचालकों को न्याय करने का और शांति स्थापित करने का संतोष

मिलता हो, तो इससे किसी को कोई शिकायत नहीं । परंतु इससे वे इस सत्य को नहीं झुठला सकते कि यह घटना किसी सिरफिरे का पागलपन नहीं बल्कि पूरे हिंदू मानस और पूरी आर्य संस्कृति के घुमड़े हुए सात्विक संताप के विस्फोट रूप थी ।

हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का सुभग समन्वय हो सकता है इसके अनगिनत ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध होने पर भी, केवल मुसलमानों को यह मान्य न होने के कारण उन्हें देश के मुँहमांगे टुकड़े देकर संतुष्ट करने की गलती अनेक पुरानी भूलों की शृंखला में जुड़ने वाली एक और कड़ी सिद्ध हुई है । मुसलमानों द्वारा आर्य संस्कृति पर किए गये नृशंस प्रहारों के परिणाम स्वरूप उत्तरी भारत का पूरा मंदिर-स्थापत्य नष्ट हो गया और शताब्दियों पुरानी शिल्पकला के चरम उत्कर्ष रूप मूर्तियों के छिन्न-भिन्न अवयवों के सिवा कुछ बाकी नहीं बचा । उदाहरण के तौर पर केवल मथुरा का ही इतिहास देखें । महाभारतकाल से यह पुरातन नगर अपनी समृद्धि और सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध रहा है । श्रीकृष्ण का जन्मस्थान और उनकी लीलाभूमि व्रजप्रदेश का केन्द्र होने के कारण पवित्र मानी जाने वाली यह नगरी हिंदू हृदय को अनादि काल से प्रिय रही है । बौद्ध युग में भारत आने वाले चीनी यात्रियों ने इस नगर के ऐश्वर्य का विस्मयजनक वर्णन किया है । इस पवित्र नगरी पर आरंभ से ही मुसलमान आक्रमणकारियों की वक्रदृष्टि रही । छोटी-मोटी लूट-खसोट और तोड़-फोड़ को जाने दें तो भी सन् १०१७ से लगा कर सन् १७५६ तक के साढ़े सात सौ वर्षों में धर्मांध आक्रमकों ने इस नगर को कम से कम पाँच बार लूट कर पूर्णतः नष्ट कर दिया । ये इतिहास प्रसिद्ध लूटमार निम्नोक्त क्रूरकर्माओं ने की थी:—

१.	सन् १०१७-१८	: महमूद गज़नवी की लूट
२.	सन् १५००	: सिकंदर लोदी की लूट
३.	सन् १६३६	: शाहजहाँ की लूट
४.	सन् १६६९-७०	: औरंगज़ेब की लूट
५.	सन् १७५६	: अहमदशाह अब्दाली की लूट

इन पाँचों आक्रमणों के समय असंख्य सैनिकों ने नगर को घेर कर भयानक लूटमार की थी जिसके परिणाम स्वरूप मथुरा का नागरिक-जीवन और वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो गया । महमूद गज़नवी द्वारा की गयी मथुरा की प्रथम लूट का वर्णन उसी के मंत्री उत्बी ने इस प्रकार किया है: "मथुरा में चारों तरफ परकोटे वाले हजार से भी अधिक मंदिर थे । नगर के बीचों-बीच का गगनचुंबी मंदिर सबसे विशाल था । उसकी सजावट और सुंदरता का वर्णन या चित्रण संसार भर के लेखक और चित्रकार मिल कर भी नहीं कर सकते । खुद सुलतान का अंदाज़ है कि इस प्रकार के मंदिर का निर्माण करने के लिए आज-कल के हिसाब से हजार-हजार दिनार की कम से कम एक लाख थैलियाँ खर्च की जायँ, तो अत्यंत कुशल कारीगरों की सहायता से शायद दो सौ वर्षों में उसे पूरा किया जा सकता है । मूर्तियाँ तो हमने इतनी तोड़ीं कि उनका हिसाब रखना भी मुश्किल है । इनमें की पाँच-पाँच हाथ ऊँची पाँच मूर्तियाँ तो शुद्ध सोने की बनी हुई थीं । एक के सिर पर बड़ा सा हीरा जड़ा हुआ था जिसकी कीमत कम से कम पचास हजार दिनार होगी । एक मूर्ति के पाँवों में से चार सौ तोले सोना निकला । चाँदी की मूर्तियों का तो पार नहीं था । उनको तौलने में ही कई दिन लगे । मुस्लिम सैनिकों ने शहर को जीभर कर लूटा और फिर तोड़-फोड़ कर नष्ट कर दिया । इसके बाद अधिकांश सेना को यहीं छोड़कर सुलतान की सवारी कन्नौज की ओर बढ़ी ।"

ध्यान रहे कि यह तो एक ही आक्रमक की एक ही सवारी के दरमियान एक ही शहर की एक ही लूट का वर्णन है । इसके बाद तो मुसलमानों के हमले होना आये दिन की बात हो गयी । मार्ग में आने वाले अनगिनत गाँवों, शहरों, देवालयों और विद्यालयों का विध्वंस करके भी इस्लाम के जुनून की धार कम नहीं हुई और पूरी की पूरी बस्तियों को तलवार की नोक पर मुसलमान बना दिया गया । विद्वेष के ज़हर ने धर्मपरिवर्तित भारतीयों को पीढ़ी दो पीढ़ी में ही मूल आक्रमकों से भी अधिक नृशंस बना दिया और उन्होंने अपने अग्रजों का काम दुगुने उत्साह से जारी रखा । कुछ वर्ष पहले उनके बापदादा जिन मंदिरों में दर्शनार्थी

की हैसियत से जाते होंग, उन्हीं को इन धर्मांध लोगों ने तोड़-फोड़ कर मिट्टी में मिला दिया । धर्म-परिवर्तन के आरंभिक जोश में इन नये मुसलमानों ने जो पाशविक अत्याचार किये, उनके मुकाबले में आरंभ के आक्रमण तो मामूली और क्षणिक संकट दिखाई देने लगे । देवालयों को तोड़ कर और लोगों को उनके धर्म से जबरन भ्रष्ट करके इस्लामी तअस्सुब ने हिंदू संस्कृति का सत्व चूस लिया । इससे वह नष्ट तो नहीं हुई, परंतु क्षीण अवश्य हो गयी । जिस धर्मांधता ने मंदिरों की तो बात छोड़िये, विद्यालयों और ग्रंथालयों को भी जला कर राख कर दिया, उसके हाथों से संस्कृति का कोई भी अवशेष बचना संभव नहीं था । पुस्तकों, ग्रंथभंडारों, चित्रों और युगविशेष की संस्कृति का परिचय देने वाले अन्य उपकरणों को या तो नष्ट कर दिया गया, लूट कर विदेश ले जाया गया । यही कारण है कि उत्तरी-भारत में इस्लामपूर्व-युग के धार्मिक क्या सांस्कृतिक अवशेष भी अधिक नहीं मिलते और आठवीं शताब्दी के बाद की भारतीय संस्कृति का चित्र हमें धर्मांध विजेताओं और असहिष्णु मुसलमान इतिहासकारों के रंगीन चश्मे से ही देखना पड़ता है ।

कथा सरित्सागर नामक विलक्षण कथासंग्रह की रूपीणिका गणिका की कथा इसी युग की घटना है । हम देख चुके हैं कि उसके संबंध में देवालय में जाकर नृत्य करने का और देवता की सेवापूजा करने का उल्लेख हुआ है । उच्चकोटि की गणिकाएँ वात्सायन-युग में भी सार्वजनीन और धार्मिक कार्यों में सक्रिय भाग लेती थी । अत: अन्य श्रद्धालु भक्तों की तरह यह गणिका भी केवल दर्शन और पूजा के लिए ही देवालय में जाती थी, या वह मंदिर को अर्पित देवदासी थी, यह उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट नहीं होता । इससे केवल इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है कि देवार्पित गणिका-संस्था उत्तर भारत में भी कुछ हद तक प्रचलित थी । इस्लाम के आगमन-काल की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इससे अधिक विस्तृत प्रमाणों की आवश्यकता है । इस युग में सिर्फ मथुरा ही नहीं, पूरे उत्तरी भारत को मुस्लिम असहिष्णुता की अग्निपरीक्षा से गुज़रना पड़ा था; और कल्पनातीत अत्याचार, अपमान, बर्बरता तथा धर्म-परिवर्तन के साथ-साथ असहय शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं । देवालय और शिक्षा-संस्कृति के केन्द्र पूर्णत: नष्ट हो गये और गुलामवंश की स्थापना के बाद के तीन-चार सौ वर्षों तक मुस्लिम धर्मांधता के कारण हिंदुओं के लिए किसी भी प्रकार का धार्मिक समारोह करना असंभव हो गया । परंतु चौदहवीं शताब्दी से दिल्ली-सल्तनत के विघटन की प्रक्रिया शुरू हुई, जो सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मुगलों की विजय के बाद ही रुकी ।

इस लंबे कालखंड में होने वाली राजकीय, सामाजिक और धार्मिक उथल-पुथलों ने प्रजाजीवन को अस्थिर बना दिया । तलवार की शक्ति, सत्ता का मोह, स्वार्थसाधन और कभी-कभी हृदय-परिवर्तन इत्यादि विभिन्न कारणों से अनगिनत हिंदुओं ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया । स्वरक्षण का और कोई मार्ग न देखकर हिंदू धर्म ने अपनेघेरे की दीवारों को और भी मजबूत बनाना शुरू किया और विशुद्धि के अत्याग्रह ने इस चहारदीवारी के खिड़की-दरवाजों को और भी संकड़ा कर दिया । एक बार धर्म-परिवर्तन हो जाने के बाद, फिर चाहे वह जबरन ही क्यों न हुआ हो, कोई मनुष्य फिर से हिंदू नहीं हो सकता था । इस दुराग्रह के कारण हिंदू समाज ने स्वधर्मियों की बहुत बड़ी संख्या सदा के लिए खो दी । अपने देवालय भी वे गुप्त, सँकड़े और दुर्गम स्थानों में बनाने लगे और अपनी धार्मिक विधियाँ कम से कम प्रदर्शन करते हुए गुपचुप पूरी करने लगे । चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य के भक्तिमार्ग में हिंदू फिर से एक बार अपने धर्म के प्रदर्शनीय विभाग का जोर-शोर से प्रचार करने लगे थे यह सही है; परंतु इससे पहले की दो-तीन शताब्दियाँ तो उनके लिए अंधकारयुग ही रही थीं । इस काल में हिंदूधर्म-शासकों की दया की भीख पर निर्भर रहकर अपमानित और तिरस्कृत अस्तित्व गुज़ार रहा था । थोड़ी सी जागृति दिखाते ही, पराजित प्रजा का धर्म होने के कारण उसे बेरहमी से कुचल दिया जाता था । हिंदू संस्कृति की धार्मिक उदारता, वैचारिक स्वतंत्रता, आर्थिक समृद्धि एवं मानसिक शांति के तो दर्शन भी इस युग में दुर्लभ हो गये थे ।

बुद्धिजीवी लोग तो इस वातावरण में भी अपने धर्म और विश्वासों से चिपके रहे; परंतु इस घुटन से छूटने के लिए कलाकार और कारीगर वर्ग के असंख्य लोग मुसलमान हो गये। धर्म-परिवर्तन के बाद भी इन कलाकारों ने स्थापत्य, नृत्य, संगीत, वादन, आदि कलाओं की प्राचीन शास्त्रीय पद्धतियों को बहुत अधिक अंश में ज्यों की त्यों बनाये रखा। इस्लाम की कट्टर मान्यताओं के कारण कुछ परिवर्तन तो उन्हें करने ही पड़े, पर परंपरा से नाता उन्होंने कभी नहीं तोड़ा। समाज-जीवन में तो इन कलाओं को इस रूप में भी स्वीकृति मिल गयी, पर इस्लाम की एकांतिक विचारधारा ने धर्म और धर्मस्थानों से उन्हें सदा दूर ही रखा। शासकों की इस सख्ती के कारण, पिटे हुए और छिप-छिपा कर अपना अस्तित्व बचाये रखने वाले हिंदू-धर्म को भी दो-तीन सौ वर्षों तक अपने नृत्य-संगीत के शौक को दबाये रखना पड़ा। परिणाम स्वरूप, देवालयों से संबंधित नृत्य-संगीत की परंपरा के जो थोड़े-बहुत चिह्न उत्तरी भारत में बचे थे, वे पूर्णतः लुप्त हो गये। इस्लाम तो मस्जिदों में नृत्य-संगीत की कल्पना से भी कोसों दूर था। अतः दो-तीन शताब्दियों तक ये कलाएं धर्म के सहचार और सहकार से वंचित हो गयीं। पराजित हिंदू धर्म ने विजेता इस्लाम को दी हुई यह पहली सलामी थी। कुछ वर्ष पहले दिया हुआ पाकिस्तान इस परंपरा का आखिरी नज़राना सिद्ध हो, ऐसी प्रार्थना करने के सिवा आज हम कर भी क्या सकते हैं। मुस्लिम शासन के बाद के युगों में —विशेष तौर पर मुग़ल-काल में —नृत्य-संगीतादि कलाओं का पुनरुत्थान हुआ, यह सही है। परंतु अब ये कलाएँ केवल शौक पूरा करने की ऐहिक उपलब्धियाँ मात्र रह गयीं। उनका आध्यात्मिक प्रभाव और धर्म के साथ का उनका संबंध लंबे समय के लिए विच्छिन्न हो गया।

परंतु धर्म का सहारा न मिलने के बावजूद नृत्य-संगीत का प्रवाह मुस्लिम युग में सर्वथा रुक नहीं गया था। गणिकावृत्ति की भी लगभग यही स्थिति रही। इस्लाम के प्रभाव से एक मात्र फर्क यह पड़ा कि धर्म के साथ उसका संबंध पूर्णतः समाप्त हो गया। धर्म के साथ गणिकावृत्ति का संबंध कितना ही घृणित क्यों न हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि धर्म के सहचार में बुरी से बुरी प्रवृत्ति पर भी मर्यादा के कुछ न्यूनतम बंधन अवश्य लग जाते हैं। धर्म की मर्यादाओं से मुक्त होकर मुस्लिम युग की गणिकावृत्ति निरंकुश और बेलगाम हो गयी। राज्यों की उथल-पुथल, शासकों की परधर्म-असहिष्णुता, धर्मपरिवर्तन की लटकती तलवार, हिंदूधर्म ने अपने चारों ओर खड़ी की हुई प्रतिबंधक दीवारें, सेनाओं के रोज के कूच-पड़ाव और इन सब के परिणाम स्वरूप अस्त-व्यस्त हो उठने वाला प्रजाजीवन; ये सारी परिस्थितियाँ नैतिक स्थिरता के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित नहीं करतीं। पराजित हिंदू धर्म हारकर, थककर और खीज कर कायरों की तरह अपने ही चारों ओर अनुल्लंघनीय दीवारें खड़ी कर रहा था और आत्मग्लानि के अनुताप में अपने ही ऊपर वार किये जा रहा था। यह मनस्थिति आत्मवंचना का सबसे खतरनाक प्रकार सिद्ध होती है। विधवा-विवाह का निषेध, जातियों की विपुलता, जात-पाँत के छोटे-छोटे दायरों से बाहर न जाने देने वाले बंधन, कर्मकांड के बंधे-बँधाये दायरे में कोल्हू के बैल की तरह प्रगतिशून्य चक्कर काटते रहने की जिद, और छुआ-छूत एवं खानपान के निरर्थक विधिनिषेधों ने मिलकर धर्म के चारों ओर ऐसी उलझनें खड़ी कर दीं कि अनगिनत स्त्री-पुरुष इस झंझट को छोड़ कर स्वेच्छा से इस्लाम का सीधा-साधा मार्ग ग्रहण करने लगे। समाज जीवन की ये सारी परिस्थितियाँ गणिकावृत्ति की भी पोषक थीं। परिणाम स्वरूप धर्मबंधन विरहित गणिकावृत्ति की दिन दूनी-रात चौगुनी प्रगति होने लगी। भारत में आने के बाद इस्लाम ने गणिकावृत्ति के स्वरूप में थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य किया, और धर्म के साथ उसका संबंध समाप्त कर दिया; परंतु उसका निर्मूलन वह नहीं कर सका। नगरों में तो मुस्लिम प्रभाव ने गणिकावृत्ति को नियंत्रित करने के बजाय और भी बहका दिया। इस क्षेत्र में उसकी एकमात्र उपलब्धि यह रही कि गणिकाओं में भी उसने हिंदू-मुसलमान के भेद उत्पन्न कर दिये। आनुषंगिक रूप से एक अच्छी बात यह हुई कि नृत्य संगीतादि कलाओं की पुरानी परंपरा बनी रही। भारतीय परंपरा की उच्च कोटि की विद्वत्ता का स्थान इस्लामी तहज़ीब की नज़ाकत ने ले लिया। प्राचीन कला और अर्वाचीन तहज़ीब के संगम से तवायफों का जो नया वर्ग विकसित हुआ, वह रसिकता और रंजकता में अन्य किसी युग से तिल भर भी पीछे नहीं रहा।

इस्लाम-युग की, मुग़लों के आगमन से पहले की शताब्दियों में धर्मसमन्वय के प्रयोग बिलकुल ही नहीं हुए, यह नहीं कहा जा सकता । धर्म-प्रचार के जोश का पहला उबाल बैठते ही मुसलमानों को यह तो मालूम हो गया कि हिंदू धर्म और संस्कृति इस्लाम की इच्छानुसार फूंक मारते ही उड़ जानेवाला घासकूड़ा या उसकी नज़र पड़ते ही मुरझा जाने वाली छुई-मुई नहीं । हिंदू संस्कृति में पले हुए शिल्पी, संगीतज्ञ, चित्रकार और अन्य कलाकारों ने इस्लाम के स्वीकार के बाद भी कला की पुरानी परंपराओं को भुला नहीं दिया था । उलटे, इन कलाकारों के इस्लाम-स्वीकार का यह परिणाम हुआ कि इस्लामी संस्कृति और मुस्लिम कला के किसी मौलिक रूप का विकास होने के बजाय कलाओं की प्राचीन परंपरा ही चलती रही जिस पर इधर-उधर इस्लाम की सिर्फ मुहर लगा दी गयी थी । हिंदू संस्कारों ने, हिंदू तत्वज्ञान ने, हिंदू कथा-साहित्य ने और हिंदू कलाओं ने भारतीय इस्लाम के सांस्कृतिक पक्ष को इतना अधिक प्रभावित किया है कि हॅवॅल आदि इस विषय के विशेषज्ञों का यही मत है कि मुस्लिम आक्रमण से भारतीय कला-परंपरा बिलकुल क्षुण्ण नहीं हुई । उनका यह भी कहना है कि भारत में इस्लाम की कोई स्वतंत्र कला-परंपरा विकसित नहीं हुई; केवल प्रचलित परंपराओं पर इस्लाम की नाममात्र की छाप लगा कर उन्हें शत-प्रतिशत इस्लामी घोषित कर दिया गया । आर्यमानस को इस्लामी सांचे में ढालने के और आर्यसंस्कृति को इस्लामी जामा पहनाने के भरसक प्रयत्नों के बावजूद हुआ यह कि वह इस्लाम के सांस्कृतिक पक्ष को अपने रंग में रंगती रही । फर्क सिर्फ इतना रहा कि विजेताओं के प्रयत्न धूमधाम से, शोर मचाकर हुए, जबकि पराजित प्रजा की सांस्कृतिक विजय दुर्निवार्य सामाजिक बलों के सहारे बेमालूम तरीके से हुई ।

धीरे-धीरे मुस्लिम धर्मांधता की बाढ़ उतर गयी । साथ ही हिंदू आचार्यों और भक्त कवियों ने आर्य धर्म का नये युग के अनुकूल पुनर्विधान किया । इस वातावरण में धर्मद्वेष से कुछ हद तक मुक्त मुग़लों का राज्य स्थापित हुआ । उन्होंने एक नयी प्रथा शुरू की और हिंदुओं को हिंदू रहने देकर उनसे दोस्ती करना शुरू किया । इस प्रयोग का आरंभ तो मुग़लों के आगमन से पहले ही हो चुका था । मुग़लों के आगमन के समय तक, विजेता इस्लाम की चमक-दमक के सामने निस्तेज पड़ जाने पर भी, छोटे-मोटे अनेक हिंदू राज्यों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा था । दूसरी ओर दिल्ली की सल्तनत की अवगणना करके अनेक सूबों में स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना हो रही थी । इसमें दोनों पक्षों को (केन्द्रीय सत्ता को भी और विद्रोही सूबेदारों को भी) मुस्लिमेतर प्रजा के सहयोग और मुस्लिमेतर मित्रों की सहायता की आवश्यकता कदम-कदम पर पड़ती थी । इन सब कारणों ने हिंदू-मुस्लिम एकता की बुनियाद सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ही तैयार कर दी थी । इस वातावरण में अपना राज्य स्थापित करने वाले मुग़लों ने हिंदुओं के सामने मैत्री का हाथ बढ़ाया इतना ही नहीं, बल्कि उन पर विश्वास करके शासन के महत्वपूर्ण पदों पर उनकी नियुक्ति करना और उनके धर्म, संस्कृति और रस्मोरिवाज की ओर आदर से देखना आरंभ किया । परिणाम स्वरूप, शताब्दियों तक अपमानित होकर दबे रहने के बाद हिंदू फिर से एक बार विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा दिखलाने लगे । मामूली परिवर्तन करके स्थापत्य और संगीत तो आर्य संस्कृति से ज्यों का त्यों ले लिया गया । संगीतशास्त्र की व्याख्याएँ, रागरागिनियों के और वाद्यों के नाम, और गीतों के बोल पूर्णतः भारतीय ही रहे । आश्चर्य तो इस बात से होता है कि मुस्लिम संगीतकारों ने इष्टदेव की प्रार्थना, गुरुस्तुति इत्यादि नितांत हिंदू संस्कार भी ज्यों के त्यों मान्य रखे । उस युग के रागों के बोल अधिकांश में कृष्णलीला का ही वर्णन करते हैं । तानसेन जैसे युग प्रवर्तक संगीतज्ञ ने ब्राह्मण से मुसलमान हो कर समन्वय की इस प्रक्रिया पर मानो मुहर लगा दी ।

इस प्रकार शताब्दियों के विद्वेष और अविश्वास के बाद, हिंदू-मुसलमानों के आपसी संबंध में पहली बार संवादी स्वर सुनाई देने लगे । इससे देश की सर्वांगीण प्रगति हुई और जीवन के हर क्षेत्र में ऐश्वर्य के दर्शन होने लगे । परंतु साथ-साथ, उसके अनिवार्य परिणाम रूप, विलास की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी । जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह गणिकावृत्ति में भी नफासत और नज़ाकत का प्रमाण दिनों दिन बढ़ता गया । यद्यपि मुगलकाल का स्वर्णयुग शाहजहाँ के शासनकाल को माना जाता है, तथापि इसकी बुनियाद

अकबर के समय में ही पड़ चुकी थी । उस समय की गणिकावृत्ति का वर्णन करते हुए अकबर के परम मित्र अबुल फज़ल आईने-अकबरी में लिखते हैं: ''राजधानी में इतनी अधिक गणिकाएँ इकट्ठी हो गयी हैं कि उनकी गिनती करना भी मुश्किल है । उन्हें नगर के शैतानपुरा नामक मोहल्ले में बसाया गया है । जो स्त्री वेश्यावृत्ति करना चाहती हो, उसका नाम और पता ठिकाना दफतर में दर्ज कर लिया जाता है । गणिकागामी लोगों पर भी कड़ी निगरानी रखी जाती है । इस काम के लिए एक दारोग़ा के मातहत एक अलग महकमा खोल दिया गया है । गणिकागामी पुरुष अगर राज्यकर देता हो, तो वह किस गणिका के यहाँ जाता है इसकी सूचना उसे दारोग़ा को आवश्यक रूप से देनी पड़ती है । वेश्यागामियों के मार्ग में यह एक बड़ी बाधा डाली गयी है; परंतु इस नियम का भंग करके भी शौक पूरा करने वालों की संख्या कम नहीं है । किसी गणिका को मोहल्ले से बाहर जाना हो, तो उसे या उसके प्रेमी को दारोगा से इज़ाज़त लेनी पड़ती है । इस नियम का सख्ती से पालन होता है और बिना इज़ाज़त के गणिकाएँ ऊँचे से ऊँचे लोगों के घर भी नहीं जा सकतीं । दारोगा प्रत्येक गणिका का विवरण-पत्र रखता है जिसमें उसका नामठाम और उसके यहाँ आनेवाले या उसे अपने घर बुलाने वाले लोगों के नाम और पते दर्ज रहते हैं ।''



अकबर के बाद, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में मुग़ल वैभव चरमोत्कर्ष पर पहुँचा । साथ ही ऐशो-इशरत और भोगविलास का प्रमाण भी बढ़ा । विलास के अतिरेक के साथ नैतिक अधः पतन अविच्छेद्य रूप से जुड़ा रहता है । वह युग भी इसका अपवाद नहीं था । गणिकाओं की संख्या बेहद बढ़ गयी और नाचरंग का शौक लोगों की नसनस में व्याप्त हो गया । इसके बाद लगभग पचास वर्षों तक औरंगज़ेब ने राज्य किया । उसके शासनकाल में इस परिस्थिति में बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हुआ । औरंगजेब के अन्य अनेक दोषों के बावजूद यह मान्य करना ही पड़ेगा कि वैयक्तिक रूप से यह बादशाह अत्यंत खरा मुसलमान था । वह अत्यंत सादा और नियमित जीवन व्यतीत करता था जिसमें ऐशोइशरत और रागरंग को कोई स्थान नहीं था । यह सही है कि अपने शासनकाल में उसने सैंकड़ों हिंदू मंदिर ध्वस्त किये, हिंदुओं पर जज़िया कर लगाया और हर तरह से उनका जीना दूभर कर दिया । परंतु साथ ही, प्रजा के भोगविलासमय जीवन को नियंत्रित करने के और वेश्यावृत्ति का निर्मूलन करने के भगीरथ प्रयत्न भी उसने किये थे, यह नहीं भुलाया जा सकता ।

खाफीखाँ नामक इतिहासकार ने एक मनोरंजक प्रसंग का वर्णम किया है । औरंगजेब ने नृत्य और संगीत के जलसों पर प्रतिबंध लगाकर, गणिकाओं को विवाह करके घर बसा लेने की हिदायत दी थी । पूरे राज्य में उसने मुनादी घोषित करवा दी थी कि यदि कोई गणिका इस नियम को भंग करती पकडी जायगी, तो उसे राज्य से निर्वासित कर दिया जायगा । बादशाह का यह हुक्म नैतिक दृष्टि से निर्विवाद होने पर भी व्यवहार्य नहीं था । सत्याग्रह के कुछ सौम्य प्रकारों से उस युग की प्रजा भी शायद परिचित थी । अतः गणिकाओं ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए एक अभिनव युक्ति रची । एक शुक्रवार को बादशाह मसजिद में जा रहे थे कि सामने से हजारेक स्त्रियों का झुंड मातम मनाते हुए निकला । बीच में कुछ लोग एक

कलात्मक ढंग से सजाया हुआ जनाज़ा उठाये हुए थे और स्त्रियाँ छाती पीट-पीट कर विलाप कर रही थीं। बादशाह को यह देख कर आश्चर्य हुआ और उसने इस महाशोक का कारण पूछा। जवाब मिला कि बादशाह के हुक्म से संगीत की देवी की मृत्यु हो गयी है जिसे दफनाने के लिए उसकी पुत्रियाँ कब्रिस्तान ले जा रही हैं। बादशाह इतना मूर्ख नहीं था कि इसका ध्वन्यार्थ न समझ सके। उसके तमाम दोषों के बावजूद वह एक विचक्षण और कुशाग्रबुद्धि शासक था। अतः चेहरे पर शिकन भी डाले बिना उसने गंभीरता से जवाब दिया: "ठीक है; अब इसे इतना गहरा गाडना कि फिर से उठ न सके।"



औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुगलिया सल्तनत डगमगा गयी और देखते-देखते उसका महत्व अत्यंत कम हो गया। किसी भी संस्कृति के पतनकाल में उसका शासकवर्ग विलासी, प्रमादी, अकार्यक्षम और विवेकशून्य हो जाता है। यहाँ भी वही हुआ। बादशाह और वज़ीर, अमीर-उमरा और सूबेदार-मनसबदारों से लगा कर साधारण सिपाहियों तक की सभी श्रेणियों में केवल विलास ही नहीं, लापरवाही और अकर्मण्यता फैल गयी। उदारता और सहिष्णुता का स्थान दुष्टता और संकीर्णता ने ले लिया। राजमहलों से लगा कर साधारण लोगों के घरों तक में पशुओं से भी गई बीती उच्छृंखल वासना का नंगा नाच होने लगा। वेश्यागमन साधारण और सार्वत्रिक बात हो गयी। समाज के उच्च वर्गों में धर्म नामक चीज़ का नामोनिशान भी नहीं बचा। इस हालत में गणिकाओं पर उसका प्रभाव पड़ने का सवाल ही नहीं उठता। धर्मनिरपेक्ष गणिकावृत्ति हीनतम प्रकार के निर्लज्ज पेशे के सिवा कुछ नहीं रही; और लोग विलास में आकंठ डूब कर पतन के प्रवाह में बहने लगे।

अब तक के विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि विधर्मियों की विजय से गणिकाओं के जीवन में से धार्मिक अंश की अंतिम बूंद भी निचुड़ गयी। मंदिरों में देवता के समक्ष किये जाने वाले गीत-नृत्य में अनुस्यूत समर्पण-भावना पूर्णतः लुप्त हो गयी और उन पर देवता या देवालयों का कोई नियंत्रण नहीं रहा। अब वे निमंत्रण मिलने पर विवाह-समारंभों में या रईसों की महफिलों में ही अपनी कला प्रदर्शित कर सकती थीं अन्यथा उनके लिए कोरे देह-विक्रय से जीवनयापन करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम युग के आरंभकाल में उत्तर भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति यदि रही भी हो, तो वह शीघ्र ही विलुप्त हो गयी और कुछ समय बाद उसके अवशेष भी बाकी नहीं बचे। एक और निष्कर्ष यह निकलता है कि इस युग के अंत तक आते-आते तो अनैतिकता ने धर्म भावना को जीवन के सभी क्षेत्रों में से निष्कासित कर दिया और यौन-उच्छृंखलता का प्रसार होने के साथ-साथ विवाह के बंधन उत्तरोत्तर शिथिल होते गये।

धार्मिक गणिकावृत्ति की जुगुप्साजनक प्रथा चाहे जिस कारण से बंद हुई हो, उसके लिए दुखी होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। परंतु इसके बाद धर्म निरपेक्ष या अधार्मिक गणिकावृत्ति का जो विकास

इस प्रदेश में हुआ, वह मूल अनिष्ट से कम भयावह सिद्ध नहीं हुआ । देवालयों से संबंधित होने के कारण जो धार्मिक रिवाज गणिकाओं में प्रचलित हुए थे, वे विशेष महत्वपूर्ण न होने पर भी उपेक्षणीय नहीं थे । गणिकावृत्ति का स्वीकार करने से पहले, प्रतीकात्मक रूप में ही क्यों न सही, पर विवाह आवश्यक माना जाता था, यह रिवाज आज की दृष्टि से विचित्र और हास्यास्पद दिखाई दे सकता है; परंतु इससे यह अंदाज़ा अवश्य लगाया जा सकता है कि पतितावस्था को स्वीकार करते समय भी जो मनोवृत्ति धर्म का सहारा छोड़ना नहीं चाहती, उसकी धर्मश्रद्धा कितनी प्रबल रही होगी । इसका अच्छा प्रभाव चाहे न पड़ा हो, और परिणाम की दृष्टि से भी इससे कोई फर्क नहीं पड़ा, परंतु इससे बुराई का रंग अधिक गहरा नहीं हुआ, यह तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है ।

४

इस्लामी प्रभाव के वर्तमान अवशेष

उत्तर भारत की तवायफ और गंधर्व आदि जातियों में गणिकावृत्ति और नृत्य-संगीत को वंशपरंपरा का पेशा माना जाता है । इन जातियों में कई उप जातियाँ भी हैं । 'तवायफ' शब्द मुख्यतः मुसलमान गणिकाओं के लिए प्रयुक्त होता है और 'पतुरिया' हिंदूगणिकाओं के लिए । इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति हम देख चुके हैं । 'पतुरिया' वर्ग में रजोदर्शन होते ही कन्या का पीपल के वृक्ष के साथ विवाह कर दिया जाता है और इसके बाद ही वह वेश्यावृत्ति आरंभ करती है । ये गणिकाएँ अकसर शिव को इष्टदेव और कृष्ण को अपना प्रियदेव मानती हैं । एक और छोटी कौम 'राजकन्या' के नाम से परिचित है । इनका मुख्य व्यवसाय मंदिरों में नृत्य करना होता है । उत्तरी भारत में मंदिरों से संबंधित गणिकावृत्ति की यह जाति शायद सबसे स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है ।

'तवायफ' शब्द की व्युत्पत्ति का विचार करते समय हम देख चुके हैं कि मूल अरबी में यह शब्द 'तायफा' (समूह) का बहुवचन है, परंतु हिंदी-उर्दू में यह एकवचन में गणिका के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस समूहवाचक शब्द के साथ यह विशिष्ट अर्थ व्यंजना क्यों जुड़ी होगी ? 'पूरे समूह या पूरी सेना के उपभोग में आने वाली स्त्री' के अर्थ में यह समूह में रहकर भटकने वाली खानाबदोष स्त्री के अर्थ में ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है । भारत में आरंभ से ही यह शब्द नाच-गाकर और देहविक्रय से उदरनिर्वाह करने वाली पण्यस्त्री के अर्थ में ही प्रचलित हुआ है । तवायफ वर्ग की लड़की सात-आठ वर्ष की होते ही उसे नृत्यगीत की शिक्षा देना आरंभ कर दिया जाता है । विद्यारंभ के दिन उसे मसजिद में ले जाया जाता है । कंगलों को शीरनी बाँटी जाती है और उस्ताद को गंडा बाँधने की गुरुदक्षिणा दी जाती है । इसके बाद, यौवन के चिह्न प्रकट होते ही उसके 'अँगिया पहनने' की विधि की जाती है । इस प्रथा को कुछ समारोहपूर्वक पूरा किया जाता है । इर्दगिर्द के हम पेशा लोगों को दावत दी जाती है और उसे प्रथम-संभोग के योग्य घोषित कर दिया जाता है । हम देख चुके हैं कि 'प्रथम-संभोग' की अवास्तव भ्रम को विवाहित जीवन के समान गणिका-जीवन में भी आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है । यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि स्त्री-पुरुष के प्रथम-मिलन की सुहागरात दोनों के जीवन का एक चिरस्मरणीय प्रसंग होता है । वात्स्यायन से लगा कर कामशास्त्र के सभी आचार्यों ने इसके महत्व और माधुर्य को स्वीकार किया है । 'मिलन-यामिनी' और 'शबे वस्ल' का इंतज़ार कयामत तक करने को भी हमारे कवि और शायर सब तत्पर दिखाई देते हैं और इस मधुर कल्पना के सहारे न मालूम कितनी रसमय कविता की रचना हुई है । परंतु इस भावना को जब गणिकावृत्ति के क्षेत्र में भी घसीटा जाता है, तब वह एक पाखंड या लकीर पीटने की अगतिकता से अधिक कुछ नहीं रहती । इस प्रकार की अनेक सुहागरातें और तथाकथित प्रथम-संभोगों का आस्वादन करने को सब

कलात्मक ढंग से सजाया हुआ जनाज़ा उठाये हुए थे और स्त्रियाँ छाती पीट-पीट कर विलाप कर रही थीं। बादशाह को यह देख कर आश्चर्य हुआ और उसने इस महाशोक का कारण पूछा। जवाब मिला कि बादशाह के हुक्म से संगीत की देवी की मृत्यु हो गयी है जिसे दफनाने के लिए उसकी पुत्रियाँ कब्रिस्तान ले जा रही हैं। बादशाह इतना मूर्ख नहीं था कि इसका ध्वन्यार्थ न समझ सके। उसके तमाम दोषों के बावजूद वह एक विचक्षण और कुशाग्रबुद्धि शासक था। अत: चेहरे पर शिकन भी डाले बिना उसने गंभीरता से जवाब दिया: "ठीक है; अब इसे इतना गहरा गाडना कि फिर से उठ न सके।"



औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुग़लिया सल्तनत डगमगा गयी और देखते-देखते उसका महत्व अत्यंत कम हो गया। किसी भी संस्कृति के पतनकाल में उसका शासकवर्ग विलासी, प्रमादी, अकार्यक्षम और विवेकशून्य हो जाता है। यहाँ भी वही हुआ। बादशाह और वज़ीर, अमीर-उमरा और सूबेदार-मनसबदारों से लगा कर साधारण सिपाहियों तक की सभी श्रेणियों में केवल विलास ही नहीं, लापरवाही और अकर्मण्यता फैल गयी। उदारता और सहिष्णुता का स्थान दुष्टता और संकीर्णता ने ले लिया। राजमहलों से लगा कर साधारण लोगों के घरों तक में पशुओं से भी गई बीती उच्छृंखल वासना का नंगा नाच होने लगा। वेश्यागमन साधारण और सार्वत्रिक बात हो गयी। समाज के उच्च वर्गों में धर्म नामक चीज़ का नामोनिशान भी नहीं बचा। इस हालत में गणिकाओं पर उसका प्रभाव पड़ने का सवाल ही नहीं उठता। धर्मनिरपेक्ष गणिकावृत्ति हीनतम प्रकार के निर्लज्ज पेशे के सिवा कुछ नहीं रही; और लोग विलास में आकंठ डूब कर पतन के प्रवाह में बहने लगे।

अब तक के विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि विधर्मियों की विजय से गणिकाओं के जीवन में से धार्मिक अंश की अंतिम बूंद भी निचुड़ गयी। मंदिरों में देवता के समक्ष किये जाने वाले गीत-नृत्य में अनुस्यूत समर्पण-भावना पूर्णत: लुप्त हो गयी और उन पर देवता या देवालयों का कोई नियंत्रण नहीं रहा। अब वे निमंत्रण मिलने पर विवाह-समारंभों में या रईसों की महफिलों में ही अपनी कला प्रदर्शित कर सकती थीं अन्यथा उनके लिए कोरे देह-विक्रय से जीवनयापन करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम युग के आरंभकाल में उत्तर भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति यदि रही भी हो, तो वह शीघ्र ही विलुप्त हो गयी और कुछ समय बाद उसके अवशेष भी बाकी नहीं बचे। एक और निष्कर्ष यह निकलता है कि इस युग के अंत तक आते-आते तो अनैतिकता ने धर्म भावना को जीवन के सभी क्षेत्रों में से निष्कासित कर दिया और यौन-उच्छृंखलता का प्रसार होने के साथ-साथ विवाह के बंधन उत्तरोत्तर शिथिल होते गये।

धार्मिक गणिकावृत्ति की जुगुप्साजनक प्रथा चाहे जिस कारण से बंद हुई हो, उसके लिए दुखी होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। परंतु इसके बाद धर्म निरपेक्ष या अधार्मिक गणिकावृत्ति का जो विकास

इस प्रदेश में हुआ, वह मूल अनिष्ट से कम भयावह सिद्ध नहीं हुआ । देवालयों से संबंधित होने के कारण जो धार्मिक रिवाज गणिकाओं में प्रचलित हुए थे, व विशेष महत्वपूण न होने पर भा उपेक्षणीय नहीं थे । गणिकावृत्ति का स्वीकार करने से पहले, प्रतीकात्मक रूप में ही क्यों न सही, पर विवाह आवश्यक माना जाता था, यह रिवाज आज की दृष्टि से विचित्र और हास्यास्पद दिखाई दे सकता है; परंतु इससे यह अंदाज़ा अवश्य लगाया जा सकता है कि पतितावस्था को स्वीकार करते समय भी जो मनोवृत्ति धर्म का सहारा छोड़ना नहीं चाहती, उसकी धर्मश्रद्धा कितनी प्रबल रही होगी । इसका अच्छा प्रभाव चाहे न पड़ा हो, और परिणाम की दृष्टि से भी इससे कोई फर्क नहीं पड़ा, परंतु इससे बुराई का रंग अधिक गहरा नहीं हुआ, यह तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है ।

४

इस्लामी प्रभाव के वर्तमान अवशेष

उत्तर भारत की तवायफ और गंधर्व आदि जातियों में गणिकावृत्ति और नृत्य-संगीत को वंशपरंपरा का पेशा माना जाता है । इन जातियों में कई उप जातियाँ भी हैं । 'तवायफ' शब्द मुख्यतः मुसलमान गणिकाओं के लिए प्रयुक्त होता है और 'पतुरिया' हिंदूगणिकाओं के लिए । इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति हम देख चुके हैं । 'पतुरिया' वर्ग में रजोदर्शन होते ही कन्या का पीपल के वृक्ष के साथ विवाह कर दिया जाता है और इसके बाद ही वह वेश्यावृत्ति आरंभ करती है । ये गणिकाएँ अकसर शिव को इष्टदेव और कृष्ण को अपना प्रियदेव मानती हैं । एक और छोटी कौम 'राजकन्या' के नाम से परिचित है । इनका मुख्य व्यवसाय मंदिरों में नृत्य करना होता है । उत्तरी भारत में मंदिरों से संबंधित गणिकावृत्ति की यह जाति शायद सबसे स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है ।

'तवायफ' शब्द की व्युत्पत्ति का विचार करते समय हम देख चुके हैं कि मूल अरबी में यह शब्द 'तायफा' (समूह) का बहुवचन है, परंतु हिंदी-उर्दू में यह एकवचन में गणिका के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस समूहवाचक शब्द के साथ यह विशिष्ट अर्थ व्यंजना क्यों जुड़ी होगी ? 'पूरे समूह या पूरी सेना के उपभोग में आने वाली स्त्री' के अर्थ में यह समूह में रहकर भटकने वाली खानाबदोष स्त्री के अर्थ में ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है । भारत में आरंभ से ही यह शब्द नाच-गाकर और देहविक्रय से उदरनिर्वाह करने वाली पण्यस्त्री के अर्थ में ही प्रचलित हुआ है । तवायफ वर्ग की लड़की सात-आठ वर्ष की होते ही उसे नृत्यगीत की शिक्षा देना आरंभ कर दिया जाता है । विद्यारंभ के दिन उसे मसजिद में ले जाया जाता है । कंगलों को शीरनी बाँटी जाती है और उस्ताद को गंडा बाँधने की गुरुदक्षिणा दी जाती है । इसके बाद, यौवन के चिह्न प्रकट होते ही उसके 'अँगिया पहनने' की विधि की जाती है । इस प्रथा को कुछ समारोहपूर्वक पूरा किया जाता है । इर्दगिर्द के हम पेशा लोगों को दावत दी जाती है और उसे प्रथम-संभोग के योग्य घोषित कर दिया जाता है । हम देख चुके हैं कि 'प्रथम-संभोग' की अवास्तव झक को विवाहित जीवन के समान गणिका-जीवन में भी आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है । यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि स्त्री-पुरुष के प्रथम-मिलन की सुहागरात दोनों के जीवन का एक चिरस्मरणीय प्रसंग होता है । वात्स्यायन से लगा कर कामशास्त्र के सभी आचार्यों ने इसके महत्व और माधुर्य को स्वीकार किया है । 'मिलन-यामिनी' और 'शबे वस्ल' का इंतज़ार कयामत तक करने को भी हमारे कवि और शायर सदा तत्पर दिखाई देते हैं और इस मधुर कल्पना के सहारे न मालूम कितनी रसमय कविता की रचना हुई है । परंतु इस भावना को जब गणिकावृत्ति के क्षेत्र में भी घसीटा जाता है, तब वह एक पाखंड या लकीर पीटने की अगतिकता से अधिक कुछ नहीं रहती । इस प्रकार की अनेक सुहागरातें और तथाकथित प्रथम-संभोगों का आस्वादन करने को सदा

लालायित रहने वाले पुरुष यह क्यों भूल जाते हैं कि दूसरा पक्ष भी चाल चल सकता है और मामूली तरकीबों के सहारे अनेक सुहागरातों का आयोजन कर सकता है ? स्त्री की पवित्रता पर ज़रूरत से अधिक बल देकर, अपने आपको वैविध्य का अधिकारी मानने वाले पुरुष खुद ही इस स्थिति का निर्माण करते हैं । इस हालत में उन्हें न तो शिकायत करने का अधिकार है, न सहानुभूति की याचना करने का ।

यह जो कुछ भी हो, प्रथम-संभोग का वेश्याजीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान होता है और मंजे हुए वेश्यागामियों के लिए तो उसका आकर्षण कुछ दुर्निवार्य सा होता है । अनुभवी कुट्टनियाँ पुरुष की इस कमज़ोरी से अधिक से अधिक लाभ उठाती हैं । किशोरी गणिकापुत्रियों के प्रथम-समागम के लिए उचित मूल्य ठहरा कर ग्राहक निश्चित कर लिया जाता है । शौकीनों, तमाशबीनों और बेवकूफों की दुनियां में कोई कमी नहीं है । अतः इस सुनहरे अवसर से लाभ उठाने के लिए इस विषय के रसिकों में होड़ सी लग जाती है । प्रथम-समागम के इस लंबे-चौड़े आयोजन को 'सिर-ढँकाई' या 'नथ-उतराई' के नाम से पहचाना जाता है । ये दोनों नाम सांकेतिक हैं । अत्यंत प्राचीन काल से प्रथम-समागम के अधिकारी पुरुष को गणिकाएँ अपना संरक्षक मानती आयी हैं । अतः इस पुरुष के रूप में उन्हें जीवनभर के लिए छत्र-छाया मिल जाती है, ऐसी कोई भावना इस 'सिर-ढँकाई' शब्दप्रयोग के पीछे दिखाई देती है । यद्यपि केवल शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो इससे उनका सिर ढँकता है, या जीवनभर के लिए उघड़ जाता है, यह निश्चय करना मुश्किल है । 'नथ-उतराई' शब्द प्रयोग गणिकाओं में प्रचलित एक प्रथा पर आधारित है । कुमारी तवायफें नाक में नथ पहने रहती हैं जिसे कौमार्यभंग के बाद उतार दिया जाता है और इसके बाद वे कभी नथ नहीं पहनतीं । नाम कुछ भी दिया जाय, रंगीले पुरुषों को यह प्रथा सदा से विषयसुख की पराकाष्ठा दिखाई देती आयी है । यह विधि पूरी हो जाने पर फिर एक बार शीरनी-मिठाई बाँटी जाती है । इसके बाद तवायफ को मिस्सी लगाने का अधिकार मिल जाता है । इसे उसके कुमारी न होने का और यौवन में पदार्पण करके गणिकावृत्ति की स्वतंत्रता प्राप्त करने का चिह्न माना जाता है । कहीं-कहीं इस बात का सार्वजनिक विज्ञापन करने के हेतु से बाजे-गाजे के साथ जुलूस निकाल कर नथ उतरी हुई गणिका को शहर भर में घुमाया जाता है । बाद में नृत्यसंगीत की महफिल होती है और संबंधित युवती को संपूर्ण गणिका के रूप में हमपेशा लोगों और रसिकों की मान्यता मिल जाती है ।

उपरोक्त गंधर्व जाति के सारे रिवाज भी इनसे मिलते-जुलते होते हैं । जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, यह जाति अपने आप को देवराज इन्द्र की सभा में गाने-बजाने का काम करनेवाले स्वर्गीय गंधर्वों का सीधा वंशज मानती है । उत्तर भारत में बनारस, इलाहाबाद, गाज़ीपुर आदि शहरों में इनकी बस्ती अधिक पायी जाती है । गुजरात में भी थोड़े-बहुत गंधर्व हैं परंतु वे बड़ी तेज़ी से गृहस्थ समाज में परिवर्तित होते जा रहे हैं । विष्णुपूजक हिंदू होने पर भी उनकी मान्यताओं और रस्मोरिवाज पर इस्लाम की छाया बहुत अधिक दिखाई देती है । संगीताचार्य होने के नाते गणेशजी को वे अपना इष्टदेव मानते हैं । हर बुधवार को गंधर्व युवतियाँ फल-फूल-धूप-नैवेद्य से गणेशजी की पूजा करती हैं । इनके उपरांत नट नामक एक खानाबदोश जाति और पायी जाती है जो नृत्य और देह चापल्य के खेल-तमाशे करने के उपरांत गणिकावृत्ति भी करती है । इनमें भी छोटी-मोटी कई उपजातियाँ और अनेक प्रकार के प्रादेशिक भेद पाये जाते हैं । धर्म या देवालयों के साथ इन दोनों जातियों का कोई संबंध नहीं होता ।

धार्मिक क्रियाओं और देवालयों से संबंध रखने वाली गणिकाएँ धीरे-धीरे अपने पेशे को धर्म द्वारा स्वीकृत ही नहीं, धर्म द्वारा अनुमोदित भी मानने लगती हैं । लंबे युगों तक चलने वाले मुस्लिम और अंग्रेज़ी शासन के बावजूद उनका अस्तित्व आज तक चलता आ रहा है । कुछ वर्ष पूर्व देवदासी प्रथा पर प्रतिबंध लगने से पहले तक दक्षिण भारत में धार्मिक गणिकावृत्ति ने जो भयावह रूप धारण किया था, उसकी जोड़ी मानव-सभ्यता के इतिहास में अन्यत्र मिलना मुश्किल है । अगले परिच्छेद में इस संस्था का विस्तृत अध्ययन किया जायगा ।

छठाँ परिच्छेद

देवदासी-संस्था

१

इस प्रथा के आरंभिक उल्लेख

मुसलमान शासक-वंशों के आयेदिन के परिवर्तनों के कारण उत्तरी भारत का प्रजाजीवन जब अस्तव्यस्त हो रहा था, तब दक्षिण में विजयनगर का हिंदू राज्य दिनों दिन तरक्की कर रहा था। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण भारत पर भी सवारियाँ की थी; परंतु उत्तर के जैसे व्यापक और लगातार आक्रमणों का अनुभव दक्षिण को नहीं हुआ था। दक्षिण के बहमनी वंश के मुसलमान शासकों ने भी उत्तरी आक्रमकों की सी नृशंसता या असहिष्णुता का परिचय नहीं दिया। इन कारणों से दक्षिण भारत को उत्तरी भारत के समान धर्मांधता के विनाशक प्रभाव का अनुभव कभी नहीं हुआ। आक्रमकों से छिपने-छिपाने की आवश्यकता न होने के कारण दक्षिण में हिंदू धर्म का कर्मकांड निर्विघ्न चलता रहा और लोगों में धर्म विशुद्धि का आग्रह भी बना रहा। हिंदू-धर्म की प्रथाओं के प्राचीन या विशुद्ध रूप के दर्शन करने हों, तो आज भी हमारी दृष्टि चलता रहने के कारण और देवालय-स्थापत्य एवं मूर्ति-निर्माण की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास होने के कारण दक्षिण में अनेक दर्शनीय मंदिरों का निर्माण हुआ। मंदिरों का केवल निर्माण ही नहीं हुआ, वे सुरक्षित बचे भी रहे और उनकी संख्या एवं स्थापत्य



रूप के दर्शन करने हों, तो आज भी हमारी दृष्टि दक्षिण की ओर ही जाती है। हिन्दू राजवंशों का सुव्यवस्थित शासन लंबे समय तक चलता रहने के कारण और देवालय-स्थापत्य एवं मूर्ति-निर्माण की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास होने के कारण दक्षिण में अनेक दर्शनीय मंदिरों का निर्माण हुआ। मंदिरों का केवल निर्माण ही नहीं हुआ, वे सुरक्षित बचे भी रहे और उनकी संख्या एवं स्थापत्य सौंदर्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। उस युग की परिस्थितियों को देखते हुए इसे कम महत्व की बात नहीं माना जा सकता। देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा, धार्मिक प्रथाओं के प्रति श्रद्धा और रूढ़ियों की कठोरता दक्षिण में आरंभ से कुछ अधिक रही, जिसके कारण देवालयों को धन की कमी कभी नहीं पड़ी। इन सब सहायक परिस्थितियों के फलस्वरूप दक्षिण में अनेक भव्य और ऐश्वर्यशाली मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें के अधिकांश का वैभव आज तक टिका रहा है। उत्बी द्वारा वर्णित मथुरा के मंदिरों से भी बढ़ कर वैभवशाली और विशाल मंदिरों

का उल्लेख दक्षिण के उस युग के अभिलेखों में मिलता है । आज भी इन मंदिरों की भव्यता उनके विगत वैभव की मूक गवाही देती है । इन वर्णनों से यह भी प्रमाणित होता है कि दुनियाभर में अपनी जोड़ी न रखने वाली देवदासी-संस्था का उस युग में संपूर्ण विकास हो चुका था । अरब सौदागरों और ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस संस्था का यथातथ्य वर्णन किया है । मद्रास और कर्नाटक में यह प्रथा अभी कुछ वर्ष पहले तक जीवित थी । इन प्रदेशों में उसके कुछ अवशेष तो आज भी देखे जा सकते हैं ।

देवदासी-प्रथा धार्मिक गणिकावृत्ति का शायद सब से स्पष्ट प्रकार है । मंदिरों में देवता के समक्ष नृत्य करने के लिए पेशेवर नर्तकियों की नियुक्ति करने की प्रथा केवल भारत की ही विशेषता नहीं रही है हम देख चुके हैं कि मिस्र, बेबिलोन, सीरिया, यूनान और रोम की संस्कृतियों में भी इससे मिलती-जुलती प्रथाएँ प्रचलित थीं । परंतु भारत की तरह बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक यह संस्था कहीं भी जीवित नहीं रही । भारतीय देवार्पित नर्तकियों की एक और विशिष्टता यह रही कि नृत्यगीत के उपरांत देवता की पूजा की कुछ विधियाँ भी उनके कार्यक्षेत्र में आती थीं । समूचे दक्षिण भारत में —कन्नडभाषी प्रदेश से शुरू करके कन्याकुमारी तक —यह प्रथा थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ, एक या दूसरे नाम शताब्दियों तक प्रचलित रही और बीसवीं शताब्दी की समानता और नैतिक औचित्य की भावनाओं ने उसके विरुद्ध जिहाद घोषित की तब तक जीवित रही । अपने अंतिम, विकृत स्वरूप में यह संस्था एक ऐसा भयावह नासूर बन चुकी थी कि उसे नष्ट करने के लिए विचारकों और समाजसुधारकों को कमर कसकर वर्षों तक कोशिश करनी पड़ी । धीरे-धीरे प्रजा का अर्ध शिक्षित एवं धर्म भीरु वर्ग भी देवार्पण की भावना को अंध श्रद्धा और इस संस्था को अनिष्ट मानने लगा जिसके परिणाम-स्वरूप इसका विलय और भी शीघ्रता से हुआ । बीसवीं शताब्दी की प्रखर तर्कवादी विचारधारा के सामने नृत्य-संगीत का बहाना उसके सच्चे स्वरूप को अधिक समय तक छिपा न सका । लोकमत का समर्थन समाप्त होते ही इसकी बुनियाद क्षीण हो गयी और सुधारकों का काम अपने आप सरल हो गया । अपने अंतिम दिनों में देवदासी-संस्था खुल्लम खुल्ला गणिकासंस्था बन गयी थी और धर्म का नाम केवल बहाने के लिए लिया जाता था । हीनतम प्रकार के अनाचार को भी लजानेवाली यह खुली वेश्यावृत्ति धर्म के नाम का ऐसा दुरुपयोग करे यह कल्पना भी संस्कृत मानस को सहन नहीं हो सकती । अतः उसके निर्मूलन के संबंध में मतभेद होने की संभावना ही नहीं थी । उसके नष्ट हो जाने पर न तो किसी ने आँसू बहाये होंगे, और न इसकी आवश्यकता थी । हमारे अध्ययन की दृष्टि से हमें भी इस संस्था से केवल इतना ही प्रयोजन है कि इसके आरंभ और विकास के कारणों का, युगानुसार परिवर्तित होने वाले इसके स्वरूप का, और इसका इतना अधिक प्रचार होने के कारणों का संक्षेप में विचार कर लें ।

देवदासी प्रथा एक संस्था या अलग जाति के रूप में कब विकसित हुई, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । पश्चिम के अधिकांश विद्वान इसे दसवीं शताब्दी की घटना मानते हैं । इस शताब्दी में दक्षिण में मंदिर-निर्माण की प्रवृत्ति बहुत बलवती हो उठी थी और प्रतिमापूजन की विस्तृत विधियों का विकास भी इसी युग में हुआ था । नर्तकियों को मंदिरों से जीवनभर के लिए संबंधित कर देने की प्रथा के लिए उस युग का वातावरण अत्यंत अनुकूल था । परंतु आरंभ की कुछ शताब्दियों तक देवदासियों का कार्यक्षेत्र नियत हो चुका हो ऐसा दिखाई नहीं देता । आरंभ में देवप्रतिमा को पंखा-चँवर ढुलाना, आरती करना, देवालयों और जुलूसों में प्रतिमा के समक्ष नृत्य करना इत्यादि कार्य ही उन्हें सौंपे जाते थे । देह-विक्रय की प्रथा इस संस्था के साथ शायद कुछ बाद में जुड़ी । देवदासी-प्रथा का सबसे पुराना उल्लेख सन् १००४ के, तमिल भाषा में लिखे हुए एक शिलालेख में मिलता है । इस समय उत्तरी भारत पर महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों की शुरुआत हो चुकी थी । दक्षिण में उस समय चोलवंश के महान शासक राजराज का राज्य था । राजराज सन् ९८५ में गद्दी पर बैठा था । चोल वंश के राजा वैसे तो शैव थे; परंतु राजराज के समय में वैष्णव मंदिरों की भी काफी उन्नति हुई थी । इनमें तंजावर के विष्णु मंदिर का स्थान सबसे ऊँचा था । इस शिलालेख में उल्लेख है कि तंजावर के मुख्य मंदिर में चार सौ 'तालाचेरी

पेन्डुगल' (देवदासियों) की नियुक्ति हुई थी । मंदिर के इर्दगिर्द के चार मोहल्लों में उनकी बस्ती थी । प्रत्येक देवदासी को उसकी प्रतिष्ठा और कला साधना के अनुपात में देवार्पित जमीन की आमदनी का हिस्सा मिलता था । मंदिरों की जमीन पूर्णरूप से करमुक्त होती थी । इन चार सौ देवदासियों के नामों की लंबी सूची शिलालेख में दी गयी है । किस दासी को कहाँ से लाया गया था, और किस दासी को किस जमीन की उपज का कितना हिस्सा दिया जाय इसका ब्योरा भी दिया गया है । शिलालेख की भाषा इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध है कि चोल राजाओं के समय में देवदासियों के अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार की शंका की गुंजाइश नहीं रहती ।

इस शिलालेख के वर्णनों में उस युग की सामाजिक परिस्थितियों पर भी काफी प्रकाश पड़ता है और मंदिरों के भव्य पूजा-आयोजनों की भी कुछ झलक मिलती है । बड़े मंदिरों में देवदासियों के उपरांत वनखे, नृत्यशिक्षक, संगीतकार, चोबदार, छड़ीदार और की एक पूरी फौज रहती थी । इन्हें मंदिर की उपज का कितना हिस्सा दिया जाय इसका भी स्पष्ट उल्लेख उपरोक्त शिलालेख में हुआ है । चार सौ नर्तकियों और अन्य अनेक नोकर-चाकरों का पोषण करनेवाले देवालय की समृद्धि की कल्पना की जा सकती है । ये मंदिर केवल देवताओं के निवास स्थान ही नहीं होते थे, बल्कि अपने आपमें संपूर्ण, छोटे-छोटे नगर हुआ करते थे और इर्द-गिर्द की नागरिक बस्तियों के विकास के केन्द्र होते थे । उनके चारों ओर उन्हें उपयोगी हो सकने वाले, उनके वैभव में सहायक होने वाले और उनके सौंदर्य में क्षति न पहुँचाने वाले निवास स्थानों, पांथशालाओं, बागबगीचों, तालाबों और बाज़ार-हाट का निर्माण आवश्यक होता था । देवालयों से संबंधित नर्तकियाँ इन नगरों की बस्ती का अनिवार्य अंग होती थीं । तंजावर, मदुरा, रामेश्वरम् आदि तीर्थस्थान आज भी पूर्ण रूप से देवालय-नगर ही हैं ।

देवदासी-प्रथा का एक और महत्वपूर्ण उल्लेख मध्ययुग के प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने किया है । यह यात्री सन् १२९० में घूमता-घामता दक्षिण भारत के कॉरोमंडल तट पर जा पहुँचा था । 'माबार' (उसका आशय शायद 'मलबार' है) प्रदेश के निवासियों के संबंध में उसने निम्नोक्त जानकारी दी है: — "इस प्रदेश में अनगिनत मंदिर हैं और उनमें असंख्य देवमूर्तियाँ हैं । देवी-देवताओं को युवती कन्याएँ अर्पित करने का रिवाज इस प्रदेश में प्रचलित है । कन्या के माता-पिता की जिस देवता पर श्रद्धा होती है उसके मंदिर में वे उसे जीवनभर के लिए समर्पित कर देते हैं । देवता को अर्पित करने का अर्थ होता है देवता की मूर्ति को अर्पित करना । इन मंदिरों के महंत और पुजारी देवता को नैवेद्य अर्पण करने से पहले प्रतिमा के समक्ष इन सुंदरियों से नृत्य करवाते हैं । इससे देवता प्रसन्न होते हैं ऐसी मान्यता है । कभी-कभी देवता को भोग लगाने का काम ये सुंदरियाँ ही करती हैं । विभिन्न प्रकार की खाद्य सामग्री के अनेक थाल देवता के समक्ष रखने की विधि को 'भोग लगाना' कहते हैं । इस क्रिया में किसी राजा-महाराजा के भोजन-समारंभ से भी अधिक समय लगता है । इस दरमियान इन सुंदरियों का नृत्य-संगीत चलता ही रहता है । कहा जाता है कि देवता इस नैवेद्य का सूक्ष्म रूप से ग्रहण करते हैं । इसके बाद यह सामग्री भक्तों और नर्तकियों को बाँट दी जाती है और सब लोग बड़ी श्रद्धा से उसको स्वीकार करते हैं । रोज़मर्रा के भोग के उपरांत साल में कई बार अन्नकूट की विधि विशाल पैमाने पर की जाती है । नर्तकियों का विवाह होने तक वे नृत्यगीत और भोग-नैवेद्य आदि सेवाएँ अविरत रूप से करती रहती हैं । देवता के समक्ष इतनी देर तक नृत्य-संगीत चलता रहने का कारण पूछने पर पुजारी ने बताया कि देवता अकसर अपनी देवी से रूठे रहते हैं । यहाँ तक कि उनकी आपस में बोलचाल भी नहीं होती । इस स्थिति को चलती रहने दिया जाय, तो देवता का क्रोध बढ़ कर भक्तगणों पर उनकी कृपा के बजाय उनके कोप की वर्षा हो सकती है । जनता को इस आफत से बचाने के लिए ही मंदिरों के महंत नृत्य-संगीत का आयोजन करते हैं । अविरत चलते रहने वाले नृत्यसंगीत से देवी-देवता प्रसन्न हो जाते हैं । उनका आपस में मेल हो जाता है और उनके कोप का निवारण हो कर भक्तों को उनका आशीर्वाद मिलता है । प्रसन्नतापूर्वक आरोगे हुए नैवेद्य का बचा हुआ अंश देवर" पवित्र प्रसाद के रूप में भक्तों के लिए छोड़ देते हैं ।"

यह वर्णन देवदासी-संस्था का ही है; किन्तु उसके ब्योरे में कुछ विसंगतियाँ दिखाई देती हैं । मंदिर या देवता को अर्पित हो चुकने वाली देवदासी का फिर से विवाह नहीं होता था । हम देख चुके हैं कि उसका विवाह देवता की मूर्ति या कटार-तलवार जैसे किसी प्रतीक के साथ होता था और एक बार यह विधि पूरी हो जाने पर वह किसी मनुष्य से विवाह नहीं कर सकती थी । अपवाद के रूप में कभी किसी देवदासी ने जातिप्रथा को तोड़कर किसी से विवाह कर लिया हो, यह बात अलग है; पर ऐसा रिवाज नहीं था । राजाओं और धनिकों की रखैल के रूप में वे अलबत्ता रह सकती थीं । एक पत्नीव्रत का अभिमान रखने वाली ईसाई संस्कृति में रखैल-प्रथा बहुत लंबे समय तक प्रचलित थी । अत: इस स्थिति को मार्को पोलो ने विवाह का ही एक प्रकार मान लेने की गलती की हो, यह संभव है । दूसरे, नैवेद्यार्पण के समय देवता के समक्ष किये जाने वाले नृत्यगीत के लिए जो रूठने-मानने का कारण दिया गया है, वह भी यथार्थ दिखाई नहीं देता । भिन्न संस्कारों वाले मार्को पोलो के या तो यह बात ठीक से समझ में नहीं आयी होगी; या उसे विदेशी समझ कर किसी पुजारी ने मज़ाक में यह ऊटपटाँग कारण बता दिया होगा । हिंदू धर्म के देवता, मूर्तिपूजा, नैवेद्य-प्रसाद, नृत्यगीत द्वारा आत्मनिवेदन, इत्यादि बहुत से तत्व ऐसे हैं, जो आर्य-संस्कृति साथ दीर्घकालीन और घनिष्ठ परिचय के अभाव में किसी भिन्न धर्मी की समझ में आने मुश्किल हैं ।

देवदासियों के नृत्य में मार्को पोलो को नग्नता का आभास भी हुआ था । प्राचीन भारत में स्त्रियों के उरोज अनावृत्त रखने की प्रथा थी या नहीं; और थी तो वह कब तक प्रचलित रही यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है । डॉ. आल्तेकर के मतानुसार कटि के ऊपर का उत्तरीय वेदकाल में भी प्रयुक्त होता था और नाटक-महाकाव्यों में तो कंचुकी (चोली) का उल्लेख कदम-कदम पर हुआ है । परंतु उपलब्ध साक्ष्य को देखते हुए यह मालूम देता है कि स्तनों को खुला रखने की प्रथा भारतीय संस्कृति में कभी न कभी अवश्य प्रचलित रही होगी । जावा-सुमात्रा में किसी युग में हिंदू संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची थी । वहाँ के बालीद्वीप में आज भी हिंदू धर्म प्रचलित है और वहाँ की स्त्रियाँ आज भी वक्षप्रदेश को खुला रखती हैं । नृत्य-अभिनय ही नहीं, जीवन के दैनंदिन व्यवहार भी वे इसी हालत में करती हैं । हमारे नृत्यशिल्प और नृत्यचित्रों में भी उरोजों को अकसर अनावृत्त दिखाया जाता है । मार्को पोलो को ऐसा ही कोई दृश्य दिखाई दे गया हो तब तो अलग बात है; अन्यथा दक्षिण भारत के शास्त्रीय नृत्य में नग्नता का और कोई चिह्न दिखाई देना मुश्किल है । हो सकता है कि इस संबंध में भी मार्को पोलो से गलती हो गयी हो; क्योंकि उस युग के अन्य विदेशी यात्रियों ने देवदासी-नृत्य का वर्णन करते समय नर्तकियों की आकर्षक वेशभूषा की मुक्तकंठ से सराहना की है । किसी भी युग में नर्तकियों और गणिकाओं का वस्त्रविन्यास उनके देह-सौष्ठव को अधिक से अधिक व्यक्त करनेवाला ही होता है और उनके व्यवसाय की दृष्टि से यह आवश्यक भी है । आज भी इस स्थिति में विशेष अंतर पड़ा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता ।

धर्म, राज्य और समाज द्वारा स्वीकृत देवदासी संस्था का विजयनगर के हिंदू राज्य में अत्यधिक विकास हुआ । उस युग के मुसलमान इतिहासकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । विजयनगर राज्य का उत्कर्षकाल लगभग दो शताब्दियों तक चला । इस दीर्घ कालखंड में उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ी और पड़ौस के मुस्लिम राज्यों को उसका सदा भय बना रहता था । ऐश्वर्य-समृद्धि और कला-विद्या के विकास की दृष्टि से भी यह राज्य अत्यंत प्रगत रहा और इस वंश में अनेक प्रतापी, विद्वान और कलारसिक शासक हुए । अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिणविजय-अभियान का पहला उबाल बैठते ही यह राज्य पूरी शानशौकत से चमक उठा और उसका वैभव सन् १५६५ में तालीकोटा के युद्ध में महाराज राम की पराजय होने तक बना रहा । हिंदू संस्कृति पर होने वाले इस्लाम के सर्वंकष आक्रमण को सफलतापूर्वक रोकने में विजयनगर राज्य का योगदान बहुत अधिक रहा । उसके अस्त के बाद दक्षिणभारत के बहमनी वंश के मुस्लिम राज्य भी मुगल सत्ता के सामने निस्तेज हो कर धीरे-धीरे दिल्ली के साम्राज्य में विलीन हो गये । परंतु यह सारी उथल-पुथल कृष्णा के उत्तर में ही हुई, और तुंगभद्रा के दक्षिण के प्रदेश में इस्लाम का अधिक प्रचार किसी युग में नहीं हुआ । विजयनगर राज्य के अस्त के बाद की शताब्दी में शिवाजी

महाराज ने विलुप्त होते हुए हिंदू गौरव को फिर से सजीवन कर दिया और हिंदुत्व की पताका को फरकती रखने की विजयनगर की परंपरा को और भी प्रभावी ढंग से आगे बढ़ाया । किसी भी दृष्टि से देखें, विजयनगर का हिंदू राज्य भारतीय इतिहास का एक अत्यंत गौरवमय प्रकरणसिद्ध होता है ।

विजयनगर की समृद्धि और महत्ता का वर्णन अनेक विदेशी यात्रियो ने किया है । इनमें से दो लेखकों के वर्णन का हमारे विषय से अधिक संबंध है । ईरान के बादशाह ने अब्दुर् रज़ाक नामक राजदूत की विजयनगर में नियुक्ति की थी । उसके कथनानुसार देवदासी नामक गणिका संस्था से राज्य को काफी आमदनी होती थी । राज्य के पुलिस दल की संख्या बारह हजार थी । इस महकमे का पूरा खर्च गणिकाओं और देवदासियों से मिलनेवाले राजस्व की रकम से चलता था । उसके वर्णन से देवदासियों के वैभव का भी अंदाजा लगाया जा सकता है । वह लिखता है: ''देवता की मध्याहन-प्रार्थना पूरी होने के बाद देवदासियाँ अपने मकान के बरामदों में तख्त बिछाकर बैठ जाती हैं । उनके कमरे अत्यंत स्वच्छ और सुशोभित होते हैं । उनके देह सुंदर वस्त्रों और मोती के अलंकारों से सजे रहते हैं । सौंदर्य और यौवन तो उनके शरीर में मानो कूट-कूट कर भरा रहता है । अधिकांश गणिकाओं के साथ दो-तीन सेविकाएँ रहती हैं जो उनकी सेवा-टहल करने के उपरांत शौकीन ग्राहकों को उनके प्रति आकर्षित करने का काम भी करती हैं ।

दूसरा लेखक डॉमिन्गोज पाएस पुर्तगाली धर्म प्रचारक था । उसका वर्णन और भी वास्तविक है । मंदिर के अनेकविध देवी-देवताओं की मूर्तियों का वर्णन करके नैवेद्यार्पण विधि का वर्णन वह इन शब्दों में करता है: ''देवता की प्रतिमा को भोजन कराने का काम देवदासियाँ करती हैं । नैवेद्य धरते समय ये देवार्पित नर्तकियाँ मूर्ति के समक्ष नृत्य करती रहती है । उनका दृढ विश्वास होता है कि देवता इसी तरह भोजन करना पसंद करते हैं । भोजन के उपरांत पानी, पान-सुपारी इत्यादि चीज़ें भी देवता को अर्पण की जाती हैं । देवदासी पुत्री को जन्म दे, तो उस पर देवालय का ही अधिकार होता है और बड़ी होने पर उसे मंदिर की किसी सेवा में नियुक्त कर दिया जाता है । हर शहर में अनेक मंदिर होते हैं और प्रत्येक मंदिर के साथ अनेक देवदासियाँ संबंधित रहती हैं । अकसर वे नगर के सर्वश्रेष्ठ मोहल्लों में रहती है । देवदासियों का चरित्र अत्यंत शिथिल होता है; फिर भी लोग उनके प्रति आदर और सद्भाव व्यक्त करते हैं । अकसर वे राज्य के बड़े अफसरों और सेनाधिकारियों की रखैल के रूप में रहती है या अपनी इच्छानुसार निर्बंधरहित गणिकावृत्ति कर सकती हैं । इस पर भी उनके संपर्क को मानहानि का कारण नहीं माना जाता । समाज के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित भी बिना किसी झिझक के देवदासियों के घर जा सकते हैं । इतना ही नहीं, राजपरिवारों में निमंत्रित होने का सम्मान भी उन्हें मिलता रहता है । वे बिना किसी संकोच के रानियों से मिल सकती हैं, उनके साथ रह सकती हैं और साधारण शिष्टाचार में उनके साथ समानता का व्यवहार कर सकती हैं । राजदरबार में उन्हें किसी बड़े आदमी को भी न मिले ऐसा आदर-सम्मान मिलता है ।''

उनके धनवैभव का वर्णन करते हुए पादरी डॉमिन्गोज़ कहते हैं: ''देवदासियों के बहुमूल्य आभूषणों का वर्णन करना मुश्किल है । हीरे, मोती, पन्ने और नीलम से जड़े हुए सोने के गुलूबंद, बाजूबंद, कटिमेखलाएँ और कंगन उनके शरीर पर जगमगाते रहते हैं । पावों में रत्नजड़ित नूपुरों के बिना तो उनका काम ही नहीं चलता । आश्चर्य होता है कि गणिकावृत्ति करनेवाली इन स्त्रियों के पास इतना कल्पनातीत धन कहाँ से आता होगा । अनेक देवदासियों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिलती हैं । डोला-पालकी के बिना वे बाहर नहीं निकलतीं और सैंकड़ो दासियाँ उनकी सेवा में तैनात रहती हैं । उन्हें भेंट मिलनेवाली बहुमूल्य वस्तुओं की तो गिनती करना भी मुश्किल है । कहा जाता है कि सर्वोच्च श्रेणी की देवदासियों के पास लाख-लाख सुवर्णमुद्राएँ होती हैं । उनके ऐश्वर्य को देखते हुए इस कथन में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति मालूम नहीं देती ।''

पंद्रहवीं और सोलहवींशताब्दियों में विजयनगर अत्यंत समृद्ध और शक्तिशाली राज्य माना जाता था । शक्ति और समृद्धि का योग होते ही प्रजा की दृष्टि विलासकी ओर झुकती है । अत: इस राज्य में धार्मिक गणिकावृत्ति के साथ-साथ धर्म-संबंध विरहित ऐहिक गणिकावृत्ति भी ज़ोरों से चलती थी । समय

बीतते ये दोनों प्रकार एक दूसरे से इतने घुलमिल जाते हैं कि उनकी सीमाओं को अलग-अलग करके देखना मुश्किल हो जाता है । ज्यों-ज्यों इन देवदासियों का महत्व और वैभव बढ़ता गया त्यों-त्यों उनके देवसेवा आदि मंदिरकार्य कम होते गये । श्रेष्ठियों और सेनापतियों का मनोरंजन करने वाली और उनके साथ समानता की कक्षा पर राजनीति की चर्चा कर सकने वाली चतुर देवदासियाँ धीरे-धीरे देवता पर पंखाचँवर ढुलाने के, मंदिर की सफाई करने के और देवालयों में नृत्य करने के काम को अपनी शान से नीचा समझने लगीं और यह बोझ नवागंतुक और सिखाऊ देवदासियों पर डाल कर खुद अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के लिए मुक्त रहने लगीं । नैवेद्य आरोगते समय किसी विशिष्ट दासी का ही नृत्य होना चाहिये ऐसी ज़िद देवताओं को तो शायद नहीं थी; परंतु देवपूजा का काम गौण बन जाने का अनिवार्य दुष्परिणाम यह निकला कि उन्हें पूरे दिन की फुरसद मिल कर गणिकावृत्ति के लिए अधिक से अधिक समय मिलने लगा ।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में देवदासियों का उल्लेख कम हो जाता है और उनका ब्योरेवार वर्णन भी कम मिलता है । यह उपेक्षा शायद अतिपरिचय के कारण हुई होगी । इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के विदेशी यात्रियों के वर्णन फिर ब्योरेवार हो उठते हैं । इस समय तक आते-आते विदेशियों के पाँव इस देश में जम गये थे, उनके हितसंबंध गहराई से स्थापित हो चुके थे और वे अधिक स्थायी रूप से भारत में रहने लगे थे । इस हालत में उनकी दृष्टि स्थानिक परिस्थितियों की ओर अधिक गयी हो, और उन्होंने उसमें दिलचस्पी भी अधिक ली हो, यह स्वाभाविक है ।

२

अन्य आधारभूत उल्लेख

माइसोर रियासत के नवपरिवर्तित ईसाइयों का संघटन करने के लिए मद्रास से माइसोर भेजे जाने वाले डयूबॉय नामक धर्म-प्रचारक ने 'हिंदू रस्मोरिवाज और धार्मिक विधियाँ' नामक ग्रंथ फ्रेन्च भाषा में लिखा था । सन् १८१६ में इसका अँग्रेज़ी में अनुवाद हुआ । इस प्रबंध में तत्कालीन नर्तकियों के विषय में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं । ग्रंथकार का कहना है कि आरंभ में तो मंदिरों की नर्तकियाँ केवल ब्राह्मणों के उपभोग के लिए ही उपलब्ध रहती थीं; अन्य जाति के पुरुषों के लिए नहीं । परंतु बाद में परिस्थिति बदल गयी, और देह-विक्रय उनका सरेआम पेशा हो गया । इस परिवर्तन को हम डयूबाग्नो के शब्दों में ही सुनें: ''देह-विक्रय का धंधा लेकर बैठने वाली ये नर्तकियाँ मंदिरों में देवीदेवता की पूजा के लिए अर्पित स्त्रियाँ होती हैं । छोटे से छोटे मंदिर में भी कम से कम दस-बारह नर्तकियाँ अवश्य होती हैं । सुबह-शाम दो बार देवालय में नाचना-गाना और उत्सव के अवसरों पर पूरे दिन नृत्यसंगीत से देवता और दर्शनार्थियों को प्रसन्न रखना उनका प्रधान कर्तव्य होता है । देवदासियों का नृत्य कला की दृष्टि से अत्यंत उच्च कोटि का होता है; परंतु नृत्य की कई मुद्राएँ अत्यधिक शृंगार-सूचक होती हैं और कभी-कभी तो उनका अभिनय अशिष्टता की सीमा पर पहुँच जाता है । गीतों के बोल में भी अकसर देवदासियों के कामव्यवहार का अश्लील वर्णन होता है । देवदासियों की मंदिरसेवा इन धार्मिक माने जाने वाले कार्यों पर ही समाप्त नहीं हो जाती । वैसे तो हिंदू जाति के दैनंदिन व्यवहार में पूर्ण शिष्टता पायी जाती है, परंतु कभी-कभी उनका शिष्टाचार विवेकशून्य रिवाज मात्र बन जाता है । उदाहरणार्थ, एक रिवाज यह है कि समाज के प्रतिष्ठित पुरुष जब एक-दूसरे से मिलने जाते हैं, तब उन्हें विशिष्ट संख्या में गणिकाएँ साथ ले जानी पड़ती हैं । गणिकाएँ साथ न हों, या उनकी संख्या कम हो, तो मिलने जाने वाले के मन में मेज़बान के प्रति पर्याप्त श्रद्धा नहीं है ऐसा माना जाता है । मुलाकात चाहे किसी महत्वपूर्ण कार्य के संबंध में हो, चाहे केवल शिष्टाचार या मित्रता के कारण हो, मिलनेवाले को गणिकाओं का दल आवश्यक तौर पर साथ

ले जाना पड़ता है ।''

डयूबॉय द्वारा उल्लिखित यह रिवाज बाद में शिथिल या अप्रचलित हो गया हो यह संभव है; परंतु उसकी दी हुई अन्य जानकारी महत्वपूर्ण है । उसके वर्णनानुसार विवाह या पारिवारिक सम्मेलन के अन्य प्रसंगों पर देवदासियों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी । इन प्रसंगों पर वे अत्यंत निर्लज्ज व्यवहार करती थीं । देवदासियाँ बचपन से ही इस पतित वातावरण में रहती थीं और अकसर उन्हें ऐसे लज्जास्पद काम करने पड़ते थे कि उनका स्त्री-सुलभ संकोच शीघ्र ही नष्ट हो जाता था और मंदिरों का वातावरण वेश्यालयों से भी हीन कोटि का हो जाता था । देवदासियों की भरती अनेक जातियों में से की जाती थी और उनमें की कुछ तो अत्यंत प्रतिष्ठित परिवारों से आती थीं ।

इस प्रथा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए डयूबॉय का कहना है : ''इस प्रदेश में गर्भिणी स्त्रियाँ प्रसूति निर्विघ्न होने के हेतु से यह मनौती मानती हैं कि भावी संतान यदि कन्या हुई, तो उसे वे देवार्पण कर देंगी । इसमें उनके पति की भी सम्मति होती है । यह रिवाज बहुत अधिक प्रचलित हो गया है । जिसके कारण देवदासियों की संख्या सदा भरीपूरी रहती है । यह मान्यता समाज में इस हद तक रूढ़ हो गयी है कि ऐसी मन्नत न मानना या माने बाद उसे पूर्ण न करना अशिष्टता का लक्षण माना जाता है । यह रिवाज पूरा न हो, तो मातृत्वधर्म का उल्लंघन होकर भविष्य में अनिष्ट की आशंका रहती है ऐसी मान्यता भी लोगों के मन में घर कर गयी है । देवदासी बन जाने वाली लड़कियों के माता-पिता को समाज में किसी प्रकार का कलंक नहीं लगता और इसमें लज्जा की कोई बात ही नहीं मानी जाती । गणिकावृत्ति करनेवाली नर्तकियों के इस वर्ग को काव्य-साहित्य और नृत्य-संगीत की जैसी उच्च कोटि की शिक्षा मिल सकती है, वैसी संसार के अन्य किसी गणिकावर्ग को शायद ही मिलती हो । इसके विपरीत, शिष्ट और प्रतिष्ठित परिवारों की स्त्रियाँ पढ़ने-लिखने का या नृत्य-संगीत का शौक रखने में लज्जा अनुभव करती हैं । मंदिरों में की जानेवाली सेवाओं के बदले में देवदासियों को निश्चित वेतन मिलता है । परंतु अकसर यह वेतन इतना कम होता है कि उन्हें देह-विक्रय करके अतिरिक्त धन कमाना पड़ता है । देवदासियाँ वस्त्राभूषणों से देह को अत्यंत कलात्मक ढंग से सजाती हैं । स्पष्ट दिखाई देने वाली वस्तु की अपेक्षा अस्पष्ट सी झलक दिखाने वाली वस्तु अधिक रहस्यमय और उद्दीपक होती है इस सत्य को वे अच्छी तरह समझती हैं । अतः उनका वेशविन्यास किसी अंग को खुला न रखते हुए भी देह-सौष्ठव को अधिक से अधिक उठाव देनेवाला होता है ।''

डयूबॉय के इन वर्णनों में उस युग की देवदासी संस्था का अत्यंत स्पष्ट चित्रण हुआ है । इसी समय के एक अन्य यात्री फ्रान्सिस हेमिल्टन ने भी अपने संस्मरणों में देवदासी संस्था का वर्णन किया है जो उपरोक्त उल्लेखों से मिलता-जुलता है । उसका यह भी कहना है कि ''देवदासी यदि असाधारण सौंदर्यवती हो, तो कोई न कोई बड़ा अधिकारी उसे अपने घर ले जाता है और वह कई दिनों तक मंदिर में नहीं आ पाती । वृद्ध और अनाकर्षक हो जाने वाली देवदासियों को भविष्य की किसी प्रकार की सुरक्षा दिये बिना मंदिर से निकाल दिया जाता है । ये प्रौढ़ा देवदासियाँ किसी युवती को अपनी पुत्री मानकर वृद्धावस्था में अपने भरण-पोषण की व्यवस्था कर लेती हैं । इसमें निहित आत्मरक्षा की भावना अत्यंत स्वाभाविक होने के कारण समझ में आ सकती है; परंतु इससे कुट्टनी और गणिका की कभी समाप्त न होने वाली परंपरा चलती है । तुलव के मंदिर में एक विचित्र प्रथा है जिसके कारण 'मोयसर' नामक एक अलग जाति उत्पन्न हो गयी है । कोई स्त्री अपने पति से ऊब गयी हो, या वैधव्य या दारिद्र्य के कारण जीवन से त्रस्त हो गयी हो, तो वह मंदिर में चली जाती है और नैवेद्य से बचा हुआ भात खा लेती है । उसका यह कार्य इस बात का सूचक माना जाता है कि वह देवदासी बनना चाहती है । उसे इस कार्य के लिए नियुक्त सरकारी अधिकारी के पास ले जाया जाता है । अधिकारी उस स्त्री की जाति के मुखिया लोगों को बुला कर उनके सामने उससे प्रतिष्ठित जीवन छोड़कर देवदासी बनना चाहने का कारण पूछता है । स्त्री का निश्चय सकारण है यह मालूम देने पर, यदि वह ब्राह्मणी हो तो उससे पूछा जाता है कि वह मंदिर में ही रहना

चाहती है या मंदिर के बाहर । यदि वह मंदिर में ही रहना पसंद करती है तो उसके भोजनवस्त्र की व्यवस्था कर दी जाती है । बदले में उसे मंदिर की सफाई करना, मूर्ति को पंखा-चंवर ढुलाना आदि मामूली काम करने पड़ते हैं और देह-संबंध ब्राह्मणों तक ही सीमित रखना पड़ता है । परंतु ब्राह्मण होने पर भी मंदिर के बाहर रहना चाहने वाली स्त्रियों और क्षत्रिय, शूद्र आदि ब्राह्मणेतर जातियों की देवदासियाँ मंदिर के बाहर रह कर किसी भी जाति के पुरुष को देहार्पण कर सकती हैं । मंदिर के बाहर रहकर गणिकावृत्ति करनेवाली देवदासियों को अपनी वार्षिक आय का कुछ भाग देवालय को देना पड़ता है ।''

ईसवी सन् १८१६ में जॉन शॉर्ट नामक विद्वान ने 'बयदरी' नामक दक्षिण भारतीय नर्तकियों की एक जाति के विषय में एक प्रबंध लिखा था । उसके निष्कर्ष भी अब तक के वर्णनों की पुष्टि करते हैं । व्यवसाय से डाक्टर होने के कारण इस लेखक को बहुत सी ऐसी जानकारी मिल सकी जो अन्य यात्रियों को मिलना संभव नहीं था । कहीं-कहीं पहले के वर्णनों का संशोधन करनेवाली बातें भी इस प्रबंध में पायी जाती हैं । उदाहरणार्थ डयूबॉय का कहना है कि नर्तकियाँ सुबह-शाम दो बार मंदिर में नृत्य करती थीं; जबकि डा. शॉर्ट का कहना है कि मंदिरों में नृत्य तो सब मिला कर दिन में छः बार होता था; परंतु प्रत्येक नर्तकी की बारी सिर्फ दो बार आती थी । देवदासी-संस्था की कुछ और जानकारी भी इस ग्रंथ में मिलती है । यथा: ''एक बार देवार्पित हो चुकनेवाली नर्तकी फिर कभी विवाह नहीं करती । पाँच-छः वर्ष की उम्र से ही उसे नृत्य-संगीत की अत्यंत कठोर तालीम दी जाती है जो कई वर्षों तक चलती है । मंदिरों से मिलनेवाला पारिश्रमिक नर्तकी के सौंदर्य, कलानैपुण्य, धार्मिकता, लोकप्रियता आदि गुणों पर और मंदिर की प्रतिष्ठा एवं वैभव पर निर्भर करता है । नकद रकम उन्हें नाममात्र को ही मिलती है और उसका उद्देश्य सिर्फ नर्तकियों के मंदिर-संबंध को मान्यता देना होता है । परंतु जीवनयापन के अन्य साधन उन्हें मंदिरों से पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं । भोजन वे दोनों समय चाहे जितना ले जा सकती हैं । वस्त्रों में मुख्यत: रेशमी कंचुकी, रेशमी पायजामे और रंगीन या सफेद रेशमी साड़ियाँ मिलती हैं । साड़ियों की किनारी और पल्ले पर सच्ची ज़री का भरतकाम होता है । बयदरी के उत्तराधिकार और दत्तक विधान का नियंत्र, विशिष्ट कानूनों से होता है जिनका पालन सख्ती से किया जाता है । पुराने जमाने में इन स्त्रियों का वर्ग हरण की हुई लड़कियों से भरापूरा रहता था; परंतु अब यह प्रथा लंबे समय से बंद हो गयी है । अब इसकी आवश्यकता ही नहीं रही क्योंकि लोग राज़ी-ख़ुशी से कन्याएँ देवार्पित कर जाते हैं । किसी विगत यौवना देवदासी को वृद्धावस्था में पोषण करनेवाली पुत्री की तीव्र आवश्यकता हो, और साधारण मार्गों से वह न मिल रही हो, तो अपवाद के रूप में अपहरण की इक्का दुक्का घटनाएँ अब भी होती रहती हैं । कन्या की नृत्य-संगीत की शिक्षा पूरी हो जाने पर और उसके यौवन में पदार्पण करते ही इस प्रथा के भ्रष्ट और घृणित पहलू के दर्शन होते हैं । देवार्पित होने से पहले किसी ब्राह्मण द्वारा उसका कौमारभंग होना आवश्यक माना जाता है । अकसर यह काम मंदिर से संबंधित कोई ब्राह्मण ही पूरा करता है; परतु कभी-कभी अधिक से अधिक धन देने वाले बाहरी लोगों को भी प्रथम-संभोग का अधिकार मिल सकता है । इसके बाद वेश्यावृत्ति 'बयदरी' के जीवन का नित्य व्यवहार बन जाती है । 'बयदरी' सब प्रकार से स्वतंत्र स्त्री होती है । उस पर सिर्फ एक ही बंधन होता है: शूद्र या अस्पृश्य जाति के पुरुष से वह देह-संबंध नहीं कर सकती ।''

डा. शॉर्ट ने उस युग के नृत्य और वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है । उनके मतानुसार नर्तकियों की तालीम बच्चों का खेल नहीं थी । कठोर नियमपालन और नैष्ठिक साधना के बिना नृत्य-संगीत का ज्ञान प्राप्त होना असंभव था । बयदरी की नृत्य-साधना तो वास्तव में शारीरिक व्यायाम का ही एक कठोर प्रकार सिद्ध होती थी । शरीर में नृत्य के लिए आवश्यक लोच और चापल्य उत्पन्न करने के लिए नर्तकियों को बचपन से ही तरह-तरह के व्यायाम और खेल सिखाये जाते थे । 'स्टेरिया कुथु' नामक व्यायाम-प्रकार में हथेलियाँ जमीन पर टिका कर उनके बल शरीर को अधर उठाना पड़ता था और उलटे सिर कलाबाजियाँ खानी पड़ती थीं । हाथ-पांव के बल देह की कमान बना कर जमीन पर रखा हुआ रुपया मुँह से उठाने की

और इसी हालत में हाथ-पांव से ताल देते हुए शरीर को पूरे वर्तुल में घुमाने की कसरत का भी इसमें समावेश होता था । शरीर की मेहराब बना कर मृदंग के ताल से ताल मिलाने की और इसी स्थिति में कठिन मुद्राओं का अभिनय करने की तालीम भी आवश्यक तौर से दी जाती थी । डा. शॉर्ट के कथनानुसार ये नर्तकियाँ सामान्य गृहिणियों से कहीं अधिक शिक्षित होती थीं । काव्य-साहित्य का ज्ञान भी कुछ हद तक उनके लिए आवश्यक माना जाता था । उनके अधिकांश गीत शृंगारभावना से ओतप्रोत होते थे । यह बात शॉर्ट महोदय की समझ में नहीं आ सकी । राधाकृष्ण की शृंगार-भावना हिंदू मानस से अपरिचित अतिथियों को अकसर उलझन में डाल देती है । अन्यधर्मी लोग विलासी नहीं होते, या शृंगार के अश्लील या अमर्याद पहलू से परिचित नहीं होते, यह तो नहीं कहा जा सकता । परंतु फिर भी मौका मिलते ही कुछ हिंदू मान्यताओं को लेकर नाक-मुंह सिकोड़ने के दंभ से शायद ही कोई विदेशी बाज आता है । ईमानदारी के नाते एक बात को स्वीकार अलबत्ता किया जा सकता है कि धर्म के साथ संबंधित इस प्रकार के उत्तान शृंगार से उनकी धर्मभावना परिचित नहीं होती और इस हद तक उन्हें आश्चर्य होना भी स्वाभाविक है ।

इससे आगे बढ़ कर डा. शॉर्ट कहते हैं: ''बयदरी की कमाई का अधिकांश मंदिर के बाहर रह कर की हुई गणिकावृत्ति से आता है । ये नर्तकियाँ हिंदू समाज के लिए एक शक्तिशाली प्रलोभन सिद्ध हुई हैं और थोड़ी बहुत नाराज़ी के साथ समाज उन्हें सहन कर लेता है । शताब्दियों तक इन रिवाजों को सहन करते-करते इस देश की स्त्रियों का मानस इतना उदार हो गया है कि पति का किसी नर्तकी से संबंध हो, तो उन्हें इससे आनंद ही होता है । उनकी सहिष्णुता यहीं समाप्त नहीं होती । पति के छोटे-मोटे स्खलनों को हँस कर टाल दिया जाता है और उसके बड़े व्यसनों को पौरुष का लक्षण मान लिया जाता है । नर्तकियों को समाज का कलंक नहीं बल्कि नगर की शोभा माना जाता है । किसी भी नगर के वैभव और महत्व का अंदाज़ उसमें बसने वाली गणिकाओं की संख्या और समृद्धि से लगाया जाता है । धर्मभावना से उत्पन्न किये हुए और समाज से अंगीकृत किये हुए इस गणिकावर्ग को पापी मानने की अपेक्षा पाप का परिणाम या परिस्थितियों का शिकार मानना ही अधिक योग्य होगा । दुर्भाग्य की पराकाष्ठा तो यह है कि अनेक कन्याओं के भविष्य में गणिकावृत्ति का कलंक उनके माता-पिता उनके जन्म से पहले ही लिख देते हैं ।''

संगीत, नृत्य आदि कलाओं से सर्वथा अपरिचित धार्मिक गणिकाओं का एक वर्ग भी दक्षिण भारत में पाया जाता है । उन्हें अकसर पारिवारिक परिस्थितियों के कारण गणिका बनना पड़ता है । शूद्र जाति की स्त्रियाँ पुत्रजन्म न होने पर पुत्री को देवार्पित कर देती हैं और इससे उसे पुत्र के अधिकार मिल जाते हैं ऐसा मान लिया जाता है । इहलोक के सुखों का बलिदान देकर परलोक में सुख प्राप्त करने की कल्पना ने हिंदू जाति में अत्यंत गहरी जड़े जमा ली हैं । पुत्र को नरक से तारने वाला माना जाता है । पिंडदान, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि क्रियाएँ न होने पर जीव की सद्गति नहीं होती इस मान्यता ने अनेक विचित्र रिवाजों को जन्म दिया है । साधारणतया पुत्री को ये सब विधियाँ करने का अधिकार नहीं होता । परंतु पुत्री का विवाह न करते हुए उसे देवार्पित कर देने से उसे पुत्र के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं यह मान कर निपुत्रिकता के पाप से बचने की कोशिश को अंध-श्रद्धा की पराकाष्ठा ही कहना होगा । दक्षिण भारत में पुत्र भाव से देवार्पित की हुई 'बसवी' नामक गणिकाओं का वर्ग इसी श्रद्धा ने उत्पन्न किया था । परंतु लोग यह भूल जाते हैं कि श्राद्ध तर्पणादि पुरुष के अधिकार प्राप्त हो जाने पर भी स्त्री का स्त्रीत्व और उसके देह-धर्म नष्ट नहीं हो जाते । इसका एक ही परिणाम निकलता है और 'बसवी' के नाम से परिचित यह वर्ग धर्म की छाप धारण करने वाली निकृष्ट कोटि की गणिकाओं के सिवा और कुछ नहीं रह जाता ।

मद्रास के बेल्लारी और कर्नाटक के धारवाड़ जिलों में और इन दोनों जिलों से लगे हुए माइसोर रियासत के प्रदेश में 'बसवी' की प्रथा अब तक चली आ रही है । सन् १८९२ में फॉसेट नामक विद्वान ने इस प्रथा का विशेष अध्ययन किया था । अर्पणविधि में मामूली फर्क होने पर भी, परिणाम की दृष्टि से यह प्रथा देवदासी प्रथा से अत्यंत मिलती-जुलती है । मि. फॉसेट के वर्णनों से निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है: ''बालिका के माता-पिता उसे बाजे-गाजे के साथ समारोहपूर्वक मंदिर में ले जाते हैं । कन्या को

सफेद कपड़े पहनाये जाते हैं । एक थाल में दो सेर चावल, पाँच नारियल, पाँच पान, पाँच सुपारी, पाँच केले, हल्दी की पाँच गाँठें, रोली, कपूर, एक सोने का मंगल सूत्र, चाँदी की दो चूड़ियाँ और दो बिछुए रख कर साथ ले जाया जाता है । इसके बाद देवार्पण की धार्मिक विधि शुरू होती है । पुरोहित के कहे अनुसार देवता की मूर्ति और कन्या को मंदिर के एक कोने में ले जाया जाता है । कन्या को काले रंग के कंबल पर पूर्वाभिमुख बैठाया जाता है । उसके दाहिने घुटने पर दाहिनी कोनी टिका कर हथेली पर उसका सिर झुका दिया जाता है । उसके सामने अक्षत, पाँच नारियल, पाँच टके और रोली, हल्दी आदि पूजाद्रव्य रखे जाते हैं । फिर कलावे से बाँध कर एक पान उसकी कलाई पर बाँध दिया जाता है । इसे 'कंकणम्' कहते हैं । कंकणम् बाँधने की विधि किसी अनुभवी 'बसवी' के हाथों कराई जाती है ।

''इसके बाद विवाह के मंगलगीत गाये जाते हैं और सुहागिन स्त्रियाँ कन्या पर अक्षत-कुमकुम छिड़कती हैं और सोने का मंगलसूत्र उसके गले में पहनाती हैं । मंगलसूत्र के लटकन पर विष्णु की मूर्ति अंकित रहती है । कन्या के पाँव की अंगुलियों में बिछुए पहनाये जाते हैं । विवाहित जीवन के ये दोनों सौभाग्यचिह्न 'बसवी' आजीवन पहने रहती है । इसके बाद उसके दाहिने हाथ में दंड और बायें हाथ में कमंडल दिया जाता है । फिर दाहिने हाथ और छाती के दाहिने भाग पर चक्र की और बायें हाथ एवं बायीं छाती पर शंख की छाप लोहे की गरम सलाखों से गोदी जाती है । इसके बाद कन्या के ललाट पर कुमकुम का लेप करके उसके आँचल में चावल, दो नारियल, पान, सुपारी और हल्दी की गाँठें बाँधी जाती हैं । इस प्रकार गोद भर कर उससे तीन बार मंदिर की प्रदक्षिणा करवाई जाती है और देवप्रतिमा के सामने उसका मस्तक झुकवाया जाता है । फिर कंगलों को दान और ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती है । पुरोहित को विशेष रूप से गुरुदक्षिणा दी जाती है और वह 'बसवी' के कान में गुरुमंत्र पढ़ता है । इसके बाद रामकृष्ण गोविंद की धुन के साथ समारोह समाप्त हो जाता है । नवदीक्षिता 'बसवी' पाँच सप्ताह तक दंड कमंडल लेकर 'रामकृष्णगोविंद' का नामोच्चार करती हुई गाँव भर में भिक्षा माँगती है । पाँच सप्ताह के बाद वह स्थायी रूप से 'देवपरिणीता बसवी' बन जाती है ।

''युवावस्था प्राप्त होने पर बसवी की 'हेम क्रिया' होती है । यह उसके कौमारभंग की धार्मिक विधि है । मंदिर को अधिक से अधिक धन देने वाले पुरुष को ही यह अधिकार मिलता है । इसके लिए मुहूर्त देख कर शुभ दिन निश्चित किया जाता है । कन्या को तैल स्नान कराया जाता है और उसके हाथ में एक तलवार दी जाती है जिसकी नोक पर नीबू बिंधा रहता है । यदि वह नर्तकी बनना चाहती हो, तो उसके पास एक मृदंग रखा जाता है । जलकलश और दीपक से उसकी आरती उतारी जाती है । इसके बाद उसे देवता की प्रतिमा के समक्ष ले जाकर उसकी तलवार देवार्पित कराई जाती है । 'हेमक्रिया' की यह धार्मिक विधि रात को बड़ी देर से पूरी होती है । इसके बाद पूर्व नियोजित धनदाता को देहार्पण करके 'बसवी' भविष्य में अनिर्बंध देह-व्यापार करने का अधिकार प्राप्त कर लेती है ।

'बसवी का मंदिर-संबंधी कर्तव्य आसान नहीं होता । दिन का बहुत बड़ा भाग विविध प्रकार की सेवाओं में बीतता है । उसे मंदिर में ही रहना पड़ता है, शनिवार और अन्य पर्वों के दिन उपवास करना पड़ता है और देवमूर्ति के समक्ष एवं जुलूसों में नृत्य करना पड़ता है । विवाहिता स्त्रियाँ बसवी को पूज्य मानती हैं क्योंकि विष्णु के पवित्र चिह्न शंख चक्र उसकी देह पर अंकित रहते हैं और वैधव्य उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता । कभी-कभी बड़ी उम्र की स्त्रियों और बालिग स्त्रियों को भी 'बसवी' बनाया जाता है । इस हालत में और सब धार्मिक विधियाँ समान रूप से होती हैं, सिर्फ शंख चक्र की छाप उसके वक्ष पर न गोदते हुए सिर्फ हाथों पर गोदी जाती है । कांचीपुरम् के जुलाहों की ककटिया नामक जाति में भी सबसे बड़ी पुत्री को देवार्पित करके देवदासी बना दिया जाता है, जबकि माइसोर की किल्लेक्याट, मडीगा, डोम्बार, नड्डा, बेडा, कुरुबा, गोल्ला आदि जातियों में कन्या को देवार्पित करके बसवी बनाने की प्रथा है । अर्पण विधि और उपचार में मामूली फर्क होने पर भी इन दोनों प्रथाओं में देवार्पण की भावना समान रूप से पायी जाती है । गणिकावृत्ति में परिणत होने वाली ये दोनों-प्रथाएँ और सब दृष्टियों से भी बिलकुल समान दिखाई देती हैं ।

३
रिवाजों की विविधता

हम देख चुके हैं कि देवार्पण की किसी भी प्रथा में कानून की दृष्टि से सबसे बड़ी अड़चन सम्मति देने की उम्र के प्रश्न को लेकर खड़ी होती है । बंगाल की फूलमणिदासी नामक नाबालिग बालिका की मृत्यु के बाद 'सम्मतिवय' का कानून भारत के सभी भागों में कुछ कठोर कर दिया गया था । 'बसवी' बनायी जाने वाली लड़कियाँ नाबालिग होती थीं । अत: उनके माता-पिता को इसके लिए मैजिस्ट्रेट या पुलिस अधिकारियों की अनुमति लेनी पड़ती थी । इसके लिए की जाने वाली अरज़ी का एक नमूना देख लेना योग्य रहेगा । एक प्रार्थी ने लिखा: ''मेरी दो पुत्रियाँ हैं । एक पंद्रह वर्ष की और दूसरा बारह की । मेरे कोई पुत्र नहीं है; अत: हमारी जाति ... प्रथानुसार और हमारे पुरोहित की आज्ञानुसार मैं अपनी पुत्रियों को देवता का मंगलसूत्र पहनाने की विधि .... मंदिर में करना चाहता हूं । मेरी पुत्रियाँ नाबालिग हैं; अत: सम्मतिवय के कानून के अनुसार सरकारी अधिकारियों या पुलिस के अफसरों द्वारा इस धार्मिक विधि में अड़ंगा लगाया जाने की संभावना है । मैं अदालत से दरख्वास्त करता हूं कि मुझे मेरी पुत्रियों को मंगलसूत्र पहनाने की धार्मिक क्रिया करने की अनुमति दी जाय ।''

धर्म और कानून की इससे क्रूर विडंबना और क्या हो सकती है ? अत: आधुनिक विचारधारा का प्रचार होने के साथ इन धार्मिक क्रियाओं और उनके साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ी हुई गणिकावृत्ति को मिलनेवाली सामाजिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर कम होती जायँ, यह स्वाभाविक है । एक ओर तो शास्त्रों का सदाचारपालन का उपदेश गणिकावृत्ति का प्रबल विरोध करता रहे और दूसरी ओर शास्त्रों का ही आधार लेकर धर्म या देवता के नाम पर देवदासी जैसी प्रथाओं का समर्थन होता रहे और वेश्यावृत्ति एवं अनाचार का राजमार्ग खुलता रहे, इसे हिंदू समाज की एक अत्यंत विचित्र विसंगति मानना होगा । धर्म के नाम पर और धर्माचरण की आड़ में कैसी-कैसी विकृतियाँ और अनवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं इसका देवदासी-संस्था से बढ़कर उदाहरण मिलना मुश्किल है । आश्चर्य की सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस देश में इस बीसवीं शताब्दी में भी देवदासियों का समुदाय एक अलग जाति के रूप में मान्यता पा सका: अपने रस्म-रिवाज और दत्तक-उत्तराधिकार विषयक कानूनों की विशिष्टता की रक्षा कर सका और अपने लिए अलग प्रकार के आचार-व्यवहार और शिष्टता के नियम गढ़ सका । अन्य जातियों के समान देवदासियों में भी जाति के मुखिया और पंचों की आज्ञा वेदवाक्य के समान मानी जाती थी । किसी विशिष्ट प्रकार के गणिकावर्ग का जाति के रूप में भी व्यवसाय या सामाजिक स्थिति की छोटी से छोटी विशिष्टता के बहाने अलग जाति का विकास करने में भारत जैसा सिद्धहस्त देश शायद ही कोई हो । आधुनिक युग की किसी संस्कृति के लिए इस बात की कल्पना करना भी मुश्किल होगा कि गणिकाओं और नर्तकियों का विवाह भी हो सकता है : और वह भी किसी और के साथ नहीं, बल्कि खुद भगवान या उनके किसी प्रतीक के साथ । यह विवाह और कहीं नहीं बल्कि प्रार्थना और पवित्रता के केन्द्ररूप देवालयों में हो सकता है यह बात भी आज की दृष्टि को कम आश्चर्यजनक दिखाई नहीं देगी । ये स्त्रियाँ अपने आपको सदा-सुहागन मान कर मंगलसूत्र पहनें, जनगणना की प्रश्नावलियों में अपने आपको विवाहिता घोषित करें, और शिष्ट समाज की कुलस्त्रियों के साथ समानता का दावा करें, ये सारे तत्त्व भी आज की वैज्ञानिक दृष्टि को विचित्र दिखाई दे सकते हैं ।

हम देख चुके हैं कि देवदासियों के पुत्रों और पुत्रियों को उत्तराधिकार में संपत्ति का समान भाग मिलता है। इस रिवाज को हिंदू धर्मशास्त्रों की मान्यता प्राप्त नहीं है। देवदासियों के पुत्र अकसर अपनी जाति में ही रहते हैं और नर्तकियों के वाद्यकार या छोटी बालिकाओं के नृत्य-संगीत के शिक्षक के रूप में जीवनयापन करते हैं। कुछ पुरुष रूपगुण की कमी के कारण देवदासी न बन पानेवाली स्वजाति की युवतियों के साथ विवाह कर लेते हैं। इस हालत में उन्हें जाति में रहने का कोई आकर्षण नहीं रहता; अतः वह जाति से बाहर रहकर और 'पिल्लई', 'मुदली' जैसे वंशनाम धारण कर के जन्म के कलंक को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग 'मेलाक्कार' नामक पेशेवर संगीतकारों की जाति में सम्मिलित हो जाते हैं और दोनों तरफ पाँव रखना चाहने वाले लोग अपने आपको 'वेल्लाला' या 'केइकोला' जाति का घोषित कर देते हैं। अधिकांश देवदासियों की भरती इन्हीं दो जातियों में से होती है। अतः आवश्यकता पड़ने पर उनकी पुत्रियों के लिए देवदासी बनने का मार्ग खुला रहता है। धनवान देवदासियों के पुत्र कभी-कभी शिष्ट समाज के साधनसंपन्न परिवारों में भी विवाहित होते देखे गये हैं; परंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

देवदासियों की, बचपन से ही रूप-गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ दिखाई देने वाली कन्याओं को छोटी उम्र में ही नृत्य-संगीत की शास्त्रोक्त शिक्षा देना शुरू कर दिया जाता है। कुछ बड़ी होने पर वस्त्र-विन्यास, शृंगार-प्रसाधन, हावभाव प्रदर्शन और कामोपचार की सर्वांगीण शिक्षा भी उन्हें दी जाती है। आगे चल कर वे पुरुषों के लिए दुर्निवार्य प्रलोभन क्यों सिद्ध होती हैं, इसका उत्तर इस कलासाधना में ही ढूंढा जा सकता है। वाक्चातुर्य और रति कौशल्य की दृष्टि से पत्नी और गणिका के बीच का भेद कितना अधिक होता है, और इसके कारण क्या होते हैं, इसका विवेचन हम कर चुके हैं। किसी भी युग की सामाजिक परिस्थितियों में गृहिणी के लिए गृहकार्य, रसोई और बच्चों की देखभाल के बँधे हुए दायरे से बाहर निकलना सुकर नहीं होता। इस हालत में वैविध्यप्रेमी पुरुष के लिए कलावती गणिका नृत्य-संगीत, रूप सौंदर्य और उद्दीपक कामचेष्टाओं द्वारा रस और आनंद प्रदान करने वाली अक्षय्य निधि सिद्ध होती है। उपयोगिता के इस पहलू को छोड़ दें, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन संगीतशास्त्र और नृत्यकला को जीवित रखने की अनमोल सेवा इन नर्तकियों और मेलाक्कार वर्ग के संगीतज्ञों ने ही की है। उनके और कुछ ब्राह्मणों के सिवा शास्त्रीय संगीत की साधना दक्षिण भारत में शायद ही कोई करता है।



तमिल प्रदेश की देवदासियाँ अकसर दो वर्गों में विभाजित होती हैं: वलंगाई (दक्षिण मार्गी) और इदंगाइ (वाममार्गी)। दोनों के बीच का मुख्य भेद यह होता है कि वलंगाई नीची जाति के या मज़दूरीपेशा लोगों के साथ संबंध नहीं रखतीं और उनके घर नाचने-गाने भी नहीं जातीं; जबकि इदंगाई को ऐसा कोई विधि निषेध नहीं होता। जाति के सामान्य आचार को भंग करने पर दोनों को समान रूप से दंडित किया जाता है।

कोइम्बतूर की केइकोला नामक संगीतकार जाति में प्रत्येक परिवार में से कम से कम एक कन्या को आवश्यक रूप से देवार्पित करने की प्रथा होती है । नृत्य-संगीत की तालीम इन्हें भी बचपन से ही दी जाती है, परंतु इनकी अर्पणविधि 'बसवी' या अन्य प्रकार की देवदासियों की अर्पणविधि से कुछ भिन्न होती है । कन्या को सोने के आभूषण पहना कर चावल के ढेर पर खड़ा किया जाता है । दो दासियाँ उसके सिर पर चँदोवा ताने खड़ी रहती हैं । पास में ही नृत्य शिक्षक बैठा रहता है । वह लड़की के पाँव पकड़ कर दो-चार तालबद्ध ठुमकियाँ लगवा देता है और इसे शास्त्रीय नृत्यशिक्षा का आरंभ मान लिया जाता है । शाम को उसे घोड़े पर बैठा कर बाजे-गाजे के साथ मंदिर ले जाया जाता है जहाँ उसके लिए मंगलसूत्र, रेशमीवस्त्र और पूजाद्रव्यों की तैयारी पहले से ही रहती है । कन्या को मूर्ति के सामने बैठा कर पुरोहित उसके गले में मंगलसूत्र पहनाता है । इसके बाद वर्षों तक नृत्य-संगीत की शिक्षा चलती रहती है । उम्र होते ही उसे प्रथम-संभोग के लिए तैयार किया जाता है । धार्मिक विधि के बिना इस कार्य की पूर्ति हो ही नहीं सकती । अतः इस अवसर पर संबंधियों और इष्टमित्रों को निमंत्रित किया जाता है । कन्या का मामा सबके सामने उसे करधनी पहनाता है । फिर मंत्रपाठ और होम-हवन होता है । नर्तकी के कौमारभंग के लिए अकसर किसी धनाढ्य ब्राह्मण को ही निमंत्रित किया जाता है । धनिक ब्राह्मण न मिलने पर निर्धन भी चल सकता है : पर प्रथम-संभोग ब्राह्मण द्वारा ही होना चाहिये ।

देवता की ये दासियाँ कभी विधवा नहीं होतीं । अतः उनके मंगलसूत्र को मांगल्यसूचक और अखंड सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है । उनके हाथ से मंगलसूत्र बँधवाने को प्रतिष्ठित घरानों की स्त्रियाँ सदा उत्सुक रहती हैं इतना ही नहीं, उनके मंगलसूत्र में से एक काला मनका लेकर उसे अपने मंगलसूत्र में पिरोने में भी सुहागिनें धन्यभाग्य मानती हैं । ईश्वरार्पण हो कर अखंड सुहाग प्राप्त कर लेने के अनंतर अन्य क्षेत्रों में भी उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन और असगुन-निवारक माना जाता है । विवाह की बारातों में और धार्मिक जुलूसों में उन्हें अग्रस्थान दिया जाता है । उनकी उपस्थिति के अभाव में उत्सव-समारोह की या धार्मिक महत्व की कोई भी क्रिया परिपूर्ण नहीं मानी जाती । किसी दासी की मृत्यु हो जाने पर कुछ दिनों तक उस मंदिर में पूजा नहीं होती और उसके पति होने के नाते देवता को बारह दिन तक अशौच-पालन करना पड़ता है ।

त्रावनकोर प्रदेश की देवदासियों का अलग विचार होना आवश्यक है । कार्तिकपल्ली, अंबालापुझा, शर्वल्ली आदि देवदासियाँ त्रावनकोर और मलबार के समुद्रतट की जातियाँ हैं । इस वर्ग में पांड्य प्रदेश की देवदासियों का भी समावेश होता है । परंतु त्रावनकोर की तेवडियल, कुडीक्कर या पेन्डुगल जाति की दाक्षिणात्य देवदासियों के मुकाबले में उन्हें कुछ हीन और विदेशी माना जाता है । गणिकाओं में भी देशी-विदेशी का भेद करना, और धर्म, ईश्वर या देशाभिमान के नाम पर उनमें ऊँचनीच का भाव स्थापित करना पतिताचार को और भी अनियंत्रित बनाने का एक बहानामात्र है । किसी युग में केरल प्रदेश की इन नर्तकियों के नृत्य-संगीत की समाज में इतनी अधिक कद्र होती थी कि अपने फन में निपुण देवदासियों को राजा की ओर से 'रायर' की उपाधि दी जाती थी । त्रावनकोर प्रदेश की ये नर्तकियाँ अपने आपको अन्य देवदासियों से श्रेष्ठ मानती थीं और तमिल प्रदेश की देवदासियों के साथ उनका रोटी-बेटी व्यवहार भी नहीं होता था । कुलीनता की भावना उच्चवर्णीयों का ही एकाधिकार नहीं है । अकसर नीची से नीची जातियाँ भी अपने आपको कुछ और भी नीची जातियों से श्रेष्ठ मान कर संतोष अनुभव करती हैं । ये दासियाँ नायर परिवारों की विशिष्ट शाखाओं में से ही आती हैं और निस्संतान होने पर इन्हीं शाखाओं की कन्याएँ गोद लेती हैं । मंदिरों के सिवा वे और कहीं नृत्य नहीं करतीं, और तमिल प्रदेश की देवदासियों की तरह विवाहादि अवसरों पर किसी के यहाँ गाने-नाचने भी नहीं जातीं । इन सब निर्बंधों के कारण उनके मन में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न हो जाती हो, तो आश्चर्य की बात नहीं ।

वृद्धावस्था या अन्य किसी कारण से नृत्यगीत के लिए अनुपयुक्त हो जाने पर ये नर्तकियाँ मंदिर के



सेवाकार्य से निवृत्त हो जाती थीं। निवृत्ति के प्रतीकरूप उन्हें अपने 'तोडु' (कर्णकुंडल) का त्याग करना पड़ता था। इसके लिए भी विस्तृत धार्मिक-विधि आवश्यक मानी जाती थी। कुंडलत्याग की क्रिया राजा के महल में उच्च अधिकारियों की उपस्थिति में होती थी। वृद्धा देवदासी चौकी पर बैठ कर कुंडल उतार देती थी और बारह स्वर्णमुद्राओं की भेंट के साथ उन्हें मंदिर के अर्पण कर देती थी। इसके बाद तेज़ी से घूमकर, उतारे हुए कुंडलों पर दोबारा नज़र डाले बिना वह महल से चली जाती थी। इसके बाद वह अन्य नर्तकियों की माता का स्थान लेकर निवृत्त जीवन व्यतीत करती थी। मुद्राओं की भेंट मंदिर के कोष में जमा करके नर्तकी के कुंडल उसे वापस लौटा दिये जाते थे, परंतु वह उन्हें फिर से धारण नहीं कर सकती थी। निवृत्त होने पर, मंदिर से उसे मिलने वाले वेतन में भी कुछ कमी कर दी जाती थी।

केरल प्रदेश के मंदिरों की देवदासियों में अकसर दो प्रकार पाये जाते थे। (१) नित्य की धार्मिक क्रियाओं और नृत्य के लिए नियुक्त स्थायी देवदासियाँ; (२) नैमित्तिक कार्यों के लिए आमंत्रित नर्तकियाँ। उत्सवों और जुलूसों में सम्मिलित होने के लिए या राजदरबार या विवाहादि अवसरों पर नृत्य करने के लिए अस्थायी रूप से नियुक्त की जाने वाली नर्तकियों का समावेश दूसरे वर्ग में होता था। जिस देवालय में नर्तकी की नियुक्ति होती थी उसीके देवी-देवता उसके इष्टदेव बन जाते थे। प्राय: सभी फिरकों की देवदासियों को ओनम, शिवरात्री, पोंगल, दीपावली, चैत्री पूर्णिमा इत्यादि पर्वों का व्रत उपवासादि से पालन करना पड़ता था। इस प्रदेश की दवदासियों के लिए मंदिर में अर्पित होना या विवाह करके गृहस्थी बसा लेना ऐच्छिक होता था; किन्तु विवाह केवल स्वजाति में ही किया जा सकता था। इस जाति में तलाक भी आसानी से मिल सकता था और विवाह-विच्छेदिता स्त्रियों का पुर्नविवाह भी आसानी से हो जाता था। ऋतुप्राप्ति के बाद कोई कन्या देवार्पित नहीं हो सकती थी।

अर्पण-विधि अन्य प्रदेशों की रूढ़ि से मिलती-जुलती होती थी। केवल छ: से आठ वर्ष तक की कन्याएँ ही देवार्पित हो सकती थीं। किसी देवदासी का मंदिर में स्वीकार करने से पहले मंदिर की प्रधान देवदासी को मंदिर के संचालकों की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। अनुमति देने से पहले संचालकगण कन्या के संबंध में छानबीन करते थे। अनुमति मिल जाने पर देवार्पण की लंबी और उलझनभरी धार्मिक विधि होती थी जिसकी मुख्य विशिष्टता यह होती थी कि उसे शिव-पार्वती के विवाह का रूप दिया जाता था। शिव का स्थान लेने के लिए कोई ब्राहमण न मिल सके, तो मंदिर की कोई बड़ी उम्र की देवदासी ही शिव का स्वाँग धारण करके पतिस्थान ग्रहण करती थी। इसके बाद दोनों को जुलूस के रूप में नगर भर में घुमाया जाता था। पुत्र जन्म को इस जाति में आनंद का प्रसंग नहीं माना जाता था। उत्तराधिकार पूर्णत: स्त्री की वंशपरंपरा में जाता था। समाज की पूरी व्यवस्था मातृसत्तामूलक होती थी और स्त्रियों की संपत्ति पर स्त्रियों का ही एकाधिकार होता था। दत्तक सिर्फ कन्या ही ली जा सकती थी। दत्तक विधान के लिए लंबे कर्मकांड की आवश्यकता पड़ती थी। दत्तक और उत्तराधिकार के सारे कानून स्त्री के ही प्राधान्य पर आधारित रहते थे।

४

मध्य-भारत में

उत्तर भारत की अस्थिर परिस्थितियों और दक्षिण भारत के हिंदू महाराज्यों की सुस्थापित प्रथाओं का विचार करते समय मध्य भारत को भुला देना योग्य नहीं होगा। भौगोलिक और धार्मिक, दोनों दृष्टियों से भारत अत्यंत प्राचीन युग से एक ही इकाई रहा है। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में अरब और चीनी व्यापारी भारत के पश्चिमी तट पर बड़ी संख्या में आते रहते थे। इनमें का चाऊ-जू-क्वा नामक चीनी यात्री तत्कालीन गुजरात का वर्णन करते हुए लिखता है: ''गुजरात में चार हजार बौद्ध मंदिर हैं। इन मंदिरों में बीस हजार नर्तकियाँ रहती हैं। बुद्ध मूर्ति को धूप-दीप और नैवेद्य धरते समय, दिन में दो बार नर्तकियों

का गीत नृत्य होता है ।'' यह वर्णन कुछ भ्रामक और अतिरंजित मालूम देता है । गुजरात प्राचीनकाल से ही व्यापार की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण प्रदेश रहा है । इस व्यापार-प्रधान प्रदेश में बुद्धमंदिरों और नर्तकियों की यह विपुल संख्या आश्चर्य उत्पन्न करती है । दूसरे, बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म इस हद तक प्रचलित नहीं रहा था । इस वर्णन के अंशत : का स्पष्टीकरण केवल इस अनुमान के सहारे किया जा सकता है कि प्रतिमा और पूजाविधि के साम्य के कारण इस चीनी यात्री ने वैष्णव देवालयों को बौद्ध मंदिर मान लिया होगा । बौद्धयुग के अस्तकाल में बुद्धमंदिरों के साथ नर्तकियों का संबंध स्थापित हो चुका था ऐसा अंदाज भी इस वर्णन के सहारे लगाया जा सकता है । अरबों के साथ के समुद्री व्यापार के कारण गुजरात पर मुस्लिम प्रभाव तो भारत पर इस्लाम के आक्रमण से पहले भी कुछ हद तक पड़ चुका था । महमूद गजनवी की अंतिम सवारी गुजरात के सोमनाथ मंदिर पर ही हुई थी । वल्लभीपुर का नाश इससे कुछ पहले हो चुका था और तेरहवीं शताब्दी के अंत तक तो गुजरात पर मुसलमानों का राज्य दृढ़ता से स्थापित हो चुका था । इन सब कारणों से देवार्पित गणिकासंस्था का गुजरात में विकास नहीं हुआ । उस युग में ऐसी इक्का दुक्का घटनाएँ हुई भी हों; परंतु आधुनिक युग में यह प्रदेश इस संस्था से नितांत अपरिचित रहा है ।

परंतु गुजरात के दक्षिण का, अरब सागर का तटवर्ती प्रदेश और पूर्वी किनारे के प्रदेशों में देवालयों के साथ गणिकावृत्ति का अत्यंत घनिष्ठ संबंध विकसित हुआ जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक चला । विन्ध्य से दक्षिण के समूचे प्रदेश का अध्ययन हम कर चुके हैं । टेवर्नियर नामक सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी पर्यटक ने मध्य भारत के गोलकोण्डा शहर का वर्णन इस प्रकार किया है: — ''दारोगा के दफतर में बीस हजार गणिकाओं के नाम दर्ज हैं । हर शुक्रवार को राजदरबार में उनका नृत्य होता है । शाम होते ही ये गणिकाएँ राह चलते पुरुषों को आकर्षित करने के लिए दरवाजों पर खड़ी हो जाती हैं । दीयेबत्ती का समय होते ही नगर के सारे मद्यालय खुल जाते हैं । गणिकाओं पर किसी प्रकार का राज्यकर नहीं लगाया जाता । गणिकाओं के कारण शराब की खपत बहुत बढ़ जाती है और शराब बेचने का ठेका सरकार के हाथ में है जिससे बहुत अधिक आय होती है । इस कारण से गणिकाओं से अतिरिक्त कर लेने की शासन को आवश्यकता ही नहीं रहती ।'' इस वर्णन में गणिकाओं के देवालयों के साथ के संबंध का कोई उल्लेख नहीं है; परंतु अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये गणिकाएँ फुरसद के समय मंदिरों में भी नृत्य करती थीं ।

तेलुगु-भाषी आन्ध्र प्रदेश के अधिकांश भाग का समावेश निज़ाम के राज्य में होता था । देहली की सल्तनत की दुर्बलता से लाभ उठाने वाले मुस्लिम सूबेदारों में निज़ाम सब से बढ़कर रहा । इसकी स्थापना को दो सौ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ । निज़ामी सल्तनत से पहले इस प्रदेश पर बहमनी वंश के शासकों का राज्य था । हम देख चुके हैं कि ये शासक इस्लाम की धर्मांधता के उतने कायल नहीं थे । अतः कई शताब्दियों के मुस्लिम शासन के बावजूद इस प्रदेश में हिंदू धर्म और संस्कृति के अनेक प्रभाव अछूते बचे रहे थे । देवार्पित गणिकाओं की प्रथा तो इस प्रदेश में अभी कुछ वर्ष पहले तक प्रचलित थी और उसके कुछ अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं । यहाँ उन्हें 'बोगम' कहा जाता है । 'बोगम' हिंदू भी हो सकती हैं और मुसलमान भी । हिंदू बोगमों के नाम के अंत में 'सानी' या 'नायका' प्रत्यय लगाया जाता है जबकि मुसलमान बोगमों के नाम 'जान' से समाप्त होते हैं । शिव या विष्णु के मंदिरों को अर्पित होने वाली ये स्त्रियाँ देवदासियों का ही एक प्रकार हैं । वे नाचने-गाने और गणिकावृत्ति के सहारे ही जीवनयापन करती हैं । हिंदू बोगमों का कृष्ण के मूर्ति के साथ विवाह किया जाता है । इस अवसर पर कन्या के माता-पिता घर के सामने सोलह स्तंभों वाला मंडप बनवाते हैं । जिस देवालय को कन्या अर्पण करनी हो, वहाँ से कृष्ण की मूर्ति बाजे-गाजे के साथ बरात निकाल कर मंडप में लायी जाती है और विवाहविधि बड़ी धूमधाम से संपन्न होती है । कन्या को मूर्ति के सामने खड़ी करके दोनों के बीच में रंगीन वस्त्र का पटांतर खींच दिया जाता है । पुरोहित मंगलाष्टक पढ़ते हैं और गृहस्थों के विवाह की सी सारी क्रियाएँ विधिपूर्वक की

जाती हैं । अखंड सुहाग के लिए बोगमसानी से गौरीपूजन करवाया जाता है । एकत्रित गणिकाएँ विवाह के गीत गाती हैं और उनकी पानसुपारी एवं हल्दी-कुमकुम से खातिर की जाती है । इसके बाद बोगमसानी को आशीर्वाद देकर वे अपने-अपने गर चली जाती हैं । 'बोगमजान' या मुसलमान बोगमों की विवाहविधि में प्रधान अंतर यह होता है कि उनका विवाह मूर्ति के बजाय कटार के साथ होता है और गले में मंगलसूत्र के बजाय काले मनको की माला पहनायी जाती है । उत्तर-भारत की तवायफों की तरह वे मिस्सी भी लगाती हैं । दैवी शक्ति के साथ विवाहित होने के नाते बोगमों को सदा-सुहागन और शुभ-शकुन-सूचक माना जाता है । हिंदू बोगमों के इष्टदेव शिव-कृष्ण या गणेश होते हैं इनका संबंध शैव और वैष्णव, दोनों मतों के देवालयों के साथ होता है । दशहरे के दिन वे नये वस्त्रालंकार धारण करके अपने वाद्यों की पूजा करती हैं ।

आंध्र में इस प्रथा के मूल विभिन्न परिस्थितियों में ढूंढे जा सकते हैं । कन्या असाध्य रोग से पीड़ित हो, तो उसके प्राण बचाने के हेतु से माता-पिता उसे देवार्पित कर देने की मनौती मानते हैं । ईश्वर की अन्य किसी कृपा के बदले में भी आम तौर से देवार्पण की ही मनौती मानी जाती है । बोगमों का बहुत बड़ा भाग इस प्रकार देवार्पित की हुई लड़कियों से ही विकसित होता है । उनकी नृत्यसंगीत की शिक्षा कठिन और कष्टसाध्य होती है । सात या आठ वर्ष की उम्र से ही उन्हें नाचना-गाना सिखाया जाता है । बारह-तेरह वर्ष की आयु में तो इन कलाओं का उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं । बोगमें साधारण: चालीस वर्ष की उम्र तक नृत्य-संगीत और देह-विक्रय का पेशा करती हैं । देवार्पित बोगमों को देवता के भोग-नैवेद्य के समय मूर्ति के समक्ष नृत्य करना पड़ता है । शादी-विवाह और अन्य समारोहों में एवं सार्वजनिक जलसों में भी उनका नृत्य होता है । उनके वस्त्र अत्यंत कीमती होते हैं और स्वर्णाभूषणों से तो मानो उनका पूरा शरीर मढ़ा रहता है । उनके गीतों में अकसर राधा-कृष्ण की प्रणयलीलाओं का ही वर्णन होता है ।

दक्षिण महाराष्ट्र के रत्नागिरि और कर्नाटक के क़ानड़ा जिलों में एवं सावंतवाड़ी रियासत में देवार्पित स्त्रियों की एक शूद्र जाति होती है जिन्हें 'भावीण' या 'नायकीण' कहा जाता है । शूद्रों की किसी भी जाति की स्त्री को 'भावीण' बनना हो, तो देवालय के दिये का तेल सिर में लगा लेने मात्र से उसे इस जाति में प्रवेश मिल जाता है । रजोदर्शन होते ही 'भावीण' का देवता के साथ विवाह कर दिया जाता है । इस विधि को 'शेष' कहा जाता है । विवाह दो प्रकार से हो सकता है । या तो देवता वर का रूप धारण करके बाजे-गाजे के साथ बारात लेकर कन्या के घर आते हैं, या, कन्या के माता-पिता में इतना खर्च करने की शक्ति न हो तो कन्या को मंदिर में ले जाकर उसका विवाह कर दिया जाता है । विवाह के लिए शुभ दिन और शुभ मुहूर्त देखा जाता है; गणेशजी की स्थापना की जाती है और कन्या के घर ब्राह्मणों द्वारा पुण्याह-पठन भी होता है । मंदिर में होने वाली धार्मिक विधि 'गुरव' या 'राहुल' जाति के पुरोहित करते हैं । विवाह कन्या के घर होने वाला हो, तो मंदिर के पुजारी देवता का मुखौटा चेहरे पर लगा कर और देवता के प्रतीकरूप कटार या तलवार साथ लेकर बाजे-गाजे के साथ बरात चढ़ा कर कन्या के घर जाते हैं । इसके बाद विधिपूर्वक होम-हवन होता है और धार्मिक विधि पूरी हो जाने के बाद भोजन समारंभ भी होता है । विवाह की पूरी क्रिया इतनी हूबहू होती है कि अजनबी दर्शक को तो यह समारोह देख कर यही मालूम देगा कि किसी का साधारण ढंग से विवाह हो रहा है । फर्क सिर्फ इतना होता है कि वर के स्थान पर देवता का मुखौटा या कटार रख दी जाती है ।

इस समारोह में काफी खर्च होता है । अत: जो लोग इतना खर्च नहीं कर सकते वे, जैसा की ऊपर कहा जा चुका है, घर पर कन्या से गणेशजी का पूजन करवा कर बाजे-गाजे के साथ उसे मंदिर में ले जाते हैं । उसकी गोद में एक नारियल और मिसरी की पोटली रखी जाती है । बरातियों के रूप में पुरानी भावीणें, मंदिर के पुजारी और नौकर-चाकर होते हैं । मूर्ति के समक्ष श्रीफल और मिसरी की पुड़िया रख कर कन्या नमस्कार करती है । 'गुरव' आशीर्वचन उच्चरित करते हैं और विवाह संपन्न हुआ मान लिया

जाता है । इसके बाद कुछ दिनों तक भावीण को मंदिर की सफाई करने का, लीपने-पोतने का और देवता पर पंखा-चंवर दुलाने का काम सौंपा जाता है । अन्य देवदासियों की तुलना में भावीण की सबसे बड़ी विशिष्टता यह होती है कि वह सार्वजनीन समारंभों में नाचने-गाने का काम नहीं करती । इस वर्ग के पुरुषों को 'देवली' कहा जाता है । ये नर्तकियों के साथ वाद्य बजाने का और मंदिर के नौबत-नगाड़े बजाने का काम करते हैं । 'भावीण' की पुत्रियाँ या तो माता के कदमों पर चल कर देवार्पित नर्तकियाँ बन जाती हैं या किसी 'देवली' पुरुष के साथ विवाह करके गृहस्थी बसा लेती है ।

उत्तर कर्नाटक, कोल्हापुर के आसपास के प्रदेश और दक्षिण महाराष्ट्र की रियासतों में 'दास' नामक एक जाति होती है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों देवार्पित हो सकते हैं । इतना ही नहीं, देवार्पित स्त्रियों की अपेक्षा देवार्पित पुरुषों की संख्या अधिक होती है । 'दास' स्त्रियाँ देवार्पित होने पर भी मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश नहीं कर सकतीं । वे केवल बाहरी आंगनों को झाड़ने-बुहारने का काम करती हैं । उनका गुज़ारा अधिकांश में गणिकावृत्ति से ही चलता है ।

भारत के पूरबी तट पर जगन्नाथजी का इतिहास-प्रसिद्ध मंदिर है । जगन्नाथपुरी को चार धामों में से एक और मोक्षदायिनी अयोध्या-मथुरा-काशी-अवन्तिका आदि सप्तपुरियों में से एक माना जाता है । जगन्नाथ के विशाल रथ के नीचे कुचले जा कर मोक्ष प्राप्त करने की उत्सुकता ने जगन्नाथ को विदेशियों की नज़र में एक महा भयानक और मनहूस देवता सिद्ध किया है; यद्यपि हिंदू नज़रों में वे सृष्टि के प्रतिपालक विष्णु का ही प्रतिरूप हैं । मंदिर की दीवारों पर एक संभोगासनों का शिल्प विदेशियों को ही नहीं, स्वदेशियों को भी दिङ्‌मूढ़ कर देता है । उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में एक ईसाई पादरी ने इस पुराण-प्रसिद्ध मंदिर का वर्णन इन शब्दों में किया है: "देवता के समक्ष नाचने-गाने के लिए चरित्रहीन स्त्रियों की एक फौज की फौज मंदिर की सेवा में रखी जाती है । ये स्त्रियाँ मंदिर के इर्दगिर्द के मोहल्लों में रहती हैं और अत्यंत घृणित प्रकार की वेश्यावृत्ति से गुज़ारा करती हैं । जगन्नाथ के दर्शन करने को आनेवाले अनगिनत यात्री इनके संसर्ग से दूषित होते हैं । तीर्थ क्षेत्र के पंडे-पुजारी तो इनके साथ व्यभिचार में आकंठ डूबे रहते हैं ।"

मध्यभारत की 'कसबी' नामक जाति में भी धार्मिक गणिकावृत्ति व्यापकता से पायी जाती है । कन्या के यौवन में पदार्पण करते ही उसकी माता उसके प्रथम-समागम के लिए कोई धनाढ्य व्यक्ति ढूंढ निकालती है । इसके बाद उसके विवाह की तैयारी शुरू हो जाती है । पाँच दिनों तक उसे तेल-हलदी और उबटन लगा कर नहलाया जाता है और जाति के लोगों की ज्योनार की जाती है । फिर हाथ में कटार लेकर वह अग्नि के चारों ओर सात फेरे फिरती है । इसके बाद प्रथम समागम के लिए पसंद किया हुआ पुरुष उसके ललाट पर सिंदूर की बिंदी लगाता है और सात बार उसकी ओढ़नी उसके सिर पर ढँकता है । उसकी विवाहिता पत्नी के रूप में रहने के लिए कसबी कम से कम एक रात के लिए उसके घर जाती है । पुरुष की इच्छा होने पर वह उसे चाहे जितने दिन अपने घर रख सकता है; परंतु वहाँ से छुट्टी मिलते ही उसे साधारण वेश्या की तरह देह-विक्रय करने का स्वातंत्र्य मिल जाता है । इसमें बंधन एक ही होता है कि प्रथम समागम के लिए नियत पुरुष 'कसबी' जाति का ही होना चाहिये । हम देख चुके हैं कि यह शब्द अरबी के 'कसब' शब्द से बना है जिसका अर्थ 'पेशा' होता है । उत्तरी भारत में इस शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट जाति का ही नहीं, बल्कि गणिकामात्र के लिए होता है ।

वेश्यावृत्ति करने वाली कसबी स्त्रियाँ आसानी से पहचानी जा सकती हैं । उनके भड़कीले वस्त्र, कलाबत्तू की जूतियाँ और कीमती आभूषण उनके पेशे की मानो घोषणा करते रहते हैं । इनमें की कुछ अत्यंत धनाढ्य होती हैं । इनकी एक विशिष्टता यह होती है कि ये देह को पूर्णत: ढँके रहती हैं और किसी प्रकार का भद्दा प्रदर्शन नहीं करतीं । शायद इसी प्रकार की पण्यांगनाओं को देख कर कुछ विदेशियों की यह राय हुई होगी कि हिंदोस्तान की तो गणिकाएँ भी पाश्चात्य स्त्रियों की अपेक्षा अधिक मर्यादाशील ढंग से वस्त्र-परिधान करती हैं । अलबत्ता, यह तो मानी हुई बात है कि शरीर को पूरे तौर से ढँक कर भी



देहसौष्ठव और अंगविशेष के उठाव को अधिक आकर्षक और उद्दीपक बनाया जा सकता है। देह विक्रय करने वाली ये स्त्रियाँ मर्यादाशीलता की आड़ में उपरोक्त नियम को ही चरितार्थ करती हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। पुरुष को प्रलोभन में डालना उनका पेशा होने पर इसके लिए उन्हें दोष भी कैसे दिया जा सकता है?

'कसबी' गणिकाओं के नृत्यगीत में अकसर तबला, सारंगी और मजीरे की साथ होती है और पाँवों में घुंघरु तो अत्यावश्यक होते हैं। संगीत या नृत्य का आरंभ करने से पहले कसबी गणिकाएँ सरस्वती-वंदना करती हैं और तानसेन की याद करके कान पकड़ती हैं। इस महान संगीतज्ञ के घराने में विकसित होने वाली संगीत की विशिष्ट परपरा में अर्धशिक्षित कसबी गलतियाँ कर सकती है और इससे तानसेन की आत्मा को दुख हो सकता है। शायद इसीलिए वह आरंभ में ही अपनी त्रुटियों को स्वीकार करके कान पकड़ कर माफी माँग लेती है। बसंतपंचमी के दिन वे अपने वस्त्राभूषण और वाद्यों की अक्षत, पुष्प और श्रीफल से पूजा करती हैं।

गणिकावृत्ति के लिए धार्मिक आडंबर बंगाल में शायद सबसे अधिक होता है। कसबी कौम की स्त्रियाँ वैष्णवी या बैरागिन का भेस बना कर धार्मिकता का बड़ा प्रभावी ढोंग करती हैं। देह-विक्रय का एक भी मौका वे नहीं चूकतीं और कमसिन लड़कियों को उड़ा कर वेश्यालयों में बेचना उनका मुख्य पेशा होता है। अनावश्यक बच्चों को मार देने में उन्हें तिलमात्र भी हिचकिचाहट नहीं होती।

देवदासी प्रथा के ये विभिन्न प्रकार अब बड़ी तेज़ी से विलुप्त होते जा रहे हैं। इनके विरुद्ध अनेकविध कानूनों की रचना हो चुकी है जिनकी पकड़ दिनोंदिन मज़बूत होती जा रही है। परंतु फिर भी ये सारी प्रथाएँ पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है। देवदासी-संस्था के अवशेष मद्रास, केरल, कर्नाटक, माइसोर, दक्षिण महाराष्ट्र और विशेष तौर से गोआ में आज भी जीवित दिखाई दे जाते हैं। उनके वर्तमान रूप में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हुआ है; परंतु उनका संपूर्ण निर्मूलन नहीं हुआ। अब हम पश्चिम भारत के, इस प्रथा से अपेक्षाकृत कम प्रभावित प्रदेशों का विचार करेंगे।

५
पश्चिम भारत में

धर्म के नाम पर अनीति का पेशा करने वाली जातियों से पश्चिमी भारत के गुजरात-महाराष्ट्र आदि प्रदेश भी नितांत अपरिचित नहीं रहे हैं। अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त होकर देवदासी प्रथा या उससे मिलती-जुलती संस्थाएँ इस प्रदेश में भी प्रचलित रही हैं। यहाँ ये मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित पायी जाती हैं: —

१. कलावंत (संगीत, नृत्य और वादन में प्रावीण्य प्राप्त करके इन कलाओं को ही अपना प्रधान व्यवसाय बनाने वाला वर्ग): देवालयों में राजाओं तथा धनाढ्य श्रेणियों के प्रासादों में नृत्य-संगीत का आयोजन इसी वर्ग की स्त्रियाँ करती हैं। इस वर्ग में अब भी कई सुप्रसिद्ध नर्तकियाँ पायी जाती हैं। उनके संस्कार, बुद्धिमत्ता और सौंदर्य अत्यंत उच्च कोटि के होते हैं। खानदानी तहज़ीब, सरल बर्ताव, मधुर वाणी और आदरातिथ्य की भावना का उनमें अत्यधिक विकास पाया जाता है। कलासाधना के उपरांत इस वर्ग की स्त्रियाँ किसी धनवान पुरुष के साथ संबंध बाँध कर विवाहिता पत्नी के जैसी एकनिष्ठा से रहती हैं। पिछले पचास-साठ वर्षों में गोआ और उसके इर्दगिर्द के प्रदेशों से आकर ऐसी अनेक कलावतियाँ बम्बई में बस गयी हैं। गाँव में वंशपरंपरा से प्राप्त देवालय की सेवाचाकरी परिवार की किसी वृद्धा के जिम्मे करके ये कलावतियाँ बम्बई

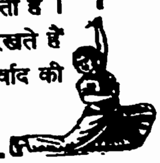
महानगर में स्थायी हो जाती है । छोटा-मोटा मकान ढूंढ कर आनुषंगिक रूप से नृत्य-संगीत का पेशा भी ये करती है: परन्तु उनके गुज़ारे का मुख्य स्रोत किसी धनाढ्य के साथ का संबंध ही होता है । बम्बई में धनपतियों की कोई कमी नहीं है: अत: इस प्रकार के संबंधों से उन्हें धनप्राप्ति प्रचुर परिमाण में हो जाती है । इसके परिणाम स्वरूप उनके पुत्र-पुत्री उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते है और बड़े होकर वकालत-डाक्टरी आदि प्रतिष्ठित व्यवसाय भी कर सकते हैं । इस हालत में कलंकित जीवन के साथ का उनका संबंध अपने आप टूट जाता है और वे सभ्य समाज में स्वीकृत होकर प्रतिष्ठित मध्यमवर्ग का जीवनयापन करने लगते हैं । दशाब्दियों से चली आनेवाली समन्वय की इस प्रक्रिया के कारण कलावतियों का यह वर्ग अब बड़ी तेजी से अदृश्य होता जा रहा है ।

२. नृत्य-संगीत की शिक्षा से विरहित देवदासियाँ: मंदिरों की सफाई करना: धूप, दीप, आरती इत्यादि की व्यवस्था करना, जुलूसों में देवता की पालकी उठाना आदि गौण काम अकसर इस वर्ग की स्त्रियाँ करती हैं । इन्हें 'भावीण' या 'देवली' के नाम से पहचाना जाता है । गोआ, सावंतवाड़ी और रत्नागिरि जिले में ये अधिक पायी जाती हैं ।

३. देवालयों के साथ नहीं के बराबर संबंध रखनेवाला दासी वर्ग: ये स्त्रियाँ पुराने ज़माने में युद्धों में कैद पकड़ी हुई दासियों की संतति है । इन्हें देवालयों में अर्पित कर दिया जाता था और भेंट-सौगात के रूप में भी दिया जा सकता था । कला से अनभिज्ञ होने के कारण और जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन उपलब्ध न होने के कारण ये प्राय: चौका-बरतन करके और देह-विक्रय करके अपना गुज़ारा करती हैं । दक्षिण महाराष्ट्र में इस वर्ग की स्त्रियों को 'कुणबिन' कहा जाता है ।

दक्षिण महाराष्ट्र की देवदासी-संस्था इन तीन वर्गों में विभाजित है । देवदासियों की अन्य जातियों में प्रचलित विवाह-विधि से मिलती-जुलती विधि इन तीनों वर्गों में भी की जाती है । फर्क सिर्फ इतना होता है कि इनमें देवदासी का विवाह मूर्ति या कटार या देववेशधारी पुरुष के साथ न करते हुए पुरुषवेशधारी किसी लड़की के साथ किया जाता है । पुरुष के साथ नाममात्र का भी विवाह होने पर वह विवाह के अधिकार जमाने की कोशिश करे ऐसी संभावना रहती है । देवदासी की दृष्टि से इससे बढ़ कर अधर्म की बात कोई हो ही नहीं सकती । अत: इस प्रथा का प्रधान हेतु इस संभावना से बचने का हो; ऐसा मालूम देता है । पुरुषवेशधारी लड़की के साथ सांकेतिक विवाह हो जाने पर उन्हें प्रथा पूरी करने का पुण्य भी मिल जाता है । और शेष जीवन के लिए मनमाना शरीरसंबंध करने की स्वतंत्रता भी मिल जाती है । 'शेष' नामक इस मंगलकार्य को वे अपने अनीतिमय पेशे का परम पुनीत और अनिवार्य कर्तव्य मानती हैं । गोआ, रत्नागिरि, सावंतवाड़ी और कारवार जिलों के गाँव-गाँव में बिखरी हुई इन नर्तकियों की संख्या पचास हजार से अधिक ही होगी । धर्म की आड़ में वेश्या-व्यवसाय के लिए निर्मित ये पण्यांगनाएँ उनकी स्थिति के अनुसार अलग-अलग नामों से पहचानी जाती हैं । खंडोबा नामक देवता को अर्पित देवदासी 'मुरली' और ज्योतिबा को अर्पित देवदासी 'जोगतिनी' कहलाती है । इसी प्रकार यल्लम्मा देवी को अर्पित नर्तकी 'जगदंबा' और अंबामाता को अर्पित नर्तकी 'आराधिनी' कहलाती है । इन संबोधनों के पीछे की मूल भावना चाहे जो रही हो, आज की दृष्टि से देखें तो 'जगदंबा' या 'आराधिनी' नामाभिधान वाली किसी युवती से वेश्यावृत्ति करवाने और उसे परम पवित्र धर्म-कार्य मानने से बढ़ कर धर्म-भावना की विडंबना और मनुष्य स्वभाव की विकृति और क्या हो सकती है ? मनुष्य की इस विचित्रता की तुलना राष्ट्रवाद के नाम पर होने वाले महायुद्धों की काटमार के सिवा उसकी और किसी मूर्खता से नहीं की जा सकती ।

समाज-जीवन के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में स्त्री की यह असहाय स्थिति एक भयावह सामाजिक रोग सिद्ध हो सकती है । वेश्याबाज़ार की अधिकांश माँग की पूर्ति इन्हीं संस्थाओं द्वारा होती है । गाँवों के अज्ञानी और भोले लोग देवदासियों को दैवी चिन्हों से अंकित मान कर उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं और उनकी पूजा करते हैं; उन्हें भेंट-दक्षिणा चढ़ाते हैं और उनके पाँवों में सिर झुका कर आशीर्वाद की



याचना करते हैं । परंतु सामाजिक मान्यता के इस बाह्य आवरण के पीछे स्त्री-जीवन की कैसी करुण शोकांतिका छिपी रहती है इसके दर्शन ऊपर-ऊपर से देखने पर नहीं होते । इन देवार्पित पण्यांगनाओं के हृदय की व्यथा समझने के लिए इनमें की ही दो-एक द्वारा बम्बई के समाज-सेवा संघ के समक्ष किये गये निवेदनों को देख लेना आवश्यक है । एक देवदासी ने संघ के कार्यकर्ता के समक्ष निम्नोक्त कैफियत दी थी: ''हमारे अनैतिक व्यवसाय के कारण जीवन के उत्तरार्द्ध में हमारी कैसी दीन दशा होती है, इसका अंदाज़ा शायद ही कोई लगा सकता है । हमारा शरीर तो शीघ्र ही कूड़ा हो जाता है और हमारी संतति को हम जीवनभर के लिए कलंकित बना देती हैं । साथ ही समाज के हजारों स्वस्थ पुरुषों को, उनकी निर्दोष पत्नियों को और उनके मासूम बच्चों को हम सदा के लिए दूषित कर देती हैं । हमारे पेशे में लिहाज़, मुरौव्वत, या मर्यादा जैसी कोई चीज़ ही नहीं है । कमसिन नौजवानों से लगा कर बूढ़े खूसटों तक के समक्ष कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन और निर्लज्ज श्रृंगार चेष्टाएँ करने में ही हमारा जीवन बीत जाता है ।''

एक और देवदासी का लंबा बयान इस प्रकार है: ''मुझे मेरे पूर्वजों के संबंध में कुछ मालूम नहीं । गोआ आने से पहले वे अंग्रेज़ी प्रदेश में रहते थे । मेरी माता किसी धनाढ्य रईस की रखैल थी . दोनों में झगड़ा हो जाने पर मेरी माता को गोआ आकर रहना पड़ा । यहाँ एक अन्य आदमी से उसका संबंध जुड़ा ! इस संबंध के कारण उसका गुज़ारा तो होता रहा पर पहले जैसा वैभव नहीं रहा । मेरा जन्म इसी परिस्थिति में हुआ था । कुछ समय बाद मेरे जन्मदाता का मन मेरी मौसी की ओर आकर्षित हुआ और वह उसकी रखैल के रूप में हमारे ही साथ रहने लगी । उसने हमें इतना परेशान किया कि हमें घर छोड़ना पड़ा । इतने वर्षों तक एक ही पुरुष के साथ संबंध रखने के बाद ढलती उम्र में खुली वेश्यावृत्ति करने की या अन्य किसी से संबंध बाँधने की मेरी माता की इच्छा नहीं हुई । इस निश्चय का पालन करने में मेरी धीर और सहिष्णु माता को बेहद कष्ट सहन करने पड़े । कुछ दिनों तक तो ज़ेवर बेच-बेच कर गुज़ारा होता रहा । फिर थोड़ी सी ज़मीन खरीद कर खेती करना शुरू किया । कठिन परिश्रम करके और खुद भूखी रह कर भी उसने मेरा पालन किया । इस स्थिति में मैं तेरह वर्ष की हुई । 'शेष' विधि करने की उम्र बीती जा रही थी; परंतु उसके लिए आवश्यक धन हमारे पास नहीं था । कुछ समय बाद ईश्वर को शायद हमारी असहाय स्थिति पर दया आयी और कभी हमारे घर न आने वाले मेरे जन्मदाता पिता एक दिन अचानक हमारे यहाँ आ पहुँचे । हमारी हालत देख कर उन्हें तरस आया और मेरी 'शेष' विधि के लिए उन्होंने सौ रुपया देना कबूल किया । इस प्रकार मेरी देवार्पण-विधि संपन्न हुई । 'शेष' विधि होते ही परिवार को सहायता पहुँचा सकने की योग्यता मुझमें आ गयी और मुझे बम्बई भेजने की योजनाएँ बनने लगीं ।

''सन् १९०७ में मैं बम्बई आयी तब मेरी उम्र चौदह वर्ष की थी । मेरी माता और मामा मेरे साथ आये । कांदावाड़ी के गणपति भवन में एक छोटी सी कोठरी मासिक अठारह रुपये किराये पर ली गयी । दिन छिपते ही इस मकान में चित्र-विचित्र पुरुषों का आना जाना शुरू हो जाता था । पगड़ीवाले और टोपीवाले, साफे वाले और नंगे सिर, दाढ़ी वाले और चोटी वाले, बड़ी तोंद वाले विशालकाय अधेड़ और फूंक मारते ही उड़ जाने वाले सींकिया नौजवान, मसें तक न भीगने वाले किशोर और कमर से दोहरे हो चुकने वाले वृद्ध, न मालूम कितने प्रकार के बहुरंगी पुरुषों का हर शाम मेला सा लग जाता था । यह सब क्या हो रहा था, यह मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता था । पुरुषों को लाने का काम मामा करते थे । मदिरापान तो रातदिन चलता रहता था । इतने कष्ट सहन करके मेरा पालन करनेवाली माँ अब मेरी कोई बात नहीं सुनती थी । मुझे उनकी इच्छानुसार ही चलना पड़ेगा ऐसी धमकी माँ और मामा दिनरात देते रहते थे । एक दिन मामा किसी बड़े सेठ को फँसा कर लाये और उसके साथ मेरा प्रथम-समागम हुआ ।

''मेरे एक छोटे मामा भी यही धंधा करते थे । एक दिन वे कहीं पर बात तय करके आये और कहा कि मुझे उनके साथ किसी सेठ के यहाँ जाना होगा । शाम को गाड़ी में बैठा कर वे मुझे उपनगर के किसी बंगले में ले गये । विद्यार्थी जैसा दिखाई देने वाला एक कमसिन नवयुवक कमरे में आया और उसने मामा

को पाँच-दस रुपये देकर बिदा कर दिया । उसके साथ मेरी बातचीत हुई और उसकी रखैल के रूप में रहना मैंने कबूल कर लिया । यह युवक इतना सरल और सुस्वभावी था कि मेरा मन उसकी ओर अपने आप आकृष्ट हो गया । अकसर कहा जाता है कि गणिका को धन के सिवा किसी वस्तु से प्रेम नहीं होता । किसी हद तक यह बात सच भी है । परंतु कभी-कभी गणिका के मन में भी सच्चा प्रेम उत्पन्न हो सकता है । कोई पुरुष उसके मन में ऐसी खलबली मचा देता है कि वह धन की लालच छोड़ कर उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण् करने को तैयार हो सकती है । मेरे मन में इस युवक के प्रति कुछ ऐसा ही अनुराग उत्पन्न हुआ ।

''परंतु दूसरे दिन घर आते ही मैंने देखा कि मामा ने पहले से ही एक और ग्राहक तय कर रखा था । एक तो वह प्रेमोपचार का समय नहीं था और दूसरे मेरा मन अगले दिन के नवयुवक में उलझा हुआ था, अतः मैंने कुछ आनाकानी की । परंतु माँ और मामा ने धमकियाँ दे-दे कर मुझे इस प्रकार के संबंधों के लिए मजबूर किया । उनकी मरज़ी के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकती थी । अतः जब-जब इस प्रकार के मौके आये, उन्हें चुपचाप सहन करने के सिवा कोई चारा नहीं था । इस हालत में भी मैंने उस तरुण के प्रति हार्दिक निष्ठा बनाये रखी । मेरी वफादारी से उसके मनमें भी मेरे प्रति सद्भाव उत्पन्न हुआ और वह मुझे पर्याप्त मात्रा में गहने-कपड़े और रुपया देने लगा । माँ और मामा किसी एक ही प्रेमी से संबंध रखने के विरुद्ध थे और मुझे दिनरात लालच और धमकियाँ दी जाने लगीं । बड़े-बड़े धनवानों और राजा-महाराजाओं के निमंत्रण मुझे मिलने लगे । परंतु मैंने इन सब प्रलोभनों को ठुकरा दिया और माँ या मामा की एक भी नहीं चलने दी । जब उन्होंने देख लिया कि मेरा निश्चय पक्का है, तो उन्होंने चाल बदली और इस युवक से अधिक से अधिक रुपया और ज़ेवरात ऐंठने की राय मुझे दी जाने लगी । युवक की सरलता और उदारता को देखकर, वह अपनी मरज़ी से मेरे लिए जो कुछ खर्च करे उससे अधिक कुछ भी माँगने की मेरी इच्छा नहीं होती थी । वास्तव में वह मुझे किसी चीज़ की कमी नहीं पड़ने देता था । मेरी तीव्र इच्छा थी कि किसी तरह भी हो, उसका मेरे प्रति प्रेम बना रहे । अनेक कठिनाइयों और विघ्नों के बावजूद हमारा प्रेम आरंभ की सी उत्कटता से चलता रहा ।

''सामने की दीवार पर हमारी जो तसवीर आप देख रहे हैं वह बहुत वर्ष पहले की है । तब हम दोनों भरजवानी में थे । इस घर में जो भी साजसामान आप देख रहे हैं वह उसी का दिया हुआ है । उसकी याद अब तक मेरे मन में वैसी ही बनी रही है । सन् १९०७ से १९१६ तक मैं बम्बई रही । मेरा प्रेमी विवाहित था और उसके कई बच्चे भी थे । बच्चे बड़े हो जाने पर उसने मेरा शहर में रहना मुनासिब नहीं समझा । वर्षों तक मैं उसके प्रति एकनिष्ठ रही थी । अतः मेरा भरणपोषण आजीवन होता रहे इतना रुपया उसने मुझे दिया । आज भी मुझे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं है; सिर्फ कभी-कभी मैं भयानक अकेलेपन का अनुभव करती हूं । मैंने कुछ ज़मीन खरीद कर खेतीबारी शुरू कर दी है । लोग कहते हैं कि मुझे कोई लड़की ग़ोद लेकर वृद्धावस्था की व्यवस्था करनी चाहिये । परंतु किसी लड़की की ज़िंदगी खराब करने की मेरी इच्छा नहीं होती । मेरे भाई की एक लड़की है । पढ़ा-लिखा कर और प्रतिष्ठित परिवार में उसका विवाह करके उसे सुखी देख सकूं यही मेरी अंतिम इच्छा है । हमारे परिवार में और भी कई लड़कियाँ हैं । उन सबका भी विवाह हो जाय तो मेरी आत्मा को शांति मिले । परंतु नहीं जानती कि भगवान मेरी यह साध पूरी करेंगे या नहीं ।

''हमारी जाति में अब नाचना-गाना और देवालयों के साथ का संबंध बिलकुल कम हो गया है । बची है सिर्फ वेश्यावृत्ति । पेशे में से धर्मतत्व जाता रहा है । इस हालत में 'शेष' विधि का भी कोई महत्व नहीं रहा । निर्लज्ज वेश्यावृत्ति करने की अपेक्षा विवाह करके घर बसाने में क्या बुराई है ? हमारी लड़कियों के विवाह होने लगेंगे तब केवल हम ही नहीं, हमारे पवित्र देवालय और पूरा हिंदू समाज भी पतित होने से बच जायगा । आप लोगों से प्रार्थना है कि हमारा उद्धार करने का प्रयत्न करने से पहले हमारी लड़कियों को शिक्षा देने की व्यवस्था करें । अपनी जाति और अपने जन्मदाता के विषय में कुछ भी

जानकारी न होने वाली हजारों लड़कियाँ किसी समाज में हों, और उन्हें जन्म से ही पतित मान कर वेश्यावृत्ति के सिवा अन्य किसी भी बात के लिए अपात्र माना जाता हो, तो इसके लिए जिम्मेदार कौन है; और यह कलंक किसका है ? हमारा' या हिंदू समाज का ? हमारी उत्पत्ति में सबका हिस्सा है । हमारा उपभोग करने को सब तत्पर रहते हैं; पर पाप का फल भोगना पड़ता है सिर्फ हमें । यह कहाँ का न्याय है ? इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हर व्यक्ति को उत्तरदायित्व का भी कुछ अंश वहन करना चाहिये ।''

उपरोक्त वक्तव्य बम्बई के समाजसेवा संघ के एक कार्यकर्ता के समक्ष किसी निवृत्त देवदासी ने दिया था । मजबूरी से या स्वेच्छा से पेशे के रूप में वेश्यावृत्ति को स्वीकार करना और किसी विशिष्ट जाति में जन्म लेने के कारण जन्मत: ही गणिका का अवतार धारण करना, इन दोनों परिस्थितियों में बहुत बड़ा अंतर है । जाति के रूप में स्थापित हो चुकने वाली वेश्याओं के यहाँ जन्म लेने वाली लड़कियों के लिए कोई विकल्प ही नहीं रहता । विवाह उसका हो नहीं सकता । इतना ही नहीं, उसका जन्म होते ही परिवार के सब सदस्यों की नज़र उसे भविष्य के भरण-पोषण के साधन के रूप में देखने लगती है । इस वर्ग में माता, माता के भाई, अपने भाई इत्यादि सब लोगों के आर्थिक निर्वाह का आधार परिवार की युवती लड़की के रूप-विक्रय पर ही होता है । इसे धर्म भावना का समर्थन मिल जाने पर तो परिवार के लोग इसे अपना अधिकार मानने लगते हैं । एक व्यक्ति की कमाई —और वह भी देह-विक्रय से होनेवाली अनैतिक कमाई —पर आधार रखनेवाले आश्रितों का समूह समाज पर भाररूप सिद्ध होता है । देवदासी देवार्पित हो कर मंदिर में या मंदिर के इर्दगिर्द वेश्यावृत्ति करती रहे; या 'मुरली' या 'नायका' के रूप में किसी की रखैल बन कर गणिकावृत्ति को अपना आनुषंगिक व्यवसाय मानती रहे, आश्रितों की स्थिति में इससे विशेष फर्क नहीं पड़ता । परंतु इस हालत में कुटुंब-व्यवस्था कितनी अस्थिर हो उठती होगी, इसका अंदाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है ।

इस परिस्थिति में अकेला कानून कुछ नहीं कर सकता । कानून के बल पर इन प्रथाओं को बंद करवा देने से विशेष फर्क भी नहीं पड़ता । इस क्षेत्र में लोकजागृति और निष्ठावान समाज सेवकों के प्रयत्न ही अधिक कारगर होते हैं । बम्बई में जिस प्रकार ऐयाश रईसों की कमी नहीं है, उसी प्रकार, सौभाग्य से, निष्ठावान समाजसेवकों की भी कमी नहीं है । पिछले कुछ दशाब्दों में डा. मुलगाँवकर, श्री वेलिंगकर, श्री. रायकर, श्री. कवलेकर, श्री शिरोडकर और श्री. मांजरेकर जैसे विद्वान और विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकने वाले सेवाभावी समाजसेवकों ने देवदासियों के उद्धार की अनेकविध रचनात्मक प्रवृत्तियाँ आरंभ की है यह बड़े गौरव की बात है ।

लगभग हजार-बारह सौ वर्षों से अविरत चली आने वाली इस संस्था की विविध कक्षाओं का विचार हम कर चुके । आज किसी भी प्रगत और सभ्य देश में धार्मिक गणिकावृत्ति का नामोनिशान भी नहीं बचा है । भारत में भी यह अधिकांश में नष्ट हो चुकी है; पर विलुप्त होते-होते भी, राख में दबे हुए अंगारों की तरह उसकी कुछ चिनगारियाँ यदा-कदा चमक जाती हैं । इस संस्था का समर्थन करने के लिए नहीं, परंतु उसे अधिक स्पष्टता से समझ पाने के लिए उससे संबंधित कुछ विशिष्ट तत्वों का विचार करना आवश्यक है । साथ ही यह भी नहीं भुलाना चाहिये कि चाहे जितनी घृणित होने पर भी इस संस्था के साथ हमारा संगीत, हमारा नृत्य, हमारा समाज और हमारे देवालय लंबे समय तक घनिष्ठ संपर्क में रहे हैं । इसकी योजना केवल अमर्याद विषयसेवन के हेतु से ही हुई थी, यह अभियोग योग्य दिखाई नहीं देता । इस दृष्टि से देखने पर तो विवाह-संस्था पर भी कोई यह अभियोग लगा सकता है और विशुद्ध तार्किक दृष्टि से उसे गलत प्रमाणित करना मुश्किल होगा । हजारों वर्षों से चली आने वाली इस प्रथा में गंदगी और अनिष्ट का परिचय कदम-कदम पर मिलता है इसमें तो कोई संदेह नहीं । परंतु कुछ गहराई में उतर कर हमें यह भी देखना है कि प्राचीन युगों की अन्य अनेक दृष्टियों से समझदार, बुद्धिमान और विवेकी प्रजाओं ने इस संस्था को स्वीकार क्यों किया और किन सामाजिक या तात्विक बलों ने इसकी उत्पत्ति और स्वीकार को इतनी गति और इतनी व्यापकता प्रदान की ।

६
कुछ विशिष्ट तत्वों का अध्ययन

देवदासियों और नर्तकियों के बाह्यजीवन का विचार एक क्षण के लिए अलग रख कर इस संस्था के स्वरूप को ज़रा गहराई से देखने का प्रयत्न करें, तो इसके मूल में निम्नोक्त तीन तत्व अनिवार्य रूप से दिखाई देते है: —

१. देवदासी पूर्ण रूप से देवाज्ञा के आधीन होती है । उसका जन्म ही एक ऐसी जाति में होता है कि उसे अनिवार्य रूप से नर्तकी बनना पड़ता है । देवता या देवता के प्रतीक के साथ होनेवाले उसके विवाह का केवल सांकेतिक महत्व होता है ।

२. इस जाति में देवता को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम मार्ग नृत्य और संगीत माना जाता है । अतः देवदासी के लिए इन कलाओं में पारंगत होना अत्यावश्यक होता है और सौंदर्य संवर्धन, देहशृंगार और नृत्य-संगीत के उच्च कोटि के प्रदर्शन से अपने पति रूप देवता को प्रसन्न रखना उसका प्रधान कर्तव्य हो जाता है ।

३. परंतु देवार्पण की भावना शीघ्र ही देह-धर्म से प्रभावित होने लगती है । नारी के हृदय और नारी के मनोभावों की अपेक्षा उसके देह पर पुरुष की दृष्टि अधिक पड़ती है । देवसत्ता, राज्य-सत्ता और धनसत्ता के प्रतिनिधि माने जाने वाले पंडे-पुरोहित, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार उसकी कला से भी ज़्यादा उसके रूप-यौवन से मुग्ध होकर उसके देहोपभोग के लिए सदा लालायित रहते हैं । रसिकों और शौकीनों की यह चिर-अतृप्त विलासलालसा शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि देवदासी को सर्वभोग्या बनकर सामान्य वेश्या की कक्षा में उतरना पड़ता है ।

भारत में तो जन्म से लगाकर मृत्यु तक पूरे जीवन पर एक या दूसरे स्वरूप में धर्म की छाया पड़ी रहती है । कला का उद्भव और विकास भी इस देश में ऐहिक भोगों के साथ नहीं बल्कि देवताओं के आनंद, ऋषिमुनियों के चिंतन और पुण्यप्राप्ति की कामना के साथ संकलित रहा है । कला के रूप में नृत्य और संगीत हमारे यहाँ सदा से धर्म, धर्मस्थान, धर्मकथा और धर्माचार के साथ संबंधित रहे हैं । बीते हुए युगों में अन्य देशों में भी यही स्थिति रही थी । नर्तकी प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में धर्म की संतान और देवालयों की निवासिनी रही है । उससे कितनी उच्च कोटि की योग्यता की अपेक्षा रखी जाती थी इसका कुछ अंदाज़ अभिनयदर्पण के निम्नोक्त श्लोकों से लगाया जा सकता है:

पात्र लक्षणम् ।
तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा ।
प्रगल्भा सहसा कान्ता कुशलाग्रहमोक्षयो: ।।
सुरताललयाभिज्ञा मण्डलस्थान पण्डिता ।
हस्तज्ञा स्नाननिपुणा कर्णेषु च विलासिनी ।।
विशाललोचना गीत वाद्य तालानुवर्तिनी ।
परार्धभूता संपन्ना प्रसन्न मुखपंकजा ।।
नातिस्थूला नातिकृशा नात्युच्चा नातिवामना ।
एवं विध गुणै: पोता नर्तकी समुदाहृता ।।

बात स्पष्ट है । नर्तकी कैसी होनी चाहिये ? उत्तर है कि वह "तरुणी, रूपवती, सुवर्णा, पुष्ट और उन्नत पयोधरों वाली, प्रगल्भा, मनोहर अंगकांति वाली, स्पर्शालिंगन (ग्रहमोक्ष) आदि के मर्म को समझने वाली, सुर-ताल-लय इत्यादि की जानकार, अंगोपांगों के सौष्ठव को कमनीय ढंग से प्रकट कर सकने वाली,



अवयवों के संचालन में लावण्य प्रकट कर सकने वाली, स्नान-श्रृंगार आदि में निपुण, कानों को सुख पहुँचाने वाली, विशाल नेत्रों वाली, गीत-वाद्य और ताल में संवादित्व स्थापित कर सकनेवाली, अलंकारों से विभूषित, प्रसन्नवदना और सदा मुस्कराने वाली, बहुत दुबली नहीं और बहुत मोटी नहीं, बहुत लंबी नहीं और बहुत ठिंगनी नहीं —आदि अनेकविध गुणों से युक्त होनी चाहिये।''

सूची करीब-करीब सर्वांगसंपूर्ण है। इन सब योग्यताओं से विभूषित स्त्री ब्रह्माजी की इस अपूर्ण और मर्त्य सृष्टि में मिलना संभव है या नहीं यह अलग प्रश्न है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि देह-सौंदर्य और कला-सौंदर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचनेवाली नर्तकियों से भारत अपरचित नहीं रहा। जिस प्रकार प्राचीन ग्रीस में कला और देह-सौंदर्य की अधिष्ठात्री गणिका ही मानी जाती थी, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी कलानैपुण्य, शृंगार-प्रसाधन और देह-सौंदर्य के उत्कृष्ट उदाहरण गणिकाओं में ही मिलते थे। अत्यंत लावण्यवती युवती की तुलना जाने-अनजाने आज भी हम अप्सरा से कर बैठते हैं और इससे उसकी प्रतिष्ठा को ज़रा भी ठेस नहीं लगती। प्राचीन युग की प्रत्येक नर्तकी में अभिनयदर्पण की उपरोक्त सूची में गिनाये हुए सभी गुण होते होंगे, यह तो संभव दिखाई नहीं देता; पर इसे उच्च कोटि की कलावती गणिकाओं का आदर्श माना जाता था इसमें कोई संदेह नहीं।

'रूपजीवा' के नाम से नटियों और नर्तकियों को स्पष्ट स्वीकार करके स्मृतिकारों ने उनके कई अधिकारों को कानून की सुरक्षा प्रदान की थी; यह हम देख चुके हैं। स्वातंत्र्य, कलासाधना और रूपमद के जिस उन्मुक्त वातावरण में उनका पोषण होता था, उसे दृष्टि में रख कर ही इन अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी होगी। गणिकागमन के लिए भी मनु ने दंड का विधान न करते हुए प्राजापत्य-होम जैसे मामूली प्रायश्चित से उसका दोषनिवारण मान लिया था। वात्स्यायन द्वारा आवश्यक माने गये कलावती गणिका के रूप-गुणों की सूची अभिनयदर्पण में उल्लिखित उत्तम कोटि की नर्तकियों की योग्यता से बहुत मिलती-जुलती है। वात्स्यायन युग की गणिकाएँ देवालयों के साथ विवाह या वेतन द्वारा संबंधित रही हों इसका तो कोई प्रमाण नहीं मिलता; पर धर्मकार्यों में उनका उपयोग कदम-कदम पर होता था। इसके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन युग के इन सब तथ्यों को देखते हुए यह संभावना निर्विवाद मालूम देती है कि संस्कृति के आरंभिक सोपानों पर गणिकावृत्ति का उद्भव धर्मभावना को लेकर ही हुआ होगा। धर्म-सभ्यता के मार्ग पर आगे बढ़ती हुई मानवजाति का प्रथम स्पष्ट विचार और व्यापक आचार सिद्ध होता है और कला भी उससे अछूती नहीं बचती। अत: देवदासी संस्था का उद्भव और विकास धर्म और कला के संयोग से ही हुआ होगा यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। इस समग्र प्रक्रिया में शताब्दियों का समय लगा होगा इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि सामाजिक परिस्थितियों की समर्थ शक्ति किसी भी संस्था को ऊँचा भी उठा सकती है और नीचे भी गिरा सकती है।

आर्य विचारधारा के साथ जैन और बौद्ध धर्मों के संयोग ने नृत्य-संगीत के साथ धर्म का संबंध और भी दृढ़ता से स्थापित किया। बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ पतिताओं का उसमें सहृदयता से स्वागत हुआ। पूर्वाश्रम के पाप और कलंक नूतन धर्म के स्वीकार मात्र से लुप्त होने लगे और समाज यह मान कर चलने लगा कि संघप्रवेश के बाद पतिताओं का हृदयपरिवर्तन अनिवार्य रूप से हो जाता है। धार्मिक श्रद्धा बढ़ने पर और बुद्ध के निर्वाण के बाद उनका चरित्र लोकोत्तर हो उठने पर मंदिरों की दीवारों पर उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंग चित्रित होने लगे और व्यापक धर्मभावना एवं गहरी धर्मश्रद्धा के प्रभावोत्पादक उदाहरण उस काल के कथा नृत्यों और नाटकों में भी स्थान पाने लगे। धर्मप्रवण राजपरिवारों और श्रेष्ठी परिवारों की स्त्रियाँ धर्मभावना और कलाभावना को एक साथ संतुष्ट कर सकने वाले धर्मकार्यों में अधिकाधिक भाग लेने लगीं और मंदिरों के साथ उनका संबंध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया।

राजगृह में एक बार बुद्ध की उपस्थिति में एक नाटक खेला गया था जिसमें कुवल्य नामक प्रसिद्ध गणिका ने प्रधान भूमिका की थी। कुवल्य बुद्धयुग की अत्यंत उच्च कोटि की कलावती गणिका थी। इस

नाटक के कारण भिक्खुओं का उसके साथ निकट संपर्क हुआ और वे उसकी ओर आकर्षित होने लगे। बुद्ध को इस बात की खबर पड़ने ही उन्होंने उसे शाप देकर कुरूप वृद्धा बना दिया। बाद में गणिका को अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप हुआ और बुद्ध ने उसे साध्वी का स्थान दिया। बुद्ध के शाप की इस कथा का शब्दार्थ न लगाते हुए उसमें कुछ उपदेश ढूंढने का प्रयत्न करें तो यह संभव दिखाई देता है कि रूप-यौवन के घमंड में आकर साधुओं को विलासी बनाने के प्रयत्न में देह-भोग का अतिरेक हुआ होगा और इसी कारण से गणिका को अकाल-वृद्धत्व प्राप्त हुआ होगा। अतिविलास देह को निर्बल और जर्जर बना देता है यह एक त्रिकालबाधित सत्य है। इसके लिए भगवान तथागत के शाप की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।

जातक कथाएँ तो गणिकाओं के उल्लेखों से भरी पड़ी हैं। बौद्ध युग की अनेक प्रसिद्ध गणिकाओं की जीवनियों का अध्ययन हम कर चुके हैं। मध्य प्रदेश के सीताबेन्गा नामक स्थान पर बौद्ध युग की कुछ प्राचीन गुफाएँ मिली हैं। इन गुफाओं में एक विशाल प्रेक्षागृह भी है जहाँ शायद नाटक खेले जाते थे। इसके निकट की जोगीमारा की गुफा के शिलालेखों में कथा सरित्सागर में उल्लिखित रूपीणिका गणिका की जीवनी से मिलता-जुलता उल्लेख मिलता है। ये सारे प्रमाण इसी ओर इंगित करते हैं कि बौद्ध मठों के साथ नर्तकियों का घनिष्ठ संबंध था और उत्तर भारत भी मंदिरों से संबंधित नर्तकियों की संस्था से परिचित था। जोगीमारा के एक लेख में तो स्पष्ट उल्लेख है कि 'सुतनुका नामक मंदिर-नर्तकी का वाराणसी के निपुण नट देवदत्त से प्रेमसंबंध था।' जोगीमारा की गुफाओं में नर्तकियों की कुछ प्रतिमाएँ भी मिली हैं। यह शिल्प ईसवी सन पूर्व की तीसरी शताब्दी का है जब बौद्ध धर्म विकास की सर्वोच्च कक्षा पर था। धर्म के साथ नर्तकियों का संबंध घनिष्ठ हुए बिना और मंदिरों में उनका संचार बेरोकटोक हुए बिना धर्म-स्थानों में इस प्रकार के शिल्प को स्थान मिलना किसी भी युग में मुश्किल है। ऐतिहासिक प्रमाणों को देखने हुए हमें यह संबंध मान्य करना ही पड़ेगा। एक ओर धर्म और दूसरी ओर पतन के परस्पर विरोधी छोरों के बीच दोलायमान होने वाली नर्तकियों की संस्था वाकई मनुष्यजाति की एक महाविचित्र घटना और अनबूझी पहेली रही है।

७

उत्पत्ति विषयक संभावनाएँ

गणिकासंस्था की उत्पत्ति के संबंध में एक मत ऐसा है कि मातृत्व को आधारभूत मान कर रची जाने वाली परिवार-व्यवस्था का वह एक आनुषंगिक पर अनिवार्य परिणाम है। यह समाजव्यवस्था दक्षिण भारत के द्रविड और केरल प्रदेश में ही प्रचलित थी। मातृसत्तामूलक वंशपरंपरा किसी युग में दक्षिण-पूर्वी यूरोप, ऐशिया-माइनर, मिस्र और मेसोपोटेमिया में भी प्रचलित थी। धर्म से संबंधित गणिकावृत्ति का विकास भी इन्हीं प्रदेशों में हुआ था। इससे यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि इन दोनों के बीच कार्यकारणभाव या अन्य किसी प्रकार का संबंध अवश्य रहा होगा। भारत में देवदासी प्रथा का प्रचलन मुख्यतः गोदावरी के दक्षिण के प्रदेश में —विशेष तौर पर तमिलभाषी प्रदेश में —ही अधिक हुआ। इस प्रथा की प्रधान विशेषता यह रही कि कुछ समय के लिए देवालय में नृत्य कर जाने के बाद दिन के बाकी भाग में देवदासियाँ वेश्यावृत्ति कर सकती थीं और किसी की रखैल की रूप में भी रह सकती थीं। दूसरे, देवता के साथ विवाहिता होने पर भी मनुष्य-समागम से संतानोत्पत्ति करने में कोई बुराई नहीं मानी जाती थी। इससे कुछ उत्तर के प्रदेश में खंडोबा को अर्पित 'मुरली' नामक देवदासियों का प्रकार अधिक प्रचलित रहा। इस जाति के पुरुष भी देवार्पित हो सकते थे जिन्हें 'बाध्य' कहा जाता था। मूर नामक अंग्रेज़ लेखक

ने सन् १७९२ में जेजूरी के खंडोबा-मंदिर का वर्णन कर . हुए लिखा है कि इस देवालय में दो सौ मुरलियाँ रहती थी । मुरलियाँ और वाद्य मिल कर अत्यंत कामुक हावभावों के साथ नृत्य करते थे और अश्लील गीत गाते हुए गाँव-गाँव में घूमते रहते थे । उनके प्रति प्रजा के किसी वर्ग का विरोध रहा हो ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता था । बल्कि उन्हें सामान्य लोगों की ओर से प्रोत्साहन ही मिलता । लोकनृत्य के जानकार लोगों का कहना है कि महाराष्ट्र के 'तमाशा' नाम से परिचित उत्तान श्रृंगार के नृत्याभिनय का उद्भव वाद्य-मुरली के इन अश्लील नृत्यगीतों में से ही हुआ था । जिस प्रकार गुजरात में प्रचलित 'भवाई' नामक लोकनाट्य में अश्लीलता को दोष नहीं माना जाता था, उसी प्रकार महाराष्ट्र में 'तमाशा' के हावभाव, नृत्य और गीतों के बोल आपत्तिजनक नहीं माने जाते थे । जहाँ-जहाँ मराठीभाषी जनता बसी— सुदूर गवालियर और बड़ौदा रियासतों तक—वहाँ-वहाँ 'तमाशा' का प्रचलन अवश्य रहा ।

समग्र दृष्टि से देखने पर धार्मिक गणिकावृत्ति के पीछे मनुष्य, पशु, और धन-धान्य कं. [illegible]द्धि की अभिलाषा ही मुख्य प्रेरक शक्ति दिखाई देती है । मानव प्रजावृद्धि का उपादान कारण है स्त्री । इसी वजह से प्राचीन संस्कृतियों में स्त्री को सब प्रकार की उत्पादकता का प्रतीक मान लिया गया था । ऋतु का पहला फूल, पहला फल और पहला धान्य जिस प्रकार देवता को भेंट चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार प्रथम पुत्र, प्रथम पुत्री या स्त्री की प्रजोत्पादक शक्ति के प्रतीक रूप उसका प्रथम समागम देवता को अर्पण करने से धरती की उर्वरता और धन-धान्य की विपुलता बढ़ती है, यह मान्यता मनुष्यजाति में अत्यंत प्राचीन काल से पायी जाती है । इस हालत में, धर्मभावना से स्त्री का स्त्रीत्व देवता को अर्पण करने की प्रथा को ही धार्मिक गणिकावृत्ति का प्रधान और सबसे शक्तिशाली कारण माना जा सकता है ।

स्त्रीत्व के समान पुरुषत्व-अर्पण की भावना से भी मनुष्यजाति नितांत अपरिचित नहीं रही है । इष्ट देवता के समक्ष केवल स्त्रीभाव से ही जाया जा सकता है ऐसी भक्तिकल्पना वैष्णवों में गोपीभाव या सखी-भाव के नाम से प्रचलित है । कवि दयाराम ने 'मीरा चरित्र' में वृन्दावन के जीव गोस्वामी और मीरा के बीच का वार्तालाप अत्यंत भावपूर्ण भाषा में व्यक्त किया है । मीरा को इस बात का आश्चर्य हुआ था कि:—

''अब लौं मैं यह जानती कि ब्रज में कृष्ण पुरुष है एक
वृन्दावन बस पुरुष रहे हो, धन्य तिहारो विवेक ।''

प्रेमलक्षणा या माधुर्यभाव की भक्ति में पुरुषत्व-अर्पण का अर्थ स्थूल रूप से नहीं बल्कि भावरूप से ही लिया जाता था इसमें तो कोई संदेह नहीं । परंतु किसी भी उदात्त भावना का सूक्ष्म अर्थ विकृत या तिरोहित हो कर धीरे-धीरे उसका स्थूलार्थ या शब्दार्थ ही प्रचलित हो जाय, यह प्राचीन युग की एक अत्यंत साधारण प्रवृत्ति रही है । इस विकृत अर्थ के प्रचार में भक्तों और पंडे-पुजारियों का भी योगदान कुछ कम नहीं रहा । बेट द्वारका के मंदिर में आज भी यह दृश्य देखा जा सकता है कि श्रीकृष्ण और उनकी पटरानियों की सेवापूजा करते समय पुरुष पुजारी ओढ़नी ओढ़ लेता है । पुरुष भी तरियाओं को अपने लिए स्त्रीलिंगी शब्द प्रयोग करते हुए तो किसी भी वैष्णवमंदिर में सुना जा सकता है । पुरुषत्व-अर्पण की भावना से उत्पन्न जनखों की संख्या भी हम मानते हैं उससे कहीं अधिक है । गुजरात में बहुचराजी के धाम में पुरुषत्व-अर्पण की प्रथा अब भी दिखाई दे जाती है । ईसाई गिरजों में समूहगान करने वाले किशोरों का कंठ-माधुर्य बनाये रखने के लिए उनका पुंसत्व नष्ट कर देने की प्रथा किसी युग में पश्चिम के देशों में भी प्रचलित थी । स्त्रीत्व और पुरुषत्व के देवार्पण की भावना के संस्था-रूप धारण कर लेने पर उससे उत्पन्न अनिष्ट-परंपरा की कोई सीमा ही नहीं रहती । इस विषय में डा. सुमन्त मेहता का पुंसत्वभंगपंथ का अध्ययन मननीय है । इन सब तथ्यों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि देवार्पित गणिकावृत्ति की संस्था के विकास में स्त्री-पुरुष की उत्पादकशक्ति के समर्पण की भावना ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

विभिन्न प्रदेशों की धार्मिक गणिकावृत्ति में एक और बात समान रूप से यह पायी जाती है कि कौमारअर्पण किसी विदेशी को ही किया जाता था । इसके पीछे कौन सा प्रेरक कारण रहा होगा ? शायद

व्यवहार करते है । दक्षिण मार्ग कदम-कदम पर नियम और मर्यादा के बंधन खड़े करता है । वाममार्ग मर्यादा और बंधन से कोई वास्ता नहीं रखता ।

इस संबंध में एक बात सदा याद रखनी चाहिये कि वाममार्ग आरंभ से ही अनाचार का मार्ग शायद नहीं था । आरंभ में वह ईश्वरप्राप्ति और आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में किये जाने वाले अनेक प्रयोगों में से एक अभिनव प्रयोग और मर्यादाओं को तोड़ कर परमशक्ति तक पहुँचने का एक साहसपूर्ण उपाय मात्र रहा होगा । किन्तु एक बार आरंभ हो जाने पर मर्यादाभंग की प्रक्रिया कहाँ जा कर रुक जानी चाहिये, इसका विवेक न रहने के कारण शीघ्र ही उसकी परिणति स्वेच्छाचार में हो गयी होगी और साधना के असाधारण होता है । ईश्वर के स्थान पर स्वभाव की स्थापना करने वाली एक विचारधारा भी मध्ययुग में प्रचलित थी । इस सिद्धान्तानुसार शरीर और आत्मा अलग-अलग तत्व नहीं माने जाते और देह की तृप्ति को ही आत्मा की तुष्टि माना जाता है । इस हालत में, देह की तृप्ति के लिए इंद्रियों को बेलगाम छोड़ देना आवश्यक माना जाय और 'यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत्' को जीवन का चरम सत्य मान लिया जाय यह स्वाभाविक है । धर्म का 'दक्षिण' और 'वाम' मार्गों में विभाजन बड़े प्राचीन युग से चला आ रहा है । सीधी और सुसाध्य बात को भी उलझी हुई और कष्टसाध्य बना देना शायद वाममार्ग की प्रधान विशिष्टता रही है । दक्षिणमार्ग देवता को फल-फूल चढ़ा कर संतुष्ट हो जाता है । वाममार्ग बकरे, भैंसे या मनुष्य की बलि चढ़ाये बिना संतुष्ट नहीं होता । दक्षिणमार्गी देवता की प्रतिमा को ही देवता का प्रतीक मान कर उसकी पूजा करते हैं । वाममार्गी केवल मूर्ति से संतुष्ट न होते हुए जीवित स्त्री-पुरुषों में देवी-देवता की कल्पना करके व्यापारवृद्धि की भावना रही हो । ऐसे उत्साहवर्द्धक रिवाज के कारण विदेशी व्यापारी बड़ी संख्या में आकर्षित होते होंगे । आज के युग में भी बड़ी दूकानों में सेल्सगर्ल के मंदिर में आकर्षक युवतियों की नियुक्ति करने की तरकीब बड़ी कारगर सिद्ध हुई है । दक्षिण भारत के नायरों में विदेशियों की कामवासना संतुष्ट करने का रिवाज व्यापकता से प्रचलित था । इसके पीछे किसी प्रकार के स्वार्थ की नहीं बल्कि विशुद्ध अतिथिसत्कार की भावना ही कारणभूत रही हो, यह भी संभव है । प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो ने चीन में प्रचलित अतिथि सत्कारजन्य गणिकावृत्ति का उल्लेख किया है । उस युग में चीन में लगभग पूरे विस्तार में यह प्रथा प्रचलित थी । धार्मिक अंधश्रद्धा और थोथे वहमों की मनुष्यजीवन पर पकड़ किस हद तक हो सकती है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि चीन के एक शासक द्वारा यह प्रथा बंद कर दी जाने पर लोगों ने इसका कड़ा विरोध किया था । इसके बाद की एक घटना से लोगों की अंधश्रद्धा को और भी बल प्राप्त हुआ होगा क्योंकि उपरोक्त राज्यादेश के तीन साल के भीतर ही वह पूरा प्रदेश वीरान हो गया था और धरती ने ऋतु-अनुसार उपज प्रदान नहीं की थी । जातियों के सांकर्य से उत्पन्न होने वाली संतति अधिक मेधावी और सुंदर होती है, ऐसी कोई भावना भी इस प्रथा के पीछे रही हो, तो आश्चर्य नहीं । इस धारणा को कुछ हद तक आज के सुप्रजननशास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है ।

देवदासी प्रथा का तांत्रिक वामाचार से भी सीधा संबंध जोड़ा जा सकता है । शक्तिपूजा तांत्रिक साधना का प्रधान लक्षण रहा है और तांत्रिकों की दृष्टि से, शक्ति के प्रतीक के रूप में, स्त्री का महत्व बढ़ने भोगविलास की भयावह खाइयों में वह भटक गया होगा । देवार्पित होने वाली स्त्री को सर्वभोग्या मान कर उसे वेश्या बना देने की प्रक्रिया में, इस स्तर पर पहुँच चुकने वाले वाममार्ग का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा । उपरोक्त 'स्वाभाविक' संप्रदाय और भोगवादी चार्वाक-दर्शन ने भी देवदासी जैसी संस्थाओं को थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन अवश्य दिया होगा और दक्षिणमार्गियों पर परोक्ष रूप से विजय प्राप्त करने का संतोष अनुभव किया होगा ।

मध्ययुग के मंदिरों और अन्य स्थापत्यों में पाया जाने वाला उत्तान शृंगारी शिल्प भी शायद वाममार्ग के अनिर्बंध कामाचार की ही विरासत है । जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क, खजुराहो और पशुपतिनाथ के मध्ययुगीन देवालय इस प्रकार के अश्लील मूर्तिविधान के कारण विश्वप्रसिद्ध हो गये हैं । नारी के अनावृत देह का उत्तान शृंगारी दर्शन कराके ही यह शिल्प नहीं रुकता, बल्कि संभोगासनों और रतिक्रिया की अन्य

बारीकियों से भी इन मंदिरों का मूर्ति विधान खचाखच भरा पड़ा है । इस शिल्प की कला बहुत उच्च कोटि की है, यह कह कर उसकी अश्लीलता और अनौचित्य का बचाव नहीं किया जा सकता । परंतु एक बात माननी पड़ेगी कि यह पूरा का पूरा शिल्प अश्लील नहीं है । मनुष्य जीवन के अनेक पहलुओं का बड़ा स्वस्थ चित्रण भी इसमें मिलता है । भुवनेश्वर के एक स्तंभ पर एक नर्तकी की प्रतिमा तराशी हुई है । मूर्ति की देहभंगिमा, मुख पर और आँखों में झलकने वाले भाव, हाथ-पाँव का गतिविलास, नृत्य की किसी विशिष्ट मुद्रा का अभिनय, इसके कारण उड़ने वाले वस्त्र और फहरते हुए वस्त्रों के नीचे से झलकने वाला देह-सौष्ठव —सभी बारीकियाँ इतने प्रमाणबद्ध और वास्तविक ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं कि ऐसा लगता है मानो मूर्ति अभी जीवित होकर नाचने लग जायगी । दक्षिण मार्ग अकसर कलोपलब्धि की इस सीमा पर पहुँच कर रुक जाता है । परंतु वाममार्गी या 'स्वाभाविक' मतवादी कलाकार इससे आगे बढ़ कर शृंगार भावना के चरम बिंदु और प्राणीसृष्टि के चरम सत्य रूप संभोग-क्रिया का निरूपण करके ही रुकेगा । संभोग-क्रिया मनुष्य जाति के लिए भी शारीरिक आनंद की पराकाष्ठा है, यह तो राज़ी से या नाराज़ी से सब को स्वीकार करना पड़ेगा । परंतु ठोस वास्तविकता होने पर भी इसकी गणना अब तक कुछ गोपनीय और अप्रदर्शनीय बात के रूप में होती आयी है और सार्वजनिक स्थानों में इसका प्रदर्शन निषिद्ध माना जाता रहा है । इसे सभ्यता की दिशा में मनुष्य जाति की एक उपलब्धि माना जाय, या उसके संस्कारों की कमज़ोरी और उसकी कला का दुर्भाग्य माना जाय, इसका निर्णय आज की नीतिभावना के संदर्भ में करना मुश्किल है ।

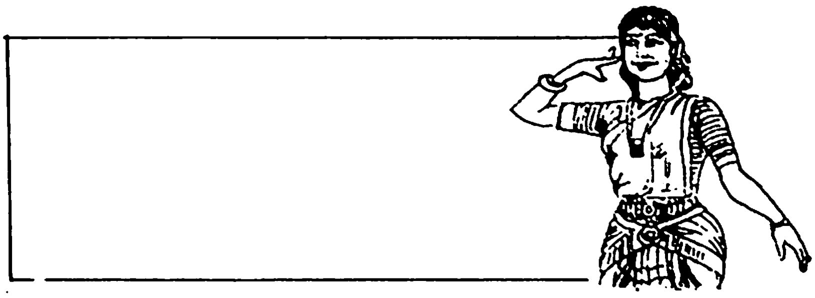
वामाचार की मर्यादाहीन क्रियाओं का समर्थन करना तो किसी हालत में संभव नहीं । शिष्टता संस्कृति का एक आवश्यक लक्षण है और आधुनिक युग इन दोनों को अविच्छेद्य मानता है । यहाँ केवल इतना ही कहने का आशय है कि देवदासी प्रथा के मूल ढूंढते समय उसके एक तंतु का संबंध वामाचार से भी जोडा जा सकता है । एक संभावना यह भी दिखाई देती है कि वाममार्गी साधना के अन्य घृणित आचारों का त्याग करते समय समाज ने समझौते या सौदेबाजी के रूप में देवदासी जैसी कुछ अपेक्षाकृत सौम्य प्रथाएँ जीवित रहने दी होंगी । इनमें से हम चाहे जिस संभावना को स्वीकार करें, यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि देवार्पित गणिकावृत्ति की प्रथा के मूल में वाममार्ग ने विकसित किये हुए स्त्रीमोह का योगदान बहुत अधिक रहा होगा । धर्म से पूर्णत: विच्छिन्न ऐहिक वेश्यावृत्ति और स्त्री, स्त्रीत्व या स्त्री के प्रथम समागम को देवार्पित करके की जाने वाली धर्म-संबंधित गणिकावृत्ति, इन दो छोरों के बीच में स्त्री के देह-विक्रय की प्राय: सभी भूमिकाओं का समावेश होकर गणिकासंस्था का पूरा इतिहास समा जाता है । स्त्री को देवार्पित करने की भावना का धर्म में स्वीकार और समाज में प्रचलन हो जाने पर इस प्रथा से संबंधित अनेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हों, यह स्वाभाविक है । बीते युगों की इन उलझनों को पूर्ण रूप से सुलझाना आज लगभग असंभव दिखाई देता है । देवदासी जैसी गणिकासंस्था ने मनुष्यजाति के अनेक कलंकित पहलुओं को अनावृत्त कर दिया, यह सही है; परंतु अंततोगत्वा तो यही मानना पड़ेगा कि देवदासी-संस्था या अन्य किसी भी प्रकार की गणिकावृत्ति के लिए सामाजिक परिस्थितियाँ ही अधिक जिम्मेदार होती हैं । क्या व्यक्ति के रूप में और क्या समष्टि के रूप में, स्त्री सदा से मनुष्यजाति की एक समस्या रही है । पुरुष के लिए वह सबसे बड़ा आकर्षण और सबसे प्रबल प्रलोभन सिद्ध हुई है । उससे बढ़ कर आनंद भी पुरुष को किसी ने नहीं दिया और उससे बढ़ कर उलझने भी उसके रास्ते में किसी ने निर्माण नहीं कीं । दार्शनिकों को उसने अनेक प्रकार के विचारप्रवाहों में बहाया है; धर्मभावना को अनेक प्रकार के कर्मकांडों में उलझाया है; समाज को नीति-अनीति की भूलभुलैया में भरमाया है और राजनीति को अपने भ्रूविलास के इशारों पर नचाया है । जीवन को धारण करने वाली और उसकी परंपरा बनाये रखने वाली नारी क्या गृहिणी के रूप में और क्या कामिनी के रूप में सदा से पुरुष की सबसे बड़ी प्रेरणा और सबसे विकट पहेली रही है ।

देवदासीसंस्था को गणिकावृत्ति का ही एक प्रकार मान कर उसे जड़मूल से उखाड़ फेंकने का निश्चय

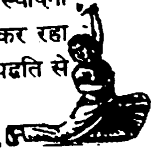
करते समय उसका कलासंस्था को भुला नहीं देना चाहिये । नृत्य, संगीत, अभिनय, शृंगार और वाक्चातुर्य आदि तत्वों का इस संस्था ने जितना पोषण किया है, उतना और किसी ने नहीं । इन कलाओं का संरक्षण और विकास करने के लिए समाज को उनका एहसानमंद होना चाहिये । आज के युग में तो प्रतिष्ठित घरों की कुलस्त्रियाँ भी इन कलाओं की साधना कर सकती है और कर रही है । परंतु बीते हुए बहुत लंबे कालखंड में उनका संवर्धन इसी वर्ग की स्त्रियों ने किया था यह नहीं भूलना चाहिये । पूर्वसूरियों या गुरु के रूप में उनका स्वीकार न करने की या उनका बहिष्कार करने की कृतघ्नता समाज नहीं कर सकता ।

हम देख चुके हैं कि 'देवदासी' अभिधान अधिकांश में तमिलभाषी प्रदेश की देवार्पित नर्तकियों के लिए ही प्रयुक्त होता था । इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से उच्च जाति के पुरुष और नीची जाति की स्त्रियों के संबंध से उत्पन्न संतति को हीन जाति की या 'दास' माना जाता रहा है । जन्म से ही दासता सहन करने के लिए अभिशापित इस वर्ग की स्त्रियाँ 'दासी' कहलाती थी । 'देवदासी' शब्द के अर्थ का विचार इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये । यह शब्द 'देवता की दासी'' की अपेक्षा देवता को अर्पित दासी'' के अर्थ में ही अधिक रूढ हुआ । इन दोनों स्थितियों में ज़मीन-आसमान का अंतर है । बाद में इनके नामाभिधान में चाहे जो परिवर्तन हुए हों, उनकी स्थिति में विशेष अंतर नहीं पड़ा । अनैतिक यौन-संबंधों से उत्पन्न संतति-शिष्टता को स्वीकार्य न होने के कारण उन्हें मंदिरों के गले मढ़ देने में सबकी सुविधा रहती थी । आरंभ में अधिकांश देवदासियाँ समाज की इन अवांछित संतानों में से ही आती थीं; परंतु बाद में, यह प्रथा रूढ़ हो जाने पर, अन्य जातियों में से लड़कियाँ खरीद कर भी उन्हें देवदासी बनाया जाने लगा ।

अन्य प्रकार की गणिकाओं के संबंध में सुनिश्चित और कुछ हद तक उदार होने पर भी देवदासियों के संबंध में धर्मशास्त्रों का रुख सदा अनिश्चित और डाँवाडोल रहा । शास्त्राज्ञा का विचार छोड़ कर जनसाधारण की दृष्टि से देखें, तो भी यही मालूम देगा कि एक ओर तो हिंदू समाज गणिकावृत्ति को त्याज्य समझता है, पर दूसरी ओर, मंदिरों में रहकर गणिकावृत्ति करनेवाली नर्तकियों को स्वीकृति प्रदान करता है । सैद्धान्तिक दृष्टि से परस्पर-विरोधी बिंदुओं पर एक साथ खड़े रहने की कोशिश करनेवाला समाज मनुष्य के विसंगत आचरण का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है । परंतु परस्पर-विरोधी तत्वों का युगपद् दर्शन कराना समाज के सिर्फ इसी क्षेत्र की विशिष्टता नहीं है । शांति का जयघोष करते हुए युद्धविरोधी नारे लगानेवाली प्रजाओं ने ही पिछली आधी शताब्दी में संसार को दो बार विश्वयुद्ध की खाई में झोंका है । देवदासी संस्था आज के युद्धों की विभीषिका से निश्चित रूप से कम भयानक रही होगी ।



ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो यह दिखाई देता है कि देवदासी-संस्था ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में ही बद्धमूल हो चुकी थी । यह कालखंड भारत में बौद्धधर्म का लोप होने का युग था । इस्लाम का विस्तार बड़ी तेजी से हो रहा था और उत्तरी भारत में पराभूत हिंदुत्व दक्षिण में विशाल मंदिरों की स्थापना करके और विस्तृत पूजाविधियों का आयोजन करके अपने अस्तित्व को बचाये रखने की कोशिश कर रहा था । प्राचीन आर्य शास्त्रकारों की बुद्धि किसी भी तत्व का स्पष्टीकरण विभाजन और वर्गीकरण की पद्धति से ही करती थी । देवदासियों के भी निम्नोक्त सात प्रकार गिनाये गये हैं: —



१. दत्ता:— अपने आपको स्वयं देवार्पित करने वाली स्त्रियाँ ।
२. विक्रीता:— मंदिरों को बेची जाने वाली युवतियाँ ।
३. भृत्या:— अपने परिवार को सहायता पहुँचाने के लिए, वेतन लेकर मंदिरों में नृत्य करने वाली स्त्रियाँ ।
४. भक्ता:— देवता के प्रति श्रद्धाभक्ति से प्रेरित होकर, स्वेच्छा से देवालयों में प्रवेश करनेवाली स्त्रियाँ ।
५. ह्रीता :— प्रलोभन में पड़ कर, या किसी के फुसलाने में आकर मंदिरों को अर्पित होने वाली युवतियाँ ।
६. अलंकृता:— नृत्य-संगीत की शिक्षा से संपन्न और वस्त्रालंकारों से सज्ज करके राजा-महाराजाओं और श्रेष्ठी सामंतों द्वारा देवार्पित की हुई दासियाँ ।
७. रुद्रगणिका या गोपिका: केवल धन के लोभ से देवालयों में धीतनृत्य और आनुषंगिक रूप से वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियाँ ।

इस विषय के अभ्यासी रेवरंड फिलिप का कथन है कि ये गणिकाएँ कुशाग्रबुद्धि और अपनी कला में अत्यंत प्रवीण होती थीं । नृत्य-संगीत के उपरांत वे लिखना-पढ़ना भी जानती थीं । उस युग में स्त्री शिक्षा के विरुद्ध सब से प्रबल तर्क यह किया जाता था कि "पढ़ा-लिखा कर हमें हमारी लड़कियों को नर्तकी थोड़े ही बनाना है ।" इस युग के और भी कई अंग्रेज़ लेखकों ने देवार्पित नर्तकियों का उल्लेख किया है । उदाहरणार्थ, एक उल्लेख ऐसा मिलता है कि सन् १७९१ में कर्नाटक के नवाब ने गवर्नर को दावत दी थी, तब भोजन के बाद देवदासियों का नृत्य हुआ था । सर ग्राण्ट डफ को किसी ज़मींदार ने निमंत्रित किया तब भी मंदिर की नर्तकियों का नाच हुआ था; इतना ही नहीं, उन्होंने फ्रेन्च भाषा में एक गीत भी सुनाया था जो उन्हें सुविख्यात फ्रान्सीसी सेनापति बूसी द्वारा सिखाया गया था । माइसोर के टीपू सुलतान का दरबार नर्तकियों से सदा भरा रहता था । उस प्रदेश के सेनाधिकारी जनरल बर्टन ने लिखा है कि पुरानी पीढ़ी के किसी यूरोपीय अधिकारी ने हिंदुस्तानी नर्तकियों को भरती करके एक नृत्य-संगीत मंडली (Corps de Ballet) स्थापित की थी । यह मंडली अंग्रेजी राष्ट्रगीत "गॉड सेव दि किंग" भी गा सकती थी । यह घटना सन् १८०१ की है । यह मंडली इस हद तक कामयाब हुई कि आधी शताब्दी के बाद सन् १८५२ में जनरल बर्टन को जब फिर से उस प्रदेश में जाने का मौका मिला तब भी उसने नर्तकियों के मुख से यह गीत सुना था । कोई भी नर्तकी इसका अर्थ नहीं समझती थी; पर निवृत्त होनेवाली प्रौढ़ाओं ने नयी आनेवाली नर्तकियों को यह गीत सिखा कर पचास वर्ष तक यह परंपरा बनाये रखी थी ।

परंतु अंग्रेजों की श्रेष्ठता की भावना ने इस क्षेत्र में भी अपनी धाक जमायी और गौर प्रजा की श्रेष्ठता के कायल किसी गोरे अफसर ने निम्नोक्त फरमान जारी किया: "जमाबंदी के समय कुछ हिंदुस्तानी लोग हमारे सम्मान में नृत्य-संगीत का आयोजन करते हैं । काफी रुपया खर्च करके आयोजित किये जाने वाले इन समारोहों के पीछे की भावना में समझ सकता हूं और लोगों की सद्भावना से मजबूर होकर कई बार मैं इन जलसों में शरीक भी हुआ हूँ । परंतु यह ऐलान करना मैं अपना फ़र्ज़ समझता हूं कि भारतीय नृत्य-संगीत के विरुद्ध चलने वाले आंदोलन को मेरा संपूर्ण समर्थन प्राप्त है और इस प्रकार के जलसों को मैं पसंद नहीं करता । अत: भविष्य में किसी गोरे अधिकारी द्वारा उन्हें प्रोत्साहन न दिया जाय ।" इस फरमान की पृष्ठभूमि जान लेना भी आवश्यक है । अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ी सभ्यता के संसर्ग से प्रेरणा पाने वाले सुधारवादियों को पेशेवर नर्तकियों के नृत्य-संगीत से बड़ी नफरत थी । इसे वे अश्लील और अनैतिक मानते थे और इसके प्रति घृणा प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते थे । इनमें अंग्रेजों और भारतीयों दोनों का समावेश होता था और उन्होंने भारतीय नृत्य-संगीत के विरुद्ध मानो जिहाद घोषित कर दी थी । बीसवीं शताब्दी में आकर इस पुण्य प्रकोप का जोर कम हो गया और आजकल तो सिर्फ नाटक-सिनेमाओं में ही नहीं, बल्कि मौके बेमौके हर प्रसंग पर नृत्य करने में बड़े-बड़े प्रतिष्ठित परिवारों की लड़कियाँ भी गौरव अनुभव करती हैं ।

ईसवी सन् १९०५ में तब के ब्रिटिश युवराज अपनी पत्नी सहित भारत पधारे थे और अनेक स्थानों पर उनका स्वागत किया गया था । मद्रास की स्वागत-समिति ने यह प्रस्ताव मंज़ूर किया कि युवराज के स्वागत-समारंभ में भारतीय नर्तकियों का नाच न रखा जाय । जिस यूरोपीय प्रजा का सामाजिक जीवन नृत्य और शराब में आकंठ डूबा हुआ है, वह प्रजा और उसके कुछ स्थानिक पिट्ठ भारतीय नृत्य-संगीत का विरोध किस मुँह से करते है यह समझ में नहीं आता । यूरोपीय नृत्य के समर्थन में कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि उसमें पेशेवर नर्तकियाँ नहीं प्रत्युत प्रतिष्ठित और सुशिक्षित स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं । अतः शौकिया किये जाने वाले मनोरंजन के इस प्रकार में अनैतिकता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । परंतु थोड़ा सा विचार करते ही इस तर्क का थोथापन स्पष्ट हो जाता है । आर्यभावना के अनुसार पराये स्त्री-पुरुषों का स्पर्श अनैतिकता का सबसे प्रभावी स्रोत माना जाता है । कामविज्ञान और काम मनोविज्ञान भी इस मान्यता का समर्थन करते है । भारतीय नृत्य में यूरोपीय नृत्य की तरह सहनर्तकी स्त्री का देह-स्पर्श करना या उसकी बगल या कमर पर हाथ रख कर उसे शरीर से सटा कर नृत्य करना आवश्यक नहीं होता । यूरोप के नृत्यगृहों में नृत्य की आड़ में क्या-क्या होता है इसका वर्णन आरंभिक परिच्छेदों में हो चुका है । शौक या रिवाज के नाम पर मनुष्य-समाज में बड़े से बड़े अनाचार खप जाते हैं; परंतु उन्हें व्यवसाय का रूप मिलते ही नैतिकता के ठेकेदारों की भौंहें तन जाती हैं । इन दोनों में से अधिक ईमानदारी की स्थिति कौन सी है, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें ।

पाश्चात्य मानस की विलासप्रियता का कुछ अंदाज़ा प्रस्तुत लेखक के एक निजी अनुभव के सहारे लगाया जा सकता है । सन १९३७ में ग्रामीण स्वास्थ्यविज्ञान परिषद् (Rural Hygiene Conference) में सम्मिलित होने के लिए कई देशों के प्रतिनिधि भारत आये थे । सभा में मेरा बैठने का स्थान मलाया के अंग्रेज़ प्रतिनिधि के साथ था । एक दिन परिषद् की कार्रवाई आरंभ होने से पहले जावा के डच गवर्नर-जनरल की ओर से सब प्रतिनिधियों को एक नृत्य समारोह में उपस्थित रहने का निमंत्रण दिया गया । इन समारोहों में सिर्फ नृत्य ही नहीं होता । खानेपीने का—विशेष तौर से पीने का आयोजन भी बड़े पैमाने पर होता है । नृत्य के लिए स्त्री-पुरुष की जोड़ियाँ पहले से निश्चित कर दी जाती हैं । परिषद् का कार्य आरंभ होने में दस मिनट की देर थी और मेरा साथी मुझसे किसी गंभीर विषय पर विचार-विनिमय कर रहा था । काले हिंदुस्तानियों के नृत्य में शरीक होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था । परंतु मेरा साथी यह घोषणा होते ही अपनी बात अधूरी छोड़कर लपक कर खड़ा हो गया । जाते-जाते आँख मिचका कर मुझसे कहता गया कि ''क्षमा करना । बात-चीत तो फिर होती रहेगी । फिलहाल मैं यह देख आऊँ कि मेरे हिस्से में कोई सुंदरी नवयौवना आती है या नहीं । मिठाई देख कर बच्चों के मुँह में जिस तरह पानी भर आता है उसी प्रकार किसी सुंदरी को बगल में लेकर नाचने की संभावना से इस महाभाग की लार टपकी पड़ रही थी और चेहरे पर व्यक्त होने वाली लालसा को वह छिपा नहीं पा रहा था । इस सभ्यता में पले हुए लोग और उनके अंधानुयायी भारतीय-नृत्य के प्रति तिरस्कार किस बिना पर व्यक्त करते होंगे यह वे ही जान सकते हैं । पेशेवर नर्तकियों का नाच न देखने का निश्चय करने वाले और उस निश्चय की ढोल बजा-बजाकर अभिमानपूर्वक घोषणा करनेवाले पोंगापंथी सुधारकों से भी अपरिचित नहीं है । इनके आडंबर और घमंड के नंगे नाच की अपेक्षा नर्तकियों का नाच अधिक घृण्य होता है यह कहना मुश्किल है ।

कभी-कभी अच्छी भावना से किये हुए कर्म का भी बुरा फल निकलता है । प्रकाश की दिशा में बढ़ना चाहने वाला मनुष्य कभी-कभी अंधकार में भटक जाता है । इसके विपरीत, अंधकार में राह टटोलने वालों को कभी-कभी अनायास ही प्रकाश की किरण दिखाई दे जाती है । इसी नियमानुसार अनेक देवदासियों और नर्तकियों ने अपने धन का उपयोग धर्मकार्यों में किया । गणिकाओं के बनवाये हुए पुल, तालाब, पाठशालाएँ और अन्न छत्र किसी युग में उत्तर से लगा कर दक्षिण तक देश के कोने-कोने में बिखरे हुए थे ।



है जन्मदाता की नहीं । यह संतति पूर्ण रूप से वैध मानी जाती है और उसे किसी प्रकार का सामाजिक कलंक नहीं लगता । लड़कियाँ बड़ी होने पर बसवी बन जाती हैं । समाज में बसवी का मानसम्मान अन्य प्रतिष्ठित महिलाओं के जैसा ही होता है । वह कभी विधवा नहीं होती, इस मान्यता के कारण उसकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता है । मंदिर से संबंधित होने पर भी उस पर सेवापूजा आदि की जिम्मेदारी नाममात्र की ही होती है । उसकी गणिकावृत्ति भी अन्य सामान्याओं की तरह नहीं होती । कभी-कभी खुली वेश्यावृत्ति करने के अपवाद छोड़ दिये जायँ, तो अधिकांश में वह एक ही पुरुष के साथ संबंध रखती हैं जिससे उसे निश्चित साप्ताहिक रकम और वर्ष में एक बार कपड़े-लत्ते मिलते रहते हैं । सामान्यतः बसवी इस पुरुष के प्रति एक निष्ठ रहती है । पूरे परिवार का इससे गुज़ारा न होता हो, तो वह घरेलू काम करके भी थोड़ा-बहुत रुपया कमा लेती है । साधारण स्त्रियों से भिन्न दिखाई दे, ऐसा कोई चिह्न उसमें नहीं होता ।

'नारायण देवर केरी' नामक देवालय-नगर में केवल 'बोया' और बसवियों की ही बस्ती है । रथयात्रा के दिन जब तक देवता का रथ नगरयात्रा करके मंदिर में वापस नहीं आ जाता तब तक उन्हें उपवास करना पड़ता है । रथ खींचने का काम 'बोया' पुरुष करते हैं । जुलूस में अधिक भीड़ होने के कारण या टूट-फूट की मरम्मत के लिए रथ कभी-कभी रात-रात भर मंदिर के बाहर रहता है । इस हालत में ये लोग घर नहीं जा सकते । रात को रथ के इर्दगिर्द ही सो जाते हैं । रथ वापस पहुँच जाने पर देवालय की बसवियाँ उन्हें भोजन कराती हैं । कुछ अत्यंत निर्धन प्रदेशों में ऐसी प्रथा होती है कि प्रतिवर्ष रथ-यात्रा के दिन बसवी अपना प्रेमी बदल सकती है । उसकी माँग थोड़े-बहुत गहने-कपड़ों से अधिक नहीं होती । यदि पुराना प्रेमी ही इस माँग को पूरी कर दे, तो वह उसी के घर में बनी रहती है । परंतु अत्यंत दरिद्र प्रदेशों में हर साल यह माँग पूरी करना हर पुरुष के लिए संभव नहीं होता । इस हालत में बसवी हर साल नया प्रेमी पसद कर सकती है । बसवी की माँग पूरी करने के लिए पुरुषों को अकसर चोरी करनी पड़ती है । परिणाम-स्वरूप रथयात्रा के उत्सव के समय छोटी-मोटी चोरियों का प्रमाण बहुत बढ़ जाता है और पुलिस को काफी दौड़धूप करनी पड़ती है ।

कुर्नूल ज़िले में बसवी बनाने की प्रथा कुछ भिन्न प्रकार की है । उसका किसी मूर्ति के साथ विवाह नहीं किया जाता । शुभदिन देखकर किसी मंदिर के दीपक के साथ उसे फूलमाला से बाँध दिया जाता है । पर्याप्त धन देकर प्रथम-समागम का अधिकार प्राप्त करनेवाला पुरुष माला तोड़ कर अपना अधिकार स्थापित करता है । धन देने वाला कोई पुरुष न मिले, तो यह क्रिया लड़की के मामा को करनी पड़ती है । इसके बाद जातिभोजन होता है और बसवी सर्वगम्या गणिका बन जाती है । गोदावरी, कृष्णा और नेलोर ज़िलों में देवार्पित होने वाली बोगमसानी नामक देवदासियों का नृत्य संगीत के साथ विशेष संबंध नहीं होता । उनकी गणना भी कलावतियों में न होकर नौकरानियों में होती है । उनसे संबंध रखनेवाले पुरुष अकसर समृद्ध ज़मींदार होते हैं; फिर भी उनकी स्थिति साधारण वेश्याओं से बेहतर नहीं होती । उड़िया प्रदेश में नर्तकियों को 'गुणी' कहा जाता है । इस प्रदेश में उनका देवालयों के साथ का संबंध प्रायः समाप्त हो गया है । अब तो देवार्पण की विधि भी नहीं होती । मंदिरों के साथ नाममात्र का संबंध रखकर वे हीनतम प्रकार की वेश्यावृत्ति से ही उदरनिर्वाह करती हैं ।

८

पुनरावलोकन : कुछ निष्कर्ष और कुछ अनुमान

देवदासी प्रथा और उसकी प्रादेशिक विशिष्टताओं के इतने अध्ययन के बाद इस रिवाज की

इनमें के कुछ आज तक बचे हुए हैं । मादुसोर का चन्नरायप्पम्म तालाब और चापानेर का पातर तालाब गणिकाओं के ही बनवाये हुए हैं ।

दक्षिण भारत में देवदासियाँ वलगाड़, हुवगाई, बोगम, तेवाडियल, बसों, कुडिक्कर, …कल, कुलक्कुडी, मिंडक्कटी, कुडक्कुल, बयदरी बसी इत्यादि स्थानीय नामों से परिचित रहीं । इनमें से आतेम था क संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध हो सकी है । 'बसवी' का शब्दार्थ और इस संस्था के पीछे की भावना विचारणीय है । बहुत से हिंदू-परिवारों में मृतक की आत्मा के कल्याण के हेतु से सांड छोड़ा जाता है । यह किसी आवश्यक वस्तु का सार्वजनिक उपयोग के लिए देवार्पित करने की प्रथा का ही एक प्रकार है । दक्षिण में देवार्पित सांड को 'बसव' कहते हैं । 'बसवी' इसी शब्द का स्त्रीलिंगी रूप है । अतः किसी स्त्री को 'बसवी' बनाने का अर्थ उसे सार्वजनीन उपयोग की सर्वभोग्या बनाना ही होता है । इतना होने पर भी मानव 'बसवी' को कलंकित नहीं माना जाता था । उसकी संतति का भी अपमान या तिरस्कार नहीं किया जाता था बल्कि हिंदू-समाज की अन्य अनेक जातियों के समान उन्हें भी एक अलग जाति मान लिया जाता था । अपना सामाजिक कर्तव्य पूरा करने वाली अन्य किसी जाति की तरह इस जाति को भी समाज की स्वीकृति प्राप्त थी । किसी युग में 'बसवी' का उपयोग 'बोया' नामक पेशेवर सैनिकों की कामतृप्ति के लिए और युद्ध में आहत योद्धाओं की सेवाशुश्रूषा के लिए किया जाता था । युद्ध में विवाहित पत्नियों को तो ले नहीं जाया जा सकता । परंतु सैनिकों को युद्ध भूमि में भी स्त्रियों की आवश्यकता पड़ती है । परापूर्व से यह आवश्यकता पण्यांगनाओं द्वारा ही पूरी होती रही है । अतः किसी विशिष्ट युग में यह काम देवार्पित पण्यांगनाओं के सुपुर्द कर दिया गया हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं । देवार्पण की भावना इस निर्लज्ज और निरंकुश पेशे को थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त कर देती होगी । 'बसवी' की प्रथा आरंभ में धर्म से संबंधित रही थी परंतु बाद में उसका सेनाओं के लिए अधिकाधिक उपयोग होने लगा । धर्म, गणिकावृत्ति और युद्ध के अनिष्टकारी समवाय का यह प्रथा एक और उदाहरण उपस्थित करती है ।

'बसवी' बनने के लिए किये जाने वाले प्रार्थनापत्रों के कुछ नमूने देख लेना यहाँ उचित होगा । सत्रह वर्ष की एक युवती ने इस प्रकार अरज़ी की थी: —''हमारी जाति की प्रथानुसार मुझे बसवी बन कर गुरु से दीक्षा लेनी है । मैं बालिग हूं और मेरा विश्वास है कि शंखचक्र की छाप लेने का मुझे अधिकार है । मेरी बिनती है कि मेरी उम्र की तहकीकात करके मुझे बसवी बनने की इजाज़त दी जाय ।'' सत्रह और उन्नीस वर्ष उम्र की दो बहनों ने इस प्रकार अरज़ी की थी: ''हमारे माता-पिता की मृत्यु हो चुकी है । विवाह करके घर बसाने की हमारी इच्छा नहीं है । हम गणिकाजीवन गुज़ारना चाहती हैं । हमारी माता भी यही पेशा करती थी । हमारी जाति की धार्मिक मान्यता के अनुसार हम अपने आपको देवार्पित करना चाहती हैं । डाक्टरों द्वारा हमारी उम्र का निश्चय करवा कर हमें मंदिर में बसने की अनुमति देने की कृपा की जाय ।'' फौजदारी कानून के अंतर्गत नाबालिग लड़कियों के देवार्पण को गैरकानूनी मान लिया जाने के कारण इस प्रकार के प्रार्थना पत्रों से काम निकाला जाने लगा । उम्र का प्रमाणपत्र देने वाले डाक्टरों का भी इस प्रकार की गणिकावृत्ति के विस्तार में काफी योगदान रहा । अपना अस्तित्व टिकाये रखने के लिए मनुष्य कठिन से कठिन परिस्थिति में भी कोई न कोई युक्ति ढूंढ ही लेता है । बाल गणिकाओं की संख्या कम करने के लिए उम्र का प्रतिबंध लगाया गया, तो लोगों ने डाक्टरों और मैजिस्ट्रेटों को गणिकावृद्धि के कार्य में साझेदार बनाया । अरज़ी करने वाली युवती के बालिग होने का डाक्टरी प्रमाणपत्र मिलते ही न्यायाधीश उन्हें देवार्पित होने की अनुमति दे देते थे । सामाजिक विचित्रताएँ इन्हीं मार्गों से जन्म लेती हैं और इन्हीं प्रकारों से पनपती हैं ।

बेल्लारी जिले की बसवियाँ पुत्र के अधिकार प्राप्त करके, विवाह किये बिना पितृगृह में ही रहती हैं । वेश्यावृत्ति करने के साथ-साथ वे अपनी ही जाति के या अपने से उच्चजाति के किसी पुरुष की रखैल के रूप में रहती हैं । इस प्रकार के संबंध से जन्म लेने वाली संतति बसवी के पिता को ही अपना पिता मानती है —जन्मदाता पिता को नहीं । उनकी जाति भी बसवी के पिता की जाति मानी जाती

ऐतिहासिकता के संबंध में स्थूलमान से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । यथा:—

१. वेदकाल में धर्म के साथ गणिकावृत्ति का सीधा संबंध होने के प्रमाण नहीं मिलते । गणिकावृत्ति किसी न किसी रूप में विद्यमान थी ज़रूर, पर धर्म के साथ उसका कोई संबंध नहीं था ।

२. स्मृतियुग में गणिकाओं को कठोर अनुशासन में रखा जाता था । गणिकावृत्ति का सामाजिक स्वीकार हो चुका था और गणिकाओं को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान भी मिल चुका था; परंतु धार्मिक गणिकावृत्ति का उद्‌भव नहीं हुआ था । गणिकाओं का सामाजिक स्वीकार तो इस हद तक बढ़ा कि वे नगरों के दैनंदिन जीवन की एक आवश्यकता बन गयीं ।

३. पुराणकाल तक पहुँचते-पहुँचते उनकी समृद्धि अत्यधिक बढ़ गयी । गणिकाएँ देवार्पित की जाने के उल्लेख पहली बार पुराणों में ही मिलते हैं ।

४. वैभव और कलाज्ञान की दृष्टि से बौद्धयुग की गणिकाएँ उत्कर्ष के सर्वोच्च बिंदु पर पहुँची । बौद्धयुग में वैसे तो गाना सुनना या नृत्य देखना ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध माना जाता था; पर इस नियम का किसी ने पालन किया हो ऐसा दिखाई नहीं देता । बौद्धधर्म में गणिकाओं को स्थान मिल चुकने पर बौद्ध समाज में उनका पर्याप्त आदर-सम्मान होने लगा था । गणिकाओं को राज्य के महत्वपूर्ण कार्य सौंपे जाते थे और सामाजिक जीवन में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिलता था इसका जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है । राजमहलों में गणिकाओं की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी और राजाओं पर उनका यथेष्ट प्रभाव था । भिक्खुणी-संघों में स्थान प्राप्त करने के बाद गणिकाएँ बौद्धधर्म और उसकी विविध संस्थाओं को निश्चित रूप से प्रभावित कर सकी थीं ।

५. बौद्धयुग के समाज में धार्मिक क्रियाओं और उत्सवों में गणिकाओं को सम्मानपूर्ण स्थान मिलता था । आरम्भ में बौद्ध मंदिरों में और फिर उनकी देखादेखी हिन्दू मंदिरों में भी गणिकाओं का नृत्य होने लगा और देवालयों के साथ उनका संबंध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया । इसके बाद तांत्रिक साधना में स्त्री का महत्व बढ़ जाने पर देवालयों के साथ गणिकाओं का संबंध और भी निकट होता गया । सोमनाथ के मंदिर में पाँच सौ नर्तकियाँ होने का उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है । वैभव के इस स्तर पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रथा का आरंभ इससे कई शताब्दियों पहले हो चुका होगा ।

६. इस्लाम के आक्रमण के बाद के युग में असहिष्णु राज्यसत्ता के प्रभाव के कारण इस प्रथा का विस्तार होना संभव नहीं था । परंतु धर्म निरपेक्ष गणिकावृत्ति की व्यापकता मुस्लिम युग में बहुत बढ़ गयी और मुगल सल्तनत के ह्रासकाल के विलासी वातावरण में तो गणिकावृत्ति एक निखरी हुई कला और सामाजिक आवश्यकता बन गयी । उस निर्माल्य युग की खोखली तहज़ीब ने वेश्यावृत्ति का बहुत अधिक पोषण किया । विलास के इस उत्तेजक वातावरण के बावजूद उत्तरी भारत में धर्म के साथ गणिकावृत्ति का संबंध बद्धमूल नहीं हो सका ।

७. इसके बाद की शताब्दियों में उत्तर भारत की गणिकावृत्ति पूर्ण रूप से ऐहिक हो गयी । गणिकाओं में हिंदू-मुसलमान जैसे धार्मिक भेद अवश्य रहे, पर इसके सिवा धर्म के साथ उनका कोई संबंध नहीं रहा और वे धर्म या उसके कर्मकांड को किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकीं । देवालयों में नृत्य करने वाली, उत्तरी भारत की 'राजकन्या' नाम से परिचित नर्तकियों को अपवाद रूप ही माना जा सकता है । राजस्थान की 'भक्तिनें' और मंदिरों में नृत्य करनेवाली राजनर्तकियों को भी बिखरे हुए अपवाद ही मानना पड़ेगा । उत्तरी भारत के प्राचीन स्थापत्य के अवशेषों में भी लाहौर के सूर्यमंदिर, प्रभास के शिवमंदिर और खरसिया ग्राम के पास की गुफाओं के शिल्प के सिवा देवार्पित गणिकावृत्ति के अधिक प्रमाण नहीं मिलते । साहित्यिक उल्लेख भी मथुरा की नर्तकी रूपीणिका के जैसे दो-चार उदाहरणों तक ही सीमित है । इन प्रमाणों से यही स्थापित होता है कि उत्तरी भारत देवालयों से संबंधित नर्तकियों से नितांत अपरिचित नहीं था और विभिन्न युगों में

देवार्पित नर्तकियों का अभिनन्द अवश्य रहा: परंतु दक्षिण की देवदासी-संस्था जैसी संघटित प्रथा का उत्तर में कभी प्रचार नहीं हुआ। इसका एकमात्र कारण इस्लाम का प्रभाव ही था या अन्य शक्तियाँ भी इस दिशा में काम कर रही थीं, इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उत्तरी भारत के हिंदू स्थापत्य का मुसलमान आक्रामकों द्वारा ऐसा बर्बर विनाश हुआ कि बीते हुए युग की कहानी कहने वाले खंडहर भी बाकी नहीं बचे।

८. परंतु ज्यों-ज्यों हम दक्षिण की ओर बढ़ें, त्यों-त्यों धार्मिक गणिकावृत्ति का प्रचलन भी बढ़ता जाता है। जगन्नाथजी का मंदिर मध्य भारत के पूर्वी सिरे पर है। इस मंदिर के महंतों और पुजारियों का विकृत कामजीवन सदा से चर्चा का विषय रहा है। इस देवालय के साथ गणिकाओं का घनिष्ठ संबंध होने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। इस स्थान से आरंभ होने वाली धार्मिक गणिकावृत्ति विंध्य से पार होने वाली सीधी रेखा में बम्बई तक पहुँचती है। यह रेखा ही उत्तर को दक्षिण से विभाजित करती है। इसके दक्षिण में जितने आगे बढ़ें, धार्मिक गणिकावृत्ति और देवार्पित नर्तकियों की संख्या उतनी ही स्पष्ट, सुस्थापित और विस्तृत होती जाती है।

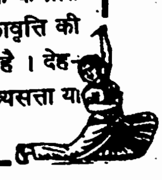
९. देवदासी को वास्तव में दासी नहीं बल्कि देवता की पत्नी माना जाता था। उसका दासत्व उसके पत्नीत्व से ही संबंधित था। आज की बात तो मालूम नहीं, पर अभी कुछ वर्ष पहले तक पत्नी को पति की दासी कहलाने में किसी प्रकार की लज्जा या संकोच का अनुभव नहीं होता था। हम देख चुके हैं कि देवदासी का देवप्रतिमा के साथ विवाह अनिवार्य रूप से होता था। उसके बाद देवता की सेवापूजा और मंदिर के अन्य अनेकविध कार्यों में देवदासी लीन हो जाती थी। देवता की पाषाण या काँसे की प्रतिमा उसके देहधर्म को संतुष्ट नहीं कर सकती थी। इसमें से मार्ग निकालने का एकमात्र तरीका यह था कि आरंभ में मर्यादित और बाद में अमर्याद देह-संबंध करने की उसे एक प्रकार से छूट दे दी जाय। देवता के साथ का उसका रहस्यमय संबंध, उसकी उच्चकोटि की कलासाधना और शरीर पर के शंखचक्र आदि दिव्य चिह्न उसके चारों ओर रहस्य और आकर्षण का एक मोहक वातावरण उत्पन्न कर देते थे जो जनसाधारण के मन में उसके प्रति सम्मान, आश्चर्य, भय और मोह की मिलीजुली भावना उत्पन्न करता था। इस प्रथा को नष्ट करने के प्रखर प्रयत्न हुए जिनके परिणाम-स्वरूप आज वह नष्ट प्राय: हो चुकी है। परंतु सुदूर दक्षिण में वह किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है।

१०. इस प्रथा का प्रथम लिखित प्रमाण दसवीं शताब्दी के चोल राजवंश के समय का मिलता है। मध्यकाल के अनेक विदेशी यात्रियों ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। पुराणों में भी कुछ उल्लेख हुए हैं जिनसे अध्ययन की थोड़ी-बहुत सामग्री मिल जाती है।

११. विजयनगर के शक्तिशाली और समृद्ध राज्य में देवदासियों का वैभव बहुत अधिक बढ़ा। धीरे-धीरे वे देवालयों के बाहर फैलने लगीं। उनकी मंदिर सेवा क्रमश: कम होती गयी और देह-भोग उसी अनुपात में बढ़ता गया उनके देवार्पण की विधि विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग रही। इस विधि का कर्मकांड हर प्रदेश में कुछ उलझा हुआ ही रहा।

१२. देवदासियों को नृत्य संगीत की शिक्षा उच्च कोटि की मिलती थी। उनका जीवन अंततोगत्वा गणिका का ही जीवन होने पर भी नियमित और अनुशासनबद्ध था। 'बसवी', 'वलंगाइ' आदि प्रकारों को कुछ अंश में सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिल सकी थी। देवदासियों की पुत्रियों को पुत्र के सारे अधिकार प्राप्त थे।

१३. सभ्य समाज में देवदासियों की अब कोई प्रतिष्ठा नहीं रही। प्रतिमा के रूप में दैवीशक्ति के प्रति श्रद्धा भी दिनों दिन कम होती जा रही है। देवता के नाम पर या धर्म की आड़ में गणिकावृत्ति की जाय, या करनी पड़े, यह कल्पना ही आज के मानस को सह्य नहीं है। यही उचित भी है। देह-विक्रय के लिए किसी भी बालिका का दुरुपयोग करने का अधिकार उसके मातापिता, राज्यसत्ता या



पंडे-पुरोहित, किसी को भी नहीं होना चाहिये । अत: वर्तमान युग में यह संस्था अंतिम साँसे ले रही है । लोकमत और लोक़शासन, दोनों का इस के प्रति ऐसा प्रचंड विरोध जागृत हो चुका है कि अब उसका दस-पाँच वर्ष से अधिक जीवित रहना संभव दिखाई नहीं देता ।

धर्म जैसी पवित्र भावना में से ऐसी पतित संस्था का विकास किस तरह संभव हुआ इसका कुछ ऐतिहासिक विवेचन हम कर चुके हैं । इस प्रश्न का अंतिम उत्तर तो मनोविज्ञान और समाजशास्त्र भी आज तक नहीं दे सके हैं । इस विषय में, अधिक से अधिक, कुछ संभावनाएँ स्वीकृत की जा सकती हैं और कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं । इन प्रयोगों द्वारा ही प्रकाश की कुछ झलक दिखाई दे सकती है । अब तक के अध्ययन में स्वीकृत हो चुकने वाले कुछ तत्वों का यहाँ पुनरावलोकन कर लेना उचित रहेगा ।

१. बलिदान की भावना : देवी-देवता को बलि देकर खुश रखने की भावना किसी भी धर्म के प्राथमिक स्वरूप में आवश्यक रूप से पायी जाती है । बाद में धर्म का स्वरूप परिष्कृत हो जाने पर भी यह भावना कुछ सौम्य रूप में चलती रहती है । बलि की भावना से स्त्री का वध करने की अपेक्षा उसे देवार्पित करके जीवित छोड़ देना निश्चित रूप से सभ्यता की दिशा में बढ़ाया हुआ कदम माना जायगा । बाद में इसके साथ अनेक प्रकार की विकृतियाँ जुड़ गयीं यह अलग बात है; परंतु आरंभ में उत्पादकता के प्रतीक रूप स्त्री को देवार्पित करने से देवताओं का कोप शांत होता है और धनधान्य की वृद्धि हो कर प्रजा पर देवताओं का आशीर्वाद बरसता है, यही भावना थी ।

२. सामूहिक विवाह का तत्व :— देवार्पित गणिकावृत्ति को सामुदायिक विवाह की प्रथा का अवशेष या उसका कुछ परिवर्तित रूप भी माना जा सकता है । देवार्पित नर्तकियों की संस्था में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिंब देखा जा सकता है जिसमें समुदाय का पुरुषवर्ग अपने समूह के पूरे स्त्री वर्ग का सामुदायिक रूप से उपभोग करता था । अमुक पुरुष के लिए अमुक स्त्री, ऐसी निश्चित व्यवस्था समाजरचना के इस स्तर पर विकसित नहीं हो सकी थी । वैसे यह स्थिति मानव-सभ्यता के अत्यंत प्राचीन युग में ही विद्यमान थी । परंतु इसकी कुछ गूंज बाद के युगों मे भी सुनाई देती रही थी । हम देख चुके हैं कि लिच्छवी गण में गण की असाधारण सौंदर्यवती युवतियों को पूरी प्रजा के सार्वजनीन उपभोग के लिए वारांगना बना दिया जाता था ।

३. मातृसत्तामूलक समाजव्यवस्था :— मातृत्वप्रधान परिवार-रचना में पितृत्वप्रधान व्यवस्था जैसा स्थैर्य नहीं आ पाता । इस व्यवस्था में स्त्री को केन्द्र मानकर उसकी संतान और परिवार के अन्य सदस्यों का स्थान निश्चित होता है । परिवार की आर्थिक व्यवस्था और तज्जन्य सामर्थ्य भी स्त्री के ही हाथों में रहती है । परिवार की सर्वाधिकार प्राप्त स्त्री यदि पुरुष संबंध की विविधता के प्रयोग करने का निश्चय कर ले, तो उसमें से व्यभिचार और बाद में गणिकावृत्ति का उद्भव होने की संभावना बहुत अधिक रहती है । देवदासी संस्था पूर्ण रूप से मातृत्वप्रधान है । इस हालत में उसमें इस प्रथा के संपूर्ण गुण-दुर्गुण आ जाना स्वाभाविक है ।

४. अतिथि-सत्कार :— हमारे यहाँ माता-पिता और गुरु के साथ अतिथि को भी देवरूप अतएव श्रद्धेय घोषित किया गया है । अतिथि-अभ्यागत का सर्वांगीण आदरातिथ्य करना हो, तो उसकी कामवासना भी संतुष्ट करनी चाहिये । अतिथियों के उपभोग के लिए घर की स्त्रियों या दासियों की नियुक्ति करने की प्रथा इसी भावना के सहारे रूढ़ होती है । इसके आरंभिक रूप में मेहमान की खातिर के लिए स्वपत्नी की ही नियुक्ति होती थी; यह हम देख चुके हैं । घर की किसी आश्रिता स्त्री, दासी, गणिका या देवार्पित देवदासी की नियुक्ति इसी प्रथा के विभिन्न रूप हैं । देवार्पित देवपत्नी अपनी वासना के शमन के लिए अकसर पंडे-पुजारियों, दर्शनाभिलाषी भक्तों और श्रद्धालु यात्रियों की सहायता तो लेती ही थी । इससे एक कदम आगे बढ़ कर यही देवपत्नी यदि अभ्यागतों को भी सुख पहुँचाये, तो इससे किसी को कोई शिकायत होने की संभावना नहीं थी । आतिथ्यप्रेरित गणिकावृत्ति संस्कृति के आदिम रूपों का अनिवार्य अंग थी; और इसमें

देवदासियों का काफी योगदान रहा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं ।

५. समृद्धि और उर्वरता के प्रतीक रूप में स्त्रीत्व का पूजन :—प्राकृतिक उपज की विपुलता, धरती की उर्वरता और पशुधन एवं मानववंश की वृद्धि उपार्जित करने के हेतु से उत्पादकशक्ति के प्रतीक रूप में स्त्री को महनीय मानने की विचारधारा अत्यंत पुरानी है । स्त्री को सृष्टिमात्र की वृद्धि का प्रतीक मान लेने पर उसकी प्रतिष्ठा तो बढ़ती है, पर साथ ही उसकी सर्वगम्यता भी स्थापित होती है । बाद में महत्ता की भावना तो कर्मकांड के जंजाल में खो जाती है और शेष बचती है केवल स्त्री की सर्वभोग्यता । देवार्पित स्त्रियों की गणिकावृत्ति के पीछे यह प्रक्रिया भी निश्चित रूप से चलती रहती है ।

६. कौमारभंग का अवास्तव महत्त्व :— संस्कृति के सभी सोपानों पर, संसार की सभी प्रजाओं में स्त्री के कौमारभंग को कुछ अवास्तव और आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है । कई पुरानी सभ्यताओं में पति के बदले अन्य किसी पुरुष से कौमारभंग कराने की प्रथा प्रचलित थी; यह हम देख चुके हैं । देवदासी संस्था में इन दोनों बातों का महत्व सर्वोपरि माना जाता था । देवदासी के कौमारभंग को उसके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना जाता था जिसे, देवता के प्रतिनिधि के रूप में, धन देने वाला कोई भी पुरुष संपन्न कर सकता था । देवदासी-संस्था के सर्वांगीण अध्ययन में इस तत्व का महत्व भुलाया नहीं जा सकता ।

७. अश्लीलता की ओर झुकाव :— प्रजनन की गूढ़ प्रक्रिया मनुष्यजाति को सदा से विस्मित करती रही है । आरंभ में इस तत्व को सही रूप में समझ न पाने के कारण वह आश्चर्यचकित होकर उसकी पूजा करने लगा था । फिर धीरे-धीरे उसका पूज्यभाव तो तिरोहित होता गया और उसके स्थान पर संभोग-क्रिया के आनंद ने ही उसकी चेतना पर संपूर्ण रूप से काबू पा लिया । इस आनंद की अभिव्यक्ति का हर प्रकार उसे और भी अधिक आनंद देने लगा और भोग से संबंधित हर बात उसके हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करने लगी । आरंभ का कुतूहल जनन-प्रतीकों की अश्लील पूजा में परिणत हो गया और पंडे-पुरोहितों ने इसे प्रोत्साहन दिया । धीरे-धीरे इस पूजन ने वाममार्ग का रूप धारण कर लिया और तंत्रसाधना की धार्मिक विधियों में देवार्पित स्त्रियों का मनमाना उपभोग और वासनातृप्ति के क्षेत्र में अमर्याद स्वेच्छाचार रूढ़ हो गया । शताब्दियों के विस्तार में फैली हुई यह धीमी प्रक्रिया ठीक इसी रूप में घटित न भी हुई हो, पर सत्य इससे अधिक भिन्न नहीं रहा होगा ।

८. शिश्नपूजा :— भारत में द्रविड़-प्रदेश में अत्यंत प्राचीन काल से प्रजनन के अंगों की पूजा होती आयी है । आर्य विचारधारा में इसको स्थान नहीं था पर आर्यपूर्व मानी जाने वाली सिंधु-संस्कृति में शिश्नपूजा के निश्चित प्रमाण मिलते हैं । देवार्पित नर्तकियों की प्रथा पर इस प्राचीन रूढ़ि का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा हो, यह संभव है ।

उपरोक्त सारे विधान संभावनाओं को टटोलने के प्रयत्न मात्र हैं । इन सब को एकत्रित करने पर भी धार्मिक गणिकावृत्ति का चित्र पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होता । निश्चित रूप से केवल यही कहा जा सकता है कि अनेक प्राचीन संस्कृतियों में धर्म के साथ गणिकावृत्ति का घनिष्ठ संबंध रहा था । प्रत्येक देश की धर्मसंबंधित गणिकावृत्ति को एकसमान भी नहीं माना जा सकता । उद्भव की परिस्थितियाँ, प्रचार के कारण और विस्तार की व्याप्ति आदि कई दृष्टियों से उनमें देशकालजन्य अंतर पाया जाता है । इनकी केवल तुलना हो सकती है; पर इनमें एकात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न व्यर्थ है । केवल भारत का विचार करें, तो यही कहा जा सकता है कि देवदासी प्रथा अब क्षीण होकर अंतिम साँसें भर रही है । परंतु धार्मिक गणिकावृत्ति के विलय का ऐहिक गणिकावृत्ति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है । इस रूप में तो वह दिनों-दिन शक्तिशाली और अधिकाधिक विस्तृत होती जा रही है । वर्तमान युग की अमर्याद गणिकावृत्ति का पाश्चात्य देशों की पृष्ठभूमि में हम पर्याप्त विचार कर चुके हैं । आगे के परिच्छेदों में भारत की स्थिति का विचार किया जायगा ।

सातवाँ परिच्छेद
वर्तमान भारत में गणिकावृत्ति

१
आज की परिस्थितियाँ

भारत की वर्तमान विचारधारा पर अतीत की अनेकविध संस्कृतियों की तहें जमी हुई हैं। इतिहास हमें भूतकाल में जहाँ तक पीछे ले जाता है वहीं से आरंभ करें, तो मोहनजोदड़ो की सिंधुतट-संस्कृति से लगाकर द्रविड, वैदिक, जैन, बौद्ध, यूनानी, शक, नूतनआर्य, इस्लामी और आँग्ल संस्कृतियों का हमारे हृदय और मस्तिष्क पर कम-अधिक प्रभाव पड़ता आया है। भील, कोल, किरात, गोंड, मुंडा, टोडा, नाग इत्यादि आदिम जातियों के रूप में प्रागैतिहासिक युगों के अवशेष भी आज तक सुरक्षित रहे हैं। इन अर्धसभ्य जातियों ने द्रविड और आर्य जैसी सुसंस्कृत प्रजाओं को न सिर्फ प्रभावित ही किया था बल्कि उन्हें कुछ हद तक अपने रंग में रंग कर दोनों के समन्वय की प्रक्रिया में भी सहायता पहुँचाई थी। इन सब के कुछ न कुछ चिह्न हमारी भाषाओं और सभ्यता में आज भी पाये जाते हैं। एल्विन वॅरियर, रिवर्स प्रभृति विद्वानों ने इन जातियों के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इन अनेकविध संस्कृतियों के संग्रहस्थान के रूप में या उनके पारस्परिक प्रभावों को अपने विशाल उदर में समा कर उनके बहुरंगी समन्वय के रूप में विकसित आज का भारतीय समाज बीसवीं शताब्दी के संसार के लिए कुतूहल का विषय बन गया है। वर्तमान भारत उसके प्राचीन रूप से अनेक दृष्टियों से भिन्न हो चुका है। कहीं-कहीं तो पहचाना न जा सके इतना बदल गया है और परिवर्तन की यह प्रक्रिया अब भी चलती आ रही है। कुछ वर्ष पहले स्वराज्यप्राप्ति की कीमत के रूप में सिंध, पंजाब, बंगाल आदि का बलिदान भी इस निरंतर परिवर्तन की ही गवाही देता है। वेदों का प्रथम उच्चार सुनने वाले सप्तसिंधु और पश्चिमी पंजाब का प्रदेश अब भारत का हिस्सा नहीं रहा। हमारी आद्य संस्कृति को पालने में झुलाने वाला और इस समूचे देश का नामकरण करनेवाला प्रदेश आज पराया हो गया है।

परंतु इतिहास और संस्कृति के इन लौटफेरों के बावजूद गणिकासंस्था अब तक जीवित रही है। उसके रूपरंग और बाह्य आकृति में चाहे जितना परिवर्तन हुआ हो, देह-विक्रय के बुनियादी तत्व में कोई फर्क नहीं पड़ा और मानवजाति का सबसे पुराना माना जाने वाला यह व्यवसाय बंद नहीं हुआ। गणिकामातृका कुटनी कहला कर आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। विट-चेट, साज़िंदे, और गुंडे-शोहदे आदि उसके सहायक और रक्षक भी उसके व्यवसाय के साझेदार के रूप में ज्यों के त्यों जीवित रहे हैं। साहसिक शौकीनों के रूप में उसका पोषकवर्ग भी बिना किसी परिवर्तन के चला आ रहा है और गणिका-व्यवसाय नागरिक समाज का आज भी वैसा ही जटिल प्रश्न बना हुआ है। माना कि आज की गणिका मोहन जोदड़ो की नर्तकी की तरह गले में हँसली नहीं पहनती और अजंता के भित्ति चित्रों की कलावतियों की तरह वक्ष खुला रख कर नहीं घूमती। परंतु वस्त्र-परिधान, अलंकरण, केश-रचना और शृंगार-प्रसाधन की कुछ विशिष्टताएँ उसने अब तक बनाये रखी हैं जिनके कारण समाज की साधारण नारियों से वह आज भी अलग दिखाई देती है और अतीत के बीते युगों की तरह वह आज भी नगर संस्कृति का अभिन्न अंग बनी हुई है।

आज की परिस्थितियों ने तो नगरों के साथ के उसके संबंध को और भी अविच्छेद्य बना दिया है। कारण अलग-अलग हो सकते हैं, पर अंततः हर बड़े शहर में देह-विक्रय का पेशा बड़े पैमाने पर चलता ही

है । बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर आदि शहर बड़े बंदरगाह या औद्योगिक नगर होने के कारण वेश्यावृत्ति के केन्द्र बने हुए हैं तो देहली, लखनऊ, आगरा, अलीगढ़, हैदराबाद, अजमेर, लाहौर आदि नगर मुस्लिम संस्कृति के केन्द्र होने के कारण । सैनिक छावनी वाले हर नगर के इर्दगिर्द तो वेश्या व्यवसाय आवश्यक तौर से विकसित होता है । यहाँ तक तो आश्चर्य की कोई बात नहीं; परंतु काशी, मथुरा, प्रयाग, नासिक आदि तीर्थधामों को वेश्यावृत्ति के केन्द्र बने हुए देख कर वाकई विस्मय होता है । इसे हमारी संस्कृति की एक लज्जास्पद विकृति के सिवा और क्या कहा जा सकता है । गणिकावृत्ति की व्यापकता में उत्तर-दक्षिण जैसा कोई भेद नहीं पाया जाता । सैनिकों, सैलानियों, विदेशियों, और व्यापारियों का जमघट जुड़ने की जहाँ भी संभावना हो, वहाँ वेश्यावृत्ति आवश्यक रूप से पायी जाती है । फर्क सिर्फ इतना रहता है कि कहीं वह चोरी-छिपे चलती है तो कहीं खुले आम; कहीं कानून और शासन-व्यवस्था के कठोर नियंत्रण में चलती है, तो कहीं उनके परोक्ष प्रोत्साहन के साथ ।

राजधानियों, औद्योगिक नगरों, बंदरगाहों और तीर्थ-क्षेत्रों की तो बात ही क्या, द्वितीय श्रेणी के नगरों और छोटे-मोटे कस्बों में भी गणिकावृत्ति का विकास प्रमाण से कुछ अधिक ही पाया जाता है । विलास के क्षेत्र में अन्य प्रांतों से कुछ पिछड़े हुए गुजरात में भी बड़ौदा, जूनागढ़, राजकोट और भावनगर जैसे शहर गणिकावृत्ति से अलिप्त नहीं रह सके हैं । तीर्थ वारांगनाओं के संबंध में कहा जाता है कि वे अब तक अपना धर्मकर्म संभाल कर पेशा करती हैं और आर्य धर्मियों के सिवा अन्य किसी का सहवास नहीं करतीं । कहा नहीं जा सकता कि यह मान्यता कहाँ तक सच है । सरसरी दृष्टि से देखने पर इस पर विश्वास करना मुश्किल है । दूसरी ओर दक्षिण में, संसार भर को आश्चर्य में डाल देने वाली देवदासी नामक महाविचित्र धार्मिक गणिकासंस्था के कुछ अवशेष अब तक बचे हुए हैं । इन सारे तथ्यों को एकत्रित करें तो सूत्ररूप में निम्नोक्त तीन-चार सिद्धान्त आसानी से स्थापित किये जा सकते हैं;—

१. जहाँ-जहाँ सैन्य वहाँ-वहाँ गणिका ।
२. जहाँ-जहाँ धनसंपत्ति वहाँ-वहाँ गणिका । यह धनसंपत्ति यदि देवालयों में हो, तो वे भी अपवाद रूप नहीं रहते ।
३. जहाँ-जहाँ सत्ता, ऐश्वर्य और रौब-दौब, वहाँ-वहाँ गणिका ।
४. जहाँ-जहाँ व्यापार-उद्योग और नगरनिवास वहाँ-वहाँ गणिका ।

प्राचीन युगों में भी यही हुआ था, आज भी यही हो रहा है और निकट भविष्य में भी यही होगा; ऐसे आसार नज़र आ रहे हैं । मनुष्यजाति और मानवस्वभाव की एकता को धर्म और संस्कृति मिलकर भी स्थापित नहीं कर सके । पर यह करतब गणिकावृत्ति ने कर दिखाया है । इस चमत्कार के दर्शन करने हों, तो आज की गणिकावृत्ति पर एक नज़र डालना ही काफी होगा । गणिका हिंदू भी हो सकती है, मुसलमान भी, ईसाई भी और नास्तिक भी । वह पूर्व में भी मिलती है और पश्चिम में भी । वह उच्च वर्ग के सत्ताधीश और धनवान लोगों का भी मनोरंजन करती है और साधारण मज़दूरीपेशा लोगों का भी । ग़रज़ यह कि जीवन के हर स्तर पर, हर देश में और हर काल में मनुष्यसमाज उससे अछूता नहीं रहा है ।

भारत की वर्तमान गणिकाएँ अधिकांश में बचपन में बेच दी जाने वाली बालिकाओं में से विकसित हुई हैं । लड़कियों को खरीदते समय उनके वर्ण, जाति या धर्म का विचार करना आवश्यक नहीं होता । किसी भी जाति के निर्धन परिवारों में से लड़कियों को प्रायः पाँच-छः वर्ष की अवस्था में खरीद लिया जाता है । अकसर उनके लिए ढाई-तीन सौ रुपये कीमत देनी पड़ती है । खरीदार स्त्री-पुरुष सिर्फ इतना ही देखते हैं कि लड़की औसत लड़कियों से कुछ अधिक चुस्त-चालाक है या नहीं और बड़ी होने पर उसके सुंदर होने की संभावना है या नहीं । वेश्यावृत्ति के लिए आवश्यक और सब गुणों का विकास तालीम देकर कर लिया जाता है । भारत में अधिकांश स्थानों पर गणिकावृत्ति के साथ नृत्य संगीत का थोड़ा-बहुत संबंध अब तक बना रहा है । अतः खरीदी जाने वाली लड़कियों को प्रायः आठ से सोलह वर्ष की उम्र तक नृत्य-

संगीत की शिक्षा अब भी दी जाती है । कांटों से भरी हुई डाली पर उगने वाले फूल की तरह, इस कलंकित संस्था से संबंधित होकर भी हमारे नृत्य-संगीत की परंपरा चलती रही है ।

गणिकावृत्ति के लिए लड़कियाँ वैसे तो किसी भी प्रदेश और किसी भी जाति में से खरीदी जा सकती हैं क्योंकि दारिद्र्य ही इसका व्यवच्छेदक कारण होता है । परंतु कुछ प्रदेशों ने इसके लिए विशेष ख्याति अर्जित की है । दक्षिण में तंजावर, पश्चिम में गोवा और उत्तर में नैनीताल-गढ़वाल के पहाड़ी प्रदेश कन्या-विक्रय के प्रधान केन्द्र माने जाते हैं । इसके उपरांत बंगाल के गाँवों से कलकत्ते को और कर्नाटक प्रदेश से बम्बई को वेश्यावृत्ति के लिए नवयुवतियों की पूर्ति अनवरत होती रहती है । हिमाचल प्रदेश में तो अभी कुछ वर्ष पहले तक स्त्री-विक्रय की पैंठें लगती थीं । दारिद्र्य का भार सहन न कर सकने वाले परिवारों में से कन्याओं की पूर्ति तो भारत के प्रायः सभी प्रदेशों से होती रहती है । इसके उपरांत हिंदू-संयुक्त परिवार में पिसने वाली दुखी विधवाएँ, सास-ससुर के अत्याचार से त्रस्त होकर भाग निकलनेवाली यौवनाएँ, पति द्वारा त्याग दी जाने वाली अशिक्षित स्त्रियाँ, किसी के बहकाने में आकर भ्रष्ट हो चुकने वाली या घर से निकल जानेवाली युवतियाँ और दुर्दम्य वासना के आवेश में उन्मत्त हो उठने वाली अल्हड़ किशोरियाँ भी वेश्याओं की संख्या में वृद्धि करती हैं और वेश्या-व्यवसाय का कभी न सूखनेवाला स्रोत सिद्ध होती हैं । स्त्री के लिए दुखदर्द की तो इस देश में परापूर्व से कोई कमी नहीं रही, परंतु आधुनिक युग में विषयवासना को भड़काने वाले तत्वों और अनाचार को प्रोत्साहित करनेवाले प्रलोभनों की भी हमारे जीवन में वृद्धि होती जा रही है ।

हम देख चुके हैं कि एक बार इस मार्ग पर चढ़े बाद लौटना असंभव होता है । पतिताश्रमों, सुधार-संस्थाओं और विकासगृहों की उपयोगिता और क्षमता सीमित होती है और गणिकावृत्ति करनेवाली असंख्य स्त्रियों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किसी भी शहर की गणिकाओं की संख्या और उसमें उपलब्ध सुधारसंस्थाओं की तुलना करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या की भयावहता और उसके विस्तार के अनुपात में सुधार के साधन कितने अपूर्ण और अपर्याप्त हैं । फिर यह प्रश्न भी ध्यान देने येग्य है कि गणिका को केवल अपने ही उदर-निर्वाह की चिंता नहीं होती । उसका पेशा ही ऐसा है कि वह अकेली कुछ नहीं कर सकती और सहायता की आवश्यकता उसे कदम-कदम पर पड़ती है । किसी भी गणिका को निम्नलिखित आठ व्यक्तियों की आवश्यकता तो चौबीसों घंटे रहती है और ये सब के सब पूर्ण रूप से उसी की कमाई पर आश्रित होते हैं: —

१. गणिका खुद ।
२. कुट्टनी (जो अकसर उसकी जन्मदात्री माता नहीं होती) ।
३. सारंगिया ।
४. तबलची ।
५. बावरची ।
६. नौकर ।
७. कासिद (संदेशवाहक) ।
८. दलाल ।

इनमें से अंतिम —दलाल —की संख्या एक तक ही सीमित नहीं रहती । जो भी व्यक्ति उसके लिए ग्राहक फँसा कर लाता है वह अपने हिस्से की मांग अधिकार के रूप में करता है । इनके उपरांत गणिका की रक्षा करनेवाले गुंडे, उसे नियंत्रण में रखकर उसके पेशे से लाभ उठाने वाले शोहदे और कभी-कभी उसके वैयक्तिक प्रेमियों का समावेश भी उसके आश्रितों में ही होता है जो उपरोक्त आठ आश्रितों की संख्या को और भी बढ़ा देता है । इन सबका पोषण गणिका के रूपयौवन, वाक्चातुर्य और कलानैपुण्य के ही सहारे होता है । इन सब के गुज़ारे की सारी जिम्मेदारी एक ही व्यक्ति के ऊपर आ पड़ने के कारण उसका बोझ कितना भारी हो उठता होगा इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । गणिका के पेशे से

उदरनिर्वाह करनेवाले पुरुष —फिर चाहे वे तबला-सारंगी बजानेवाले साजिंदे हों, या उसकी रक्षा करनेवाले पहलवान —समाज की दृष्टि में हीनतम जीव माने जाकर तिरस्कार के पात्र बन जाते हैं और उनका नामाभिधान गाली का पर्याय माना जाता है । परंतु उन्हें इस बात की विशेष परवाह होती हो; ऐसा दिखाई नहीं देता । उनका खर्च भी केवल उदरनिर्वाह या कपड़े-लत्ते जैसी आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं रहता । उनके चाय-शरबत, पान-सुपारी, बीड़ी-सिगरेट, शराब-कोकीन और जुए-सट्टे जैसे अनेक शौक इसी आमदनी में से पूरे होते हैं । बहुत सी गणिकाएँ नशे के व्यसन से बिलकुल मुक्त होती हैं । नृत्य-संगीत से गुज़ारा करने वाली उच्च कोटि की गणिकाएँ तो कभी-कभी शराब पी लेने का अपवाद छोड़ कर नशे के चंगुल से अकसर मुक्त रहती हैं । पर यह बात उनके आश्रितों के संबंध में नहीं कही जा सकती । निम्नकोटि की वेश्याएँ तो खुद भी इन व्यसनों में से एक से भी मुक्त नहीं होतीं । उनके ग्राहक भी यही चाहते हैं । सुरापान में तो उन्हें आवश्यक रूप से साथ देना पड़ता है जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ गणिकाओं के कोठे मदिरापान और शराब बेचने के अड्डे मात्र बन जाते हैं । आठ-दस आदमियों का निर्वाह एक व्यक्ति की आमदनी से चलाने के माने क्या होते हैं ? इसे मध्यमवर्ग के लोग आसानी से समझ लेंगे । और गुज़ारा भी कैसा ? केवल उदरनिर्वाह नहीं, बल्कि उपरोक्त रंगीनियों और व्यसनों से युक्त !

वर्तमान युग में गणिकाओं के प्राय: तीन प्रकार देखे जाते हैं: —

१. अपने पेशे का स्पष्ट विज्ञापन करते हुए छज्जे पर या खिड़कियों में बैठ कर राहगीरों को आकर्षित करनेवाली वेश्याएँ ।

२. देह-विक्रय के पेशे का विज्ञापन न करत हुए नृत्य या संगीत की आड़ में कुछ प्रतिष्ठित ढंग से देह व्यवसाय करने वाली गणिकाएँ ।

३. ज़ाहिरा तौर पर गणिका न होते हुए, गुप्त रूप से देह-विक्रय करने वाली खानगी स्त्रियाँ । उपरोक्त 'दूसरे प्रकार की गणिकाओं में और इनमें मुख्य अंतर यह होता है कि कलावती गणिकाएँ नृत्य-संगीत का आडंबर अवश्य रचती हैं, पर अपने पेशे से इनकार नहीं करतीं और लोगों को भी उनके व्यवसाय के संबंध में कोई भ्रम नहीं होता । जबकि इस वर्ग की स्त्रियाँ अकसर कोई अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय करती हैं और प्रकट रूप से कभी अपनी गणना गणिकाओं में नहीं होने देतीं । गणिका सर्वभोग्या और धन देने वाले हर पुरुष को सुलभ होती है । जबकि ये स्त्रियाँ प्रतिष्ठित परिवारों से आने का आडंबर रच कर अपने ईदगिर्द दुर्लभ्यता का वातावरण खड़ा कर देती हैं जो उनके आकर्षण को और भी बढ़ा देता है । जानते-बूझते हुए, इस भ्रम को सत्य मान कर इस प्रकार के संबंधों के लिए लालायित रहनेवाले शौकीन-मिज़ाज़ों की नजरों में संबंध कोई कमी नहीं होती ।

इनमें से पहले वर्ग की स्थिति आँखों के सामने स्पष्ट होती है । रूप की हाट लगाकर बैठने वाली इस वर्ग की स्त्रियाँ अकसर रूप और यौवन, दोनों से रहित होती हैं । यह वर्ग निपट निर्लज्ज, किसी प्रकार की योग्यता या कला निपुणता से अछूता, रोगों की खान और गुंडों के एकछत्र शासन के नीचे दबा हुआ होता है । शौकीन तमाशबीन इस ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते । संस्कारहीन, दरिद्र और मज़दूरीपेशा वर्ग के निपट गँवार ही वासनातृप्ति के एकमात्र उद्देश्य से इसके चक्कर में फँसते हैं । यौन-रोगों का प्रमाण इस वर्ग में सबसे अधिक पाया जाता है । संगीत, कला या बातहज़ीब बर्ताव की तो बात ही छोड़िये, मामूली वाक्पुटता या नाममात्र का विनय भी इस वर्ग की स्त्रियों में नहीं पाया जाता । दु:सह परिस्थितियाँ और गंदे वातावरण के थपेड़े उनकी स्त्री-सुलभ मर्यादा की होली जलाकर उन्हें परले सिरे की बेहया और ज़बाँदराज़ बना देते हैं । नीच से नीच पुरुष को भी शर्म आये; ऐसी अश्लील भाषा वे बोल सकती हैं । अन्य किसी भी मार्ग से उदर-निर्वाह न कर सकने वाली, समाज के निम्नतम स्तर की स्त्रियाँ ही इस वर्ग में स्थान पाती हैं । उनका नियंत्रण पूर्ण रूप से गुंडों के हाथों में होता है ।



संगीत की शिक्षा अब भी दी जाती है । कांटों से भरी हुई डाली पर उगने वाले फूल की तरह, इस कलंकित संस्था से संबंधित होकर भी हमारे नृत्य-संगीत की परंपरा चलती रही है ।

गणिकावृत्ति के लिए लड़कियाँ वैसे तो किसी भी प्रदेश और किसी भी जाति में से खरीदी जा सकती हैं क्योंकि दारिद्र्य ही इसका व्यवच्छेदक कारण होता है । परंतु कुछ प्रदेशों ने इसके लिए विशेष ख्याति अर्जित की है । दक्षिण में तंजावर, पश्चिम में गोवा और उत्तर में नैनीताल-गढ़वाल के पहाड़ी प्रदेश कन्या-विक्रय के प्रधान केन्द्र माने जाते हैं । इसके उपरांत बंगाल के गाँवों से कलकत्ते को और कर्नाटक प्रदेश से बम्बई को वेश्यावृत्ति के लिए नवयुवतियों की पूर्ति अनवरत होती रहती है । हिमाचल प्रदेश में तो अभी कुछ वर्ष पहले तक स्त्री-विक्रय की पैंठें लगती थीं । दारिद्र्य का भार सहन न कर सकने वाले परिवारों में से कन्याओं की पूर्ति तो भारत के प्राय: सभी प्रदेशों से होती रहती है । इसके उपरांत हिंदू-संयुक्त परिवार में पिसने वाली दुखी विधवाएँ, सास-ससुर के अत्याचार से त्रस्त होकर भाग निकलनेवाली यौवनाएँ, पति द्वारा त्याग दी जाने वाली अशिक्षित स्त्रियाँ, किसी के बहकाने में आकर भ्रष्ट हो चुकने वाली या घर से निकल जानेवाली युवतियाँ और दुर्दम्य वासना के आवेश में उन्मत्त हो उठने वाली अल्हड़ किशोरियाँ भी वेश्याओं की संख्या में वृद्धि करती हैं और वेश्या-व्यवसाय का कभी न सूखनेवाला स्रोत सिद्ध होती हैं । स्त्री के लिए दुखदर्द की तो इस देश में परापूर्व से कोई कमी नहीं रही, परंतु आधुनिक युग में विषयवासना को भड़काने वाले तत्वों और अनाचार को प्रोत्साहित करनेवाले प्रलोभनों की भी हमारे जीवन में वृद्धि होती जा रही है ।

हम देख चुके हैं कि एक बार इस मार्ग पर चढ़े बाद लौटना असंभव होता है । पतिताश्रमों, सुधार-संस्थाओं और विकासगृहों की उपयोगिता और क्षमता सीमित होती है और गणिकावृत्ति करनेवाली असंख्य स्त्रियों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किसी भी शहर की गणिकाओं की संख्या और उसमें उपलब्ध सुधारसंस्थाओं की तुलना करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या की भयावहता और उसके विस्तार के अनुपात में सुधार के साधन कितने अपूर्ण और अपर्याप्त हैं । फिर यह प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है कि गणिका को केवल अपने ही उदर-निर्वाह की चिंता नहीं होती । उसका पेशा ही ऐसा है कि वह अकेली कुछ नहीं कर सकती और सहायता की आवश्यकता उसे कदम-कदम पर पड़ती है । किसी भी गणिका को निम्नलिखित आठ व्यक्तियों की आवश्यकता तो चौबीसों घंटे रहती है और ये सब के सब पूर्ण रूप से उसी की कमाई पर आश्रित होते हैं: —

१. गणिका खुद ।
२. कुट्टनी (जो अकसर उसकी जन्मदात्री माता नहीं होती) ।
३. सारंगिया ।
४. तबलची ।
५. बावरची ।
६. नौकर ।
७. कासिद (संदेशवाहक) ।
८. दलाल ।

इनमें से अंतिम —दलाल —की संख्या एक तक ही सीमित नहीं रहती । जो भी व्यक्ति उसके लिए ग्राहक फँसा कर लाता है वह अपने हिस्से की मांग अधिकार के रूप में करता है । इनके उपरांत गणिका की रक्षा करनेवाले गुंडे, उसे नियंत्रण में रखकर उसके पेशे से लाभ उठाने वाले शोहदे और कभी-कभी उसके वैयक्तिक प्रेमियों का समावेश भी उसके आश्रितों में ही होता है जो उपरोक्त आठ आश्रितों की संख्या को और भी बढ़ा देता है । इन सबका पोषण गणिका के रूपयौवन, वाक्चातुर्य और कलानैपुण्य के ही सहारे होता है । इन सब के गुज़ारे की सारी जिम्मेदारी एक ही व्यक्ति के ऊपर आ पड़ने के कारण उसका बोझ कितना भारी हो उठता होगा इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । गणिका के पेशे से

उदरनिर्वाह करनेवाले पुरुष —फिर चाहे वे तबला-सारंगी बजानेवाले साजिंदे हों, या उसकी रक्षा करनेवाले पहलवान —समाज की दृष्टि में हीनतम जीव माने जाकर तिरस्कार के पात्र बन जाते हैं और उनका नामाभिधान गाली का पर्याय माना जाता है । परंतु उन्हें इस बात की विशेष परवाह होती हो; ऐसा दिखाई नहीं देता । उनका खर्च भी केवल उदरनिर्वाह या कपड़े-लत्ते जैसी आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं रहता । उनके चाय-शरबत, पान-सुपारी, बीड़ी-सिगरेट,शराब-कोकीन और जुए-सट्टे जैसे अनेक शौक इसी आमदनी में से पूरे होते हैं । बहुत सी गणिकाएँ नशे के व्यसन से बिलकुल मुक्त होती हैं । नृत्य-संगीत से गुज़ारा करने वाली उच्च कोटि की गणिकाएँ तो कभी-कभी शराब पी लेने का अपवाद छोड़ कर नशे के चंगुल से अकसर मुक्त रहती हैं । पर यह बात उनके आश्रितों के संबंध में नहीं कही जा सकती । निम्नकोटि की वेश्याएँ तो खुद भी इन व्यसनों में से एक से भी मुक्त नहीं होतीं । उनके ग्राहक भी यही चाहते हैं । सुरापान में तो उन्हें आवश्यक रूप से साथ देना पड़ता है जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ गणिकाओं के कोठे मदिरापान और शराब बेचने के अड्डे मात्र बन जाते हैं । आठ-दस आदमियों का निर्वाह एक व्यक्ति की आमदनी से चलाने के माने क्या होते हैं ? इसे मध्यमवर्ग के लोग आसानी से समझ लेंगे । और गुज़ारा भी कैसा ? केवल उदरनिर्वाह नहीं, बल्कि उपरोक्त रंगीनियों और व्यसनों से युक्त !

वर्तमान युग में गणिकाओं के प्राय: तीन प्रकार देखे जाते हैं: —

१. अपने पेशे का स्पष्ट विज्ञापन करते हुए छज्जे पर या खिड़कियों में बैठ कर राहगीरों को आकर्षित करनेवाली वेश्याएँ ।

२. देह-विक्रय के पेशे का विज्ञापन न करत हुए नृत्य या संगीत की आड़ में कुछ प्रतिष्ठित ढंग से देह व्यवसाय करने वाली गणिकाएँ ।

३. ज़ाहिरा तौर पर गणिका न होते हुए, गुप्त रूप से देह-विक्रय करने वाली खानगी स्त्रियाँ । उपरोक्त दूसरे प्रकार की गणिकाओं में और इनमें मुख्य अंतर यह होता है कि कलावती गणिकाएँ नृत्य-संगीत का आडंबर अवश्य रचती हैं, पर अपने पेशे से इनकार नहीं करतीं और लोगों को भी उनके व्यवसाय के संबंध में कोई भ्रम नहीं होता । जबकि इस वर्ग की स्त्रियाँ अकसर कोई अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय करती हैं और प्रकट रूप से कभी अपनी गणना गणिकाओं में नहीं होने देतीं । गणिका सर्वभोग्या और धन देने वाले हर पुरुष को सुलभ होती है । जबकि ये स्त्रियाँ प्रतिष्ठित परिवारों से आने का आडंबर रच कर अपने ईदगिर्द दुर्लभ्यता का वातावरण खड़ा कर देती हैं जो उनके आकर्षण को और भी बढ़ा देता है । जानते-बूझते हुए, इस भ्रम को सत्य मान कर इस प्रकार के संबंधों के लिए लालायित रहनेवाले शौकीन-मिज़ाज़ों की नजरों में संबंध कोई कमी नहीं होती ।

इनमें से पहले वर्ग की स्थिति आँखों के सामने स्पष्ट होती है । रूप की हाट लगाकर बैठने वाली इस वर्ग की स्त्रियाँ अकसर रूप और यौवन, दोनों से रहित होती हैं । यह वर्ग निपट निर्लज्ज, किसी प्रकार की योग्यता या कला निपुणता से अछूता, रोगों की खान और गुंडों के एकछत्र शासन के नीचे दबा हुआ होता है । शौकीन तमाशबीन इस ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते । संस्कारहीन, दरिद्र और मज़दूरीपेशा वर्ग के निपट गँवार ही वासनातृप्ति के एकमात्र उद्देश्य से इसके चक्कर में फँसते हैं । यौन-रोगों का प्रमाण इस वर्ग में सबसे अधिक पाया जाता है । संगीत, कला या बातहज़ीब बर्ताव की तो बात ही छोड़िये, मामूली वाक्पुटता या नाममात्र का विनय भी इस वर्ग की स्त्रियों में नहीं पाया जाता । दु:सह परिस्थितियाँ और गंदे वातावरण के थपेड़े उनकी स्त्री-सुलभ मर्यादा की होली जलाकर उन्हें परले सिरे की बेहया और ज़बाँदराज़ बना देते हैं । नीच से नीच पुरुष को भी शर्म आये; ऐसी अश्लील भाषा वे बोल सकती हैं । अन्य किसी भी मार्ग से उदर-निर्वाह न कर सकने वाली, समाज के निम्नतम स्तर की स्त्रियाँ ही इस वर्ग में स्थान पाती हैं । उनका नियंत्रण पूर्ण रूप से गुंडों के हाथों में होता है ।

खुले आम पेशा न करते हुए, थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा और मर्यादा का परदा रख कर नृत्य-संगीत की आड़ में गणिकावृत्ति करने वाली वारांगनाओं की संख्या खुली वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियों से अधिक होगी या कम इस संबंध में मतभेद की गुंजाइश है । कुछ वर्ष पहले तक इस प्रकार की गणिकावृत्ति बहुत अधिक प्रचलित थी । आज भी वह संपूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई है पर उसका कलात्मक रूप तिरोहित होकर वह उत्तरोत्तर देह-विक्रय-प्रधान बनती जा रही है । इस प्रकार की गणिकाओं के कोठे शहर के किसी विशिष्ट भाग में ही हुआ करते थे । कभी-कभी ये मोहल्ले नगर के व्यवसायिक केन्द्रों या चहल-पहल भरे बाज़ारों में बस जाते थे परंतु अकसर वे शहर के किसी सिरे के हिस्से में विकसित होते थे । शौकीनों की सुविधा का निर्वाह इस दूसरे प्रकार से अधिक हो सकता है क्योंकि प्रतिष्ठा को बचाये रखकर भी वे इन मोहल्लों में बेरोकटोक जा सकते हैं जबकि बाज़ारों में यह सुविधा नहीं होती । इससे एक और लाभ यह होता है कि गणिकाएँ एक ही स्थान में केन्द्रित रहती हैं और उनका नियंत्रण करने में शासन को सुविधा रहती है । प्रत्येक शहर में ये मोहल्ले थोड़ी-बहुत प्रसिद्धि अवश्य प्राप्त कर लेते हैं और लोगों के हँसी-मज़ाक का विषय बन जाते हैं । बनारस की दालमंडी, लखनऊ का चौक और बम्बई के फोरास रोड आदि मुहल्लों की मिसाल दी जा सकती है ।

नृत्य-संगीत की आड़ में चलनेवाली गणिकावृत्ति कभी-कभी प्रतिष्ठित मोहल्लों में भी विकसित हो जाती है परंतु उसकी साधारण प्रवृत्ति विशिष्ट मोहल्लों में केन्द्रित होने की होती है । हीन प्रकार की खुली वेश्यावृत्ति करनेवाली गणिकाओं के आवास तो उनकी उपस्थितिमात्र से आसानी से पहचान लिये जाते हैं । परंतु प्रतिष्ठा या कला का थोड़ा-बहुत परदा रख कर की जानेवाली गणिकावृत्ति के केन्द्र उनके कुछ विशिष्ट चिह्नों की सहायता से ही पहचाने जा सकते हैं । चिक या चिलमन के परदे, वाद्यों की आवाज़, साज़िंदों की आमदरफ्त, विशिष्ट वातावरण और छज्जों पर या खिड़कियों में कभी-कभी दिखाई दे जाने वाली कलावतियों की झलक इत्यादि सूक्ष्म संकेत गणिकालय को छिपा नहीं रहने देते । जानकारों की पैनी नज़र तो इनमें का एक भी लक्षण देखकर समझने योग्य बातें समझ लेती हैं और अनाड़ियों या नये खिलाड़ियों की सहायता के लिए रंगीन-मिज़ाज़ मित्रों, अनुभवी तमाशबीनों और पेशेवर दलालों का मार्ग-दर्शन सदा प्रस्तुत रहता है । जिस प्रकार श्रद्धालु भक्तों को मंदिर ढूंढने के लिए नहीं जाना पड़ता उसी प्रकार विलासियों को गणिकागृह ढूंढने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती । पूरी छानबीन और तसल्ली किये बिना केवल चिक के परदे या नीली रोशनी देखकर जीना चढ़ जाने वाले नौसिखिये अलबत्ता चक्कर में पड़ सकते हैं; परंतु परोपकारी राहबरों की इस क्षेत्र में कोई कमी नहीं होती । गणिकालय ढूंढने वाली आँखों को गणिकाओं के दलाल देखते ही पहचान लेते हैं और नया खिलाड़ी देख कर तो वे सज्जनों को भी लजा देनेवाली सभ्यता और नम्रता से पेश आते हैं ।

शाम से ही गणिकालय की सजावट शुरू हो जाती है । बैठक के कमरे में कालीन बिछा कर सफेद चाँदनियाँ और गावतकिये यथास्थान लगाये जाते हैं । आँखों को सुख पहुँचाने वाली सौम्य प्रकाशयोजना की जाती है । एक ओर नृत्यगीत का साज़ोसामान करीने से रखा रहता है । इतने में साज़िंदे आकर वाद्यों को मिलाते हैं और बाईजी आलाप शुरू कर देती हैं । जानकारों की भाषा में इसे 'दूकान लगाना' कहा जाता है । संगीत की इस महफिल में सामान्यत: सब को आने की छूट रहती है । परंतु कुट्टनी, गणिका का रक्षक गुंडा और दरबान आने वालों पर कड़ी निगरानी रखते हैं । गाना सुनने के लिए कुछ भी देना अनिवार्य नहीं होता । परंतु अधिकांश में शौकीन-तबीयत और शाहखर्च रईसों की ही यहाँ आमदरफ्त होने के कारण थोड़ी-बहुत रकम दिये बिना शायद ही कोई वापस जाता है । देखादेखी और होड़ाहोड़ी इसमें बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा करती है । कुछ भी दिये बिना उठ जाने वालों को शीघ्र ही मुफ्तखोरे करार देकर बड़ी हिकारत की नज़र से देखा जाता है । जुए के ऋण की तरह गणिका के दाय को भी एक नैतिक जिम्मेदारी (Debt of Honour) माना जाता है । कुछ भी न देने वालों का दो-एक बार छुटकारा हो सकता है परंतु शीघ्र ही उनकी आवभगत बंद हो जाती है और उन्हें गणिका की उपेक्षा, कुट्टनी के तिरस्कार और दरबानों की

बदतमीज़ी का शिकार बनना पड़ता है । अन्य तमाशबीन भी मुफ्तखोरों पर छींटाकशी करने से नहीं चूकते । इन सब बातों का यही परिणाम निकलता है कि अकसर लोग आवश्यक या अपेक्षित रकम से कुछ अधिक देकर ही महफिल से उठते हैं ।

कमरे में एक ओर गणिका और साज़िंदे बैठते हैं और बाकी की तीन दीवारों के सहारे श्रोताओं की बैठक होती है । श्रोताओं में ऊँचनीच का भेद अकसर नहीं किया जाता । संगीत जैसी दैवी कला के आस्वादन के लिए यह समानता उचित भी है । परंतु दुनियादारी का खयाल रखते हुए, धनाढ्य, सत्ताधीश, प्रतिष्ठित और गुणग्राही पुरुषों को विशिष्ट स्थान देना आवश्यक हो जाता है । गणिका के साथी और उसके व्यवसाय से किसी भी प्रकार का संबंध रखनेवाले लोग श्रोतावर्ग में शामिल नहीं होते । इस नियम का सख्ती से पालन किया जाता है । महफिल शुरू होने के बाद घंटे दो घंटे तक तो तहज़ीब और सभ्यता का वातावरण रहता है । परंतु शराब का नशा गहरा होते ही शिष्टता लुप्त होती जाती है और धींगामस्ती और हाथापाई की नौबत आने लगती है । आरंभ में नृत्य संगीत की दाद भी वाह-वाह के नारों से या सिर हिला कर दी जाती है जिसकी तसलीम गणिका बड़ी अदा और शोखी से सलाम करके नम्रतापूर्वक करती है । परंतु धीरे-धीरे प्रशंसकों की दाद भी स्थूल रूप धारण करने लगती है और थोड़ी-बहुत छेड़-छाड़ शुरू हो जाती है । कभी-कभी तो दाद अशिष्ट संकेतों वाले द्विअर्थी शब्दों में दी जाती है । चतुर गणिका सब समझती है और शर्माने का ऐसा दिलकश अभिनय करती है कि उसके आकर्षण में चार चाँद लग जाते हैं ।

नृत्य-संगीत के साथ-साथ चतुर संभाषण भी गणिकागृह का एक प्रधान आकर्षण होता है । ऐसे रसिकों की कमी नहीं जो दो एक गाने सुनने के उपरांत सिर्फ बातहज़ीब गुफ्तगू के शौक से ही तवायफों के कोठों पर जाते हैं । वासनातृप्ति गणिकागमन का सबसे प्रधान उद्देश्य होने पर भी यह कहना उचित दिखाई नहीं देता कि तवायफ के कोठे पर जानेवाला हर पुरुष वासनातृप्ति के एकमात्र आशय से ही वहाँ जाता है । यह सही है कि गणिकागृह के वासना को भड़काने वाले वातावरण में आचरण की मर्यादा बाँधना हर पुरुष के लिए संभव नहीं होता और गणिका संसर्ग को केवल जी-बहलाने का एक बहाना मानने की डींग हाँकने वाले पुरुष अकसर वासना के झपेटे से मुक्त नहीं रह पाते । परंतु फिर भी, यह असंभव दिखाई नहीं देता कि उच्चकोटि की कलावती तवायफों के यहाँ सुरुचिपूर्ण मनुष्य को वासनाशमन के अलावा दिलबहलाव के और भी साधन उपलब्ध हो जाते हों । इन्हीं कारणों से भारत के कई प्रदेशों में गाना सुनने या मुजरा देखने के लिए गणिकालय में जाना अप्रतिष्ठा या पतन का लक्षण नहीं माना जाता । पश्चिमी भारत की मान्यताएँ इस संबंध में कुछ कठोर रही हैं, पर उत्तर प्रदेश, बंगाल या दक्षिण में इसे दुराचार या पाप मानने की अपेक्षा एक हलका-फुलका व्यसन मान कर नजरअंदाज़ कर दिया जाता है । संगीत के मर्मज्ञ और नृत्य के शौकीन बिना किसी हिचकिचाहट के, अपने मित्रों के साथ या अकेले खुलेआम तवायफों के यहाँ जा सकते हैं और कला-साहित्य की गोष्ठियों में पेशेवर कलावतियों के नृत्य-संगीत की बारीकियों का विवेचन बिना किसी संकोच के कर सकते हैं । एक और बात भी ध्यान देने योग्य है । नृत्य-संगीत के शौकीनों में केवल धनाढ्य व्यापारी-वर्ग, फजूलखर्च सटोड़िये, बिगड़े हुए रईस, जुआरी-शराबी, और छैला कहलानेवाले उत्तरदायित्वहीन नवयुवकों का ही समावेश नहीं होता । यौवन को पीछे छोड़ कर आगे निकल जाने वाले प्रौढ़ और जीवन के अन्य क्षेत्रों में सूफियाना ज़िंदगी बिताने वाले सच्चे कलामर्मज्ञों के दर्शन भी इन महफिलों में कभी-कभी हो जाते हैं ।

नृत्य-संगीत के समय खास तौर से और वैसे सारे दिन, कुट्टनी गणिका को अकेली कभी नहीं रहने देती । गणिका और उसकी माता, दोनों, बातचीत में अत्यंत तेज़ होती हैं । शेरोशायरी, दोहे-कवित्त और मुहावरे-कहावतों का उनके पास कभी समाप्त न होनेवाला खज़ाना होता है । संभाषणकला अपने निखरे हुए रूप में किस बुलंदी पर पहुँच सकती है इसका तवायफों की बातचीत में कदम-कदम पर अनुभव होता है । प्रश्न, पहेली, संकेत, मज़ाक, छींटाकशी —हर बात का योग्य जवाब गणिका की ज़बान पर हर समय हाज़िर रहता है । तवायफों के आकर्षण में इस हाज़िरजवाबी का योगदान कम नहीं माना जा सकता ।

अधिकांश में यह संभाषण मर्यादाशील और पुरतकल्लुफ होता है । पर दूसरा पक्ष यदि मर्यादा को तोड़े या श्लिष्ट भाषा में अशिष्ट संकेत करे, तो तवायफ और उसकी माता भी आसानी से हथियार नहीं डाल देतीं । अंततः उनकी मर्यादा स्वभावजन्य नहीं बल्कि अभ्यासजन्य होती है और यह नकाब उतार फेंकने में उन्हें अधिक देर नहीं लगती । वाणी में माधुर्य और नम्रता, आचरण में तकल्लुफ और सुघड़ता एवं मुखभावों में मुग्धता और शर्मोहया का अभिनय कलावती गणिका इतनी खूबी से कर सकती है कि देखने-सुनने वालों को उसके यह गुण सहज और स्त्रीसुलभ मर्यादाजन्य मालूम दे सकते हैं । इनके साथ बुद्धि की प्रखरता और स्वभाव की रसिकता जोड़ दीजिये कि तवायफ का बख्तर लगभग अभेद्य हो उठता है । चाहने पर भी सभ्यता की साक्षात प्रतिमा दिखाई दे सकती है; पर आवश्यकता पड़ने पर वह चाहे जितने नीचे स्तर पर भी उतर सकती है । सभ्य समाज के हर व्यक्ति को और कुछ नहीं तो सभ्यता और नम्रता, सुघड़ता और वाक्चातुर्य, एवं तहज़ीबोतकल्लुफ के पाठ तवायफों से ग्रहण करने जैसे हैं । इसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जो इस बात की स्थापना करने के लिए पर्याप्त होगा ।

गणेशोत्सव के दिन थे । अपनी धुन के पक्के और लगभग संन्यासियों का सा जीवन व्यतीत करने वाले एक संगीतज्ञ के यहाँ 'ललित' का आयोजन हुआ । गणेशोत्सव महाराष्ट्रीय समाज का अत्यंत लोकप्रिय उत्सव है और इन दिनों में आयोजित संगीत के जलसों को 'ललित' कहा जाता है । देवता के समक्ष होने वाली संगीत की महफिलों को 'ललित' नाम देने में गहरी सुरुचि के दर्शन होते हैं । उत्सव के लिए इष्टमित्रों और प्रतिष्ठित नागरिकों को निमंत्रण अवश्य दिया जाता है, पर अनिमंत्रित श्रोताओं के सम्मिलित होने पर कोई पाबंदी नहीं लगायी जाती । संगीतकारों में दृष्टि की यह उदारता सदा से पायी जाती है । कलाकारों को बिदाई या नज़राना देने वाले धनिक आयोजक एकाध ही होते हैं; पर शास्त्रीय संगीत के आनंद से जनसाधारण को वंचित नहीं रखा जाता । देवता के समक्ष नादब्रह्म की उपासना करने के लिए इस हिंदू संगीतज्ञ के यहाँ अनेक गवैये और गायिकाएँ आयी थीं, जिनमें मुसलमान कलाकार भी काफी संख्या में थे । नगर की श्रेष्ठ गायिकाएँ और देशव्यापी कीर्ति के मुसलमान उस्ताद समारंभ में उपस्थित थे । एक कलाकार दूसरे कलाकार के घर जाने पर, समान व्यवसायी होने के नाते, किसी प्रकार के शुक्राने को स्वीकार नहीं करता । इसकी अपेक्षा भी नहीं जाती । इस नियम का पालन जितनी सख़्ती से संगीतज्ञों में होता है, वैसा अन्यत्र शायद ही होता हो । इसके उपरांत भी संगीतकारों में अपनी कला की पवित्रता बनाये रखने के और भी बहुत से अलिखित नियम और परंपराएँ होती हैं । उदाहरणार्थ, समारंभ के दरमियान एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न सच्चे कलाकार कभी नहीं करते । आजकल संगीत-परिषदों में एक-दूसरे का तेजोवध करने की घटनाएँ कभी-कभी सुनाई दे जाती हैं; परंतु इन्हें अपवादरूप ही मानना चाहिये ।

संगीत की महफिलों में एक नियम ऐसा भी होता है कि नये कलाकारों को अपनी चीज़ें सुनाने का मौका पहले दिया जाता है । पुराने, मँजे हुए उस्ताद उनकी हर खूबी की दाद देकर उनका हौसला बढ़ाते हैं । इसके बाद कुछ जमे हुए कलाकारों की बारी आती है और देशव्यापी ख्याति के उस्ताद अपना जौहर बिलकुल अंत में दिखाते हैं । उच्चकोटि के कलाकारों का गाना आरंभ में ही हो जाय, तो नवागंतुकों का रंग नहीं जम पाता और बहुत से श्रोता के उठकर चले जाने की भी संभावना रहती है । अतः संगीत के सुनियोजित जलसों में इसी प्रथा का पालन किया जाता है । उपरोक्त गणेशोत्सव के जलसे में भी इसी क्रम से काम चल रहा था । शीघ्र ही ऐसा रंग जमा कि लोग अपने आपको भूल कर स्वर-ताल के स्वर्गीय वातावरण में तन्मय हो गये । रुपये के देन-लेन बिना के, एवं कला का शुद्ध आनंद देनेवाले ये आयोजन किसी ज़माने में रात-रात भर चलते रहते थे । आज की परिस्थितियाँ इनके अनुकूल नहीं रहीं । दूसरे, आजकल संगीत के जलसों में अकसर महँगा टिकट लगा दिया जाता है जिससे वे जनसाधारण के बूते से बाहर हो जाते हैं । खैर, उपरोक्त जलसे में तो ऐसी कोई बात थी नहीं और समाँ ऐसा बँध चुका था कि लोगों को समय का होश ही नहीं रहा । होते-होते, सिर्फ दो कलाकार बाकी बचे । एक देशव्यापी कीर्ति के

मुसलमान उस्ताद और दूसरा, उतनी ही प्रसिद्ध एक बाईजी । दोनों अपने फन के उच्च कोटि के जानकार थे; पर उस्ताद जी ने बुजुर्ग होने के नाते और स्त्री-सम्मान की भावना से प्रेरित होकर बाईजी को अंत में गाने का मौका दिया और खुद अपनी चीज़ छेड़ दी । शीघ्र ही श्रोतागण मस्त होकर झूमने लगे और तानस्वर की अमृतवर्षा में नहा कर तृप्त हो गये । अब सिर्फ बाईजी का गाना होना बाकी रह गया था और उनसे गाने की बिनती की जा रही थी । परंतु वह भी संगीत की उच्च कोटि की मर्मज्ञ थीं । उस्तादजी ने सौजन्य से उन्हें आखरी में गाने का सम्मान दिया था, तो ये भी गुणग्राहकता में कम नहीं थीं । पुरुष ने यदि स्त्री-सम्मान की भावना प्रदर्शित की तो गणिकालय की तहज़ीब में पली हुई यह स्वरसम्राज्ञी भला कद्रदानी में पीछे कैसे रह सकती थी । उन्होंने गाने से इनकार कर दिया और जब बहुत इसरार किया गया तो बोलीं कि "गाना तो हो चुका । अब गाना कैसा ?" और यह कह कर तानपूरा उठा कर एक ओर रख दिया ।

सुना है कि पुराने ज़माने के मुशायरों में किसी की फड़कती हुई गज़ल सुन कर बड़े-बड़े उस्ताद भी अपनी ग़ज़ल का कागज़ फाड़ कर फेंक देते थे । दाद देने का और गुणग्राहकता का यह एक सर्वमान्य तरीका था । यहाँ भी यही हुआ । श्रेष्ठ गवैये की जीवनभर की साधना के परिपाक रूप शास्त्रशुद्ध गाना हो चुकने के बाद, और अपने पास उससे बढ़ कर कोई चीज़ न होने पर गाना कैसा ? उपरोक्त उदाहरण में बाई जी ने अपनी सभ्यता और नम्रता का ही परिचय नहीं दिया, बल्कि कलाक्षेत्र की एक पुनीत परंपरा का भी पालन किया था । इस प्रकार की पुरतकल्लुफ तहज़ीब, नज़ाकतभरी नम्रता और मर्यादायुक्त एवं सौजन्यशील संभाषण उच्च कोटि की तवायफों का व्यवच्छेदक लक्षण होता है जो उनके आकर्षण को दुर्जेय और दुर्निवार्य बना देता है । एक और बात ध्यान देने योग्य यह है कि हिंदू-मुसलमानों के आपसी संबंध संगीत के क्षेत्र में जितने निकट आ सके हैं, उतने अन्य किसी क्षेत्र में नहीं आ पाये ।

नृत्य और संगीत कला के रूप में और व्यवसाय के रूप में, आवश्यक तौर से निशाव्यापार है । गणिकाओं का नृत्य-संगीत तो रात के सिवा और किसी समय जम ही नहीं पाता । चाहे वासनाशमन के लिए हो चाहे नृत्य-संगीत के आकर्षण के कारण, गणिका से संबंध रखनेवालों को कुछ कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है । हम देख चुके हैं कि सिर्फ गाना सुनने के लिए या दो घड़ी की बातचीत के लिए गणिका को किसी प्रकार का मुआवज़ा देना अनिवार्य नहीं होता । परंतु कौन कितनी रकम देता है और कौन कुछ भी दिये बिना चला जाता है इसकी ओर गणिकामातृका की और अन्य सब लोगों की नज़र रहती है । मुस्कराहट और अलिप्तता के आवरण के पीछे से गणिका का भी इस ओर सदा ध्यान रहता है । दो-चार दिन तक लगातार आनेवाला नया खिलाड़ी आरंभ में अगर कुछ भी न दे, तो भी गणिका उसके साथ मधुर संभाषण और व्यवहार की घनिष्ठता बनाये रखती है । इस हालत में, पुरुष में यदि उदारता और औचित्यभावना का छींटा भी हो, तो वह साड़ी, अंगूठी, दो एक अशरफी, कुछ नकद रकम या छोटा-मोटा गहना देने से मुँह नहीं मोड़ेगा । गणिका और उसके परिवार के लोग इसके बाद भी सावधानी बरतते हैं और नवागतुक के उदारता का स्रोत क्या है ; वह कोई चोर, डाकू, ठग, या अन्य प्रकार का अपराधी तो नहीं है, इसकी तसल्ली कर ली जाती है और इसके बाद ही गणिका उसके साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करती है । ये वैयक्तिक संपर्क दो-चार दिन या दो-एक महीने से लगा कर साल-दो साल तक का हो सकता है । यह दोनों की सुविधा पर और धन के आदान-प्रदान का सिलसिला जारी रहने पर निर्भर करता है । धनपतियों की ओर से विशिष्ट गणिकाओं को नियमित रूप मे मिलनेवाले मासिक नजराने की रकम हजारों की संख्या में हो सकती है । अकसर वह गणिका के रूप-यौवन, कंठ-माधुर्य, नृत्यनैपुण्य, संभाषण-चातुर्य और ग्राहक का मन रिझाने की योग्यता पर निर्भर रहती है । धन के आदान-प्रदान और उसकी न्यूनाधिकता ने रूप-यौवन के विक्रय के इस बाज़ार में भी कुलीन-अकुलीन के भेद खड़े कर दिये हैं । प्रेमियों को आयेदिन बदलने वाली, उनसे सदा रुपया मांगनेवाली, और पुराने मित्रों को त्यागकर नित नये संबंध जोड़नेवाली वारांगना की गिनती अकुलीनों में होती है: जब कि पतिव्रता पत्नी की सी एकनिष्ठा निबाहने वाली और धन की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व देने वाली गणिका की गणना कुलीन

वारयोषिताओं में होती है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । अपवादरूप सही, पर विवाहिता पत्नी से भी अधिक स्नेह और निष्ठा का परिचय देने वाली गणिकाओं के उदाहरण यदा-कदा मिलते ही रहते हैं ।

ज्यों-ज्यों गणिकाओं का स्तर नीचा होता जाता है त्यों-त्यों उनका नृत्य-संगीत भी हीन कोटि का होता जाता है । उसमें कला तो कम होती जाती है और किसी भी कीमत पर ग्राहक को खुश करने की भावना बढ़ती जाती है । प्रेमप्रदर्शन और कामोद्दीपन के उपचार भी अधिकाधिक स्थूल होते जाते हैं । नृत्य-संगीत विहीन गणिकावृत्ति का प्रचलन अब भारत में भी इस रफ्तार से हो रहा है कि वह शीघ्र ही इस देश की गणिकावृत्ति को कलासाधना से नितांत विमुख बना कर कोरे देह-विक्रय की कक्षा पर उतार दे ऐसी संभावना खड़ी हो गयी है । आश्चर्य की एक और बात यह दिखाई देती है कि कलावती गणिकाओं में शिक्षा पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है । हिंदी-उर्दू के उपरांत थोड़ी बहुत अंग्रेज़ी और कभी-कभी फारसी का ज्ञान भी इनमें पाया जाता है । बचपन से ही मिलनेवाली कला और तहज़ीब की शिक्षा में व्यवहार-ज्ञान और अक्षरज्ञान का तो आवश्यक रूप से समावेश होता है; परंतु कुछ गणिकाएँ इससे आगे बढ़ कर थोड़ा-बहुत काव्यसाहित्य का ज्ञान भी प्राप्त कर लेती हैं । इसके विपरीत, निम्नश्रेणी की गणिकाओं को शिक्षा का स्पर्श भी नहीं हुआ होता और उनका नृत्य-संगीत भी कामुक जघनचालन और कर्कश तानारीरी से अधिक कुछ नहीं होता । जीवन के प्रति नितांत स्वार्थी और भोगपरक दृष्टिकोण के सिवा मनुष्यता के और किसी पहलू से या उच्च विचारों से उनका परिचय ही नहीं होता ।

हिंदू गणिकाओं के यहाँ विधर्मियों के लिए स्थान नहीं होता ऐसी मान्यता कहीं-कहीं प्रचलित है, परंतु यह सही मालूम नहीं देती । उच्च कोटि की कलावती और साधन-सम्पन्न गणिकाएँ इस प्रकार के विधि-निषेधों का पालन शायद कर सकती हों; परंतु मध्यम और निम्न श्रेणी की पण्यांगनाओं के लिए जातिगत या धर्माश्रित भेदभावों का पालन करना संभव दिखाई नहीं देता । मुस्लिम तवायफों में इस प्रकार का भेदभाव करने की वृत्ति बिलकुल नहीं पायी जाती । भेदसूचक एक प्रथा अवश्य प्रचलित है । वह यह कि मुसलमान गणिकाओं के नाम के साथ 'बेगम' या 'जान' प्रत्यय जोड़ा जाता है जब कि हिंदू गणिकाओं के नाम 'बाई' से समाप्त होते हैं । भेद-सूचक इन शब्दों के सहारे ही प्रत्येक गणिका के वैयक्तिक धर्म की (या उसका जितना भी हिस्सा सुरक्षित बचा हो उसकी) सूचना मिलती है ।

किसी भी वर्ग की गणिकाओं की आय का अनुमान लगाना अत्यंत मुश्किल काम है । एक ही व्यक्ति की रखैल के रूप में रहनेवाली गणिकाओं को मासिक तीन या चार हज़ार रुपये तक मिल सकते हैं । कभी-कभी उनके प्रेमी अपनी पूरी संपत्ति या उसका कुछ हिस्सा उनके नाम कर देते हैं । इस वर्ग की स्त्रियाँ अन्य किसी पुरुष से संबंध नहीं रखतीं । किसी के साथ उनका गुप्त संबंध होने की शंका उत्पन्न होने पर झगड़े खड़े होते हैं जिनकी परिणति हत्या या अन्य प्रकार के अपराधों में हो सकती है । पेशेवर गणिकाओं के लिए एक ही व्यक्ति से संबंध निभाना अकसर अनुकूल नहीं होता । यह धंधा ही ऐसा है कि जिसमें आय के सब मार्ग चारों ओर से खुले रखने पड़ते हैं । पेशेवर स्त्री को जीवनभर की व्यवस्था रूप-यौवन नष्ट होने से पहले ही कर लेनी पड़ती है । यह काल दस-पंद्रह वर्ष से अधिक लंबा नहीं होता । यह तत्व इस धंधे में सदा मुँह बाये खड़ा रहने के कारण एकनिष्ठा का निर्वाह उनके लिए करीब-करीब असंभव हो जाता है । साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की, एक ही व्यक्ति से संबंध रख कर रखैल के रूप में रहने वाली स्त्रियाँ वक्त पड़ने पर अपने प्रेमी की आर्थिक कठिनाई में उसकी भरसक सहायता करती हैं । अपने प्रेमी से प्राप्त धन को उसकी आवश्यकतानुसार उसके व्यापार-धंधे में लगा देने वाली और इससे भी गिरी हुई दशा हो जाने पर वर्षों तक उसके परिवार का निर्वाह करने वाली गणिकाओं के उदाहरण भी मिलते हैं । इस विषय के जानकारों का कहना है कि आज के युग में भी गणिकाओं के आत्मत्याग के इससे भी अधिक विस्मयजनक उदाहरण देखे जा सकते हैं । परंतु इस प्रकार की घटनाएँ अपवादात्मक ही होती हैं । उन्हें सर्वसाधारण नियम मान लेने की भूल कोई न करे ।

प्रश्न उठता है कि मासिक दो-दो, तीन-तीन हजार रुपये देकर इस वर्ग की कलावतियों का पोषण करने वाले शौकीन समाज के किस वर्ग से आते हैं ? बंधी हुई आमदनी होने वाला तो बड़े से बड़ा व्यक्ति भी कुछ घड़ी के विलास के लिए इतना खर्च बरदाश्त नहीं कर सकता । सीधे-सादे व्यापार से भी इतना रुपया मिलना मुश्किल है । परंतु व्यापार के साथ सट्टा और कालाबाज़ार जुड़ते ही उसमें ऐसा सोना बरसने लगता है कि बटोरने वाला दोनों हाथों से बटोर नहीं सकता और आँख मूँद लुटाने पर भी खर्च नहीं कर सकता । बम्बई, कलकत्ता आदि नगर इस श्रेणी के व्यापार के प्रधान केन्द्र हैं । इस वर्ग के धनिक व्यापार तो इन नगरों में करते हैं और रखैलें वहाँ से दो-तीन सौ मील दूर के किसी अन्य नगर में रखते हैं । उदाहरण ही देना हो, तो पूरे धनिक वर्ग की हाथ जोड़कर माफी माँग लेने के बाद यह कहा जा सकता है कि अहमदाबाद का कोई धनिक बम्बई में किसी सुंदर और सुघड़ गणिका को रखैल के रूप में रख सकता है और बम्बई का धनपति पूना की किसी कलावती से इसी प्रकार का संबंध रख सकता है । इन नगरों के बीच का अंतर रेल या मोटर से चार-आठ घंटे से अधिक नहीं है और व्यापार संबंधी कामकाज के बहाने इर्दगिर्द के इन नगरों का चक्कर महीने में कई बार आसानी से लगाया जा सकता है । आवश्यकता से अधिक धन जहाँ और अनेक प्रकार के व्यसनों को प्रोत्साहन देता है, वहाँ इस प्रकार की गणिकावृत्ति का भी पोषण करता है । प्रजाजीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनेवाले बड़े धनपतियों के जीवन का यह पहलू अक्सर लोगों की नज़र से साफ बच जाता है । किसी फौजदारी अपराध से संबंधित होने पर या रखैल के किसी हक-दावे के मुकदमे के कारण अदालतों के ज़रीये कभी-कभी इन गुप्त संबंधों पर प्रकाश पड़ जाता है और कुछ महीनों तक वे लोकप्रवाद और अखबारों की गरमागरम खबरों का विषय बन जाते हैं यह अलग बात है । परंतु ऐसा अपवाद के रूप में ही होता है और अधिकांश में तो ये संबंध आजीवन प्रकाश में नहीं आते ।

इन धनकुबेरों के उपरांत इस प्रकार के संबंधों का निर्वाह कर सकने वाला एक दूसरा वर्ग राजपरिवार के लोगों, बड़े ज़मींदार-जागीरदारों, और उनसे संबंधित आश्रितों और उच्च अधिकारियों का है । इस वर्ग की गणिकाओं या रखैलों का पोषण इस श्रेणी के लोगों द्वारा धनपतियों की अपेक्षा भी अधिक मात्रा में होता है । इस वर्ग की सामंती परंपराएँ स्वभावत: ही इस प्रकार के संबंधों की पोषक होती हैं और उनके इर्दगिर्द का वातावरण एवं उनकी दिनचर्या भी इसके अनुकूल होती है । इस रंगीन दुनिया का उनका अनुभव उनके अभिभावकों (राजा-महाराजाओं) के भी काम आता है जिनके दिलबहलाव के साधन जुटाने में उन्हें इससे बहुत अधिक सहायता मिलती है । इन सत्ताधीश महाप्रभुओं की कृपा संपादित करने का इससे बेहतर उपाय शायद और कोई नहीं । यहाँ किसी की बदनामी करने का हेतु नहीं है। परंतु सिद्धांतरूप में इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अतिरिक्त धनसंपत्ति अतिविलास के लिए अत्यंत उपयुक्त ज़मीन सिद्ध होती है औ : ज़र, ज़मीन और जोरू का पुराना गठबंधन आज के युग में भी उतना ही शक्तिशाली रहा है ।

गणिका की कक्षा, उसका देह-सौंदर्य, उसके यहाँ उपलब्ध सुख-सुविधाएँ और उसका कलानैपुण्य उसे मिलने वाले धन पर आधारित रहते हैं । गणिका के साथ का संबंध नित्यव्यवहार, मासिकव्यवहार या वार्षिक व्यवहार का रूप धारण कर सकता है । अर्थशास्त्र का 'माँग और पूर्ति' का सिद्धान्त जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह इस व्यवसाय में भी चरितार्थ होता है । गणिका की कीमत उसकी आकर्षकता पर आधारित रहती है । चाहने पर यह पूरा व्यवहार गुप्त भी रह सकता है और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखकर पुरुष वर्षों तक ऐसे संबंध रख सकता है ।

ऊपर के कुछ परिच्छेदों में अधिकांश में धनपतियों और सत्ताधीशों का ही उल्लेख हुआ है । परंतु इससे कोई यह न मान ले कि गणिका-व्यवसाय केवल उन्हीं तक सीमित होता है या उनपर इन पृष्ठों में किसी प्रकार का दोषारोपण किया गया है । मध्यम और निम्नवर्ग के लोग भी अपनी-अपनी सुविधानुसार सस्ती और सुलभ गणिकाओं की व्यवस्था कर लेते हैं । मध्यम और दरिद्र श्रेणी के लोगों की इस रंगीन



वारयोषिताओं में होती है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । अपवादरूप सही, पर विवाहिता पत्नी से भी अधिक स्नेह और निष्ठा का परिचय देने वाली गणिकाओं के उदाहरण यदा-कदा मिलते ही रहते हैं ।

ज्यों-ज्यों गणिकाओं का स्तर नीचा होता जाता है त्यों-त्यों उनका नृत्य-संगीत भी हीन कोटि का होता जाता है । उसमें कला तो कम होती जाती है और किसी भी कीमत पर ग्राहक को खुश करने की भावना बढ़ती जाती है । प्रेमप्रदर्शन और कामोद्दीपन के उपचार भी अधिकाधिक स्थूल होते जाते हैं । नृत्य-संगीत विहीन गणिकावृत्ति का प्रचलन अब भारत में भी इस रफ्तार से हो रहा है कि वह शीघ्र ही इस देश की गणिकावृत्ति को कलासाधना से नितांत विमुख बना कर कोरे देह-विक्रय की कक्षा पर उतार दे ऐसी संभावना खड़ी हो गयी है । आश्चर्य की एक और बात यह दिखाई देती है कि कलावती गणिकाओं में शिक्षा पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है । हिंदी-उर्दू के उपरांत थोड़ी बहुत अंग्रेज़ी और कभी-कभी फारसी का ज्ञान भी इनमें पाया जाता है । बचपन से ही मिलनेवाली कला और तहज़ीब की शिक्षा में व्यवहार-ज्ञान और अक्षरज्ञान का तो आवश्यक रूप से समावेश होता है; परंतु कुछ गणिकाएँ इससे आगे बढ़ कर थोड़ा-बहुत काव्यसाहित्य का ज्ञान भी प्राप्त कर लेती हैं । इसके विपरीत, निम्नश्रेणी की गणिकाओं को शिक्षा का स्पर्श भी नहीं हुआ होता और उनका नृत्य-संगीत भी कामुक जघनचालन और कर्कश तानारीरी से अधिक कुछ नहीं होता । जीवन के प्रति नितांत स्वार्थी और भोगपरक दृष्टिकोण के सिवा मनुष्यता के और किसी पहलू से या उच्च विचारों से उनका परिचय ही नहीं होता ।

हिंदू गणिकाओं के यहाँ विधर्मियों के लिए स्थान नहीं होता ऐसी मान्यता कहीं-कहीं प्रचलित है, परंतु यह सही मालूम नहीं देती । उच्च कोटि की कलावती और साधन-सम्पन्न गणिकाएँ इस प्रकार के विधि-निषेधों का पालन शायद कर सकती हों; परंतु मध्यम और निम्न श्रेणी की पण्यांगनाओं के लिए जातिगत या धर्माश्रित भेदभावों का पालन करना संभव दिखाई नहीं देता । मुस्लिम तवायफों में इस प्रकार का भेदभाव करने की वृत्ति बिलकुल नहीं पायी जाती । भेदसूचक एक प्रथा अवश्य प्रचलित है । वह यह कि मुसलमान गणिकाओं के नाम के साथ 'बेगम' या 'जान' प्रत्यय जोड़ा जाता है जब कि हिंदू गणिकाओं के नाम 'बाई' से समाप्त होते हैं । भेद-सूचक इन शब्दों के सहारे ही प्रत्येक गणिका के वैयक्तिक धर्म की (या उसका जितना भी हिस्सा सुरक्षित बचा हो उसकी) सूचना मिलती है ।

किसी भी वर्ग की गणिकाओं की आय का अनुमान लगाना अत्यंत मुश्किल काम है । एक ही व्यक्ति की रखैल के रूप में रहनेवाली गणिकाओं को मासिक तीन या चार हज़ार रुपये तक मिल सकते हैं । कभी-कभी उनके प्रेमी अपनी पूरी संपत्ति या उसका कुछ हिस्सा उनके नाम कर देते हैं । इस वर्ग की स्त्रियाँ अन्य किसी पुरुष से संबंध नहीं रखतीं । किसी के साथ उनका गुप्त संबंध होने की शंका उत्पन्न होने पर झगड़े खड़े होते हैं जिनकी परिणति हत्या या अन्य प्रकार के अपराधों में हो सकती है । पेशेवर गणिकाओं के लिए एक ही व्यक्ति से संबंध निभाना अकसर अनुकूल नहीं होता । यह धंधा ही ऐसा है कि जिसमें आय के सब मार्ग चारों ओर से खुले रखने पड़ते हैं । पेशेवर स्त्री को जीवनभर की व्यवस्था रूप-यौवन नष्ट होने से पहले ही कर लेनी पड़ती है । यह काल दस-पंद्रह वर्ष से अधिक लंबा नहीं होता । यह तत्व इस धंधे में सदा मुँह बाये खड़ा रहने के कारण एकनिष्ठा का निर्वाह उनके लिए करीब-करीब असंभव हो जाता है । साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की, एक ही व्यक्ति से संबंध रख कर रखैल के रूप में रहने वाली स्त्रियाँ वक्त पड़ने पर अपने प्रेमी की आर्थिक कठिनाई में उसकी भरसक सहायता करती हैं । अपने प्रेमी से प्राप्त धन को उसकी आवश्यकतानुसार उसके व्यापार-धंधे में लगा देने वाली और इससे भी गिरी हुई दशा हो जाने पर वर्षों तक उसके परिवार का निर्वाह करने वाली गणिकाओं के उदाहरण भी मिलते हैं । इस विषय के जानकारों का कहना है कि आज के युग में भी गणिकाओं के आत्मत्याग के इससे भी अधिक विस्मयजनक उदाहरण देखे जा सकते हैं । परंतु इस प्रकार की घटनाएँ अपवादात्मक ही होती हैं । उन्हें सर्वसाधारण नियम मान लेने की भूल कोई न करे ।

प्रश्न उठता है कि मासिक दो-दो, तीन-तीन हजार रुपये देकर इस वर्ग की कलावतियों का पोषण करने वाले शौकीन समाज के किस वर्ग से आते हैं ? बंधी हुई आमदनी होने वाला तो बड़े से बड़ा व्यक्ति भी कुछ घड़ी के विलास के लिए इतना खर्च बरदाश्त नहीं कर सकता । सीधे-सादे व्यापार से भी इतना रुपया मिलना मुश्किल है । परंतु व्यापार के साथ सट्टा और कालाबाज़ार जुड़ते ही उसमें ऐसा सोना बरसने लगता है कि बटोरने वाला दोनों हाथों से बटोर नहीं सकता और आँख मूँद लुटाने पर भी खर्च नहीं कर सकता । बम्बई, कलकत्ता आदि नगर इस श्रेणी के व्यापार के प्रधान केन्द्र हैं । इस वर्ग के धनिक व्यापार तो इन नगरों में करते हैं और रखैलें वहाँ से दो-तीन सौ मील दूर के किसी अन्य नगर में रखते हैं । उदाहरण ही देना हो, तो पूरे धनिक वर्ग की हाथ जोड़कर माफी माँग लेने के बाद यह कहा जा सकता है कि अहमदाबाद का कोई धनिक बम्बई में किसी सुंदर और सुघड़ गणिका को रखैल के रूप में रख सकता है और बम्बई का धनपति पूना की किसी कलावती से इसी प्रकार का संबंध रख सकता है । इन नगरों के बीच का अंतर रेल या मोटर से चार-आठ घंटे से अधिक नहीं है और व्यापार संबंधी कामकाज के बहाने इर्दगिर्द के इन नगरों का चक्कर महीने में कई बार आसानी से लगाया जा सकता है । आवश्यकता से अधिक धन जहाँ और अनेक प्रकार के व्यसनों को प्रोत्साहन देता है, वहाँ इस प्रकार की गणिकावृत्ति का भी पोषण करता है । प्रजाजीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनेवाले बड़े धनपतियों के जीवन का यह पहलू अक्सर लोगों की नज़र से साफ बच जाता है । किसी फौजदारी अपराध से संबंधित होने पर या रखैल के किसी हक-दावे के मुकदमे के कारण अदालतों के ज़रीये कभी-कभी इन गुप्त संबंधों पर प्रकाश पड़ जाता है और कुछ महीनों तक वे लोकप्रवाद और अखबारों की गरमागरम खबरों का विषय बन जाते हैं यह अलग बात है । परंतु ऐसा अपवाद के रूप में ही होता है और अधिकांश में तो ये संबंध आजीवन प्रकाश में नहीं आते ।

इन धनकुबेरों के उपरांत इस प्रकार के संबंधों का निर्वाह कर सकने वाला एक दूसरा वर्ग राजपरिवार के लोगों, बड़े ज़मींदार-जागीरदारों, और उनसे संबंधित आश्रितों और उच्च अधिकारियों का है । इस वर्ग की गणिकाओं या रखैलों का पोषण इस श्रेणी के लोगों द्वारा धनपतियों की अपेक्षा भी अधिक मात्रा में होता है । इस वर्ग की सामंती परंपराएँ स्वभावत: ही इस प्रकार के संबंधों की पोषक होती हैं और उनके इर्दगिर्द का वातावरण एवं उनकी दिनचर्या भी इसके अनुकूल होती है । इस रंगीन दुनिया का उनका अनुभव उनके अभिभावकों (राजा-महाराजाओं) के भी काम आता है जिनके दिलबहलाव के साधन जुटाने में उन्हें इससे बहुत अधिक सहायता मिलती है । इन सत्ताधीश महाप्रभुओं की कृपा संपादित करने का इससे बेहतर उपाय शायद और कोई नहीं । यहाँ किसी की बदनामी करने का हेतु नहीं है। परंतु सिद्धांतरूप में इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अतिरिक्त धनसंपत्ति अतिविलास के लिए अत्यंत उपयुक्त ज़मीन सिद्ध होती है औ : ज़र, ज़मीन और जोरू का पुराना गठबंधन आज के युग में भी उतना ही शक्तिशाली रहा है ।

गणिका की कक्षा, उसका देह-सौंदर्य, उसके यहाँ उपलब्ध सुख-सुविधाएँ और उसका कलानैपुण्य उसे मिलने वाले धन पर आधारित रहते हैं । गणिका के साथ का संबंध नित्यव्यवहार, मासिकव्यवहार या वार्षिक व्यवहार का रूप धारण कर सकता है । अर्थशास्त्र का 'माँग और पूर्ति' का सिद्धान्त जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह इस व्यवसाय में भी चरितार्थ होता है । गणिका की कीमत उसकी आकर्षकता पर आधारित रहती है । चाहने पर यह पूरा व्यवहार गुप्त भी रह सकता है और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखकर पुरुष वर्षों तक ऐसे संबंध रख सकता है ।

ऊपर के कुछ परिच्छेदों में अधिकांश में धनपतियों और सत्ताधीशों का ही उल्लेख हुआ है । परंतु इससे कोई यह न मान ले कि गणिका-व्यवसाय केवल उन्हीं तक सीमित होता है या उनपर इन पृष्ठों में किसी प्रकार का दोषारोपण किया गया है । मध्यम और निम्नवर्ग के लोग भी अपनी-अपनी सुविधानुसार सस्ती और सुलभ गणिकाओं की व्यवस्था कर लेते हैं । मध्यम और दरिद्र श्रेणी के लोगों की इस रंगीन

और चमक-दमक भरी दुनिया में आमदरफ़्त कम होती है ऐसा प्रमाणपत्र शायद ही कोई दे सके। साधनसंपत्ति के अभाव में उच्च श्रेणी के गणिकागृहों में उनके दर्शन नहीं होते, यह अलग बात है। परंतु राजा-महाराजाओं और धन कुबेरों से लगाकर साधारण मज़दूर और कारीगर, किसान और सैनिक, सब प्रकार के लोगों की उनकी हैसियत के अनुसार सुविधा कर देने वाले गणिकालय हर बड़े शहर में होते हैं। यहाँ तक कि विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिए आने वाले विद्यार्थी और कोर्ट-कचहरी के काम से आने वाले ग्रामीण भी शहर में आने पर मीनाबाज़ार का चक्कर लगाने से नहीं चूकते। और यह तो हुई खेल खेलने वालों की बात। केवल बदनामी के भय से इस बाज़ार की ओर नज़र डालने का साहस न कर सकने वाले मध्यमवर्गीयों की संख्या खुले खिलाड़ियों से भी अधिक होती है। नैतिक दृष्टि से उनका स्थान गणिकागामियों से ऊँचा तो क्या, भिन्न भी नहीं माना जा सकता।

मुसलमान तवायफ़ें अपनी आय में से फी रुपया आधा आना के हिसाब से धर्मार्थ भाग अलग निकाल देती हैं। साधारण दिखाई देने पर भी इस रिवाज का महत्व कम नहीं माना जा सकता। इस वर्ग की तवायफों की आमदनी में से प्राय: आधा भाग इस प्रकार कट जाता है: —

१. धर्मादाय:— आधा आना।
२. सारंगिया:— दो आने।
३. तबलची:—दो आने।
४. मंजीरे वाला:— एक आना।
५. भठियारा या बावरची:— एक आना।
६. दरबान, नौकर इत्यादि:— एक आना।

इस प्रकार प्रति रुपया साढ़े सात आने का हिस्सा तो आरंभ में ही कट जाता है। बचे हुए हिस्से में से गणिका, उसकी असली या नकली माता, उसके संरक्षक गुंडों और दलालों का गुज़ारा चलता है। उसके आश्रय में रहने वाले सच्चे झूठे रिश्तेदारों का खर्च भी इसी आमदनी में से चलता है। दलालों के तो झुंड के झुंड हक-नाहक अपना अधिकार जमाये रखते हैं। रुपये पैसे की पूरी व्यवस्था कुट्टनी के हाथों होती है जो हिसाब-किताब में गड़बड़ी करके अपना उल्लू सीधा करने का एक भी मौका नहीं चूकती। इन सबका मिलाजुला परिणाम यह निकलता है कि गणिका की आय पर अनेक प्रकार के हक-दावे लगे रहते हैं और अनेक स्तरों पर अनेक प्रकार की मोटी-महीन छलनियों में छन कर प्राप्त रुपये का बहुत अंश उसके हाथों लगता है।

धर्म के नाम पर हिंदू गणिकाएँ भी आमदनी का कुछ भाग अलग निकालती हैं, परंतु उनपर तवायफ़ गणिकाओं जैसी पाबंदी नहीं होती। अपनी-अपनी श्रद्धानुसार रकम अलग निकाल कर उसे धर्मकार्यों में खर्च किया जाता है। गणिका हिंदू हो या मुसलमान, धर्मभावना इस वर्ग में अकसर बड़ी गहरी पायी जाती है। अनेक प्रकार के टोने-टोटके और मंत्रतंत्र पर भी उनका विश्वास होता है जो उनकी धर्मभावना को श्रद्धा के बजाय अंध श्रद्धाजन्य ही प्रमाणित करता है। नृत्य-संगीत का आयोजन धर्मार्थ कार्यों के लिए हो, तो हिंदू गणिकाएँ अकसर पारिश्रमिक नहीं लेतीं और श्रावणमास, अधिकमास और जन्माष्टमी-शिवरात्री जैसे पर्वों के दिन यथा संभव देह-विक्रय नहीं करतीं। दक्षिण भारत, गोवा, महाराष्ट्र और कर्नाटक में गुरु दत्तात्रेय का गुरुवार अत्यंत पवित्र माना जाता है। उस दिन इन प्रदेशों की गणिकाएँ स्नान-ध्यान और पूजाअर्चा में कुछ समय अवश्य व्यतीत करती हैं। परंतु इन सर्वमान्य धार्मिक रिवाजों के साथ-साथ जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, मूठ-चोट, जारण-मारण-वशीकरण इत्यादि मैली विद्याओं पर श्रद्धा रखने की वृत्ति भी उनमें बहुत अधिक पायी जाती है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मुस्लिम गणिकाओं की धार्मिकता अधिक दृढ, अधिक नियमबद्ध और अधिक सुरुचिपूर्ण होती है। 'उर्स' के सम्मेलनों में वे अपनी संगीतकला बिना किसी मुआवज़े के धर्मार्पित करती हैं। 'उर्स' के मेलों में ऊँचनीच के भेदभाव के बिना हजारों श्रोता शरीक होते हैं। गणिकाओं की

कला से खुश होकर श्रोता इच्छानुसार रुपये-पैसे फेंकते हैं, परंतु गणिकाएँ इस प्रकार से प्राप्त रकम को उसी समय धर्मार्थ खर्च कर देती हैं। मुहर्रम के दिनों में मरसिये गाना भी इसी प्रकार का धर्मकार्य माना जाता है। उर्स या मुहर्रम के दिनों में वे यथासंभव देह-विक्रय नहीं करतीं। अजमेर के ख्वाजा साहब की दरगाह का उर्स भारत भर में मशहूर है। उसमें और गवालियर में तानसेन की समाधि पर होनेवाले उर्स में शरीक होने के लिए मुस्लिम गणिकाएँ दूर-दूर से आती हैं। गुजरात के उनावा ग्राम में होनेवाले मीरा दातार के उर्स में इर्दगिर्द के प्रदेशों की गणिकाएँ बड़ी संख्या में सम्मिलित होती हैं। इस अवसर पर धार्मिक प्रार्थनाएँ और संगीत के जलसों के उपरांत वे अपनी मन्नत-मनौतियाँ भी पूरी कर जाती हैं। कभी-कभी पुलिस और महसूल महकमों के अफसर भी, बिना कुछ रुखसताना दिये, केवल अपनी सत्ता या रुसूक के बल पर देशव्यापी ख्याति की मशहूर तवायफों के नृत्य-संगीत के जलसे करवाते हैं जिनमें जनसाधारण बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं।

एक से अधिक गणिकाओं को एक स्थान पर एकत्रित करके, संयोजकों के लाभ के लिए उनसे देहविक्रय करवाने की व्यवस्था पश्चिम से इस देश में आयी है। बोलचाल की भाषा में इस प्रकार व्यवस्था के वेश्यालयों को 'चकला' या 'कसबीखाना' कहा जाता है, यद्यपि इन दोनों शब्दों से अंग्रेज़ी के Brothel' शब्द का सही अर्थ-बोध नहीं होता। बड़े शहरों में तो अब इस प्रकार के सामूहिक वेश्यालयों की प्रथा सर्वत्र प्रचलित हो गयी है। स्वतंत्र रूप से की जाने वाली पुराने ढरें की वेश्यावृत्ति में आश्रितों की संख्या इतनी अधिक होती है कि अकेली गणिका के लिए उन सबका गुज़ारा करना मुश्किल हो जाता है। कुट्टनी और अन्य आश्रित लोग (जो अकसर गणिका के संबंधी होने का दावा करते हैं) मिल कर गणिका को कठोर नियंत्रण में रखने की कोशिश करते हैं। उनके गुज़ारे का एकमात्र आधार गणिका ही होती है, और उसे यदि कोई बहका कर ले जाय, या वह स्वेच्छा से किसी के साथ शादी-विवाह करले, तो इन लोगों के भूखे मरने की नौबत आ जाती है। कुटुंबीजनों के इस बखेडे से और उनकी रातदिन की कठोर निगरानी से छुटकारा पाने के लिए और दु:सह आर्थिक जिम्मेदारी से तंग आकर गणिकाएँ अकसर सामूहिक वेश्यालयों की अपेक्षाकृत कम उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होने को प्रेरित होती हैं। इस व्यवस्था में गणिका को अलग प्रकार के और शायद पहली व्यवस्था से भी अधिक भयानक अत्याचार, ताबेदारी और शोषण सहन करने पड़ते हैं यह अलग बात है।

जन्म के संस्कार अच्छे हों, तो स्त्री-सुलभ स्वभाव के कारण कुछ गणिकाएँ विवाह की ओर आकर्षित होती हैं यह सही है; परंतु परिस्थितियाँ उनके इतनी विरुद्ध पड़ती हैं कि अक्सर उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो पाती। स्वाभाविक झुकाव होने के बावजूद बहुत कम —शायद नहीं के बराबर —गणिकाएँ गृहस्थी बसा पाती हैं। उच्च कोटि की और एक ही पुरुष की रखैल के रूप में रहने वाली गणिकाओं की यह इच्छा आंशिक रूप में पूरी हो जाती है; और वे नहीं तो उनकी संतति इस कलंकित व्यवसाय से सदा के लिए छूट जाती हैं। यह जान कर आश्चर्य हो सकता है, पर है यह बिलकुल सत्य कि बम्बई-पूना जैसे नगरों में अनेक गणिकापुत्र वकालत, डॉक्टरी और अन्य प्रतिष्ठित व्यवसायों में नाम कमा कर सभ्य समाज के साथ एकरूप हो चुके हैं। विवाहित जीवन अधिकांश में गणिकाओं के लिए स्वप्नवत् प्रमाणित होने पर भी आदर्श के रूप में उनकी नज़रों में उसका स्थान कभी नीचा नहीं होता।

यहाँ तक तो बिना किसी प्रकार का परदा रखे, खुलेआम गणिकावृत्ति करनेवाली स्त्रियों की बात हुई। परंतु गणिकावृत्ति का पेशे के रूप में स्वीकार न करते हुए, अप्रकट या अर्धप्रकट रूप से देह-विक्रय करने वाली स्त्रियों की संख्या बड़े शहरों में दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। ज़ाहिरा तौर से कोई प्रतिष्ठित नौकरी या कामधंधा करते हुए आनुषंगिक रूप से गणिकावृत्ति करने वाली स्त्रियों की संख्या मध्यम वर्ग में ही अधिक पायी जाती है। उच्च वर्गों को तो इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती और निम्न वर्ग की स्त्रियों के लिए मेहनत-मज़दूरी करके पेट भरने के अन्य अनेक मार्ग उपलब्ध रहते हैं। अधिकांश में यह काम घर

की दीवारों से बाहर किया जाता है; परंतु कभी-कभी किसी परिवार में इसकी जड़ें इतनी गहरी उतर जाती है कि घर का ही कोई अनुकूल विभाग या एकाध कमरा इसके लिए अलग नियत कर दिया जाता है । इस हालत में यह मानी हुई बात है कि घर के अन्य लोगों को इसकी जानकारी हो । इन स्थानों में कुटुंब के परिचित दलाल की सहायता के बिना प्रवेश पाना मुश्किल होता है । दलाल की मध्यस्थी के बिना बड़े से बड़े और नित्यपरिचय के आदमी को भी इन अर्धप्रतिष्ठित गृहों में प्रवेश नहीं मिलता; और इसकी कोशिश करने पर उन्हें अकसर अपमानित होकर लौटना पड़ता है । इस प्रकार की गणिकावृत्ति आवश्यक रूप से रात्रिव्यवहारित होती है । मोलभाव पट जाने पर और ग्राहक को एक बार स्वीकार कर लेने पर रातभर के लिए उसकी उत्तम खातिर-तवाजह की जाती है और वह पूर्णत: संतुष्ट होकर वापस जाय इसकी हर मुमकिन कोशिश की जाती है ।

गुप्त गणिकावृत्ति का एक और प्रकार भी आधुनिक युग में प्रचलित होता जा रहा है । दो एक अनुभवी स्त्रियाँ और दो एक दुनिया देखे हुए पुरुष मिल कर मकान किराये पर लेते हैं और प्रतिष्ठित परिवार होने का दिखावा करते हैं । कुछ समय तक यह प्रतिष्ठा का आडंबर चलने दिया जाता है । फिर धीरे-धीरे विषयसेवन को आतुर स्त्री-पुरुषों को ढूंढ कर अपने मकान में उनके मिलने की सुविधा कर दी जाती है । बाह्य प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए चित्रकारी, कशीदाकारी, संगीत जैसी किसी कला का आडंबर रचा जाता है और एकत्रित समूह उस कला के शौकीन समानधर्मा स्त्री-पुरुषों का समुदाय है ऐसा दिखावा किया जाता है । इन स्थानों पर आने वाली स्त्रियों में से अधिकांश तो रुपये की आवश्यकता होने वाली मध्यमवर्गीय स्त्रियाँ ही होती हैं; परंतु कभी-कभी इस वर्ग में बड़े घरों की विधवाओं, असंतुष्ट पत्नियों, अविवाहित रह जानेवाली बड़ी उम्र की कुमारिकाओं और कामसुख की विविधता चाहनेवाली अल्हड़ युवतियों का भी समावेश हो सकता है । इन स्त्रियों को विषयसुख के बदले में रुपये की आवश्यकता नहीं होती । उलटे, अपनी इच्छानुसार सुविधा मिलने पर वे थोड़ा-बहुत खर्च करने को भी तैयार रहती हैं । इस हालत में इन गृहों के संचालकों को दुतरफा लाभ मिलता है और यह व्यवसाय बड़ा लाभदायी सिद्ध होता है । अनीति के इन गुप्त धामों को अन्य किसी शब्द के अभाव में 'व्यभिचारगृह' कहना ही उचित होगा ।

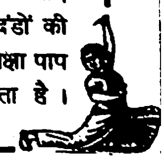
आश्चर्यजनक होने पर भी यह बात बिलकुल सत्य है कि हमारे धर्मस्थानों और मंदिरों का भी इस कार्य के लिए जी भर कर उपयोग होता है । मकान का एक भाग देवदर्शन या कथा वार्ता के लिए नियत हो, तो दूसरे भाग में खुला व्यभिचार चलता रहता है । इस प्रकार के स्थानों का संचालन करने वाले स्त्री-पुरुष मनुष्य-स्वभाव के उत्तम पारखी और मँजे हुए अभिनयपटु होते हैं । भक्तिभाव में लीन दिखाई देनेवाली पुजारिन या तिलक-छापे लगा कर सेवापूजा में डूबे रहनेवाले बगुला-भगत पुजारीजी की आँखें दुखी, कामातुर, आर्त या अर्थार्थी भक्तिनों को आसानी से पहचान लेती हैं । सहानुभूतिपूर्ण वार्तालाप से वे शीघ्र ही उनका इतिहास और पारिवारिक परिस्थितियाँ जान लेते हैं; उनके साथ विश्वास प्रेरित करने वाला समवेदनापूर्ण बर्ताव करते हैं; उनके दुख में सहभागी होने का दिखावा करते हैं और शीघ्र ही उन्हें बहला-फुसला कर अपने जाल में फँसा लेते हैं । घर के झगड़ों से ऊबी हुई स्त्री को धर्म-कर्म के बहाने इस वातावरण में कुछ देर के लिए पारिवारिक झंझटों से मुक्ति मिल जाती है, मनोरंजन के साधन मिल जाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर थोड़ा-बहुत धन भी मिल जाता है । समय बीतते इन संबंधों की परिणति मंदिर या धर्म के साथ दूर का भी संबंध न होने वाले अमर्याद अनाचार में हो जाती है । गुजरात के एक बड़े शहर में 'छिनाल बालाजी' नामक मंदिर है जो इसी प्रकार की किसी घटना की ओर संकेत करता दिखाई देता है ।

हिंदू धर्म में धर्मगुरुओं और महंतों के लिए विवाह का विधान नहीं है । उनकी गद्दी भी वंशपरंपरा से न चल कर शिष्यपरंपरा से चलती है । अनेक स्थानों पर लोग देवता की सेवापूजा और मंदिर संबंधी अन्य काम करने के लिए अपने घरों की विधवा बहू-बेटियों को भेज देते हैं । ये स्त्रियाँ भक्तिनें कहलाती

है । परंतु शीघ्र ही उनकी और महंतों की अतृप्त कामवासना मिल कर मंदिरों में व्यभिचार की कभी न टूटने वाली परंपरा निर्माण करती है । इन स्त्रियों के और मठाधीश महंत के संबंध से उत्पन्न होने वाली संतति को महंत का उत्तराधिकारी होने की और उसकी गद्दी प्राप्त होने की संभावना रहती है । अतः इस आशा से प्रेरित होकर कुछ लोग जानबूझ कर अपनी बहू बेटियों को इनके निकट संपर्क में रखने की कोशिश करते हैं । कभी-कभी उनकी यह योजना सफल भी हो जाती है । परिवार के ऊपर भार रूप हो जाने वाली इन स्त्रियों के मंदिर में जाने से किसी का कोई नुकसान नहीं होता और किसी को कोई खास एतराज नहीं होता । हिंदू विधवा के लिए रातदिन पूजापाठ और धर्मकार्य में लगा रहना ही इष्ट माना जाता है । मंदिरों में पूजाअर्चा के उपरांत रसोई, सफाई आदि काम करने में भी थोड़ा-बहुत पुण्यसंचय होता ही होगा । अतः इन स्त्रियों को मंदिरों में भेजने के लिए यह बहाना सब के लिए सुविधाजनक रहता है ।

रजवाड़ों और छोटी-मोटी रियासतों में राजपरिवार या शासन-व्यवस्था से संबंधित प्रसंगों पर निकलने वाले जुलूसों में नर्तकियों को अग्रस्थान दिया जाता है । नगर के बड़े चौराहों पर और प्रतिष्ठित लोगों और बड़े अफसरों के घरों के सामने जुलूस रोक कर उनका नृत्य करवाया जाता है । कहीं-कहीं ऐसी व्यवस्था भी होती है कि बैलगाड़ियों पर लकड़ी की बड़ी-बड़ी चौकियाँ लाद कर उन पर साजिंदों को बिठा दिया जाता है और उन्हीं पर रामजनियों का नृत्य होता रहता है । इसमें सुविधा यह रहती है कि जुलूस भी चलता रहता है और नृत्य भी । जनसाधारण को इस बहाने कलावतियों के उत्तान शृंगारिक हावभावों का अन्यथा दुर्लभदर्शन अनायास ही हो जाता है । इन सामंतयुगीन रजवाड़ों के भीतरी प्रदेशों में और जागीरदार-इनामदारों में यह प्रथा स्वातंत्र्य प्राप्ति से पहले तक प्रचलित थी । रियासतों के विसर्जन के साथ सामंतशाही के इन स्थूल अवशेषों का भी विसर्जन हो गया । बचे-खुचे चिह्न भी अब तेज़ी से लुप्त होते जा रहे हैं । प्रजा की माँग होगी, तो इन कलाओं का नये रूप में, देशकाल के अनुरूप नयी साजसज्जा के साथ पुनर्जन्म होगा । मध्य-युग में नृत्य-संगीत की पवित्र कलाओं के चहुँओर पाप और अनाचार के जो दुर्भेद्य आवरण बुने गये, उनका अब फट जाना ही उचित है । सामंती युगों में कला की पवित्रता को ऐसे गहरे रसातल में धकेल दिया गया था और उसकी आड़ में पतितावस्था को इतना अधिक प्रोत्साहन मिलने लगा था कि अब उसका पुराना रूप तिरोहित होकर नया, युगानुकूल रूप विकसित हो इसी में भलाई है । इस परिवर्तन से किसी को दुख होने का कोई कारण नहीं ।

साथ ही यह भी एक अविस्मरणीय सत्य है कि नृत्य, संगीत, अभिनय आदि कलाओं; संभाषण चातुर्य, शृंगार नैपुण्य, नम्रता, माधुर्य आदि गुणों; रूप-यौवन को यथा संभव लंबे काल तक बनाये रखने के दृढ़ संकल्प एवं बीते हुए युगों की याद दिलानेवाली एक विशिष्ट प्रकार की तहज़ीब को सुरक्षित रखने में और कभी-कभी इन तत्वों का विकास करने में रूप यौवन का व्यापार करनेवाली इन पतित संस्थाओं का योगदान बहुत अधिक रहा है । उनकी और सब बातें भले ही नष्ट हो जायँ, परंतु उनकी इन विशिष्टताओं को शिष्ट समाज कुछ परिष्कृत करके अपना ले यह वांछनीय है । पवित्रता का दंभ, नैतिकता का घमंड, अतिसंयम का आडंबर एवं जीवन के प्रति विरागमय और शोकमग्न दृष्टि रखने का हठाग्रह नैतिकता को व्यापक नहीं बना सके हैं । मानव-इतिहास में यह बात एकाधिक बार प्रमाणित हो चुकी है । नैतिकता और आनंद का समन्वय करने के, और त्याग एवं भोग के बीच का स्वर्णमध्य ढूंढने के प्रयत्न मनुष्यजाति सदा से करती आयी है । यह खोज अब भी जारी है और मानवसमाज का कल्याण इसी में दिखाई देता है कि वह अपने नीतिनियमों को आनंदमय और अपने आनंद को नीतिनियंत्रित बनाये । वास्तव में इन दोनों के बीच कोई मूलगामी विरोध नहीं है । विरोध सिर्फ सतही है जिसके कारण खींचातानी चलती रहती है । इस कशमकश को मिटाने के लिए नीति और आनंद के विविध प्रयोग करने होंगे और उनकी नयी व्याख्याएँ स्थापित करनी होंगी । समन्वय पर आधारित नया समाजविधान स्थापित करने के लिए मानदंडों की तलाश पाप और पुण्य, दोनों क्षेत्रों में करनी होगी । सत्य के अन्वेषण में कभी-कभी पुण्य की अपेक्षा पाप और पापी माने जाने वाले प्राणियों की गतिविधियों का निरीक्षण ही अधिक मार्गदर्शन होता है ।



२

वर्तमान भूमिका

पिछले कुछ पृष्ठों में हमने भारत में फैली हुई खुली और गुप्त, दोनों प्रकार की गणिकावृत्ति का परिचय प्राप्त किया । हमने यह भी देखा कि धर्म और धर्मस्थान भी उसके सहायक हो सकते हैं । मानव-स्वभाव की विचित्रता और सामाजिक संस्थाओं की विषमता का इतना हृदय-विदारक उदाहरण अन्यत्र मिलना मुश्किल है । अब हम देह-विक्रय के कुछ अन्य पहलुओं का विचार करेंगे जो वास्तव में खुली गणिकावृत्ति से भी अधिक निंद्य और भयावह हैं । ''दि अंडरवर्ल्ड ऑफ इण्डिया'' नामक पुस्तक में भारत की इस अंधेरी दुनिया का बड़ा वास्तविक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । बीच के युगों में हमारे यहाँ इस विषय का अध्ययन तो क्या नाम लेना भी त्याज्य माना जाने लगा था । कामसूत्र या कुट्टनीमतम् जैसे वेश्या व्यवसाय संबंधी ग्रंथों का प्रकाशन भी आरंभ में पाश्चात्य निरूपकों के प्रयत्नों से ही हुआ था । पश्चिम में देह-विक्रय और उससे उत्पन्न अनवस्थाओं को तो घृण्य माना जाता है, पर उनके अध्ययन को नहीं । जहाँ-जहाँ मनुष्य समाज होगा वहाँ उसके उजले पहलू के साथ उसका मैला पहलू भी अवश्य होगा । उसमें किसी प्रकार का सुधार करने से पहले उसका निष्पक्ष अध्ययन होना हर दृष्टि से आवश्यक होता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय विरचारकों को अपने देश और अपने समाज की हर बात पश्चिम की तुलना में हेय, अनैतिक और निम्नकक्षा की दिखाई देने लगी थी । स्त्री-सम्मान की भावना और पश्चिम को स्वीकार्य हो सकनेवाली नैतिकता के मोह में संस्कारों और परिस्थितियों की भिन्नता को भुला देने को वे सदा तत्पर रहते थे । उनके विचार इस हद तक एकांगी हो गये थे कि नर्तकियों का नाच देखना तो क्या उनका उल्लेख करना भी वर्ज्य माना जाने लगा और इस देश में प्रचलित हर रिवाज को अनीतिमय और असभ्य घोषित किया जाने लगा । भारतीय नृत्य-संगीत के जलसों में भूल कर भी सम्मिलित न होना सुधारक होने का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र माना जाने लगा । अंग्रेज़ अफसरों और ईसाई धर्मप्रचारकों ने उनका इसमें समर्थन किया । अंग्रेज़ों द्वारा पीठ ठोकी जाना उस युग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए कर्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा और गौरव का सर्वोच्च शिखर माना जाता था । परंतु इस सारे आयोजन में कई बातें सुविधापूर्वक भुला दी जाती थीं । इनमें की सबसे अधिक आपत्तिजनक बात यह थी कि पश्चिम के सभ्य और प्रतिष्ठित माने जाने वाले नृत्य में शिष्ट घरानों की स्त्रियों का भी परपुरुष के साथ अत्यंत उत्कट देह-स्पर्श होता है; और दूसरी यह कि पश्चिम के देश भी पेशेवर नर्तकियों से अपरिचित नहीं हैं । वहाँ की वेश्यावृत्ति पौर्वात्य गणिकावृत्ति से कई गुनी घिनौनी है और पेशेवर नर्तक-नर्तकियों को वहाँ के शिष्ट-समाज में भारत से भी अधिक स्वीकृति प्राप्त है । इसके उपरांत, भारत की तवायफ संस्था के समान पाश्चात्य गणिकावृत्ति नृत्य-संगीत के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई नहीं है । पश्चिम के प्राय: सभी देशों में पेशेवर नृत्य-मंडलियाँ आज के समान उस युग में भी खुली वेश्यावृत्ति के अत्यंत निकट पहुँच चुकी थीं और केवल यौन-अनाचार और उच्छृंखल व्यवहार की दृष्टि से देखें, तो संस्थापित गणिकावृत्ति से भी कई कदम आगे बढ़ चुकी थीं । उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय अंग्रेज़ी-शिक्षितों ने सुधार के जोश में इन सारे तत्वों को नज़रअंदाज़ कर दिया था ।

विदेशों में यौन-अनाचार और गणिकावृत्ति बहुत अधिक प्रचलित हैं, इसलिए भारत में भी उन्हें क्षम्य या स्वीकार्य मान लिया जाय, यह कहने का हमारा आशय बिलकुल नहीं है । अनाचार हमेशा अनाचार ही रहेगा और एक देश के दुराचार का हवाला देकर अन्य किसी देश के दुराचरण का समर्थन कभी नहीं किया जा सकता । यहाँ केवल उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारक कहलानेवाले अर्धदग्ध नवपरिवर्तितों की एकांगी विचारधारा का उल्लेखमात्र किया गया है । नाचगाने के जलसों में सम्मिलित न होने के सुधारवादी आन्दोलनों ने भारतीय गणिकाजीवन पर नहीं के बराबर प्रभाव डाला है । बड़े शहरों के सुशिक्षित लोगों का

ध्यान इस प्रश्न की ओर आकर्षित करने का कार्य इन आंदोलनों ने अवश्य किया है; पर सोचने-समझने वाले लोगों ने इस पर एकांगी राय नहीं बनायी । गणिकावृत्ति एक सामाजिक अनिष्ट है और उसके साथ जुड़ी हुई नृत्य-संगीतादि कलाएँ कलासक्ति के बहाने अकसर देह-व्यापार का ही पोषण करती हैं इस सत्य से तो इनकार नहीं किया जा सकता । सुधारकों का आग्रह अधिकांश में इस सत्य की ओर लोगों का ध्यान खींचने के और इस अनिष्ट का निवारण करने के निष्कपट प्रयत्नों से ही उत्पन्न हुआ था इसमें भी कोई संदेह नहीं । परंतु सुधारकों के इस नैतिक दुराग्रह के कारण हमारी बाह्य शिष्टता का आडंबर एक ऐसी कक्षा पर पहुंच गया कि जहां गणिका या गणिकावृत्ति का नामोल्लेख करना भी अशिष्टता की परिसीमा माना जाने लगा । अंग्रेज़ी में जिसे Prudery कहते हैं, जिसमें अप्रिय सत्य के स्वीकार में भी आनाकानी की जाती है, उससे कुछ मिलती-जुलती मन:स्थिति इन लोगों में विकसित हो गयी थी । शिष्टता का यह आडंबर और विशुद्धि का दुराग्रह वर्तमान युग तक भी चलता आया है; यद्यपि यौन-विज्ञान के व्यापक अध्ययन और प्रचार ने इसकी बुनियाद हिला दी है । किन्तु दुर्भाग्य यह है कि इस जानकारी ने भी पूर्णत: स्वस्थ और कल्याणकारी परिणाम ही उत्पन्न किए हैं, यह छाती ठोक कर नहीं कहा जा सकता । यौन-विज्ञान के प्रचार के बहाने यौनवृत्ति को भड़काने वाले निम्नकोटि के साहित्य का धड़ल्ले से प्रचार हो रहा है । यह स्थिति सामाजिक स्वास्थ्य की नहीं बल्कि विकृति और अनिष्ट की सूचक है । संतोष की बात सिर्फ इतनी है कि बहुत कम संख्या में क्यों न सही, पर एक ऐसा वर्ग ज़रूर विकसित हो रहा है कि जो यौनविज्ञान को विज्ञान की ही एक शाखा मान कर उसका अध्ययन आवश्यक मानता है और उसके प्रसार में सामाजिक स्वास्थ्य की संभावनाएं देखता है ।

इस विषय के अध्ययन से कभी-कभी इष्ट के बजाय अनिष्ट परिणाम निकलने का मुख्य कारण यह है कि कई शताब्दियों से हमारे देश का शिष्ट समाज नीति-अनीति और धर्म-अधर्म के मामलों में अत्यंत संवेदनक्षम, दुराग्रही और मिथ्याभिमानी बन गया है । आश्चर्य की बात तो यह है कि यह संवेदनशीलता विचार और आचरण में उतनी व्यक्त नहीं होती जितनी वाणी और आडंबर में होती है । नये विचारों का प्रवाह जहाँ यौन-विषयों का शास्त्रीय ज्ञान कराना चाहता है, वहाँ लज्जा और गोपनीयता की पुरानी मान्यताएँ शास्त्रीय ज्ञान की जिज्ञासा को भ्रमणा में डाल कर और जीवन-व्यापी काम-कुतूहल को गलत ढंग से उत्तेजित करके इस प्रकार के साहित्य को विकारप्रेरक और कामोद्दीपक बना देती है जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय ज्ञान के बहाने निम्नकोटि का कामोत्तेजक साहित्य अनिष्ट और अवांछनीय परिणाम उत्पन्न करने लगता है । बाज़ार में उपलब्ध तथा कथित कामशास्त्र की सस्ती पुस्तकों और सचित्र कोकशास्त्रों के विज्ञापन इस विधान की यथार्थता प्रमाणित करने को पर्याप्त होंगे । कामविज्ञान के क्षेत्र में यह विरोधाभास एक अत्यंत नाजुक प्रश्न है जिसकी चिकित्सा बहुत सावधानी से होनी चाहिये । प्रस्तुत ग्रंथ के संबंध में भी किसी के मन में ऐसा भय उत्पन्न हो तो उसे सर्वथा निर्मूल नहीं माना जा सकता । कामविज्ञान की व्याख्या करने वाली सरल से सरल पुस्तिका से लगाकर यौन-विचित्रताओं और विकृतियों का निरूपण करनेवाले जटिल ग्रंथों तक के संबंध में यह भय समान रूप से रहता है और उन्हें अपने हाथ में लेने से पहले या अन्य किसी के हाथों में देने से पहले अविश्वास उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

किसी भी विषय के शास्त्रीय अध्ययन की लगन वाले अन्वेषकों और केवल कुतूहलशमन के लिए उस पर सरसरी नज़र फेर लेने वाले शौकिया पाठकों के बीच विभाजन की सीमारेखा खींचना बहुत मुश्किल है । यह परिस्थिति इसी सत्य की ओर अंगुलिनिर्देश करती है कि अशिष्ट माने जाने वाले विषयों पर विचार करके उन्हें शिष्ट सम्मत रूप में प्रस्तुत करना तो आसान है, पर उसे उसी रूप में ग्रहण करने के लिए हमारा मानस शायद अब तक तैयार नहीं हो पाया है । गणिकावृत्ति संबंधी साहित्य भारत की वर्तमान भाषाओं में बहुत ही कम है जबकि अन्य विषयों में हमारी सारी भाषाओं का साहित्य अत्यधिक प्रगति कर चुका है । यही कारण है कि इस विषय की कोई भी जानकारी प्राप्त करने के लिए अधिकांश में विदेशी लेखकों की सहायता लेनी पड़ती है । यहाँ तक कि भारत की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए भी

विदेशी लेखकों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का आधार लेना पड़ता है । आगे के कुछ पृष्ठों में गणिकावृत्ति के विविध पहलुओं का विचार करते हुए हमारे देश की वर्तमान स्थिति के कुछ चित्र उपस्थित किए गये हैं इनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी पुस्तकों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत हुए हैं ।

३
आज की स्थिति की झलक दिखाने वाले कुछ चित्र

'दि अंडर वर्ल्ड ऑफ इण्डिया' के लेखक ने भारत की वर्तमान परिस्थितियों का विशद विवेचन किया है । इस लेखक के मतानुसार, "भारत की कतिपय सामाजिक कुप्रथाएँ ही पुरुषों को वेश्यागमन की ओर धकेलती हैं । परदे की प्रथा, स्त्रियों की निरक्षरता, माता-पिता द्वारा जोड़े हुए विवाहसंबंध, वैधव्यपालन की अनिवार्यता, बालविवाह, अनमेल विवाह और एकपत्नीत्व आदि कारणों से पुरुष घर से बाहर यौन-सुख ढूंढने को मजबूर होता है । पश्चिम की नृत्यमंडलियों (Salons) और जापान के चायगृहों की तरह भारत के गणिकागृहों में नृत्य-संगीत की व्यवस्था आवश्यक रूप से होती है । इसके उपरांत, चाय, शरबत और हुक्के से लगा कर शराब-कोकीन तक नशे के सारे पदार्थ भी ग्राहक की इच्छानुसार मिल सकते हैं । दुनिया भर की गपशप वहाँ चलती रहती है और शौकीनों को विनोदी एवं वाचाल नवयौवनाओं के साथ संभाषण करने का मौका मिलता है । रंगबिरंगा प्रकाश इत्र-गुलाबजल की खुशबू, पायल की झनकार, विलास और रंगरागं के अनगिनत साधन और चिक के परदों के पीछे छिपा रहस्यमय वातावरण इन गृहों के आकर्षण को कई गुना बढ़ा देते हैं । प्राचीन काल की तरह आज भी भारत की गणिकावृत्ति नगर संस्कृति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है; फिर ये नगर चाहे बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर जैसे औद्योगिक नगर हों, या लखनऊ, आगरा, पूना जैसे सांस्कृतिक केन्द्र हों या बनारस, मथुरा, कांचीपुरम जैसे तीर्थस्थान हों ।

"हर बड़े शहर में लड़कियाँ बेचने के अड्डे होते हैं । मक्कार दलाल विशिष्ट प्रदेशों में से चाहे जिस कौम की लड़कियों को खरीद कर या उड़ा कर ले आते हैं । कुछ वर्षों तक उन्हें नृत्य-संगीत की शिक्षा और गणिकावृत्ति की तालीम दी जाती है । फिर उन्हें या तो बेच दिया जाता है या वेश्यालयों में भरती कर दिया जाता है । इस धंधे में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी बड़ी संख्या में पायी जाती हैं । लड़कियाँ बेचनेवाला वर्ग अत्यंत दरिद्र और समाज का निम्नतर स्तर होता है । हिंदू समाज की जात-पाँत और छूत-अछूत की परंपराओं ने इस वर्ग को मनुष्यता की निम्नतम कक्षा पर उतार दिया है । इसके उपरांत पारिवारिक जुल्मों का शिकार बनी हुई विधवाएँ, त्यक्ताएँ और निराधार स्त्रियाँ भी गणिकाओं की संख्या में रात-दिन वृद्धि करती रहती हैं ।"

इस स्पष्टवादी लेखक का एक परिच्छेद विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "बम्बई-कलकत्ता जैसे शहरों में धनाढ्य भारतीय लोग गणिकाओं को आश्रय देकर उन्हें वस्त्रालंकार से मानो मढ़ देते हैं । इस कोटि की गणिकाओं की समृद्धि किसी राजा-महाराजा को भी नीचा दिखा सकती है । इस प्रकार का रजवाड़ी आश्रय प्राप्त करने वाली युवतियों का रूप-सौंदर्य, उनकी नाजुकमिज़ाजी और नफासत, उनकी तहज़ीब, एवं उनकी कलासाधना वाकई अत्यंत उच्च कोटि की होती है । उनका जन्म ही मानो धनिकों की नजरों पर चढ़कर इस विलासमय वातावरण में अपने आपको उपभोग का एक साधन बना देने के लिए होता है । धनपतियों के भोगविलास के लिए चुनी जाने वाली ये रूपसियाँ प्रतिष्ठित परिवारों से नहीं आतीं । अक्सर उनका जन्म समाज के निम्नस्तरों में ही हुआ होता है । उनका विकास बंधे पानी पर जमने वाले शैवाल की तरह अपने आप होता है, और समुद्र की लहरों के साथ बह कर आनेवाली काई की तरह उनके उद्गम का पता लगाना मुश्किल होता है । परंतु यह कोई नगण्य नहीं होती । उनका रूप-यौवन, उनका वेश-सौष्ठव

उनकी तहज़ीब, उनकी बुद्धिमत्ता और उनकी नृत्य-संगीत की जानकारी अत्यंत उच्च कोटि की होती है। इन सब गुणों का असाधारण विकास हुए बिना उन्हें लक्षाधीशों का आश्रय मिलना संभव नहीं। पाश्चात्य लोगों के लिए भारतीय जीवन के इस पहलू के दर्शन भी दुर्लभ हैं। पुलिस अफसरों से मित्रता हो तो अधिक से अधिक इनके जीवन की एक झलक मात्र देखी जा सकती है।''

लेखक का यह दावा कि पश्चिम की प्रजा भारत पर शताब्दियों तक राज्य करके भी इस वर्ग से नितांत अनजान रही है, विश्वसनीय दिखाई नहीं देता। एंग्लो-इण्डियन नाम से परिचित अर्धगोरों के विशाल समुदाय को जन्म देने वाली यह प्रजा नारी की खोज में किसी से पीछे रही हो, यह मानने को जी नहीं करता। उसका दूसरा विधान कि इन असाधारण सौंदर्यवतियों का बहुत बड़ा भाग समाज के निम्नतम वर्गों से आता है, उच्च कहलानेवाले वर्गों की आँखें खोल सकता है। जिस स्तर में से कला और सौंदर्य के इतने उच्च कोटि के विकास की क्षमता रखनेवाली युवतियाँ प्राप्त होती हों, उसे हेय या गिरा हुआ कैसे कहा जा सकता है?

प्रथम चित्र

अब हम एक अन्य लेखक के वर्णन के आधार पर उत्तर प्रदेश के किसी गणिकागृह की काल्पनिक सैर करें। आरंभ से ही हम यह मान कर चलें कि हमें यहाँ आने का निमंत्रण मिला है, और हमारा कोई संगीतप्रेमी मित्र हमारे आगमन की पूर्वसूचना देकर हमें गणिकागृह की अधिष्ठात्री सदाबहार बेगम के यहाँ ले जाता है। अधिष्ठात्री का नाम ही सनातन वसंत का सूचक है। बीसेक साल पहले वह लखनऊ की ताराबाई नामक कुट्टनी की निगरानी में नृत्य-संगीत का पेशा करती थी और अपनी एक ही अदा से रसिकों को घायल कर सकती थी। अब उनका शरीर अलबत्ता कुछ स्थूल होकर उनके नाम को झुठला रहा है, बता रहे हैं कि इमारत बुलन्द थी। संभाषण की मधुरता और रहन-सहन की नफासत अब भी पहले जैसी ही बनी हुई है। सत्ताधीशों; धनपतियों और शौकीनों के साथ वे अब भी पहले जैसी तहज़ीब से पेश आती हैं।

उनकी माता ताराबाई हिंदू थीं, पर सदाबहार बेगम मुसलमान हैं। इस वर्ग की तवायफों के लिए इस्लाम धर्म ही अधिक अनुकूल होता है और वे आसानी से धर्मपरिवर्तन कर लेती हैं। कई वर्ष पहले एक अफगान रईस ताराबाई की महफिल में आया था और इस कमसिन लड़की का नृत्य देख कर मोहित हो गया था। उसने उसी वक्त ताराबाई से लड़की का सौदा कर लिया और वह बुर्का ओढ़कर काबुल पहुँच गयी। यहीं से उसका रूपान्तर 'सदाबहार बेगम' में हुआ। दस साल तक बहार बेगम अपने रूप भेद गयी। यहीं से उनका रूपांतर 'सदाबहार बेगम' में हुआ। दस साल तक बहार बेगम अपने अनेक रूप यौवन की बहार से काबुल के अफगान युवकों को उन्मत्त बनाती रहीं। अफगानिस्तान के कुछ गुप्त राजनीतिक भेद अंग्रेज एजेंटों और भारतीय खुफिया पुलिस को बताकर रूप-विक्रय द्वारा कमाई हुई सम्पत्ति के अंग्रेज एजेंटों और भारतीय खुफिया पुलिस को बताकर रूप-विक्रय द्वार कमाई हुई सम्पत्ति के यौवन की बहार से काबुल के अफगान युवकों को उन्मत्त बनाती रही। अफगानिस्तान के कुछ गुप्त राजनीतिक अलावा भी उसने काफी रुपया कमाया। यह रुपया और भेंट-सौगात के रूप में मिले हुए ज़ेवर-जवाहरात लेकर वह बम्बई आ गयी। राजनीति के साथ गणिकाओं का निकट संबंध स्वीकृत करनेवाले कौटिल्य को बुराभला कहना व्यर्थ है। यह संबंध परापूर्व से चलता आया है और आज की राजनीति भी इसका दिल खोल कर उपभोग करती है।

बम्बई में इन पर बोहरा जाति के एक धनाढ्य व्यापारी की नज़र पड़ी। उम्र के साथ विस्तृत होती जानेवाली इनकी देहलता उसके मन को भा गयी और पाँच वर्षों तक इन्होंने नृत्य-संगीत से उसके जीवन

को आनंदमय बनाया और ढलती उम्र में उसका मनोरंजन किया । परंतु बोहराजी का कोई रकीब पैदा हो गया जिसने सीधी उंगली से घी निकलता न देख कर बहार बेगम पर छुरे से आक्रमण किया और अपने मन की भड़ास निकाली । इस हमले में उनकी जान तो बच गयी पर बम्बई के विषैले वातावरण से वे घबरा उठीं, और रसिकों की क्रीड़ाभूमि कहलाने वाले उत्तर-भारत के इस शांत और बातहजीब नगर में आ बसीं ।

अफगानिस्तान में की हुई राजकीय सेवाओं के कारण पुलिस के साथ उनका सदा घनिष्ठ संपर्क रहा । इसके अलावा, शासन-व्यवस्था के इस पूरे महकमे के लिए वे आमदनी का एक माकूलोमुकम्मिल स्रोत थीं । जरूरत पड़ने पर वे कब्रिस्तान की सी शांति धारण कर सकती थीं और मौका पड़ने पर कुंजड़िनों की सी वाचालता । अपने गणिकागृह में सर्वश्रेष्ठ और केवल सर्वश्रेष्ठ चीज़ें ही आयें यह उनका उसूल था । पान, तंबाकू, किमाम, इत्र, गुलाबजल आदि विलास के सारे उपादान बहार बेगम के यहाँ बढ़िया से बढ़िया किस्म के ही प्रयुक्त हो सकते थे । अपने गृह की युवतियों को भी वे फूलों की तरह रखती थीं । उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ने दी जाती थी और यौनरोगों का उन्हें संसर्ग न हो इसकी पूरी-पूरी सावधानी बरती जाती थी । इस हालत में उनका पूर्णत: संतुष्ट रहना स्वाभाविक था । इतनी उच्च कोटि की साजसज्जा और सेवाओं के कारण शीघ्र ही उनका गणिकालय शहर में ही नहीं, इर्दगिर्द के पूरे प्रदेश में मशहूर हो गया ।

नगर के बाहर एक तालाब है । उसके एक घाट को लोग 'पूरन भगत का घाट' कहते हैं । घाट के पास एक सराय है जिसमें अक्सर काबुली, ईरानी और पठान व्यापारी ठहरते हैं । घाट के सामने ही एक ऊँचे से टीले पर सदाबहार बेगम का दौलतखाना है । खिड़कियों में खड़ी हुई नवयौवनाओं को सराय में ठहरने वाले व्यापारी आसानी से देख सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे भी इशारों से उनका ध्यान आकर्षित कर सकती हैं । मकान वाकई बड़ी उपयुक्त जगह पर है । घर बार छोड़ कर दूर देश आने वाले बेचारे परदेसी मुसाफिरों की इससे अनायास ही बड़ी सुविधा हो जाती है और कलावतियों की कला की कद्र करने का उन्हें मौका मिलता है । शाम का झुटपुटा हो रहा है । बहार बेगम के दीवानखाने से पायल की झनकार और तबला-सारंगी के सुर सुनाई देने लगे हैं । हमारे पहुंचने से पहले ही आठ-दस शराफजादे वहाँ पहुँच चुके हैं । सब मसनदों के सहारे बैठ कर आराम से हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं । चलिये, हम भी तकिये के सहारे बैठ तो जायँ । हुक्का ? हम नहीं पीते । कैसे पिया जाता है यह भी नहीं जानते । खैर, शरबत और पान तो ले ही सकते हैं । बड़ी शर्म महसूस हो रही है । ठीक है, पहली बार ऐसा ही होता है । आदत पड़ते ही सारा संकोच दूर हो जायगा । और इसमें संकोच की बात भी क्या है ? बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और इज्ज़तदार नागरिक हमसे पहले ही आये बैठे हैं । उन्हें तो किसी प्रकार का संकोच महसूस नहीं हो रहा । बड़ी बेतकल्लुफी से मुस्करा-मुस्करा कर बातें कर रहे हैं । भई, यह तफरीह की जगह है । लोग यहाँ दिलबहलाव के लिए आते हैं । हमारी-आपकी तरह शर्म-संकोच में ही डूबे रहें, तो लुत्फ क्या खाक उठायेंगे ! चलिये, लगे हाथ इनमें से कुछ का परिचय प्राप्त कर लिया जाय ।

ये जो सामने की मसनद से टिके हुए हैं, वे जनाब अल्लादादखाँ हैं । एक छोटी सी रियासत के तोपखाने के नियंत्रक हैं । अब लड़ाई-वड़ाई का ज़माना तो लद गया । तोपों के संचालन की उतनी जरूरत नहीं रही; उनकी सिर्फ देखभाल करनी पड़ती है । बड़े रईस-तबीयत और उदार आदमी हैं । बादाम जैसी आँखों वाली और खंजन जैसे कटाक्षों वाली मीराबाई नामक (गिरिधर गोपाल क्षमा करें) नर्तकी के हाथों से कस्तूरी और गुलाबजल से मुअत्तर जाम पीना खाँ साहब को बेहद पसंद है । इस समय वे किसी और धुन में हैं । मगर जल्दी न कीजिये । चार-छ: जाम हलक के नीचे उतरते ही वे आपसे दुनिया भर की गपशप लड़ाने को तैयार हो जायेंगे ।

उनकी बगल में नवाब फैजुल्लाखाँ तशरीफ रखते हैं । उन्हें चंपे का इत्र बेहद पसंद है । बहार बेगम की चंपा नामक एक मुँहलगी शिष्या के हाथों से चंपे की महक से बसी किसी भी चीज का स्वीकार

करने को ये सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे कद्रदाँ मेहमानों को क्या चीज़ और कौन सी सुंदरी सबसे अधिक पसंद है इसका बहार बेगम सदा ख्याल रखती हैं। इसीलिए बीच-बीच में वे सबको योग्य सूचनाएँ देती जा रही हैं। इस ओर दो-तीन सिख सज्जन बैठे हैं। नाम-ठाम मालूम नहीं, परंतु इतना मालूम है कि थोड़ी ही देर में इनके बीच शराब के सागर और पैमाने नहीं, खुम के खुम खाली होंगे और आबेसुर्ख़ की ऐसी नदियाँ बहेंगी और हौजेकौसर भी रीता हो जाय। सौंदर्य के दर्शन के लिए लालपरी के रंगीन डोरे आँखों में डालना अत्यावश्यक है। सुनते हैं कि बेशकीमत हीरों की परख पहुँचे हुए रत्नपारखी भांग पीकर करते हैं। इन ज़िन्दा जवाहरात की परख करने के लिए भांग से कई गुनी अधिक कारगर बूटी की आवश्यकता पड़ती है। उस ओर वे बड़ी तोंद वाले वकील साहब विराजमान हैं। जितनी सरलता से वे मुवक्किलों का खून चूसते हैं उतनी ही बेतकल्लुफी से मदिरा की चुस्कियाँ ले रहे हैं। इस तरफ हाल ही में सेवानिवृत्त होनेवाले एक मुस्लिम राजपूत बैठे हैं। चौंकिये नहीं; राजस्थान के मुसलमान अब भी अपने आपको राजपूत-मुसलमान कहलाने में गौरव अनुभव करते हैं। वे बड़े खरे मुसलमान हैं। शराब उनके लिए हराम है, परंतु नृत्य-संगीत नहीं; और नर्तकियाँ तो नहीं नहीं और बिलकुल नहीं।

शीघ्र ही तबला-सारंगी के तालसुर गहरे हो उठते हैं। अज़ीज़न, दिलशाद, जैसे अज़ीज़ और दिलशाद नामों वाली चार परियाँ तबले के ताल पर थिरकने लगती हैं। इनमें की एक कश्मीर से, दूसरी ईरान से, तीसरी तुर्किस्तान से और चौथी मिस्र से आयी है। कमरे की दीवार पर इंग्लिस्तान के बादशाह का कदे-आदम तैलचित्र टँगा हुआ है। गणिका हुई तो क्या हुआ; वफादारी में वे किसी से कम नहीं। दूसरी दीवारों पर टँगे हुए नग्न और अर्धनग्न लावण्यवतियों के चित्र इस वातावरण के लिए अधिक उपयुक्त दिखाई देते हैं। हाज़िरीन की आँखों में सुर्ख डोरे पड़ गये हैं। बातचीत ज़ारी है, पर सिलसिला बिगड़ा हुआ है। गरदन हिला-हिला कर वे दाद देते जा रहे हैं, पर शब्द लड़खड़ाने लगे हैं। बहार बेगम खुद गाती भी नहीं है और नाचती भी नहीं। पर उपस्थितों के सामने बैठकर मुस्करा-मुस्करा कर बड़े अदब से बातें कर रही हैं। फलाँ नवाबसाहब के साहबज़ादे की शादी में उन्होंने किन-किन नर्तकियों को भेजा था; अमुक राजासाहब ने इनाम-इकराम देने में उदारता बरती थी या कंजूसी; बड़े लाट साहब के आगमन के समय कौनसा नृत्य किया जायगा; बम्बई के जौहरी ने भेजा हुआ पारसल अब तक नहीं आया है; गाँधी जी बेकार सिर फोड़ रहे हैं, सरकार बहादुर के सामने उनकी एक नहीं चलेगी; इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर बड़ी संजीदगी से चर्चा हो रही है। परंतु यह चर्चा बहस का रूप धारण नहीं करती। बहार बेगम अपने मेहमानों की इस समय की नाज़ुक मन:स्थिति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे आपस में झगड़ने लगें इसकी नौबत वे कभी नहीं आने देंगी। और पूरी सावधानी के बावजूद भी अगर झगड़ा खड़ा हो जाय, तो भी घबराने की कोई बात नहीं। हवालदार और कोतवाल से लगा कर वकील और न्यायाधीश तक सब उनकी मुट्ठी में हैं।

थोड़ी देर बाद दो चार श्रोता और आ जाते हैं। शरबत, पान और हुक्के का दौर तो चलता ही रहता है। सारंगिये और तबलची भी अब जम गये हैं। उनकी सुरमई आँखें वातावरण को और भी मादक बना रही हैं। अपने-अपने फन में वे कमाल हासिल रखते हैं। उनकी लच्छेदार बातों का और नि:श्वासपूर्ण शिकायतों का हमारे पास कोई जवाब नहीं। क्या किया जाय। लखनऊ की नवाबी तो उजड़ गयी, और अब उनके हुनर की कद्र करनेवाला इन बाईजी के सिवा और कोई नहीं। और किसी देश में पैदा होते तो न मालूम कितनी प्रसिद्धि पाते। यहाँ भी कुछ हद तक आँसू पुछ ही जाते हैं। इन नर्तकियों के संगीतशिक्षक वे ही रहे हैं। ये लड़कियाँ तो नित नयी आती-जाती रहती हैं; पर वे अपनी जगह बरकरार हैं। यहाँ गाना भी होता है, नृत्य भी और अभिनय भी; पर तीनों की आत्मा है इश्क। नाम चाहे कृष्ण और गोपियों के हों, चाहे फरहादोशीरीं के; पूरा वातावरण डूबा हुआ है प्रेम की मस्ती में। प्रेम का ही गुणगान हो रहा है और उसी का नशा सब पर छाया हुआ है। उसका अर्थ शायद किसी को मालूम नहीं; पर उसकी व्याख्या करने

की यह जगह भी नहीं । नृत्य-संगीत जमता जा रहा है; नर्तकियों की अदाएं और भी मादक होती जा रही हैं उनके झीने वस्त्र और भी लहराने लगे हैं; उनके आकर्षक अवयवों की थिरकन और भी उन्मादक हो उठी है । वाह-वाह और जियो-जियो के नारों से वातावरण गूंज उठा है । शौकीन तमाशबीनों ने रुपये और नोट फेंकना शुरू कर दिया है । रात बढ़ती जा रही है और सुरूर भी बढ़ता जा रहा है । धीरे-धीरे वातावरण में कुछ परिवर्तन होने लगता है । नृत्य-संगीत की रफ्तार धीमी होती जा रही है । नर्तकियाँ तमाशबीनों के कुछ अधिक निकट आने लगी हैं । कोई-कोई तो उनसे सट कर बैठी हुई बातचीत में मशगूल हैं । छेड़छाड़ बढ़ती जा रही है और उसका स्वरूप उत्तरोत्तर स्थूल होता जा रहा है । कुछ लोग उठ कर जाने लगे हैं पर कुछ अभी जम कर बैठे हैं । बेहतर है कि दस-पाँच रुपये फेंक कर हम भी जानेवालों के साथ उठ कर चल दें । एक रात के लिए इतना अनुभव और इतना साहस काफी है । इससे आगे बढ़ना देह, मन और जेब, तीनों के लिए खतरनाक हो सकता है ।

दूसरा चित्र

प्रतिष्ठित माने जाने वाले उच्च कोटि के गणिकालय की एक झलक हमने देखी । बहार बेगम जैसी न जाने कितनी कुट्टनियाँ कला के आवरण के पीछे देह-विक्रय के इन केन्द्रों का संचालन करती रहती हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के गृहों में नृत्य, संगीत आदि कलाओं के बड़े निखरे हुए रूप के दर्शन होते हैं और मनोरंजन भी रईसी ठाठ से होता है । परंतु इस मार्ग में एक व्यावहारिक अड़चन आती है । दिल-बहलाव का यह साधन अत्यंत महँगा और व्यय साध्य होता है । साधारण तो क्या उच्च मध्यमवर्ग तक के लोग इसके खर्च को बरदाश्त नहीं कर सकते । यहाँ प्रतिष्ठा जाने का खतरा बहुत कम होता है; पर उसकी बड़ी महँगी कीमत चुकानी पड़ती है । अत: देह-व्यापार का बहुत बड़ा भाग इससे नीचे के स्तरों पर ही चलता है । उनका वातावरण न इतना कलामय होता है, न इतना उन्मादक । इन नीचे के स्तरों पर तो देहोपभोग की सीधी-सीधी सौदेबाजी होती है: और उसे किसी आवरण या आडंबर के पीछे छिपाने की कोशिश नहीं की जाती । इन गृहों में रहने वाली युवतियों की ज़िंदगी कष्ट और यातना की एक कभी खत्म न होनेवाली दास्तान होती है । कभी-कभी अदालतों में किसी गुंडे की करतूतों का परदाफाश होने पर इनके घृण्य जीवन की एक झलक मिल जाती है । अन्यथा इनके दुख से दुखी होने की किसी को फुरसत नहीं होती । कुछ वर्ष पहले बम्बई हाइकोर्ट में एक मुकदमा चला था जिसमें निम्नोक्त घटनाएँ प्रकाश में आयी थीं: —

बम्बई के डंकन रोड पर मिर्ज़ाअली नामक कुप्रसिद्ध गुंडा एक निम्नश्रेणी का वेश्यालय चलाता था । उसकी पत्नी इसमें उसकी सहायता करती थी । एक अन्य स्त्री वेश्यालय में बंद युवतियों पर कड़ी निगरानी रखने के लिए नियुक्त थी । एक बार किसी पठान युवती की इस वेश्यालय में मृत्यु हो गयी । मिर्ज़ाअली ने कुछ दे-दिला कर उसे दफनाने का परवाना प्राप्त कर लिया । ज़नाज़ा उठ गया; पर रास्ते में पुलिस के किसी सिपाही के मन में शंका आयी और उसने ज़नाज़ा रोक कर तलाशी लेना चाहा । मिर्ज़ाअली दूर-दूर तक बदनाम गुंडा था । अब तक के अनेक अपराधों को वह बिना डकार लिये पचा गया था और उसके विरुद्ध गवाही देने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती थी । उसकी करतूतों की तहकीकात करना भी मुश्किल था क्योंकि उसके काम में दखल देने वाले कई सिपाहियों की वह हड्डी-पसली चूर कर चुका था । परंतु इस बार पक्की तहकीकात हुई जिसके फलस्वरूप वेश्यालयों का एक अत्यंत भयावह, घिनौना और नृशंसताभरा चित्र जनता के समक्ष उपस्थित हो सका । मुकदमे की हकीकत इस प्रकार थी: —

अपने वेश्यालय में रहने वाली प्रत्येक स्त्री को मिर्ज़ाअली रोज़ाना कम से कम तीस-चालीस लोगों की पशुवृत्ति संतुष्ट करने को मजबूर करता था । ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए इन युवतियों को अच्छे

वस्त्राभूषण और पेट भर भोजन अवश्य दिया जाता था: पर प्राप्त धन में से एक पैसा भी उन्हें नहीं मिलता था । युवतियों के माता-पिता को थोड़े-बहुत रुपये देकर वह कोरे दस्तावेज़ पर उनके और उनकी पुत्रियों के अंगूठे लगवा लेता था । कोरे कागज़ पर दस्तखत करते ही ये युवतियाँ जीवन भर के लिए उसकी गुलाम बन जाती थीं । किसी के ज़रा भी चीं-चपड़ करते ही वह दस्तावेज़ में मनमानी रकम और मनमानी शर्तें लिखकर उन्हें निर्दयता से परेशान करता था । कर्ज़ के भुगतान के एवज़ में किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध रोक रखना या उसे अनैतिक काम करने के लिए मजबूर करना कानून की दृष्टि से दंडनीय अपराध है । परंतु कानून के बहरे कानों तक और सत्ताधीशों की ऊँची कुर्सियों तक फ़रियाद पहुँचाने के साधन इन अभागिनी स्त्रियों के पास कहाँ थे । वे तो गणिकालय में बंदिनी की हैसियत से रहती थीं और वेश्यालय का यह बदमाश व्यवस्थापक उन पर रातदिन कड़ी निगरानी रखता था । अपनी अमानुष निर्दयता की मिर्ज़ाअली ने इन स्त्रियों पर ऐसी धाक जमायी थी कि उसकी मरज़ी के विरुद्ध चूं तक करने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी ।

बदनसीबी से यह पठान युवती उसके चंगुल में फँस गयी थी । गणिकाजीवन के जो सब्ज़बाग उसे दिखाये गये थे, उनसे वास्तविक स्थिति सर्वथा भिन्न थी । आरंभ में स्वेच्छा से आने वाली युवतियाँ भी इस नरक से भाग निकलना चाहती थीं । पर यह मुमकिन कैसे हो ? फिर भी, यह पठान युवती हिम्मत करके एक रोज़ रात को भाग निकली । भाग तो वह गयी, पर कुछ घंटों में ही मिर्ज़ाअली और उसके साथियों ने उसे पकड़ लिया । रात भर उसे निर्दयता से कोड़ों से पीटा गया । उसे अधमरी मान कर, दूसरे दिन उस पर निगरानी कुछ कम कर दी गयी, जिससे फायदा उठा कर रात को वह फिर भाग निकली । अब की बार पकड़ी जाने पर उसे इस बेरहमी से पीटा गया कि उसकी मृत्यु हो गयी । इन निर्दय राक्षसों को मानवजीवन की तो कोई कीमत थी नहीं । उन्हें सिर्फ इस बात की चिंता हुई कि उनके इस भयानक अपराध पर प्रकाश पड़े बिना लाश को दफनाया कैसे जाय । इसके लिए परवाना तो प्राप्त कर लिया गया और शाम के झुटपुटे में जनाज़ा भी उठ गया । परंतु किसी कर्तव्य-दक्ष सिपाही की तत्परता के कारण उनका षडयंत्र पूरा न हो सका । इसके बाद पुलिस के कुछ अफसरों ने जान हथेली पर रख कर मिर्ज़ाअली के पाप कर्मों का पूरा इतिहास खोज निकाला और अदालत के समक्ष पेश किया । उपरोक्त युवती की हत्या जानबूझ कर की गयी थी यह प्रमाणित हो गया और इस नृशंस हत्यारे को, उसकी पत्नी को, और इस काम में उसकी सहायता करनेवाली नौकरानी को कालेपानी की सज़ा हुई ।

आज के युग के वेश्यालयों का यह एक प्रतिनिधिक चित्र है: घिनौना, भयावह और लज्जास्पद । परंतु बड़े शहरों में ऐसी न मालूम कितनी घटनाएँ रोज़ होती हैं और ऐसे न मालूम कितने नरकधाम स्थापित हो चुके हैं । मारपीट, धाकधमकी, काल्पनिक कर्ज़, जाली दस्तावेज़, नकली हस्ताक्षर आदि कानूनी और गैरकानूनी साधनों की सहायता से न मालूम कितनी निराधार स्त्रियाँ इन मानवराक्षसों के कराल जबड़ों में फँस कर बेमौत मर जाती हैं । प्रकाश में आयी हुई इस प्रकार की एक हत्या के पीछे न मालूम कितनी हत्याएँ गुप्त रह कर वेश्यालयों की चहार दीवारों के अंधकार में गड़ जाती होंगी ।

तीसरा चित्र

तीसरे चित्र के लिए पूना की ओर मुड़ना होगा । यहाँ कुछ अलग ही कांड दिखाई देगा । पूना की शुक्रवार पेंठ मशहूर जगह है । इसमें एक स्थान 'मुर्गी का अड्डा' के नाम से और भी अधिक मशहूर था । मुर्गीबाई कांबले नामक कुट्टनी का वेश्यालय पूरे शहर में बदनाम था । वेश्या-व्यवसाय यहाँ बहुत बड़े पैमाने पर चलता था । यह घटना सन् १९४१ की है । कोल्हापुर से एक आदमी काम धंधे की तलाश में पूना आया था । साथ में उसकी जवान विधवा बहन भी थी । दशहरे के दिन वह खरीदारी के लिए बाज़ार गयी ।

रास्ते में उसे उसकी पड़ौसिन मिल गयी जिससे उसका नयी-नयी जान-पहचान हुई थी । कुछ छोटी-मोटी चीज़ें खरीदने के बाद पड़ौसिन ने सुझाया कि पास ही एक स्थान पर खाना बहुत अच्छा मिलता है । पूरनपोली तो वहाँ की लाजवाब होती है । आज दशहरे का दिन है, अत: पूरनपोली खाई जाय । छोटे शहर से आनेवाली भोली स्त्री इनकार नहीं कर सकी और उसके साथ चली गयी । उसे पूरनपोली खाने को मिली या नहीं, यह तो मालूम नहीं; पर थोड़ी देर बाद उसे ज्ञात हुआ कि वह किसी वेश्यालय में आ फँसी है और उसे तीसरी मंज़िल की एक छोटी सी कोठरी में कैद कर दिया गया है । पड़ौसिन इस गरीब विधवा को 'मुर्गी के अड्डे' में बेच गयी थी ।

दूसरा ओर उसका भाई उसे ढूंढ-ढूंढ कर थक गया । वह शहर भर में मारा-मारा फिरा । उसे क्या मालूम कि उसकी बहन अनजान युवतियों को फँसानेवाले गुंडों के गिरोह के हाथों चढ़कर किसी वेश्यालय में बेच दी गयी है । इस तरह पाँच-छ: दिन बीत गये । तीसरी मंज़िल पर बंद विधवा ने एक दिन खिड़की से बाहर देखा तो उसके भाई का एक मित्र रास्ते से गुज़रता दिखाई दिया । बड़ी मुश्किल से उसने उसका ध्यान आकर्षित किया और इशारों से उसे समझाया कि उसे यहां उसकी मरज़ी के विरुद्ध बंद कर दिया गया है । मित्र ने तुरंत उसके भाई को खबर दी और इस निश्चित जानकारी के आधार पर थाने में शिकायत की गयी । पुलिस अधिकारियों ने अड्डे पर छापा मारा । मुर्गी बाई गिरफ्तार कर ली गयी और अदालत ने उसे छ: वर्ष के कठोर परिश्रम युक्त कारावास और ढाई हजार रुपये जुरमाने की सज़ा दी ।

परंतु यह विचित्र कांड यहीं पर समाप्त नहीं हुआ । अनाचार के इस केन्द्र की स्थापना इतनी पक्की बुनियाद पर हुई थी और उसकी व्यवस्था इतनी सफाई से की जाती थी कि मुर्गीबाई के जेल चले जाने पर भी अड्डा बंद नहीं हुआ । उसके साथियों ने उसकी अनुपस्थिति में भी काम चलता रखा । छ: महीने बाद एक और घटना हुई । चौकीदार की नज़र बचाकर, अड्डे में कैद एक युवती सड़क पर निकल आयी । रास्ते से जाते हुए किसी फौजी अधिकारी को पुलिस अफसर समझ कर उसने उसके पाँव पकड़ लिए और अपनी मुक्ति की प्रार्थना करने लगी । फौजी अफसर दारोगा या कोतवाल तो था नहीं, पर अपनी स्वाभाविक निर्भयता के कारण उसने लड़की को जबरदस्ती पकड़ ले जानेवाले गुंडों का मुकाबला किया । शोर-गुल होते ही लोग जमा हो गये और पुलिस आ पहुँची । पुलिस को देखते ही गुंडे भाग निकले और लड़की को पुलिसथाने के संरक्षण में पहुँचा दिया गया । यह खबर फैलते ही, कुछ घंटों के अंदर-अंदर लगभग पचहत्तर स्त्रियाँ मुर्गी के अड्डे से निकल कर थाने पहुँचीं और शिकायत की कि उनमें की प्रत्येक को विभिन्न प्रदेशों में से अलग-अलग बहानों से फुसला कर यहाँ लाया गया था । वेश्यालय के संचालकों ने उन्हें बंदी बना रखा था और उनसे उनकी मरज़ी के विरुद्ध, जबरन् वेश्यावृत्ति करवाई जाती थी ।

पुलिस ने सब स्त्रियों को सुरक्षित स्थान पर आश्रय दिया और जाँच शुरू की । परंतु इस दरमियान अड्डे के सारे गुंडे गायब हो चुके थे और उनमें से किसी को तुरंत नहीं पकड़ा जा सका । भागे हुए गुंडों ने वह स्थान छोड़ कर अन्य विभिन्न स्थानों पर अपना धंधा शुरू कर दिया था । कुछ दिन बाद मुर्गी के अड्डे का शेख हुसैन गुलाम रसूल नामक एक संचालक पकड़ा गया । अब भी वह स्त्रियों से ज़बरन् वेश्यावृत्ति करवा कर गुज़ारा करता था । इस अभियोग में उस पर मुकदमा चला और उसे एक वर्ष के सश्रम कारावास और सौ रुपये जुरमाने की सज़ा हुई । अड्डे के अन्य सहायक भी अलग-अलग समय विभिन्न स्थानों पर पकड़े गये और उन्हें भी उपरोक्त सज़ा से मिलती-जुलती सज़ाएँ हुईं ।

अड्डे के संचालकों और उनके सहायकों के नाम अदालत द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं; अत: यहाँ उनका उल्लेख करने में कोई अनौचित्य दिखाई नहीं देता । आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे भयानक कुकृत्य करने वाले लोगों में धर्म, जाति आदि के भेद न मालूम कहाँ अदृश्य हो जाते हैं । मामूली बात को लेकर मतभेद होने पर हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे के सिर फोड़ने को सदा तत्पर रहते हैं; पर ऐसे घृणित दुष्कर्म मिलजुल कर और साझे में करते समय उनमें कोई मतभेद पैदा नहीं होता । मुर्गी बाई हिंदू थी और शेख हुसैन गुलाम रसूल मुसलमान । इनके उपरांत, मुर्गी के अड्डे से संबंधित जिन लोगों के नाम अदालत में

बाहर आये वे इस प्रकार है: — नरोत्तमदास पुरुषोत्तम दास, मुहम्मद इशहाक, देवराज पिल्लई और शेख मुहम्मद शेख दुधा । खिचड़ी पंचमेल है, जिसमें हिंदू-मुसलमान ही नहीं, गुजराती, महाराष्ट्रीय, मद्रासी आदि प्रांतीय भेदों का भी खासा प्रतिनिधित्व हुआ है । पूना में गुजरातियों की काफी बस्ती है । कुछ परिवार तो वहाँ पीढ़ियों से बसे हुऐ हैं । नरोत्तमदास पुरुषोत्तमदास जैसा सेठ-साहूकारों का सा ठेठ गुजराती नाम धारण करनेवाला यह नररत्न महाराष्ट्र की पुण्य नगरी में व्यापार-रोज़गार नहीं, बल्कि वेश्यालय का संचालन और वेश्याओं की दलाली करता था, यह हकीकत गुजरातियों को मालूम पड़ जाय तो अच्छा ही है ।

मुर्गीबाई की सज़ा पूरी होते ही उसे पूना ज़िले से निष्कासित कर दिया गया । इससे पूना ज़िला तो उसकी कलंकित छाया से बच गया; परंतु और ज़िलों का क्या ? वेश्यालय चलाने वाले स्त्री-पुरुष कुछ ही समय में ऐसे नृशंस अपराधी बन जाते हैं कि उनकी दुष्टता और हृदयहीनता की कल्पना भी नहीं की जा सकती । एक बार यह पेशा अख्तियार कर लेने पर, जीवनभर, दूसरा काम करना उनके लिए असंभव हो जाता है । उसे पूना ज़िले से बाहर निकाल दिया गया इस बात की खुशी है । पर वह जहाँ भी गयी होगी अपना दूषित मानस साथ लेकर ही गयी होगी; और वहाँ उसने इससे भी अधिक घिनौने दुष्कृत्य किये होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं ।

चौथा चित्र

हम देख चुके है कि सैनिक छावनियों के इर्दगिर्द देह-विक्रय करने वाली स्त्रियों के झुंड अनिवार्य रूप से मंडराते रहते हैं । फौजी अफसर इन बस्तियों की उपेक्षा करने की आड़में उन्हें परोक्ष प्रोत्साहन ही देते हैं . अलबत्ता, सैनिकों को रतिज रोगों का संसर्ग न हो इसकी सावधानी रखी जाती है और समय-समय पर उनकी और ओरपास की बाज़ारी स्त्रियों की डाक्टरी जाँच होती रहती है । परंतु इससे इस बुराई की भयावहता कम नहीं होती । अंग्रेज़ी शासनकाल में एक बड़े सेनाधिकारी को किसी वारांगना ने निम्नलिखित अरज़ी भेजी थी । सैनिकों के लिए वेश्याओं की पूर्ति को अनिवार्य मान कर अफसरों द्वारा उसका परोक्ष समर्थन किया जाने का इससे बेहतर उदाहरण मिलना मुश्किल है: —

''श्रीमान्,

मैं पिछले पंद्रह वर्षों से अंग्रेज़ सैनिकों के बीच रह कर वेश्यावृत्ति करती रही हूं । इस दरमियान मुझे कोई रोग नहीं हुआ । इधर कुछ दिनों से आपका बाज़ार-सार्जण्ट मुझ पर रोगिणी होने का इल्ज़ाम लगाता है । यह मेरे ऊपर बड़ा अन्याय हो रहा है । आप इस अन्याय को दूर कर दें, तो बड़ी कृपा होगी और मैं आपकी खुशहाली के लिए खुदा से दुआ माँगूंगी ।

विनीत, हबीबा ।''

जाँच करने पर मालूम हुआ कि हबीबा की शिकायत सच्ची थी । बड़े साहब ने दया करके इस अन्याय का तुरंत निवारण कर दिया । इससे उनकी खुशहाली में कितनी वृद्धि हुई यह तो नहीं मालूम, पर उनके प्रिय सैनिकों के मनोरंजन और कामशमन के मार्ग में आने वाली अड़चन दूर हो गयी और माईबाप सरकार की रैयत हबीबा का व्यवसाय बंद नहीं हुआ ।

ये केवल काल्पनिक चित्र नहीं हैं । हो चुकनेवाली और रातदिन होती रहनेवाली सत्य और ठोस घटनाएँ हैं । पुलिस की निगरानी और समाजसेवकों के प्रयत्नों के बावजूद यह पेशा चलता ही रहा है ।



बम्बई-कलकत्ता जैसे शहरों में मासिक कई हजार रुपया किराया देने वाले वेश्यालय मौजूद हैं । इससे इस पेशे की समृद्धि का कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है । इनका संचालन केवल भारतीयों का ही एकाधिकार होता है, यह मानने की ग़लती कोई न करे । यूरोपीय स्त्री-पुरुष भी बड़ी संख्या में वेश्यालयों का संचालन करते हैं । बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में गौरकाय पण्यांगनाओं की भी पर्याप्त माँग रहती है । इनमें की अधिकांश पूर्णगोर होने के बजाय अर्धगोर होती हैं यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं । वेश्या-व्यवसाय का यह विभाग पूर्णत: भारतीय अर्धगोरे या विदेशी पूर्णगोरे लोगों के ही हाथों में है । इन शहरों में दो-एक नहीं बल्कि दस-बीस वेश्यालयों की नगरव्यापी शृंखला का संचालन करने वाले बड़े व्यापारियों की भी कमी नहीं है । एक ओर उनका कोई अन्य प्रतिष्ठित व्यवसाय चलता रहता है और दूसरी ओर वेश्यालयों की व्यवस्था चलती रहती है । विदेश-यात्रा के परवाने प्राप्त कर देने वाली बम्बई की एक कंपनी साथ ही साथ रूपवती नवयौवनाएँ उपलब्ध कर देने का धंधा करती हुई पायी गयी थी । बादशाही ठाठ के होटल और विश्रामालय, नृत्यमंडलियाँ और निशागार (Night Clubs) इस धंधे के लिए बहुत अनुकूल होते हैं । अलग-अलग प्रकार के व्यवसाय करने वाले लोग मिल कर वेश्या-व्यवसाय करते हों, ऐसी घटनाएँ भी प्रकाश में आयी हैं । क्लर्की छोड़ कर वेश्याओं की दलाली से मालामाल हो जानेवाले एक अधेड़ व्यक्ति की कथनी अभी कुछ दिन पहले ही अखबारों में छपी थी । इस व्यवसाय का संबंध जीवन के किस क्षेत्र से नहीं होता, यह कहना मुश्किल है । होटलों के बेरे और टॅक्सी-ड्राइवर ही नहीं, ज्योतिषी और पुजारी जैसे प्रतिष्ठित लोग भी इससे संबंधित पाये गये हैं । 'काका' नाम से प्रसिद्ध एक पैंसठ वर्ष के बुढ्ढे पर अभी कुछ वर्ष पहले ही वेश्याओं की दलाली करने का मुकदमा चला था और उसे सज़ा भी हुई थी । इन काकाजी ने किसी वकील की सहायता लिये बिना अपना मुकदमा खुद ही बड़ी दक्षता पूर्वक लड़ा था । उम्र और भोगविलास के बीच प्राकृतिक तौर पर व्यस्त अनुपात स्थापित हो जाता है यह मान्यता सत्य पर आधारित दिखाई नहीं देती ।

पाँचवाँ चित्र

फिल्मों में काम करने की इच्छा आजकल शिक्षित, अर्धशिक्षित और अशिक्षित, सभी वर्गों में दुर्दमनीय हो उठी है । ऐसा कोई युवक या युवती मिलना मुश्किल है जिसने एक विशिष्ट उम्र में हीरो-हीरोइन बनने के ख्वाब न देखे हों । कला के रूप में अभिनय कला का स्थान बहुत ऊँचा है और व्यावहारिक दृष्टि से भी फिल्मी कलाकारों का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल होता है इसमें कोई संदेह नहीं । पर इस कारण से उसके भयस्थानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । स्त्री-पुरुष के निकट संपर्क के मौके इसमें कदम-कदम पर आते हैं । कृत्रिम संबंधों का अभिनय और कृत्रिम भावनाओं का प्रदर्शन इस पूरे वातावरण को वास्तविकता से बहुत दूर ले जाता है । धनलोभ इसमें है ही; और यशलाभ भी कम नहीं । इस हालत में इसका प्रलोभन इतना दुर्निवार्य हो उठता है कि इससे संबंधित स्वप्नों को पूरा करने के लिए युवक-युवतियाँ चाहे जो कीमत चुकाने को तैयार हो जाते हैं । परंतु बाहर से रंगीन और आकर्षक दिखाई देनेवाली इस सृष्टि के अंतरंग की जानकारी बहुत कम लोगों को होती है । रोशनी से जगमगाने वाले इस परदे के पीछे की दुनिया कितनी भयावह और अंधकारमय है, इसकी कल्पना भी इन शौकीनों को नहीं होती । इस दुनिया के एक पहलू का अभी कुछ दिन पहले अदालत में परदाफाश हुआ था, जो यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

बम्बई के एक उपनगर अंधेरी में फिल्म बनाने के कई स्टूडियो हैं । उन्हीं में से एक की यह कहानी है । निसार शब्बीर अहमद नामक पचीस वर्षीय युवक फिल्मों में सामूहिक या छोटे-मोटे काम करनेवाली लड़कियों (extras) की पूर्ति करने का काम करता था । सामूहिक नृत्य करने के लिए, भीड़ के दृश्यों का चित्रण करने के लिए और छोटी-मोटी, महत्वहीन भूमिकाएँ करने के लिए हर स्टूडियो में

आकर्षक युवतियों की आवश्यकता पड़ती है । इन्हें मासिक या सप्ताहिक वेतन नहीं मिलता । काम हो तब तक, दो-चार दिन वे आती हैं, और जितने घंटे का काम हो उस हिसाब से उन्हें रोज़दारी दे दी जाती है । इस प्रकार की स्त्रियों को स्टूडियो में लाने का काम विशिष्ट लोग ही करते हैं जो वर्षों तक काम करके इसके अनुभवी हो जाते हैं । पचीस वर्ष के निसार अहमद में यह योग्यता आ गयी थी । लतीफ उमरदाव नामक केवल बाइस वर्ष का युवक उसका इस काम में सहायक था । मदन मनसूरी नामक उसका और एक साथी भी कभी-कभी उसकी सहायता करता था ।

एक दिन चित्र के लिए कई युवतियों की आवश्यकता पड़ी । निसार कइ लड़कियों को ले आया । दो-चार बार स्टूडियो का चक्कर लगा जाने पर ये युवतियाँ भी इस दुनिया से परिचित हो जाती हैं । उन्हें शृंगार के कमरे में भेज दिया गया तैयार होने के लिए कहा गया । इनमें से कुछ लड़कियों को निर्देशक (Director) ने पसंद कर लिया और वे अपने-अपने काम में लग गयीं । नापसंद लड़कियों को चली जाने के लिए कह दिया गया परंतु उनमें की एक अठारह वर्षीया युवती को निसार ने रोक लिया और बैठने को कहा । काम मिलने की आशा में वह रुक गयी । थोड़ी देर बाद, निर्देशक के बाहर जाते ही निसार ने उससे छेड़छाड़ आरंभ की । लड़की ने उसे बिलकुल प्रोत्साहन नहीं दिया, उलटे दुत्कार दिया । असहाय स्त्रियों से छेड़छाड़ करनेवाले कापुरुष दुत्कारे जाने पर अकसर दो मार्ग ग्रहण करते हैं । या तो वे स्त्रियों को और भी बहला-फुसलाकर, ज़ेवर-कपड़े देकर, या भविष्य का कोई प्रलोभन दिखाकर पटाने की कोशिश करते हैं, या उसे डरा-धमका कर उसकी प्रतिकारशक्ति खतम कर देने का प्रयत्न करते हैं और इससे काम चलता न देखकर कर जबरदस्ती करने पर उतारू हो जाते हैं । निसार ने दूसरा मार्ग अख्तियार किया और लड़की को छुरा दिखाया । वह तुरंत भागी-भागी डायरेक्टर साहब के पास पहुंची और निसार की शिकायत की । फिल्मों का दिग्दर्शन जैसा महत्वपूर्ण काम करने वाले डायरेक्टर साहब को ये छोटी-मोटी शिकायतें सुनने की भला फुरसत ही क्यों होने लगी । उन्होंने लड़की की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया । हमें या आपको यह मामला गंभीर दिखाई दे सकता है; पर फिल्मी दुनिया में तो ये बातें रातदिन चलती रहती हैं । डायरेक्टर साहब ने इसे हस्बेमामूल बात मानकर उसकी उपेक्षा की ।

असहाय युवती प्रतिकार तो क्या कर सकती थी; वह स्टूडियो छोड़कर अकेली बाहर निकल गयी । रात के दस-ग्यारह बजे का समय था । सिनेमा की सृष्टि गीता में वर्णित संयमी की तरह रात को ही जागती है जबकि उपनगरों में इतनी रात बीते सन्नाटा छा जाता है । अँधेरे में अकेले स्टेशन की ओर जाने वाली युवती का निसार, लतीफ और मदनमन्सूरी ने पीछा किया । एकांत स्थान देखकर मन्सूरी लड़की को घसीट कर सड़क की एक ओर ले गया जहाँ उसने और निसार ने उस असहाय अबला पर बलात्कार किया । लतीफ रास्ते पर खड़ा, कोई आ तो नहीं रहा इसकी निगरानी रख रहा था । थोड़ी देर बाद एक कार आती हुई दिखाई दी । लतीफ ने चेतावनी दी और लड़की को वहीं छोड़ कर तीनों गुंडे भाग निकले ।

सामान्यत: ऐसे प्रसंगों पर स्त्रियाँ चुप रहना ही उचित समझती हैं । हमारे समाज का नियम ही यह रहा है कि ज़ुल्म पुरुष करे और लज्जित स्त्री हो । पाप पुरुष करे और उसके लिए जिम्मेवार स्त्री को माना जाय । अपराध पुरुष करे और उसकी सज़ा स्त्री को भुगतनी पड़े । घर के लोगों को मालूम पड़ जाय, तो सहानुभूति तो दरकिनार, लोग पुरुष की पशुवृत्ति का शिकार बन जानेवाली अबला को ही अस्पृश्य और तिरस्करणीय मानने लगते हैं । कभी-कभी तो उसे ही दुराचारिणी घोषित कर दिया जाता है । हिम्मत करके वह अदालत जाय, तो बलात्कार करनेवाले गुंडों से भी नीच वकील इन समाजकंटकों की पैरवी करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं । अंत में न्याय-अन्याय जो भी होना हो, वह तो बाद की बात है, पर उसकी असहायता और स्त्रीसुलभ लज्जाशीलता से लाभ उठा कर सफाई के वकील उससे ऐसे-ऐसे ग़लीज़ प्रश्न पूछते हैं कि उसकी रही-सही इज़्ज़त भी खाक में मिल जाती है । इससे न्यायालय का पवित्र वातावरण कलुषित हो जाता है और लोग कनखियों में हँस कर बात का मज़ाक बना लेते हैं । स्त्रियों से संबंधित

मुकदमों का संचालन किस प्रकार होता है और कुख्यात गुंडों की पैरवी करते समय प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित वकील भी कितनी नीची कक्षा पर उतर कर कैसे अश्लील और लज्जास्पद प्रश्न पूछ सकते हैं इसका अनुभव करना हो, तो ऐसे मुकदमों की पेशी के दिन घंटे दो घंटे के लिए अदालत में उपस्थित रहना ही पर्याप्त होगा ।

बलात्कार का शिकार होनेवाली इस लड़की को इन सब भय स्थानों की जानकारी थी या नहीं, यह तो नहीं मालूम; पर उसने अदालत में जाने का निश्चय किया और बदनामी सहन करके भी धैर्यपूर्वक मुकदमा लड़ा जिसके परिणाम स्वरूप तीनों गुंडों को लंबी सज़ाएँ मिलीं । बाद में यह युवती अपने परिवार में स्थान पा सकी या नहीं, और समाज ने उसके साथ क्या सुलूक किया यह मालूम नहीं । यह घटना सिर्फ ४-५ वर्ष पहले की है ।

छद्म चित्र

बम्बई के एक समाज-सेवक ने इस घटना का वर्णन किया है जिसमें देवालय और देवसेवक, धर्म और धर्मस्थान आदि पवित्र माने जाने वाले सभी तत्वों का उपयोग वेश्यावृत्ति के लिए हुआ था । भूलेश्वर के अनेक मंदिरों में से एक में यह घटना हुई थी । एक दिन सेवापूजा हो चुकी थी और पीतांबर पहने हुए, ललाट पर चंदन और बाँहों पर भस्म का लेप किये, गले में रुद्राक्ष की मालाएँ और अंगुली भर मोटा जनेऊ धारण किये सात्विकता और पवित्रता की साक्षात् मूर्ति दिखाई देने वाले मध्यमवर्गीय ब्राह्मण पुजारी जी महाराज गर्भगृह के सामने बैठे थे । उपरोक्त समाजशास्त्री गणिकाओं के एक अनुभवी दलाल के साथ पुजारीजी के पास गया । पुजारी के गुज़ारे के लिए मंदिर की आमदनी तो थी ही, पर साथ ही बड़े-बड़े धनाढ्य परिवारों में जाकर उनके इष्टदेवता की पूजा करके भी वह अच्छी खासी आमदनी कर लेता था । धनिकों की यह मान्यता कि इष्टदेव की पूजा-अर्चा भी अपने हाथों करने के बजाय वेतनभोगी लोगों से करवाई जा सकती है, धर्म को धन के इशारों पर नाचनेवाली कठपुतली बना देती है । परंतु धर्म का उपहास करनेवाले धन को कभी-कभी इसका बदला भी ऐसा मिलता है कि जीवनभर याद रहे । पुजारियों पर देवसेवा की बेगार लाद कर धन कमाने में मशगूल रहनेवाले धनपति यह नहीं जानते कि सेवापूजा के बहाने पुजारी घर का भेदिया बन जाता है । मकान के हर विभाग में बेरोकटोक प्रवेश करने का और घर की छोटी-बड़ी, विधवा-सधवा, सब प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत करने का सीमाहीन अधिकार उसे अनायास ही मिल जाता है । धीरे-धीरे वह परिवार का अंतरंग संबंधी और अभिन्न अंग माना जाने लगता है । चाहने पर वह घर की बहुत सी गोपनीय बातों का पता लगा सकता है और इस जानकारी का मनमाना उपयोग कर सकता है । साथ ही सबका विश्वास संपादन करके वह घर की स्त्रियों के लिए बहुत सी ऐसी वैयक्तिक सुविधाएँ उपलब्ध कर सकता है जिनका वे प्रकट में उच्चारण भी नहीं कर सकतीं ।

इन सुविधाओं में कामतृप्ति की सुविधा का भी समावेश होता है । इस पुजारी का यही मुख्य धंधा था । पूजा के बहाने धनाढ्य परिवारों में प्रवेश पाना, परिवार की स्त्रियों का विश्वास संपादित करना और उनमें से बहकायी जा सकने वाली स्त्रियों का बाहर के विलासी पुरुषों से संपर्क करा देना उसकी योजना के प्रधान अंग थे । उपरोक्त समाजसेवक ने विलासी धनिक का स्वाँग रच कर ही बातचीत शुरू की थी । अनुभवी दलाल साथ में था ही । पहले तो पुजारी ने इस साहस की कठिनाई और इसके मार्ग में आने वाली अड़चनों की गाथा गायी । कानून और लोकनिंदा का भय भी दिखाया । पर अच्छी रकम मिलने की आशा से वह नरम पड़ा और किसी धनिक परिवार की स्त्री से उसका मिलाप करवा देना कबूल कर लिया । कुछ ही दिनों बाद उसने समाचार दिया कि जवाहरात का व्यवसाय करनेवाला कोई व्यापारी किसी कारण से घर छोड़ कर संन्यासी हो गया था । उसकी जवान पत्नी अकेली रह गयी थी । पति के जाने के बाद आर्थिक

स्थिति डाँवाडोल हो उठने के कारण रुपये की ज़रूरत तो उसे पड़ती ही थी, साथ ही यौवन की माँग पूरी करना भी आवश्यक था । असाधारण वर्ग की यह स्त्री साधारण पुरुष को तो प्राप्त हो नहीं सकती थी । धनाढ्य होने के अलावा खानदानी और प्रतिष्ठित होनेवाला पुरुष ही उसे पसंद आ सकता था । ऐरे गैरों को तो वह मकान में भी नहीं घुसने देती थी । इस हालत में, पाँच सौ रुपये दलाली के मिलें, तो ब्राह्मण देवता कोशिश करने को तैयार हो सकते थे । समाजशास्त्री इस दुनिया का और उसके हथकंडों का जानकार था । अत: उसने भी मोलभाव करना शुरू किया और तीन सौ रुपये देने की बात कही । यह रकम भी पेशगी नहीं, काम बनने पर, या बनते ही दी जायगी, यह भी स्पष्ट कर दिया । पुजारी भी कच्चा खिलाड़ी नहीं था । एक बार मुँहमाँगी रकम वसूल कर लेने के बाद भी वह शौकीनों को महीनों तक तरसाता था और दोबारा, तिबारा रकम वसूल करके ही मुलाकात करवाता था । इस लिए बात यहीं रुक गयी ।

समाजसेवक इस विषय का शौकीन तो था नहीं । उसे तो महज़ अध्ययन की खातिर यह प्रयोग करना था । अत: पुजारी ने जो वर्णन किया था, उसके आधार पर, दूसरे दलालों से मिल कर उसने छानबीन जारी रखी । शीघ्र ही मालूम हुआ कि किसी जौहरी की एकाकिनी पत्नी अपने किसी मित्र की सहायता से गुप्त वेश्यावृत्ति करती थी । उसके चरित्र पर शंका आने के कारण ही उसके पति ने उसे त्याग दिया था । उसके संपर्क के लिए तीन सौ या पाँच सौ रुपये की ज़रूरत नहीं थी; बल्कि पचास-साठ रुपये ही काफी थे । पुजारी की चाल स्पष्ट हो गयी । उसकी योजना यह थी कि असहाय स्त्री को तीस चालीस रुपये में टरका कर बाकी की रकम खुद हजम कर जाना । कामावेश में हो जाने वाले किसी स्खलन के कारण पति द्वारा त्याग दी जाने पर या अन्य किसी कारण से आर्थिक कठिनाई महसूस करने वाली युवतियाँ अकसर इस प्रकार के ढोंगी पुजारियों की कमाई का साधन बन जाती हैं । इस खेल में उनका महत्व प्यादे से अधिक नहीं होता । इन दुष्कृत्यों में धर्म या धर्म का आडंबर साधनरूप बनता है यह हमारा दुर्भाग्य है जिसके लिए हमारी सामाजिक विषमता ही जिम्मेदार है । सफेदपोश समाज में इस प्रकार की वेश्यावृत्ति बेरोकटोक चल सकती है और उससे कई बगुलाभगत अपना निर्वाह कर सकते हैं, यह हमारे समाज के आर्थिक अंधेर और धार्मिक पोंगापंथी का लज्जास्पद प्रमाण है । अर्थशास्त्र के मोटे-मोटे ग्रंथ प्रकाशित करने वाली मनुष्यजाति को अभी इतना मामूली सा पुनर्घटन करने में भी सफलता नहीं मिली, यह हमारी बुद्धि का दिवालियापन और हमारी विचारशक्ति पर लगा हुआ अमिट कलंक है ।

उपरोक्त घटना बम्बई के प्रसिद्ध समाजसेवक और समाजसेवासंघ के आजीवन सदस्य श्री. पुरुषोत्तम नाइट के स्वानुभव पर आधारित है । यह विषय वैसे ही अत्यंत कठिन और दुर्गम है; परंतु उसका व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करना तो और भी दुस्साध्य है । दूसरों का उद्धार करने से पहले स्वपतन की संभावना इसमें कदम-कदम पर रहती है । गणिकावृत्ति की प्रलोभनों से भरी हुई मायाविनी सृष्टि में आत्मसंयम रख कर अलिप्त भाव से काम करना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना, उसकी उलझनों को सुलझाने का या समझने का प्रयत्न करना और इस दुष्टचक्र में फँसी हुई हतभागिनी नारियों को मुक्ति का मार्ग बताना असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य कार्य अवश्य हैं । इसमें जितनी शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक मानसिक और नैतिक बल की । बम्बई के समाजसेवासंघ जैसी समर्पित संस्थाएँ और श्री. नाइट जैसे तपस्वी और निस्पृह कार्यकर्ताओं के मणिकांचनयोग द्वारा ही इस महा अटपटी दुनिया की कुछ झलक मिल सकती है । इन प्रयत्नों के अभाव में पतितोद्धार की संस्थाएँ अधूरी एवं अक्षम रह जाती हैं और गणिकासुधार का प्रश्न सुलझने के बजाय और भी अनेक प्रकार की नयी समस्याएँ खड़ी कर देता है ।

यह तो सभी जानते हैं कि पतिता स्त्रियों का प्रश्न महाभयानक है और समस्या की गंभीरता एवं आवश्यकता के अनुपात में उपलब्ध साधन अत्यंत कम और अधूरे हैं । किसी युवती को पतन क मार्ग पर प्रवृत्त करना जितना सरल होता है उतना ही उसे प्रतिष्ठित समाज में पुनर्स्थापित करना दुष्कर होता है ।

सुधार-आश्रमों (Rescue Homes) के सिवा इन स्त्रियों के लिए उद्धार का अन्य कोई मार्ग नहीं होता । परंतु इस विषय के अनुभवी जानते हैं कि इन संस्थाओं की योग्य व्यवस्था करना कितना मुश्किल होता है । कार्यकर्ताओं को कदम-कदम पर लोगों की उपेक्षा और उपहास ही नहीं, उनके ताने और लांछन भी चुपचाप सहन करने पड़ते हैं । निष्कलंक चरित्र और दृढ मनोबल के अभाव में इन बहुतानों को सहन करना संभव नहीं होता । औसत आदमी में इतना नैतिक बल होता ही नहीं । सौभाग्य की बात है कि इन सब कठिनाइयों के बावजूद बम्बई के कुछ निष्ठावान सेवक इस दिशा में भरसक प्रयत्न कर रहे हैं । इस हालत में उनकी और उनकी संस्थाओं की अधिक से अधिक सहायता करना और हर मौके पर उनके हाथ मजबूत करना सोचने-समझने वाले हर मनुष्य का पवित्र कर्तव्य बन जाता है ।

सातवाँ चित्र

हमारी विषम समाजरचना, सदोष पारिवारिक व्यवस्था और भयानक दरिद्रता के कारण गणिकावृत्ति की अग्निज्वाला सदा प्रज्वलित रहती है । सास-बहू के झगड़े, पति की दयनीय आर्थिक अवस्था या बदफैली और विवाहिता हिंदू-स्त्री की उससे भी अधिक दयनीय पराधीनता इस ज्वाला में ईंधन झोंकने का काम करती हैं । इनमें से एक भी परिस्थिति गणिकावृत्ति के विकास के लिए अत्यंत अनुकूल ज़मीन प्रस्तुत करती है । इन सबका मेल होने पर स्थिति कितनी भयावह हो उठती होगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है । उपरोक्त परिस्थितियों का गणिकावृत्ति के साथ कितना घनिष्ठ संबंध होता है, यह प्रस्तुत उदाहरण द्वारा निस्संदेह रूप से स्थापित हो जायगा । गणिकावृत्ति के लिए सास-बहू के झगड़े और पति का उत्तरदायित्वहीन बर्ताव किस हद तक जिम्मेदार है, इसे हमारा समाज जितनी जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा है । स्त्री की आर्थिक पराधीनता संकट के समय उसे गणिका-व्यवसाय के सिवा अन्य कोई मार्ग न सुझाती हो, तो इस स्थिति को पुरुषप्रधान और पुरुष द्वारा रची हुई समाज-व्यवस्था के सिर पर लगा हुआ अमिट कलंक और उसकी निष्फलता का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र मानना होगा । वेश्यावृत्ति जब तक जीवित रहेगी तब तक उसका पाप देह-विक्रय करने वाली स्त्री के सिर नहीं बल्कि समाज और परिवार, दोनों का मुखिया होने का दावा करने वाले पुरुष के ही सिर रहेगा । वैयक्तिक रूप से समाज के अधिकांश पुरुष वेश्यावृत्ति का सीधा पोषण नहीं करते यह सही है । परंतु समाज की इकाई के रूप में पतितावस्था के लिए परोक्ष रूप से जिम्मेदार होने से कोई पुरुष इनकार नहीं कर सकता ।

तत्वज्ञान जैसे गंभीर विषय की चर्चा करने वाली 'प्रेमधर्म' नामक उच्चकोटि की पत्रिका के नवंबर १९४८ के अंक में निम्नलिखित घटना छपी थी: सूरत की किसी हिंदू स्त्री ने रातदिन के पारिवारिक झगड़ों से तंग आकर स्वतंत्र रूप से जीवन-निर्वाह करने का निश्चय किया । एक रोज़ रात को वह घर छोड़ कर भाग गयी . इसके बाद समाज में अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने के उसने जीतोड़ प्रयत्न किये परंतु उसे सफलता नहीं मिली । घर छोड़े बाद की सारी घटनाएँ हिंदू स्त्री की निराधारता और उसके प्रयत्नों की निरर्थकता की एक लंबी रामकहानी सिद्ध हुई । अहमदाबाद में गाड़ी बदल कर वह सौराष्ट्र के .... स्टेशन पर उतरी । पास में पैसा था नहीं अत : उसने स्टेशन पर ही मुसाफिरों का सामान उठाने की मज़दूरी करना शुरू किया । कुछ दिनों बाद स्टेशन के पुस्तक-विक्रेता ने उससे कहा कि इससे तो वह किसी अच्छे परिवार में नौकरी करले तो ठीक रहेगा । उसके एक मित्र को, जो कि शहर के प्रतिष्ठित वकील हैं, घरेलू काम करने वाली नौकरानी की ज़रूरत है, और वह यदि चाहे, तो उनसे बातचीत करके कुछ व्यवस्था की जा सकती है । दुखिया स्त्री इस से बहुत खुश हुई और वकील साहब के यहाँ काम करने लगी । परंतु शीघ्र ही उसे मालूम हो गया कि वकील साहब की नज़र अच्छी नहीं, और वहाँ रहने पर उसका शील सुरक्षित नहीं रहेगा । उसने स्टेशन वाले व्यापारी से अपनी कठिनाई कह सुनायी और कोई

और काम दिला देने की बिनती की ।

परंतु पुस्तक-विक्रेता की नीयत तो पहले से ही साफ नहीं थी । कुछ दिन तक टालमटोल करके उसने कहा कि बम्बई की किसी सेठानी के यहां उसे काम मिल सकता है । निराधार स्त्री बम्बई जाने को भी तैयार हो गयी । परंतु वहां पहुंचते ही उसे मालूम हुआ कि यह सेठानी किसी वेश्यालय की संचालिका थी और पुस्तकविक्रेता ने उसे उसके हाथों बेच दिया था । प्राणों पर खेल कर वह वेश्यालय से भाग निकली और रास्ते पर जो भी पहला सफेदपोश आदमी दिखाई दिया, उससे सहायता की याचना की । वह उसे आश्वासन देकर अपने घर ले गया । परंतु यहाँ भी वही स्थिति उत्पन्न हुई और वह इस नतीजे पर पहुँची कि इस मामले में शायद पुरुषमात्र की दृष्टि एक सी होती है । आश्वासन की लंबी-चौड़ी बातें करनेवाले यह सज्जन भी सौराष्ट्र के वकील साहब से विशेष भिन्न नहीं थे । परिणाम-स्वरूप उसे यह आश्रयस्थान भी छोड़ना पड़ा ।

बम्बई जैसे महानगर में अकेली, असहाय अबला घबरा गयी । और कुछ न सूझने पर वह ट्राम में चढ़ गयी । पुरुषों का अब तक का अनुभव इतना भयावह रहा था कि अब की बार उसने किसी स्त्री की शरण में जाने का निश्चय किया । ज़नानी सीट पर उसके पास ही अच्छे कपड़े पहने हुए, भले घर की दिखाई देने वाली एक महिला बैठी थी । उसने धीरे से अपने अब तक के अनुभव की दुखभरी कहानी उसे कह सुनायी और सहायता की याचना करते हुए बिनती की कि इस समय उसे आश्रय मिल जाय तो जीवन भर वह उसका एहसान नहीं भूलेगी । स्त्री ने बड़ी सहानुभूति से उसकी बात सुनी और मुस्करा कर अपने घर चलने का निमंत्रण दिया । साथ ही यह विश्वास भी दिलाया कि उसके घर वह बड़े सुख और आनंद से रह सकेगी । लेकिन दुर्भाग्य देखिये कि प्रतिष्ठित दिखाई देने वाली यह स्त्री भी गणिका निकली । घर पहुँचते ही उसके भाव बदल गये और वह उसे समझाने लगी कि स्त्री के लिए आनंदपूर्वक स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का एकमात्र मार्ग देह-विक्रय है । उसकी राय जानने की परवाह किये बिना उसे एक कोठरी में बंद कर दिया गया और शाम होते-होते तो उसके कमरे में ग्राहकों का आना शुरू हो गया ।

इस शिकंजे से छूटने का वैसे तो कोई मार्ग नहीं था; पर उसने हिम्मत नहीं हारी और आगंतुकों का 'आइये पिताजी' 'आइये भाई साहब' कह कर स्वागत करना शुरू किया । इससे शरमिंदा हो कर दो-एक लोग तो दरवाज़े से ही लौट गये । इसके बाद या तो उसका भाग्य अच्छा था या फिर 'निर्बल के बल राम' वाली उक्ति चरितार्थ हुई और तीसरे व्यक्ति के मन में उसकी असहाय स्थिति पर कुछ दया आ गयी । वह समझ गया कि निष्कलंक चरित्र वाली कोई खानदानी स्त्री यहाँ आ फँसी है । उसने जाते-जाते थाने में सूचना दे दी । पुलिस ने शीघ्र ही उस स्थानपर छापा मारा और निर्दोष स्त्री की वेश्यावृत्ति के भयानक पंजों से रक्षा हुई । पूरी घटना की जानकारी होने पर पुलिस ने स्टेशन के पुस्तक-विक्रेता को भी गिरफ्तार किया और उस पर मुकदमा चलाया गया । हिंदू समाज के किसी प्रतिष्ठित परिवार की स्त्री की यह आपबीती है । बाहय आडंबरों के बावजूद आज हमारा नैतिक स्तर कितनी निम्न कक्षा पर पहुँच चुका है और स्त्री के प्रति देखने की औसत पुरुष की दृष्टि आज भी कितनी घिनौनी है इसका यह घटना उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि असहाय स्त्री का शील समाज के किसी कोने में, किसी भी स्तर पर, किसी भी वर्ग में सुरक्षित नहीं है । यह एक चित्र तो प्रकाश में आ सका; परंतु अप्रकाशित रह जाने वाली ऐसी न मालूम कितनी घटनाएँ बड़े शहरों में रोज़ होती रहती हैं ।

आठवाँ चित्र

श्रीमती राणावाया नामक समाजसेविका के समक्ष निवेदित की हुई इस घटना से हम यह चित्रमाला समाप्त करेंगे । पारिवारिक परिस्थितियों से परेशान होकर वेश्यावृत्ति करने को मजबूर होने वाली,

मध्यमवर्ग के किसी प्रतिष्ठित परिवार की स्त्री की यह आत्मकहानी है जिसे भिक्षु अखंडानंद जैसे उच्चाशयी साधुपुरुष के वसीयतनामे से उद्धृत किया गया है । स्त्री का बयान इस प्रकार था: —

"मैं ...... नगर के .... मुहल्ले में रहती हूं । लोग मुझे लक्ष्मी कहते हैं और जाहिरा तौर पर मैं देह-विक्रय करने वाली एक साधारण वेश्या हूं । परंतु मेरी आत्मा सदा इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करती रही है । मैं स्वेच्छा से वेश्या नहीं बनी हूं । समाज के रुख और परिस्थितियों के दबाव ने ही मुझे इस मार्ग पर धकेला है । जन्म से मैं ब्राह्मण हूं । मेरे पिता का नाम मैं नहीं बताऊंगी । सौराष्ट्र के एक प्रसिद्ध नगर में मेरा जन्म हुआ था । मेरे पिता वहाँ के सरकारी अस्पताल में कंपाउंडर थे । हम तीन भाई-बहन थे: दो भाई और मैं । पिताजी को वेतन बहुत कम मिलता था । आमदनी का और कोई ज़रीया उनके पास नहीं था । अनेक प्रकार के अभावों और खींचातानी के बीच ज़िंदगी के दिन जैसे-तैसे कट रहे थे । पिताजी की अल्प आय का अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि खानेवाले पाँच प्राणियों की रोटियों का गुज़ारा भी बड़ी मुश्किल से चलता था और पहनने ओढ़ने के लिए, लज्जा निवारण कर सकने वाले फटे-पुराने वस्त्रों के सिवा हमारे पास कुछ नहीं था ।

"मेरी उम्र चौदह वर्ष की होते ही माता-पिता ने मेरा संबंध पक्का कर देने का निश्चय किया । हमारी जाति में उस समय कन्याओं की कमी थी और मेरे बदले में उन्हें अच्छी रकम मिलने की संभावना थी । शिक्षा मुझे साधारण —चौथी पाँचवीं कक्षा तक ही मिल पायी थी पर रंगरूप अच्छा था । अत: बदले में अधिक से अधिक रकम लेकर ही मेरा संबंध पक्का करने का उनका विचार था । उनकी योजना थी कि इस रकम में से पहले तो मेरे दोनों भाइयों के घर बसा दिये जायेंगे और बची हुई रकम के सहारे वे आराम से जीवन व्यतीत कर सकेंगे । शीघ्र ही उन्होंने अड़ौसी-पड़ौसी, इष्टमित्र और संबंधियों के कानों पर यह बात डाल दी गयी । विवाह-संबंध करवानेवाले मध्यस्थों —रुपये का लेनदेन होने के कारण इन्हें दलाल कहना ही अधिक उपयुक्त होगा —के समक्ष भी पिताजी ने अपनी इच्छा साफ-साफ प्रकट कर दी । कुछ ही दिनों में अच्छे-बुरे, कई स्थानों से मेरी माँग आने लगी ।

"इनमें से दो प्रस्ताव अधिक आकर्षक थे । हमारे पड़ोस में एक वयोवृद्ध वैद्य रहते थे । पहला प्रस्ताव उनके ज़रीये आया था । लड़का शिक्षित, सुसंस्कृत, स्वावलंबी और स्वस्थ था । छोटी-मोटी नौकरी भी करता था पर उसकी आर्थिक स्थिति एक पैसा भी देने योग्य नहीं थी । दूसरा प्रस्ताव किसी दलाल की मारफत आया था । ये लोग काफी धनवान थे और लड़का भी शिक्षित था; परंतु कुछ ऐसी अफवाह सुनायी दी थी कि वह पुरुषत्वहीन था । पिताजी को इन सब बातों से तो कोई मतलब था नहीं । उन्हें तो सिर्फ रुपये की आवश्यकता थी । उन्होंने यथासंभव बढ़ा-चढ़ा कर ही मांग की, पर वरपक्ष के लोग मेरे शरीर की मुँहमांगी कीमत चुकाने को तैयार हो गये और शीघ्र ही सौदा पक्का हो गया । विवाह की तिथि भी निश्चित हो गयी । इसमें कहीं भी मेरी इच्छा जानने की या मेरी सम्मति लेने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी । लड़के की पुंसत्वहीनता की बात सुन कर मेरी सहेलियों और पास-पड़ोस की स्त्रियों को बड़ा दुख हुआ । थोड़े से रुपयों की खातिर, सब कुछ जानते हुए भी मेरे जीवन का बलिदान देने की योजना उनसे सहन नहीं हुई । सबने मिलकर पिताजी को मेरे भावी पति की शारीरिक त्रुटि से अवगत किया और किसी भी कीमत पर यह विवाह न करने के लिए समझाया । मुझे भी इसका कड़ा विरोध करने की राय दी गयी । सब लोगों का समर्थन पाकर मेरा मन कुछ मजबूत हुआ और मैंने पिताजी से मेरा विवाह वहाँ न करने की स्पष्ट बिनती की । परंतु विधि का लिखा को मेटनहारा । पिताजी ने जुल्म-जबरदस्ती की होती तो शायद मेरा विरोध भी प्रबल हो उठता; पर हुआ यह कि मेरे रुख के कारण वे बिलकुल हताश हो गये और हाथ-पाँव जोड़ने लगे । रुंधे हुए कंठ से गिड़गिड़ा कर उन्होंने मुझे कई बार समझाया कि उनकी ज़िंदगी मेरे हाथों में थी, और मैंने विरोध किया तो वे कहीं के नहीं रहेंगे । उनकी इस करुण याचना से मेरे मन में दया आ गयी । परिवार की स्थिति तो मैं अपनी आँखों से देख रही थी । अत: माता-पिता और भाइयों के सुख का ध्यान कर अपनी बलि चढ़ाने के लिए मैं राज़ीखुशी से तैयार हो गयी ।

''कुछ ही दिनों बाद मेरा विवाह हो गया और मैं ससुराल गयी । ससुराल में सास, श्वसुर और मेरे पति के उपरांत दो ननदें भी थीं । पहुँचते ही मैंने देखा कि किसी को कुछ भी मालूम न हो इस तरह सुहागरात की तैयारियाँ हो रही थीं । परंतु उस रात मेरे हृदय पर जो बीती उसकी याद करके आज भी कँपकँपी हो आती है । मेरा जीवनसाथी सचमुच ही पुरुषत्वहीन था । शयनकक्ष में आने के बाद वह चुपचाप शय्या पर बैठा रहा । जब घंटे भर बाद भी उसका मौन नहीं टूटा तो मुझे पूछना पड़ा कि वह मेरी किसी गलती से नाराज़ तो नहीं है । यह सुनते ही उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और रुँधे हुए कंठ से उसने अपनी राम कहानी इन शब्दों में सुनायी: 'मुझे कहते हुए लाज आती है; पर मैं स्त्री के योग्य नहीं हूं । मैं जानता हूं कि मैंने तेरा जीवन बरबाद किया है । परंतु तू मान या न मान, इसके लिए मैं अकेला दोषी नहीं हूं । मेरी शारीरिक त्रुटि को मैं शर्म की वजह से छुपाता आया हूं, यह सही है; और वर्षों तक मेरे माता-पिता को भी इसकी जानकारी नहीं थी । परंतु विवाह करने की मेरी बिलकुल इच्छा नहीं थी । लोगों के तानों से बचने के लिए मेरे माता-पिता ने लगभग जबरदस्ती से मेरा विवाह कर दिया है । अब मेरी इज़्ज़त तेरे हाथों है । यदि यह बात तूने प्रकट कर दी, तो हम दोनों की फज़ीहत होगी और मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी । अब हम दोनों की भलाई इसी में है कि इस रहस्य पर परदा पड़ा रहे और हम इसी तरह ज़िंदगी बिता दें ।''

इतना कहते हुए उसकी हिचकियाँ बँध गयीं और गिड़गिड़ा कर यही विनती वह बार-बार करने लगा । कुछ भी हो, मैं असहाय, अबला स्त्री थी । वासना का तूफान कितना भयानक होता है इसका मुझे उस समय न तो अनुभव था न कल्पना । इसके उपरांत मुझे उस पर दया भी आयी और उस रहस्य को हम दोनों तक ही सीमित रख कर जीवन व्यतीत कर देने का मैंने निश्चय कर लिया । स्त्री के लिए हिंदू समाज ने और कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा है और परिस्थितियों को देखते हुए जिससे पाला पड़ गया उसे निभा लेने में ही मेरी शान थी । कुछ दिन तो इसी प्रकार बीत गये और मैं घरेलू कामों में मग्न रहकर इस वैयक्तिक शूल को भूलने का प्रयत्न करती रही । आरंभ में मेरे पति ने भी मेरी भावनाओं को समझने की और मेरी इच्छाओं को पूर्ण करने की भरसक कोशिश की । इसी तरह यदि चलता रहता, तो मैं शायद पूरा जीवन बिना किसी शिकायत के व्यतीत कर देती; पर विधि का विधान इस से भिन्न था ।

''कुछ दिनों बाद मेरे पति के रमेश नामक मित्र का घर में आना-जाना बढ़ने लगा । रमेश एक स्वच्छाचारी, स्वार्थी और लंपट युवक था । मेरे मन पर मैं काफी हद तक काबू पा चुकी थी और उस समय तक मेरे शरीर के समान मेरा हृदय भी पवित्र था । परंतु धीरे-धीरे मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि रमेश के आगमन के पीछे मेरे पति की कोई दूरगामी योजना थी और मुझसे घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयत्न वह उनके कहने से ही कर रहा था । एक दिन मेरे पति के आंतरिक विचार मुझे स्पष्ट रूप से मालूम पड़ गये । मैं यथासंभव उससे बच कर रहने का प्रयत्न करती थी; परंतु परिस्थिति बड़ी विचित्र थी । आप खुद ही सोचिये कि जिस स्त्री का पति ही खुद ऐसे संबंध को प्रोत्साहित करता हो, वह कब तक अपने आप को बचा कर रख सकती है ? और मैं भी सामान्य मनुष्यों की तरह हाड़-माँस की बनी हुई, शरीर के सारे धर्मों से संचालित और देह-मन की सारी कमज़ोरियों से युक्त साधारण स्त्री थी । मन को काबू में रखने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, उसे चलित होते देर नहीं लगती । उपयुक्त वातावरण ने मेरे विचारों में भी विकार उत्पन्न कर दिया और विचार दूषित होते ही आचरण भ्रष्ट होने में देर नहीं लगी । रमेश के मन में तो आरंभ से ही पाप था । वह तो हमारे यहाँ आता ही सिर्फ इसी लिए था । और उसे भी दोष कैसे दूं ? वह तो मेरे पति की ही इच्छा पूरी कर रहा था । शीघ्र ही मेरा चरित्र बिलकुल भ्रष्ट हो गया । देह-भोग की मुझे चाट लग गयी और कुछ ही दिनों में पतन के मार्ग पर बड़ी रफ्तार से आगे बढ़कर अधोगति के पंक में मैं आकंठ डूब गयी ।

''यहाँ तक भी गनीमत थी; क्योंकि रमेश के साथ मेरा संबंध ज्यों-ज्यों घनिष्ठ होता गया त्यों-त्यों



उसकी सारी बुराइयों के बावजूद मैं उसे हृदय से चाहने लगी थी । परंतु अब एक नयी परेशानी खड़ी हुई । उसके साथ मेरे संबंध को प्रोत्साहित करने वाले मेरे पति के मन में ही हमारी घनिष्ठता से ईर्ष्या उत्पन्न हुई । दूसरे ओर रमेश ने रहस्योद्घाटन कर देने की धमकी दे दे कर उनसे रुपया वसूल करना शुरू किया । वह मेरे पति की हर कमज़ोरी से परिचित था और हमारे संबंध के कारण उसे ऐसी-ऐसी गुप्त जानकारियाँ मालूम हो गयी थीं कि हम दोनों का जीवन पूर्ण रूप से उसकी मुट्ठी में आ गया । वह धाक-धमकी देकर मनमानी रकम वसूल करने लगा और मेरे पति उससे संपूर्णत: दब कर रहने लगे । मैं कह चुकी हूं कि वह परले सिरे का स्वार्थी और असंस्कृत आदमी था । हमारे दुखदर्द से उसे कोई सरोकार नहीं था और हमारी मजबूरियों से उसने अधिक से अधिक लाभ उठाया ।

''इसी दरमियान सास-ननदों के साथ मेरे झगड़ा होना शुरू हो गया । बात कोई गंभीर नहीं थी । आरंभ में गृहकार्य संबंधी छोटी-मोटी बातों को लेकर मामूली मतभेद हो जाते थे । परंतु शीघ्र ही इस क्लेश ने ऐसा रूप धारण किया कि मेरे ऊपर तरह-तरह के अत्याचार होने लगे और मेरा जीना मुहाल हो गया । अकसर यह झगड़े मेरे पति की अनुपस्थिति में होते थे, परंतु एक रोज़ उनके सामने ही लड़ाई हो गयी और दोनों ओर से वागबाण छूटने लगे । मेरी किसी तीखी बात से जल कर सास ने मेरे पति को उकसाया कि 'कायर की तरह चुपचाप खड़ा सुन क्या रहा है । देखता नहीं कि ये .... मुझे कैसे-कैसे शब्द सुना रही है ।' दरअसल मेरे पति का इसमें कोई दोष नहीं था, परंतु उस समय न मालूम मुझे क्या हुआ कि वर्षों का दबा हुआ असंतोष शब्दों द्वारा व्यक्त हो गया और गुस्से के आवेश में मैंने भी उन्हीं के शब्दों को दोहरा दिया कि 'यह कायर है इसी का तो यह परिणाम है । इन्हीं की कायरता ने मेरी ज़िंदगी बरबाद की है ।'

''ये शब्द मेरे मुँह से निकलते ही मेरे पति घर से बाहर चले गये और फिर कभी नहीं लौटे । उनके माता-पिता ने ढूंढने की बहुत कोशिश की, पर उनका कहीं पता नहीं लगा । कई महीनों की खोज के बाद लोग जब निराश हो गये, तो सारी भड़ास मेरे ऊपर निकलने लगी । अत्याचारों के उपरांत मेरे ऊपर तरह-तरह के अभियोग लगाये जाने लगे । मैं मानती हूं कि मेरा चरित्र निष्कलंक नहीं था; पर ऐसा क्यों हुआ और इसके लिए जिम्मेदार कौन था यह जानने-सोचने की किसी को फुरसत नहीं थी । एक दिन मुझसे स्पष्ट शब्दों में घर से निकल जाने को कह दिया गया । और सब तरह से निराधार होने के कारण मैंने नैहर चले जाने का निश्चय किया । परंतु अफसोस कि मेरे वहाँ पहुँचने से पहले ही लोगों ने मेरे माता-पिता के कान भर दिये थे और उन्होंने मुझे घर में पाँव भी नहीं रखने दिया । अब मैं सब ओर से असहाय और निराश्रित हो गयी । हमारे शहर में अनेक सामाजिक कार्यकर्ता, बड़े-बड़े नेता, जाति के मुखिया, सेवासमाज, वनिता-आश्रम और अनाथालय थे, पर किसी ने मुझे आश्रय नहीं दिया । मैंने सहायता प्राप्त करने की हर मुमकिन कोशिश की, पर क्योंकि मैं दुराचारिणी घोषित हो चुकी थी, किसी ने मुझे शरण नहीं दी । शीघ्र ही यह बात मैं स्पष्ट रूप से समझ गयी कि मेरे लिए अब एक ही रास्ता बचा था और उसके ज़रीये जो चाहूं वह मुझे मिल सकता था । रूपयौवन के ग्राहकों की कोई कमी नहीं थी; और जहाँ भी मैं गयी, मुझे यही मार्ग अख्तियार करने की सूचना मिली ।

''लगातार चार दिन तक मैं विक्षिप्त की तरह इधर-उधर घूमती रही । अंत में ससुराल के शहर वापस लौट कर मैं रमेश से मिली परंतु उस दुष्ट ने मुझसे बात करने से भी इनकार कर दिया । सास-श्वसुर द्वारा घर से निकाल दी जाने के बाद इतने दिनों तक मैंने जो कष्ट भोगे थे उसकी उसे पूरी जानकारी थी; परंतु उसने मुझे सूरत भी नहीं दिखाई । मेरे पति से उसे जो आमदनी होती थी वह तो अब बंद हो गयी थी और इसी कारण से वह मेरी छाया से भी दूर रहना चाहता था । वह कापुरुष केवल देहभोग और धनका ही भूखा था और मनुष्यता का उसमें छींटा भी नहीं था यह मैं अच्छी तरह से जानती थी । परंतु मेरे सामने और कोई रास्ता ही न होने के कारण मैंने उसका पीछा नहीं छोड़ा । कई दिनों की खुशामद के बाद वह मेरे साथ बंबई आने को तैयार हो गया । गिरगाँव में हमने एक कमरा किराये पर ले लिया । हम दोनों प्रकट रूप से भाई-बहन माने जाते थे और वह मेरा परिचय अपनी विधवा बहन कहकर ही देता था ।

"बम्बई में हमारे निर्वाह का कोई साधन नहीं था और इसके लिए कोशिश करने की रमेश की इच्छा भी नहीं थी । अत: मेरे रूप-यौवन का व्यापार करके उस अनीति की कमाई से ही हमारा गुज़ारा चलने लगा । छोटी उम्र में ही मुझे गुप्त व्यभिचार के प्रारंभिक पाठ मिल चुके थे और बम्बई जैसे महानगर में हमें कोई पहचान लेगा इसका डर नहीं था; अत: पतन के मार्ग पर मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गयी. रमेश रोज़ दो-तीन ग्राहक ढूंढ लाता था जिससे गुज़ारे लायक प्राप्ति हो जाती थी । इस प्रकार कुछ दिनों तक तो गाड़ी लस्टम-पस्टम चलती रही । परंतु रमेश जुआ, शराब, रेस इत्यादि अनेक ऐबों का आदी होने के कारण इतनी कमाई से उसे संतोष नहीं होता था । अत: वह दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक ग्राहक लाने की कोशिश करने लगा । मेरी ख्याति के साथ-साथ मेरी कीमत भी बढ़ी और कुछ ही दिनों में हमारी आमदनी कई गुनी बढ़ गयी । परंतु इस जीवन के प्रति शीघ्र ही मेरे मन में तीव्र विरक्ति उत्पन्न हुई । मेरी बढ़ती हुई उदासीनता को देख कर रमेश ने मेरे साथ निर्दयता का व्यवहार शुरू किया । अब तक बम्बई की स्वतंत्रता मेरी नस-नस में व्याप्त हो गयी थी । उसकी तानाशाही सहन करने की न तो मुझमें सहिष्णुता थी न इसकी आवश्यकता थी । अत: मैं उसी मुहल्ले के एक अन्य कुप्रसिद्ध गुंडे के साथ रहने लगी । इससे उन दोनों के बीच भयानक दुश्मनी उत्पन्न हुई और दोनों में आयेदिन मारपीट होने लगी । एक दिन गुस्से के आवेश में गुंडे ने छुरा भोंक कर रमेश की हत्या कर दी । इस जुर्म में उसे कालेपानी की सज़ा हुई और मैं उन दोनों के शिकंजे से छूट गयी ।

इन दोनों दुष्टों को तो उनके पाप की योग्य सज़ा मिल गयी, पर मेरी ज़िंदगी और भी अस्थिर हो उठी । हत्या के मुकदमे में मेरी भी गवाही हुई थी और इस पूरे कांड को इतनी अधिक प्रसिद्धि मिली थी कि मेरे लिए अब गुप्त वेश्यावृत्ति करना संभव नहीं था । समाज के अन्य किसी वर्ग में मुझे स्थान मिलने की संभावना ही नहीं थी अत: स्पष्ट रूप से प्रकट वेश्यावृत्ति करने के सिवा मेरे लिए और कोई मार्ग नहीं रहा । गुप्त रूप से देह-विक्रय करके वेश्या-जीवन का आरंभिक अनुभव मैं प्राप्त कर ही चुकी थी । इस समय के कई ग्राहकों से मेरा परिचय था और मुकदमे के दौरान में तो मुझे इतनी अधिक प्रसिद्धि मिली कि और भी अनेक लोग मुझे पहचानने लगे थे । इन कारणों से, प्रकट वेश्यावृत्ति से जीवन-निर्वाह करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं पड़ी । इसके बाद मुड़ कर देखने का न तो मुझे मौका मिला और न इसकी आवश्यकता ही पड़ी ।

"पिछले बीस वर्षों से मैं इसी मार्ग पर जीवन की गाड़ी हाँके चली जा रही हूं । निर्वाह में तो कोई घाटा नहीं पड़ता, पर एक प्रकार के अनिश्चित भय की तलवार सिर पर सदा टँगी रहती है । मेरी इस खून की कमाई भी गुंडे आराम से खाने नहीं देते । इसी कारण से इस पेशे से मैं ऊब गयी हूं । पर न तो मेरे लिए अन्य कोई मार्ग बचा है, न कोई मेरा उद्धार करनेवाला है । समाजसुधार और पतितोद्धार के नारे लगानेवाले अनेक पुरुषों से मैं मिल चुकी हूं परंतु सिवा दंभ के मुझे उनमें और किसी गुण के दर्शन नहीं हुए । अब तो वे यह भी कहने लगे हैं कि अब मेरा उद्धार संभव नहीं । उनका कहना है कि मैं वेश्याओं के निकृष्टतम मुहल्लों में इतने वर्षों तक रह चुकी हूं और पतन के मार्ग पर इतनी आगे बढ़ चुकी हूं कि मेरा निस्तार उनकी शक्ति से बाहर है । मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है । अब तो अपने संबंध में विचार करना भी मैंने छोड़ दिया है । मैं शायद सचमुच ही सुधार की सीमा से बाहर जा चुकी हूं । परंतु मेरे जैसी सैंकड़ों अभागिनें रोज इसी मार्ग पर चलने को मजबूर होती हैं उनका विचार करके मन भर आता है । हमारे जीवन का तो जो अंजाम होना था सो हो चुका । परंतु परित्यक्ता और निराश्रित स्त्रियों के लिए समाज अब भी कुछ नहीं कर रहा; यह देख कर वाकई बड़ा दुख होता है ।

"खुली वेश्यावृत्ति को स्वीकार करने के बाद मुझे जो अनुभव हुए हैं, उनका सविस्तार वर्णन करने बैठूं तो महीनों का समय लगेगा । दुर्दम्य कामवासना के सामने मैंने समाज के ऐसे-ऐसे प्रतिष्ठित लोगों को घुटने टेकते देखा है कि उपदेशों और उच्च विचारों पर मुझे श्रद्धा नहीं रही । उनके बाह्य आडंबर के साथ

उनके असली रूप की तुलना करने पर उनके प्रति घृणा के सिवा कोई भावना उत्पन्न नहीं होती। पतितोद्धार के बहाने हमारे यहाँ आने वाले लोगों की आँखों में भी मैं वासना और लोलुपता की ऐसी डरावनी झलक देखती हूं कि उनसे बचने के लिए मुझे उन्हें भाई कह कर संबोधित करना पड़ता है। परंतु सच्चे हृदय से मुझे बहन कह सकने वाला कोई विरला मुझे अभी तक नहीं मिला। आप शायद कह सकते हैं कि वेश्यावृत्ति के सहारे ऐसा घृणित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा तो मैं भिक्षा मांग कर पेट भरूं तो बेहतर हो। परंतु मैंने दुनिया देखी है और मेरा अनुभव कहता है कि भिखारिन के रूप में भी मेरा स्त्रीत्व सुरक्षित नहीं रहेगा। भीख मांग कर उदर-निर्वाह करने का निश्चय कर लूं, तो भी, मुझे विश्वास है कि कामवासना के कीड़े मुझे सुख से जीने नहीं देंगे। इस हालत में मैं समाज के ऊपर बोझ रूप क्यों बनूं? यदि आज भी कोई मुझे विश्वास दिलाये कि इस नरक से मेरा उद्धार हो सकता है, तो मैं एक जून खा कर जीवन व्यतीत करने को तैयार हूं। आपकी नज़र में है कोई ऐसा सुधारक? मुझे बतायें तो मैं जीवनभर आपका अहसान मानूंगी।"

यह करुण कहानी सुन कर किसी की भी आँखें गीली हो सकती हैं और मन में समाज और उसके तथा कथित सुधारकों के प्रति तीव्र धिक्कार की भावना उत्पन्न हो सकती है। और यह तो सिर्फ एक स्त्री की आप बीती है। इस तरह की न मालूम कितनी नारियाँ अनिच्छा से वेश्या-जीवन गुज़ार रही हैं। किसी भी दृष्टि से विचार करें, अंत में हम एक ही निर्णय पर पहुंचते हैं कि वेश्या बनने वाली स्त्रियों की अपेक्षा उन्हें वेश्या बनाने वाला समाज अधिक अपराधी है।

४
फिल्मी दुनिया और अखबारों के स्तंभों से मिलनेवाली झलक

हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं कि पिछले कुछ वर्षों से सिनेमा की दुनिया का आकर्षण नौजवान पीढ़ी में इस हद तक फैल गया है कि उसका नाम लेते ही उनकी आँखों पर परदा पड़ जाता है और बुद्धि स्वप्नरंजन में डूब जाती है। अभिनेता-अभिनेत्रियों का जीवन (फिर चाहे वे सिनेमा के हों या नाटक के) परले सिरे का कृत्रिम और बेलगाम होता है। इस स्वप्नसृष्टि में अनाचार का पोषण करने वाली परिस्थिति कदम-कदम पर सामने आती हैं। अभिनय आवश्यक रूप से एक अनुकरणात्मक कला है जिसमें प्रेम और हास्यविनोद से लगा कर करुणा और अत्याचार तक के भावों और प्रसंगों की कृत्रिम अभिव्यक्ति करनी पड़ती है।. इन प्रसंगों का कलाकारों के वैयक्तिक जीवन से कोई संबंध न होने पर भी, अभिनय को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्हें इन सारे मनोभावों का प्रदर्शन अत्यधिक उत्कटता से करना पड़ता है। इस उत्कट भावाभिव्यक्ति की छाया उनके वैयक्तिक आचरण पर पड़े बिना नहीं रहती। श्रृंगार अत्यंत प्राचीनकाल से काव्यनाटकादि का रसराज माना जाता रहा है। आज के नाटक-सिनेमाओं में भी मुख्य रूप से स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण और प्रणय का ही चित्रण किया जाता है। सैद्धान्तिक रूप से इसमें कोई बुराई नहीं है क्योंकि यह आकर्षण मनुष्य-जीवन का एक अत्यावश्यक और अत्यंत महत्वपूर्ण भाग है। परंतु अभिनय के दौरान में इसका कृत्रिम प्रकटीकरण अनेक प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है। प्रणय-प्रसंगों के चित्रण में उत्तेजक संभाषण और मादक हावभाव ही नहीं, स्पर्श, आलिंगन, चुंबन आदि कामप्रेरक क्रियाओं का अभिनय भी आवश्यक होता है। अभिनय में जान डालने के लिए मनुष्य-हृदय के सारे भावों को यथासंभव वास्तविक और उत्कट रूप में अभिव्यक्त करना आवश्यक होता है। इसके उपरांत, अभिनय या चित्रीकरण पूरा हो जाने के बाद या उससे पहले भी कलाकारों-को एक-दूसरे से मिलने के, साथ रहने के और घूमने-फिरने के मौके बिना किसी रुकावट के मिलते रहते हैं। इस सान्निध्य और

घनिष्ठता में से अशिष्ट माने जाने वाले संबंध विकसित होने की संभावना कदम-कदम पर रहती है। अत्यंत प्राचीन युग से समाज ने नट-नटियों के कामजीवन को संदेह की दृष्टि से देखा है। यह संदेह बेबुनियाद है यह कहने से पहले आज के नाटक-सिनेमाओं के प्रणयदृश्यों और कलाकारों के वैयक्तिक जीवन के अमर्याद आचरणों पर एक नज़र डाल लेना आवश्यक है। प्रतिष्ठित, सुसंस्कृत, कलाप्रिय, शिक्षित और आदर्शवादी लोग इस व्यवसाय में होते ही नहीं यह कहने का आशय नहीं है। शौकिया तौर पर नृत्य-संगीत और अभिनय के क्षेत्र में संबंधित युवक-युवतियाँ पेशेवर कलाकारों की अपेक्षा अधिक सदाचारी होने का दावा करते हैं, और यह दावा सत्य भी हो सकता है। परंतु इन सब से क्षमा माँग लेने के बाद इतना तो कहना ही पड़ेगा कि स्त्री-पुरुष का इतना घनिष्ठ संबंध उनके जीवन को पूर्णत: सदाचारी और अनैतिकता से संपूर्णत: अछूता रख सकता होगा, यह संभव दिखाई नहीं देता। इस क्षेत्र के सभी स्त्री-पुरुष दुराचारी होते हैं यह कहने का बिलकुल आशय नहीं है; परंतु इतना स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा कि कला की नैष्ठिक उपासना जिस ऊँचे दर्जे के संयम और तपस्या की अपेक्षा रखती है, उसके लिए आजके फिल्मी-जगत का वातावरण उपयुक्त नहीं है। संयम की उच्च कक्षा को बनाये रखने के दृढ़ निश्चय के अभाव में इस तड़क-भड़क भरी रंगीन दुनिया से संबंधित स्त्री-पुरुषों को पतन के साधन अनायास ही मिल जाते हैं।

फिल्मी दुनिया का अनाचार केवल अभिनेता-अभिनेत्रियों तक ही सीमित रहता हो, यह बात भी नहीं। हम देख चुके हैं कि सामूहिक नृत्य और छोटी-मोटी भूमिकाएँ करने के लिए फिल्मों में आकर्षक युवतियों की बड़ी संख्या की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें 'एक्सट्रा' कहा जाता है। सिनेमा की दुनिया का वातावरण भ्रष्ट करने में इनका योगदान सबसे अधिक रहता है। फिल्मों के निर्माता और दिग्दर्शक नृत्य के लिए युवतियाँ चुनते समय सिर्फ एक बात का ध्यान रखते हैं कि उनमें विकार-प्रेरक हावभाव और कामोद्दीपक शक्ति (Sex appeal) किस हद तक है। इस मनोभाव को छिपाने की कोई कोशिश नहीं की जाती बल्कि इसे फिल्मों में प्रवेश पाने की एक अनिवार्य आवश्यकता माना जाता है। इनमें की अधिकांश स्त्रियाँ समाज के निचले स्तरों से और गणिकावृत्ति की सीमारेखा से सटे हुए वर्गों से आती हैं। निर्माता-दिग्दर्शक और संगीत-छायाचित्रण से संबंधित तंत्रज्ञों से लगा कर स्टूडियों के नौकर-चाकर और दरबान तक उन्हें अपनी अधिकार कक्षा के भीतर की भोग्य सामग्री मानते हैं। फिल्मों में छोटा-मोटा काम मिलते ही वे अपने आपको जन्मजात अभिनेत्रियाँ और कलाकारों को मिलनेवाली छूट की अधिकारिणी मानने लगती हैं। अपने इस झूठे-सच्चे आकर्षण को स्टूडियो में ही नहीं बल्कि बाहर की दुनिया में भी भुनाने का एक भी मौका वे नहीं चूकतीं। बम्बई-कलकत्ता आदि फिल्म-व्यवसाय के केन्द्र होने वाले नगरों की गणिकावृत्ति में इन स्त्रियों का भाग बहुत अधिक होता है इसमें कोई संदेह नहीं।

नृत्यालय, स्नानगृह, मालिशगृह और सौंदर्य-प्रसाधनगृहों के नाम की आड़ में पश्चिम के देशों में जो अमर्याद देह-विक्रय चलता है उसका परिचय हम आरंभिक परिच्छेदों में प्राप्त कर चुके हैं। अब ये सारे बहाने भारत के बड़े शहरों में भी उपलब्ध हो गये हैं। इस संबंध में वर्तमान स्थिति क्या है, इसका अंदाज़ा बम्बई के एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी अखबार के दिनांक १३ अक्टूबर १९४८ के अंक में प्रकाशित किसी समाजसेवक के पत्र से लगाया जा सकता है। पत्र इस प्रकार है: —

''बम्बई में वेश्या-व्यवसाय दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। भारत के इस प्रथम श्रेणी के महानगर की सड़कों पर जो दृश्य आजकल दिखाई देने लगे हैं उन्हें देख कर दुख होता है और मजबूरन उनकी शिकायत करनी पड़ती है। फोर्ट विभाग के रास्तों पर शाम का झुटपुटा होते ही ग्राहक ढूंढने वाली वारांगनाएँ या उनके दलाल घूमते नज़र आने लगते हैं। विशेष रूप से कालाघोड़ा, चेतना, रीगल, कावसजी जहाँगीर हॉल, फ्लोरा फाउन्टन, चर्चगेट, नरीमान पॉइंट आदि विभागों में यह प्रवृत्ति ज़ोरों से चलती है। ऑपिरा हाउस के इर्दगिर्द और लॅमिंग्टन रोड पर भी यह दृश्य दिखाई दे सकता है। नगर के कॉफी-हाउस, सोडा-फाउन्टन और पेयगृहों के इर्दगिर्द भी इनके झुंड घूमते रहते हैं। विक्टोरिया टर्मिनस और चर्च-गेट



स्टेशनों के स्त्रियों के प्रतीक्षालय भी तेज़ी से इन स्त्रियों के मिलनस्थान बनते जा रहे हैं । इन इलाकों के होटल तो दुराचार के अड्डे बन गये हैं और शायद इन्हीं के सहारे निभते हैं ।

"इन के उपरांत, स्नानगृहों और मालिशगृहों के नामपर सत्ताधीशों की आँखों के सामने अनीति का व्यवसाय खुले आम चल रहा है । इन गृहों के लिए पुलिस-विभाग और नगरपलिका से परवाने प्राप्त करना आवश्यक होता है । समझ में नहीं आता कि ये परवाने किस बिना पर दिये जाते हैं । इन गृहों में मालिश-चंपी करने का दिखावा करने वाली युवतियों को इस विषय की कोई शास्त्रीय जानकारी होती है या नहीं, इसकी छानबीन परवाना देने वाले अधिकारी करते हों ऐसा दिखाई नहीं देता ।"

दिनांक ३१ जनवरी १९४९ के पत्रों में एक समाचार इस प्रकार छपा था: — "शनिवार की सुबह पुलिस ने गंगूबाई नामक स्त्री को गिरफ्तार किया । सुखलाजी स्ट्रीट में स्थित इस स्त्री के मकान से एक अपहृत युवती बरामद हुई । कहा जाता है कि कुछ अज्ञात व्यक्तियों ने उसे उसके घर से उड़ा कर इस मकान में ज़बरदस्ती बंद कर रखा था ।"

दिनांक २७ दिसंबर १९४८ के अखबारों में छपने वाले एक समाचार से फिल्मउद्योग और गणिकावृत्ति का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाता है । समाचार की भाषा कुछ सहमी हुई सी है और किसी अनुभवी पत्रकार द्वारा कानून की बारीकियों को ध्यान में रखकर लिखी हुई मालूम देती है । परंतु इससे घटना के निष्कर्षों में कोई अंतर नहीं पड़ता । घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया है: —

"नगर की खुफिया पुलिस ने कल इस्माइल उमर नामक फिल्मनिर्माता को विचित्र परिस्थितियों में गिरफ्तार किया । उस पर किसी फिल्म-अभिनेत्री की अनीति की कमाई से जीवनयापन करने का अभियोग लगाया गया है । कहा जाता है कि इस्माइल उमर 'अनमोल चित्र प्रकाशन' नामक फिल्म कंपनी का मालिक है । खुफिया पुलिस को खबर मिली थी कि यह कंपनी केवल दिखावे के लिए है और वास्तव में तो तथाकथित फिल्म-अभिनेत्रियों की अनैतिक कामों के लिए पूर्ति करना ही उसका पेशा है । इस खबर के आधार पर, अभियुक्त के कुलाबा स्थित निवासस्थान पर कल एक नकली ग्राहक भेजा गया । उससे तीन सौ रुपये वसूल करके उक्त इस्माइल उमर ने अपनी कंपनी की नीना नामक अभिनेत्री को उसके हवाले किया । पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये जाने पर अभियुक्त की जेब से उपरोक्त रकम के निशानी किये नोट बरामद हुए । मिस नीना और नकली ग्राहक पास के ही एक होटल के कमरे में पाये गये । मॅजिस्ट्रेट ने अभियुक्त को जमानत पर रिहा करने का हुक्म दिया है ।"

पत्रकार ने बड़ी संयत भाषा का प्रयोग किया है । इस प्रकार की घटनाएँ कई प्रश्न उपस्थित करती हैं । एक ओर यह कहा जा सकता है कि नकली ग्राहकों का जाल रच कर अपराधियों को फाँसने की युक्ति खतरे से खाली नहीं है । इस पद्धति में कभी-कभी निर्दोष व्यक्ति भी षड्यंत्र का शिकार बन सकते हैं । दूसरी ओर, इन अपराधियों को जमानत पर रिहा कर देने से कानून की नियमापत्ति का पालन तो होता है, पर उसके उद्देश्य की रक्षा नहीं होती । जमानत पर छूटा हुआ व्यक्ति उपलब्ध सुबूतों को नष्ट कर दे या गवाहों को बरगला दे इसकी पूरी संभावना रहती है । इस प्रकार, दोनों तरफ से कठिनाइयाँ उपस्थित करनेवाले इन प्रसंगों पर अत्यंत सावधानी से कदम उठाना आवश्यक होता है । उपरोक्त मुकद्दमे का नतीजा क्या निकला यह मालूम नहीं हो सका; पर वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ये सारे उदाहरण साधार हैं । पर्याप्त आधार या प्रमाण के बिना किसी घटना का उल्लेख न करने की सावधानी सिर्फ इसी परिच्छेद में नहीं बल्कि इस पूरे ग्रंथ में बरती गयी है । परिस्थिति का सही निरूपण करने के लिए इससे अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं । अनीति और पाप का यह व्यवसाय मनुष्य-जीवन का सबसे अंधकारमय पहलू प्रस्तुत करता है । इसकी कालिमा साँप की कालिमा की तरह चमकदार और आकर्षक है और उसमें साँप की सी सम्मोहनशक्ति है इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु इससे खिलवाड़ करना भी साँप से खिलवाड़ करने की तरह खतरे से खाली नहीं ।

५
आयकर और गणिका

आधुनिक काल में एक व्यावहारिक प्रश्न भी गणिकावृत्ति के साथ जुड़ गया है । प्राचीन ग्रंथों में वेश्या-व्यवसाय पर राजकर लगाने के उल्लेख पाये जाते हैं । प्राचीन युग की गणिकाओं का राज्यसत्ता के साथ निकट संबंध होता था और राजनीति में उनका विविध प्रकार से उपयोग होता था, यह भी हम देख चुके हैं । पश्चिम की राजनीतिक जासूसी में स्त्री और स्त्री के सौंदर्य का प्रयोग बड़े पैमाने पर होता आया है । यह पूरा व्यवहार गुप्त होने के कारण साधारण प्रजाजनों की नज़र इस ओर शायद ही जाती है । उसकी अधिक चर्चा भी नहीं की जाती । प्रस्तुत परिच्छेद के विषय का इस प्रश्न के नैतिक पहलू के साथ अधिक संबंध नहीं है । हमें तो देखना है कि सामूहिक वेश्यालयों से या वैयक्तिक तौर पर की जाने वाली वेश्यावृत्ति से राज्यशासन को कर के रूप में कुछ आय होती है या नहीं, और होती है तो वह कहाँ तक उचित है ।

यह तो मानी हुई बात है कि गणिकाओं की आय का हिसाब रखना संभव नहीं । कुट्टनी या वेश्यालयों के संचालक गुंडे थोड़ा-बहुत हिसाब-किताब रखते हों यह मुमकिन है, परंतु आयकर-विभाग चाहता है वैसा स्पष्ट और निश्चित हिसाब रखना गणिका-व्यवसाय में संभव नहीं । इस व्यवहार का लिखित और सही-सही हिसाब रखने में केवल कर भार बढ़ने का ही भय नहीं रहता बल्कि अन्य अनेक अपराधों का पक्का सबूत भी इसके द्वारा स्थापित हो सकता है । अतः इस व्यवसाय से संबंधित लोगों की वृत्ति हिसाब नामक चीज़ को पूर्णतः टाल जाने की ही होती है । इसके कारण, और यह सारा व्यवहार गुप्त रूप से चलने के कारण, इस समाजविरोधी व्यवसाय में से प्रत्यक्ष (Direct) कर के रूप में शासन को कोई आमदनी नहीं हो सकती ।

परंतु आयकर विभाग के अधिकारी इतने संकोची या भीरु नहीं होते । गणिकाओं को, और विशेष तौर से नृत्य-संगीत द्वारा जीवनयापन करनेवाली कलावती गणिकाओं को अपनी आय प्रकट करने की सूचना भेजने में वे आगापीछा नहीं करते । कभी-कभी कर की रकम बहुत अधिक निश्चित कर दी जाने पर गणिकाओं और आयकर-विभाग के बीच विवाद भी खड़े होते हैं । अतः शासन का यह विभाग गणिकाव्यवसाय को बिलकुल अछूता छोड़ देता है, यह नहीं कहा जा सकता । कुछ वर्ष पहले तक वारांगनाओं पर शासन का नियंत्रण सिर्फ पुलिस के महकमे द्वारा होता था परंतु अब आयकर-विभाग भी इस मामले में पीछे नहीं ।

राज्य की इस आय के औचित्य-अनौचित्य का निश्चय करना टेढ़ी खीर है । शराब से प्राप्त आबकारी कर को दूषित मानने वाली शासन-व्यवस्था द्वारा गणिकाओं की आय में से भाग माँगा जाना कहाँ तक उचित है ? फिर शराब के तो उत्पादन से लगाकर बेचने तक की व्यवस्था को हर स्तर पर नियंत्रित किया जा सकता है । उत्पादकों से उत्पादित माल की तादाद और मुनाफे का हिसाब-किताब माँगा जा सकता है । विक्रेताओं को अकसर नीलाम के ज़रीये ठेका दिया जाता है । यह सारी व्यवस्था शराब के व्यापार को एक नियंत्रण-सुलभ खुला व्यवसाय बना देती है । गणिकावृत्ति के संबंध में इनमें से एक भी बात व्यवहार्य नहीं । इस हालत में वेश्या-व्यवसाय पर कर लगाना चोर-डाकुओं की आय पर कर लगाने जितना ही मुश्किल उपहासास्पद सिद्ध होता है । परंतु फिर भी, आधुनिक युग में किसी भी सभ्य देश की सरकार ने इस आय को निषिद्ध नहीं माना । व्यक्ति या संस्था की कौनसी आय करपात्र मानी जाय और कौनसी करमुक्त, इसका ब्योरा हर देश में कानून द्वारा निश्चित कर दिया जाता है । स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक देश में करमुक्त आय की निश्चित सीमा बाँध दी जाती है, पर आय के अधिकांश स्रोतों को करपात्र माना जाता है । भारत का वर्तमान आयकर-कानून निम्नलिखित स्रोतों से प्राप्त आय को करपात्र मानता है:



१. वेतन (Salaries)
२. पूंजी (Investments)
३. जायदाद (Property)
४. व्यापार-धंधा (Business)
५. पेशा या वृत्ति (Profession or Vocation)
६. अन्य स्रोत ।

'अन्य स्रोतों' के सर्वस्पर्शी नाम से परिचित यह अंतिम प्रकार शासन को अत्यंत सहायक सिद्ध होता है । धनप्राप्ति के किसी भी स्रोत की गणना इस अनिश्चित प्रकार के अंतर्गत की जा सकती है ।

इस विषय में एक दिलचस्प बात यह है कि आय का स्रोत यदि ग़ैरकानूनी हो, या नैतिक दृष्टि से निषिद्ध हो, तो भी उसे करपात्र माना जाता है । अत: काला बाज़ार, या वेश्यावृत्ति, या वेश्याओं की दलाली जैसे अनैतिक और निषिद्ध स्रोतों से प्राप्त आय पर कर लगाने में शासन के राजस्व विभाग को कोई हिचकिचाहट नहीं होती । इन ग़ैरकानूनी मार्गों से प्राप्त आय पर कर लगा कर शासन उन्हें क्षम्य करार देता है या परोक्ष रूप से उनका समर्थन करता है यह मानने की आवश्यकता नहीं । कर विभाग उसे आय का एक स्रोत मात्र मान कर निर्लेप भाव से कर लगाता है । उसकी नैतिकता या वैधता का विचार करना कर-विभाग का काम नहीं । इसका निर्णय करने के लिए शासन के अलग महकमे हैं । अत: अपनी कमाई का स्रोत प्रतिबंधित, ग़ैर कानूनी या अनैतिक है, इस दलील के सहारे कोई व्यक्ति आयकर से मुक्ति नहीं पा सकता । आय चोरी के माल का क्रय-विक्रय करने से हुई हो; बेईमानी या विश्वासघात से हुई हो; अनधिकार बर्ताव करके हुई हो; या अनैतिक आचरण के द्वारा हुई हो; आयकर विभाग स्थितप्रज्ञ की सी निर्लेपता से कर वसूल कर लेता है । अपराधों का विचार करने के लिए अलग व्यवस्था है । कंपनी कानून के अंतर्गत सरकारी दफतर में दर्ज हुए बिना कोई कंपनी व्यवहार करे, तो वह पूरा व्यवहार ग़ैरकानूनी माना जायगा; पर उससे प्राप्त आय पर कर चुकाना ही पड़ेगा । किसी ने शर्त बद कर या जुऐ-सट्टे से, या शराब के अवैध विक्रय से रुपया कमाया, तो जुआ खेलने के लिए या आबकारी कानून का भंग करके शराब का अवैध विक्रय करने के अपराध में उसे दंड तो मिलेगा ही । पर इस दंड की आड़ में, अवैध-व्यवहार से प्राप्त आय को हजम नहीं किया जा सकता । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अदालत की किसी कार्रवाई के दरमियान भी आय के किसी गुप्त स्रोत का रहस्योद्घाटन हो, और आयकर-विभाग को इसकी सूचना मिले, तो आय के स्रोत की वैधावैधता का विचार अदालत पर ही छोड़ कर आयकर-विभाग कर लगाने का अपना कर्तव्य अवश्य पूरा करेगा ।

इस संबंध में कर-विधान (Taxation Act) और अनुबंध-विधान (Contract Act) के नियम बिलकुल स्पष्ट हैं । इन दोनों कानूनों के अंतर्गत वर्तमान व्यवस्था इस प्रकार है: — "बहुत से करार और तज्जन्य व्यवहार अवैध या अनैतिक होने के कारण कानून द्वारा अस्वीकार्य हो सकते हैं या उनकी गणना जुरमाने या कारावास की सज़ा दी जाने योग्य अपराधों में हो सकती है । परंतु यदि उनका निष्पादन व्यापारी ढंग से हुआ है, तो उनसे प्राप्त आय को कर से मुक्ति नहीं मिल सकती । एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि आय का स्रोत होने वाला व्यवहार धन के आदान-प्रदान पर आधारित रहा है, उससे लाभ उठाने वाला व्यक्ति व्यवहार की अवैधता के बल पर कर से मुक्ति पाने का दावा नहीं कर सकता । अपनी अधमता या अनैतिकता के सहारे वह कर से मुक्ति नहीं पा सकता । अवैध स्रोतों से प्राप्त आय पर कर लगाने से शासन-व्यवस्था उन अवैध कार्यों में परोक्ष रूप से सहभागी होती है, या उन्हें क्षम्य मानती है, या उनका समर्थन करती है यह भी नहीं कहा जा सकता । करविधान इस आय को केवल एक संपादित व्यवहार और निष्पन्न घटना के रूप में देखता है । उसका कर्तव्य केवल यह देखने तक ही सीमित है कि कितना मुनाफा कमाया गया और उस पर किस हिसाब से कर लगाया जाय । करदाता को उसके अवैध

कार्यों के लिए न्याय-व्यवस्था से दंड मिल जाने पर भी उसकी आय पर कर लगाया जा सकता है । आयकर विषयक कानून केवल वैध मार्गों से प्राप्त आय तक ही सीमित नहीं है । आयकर-कानून अपने अधिकार क्षेत्र में केवल एक ही अपवाद मानता है । वह यह कि धनप्राप्ति यदि किसी ऐसे व्यवहार द्वारा हुई हो कि जो साधारण तौर पर 'व्यापार', 'व्यवसाय', 'काम धंधा', 'क्रय-विक्रय' आदि संज्ञाओं के अंतर्गत न आता हो, तो उसे कर विभाग के अधिकार-क्षेत्र से बाहर माना जाता है । उदाहरणार्थ किसी ने सेंध लगा कर चोरी की हो, तो चोर के लाभ (आय) पर कर लगाना कर विभाग का काम नहीं । परंतु इस आय को करमुक्त इस लिए नहीं माना जाता कि वह अवैध मार्ग से प्राप्त हुई है; बल्कि इस लिए कि उसमें व्यापार के तत्वों पर आधारित लेन-देन-भुगतान का व्यवहार नहीं हुआ ।''

इन नियमों के अनुसार गणिकावृत्ति से प्राप्त आय निस्संदिग्ध रूप से करपात्र सिद्ध होती है । परंतु सिद्धान्ततः कानून की ये सारी बारीकियाँ सही होने पर भी, व्यवहार के क्षेत्र में, गणिकाओं की आय पर कर लगाने के प्रयत्नों को अधिक सफलता नहीं मिलती । इसके दो-एक उदाहरण देख लेने से बात स्पष्ट हो जायगी । कुछ वर्ष पहले आयकर विभाग ने मुश्तरीजान नामक गणिका को पत्र लिख कर उसकी आय का हिसाब माँगा । उत्तर में उसने निम्नलिखित लाक्षणिक वक्तव्य दिया था: — ''मेरी उम्र पचास से ऊपर हो चुकी है । कुछ वर्ष पहले तक मैं नाचने-गाने का पेशा करती थी । मेरी लड़की बड़ी हो जाने पर हमारे समाज की प्रथानुसार मैंने पेशा छोड़ दिया और अपना स्थान लड़की को दे दिया । परंतु उसने जवानी के मद में मेरी बात नहीं सुनी । कई वर्ष पहले वह घर से भाग गयी है और तब से हमारा धंधा पूर्णतः बंद हो चुका है । मेरे पास तो उदरनिर्वाह का भी कोई साधन नहीं मिला । आरंभ में तो मैंने घर का साज-सामान बेच कर गुज़ारा किया पर इधर कुछ वर्षों से मुझे सिलाई करके निर्वाह करना पड़ रहा है । मेरी आय किसी भी हालत में कर लगाने योग्य नहीं है ।'' इस निवेदन की जाँच-पड़ताल की जा सके उससे पहले ही वह मकान छोड़ कर कहीं चली गयी और इसके बाद अधिकारियों को उसका पता नहीं लग सका ।

एक और उदाहरण लें । सोनाबाई नामक गणिका नाचने-गाने का पेशा करती थी । एक बार उसने गणिकाओं के मुहल्ले में ही सात हज़ार रुपये में एक मकान खरीदा । मकान की रजिस्ट्री होते ही यह व्यवहार प्रकट हो गया और इस आमदनी का स्रोत ढूंढने के लिए आयकर विभाग ने तहकीकात शुरू की । पूछताछ करने पर मालूम पड़ा कि सोनाबाई ने पंद्रह वर्ष तक नाचने-गाने का पेशा किया था पर पिछले तीन-चार साल से वह निवृत्त हो गयी थी । अब वह अपने विवाहित भाई के साथ रहती थी । वह अनपढ़ थी और वृद्धावस्था में गुज़ारे का उसके पास कोई साधन नहीं था । बड़ी खींचातानी करके उसने यह मकान सात हज़ार में खरीदा था, पर खरीदने के कुछ ही दिनों बाद उसे पाँच हज़ार रुपये में गिरवी रख देना पड़ा था । गिरवी रखनेवाले महाजन की बहियों से यह बात सत्य प्रमाणित हुई । इसके अलावा सोनाबाई के पास और कोई हिसाब-किताब नहीं था और उसने अर्ज़ी की कि उसके जैसी दुखी स्त्री से आयकर वसूल करने की बात अधिकारी लोग सोच भी कैसे सकते हैं ।

एक तीसरे उदाहरण में महमूदीबाई नामक गायिका ने चालीस वर्ष की आयु में एक मकान खरीदा था । बाई के पास हिसाब तो किसी प्रकार का था नहीं, अतः आयकर अधिकारियों ने अंदाज़ से कर लगा दिया । उस ज़माने में शादी-विवाह के अवसर पर पेशेवर तवायफों का नाचगाना करवाने का आम रिवाज था । कुछ वर्षों से शहर में शादियाँ बहुत अधिक हो रही थीं और इस मद में लोग दिल खोल कर खर्च करते थे । अतः आयकर विभाग का यह अनुमान कि इन वर्षों में बाईजी ने अच्छी खासी रकम बना ली होगी, गलत नहीं कहा जा सकता । परंतु बाईजी ने दरख्वास्त दी कि वह कई वर्षों से धंधा छोड़ चुकी है और इधर उसका गुज़ारा बीड़ी-तंबाकू की छोटी-सी दुकान के सहारे चल रहा है । मकान खरीदने के लिए अधिकांश रकम उसे किसी साहूकार से कर्ज़ लेनी पड़ी है जो अभी तक चुक नहीं पायी । तहकीकात करने पर ये सारी बातें सत्य प्रमाणित हुईं और उच्चाधिकारियों ने कर माफ कर दिया ।

ये तीनों उदाहरण प्रातिनिधिक हैं । गणिकाओं के यौवनकाल में होने वाली कमाई और उनके जीवन के उत्तरार्द्ध की परिस्थितियों में ज़मीन-आसमान का अंतर होता है जिसका अत्यंत स्पष्ट चित्रण इन निवेदनों में हुआ है । जीवन के पूर्वार्द्ध में गणिकाएँ सैंकड़ों को आकर्षित करके हजारों की कमाई कर सकती हों, यह संभव है । परंतु पचास वर्ष की उम्र में वृद्धा और निराधार बन जाने वाली मुश्तरी बेगम, या पेशा छोड़ कर बालबच्चे वाले भाई के साथ रह कर बुढ़ापे के दिन काटने वाली सोनाबाई, या बीड़ी-तंबाकू की दूकान से पेट का खड्डा भरने वाली महमूदीबाई से कर वसूल करने की इच्छा आयकर-विभाग के कठोर से कठोर अधिकारी को भी नहीं होगी । जब उनकी स्थिति कर देने काबिल होती है, तब कोई उनकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता और उन्हें भी इतना व्यवहारज्ञान अवश्य होता है कि उस समय जायदाद वगैरह खरीदने के चक्कर में वे नहीं पड़तीं । बाद की परिस्थिति उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है ही ।

• इन उदाहरणों से एक ओर जहाँ यह स्थापित होता है कि ढलती उम्र में गणिकाओं को उदरनिर्वाह के लिए अनेक प्रकार के विचित्र कामधंधे करने पड़ते हैं; वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रमाणित होता है कि गणिकाओं को कर्ज़ देने वाले महाजनों की समाज में कोई कमी नहीं । प्रौढ़ावस्था पार कर चुकने वाली वारांगना को कर्ज़ देते समय साहूकार के मन में कोई अनिष्ट कामभावना रहती हो, यह संभव दिखाई नहीं देता । अत: इसे सीधा-सीधा व्याजबट्टे का व्यवहार मानना होगा । श्रद्धालु वैष्णवों और अहिंसक जैनों को गणिकाओं से व्यवहार करने में किसी प्रकार का संकोच होता हो, ऐसा दिखाई नहीं देता । साधनों की शुचिता का सिद्धान्त धर्मग्रंथों से बाहर निकाल कर व्यवहार के क्षेत्र में शायद कभी चरितार्थ नहीं होता । एक और तथ्य भी उल्लेखनीय है । इस व्यवहार में गणिकाएँ अकसर मुसलमान होती है और साहूकार प्राय: हिंदू । जिस प्रकार सूदखोर पठान को कर्ज़दार स्पर्श्य है या अछूत; ब्राह्मण है या चमार; इससे कोई मतलब नहीं होता, उसी प्रकार वैष्णव या जैन साहूकारों को गणिकाओं को कर्ज़ देते समय उनके पेशे की अपवित्रता की या उनके मुसलमान होने की कोई छूत नहीं लगती । अन्य क्षेत्रों में एक दूसरे को बरदाश्त न कर सकने वाले हिंदू-मुसलमान कम से कम इस क्षेत्र में एक हो जाते हैं । आय के विभिन्न व्यवहारों को लेकर या उस पर लगाये जानेवाले कर को लेकर गणिकाओं का धनाढ्य महाजनों और सरकारी अधिकारियों जैसे समाज के उच्च और प्रतिष्ठित वर्गों के साथ घनिष्ठ संपर्क रहता है । आज के बदलते हुए युग में तो गणिकाओं का बैंकों के साथ भी लेनदेन का व्यवहार होता है ।

६

वर्तमान गणिकावृत्ति की पार्श्वभूमि

गणिकावृत्ति के संबंध में भारत की वर्तमान स्थिति का अंतरंग पुरानी स्थितियों से अधिक भिन्न है, यह मानने का कोई कारण नहीं । हाँ, उसके बहिरंग में कुछ सूक्ष्म फर्क अवश्य पड़ गये हैं । कला का जो संपर्क इसके साथ प्रचीन युगों में था; वह अब बिलकुल कम होता जा रहा है: बल्कि यूं कहिये कि करीब-करीब समाप्त हो गया है । पश्चिम के अनेकविध प्रभावों के नीचे आ चुकने वाली पूर्व की दुनिया पूर्णत: पश्चिम के रंग में रंग गयी है । पुराने युगों की सुविकसित व्यक्तित्ववाली गणिका अब अधिक दिखाई नहीं देती । पेशे पर दलालों और कुट्टनियों का आधिपत्य और सामूहिक वेश्यालयों की संघटित वेश्यावृत्ति अब अपवाद के बजाय सामान्य नियम बन गयी है । पुरानी प्रथाओं की यादगार-रूप धर्म और देवालयों का वेश्यावृत्ति के साथ थोड़ा-बहुत संबंध कहीं-कहीं अब भी पाया जाता है परंतु अधिकांश में तो नयी सभ्यता के नये तत्व ही अधिक बलशाली हो उठे हैं । अब वेश्यावृत्ति मीनाबाज़ार के कोठों तक ही सीमित नहीं रही ।

होटलों और विश्रांतिगृहों, नाटकों और सिनेमाओं एवं स्टूडियो और थिएटरों में वह अपने पाँवों चल कर जाती है और अपनी भूमिका बड़े बमालूम ढंग से अदा करती है। असहाय युवतियों का हरण करने के लिए अब प्राचीन युग के रथों और घोड़ों की आवश्यकता नहीं रही। अब यह काम मोटरकारों द्वारा अधिक वेग से और अधिक सफाई से किया जाता है। हरण की जाने वाली युवतियाँ अब रोती-बिलखती भी नहीं। अक्सर वे अपनी राजीखुशी से यह मार्गग्रहण करती हैं। दलालों और गुंडों की पुरानी बिरादरी में अब होटलों के बैरे और टैक्सी-ड्राइवर भी सम्मिलित हो गये हैं। धन की चारों तरफ नदियाँ बहती दिखाई देती हैं और मौज-शौक एवं ऐशोइशरत का आकर्षण दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। अर्थशास्त्र के पंडित इसे जीवनयापन का उच्च स्तर मानते हैं परंतु रुपये की कीमत दिनोंदिन घटती जा रही है। अब वह रुपये की अपेक्षा चवन्नी या दुअन्नी से अधिक निकट मालूम देती है और उसकी प्रवृत्ति शून्य का रूप धारण करके अपने गोल आकार को सार्थक करने की ओर ही झुकी हुई दिखाई देती है। सुख-सुविधा के साधनों की कोई सीमा नहीं रही और इस क्षेत्र में एक दूसरे को परास्त करने की मानो होड़ लगी हुई है। परंतु सुख-प्राप्ति के ये सारे साधन पक्की बुनियाद पर स्थापित दिखाई नहीं देते। उनका स्वरूप हवा भर कर फुलाये हुए रबड़ के खिलौने के समान दिखाई देता है जो वास्तविकता की सुई चुभते ही अपना आकार खोकर निर्जीव से होकर लटक जाते हैं। आवश्यकताएं हद से ज़्यादा बढ़ गयी हैं फिर भी अर्थपंडित चिल्ला-चिल्ला कर कहते जा रहे हैं कि आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना ही आर्थिक विकास की निशानी है। आधुनिक संस्कृति इसी को प्रगति का लक्षण मानती है। इस तड़क-भड़क और आरामतलबी के क्षेत्र में हमने जो कुछ पाया है, भावना के क्षेत्र में उससे कहीं अधिक गँवाया है। बुद्धि ने हृदय को चारों कोने चित पछाड़ दिया है और सब तरफ शिश्नोदरवाद का बोलबाला है। संतोष, शांति और तृप्ति के कहीं दर्शन नहीं होते इतना ही नहीं, उन्हें कायरता और पराजित मनोवृत्ति का प्रतीक माना जाता है और उनके समर्थकों की खिल्ली उड़ाई जाती है। बंगला और मोटरकार हमारी अपरिहार्य आवश्यकताओं में शुमार होन लगे हैं। हमारी सभ्यता दरजी और धोबी के हाथ की कठपुतली बन गयी है, इतना ही नहीं, आधुनिकता का नाच नाचने के लिए उसे शोफर, माली, रसोइये आदि साज़िंदों की भी आवश्यकता पड़ती है।

सुखप्राप्ति की इच्छा मनुष्य का स्वाभाविक धर्म मानी जाती है। इसके लिए वह प्रयत्नशील रहे इसमें कोई बुराई नहीं। परंतु वर्तमान युग में एक तो 'सुख' की व्याख्या कुछ बदल गयी है, और दूसरे, उसकी प्राप्ति के साधन कुछ इनेगिने लोगों के हाथों में केन्द्रित हो गये हैं। सुख के साधन संसार के सब मनुष्यों को समान रूप से उपलब्ध शायद कभी नहीं रहे। निकट भविष्य में ऐसा होने की आशा भी नहीं है। आधुनिक अर्थप्राधान्यवाद की विषमता ने कुछ लोगों के सामने तो उनके गगनचुंबी अंबार लगा दिये हैं और अधिकांश लोगों के पल्ले उसका एक कण भी नहीं पड़ने दिया। इस आर्थिक विषमता के साथ-साथ नैतिकता के मानदंड भी आज के युग में बदल गये हैं। स्त्री-पुरुष के संबंधों का नियंत्रण करनेवाली पुरानी नैतिकता अब कारगर नहीं रही और मर्यादा के बंधनों में भी इतनी शक्ति नहीं रही। यह नैतिकता प्राचीन युग के लोगों को अमर्याद आचरण करने से पूर्णत: रोक सकी थी यह कहने का आशय नहीं है। परंतु सिद्धान्त या आदर्श के रूप में उसकी आज की सी अवहेलना शायद कभी नहीं हुई। आज नियमबद्धता और मर्यादाशीलता को दकियानूसी और पाखंड करार दे कर उसकी केवल खिल्ली ही नहीं उड़ाई जाती बल्कि स्त्री-पुरुष के यौन-संबंधों का पाप-पुण्य की भावना से कोई संबंध ही नहीं; यह डंके की चोट पर कहा जाता है। स्वाभाविक है कि यह विचारधारा किसी प्रकार के अंकुश को स्वीकार न करे और कामवासना के नियमन की अपेक्षा उसे उन्मत्त करके बेलगाम छोड़ देने में ही जीवन की कृतकृत्यता माने। धन और धन से प्राप्त साधनों की शक्ति कलाप्रियता और संस्कारिता का नकाब ओढ़ कर एक जीवनव्यापी दंभ का रूप धारण करती है। इस नकाब की आड़ में समाज के ऊँचे के ऊँचे वर्गों में विषयवासना की नीची से नीची और बाज़ारी वेश्यावृत्ति को भी लजा देनेवाली बातें बेरोकटोक प्रवेश कर जाती हैं। बम्बई-कलकत्ते के निशामंडलों (Night Clubs) में भटकनेवाली सभ्य समाज की नारियाँ अपने तथाकथित कलात्मक नृत्यों, उत्तेजक



पानगोष्ठियों, अमर्याद वेशभूषा और पुरुष से एक कदम भी पीछे न रहने के मेड़ियाधसान में किये जाने वाले धूम्रपान, निर्लज्ज संभाषण और अशिष्ट हासपरिहास द्वारा गणिकाओं का एक नूतन और सूक्ष्म प्रकार उत्पन्न करती रहती हैं । ऐशोआराम के बढ़ते हुए साधन, उन्हें किसी भी कीमत पर प्राप्त करने की चिर-अतृप्त वासना, देखादेखी कुएँ में गिरने की भेड़चाल और नियंत्रण का संपूर्ण अभाव आदि तत्व मिल कर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जिसमें गणिकावृत्ति का पौधा बिना खाद-पानी के ही पनपने लगता था । कानून चाहे हर दरवाज़े पर चौकीदार बैठा दे और नीतिभावना चाहे हर मोड़ पर सुधारकों की नियुक्ति कर दे, पर पतन और विनाश की दिशा में आगेबढ़ने वाले समाज को कोई रोक नहीं सकता ।

दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका ने गणिकावृत्ति को और भी बहका दिया । यह एक विश्वव्यापिनी प्रतिक्रिया थी जिसकी प्रतिध्वनि भारत में भी सुनाई दी । युद्ध के दरमियान जीवित रह जानेवालों को युद्ध के मैदान में मर जानेवालों जितनी ही —कभी-कभी तो उससे भी अधिक —यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं । अस्तव्यस्त हो उठने वाली दुनिया में नैतिक मूल्य भी अस्तव्यस्त हो उठें तो आश्चर्य किस बात का । अस्थिर नीतिभावना के साथ गणिकावृत्ति का चोलीदामन का साथ है ही । युद्ध के दरमियान इस नैतिक उलटफेर की बाढ़ भारत में भी आयी और दुर्भाग्य यह है कि वह अभी तक उतरी नहीं है । किसी-किसी क्षेत्र में तो उसने अनैतिकता के ऐसे प्रचंड स्रोत खुले कर दिये कि उनके प्रवाह में समाज अब तक बहा-चला जा रहा है । बीच-बीच में पतितोद्धार के प्रयत्न भी होते रहते हैं परंतु उनकी उपयोगिता अथाह महासागर में पानी की एक बूंद से अधिक प्रमाणित नहीं हुई है । जीवन के अन्य अनिष्टों की तरह गणिकावृत्ति भी एक दुष्टचक्र में घूमती है जिसका इतिहास में समय-समय पर पुनरावर्तन होता रहता है । शायद इसी नियमानुसार गणिकावृत्ति के विकेन्द्रीकरण की भावना कमज़ोर पड़कर बड़े शहरों में वेश्याओं को विशिष्ट मुहल्लों में एकत्रित करने के प्रयत्न फिर से एक बार हो रहे हैं । यद्यपि यह कहना मुश्किल है कि इनमें से कौनसी प्रथा वांछनीय है; तथापि व्यवहारज्ञान का तकाज़ा है कि इन नरक स्थानों को नौजवानों की आँखों से जितना दूर रखा जाय उतना ही अच्छा है । प्रतिष्ठित परिवारों के साथ देह-विक्रय के पाप केन्द्रों को बेमालूम रूप से घुलमिल जाने देना तो किसी भी हालत में उचित नहीं ।

सिंहावलोकन करने पर भारत की गणिकावृत्ति के संबंध में निम्नलिखित तथ्य निश्चित रूप से स्थापित होते हैं: —

१. भारत में गणिकावृत्ति हम मानते हैं उससे कहीं अधिक व्यापक है ।
२. इस के साथ का नृत्य संगीतादि कलाओं का संबंध तेज़ी से कम होता जा रहा है ।
३. वैयक्तिक रूप से देह-विक्रय करने की पुरानी प्रथा का स्थान अब सामूहिक वेश्यावृत्ति के अड्डों (Brothels) ने ले लिया है । पश्चिम के और अनेक प्रभावों की तरह वेश्या व्यवसाय की यह व्यवस्था भी हमारे यहाँ दिनों-दिन स्थायी होती जा रही है ।
४. धर्म के साथ गणिकावृत्ति का कोई संबंध नहीं रहा । एक तो कानून, समाज और व्यक्ति, तीनों की धर्म से श्रद्धा दिनों-दिन कम होती जा रही है, और दूसरे, धर्म के साथ गणिकावृत्ति का दूरान्वय से भी संबंध हो, इस कल्पना को भी आज की विचारधारा बरदाश्त नहीं कर सकती । हिंदू धर्म नये विचारों को पचाने की कोशिश कर रहा है और इन विचारों में धर्माधारित गणिकावृत्ति का पोषण संभव नहीं ।
५. पुराने जमाने में उपस्थित न होनेवाले अनेक नये तत्व भी गणिकावृत्ति को प्रोत्साहन देने लगे हैं । इनमें के प्रमुख इस प्रकार हैं: —

(अ) एकाकी पुरुषों का नगरनिवास — नयी समाजरचना ने संयुक्त परिवार की प्रथा को नष्ट कर दिया । आज की कठिन आर्थिक परिस्थितियों में बड़े शहरों में अलग घरगृहस्थी बसा कर रहना सरल काम नहीं । अतः जीविकोपार्जन के लिए नगरों में अकेले रहने वाले

विवाहित पुरुष और विवाह जैसी खर्चीली व्यवस्था से बच कर रहना चाहने वाले अविवाहित पुरुष, दोनों ही गणिकावृत्ति के पोषण में सहायक होते हैं । वैविध्य का आकर्षण शहरों में गृहस्थी बसा कर रहनेवाले पुरुषों को भी इस रंगीन दुनिया में कदम रखने को प्रेरित करता है ।

(आ) औद्योगीकरण — बड़े-बड़े उद्योग अकसर शहरों में ही विकसित होते हैं । आजकल तो जहाँ पुरानी कोई बस्ती न हो, ऐसे स्थानों पर भी उद्योगों के कारण नये शहर बस जाते हैं । कारखानों में काम करनेवाले स्त्री-पुरुषों का शारीरिक सान्निध्य, योग्य निवास-स्थानों का अभाव, परिवार को शहर में न रख सकने की विवशता आदि तत्व गणिकावृत्ति को ही उत्तेजन देते हैं ।

(इ) सैनिक छावनियाँ — देश के लिए प्राण अर्पण करनेवाले वीर सैनिकों के प्रति किसी को भी आदर की ही भावना होगी । परंतु उनकी वीरता की प्रशस्तियों के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि स्त्री उनकी मुख्य कमजोरी और उनके मनोरंजन का प्रधान साधन होती है । सैनिकों के घुमक्कड जीवन में इस शौक की पूर्ति वेश्या-व्यवसाय करनेवाली स्त्रियों द्वारा ही संभव है ।

(ई) आर्थिक विषमताएँ — एक ओर धन की अतिशयता और दूसरी ओर कमर तोड़ देनेवाला दारिद्र्य समाज में एक ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं जो निस्संदेह रूप से गणिकावृत्ति में परिणत होती है । इन दोनों वर्गों की यौन-आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक सिद्ध होती हैं जिसकी निष्पत्ति अनिवार्य रूप से देहसुख के क्रय-विक्रय में होती है । दारिद्र्य की भी श्रेणियाँ हैं । मामूली तंगी और छोटे-मोटे अभाव साधारणतया किसी को अनीति के मार्ग पर नहीं ले जाते । परंतु दारुण दारिद्र्य, जिसमें पेट का खड्डा भरना भी मुश्किल हो जाता हो, मनुष्यप्राणी की नीति-अनीति की भावना को कुंद कर देता है ।

(उ) यौन-नैतिकता संबंधी अनुशासन भावनाएँ — नवीन नीतिभावना यौन-संबंधों की विशुद्धि के विषय में पुराने युग का सा कठोर आग्रह नहीं रखती । साथ ही औचित्य-अनौचित्य की भावनाएँ भी बड़ी तेजी से बदल रही हैं । उदाहरणार्थ, किसी युग में केवल गणिकाओं तक ही सीमित नृत्य, संगीत, वादन, अभिनय, वाक्चातुर्य आदि कलाएँ अब संस्कृति का अविच्छेद्य लक्षण मानी जा कर प्रतिष्ठित परिवारों की स्त्रियों के कार्यक्षेत्र में आ गयी हैं । इन्हें सभ्य समाज से भिन्न रखने वाली लक्ष्मणरेखा कभी की मिट चुकी है । साथ ही 'आवश्यकताएँ बढ़ाओ' आज के युग का मूलमंत्र और लोकप्रिय नारा बन चुका है । मन को आनंद और देह को आराम पहुँचानेवाले सुखसुविधा के अनेकविध साधन आज आसानी से उपलब्ध हैं । बाह्य रूप से प्रतिष्ठा का आडंबर बनाये रख कर भी, रुपया खर्च करनेवाले को मनचाही सुविधा प्राप्त कर देनेवाले आनंदगृहों की शहरों में कोई कमी नहीं । व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना इस हद तक व्यापक और बलवती हो उठी है कि किसी के वैयक्तिक आचरणों को समाज का चिंता का विषय ही नहीं माना जाता । स्त्री-पुरुष के मिलन के क्षेत्र दिनोंदिन व्यापक होते जा रहे हैं और ये मिलन संकोच या मर्यादा की लगाम से संचालित न रह कर सहज कर्तव्य —और कभी-कभी तो अधिकार —का रूप धारण करने लगे हैं । सरकारी नौकरियों में और अन्य अनेक प्रकार के रोज़गार —व्यवसायों में स्त्रियाँ पुरुष के साथ समानता से भाग लेने लगी हैं । फिल्मी दुनिया का मदहोश कर देनेवाला प्रलोभन हर रूपवती युवती के लिए दिवास्वप्न का विषय बन गया है और उसके सब्ज़बाग दिखा कर उसे किसी भी प्रकार के साहस में प्रवृत्त किया जा सकता है । बदलती हुई दुनिया के इन सारे तत्वों ने मिल कर गणिकावृत्ति का ही पोषण किया है: फिर चाहे उसका बाह्य रूप कुछ भी रहा हो, और उसे नाम कुछ भी दिया जाता हो ।

६. पुराने ढर्रे की गणिकावृत्ति अब तक पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई है । नये युग के सारे साधन और

सारी शक्तियाँ उसके विरुद्ध होने पर भी, नृत्य संगीत से संबंधित गणिकावृत्ति ने अपना क्षीण अस्तित्व किसी न किसी रूप में अब तक बनाये रखा है ।

७. राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्रान्तियाँ हम कल्पना भी न कर सकें ऐसी अस्थिर मनोभूमि का निर्माण कर सकती हैं । इस अस्थिरता के साथ नैतिक मतपरिवर्तन का योग होते ही पूरी समाजरचना डाँवाडोल हो उठती है । संक्रमणकाल का समाज-जीवन हमेशा कुछ उतावला, अस्थिर, उग्र और संवेदनक्षम होता है । गणिकावृत्ति जैसे क्षणिक प्रलोभन की ओर आकर्षित होने की उसकी सहज प्रवृत्ति होती है । धन और शक्ति का एकाधिकार हथिया बैठने वाले पुरुष के मुकाबले में स्त्री जब अपने रूप-यौवन और आकर्षणशक्ति के मोरचे बाँधने को मजबूर होती है, तो स्वार्थी और अहंमन्य पुरुष के हिस्से में गणिकावृत्ति के सिवा और आ ही क्या सकता है ? इससे अधिक की वह आशा भी कैसे कर सकता है ?

७
महात्मा गांधी का वक्तव्य

आधुनिक भारत के भाग्यविधाता महात्मा गांधी की सर्वग्राही दृष्टि पतिताओं के प्रश्न से अलिप्त रहे, यह संभव ही नहीं था । भारतीय प्रजा के सर्वतोभद्र उत्कर्ष का संदेश लेकर आनेवाले इस युगपुरुष ने अपने अनुभव के सहारे यह बहुत जल्दी पहचान लिया था कि सामाजिक सुधार की बुनियाद पर स्थापित हुए बिना राजनीतिक स्वातंत्र्य का कोई अर्थ नहीं होगा । यद्यपि सामाजिक सुधार और पतितोद्धार के प्रश्नों का निराकरण स्वातंत्र्यप्राप्त के बाद ही अधिक सुगमता से हो सकेगा यह मान कर उन्होंने अपने जीवनकार्य को मुख्यत: राजनीतिक समस्याओं से ही सलंग्न रखा था । तथापि प्रजाके राजनीतिक प्रश्नों को उसके



नैतिक और सामाजिक पहलुओं से सर्वथा अलिप्त उन्होंने कभी नहीं माना और भारत की समस्याओं का विचार उनके सर्वस्पर्शी परिवेश में करना ही उन्होंने उचित समझा था । इन समस्याओं के निराकरण के प्रयत्न उनकी इच्छानुसार नहीं हो सके यह अलग बात है । दर असल गांधीजी पतिताओं के प्रश्न का विचार किये बिना रह ही नहीं सकते थे क्योंकि स्वराज्य की व्याख्या ही उन्होंने "दुखी-दरिद्रों और पतितों का उद्धार" के रूप में की थी । रामराज्य की अनेकविध व्याख्याओं में उन्हें यही व्याख्या सबसे अधिक अभिप्रेत थी । पतितों को पावन किये बिना रामराज्य की कल्पना ही अधूरी रह जाती है । देश को राजनीतिक स्वातंत्र्य प्राप्त होने के तुरंत बाद ही उनकी इहलीला का संवरण हो जाने के कारण पतितोद्धार

का उनका मुख्य जीवनकार्य अधूरा ही रह गया । हर दुखिया की आँख का आँसू पोंछनेवाले और दरिद्रों को ही नारायण का सच्चा स्वरूप समझने वाले करुणामूर्ति बापू के शब्दों से अधिक प्रभावोत्पादक विचार इस विषय में और किसके हो सकते हैं । अत: सन् १९२१ में बारीसाल के दौरे के बाद का उनका वक्तव्य यहाँ उद्धृत किया जाता है । वहाँ की पतिता स्त्रियों के संबंध में महात्माजी ने 'नवजीवन' में लिखा था: —

''वैसे तो बारीसाल के अनेक अनुभव उल्लेखनीय हैं; पर उन सबकी पुनरावृत्ति करने में समय बहुत लग जायगा । अत: मैं वहाँ की पतिता बहनों से मेरी मुलाकात का ही वर्णन करूंगा । उस दिन का वह दृश्य मैं कभी भूल नहीं सकूंगा । बारीसाल की इन अभागिनी नारियों में से कुछ के नाम राष्ट्रीय कांग्रेस की सहायता-सूची में दर्ज हैं और उन्हें 'तिलक स्वराज्य कोष' में से भरसक सहायता दी जाती है । उनकी संख्या करीब साढ़े तीन सौ होगी । बारीसाल के दौरे के दरमियान इन बहनों ने पत्र लिखकर मुझसे मिलने की इच्छा व्यक्त की थी । उनमें से कुछ की इच्छा कांग्रेस के काम में अधिकाधिक रम जाने की थी और कुछ तो चुनाव लड़ कर कांग्रेस की पदाधिकारिणी भी बनना चाहती थीं । एक रोज़ रात को एक सार्वजनिक सभा से लौटने पर मैंने उनमें की सौ-सवा सौ बहनों को मेरी प्रतीक्षा करते देखा । मैंने केवल एक दुभाषिया साथ लिया और छत के एक एकांत कोने में उन्हें सम्मानपूर्वक बैठाया । और सब पुरुषों को वहाँ से बिदा कर दिया और खुले दिल से अपनी बात कहने की उनसे बिनती की । उनमें की कुछ तो दस-बारह वर्ष की कच्ची उम्र की बालाएँ थीं, कुछ यौवन को पार कर चुकनेवाली प्रौढ़ाएँ थीं और अधिकांश बीस से तीस के दरमियान की युवतियाँ थीं । उनके साथ मेरा बात-चीत प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ, जिसे उसी रूप में देना योग्य होता ।

प्रश्न: आप सब का स्वागत है । आपके आने से मुझे खुशी हुई । मेरे लिए आप मेरी बहनों या पुत्रियों के समान हैं । मैं आपके दुख में सहभागी होना और यथाशक्ति आपकी सहायता करना चाहता हूं । आप संकोच करेंगी, या किसी भी बात को छिपाने की कोशिश करेंगी तो मेरा काम बहुत मुश्किल हो जायगा । क्या मैं आशा करूं कि आप मेरे प्रश्नों के उत्तर सही-सही देंगी ?

उत्तर : आप जो कुछ भी पूछेंगे उसका उत्तर हम बिना किसी प्रकार का परदा रखे सही-सही देंगी ।

प्र. आपमें से कुछ बड़ी उम्र की दिखाई देती हैं । क्या इस उम्र तक आप पेशा करती हैं ?

उ. जी, नहीं । उम्र होने पर हम पेशा छोड़ देती हैं और भीख माँग कर पेट भरती हैं ।

प्र. आप यह पेशा स्वेच्छा से करती हैं ?

उ. जी नहीं । पेट करवाता है ।

प्र. इन छोटी-छोटी बालिकाओं की भी क्या यही दशा होगी ?

उ. आप कुछ मार्ग बतायेंगे इसी आशा मे हम यहाँ आयी हैं । वैसे सत्य यह है कि छोटी बालिकाएँ तो क्या, हममें से कोई भी इस पेशे में रहना नहीं चाहती ।

प्र. आप में से जो नवयुवतियाँ हैं, उनके क्या विचार हैं ? सच-सच बताइये, उन्हें इस पे पेशे का आराम और भोगविलास ललचाता नहीं ?

उ. एक विशिष्ट उम्र में थोड़ी-बहुत ऐसा सोच सकती हैं ।

प्र. आपके संतति होती है ?

उ. किसी-किसी के होती है ।

प्र. आप की संख्या कितनी होगी ?

उ. साढ़े तीन सौ तो कांग्रेस में दर्ज हैं । और भी बहुत हैं ।

प्र. इन साढ़े तीन सौ में संतानवती कितनी हैं ?

उ. दस । छ: के लडकियाँ हैं और चार के लडके ।

प्र. आपके लड़के बड़े होकर क्या करते हैं ?

उ. अक्सर उनका हमारे ही वर्ग की किसी लड़की से विवाह कर दिया जाता है।

प्र. अपनी लड़कियाँ मुझे सौंपने को आप तैयार हैं ?

उ. आप संभालें, तो अवश्य।

प्र. आप में से कितनी बहनें यह पेशा छोड़ने को तत्पर हैं ?

उ. सब की सब।

प्र. मैं कहूं वह काम आप करेंगी ?

उ. आप क्या चाहते हैं सो हम जानती हैं। हममें से अनेक ने सूत कातना आरंभ भी कर दिया है। परंतु उससे पेट नहीं भरता।

प्र. यह बात मुझे बहुत पसंद आयी। जिन बहनों ने चरखा चलाना शुरू किया है उन्होंने पेशा छोड़ा है या नहीं ?

उ. जी, कहा न, कि इससे पेट नहीं भरता। इसके अलावा हम पर कर्ज भी होता है। वह कहाँ से चुकायें ?

प्र. पेशे से आपको क्या प्राप्ति हो जाती है ? आपका संकोच मैं समझ सकता हूं। मैं मानता हूं कि प्रश्न लज्जास्पद है। आप से पूछ रहा हूं पर मेरा सिर लज्जा से झुका जा रहा है और हृदय में अंगारे दहक रहे हैं। फिर भी, निस्संकोच भाव से उत्तर दीजिये।

उ. हममें से अधिकांश मासिक साठ रुपये कमा लेती हैं। रात मरे-गिरे दो रुपये तो मिल ही जाते हैं।

प्र. कताई से इतनी प्राप्ति तो किसी भी हालत में नहीं हो सकती। परंतु अब तुम्हें ये ललचाने वाले विलास, जिनमें तुम डूबी हुई हो, छोड़ने पड़ेंगे। मैं यह माँग सिर्फ आपसे ही कर रहा हूं, यह बात नहीं। मेरी पत्नी ने भी साज-सिंगार छोड़ दिया है। मेरे आश्रम में कई युवतियाँ रहती हैं। उनके माता-पिता उन्हें मुँहमांगे वस्त्राभूषण दे सकते हैं। परंतु वे खादी के कपड़े पहनती हैं और गहनों को तो हाथ भी नहीं लगातीं। अतः आपसे यह तड़क-भड़क और साजसिंगार छोड़ देने की माँग करने में मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा।

उ. हम सब सादगी से जीवनयापन करने को तैयार हैं। कुछ साज सिंगार का तुरंत त्याग कर देंगी तो कुछ धीरे-धीरे। हम में से एक ने तो अपना सर्वस्व रामकृष्ण मठ को अर्पण कर दिया है और अब भिक्षा माँग कर निर्वाह करती है।

प्र. अपना सर्वस्व त्याग देनेवाली इस बहन की मैं इज़्ज़त करता हूं परंतु भिक्षावृत्ति की आवश्यकता नहीं। मैं देख रहा हूं कि आपमें की अधिकांश स्वस्थ हैं और आपके हाथपाँवों में काम करने की शक्ति है। इस हालत में भीख माँगने की अपेक्षा कताई के सहारे सादगी से जीवनयापन करना कहीं अच्छा है। मेरी इच्छा है कि भारत का प्रत्येक पुरुष या स्त्री, फिर चाहे वह अपंग ही क्यों न हो, भीख माँगने में लज्जा का अनुभव करे। चरखा हमारी कामधेनु है। परंतु आप सिर्फ कताई से ही संतुष्ट हो जायें, यह मैं नहीं चाहता। साथ ही धुनाई और बुनाई का काम भी आप सीख लें, तो अपनी आजीविका आप स्वतंत्र और संपूर्ण रूप से अर्जित कर सकती हैं।

उ. हमें योग्य मार्गदर्शन मिले तो हम कुछ भी करने को तैयार हैं।

प्र. आप में से कितनी बहनें आज से ही —इसी समय से —पेशा छोड़ने को तैयार हैं ?

''इसके उत्तर में ग्यारह बहनें उसी समय खड़ी हो गयीं। मैंने उनसे अच्छी तरह सोच लेने को कहा। उत्तर मिला कि उनका निश्चय अटल रहेगा। इस संबंध में वे पर्याप्त सोचविचार कर चुकी हैं। पेशा छोड़ देने का निश्चय तो वे पहले ही कर चुकी हैं। उलझन सिर्फ यह थी कि यह संभव कैसे हो ? अब वह भी नहीं रही। मैंने उनकी और भी कठिन परीक्षा लेने के हेतु से कहा, 'देख लो, और सोच-समझ

कर पक्का निश्चय करें । आपके लिए अब विवाह करके घर-गृहस्थी बसाने की तो संभावना नहीं है । भूतकाल में आपने चाहे जो किया हो, पर अब आप सच्चे मन से पश्चाताप करके शुद्ध जीवन व्यतीत करने का संकल्प करें तो समाज आपके पापों को भूल जायगा । समाज के गृहस्थाश्रम में तो आपको स्थान नहीं मिल सकता । परन्तु आप उससे भी ऊँची उठकर सन्यासिनी का जीवन व्यतीत कर सकती हैं और अपने देश की सेवा कर सकती हैं । यह अधिक कठिन भी नहीं है । आपमें से प्रत्येक बहन यदि भगवान का भजन करते-करते चार घंटे तक कताई-बुनाई का काम लगन से करने का निश्चय करे, तो आपका यह बारीसाल प्रवेश खादी से ढँक जायगा । इतना ही नहीं भारतवर्ष में आपके वर्ग की सब बहनें अपना मलिन पेशा छोड़ कर कताई-बुनाई का पुण्यकार्य करने लग जायँ तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि हमारे देश का उद्धार हो जायगा । मैं आशा करता हूँ कि आप ग्यारह बहनें अपने निश्चय से हटेंगी नहीं । मैं तो मुसाफिर हूँ । दूर के प्रदेश से आया हूँ । परन्तु यहाँ के स्थानीय कार्यकर्ताओं से मैं आपकी सिफारिश कर जाऊँगा और यहाँ की कांग्रेस समिति आपकी भरसक सहायता करेगी । ईश्वर आपका कल्याण करें ।''

''पाठक, आप पुरुष हैं या स्त्री, यह मैं नहीं जानता । यह बयान पढ़ कर आपके हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा, यह भी मुझे नहीं मालूम । उपरोक्त बयान में मैंने परिस्थिति का अपनी शक्ति अनुसार चित्रण किया है । सत्य स्थिति इससे कहीं अधिक भीषण है । शब्दों में वह बात आ नहीं सकती । वास्तविक स्थिति का अंदाज़ा तो आँखों से देखने पर ही लग सकता है । इस प्रश्नोत्तरी के समय मैं उन स्त्रियों को तो संकोच न करने का उपदेश दे रहा था पर खुद शर्म से गड़ा जा रहा था । मन मेरा कहीं और भटक कर पुरुषजाति ने स्त्री पर किये हुए अत्याचारों का और उसके अपराधों का लेखाजोखा लगा रहा था । ये स्त्रियाँ शौकिया या स्वेच्छा से इस पेशे में नहीं आयीं । पुरुष ने और पुरुष-नियंत्रित समाज ने उन्हें मजबूर किया है । अपने विषयभोग की खातिर पुरुष ने इन पर पाशवी अत्याचार किया है । जिसके मन में भले-बुरे की थोड़ी भी संवेदना बची हो, उसका कर्तव्य है —धार्मिक प्रायश्चित्त के रूप में एक उत्तरदायित्व है —कि इन पतिता बहनों की ओर सुधार का हाथ बढ़ा दे । जब-जब इन दुःखियारी नारियों का चित्र मेरी दृष्टि के समक्ष खड़ा होता है, मैं विचार करने पर मजबूर होता हूँ कि वे यदि मेरी ही बहन-बेटियाँ होतीं, तो क्या होता ? फिर सोचता हूँ कि हैं तो वस्तुतः हैं ही । यह कैसे कहा जा सकता है कि वे मेरी —या आपकी —बहन बेटियाँ नहीं हैं । इस हालत में मर्द कहलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति का फर्ज है कि उनके उत्थान में अपना तनमनधन लगा दे । मैंने उन्हें चरखे की शरण दी है । वह उनकी रक्षा का दुर्ग सिद्ध हो सकता है । भारत की असहाय स्त्रियों के लिए आत्मरक्षा का इससे प्रभावी साधन मुझे और कोई दिखाई नहीं देता । परन्तु इस काम को जब तक शहरों के सेवाभावी पुरुष अपना जीवनध्येय नहीं बनाते, और अपने आप को इसके समर्पित नहीं करते, तब तक अधिक प्रगति संभव नहीं है । बारीसाल में, नगर के साधुचरित सत्पुरुष श्री. शरतकुमार घोष और उनके निष्ठावान सहायक श्री. भूपतिबाबू वकील ने इस क्षेत्र में काफ़ी काम किया है । मैंने तो सिर्फ उनके द्वारा तैयार की हुई ज़मीन से थोड़ा-बहुत फायदा उठाया है ।

''बहनों से मेरा निवेदन कुछ अलग प्रकार का है । इस समस्या पर आपको भी विचार करना है । हमारी पतिता बहनों के हृदय में पुरुषों की अपेक्षा आप अधिक सरलता से प्रवेश कर सकती हैं । इन उपेक्षिताओं के उद्धार के लिए आप जब तक कमर नहीं कसतीं तब तक हमारे प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होंगे; और सफलता मिली भी तो, वह आंशिक और अपर्याप्त होगी ।''

जिनकी तपस्या से भारत को स्वतंत्रता मिली, उन महान विभूति ने पतिताओं की समस्या का यह हृदय विदारक निरूपण किया है । इस चित्र के सामने नम्र भाव से एक क्षण के लिए रुक कर, और उसकी सचाई के सामने श्रद्धा से सिर झुका कर हम आगे बढ़ें और इस पूरे प्रश्न का सिंहावलोकन करके कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न करें ।



आठवाँ परिच्छेद

सिंहावलोकन

१

वर्तमान परिस्थितियों का सम्यक् दर्शन

देश-विदेश की गणिकावृत्ति का हमने गहराई से अध्ययन किया और विभिन्न युगों के वेश्या-व्यवसाय को समझने का प्रयत्न किया । उसके मुख्य लक्षण, उसके विविध स्वरूप, उसकी प्रधान प्रेरक शक्तियाँ और समाजजीवन में उसके स्थान को समझने का भी हमने यथामति प्रयास किया । संस्कृति की उत्पत्ति से लगाकर —बल्कि यूं कहिये कि मानवजाति की उत्पत्ति से लगा कर —आज तक गणिकावृत्ति समाज के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ी रह कर मानवसमाज की प्रगति के साथ-साथ आगे किस प्रकार बढ़ती रही है इसका भी हमने सूक्ष्म निरीक्षण किया । साथ-साथ हमने यह भी देखा कि गणिकावृति प्रधान रूप से एक वैयक्तिक अनिष्ट होने पर भी उसे सामाजिक महत्व किस प्रकार प्राप्त हुआ ।

गणिकावृत्ति के कारण समाज के एक छोटे से —तथाकथित उच्च —वर्ग की विशुद्धि शायद सुरक्षित रह सकी हो; पर इससे लाभ बहुत कम लोगों को पहुँचा, और वह भी केवल थोड़े समय के लिए । कुछ इनीगिनी विवाहिता स्त्रियों के शीलसंरक्षण से समाज के पूरे गृहस्थ विभाग की पवित्रता की रक्षा हो



जाती है, यह मान्यता एकांगी और भ्रामक है । गणिकागमन यदि विवाहित पुरुषों के लिए भी सुसाध्य हो, तो उससे उनके गृहों की पवित्रता की रक्षा कैसे होती है, यह समझना आज के युग में मुश्किल है । इसके उपरांत, समाज के एक विभाग की विशुद्धि बनाये रखने के लिए दूसरे विभाग को जानबूझ कर अशुद्धि में धकेल देना सामाजिक न्याय का लक्षण नहीं माना जा सकता । गणिकावृत्ति के समर्थन में समाज के गृहस्थजीवन की पवित्रता बनाये रखने की दलील अब वाकई अर्थहीन और अक्षम हो गयी है । संख्या की दलील भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के इस युग में ग्राह्य नहीं रही । बहुसंख्य स्त्रियों के शील की रक्षा करने के लिए अल्पसंख्य क्या, एक भी स्त्री को यदि गणिकावृत्ति के नरक कुंड में जलना पड़े, तो इससे बढ़कर सामाजिक अन्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती । स्त्री को पतन के मार्ग पर चलने को मजबूर करना उसकी हत्या करने या उसकी बलि चढ़ाने से कम जघन्य अपराध नहीं है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गणिकावृत्ति ने नृत्य संगीतादि कलाओं को जीवित रखा है; समय-समय पर उनका निखार किया है; परिधान और श्रृंगार-प्रसाधन की कलाओं को संवारा है; जीवन को रसमय बनाने वाले संभाषण चातुर्य और रसिकता का पोषण किया है एवं मानवस्वभाव की ऋजुता का दर्शन कराने वाली एक विशिष्ट तहज़ीब को अपने आँसुओं से सींचा है । परंतु प्रश्न यह उठता है कि इसके लिए उसे



कीमत क्या चुकानी पड़ी है । कला और तहज़ीब की सुरक्षा के लिए समाज को यदि अपने नारीवर्ग के स्त्रीत्व और शील का बलिदान देना पड़े, तो वाकई यह सौदा बड़ा महँगा माना जायगा । इतना ही नहीं, नारी के रक्त और आँसुओं में एक ऐसा तीव्र विष घोल देती है कि जिससे उन कलाओं का ही नहीं, पूरे जीवन का वातावरण विषाक्त हो उठता है ।

धर्म के साथ गणिकावृत्ति का संबंध चाहे जिन कारणों से हुआ हो, इससे न तो धर्म का गौरव बढ़ा है, न समाज का, न व्यक्ति का । नारी को पतितावस्था में घसीट ले जाने वाला धर्म सच्चे अर्थों में धर्म नहीं रहता । इसी प्रकार युद्ध, राजनीति, जासूसी और षड्यंत्रों में स्त्री के रूप-यौवन का जो उपयोग हुआ है, उसका भी, उसकी उपयोगिता के बावजूद, समर्थन नहीं किया जा सकता । समाज को यदि स्वार्थवश यह सब करना पड़ा हो, तो इसे उसका गौरव नहीं, बल्कि कलंक ही मानना होगा ।

गणिकावृत्ति परापूर्व से समाज की परछाई बन कर उसके साथ-साथ चलती रही है । परंतु यह मान्य करते हुए भी समाज ने सदा उसे एक अनिष्ट ही माना है । किसी भी कारण से स्त्री को अपने रूप-यौवन का विक्रय करना पड़े, इससे बढ़कर अनिष्ट और हो भी क्या सकता है । यह अनिष्ट किसी युग में चमक-दमक भरा रहा होगा, कभी आकर्षक रहा होगा, और कुछ इनेगिने प्रसंगों पर उपयोगी भी रहा होगा । परंतु इससे उसकी अनिष्टता में कोई फर्क नहीं पड़ता । अनिष्ट सदा अनिष्ट ही रहेगा और गणिकावृत्ति का इस रूप में स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं । इधर कुछ समय से समाज के कतिपय अनिष्टों को आवश्यक या अनिवार्य करार देने की प्रथा चल पड़ी है । इस विचार धारा के प्रवर्तक कुछ विद्वान गणिकावृत्ति को एक सौम्य और सह्य अनिष्ट मानने के पक्ष में हैं । परंतु अनिष्ट को अनिष्ट के रूप में पहचानने के और उसे उसी रूप में स्वीकृत करने के बाद भी उसे सह्य मानने की दलील निर्बलता, स्वार्थ और भ्रम पर आधारित है । आज के वैज्ञानिक युग में समाज की रचना विचारपूर्वक, योजनापूर्वक और जागरूकतापूर्वक हो सकती है, यह मान लेने के बाद भी समाज के किसी अनिष्ट को अनिवार्य या सह्य मानने की बात कही जाय, तो इससे बढ़कर प्रमाद और क्या हो सकता है । यदि कोई तत्त्व अनिष्ट है, तो उसे समाज में से दूर करना ही होगा । उसकी प्रक्रिया बहुत कठिन है, या उसकी बड़ी महँगी कीमत चुकानी पड़ेगी, यह सोच कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना कायरता का लक्षण है । अनिष्ट दूर नहीं होंगे तब तक समाजव्यवस्था दूषित ही रहेगी ।



गणिकावृत्ति जैसे त्रिकालव्यापी अनिष्ट को दूर करने के प्रयत्न नहीं हुए, यह नहीं कहा जा सकता। समय-समय पर धर्म ने उसकी निंदा की है, समाज ने उसकी कड़ी भर्त्सना की है और उसे लगभग अस्पृश्य करार देकर नगर के एक कोने में निर्वासित किया है; एवं राज्यसत्ता ने उसे दंडनीय अपराध माना है। उसपर चौकी-पहरा लगाया गया है और विभिन्न युगों में उसे कोड़े मारने से लगा कर देहांत तक का दंड दिया गया है। सामाजिक स्वास्थ्य और सार्वजनिक आरोग्य की दृष्टि से उसे एक महाभयानक रोगकेन्द्र घोषित किया गया है और उसके सार्वजनीन बहिष्कार की योजनाएँ बनी हैं। समाजशास्त्रियों ने उसका परिचय विकृत कामभावना कह कर दिया है और चिकित्साविज्ञानियों ने उसकी गणना मानसिक रोगों में की है। उसे रोकने के, उसे दबाने के और उसका प्रसार मर्यादित करने के प्रयत्न भी समय-समय पर हुए हैं और उसके शिकंजे में फँसी हुई स्त्रियों का उपचार और सुधार करने के लिए अस्पतालों, रुग्णालयों, आश्रमों, सुधार-संस्थाओं एवं सहायताकेन्द्रों की स्थापना भी व्यापकता से हुई है। अत: इस अनिष्ट का नियंत्रण करने के प्रयत्न समाज ने भी नहीं किये, यह नहीं कहा जा सकता। देशकाल के अनुसार सौम्य या कठोर उपायों की योजना हर युग में हुई है। गणिकावृत्ति के विविध रूपों का निरूपण करते समय उसकी रोकथाम के इन उपायों की चर्चा भी हम यथास्थान कर चुके हैं।

परंतु इन उपाययोजनाओं में एक तत्व समान रूप से दिखाई दिया है। वह यह कि ये सारे उपाय गणिकावृत्ति रूपी अनिष्ट का तात्कालिक नियंत्रण करने में शायद सफल हुए हों, परंतु उन्हें सर्वांगीण, संपूर्ण और स्थायी सफलता कभी नहीं मिली। राजीखुशी से, या अनिच्छा से, इस सत्य का स्वीकार हमें करना ही पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य समाज में से निर्मूलन किये जाने योग्य अनिष्टों की सूची में गणिकावृत्ति का स्थान अब भी सबसे ऊपर है।

समाजव्यवस्था को अस्तव्यस्त कर देने वाले इस अनिष्ट का नाश होना ही चाहिये, यह तो हमने मान लिया। परंतु हम उसकी शक्ति से भी परिचित हैं और यह भी देख चुके हैं कि नष्ट होने के बजाय वह नये-नये रूप धारण करके युग-युग से जीवित रहता आ रहा है। ऐसी प्रबल जिजीविषा वाले इस अनिष्ट को क्षम्य और सौम्य मानने की प्रवृत्ति दंभ और पलायनवाद के सिवा कुछ नहीं है। जब तक हमारी ही किसी बहन-बेटी का इससे प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, तब तक ही यह दंभ टिकता है। परायी बहन-बेटियों को इसके कराल जबड़ों में फँसती देख कर उदारता या सौम्यता की हिमायत करना आसान है। परंतु ऐसी उदारता की संसार में कोई कीमत नहीं। उलटे इससे दूसरे के दुख में तटस्थ और अलिप्त रहने की स्वार्थी और ओछी मनोवृत्ति का ही प्रदर्शन होता है।

रूस में गणिकावृत्ति का निर्मूलन करने के जो प्रयत्न हुए, उनका भी हमने विचार किया। द्वितीय विश्वयुद्ध ने रूस की समाजव्यवस्था पर क्या प्रभाव डाला और उसमें क्या-क्या परिवर्तन किये, यह जानने के साधन आज हमारे पास नहीं हैं। अत: युद्ध की अग्निपरीक्षा में यह प्रयोग किस हद तक यशस्वी हुआ, या लड़खड़ा गया इसका निर्णय करना मुश्किल है। हिंसक युद्ध की अग्निज्वाला से गुज़रने वाली रूसी प्रजा और उसकी सेनाएँ यौन-आकर्षण को किस हद तक काबू में रख सकी थीं यह जाने-समझे बिना उस प्रयोग का सही-सही मूल्यांकन करना संभव नहीं है। अधूरी जानकारी के आधार पर किसी भी प्रयोग का न्याय नहीं किया जा सकता। रूस के सारे सिद्धान्त और सारे तौर-तरीके हमें मान्य हों यह आवश्यक नहीं। रूस की राजनीतिक असहिष्णुता, व्यक्तिस्वातंत्र्य का अभाव और सामाजिक क्रान्ति के लिए हिंसा की आवश्यकता का प्रतिपादन आसानी से गले उतरने वाली बातें नहीं। हमें वे मान्य भी नहीं। परंतु गणिकावृत्ति के क्षेत्र में रूस द्वारा किये गये प्रयोग उनकी ईमानदारी के कारण हमें हमेशा अनुकरणीय लगे हैं। वे सही दिशा में हो रहे हैं और अंतत: सही ध्येय पर ले जायेंगे, ऐसा विश्वास भी हृदय के किसी कोने में बद्धमूल हो गया है।

इन सब उलझनों के कारण गणिकावृत्ति की समस्या एक महाविकट प्रश्न प्रमाणित होती है।

उसकी विकटता इस कारण से और भी भयावह हो उठी है कि अन्ततोगत्वा वह स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण रूपी अनिवार्य और जीवन के मूलभूत तत्व से संबंधित है। जिस प्रकार भूख और प्यास मानव-शरीर के अनिवार्य धर्म हैं उसी प्रकार स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण और उसकी तृप्ति जीवन के आविष्कार की और जीवन के सातत्य की अनिवार्य माँगें हैं। जिस प्रकार क्षुधा और तृषा को संतुष्ट किये बिना छुटकारा नहीं उसी प्रकार इस जीवनव्यापी आकर्षण को भी तृप्त किये बिना छुटकारा नहीं। यह तृप्ति शारीरिक, मानसिक या और किसी स्तर पर होती है यह बहस का विषय हो सकता है; पर उसकी अनिवार्यता के विषय में कोई संदेह नहीं। ऐसे महाप्रबल तत्व पर अवलंबित होने के कारण ही यह संस्था मानवजीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गयी है और उसी में से सत्व चूस कर पोषण प्राप्त करती है। इस हालत में उसके विकास को रोकने के लिए और उससे जन्म लेने वाली विकृतियों का निर्मूलन करने के लिए पूरे जीवन का शुद्धिकरण और सामाजिक मूल्यों का पुनर्विचारण अवश्यक है। मानी हुई बात है कि यह काम अत्यंत सधे हुए हाथों से और सौम्य उपचारों से होना चाहिये। अन्यथा, जीवनतंतु से लिपटी हुई विकृतियों को दूर करने के प्रयत्न में तंतु के ही छिन्न हो जाने का खतरा रहेगा।

२

काम-भावना के प्रति समाज के दृष्टिकोण का पुनर्विचारण

गणिकावृत्ति के निर्मूलन के लिए जिस प्रकार एक सर्वस्पर्शी उपाययोजना की आवश्यकता है उसी प्रकार हमारे समाज के कामविषयक दृष्टिकोण में भी आमूल परिवर्तन और पुनर्विचार की आवश्यकता है। मनुष्यजाति के बहुत बड़े भाग को आज भी इसका सही-सही ज्ञान नहीं है। सभ्यता की दिशा में कुछ आगे बढ़ जाने पर मनुष्यजाति ने सदा से इसकी कल्पना एक अस्पष्ट कोहरे के रूप में ही की है यद्यपि इसका अनुभव उसे हमेशा एक प्रचंड शक्ति के रूप में हुआ है। आधुनिक यौन-विज्ञान का कहना है कि कामवासना का प्रवाह बाल्यावस्था, किशोरावस्था, यौवन और वृद्धावस्था आदि मनुष्य जीवन की सभी अवस्थाओं में सातत्य से बहता रहता है। परंतु उसकी स्पष्ट अनुभूति और जीवन के अणु-अणु को मथ डालने वाली उसकी प्रचंड बाढ़ यौवन में ही आती है और यौवन के सिवा अन्य किसी अवस्था में उसका आविर्भाव विकृति और रोग का लक्षण माना जाता है। इस नियम को मान लें, तो यही कहना पड़ेगा कि यह रोग या विकृति आज के समाज की नस-नस में व्याप्त है। इस महातत्व के आसपास का रहस्यमय आवरण तो अब शायद किशोरावस्था के आरंभ में ही हट जाता है। इसे विकृति माना जाय, या सामाजिक परिवेश का अनिवार्य परिणाम, इस विवाद को विद्वानों पर छोड़ दें, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इससे उत्पन्न परिणाम नितांत स्वस्थ नहीं रहे हैं। रहस्य या गूढ़ता का परदा दूर हो कर किसी तत्व का उसके शुद्ध रूप में दर्शन हो जाय, यह तो वांछनीय है। परंतु यह हो नहीं पाया। आधुनिक समाज में यहाँ से एक नयी प्रक्रिया शुरू हो जाती है और कामवासना के इर्दगिर्द लज्जा, मर्यादा और गोपनीयता के अनेक नये आवरण लिपट जाते हैं। परिणामस्वरूप, इस भावना के आविष्कार की निष्पत्ति जहाँ समाज के अध्ययन के विषय और उसकी मुख्य प्रेरक शक्ति में होनी चाहिये, वहाँ वह मज़ाक, गालीगलौज, विद्रूप और अश्लीलता का विषय बन जाती है। समाज की इस मनोदशा को देखते हुए यह परमावश्यक है कि नौजवान पीढ़ी में कामवासना के प्रति—जीवसृष्टि की उत्पत्ति के आद्यकरण रूप—प्रेरणा के प्रति—आदर, सम्मान और पूजनीयता की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। खतरा यहाँ भी उपस्थित होता है। हम देख चुके हैं कि इस पूज्यभाव की परिणति शिश्नपूजा, योनिपूजा, संभोगपूजा और अन्य अनेक प्रकार के वाममार्गों में होकर अंतत: गणिकावृत्ति का ही विकास होने की संभावना रहती है। इतिहास इस बात का साक्षी है; अत: भविष्य में इस प्रकार की भूलें न हों, इसकी सावधानी कदम-कदम पर बरतनी होगी।





कामभावना के प्रति रहस्यमय पूज्यभाव रखने के भय स्थानों और तज्जन्य दुष्परिणामों से बचने के लिए उसके सच्चे स्वरूप और सही लक्षणों की जानकारी आवश्यक है । देहसुख की पराकाष्ठा में परिणत होनेवाली यह भावना अत्यंत अटपटी है इसमें कोई संदेह नहीं । ज़रा सा भी स्खलन होने पर यह अनेक प्रकार की विकृतियों को जन्म दे सकती हैं यह भी सही है । परंतु साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता है कि मानव-संस्कृति और मानव-चेतना के केन्द्रबिन्दु का स्थान अनादि काल से यही भावना ग्रहण करती आयी है । स्त्री और पुरुष के परस्पर आकर्षण और संबंध की बुनियाद पर ही संस्कृति की पूरी इमारत चुनी जाती है । काव्य, साहित्य, संगीत, कला, शृंगार, परिवार और समाज: संस्कृति के इन सारे तत्वों का निरूपण अनादि काल से स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण की पार्श्वभूमि में ही हुआ है । आज तक का इतिहास इस बात का साक्षी है और मनुष्यप्राणी की शरीररचना और भावरचना में जब तक कोई उत्क्रान्तिमूलक परिवर्तन नहीं होता, तब तक इस स्थिति में अंतर पड़ने की रंचमात्र भी संभावना नहीं है । इस हालत में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों को अधिक शुद्ध, अधिक स्वस्थ, अधिक संवादी और अधिक बुद्धिगम्य भूमिका पर स्थापित करना हमारे समाज की और हमारे युग की अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है । विवाह प्रथा स्त्री-पुरुषों के संबंधों के लिए सर्वाधिक सुविधाजनक और प्रतिष्ठित संस्था मानी गयी है । परंतु वह उन्हें पूर्णत: विशुद्ध और संतोषप्रद नहीं बना सकी है । विवाह की धार्मिक विधि और शिष्ट समाज द्वारा उसकी स्वीकृति में ही यदि कामभावना की परिपूर्णता रही होती, तो गणिकावृत्ति या व्यभिचार के लिए मानवसमाज में स्थान ही न रहता । परंतु विवाह की विधि या उसे प्राप्त सामाजिक मान्यता इस जिम्मेदारी को पूरी नहीं कर सकी है और स्त्री-पुरुष के यौन-संबंधों की विशुद्धता या तृप्ति की जामिन नहीं बन सकी है । यौन-आकर्षण देह की अनिवार्य आवश्यकता है और उसके बिना मनुष्यप्राणी का काम चल नहीं सकता, यह तो हमने मान लिया है; परंतु उसकी परिपूर्ति और विशुद्धता के लिए क्या करना आवश्यक है, इसका सर्वांगीण विचार होना अभी बाकी है । विवाह की निष्फलता सिद्ध करनेवाली घटनाएँ हमारे समाज में आये दिन होती रहती हैं । वे और काल्पनिक साहित्य की तत्सम कथाएँ पुकार-पुकार कर इसी पुनर्विचारण की माँग करती हैं । स्त्री और पुरुष के संबंध अग्निपूत स्वर्ण की तरह पवित्र हो सकें, तो ही विवाह का उद्देश्य सफल माना जा सकता है और तभी व्यभिचार और गणिकावृत्ति का निर्मूलन हो सकता है । परंतु इस संबंधों की स्थापना ऐसी विशुद्ध भूमिका पर करने में मनुष्यजाति को अब तक सफलता नहीं मिली है । पारिवारिक कलह, स्त्री-पुरुष का आपसी मनमुटाव, अवांछित संतति, यौन-रोग आदि विकृत तत्वों का जन्म इसी असफलता में से होता है और एक दूसरे से असंतुष्ट रहनेवाले पति-पत्नी व्यभिचार या गणिकावृत्ति की मृगमरीचिका में सुख ढूंढ़ने का वृथा प्रयास भी इसी असफलता के कारण करते हैं ।

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध में प्रकृति ने माधुर्य का इतना अधिक सिंचन किया है कि वह मनुष्य के चार पुरुषार्थों में से एक बन गया है । स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंध से उत्पन्न सुखद संवेदन का मुकाबला देह, मन या बुद्धि की और कोई अनुभूति नहीं कर सकती । यह संवेदना वैसे तो प्राणीमात्र में पायी जाती है, परंतु मनुष्यप्राणी इससे इतना अधिक मोहित हुआ है कि इसके सामने उसे संसार के सारे रस फीके मालूम देते हैं और वह रातदिन इसी में डूबा रहना चाहता है । वह यह भूल जाता है कि किसी भी सुख का अतिरेकी आस्वादन उसके ताने-बाने को ही छिन्न विच्छिन्न कर देता है । देह-भोग की अतिशयता तो अनिवार्य रूप से शैथिल्य, रोग और अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियों में परिणत होती है । देहसुख की उच्चतम, उत्कटतम और सुंदरतम अनुभूति उसके संयमी, प्रमाणबद्ध और कलामय उपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । जिस तरह पेटू मनुष्य का भकोसना उसे भोजन के आनंद से वंचित रखता है उसी प्रकार विषयसुख का अतिप्रयोग उसे स्वर्गीय अमृतफल के बजाय भिनभिनाते गूलर की श्रेणी में ला बैठाता है । काम-आचार देह-मन को सुख पहुँचाने वाली आनंदमय कला है; अकालग्रस्तों की खाऊँ-खाऊँ नहीं । यह मनुष्यप्राणी की एक शोकांतिका है कि सभी स्तर के स्त्री-पुरुषों को इसका अनुभव होता रहने पर भी वे

अतिरेक की ही दिशा में दौड़ते हैं जिसके परिणाम स्वरूप जीवन की यह अमूल्य और अतुलनीय मौज रोज़मर्रा की एक फीकी और निर्माल्य बेगार बन जाती है ।

गणिकागमन के पीछे इस चरम कोटि के देह-सुख को प्राप्त करने की भावना सन्निहित है । इस परम सुख को प्राप्त करने में जब विवाह या व्यभिचार के प्रयत्न कारगर नहीं होते, तब असंतुष्ट पुरुष गणिकावृत्ति की ओर लपकता है । उसका वैविध्य उसे आकर्षक बनाता है और उसमें छिटकी हुई नृत्यसंगीतादि कलाओं की दमक इस आकर्षण को दुर्निवार्य बना देती है । यही कारण है कि गणिकावृत्ति परापूर्व से लगाकर आज तक चली आयी है और स्त्री-पुरुष के संबंधों की स्थापना विशुद्ध और सामंजस्यपूर्ण भूमिका पर होने तक चलती ही रहेगी । गणिकावृत्ति के विलुप्त होने पर हीं मनुष्य-समाज यह दावा कर सकता है कि उसकी कामभावना विशुद्ध हो गयी है, उसकी वासना प्रेम में रूपांतरित हो गयी है और उसकी भोगवृत्ति संचय किये हुए बल, संस्कार और कला का परिपाक बन सकी है । जिस भोग से देह को परम सुख मिले; जिसमें से स्वस्थ संतति की सृष्टि हो और जो मन को चरम संतोष पहुँचाये उसे ही उदात्त कोटि का भोग कहा जा सकता है । भोग का यह उदात्तीकरण उसे उपवास के बाद के पारण का रूप देने से संभव हो सकता है; अन्नकूट के ढेर का रूप देने से नहीं ।

३

ब्रह्मचर्य की नयी व्याख्या और उसकी पुनर्स्थापना

इस संबंध में हमें आर्य विचारधारा में ही एक महत्वपूर्ण भावना मिल जाती है जिसे वीर्यरक्षा या ब्रह्मचर्य कहा जाता है । कामभावना की:

श्रवणं कीर्तनं केलि : प्रेक्षणं गुह्य ! भाषणम्
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।

इत्यादि आठ प्रकार की अभिव्यक्ति के निरोध को ही अष्टांग ब्रह्मचर्य कहा जाता है । मन को उसकी सामान्य निर्मल अवस्था से कामातुर अवस्था तक ले जाने वाले इन आठ मार्गों का निग्रह करने की क्षमता ब्रह्मचर्य का प्रधान लक्षण है । रसिकों कलाकारों, सौंदर्यपिपासुओं और आधुनिक नीतिमत्ता अनुयायिओं की इसके साथ पटरी बैठना मुश्किल है । पश्चिम की नवनीतिमत्ता तो ब्रह्मचर्य के नाम से भी भड़कती है । उसके मन ब्रह्मचर्य एक निष्ठुर और निष्फल पुरानी भावना है जो स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक संबंधों के बीच व्यर्थ ही अड़ंगा लगाती है ।

नीतिमत्ता की पुरानी व्याख्या को मान्य करना या नयी को, यह वैयक्तिक विश्वास की बात है । परंतु एक बात निस्संदिग्ध है कि स्त्री-पुरुष का आकर्षण दुर्निवार्य होने के कारण ही उसका नियंत्रण अधिक आवश्यक है । किसी भावना के अनिवार्य होने का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि कदम-कदम पर तत्संबंधी हर मनोविकार के हर उद्रेक के वशीभूत हो जाया जाय । यौन-व्यवहार स्त्री और पुरुष, दोनों का सहकार और दोनों की सम्मति चाहता है । अकेले पुरुष की या अकेली स्त्री की उमंग को, फिर चाहे वह कितनी ही उत्कट क्यों न हो, यौन-भावना का निर्णायक तत्व नहीं माना जा सकता । इसमें जिस प्रकार जबरदस्ती को स्थान नहीं है, उसी प्रकार प्रलोभन, छल-फरेब, या क्रय-विक्रय को भी कोई स्थान नहीं । इस आकर्षण को विशुद्ध और उसकी निष्पत्ति को आनंदमय बनाने के लिए शिक्षा संस्कार, कला और सुघड़ता की आवश्यकता कदम-कदम पर पड़ती है । विचारपूर्णनियंत्रण से रहित इंद्रियानुभव को आनंदानुभूति की उच्चतम कक्षा पर पहुँचाना संभव नहीं । अनगिनत विवाहसंबंधों की निष्फलता का प्रधान कारण

अंकुशहीन विषयसेवन ही होता है । जिस प्रकार जीवन की रक्षा करने के लिए हमें उसकी यत्नपूर्वक देखभाल करनी पड़ती है उसी प्रकार जीवन का सर्वश्रेष्ठ सुख देने वाले इस तत्व को संजोये रखने के लिए बुद्धिपुरस्सर संयम की आवश्यकता पड़ती है ।

यौन-आकर्षण अनिवार्य है, यह मानने से तो कोई इनकार नहीं कर सकता । परंतु इससे उसका दुरुपयोग या अतिउपयोग सिद्ध नहीं होता । काममावना अनिवार्य है, यह फतवा देकर चौबीसों घंटे उसके पोषण, उद्दीपन और शमन में रत रहनेवाला मनुष्य देखते-देखते मनुष्य नहीं रहता और कुछ ही दिनों में जीवित मुर्दे का रूप प्राप्त करके परिवार और समाज पर भाररूप बन जाता है । अतः स्वस्थ मनुष्य का कर्तव्य है कि वह काममावना को अनिवार्य मानने के साथ-साथ उसके नियंत्रण को भी अनिवार्य माने । अनियंत्रित काममावना अंततः रोग, नपुंसकता, अवांछित या रोगग्रस्त संतति, अपराध, उन्माद, मानसिक विकृति, व्यभिचार और गणिकावृत्ति जैसे अनिष्टों को ही जन्म देती है । वैयक्तिक दृष्टि से देखें, या व्यक्ति के जीवन के समाज पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से देखें, इस दुर्जेय आकर्षण को संयम की लगाम से काबू में रखने की आवश्यकता अनिवार्य सिद्ध होती है । अनिवार्य आवेगों और दुर्निवार्य मनोविकारों को अपना स्वाभाविक मार्ग ग्रहण करने के लिए पूर्णतः बेलगाम छोड़ देने की हिमायत करनेवाले लोग न तो जीवन को समझ पाये हैं, न मनुष्य समाज की रचना को । जो भी ईश्वरदत्त या प्रकृतिदत्त शक्तियाँ मनुष्य को मिली हैं, वे इस प्रकार लुटा देने के लिए नहीं मिलीं, बल्कि उनका बुद्धिपुरस्सर उपयोग करके व्यक्ति और समाज का उन्नयन करने के लिए मिली हैं । निरंकुशता या अनियमितता इन शक्तियों का संपूर्ण उपयोग नहीं होने देती । अव्यवस्था नियंत्रण के अस्वीकार का ही दूसरा नाम है । यह अव्यवस्था यदि स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण, उनके कामव्यवहार, और यौन-भावना के विवेकपूर्ण विनियोग के क्षेत्र में प्रवेश कर जाय, तो समाज की बुनियादें हिल उठती हैं । इसका परिणाम अनिवार्य रूप से यही निकलता है कि मनुष्य को सच्चा वैयक्तिक सुख नहीं मिलता; सुख की खोज में उसे निरंतर भटकते रहना पड़ता है; और इसके बाद जो सुख उसे मिलता है, वह सुख न हो कर सुख का आभासमात्र होता है । सच्चे सुख के अभाव में सुख की मरीचिका के पीछे दौड़ने का प्रयत्न धुएँ को बोरे में समेटने के प्रयत्न के समान निरर्थक सिद्ध होता है ।

पुरानी ब्रह्मचर्य-भावना में यौन-आकर्षण के निरोध का प्रयत्न अत्यंत कठोर और कुछ अवास्तविक रहा, यह सही है । परंतु अतिनिरोध के प्रयत्नों को दुरुपयोग या अति उपयोग की अपेक्षा अधिक हानिकारक किसी भी हालत में नहीं माना जा सकता । दूसरे, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि इस प्रकार के कठोर ब्रह्मचर्य पालन की भावना विशिष्ट देशकाल की उपज थी जिसमें उसके लिए जीवन का कुछ भाग निश्चित करके उसे अलग आश्रम का महत्व दिया गया था । उस युग के लिए यह व्यवस्था वाकई बड़ी व्यवहार्य और दूरदृष्टिपूर्ण थी । शरीर और बुद्धि के परिपक्व होने तक व्यायाम, ब्रह्मचर्य और अध्ययन के सहारे जीवन-व्यवसाय के लिए उपयोगी सामग्री और जीवनयात्रा के लिए आवश्यक पाथेय संचित करना, और बाद के आश्रमों में उसका वैयक्तिक सुख और सामाजिक सुख के लिए विनियोग करने की आश्रमव्यवस्था में ढूंढने पर भी दोष दिखाई नहीं देता । आश्रमव्यवस्था में जीवन-सामर्थ्य के संचय के समान उसके व्यय को भी एक कला माना जाता था और उसे भी उतना ही महत्व दिया जाता था । हमारे कामशास्त्र और कामविज्ञान की रचना इसी बुनियाद पर हुई है । आज की अव्यवस्था और मन को विषण्ण कर देने वाली अनेकविध विषमताओं की तुलना में नियमों द्वारा अनुशासित जीवन-व्यवस्था को अधिक हानिप्रद कैसे माना जा सकता है ।

आश्रम-व्यवस्था का उपयोग अधिकांश में अधिकारप्राप्ति के लिए होता था । प्रत्येक आश्रम के कर्तव्य उसके बाद के आश्रम के अधिकारों की क्षमता प्रदान करते थे । कम से कम इस व्यवस्था का उद्देश्य तो यही था । किशोरवयस्क बालकों में यौन-भावना के अकाल आविष्कार को आज भी विकृति ही माना जाता है । इसी प्रकार साठ से ऊपर के गलितगात्र लोगों की प्रेमचेष्टाएँ भी हास्यास्पद मानी जाती हैं । अतः ब्रह्मचर्य की भावना संपूर्ण कामनिरोध पर आधारित है यह कहनेवाले उस व्यवस्था को ठीक तौर से

समझ ही न पाये हों ऐसा मालूम देता है । ब्रह्मचर्य की स्वस्थ व्याख्या काम-व्यवहार के लिए पात्रता प्राप्त करने तक ही सीमित है । बिना अधिकार के काम-भावना से खिलवाड़ करने वाले स्त्री-पुरुष अपने और अपने जीवनसाथी के सुख के साथ भी खतरनाक खिलवाड़ करते हैं । यह पात्रता या अधिकार कोई लंबी-चौड़ी तपस्या या दुस्साध्य कायाकष्ट की अपेक्षा रखते हों सो बात भी नहीं । देह को स्वच्छ, स्वस्थ, सुदृढ़ और निरोगी बनाना ही इस भावना का एकमात्र उद्देश्य हो, तो इसमें अनुचित या असाध्य क्या है ? कामभावना को मनुष्यमात्र की सहज और स्वाभाविक स्फुरणा माननेवालों को अपने आपसे एक प्रश्न अवश्य पूछना चाहिये कि इस स्फुरणा का विनियोग करने का साधन —उनका शरीर —स्वस्थ और सुदृढ है या नहीं । इसका उत्तर यदि नकारात्मक हो, तो समझ लेना चाहिये कि उच्छृंखल कामभावना के हिमायतियों का कामजीवन अधिकांश में अस्वस्थ और अनधिकारी होता है ।

यह अधिकार या पात्रता प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिये, इसका निर्णय हमारे समाजविधायकों और शिक्षाशास्त्रियों को करना होगा । शरीर के अंग-अंग को उत्तेजित और मन के कोनेकोने को प्रक्षुब्ध कर देने वाली कामभावना आखिर है क्या, यह समझना प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए आवश्यक है । सृष्टि और उसके रहस्य की बातें करनेवाला मनुष्य अपने मन और देह के संबंध में कितनी कम जानकारी रखता है ! उसे अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाने वाले मन और देह की ओर ही आज का मनुष्य पीठ फेर कर बैठा है । हममें से अधिकांश की यही दशा है । परंतु इस तरह आँखें मूंद लेने से काम चलेगा नहीं । यह सुषुप्ति कामविज्ञान की शिक्षा और ब्रह्मचर्य की पुनर्प्रतिष्ठा द्वारा आसानी से दूर हो सकती है ।

यौन-विज्ञान की शिक्षा विद्यार्थी अवस्था में ही दी जानी चाहिये या नहीं, इस विषय में विभिन्न मत प्रदर्शित हुए हैं । परंतु यह मतभेद कार्य की पद्धति या उसके योग्य समय के विषय में ही है; उसकी आवश्यकता या उपादेयता के विषय में नहीं । जीवन का बहुत बड़ा भाग काम से संचालित और उसके परिणामों से प्रभावित होता हो, तो उसके सही ज्ञान की उपादेयता के संबंध में मतवैभिन्न्य की संभावना नहीं । यह सही है कि कामविज्ञान की शिक्षा अत्यंत नाजुक विषय है जिसमें शिक्षक या शिक्षार्थी की ज़रा सी भी त्रुटि अगणित अनिष्टों को जन्म दे सकती है । परंतु दूषित शिक्षापद्धति से जन्म लेने वाले अनिष्ट अज्ञानजन्य अनिष्टों से अधिक खतरनाक नहीं होंगे । ब्रह्मचर्य जिस प्रकार कामभावना की अभिव्यक्ति के लिए एक अनिवार्य पूर्व तैयारी है, उसी प्रकार कामविज्ञान की जानकारी उसकी कलामय परिपूर्ति के लिए एक आवश्यक पूर्व परीक्षा है ।

इस विचारधारा को कुछ आगे बढ़ायें, तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य के सहारे ही समाज की कामव्यवस्था को स्वस्थ, सुव्यवस्थित और सुखद बनाया जा सकता है । ब्रह्मचर्य की भावना स्वस्थता और व्यवस्था की विरोधी तो किसी हालत में नहीं; साथ ही —जैसा कि कुछ लोग मानते हैं —वह सौंदर्य और आनंद की भी विरोधी नहीं । देह और मन को सर्वांगसंपूर्ण सौष्ठव प्रदान करनेवाली किसी भी व्यवस्था को सौंदर्य विरोधिनी कैसे माना जा सकता है ? रही शुद्धि और संयम की बात । सो शुद्धता और संयम के अभाव में किसी भी वस्तु का सही रसास्वादन हो ही नहीं सकता । इन सब बातों को देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि शारीरिक और बौद्धिक तेज के साथ ब्रह्मचर्य को अविच्छेद्य रूप से जोड़ने में आर्य विचारधारा ने कोई ग़लती नहीं की । जो तेजस्वी नहीं है वह ब्रह्मचारी नहीं हो सकता; और जो ब्रह्मचारी नहीं है वह तेजस्वी नहीं हो सकता । ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम में भी कम नहीं होती । यहाँ आकर सिर्फ उसकी व्याख्या बदल जाती है और कामपुरुषार्थ का समाजस्वास्थ्य के लिए उपयोग करनेवाला गृहस्थ सच्चे अर्थों में ब्रह्मचारी कहलाता है । कामवासना का प्रयोग परिपूर्ण देहसुख और संपूर्ण मन:शांति देनेवाली शक्ति के रूप में करनेवाला भोगी; योगी से किसी तरह कम नहीं ।

इन विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि आज की समाजव्यवस्था और उसकी कामसंबंधी



मान्यताओं में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है । आज का मनुष्य, क्या व्यक्ति के रूप में और क्या समाज की इकाइ के रूप में, दुर्बल, रोगिष्ठ, अस्वस्थ और रूपहीन है । उसे सुदृढ़, निरोगी, स्वस्थ और सुंदर बनाने में विशुद्ध और स्वस्थ काममावना सबसे अधिक सहायक हो सकती है । दूसरी ओर, ज्यों-ज्यों वह सबल, स्वस्थ और सौंदर्ययुक्त बनता जायगा, त्यों-त्यों उसकी काममावना भी स्वस्थ और विशुद्ध होती जायगी । काममावना की स्थापना जब तक विशुद्धि और स्वस्थता के धरातल पर नहीं होगी, तब तक वह गणिकावृत्ति का अक्षय्य उत्पत्ति स्थान बनी रहेगी । उसकी विशुद्धि और स्वस्थता उसके नियंत्रण पर आधार रखती हैं । अत: यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की भावना को नवीन दृष्टिकोण से अपनाने पर ही समाज में सुंदर और सुदृढ स्त्री-पुरुषों का निर्माण होगा जिसके परिणाम स्वरूप गणिकावृत्ति अपने आप विलीन हो जायगी ।

ब्रह्मचर्य के प्रति यह नवीन दृष्टिकोण क्या होना चाहिये, इसे ज़रा गहराई से समझ लें: —

१. ब्रह्मचर्य की इस भावना में रस और सौंदर्यभावना अवश्य उपस्थित रहेगी । लेकिन यह भावना काम और सौंदर्य के प्रति पूज्यभाव पर आधारित होगी; अश्लीलता या क्षणिक आवेश पर नहीं ।

२. अतिशुद्धि का दुराग्रह, रुक्षता, नीरसता या यौन-प्रश्नों का उल्लेख करने में भी 'शांतम् पापम्' का मिथ्याडंबर इसमें नहीं होगा ।

३. अनियंत्रित कामव्यवहार की उच्छृंखलता या अमर्याद उपभोग की लोलुपता को इसमें कोई स्थान नहीं होगा ।

४. दुर्बल, अस्वस्थ, निस्तेज और रूपविहीन देह के लिए जिसमें शर्म की भावना होगी और दुर्बलता, शैथिल्य रूप-विहीनता या स्फूर्तिहीनता को ब्रह्मचर्य भंग का ही परिणाम माना जायगा ।

५. सब प्रकार के रतिज रोग जिसमें मर्यादाभंग के अनिवार्य परिणाम माने जा कर दया के बजाय तिरस्कार और घृणा के पात्र होंगे एवम् असंयम को जिसमें सामाजिक लज्जा का विषय माना जायगा ।

६. सहशिक्षा, मिले-जुले खेलकूद और उद्योग-धंधे या नौकरी पेशे के निमित्त होनेवाले स्त्री-पुरुष के संपर्क को जिसमें अनुचित नहीं माना जायगा; बल्कि इस सहवास में से एक दूसरे के उत्तमोत्तम गुणों को प्रकट होने का मौका मिलेगा और एक-दूसरे के प्रति रहस्य का वातावरण नष्ट होकर संयम और मर्यादा की बुनियाद पर परस्पर स्वस्थ संबंधों की स्थापना होगी ।

७. कुचकटिनितंब के घेरे में ही चक्कर काटने वाले साहित्य एवं कामोद्दीपन में ही अपनी सार्थकता मानने वाले मनोरंजन के प्रकारों का जिसमें आमूल पुनर्विचार होगा; और सामाजिक व्यक्ति के अवकाश का विनियोग जिसमें अधिक सुंदर, अधिक कलामय और अधिक सर्वोपयोगी प्रवृत्तियों में होगा ।

८. जिसमें शारीरिक श्रम, व्यायाम, खेलकूद, कवायद, पर्यटन, गिर्यारोहण आदि स्वस्थ रंजनप्रकारों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा और मनुष्य की शक्तियों का उपयोग जिसमें समाज की पुर्नघटना के लिए ही किया जायगा ।

९. जिसमें बालकों के जन्मप्रमाण को योजनाबद्ध रूप से नियमित किया जायगा । निरंकुश, अमर्याद, अनावश्यक, योजनाविहीन, रोगग्रस्त, दुर्बल और भाररूप संतति उत्पन्न करने में लोगों को शर्म आयेगी और इस शर्म को प्रभावी बनाने में लोकमत पूरा-पूरा योगदान देगा ।

संततिनियमन का प्रश्न उपस्थित होते ही कुछ विवादग्रस्त विचारधाराओं का भी मुकाबला करना पड़ेगा । अनावश्यक संतति का निरोध करने में तो कुछ इनेगिने धर्मांधों को छोड़कर सभी सहमत हैं । परंतु उसके नियोजन के संबंध में दो प्रमुख विचारधाराएँ हैं: —

(अ) संताननिरोध के कृत्रिम उपायों का स्वीकार ।

(अ) संतानेच्छा के अभाव में संभोग का ही बहिष्कार ।

इनमें से स्वाभाविक मार्ग तो निश्चित रूप से दूसरा है । परंतु इसका पालन सर्वसाधारण के बूते से बाहर है । अत: एक बड़े अनिष्ट से लड़ने के लिए एक छोटे अनिष्ट के साथ समझौता करने के रूप में ही सही, पर संताननिरोध के कृत्रिम साधनों का समर्थन किये बिना छुटकारा नहीं । धर्मभावना का अनावश्यक हस्तक्षेप होने दिये बिना, इस प्रश्न का एक सामाजिक समस्या के रूप में ही निराकरण होना आवश्यक है । देह-संभोग में निहित आत्यंतिक सुख और उससे संबंधित संतानोत्पत्ति रूपी जिम्मेदारी के बीच समतुला स्थापित करने का कोई प्राकृतिक उपाय समय जाते मनुष्यजाति के हाथ लग जाय तो आश्चर्य नहीं । परंतु जब तक ऐसा कोई उपाय उपलब्ध नहीं, तब तक कृत्रिम साधनों की सहायता लेनी ही पड़ेगी ।

भारत के सर्वोच्च श्रद्धास्थान महात्मा गांधी जैसे युगपुरुष ने और वैद्यक विज्ञान के कई विद्वानों ने संतान निरोध के कृत्रिम उपायों का विरोध किया है यह सही है । इसी प्रकार इन साधनों का प्रचार बढ़ने पर विलासवृत्ति और भी निरंकुश और अमर्याद हो उठेगी यह आशंका भी साधार है । इन दोनों तर्कों का खंडन करने की कोई युक्ति हमारे पास नहीं है । अभी तो सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि अनियंत्रित संतति के बोझ से दबी हुई विलासवृत्ति की अपेक्षा संततिरहित भोगविलास कुछ अधिक वरेण्य हो सकता है । दूसरी परिस्थिति में सिर्फ एक अनिष्ट का सामना करना पड़ता है जबकि पहली में दो का ।

१०. जिसमें ब्रहमचर्य की पुरानी भावना चाहती है वैसे संयम और नवीनविचार-धारा चाहती है वैसे रसास्वादन के बीच सामंजस्य और संवादिता उत्पन्न होकर दोनों के बीच के विरोध का धीरे-धीरे शमन हो जायगा । इसके परिणाम स्वरूप यौन-आकर्षण और कामभावना का उदात्तीकरण होकर वह सच्ची प्रेम-भावना का रूप धारण करेगी और उपभोग के अतिचार में अपने आपको व्यर्थ नष्ट कर देने के बजाय विशुद्ध मानस और विशुद्ध आचरण में परिणत होगी । इस प्रक्रिया के सहारे उपभोग की निष्पत्ति असंतोष, कटुता, शैथिल्य या पश्चात्ताप में न होकर वह निर्मल तेजस्विता और अक्षय आनंद का साधन बन सकेगा । उपभोग के आवर्तनों की संख्या बिलकुल कम हो जायगी और स्त्री-पुरुष के बीच भोग्या-भोक्ता, शिकार-शिकारी या विक्रेता-खरीदार का संबंध समाप्त हो जायगा । सच्चे आकर्षण में दोनों की समानता और दोनों का सहकार अपेक्षित होता है । यह सहकार संयम और मर्यादित भोग के मणिकांचनयोग से ही प्राप्त हो सकेगा ।

ब्रहमचर्य की नवीन भावना का रूप ऐसा या इससे मिलता-जुलता होना चाहिये । इस दृष्टि के अभाव में कामवासना का विशुद्धिकरण संभव नहीं; और स्वस्थ एवं विशुद्ध कामतृप्ति के अभाव में गणिकासंस्था का निर्मूलन संभव नहीं ।

४

आर्थिक और सामाजिक पुनर्घटन

वैयक्तिक स्तर पर इस कोटि के आचरण का विकास करने के लिए समाजरचना को भी आमूल बदलना होगा । व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित घटक हैं और एक में परिवर्तन हुए बिना दूसरे में परिवर्तन होना संभव नहीं । तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो, इन दोनों में सामाजिक परिवर्तन का महत्व कहीं अधिक है क्योंकि उचित सामाजिक परिवेश के अभाव में व्यक्ति को कदम-कदम पर अगतिकता या विरोध का मुकाबला करना पड़ेगा । वैयक्तिक स्तर पर प्रयत्न करके थोड़े-बहुत लोगों को ब्रहमचर्य-भावना की उपरोक्त नयी व्याख्या में दीक्षित कर लिया जाय, तो भी सामाजिक चौखटे में परिवर्तन हुए बिना विकृत कामभावना और तज्जन्य गणिकावृत्ति के क्षेत्र में अधिक परिवर्तन नहीं होगा । जिस अर्थ-व्यवस्था में एक

ओर तो आवश्यकता से अधिक धन हो, और दूसरी ओर पेट का खड्डा भी न भर पाने वाला भयानक दारिद्रय हो, उसमें नारीदेह का क्रय-विक्रय हमेशा सहज और सुलभ रहेगा । अर्थ का असमान विभाजन वर्तमान जगत के अनेक अनिष्टों का मूलकारण है । गणिकावृत्ति इन्हीं अनिष्टों में से एक है ।

दूसरी ओर, जिस समाजरचना के अंतर्गत पुरुष के पास तो इतना अधिक धन हो कि इच्छा होते ही वह नारीदेह को खरीद सके, और स्त्री के पास उपजीविका के साधनों का इस हद तक अभाव हो कि धन की आवश्यकता पड़ने पर देह-विक्रय के सिवा उसके लिए और कोई मार्ग ही न रहे, तो आर्थिक शक्ति को पूर्णतः पुरुष के हाथों में केन्द्रित कर देनेवाली यह अव्यवस्था कामवासना को शीघ्र ही गणिकावृत्ति में परिणत कर देगी । यह अनवस्था यदि समाज में स्थायी हो जाय, तो गणिकावृत्ति का विकास और विस्तार करनेवाले तत्व उसमें अपने आप पनपते रहेंगे । अतः गणिकावृत्ति का निर्मूलन करने का और आदर्श ब्रह्मचर्य पर आधारित स्वस्थ काम-भावना की स्थापना करने का एकमेव सामाजिक उपाय यह है कि आर्थिक विषमताओं को नष्ट कर दिया जाय । इस बुनियादी सुधार के अभाव में गणिकावृत्ति का निर्मूलन या नियंत्रण करने के सारे उपाय आकाशकुसुमवत सिद्ध होते रहेंगे ।

यह सत्य मानव इतिहास के प्रत्येक युग में प्रमाणित होता रहा है । गणिका-व्यवसाय विषयक कानून बनाने के, उस पर अंकुश लगाने के, उसका सामाजिक बहिष्कार करने के, और भयानक दंडविधान एवं धार्मिक उपालंभ द्वारा उसका नियंत्रण करने के विविध प्रयत्न विभिन्न युगों में हो चुके हैं । परंतु इस पूरे चक्रव्यूह को भेद कर गणिकावृत्ति समाज के सामने सदा जीवित आ खड़ी होती है और इन सारे उपायों का मज़ाक उड़ाती हुई समाज का अभिन्न अंग बनी रहती है । इच्छा से या अनिच्छा से, हमें यह मानना ही पड़ेगा कि गणिकावृत्ति रूपी विषवल्लरी की जड़ें समाज की आर्थिक विषमता में ही छिपी हुई हैं । वे ही उसका पोषण करती हैं और वे ही उसका विस्तार करती हैं । इस ओर ध्यान न दिया जाय, तो अस्वस्थ और समाजहितविहीन काम भावना में से जन्म लेने वाली यह विषवल्लरी, देखते-देखते, मानवजाति को नष्ट करने की शक्ति रखने वाले विशाल विषवृक्ष का रूप धारण कर सकती है ।

इस आर्थिक विषमता को नष्ट करने के लिए, पहले स्त्री-पुरुष के बीच के निरर्थक भेदों को नष्ट करना होगा । स्त्री को भी पुरुष के जितने ही पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकार देने होंगे और पुरुष पर अवलंबित होकर जीने की आदत स्त्री जाति से छुड़वानी पड़ेगी । आर्थिक विषमता दूर किये बिना और स्त्री-पुरुष के बीच असमानता पर आधारित समाजरचना में आमूल सुधार किये बिना धर्म और नीति के सारे उपदेश निरर्थक सिद्ध होंगे ।

५
उपसंहार

इस सारे विचारमंथन में से गणिकावृत्ति के निर्मूलन के दो ही उपाय निकलते हैं: —

१. अर्थ के समान विभाजन और स्त्री-पुरुष की समानता पर आधारित समाजरचना ।
२. कामभावना का उदात्तीकरण (इसी को हमने ब्रह्मचर्य की नयी व्याख्या कहा है ।)

इन दोनों के समन्वय से ही स्त्री-पुरुष में अधिकार और उत्तरदायित्व का समान विभाजन हो सकेगा; उनमें परस्पर आदर की भावना विकसित होगी; संतोनोत्पत्ति की जिम्मेदारी दोनों मिल-बाँट कर उठायेंगे; संतानधारणा की जो अतिरिक्त जिम्मेदारी प्रकृति ने स्त्री के ऊपर डाली है, उसे ध्यान में रखते हुए पुरुष उसके प्रति कुद अधिक उदारता बरतेगा और मातृत्व की प्रतिष्ठा निभायेगा ; अनावश्यक संतति के

बोझ से बचने की दोनों कोशिश करेंगे; कामभावना में निहित रस और आनंद का दोनों समानता से आस्वादन करेंगे; और भोग के अतिरेक को विवेक और संयम द्वारा मर्यादित करके काम जीवन को अश्लील तत्व या रोज़मर्रा की बेगार बनाने के बजाय उच्चकोटि की कला में परिणत कर सकेंगे । यह होने पर गणिकावृत्ति अपने आप नष्ट हो जायगी । इतना ही नहीं, इससे पूरी मानवजाति का कल्याण होगा और भूतल पर सच्ची मनुष्यता अवतरित होगी ।

गणिकावृत्ति के निर्मूलन के प्रयत्न अनादि काल से होते आये हैं । परंतु वर्तमान युग के शक्तिशाली और अपरिमित साधनों के सहारे आज हम एक ऐसी भूमिका पर आ पहुँचे हैं कि इसके लिए तीन या चार सुनिश्चित उपाय निर्धारित किये जा सकते हैं:

१. उपरोक्त प्रकार के, रस और संयम के बीच समन्वय स्थापित करने वाले ब्रह्मचर्य का पालन ।
२. पृथ्वी पर से आर्थिक विषमता का निर्मूलन ।
३. अमर्याद विषयलोलुपता का निग्रह; और
४. स्त्री-पुरुष के बीच की सामाजिक असमानता दूर करके दोनों के संबंधों की परस्पर आदर और समानता की भूमिका पर स्थापना । मनुष्यजाति के अस्तित्व के लिए स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से आवश्यक हैं । इतना ही नहीं, तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर, मानवसृष्टि का उपादान कारण प्रस्तुत करने के नाते, स्त्री पुरुष की अपेक्षा कुछ अधिक महत्वपूर्ण ही सिद्ध हो!

समस्या कठिन है इसमें कोई संदेह नहीं । उपरोक्त योजनाएँ कागज़ पर जितनी सरल दिखाई देती हैं, व्यवहार के क्षेत्र में वे उतनी सरल नहीं हैं । लेकिन मनुष्यजाति में सच्ची मानवता का निर्माण करना हो तो इन कठिनाइयों का मुकाबला करना ही होगा । गणिकावृत्ति का निर्मूलन करने की इच्छा तो सबकी होती है । ढोल बजा कर इसका प्रचार भी सब करते हैं । लेकिन इसकी कीमत चुकाने की इच्छा कितनों की है ? समाजरचना में आमूल क्रान्ति करने की तमन्ना कितनों में है ? गणिकावृत्ति जैसे युगों पुराने अनिष्ट को दृढ संकल्प और सच्ची लगन के सहारे ही जीता जा सकता है ।





परिशिष्ट

[....... प्रस्तुत अध्ययन में अनेक विद्वानों के ग्रंथों से सहायता ली गयी है । स्थान-स्थान पर इस विषय के विद्वान मनीषियों की विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन और उनके प्रतिपादनों की समीक्षा की गयी है । .... लेकिन प्रस्तुत ग्रंथ को शोध-प्रबंध का रूप देने का इरादा आरंभ से ही नहीं था । अतः प्रमाण स्रोतों का उल्लेख, उद्धरणों का संदर्भोल्लेख, पादटिप्पणियाँ, संदर्भ ग्रंथों की संपूर्ण सूची, आदि की व्यवस्था न हो सकी । .... फिर भी .... पढ़े हुए ग्रंथों में से जो मेरे अपने संग्रह में है या जिनके नाम याद रहे हैं, उनका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है । स्पष्ट है कि यह सूची संपूर्ण नहीं है ।

—लेखक

(पंचम खंड की प्रस्तावना से)]

अ. संस्कृत

१. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) ।
२. अनंगरंग (कल्याणमल्ल) ।
३. ऋग्वेद संहिता (मुख्यतः)
४. कथासरित्सागर ।
५. कामसूत्र (वात्स्यायन) ।
६. कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभाचार्य) ।
७. कुट्टनीमतम् (दामोदर गुप्त) ।
८. चाणक्यनीतिदर्पण ।
९. थेरीगाथा (पाली) ।
१०. दंपती आभरण ।
११. निर्णय सिंधु ।
१२. मेघदूत (कालिदास) ।
१३. मृच्छकटिक (शूद्रक) ।
१४. रतिशास्त्र (कोक पंडित) ।
१५. विवाद चिंतामणि (वाचस्पति मिश्र) ।
१६. समयमातृका (क्षेमेन्द्र) ।

आ. गुजराती

१. गुजरात की विवाह व्यवस्था और परिवार संस्था (सरोजिनी मेहता) ।
२. गुजरात साहित्यसभाः (१९४५-४६ की कार्य-विवरण पत्रिका में) डा. सुमन्त मेहता का जनखों संबंधी लेख ।
३. जीवनरहस्य (जी. जी. भट्ट) ।
४. नर्मकथा कोष (नर्मदाशंकर) ।
५. पूर्व और पश्चिम के नैतिक आदर्श (मंजुलाल रणछोड़लाल जमुमदार)
६. पौराणिक कथाकोष (डाह्याभाई देरासरी) ।

७. भारतीय सामाजिक-जीवन में स्त्रियों का स्थान (श्रीमंत महारानी चिमनाबाई साहब और श्रीमती शारदाबहन मेहता) ।

८. माधवानल-कामकंदला प्रबंध (संपादक: मंजुलाल रणछोड़लाल मजमुदार) ।

९. युवावस्था का शिक्षक (वैद्य जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी) ।

१०. वसुदेव हिंडी (अनुवादक: डा. सांडेसरा) ।

११. स्वस्थ संतति (वैद्य जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी) ।

इ. हिन्दी

१. नवीन दाम्पत्य जीवन में स्त्रियों के अधिकार ।

२. वैदिक संपत्ति (पंडित रघुनन्दन शर्मा) ।

३. हिन्दी विश्वकोष ।

४. संतानकल्पद्रुम (रामेश्वरानंद शर्मा) ।

ई. मराठी

१. आधुनिक कामशास्त्र (र. धो. कर्वे) ।

२. नपुंसकानंदमंदार (जागुष्टे) ।

३. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोष (सिद्धेश्वर शास्त्री) ।

४. वेश्या-व्यवसाय (पी. जी. नायक) ।

इनके उपरांत 'आईने अकबरी' के अंगरेज़ी अनुवाद और 'कोकशास्त्र' की कई हिंदी, गुजराती और अंगरेज़ी आवृत्तियों से सहायता ली गयी है ।

उ. अंगरेज़ी

1. Altekar (Dr. A.S.)	:	The Position of Women in Hindu Civilization
2. Ayyangar (C.R. Shriniwas)	:	Indian Dance
3. Basu (N.K.) with Sinha (S.N.)	:	History of Prostitution in India.
4. Blum (Leon)	:	Marriage
5. Burton	:	Arabian Nights.
6. Chatterji (Santosh)	:	Devadasi and Temple Dancing
7. Chakaldhar (Harenchandra)	:	Social Life in Ancient India
8. Calvertson	:	Sex and Civilization
9. Cutnes (H.)	:	A Short History of Sex Worship
10. Dewey (John)	:	Ethics.
11. Edwards (S.M.)	:	Crime in India
12. Ellis (Havelock)	:	Psychology of Sex (Volumes I to VI)
13. Fielding (William J.)	:	Love and Sex
14. "	:	Man's Sexual Life

15. " " : Woman's Sexual Life
16. Flexner (Abraham) : Prostitution in Europe
17. Gambers (H.S.) : Ideal Marriage
18. " " : Studies in the Science of Sex
19. Gauba (K.) : The Pathology of Princes
20. Gibbon (Edward) : History of the Decline and Fall of the Roman Empire
21. Ghosh (S.L.) : Urban Morals in Ancient India
22. Hall (G.M.) : Prostitution : A Survey and a Challenge
23. Harris (Louis) : Love Marriage and Divorce
24. Helle (Fianna) : Woman in Soviet Russia
25. Jacques (D.H.) : How to Grow Handsome
26. Kraftteblng (Dr. R.V.) : Psychopathia Sexualis
27. Kuprin (Alexander) : Yama The Pit
28. La Croix (Paul) : History of Prostitution (Volumes I to III)
29. Law (Bimal Charan) : Woman in Buddhist Literature
30 Louys (Perre) : Aphrodite
31. Lubbock (Sir John) : Origin of Cvilization
32. Marshall (Sir John) : Mohenjo Daro and the Indus Civilization
33. Manshardt (Clifford) : Delinquent Children in India
34. Mc Cabe (Joseph) : The Changing Morals of Today
35. " " : The Effects of the Reformation on Morals.
36. " " : Moral Life of China and India.
37. " " : Morality in the Nineteenth Century
38. " " : Morals among the Greeks and Romans
39. " " : Morals in the Ancient World
40. " " : Morals in the Arab-Persian Civilization
41. " " : Morals in Early and Medieval Europe
42 " " : Morals in the Renaissance Period
43. " " : The Morals of the Savages
44. " " : The Phallic Civilizations and the Cult of Love
45. Mehta (Dr. Rustom J.) : Scientific Curiosity of Love, Life and Marriage
46. " " : Scientific Curiosity of Sex
47. Mey Scot (George R.Y.) : History of Prostitution
48. Mexhuhner : Disorders of the Sexual Functions
49. Mitra (Dwarkanath) : The Position of Women in Hindu Law

50. Malony (W.O.) : Prisoners and Captives
51. Mukerji (S.K.) : Indian Sex Life and Prostitution.
52. Necland (George I.K.) : Prostitution in New York City
53 Penzar (N.M.) : The Ocean of Stories
54. Pillay (A.P.) : Sex Knowledge for Boys and Adolescents
55. Powysmathers (H.) : The Lessons of a Bawd
56. " " : A Harlot's Breviary
57. Reitman (B.) : The Second Oldest Profession
58. Rhys Davis (P.W.) : Buddhist India
59. Roussean (Jean Jacques) : The Woman I Loved
60. Sanger (W.W.) : History of Prostitution
61. Sinha (S.N.) with Basu (N.K.) : History of Prostitution in India
62. Stopes (Marie) : Married Love
63. Thomas (Williams) : The Unadjusted Girl
64. Trall (R.T.) : Sexual Physiology and Hygiene.
65. Valavalkar (P.H.) : Hindu Social Institutions
66. Vaidya (C.V.) : History of Medieval India.
67 " " : History of Sanskrit Literature
68. Van Henting (Hans) : Punsihment
69. Wall (O.A.) : Sex and Sex-Worship
70. Westermark (Edward) : History of Human Marriage
71. Wright (H) : Sex Technique in Marriage
72. " " : What is Sex ?

ऊ. अंगरेज़ी संदर्भ-ग्रंथ

(Reference Works)

1. Census Reports of India (1911 Onwards).
2. A Dictionary of Classical Mythology.
3. A Dictionary of Non-Classical Mythology.
4. Encyclopedia Britannica.
5. Encyclopedia of Religion and Ethics.
6. Encyclopedia of Social Sciences.
7. The Imperial Gazetteer of India.
8. The Provincial Gazetteers of India.
9. Inquiry into Measures of Rehabilitation (League of Nations).
10. Inquiry into the Traffic in Women and Children in the East. (League of Nations).
11. Methods of Rehabilitation of Adult Prostitutes : Conclusions and Recommendations. (League of Nations).
12. Inquiry into White Slave Traffic. (League of Nations)
13. Prostitution in Ancient Times. (Little Blue Book Series).
14. Prostitution in Medieval Times. (" ")
15. Prostitution in Modern Times. (" ")



16. Prostitution in Europe. (" ")
17. Prostitution in U.S.A. (" ")
18. Reports of All Indian Women's Conference.

ए. निम्नलिखित अंगरेज़ी ग्रंथों के लेखकों का नामोल्लेख मूल में नहीं हुआ है— अनुवादक

1. Castes and Tribes of South India.
2. The Modern Approach to Criminal Law.
3. The Road to Buenos Aires.
4. Suppression of the Exploitation of Prostitution.
5. Social Services and Venereal Diseases.
6. Soviet Russia Fights Crime.
7. Soviet Russia Fights Neurosis.
8. Sex Life in Ancient India.
9. The Underworld of India.
10. Yoshiwara.

अप्सरा



प्रचारक ग्रंथावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा० लि०
सी . 21 / 30, पिशाचमोचन, वाराणसी- 221010
मुद्रकः- **नन्दन ऑफसेट**, दारानगर, वाराणसी - फोनः ३३२०६७

अप्सरा